॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला
२०६

राजानक-रुय्यक-मङ्खकविरचितं

अलङ्कारसर्वस्वम्

जयरथकृत 'विमर्शिनी' समुपेतम्

एतदुभय-हिन्दीभाष्यानुवादभूषितं च

हिन्दीभाष्यानुवादकारः
डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी
एम. ए., पी-एच. डी., साहित्यशास्त्राचार्यः
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य
प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसंकाये साहित्यविभागाध्यक्षः



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१
१९७१

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : प्रथम, वि० संवत २०२८
मूल्य : २५-००

गोपाल मन्दिर लेन
पो० बा० ८, वाराणसी-१ (भारतवर्ष)
फोन : ६३१४५

प्रधान शाखा
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१
फोन : ६३०७६

THE

KASHI SANSKRIT SERIES

206

ALAMKĀRA SARVASVA

OF

ŚRĪ RĀJĀNAKA RUYYAKA & MAṄKHA

With the

Vimarśinī of Jayarath

And

with the translation and explanation of both in Hindī

By

DR. REWĀ PRASĀDA DWIVEDĪ
M. A., Ph. D., Sāhityācārya
Head of the Department of Sāhityavidyā
Banaras Hindu University
Varanasi-5

THE
CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
VARANASI-1
1971

Gopal Mandir Lane,
P. O. Chowkhamba, Post Box 8,
Varanasi-1 (India)
1971
Phone : 63145

First Edition
1971
Price Rs. 25-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Publishers and Oriental Book-Sellers
Chowk, Post Box 69, Varanasi-1 (India)
Phone : 63076

भूमिका

अलंकारोऽस्ति सर्वस्वमिदं यस्य महेशितुः ।
शक्तिं विमर्शिनीं तस्य वन्दे रत्नाकरोज्ज्वलाम् ॥

'अलंकारसर्वस्व' संस्कृत की साहित्यविद्या के प्रमुख अंग अलंकार पर आश्रित एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है। भरत से जगन्नाथ तक हुए अलंकार चिन्तन की यह नाभि है। सिद्धान्तभूत प्राचीन चिन्तन तो इसमें अपने स्वस्थ तथा वैज्ञानिक रूप में निहित[1] है ही, परवर्ती अनुवीक्षा और समीक्षा के लिए भी यह मेरुदण्ड रहा है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अनुशीलन के बिना भारतीय अलंकार-बोध सुप्रतिष्ठ नहीं माना जा सकता।

१

[१] ग्रन्थ स्वरूप

अलंकारसर्वस्व ठीक वैसा ही नाम है जैसा 'वक्रोक्तिजीवित' या 'मुक्तावली'। कुन्तक का मूलग्रन्थ कारिकाबद्ध है और उसका नाम 'काव्यालङ्कार' है। वक्रोक्ति जीवित संज्ञा उसकी व्याख्या को दी गई है। विश्वनाथ का न्यायग्रन्थ भी मूलतः कारिकात्मक है और उसका नाम 'कारिकावलि' है। मुक्तावलि उसकी वृत्ति का नाम है। किन्तु ग्रन्थप्रसिद्धि वृत्ति के नाम से ही है। अलंकारसर्वस्व की भी यही स्थिति है। इसके तीन भाग हैं सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इनमें सूत्र भाग का नाम है 'अलङ्कार-सूत्र' और शेष दोनों भागों का नाम है 'अलंकारसर्वस्व'। किन्तु स्थिति यह है कि शताब्दियों पहले से हम केवल 'अलंकारसर्वस्व' नाम से ही जानते आ रहे हैं।[2]

[२] ग्रन्थ संस्करण

अलंकारसर्वस्व अनेक बार प्रकाशित हो चुका है। इसके संस्करणों की तालिका यह है—

---

१. देखिए इसी भूमिका में दिया अलंकारों का इतिहास। रस आदि के लिए भी यह ग्रन्थ उत्तम सामग्री प्रस्तुत करता है।

२. जयरथ, विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, भट्टगोपाल, मल्लिनाथ, कुमारस्वामी, अप्पयदीक्षित, वीरराघव आदि ने सूत्र और वृत्ति दोनों को अलंकारसर्वस्व नाम से पुकारा है। विशेष विवरण के लिए

द्रष्टव्य म० म० काणे तथा डॉ० सुशीलकुमार डे के History of sanskrit Poetics तथा डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी की अलंकारमीमांसा।

प्रकाशक	संस्करण सन्	स्वरूप	संपादक । संशोधक
१. निर्णयसागर, बम्बई	प्रथम[1] १८९३	विमर्शिनीसहित	म.म. दुर्गाप्रसाद द्विवेदी
	द्वितीय १९३६	,,	पं० गिरिजाप्रसाद द्विवेदी
२. अनन्तशयन ग्र.मा. त्रिवेन्द्रम केरल	प्रथम १९१५	समुद्रबंधी टी.स.	के. साम्बशिव शास्त्री
	द्वितीय १९२६	,,	,,
३. शारदा ग्रन्थमाला, काशी	प्रथम १९२६	मूलमात्र	प० गौरीनाथ पाठक
४. मोतीलाल बनारसीदास, काशी	प्रथम १९६५	हिन्दी अनुवाद तथा संजीवनी	डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी
५ मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली	प्रथम १९६५	संजीवनी	संपा० डा० कु० जानकी संशो० डा वे राघवन्

[३] ग्रन्थकार

इन सभी संस्करणो मे त्रिवेन्द्रमसंस्करण को छोड अन्य किसी संस्करण मे ग्रन्थकार का नाम नहीं मिलता। त्रिवेन्द्रम संस्करण मे इसे मंख की कृति बतलाया गया है।

मंखपरम्परा—त्रिवेन्द्रम के इस संस्करण मे छपी टीका मे आरम्भ के मंगल पद्यो मे—

> कदाचिन्मङ्खुकोपज्ञं काव्यालंकारलक्षणम्।
> प्रदर्श्य रविवर्माणं प्रार्थयन्त विपश्चितः॥
> गम्भीरं नरिततीर्पूर्णा मङ्खुकग्रन्थसागरम्।
> नौरस्तु भवतः प्रज्ञा स्थेयसी यदुनन्दन॥

इस प्रकार मंख को ही ग्रन्थकार कहा गया है। ग्रन्थ के अन्त मे भी वृत्ति की पुष्पिका मे—

> इति मंखुको वितेने कश्मीरक्षितिपसान्धिविग्रहिकः।
> सुकविमुखालङ्कारं तदिदमलंकारसर्वस्वम्॥

इस प्रकार मंख को ही सर्वस्वकार बतलाया गया है, और समुद्रबन्ध की अपनी व्याख्या के अन्त मे भी—

> 'मङ्खुकनिबन्धविवृतौ विहितायामिह समुद्रबन्धेन।
> गुणलेशमात्रमिश्रैर्भविपीष्टादोषदर्शिभिः सद्भिः॥'

इस प्रकार।

इस संस्करण मे वृत्त्यनुप्रास के लिए उदाहृत 'आटोपेन' पद्य [पृ० ६२] के पहले 'मदीये श्रीकण्ठचरिते' भी लिखा मिलता है। श्रीकण्ठचरित के रचयिता मंख ही है और उनके इस काव्य मे यह पद्य है [द्र० सर्ग २ पद्य ४९]।

---

१. इस संस्करण के आधार पर १९०८ ई० मे एच. जैकोबी ने अलंकारसर्वस्व का जर्मनी भाषा मे अनुवाद भी किया था।

ग्रन्थारम्भ-मंगल-पद्य 'नमस्कृत्य०' के उत्तरार्ध में इस संस्करण में 'गुर्वलंकार०' पाठ ही अपनाया गया है, यद्यपि टीका में गुरुशब्द की व्याख्या नहीं की गई है। स्मरणीय है जयरथ आदि ने यहाँ 'गुर्वलंकार' के स्थान पर 'निजालंकार०' पाठ माना है। इस प्रकार केरलीय पाठ के अनुसार अलंकारसर्वस्व के रचयिता मंखुक या मंख हैं।

रुय्यक-रुचक-परम्परा—जयरथ ने विमर्शिनी में 'गुर्वलंकार' के स्थान पर 'निजालंकार' पाठ माना है। उन्होंने काव्यप्रकाशसंकेत[1] [पृ० ३७२] और अलंकारानुसरिणी (११८, १९२, १९९) को ग्रन्थकार की अन्य कृति कहा है। काव्यप्रकाशसंकेत के आरम्भ में—

'ज्ञात्वा श्रीतिलकात् सर्वालंकारोपनिषद्रसम्।
काव्यप्रकाशसंकेतो रुचकेनेह लिख्यते ॥'[1]

इस प्रकार रुचक को उसका कर्ता माना गया है और स्तुतिकुसुमांजलि ८।१९ पद्य की टीका में रत्नकण्ठ ने अलंकारानुसारिणी को रुचक की कृति कहा है। रुचक रुय्यक का ही दूसरा नाम है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अलंकारसर्वस्व पर जो संजीविनी टीका लिखी है उसमें—

'रुचकाचार्योपज्ञे[2] सेयमलंकारसर्वस्वे।
संजीविनीति टीका श्रीविद्याचक्रवर्तिना क्रियते॥' [संजीविनीमंगल]
'इत्थं भूम्ना रुचकवचसां विस्तरः कर्कशोऽयम्' [अन्त-मंगल]

इस प्रकार रुचक या रुय्यक को ही अलंकारसर्वस्व का रचयिता माना है।

पिशेल द्वारा संपादित सहृदयलीला[3] में उसके रचयिता को—

कृतिः श्रीविपश्चिद्वर-राजानक-तिलकात्मज-श्रीमदालंकारिक-समाजाग्रगण्य-श्रीराजानक-रुय्यकस्य राजानक-रुचकापरनाम्नोऽलङ्कारसर्वस्वकृतः।

इस प्रकार रुय्यक, रुचक और अलंकारसर्वस्वकार कहा गया है।

उभयपरम्परा—अप्पयदीक्षित ने चित्रमीमांसा के उपमाप्रकरण में श्लेष को अन्य अलंकारों का बाधक बतलाते हुए—

'उपमाप्रतिभानेऽपि तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एव, नोपमेति मङ्खकादिभिरभ्युपेयते।'[4]

इस प्रकार इस मत का उपस्थापक मंख को माना है। यह मत अलंकारसर्वस्व की वृत्ति में आता भी है। इसी के साथ अपह्नुति और व्याजोक्ति के अन्तर पर प्राचीन आचार्यों के मत उपस्थित करते हुए—

---

१. काव्यप्रकाश संकेत के लिए द्रष्टव्य—डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी का काव्यप्रकाश अंग्रेजी अनुवाद—'The Poeic Light'—भाग-२ परिशिष्ट–डी०।

२. संजीविनी : डा०रामचन्द्रद्विवेदी तथा डॉ०जानकीद्वारा पृथक् पृथक् संपादित।

३. सहृदयलीला नि० सा० पाठ के लिए देखिए इसी ग्रन्थ का परिशिष्ट–१।

४. चित्रमीमांसा सं० पं० कालिकाप्रसाद शुक्ल पृ० ५६।

अत्रेदमपह्नुतिकथनं व्याजोक्त्यलंकारं पृथगनङ्गीकुर्वताम् उद्भटादीनां मतमनुसृत्य। ये तु—'उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिरिति'[1] व्याजोक्त्यलंकारं पृथगिच्छन्ति तेषामिहापि व्याजोक्तिरेव नापह्नुतिरिति रुचकादयः।[2]

इस प्रकार वे अलंकारसर्वस्वकार को रुचक भी कहते हैं।

स्पष्ट ही अलंकारसर्वस्व के कर्तृत्व के विषय मे रुय्यक और मंख को छोड़ अन्य के नाम की परम्परा नहीं है। आगे आने वाले विवरण से स्पष्ट है कि रुय्यक और मंख दोनो ही कश्मीर के निवासी हैं।

प्रश्न उठता है कि सर्वस्व का लेखक इन दोनो मे से किसे स्वीकार किया जाए। उत्तर मे विचारकों के दो दल बन जाते हैं। एक उनका जो केवल रुय्यक को सूत्र और वृत्ति दोनो का रचयिता मानते हैं और दूसरा उनका जो मंख को। इन दोनों मे प्रथम का प्रवर्त्तन निर्णयसागरीय संस्करण से होता है और द्वितीय का त्रिवेन्द्रमसंस्करण से।[3] डॉ० काणे, डॉ० डे, डॉ० राघवन्, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, डॉ० जानकी तथा अन्य अनेक विद्वान् रुय्यक के पक्ष मे हैं। मंख का पक्ष त्रिवेन्द्रमसंस्करण के पश्चात् कदाचित् पहली बार हमने ही लिया है अपने व्यक्तिविवेक और उसके व्याख्यान के हिन्दीभाष्य की भूमिका मे। इस प्रकार विद्वानो का बहुमत रुय्यक के पक्ष में है।

रुय्यकवादी उक्त विद्वानो के भिन्न-भिन्न तर्कों का मूल आधार जयरथ है और सार है यह—

स्थापना—कश्मीरी और दक्षिणी परम्परा मे कश्मीरी-परम्परा ही मान्य है क्योंकि

---

१. अलंकारसर्वस्व व्याजोक्ति सूत्र—७७ पृ० ६५२।

२. चित्रमीमांसा—पृ० २४२।

आगे इस सूत्र पर कुछ और भी निष्कर्षों की कल्पना की गई है।

३. 'काणे' तथा 'डे' History of Skt. Poetics, डॉ० राघवन् कु० जानकी के अलंकारसर्वस्व का Forword, पोद्दार जी—संस्कृतसाहित्य का इतिहास भाग–१ पृ० १७१, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी अलंकारमीमांसा-परिचयखण्ड तथा संजीविनी सहित छपे उनके अलंकारसर्वस्व की भूमिका, डॉ० कु० जानकी—सजीविनी सहित छपे उनके अलंकारसर्वस्व की भूमिका पृ० ३।

इनमे से ग्रन्थकार के नाम की इस समस्या को पोद्दारजी ने बड़ी ही सफाई के साथ उपस्थित किया है किन्तु उन्होने यह भी लिख दिया है कि पण्डितराज जगन्नाथ भी रुय्यक का नाम लेते हैं, जबकि तथ्य यह है कि पण्डितराज केवल ग्रन्थ का नाम लेते हैं 'सर्वस्वकृत्' अथवा 'अलंकारसर्वस्वकृत्' आदि।

तर्क—(१) कश्मीरी परम्परा कश्मीर की है जहाँ ग्रन्थ लिखा गया

(२) कश्मीरी परम्परा पूर्ववर्त्ती है क्योंकि जयरथ समुद्रबन्ध से पूर्ववर्त्ती हैं।

(३) कश्मीरी परम्परा में मतभेद नहीं है, जब कि दक्षिणी परम्परा में मतभेद हैं। दक्षिण के ही विद्यानाथ, कुमारस्वामी, मल्लिनाथ आदि सर्वस्वकार के रूप में रुय्यक या रुचक का नाम उद्धृत करते हैं। इस प्रकार दक्षिणी विद्वानों में भी बहुमत रुय्यक का ही है।

सिद्धान्त—कश्मीरी परम्परा में रुय्यक ही ग्रन्थकार के रूप मे प्रसिद्ध हैं, अतः रुय्यक को ही अलंकारसर्वस्व का रचयिता माना जाना चाहिए।

इन्हीं तर्कों के समर्थन में इन विद्वानों ने सहृदयलीला की पूर्वोद्धृत पुष्पिका को भी उद्धृत किया है। इसमें स्पष्ट ही रुय्यक को अलंकारसर्वस्व का रचयिता माना गया है।

वस्तुतः अलंकारसर्वस्व के कर्तृत्व के विषय में मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि रुय्यक इसके कर्त्ता हैं या नहीं, क्योंकि उनके कर्तृत्व में विवाद नहीं है। मुख्य प्रश्न यह है कि इसके साथ मंख का नाम क्यों जुड़ा। सेठ कन्हैयालालजी, पोद्दार, डॉ० काणे और डॉ० द्विवेदी ने मंख के समर्थन में केवल इतना लिखा है कि मंख ने रुय्यक के बाद उनकी वृत्ति का परिष्कार किया होगा और उसमें अपने श्रीकण्ठचरित के पद्य भी मिला दिए होंगे। इसी आधार पर उनकी प्रसिद्धि हो गई होगी। प्रसिद्धि भी केवल कोलम्बो के राजघराने में हुई, क्योंकि मंख भी राजमन्त्री थे और समुद्रबन्ध भी। अवश्य ही कश्मीर के राजपरिवार का दक्षिणी राजपरिवारों से संबन्ध रहा होगा।

हमारा मत—

वस्तुतः सूत्र के रचयिता रुय्यक हैं और वृत्ति के मंख। इसमें प्रमाण हैं अप्पयदीक्षित के वे दोनों वाक्य जिनमें से एक में उन्होंने रुचक का उल्लेख किया है और दूसरे में मंख का। ध्यान देने की बात यह है कि जिस संदर्भ में रुय्यक का नाम लिया है उसमें सूत्र भी दिया हुआ है और जिस संदर्भ में केवल मंख का नाम लिया है उसमें सूत्र का उद्धरण नहीं है[1]। 'उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः' यह अलंकारसर्वस्व में ही

---

१. छपी चित्रमीमांसा में 'रुचकादयः' पद 'नापह्नुतिरिति रुचकादयः' इस प्रकार अन्त में छपा है।

इस प्रकार के पाठ से ऐसा लगने लगता है कि 'उद्भिन्नवस्तु' सूत्र रुचक का नहीं है जब कि यह सूत्र है सर्वस्व का ही। इसकी टीका सुधा सूत्र को रुय्यक की ही कृति बतलाती है। प्रसंग भी ऐसा है जिसमें पहले उद्भट का मत दिया है और बाद में दण्डी का मत। तदनुसार 'ये तु रुचकादयः' पाठ ही जमता है। यदि 'रुचकादयः' अन्त में आए तब भी यह तो उससे सिद्ध हो ही जाता है कि अप्पयदीक्षित सूत्रकार को वृत्तिकार से भिन्न मानते हैं।

आया सूत्र है। अतः दीक्षित जी को सूत्र का उल्लेख करते समय रुचक का नाम लेना, जो आवश्यक दिखता है उसका रहस्य, और हो क्या सकता है इसके अतिरिक्त कि सूत्र के कर्तृत्व में संदेह न हो। श्लेष का विचार केवल वृत्ति में हुआ है और उसी में श्लेष को अन्य अलंकारों का बाधक माना गया है। दूसरे स्थल में श्लेष की यह स्थिति उपस्थित करते समय दीक्षित जी ने मंख का नाम लिया इसका भी एकमात्र यही अर्थ हो सकता है कि वे वृत्ति का निर्माता मंख को मानते हैं।[१]

डॉ० डे० और म० म० काणे ने दक्षिण भारत के कुछ पाण्डुग्रन्थों का भी सदर्भ दिया है, जिनमें वृत्ति के मंगलपद्य के उत्तरार्ध के 'निजालंकारसूत्राणां' पाठ के स्थान पर 'गुर्वलंकारसूत्राणां' पाठ ही मिलता है, जैसा कि त्रिवेन्द्रमसंस्करण में समुद्रबन्ध ने माना है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने भी पुनरुक्तवदाभास के उदाहरणों को मंख का माना है। वृत्ति में मंख के निम्नलिखित पद्य भी उद्धृत हैं[२] २।४९, ५।२३, ६।१६,७०, १०।१०

मद्रास राजकीय संस्कृतपाण्डुग्रन्थागार में 'मंखुकसूत्रोदाहरण' नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी रक्षित है।[३]

तुंगभद्र ने भी मंख को ही सर्वस्वकार स्वीकार किया है।[४]

इस प्रकार मंख के पक्ष में भी दक्षिणी विद्वानों का मत अल्पमत नहीं है।

अलंकारसर्वस्व के जो सूत्र हैं उन्हें अवश्य ही ग्रन्थकार ने पहले ही बना लिया है। वृत्ति लिखने के पूर्व उनको भी ग्रन्थकार ने अवश्य ही कोई नाम दिया होगा। यह नाम अलंकारसूत्र ही होगा, क्योंकि वृत्ति के मंगलपद्य में 'अलंकारसूत्र' ही नाम आता है और स्वयं सूत्रकार अन्तिम सूत्र में 'अलंकाराः संक्षेपतः सूचिताः' इस प्रकार 'अलंकार-सूत्र' नाम का संकेत देते हैं। समुद्रबन्ध की जो टीका मंखुक का नाम लेकर चलती है वह भी पाठान्तर में 'समाप्तं चेदमलंकारसर्वस्वम्, कृती राजानकश्रीरुचकस्य। शम्। इति मंखु" इस प्रकार मंखुक के साथ रुचक का भी नाम प्रस्तुत करती है। अवश्य ही इसमें सूत्रकार रुय्यक को और वृत्तिकार मंख को मानने का अभिप्राय निहित है।

---

१. 'ये तु दक्षि० रुचकादयः' का 'रुचकादयः' शब्द 'ये तु रुचकादयः' होना चाहिए। लिपिकार से यह शब्द छूट गया होगा और उसने इसे पाण्डुप्रति में पार्श्वभाग में लिख रखा होगा। संपादक ने इसे यथास्थान नहीं रखा। यदि इसे स्वयं अप्पय ने ही इसी प्रकार लिखा हो तो उसमें भी स्पष्ट है कि वे वृत्तिकार को सूत्रकार से भिन्न मानते हैं।

२. देखिए श्लोक सूची, अथवा पृ० ६२, ३१७, ३२७, ३२७, ३२७।

३ पाण्डुप्रति क्र० २९७० द्र० कु० जानकी अलंकारसर्वस्व भूमिका पृ० २।

४ द्र० संजीविनी सं० डॉ० द्विवेदी पृ० २४ भूमिका।

जहाँ तक समुद्रबन्ध के समय का प्रश्न है वे भी उसी शती के हैं जिसके जयरथ। दोनों में जयरथ १३ वीं शती के आरम्भ के हैं और समुद्रबन्ध उसके मध्य के। अतः समय का भी अन्तर बहुत नहीं पड़ता।

जहाँ तक कश्मीर का सम्बन्ध है कश्मीरी ग्रन्थों के विषय में उसी देश की परम्परा को महत्त्व देना अवश्य ही तर्कसंगत है, किन्तु यह तब संभव है जब कश्मीर के विद्वान् निष्पक्ष हों। उनमें परस्पर में अत्यन्त कलह है। जयरथ के पहले शोभाकर ने, जो कश्मीर के ही हैं, अपने अलंकार-रत्नाकर में अलंकारसर्वस्व को उसके सूत्र और वृत्ति दोनों रूपों में पदे पदे उद्धृत किया, किन्तु ग्रन्थकार का नाम एक बार भूल से भी नहीं लिया। स्वयं जयरथ ने रत्नाकर को पर्याप्त मात्रा में उद्धृत किया, किन्तु शोभाकर का या उनके ग्रन्थ रत्नाकर का नाम नहीं लिया। न केवल नाम का उल्लेख नहीं किया, आक्षेप भी किया है। कदाचित् उसी की छाप पण्डितराज पर पड़ी है और वे अप्पयदीक्षित पर बरसते दिखाई देते हैं।

इन सबके परमगुरु अभिनव भी गाली देकर बात करते और पूर्व पक्ष के साथ ही नहीं, मूलग्रन्थ के साथ भी अन्याय करते हैं। कहीं उनकी बुद्धि उलट भी जाती है।[1]

कश्मीरी परम्परा से अधिक दाक्षिणात्य परंपरा ही मान्य है, क्योंकि दक्षिण में यह द्वेष नहीं था। क्या कारण है कि महिमभट्ट का व्यक्तिविवेक कश्मीर में नहीं मिला और दक्षिण में ही मिला। क्या कारण है कि साहित्यमीमांसा की पाण्डुप्रति भी दक्षिण भारत में ही मिली। क्या कारण है कि कश्मीर भट्टनायक के ध्वनिविरोधी ग्रन्थों की रक्षा नहीं सका। हृदयदर्पण, ध्वनिनिर्णय अवश्य ही नष्ट करा दिए गए। हृदयदर्पण तो महिमभट्ट को भी नहीं मिला था, जो मम्मट के पहले के हैं। स्वयं मम्मट ने यह चेष्टा की है कि यह समझ में न आए कि उनने कुन्तक और महिमभट्ट से भी कुछ लिया है। जब कि उनका सप्तम उल्लास महिमभट्ट की ही देन है। क्या यह क्रम स्वस्थ क्रम है। अवश्य ही कश्मीर में महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श को मम्मट ने दफना दिया था। उसकी रक्षा का श्रेय दक्षिण को ही है। यह भी सोचने की बात है कि अलंकारों पर सर्वस्व, रत्नाकर और विमर्शिनी में बिखरी सामग्री को लेकर क्या कोई कार्य कश्मीर में नहीं हो सकता था, जिसे दक्षिणी आचार्य अप्पयदीक्षित ने पूरा किया जिनकी मूलविद्या मीमांसा थी। कश्मीरी शैवशास्त्र की शुद्धपरम्परा भी दक्षिण में ही रक्षित मिलती है। श्रीविद्याचक्रवर्ती, त्रिपुरारहस्य के टीकाकार दीक्षित श्रीनिवासबुध दक्षिण के ही हैं। इस प्रकार परम्परा की दृष्टि से कश्मीर की अपेक्षा दक्षिण ही अधिक मान्य है।

यह भी एक महत्त्व की बात है कि अप्पयदीक्षित की परम्परा केवल दक्षिणी परम्परा नहीं है। वे काशी में भी रहे थे। अतः उनके संस्कारों में अन्तर्वेदी की

---

१. हमने अपने ग्रन्थ 'आनन्दवर्धन' में इन सब दोषों का प्रतिपादन किया है।

मध्यदेशीय परम्परा के संस्कार भी मिश्रित हैं। फलतः अप्पयदीक्षित के उल्लेख को मध्यदेश से लेकर दक्षिण भारत तक का प्रतिनिधि माना जा सकता है।

उधर कश्मीरी परम्परा में सर्वाधिक महत्त्व जयरथ को दिया जा रहा है, किन्तु उन्हें सर्वस्व की पुस्तक बहुत ही अव्यवस्थित[1] रूप में प्राप्त हुई थी। वे स्वयं लिखते हैं कि 'उन्हें मिली प्रति बहुत अव्यवस्थित है'। क्या अव्यवस्थित आधार पर कोई निर्णय लिया जा सकता है।

यह भी ध्यान देने की बात है कि निर्णयसागरसंस्करण से लेकर डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी और डॉ० जानकी के सुसमीक्षित संस्करणों तक रुय्यकपरम्परा के किसीभी संस्करण की पुष्पिका में रुय्यक का नाम क्यों नहीं है। अवश्य ही इन विद्वानों को रुय्यक के नाम की पुष्पिका बहुत ही कम पाण्डुप्रति में मिली है और वह भी अव्यवस्थित। पूना की शारदा लिपि की जिन दो प्रतियों में रुचक के नाम से पुष्पिका मिलती है उन दोनों में भी पाठभेद है। वे दोनों पुष्पिकाएँ ये हैं—

१— समापितमिदमलंकारसर्वस्वमिति श्रेयः।
कृतिरत्रभगवद्राजानकरुय्यकस्येति।
२— सम्पूर्णमिदमलंकारसर्वस्वमिति श्रेयो भवतु[2]।
लेखकपाठकयोः। कृती राजानकरुय्यकस्येति।

द्वितीय पाठ की प्रति भूर्जपत्रप्रति है और प्राचीन है। उसमें रुय्यक का नाम अवश्य ही प्रतिलिपिकार ने जोड़ा है। एक महत्त्व की बात यह भी है कि प्रथम पुष्पिका वाली प्रति में अलंकारसर्वस्व के सूत्रों को अलग से भी लिखा गया है और उनको नाम दिया गया है 'सर्वस्वालंकारसूत्राणि'[3]। अवश्य ही लेखक ने सर्वस्व को सूत्रग्रन्थ से भिन्न ग्रन्थ माना है। इससे भी सूत्रग्रन्थ के 'अलंकारसूत्र' नाम से प्रसिद्ध होने का संकेत मिलता है। एकमात्र शारदालिपि की प्रतियों पर ही हम पूर्ण निर्भर नहीं रह सकते, क्योंकि दक्षिण भारत में जो प्रतियाँ बनी होंगी उनका मूल आधार भी अवश्य ही कश्मीरी लिपि की ही पुस्तकें रही होंगी क्योंकि कश्मीर में बना मूल ग्रन्थ कश्मीर की लिपि में ही लिखा गया होगा।

जहाँ तक सहृदयलीला की पुष्पिका का सम्बन्ध है उसमें अवश्य ही रुय्यक को अलंकारसर्वस्व का प्रणेता कहा गया है परन्तु उससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि मंख सर्वस्व के प्रणेता नहीं हैं। रुय्यक अलंकारसर्वस्व के आधारभूत सूत्रों के प्रणेता होने से अलंकारसर्वस्व के प्रणेता माने ही जा सकते हैं क्योंकि यहाँ अलंकारसर्वस्व शब्द का अर्थ है वह पूरी ग्रन्थसंहिता जो सूत्र, वृत्ति और उदाहरण से बनती है। कहा जा चुका है कि वक्रोक्तिजीवित नाम केवल वृत्ति का है, किन्तु वह प्रयुक्त होता है उसके काव्यालंकार नामक मूल कारिकाग्रन्थ के लिए भी। जहाँ सूत्र और वृत्ति में मतभेद नहीं होता वहाँ सिद्धान्त को सूत्रकार के नाम पर ही व्यवहृत किया जाता है।

---

१. द्र० पृ० २२४, २८९, ४६४। २-३. डॉ० द्विवेदी की संजीविनीभूमिका।

यह भी विचार करने की बात है कि पिशेलसंपादित सहृदयलीला की पुष्पिका में रुय्यक को जो 'रुचकापरनामा' और 'अलंकारसर्वस्वकृत्' विशेषण दिए गए हैं, ये स्वयं ग्रन्थकार ने दिए हैं या लिपिकार ने जोड़े हैं। निर्णयसागरसंस्करण में विशेषणरहित पुष्पिका भी [काव्यमा० ५]। इससे स्पष्ट है कि इसमें प्रतिलिपिकार ने भी कुछ अन्तर किया है। यह अन्तर पुष्पिका की प्रामाणिकता को संदेह में डाल देता है। वृत्तिकार ने साहित्यमीमांसा और व्यक्तिविवेकव्याख्यान को अपनी कृति कहा, उनमें भी किसी ग्रन्थकार का नाम नहीं है। ऐसा क्यों ?

ये सब तर्क अपने स्थान पर हैं। इनसे जो भी सिद्ध हो। परन्तु स्वयं ग्रन्थ के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि सूत्रकार भिन्न हैं और वृत्तिकार भिन्न। जो वृत्ति अभी प्राप्त है वह सूत्रकार की नहीं कही जा सकती। प्रमाणार्थ 'पुनरुक्तवदाभास' प्रकरण को लीजिए। यह शब्दालंकार प्रकरण में पठित है, किन्तु वृत्तिकार ने इसे अर्थालंकार माना है। जब कि स्वयं वृत्तिकार, संजीविनीकार और सभी संस्कर्ताओं ने अर्थालंकारों का आरम्भ उपमा से माना है, क्योंकि प्रत्येक संस्करण में उपमा के आरम्भ में 'अर्थालङ्कारप्रकरणमिदम्' लिखा मिलता है। वृत्तिकार को यह भ्रम इसलिए हो गया कि सूत्र में इस अलंकार को अर्थपौनरुक्त्य पर आश्रित बतलाया गया है। वस्तुतः सूत्रकार का कहना यह है कि प्रतीत तो अर्थ ही होता है पुनः कथित रूप में, किन्तु उसका कारण है शब्द, अतः उसे माना जाना चाहिए शब्दालंकार ही, जैसा कि उसके प्रवर्त्तक उद्भट और उनके अनुयायी मम्मट ने माना है। पुनरुक्तवदाभास की इस स्थिति पर ध्यान देने से यह भी प्रतीत होता है कि आश्रयाश्रयिभाव और अन्वयव्यतिरेक के द्वन्द्व में सूत्रकार अवश्य ही अन्वयव्यतिरेक पक्ष के हैं। आश्रयाश्रयिभाव केवल वृत्तिकार का पक्ष है। यदि सूत्रकार भी इस पक्ष के होते तो पुनरुक्तवदाभास को अर्थालङ्कारों में ही गिनते शब्दालङ्कारों में नहीं, क्योंकि पौनरुक्त्य का आश्रय तो वस्तुतः अर्थ ही है, शब्द तो उसमें कारण है। इस प्रकार तो लाटानुप्रास को भी उभयालंकार मानकर किसी पृथक् प्रकरण में रखना चाहिए था क्योंकि वह उभयाश्रित है।

पुनरुक्तवदाभास शब्द को सूत्रकार ने नपुंसकलिंग में रखा है। वृत्तिकार उसका आशय नहीं समझ पाए। वे जो हेतु देते हैं वह बहुत ही अवैज्ञानिक है। उनका कहना है कि इसे नपुंसकलिंग में इसलिए रखा है कि उससे लौकिक अलंकारों से काव्यालंकारों का अन्तर सिद्ध हो जाए। क्या काव्यगत पदार्थों को लौकिक पदार्थों से भिन्न दिखलाने के लिए नपुंसक बनाते हुए राम, युधिष्ठिर और अपने आश्रयदाता जयसिंह को मंख नपुंसक लिख सकते हैं? यह भी कोई तर्क है? वस्तुतः सूत्रकार ने 'पौनरुक्त्यम्' पद को दृष्टि में रखकर उसके अनुसार इस शब्द को बहुव्रीहि समास के द्वारा नपुंसकलिंगान्त बनाया है। ऐसा ही उद्भट ने भी किया है। उन्होंने उसे पद का विशेषण माना है। पद शब्द नपुंसकलिंग ही है।

सूत्रकार ने ध्वनि या गुणीभूतव्यंग्य के लिए कोई सूत्र नहीं लिखा, जब कि पौनरुक्त्य के अनेक सूत्र लिखे भूमिका रूप में ही। वृत्तिकार बडी लम्बी भूमिका रचते और वह भी सभी अलकारो को चित्रकाव्य वर्ग मे रखने के लिए। वस्तुत वे मम्मट के चश्मे से सूत्रों को देख रहे हैं। सच यह है कि चित्रकाव्य नाम का कोई काव्य होता ही नहीं। ध्वनिकार ने यही कहा है। वे केवल ध्वनि को काव्य कहते और उसके नीचे अप्रधान व्यंग्य वाली उक्ति को भी काव्य कोटि मे गिन लेते हैं गुणीभूतव्यंग्य नाम से। उसके बाद जो उक्तियाँ बच जाती हैं उन्हें वे अकाव्य कहते और उनमे काव्य जैसी स्थिति मानते हैं, काव्यत्व नहीं। सभी अलङ्कारो को उन्होंने गुणीभूत-व्यंग्य वर्ग मे ही अन्तर्भूत दिखलाया है। सूत्रकार अवश्य ही ध्वनिकार के इस पक्ष को जानते होंगे, इसलिए उन्होंने इस प्रकार के कोई भूमिका-सूत्र नहीं लिखे। सूत्रकार के समक्ष आनन्दवर्धन और मम्मट के मतभेद उपस्थित थे। वे मम्मट से आनन्दवर्धन को अधिक महत्त्व देते रहे होंगे, क्योंकि उन्होंने काव्यप्रकाश पर बहुत बडी टीका नहीं लिखी और जो लिखी उसमे भी मम्मट का खण्डन किया। यहाँ सूत्रो मे भी मम्मट के काव्यप्रकाश के साथ सिद्धान्तभेद है। इसके विरुद्ध वृत्तिकार मम्मट के ही भक्त प्रतीत होते हैं। ८३ तथा ८४ वें सूत्रो का मूलरूप भी वे समझ नहीं पाए। इस प्रकार सूत्रकार अवश्य ही इस वृत्ति के रचयिता से भिन्न हैं।

कदाचित् इसीलिए अप्पयदीक्षित ने वृत्ति को रुय्यक के नाम से प्रस्तुत नहीं किया। पण्डितराज जगन्नाथ 'अलङ्कारसर्वस्व' की अपेक्षा 'रुय्यक' या 'रुचक' लिखना अधिक सुकर समझते, यदि उन्हें ग्रन्थकार के नाम का निश्चय होता। 'शोभाकर तो ग्रन्थ का भी नाम नहीं लेते। कदाचित् उन्हें उसमे भी संदेह था। इस प्रकार कश्मीर से दक्षिण-भारत तक एक परम्परा संदेह की भी दिखाई देती है। इसे सरलता के साथ रुय्यक के विरोध मे साधक प्रमाण माना जा सकता है।

हमें लगता है रुय्यक ने भी कोई अत्यन्त संक्षिप्त वृत्ति अपने सूत्रो पर लिखी होगी जिसके मंगल पद्य मे 'निजालंकार०' पाठ होगा। बाद मे मंख ने और विस्तृत वृत्ति लिखी होगी और उसमे 'गुर्वलंकार०' के पाठान्तर के साथ रुय्यक का ही पद्य अपना लिया होगा। प्रदीपकार ने काव्यप्रकाश पर नई वृत्ति लिखी ही है। इधर ध्वन्यालोक पर भी दीधिति नामक नई वृत्ति लिखी गई है। इस प्रकार मंख द्वारा नई वृत्ति का लिखा जाना अस्वाभाविक नहीं। इस दिशा मे मंगल पद्य का 'तात्पर्य'—शब्द हमारी सहायता करता है। संप्रति जो वृत्ति प्राप्त है उसमे सूत्रो का तात्पर्य ही नहीं है, उनके प्रतिपाद्यो पर विशद विवेचन भी है और उदाहरणो द्वारा उनका समर्थन भी। यह तो वस्तुतः व्याख्या है। जिस वृत्ति मे तात्पर्यमात्र दिया गया होगा उसे या तो मंख ने अपनी वृत्ति मे अन्तर्भूत कर लिया होगा या उसका प्रचार मंख की वृत्ति के बाद

समाप्त हो गया होगा। जयरथ को मिली प्रति में कुछ अंश रुय्यक की वृत्ति का और कुछ अंश मंख का मिला होगा, क्योंकि उनकी मूल प्रति अत्यन्त अव्यवस्थित थी।

इस प्रकार संप्रति प्राप्त वृत्ति के रचयिता मंख ही हैं और सूत्र के रचयिता उनके गुरु रुय्यक। त्रिवेन्द्रम् संस्करण में भी सूत्रों को 'अलंकारसूत्र' ही कहा गया है और उनका रचयिता रुय्यक को ही बतलाया गया है। वृत्त्यनुप्रास के उदाहरण 'आटोपेन पटीयसा०' पद्य के पूर्व इसीलिए 'मदीये श्रीकण्ठचरिते' पाठ त्रिवेन्द्रम् की प्रति में मिलता है। इसीलिए मंख की कृति श्रीकण्ठचरित के और भी ४ पद्य वृत्ति में उद्धृत हैं। श्रीकण्ठस्तव के जो पद्य पुनरुक्तवदाभास में उदाहृत हैं उनके पहले भी 'मदीये श्रीकण्ठस्तवे' यह अवतरणिका इस संस्करण में है। संभवतः श्रीकण्ठस्तव भी स्वयं मंख की कृति रही हो।

शिष्य और गुरु दोनों मिलकर कोई एक ग्रन्थ लिखते हैं तो लेखक के रूप में नाम गुरु का ही चलता है। पाणिनि का 'तद्विषयता' का सिद्धान्त इसके लिए प्रमाण है। डॉ० श्यामसुन्दरदास और आचार्य पद्मनारायण जी ने मिलकर भाषारहस्य लिखा, किन्तु नाम डॉ० श्यामसुन्दरदास जी का ही चल रहा है। हमने स्वयं कालिदास-शब्दानुक्रम डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के निर्देश में बनाया तो उसकी प्रसिद्धि अभी भी अग्रवाल जी के ही नाम से है। शताब्दियों तक बनते रहने वाले भरत-नाट्यशास्त्र, महाभारत और पुराण क्या किसी एक व्यक्ति की कृति हैं, किन्तु प्रसिद्ध केवल भरत और व्यास के नामसे है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इसीलिए कहा गया है। इसलिए भी मंख की कृति रुय्यक के नाम से प्रसिद्धि पा सकती है।

[४] ग्रन्थकारपरिचय

सूत्रकार का परिचय—

सूत्रकार रुय्यक को श्रीकंठचरितमें मंख ने अपना गुरु और सभी विद्याओं में निष्णात कहा है [सर्ग २५]। साहित्यशास्त्र रुय्यक ने अपने पिता राजानक तिलक से ही पढ़ा था,[1] जिनने उद्भट के काव्यलंकारसार पर विवरण नामक कोई व्याख्या लिखी थी, जिसका उल्लेख जयरथ कई बार करते हैं। मंख के अनुसार रुय्यक ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। इनमें से केवल काव्यप्रकाशसंकेत[2] तथा सहृदयलीला[3] ही इस समय इनके नाम से प्राप्त हैं।

रुय्यक रुचक नाम से भी प्रसिद्ध हैं। सहृदयलीला में इसे इनका दूसरा नाम माना गया है। रुचक संस्कृतशब्द है और रुय्यक देशी। रुचक का अर्थ बचार्फी होता है। रुय्यक के व्यक्तिगत जीवन के विषय में इससे अधिक विवरण प्राप्त नहीं होता।

अप्राप्त ग्रन्थों में अलंकारानुसारिणी [पृ० ११८, १९२, १९२, १९९ पर

१-२. काव्यप्रकाशसंकेत : काव्यप्रकाश के डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी कृत अंग्रेजी अनुवाद The Poetic Light भाग—२ परिशिष्ट में पुनः प्रकाशित।

३. काव्यमाला ग्रन्थमाला में गुच्छक—५ तथा इसी ग्रन्थ परिशि० १ में।

विमर्शिनी मे उद्धृत] जह्लण के सोमपालविलास की टीका मानी जाती है। रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि की टीका मे इसे रुय्यक की कृति कहा है।

अलंकारमञ्जरी (वृत्ति में पृ० ३७) तथा 'अलंकारवार्तिक' (विम० मे पृ० २३८) भी सर्वस्वकार की कृति माने गए हैं। दोनों अप्राप्त हैं। पता नहीं यह सूत्रकार की कृति हैं या वृत्तिकार की।

वृत्तिकार का परिचय—

वृत्तिकार मंख (१) मंख (२) मंखक तथा (३) मंखुक नाम से पुकारे जाते हैं। अपने श्रीकण्ठचरित मे इन्होने स्वयं को मंखक (३।६३, ७२, ७८, २५ सर्ग) अधिक बार और यत्र तत्र मंख (२५।११२,१५२) भी कहा है। मंखुक नाम कदाचित् दक्षिण के मृदुताप्रिय उच्चारण की देन है, क्योंकि यह 'समुद्रबन्ध' की टीका मे ही मिलता है।

श्रीकण्ठचरित[1] के अनुसार ये रुय्यक के शिष्य तथा कश्मीरनरेश जयसिंह के आश्रित थे। राजतरंगिणी[2] इन्हे जयसिंह का सान्धिविग्रहिक भी कहती है। जयसिंह का समय ई० सं० ११२८–११४८ है, अतः मंख और रुय्यक दोनो का समय १२ वीं शती सिद्ध होता है।

[3]शृङ्गार, भृङ्ग और अलंकार (लंकक) इनके बड़े भाई थे। पिता थे श्रीविश्ववर्त[4] तथा पितामह श्रीमन्मथ[5]। सभी परम विद्वान् थे।

कृतियाँ—

मंख की कृतियो मे **श्रीकण्ठचरित** २५ सर्गों का एक प्रातिभ महाकाव्य है जो काव्यमाला से छप चुका है। **व्यक्तिविवेकव्याख्यान** (विमर्शिनी मे पृ० ३५ पर उद्धृत) का तीसरा संस्करण हमारे हिन्दी अनुवाद के साथ १९६४ मे चौखम्भा से छप चुका है। इसके पहले भी यह चौखम्भा तथा त्रिवेन्द्रम् से छपा था। **साहित्यमीमांसा**[6], **नाटकमीमांसा**[7], **बृहती**[8], **हर्षचरितवार्तिक**[9] अन्य ग्रन्थ हैं जो अप्राप्य है।

---

१. श्रीकण्ठचरित ३।६६ तथा सर्ग २५।

२ सान्धिविग्रहिको मंखकाख्योऽलंकारसोदरः।
स मठस्याभवत् प्रष्ठः श्रीकण्ठस्य प्रतिष्ठया ॥ [८।३३५४ राज०।

३-५ श्रीकण्ठचरित सर्ग–३, सभी भाइयो मे मंख ने अलंकार की बड़ी प्रशंसा की है।

६ त्रिवेन्द्रम्संस्कृतग्रन्थमाला से छपी साहित्यमीमांसा मे 'अंगलेखा०' पद्य पर वह विवेचन नहीं मिलता जिसके लिए सर्वस्व पृ० २०१ मे वह उल्लिखित है, अतः डॉ० राघवन् आदि इसे मंख की कृति से भिन्न मानते हैं। विमर्शिनी–४६७ मे भी साहित्यमीमांसा का उल्लेख है और व्यक्तिविवेकव्याख्यान मे भी।

७-८ व्यक्तिविवेकव्याख्यान में उद्धृत।

९. व्यक्तिविवेकव्याख्यान तथा सर्वस्व मे उद्धृत पृ० २०१।

त्रिवेन्द्रमसंस्करण में 'श्रीकण्ठस्तव' को भी मदीय और मंलीय कहा गया है। यह प्रथमवृत्तिकार रुय्यक की भी कृति हो सकती है। विरुद्ध प्रमाण मिलने पर इन ग्रन्थों के निर्माता पर पुनर्विचार किया जा सकता है।

मम्मट से परवर्ती—

काव्यप्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर और वामन झलकीकर आदि की यह धारणा है कि काव्यप्रकाश में श्लेष सम्बन्धी जो शास्त्रार्थ नवम उल्लास में मिलता है उसमें खण्डन सर्वस्व के मत का है। वस्तुतः सर्वस्व में काव्यप्रकाश की 'अलङ्कारोऽयं वस्तवेव०' कारिका श्लेष प्रकरण में उद्धृत है, साथ ही विभावना तथा संसृष्टि प्रकरण में मम्मट की ओर संकेत किया गया है। इस कारण मम्मट ही पूर्ववर्ती हैं। पण्डितराज के प्रत्यनीकालंकार से भी संकेत मिलता है कि वे सर्वस्वकार को मम्मट के बाद का मानते हैं।

[५] टीका तथा टीकाकार

अभी तक सर्वस्व की तीन टीकाएँ ही प्रकाश में आई हैं विमर्शिनी, समुद्रबन्धी तथा संजीविनी, यद्यपि इसकी और भी कुछ टीकाएँ थीं। इनमें

(१) संजीविनी—

श्रीविद्या-चक्रवर्ती की टीका है। कहा जा चुका है कि इसके १९६५ में दो संस्करण हुए हैं। श्रीविद्याचक्रवर्ती का पूरा नाम श्रीविद्याचक्रवर्ती ही है। श्रीचक्रवर्ती ने स्वयं को महान् विद्वान्, साधक और हासेल नरेश बल्लाल-३ का सभापण्डित कहा है। बल्लाल-३ का राज्यकाल १२९१-१३४२ ई० है। अतः श्रीचक्रवर्ती १४वीं शती के मध्यवर्ती सिद्ध होते हैं। श्रीचक्रवर्ती ने प्रत्येक अलङ्कार पर अन्त में संग्रहकारिका भी बनाई हैं। ये 'निष्कृष्टार्थकारिका' नाम से अलग भी संगृहीत मिलती हैं।

(२) समुद्रबन्धी—

समुद्रबन्ध केरल प्रदेश के यदुवंशी महाराज रविवर्मा के सभापण्डित थे। रविवर्मा का समय १२६५ ई० है। अतः श्री समुद्रबन्ध को १३वीं शती के उत्तरार्ध का माना जाता है। ये उत्तम कवि थे। अपनी टीका, जिसका नाम कदाचित् विवरण है, के आरम्भ में इन्होंने जो मंगल पद्य दिए हैं उनसे लगता है कि इन्हें अभिव्यक्ति की उत्तम सूक्ष्मता, उत्तम सटीकता और उत्तम प्राञ्जलता लगभग शिंग भूपाल के ही समान प्राप्त थी।

(३) अलक—

रत्नकण्ठ ने स्तुतिकुसुमांजलि की टीका में सर्वस्व के टीकाकार के रूप में अलकभट्ट का भी उल्लेख किया है। यह टीका प्राप्त नहीं होती अतः इसके रचयिता अलक के परिचय के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि ये काव्यप्रकाश के दशम

उल्लास के पूर्तिकर्त्ता अलक से भिन्न हैं, क्योंकि इन्होंने काव्यप्रकाश पर टीका लिखने वाले रुय्यक के इस ग्रन्थ पर टीका लिखी है।

(४) विमर्शिनी—

इसके रचयिता जयरथ हैं। विमर्शिनी के अन्त मे जयरथ ने अपना संक्षिप्त परिचय दिया है। ये सतीसर के समीपवर्त्ती कश्मीरनरेश राजराज के मन्त्री शृङ्गार के पुत्र थे। शृंगार का पूरा नाम शृगाररथ था। श्रीतन्त्रालोक की स्वरचित टीका के अन्त मे जयरथ ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—

१–पूर्णमनोरथ[1] [९३० ई० के कश्मीरनरेश यशस्कर के मन्त्री]
२–उत्पलरथ[2] प्रथम
३–प्रकाशरथ[3]
४–सूर्यरथ[4] [भाई धर्मरथ, उत्तमरथ, मनोरथ]
५–उत्पलरथ[5] द्वितीय [भाई अमृतरथ अन्य दो भाई अनुल्लिखितनामा,
१०२८–१०६३ ई० तक के कश्मीरनरेश अनन्त के आश्रित]
६–सम्मरथ[6] [भाई शिवरथ, शकरथ, नन्दिरथ, इनमे से शिवरथ विरक्त हुए]
७–गुणरथ[7] [भाई देवरथ]
८–राजानक गुङ्गरथ[8] [भाई लक्ष्मरथ पत्नी सत्त्वदाशी]
९–शृङ्गाररथ[9] [शृङ्गार के जन्म के बाद गुंगरथ का शरीर यौवन में ही छूट गया]
१०–जयरथ[10] [भाई जयद्रथ]

राजतरंगिणी मे प्राप्त कश्मीरी राजाओ की सूची मे राजराज नाम का कोई राजा नहीं मिलता, अत विद्वानो ने उसे राजदेव नामक राजा से अभिन्न माना है, जिसका समय १२०३–१२२६ ई० है। उधर जयरथ ने पृथिवीराजविजय का [पृ० २११] उल्लेख किया है जो ११९३ ई० मे दिवंगत अन्तिम भारतीय हिन्दू सम्राट् पृथिवीराज पर लिखा गया संस्कृत महाकाव्य है। फलतः जयरथ का समय १२वीं शती के अन्त से लेकर १३वी शती के मध्य तक स्थिर होता है।

---

१. तन्त्रालोक आह्निक ३७ उपसंहार—८
२-३. वही पद्य ९,
४ वही पद्य १०,
५. वही पद्य ११,
६ वही पद्य १९,
७. वही पद्य २३,
८. वही पद्य २५, ३६,
९ वही पद्य २६,
१०. वही पद्य ३८,

जयरथ के विद्यागुरु थे श्री शंखधर [तन्त्रालोक प्रथमाह्निक अन्तिम पद्य] तथा श्रीसंगरथ[1] और दीक्षागुरु श्री सुभटरत्न, जो[2] त्रिभुवनदत्त के पुत्र तथा श्री विश्वदत्त के पौत्र थे। सुभटरत्न इनके पिता श्रीशृङ्गाररथ के भी दीक्षागुरु[3] थे। जयरथ ने बहुत कुछ अपने पिता से पढ़ा था। शैवागम, क्रमदर्शन तथा कुलदर्शन के ये अद्वितीय विद्वान् और विशेषज्ञ थे, अन्य शास्त्रों में तो निष्णात थे ही। इन्होंने अभिनवगुप्त के आकरग्रन्थ श्रीतन्त्रालोक की व्याख्या लिखी है और अन्त में अपने परिचय में लिखा है—

'पदे वाक्ये माने निखिलशिवशास्त्रोपनिषदि
प्रतिष्ठां यातोऽहं यदपि निरवद्यं जयरथः।
तथाप्यस्यामङ्ग त्वचन भुवि नास्ति त्रिकदृशि,
क्रमार्थे वा मत्तः सपदि कुशलः कश्चिदपरः॥'[4]

—'यद्यपि मैं जयरथ, व्याकरण, मीमांसा और तर्कशास्त्र के साथ संपूर्ण शैवशास्त्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका हूँ तथापि त्रिकदृष्टि और क्रमदर्शन में मुझ से अधिक कुशल पूरी पृथिवी में कोई नहीं है।' क्या ही प्रगाढ़ आत्मविश्वास प्रकट किया है इस विद्वान् ने अपने वैदुष्य के प्रति। कभी कभी यह घातक भी बन जाता है। विद्वानों की राय है कि तन्त्रालोक की व्याख्या में भी जयरथ ने अनेक स्थानों पर प्रौढिवाद से काम लिया है और मूलविरुद्ध निष्कर्ष निकाले हैं। विमर्शिनी में भी ये इसी प्रकार कहीं से कहीं पहुँचते दिखाई देते हैं। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि जयरथ एक महान् विद्वान् और परिश्रमी लेखक हैं।

जयरथ की दूसरी आलंकारिक कृति है **अलंकारोदाहरण**। इसका पाण्डुग्रन्थ पूना में सुरक्षित है और उसके आधार पर इसका विवरण डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने अलंकार-मीमांसा में प्रस्तुत कर दिया है। इस विवरण से स्पष्ट है कि जयरथ ने सर्वस्वकार और शोभाकर के झगड़े को निपटाते-निपटाते ठीक उसी प्रकार स्वयं भी एक अलंकार-शास्त्रीय ग्रन्थ लिख डाला जिस प्रकार काव्यप्रकाश की टीका लिखते-लिखते रुय्यक ने अलंकारसूत्र, विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण और पण्डितराज ने रसगंगाधर। जयरथ ने इस ग्रन्थ में शोभाकर के अनेक अलंकार स्वीकार कर लिए हैं। क्रियातिपत्ति, वितर्क, विपर्यय, उदाहरण, निश्चय, आदर, शृङ्खला, प्रसंग, समता, तुल्य, वैधर्म्य, परभाग, उद्रेक, विधि, प्रतिप्रसव, तन्त्र, प्रत्यूह, विवेक—इनमें उल्लेखनीय हैं। कुछ अलंकारों की कल्पना जयरथ ने स्वयं की है। तात्पर्य, अंग, अनंग, अप्रत्यनीक, अभ्यास, अभीष्ट, ऐसे ही हैं।

विमर्शिनी का पूर्ण नाम अलंकारविमर्शिनी है। इसे टीका न कहकर भाष्य कहना चाहिए। सैकड़ों नवीन ललित और उपयुक्त काव्य-पद्यों को उद्धृत करते हुए ग्रन्थ के

---

१. तन्त्रालोक ३७ आह्निक के अन्त के परिचयपद्य-४१

२-३. वही पद्य ३५

४. वही पद्य ४७

सकेतात्मना निर्दिष्ट अंशो को सोदाहरण विशद करना कम परिश्रम का कार्य नहीं है। विमर्शिनीकार इस दृष्टि से एक आश्चर्यकारिणी मेधा के धनी है। ग्रन्थ के उदाहरण मे जहाँ इन्हे अक्षमता दिखाई देती है वे तुरन्त अपनी ओर से कोई उदाहरण पद्य उपस्थित कर देते हैं। उन्हें साहित्य सम्प्रदाय का ज्ञान है, अतः वे मम्मट पर किए कटाक्षो को समझते और स्पष्टीकरण के लिए मम्मट का नाम प्रस्तुत करते हैं। विमर्शिनीकार को अपने व्याख्येय मूलग्रन्थ के प्रति आदरबुद्धि है [अतिशयोक्ति २२४-५] वे उसे प्रतिपक्ष के आक्रमणो से बचाते और अपने तर्कों से प्रतिपक्ष का उत्तर देने मे पूरे संरम्भ के साथ जुटते हैं।

विमर्शिनी का चिन्तन ही वह मूल है जिससे अप्पयदीक्षित को चित्रमीमासा और कुवलयानन्द लिखने की प्रेरणा और ज्योति दोनो मिली तथा पण्डितराज जगन्नाथ को अपना अति प्रौढ़, रसगंगाधर। ये दोनो महान् विद्वान् सर्वस्व, विमर्शिनी और रत्नाकर को पदे-पदे उद्धृत करते चले हैं।

साहित्यशास्त्र बड़ा भाग्यशाली शास्त्र है जिसे इतने बड़े विद्वानो ने अपनी चतुरस्र विद्वत्ता के निर्मल चतुष्पथ पर चहुँओर दृष्टि फैलाकर अवधानपूर्वक बड़े परिश्रम से सींचा। उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, भोज, मम्मट, रुय्यक, शोभाकर, जयरथ, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ—सभी शास्त्रो के अप्रतिम विद्वान् थे। विश्व के अन्य किसी वाङ्मय मे काव्यशास्त्र को कदाचित् ही इतने बड़े विद्वानो का इतनी बड़ी संख्या मे इतने लम्बे समय तक योगदान प्राप्त हुआ होगा।

विमर्शिनी ऐसी प्रासादिक रचना है कि अकेली यही अभ्यस्त हो जाए तो पाठक चतुरस्र पाण्डित्य का धनी बन सकता है। इसमे आए गम्भीर विवेचन यहाँ उद्धरण की अपेक्षा नही रखते। जहाँ कही पुस्तक खोली जाएगी यह विशेषता प्रकट हो जाएगी।

अलकारविमर्शिनी मे जयरथ ने अलकारभाष्य [११८, १५३] और अलंकारसार, [३६१, ७३७] नामक ऐसे दो ग्रन्थो को भी उद्धृत किया है जिनमें अलंकारो का और भी विशद विवेचन था, किन्तु जो इस समय प्राप्त नहीं हैं। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसी कारिकायें भी उद्धृत की हैं [पृ० २५] जो ध्वनिविरोधी तथ्य प्रस्तुत करती हैं। ये जिन ग्रन्थो की हैं वे अवश्य ही अतीव महत्त्व के ग्रन्थ रहे हैं। दुर्भाग्य है कि हमारे पूर्वजो ने, विशेषत: ध्वनिवादी आचार्यों और उनके अनुयायियो ने अपने विरोध को पनपने नही दिया। जो उदारतावादी थे उन्हे मर्यादावादी चिन्तको ने उत्पथगामी माना और अपने श्रद्धेय के विरुद्ध आदर देना उचित नहीं समझा।

अन्य टीका—

जयरथ ने *'अन्ये'* [पृ० ६०३] कहकर किसी आदरणीय या अन्य किन्हीं सम्मान्य विद्वानो की ओर भी सकेत किया है। अवश्य ही जयरथ के समय तक वे सर्वस्व पर अनेक कार्य हो चुके होगे।

हमारा संस्करण

हमारा यह संस्करण मुख्यतः निर्णयसागरीय संस्करण पर आधृत है। हमने इसमें मूल सर्वस्व [सूत्र तथा वृत्ति] तथा उसकी टीका विमर्शिनी दोनों का हिन्दी अनुवाद भी किया है। मूल का हिन्दी अनुवाद डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी भी कर चुके थे, किन्तु विमर्शिनी का अनुवाद अभी तक नहीं हुआ था। टीका का अनुवाद मूल के अनुवाद के बिना आधारहीन प्रतीत होता अतः हमने मूल का भी हिन्दी अनुवाद करना आवश्यक समझा। यह भी सरल कार्य न था। अनेक स्थलों में संदिग्धता थी। हमने वहाँ पं० रामचन्द्र द्विवेदी का अनुवाद देखा। उससे कहीं हमें सहायता मिली, कहीं इनके संदेह दूर हुए।

अनुवाद के पहले विषय के अनुसार मूलपाठ का निर्धारण आवश्यक था। हमने यथासाध्य वह किया है और पाठक यह जानकर प्रसन्न होंगे कि उक्त पाँचों संस्करणों में जो संशोधन छूट गये थे उन्हें हमने छूटने नहीं दिया है। उदाहरणार्थ चौथे सूत्र को लीजिए। इसे निर्णयसागरीय, त्रिवेन्द्रमीय और वाराणसेय संस्करणों में वृत्तिरूप में छापा गया था। १९६५ के दोनों नए संस्करणों में भी वह वृत्तिरूप में ही छपा रह गया। हमने उसे सूत्र रूप में ही छपवाया है, जब कि संजीविनी ने भी इसे सूत्र ही माना है। ग्रन्थसंगति भी उसके बिना संभव न थी। ५ तथा ६ सूत्रों में शब्दपौनरुक्त्य के प्रथम भेद की चर्चा है। यदि उक्त सूत्र को सूत्र न माना जाए तो 'प्रथम' का अर्थ नहीं लगाया जा सकेगा। इसी प्रकार पर्यायालंकार के लिए निर्णयसागर तथा मोतीलालबनारसीदास दोनों के संस्करणों में दो-दो सूत्र छपे हैं। वस्तुतः उनमें से द्वितीय सूत्र, सूत्र नहीं, वृत्ति है। हमने उसे वृत्ति रूप में ही छपवाया है। इसे डॉ० राघवन् ने भी वृत्ति ही माना है, किन्तु चतुर्थ सूत्र को भी वृत्ति मान लेने से उनकी सूत्र संख्या ८६ ही रह गई है। डॉ० द्विवेदी के संस्करण में सूत्र संख्या ८७ ही है, जो सही है, किन्तु वह संख्या पर्याय के लिए दो सूत्र मानने से आई है। अपने संस्करण में हमने इसे ठीक कर दिया है। निर्णयसागरीय संस्करण में व्याघात के द्वितीय सूत्र के आगे व्याघातः सूत्र में ही छपा हुआ है। वस्तुतः वह वृत्ति है और उसके आगे अनुवृत्तिसूचक 'इत्येव' अन्य संस्करणों में प्राप्त है। हमने उसे वृत्ति ही माना है। सारालंकार के सूत्र में सार के स्थान पर 'उदार' पाठ निर्णयसागरीय संस्करण में छपा हुआ है। पाठान्तर में वहाँ सार ही पाठ था। अन्य संस्करणों के ही समान हमने भी इसे सार ही माना है।

वृत्ति में भी पर्याप्त संशोधन करना पड़ा है। निम्नलिखित तालिका से संशोधन का आभास मिल सकेगा—

पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
८	द्विविधमपि	त्रिविधमपि	६
९	प्राधान्यं च काव्यस्य	प्राधान्यं च [काव्यस्य]	२१

पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
१३	स्वरूपेण विदितत्वात्	स्वरूपेण विचार्यत्वा	२७
१५	लिङ्गितया	लिंगतया	३५
१९	शब्दस्याप्रतीता०	शब्दस्य प्रतीतो	४४
,,	इहेति शब्दप्रस्तावे	इहशब्द' प्रस्थाने	४४
२४	'शब्दपौनरुक्त्यं'—इत्यादि वृत्ति	'शब्दपौनरुक्त्य'—सूत्र	६०
	इति द्वैविध्यमेव स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं च	इति द्वैविध्यमेव।	६०
२८	ब्रूम'—इत्यवेहि अयाऽभपत्रनयने नयने निमील्येत्यादौ	ब्रूम'—इत्यवे-इत्यादौ	७१
५२	आतुरस्य	आतरस्य	१३६
६०	यदत्र वस्तुतस्तद्रूपताया.	यत्र वस्तुत०	१५८
६१	पृथुस्तरसि	गुरुर्वचसि पृथुरुरसि	१५९
७५	इत्यादावुदाहृतस्य	इत्यत्रोदहृते	१९७
८०	लीयमानास्ता	लोप्यमानाशा	२०६
८८	अत्र चातिशया	अतश्चा	२२९
९१	०विवर्तित्वादु०	निर्वर्तितत्वादु	२४३
९४	वस्तुतः शब्दस्य	वस्तुशब्दस्य	२५५
१०६	भावोऽशोभनत्वम्	भावः शोभन०	३०६
,,	च तदन्यनिवृत्तौ	चान्यनिवृत्तौ	३०६
१०९	ततश्च	तच्च	३१५
,,	भावात् त्रिधा	भवत् त्रिधा	३१५
,,	नायकनायिकाख्यधर्मविशिष्टयो	नायकताख्यधर्मविशिष्टयो	३१५
११०	केशपाशालिवृन्देव	केशपाशालिवृन्देन	३१७
१११	त्रिव किल	विचिकल	३१७
११६	व्यापारविषयतो	व्यापारविषयीकृतो	३२८
११७	नायकत्वं स्वरूपेण	नायक स्वस्वरूपेण	
१३४	किं मामालप	किं मा नालप	३८४
१४८	सातिशयात् कोपजनकत्वादिः	सातिशयो मरणशङ्कोप०	४३०
१७६	श्रीहर्षप्रस्थापने	श्रीहर्षप्रस्थाने	५१८
२२३	अभिमानेन सा योक्तिर्जान	अभिमाने च सा योज्या	६७४

प्रायः यही स्थिति विमर्शिनी की रही है। उसमें भी पर्याप्त संशोधन करना पड़ा। इसके भी कुछ स्थल—

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
नीचे से ५	२	विमर्शिणीकारः	× ×	

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
नीचे से १	२	तात्पर्यमुच्छत इति। अस्या-भिप्रायः-तथा च	[1]तात्पर्यंमुच्यत इत्यस्या-भिप्रायः। तथा च	२
९	१०	इत्युपचारवक्रत्वादीनां	इत्युपचारवक्रता आदि-पदेन क्रिया-वक्रता-दीनां	२३
१०	१४	त्रिविधस्तथापि तेन०० मुख्यत्वेन	त्रिविधस्तथापि [तेन००] मुख्यत्वेन	३२
९	२१	कार्यार्थेने	कार्यार्थेन	५२
२	२३	उपमितार्थादिवादि	उपमितार्थादिवाचि	५६
७	,,	तथात्वानुपपत्तेः	तथात्वोपपत्तेः	,,
नीचे से १	,,	वारण-रणरणिका०	वारण-रण-रणरणिका	५८
	३२	तत्साद्दश्यत्व	सदृशत्व	८५
नीचे से १०	३६	उपमानत्वेनोपात्ता	उपमानत्वेन नोपा	९२
९	३९	कल्पितेनैव	कल्पितेन तेनैव	१००
३	४२	स्मर्तृदशायामनीतत्वाकर्तृं०	स्मर्तृदशायामतीतत्वाद् कर्तृं	११०
१०	४४	युक्तम्	युक्तत्वम्	११६
११	,,	अपह्नवे	अनपह्नवे	११८
५-६	५६	भ्रान्तिसद्भाव	भ्रान्तिमच्छब्द	१५२
३	५८	साद्दश्यनिमित्तं	साद्दश्यनिमित्तकत्वमेव	१५३
६	५९	स्वातन्त्र्येण	आस्तण्ड्येन	१६१
३	६१	विभावस्य	विभागस्य	,,
नीचे से १	६३	नापह्नुतेर्हि	अपह्नुतेर्हि	१७१
१	६७	चन्द्रादेर्वृत्त्यभावो	चन्द्रादेर्वृत्त्यभावाद्	१७५
नीचे से ८	,,	नयनुद	ननु यद	१७८
,, ५	,,	लक्ष्मीसौन्दर्या	लक्ष्मीसोदर्या	१७९
४	,,	स्फुटत्वे तत्कान्ता	स्फुटं त्वेतत्कान्ता	१७९
नीचे से ६	६८	०विशेषात्तत्सामान्यतर्कोऽपि	०विशेषात्संशयप्रकार-स्तर्कः	१८४
,, ८	,,	पक्षान्तर-संस्पर्श	पक्षान्तरासंस्पर्श	१८४

१. मूल में संशोधन छूट गया है।

नीचे से	पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
,,	४	,,	सशयो ह्यतिशयितोभया०	संशयो ह्यनियतोभया	,,
	१३	६९	निमित्तसामर्थ्यात्	निमित्त तत्सा०	१८६
	१४	,,	विषयप्रतीते	विषयिप्रतीतेः	,,
	१६	,,	विषये प्रतीति	विषयिप्रती०	,,
	१२	७०	विषयदार्ढ्येन	विषयिदार्ढ्येन	,,
नीचे से	३	८६	लङ्हत्वादीनामित्यादि-शब्दाद्विवर्तनोच्छाया एव	लङ्हत्वादीनामिति । आदिशब्दाद् वर्तनच्छाया एव	२२७
	१	,,	०नार्यमिति । एतत्प्र०	०नार्यमित्येतत्प्र०	,,
	१	९२	प्रस्तुतस्य विनान्येन	प्रस्तुतस्य तु नान्येन	२४४
	५	९५	विशेषाभिदित्सया पाठान्तर-विशेषानभिधित्स्या	विशेषाभिधित्सया	२५६
	४	९६	पाठान्तरवक्तृप्रतिपक्त्रो. वक्तृप्रतिपत्त्योः	वक्तृप्रतिपत्त्रो	२५७
	५	९९	तस्यापीति	तस्यापीति [सामान्य-धर्मस्यापीत्यर्थ.]	२६४
नीचे से	३	९८	प्रतिपाद्येन, प्रतिपाद्य तेन (पाठान्तर)	प्रातिपद्येन	२७१
	४-५	१०४	कार्यकारणयो. प्रति नियमस्य विपर्ययस्तुल्यकालत्वादिनोक्तेः (अथ च कार्यकारणयरप्रति-नियमस्य क्रमस्य विपर्ययस्तु-ल्यकालत्वादिनोक्ते ।	कार्यकारणयो' प्रति-नियमस्य क्रमस्य विपर्ययस्तुल्यकाल-त्वादिनोक्ते ।	२९९
	६	,,	तत्रेति निर्धारणे । अस्यामनु०	तत्रेति निर्धारणे । [कार्यकारणप्रतिनियम-विपर्ययरूपेति] अस्यामनु	२९९
	१२	,,	विशेषणपरिहारेण	विशेषपरिहारेण	३०२
नीचे से	८	११२	समासोक्तावुपमायां	समासोक्तायामुपमाया	३२०
		१२६	उत्पापनमिति	उत्पानमिति	३६१
		,,	दुर्बलत्वादा (भावान्नान्य) बाध्यत्व०	दुर्बलत्वादा— बाध्यत्व०	३६१
		,,	तत् सर्वजनविरुद्ध०	तत् स्ववचनविरुद्ध०	३६२

	पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
नीचे से	५	१२७	वाधोत्पत्तावपि	वाधोत्पत्तिः, अपितु	३६७
नीचे से	४	,,	पश्चाद्विरोधधीः	पश्चादविरोधधीः	,,
	५	१२९	असम्बद्धत्वा०	सम्बद्धत्वा०	३७२
नीचे से	२	,,	नायिकाश्रयिनोः	नायिकानिशयोः	,,
	४	१३१	सादृश्यपर्यवसायापह्नुव	सादृश्यापर्यवसाय्यपह्नुव	
नीचे से	३	,,	व्याजोक्तौ चत्वारः प्रकारा विद्यन्ते	व्याजोक्तौ चोत्तरः प्रकारो विद्यते	३७४
नीचे से	२	१३४	अप्रस्तुतात् कारणात् प्रस्तुतस्य कार्यस्य	अप्रस्तुतात् कार्यात् प्रस्तुतस्य कारणस्य	३८५
	२	१३५	कार्ये प्रस्तुते कारणस्या०	कारणे प्रस्तुते कार्यस्य	३८६
	१-२	१३७	सारूप्येण साधर्म्योदाहरणानां	साधर्म्येण सारूप्योदाहरणानां	३८९
	३	,,	वाक्येनेति निश्चिनुमः	वाक्येन [अतिदेश] इति निश्चिनुमः	३८९
नीचे से	२	१४०	संपद्धरण	संपद्वरण	४०१
	८	१४९	निषेधस्यैव भासनात्	निषेधस्यावभासनात्	४३५
	३	१७६	तत्र रूपाय विशेषविवक्षा	तत्र पुनरुपायविशेष	५१९
	७	,,	प्रस्थापन	प्रस्थान	५१९
नीचे से	१	,,	विभावादीनां	विभावनादीनां	५२५
	९	१७७	कारणमालानां	कारणानां	५२५
	४	१८१	आधिक्यमुक्तम्	आधिक्यमिति वर्धमानमुक्तम्	
	६	,,	तस्मादस्मिश्च वर्धमाने सारोपान्तर्भावमेति न पुनरिदमन्तभूतं सारे परिमितविषये महाविषय मित्याद्युक्तमेवोक्तम्	तस्माद्-अस्मिश्च वर्धमाने सारोऽन्तर्भावमेति न पुनरिदमन्तभूतं सारे परिमितविषये महाविषयमित्या–द्युक्तमेवोक्तम्	५३५
	१	१८२	दृक्त्वाभासैव	दृक् स्वाभासैव	५४०
नीचे से	६	१८२	तच्छब्दस्यापि	तच्छाब्दस्यापि	५४०
नीचे से	१	१८३	वैचित्र्यावहत्वाच्छब्दस्यापि	वैचित्र्यावहत्वाच्छाब्दस्यापि	५४१
	७	१८४	त्रिरूपस्य साध्यस्य	त्रिरूपस्य साधनस्य	५५२

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृ०
३	१८६	समर्पतया	समर्थतया	५५३
४	१८८	मृतेर्दारात्मजा०	मतेर्दारात्मजा०	५५८
	,,	सूचितं तस्यैव	समुचितम् । तस्यैव	५६७
	१९१	शब्दोपात्तदधति(?)	शब्दोपात्तमेतद्भवति	५७२
नीचे से १	१९१	तदिति नियमस्य	तदिति विनिमयस्य	५७२
६	१९२	त्वासमत्वयोर्बिम्बप्रति०	मतत्वासमत्वयोर्बिम्बप्रति०	,,
२-३	१९३	कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वा-भावाच्छ्लोको०	कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वा-श्लोको०	५७९
३	१९५	नियमविधि । पुनरज्ञातज्ञा०	नियमविधि । न पुनरज्ञातज्ञा०	,,
४	,,	तेन नियमे व्रीहि०० वित्वमेव दलनादे०	तेन नियमे व्रीही०० वित्वमेव न, दलनादे	,,
४	२००	विकल्पोऽपि न भवति	विकल्पोऽपि भवति	५९४
	२०४	तत्कथ नववयःप्रभृ०	तत्कथं न नवयय प्रभृ०	६०३
	२०६	निरासमानराकरणं	निरायासमाननिराकरणं	६०९
२	२०८	प्रतीपाख्यमलंकारद्वयं पुनः	प्रतीपाख्यमलंकारद्वयम्, न पुनः	६१८
४	२११	घटपटवद्भेदो न	घटपटवद् भेदेन	६२८
२	२१२	यत् सुमनोगुणत्वे०	यत् समानगुणत्वे	,,
नीचे से ३-१	२१४	अननुदाहरणीय०, अननुदा-हरणा०, अतिरिक्तत्व०	अननुहर०, अननुहर०, अतिरिक्त०[२]	६३८
नीचे से ४	२१९	लोकात्म	योगात्म	६५३
नीचे से २	,,	तस्य हि यथायोजनमात्रं लक्षणम्	तस्य हि अन्यथायोजं०	६५३
१	२२०	वाक्याभिधेयमानोऽर्थे	वाक्येऽभिधीयमानोऽर्थो	६५८
नीचे से ६	,,	प्रस्थानविशेषतया	प्रस्थाननिषेधकतया	६५९
नीचे से ५	२२१	मुख्यार्थमुपादनमिति भेदान्तरमप्य-वसानवाच्यम्	मुख्यार्थापादनमिति भेदा-न्तरमप्यस्या न वाच्यम्	,,
५	२२४	इह हि केचिदर्था कविवचसि सुस्पष्टमभिरुद्धाः वाच्यवाचकयोः	इह हि वाच्यवाचकयो.	६७२

१ यहाँ मूल मे 'समुचितं तस्यैव' ऐसा ही छपा रह गया है ।

२. मूल मे अतिरिक्त० ही छप गया है ।

३ मूल में यथायोजनमात्र ही छप गया है ।

पं०	पृष्ठ	निर्णयसागर संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
५	२२५	भाविना	भावना	६७३
७	,,	आदरस्च	आदराच्च	,,
नीचे से ३	,,	योगविद्भूत०	योगिवद्भूत०	६७५
,,	,,	प्रत्यक्षतयैव तदभावभासनं	प्रत्यक्षतयैव [प्रतीतिस्तथापि] तदभाव [सं] भावनं	६७५
६	२२६	परमाद्वैतज्ञान	परमाद्वैतिज्ञान	६७५
७	,,	जानामीति समानाधि	जानामीत्यसामा०	६७६
नीचे से ४	२२७	सौधेपु नीतं	सौधेपु गीतं	६७८
१	२२८	स्वप्ने मोदित	स्वप्नान्तोदित	,,
४	२२९	कविसमर्पितधर्मत्वं	कविसमर्पितधर्माणां	६८२
२	२३१	अङ्गभूतस्य	अङ्गिभूतस्य	६८९
	,,	तत्र नायमलंकारः	तदत्र नायमलंकारः	,,
नीचे से ५	२३२	रत्यात्मभावः	रत्यात्मा भावः	६९३
१३	२३५	गुणीभावात्	गुणीभावाभावात्	६९५
नीचे से २	२३६	पुष्णन्पुरारेः	पुष्णत् पुरारेः	७०३
नीचे से ९	२३८	रतेरभूत०	रतेरङ्गभूत	,,
नीचे से ४	२४०	शङ्कासूयाधृतिस्मृत्यौत्सुक्य-दैन्यौत्सुक्यानां	शङ्कासूयाधृतिस्मृति-दैन्यौत्सुक्यानां	७१६
नीचे से १	२४१	प्रकृतत्वाच्चारु०	प्रकृताच्चारु०	७१८
३	२४३	सामग्र्यादेः	सामग्र्यादेः	७१९
११	,,	बोधन्यायेन मानसबोधन्यायेन	बोधन्यायेन [मानसबो-न्यायेन]	,,
नीचे से ५	,,	जिनार्हेमयास्तथा	जिनात् हेममयास्तथा	७२०
२	,,	व्यक्तमेवं विधीयते	व्यक्तमेवं विधोऽपि ते	७२०
३	२४४	इवेक्ष्यते	इवेक्षिते	,,
८	,,	तस्मादेपां विपयत्वं	तस्मादेषामविषयत्वं	,,
नीचे से ५	,,	पूर्वहाराच्चारुत्वाभावाच्च	पूर्वहानाच्चारुत्वा-भावाच्च	,,
४	,,	संसृष्टिसंकथने चलिते	संसृष्टिसंकरयुगे दलिते	,,
३	,,	रसताम्	रमताम्	,,
७	२४५	निमित्तानिमित्तभावेन	निमित्तनिमित्तिभावेन	७२६
५	२४६	अङ्गत्वे पुनरेषां संकरादी-नामङ्गा०	अङ्गत्वे पुनरेषां संकरधीर्ना०	७२७

पं०	पृष्ठ	निर्णयसार संस्करण	प्रस्तुत संस्करण	पृष्ठ
६	२४६	यमकानुप्रासयोर्निमित्तनि- मित्तिभाव॰	यमकानुप्रासयोर्न निमित्त॰	७२७
९	,,	शब्दवदुपकार्योपकारकत्व- भावात्	शब्दवदुपकार्योपकारक- त्वाभावात्	७२७
१०	,,	इयमेव हि समृष्टिर्द्वयो-	इयमेव हि समृष्टिर्यद्द्वयो॰	,,
१४	,,	दशदादिमाडिवाक्यवचनयो.	दशदाडिमादिवाक्यवदनयो	,,
१५	,,	द्वयोरपि समृद्धत्वात्	द्वयोरपि संबद्धत्वात्	,,
नीचे से १	,,	न चात्रायमालं॰	न चात्रोभयमप्य	,,
२	,,	न संकरो नापि	न संकरोऽप्यापि	,,
२	,,	शक्तियोगात्	शक्तिभङ्गात्	,,
१	२४८	अत्र च यथा	अत्र च न यथा	७३४
नीचे से १	,,	दावाप्ति(?)प्रदर्शन॰	तावद् व्याप्तिप्रदर्शन॰	,,
नीचे से ५	२५२	समासा	समासाना	७३८
२	२५३	संकरे	शंकरे	७४१
नीचे से ३	,,	रूपकोपक्रमेणोपमानिर्वाहो दुष्ट इति साम्यलाघवेन	रूपको॰॰र्वाह । दुष्ट इति साम्यस्य लाघ॰	७४१
३	२५४	उपमाया बाधकत्व प्रतिगम्भी॰	उपमाया बाधकत्वम् प्रतिग॰	७४१
नीचे से १	,,	हेतुत्वेनैव गता	हेतुत्वेनैवागता	७४३
,,	,,	तस्या अनुत्थानात्	तस्यानुत्थानात्	७४३
३	२५५	हर्तुः	हन्तु	,,
४	,,	वदने	वचने	,,
२	२५६	शब्दार्थमत्यलङ्कारवाक्य	शब्दार्थवर्त्यलङ्कारा वाक्य	७४४
नीचे से ४	,,	॰भयालङ्कारत्वे	॰भयालङ्कारत्व	७५२
नीचे से २	,,	वर्णिता	वर्णिका	,,
२	२५७	॰ष्टिः श्लेपाणामेवो॰	॰ष्टिश्लेषाणामेव	,,
९	,,	तत्कार्यमेव	तत्कार्यत्वमेव	,,

इस तालिका से स्पष्ट है कि निर्णयसागरीय संस्करण में भावात्मक वक्तव्य को अभावात्मक, अभावात्मक को भावात्मक, भावपूर्ण निर्देश को द्रव्यात्मक निर्देश कितनी ही बार छापा गया है। 'न्याय' के स्थान पर 'काल' और 'मरणशकोपजनकत्व' के स्थान पर 'कोपजनकत्व' का पाठ विपर्यय दुस्समाधेय विपर्यय है। पाठान्तर भी ऐसी जगह

नहीं मिलते। 'लतासमत्व' से 'भतत्वासमत्व' की कल्पना सरल नहीं। विराम, विरामाभाव, अनुच्छेद, प्रघट्टकपरिवर्तन और ऐसे ही लेखधर्म भी कहीं-कहीं भ्रामक स्थिति में मिले और उनको विषयसंगति के आधार पर ठीक किया गया।

संशोधन में हमने कल्पना को सबके बाद में स्थान दिया है, पहले रत्नाकर और रसगंगाधर के उद्धरणों को। जो उद्धरण विमर्शिनी ने रत्नाकर से लिए हैं उन्हें रत्नाकर से मिलाकर ठीक किया, यद्यपि कहीं-कहीं स्वयं रत्नाकर में भी इस तुलना से संशोधन हुआ, और विमर्शिनी के जो उद्धरण पण्डितराज ने रसगंगाधर में दे रखे हैं उन्हें रसगंगाधर से मिलाकर। मूल का संशोधन भी पहले उद्धरणों के ही आधार पर किया है। १०९ पृ० का नायकतात्स्यधर्म पाठ रसगंगाधर से ही लिया गया है। ये सब निर्देश विमर्श-नामक टिप्पणी में पाठान्तर-शीर्षक देकर कर दिये गये हैं। यद्यपि कहीं 'पाठान्तर'-शीर्षक छूट भी गया है।

विमर्शिनी की प्राकृत गाथाओं की संस्कृतच्छाया अपने संशोधन के साथ रत्नाकर से ली गई है यद्यपि एक दो स्थल बिना छाया के छोड़ दिए गए हैं। वे समझ में नहीं आए।

विमर्शिनी के अनुवाद में पूर्वपक्ष को समझने हेतु रत्नाकर के संबद्ध सभी उद्धरण हमने आगे या पीछे प्रस्तुत कर दिए हैं और पूना से छपे संस्करण के संदर्भ भी दे दिए हैं। ये संदर्भ भी कठिनाई से तैयार किए जा सके क्योंकि कुछ उद्धरण ऐसे हैं जो जिस अलङ्कार में दिए गए हैं उसमें न होकर रत्नाकर में किसी अन्य अलंकार के प्रकरण में रहे हैं। इनमें भी कुछ कारिकाएँ गद्यात्मक रूप में छपी हैं, अतः उन्हें खोजना कठिन रहा है।

विमर्शिनी में 'प्रत्यक्षाद् विरलकरांगुलिप्रतीति' इत्यादि [५४० पृ०] ऐसे भी कुछ स्थल हैं जिनके मूल संदर्भ खोजे नहीं जा सके हैं और इसीलिए जिनके अर्थज्ञान में संदेह रह गया है। दिण्डिकारागः [पृ० ५३], बाह्यकेलि [१८४ पृ०], बाह्याली [१८४ पृ०] भी ऐसे ही शब्द हैं। बाह्याली का प्रयोग राजतरंगिणी में बाहरी बरामदे के लिए हुआ है। प्रस्तुत प्रसंग में इसका यह अर्थ नहीं जमता था अतः हमने घुड़सवारी का मैदान अर्थ किया। इसका एक प्रयोग घुड़सवारी के लिए भी काव्यादर्श के पूना संस्करण [पृ० १८ की] टिप्पणी में मिल गया। राजगंज [६२८ पृ०] भी ऐसा ही शब्द है।

प्रत्येक अलंकार के अन्त में हमने भामह से लेकर विश्वेश्वर तक चली परम्परा उद्धृत कर दी है और प्रत्येक अलंकार का इतिहास दे दिया है। दण्डी को यत्र तत्र ही अपनाया गया है। कश्मीरी अलंकार परम्परा उद्भट की परम्परा है और उद्भट भामह से ही प्रभावित हैं। उन्होंने भामह के काव्यालंकार पर टीका भी लिखी थी जिसका उल्लेख जयरथ ने असकृत् किया है। उस कारण भामह को ही हमने प्राधान्य दिया है यद्यपि हमें यह निश्चय हो गया है कि भामह दण्डी के बाद के हैं तथापि

हो सकता है हमने भी संस्कारवशात् कहीं भामह को पूर्ववर्ती लिख दिया हो। भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण को भी हमने अधिक महत्त्व नहीं दिया है, क्योंकि उसका प्रभाव भी कश्मीरी परम्परा पर कम है यद्यपि जयरथ ने भोजदेव का भी [पृष्ठ ४४३, ७२०] उल्लेख कर दिया है। इस प्रकार दण्डी से विश्वेश्वर तक की आवश्यक और ऐतिहासिक सामग्री प्रत्येक अलंकार के अन्त में इस ग्रन्थ में सुलभ है। आक्षेप, काव्यलिंग और संसृष्टि संकर के इतिहास पर गवेषक विद्वान् ध्यान दे सकते हैं। इतिहास के अन्त में श्रीविद्याचक्रवर्त्ती की निष्कृष्टार्थ कारिकाएँ भी अनुवाद के साथ दे दी हैं।

२

अलङ्कारों का क्रमिक विकास स्पष्ट समझ में आ सके इसलिए हम दण्डी से सर्वस्व तक के अलङ्कारों के इतिवृत्त पर दृष्टि डालें—

अलङ्कारों का इतिवृत्त

'अलंकार'—शब्द का पूर्वपद 'अलम्' ऋक्संहिता में 'अरम्' के रूप में मिलता है[1]। अरम् 'ऋ'—धातु से निष्पन्न शब्द है। 'ऋ' का अर्थ है गति। 'गति'—शब्द बोध, मुक्ति और गमनव्यापार का भी बोधक शब्द है। अर्थ यह कि ज्ञान, इच्छा और क्रिया इन तीन शक्तियों से बने विश्व की दो तिहाई तक व्याप्त है गति शब्द की शक्ति। वेद-विज्ञान 'गति'—तत्त्व को 'प्राण' और 'अग्नि' कहता[2] तथा उसे 'इन्द्र' से अभिन्न मानता है[3]। ऋक्संहिता के ऋषि वसिष्ठ इन्द्र से ही पूछते हैं 'का ते अस्त्यरङ्कृतिः सूक्तैः'[4] 'हे इन्द्र, सूक्तों में ऐसी कौन सी अलंकृति, कौन सी प्राणवत्ता, कौन सी आपूर्ति, कौन सी उपलब्धि रहती है जो उनसे तुम्हें प्राप्त होती है।' अवश्य ही इस वाक्य में सूक्तात्मक उक्ति के अन्तर्गत रहने वाले अतिशय-तत्त्व की जिज्ञासा प्रकट हो रही है। मानो ऋषि यानी कवि, अलंकार्य से उसके उक्तिलभ्य अलंकार के विषय में प्रश्न कर रहा हैं। इस प्रकार

---

१ द्रष्टव्य—An Etymological note on the word Alamkara By Dr. G. C Tripathi in 'Principles of Literary Criticism in Sanskrta' Ed Prof. Dr R. C. Dwivedi, Udaipur University.

२–३ द्र० (१) वैदिकविज्ञान और भारतीय संस्कृति : म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी।

(२) आत्मविज्ञानोपनिषद् आदि : पं० मोतीलाल शास्त्री।

(३) सहस्राक्षरा वाक् : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल।

(४) विज्ञानविद्युत् : म० म० प० मधुसूदनओझा।

(५) वैदिकवाक्यकोष : श्रीभगवद्दत्त शास्त्री।

४ ऋ० ७।२९।३।

ऋग्वसंहिता में अर्थात् मानव-इतिहास के प्रथम ग्रन्थ या आदिकाव्य में हम परवर्त्ती अलंकार के लिए 'अरंकृति' शब्द पाते हैं, किन्तु यहाँ यह शब्द उपमा आदि के लिए प्रयुक्त नहीं बतालाया जाता। दूसरी ओर

यास्क के निरुक्त में हम 'उपमा' शब्द और उसकी वही व्याख्या पाते हैं जो हमें परवर्त्ती आलंकारिकों में मिलती है। गार्ग्य का मत उद्धृत करते हुए यास्क लिखते हैं—'उपमा अतत् तत्सदृशम्[२]। यहीं उपमाओं की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं—

'तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वा उपमिमीते अथापि कनीयसा ज्यायांसम्।'

दुर्गाचार्य इसकी व्याख्या करते और लिखते हैं—

'ज्यायसा उत्कृष्टेन गुणेन यो यस्मिन् द्रव्ये उत्कृष्टो गुणस्तेन, कनीयांसम् अनुत्कृष्टं गुणम् उपमीयते, तद्यथा 'सिंहो माणवक' इति। सिंहे शौर्यमुत्कृष्टम्, माणवकमेतेन उपमिमीते सिंह इव माणवको विक्रान्त इति। प्रख्याततमेन वा अप्रख्यातमुपमीयते। प्रख्यातश्चन्द्रमा, अप्रख्यातो माणवकः,तं तेनोपमिमीते 'चन्द्र इव कान्तो माणवक' इति। अथापि क्वचित्, 'कनीयसा गुणेन ज्यायांसमपि सन्तमुपमिमीते।'
अर्थात्–'अनुत्कृष्ट की उत्कृष्ट के साथ तुलना ही उपमा है'।

यास्क ऐसी उपमाओं के १२ स्थल[३] प्रस्तुत करते और उनमें से कुछ स्थलों को कर्मोपमा[३] भूतोपमा,[४] रूपोपमा[५] सिद्धोपमा,[६] लुप्तोपमा,[७] अर्थोपमा[७] भी कहते हैं। किन्तु इन्हें अलंकार नहीं कहते, यद्यपि इनमें भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा और लुप्तोपमा जिसका दूसरा नाम अर्थोपमा है ऐसी उपमाएँ हैं जिन्हें अलंकार कहा जा सकता है।

[८]पाणिनि जी उपमा, सादृश्य, सामान्य, उपमान, सदृश, प्रतिरूप, उपमित शब्दों का

---

१. (१) History of Samskrit Poetics By. Dr. S. K. De. Page. 3.
   (२) निरुक्त : नैघण्टुककाण्ड पाद–३ आरम्भ, मोरसंस्करण भाग–२ पृ० २८३।

२. निरुक्त प्रथम भाग पृष्ठ ३३४ मोरसंस्करण.

३–७. निरुक्त भाग–२ पृ० २९१–३०८ मोरसंस्करण.

८. उपमा (१) तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां [२।३।७२],
   (२) चिदिस्युपमार्थे प्रयुज्यमाने [८।२।१०]

औपम्य (१) जीविकोपनिषदावौपम्ये [१।४।७९], (२) ऊरुत्तरपदादौपम्ये [४।१।६९] (३) संज्ञौपम्ययोश्च [६।२।११३]

सादृश्य (१) अव्ययं विभक्ति० [२।१।६] (२) यथाऽसादृश्ये [२।१।७]
   (३) सदृशप्रतिरूपयोश्च सादृश्ये [६।२।११]

असकृत् प्रयोग करते तथा 'पुरुषव्याघ्र' आदि ऐसे स्थलों पर दृष्टि रखते हैं जिनमें आई उपमा स्पष्ट रूप से अलंकार है, तथापि वे इन्हें उपमालंकार नहीं कहते, यद्यपि उन्हें अपने शास्त्र में वैसा कहने का कोई अवसर भी नहीं था।

पतञ्जलि 'उपमान' शब्द का निर्वचन करते और कहते हैं—[१]

'मानं हि नाम अनिर्ज्ञातज्ञानार्थम्,
उप आदीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति।
तत्समीपे यन्नात्यन्नाय निमिते तद् उपमानम्।'

अर्थात्—'उप यानी पास में अर्थात् अज्ञात वस्तु के, ले जाने वाला अर्थ उपमान'।

किन्तु वे इसे अलंकारत्व से अस्पृष्ट रखते और इसके स्पष्टीकरण के लिए उदाहरण 'गवय गौ जैसा' इस लोकवाक्य को देते हैं जिसमें उपमा तो है किन्तु चमत्कार नहीं, अतः जो अलंकार नहीं है।

किन्तु पतञ्जलि के समय में ही 'अलंकारत्व' और 'उपमा' आदि दोनों—समानान्तर गंगा यमुना को मिला दिया जाता है यह कार्य भरतमुनि करते हैं। वे 'उपमा, रूपक, दीपक और यमक' को अलंकार मानते और लक्षण नामक तत्त्व के रूप में अन्य ३६ गुणों का भी निरूपण करते हैं जिनसे अलंकारों की दिशा में चिन्तन को विद्युद्गति प्राप्त हो जाती है। और दण्डी तक के अनेक मनीषी इस दिशा में लगभग सात सौ वर्षों तक निरन्तर चिन्तन करते हैं। इस महान् अन्तराल के पश्चात् हम दण्डी तक पहुँचते और उनमें अलंकारों की संख्या ३७ पाते हैं। ये निम्नलिखित हैं—

सामान्य-(१) उपमानानि सामान्यवचनैः [२।१।५५]
(२) उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे [२।१।५६]
(३) आमन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् [८।१।७३]

उपमित-उपमितं व्याघ्रादिभि० [२।१।५६]

उपमान-(१) उपमानानि सा० [२।१।५५] (२) उपमानादाचारे [३।१।१०] (३) कर्त्तर्युपमाने [३।२।७९], (४) उपमाने कर्मणि च [३।४।४५], (५) उपमानादप्राणिषु [५।४।९७] (६) उपमानाच्च [५।४।१३७], (७) संज्ञायामुपमानम् [६।१।२०४], (८) तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमाना० [६।२।२], (९) गोबिडालसिंहसैन्धवेषूपमाने [६।२।७२], (१०) उपमान शब्दार्थ-प्रकृतावेव [६।२।८०], (११) चीरमुपमानम् [६।२।१२७], (१२) सूपमानात् क्तः [६।२।१४५] (१३) निष्ठोपमानादन्यतरस्याम् [६।२।१६९]

१ Dr. S. K. De. History of Skt. Poetics

२. 'उपमा रूपकं चैव दीपकं यमकं तथा।
अलंकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रयाः॥'—भरतनाट्यशास्त्र १७।४३

[1]दण्डी [६६०–६८० ई०]

१. स्वभावोक्ति २. उपमा ३. रूपक ४. दीपक ५. आवृत्ति ६. आक्षेप ७. अर्थान्तरन्यास ८. व्यतिरेक ९. विभावना १०. समासोक्ति ११. अतिशयोक्ति १२. उत्प्रेक्षा १३. हेतु १४. सूक्ष्म १५ लेश १६. क्रम १७, प्रेयः १८ रसवद् १९. ऊर्जस्वि २०. पर्यायोक्ति २१. समाहित २२. उदात्त २३. अपह्नुति २४. श्लेष २५. विशेषोक्ति २६. तुल्ययोगिता २७. विरोध २८. अप्रस्तुतप्रशंसा २९. व्याजस्तुति ३०. निदर्शना ३१. सहोक्ति ३२. परिवृत्ति ३३. आशीः ३४. संसृष्टि ३५. भाविक ३६. यमक तथा ३७. चित्र।

दण्डी ने दक्षिण भारत में जो अलंकारदर्शन प्रस्तुत किया वह उत्तर भारत के भामह को बहुत ही शीघ्र सुलभ हो गया। भले ही वह दण्डी के अपने ग्रन्थ के द्वारा सुलभ हुआ हो अथवा साक्षात् उसी माध्यम से जिससे ये तत्त्व दण्डी तक पहुंचे हों। स्वयं दण्डी के ग्रन्थ से ही भामह को अलंकार प्रेरणा का पक्ष अधिक स्वस्थ प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि भामह किसी पक्ष को पूर्व पक्ष बना रहे हैं और उसे उसी की मूल पदावली में उद्धृत कर रहे हैं। यह पदावली दण्डी से अक्षरशः मिलती है। ऐसी स्थिति में दण्डी को पूर्ववर्ती होने का श्रेय न देना तर्कविरुद्ध है[2]।

---

१. (१) यहाँ आचार्यों के समय का आधार हैं डॉ० काणे

(२) म० म० काणे आदि कहते हैं कि दण्डी के पूर्व भट्टिकाव्य में अलंकारों का विवेचन हुआ है। वस्तुतः उसमें अलङ्कारों के प्रयोगमात्र हैं। अलङ्कारों के नाम नहीं। नामों की कल्पना जयमंगलाकार ने की है, जो बहुत अंश में अशुद्ध है। 'वार्ता' को भामह के अनुसार अलङ्कार बतलाना उसका प्रमाण है। देखिए यहीं आगे—

२. ऐसे अनेक स्थल डॉ० डे०, म० म० काणे, श्रीपोद्दार जी आदि ने उद्धृत किए हैं। इनमें प्रसिद्ध है हेतु सूक्ष्म आदि अलंकारों से सम्बद्ध स्थल। दण्डी कहते हैं—'हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्' और इनका निरूपण ६७ कारिकाओं में करते हैं। वहाँ वे—"गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।

इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने॥"—यह उदाहरण देते हैं।

भामह कहते हैं—'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।

समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः

इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेतां प्रचक्षते॥' २।८६–८७॥

जो इन कारिकाओं को भाषा की दृष्टि से पढ़ेगा वह समझ जाएगा कि अवश्य ही दण्डी की कारिका पहले की है। दण्डी नाम लेते हैं तीन अलङ्कारों का किन्तु उनके लिए प्रयोग करते हैं 'भूषणम्' इस प्रकार एकवचन का। चाहिए था 'भूषणानि'। भामह इसका सुधार करते और 'मतः' में एकवचन ही रखते हुए यह बतलाते हैं कि यदि 'भूषणम्' ही लिखना है तो 'सूक्ष्मलेशौ' न लिखकर 'सूक्ष्मो लेशोऽथ' इस प्रकार अलग अलग लिखना

[1]भामह [७००–७२५ ई०]

भामह ने अपने काव्यालङ्कार मे दण्डी के कुछ अलङ्कारो को माना, कुछ को नही और कुछ अलङ्कारो को अपनी ओर से नवीन अलङ्कारो के रूप मे प्रस्तुत किया। इनका विवरण—

(१) अमान्य अलङ्कार—आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश तथा चित्र।

(२) मान्य अलङ्कार—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, क्रम (यथासंख्य नाम से) प्रेय, रसवद्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशी', संसृष्टि, भाविक तथा यमक।'

(३) स्वकल्पित—(१) अनुप्रास (२) उपमारूपक (३) उत्प्रेक्षावयव (४) उपमेयोपमा (५) सन्देह (६) अनन्वय।

इस प्रकार भामह तक कुल अलंकारो की संख्या ४३ हो जाती है। इनमे से भामह दण्डी के ३२ तथा अपने ६ इस प्रकार कुल ३८ अलकार स्वीकार करते हैं। हेतु,

---

चाहिए। यदि भामह स्वयं इसे लिखते तो 'हेतुः सूक्ष्मश्च लेशश्च'—ऐसा लिखते। 'हेतुश्च'—लिखना भी दण्डी की ही उक्ति को उद्धृत करना है। यहाँ—

यह कहना कि दोनो ने किसी एक अन्य स्रोत से ये अश अपनाए हैं—संस्कृतभाषा की अभिव्यक्ति से अनभिज्ञता प्रकट करता है। आनन्दवर्धन और महिमभट्ट की नोंकझोंक पर उनका ध्यान जाना चाहिए। इतने पर भी डॉ० डे, पोद्दार, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी आदि भामह को ही पूर्ववर्ती मानते हैं। म० म० काणे ने हमारे इस भाषा सम्बन्धी तर्क पर तो ध्यान नहीं दिया है, परन्तु माना दण्डी को ही पूर्ववर्ती है, [द्र० History of Skt. Poetics M. M. Kane, P. 124, 1951.]

दण्डी का अलङ्कारविवेचन भी बतलाता है कि वे उस समय के आचार्य हैं जब अलङ्कारों के विवेचन मे अधिक सूक्ष्मता नहीं थी। भामह इसके विरुद्ध अधिक सूक्ष्मता के साथ अलङ्कारो का निरूपण करते दिखाई देते हैं। क्या सूक्ष्मता स्थूलता को जन्म देती है जो दण्डी को परवर्ती माना जाता है? अवश्य ही भामह दण्डी के ऋणी हैं भले ही वे दण्डी का नाम न लें। अलङ्कारविमर्शिनी मे क्या रत्नाकर का नाम विमर्शिनीकार ने एक बार भी लिया? तो क्या यह कह दिया जाए कि विमर्शिनी रत्नाकर से पहले की है और रत्नाकर ने ही विमर्शिनी से प्रेरणा पाई है?

१. (१) S. K De. History of Sanskrit Poetics. P. 49-50

(२) P.V. Kane. „ „ 1951. P. 124.

सूक्ष्म और लेश का तो भामह ने खण्डन भी किया है। उनके संदेह और उपमेयोपमा दण्डी की संशयोपमा तथा अन्योन्योपमा की ही पीठिका पर आधृत है। दण्डी ने इन्हें उपमा से पृथक् नहीं माना था। भामह ने इनमें पृथक् अलंकारत्व देखा। उत्प्रेक्षावयव उत्प्रेक्षा तथा उपमारूपक रूपकके चिन्तन का ही आंशिक परिवर्त्तन है, जो पृथगलंकारत्व के लिए अपर्याप्त है और इसीलिए जिसे परवर्त्ती आचार्यों ने मान्यता नहीं दी।

उद्भट [७५०–८०० ई०]

उद्भट ने अपने काव्यालंकारसंग्रह में दण्डी की अपेक्षा भामह को अधिक महत्त्व दिया यद्यपि उन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन से काम लिया। उन्होंने दण्डी और भामह दोनों के कुछ अलंकारों को अलंकार न मानते हुए अपनी ओर से भी कुछ अलंकारों की कल्पना की। उनके अनुसार अलंकारों का विवरण—

(१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, आशीः, यमक तथा चित्र
(ख) भामह के—उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव

(२) मान्य (क) दण्डी के—उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा, स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपह्नुति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना [विदर्शना नाम से], सहोक्ति, परिवृत्ति, संसृष्टि, तथा भाविक
(ख) भामह के–अनुप्रास, उपमेयोपमा, सन्देह तथा अनन्वय

(३) स्वकल्पित (१) पुनरुक्तवदाभास (२) छेकानुप्रास (३) लाटानुप्रास (४) प्रतिवस्तूपमा (५) काव्यलिंग (६) दृष्टान्त तथा (७) संकर।

इन स्वकल्पित अलंकारों में से उद्भट की अत्यन्त मौलिकता केवल पुनरुक्तवदाभास में है। अनुप्रासों में लाटानुप्रास भामह ने अनुप्रास के अन्तर्गत मान लिया था, उद्भट ने उसे केवल स्वतन्त्र अलंकार के रूप में गिन दिया है। छेकानुप्रास उनकी भामह के ग्राम्यानुप्रास की कल्पना पर एक विरोधी कल्पना है। ग्राम्य के विरुद्ध छेक का अर्थ विदग्ध किया जाता है। प्रतिवस्तूपमा को दण्डी उपमा के अन्तर्गत गिना चुके थे। काव्यलिंग भी हेतु के दो भेदों में से एक का स्वतन्त्रीकरण है, किन्तु यह अनुमान के अधिक समीप है। दृष्टान्त प्रतिवस्तूपमा की छाया पर एक स्वतन्त्र कल्पना है और संकर संसृष्टि की छाया पर। तीनों अनुप्रासों को एक अनुप्रास के तीन भेद न मानकर तीन स्वतन्त्र अलंकार मानता हुआ उद्भट को इसलिए माना जाता है कि उन्होंने प्रत्येक अलंकार के भेद उस अलंकार के लक्षण के बाद दिए हैं, वर्ग के आरम्भ में सबके नाम की तालिका में नहीं। अनुप्रास के भेद नाम-तालिका में ही दे दिये हैं।

इस प्रकार दण्डी से लेकर उद्भट के समय तक अलङ्कारों की संख्या ५० हो जाती

है।[1] इनमे वे दण्डी के ३७ अलंकारो मे से केवल ३०, भामह के अलङ्कारो स्वकल्पित ६ में से केवल ४ अपना कर केवल ३४ अलंकार प्राचीन आचार्यों से अपनाते हैं तथा ७ अलंकारों की कल्पना अपनी ओर से करते हैं। फलत. वे कुल ४१ अलंकार मानते हैं। वस्तुतः तीनों अनुप्रासो को एक अलङ्कार मान लेने पर उद्भट को मान्य अलङ्कारो की संख्या केवल ३९ रहती है।

वामन [८०० ई०]

उद्भट के समकालीन आचार्य वामन ने भी अपनी 'काव्यलङ्कारसूत्रवृत्ति' में भामह को अधिक महत्त्व दिया। उनके अनुसार अलङ्कारो का विवरण—

(१) अमान्य (क) दण्डी के—स्वभावोक्ति, आवृत्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्ति, उदात्त, भाविक, आशी, चित्र

(ख) भामह के—उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव

(२) मान्य (क) दण्डी के—उपमा, समासोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, अपह्नुति, रूपक, श्लेष, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, विरोध, विभावना, परिवृत्ति, क्रम, दीपक, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, व्याजस्तुति, तुल्ययोगिता, आक्षेप, सहोक्ति, समाहित, संसृष्टि तथा यमक।

(ख) भामह के—सन्देह, अनन्वय, अनुप्रास तथा उपमेयोपमा।

(३) स्वकल्पित (१) वक्रोक्ति (२) व्याजोक्ति (३) प्रतिवस्तूपमा

इस प्रकार वामन तक अलङ्कारो की संख्या ५३ हो जाती है[2]। इनमे से वामन स्वयं २ अलङ्कारों की कल्पना करते हैं। वे ५ अलंकार भामह के तथा २४ अलङ्कार दण्डी के अपनाते और इस प्रकार कुल मिलाकर ३१ अलङ्कार स्वीकार करते हैं। अर्थ यह हुआ कि दण्डी से वामन तक २१ अलङ्कार विवादास्पद थे। यदि उद्भट की स्वकल्पित वक्रोक्ति और व्याजोक्ति को नवीन मानकर इन विवादास्पद अलङ्कारो मे अभी न गिनें तो उनकी संख्या १९ बचती है।

रुद्रट [८२५–८७५ ई०]

उद्भट और वामन के पश्चात् अलङ्कारचिन्तन मे अधिक स्वस्थता और अधिक वैज्ञानिकता आई। चिन्तकों ने अलङ्कारो का वर्गीकरण सजातीयता तथा विजातीयता

---

१ डा० रामपूर्ति त्रिपाठी ने 'चित्र' को गणना छोड दी है अतः वे दण्डी से उद्भट तक अलङ्कारो की संख्या ४९ बतलाते हैं। द्रष्टव्य/डॉ०त्रिपाठी की काव्यालङ्कार सारसंग्रह की भूमिका पृ० २८-२९

२ प्रतिवस्तूपमा की कल्पना उद्भट ने की है, अत वामन तक कुल अलंकारो की संख्या ५२ ही होनी है, ५३ नहीं। यद्यपि डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने ५५ संख्या लिखदी है। देखिए—अलङ्कारमीमांसा पृ० १५५।

के आधार पर ठीक उसी प्रकार करना आरम्भ किया जिस प्रकार वैशेषिक सूत्रों में पदार्थों का वर्गीकरण महर्षि कणाद ने किया था। यह वर्गीकरण सबसे पहले रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' में मिलता है।

रुद्रट ने अलङ्कारों को पहले तो 'शब्द' और 'अर्थ' के दो खण्डों में विभाजित किया, फिर अर्थालङ्कारों को (१) वास्तव (२) औपम्य (३) अतिशय तथा (४) श्लेष नामक चार वर्गों में।

इन दोनों खण्डों और वर्गों में रुद्रट ने ६२ अलङ्कारों का निरूपण किया। इनमें से रुद्रट ने पूर्ववर्ती आचार्यों के केवल २७ अलङ्कार ही लिए, शेष ३५ अलङ्कारों की कल्पना स्वतन्त्र अलङ्कार के रूप में उन्होंने स्वयं की है। इनमें से ५ अलङ्कारों को एक ही नाम से दो-दो बार गिनाया अतः कुछ विद्वानों ने उनके द्वारा निरूपित अलङ्कारों की संख्या सत्तावन मानी है। इनका विवरण इस प्रकार है—

(१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति, आशीः, अतिशयोक्ति[1], तुल्ययोगिता, रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, भाविक, पर्यायोक्त, समाहित, विशेषोक्ति, हेतु, संसृष्टि।

(ख) भामह के—उपमेयोपमा, अनन्वय, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव।

(ग) उद्भट के—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिंग, संकर[2] [पृथगलङ्कार के रूप में]

(घ) वामन की—वक्रोक्ति[3], व्याजोक्ति

(२) मान्य (क) दण्डी के—स्वभावोक्ति [जाति नाम से], उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म, लेश, क्रम [यथासंख्य नाम से], उदात्त [अवसर नाम से], अपह्नुति, श्लेष, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा [अन्योक्ति नाम से], व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, यमक, चित्र

(ख) भामह के—अनुप्रास, सन्देह [संशय नाम से]

(ग) उद्भट के—दृष्टान्त,

[वामन से कुछ नहीं]

---

१. अतिशयोक्ति नाम से रुद्रट ने कोई स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं माना। उसके प्रायः वे सभी भेद जो दण्डी ने माने थे रुद्रट ने अतिशय-वर्ग के अलङ्कारों में गिन लिए हैं।

२. रुद्रट ने संकर पर विचार किया है, किन्तु उनके प्रतिपादन से यह स्पष्ट नहीं है कि वे उसे पृथक् अलङ्कार मानते हैं।

३. रुद्रट ने वक्रोक्ति नामक एक अलङ्कार माना है, किन्तु वह स्वरूपतः वामन की वक्रोक्ति से भिन्न है।

(३) स्वकल्पित — १-२. समुच्चय, ३ भाव, ४. पर्याय, ५ विषम, ६. अनुमान, ७ परिकर, ८ परिसंख्या, ९ हेतु [नवीन], १० कारणमाला, ११ अन्योन्य, १२-१३. उत्तर, १४ सार, १५ मीलित, १६ एकावली, १७. मत, १८. प्रतीप, १९ उभयन्यास, २० भ्रान्तिमान्, २१ प्रत्यनीक, २२-२३ पूर्व, २४ साम्य, २५ स्मरण, २६ विशेष, २७. तद्गुण, २८. पिहित, २९ असगति, ३० व्याघात, ३१. अहेतु, ३२. अधिक, ३३. वक्रोक्ति ३४ सहोक्ति, ३५. श्लेष [तीनों नवीन]।

35

इस प्रकार रुद्रट ने अलङ्कारों की सख्या ६२ मानी है[1]।

इन सब अलङ्कारो का वर्गीकरण रुद्रट ने इस प्रकार से किया है—

[क] शब्दालङ्कार

१. वक्रोक्ति, २. अनुप्रास, ३ यमक, ४ श्लेष, ५ चित्र।

[ख] अर्थालंकार

१. वास्तववर्ग — १ सहोक्ति, २ समुच्चय, ३. जाति [स्वभावोक्ति], ४. यथासंख्य, ५. भाव, ६ पर्याय, ७ विषम, ८ अनुमान, ९. दीपक, १० परिकर, ११ परिवृत्ति, १२ परिसंख्या, १३ हेतु, १४ कारणमाला, १५. व्यतिरेक, १६ अन्योन्य, १७ उत्तर, १८. सार, १९ सूक्ष्म, २०. लेश, २१. अवसर, २२ मीलित, २३ एकावली।

२. औपम्यवर्ग — १. उपमा, २ उत्प्रेक्षा, ३ रूपक, ४ अपह्नुति, ५. संशय, ६. समासोक्ति, ७. मत, ८ उत्तर, ९ अन्योक्ति, १० प्रतीप, ११. अर्थान्तरन्यास, १२. उभयन्यास, १३ भ्रान्तिमान्, १४. आक्षेप, १५ प्रत्यनीक, १६. दृष्टान्त, १७ पूर्व, १८. सहोक्ति, १९ समुच्चय, २० साम्य, २१ स्मरण।

३ अतिशयवर्ग — १ पूर्व, २ विशेष, ३. उत्प्रेक्षा, ४ विभावना, ५ तद्गुण, ६ अधिक, ७ विरोध, ८ विषम, ९. असगति, १०. पिहित, ११. व्याघात, १२ अहेतु।

४. श्लेषवर्ग — श्लेष

[1] पोद्दार जी ने रुद्रट के अलंकारो की संख्या ५५ बतलाई है। वे अहेतु तथा वक्रोक्ति की गणना करना भूल गए हैं। इन्होंने रुद्रट में उदात्त का भी अभाव माना है, वस्तुत. रुद्रट ने इसे 'अवसर' नाम से अपना लिया है। पोद्दार जी ने अवसर की गणना कर ली है। द्रष्टव्य स्व० कन्हैयालाल जी पोद्दार का 'संस्कृतसाहित्य का इतिहास' पृ० ९३

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि रुद्रट ने सहोक्ति, समुच्चय, पूर्व, श्लेष तथा उत्तर इन पाँच की गणना दो-दो बार की है। उद्भट में अनुप्रासभेदों को स्वतंत्र अलङ्कार माना गया है, अतः रुद्रट के अनुसार अलंकारों की संख्या ६२ ही मानी जानी चाहिए।

उक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट है कि अलङ्कारों की संख्या दण्डी से रुद्रट तक ८७ (सत्तासी) तक पहुँच जाती है।

रुद्रट का महत्व हमें तब विदित होता है जब हम भोज के सरस्वतीकण्ठाभरण और मम्मट के काव्यप्रकाश पर ध्यान देते हैं।

भोज [१०००–१०५० ई०]

भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण में अलंकारों का विभाजन शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार तथा उभयालङ्कार के रूप में किया। उन्होंने प्रत्येक वर्ग के २४, २४ अलङ्कार माने फलतः उनके अलङ्कारों की संख्या ७२ हो जाती है। विवरण—

(१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति, प्रेय, रसवत्, ऊर्जस्वि, पर्यायोक्त, उदात्त, व्याजस्तुति, आशी;

(ख) भामह के—उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव, उपमेयोपमा (उपमा में), अनन्वय (उपमा में ही),

(ग) उद्भट के—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, प्रतिवस्तूपमा (उपमा में), दृष्टान्त (उपमा में), संकर (संसृष्टि में)

(घ) वामन के—वक्रोक्ति, व्याजोक्ति,

(ङ) रुद्रट के—उभयन्यास, प्रतीप (साम्य में), प्रत्यनीक, पूर्व, [दोनों] पिहित, मत, विषम, व्याघात, विशेष, सार, अधिक, असंगति, एकावली, कारणमाला, हेतु, तद्गुण, परिसंख्या, सहोक्ति, (१), उत्तर (१), समुच्चय (१)

(२) मान्य (क) दण्डी के—यमक, श्लेष, चित्र, जाति, विभावना, हेतु (काव्यलिंग सहित), सूक्ष्म, विरोध, परिवृत्ति, निदर्शना, व्यतिरेक (भेद नाम से), समाहित, उपमा, रूपक, अपह्नुति, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, दीपक, क्रम, अतिशयोक्ति, भाविक, संसृष्टि,

(ख) भामह के—अनुप्रास, सन्देह (संशय नाम से),

(ग) उद्भट का—काव्यलिंग [हेतु में]

(घ) रुद्रट के —अहेतु, उत्तर (१), अन्योन्य, भ्रान्ति, मीलित, भाव, स्मृति [स्मरण], शब्दश्लेष, अनुमान, साम्य, समुच्चय, परिकर, पर्याय, वक्रोक्ति [वाकोवाक्य में]

(३) स्वकल्पित १. जाति (शब्दालङ्कार), २. गति, ३. रीति, ४. वृत्ति,

५ छाया, ६ मुद्रा, ७. उक्ति, ८ युक्ति, ९. भणिति, १०. गुम्फना, ११ शय्या, १२ पठिति, १३ वाकोवाक्य, १४ प्रहेलिका, १५. गूढ, १६ प्रश्नोत्तर, १७ अध्येय, १८ श्रव्य, १९ प्रेक्ष्य, २०. अभिनीति, २१ सभव, २२ वितर्क, २३ प्रत्यक्ष, २४ आगम, २५. उपमान, २६ अर्थापत्ति, २७ अभाव, २८. समाधि।

इन अलङ्कारो का वर्गीकरण शब्द, अर्थ तथा शब्दार्थयुग्म दोनो के तीन वर्गो मे भोजराज ने इस प्रकार किया है—

(१) शब्दवर्ग जाति, गति, रीति वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति।

(२) अर्थवर्ग जाति, विभावना, हेतु, अहेतु, सूक्ष्म, उत्तर, विरोध, सभव, अन्योन्य, परिवृत्ति, निदर्शना, भेद (व्यतिरेक), समाहित, भ्रान्ति, वितर्क, मीलित, स्मृति, भाव, प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव।

(३) उभयवर्ग उपमा, रूपक, साम्य, सशय, अपह्नुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुतप्रशंसा, तुल्ययोगिता, लेश, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, विशेषोक्ति, परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक, ससृष्टि।

इनमे जाति और श्लेष दो-दो बार आए हैं। इनमे से श्लेष तो दो रूपो मे रुद्रट ने भी माना था, जाति का अर्थालङ्कारगत रूप स्वभावोक्ति से अभिन्न है। इस प्रकार केवल शब्दजाति की कल्पना भोज की अभिनव कल्पना ठहरती है।

इस प्रकार भोजराज तक अलङ्कारो की संख्या ११५ हो जाती है अर्थात् ८७ प्राचीन तथा २८ भोज के स्वोपज्ञ नवीन। इनमे से भोज ने दण्डी के पश्चात् रुद्रट से ही सबसे अधिक आपूर्त्ति की है। रुद्रट के काव्यालकार से भोज ने १६ उदाहरणपद्य भी[1] लिए हैं।

१. (१) सरस्वतीकण्ठाभरण उदाहरण २।८, काव्यालकार उदाहरण ४।१९,
(२) स. क. उ. ३।६६, का. ७।५५, (३) स क उ ३।१४२, का ७।५७,
(४) स क उ. ३।१५१, का ७।६०, (५) स क उ. ३।९३, का ७।८७,
(६) स क. उ ३।५७, का ७।९७, (७) स क उ ४।२०४, का ७।११०
(८) स क उ ४।९, का. ८।६, (९) स क उ. ४।१, का. ८।१८,
(१०) स क उ ४।४, का ८।२०, (११) स क उ. ४।१७, का. ८।३०,
(१२) स क उ. ४।१८, का ८।३१, (१३) स क उ ४।३०, का. ८।५०,
(१४) स क उ ४।५८, का. ८।७८, (१५) स. क. उ. ४।६३, का ८।१०८,
(१६) स. क. उ. १।५९, का. ११।१३.

यद्यपि भोजराज का अलंकारविवेचन अपने आप में एक विशाल विषय है तथापि उनकी स्थापनाएं अपनी मौलिकता में इतनी स्पष्ट हैं कि विचार केवल उनके द्वारा अमान्य अलंकारों के अन्तर्भाव या सर्वथा प्रत्याख्यान के अनुसंधान में करना होता है। हमने यहां जो विवरण दिया है उससे इस अनुसंधान में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

मम्मट [१०५०–११०० ई०]

मम्मट ने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों से मधुकरी ली और काव्यप्रकाश में उन सबका समन्वय करना चाहा। यद्यपि यह भी सत्य है कि मम्मट अलङ्कारचिन्तन में उतनी व्यवस्था नहीं ला सके हैं जितनी व्यवस्था वे रस, ध्वनि और दोषों के चिन्तन में लाते दिखाई देते हैं। अलंकारों में वे लड़खड़ाते दिखाई देते हैं,[1] विशेषतः अर्थालंकारों में। इसका कारण उनका वार्धक्य या अस्वास्थ्य हो सकता है। यह तो प्रसिद्ध है कि वे 'परिकरालंकार' के आगे अर्थालंकारों का विवेचन नहीं कर पाए थे। अवशिष्ट अंश की पूर्ति किसी अलक, अलट या अल्लट ने की है।

मम्मट ने अलंकारों को भोज की ही नाईं शब्द, अर्थ और दोनों के तीन वर्गों में विभक्त किया। विवरण—

१. अमान्य—(क) दण्डी के—आवृत्ति, आशीः, प्रेय, ऊर्जस्वि, रसवत्, हेतु, लेश,
(ख) भामह के—उपमारूपक [भोज द्वारा खण्डित], उत्प्रेक्षावयव [भोज द्वारा खण्डित]
(ग) उद्भट के—छेकानुप्रास, लाटानुप्रास [पृथक् अलंकार के रूप में]
(घ) वामन—वक्रोक्ति
(ङ) रुद्रट के—भाव, हेतु, मत, उभयन्यास [भोज द्वारा खण्डित], पूर्व [दोनों भेद अतिशयोक्ति में], साम्य, अहेतु, सहोक्ति (१) समुच्चय (१) [दीपक में]
(च) भोज के—जाति [शब्दगत], गति, रीति, वृत्ति, छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति, भणिति, गुम्फना, शय्या, पठिति, वाकोवाक्य, प्रहेलिका, गूढ, प्रश्नोत्तर, अध्येय, श्रव्य, प्रेक्ष्य, अभिनीति, संभव, वितर्क, प्रत्यक्ष, आगम, उपमान, अर्थापत्ति, अभाव, समाधि[2]

---

१. इस पर सागरिका ९।२ में देखिए हमारा–'मम्मटाभिमतं लक्षणायाः पड्विधत्वं हेत्वलंकारत्वं' लेख, इसमें हमने बतलाया है कि हेत्वलंकार और काव्यलिंगालंकार में से हेतु ही अलंकार है तथा काव्यलिंग ही अलंकार नहीं है।

२. मम्मट ने जिसे समाधि कहा है वह भोज के अनुसार समाहित है। भोज की समाधि मम्मट के सामान्य से मिलती है।

२. मान्य (क) दण्डी के—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तर-न्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म, यथासंख्य, पर्यायोक्त, समाहित [समाधि नाम से], उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति परिवृत्ति, भाविक, संसृष्टि, यमक, चित्र।

(ख) भामह के—अनुप्रास [किन्तु उद्भट के ढंग पर], अनन्वय, उपमेयोपमा, सन्देह।

(ग) उद्भट के—[छेकानुप्रास किन्तु अपृथक्] पुनरुक्तवदाभास, प्रतिवस्तूपमा, काव्यलिंग, दृष्टान्त, संकर।

(घ) वामन की—व्याजोक्ति।

(ङ) रुद्रट के—वक्रोक्ति, श्लेष [शब्दगत], समुच्चय, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर [दोनों], सार, मीलित, एकावली, प्रतीप, भ्रान्तिमान्, प्रत्यनीक, स्मरण, विशेष, तद्गुण, पिहित [सामान्य नाम से], असंगति, व्याघात, अधिक।

(च) भोज का—मालादीपक [दीपक से अलग कर]

३ स्वकल्पित १. विनोक्ति (२) सम (३) अतद्गुण[1]।

इस प्रकार मम्मट तक अलंकारों की संख्या ११८ हो जाती है अर्थात् ११५ भोज तक के तथा ३ स्वयं मम्मट के। इनमें से मम्मट ने केवल ६८ अलंकारों को अलंकाररूप में स्वीकार किया, शेष ५० को नहीं।

मार्मिक तथ्य यह है कि मम्मट ने भोज को सर्वथा अमान्य कर दिया, जबकि रुद्रट से उन्होंने २४ अलंकार अपनाए। इन २४ अलंकारों का अनुक्रम भी प्रायः वही है जो रुद्रट में पाया जाता है। अनेक उदाहरण भी उन्होंने ज्यों के त्यों अपना लिए हैं। शब्दश्लेष तो रुद्रट की पूर्ण प्रतिलिपि है।

स्पष्ट ही मम्मट ने दण्डी और रुद्रट को अधिक महत्त्व दिया और उनके अलंकारों को विपुल मात्रा में अपनाया। बीच के आचार्यों से भी उन्होंने ग्राह्य विच्छित्तियों का चयन किया। किन्तु यहाँ यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लेना होगा कि मम्मट ने जो

१ अतद्गुण नाम से एक भेद भोज ने भी प्रस्तुत किया है, किन्तु उसे उन्होंने मीलित के अन्तर्गत गिना है और उसका जो लक्षण दिया है वह मम्मट के अतद्गुण से सर्वथा भिन्न है।

अलंकार दण्डी से लिए हैं उनके लक्षणरूपी उस जल को उन्होंने अपने प्रातिभ पट से छान कर अपनाया है, जिसे भामह और उद्भट अपनी बुद्धिचालनी से छान चुके थे[1]।

मम्मट ने इन अलंकारों को निम्नलिखित वर्गों में निम्नलिखित क्रम से विभक्त किया—

१. **शब्दालंकारवर्ग** वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, चित्र, पुनरुक्तवदाभास।

२. **अर्थालंकारवर्ग** उपमा, अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, संदेह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा, अतिशयोक्ति, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, दीपक, मालादीपक, तुल्ययोगिता, व्यतिरेक, आक्षेप, विभावना, विशेषोक्ति, यथासंख्य, अर्थान्तरन्यास, विरोध, स्वभावोक्ति, व्याजस्तुति, सहोक्ति, विनोक्ति, परिवृत्ति, भाविक, काव्यलिंग, पर्यायोक्त, उदात्त, समुच्चय, पर्याय, अनुमान, परिकर, व्याजोक्ति, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सूक्ष्म, सार, असंगति, समाधि, सम, विषम, अधिक, प्रत्यनीक, मीलित, एकावली, स्मरण, भ्रान्तिमान्, प्रतीप, सामान्य, विशेष, तद्गुण, अतद्गुण, व्याघात, संसृष्टि, संकर।

३. उभयालंकार पुनरुक्तवदाभास[2]

मम्मट के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि उन्होंने रुद्रट के वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष इन वर्गों और उनके उक्त क्रम को महत्त्व नहीं दिया। केवल सादृश्यमूलक अलंकारों को भी एक साथ नहीं गिनाया। उनमें गिने जाने योग्य स्मरण और भ्रान्तिमान् को उल्लास समाप्त करते-करते याद किया। यदि उन्होंने परिकर तक ही दशम उल्लास का निर्माण किया हो, तब भी सादृश्यमूलक अलंकारों के बाद वे १८ अलंकारों का निर्वचन करने का अवसर पाए हुए हैं। इतना अवसर स्मरण को स्मरण करने और भ्रान्तिमान् के प्रति भ्रान्तिमान् न बनने के लिए पर्याप्त था। सादृश्यमूलक अलंकारों में मम्मट ने सादृश्येतर-सम्बन्धमूलक विच्छित्तियों को मिश्रित कर दिया, इसलिए अतिशयोक्ति में कार्यकारणभाव के पौर्वापर्य के विपर्यय से होने वाली अतिशयोक्ति को भी गिन लिया और प्रस्तुतान्यता तथा यद्यर्थोक्ति से होने वाली अतिशयोक्ति को भी। रुद्रट ने पूर्वनाम के दो अलंकार मानकर इस दिशा में सावधानी बरती थी, परन्तु मम्मट को

---

१. यद्यपि कहीं-कहीं मम्मट की बुद्धि चालनी सिद्ध हुई है और भामह तथा उद्भट की प्रतिभा ही पट।

२. मम्मट ने रुद्रट और भोज की यह स्थापना स्वीकार की है कि अन्य अलंकार भी उभयालंकार हो सकते हैं। उनने इन्हें उभयालंकारों में यह कहकर नहीं गिनाया कि प्राचीन आचार्यों [भामह, उद्भट] ने वैसा नहीं किया है।

दोनो अतिशय अभिन्न ही समझ मे आए, गोघ्न और वनस्पति में उन्हे कोई फरक नहीं लगा।[1]

रुय्यक [११००–११५० ई०]

रुय्यक या रुचक को यह और ऐसी ही अन्य कमियाँ खटकीं। इनके परिहार के लिए उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ के सूत्रों का 'अलंकारसूत्र' नाम से निर्माण किया। इनमें उन्होंने अलंकारों को उनकी सजातीयता के आधार पर यथाशक्य वर्गीकृत किया। पहले उन्होंने मम्मट के ही अनुसार अलंकारों को मुख्यतः शब्द और अर्थ के दो भागों मे बाँटा, फिर उनमे से प्रत्येक भाग के अलंकारों का वर्गीकरण किया। दण्डी से मम्मट तक ११८ अलंकारों मे से रुय्यक ने ७५ अलंकार अपनाए और ७ अलंकारों की कल्पना अपनी ओर से की। इनका विवरण यह है—

(१) अमान्य (क) दण्डी के—आवृत्ति हेतु, लेश, आशीः।

(ख) भामह के—उत्प्रेक्षावयव, उपमारूपक।

(ग) वामन की—वक्रोक्ति।

(घ) भोज के—अर्थापत्ति और समाहित को छोड़कर शेष २५ सो।

(ङ) रुद्रट के—भाव, हेतु, मत, उभयन्यास, पूर्व [दोनो], अहेतु, सहोक्ति (१), उत्तर (१) समुच्चय (१) अर्थश्लेष

(२) मान्य (क) दण्डी के—स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आक्षेप, अर्थान्तर-न्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति (१), अतिशयोक्ति (२), उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म, क्रम (यथासंख्य), रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित (समाधि), पर्यायोक्त, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, सहोक्ति, परिवृत्ति, संसृष्टि, भाविक, यमक, चित्र।

(ख) भामह के—अनुप्रास, उपमेयोपमा, अनन्वय, सन्देह।

(ग) उद्भट के—पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, लाटानुप्रास, प्रति-वस्तूपमा, काव्यलिंग, दृष्टान्त, संकर।

(घ) वामन की—व्याजोक्ति।

(ङ) रुद्रट के—समुच्चय, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, मीलित, एकावली, प्रतीप, भ्रान्तिमान, प्रत्यनीक, स्मरण, विशेष, तद्गुण, पिहित [सामान्य], असंगति, व्याघात, अधिक, वक्रोक्ति।

---

१. हम यहाँ मम्मट के केवल उन्ही दोषो का उल्लेख कर रहे हैं जिनका परिहार अलंकारसर्वस्वकार ने कर दिया है।

(च) भोज की—अर्थापत्ति,

(छ) मम्मट के—विनोक्ति, सम, अतद्गुण, मालादीपक, समाहित
[भावशान्त्यङ्गात्मक]।

(३) स्वकल्पित १. परिणाम, २. उल्लेख, ३. विचित्र, ४. विकल्प, ५. भावोदय,
६. भावसन्धि, ७. भावशबलता।

इस प्रकार रुय्यक तक अलंकारों की संख्या १२५ हो जाती है। इनमें से ४३ अलंकार छोड़कर शेष ८२ अलंकार रुय्यक ने स्वीकार किए। इनमें से रुद्रट के पूर्व-नामक अलंकार को यदि अतिशयोक्ति में गिन लें, जो उचित है, तो कुल अलंकारों की संख्या १२४ रहेगी और यदि रुय्यक की दोनों अतिशयोक्तियों को मम्मट के समान एक अलंकार मान लिया जाए तो रुय्यक के द्वारा स्वीकृत अलंकारों की संख्या ८१ रह जाएगी। इनमें यदि भावोदय आदि तीन अलंकारों को घटा दिया जाए तो रुय्यक द्वारा सूचित अलंकारों की संख्या ७८ रहेगी।

वस्तुतः रुय्यक को भी भावोदय आदि अलंकार रूप से अभीष्ट नहीं हैं। अतएव उनके लक्षण रुय्यक ने नहीं दिए और उन्हें 'पृथगलंकार' कहा अर्थात् इनमें अलंकारत्व रहता अवश्य है, किन्तु वह और ही ढंग का अलंकारत्व रहता है। वस्तुतः रसवद्, प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित को भी रुय्यक अलंकार रूप से मानते प्रतीत नहीं होते। हमें लगता है कि अन्त अन्त में जो ८३ और ८४ सूत्र आए हैं उन्हें इस प्रकार पढ़ना चाहिए—

[सू० ८३] रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि,
भावोदयो भावसन्धिर्भावशबलता च॥

[सू० ८४] एते पृथगलंकाराः॥

इसका अभिप्राय यह हुआ कि पुनरुक्तवदाभास से उदात्त तक जो अलंकार बतलाए गए वे ऐसे अलंकार थे जो अपने आपमें परिपूर्ण थे। आगे जो संसृष्टि और संकर आने वाले हैं वे ऐसे न होकर अन्यसापेक्ष हैं, अर्थात् उनका स्वरूप अपने आप में कुछ नहीं है। वे जो कुछ हैं अन्य अलंकारों की चिन्धियों के जोड़ से बनी कपड़ी हैं। सूत्रों का जो पाठ काशी और त्रिवेन्द्रम् के संस्करणों में मिलता है उसमें 'एते' शब्द है भी। निर्णय-सागर, मोतीलाल तथा मेहरचन्द वाले संस्करणों में इसे किसी कारण छोड़ दिया गया है। हमारी भी दृष्टि इस ओर अब जाकर गई है।

इस प्रकार के सूत्रपाठ से स्पष्ट होगा कि रुय्यक ने रसवत् से लेकर भावशबलता तक के ७ अलंकारों को अलंकार रूप से प्रसिद्धि के कारण गिना भर दिया है, उन्हें वे उपमा आदि जैसे अलंकार मानने को तैयार नहीं हैं। वृत्तिकार की बुद्धि पर आश्चर्य होता है कि वे ग्रन्थारम्भ की भूमिका में ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य को पृथक् कर केवल चित्रकाव्य के लिए सूत्रों का निर्माण बतलाते हैं और अन्त में रसवदादि को भी अलंकार मान बैठते हैं। ये भी सब गुणीभूतव्यंग्य ही हैं। **अवश्य ही सूत्रकार से वृत्तिकार भिन्न हैं।**

इस प्रकार वस्तुतः रुय्यक के मत में ७५ अलंकार ही अलंकार रूप से मान्य हैं। उनमें से वे ७१ प्राचीन आचार्यों से लेते और ४ अपनी ओर से उपस्थित करते हैं।

सूत्रकार रुय्यक ने इन अलंकारों को जिन (खण्डों) वर्गों और अनुच्छेदों में विभाजित किया है उन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जाता है—

१. शुद्ध खण्ड

वर्ग (१) शब्दालंकारवर्ग या पौनरुक्त्यवर्ग

पौनरुक्त्यविच्छित्ति (१) अर्थपौनरुक्त्य	पुनरुक्तवदाभास
(२) व्यञ्जन पौनरुक्त्य	छेकानुप्रास, वृत्त्यनुप्रास
(३) स्वरव्यञ्जनसमुदायपौ०	यमक
(४) शब्दार्थोभयपौन०	लाटानुप्रास
(५) स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौन०	चित्र

वर्ग (२) अर्थालंकारवर्ग

(१) सादृश्यविच्छित्ति	
(क) भेदाभेदतुल्यतामूलक	उपमा, अनन्वय, उपमे-
(ख) अभेदप्राधान्यमूलक	योपमा, स्मरण
(अ) आरोपाश्रित	रूपक, परिणाम, सन्देह, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, अपह्नुति
(आ) अध्यवसायाश्रित	उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति (१)
(ग) गम्यौपम्यमूलक	तुल्ययोगिता, दीपक, प्रति-वस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना
(घ) भेदप्राधान्यमूलक	व्यतिरेक, सहोक्ति
(२) विशेषणविच्छित्ति	
(क) केवल विशेषणविच्छित्ति	समासोक्ति, परिकर
(ख) सविशेष्य विशेषणविच्छित्ति	श्लेष
(३) गम्यार्थताविच्छित्ति	पर्यायोक्त, व्याजस्तुति, आक्षेप
(४) विरोधविच्छित्ति	
(क) शुद्धविरोध	विरोध
(ख) कार्यकारणभावाश्रित विरोधमूलक	विभावना, अतिशयोक्ति(२) असंगति, विषम, विचित्र, व्याघात

(ग) आश्रयाश्रयित्वमू०	अधिक, विशेष
(घ) व्यतिहारमूलक	अन्योन्य
(५) शृङ्खलाविच्छित्ति	कारणमाला, एकावली, मालादीपक, सार
(६) न्यायविच्छित्ति	काव्यलिंग, अनुमान
(क) तर्कन्यायमूलक	यथासंख्य, पर्याय, परिवृत्ति, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प
(ख) वाक्यन्यायमूलक	समुच्चय, समाधि
(ग) लोकन्यायमूलक	प्रत्यनीक, प्रतीप, मीलित, तद्गुण, अतद्गुण, उत्तर
(७) गूढार्थपरताविच्छित्ति	
(क) शुद्ध	सूक्ष्म, व्याजोक्ति, वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति
(ख) स्फुटार्थता	भाविक
(ग) उदात्तता	उदात्त
(घ) चित्तवृत्त्याश्रित	रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता

२. मिश्र खण्ड

(१) संसृष्टि	(क) शब्दालंकार संसृष्टि
	(ख) अर्थालंकार संसृष्टि
	(ग) उभयालंकार संसृष्टि
(२) संकर.	

शेष पाँच में चार अलंकारों को वृत्तिकार ने इनमें से कुछ अलंकारों के वैपरीत्य के आधार पर तत् तत् संदर्भों में प्रस्तुत बतलाया है। ये निम्नलिखित हैं—

(१) विनोक्ति	सहोक्ति–विपरीत
(२) अप्रस्तुतप्रशंसा	समासोक्ति–विपरीत
(३) विशेषोक्ति	विभावना–विपरीत
(४) सम	विषम–विपरीत

शेष बचता है अर्थान्तरन्यास। इसको अप्रस्तुतप्रशंसा के सन्दर्भ में रखने का कारण वृत्तिकार ने सामान्यविशेषभाव और उस पर आश्रित समर्थ्यसमर्थकभाव माना है।

इस प्रकार रुय्यक ने अलंकारों का विभाजन केवल दो खण्डों में किया (१) शब्द खण्ड और (२) अर्थ खण्ड। उन्होंने शब्दार्थोभय-खण्ड की कल्पना को उन्मेष तो

दिया है परन्तु उसे मम्मट के ही समान अंकुरमात्रता तक सीमित रखा है, भोज के समान पल्लवित नहीं किया।

ऐसा लगता है कि—

जिन पत्रिकाओं पर अलंकार सूत्र लिखे गये थे उनमें से तुल्ययोगिता से लेकर निदर्शना तक की पत्रिका व्यतिरेक और सहोक्ति की पत्रिका के पहले रख दी गई। अन्यथा अभेदप्राधान्य के बाद भेदप्राधान्य को स्थान दिए बिना गम्यौपम्य को स्थान न दिया जाता।

उक्त वर्गीकरण में समासोक्ति, प्रतीप, सामान्य और मीलित भी सादृश्यमूलक अलंकार हैं जिन्हें गम्यौपम्य में गिना जा सकता था, परन्तु समासोक्ति को परिकर और श्लेष के साथ गिन दिया गया है, जिनमें श्लेष तो सादृश्यमूलक माना जा सकता है परन्तु परिकर नहीं। विकल्पालंकार भी सादृश्य की विच्छित्ति अपने गर्भ में छिपाए है। अतिशयोक्ति के समान अप्रस्तुतप्रशंसा को दो भागों में विभक्त कर उसके सादृश्यमूलक भेद को भी रुय्यकाचार्य पृथक् रख सकते थे, अन्योक्ति नाम से, जैसा कि पूर्वाचार्यों ने किया था, परन्तु उन्होंने उस पर कृपा नहीं की।[1]

३

अलंकारतत्त्व

भारतीय चिन्तन ने काव्य को अकाव्य से पृथक् करने वाले जिन तत्त्वों का अनुसन्धान किया, संस्कृत के काव्यशास्त्र ने उनके नामकरण का शताब्दियों व्यापी एक रोचक इतिहास प्रस्तुत किया है। यह इतिहास वैज्ञानिक भी है।

'चित्र निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धं प्रथमावतारम्।'

कहने वाले अभिनवगुप्त ने साक्षात्कार की मानस प्रक्रिया में वस्तु के प्रथम प्रतिबिम्ब को जो पार्श्ववर्ती अन्य पदार्थों के प्रतिबिम्बों से असपृष्ट और 'स्व'-मात्र सीमित किन्तु परिपूर्ण या समग्र माना था, उसका ठीक उदाहरण हमारा उपर्युक्त काव्य-चिन्तन है। हमने सबसे पहले भरतमुनि के शब्दों में कहा 'रस काव्यार्थ'। काव्य की मूलभूत वस्तु रस है। दूसरे शब्दों में काव्य ऐसी वस्तुओं को प्रस्तुत करता है जिनमें हमारा

---

१ अलंकारों के वर्गीकरण पर द्रष्टव्य ग्रन्थ—पं० मधुसूदनजी का 'साहित्य- शास्त्रीय तत्त्वों का आधुनिक समालोचनात्मक अध्ययन' पृ० १२५–२८, डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी की 'अलंकारमीमांसा' पृ० १८०–९६, श्रीकन्हैयालालपोद्दारकृत 'संस्कृतसाहित्य का इतिहास' भाग २, पृ० १०३, पं० पुरुषोत्तमशर्मा चतुर्वेदी का 'अलंकारों का क्रमिक विकास' पृ० १०९– ११६। इन सबमें महत्त्व रुय्यकसूत्रों को ही दिया गया है।

चित्त रमता है, जो हमें प्रिय हैं और उनके द्वारा वह हमारे संवेदन को जगा देता है। हम हमारी प्रिय वस्तुओं का मानस और अभौतिक संभोग करने लगते हैं। कामशास्त्र के प्रणेता वात्स्यायन भी रस की बात करते हैं, किन्तु उनका रस काव्यरस से भिन्न है। उनका रस रति-परिणति में प्राप्त होने वाली वेदनामुक्ति है, जिसका अधिकांश परित्यागात्मक है। काव्यरस परिणति नहीं, उसके पहले की चर्वणा है। ताम्बूलवीटिका रसिक के मुख में छिपी बैठी रहती और किसी रस की सृष्टि करती रहती है। ऐसा नहीं कि उसका रस उसकी परिसमाप्ति की प्रतीक्षा करता हो। वस्तुप्रतिबिम्ब हमारी चेतना पर अंकित होता और बिम्बगत असाधारण्य से मुक्त हो वह हमारे लिए एकमात्र प्रेयोविषय ही बनकर उपस्थित होता है। इस प्रियोविषयीभूत प्रतिबिम्ब-धन के सुदीर्घ अंकन को काव्य प्रस्तुत करता और हमें इन प्रतिबिम्बों को गोपिकाओं से रास करते रहने का उत्तम अवसर देता है। बस, इसी रास-रस के कारण वह अकाव्य से भिन्न है।

यह रस अपने भीतर उन भावों को भी समेटे रहता है जिन्हें लोक में रति, शोक, हास आदि कहा जाता है। अन्य समस्त सामग्री में इन भावों की सामग्री वरिष्ठ और श्रेष्ठ होती है। बाद में रसशब्द केवल इसी सामग्री तक सीमित हो जाता है।

सौन्दर्यवाद—वामन 'रस'-शब्द को छोड़ते और 'सौन्दर्य'-शब्द को अपनाते हैं। वे काव्य को अकाव्य से भिन्न करने वाले तत्व को **'सौन्दर्य'** की संज्ञा देते हैं। अवश्य ही सौन्दर्य रसकी अपेक्षा एक व्यापक संज्ञा है। सौन्दर्य प्रमातृसापेक्ष होने की अपेक्षा प्रमेयसापेक्ष अधिक है। रस इसके विपरीत प्रमातृसापेक्ष अधिक था। इस प्रकार रसवाद के प्रमातृतट से काव्यचिन्तन की धारा सौन्दर्य तक आते-आते प्रमेय-तट की ओर अधिक झुक गई। फलतः कला के 'स्व' की मीमांसा ने जोर पकड़ा और उसका ग्रहीतृपक्ष दुर्बल हो गया। इस प्रकार रस और सौन्दर्य दोनों की उपलब्धियाँ एकाङ्गी रहीं।

चारुत्ववाद—आनन्दवर्धन ने रस और सौन्दर्य दोनों की अन्विति और उसके लिए एक मध्यम मार्ग की खोज की। उन्होंने 'चारुत्व' को स्वीकार किया। चारुत्व प्रमातृपक्ष और प्रमेयपक्ष के मध्य का बिन्दु है। वह जितना व्यक्तिसापेक्ष है उतना ही वस्तुसापेक्ष भी। न वह मायावाद है, न भूतवाद। वह परमशिववाद है। उसमें जितना सत्य शिव है उतना ही यह संसारात्मक भैरव भी। दोनों एक ही हैं। चाहे इस छोर से देखा जाए चाहे उस छोर से। तथ्य एक ही है। 'चारुत्व' की इस समन्वय भूमिका में कला के 'स्व' का भी महत्त्व रक्षित था और प्रमाता के संवेदन का भी। इसमें रस की रक्षा भी थी और सौन्दर्य की भी। इसे कहा जाए तो **'सौन्दर्य-रस'** या 'स्वसंवेदन' कहा जा सकता है।

आनन्दवर्धन तक आते-आते काव्यरूपी पुष्पवीथिका के विषय में यह स्थिर हो गया कि उसका सर्वस्व चारुत्वरूपी 'सौरभ' है। अब केवल पुष्पों की गवेषणा शेष रह गई।

यह भी कोई नई बात न थी। यह भी भरतमुनि से ही होती आ रही थी। परवर्ती आचार्यों ने उसी पर कुछ नए परिवेश में विचार किया।

अलङ्कार—भरतमुनि ने अनुभविता को प्रभावित करने वाले तत्वों के रूप में लक्षण और अलङ्कारों के नाम से पुकारी जाने वाली कुछ विशेषताओं की खोज की। इन विशेषताओं में अलङ्कारों को अधिक महत्त्व दिया गया। दण्डी और भामह ने इस दिशा में पर्याप्त चिन्तन किया। उन्होंने अलङ्कारों की अनेक विच्छित्तियों को खोजा। अलङ्कारों के ही साथ इन आचार्यों ने गुणनामक तत्त्व की भी खोज की और कुछ काव्यशैलियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। वामन ने इन शैलियों को सर्वाधिक महत्त्व दिया और इन्हें 'रीति' के नाम से पुकारकर काव्यात्मा स्वीकार किया। वामन ने दो कार्य और किए। एक तो गुणों को रीतिगत विशेष धर्म स्वीकार किया और दूसरे अलङ्कार संज्ञा की शल्यचिकित्सा वैसे ही की जैसे परवर्ती आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अर्थ'संज्ञा की। आनन्दवर्धन ने काव्यगत अर्थ को वाच्य और प्रतीयमान नामक दो भागों में विभक्त माना। वामन ने भी अलङ्कार तत्त्व को सौन्दर्य और उपमा आदि की विच्छित्ति के रूप में प्रविभक्त बतलाया। इन दोनों भागों में भी वामन ने 'सौन्दर्य' भाग को प्रधान माना। वस्तुतः इन्हें दो भाग न कहकर व्यङ्ग्य और व्यञ्जक कहना चाहिए और मानना चाहिए कि आनन्दवर्धन को व्यञ्जना की प्रेरणा वामन से ही मिली। वामन भी वैयाकरण थे ही।

सौन्दर्य की इस व्याप्ति और सीमा को वामन के समकालीन आचार्य उद्भट ने नहीं पहचाना। उन्होंने केवल विच्छित्तिपक्ष को महत्त्व दिया और काव्यालङ्कारसार-संग्रह नामक ग्रन्थ में रूपक आदि के रूप में ही अलङ्कार को स्वीकार किया।

ध्वनि—आनन्दवर्धन ने इन दोनों धाराओं में उद्भट की धारा को अतीव स्थूल और अकिंचन घोषित किया। वामन की सौन्दर्य-धारा को स्वीकार करके भी उन्होंने उसके लिए उपादान के रूप में विविध प्रकार की सामग्री उपस्थित की। व्यञ्जना की विद्युच्छक्ति का आश्रय ले उन्होंने एक नवीन लोक की ही सृष्टि कर डाली, जिसमें न रूपक आदि अलङ्कारों का ही महत्त्व था, न गुणों का और न रीति या वृत्ति का। उसमें महत्त्व केवल चारुत्वनिष्पत्ति का था और था उसके लिए अपेक्षित उन सम्पूर्ण काव्य-घटकों का जो, गुण और अलङ्कार, रीति और वृत्ति भी थे और उनसे परे भी। आनन्द-वर्धन ने गुण आदि से परे व्यंग्यनामक एक प्रतीयमान अर्थ का अन्वेषण किया और प्रधानता के आधार पर उसे ध्वनिसंज्ञा दे काव्यात्मा स्वीकार किया। उन्होंने अलङ्कारादि को वाग्विकल्प कहा और उन्हें गुणीभूतव्यंग्यनामक काव्यभेद के अन्तर्गत अन्तर्भूत माना। अलंकारों को आनन्दवर्धन ने बहुत ही उपेक्षापूर्ण दृष्टि से देखा। अभिनवगुप्त और मम्मट ने आनन्दवर्धन के इस पक्ष को तूल दिया और उन्हें काव्यत्व की निष्पत्ति के लिए वैकल्पिक महत्त्व का तत्त्व स्वीकार किया। इन आचार्यों ने अलंकार के साथ

ही अलंकार्य की भी कल्पना की और अलंकार्य के रूप में रस आदि को ही स्वीकार किया इनने यह भी स्वीकार किया कि अलंकार कभी-कभी रसविरोधी भी बन बैठता है।

वक्रोक्ति—इसी बीच एक और समर्थ आचार्य हुए—कुन्तक। इनने अलंकार पक्ष को व्यापक परिवेष में देखा और उसे वक्रोक्ति के अतीव विस्तृत क्षेत्र तक फैलाया। इस भंगिमा में उन्होंने ध्वनि, अलंकार, गुणों और रीतियों को वैसे ही समाविष्ट माना जैसे महोदधि में भिन्न तरंगों को अथवा मधुमास में पुष्पों को समाविष्ट माना जाता है। इस चिन्तन ने काव्य की उन अनेक विधाओं को भी अपनाने का अवसर दे दिया जो अन्य चिन्तनों में अपनाई नहीं गई थीं। कथन के उस प्रत्येक प्रकार को इस भाग ने अपने परिवेष में समेटा जिससे चमत्कार का अनुभव होता था और उक्ति में विच्छित्ति आती थी। वक्रोक्ति अपने आपमें एक अलंकार ही है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि उपादानमीमांसा में भी अलंकार को अधिक आचार्यों ने महत्त्व दिया। उसके ऊपर काव्यात्ममीमांसा में तो सौन्दर्य के रूप में अलंकार को स्थान मिल ही चुका था। इस प्रकार काव्यशास्त्र के चुनावी मैदान में जीत किसी की भी हो परन्तु इतना निश्चित है कि चिन्तन का वास्तविक बहुमत 'अलंकार'-तत्त्व पर अधिक टिका था।

अलंकारशब्द को रूढि से बाहर निकालकर और केवल उपमा–रूपक आदि तक निरुद्ध न मानकर यदि अपने विराट् रूप में देखा जाए तो लगेगा कि गवेषकों के अन्तर्मन में उसके प्रति जो एक समादर छिपा हुआ है, वह तथ्याश्रित और आदरणीय है।

वस्तुतः जो अतिशय तत्त्व है वही 'अलं'–तत्त्व है। अतिशय-शब्दआकारबृहत्त्व का अभिलापक न होकर **'विशेषता'** का अभिलापक है। सामान्य को विशिष्ट बनानेवाला तत्त्व ही 'अतिशय'–तत्त्व है। जो वाङ्मय लोक-साधारण और वक्तव्यमात्र तक, सूचनामात्र तक सीमित रहता है वही अतिशय के आते ही रसनीयता, आस्वाद्यता और स्पृहणीयता तक पहुंच जाता है। रसनीयता, आस्वाद्यता या स्पृहणीयता ही हैं वे 'विशेष' जिनसे उक्ति में काव्यत्व का आधान होता है। इस प्रकार अतिशय तत्त्व या विशेष तत्त्व काव्यत्व के उत्स हैं और ये ही हैं 'अलं'–तत्त्व। अलंभाव या 'अलंत्व' ही है अलंकार। हम इसे संक्षिप्त के विस्तार और विस्तृत के संक्षेप में देख सकते हैं। बीज का शतगत शाखाओं वाले वृक्ष के रूप में परिणत होना यदि उसका अलंभाव है तो विशाल वनश्री का फोटू या चित्र में प्रतिबिम्बनद्वारा संक्षेपीकरण भी अलंभाव है। अतिशय दोनों में है। [द्र० हमारा लेख साहित्यतत्त्वविमर्शः]

इस प्रकार के अलंभाव को अलंकार मानकर क्या हम उसे काव्य का सर्वातिशायी तत्त्व नहीं कह सकते ?

जहाँ तक उपमा-रूपक आदि विच्छित्तियों का सम्बन्ध है और सम्बन्ध है तदितर समस्त काव्यत्वाधायक तत्त्वों का वे इस 'अतिशय'–तत्त्व-रूपी परिमल के लिए

विविध पुष्प माने जा सकते हैं। वाक्य में अतिशय का आधान यदि उपमा आदि के द्वारा होता है तो विभावादि की रससामग्री के द्वारा भी होता ही है। वस्तुतः रससामग्री का संयोजन भी एक उक्तिधर्म है। काव्यशास्त्रीय चिन्तकों में भोज आदि का मस्तिष्क इस ओर भी पहुंचा। वे विभावादि योजना को 'रसोक्ति' कहते, गुणयोजना को स्वभावोक्ति और उपमा आदि की योजना को वक्रोक्ति। यानी उक्ति विशेष ही है काव्य, और उक्तिगत जो 'विशेष' है अर्थात् रस, गुण और स्वभावपद-वाच्य तदतिरिक्त शेष सब, वे अलंकार ही हैं, क्योंकि वे ही काव्यशोभा के जनक धर्म हैं।

इस प्रकार वस्तुवादी दृष्टिकोण से या प्रमेयनिष्ठ चिन्तन से रस और गुण भी अलंभाव के जनक तत्त्व ही हैं और दूसरे शब्दों में अलंकार ही हैं। भरत के बाद दण्डी ही काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैं। उन्होंने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है और रसों को अलंकारों में ही सन्निविष्ट किया है। क्या कला का कोई स्वगत धर्म नहीं माना जा सकता ?

कला एक सरचना भी तो है, माना कि वह स्वयं के अन्तिम रूप में विज्ञानघन और 'अनङ्ग' है। क्या अनङ्ग अङ्गना [उत्तम अङ्गों वाली नारी मूर्ति] की अपेक्षा नहीं रखता। अनङ्ग का स्थूल अङ्ग यानी शरीर भले ही न हो, स्वयं में वह अत्यन्त नीरूप हो तथापि क्या उसका कोई मानस रूप नहीं होता। यदि होता है तो क्या उसे सर्वथा अनङ्ग कहा जा सकता है ? क्या मन अङ्ग नहीं है ? आखिर सूक्ष्म शरीर भी तो शरीर ही है। अवश्य ही जो तत्त्व मनोभव है, जो आत्मभू है वह अनङ्ग होते हुए भी अङ्गी है, शरीरी है और शरीरसापेक्ष है। उसका एक पक्ष शरीरपक्ष भी है। कला का विज्ञान विषयनिरपेक्ष नहीं। विषय का अस्तित्व भी यहाँ केवल प्रतिभास नहीं। उसका बहुलांश यहाँ अपने आप में भले ही प्रतिबिम्बात्मक और इसीलिए प्रतिभासात्मक हो, वह लोकगत बिम्ब की अपेक्षा अवश्य ही रखता है। द्वैत-कला का तद् दाम्पत्य ही यहाँ सर्वस्व है; और ऐक्य नहीं, साहित्य ही यहाँ की प्रधान विभूति है। साहित्य क्या किसी एक छोर के असत्य होने पर सम्भव है। निश्चित ही कला का कोई 'स्व' भी है और उस स्व में रहनेवाली उसकी अद्भुत विशेषतायें भी हैं। इन समस्त विशेषताओं की एक ही संज्ञा है 'अलंकार'।

खजुराहो की अप्सरोमूर्त्तियां अङ्गप्रत्यङ्गों में जो संतुलित मांसलता या उभार लिए हुए हैं, क्या वह उनका कोई 'अलंकार' नहीं है ? क्या वह उभार कोई प्रातिभासिक धर्म है ? क्या उससे उत्थापित मानस शृङ्ग ही सब कुछ है ? इसलिए क्या उस उभार को प्रमातृनिष्ठ रस-मात्र कहकर चिन्तक स्वयं को कृतकृत्य मान सकता है ? यदि उसे रसजनक कहा जाए तो रस के लिए उसकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है। तब यह सोचना होगा कि -यह सामग्री जहाँ नहीं रहती वहाँ रसनीयता क्यों नहीं आती ?

यदि वहां रसनीयता नहीं आ पाती और इस सामग्री के रहते ही वह आती है तो अवश्य ही यह सामग्री रस के प्रति कोई असाधारणता है और यदि असाधारणता है तो क्यों न उसे उसके आश्रय का 'अतिशय' माना जाए, उसे उसकी विशेषता स्वीकार किया जाए, और अन्ततः उसे क्यों न अलंभाव का जनक अलंकारतत्त्व स्वीकार किया जाए।

सांकेतिक, प्रतीयमान, अप्राकरणिक या अन्य अर्थ की विभूति, उसका इन्द्रजाल ध्वनि-शब्द से पुकार भले ही लिया जाए, किन्तु वस्तुपक्ष की दृष्टि से अवश्य ही वह भी कला की 'स्व'-गत विशेषता भी है और इसलिए अन्वय तथा व्यतिरेक के आधार पर वह भी अतिशय और अलंभाव की सीमा के भीतर है। इसीलिए उसकी संज्ञा अलंकार की जा सकती है। आखिर अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग में ध्वनि को शब्द-शक्ति के खूंटे से बंधा चञ्चल वत्स माना ही जाता है। क्यों? शब्दशक्ति से उसे क्यों बांधा जा रहा है? इसीलिए न, कि वहाँ शब्द का 'अतिशय' मेटा नहीं जा सकता। उसे स्वीकार करने हेतु चिन्तक बाध्य है। आखिर ध्वनि का बृहद् कूष्माण्ड उस शब्दशक्ति की तन्वी लता में ही न अटका हुआ है, भले ही प्रमातृचेतना की छत भी उसे साधे हुए हो। कहना न होगा कि ध्वनि का घटोत्कच कितना ही विशाल क्यों न बन जाए वह है किसी हिडिम्बा का प्रसाद। वह उस माता का स्तनंधय वत्स है, उसके आंचल में मुँह लगाकर चुस्की दाबता उसके उत्संग का मांगलिक अलंकार है। निश्चित ही ध्वनिभूमिका भी कला-क्षेत्र से आत्यन्तिक पृथक्ता नहीं रखती। वह उसमें 'अलंत्व' का निष्पादन करती और इसीलिए उसका अलंकार बनती है।

औचित्य—कला जिन प्रतिबिम्बों को हमारी चेतना पर अंकित करती है, हम उन्हें अपनी रुचि और अपने संस्कारों के अनुरूप सजा हुआ देखना चाहते हैं। उनको इस सजावट के साथ प्रस्तुत करने का जो औचित्य है वह भी कला के 'स्व' का, उसके 'आपे' का अतिशय है। अवश्य ही वह वैसा न हो तो हमें रुचेगा नहीं और यह उसका दोष होगा। इस दोष की मुक्ति यदि दोषाभाव है अथवा परित्यक्त-परित्याग है तो औचित्य नामक तत्त्व दोषाभाव से अधिक कुछ नहीं है। इसे हम उपादेयता में कारण मानेंगे ही, और अनुपादेयता में इसके अभाव को कारण मान इसे एक अस्तित्वसंपन्न वस्तु भी मानेंगे, और उस रूप में यह कला के स्वगत धर्मों में ही गिना जाएगा तथा 'अलंकार'-सीमा का उल्लंघन न कर सकेगा।

इस प्रकार रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति और औचित्य के परिक्षेत्रों में विभक्त काव्यचिन्तन मूलतः एक ही धुरी पर घूमता दिखाई देता है। वह है अतिशय की धुरी, अलंभाव की धुरी, अतएव अलंकृतितत्त्व की धुरी। एवं, अलंकृतितत्त्व एक सामान्य और व्यापक तत्त्व है काव्यात्मा का। काव्य एक कला है और क्योंकि वह स्वायम्भवी सृष्टि है, संकल्पयोनि, मनोमयी या प्रज्ञानघनीय सृष्टि है, प्रतिबिम्बात्मिका है अतः वह उसकी समग्रता में वैसी है, आंशिकता में नहीं। अभिप्राय

यह कि बिम्ब में लगा तिलक भले ही बाह्य हो, बिम्ब से भिन्न हो, किन्तु प्रतिबिम्ब मे लगा तिलक जिस प्रकार प्रतिबिम्बात्मा की सृष्टि, निर्मिति, अभिव्यक्ति, प्रतिभा या प्रज्ञप्ति के साथ ही कर्ण के साथ उसके कवचकुण्डल के समान निष्पन्न होता है उसी प्रकार लोकभूमि पर वस्तु और वस्तु के अतिशयाधायक तत्त्व भले ही भिन्न हो किन्तु कलाभूमि पर वस्तु और उसके अतिशयाधायक तत्त्व वैसे नही होते। ऐसा नही कि दर्पण मे वनमालाविभूषित श्रीकृष्ण [परमात्मा] प्रतिबिम्बित हो तो उस प्रतिबिम्ब मे वे स्वयं ही प्रतिबिम्बित होकर रह जाएँ, उनकी वनमाला प्रतिबिम्बित न हो और वह उनके प्रतिबिम्ब मे अलग से संयोजित की जाय। श्रीकृष्ण का श्रीविग्रह और उनका अलकरण वनमाला, दोनो एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं। कला मे, प्रतिबिम्ब मे, चित्र मे, अलंकार्य और अलंकृति दोनो सहजात होते हैं, क्रमोत्पन्न नहीं। इस स्थिति मे यह कैसे कहा जा सकता है कि अलंकार अलंकार्य से भिन्न और उसकी घटकता से रहित रहते हैं।

अलकार की बाह्यता की भ्रान्ति शरीर के दृष्टान्त के कारण हुई है। कटक कुण्डल आदि शरीर से अवश्य ही भिन्न रहते और आहार्य हुआ करते हैं। शरीर मे वे अवश्य ही ऊपरी वस्तु हैं, शरीर स्वयं नही, उसकी आत्मा भी नही। किन्तु यह सादृश्य एक विकलाग सादृश्य है। सोचना यह होगा कि भले ही सामान्य शरीर के घटक न हों अलकार, किन्तु क्या सुन्दर शरीर के भी वे घटक नहीं होते ? सौन्दर्य अपने उपादानो के बिना क्या शरीर मे आ सकेगा ? यदि नही तो उसके उपादानो को उसकी निष्पत्ति के पूर्व शरीर मे मान ही लेना होगा। काव्य केवल शरीर नही, सुन्दर शरीर है। केवल शब्दार्थयुग्म काव्य नही, अपितु रमणीय शब्दार्थ काव्य है, सुन्दर शब्दार्थ काव्य है। निश्चित ही शब्दार्थ की आत्मा यदि सौन्दर्य के बिना काव्यत्वशून्य है और सौन्दर्य केवल शरीर से निष्पन्न नहीं, तो उसके उपादान काव्यत्व की निष्पत्ति के पहले से शब्दार्थ के रोम-रोम मे सन्निविष्ट हैं। यौवन के साथ शरीर, किसी के सौभाग्य का पात्र बनता है। ऐसा नहीं कि सौभाग्य पहले आकर बैठ जाए, यौवन बाद मे आए। क्या सिन्दूरदान बाद मे होता और वधू कोहबर मे पहले ही पहुँच जाती है ? अलंकार और अलंकार्य के बीच लोक मे भले ही संयोगसम्बन्ध हो, कलाभूमिका पर तो उनके बीच एक ही संबन्ध संभव होगा—समवाय। इस प्रकार कला और काव्य का अलंकार, एक आन्तर, अबाह्य और आत्मीभूत धर्म है। धर्मी से उसका अभेद है। उसमे भेद ही एक प्रातिभासिक तथ्य है। ठीक ही कहा गया है 'सालंकारस्य काव्यता, न पुनः काव्यस्यालंकारयोग' [कुन्तक १।६]।

उक्त आधार पर अलकार अपने उपमा आदि के रूप मे भी काव्य की आत्मा है, काव्य है, काव्यनिष्ठ अन्यूनानतिरिक्त धर्म है, इसीलिए और काव्यनिष्ठ अलकार्यता का अवच्छेदक भी है यानी काव्यस्वरूप ही है।

हम अशोक का अर्थ कर लें केवल वृक्ष और फिर कहें कि उसकी आत्मा सौरभ है तो कह ही सकते हैं, किन्तु यह हमारा दोष होगा। वस्तुतः अशोक ऐसे एक समग्र व्यक्तित्व की संज्ञा है जिसका एक घटक सौरभ भी है। सौरभ उस व्यक्तित्व की विभूषा है, उसका अलंकार है, यद्यपि अशोक का सारा व्यक्तित्व उसी के लिए उपादेय है। हमने काव्यात्मक अशोक को सौरभ से पृथक् कर देखा कैसे ? हम मनुष्य का अर्थ सद्योजात बच्चा कर लें और कहें कि वह तो अलंकारमात्र है, अलंकार्य है सुवासिनी और सौभाग्यवती माँ का उत्संग जिसमें वह समाया रहता है तो ऐसा कह ही सकते हैं। किन्तु क्या सद्योजात शिशु मनुष्य नहीं होता। 'गो' का अर्थ गोचित्र कर हम उसके यथार्थ को समझाते हुए 'गोमाता' के दैवत विग्रह को भी गोष्पद का अर्थ कहें और कहें कि यह हमारी नई सूझ है, नूतन स्थापना है तो हमारा मुँह कोई नहीं पकड़ेगा और ऐसा हम कह ही सकेंगे, परन्तु इस कथन में नूतनता की डींग कोरा दम्भ होगी। प्रथम दृष्टि गोमाता पर ही जानी चाहिए थी। हमने गोचित्र को 'गोमाता' समझ कैसे लिया ? यह हमारी दृष्टि का दोष है; न अशोक का, न मनुष्य का और न गोशब्द का। 'अलंकार' के विषय में भी हमारे चिन्तन और व्यपदेश-विधान की यही स्थिति है। हमने अलङ्कार-शब्द को उपमा आदि तक सीमित समझा ही क्यों ? यदि समझा, तो यह भी समझना चाहिए था कि अलङ्कारशब्द से अभिधेय समस्त तत्वों में कदाचित् उपमा आदि अधिक प्रभावी और अधिक चमत्कारी हैं। फिर हमें अन्य तत्वों की ओर उन्मुख न होना था। और यदि रुचिभेद के कारण हम उन्मुख हुए भी तो हमें अपने चिन्तन की स्वस्थता नहीं खोनी चाहिए थी, उसमें संतुलन बनाए रखना चाहिए था। इतिहास साक्षी है—'हमने वैसा नहीं किया। प्रमातृनिष्ठ चिन्तन की प्रधानता ने हमें व्यक्तिवादी बना दिया, हमने वस्तुपक्ष से अपनी आँखें बहुत दूर तक फेर लीं और हम असंतुलन के उपालम्भ में आ पड़े। आनन्दवर्धन का था यह प्रसाद।

इस प्रकार हमने देखा कि काव्य की आत्मा अर्थात् काव्य को अकाव्य से पृथक् करने वाला तत्व या काव्य की उपादेयता, ग्राह्यता का बीज, एक ही है और उसका एक ही नाम है 'अलङ्कार'।

'काव्यालङ्कार'—नाम से जितने ग्रन्थ लिखे उनमें भामह, उद्भट, वामन और रुद्रट ने अलङ्कारों का विवेचन अवश्य प्रचुर मात्रा में किया परन्तु उनमें से किसी ने 'अलङ्कार को काव्य की आत्मा' भी कहा हो ऐसी बात नहीं है। उक्त चारों आचार्यों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। परवर्ती कुन्तक ने अपने ग्रन्थ की कारिकाओं को काव्यालङ्कार कहा और उनमें वक्रोक्ति को काव्यजीवातु स्वीकार किया, किन्तु यह स्वीकृति आनन्दवर्धन के बाद की थी और इसके आधार पर अलंकार को काव्यात्मा कहने का पक्ष समर्थन नहीं पाता, क्योंकि कुन्तक ने वक्रोक्ति को काव्यात्मा स्वीकार किया, जो एक पृथक् संप्रदाय है, जिसकी काव्यात्मवाद में अलंकार संप्रदाय से अलग गणना की जाती है।

इस प्रकार (१) रसः काव्यार्थः (२) रीतिरात्मा काव्यस्य
(३) काव्यस्यात्मा ध्वनिः (४) वक्रोक्तिः काव्यजीवितम् तथा
(५) औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्

के समान कोई वाक्य 'अलंकार' से सम्बन्धित नहीं मिलता, जिसमें अलंकार को काव्यात्मा या काव्यजीवातु कहा गया हो। वामन रीतिवादी आचार्य हैं। उन्होंने 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्, सौन्दर्यमलंकार' कहकर जिस 'अलंकारतत्त्व' को कुछ महत्त्व दिया है उससे भी उपमा आदि की काव्यात्मता का कोई पक्ष सामने नहीं आता, क्योंकि यहाँ जिसे अलंकार कहा गया वह उपमादि नहीं अपितु सौन्दर्य है। फिर वामन स्वयं ही 'रीतिरात्मा काव्यस्य' कहकर अलंकार-पक्ष से अलग हट जाते हैं। इस प्रकार यह जो प्रसिद्धि है कि साहित्यशास्त्र के ६ सम्प्रदाय हैं और उनमें एक संप्रदाय 'अलंकार' को काव्य की आत्मा मानने वाला है न जाने इसका क्या आधार है। इसका आधार कदाचित् 'काव्यालंकार' इस प्रकार अलंकार के नाम पर ग्रन्थों का नामकरण है। वस्तुतः अलंकार को काव्यात्मा मानने की प्रसिद्धि अलंकार की उस छाप पर आश्रित है जो आलोचक या काव्यकलाविद् के अचेतन मन पर पड़ी हुई थी और जिसके अनुसार अलंकार परिभोगयोग्य परिधान नहीं, अपितु प्रणम्य दैवतरूपाकित रत्न था। उदयन के अवरोध में अज्ञातवास कर रही या अग्निमित्र के अन्तःपुर में दासचेटिका के क्षण व्यतीत कर रही दिव्यकन्या सागरिका और मालविका के समान अलंकृतितत्त्व का अतिशय भी द्रष्टा को प्रभावित किए हुए था और वह मन ही मन सोच रहा था कि यह कोई असाधारण महत्त्व की वस्तु है, जिसे काव्यात्मा भी कहा जाए तो अनुचित नहीं। वस्तुस्थिति स्पष्ट होने पर अन्ततः सागरिका और मालविका उदयन और अग्निमित्र की राजरानी बन ही जाती हैं।

चित्रकाव्य—यही कारण है कि आनन्दवर्धन ने वाक्य के रस आदि से रहित और एकमात्र उक्तिवैचित्र्य से युक्त स्वरूप को काव्य न मानकर काव्यानुकार, काव्याभास या काव्य की नकल यानी काव्यचित्र माना था और कहा था कि वस्तुतः कोई अलंकार ऐसा नहीं होता जो गुणीभूतव्यंग्य वर्ग में न गिना जा सके अथवा जिसे व्यग्यांश का अनुग्रह प्राप्त न हो। ये दोनों ऐसे वक्तव्य थे जो परस्पर विरोधी न होकर समन्वयसूत्र से सम्बद्ध थे। किन्तु परवर्ती मम्मट ने ध्वनि का पाठ दुहराते समय इस समन्वयसूत्र को तोड़ दिया और अलङ्कार की प्रधानता से युक्त काव्य को चित्र नामक काव्य मान लिया तथा व्यंग्यप्रधान या व्यङ्ग्यबहुल काव्य को अलग वर्ग में गिना दिया। यह क्या हुआ ? यह वस्तुतः अलङ्कार की प्रतिष्ठा हुई। अलंकार नाम से पुकारे गए उपमा आदि को भी स्वतन्त्र महत्त्व दिया गया और उनमें भी व्यंग्य के बिना भी काव्यत्व का उत्स स्वीकारा गया। यह अपने आपमें जो भी हो, अलंकार के महत्त्व की अभिस्वीकृति में एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण है, परिपुष्ट साक्ष्य है और उसके द्वारा दिया गया साक्ष्य है जो अलङ्कारों को काव्यशरीर का अनिवार्य

नहीं, वैकल्पिक धर्म कहने की धृष्टता करता आ रहा था। अन्त में मम्मट ने भी ध्वनिकार आनन्दवर्धन की अनुभूति को आदर दिया और कहा कि अलंकार भी विना रस आदि व्यंग्यांश के निर्जीव होते हैं। अभिप्राय यह कि अलंकार का उपमा आदि स्वरूप भी वह्नि से धूम के समान रस आदि व्यंग्यविभूति से ऐकान्तिक और अव्यभिचरित सम्बन्ध रखता है। यानी इन्हें मिट्टी और पानी की नाईं पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। जो जल अत्यन्त स्वच्छ है, अधामच्छद या पारदर्शी है, वह भी किसी कूप, तडाग, नदी या निर्झर के ऐसे स्रोत का एकांश है जो मिट्टी-माँ का आँचल पकड़े हुए है। क्या उसे अपार्थिव माना जा सकता है? क्या केवल बरसाती पानी ही पार्थिव कणों से मिश्रित कहा जा सकता है? केवल बरसाती जल को माटी से मिश्रित द्रव कहना हमारी दृष्टि की स्थूलता होगी, दोष होगा। वस्तुतः उस द्रव में भी मिट्टी छिपी हुई है जिसे हम सर्वथा स्वच्छ कह रहे हैं, अत्यन्त निर्मल समझ रहे हैं। दार्शनिकों का पञ्चीकरण और औपनिषदों का त्रिवृत्करण तो निर्मल जल के भूतपिण्ड की बरीकी में भी जलेतर तत्त्वों के अष्टमांश का वैज्ञानिक मिश्रण मानता है। अलङ्कार का निर्मल जल भी व्यंग्य की मिट्टी का सौगन्ध्य छिपाए हुए है। व्यंग्य की सरस मिट्टी तो जल के स्थूल स्पर्श की तरलता स्वयं ही स्वीकार करती आ रही है। मम्मट का यह मानना कि अलङ्कार को काव्य से यदि हटाया जा सकता है तो उसके व्यक्त रूप में ही हटाया जा सकता है, अव्यक्त रूप में नहीं, उस रूप में वह काव्य का अविभाज्य, अयुतसिद्ध और समवायी धर्म है, इस दिशा में सटीकता की सूचना देता है। यही न वह विवशता है जिससे अलङ्कारों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई और पूर्ववर्त्ती आलोचक जहाँ कोई अलङ्कार नहीं देखता था परवर्त्ती ने वहाँ अनेक नवीन अलङ्कारों की स्वस्थ खोज कर डाली और जिन स्थलों में पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने कोई एक अलङ्कार माना था, परवर्त्ती आचार्यों ने उन्हीं स्थलों का विश्लेषण कर उनमें अनेक अलङ्कारों की प्रच्छन्न संसृष्टि और अव्यक्त संकीर्णता प्रमाणित की। आनन्दवर्धन ने अलंकारों को वाग्विकल्प कहकर अनन्त बतलाते हुए उनकी उपेक्षा का जो शापवाक्य बोला था वह दशरथ के लिए श्रवण-पिता के शापवाक्य के समान अनुग्रह मन्त्र बन गया और उपेक्षा के भीतर से आदर की समुद्गता स्रोतस्विनी को जन्म मिल गया। अलंकार तत्त्व की गवेषणा परिपूर्ति तक न पहुँच सकी, उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। स्वयं पण्डितराज ने लिखा तो ग्रन्थ 'रस' के नाम पर—'रसगंगाधर'; किन्तु उसका प्रधान अंश बन गया अलंकार ही। वह भी अपूर्ण ही रहा। वे उसे पूर्ण नहीं ही कर पाए। ठीक ही है। भला सभ्य भाषा अलंकार से रहित हो ही कैसे सकती है।

इस प्रकार अलंकार काव्य का अयुतसिद्ध, अपृथक्स्थित और वैसा ही धर्म है जैसा पृथिवी का गन्ध, जल का रस, अग्नि का रूप, वायु का स्पर्श और आकाश का

शब्द। काव्यरूपी पञ्चभूत का तन्मात्र अलंकार ही है और अलंकार ही है काव्यरूपी अक्षय्य और महान् वट वृक्ष का अणिष्ठ बीज।

कहा जाता है अलंकार को शब्दों में समझा जा सकता है, यानी वह वाच्य हो सकता है और रस किसी भी स्थिति में वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'रस' या 'श्रृङ्गार' आदि कहने से रसात्मक आस्वाद अनुभव में नहीं आता। वह तभी अनुभव में आता है जब विभावादि सामग्री का समुचित, ललित और चारु संनिवेश उपस्थित हो। ठीक है। रस अवाच्य ही है, केवल व्यंग्य है, ध्वनि है। परन्तु अलंकार को वाच्य कैसे कहा जाता है? क्या केवल 'इव' या 'जैसे' शब्द का प्रयोग करने से उपमा का अलंकारत्व या चमत्कार अनुभव में आ सकता है? क्या उपमा को अलंकारभाव तक पहुँचाने के लिए उपमान आदि की सामग्री अपेक्षित नहीं। उपमान, उपमेय और साधारण धर्म के साथ क्या 'इव' आदि उपमाप्रतिपादक शब्दों का प्रयोग रहता ही है? तब लुप्तोपमा के भेदों की संख्या १९ क्यों मानी जाती है? क्या 'अभेद' या 'आरोप' कहने से रूपकालंकार या 'सभावना' या 'संशय' कह देने से उत्प्रेक्षा या संदेहालंकार का अनुभव संभव है। अवश्य ही अलंकार भी शब्दों में नहीं जकड़ा जा सकता। फिर रस भी तो ऊपर किए विवेचन के अनुसार अलंकार ही है। क्या जरूरी है कि अलंकारत्व केवल उपमादि विच्छित्तियों की चितकबरी बकरियों के गले की घण्टी रहे। इसे रसरूपी दिव्य रथ की सुवर्ण-किंकिणी भी क्यों न माना जाए?

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि—'अलंकार-तत्त्व काव्य का असाधारण तत्त्व है, वही काव्य की वास्तविक आत्मा है। 'तस्यैव मात्रामुपजीवन्ति सर्वे' उसी के किसी अंश से वे सब तत्त्व निष्पन्न हैं जिन्हें रस आदि नामों से पुकारा जाता है। 'एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—उस एक तत्त्व को ही अनुशीलयिता जन अनेक रूपों में विभक्त देखते और भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं। यदि यह विश्व किसी असीम ब्रह्मन्, मायातीत भूमन् और अनन्त विराट् पर अंकित है तो इस विश्व का चित्र भी, इसका प्रतिबिम्ब भी किसी तत्त्व पर यदि अंकित हो सकता है तो एकमात्र 'अलंकार'-तत्त्व पर ही। सृष्टि में जो ब्रह्मतत्त्व है काव्य में वही 'अलं'-तत्त्व है। इस अतिशयित, अनन्त, भूमा और विराट् रस को जो अपनी-अपनी कटोरियों में हमने समेटा वह हमारे यानी 'मिति' के भीतर ही अपनी सम्पूर्ण इयत्ता के द्रष्टा जीवों के अनुरूप ही है।'

> 'यो यो यं यमवाप्नुयादवयवोद्देशं स्पृशन् पाणिना
> तत्तन्मात्रकमेव तत्र स स ते रूपं परं मन्यते।
> तज्जात्यन्धपुरे ह हा करिपते नीतोऽसि दुर्घसा
> को नामात्र भवेद् बताखिलभवन्माहात्म्यवेदी जनः॥'

के अनुसार 'अलंभाव' को अनुवीक्षक के एकांगी दृष्टिकोण ने या कहना चाहिए कि स्थूल चिन्तन ने जिस-जिस रूप में बांधा, जिस-जिस रूप में आंका वह अवश्य ही

आंशिक तथ्यता लिए हु ए था, किन्तु उस तत्त्व की समग्रता और उसकी परिपूर्ति उनमें से किसी दृष्टिकोण और किसी चिन्तन में न थी।

ब्रह्म से माया में उतरने पर वैषम्य और भेद का जो प्रतिभास होता है तदनुसार रस आदि से अलङ्कार को भिन्न केवल उपमा आदि को लेकर किया जाएगा, किन्तु अलङ्कार की महत्ता इतने पर भी घटेगी नहीं। क्योंकि रस यदि कहीं, रहता है तो दोनों केवल सामाजिक या प्रमाता में रहता है, काव्य में नहीं। क्या काव्य और प्रमाता एक हैं? काव्य में यदि कुछ रह सकता है तो उपमादि अलङ्कार ही रह सकता है। गुण भी रसवाद के अनुसार रसधर्म हैं, अतः वे भी प्रमातृगत सिद्ध होते हैं, काव्यगत नहीं। दोषाभाव कोई Possitivity नहीं है। रसवादी के यहाँ रीति और वृत्ति का कोई पृथक् अस्तित्व होता नहीं। इनके अतिरिक्त किसी काव्यधर्म की कल्पना रसवादियों ने की ही नहीं है। उनका काव्यलक्षण तो इतना पंगु है, विशेषतः मम्मट का, कि वह उन्हीं के अनुसार वस्तु से वस्तु की ध्वनि वाली उक्ति में लागू ही नहीं होता, क्योंकि न वहाँ अलङ्कार रहता, न गुण। यदि कहा जाए कि मम्मट के अनुसार वहाँ भी अस्फुट अलङ्कार तो रहता ही है, तो उस ध्वनि को अलङ्कारमूलक कहना होगा। फिर मम्मट के द्वारा ही स्वतः संभवी वस्तु से वस्तु की ध्वनि के लिए उदाहृत 'अलसशिरोमणिः०' इत्यादि गाथा का व्यञ्जक वाच्य अर्थ किस प्रकार के अलङ्कार से युक्त है? क्या उसमें अस्फुट भी अलङ्कार है? स्फुट की तो बात ही अलग है। तब कैसे जाएगा इस स्थल में काव्य लक्षण, यानी मम्मट द्वारा अभिमत काव्यलक्षण। हन्त।

द्वैतदृष्टि और रसवाद के अनुसार काव्य का 'स्व' उसका अपना रूप यानी प्रमाता से पृथक् उसका प्रमेयरूप अवश्य ही रसहीन, गुणहीन, ध्वनिहीन और एकमात्र अलंकार-युक्त है। और कुछ उसमें माना जाए तो केवल दोषाभाव माना जा सकता है, जिसे काव्यत्व की उत्थान-भूमि कहा जाना चाहिए। दूध यदि शुद्ध होगा तो उसकी खीर में इलायची की सुगन्ध तथा केसर-वर्ण भी खिलेंगे। इन दो विशेषताओं के अतिरिक्त द्वैतवादी दृष्टि से काव्य की अपनी काया में अन्य कोई धर्म कदापि नहीं स्वीकार किया जा सकता। इनमें भी दोषाभाव अभावात्मक ही है, वास्तविक केवल अलंकार ठहरता है। फलतः काव्यशरीर का वास्तविक धर्म और उसमें उपादेयता लाने वाली चारुता, सुन्दरता, रमणीयता, चमत्कारिता या असाधारणता का उत्स अलंकार ही ठहरता है। जहाँ कहीं अलंकार का उपमा आदि स्थूल रूप नहीं दिखाई देता और काव्यत्व माना जाता है वहाँ ध्वनिवादी या ये द्वैतवादी आलोचक दोषाभाव के अतिरिक्त काव्य शरीर में कोई धर्म सिद्ध नहीं कर सकते, फलतः वे अकाव्य से उस काव्य की अनुभवसिद्ध भिन्नता का कोई कारण नहीं बतला सकते, विशेषतः काव्यप्रकाश के रचयिता मम्मट।

निष्कर्ष यह कि अद्वैत दृष्टि से काव्यशरीर के भीतर रस आदि भी अलंकार है और द्वैत दृष्टि से भी काव्यशरीर का एकमात्र धर्म अलंकार ही है, निदान काव्य को अकाव्य से पृथक् करने वाला तत्त्व एकमात्र अलकार है, इसलिए **'अलंकार ही काव्य की उपादेयता का प्रथम और चरम निदान है, अलंकार ही काव्य की आत्मा'** है। प्रमातृपक्ष मे हम काव्य के परिणाम पर विचार करते हैं, जिसे काव्य से सम्बन्धित वस्तुओं का विचार कहा जा सकता है, स्वयं काव्य का विचार नही।

काव्यस्वरूप—

प्रश्न : काव्य को अकाव्य से भिन्न करने वाला स्वगत धर्म तो 'अलकार' हुआ। यह जो काव्य नामक धर्मी है यानी अलकार का जो आश्रय है, माने अलंकार जिसमे रहता है, वह क्या है ?

उत्तर : कहा जाता है वह **'शब्द'** और **'अर्थ'** का जोड़ा है। ठीक है, किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि शब्द और अर्थ काव्यरूप मे परिणत होते समय क्या उसी रूप मे रहते हैं जिस रूप मे वे ससार मे दिखाई देते हैं या उससे भिन्न किसी अन्य रूप मे। प्रथम विकल्प स्वीकार करने पर एक बहुत ही भीषण आपत्ति सामने सुरसा बनकर खड़ी दिखाई देगी। वह आपत्ति होगी अर्थ के विषय मे। कालिदास ने कुमारसंभव के प्रथम पद्य मे 'हिमालय' कहा। क्या यह वही हिमालय है जिसके शिखर पर हम आज भी चढ़ने का अभियान कर रहे हैं और जिससे बहकर गंगा आज भी भूलोक का ब्रह्मद्रव बनी हुई है। हिमालय का वह स्थावर रूप जिसमे शिला, वृक्ष और जल के घन और तरल रूपों का संघात है, जो पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा तक उत्तर दिशा मे एक निश्चित स्थान मे लेटा हुआ है, यदि कुमारसंभव काव्य का हिमालय यही हिमालय है तो उसे हम अन्यत्र सर्वत्र कैसे प्राप्त करते हैं। कुमारसंभव तो विश्व के हर कोने मे पढ़ा जा रहा है। क्या उसमे अर्थरूप से गृहीत हिमालय वही है जो किसी एक भूखण्ड और किसी एक दिशा का शिलोच्चय है, शिलाभित्ति है, उन्नत प्राचीर है, सीमा प्रहरी है, दुर्ग है। यदि वही, तो वह यहाँ काशी मे और इसी समय जिन अनेक स्थानों पर कुमारसंभव पढ़ा जा रहा होगा उन सभी स्थानों पर कैसे पहुच रहा है ? यदि पहुँच रहा है तो क्यो नही हम उससे दब जाते और क्यो नही वह अपने मूलस्थान पर अनुपस्थित मिलता। वह अपने स्थान पर उपस्थित रहता और एक ही रहता है किन्तु हम काव्य मे उसे सर्वत्र अनेक स्थानों पर उपस्थित पाते हैं। क्या है यह बात ? निश्चित ही वह हिमालय काव्य का हिमालय नही है जो उत्तर दिशा मे भित्ति बनकर पड़ा हुआ है।

यही प्रश्न शब्द के विषय में उपस्थित होता है। कालिदास ने जिन शब्दो का उच्चारण किया होगा वे तो उच्चारण समाप्त होते ही समाप्त हो चुके होगे। फिर हमे उनके शताब्दियों प्राचीन शब्द आज तक कैसे उपलब्ध हैं ? 'लिपि या अनुकरण के द्वारा

हम उन्हें जिलाए हुए हैं और वे सांकेतिक रूप में हमें प्राप्त होते जा रहे हैं' यह उत्तर ठीक है, किन्तु प्रश्न उपस्थित होता है उन शब्दों की बोधकता का। वे हमें अर्थ का ज्ञान कराते हैं। यदि वे शब्द अपने मूलरूप में ही काव्य हैं तो हमें किसी भी अज्ञात भाषा का काव्य अविदित प्रतीत नहीं होना चाहिए, क्योंकि शब्द तो किसी भी भाषा में बदलते नहीं। वर्णमाला और ध्वनियाँ प्राकृतिक वस्तुएँ हैं। उनका उपयोग और विनियोग हम जैसा चाहें कर सकते हैं, किन्तु उतने से उनके भौतिक और प्राकृतिक स्वरूप की हानि नहीं होती। शब्द यदि वही है जो लोक में प्राप्त है तो एक ही वाक्य के अनेक और विविध अर्थ नहीं होने चाहिए, क्योंकि सूर्य किसी को भिन्न प्रतीत नहीं होता। चन्द्र और अग्नि या समस्त प्रपञ्च प्रत्येक बोद्धा को एक ही स्वरूप में प्रतीत होते हैं। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं जो चन्द्र को अंधकार समझता हो या अंधकार को वस्त्र। रात सब के लिए रात है और दिन सब के लिए दिन ही। फिर एक ही वाक्य का अर्थ बोद्धा के भेद से भिन्न क्यों हो जाता है?

शब्द और अर्थ के 'जोड़े' की बात भी अस्वाभाविक-सी है। शब्द हमारे मुखाकाश या श्रोत्राकाश में है और अर्थ यदि है तो सैंकड़ों कोस दूर। फिर ऐसे कितने अर्थ हैं जो वर्त्तमानकालिक हैं? युधिष्ठिर आदि अब कहाँ? कल्पितोपमा में चन्द्र से सर्प के लटकने की कल्पना में चन्द्र और सर्प के सम्बन्ध की बात तो आत्यन्तिक रूप से असत्य है। उसका तद्वाचक शब्दों से सम्बन्ध कैसे होगा? सम्बन्ध के लिए अस्तित्व तो कम से कम, अपेक्षित होता ही है। वन्ध्यापुत्र, शशशृङ्ग, खपुष्प, कच्छपीपय और अन्धकार आदि जो त्रिकालबाधित तथ्य हैं, क्या इनके साथ सम्बन्ध बन सकेगा? जब विद्यमान अर्थों के साथ भी शब्द का सम्बन्ध संभव नहीं, तब अविद्यमान और कल्पित अर्थों के साथ शब्द का सम्बन्ध संभव कैसे?

इस प्रकार शब्द, अर्थ और उनका सम्बन्ध तीनों अपने भौतिक और वैज्ञानिक रूप में अनुपपन्न और असिद्ध सिद्ध होते हैं। क्या इसी उलटवाँसी का नाम है काव्य? यदि असंगति ही काव्य है, तो दोष किसे कहा जाएगा? यदि उसी असंगति के पीछे शिष्ट और विशिष्ट सभी जुटे हुए हैं, समर्पित हैं, व्यामुग्ध हैं तो उनका और सिरफिरे व्यक्ति का अन्तर किस बात में है? तब असम्बद्ध प्रलाप और रामायण, गाली और महाभारत में फरक ही क्या? क्यों वेद को ही पूजा जाए, अवेद को भी क्यों नहीं।

वस्तुतः न शब्द काव्य है, न अर्थ और न इन दोनों का युग्म। काव्य है शब्द के माध्यम से होने वाला अर्थज्ञान। अर्थज्ञान के लिए शब्द स्वरूपमात्र से कारण नहीं होता, उसके साथ अर्थ का एक बौद्ध संबन्ध अपेक्षित होता है। यह सम्बन्ध संकेतात्मक होता है। संकेत व्यक्तिसापेक्ष है, अतः उसमें अन्तर भी रहता है और भाषाएँ बदलती रहती हैं। शब्द भी अर्थ ही है अपने मूल और प्राकृतिक रूप में। मस्तिष्क के किसी कोने में हम शब्द का संस्कार बिठाए रहते हैं और किसी कोने में तदितर वस्तुओं

का। हम इन दोनों सस्कारो का एक सबन्धसूत्र भी बना लेते हैं, व्यवहार के लिए तय कर लेते है कि सूर्य कहने से अमुक वस्तु का ज्ञान हो और चन्द्र कहने से अमुक वस्तु का। अर्थात् हम शब्दस्वरूप या ध्वनिसमुदाय के ज्ञान तथा अर्थ के ज्ञानो मे एक गांठ ही गांठ बांध लेते हैं। यह गांठ ही शक्तितत्त्व है, यही वृत्ति है, यही व्यापार है, यही संकेत है और यही सम्बन्ध। अब हमारे मस्तिष्क के सम्बद्ध तन्तुओ मे से कोई एक झकृत होता है तो दूसरा भी झंकृत हो उठता है। हमारी बोधशकटी चरं चूं करती आगे बढने लगती है। बाद मे उसमे गति आ जाती है और वह शकटी हेमपर्णा हंसिनी बनकर हमे न जाने किन-किन लोको की सैर कराती रहती है। सारा खेल, सारी लीला, सारा इन्द्रजाल हमारी बुद्धि का है। यही बुद्धि काव्य भी बन जाती है। शब्द और अर्थ उसमे सहायक हो बनते हैं। ये तो दो अरणियाँ हैं जो अपने सघर्ष से काव्याग्नि को जगाती और उसे अभिव्यक्त करती हैं। इसीलिए हमने कला को सकल्प योनि और अनङ्ग कहा है।

इस भूमिका पर आरूढ चिन्तन अवश्य ही पूर्वोक्त समस्याओ के समाधान की दिशा पा लेता है। उत्तर देने की आवश्यकता नही रहती। 'कुमारसभव' का 'हिमालय' अपने भौतिक रूप मे जहां का तहां है, वह अपने आनन्द को शब्द के गरुड पर बिठा देता है और वह देश तथा काल की परिधि को अतिक्रान्त कर सत्यातीत रूप मे एक लीलालोक मे प्रविष्ट हो जाता है। शीशमहल सा यह लीलालोक, यह भावलोक, यह कल्पनालोक या बुद्धिलोक एक को अनेक मूर्तियो मे अकित और प्रकाशित करता रहता है। कोई असंगति उपस्थित नहीं होती। क्यो न ऐसा हो ? असंगति जिन स्थूल प्रतिमानो की इयत्ताओ पर निर्भर है वे प्रतिमान अपनी स्थूलता से मुक्त हो इयत्तातीत जो हो जाते हैं, मिति और माया की सीमा से ऊपर उठ ब्रह्मीभूत जो हो जाते हैं। पूर्वार्द्ध की सीमा टूट जाती है और परार्ध की निस्सीमता छा जाती है। मानो हमारे चन्द्र की सोलहवी कला शिव के मस्तिष्क पर आ बैठती है।

अब अर्थ ही नहीं अर्थान्तर भी काव्यसीमा मे चले आते हैं और अर्थ का आयाम दीर्घ से दीर्घतर और दीर्घतर से दीर्घतम बनता जाता है। किन्तु 'रस' इन अर्थों का परिणाम ही रहता है, अर्थ नहीं। अलंकार इस कल्पनालोक और सवित्ति के इस परमधाम मे अर्थ का ही धर्म रहता है। अलंकार ज्ञानात्मक होता है जब कि रस संवेदनात्मक, चर्वणाप्रसूत रसनात्मक। किन्तु हमे यह सब कहते हुए यह नहीं भूलना है कि रस की यह स्थिति, उसका अलंकार के साथ अन्तर प्रमाता के अन्तर्मन मे बैठकर किया गया चिन्तन है। प्रमेय के वस्तुपक्ष की दृष्टि से स्थिति भिन्न होगी। किन्तु स्थिति रस की ही भिन्न होगी, अलकार की नहीं। अलंकार दोनो भूमिकाओं में यथावत् बना रहेगा। अलंकार यानी उपमादि। सौन्दर्यात्मक अलंकार की स्थिति तो और भी अच्छी रहेगी।

उक्त परिकल्पना से हमने यह देखा कि काव्य एक ज्ञान है और इसलिए वह केवल प्रमेय नहीं, प्रमातृगत, प्रमातृचेतना में प्रतिबिम्बित प्रमेय है यानी प्रमित है, बुद्ध है, प्रतिपन्न है। फलतः हमने वस्तु और व्यक्ति के दोनों पक्षों में समन्वय और सापेक्षता का अनुभव किया। किन्तु यह एक वस्तुस्थिति है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्रमेयपक्ष: कुछ है ही नहीं। कारण कि ज्ञान-जगत् भी द्वैतमुक्त नहीं रहता और उसमें भी द्वन्द्व, प्रपञ्च, अवयव, खण्ड, अंश रहते हैं। हम उन्हीं अवयवों और अंशों का स्वगत वैशिष्ट्य आंकते और तदनुरूप प्रमेयव्यवस्था करते हैं। फलतः काव्य प्रमातृ-व्योम के बीच उड़ने वाला सुपर्ण होकर भी उस व्योम से अभिन्न नहीं, और 'उसके प्रत्येक पर्ण, उन पर्णों के प्रत्येक लोम उनमें से प्रत्येक की चित्रता' यह जो सब है यह भी स्वयं उसकी ही विभूति है व्योम की नहीं। कविता तो प्रमातृरूप दाशरथि के महल की सीता है। वह वहाँ आई है, पैदा नहीं हुई। जब चाहती है पुनः निकल जाती और अपनी मूल-भूमिका में विलीन हो जाती है। उसे कभी रावण भी चुरा ले जाता है किन्तु वह भी उसे प्रतिष्ठित करता 'अशोकवाटी' में ही है और वहाँ प्रतिष्ठित करके भी अपने दौरात्म्य से उसे तनिक भी प्रभावित नहीं कर पाता। वस्तुतः रावण को अपने यहाँ की अशोक-भूमिका की वास्तविकता का ज्ञान ही नहीं, किन्तु कविता की सीता उस भूमिका से अलग कहीं रह सकती ही नहीं। वह तो ऐसी शकटी है जो केवल चक्के नहीं, मार्ग-भूमि भी अपने साथ लिए रहती है और चलती है तो केवल उसी मार्ग पर, नहीं तो चलती ही नहीं।

अब हमें अपने चिन्तन के धरातल का ध्यान रखना है और प्रमाता या प्रमेय, किसी के भी धरातल से विचार करते समय अपने धरातल को छोड़ना या उससे भटकना नहीं है।

इस प्रकार अलङ्काररूपी जो धर्म है उसका धर्मी है ज्ञान। अर्थात् अलङ्कार ज्ञान में रहता है। वह स्वयं भी ज्ञानात्मक है। इन दोनों ज्ञानों का धर्मधर्मिभाव ज्ञान और अनुव्यवसाय के धर्मधर्मिभाव सा माना जा सकता है। अनुव्यवसाय में विषयभूत ज्ञान धर्मरूप से निविष्ट रहता है अतः अनुव्यवसाय धर्मी होता है। इनमें सम्बन्ध विषयविषयिभावात्मक ही हो सकता है, या तो हो सकता है 'स्वरूपात्मक'। लौकिक अलङ्कारों के समान इनका अपने धर्मी से संयोग सम्बन्ध मानना कविता के स्वरूप के विषय में अपना व्यामोह प्रकट करना है। काव्यात्मक ज्ञान को अनलंकृति कहना भी शव को विवाहयोग्य दूल्हा कहना है अथवा कालिदास के शब्दों में श्मशानशूल को यज्ञयूप बनाना है। काव्य में अलङ्कार का अस्तित्व उतना ही अनिवार्य है जितना किसी श्रोत्रिय के कन्धे पर यज्ञोपवीत का अस्तित्व या किसी सुहागिन की माँग में सिन्दूर का।



इन विचारों के साथ हमारा अलंकारसर्वस्व साहित्यजगत् की सेवा में प्रस्तुत है। इसके मुद्रण में अनेक दोष रह गए हैं। कुछ स्थलों के निर्देश हमने पीछे की संशोधन-तालिका में किए हैं। अन्य कुछ ये हैं—

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	५	कथनानव	कथनेऽनव
१४	'भीम०' इत्यादि श्लोक	कायस्य	कामस्य
१७	'महिला' इत्यादि श्लोक	अन्तीमा	अमान्ती
१७	विमर्शिनीकी अन्तिम पं०	सचमत्कार	सचमत्कारं
२०	विम० की प्रथम पंक्ति 'वामनेनतु—वामनेनेत्यादि		१८ पृष्ठ की विमर्शिनी के साथ पढ़ें
५१	नीचे से ८	उत्तर	अन्तर
५१	नीचे से ९	नहीं	यही
५८	विम० ८	कवाटविभ्रमम्०	कवाटविभ्रममम्
६४	२२	रण	रंग
७०	११	नहीं मिलता	द्र० २।१७[1]
७५	शीर्षक	पञ्चालङ्कार	लाटानुप्रास
१५७	शीर्षक	उल्लेखालङ्कार	भ्रान्तिमदलङ्कारः
३६७	शीर्षक	समासोक्त्यलङ्कार	श्लेषालङ्कार
४४८	१४	मन्यते	मन्वते
५२९	शीर्षक	विशेषोक्त्य०	एकावल्य०
५३१	शीर्षक	समालङ्कार	मालादीपका०
५४०	नीचे से २	कण्ठागय	कण्ठागत०
६५३	नीचे से ३	तस्य यथा	तस्यान्यथा०
७२०	६	चन्द्रपादपान्	जन्मपादपान्
३०६,३४४,५३३ पर छपी		सूत्रस० २८,२३,५० को क्रमशः ३१,३३,५७ मानें।	

१. 'तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम्। वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निगद्यते।' [काव्यालंकार २।१७] रुद्रट ने इसी लक्षण को अपने लक्षण का आधार बनाया है।

अपेक्षाएँ—विमर्शिनी तथा सर्वस्व में प्राप्त नवीन स्थापनाओं पर भूमिका में विचार करना आवश्यक है, किन्तु हम उसे छोड़ रहे हैं, कारण कि वह प्रायः मूल में ही अपने स्थान पर किया जा चुका है। कुछ अवशिष्ट भी है। जैसे—

(क) वृत्तिकार का भट्टनायक के विषय में यह कहना कि वे ही व्यापार-प्राधान्यवादी हैं, जब कि व्यञ्जनावादी भी उस क्षेत्र में गिना जा सकता है। जैसे—

(ख) व्यञ्जनानामक अतिरिक्त शब्दव्यापार स्वीकार किया जाए या नहीं। लक्षणा को भी क्यों स्वीकार किया जाए। केवल अभिधा से ही पूर्ण बोध क्यों न मान-लिया जाए। अभिधा भी क्यों मानी जाए, क्योंकि शब्द तो मूलतः जड है और व्यापार चेतन में रहा करता है।

(ग) 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' आदि वाक्यों के जो प्रयोग मम्मट आदि में प्राप्त सन्दर्भों से हटकर भिन्न सन्दर्भों में यहाँ मिलते हैं उनके स्रोतों की गवेषणा। आदि ॥

इनमें से शब्द की जडता का परिहार हम इसी भूमिका में कर चुके हैं। व्यञ्जना-खण्डन के लिए हमने 'साहित्यदर्पणे तात्पर्यस्वरूपम्' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिख दिया है। 'स्वसिद्धये' आदि वाक्यों के सन्दर्भ रत्नाकर से खोजकर यथास्थान मूल में ही दे दिए हैं। व्यापार-प्राधान्यवाद को भट्टनायक तक सीमित मानना या केवल उन्हीं के सिर पर थोपना भट्टनायक की स्थापनाओं में व्यापारों की बहुलता पर निर्भर है। भावकत्व और भोजकत्व दो ऐसे व्यापार हैं जिनकी कल्पना शब्दव्यापार के रूप में की गई है और कदाचित् केवल भट्टनायक द्वारा ही की गई है। अधिक विचार स्वतन्त्र-रूप से किया जा सकता है।

विमर्शिनी के पाठ-संशोधन में हमने पाण्डुग्रन्थों की सहायता लेनी चाही तो उसमें बहुत विवाद पाया। उदाहरणार्थ काशीहिन्दूविश्वविद्यालय में विमर्शिनी की दो शारदा प्रतियाँ हैं। उनमें और डॉ० रामचन्द्रद्विवेदी द्वारा देखी प्रतियों में वृत्तिके 'प्रणम्य०' इत्यादि मंगल पद्य की विमर्शिनी **'निजेति'** प्रतीक से आरम्भ होती है। उसके पहले की जो व्याख्या निर्णयसागरसंस्करण में छपी है वह उन्हें किसी एक प्रति में ही प्राप्त हुई है, किन्तु है मूल ही, क्योंकि ऐसा संभव नहीं कि टीकाकार मंगलपद्य की व्याख्या उसके उत्तरार्ध से आरम्भ करे, वह भी तब जब पूर्वार्ध में 'परा वाणी' और उसके 'त्रिविध विग्रह' की गूढ ग्रन्थि उपस्थित हो। फिर परावाणी तो काश्मीरियों की सोमलता है। उसीके रस में विभोर रह वे अपना चिन्तन स्थिर रखते हैं। जयरथ उसे कैसे छोड़ सकते हैं? तथापि इसकी जो व्याख्या यहाँ दी गई है उसकी गंभीरता, उसकी पदावली, उसकी प्रमाणसंपत्ति काष्ठागत वैदुष्य की अपेक्षा रखती है, वह जयरथ जैसे सर्वशास्त्रवेत्ता के ही अनुरूप है। इसके अतिरिक्त 'देवी' शब्द की ऐसी ही व्याख्या जयरथ ने तन्त्रालोक आदि की टीका में भी की है। फलतः एक प्रति में मिलने पर भी उसे प्रामाणिक मूल मानकर अपनाना उचित है। हमने अपना लिया भी है।

सूत्रों का पाठ विमर्शिनी की काशी हिन्दूविश्वविद्यालय में प्राप्त एक शारदा प्रति में भी 'अलङ्कारसूत्र' नाम से पृथक् दिया मिलता है, अतः हम भी उसे यहाँ पृथक् दे रहे हैं। जो चतुर्थ सूत्र वृत्ति मान लिया गया था इस प्रति में वह भी सूत्रों में ही पठित है, किन्तु उसमें आगे पठित सूत्रपाठ के ८३, ८४ तथा ८५ सूत्रों को एक ही सूत्र माना गया है। उसमें 'एते' शब्द नहीं है।

मूलपाठ अधिकतः विमर्शिनी के अनुरूप ही दिया है, किन्तु जहाँ उचित लगा है उसके विपरीत नवीन पाठ भी अपनाया गया है।

यह कार्य मध्यप्रदेशशासन सेवा में रहते हुए किया गया है। मैं उस शासन के प्रति आभारी हूँ।

अन्त में मैं काशी के विश्वविश्रुत प्रकाशनसंस्थान चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस तथा चौखम्बा विद्याभवन के अधिकारी श्रीमान् मोहनदास जी गुप्त तथा श्रीमान् विट्ठलदास जी गुप्त को धन्यवाद देता हूँ, जिन्होंने इस बड़े कार्य को अङ्गीकार किया और साहित्यसेवियों के लिए सुलभ बनाया। मुझे दुःख है कि इस ग्रन्थ की पूर्ति के पूर्व ही इस महान् संस्थान के कर्णधार श्रीमान् सेठ जयकृष्णदास जी गुप्त तथा श्रीमान् सेठ श्रीकृष्णदासजी गुप्त कुछ ही दिनों के अन्तर से असमय में गोलोक सिधार गए।

यदाकदा मैंने सन्दिग्ध अंशों पर अपने परमगुरु काशी-सुमेरुपीठाधीश्वर शङ्कराचार्य अनन्तश्रीविभूषित श्रीमहेश्वरानन्द जी सरस्वती, उसी भूमिका के विदेहराज महामाहेश्वर आचार्य पं० रामेश्वर जी झा तथा अपने पितृतुल्य गुरु पं० रामकुबेर जी मालवीय से परामर्श किया है। उनको प्रणामाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

मैं इस दिशा में कार्य करने वाले अपने पूर्व सूरियों के प्रति भी कृतज्ञता अर्पित करता हूँ, जिनसे मेरे चिन्तन को बल मिला है।

इस ग्रन्थ के वृत्तिगत उदाहरणों तथा विमर्शिनीपद्यों की सूची विद्वद्वर श्री सातकड़ि मुखोपाध्याय वङ्गीय ने बनाई है। वे एतदर्थ शतशः साधुवाद के पात्र हैं। किमधिकेन।

नमः सुमेधसे तस्मै सुरेशाय च कोटिशः।
शोधं शोधं प्रबन्धस्य सत्यार्था यत्र जाग्रति ॥

श्रीगुरुपूर्णिमा,
सं० २०२८, वाराणसी

— रेवाप्रसाद द्विवेदी

राजानक-श्रीरुय्यकस्य कृतिः

अलङ्कारसूत्रम्[1]

१ [2]इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः।

२ तत्रार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः।

३ आमुखावभासनं पुनः पुनरुक्तवदाभासम्।

४ शब्दपौनरुक्त्यं व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्यं स्वरव्यञ्जनसमुदाय—पौनरुक्त्यं च।

५ संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः।

६ अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः।

७ स्वरव्यञ्जनसमुदायपौरुक्त्यं यमकम्।

८ शब्दार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः।

९ तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः।

१० तदेवं पौनरुक्त्ये पञ्चालंकाराः।

११ वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्।

१२ उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा।

१३ एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः।

१४ द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा।

१५ सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम्।

१६ अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्।

१७ आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।

१८ विषयस्य सन्दिह्यमानत्वे सन्देहः।

---

१. अलङ्कारसूत्रमिति वृत्तिरहितो रुय्यकैकरचितः सूत्रमात्रात्मा स्वतन्त्रो ग्रन्थः।

२. इहेति पदं प्रतिसूत्रम् आग्रन्थमनुवर्त्तनीयम्।

१९ सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान् ।

२० एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः ।

२१ विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः ।

२२ अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा ।

२३ अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः ।

२४ औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसम्बन्धे तुल्ययोगिता ।

२५ प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु दीपकम् ।

२६ वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ।

२७ तस्यापि बिम्बप्रतिबिम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः ।

२८ सम्भवताऽसम्भवता वा वस्तुसम्बन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना ।

२९ भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।

३० उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसम्बन्धे सहोक्तिः ।

३१ विना[1] किञ्चिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः ।

३२ विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः ।

३३ [2]विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकरः ।

३४ विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोरुपादाने श्लेषः ।

३५ अप्रस्तुतात् प्रस्तुतस्य सामान्यविशेषभावे कार्यकारणभावे वा सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा ।

३६ सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः ।

३७ गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम् ।

३८ स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः ।

३९ उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः ।

१-२. सूत्रयोरनयो- सत्ये मूलग्रन्थे क्रमेण २८,२३ इति मुद्रिते । संशोधयन्तु सकृपम् ।

४० अनिष्टविध्याभासश्च ।

४१ विरुद्धाभासत्वं विरोधः ।

४२ कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना ।

४३ कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः ।

४४ कार्यकारणयोः समकालत्वे पौर्वापर्यविपर्यये चातिशयोक्तिः ।

४५ तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसङ्गतिः ।

४६ विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम् ।

४७ तद्विपर्ययः समम् ।

४८ स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम् ।

४९ आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यम् अधिकम् ।

५० परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम् ।

५१ अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः ।

५२ यथा साधितस्य तथैवान्यथाकरणं व्याघातः ।

५३ सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च ।

५४ पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला ।

५५ यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली ।

५६ पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम् ।

५७ [1]उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः ।

५८ हेतोर्वाक्यपदार्थता काव्यलिङ्गम् ।

५९ साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम् ।

६० उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम् ।

६१ एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्यायः ।

६२ समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः ।

६३ एकस्यानेकप्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या ।

६४ दण्डापूपिकयाऽर्थान्तरापतनमर्थापत्तिः ।

६५ तुल्यबलविरोधो विकल्पः ।

६६ गुणक्रिया-यौगपद्यं समुच्चयः ।

---

१. सूत्रेऽत्र मूलग्रन्थे ५० इति संख्या मुद्रिता । कृपया शोधयन्तु ।

६७ एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च।

६८ कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः।

६९ प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकम्।

७० उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम्।

७१ वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनं मीलितम्।

७२ प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्।

७३ स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः।

७४ सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः।

७५ उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसम्भाव्यमुत्तरं चोत्तरम्।

७६ सलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्।

७७ उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः।

७८ अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथा योजनं वक्रोक्तिः।

७९ सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

८० अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्।

८१ समृद्धिमद्-वस्तु-वर्णनमुदात्तम्।

८२ अङ्गभूतमहापुरुषचरितं च।

८३ रसभाव-तदाभास-तत्प्रशमानां निबन्धेन रसवत्प्रेय-ऊर्जस्विसमाहितानि।

८४ भावोदयो भावसन्धिर्भावशबलता च।

८५ [1]एते पृथगलङ्काराः।

८६ एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः।

८७ क्षीरनीर-न्यायेन तु सङ्करः।

८८ एवमेते शब्दार्थोभयालङ्काराः संक्षेपतः सूत्रिताः।

॥ कृतिः श्रीराजानकरुय्यकस्य ॥

---

१ सवृत्तिमूलग्रन्थे सूत्रमिदं पूर्वतनेन सूत्रेणान्तर्भुक्ततया मुद्रितम्, तदानीमप्रतिभानात्। काशीहिन्दूविश्वविद्यालयशारदापाण्डुग्रन्थे ८३-८५ सूत्राण्येकसूत्रत्वेनैव लिखितानि।

विषयानुक्रम

- <ापर-० दपगाड
ग्राम भोलग मालिगान
तह डीगोइ जिलाकोडी

॥ श्रीः ॥

अलङ्कारसर्वस्वम्

नमस्कृत्य परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहाम् ।
गुर्वलंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते ॥

सविमर्श अनुवाद

श्रद्धां मन्ये मातरं लोकमार्गे सा वै सर्वा ओषधीः संप्रसूते ।
आन्वीक्षिक्यां किन्तु मे भावबन्धः सा ता एता निस्तुषाः संविधत्ते ॥
आद्यं गुरुं पितरमेव पुरा नतोऽहमाद्यां च लेखजननीं जननीं मयि स्वान् ।
एकं तयोस्तदनु विग्रहमद्वितीयं काश्यां महेश्वरयतीन्द्रकविं श्रितोऽस्मि ॥
यन्नाम तत्त्वगुरुभिर्गुरुभिर्गरीयो ज्योतिर्मयि प्रतिनवं प्रकटीकृतं तत् ।
कल्याणकोशमुपजीव्य मया सटीक-सर्वस्व-शोधन-विधौ क्रियते प्रयत्नः ॥

रुय्यकसूत्रं, मङ्खोः सर्वस्वाख्या च तत्र या वृत्तिः ।
ते शोधयते रत्नाकरो, विमर्शिनी समपि ॥
एतास्त्रिकक्षमार्गे दत्तधिया दीक्षितेन यद् वर्त्म ।
क्षुण्णं, क्षोदयते तत् पण्डितराजो महारम्भः ॥
विश्वेश्वर इति नाम्ना विद्वन्मान्यः पराक्रमते ।
नव्यन्यायनदीष्णः पण्डितराजं निराकुर्वन् ॥
सर्वानेतां विदुषां, परम्परां वीक्ष्य, वीक्ष्य दण्ड्यादीन् ।
जरतः काव्यालंकृतिकर्तॄन् रेवाप्रसादनामाहम् ॥
अनुवादेन समृद्धां व्याख्यां कुर्वे यथायथं विशदाम् ।
रुय्यकमङ्खुकजयरथकाव्यालङ्कृतिमुनित्रयीकृतिषु ॥

'तीन प्रकार के शरीर से युक्त भगवती परा वाणी को प्रणाम कर गुरुकृत अलंकारसूत्रों का तात्पर्य वृत्ति द्वारा बतलाया जा रहा है ॥'

श्रीजयरथकृतालङ्कारविमर्शिनी

मङ्गलकामनया ग्रन्थकृन्निजेष्टदेवताप्रणामपुरःसरमभिधेयं तात्पर्यं चैकेनैव वाक्येन परामृशति—नमस्कृत्येति । परां वाङ्मयाधिदेवतां पराख्यां शब्दब्रह्मणोऽपृथग्भूतां शक्तिं परां वाचं देवीं त्रिविधविग्रहां बहिरुल्लिलासयिषया पश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपेण प्रकारत्रयेणाधिष्ठितशरीरां नमस्कृत्य निर्विघ्नचिकीर्षितग्रन्थसमाप्तये तां प्रति कायवाङ्मनोभिः प्रह्वीभूय

निजालङ्कारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते इति मङ्गलान्वययोजना। तथा चात्रोक्तलक्षणार्थविस्तरः—

'येयं विमर्शरूपैव परमार्थचमत्कृतिः। सैव सारं पदार्थानां परा वागभिधीयते॥
नादाख्या सर्वभूतेषु जीवरूपेण संस्थिता। अनादिनिधना सैव सूक्ष्मा वागनपायिनी॥
अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्। विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
वैखरी शब्दनिष्पत्तिर्मध्यमा स्मृतिगोचरा। द्योतितार्थस्य पश्यन्ती सूक्ष्मा ब्रह्मैव केवलम्॥'

इत्यादिशास्त्रोक्तिक्रमेण सर्वत्र सदोदितायाः सूक्ष्मायाः परायाः शब्दब्रह्मणः शक्तेर्बहिरुन्मिषन्त्याः प्रथमो विवर्तः पश्यन्ती नाम। तथा चोक्तम्—
'अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा। स्वरूपज्योतिरेवान्तःसूक्ष्मा वागनपायिनी॥'
इति। अस्यार्थः—अविभागा स्थानकरणप्रयत्नप्रकारेण वर्णानां विभागहीना अत एव संहृतक्रमा तथैवान्तःस्वरूपज्योतिः स्वयंप्रकाशा स्वस्यात्मनो रूपं ज्योतिश्च सर्वत्र हि सर्वविधायिनी शक्तिरेवेति वान्तःसूक्ष्मबीजादङ्कुरमिव बहिरुन्मिषन्ती किंचिदुच्छूना परायाः मध्यमायाश्चावस्थां तदवस्था पश्यतीति पश्यन्तीत्युच्यते। तत्र परं तु—

'अन्तःसंकल्परूपा या क्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते॥'

एतत्कथयामीति विमर्शरूपा अन्तःसंकल्परूपा प्राणवृत्तिमतिक्रम्य श्रोत्रग्राह्यवर्णाभिव्यक्तिरहिता क्रमरूपानुपातिनी मानसिकवर्णोच्चारणक्रमेण द्वितीयो विवर्तो मध्यमारूपो जायते। मध्यमा किल द्वयोर्वाग्विवर्तयोः पश्यन्तीवैखरीसंज्ञयोर्मध्ये वर्तनान्मध्यमेत्युच्यते। तदनन्तरं च—

'स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥'
इति लक्षणात्स्थानकरणप्रयत्नक्रमव्यज्यमानः श्रोत्रग्राह्यदुन्दुभिवीणादिनादपरिचयो गङ्गादाव्यक्तगकारादिविलाससमुच्चयपदवाक्यात्मकस्तृतीयो विवर्तो वैखरीत्युच्यते। विशिष्टं खमाकाशं सुखरूपं राति गृह्णातीति विखरः प्राणवायुसंचारविशिष्टो वर्णोच्चारस्तेनाभिव्यक्ता वैखरीति। विखरे शरीरे भवा वैखरीति वा केचित्। सिद्धो मङ्गलार्थः। तथा चात्र पूर्वार्ध एव पुनरावृत्त्याभिधेयपदार्थान्वययोजना—यथा परां वाचमुत्तमकाव्यरूपतया काव्यात्मध्वनिसंज्ञाम् अभिधातात्पर्यलक्षणोत्तीर्णामुत्कृष्टाम्। देवीम् 'दिवु क्रीडाविजिगीषाद्युतिस्तुतिव्यवहारमोदमदकान्तिस्वप्नगतिषु' इति यथायथं धात्वर्थानामनुस्मरणात् शक्तिमता कवीनां श्रोतॄणां च स्वभावात्स्वेच्छया समुच्छलन्तीं क्रीडन्तीम्। तथा देवीं विजिगीषु शब्दं तत्संकीर्तितं चार्थमुपसर्जनीकृत्य वर्तमानाम्। तथा देवीं द्योतमानां द्योतनध्वननयोः पर्यायत्वाद् ध्वनिसंज्ञाम्। तथा देवीं स्तुत्यां सर्वैः काव्यात्मत्वादभिवन्द्याम्। तथा देवीं व्यवहरन्तीं सर्वत्र प्रचरितां ■ तु क्वापि स्खलिताम्। तथा देवीं मोदमानां श्रुतिमात्रेणैव परमानन्ददायिनीम्। तथा देवीं माद्यन्तीं कवेः सहृदयस्य च यथायथं करणावबोधाभ्यां कमप्यहंकारं जनयन्तीम्। तथा देवीं कमनीयां सर्वैरभिलषणीयाम्। त्रिविधविग्रहां त्रिविधस्त्रिप्रकारो विग्रहो व्यतिरेकेण ग्रहो व्यतिरेकमूलः प्रमाकरणप्रकारो यस्यास्ताम्। तथा हि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादिवाक्येषु घोषस्य यच्छैत्यपावनत्वादिकं प्रतीयते तत्र नाभिधा। गङ्गादिशब्दानां शैत्याद्यर्थस्यावाचकत्वात्। न तात्पर्यात्मा। तात्पर्यशक्त्या ह्याधाराधेयभावावगमार्थं परस्परमन्वयमात्र एव क्षीणत्वात्। न लक्षणा। मुख्यार्थबाधादिहेतुत्रितयाभावात्। तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तचतुर्थकक्ष्यानिक्षिप्तो व्यञ्जनव्यापार इत्यादि सोऽयमेवाग्रे विमृक्ष्यति। अथ च व्यङ्ग्यस्य शब्दार्थोभयमूलत्वेन प्रसि-

द्वन्द्वविधो विग्रहो विशेषणानां भेदानां ग्रहो यस्या इति वा। एतादृशीं तां नमस्कृत्य मङ्गलाचरणरूपत्वेन मनागुद्दिश्य न तु सूत्रवृत्तिभ्यां तात्पर्यकथनादिलक्षणपरीक्षाविस्तारेण निर्णीय निजालंकारसूत्राणां वृत्त्या तात्पर्यमुच्यत इति। अस्याभिप्रायः—तथा च ध्वनेर्म-नागुद्देशमात्रमेव करोति 'इह हि तावद्भामह—' इत्यादिना। तदेतत्तावदास्ताम्। निजेति। परकीयाणां सूत्राणां तात्पर्यकथनानवबोधोऽपि स्यादिति भावः। तथा न कैश्चिदपि परैरीदृंशि सूत्राणि कृतानीत्यपि ध्वनितम्। तात्पर्यमिति। संक्षिप्तार्थप्रकाशनमित्यर्थः। अन्यथा हि कथनमेषां बहुनापि ग्रन्थेन पारं न यायात्। ननु—

'शादिवाक्ये प्रयोक्तव्यमभिधेयप्रयोजने। प्रतिपादयितुं श्रोतृप्रवाहोत्साहसिद्धये ॥'

इति नीत्या श्रोतृप्रवृत्त्यर्थं सर्वत्रैवादिवाक्येऽभिधेयप्रयोजनाद्यभिधीयते। तच्चेह नोक्तमिति कथमत्र श्रोतॄणां प्रवृत्तिः स्यात्। मैवम्। अलंकारा ह्यत्राभिधेयाः। तेषामत्र साक्षादेवाभिधानात्। तदभिधायकं चेदमलंकारसर्वस्वाख्यं प्रकरणमित्यभिधानाभिधेययोर्नि-यमगर्भीकारेणार्थाक्षिप्तो वाच्यवाचकभावलक्षणः संबन्धः। नह्येवंविधमेतदभिधायकं प्रकरणान्तरमस्ति। तस्यान्विष्यमाणस्याप्युपलम्भयोग्यस्यानुपलम्भात्। अत एवान्या-लंकारग्रन्थवैलक्षण्योद्घोषणाय 'तात्पर्यमुच्यते' इत्याद्युक्तम्। अभिधेयाश्चात्रालंकाराः काव्या-लंकारा न लौकिका इत्येतेषां काव्योपस्कृतिद्वारेण पारम्पर्येण—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥'

इत्याद्युक्तनीत्या तदविनाभावस्वभावत्वादर्थाक्षिप्तसर्वपुरुषार्थसिद्धिरूपा चतुर्वर्गावाप्तिः प्रयोजनम्। तयोश्च साध्यसाधनभावलक्षणः संबन्धः। इति स्थितमेवादिवाक्यस्य श्रोतृ-श्रवणश्रद्धाविर्भावनिबन्धनत्वम्।

सविमर्श अनुवाद

ग्रन्थकार मंगल करने की इच्छा से अपनी इष्टदेवी को प्रणाम करते हुए [ग्रन्थ के] प्रतिपाद्य विषय का परामर्श भी एक ही वाक्य में करते हुए कहते हैं—नमस्कृत्य०। 'परा अर्थात् वाङ्मयमात्र की अधिष्ठात्री देवी और शब्दब्रह्म की उससे अपृथक् परानामक शक्ति, जो बाहर उल्लसित होने की इच्छा से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इन तीन शरीरों में अधिष्ठित होती है, उसको नमस्कार कर चिकीर्षित ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिए उसके प्रति काय, वचन और मन से नम्र होकर अपने [गुरु रुय्यकाचार्य के] अलंकार सूत्रों का तात्पर्य वृत्ति लिख कर [मुझ मङ्खुक के द्वारा] बतलाया जा रहा है' यह हुई मंगलवाक्य की पदार्थयोजना।

उक्त मंगल पद्य में आए पदार्थों का लक्षणसहित विस्तृत अर्थ इस प्रकार है—"यह जो विमर्श रूप से ही विद्यमान परम अर्थ का चमत्कार है वही सभी पदार्थों का सार है। उसी को परा वाणी कहा जाता है।"

"उसी (परा वाणी) का नाम नाद है। वही सभी भूतों में जीव रूप से अवस्थित है। न उसका आदि है और न अन्त। वह अत्यन्त सूक्ष्म और अनश्वर है।"

"आदि और अन्त से परे जो ब्रह्म है वही शब्दतत्त्व है। उसी का नाम अक्षर है। अर्थतत्त्व इसी अक्षर तत्त्व का विवर्त्त है। वही संसार की विचित्र रचना की जड़ है॥

"निष्पन्न शब्द (कायाग्नि द्वारा प्रेरित प्राणवायु का मूर्धा से टकराकर कण्ठद्वारा शब्दरूप से निकल जाना) वैखरी वाणी है [जो कर्णगोचर होती है], मध्यमा (कान से नहीं सुनाई देकर केवल) स्मृति का विषय बनती है। पश्यन्ती अर्थ को द्योतित करती है और जो अत्यन्त सूक्ष्म पर वाक् है वह तो केवल ब्रह्मरूप ही है।"

—इत्यादि शास्त्रवचनों के अनुसार सर्वत्र और सदा उदित (कथित अथवा उदय को प्राप्त) जो शब्दब्रह्म की सूक्ष्म परा वाणी नामक शक्ति है उसका बाहर उन्मिषित होने समय जो प्रथम विवर्त्त होता है उसे पश्यन्ती कहा जाता है। जैसा कि कहा गया है—"पश्यन्ती अविभागा = विभागरहित होती है, उसमें क्रम बिल्कुल नहीं रहता। वह (पश्यन्ती) आत्मज्योति रूप ही है, अन्त सूक्ष्मा और अनपायिनी (अविनश्वर) है।" —इसका अर्थ है—अविभागा = अर्थात् (कण्ठ तालु आदि) स्थान तथा इन्द्रियों के (आभ्यन्तर और बाह्य) प्रयत्नों से वर्णों में जो भेद आ जाता है उससे रहित, और इसीलिए क्रमरहित, अन्तर्ज्योति स्वरूप अर्थात् स्वयप्रकाश, स्वरूप = अपना अर्थात् आत्मा का जो रूप वही ज्योति अथवा सर्वत्र सर्वविशायिनी शक्ति, जिसका अन्तराल अत्यन्त सूक्ष्म रहता है ऐसे बीज से अकुर के समान बाहर उन्मिषित होती अर्थात् कुछ-कुछ व्यक्तता की ओर उन्मुख होती तथा एक ओर परा और दूसरी ओर मध्यमा की स्थिति का तटस्थरूप से दर्शन करती हुई जो वाणी है वही पश्यन्ती कही जाती है। इस पश्यन्ती के बाद (आती है मध्यमा, उसका लक्षण है) "जो वाणी अन्तःसकल्प रूप है, जिसमें क्रम और रूप (अर्थात् वर्ण भेद) रहते हैं किन्तु जो प्राणवृत्ति से परे रहती है उसे मध्यमा वाणी कहा जाता है।" इसका अर्थ है—"मैं यह कहूँ" ऐसा जो मानस-विचार तत्स्वरूप और इसीलिए अन्तःसकल्पस्वरूप, प्राणवृत्ति से परे अर्थात् कानों से सुनाई पड़ने वाले वर्णों की अभिव्यक्ति से रहित, क्रमरूपानुपातिनी = मानसिक जो वर्णोच्चारण उसके अनुसार विवर्तित होने वाली वाणी मध्यमा कही जाती है। यह हुआ शब्द ब्रह्म का द्वितीय विवर्त। इसका नाम मध्यमा इसलिए है कि यह, वाणी के जो शेष दो विवर्त वैखरी और पश्यन्ती हैं इनके बीच रहती है। इसके पश्चात्— "स्थानों में वायु के विघृत होने पर वर्णरूप से व्यक्त वाणी वैखरी वाणी होती है। यह उच्चारयिता के प्राणव्यापार पर निर्भर रहती है।" —इस लक्षण के अनुसार स्थान और इन्द्रियों के प्रयत्न द्वारा क्रमपूर्वक व्यक्त होने वाली वाणी वैखरी वाणी होती है। यह कानों से सुनने योग्य दुन्दुभि, वीणा आदि के नाद के समान होती है। इसमें गद्गदादि कम्पन रहते हैं और गकारादि वर्णों के द्वारा बनने वाले वर्ण, पद तथा वाक्य भी। यह वाग्ब्रह्म का तीसरा विवर्त होता है। इस वाणी के लिए प्रयुक्त होने वाले 'वैखरी'—शब्द की निरुक्ति कुछ विद्वानों के अनुसार इस प्रकार है—'वि = विशिष्ट, ख = मुखरूप आकाश को र = ग्रहण करने वाला हुआ—'विखर' अर्थात् शरीर, उसमें उत्पन्न होने वाली हुई—'वैखरी'। यह हुआ मगल पद्य का स्तुतिपरक अर्थ। इसी मंगलपद्य के पूर्वार्ध के पदों की आवृत्ति करने पर वह तथ्य भी व्यक्त होता है जो प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपाद्य है। यथा—परावाणी = उत्तम काव्य की आत्मा ध्वनि जो अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्ति से परे रहती है। देवी = √दिव् धातु का अर्थ है क्रीडा, विजयेच्छा, द्युति, स्तुति, व्यवहार, मोद, मद, कान्ति, स्वप्न तथा गति। देवी शब्द में इन सभी अर्थों की योजना यथासभव की जा सकती है। क्रीडा अर्थ में देवी = शक्तिमान् कवियों तथा श्रोताओं में स्वभाव से स्वेच्छया समुच्छलित होती हुई अर्थात् क्रीडा करती हुई, विजिगीषा अर्थ में देवी = विजयेच्छा रखती हुई अर्थात् शब्द और उससे प्रकट अर्थको गौण बनाकर अवस्थित। द्युति अर्थ में देवी = द्योतित अर्थात् ध्वनित होती हुई, द्योतन और ध्वनन दोनों के पर्यायवाचक होने से द्योतमान का अर्थ हुआ ध्वनिसज्ञक। स्तुति अर्थ में देवी = स्तुत्य, (ध्वनि रूपसे) काव्यात्मा होने के कारण सभी सहृदयों द्वारा अभिनन्दित। व्यवहार अर्थ में देवी = सभी क्षेत्र में चलने वाली, कहीं भी स्खलित न होने वाली। मोद अर्थ में देवी = सुनने मात्र से परम आनन्द देने वाली। मद अर्थ में देवी = कवि और सहृदय में क्रम से निर्माण और अनुशीलन द्वारा एक विचित्र अहंकार पैदा करने वाली, कान्ति अर्थ में देवी = सभी व्यक्तियों द्वारा अभिलषणीय

(कान्ति = इच्छा)। त्रिविधविग्रहा = त्रिविध अर्थात् तीन प्रकार का है विग्रह अर्थात् व्यतिरेकी ग्रह यानी व्यतिरेकद्वारा प्रमात्मक ज्ञान कराने का प्रकार जिसमें; जैसे "गंगा पर घोष है" इत्यादि वाक्यों में घोष में जो शैत्यपावनत्वादि धर्मों का ज्ञान होता है उसमें अभिधा कारण नहीं होती क्योंकि शैत्य आदि अर्थों में गंगाशब्द की वाचकता (संकेतग्रह) नहीं रहती, न तात्पर्यशक्ति ही क्योंकि तात्पर्यशक्ति गंगा और घोष आदि में आधाराधेयभाव आदि संबन्धमात्र का ज्ञान कराकर नष्ट हो जाती है, न लक्षणा ही, क्योंकि लक्षणा के हेतु मुख्यार्थबाध आदि यहाँ नहीं रहते। फलतः अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न चतुर्थ कक्षा में निहित व्यञ्जनाव्यापार से शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान हो पाता है। [इससे स्वयं विमर्शिनीकार ही आगे विचार करेंगे]। दूसरे प्रकार से (त्रिविधविग्रहा) शब्दमूलक, अर्थमूलक और उभयमूलक, अतः तीन प्रकार का है विग्रह अर्थात् वि = विशेषणों भेदों का ग्रह=ज्ञान जिसमें। ऐसी उस उत्तम काव्यरूपा परा (शक्ति) को नमस्कार करने का अर्थ है मंगलाचरण के माध्यम से सूत्रात्मक ढंग से कुछ निर्देश करना, न कि सूत्र द्वारा तात्पर्य कथन और वृत्ति द्वारा लक्षणपरीक्षा आदि के विस्तार के साथ। अपने अलंकारसूत्रों का तात्पर्य वृत्ति द्वारा बतलाने का अभिप्राय है कि यहाँ ध्वनि का तो केवल थोड़ा सा नामकथन मात्र रहेगा, अर्थात् "इह हि तावद् भामह०" इत्यादि द्वारा [इस पर अधिक विचार नहीं होगा] इस विषय की चर्चा इतने में ही समाप्त हो जावेगी।

निज = निज इसलिए कहा कि किसी को यह ज्ञान न हो कि किसी अन्य के बनाए सूत्रों का तात्पर्य बतलाया जा रहा है। इससे यह भी ध्वनित हुआ कि अन्य आचार्यों ने ऐसे सूत्र नहीं बनाए हैं। **तात्पर्यम्** = तात्पर्य=संक्षिप्त अर्थ का प्रकाशन। अन्यथा यदि इन अलंकारसूत्रों का तात्पर्य विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया जाए तो बहुत बड़ा ग्रन्थ रचकर भी उसका पार पाना संभव न होगा। शंका होती है कि—"आदि वाक्य का प्रयोग अभिधेय और प्रयोजन का प्रतिपादन करने के लिए किया जाना चाहिए जिससे श्रोताओं में उत्साह बना रहे—इस नियम के अनुसार श्रोता की प्रवृत्ति के लिए सभी ग्रन्थों में प्रथम वाक्य में अभिधेय तथा प्रयोजन आदि का प्रतिपादन किया जाता है। यहाँ वह नहीं बतलाया गया। फलतः इसकी ओर श्रोताओं [या पाठकों] की प्रवृत्ति कैसे होगी।" [उत्तर] ऐसा नहीं है। यहाँ अभिधेय है अलंकार, क्योंकि यहाँ उन्हीं का साक्षात् नामोल्लेख है। उनका अभिधायक है ग्रन्थनाम—'अलंकारसर्वस्व'। अभिधान और अभिधेय का वाच्यवाचकभाव संबन्ध रहता ही है, अतः उसका ज्ञान अपने आप हो जाता है। इन [अलंकारों] का अभिधायक इस प्रकार का कोई और ग्रन्थ नहीं है क्योंकि वह मिलता नहीं है। यदि [ऐसा कोई ग्रन्थ] होता तो खोजने पर मिलता ही। इसीलिए अन्य अलंकार ग्रन्थों से इसके अन्तर की घोषणा करने के लिए कहा—**'तात्पर्यमुच्यते'**। अभिधेय हैं यहाँ **अलंकार** अर्थात् काव्य के अलंकार न कि लौकिक अलंकार। इस प्रकार अलंकार शोभा बढ़ाते हैं काव्य की और—'काव्य यश प्राप्त कराता है, धन दिलाता है, व्यवहार का ज्ञान कराता है, अमंगल का शमन करता है, तत्काल परा शान्ति देता है तथा कान्तासम्मित [माधुर्य-भूमिका द्वारा] उपदेश भी देता है।' [काव्यप्रकाश के] इस वचन के 'अर्थ' शब्द से गृहीत [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इन] चारों पुरुषार्थों की जो प्राप्ति तद्रूपी प्रयोजन सिद्ध करते हैं, क्योंकि अलंकार काव्य से पृथक् नहीं होते। इन दोनों [पुरुषार्थ रूपी प्रयोजन तथा अलंकार] का संबन्ध है साध्यसाधनभावात्मक। [अलंकार साधन हैं और पुरुषार्थ साध्य] इस प्रकार आदि वाक्य में श्रोता में श्रवण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने की क्षमता सिद्ध ही है।

विमर्शिनी

ननु यदीहालंकारा अभिधेयास्तर्हि तदलंकार्योऽप्यभिधेयः। 'अलंकारा अलंकार्यापेक्षाः' इति नीत्या स एवैष को नाम यदुपस्कारकत्वेनैतत्स्वरूपमभिधीयत इत्याशङ्क्य तदवतरणिकामेव वक्तुमुपक्रमते—इहेत्यादिना।

शंका होती है कि यदि इस ग्रन्थ में अलंकारों का प्रतिपादन करना है तो उनसे जो तत्त्व अलंकृत होते हैं उन अलंकार्यों का भी प्रतिपादन होना चाहिए। अर्थ यह कि 'अलंकार अलंकार्यसापेक्ष होते हैं—इस नियम के अनुसार प्रश्न इस तत्त्व के विषय में है जिसका उपस्कार करने वाले तत्त्व के रूप में अलंकार का निरूपण किया जा रहा है। इसके उत्तर में कहते हैं—

[सर्वस्व]

इह हि तावद् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरंतनालंकारकाराः प्रतीयमानमर्थं वाच्योपस्कारकतयालंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते। तथाहि—पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसासमासोक्त्याक्षेपव्याजस्तुत्युपमेयोपमानन्वयादौ वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्' इति यथायोगं द्विविधया भङ्ग्या प्रतिपादितं तैः।

रुद्रटेनापि भावालंकारो द्विधोक्तः। रूपकदीपकापह्नुतितुल्ययोगितादावुपमाद्यलंकारो वाच्योपस्कारकत्वेनोक्तः। उत्प्रेक्षा तु स्वयमेव प्रतीयमाना कथिता। रसवत्प्रेयःप्रभृतौ तु रसभावादिर्वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः। तदित्थं त्रिविधमपि प्रतीयमानमलंकारतया ख्यापितमेव।

इस (अलंकारशास्त्र) में (ध्वनिवादी आचार्यों से) प्राचीन आचार्य भामह और उद्भट आदि के जो आरम्भिक सिद्धान्त हैं उनमें (ध्वनिवादी द्वारा प्रधानरूप से स्थापित) प्रतीयमान अर्थ को वाच्य अर्थ का शोभाधायक अतएव (अप्रधान) अलंकार स्वरूप माना गया है। इन आचार्यों के अनुसार पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि अलंकारों में वस्तु की (व्यंजना या अनुमान से) प्रतीति होती है किन्तु वह वाच्यार्थ की शोभाधायक होती है। इस तथ्य को उन्होंने दो प्रकार से स्पष्ट किया है (१) "अपनी सिद्धि के लिए (वाच्यार्थ द्वारा) दूसरे अर्थ का आक्षेप", (२) "दूसरे के प्रति (वाच्यार्थ द्वारा) अपना समर्पण"। रुद्रट ने भी (वस्तुध्वनि को वाच्य की शोभा बढ़ाने वाला बतलाने वाला) भावनामक अलंकार माना है और उसके दो भेद बतलाए हैं।

(इस वर्ग के आचार्यों ने) रूपक अपह्नुति, तुल्ययोगिता आदि में उपमादि अलंकारों को वाच्यार्थ का उपस्कारक कहा है। (उद्भट ने तो) उत्प्रेक्षा (के एकभेद) को प्रतीयमान ही कहा है। (भामह और उद्भट ने) रसवत् और प्रेय आदि अलंकारों में रस और भाव आदि को वाच्यार्थ का शोभाहेतु बतलाया है। इस प्रकार (वस्तु, अलंकार और रस ये) तीनों ही प्रकार के प्रतीयमान अर्थ को इन आचार्यों ने अलंकारस्वरूप ही बतलाया है।

विमर्शिनी

प्रभृतिना दण्ड्यादयः। तावच्छब्दो विप्रतिपत्त्यभावद्योतकः। चिरंतनेत्यादि। ध्वनिकारमतमेभिर्न दृष्टमिति भावः। प्रतीयमानमिति। वाच्यव्यतिरिक्तत्वेन स्वसंवेदनसिद्धमपीत्यर्थः। अर्थमिति। विश्रान्तिस्थानतया परमोपादेयतालक्षणम्। वाच्योपस्कारकतयेति। वाच्योपस्कारकत्वं ह्यलंकाराणामात्मभूतम्। अलंकारपक्षनिक्षिप्तमिति। समग्रालंकारान्तर्भूतं न

पुनस्तद्व्यतिरिक्तमित्यर्थः। मन्यन्त इति। तथात्वेन सम्यन्ते न पुनस्तथा संभवतीत्यर्थः। नह्यभिमननमात्रेणैव भावानामन्यथाभावो भवतीति भावः। एतदेव दर्शयति—तथाहीत्यादिना। तैर्वस्तुमात्रं गम्यमानं वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपादितमिति संबन्धः। वस्तुमात्रं न पुनरलंकारा रसश्च। स्वसिद्धय इति। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तैरात्मनः प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। तैर्विना तेषां प्रवेशासिद्धेः। 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तु गङ्गाशब्दः परत्र तटे घोषाधिकरणतासिद्धये स्वात्मानमर्पयति। स्वयं तस्य घोषाधिकरणत्वासंभवात्। यथायोगमिति। क्वचिद्धि वाच्योऽर्थः स्वसिद्धये परं प्रतीयमानमर्थमाक्षिपति। क्वचिच्च स्वयमनुपपद्यमानः सन्प्रतीयमान एवार्थे स्वं समर्पयति। तेन यत्र यादृक्तत्र तादृगेव योज्यमित्यर्थः।

प्रभृति शब्द से दण्डी आदि की ओर संकेत है। **तावत्** = आरम्भिक—शब्द द्वारा उन सिद्धान्तों में विप्रतिपत्ति न होना संकेतित किया गया। **चिरंतन** = प्राचीन कहकर यह बतलाया गया कि इन आचार्यों ने ध्वनिकार का मत नहीं देखा है। **प्रतीयमान** = वाच्य से भिन्न रूप से सबको अनुभव में आने वाला। **अर्थ** = उसी में तात्पर्य की विश्रान्ति रहती है अतः वही परमोपादेय होता है। **वाच्योपस्कारक** = वाच्य की शोभा बढ़ाने वाला होना ही अलंकारों की अलंकारता है। **अलंकारपक्ष निक्षिप्त** = पूरे के पूरे को अलंकार के अन्तर्गत मानना, उससे भिन्न नहीं। **मन्यन्ते** = ऐसी उनकी मान्यता है, परन्तु ऐसा होता नहीं है। अर्थ यह कि किसी की धारणामात्र से किसी वस्तु का बदल जाना संभव नहीं। **वस्तुमात्र** = केवल वस्तु, अलंकार और रस नहीं। **स्वसिद्धये** = अपनी सिद्धि के लिए। "भाले भीतर जा रहे हैं" (कुन्ताः प्रविशन्ति) इत्यादि वाक्यों में भाले आदि शब्द भीतर जाने रूपी क्रिया में (जड़ होने के कारण असंभव) अपना कर्तृत्व सिद्ध करने के लिए स्वयं का धारण करने वाले (चेतन) पुरुषों का आक्षेप कर लेते हैं। क्योंकि उन (पुरुषों) के बिना उन (भालों) का भीतर जाना संभव नहीं। (यह हुआ अपनी सिद्धि के लिए अपना अर्थ बिना छोड़े दूसरे अर्थों का ग्रहण) 'गंगा जी पर घोष' इत्यादि उदाहरणों में (स्थिति भिन्न है, यहाँ) गंगा का अर्थ है विशिष्ट जलप्रवाह, वह घोष का आश्रय नहीं बन सकता, अतः उस—(आश्रयता) की सिद्धि के लिए गंगा शब्द प्रवाहरूपी अर्थ को सर्वथा छोड़ देता है और तटरूप अर्थ को अपना लेता है क्योंकि वह घोष का आश्रय बन सकता है। यही उसका स्वसमर्पण कहलाता है। **यथायोगम्** अर्थात् वाच्य अर्थ कहीं तो दूसरे प्रतीयमान अर्थ का आक्षेप अपनी सिद्धि के लिए करता है और कहीं अपने आप असिद्ध रहने के कारण अपने आपको प्रतीयमान अर्थ को समर्पण कर देता है। अतः वाच्य अर्थ की जहाँ जैसी स्थिति हो वहाँ वैसी ही स्थिति समझ लेनी चाहिए।

विमर्शिनी

तत्र पर्यायोक्तं यथा—

'अधावीरो लङ्कामयमयमुदग्रन्त्सतरद्धिसल्यां सौमित्रेरयमुपनिनायौषधिदनाद्।
इति स्मारं स्मारं त्वदरिवलभीचित्रलिखितं हनूमन्तं दन्तैर्दशति कुपितो राक्षसगणः॥'

अत्र राक्षसगणवृत्तान्तो वाच्यः सन् स्वसिद्धये परं कारणरूपमरिपलायनाद्याक्षिपति। तत्पलायनाद्यन्तरेण राक्षसवृत्तान्तस्यासंगतेः। अप्रस्तुतप्रशंसा यथा—

'प्राणा येन समर्पितास्तव बलाद्येन त्वमुत्थापितः
स्कन्धे यस्य चिरं स्थितोऽसि विदधे यस्ते सपर्यामपि।
तस्यास्य स्मितमात्रकेण जनयन्प्राणापहारक्रियां
भ्रातः प्रत्युपकारिणां धुरि परं वेतालीलायसे॥'

अत्र वेतालचरितमप्रस्तुतं प्रकरणादिवशेन स्वयमनुपपद्यमानं सत् प्रस्तुते कृतघ्नवृत्तान्ते स्वं समर्पयति। समासोक्तिर्यथा—

'दन्तक्षतानि करजैश्च विपाटितानि प्रोद्भिन्नसान्द्रपुलके भवतः शरीरे।
दत्तानि रक्तमनसा मृगराजवध्वा जातस्पृहैर्मुनिभिरप्यवलोकितानि॥'

अत्र बोधिसत्त्वे नायकव्यवहारो न सम्भवतीति स्वसिद्ध्यर्थं नायकत्वमाक्षिपति। आक्षेपो यथा—

'किं भणिमो भण्णइ कित्ति अथ किं वा इमेण भणिएण।
भण्णिहिसि तहवि अहवा भणामि किं वा ण भणिओमि॥'

अत्र वक्ष्यमाणविषयो भणननिषेधो वाच्यः सन् वक्तुमेवोपक्रान्तस्य निषेधानुपपत्तेः स्वयमविश्राम्यन् स्वात्मसमर्पणेन त्वां प्रति मरिष्यामि अथवा म्रिये यद्वा मृता यावद्वहमिति विधित्रयमर्थान्तरमाक्षिपति। यत्त्वत्रान्यैः 'वाच्योऽर्थः स्वसिद्धयेऽर्थान्तरमाक्षिपति' इत्युक्तं तदयुक्तमेव। तथात्वे हि निषेध एव पर्यवसितः स्यान्न निषेधाभास इत्याक्षेपालंकार एव न स्यात्। 'आमुखावभासमानो हि निषेधः' आक्षेपलक्षणम्। न च विधिनिषेधयोर्विरोधात्साध्यसाधनभावो युक्तः। व्याजस्तुतिर्यथा—

'इहिण पहुणोपहुणो पहुत्तणं किं चिरंतणपहूण।
गुणदोसा दोसगुणा एहिँ कआ णहु कआ तेहिँ॥'

अत्र चिरंतनानां निन्दा वाच्या सती स्वयमनुपपद्यमाना स्तुतावात्मानमर्पयति। तद्रूपत्वेन वस्तुदर्शिताया निन्दाया असंभवात्। एवमद्यतनानामपि स्तुतिर्निन्दायामात्मानमर्पयति। तस्या अपि विपरीततया तद्रूपत्वेनासंभवात्। यत्पुनरत्रान्यैः स्वसिद्धये पराक्षेपो व्याख्यातस्तदुपेक्ष्यमेव। यतोऽत्र चिरतनानां स्तुत्याक्षेपेण निषिद्धा निन्दैव प्रतीयेत, अद्यतनानां च निन्दाक्षेपेण निषिद्धा स्तुतिरेवेति वाक्यार्थविप्रलोप एव पर्यवसितः स्यादिति नैतद्युक्तम्। किं च लक्षणायामपि स्वसिद्धये पराक्षेपो न युक्तः। तथात्वे हि लक्षणायाः स्वरूपहानिः स्यात्। वाच्यलक्षणस्यैव स्वस्य सिद्धत्वान्मुख्यार्थबाधाभावात्। न चैकदा एकस्य बाधः सिद्धिश्चेति वक्तुं युक्तम्। विप्रतिषिद्धं ह्येतत्। बाध्यस्यैव यत्प्रसिद्धिस्तदभिधेव स्यान्न लक्षणा। तस्या हि मुख्यार्थबाध एव जीवितम्। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादौ च कुन्तानां स्वयं प्रवेष्टुमसंभवान्मुख्यार्थबाध एवेति परस्य कुन्तवद्रूपस्य लक्ष्यस्यैवार्थस्य प्राधान्यम्। अतश्च लक्षणायां बाधितः सन्मुख्योऽर्थः परत्र लक्ष्ये एव स्वं समर्पयतीत्येव युक्तम्। ननु यद्येवं तत्पर्यायोक्तादौ वाच्यसिध्यर्थं परस्य लक्ष्यस्याक्षेपः प्रतीयत इति तत्र किं प्रतिपत्तव्यम्। इदं प्रतिपत्तव्यम्—अत्र हि लक्षणाया एव नावकाशः। तत्र हि कथमहं स्यामिति वाच्यं सत् कार्यं तदविनाभावात्परं कारणमाक्षिपत्नीत्याक्षेपेणैव सिद्धेस्तस्या अनुपयोगः। 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यत्र यथा कथं मे श्रुतिचोदितमनुबन्धनं स्यादिति जात्या व्यक्त्यविनाभावाद्व्यक्तिराक्षिप्यते न तु लक्ष्यते तथैवात्रापि कार्यकारणयोर्ज्ञेयम्। एवं समासोक्तावपि नायकव्यवहारस्तदविनाभावित्वादेव नायकत्वमाक्षिपतीत्यत्रापि लक्षणामूलत्वं नाशङ्कनीयम्। ग्रन्थकृता पुनरेतच्चिरंतनमतानुवादपरतयोक्तम्। अस्माभिस्तु प्रसङ्गाद्वस्तु पर्यालोचितमित्यलं बहुना।

पर्यायोक्तालंकार जैसे [कोई कवि अपने आश्रयदाता की स्तुति में कह रहा है कि "हे देव] हमने हमारी लङ्का को जला डाला, इसने समुद्र को भी पार कर लिया, इसने ओषधि के वन में से विशल्या नामक ओषधि लक्ष्मण के लिए ला पहुँचाई'—ऐसा स्मरण कर करके कुपित हुए राक्षस लोग आपके शत्रुओं की वल्भी (चन्द्रशाला) में चित्रलिखित हनूमान् को दाँतों से डँसने लगते हैं।"

यहाँ अभिधावृत्ति से तो कथित है राक्षसों का व्यवहार, पर वह व्यंजना से प्रतीत "राजा के शत्रुओं का भागना आदि" अर्थ के बिना संभव नहीं है, अतः वह (वाच्य राक्षस वृत्तान्त) उस (प्रतीयमान शत्रुपलायन आदि) का आक्षेप कर लेता है। उस (प्रतीयमान) का आक्षेप इसलिए संभव भी है कि वह उस (वाच्य) का कारण है (अर्थात् स्तूयमान राजा के शत्रुराजाओं के भवनों में राक्षसों का रहना और चित्रलिखित हनुमान् जी को दाँतों से डँसना तब संभव है जब वे राजा भवन छोड़ कर भाग गए हों)। बिना राजाओं के भागे राक्षसों का चित्रित हनुमान् को डँसना आदि व्यापार संभव नहीं।

अप्रस्तुत प्रशंसा जैसे—"हे भाई वेताल [जगाया हुआ शव] केवल तुम्हीं प्रत्युपकारी व्यक्तियों में वरिष्ठ हो, क्योंकि तुमने उस व्यक्ति को भी केवल मुसकुराहट भर में निष्प्राण कर दिया जिसने अपने उद्योग से तुम्हारे भीतर बलात् प्राण डाले, [मृत पड़े] तुम्हें [जगाकार] खड़ा किया, जिसके कन्धे पर भी तुम काफी समय तक चढ़े रहे और न केवल इतना ही, जिसने तुम्हारी पूजा भी की।" यहाँ वेताल का चरित [किसी भी व्यक्ति द्वारा वेताल को ऐसा उपालम्भ देना] अपने आपमें अनुपपन्न है, फलतः वह किसी कृतघ्न के वृत्तान्त के रूप में पर्यवसित हो जाता है, और प्रतीत होता है कि वक्ता का लक्ष्य कोई कृतघ्न व्यक्ति है।

[अप्रस्तुत प्रशंसा में अभिधा द्वारा अप्रस्तुत और प्रस्तुत व्यंजना द्वारा प्रतिपादित होता है। यहाँ कृतघ्न प्रस्तुत या वर्ण्य है किन्तु शब्दों द्वारा वर्णन किया जा रहा है तत्सदृश वेताल का। अतः यह सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है।

वेताल को उपालम्भ देना इसलिए अव्यवहार्य है कि वेताल उपालम्भकर्ता को भी चट कर सकता है।]

"रक्तचित्त (सिंही = खून की इच्छा, नायिका = अनुरागयुक्त चित्त से) सिंहिनी ने (हे बोधिसत्त्व) पर्याप्तमात्रा और सघनता के साथ उभरे पुलक से युक्त आपके शरीर में जो दन्तक्षत और नखक्षत किए हैं उन्हें निःस्पृह मुनियों ने भी सस्पृह होकर देखा।" इस पद्य में (दो व्यवहार प्रतीत हो रहे हैं एक नायिका द्वारा अनुरक्तचित्त से नायक के सात्त्विकभाव रोमांचादि से युक्त शरीर में दन्तनखक्षत की प्रणयलीला और दूसरा—रक्तपानेच्छु सिंहीद्वारा बोधिसत्त्व के वेदना से रोमांचित शरीर पर दाँत तथा नखों से घाव करना। इनमें से जो) नायिका नायक व्यवहार है वह (वीतराग) बोधिसत्त्व में संभव नहीं अतः उसका आक्षेप करना पड़ता है।

[समासोक्ति के विषय में सामान्य मत यह है कि उसमें वाच्यार्थ के अनुपपन्न हुए बिना व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। यहाँ यह नवीन तथ्य स्वीकार किया जा रहा है कि "वाच्यार्थ की अनुपपत्ति के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो रही है।" जो बोधिसत्त्व है उसमें रति के सात्त्विक अनुभाव रोमांच आदि सचमुच संभव नहीं अतः उसमें नायकत्व का आक्षेप विवश होकर करना है।]

आक्षेप जैसे—'किं भणामो भण्यते कियदिवाथ किं वानेन भणितेन।
भणिष्यते तथाप्यथवा भणामि किंवा न भणितोऽसि ॥

'क्या कहूँ? कहा भी कितना जाय? कहने से भी लाभ क्या? तब भी कहा तो जाएगा ही। तब भी अन्ततः कहूँगी क्या, और [तुमसे] कुछ कहा नहीं गया है क्या?।' यहाँ उस वक्तव्य के कथन का निषेध अभिधाद्वारा बतलाया जा रहा है जो अभी कहा जाने वाला है, कहा गया नहीं है। परन्तु यह एक असंभव बात है कि जिसका अस्तित्व ही नहीं उसका अभाव बतलाया जाए, अतः यह निषेध संभव नहीं होता, फलतः वह अपने आपको—'तुम्हारे लिए मर जाऊँगी, मर रही हूँ अथवा यह मरी'—इन तीन प्रकार के विधियों के रूप में ढालकर इन अर्थों

का आक्षेप करना है। अन्य [आचार्य] का यह कहना अमान्य है कि 'यहाँ [निषेधरूपी] वाच्य अर्थ अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप करता है', क्योंकि ऐसा मानने पर वाच्यार्थरूप निषेध ही प्रधान रहता है, उसका आभास नहीं। फलतः आक्षेप अलङ्कारता को ही प्राप्त नहीं होता, क्योंकि आक्षेपालङ्कार का लक्षण है-'आरम्भ मात्र में भासित होने वाला निषेध (सर्व०)।' विधि और निषेध परस्पर विरोधी होते हैं अतः यह सम्भव नहीं है कि इनमें परस्पर साध्यसाधनभाव हो।

[विमर्शिनीकार का यह मत यहाँ अमान्य है कि विधिनिषेध में साध्यसाधनभाव नहीं होता। "भ्रम धार्मिक " आदि उदाहरणों में विधि से निषेध और "गन्तासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिके" आदि उदाहरणों में निषेध से विधि का ज्ञान साहित्य में बहुत चर्चित है। जहाँ साध्यसाधनभाव ज्ञाप्यज्ञापकभावरूप होता है वहाँ विधिनिषेध का परस्पर विरोध उसका विरोधी नहीं होता।]

व्याजस्तुति जैसे—"अधुना प्रभव प्रभव प्रभुत्वं किं चिरन्तनप्रभूणाम्।
गुणदोषा दोषगुणा यैभि कृता न खलु कृतास्तैः॥"

"'आज के जो प्रभु हैं वे ही वस्तुतः प्रभु कहने योग्य हैं, प्राचीन प्रभुओं में प्रभुत्व कहाँ था। गुणों को दोष और दोषों को गुण ये (नवीन प्रभु) ही जो बना सके हैं, प्राचीन नहीं।

यहाँ प्राचीनों की निन्दा अभिधा से कथित है किन्तु वह अपने आप में अनुपपन्न है और स्तुति के रूप में बदल जाती है। क्योंकि प्राचीनों में गुणों को दोष और दोषों को गुण न करने की जो बात कही गई है उससे उनकी निन्दा निन्दा नहीं रह पाती। इसी प्रकार आधुनिक या नवीनों की अभिधा से कथित स्तुति निन्दा के रूप में परिणत हो जाती है क्योंकि गुणों को दोष और दोषों को गुण सिद्ध करने की बात स्तुति के विपरीत है। यहाँ अभिधेयार्थ का न बदलना और अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ को अपना भर लेना जिन्हें मान्य है वे [अलङ्काररत्नाकरकार आदि] उपेक्षणीय हैं, क्योंकि वैसा मानने पर चिरतनों के प्रति स्तुति से आक्षिप्त निन्दा ही प्रतीत होती और नवीनों के प्रति निन्दा से आक्षिप्त स्तुति ही। और ऐसा होने पर काव्यवाक्य का तात्पर्यभूत अर्थ (प्राचीनों की स्तुति और नवीनों की निन्दा) निष्पन्न नहीं होता। अतः 'स्वसिद्धये पराक्षेपः" मत यहाँ अमान्य ही है। एक यह भी आपत्ति है कि यहाँ लक्षणा द्वारा स्वसिद्धि के लिए दूसरे का आक्षेप होता है क्योंकि वैसा मानने पर लक्षणा को नहीं बनती। क्योंकि वाच्यार्थ के वाच्यार्थ रूप में ही बने रहने से उसमें कोई आपत्ति नहीं उठती जिससे लक्षणा हो (अर्थात् नवीनों की स्तुति और प्राचीनों की निन्दा में कोई आपत्ति न होने पर उन्हें बदलने और तद्विपरीतार्थ का आक्षेप करने का प्रश्न ही नहीं उठ सकेगा।) यह भी नहीं कहा जा सकता कि वाच्य की सिद्धि होती है अन्त में और बाध होता है आरम्भ में अतः बात भी असम्भव नहीं फलतः लक्षणा होना भी सम्भव है" क्योंकि यह मानना परस्पर विरुद्ध है क्योंकि यदि अन्ततोगत्वा वाच्य की ही सिद्धि करनी है तो उसका बाध आरम्भ में भी उपेक्षणीय ही होगा और तब अभिधा ही वाच्य में मानी जाएगी लक्षणा नहीं। जहाँ तक लक्षणा का सम्बन्ध है उसका बीज बाध ही है। "भाले भीतर जाते हैं" आदि वाक्यों में (अचेतन) भाले आदि का भीतर जाना सम्भव नहीं अतः मुख्य या अभिधेय अर्थ बाधित ही रहता है और "भालेवाले पुरुष"—रूपी अर्थ लक्ष्य और प्रधान रहता है। इसलिए (व्याजस्तुति की) लक्षणा में मुख्य अर्थ बाधित होकर अपने से भिन्न लक्ष्य अर्थ में अपने आपको मिला देता है यही मानना उचित है।

प्रश्न उठता है यदि (व्याजस्तुति में) ऐसा है तो पर्यायोक्त आदि में भी जहाँ वाच्यार्थ की सिद्धि के लिए उससे भिन्न लक्ष्य अर्थ का आक्षेप होता हुआ प्रतीत होता है वहाँ क्या मानना होगा। यह मानना होगा = पर्यायोक्त में लक्षणा का कोई अवसर नहीं है। क्योंकि वहाँ वाच्य और

व्यंग्य में कार्यकारणभाव रहता है अतः वाच्य "मैं कैसे निष्पन्न होऊँ" ऐसा सोचकर अपने कारण व्यंग्य का आक्षेप या अनुमान कर लेता है और उसी से उस (वाच्य) की निष्पत्ति हो जाती है, फलतः (यहाँ पर्यायोक्त में) लक्षणा का कोई उपयोग ही नहीं रहता। जैसे "बैल का अनुबन्धन किया जाय" इस श्रुति वाक्य में (गोत्व जातिस्वरूप) अर्थ का वाचक बैल शब्द जातिरूप अपने अर्थ का अनुबन्धन संभव हो इसलिए उससे नित्य सम्बद्ध व्यक्तिरूप (शरीररूप) अर्थ का आक्षेप कर लेता है वैसे ही यहाँ (पर्यायोक्त के) कार्यकारणभाव रूपी संबन्ध में भी संभव जानना चाहिए। इसी प्रकार समासोक्ति में भी नायक का व्यवहार नायक से कदापि अलग न होने वाले नायकत्व का आक्षेप कर लेता है, अतः वहाँ भी 'लक्षणा से वह अर्थ प्रतीत होता है' ऐसी शंका नहीं की जा सकती। ग्रन्थकार ने (स्वसिद्धये पराक्षेप) यह बात प्राचीन के मत का अनुवाद करने के लिए कह दी और हमने भी अवसर पाकर उसका आवश्यक पर्यालोचन कर दिया, अतः अधिक विस्तार आवश्यक नहीं। ग्रन्थकार ने पर्यायोक्तादि में वस्तुध्वनि को वाच्य का उपस्कारक बतलाकर अन्त में "स्वसिद्धये पराक्षेपः" और "परार्थे स्वसमर्पणम्" ये दो सूत्र दे दिए हैं जो क्रमशः उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा के लक्षण बतलाए गए हैं। इससे सामान्यतः यह धारणा बनती है कि ग्रन्थकार पर्यायोक्त आदि सभी अलंकारों में लक्षणा मानते हैं, परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। ग्रन्थकार ने ये सूत्र केवल प्राचीन मत प्रस्तुत करने के लिए दे दिए हैं। उन्हें सभी अलंकारों में लक्षणा मान्य नहीं है।

[ऐसा लगता है कि "स्वसिद्धये०" इत्यादि वाक्य प्राचीन आलंकारिकों में लक्षणालक्षण के रूप में प्रचलित नहीं थे। केवल मम्मट ने काव्यप्रकाश में इन्हें लक्षणालक्षण के रूप में दे दिया है। मूल ग्रन्थ और टीका दोनों के रचयिता मम्मट के बाद हुए हैं अतः यहाँ लक्षणा का विवेचनप्रस्तुत करना आवश्यक था। व्याजस्तुति में भी टीकाकार के अनुसार ग्रन्थकार को लक्षणा मान्य नहीं है। सूत्र अलंकारों में लक्षणा की सी प्रक्रिया प्रतीत होती है अतः लक्षणा का भ्रम नहीं होना चाहिए। इन अलंकारों में 'अन्य' शब्द से जिस आचार्य का खण्डन किया गया है वे कदाचित् अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमित्र हैं। उद्धृत अलंकारों के आगे आ रहे प्रकरणों में उनके मत देखे जा सकते हैं।]

विमर्शिनी

उपमेयोपमा यथा—

'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसंनिभैः। भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम् ॥'

अत्र द्वयोः परस्परमुपमानोपमेयत्वं वाच्यं सत् स्वयमनुपपद्यमानमुपमानान्तरविरह-लक्षणे परत्र वस्त्वन्तरे स्वं समर्पयति। अनन्वयो यथा—

'भवानिव भवानेव भवेद् यदि परं भव। स्वशक्तिव्यूहसंव्यूढत्रैलोक्यारम्भसंहृतिः ॥'

अत्रैकस्यैवोपमानोपमेयभावो वाच्यः सन्द्वितीयसब्रह्मचार्यभावे परत्र वस्त्वन्तरे स्वं समर्पयति। आदिशब्दः प्रकारे। तेनाक्षिप्तविध्याभासाक्षेपादेर्ग्रहणम्। यथा—

'भवतु विदितं व्यर्थालापैरलं प्रिय गम्यतां तनुरपि न ते दोषोऽस्माकं विधिस्तु पराङ्मुखः। तव यदि तथा रूढं प्रेम प्रपन्नमिमां दशां प्रकृतितरले का नो पीडा गते हतजीविते ॥'

अत्र कान्तप्रस्थानविधिर्वाच्यः सन्निषेद्धुमेवोपक्रान्तस्य विधानानुपपत्तेः स्वयम-विश्रान्तः स्वसमर्पणेन निषेधमाक्षिपति। एवं द्विविधया भङ्ग्या गम्यमानं वस्तुमात्रं वाच्योपस्कारकमेवेत्युक्तम्।

एवमपि प्रतीयमानस्यार्थस्य विविक्तविषयान्तरोपालम्भादलंकारान्तर्भावो न सिध्य-तीत्याशङ्क्याह—रूपकेत्यादि। द्विधेति। गुणीभूतागुणीभूतवस्तुविषयत्वेनेत्यर्थः। यदाह—

'यस्य विकारः प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्रायं तत्प्रतिबन्धं च भावोऽसौ॥
ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥
अभिधेयमभिदधानं तदेव तदसदृशगुणदोषम्।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वाक्यं सोऽपरो भावः॥
एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मद्गृहे गृहपतिः स गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥' इति।

यद्वा द्विधेति पूर्ववदेव लक्षणाद्वयाश्रयेण व्याख्येयम्। तेनाद्ये स्वसिद्धये पराक्षेपः, परत्र ॥ अपरार्थं स्वसमर्पणम्। यस्त्वन्यैर्भावो निर्वेदादिभिरुपलक्षितो वाच्यप्रतीयमानत्वेन द्विविधो भावालंकारो व्याख्यातस्तदुरसूत्रमेव। रुद्रटेन तथात्वेन तस्याप्रतिपादनात्। तत्रापि च वस्तुमात्रस्य वाच्योपस्कारकत्वाभिधानसमये वक्तुमुचितत्वात्। तदेवं गुणीभूताऽगुणीभूतत्वेन द्विप्रकारं वस्तु तावद्वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपादितम्।

उपमेयोपमा जैसे—"रथों से उठाई धूल और मेघोपम हाथियों से भूतल को आकाश और आकाश को भूतल सा बनाता हुआ (रघु दिग्विजय के लिए चला)।" यहाँ दोनों (भूतल और आकाश) की एक दूसरे के साथ की गई उपमा अभिधावृत्ति से प्रतिपादित है किन्तु यह अपने आपमें चमत्कारक नहीं बन पाती फलतः तीसरे किसी अन्य उपमान के अभाव या निषेध-रूपी अर्थ में अपना समर्पण कर देती है।

[उपमेयोपमा में चमत्कार माना जाता है तृतीयसदृशव्यवच्छेद अर्थात् किसी तृतीय समान वस्तु के निराकरण में। प्रस्तुत पद्य में भूतल और आकाश की परस्पर उपमा अपने आपमें नहीं बनती ऐसी बात नहीं है केवल परस्परोपमा में कोई चमत्कार नहीं है, चमत्कार तृतीयसदृशव्यवच्छेद में है। अतः हमने अनुपपद्यमान का अर्थ "अचमत्कारक" किया है।]

अनन्वय जैसे—(हे भगवन्) अपनी शक्ति के व्यूह से तीनों लोकों का निर्माण और संहार का चक्र चलाने वाले आप यदि किसी के समान हो सकते हैं तो केवल आपके ही समान।" यहाँ एक ही पदार्थ का उपमेय और उपमान होना वाच्य है किन्तु वह पर्यवसित होता है किसी दूसरे समान पदार्थ के अभाव में।

[अनन्वय में चमत्कार का कारण किसी द्वितीय अन्य पदार्थ के अभाव की प्रतीति है। उपमानोपमेयभावरूपी अन्वय (सम्बन्ध) का (उपमान और उपमेय दोनों एक ही पदार्थ के रहने से) निष्पन्न न होना (अनन्वय) इस प्रतीति को जन्म देता है। यहाँ भी वाच्यार्थ के व्यंग्यार्थ (द्वितीयसदृशव्यवच्छेद) में पर्यवसित होने का अर्थ है चमत्कार के लिए उसका आक्षेप करना।]

आदि शब्द का अर्थ है प्रकार। उससे अनिष्ट विध्याभासात्मक [द्वितीय] आक्षेप आदि लिए जा सकते हैं। यथा—"हो जाय तो हो जाय विदन, हे प्रिय, व्यर्थ की बकवास छोड़ो और जाओ, इसमें आपका जरा भी दोष नहीं, विधाता तो हमारा हीन पराङ्मुख है। यदि तुम्हारा प्रगल्भ प्रेम इस दशा को प्राप्त हो गया है तो अच्छा है, यदि हमारे ये स्वभाव से चंचल (अस्थिर) दुष्ट प्राण निकल भी जाएं तो लाज क्या।"

यहाँ अनचाही "प्रियगमन"—रूपी वस्तु का विधान "जाओ" इस प्रकार किया गया है जो वस्तुतः आभासात्मक ही है, पारमार्थिक नहीं, अतः वह निषेध्य का विधान सम्भव न होने के कारण

अपने आपमें उखड़ा हुआ सा लगता है, और इसलिए अपना पर्यवसान निषेध में कर उसका आक्षेप कराता है। इस प्रकार दोनों ही प्रकार से गम्यमान वस्तु वाच्य के प्रति उपस्कारक ही होती है ऐसा कहा।

'ऐसा मानने पर प्रतीयमान अर्थ के लिए अलंकारवाले स्थलों से भिन्न स्वतन्त्र स्थल भी मिल जाते हैं, अतः उसका अलंकार में अन्तर्भाव सिद्ध नहीं होता—' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं— **रुद्रटेन** इत्यादि।

द्विधा = दो प्रकारका, एक वह जिसमें वस्तु अप्रधान [गुणीभूत] रहती है और दूसरा वह जिसमें वह प्रधान रहती है। जैसा कि [रुद्रट ने काव्यालंकार ७।३८ में] कहा है—"किसी व्यक्ति में कोई विकार [भाव या चित्तवृत्तिरूप कार्य] किसी ऐसे कारण से उत्पन्न हो जिसके साथ उस [कार्य] का [कार्यकारणभावरूप] संबन्ध निश्चित न हो [अतः जो कारण, कार्य के साथ अप्रतिबद्ध या अनैकान्तिक हो], फिर वह विकार एक ओर उससे युक्त व्यक्ति का कोई अभिप्राय व्यक्त करे और दूसरी ओर अपने कारण के साथ अपना [कार्यकारणभाव] संबन्ध निश्चित कर दे तो एक प्रकार का भावालंकार होता है। उदाहरणार्थ—'तरुणी जब ग्रामतरुण [गाँव के सबसे सुन्दर और अपने प्रेमी युवक] को मौलसिरी की ताजी मंजरी हाथ में लिए देखती है तो उसकी उसकी मुखकान्ति अत्यन्त मलिन हो जाती है।'

[दूसरा भावालंकार] कोई वाक्य अपने शब्दों का अभिधेयार्थ बतलाने के पश्चात् अभिधेय से भिन्न प्रकार का दूसरा अर्थ [अर्थात् अभिधेय यदि विधिरूप हो तो निषेधादिरूप] व्यक्त करता है तो वह भी भावालंकार माना जाता है। उदाहरणार्थ—[कोई प्रोषितपतिका द्वारागत निवासार्थी तरुण पथिक से कह रही है] 'इस घर में मैं अकेली हूँ और अबला हूँ। इस घर का जो स्वामी है वह परदेश गया है। यह जो मेरी सास है उसे भी न आँखों से सूझता और न कानों से सुनाता। इसलिए हे पान्थ तुम वास की याचना कर ही क्यों रहे हो। तुम सचमुच भोले और नासमझ हो।'

अथवा (रुद्रट ने भावालंकार दो प्रकार का माना है—इस वाक्य में) "दो प्रकार"—का अर्थ उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा नामक (स्वसिद्धये० इस प्रकार) पूर्वचर्चित दो लक्षणाओं के आधार पर दो प्रकार का किया जाना चाहिए। इससे प्रथम उदाहरण में स्वसिद्धि के लिए पराक्षेप (उपादान लक्षणा) मानना होगा और दूसरे उदाहरण में 'परार्थ स्वसमर्पण (लक्षणलक्षणा)।

कुछ लोगों ने भावालंकार में भावशब्द का अर्थ निर्वेदादि किया है और दो भेदों में एक में वाच्य को निर्वेदादि संचारी भावों से उपलक्षित माना है और दूसरे में प्रतीयमान को। किन्तु व्याख्या मूलविरुद्ध है, क्योंकि स्वयं रुद्रट ने भावालंकार का प्रतिपादन इस प्रकार से नहीं किया। रुद्रट यदि ऐसा प्रतिपादन करना भी चाहते तो उन्हें इसे वहाँ प्रतिपादित करना चाहिए था जहाँ उन्होंने केवल वस्तु का वाच्य के प्रति उपस्कारकत्व प्रतिपादित किया था। इसलिए वस्तुतः भावालंकार में द्वैविध्य का मानदण्ड व्यङ्ग्य की गुणीभूतता तथा प्रधानता ही मानी जानी चाहिए। इन दोनों भेदों में अप्रधान और प्रधान दो प्रकार की वस्तु व्यंग्य होकर भी वाच्य का सौन्दर्य वर्धन करती हुई बतलाई गई है।

विमर्श—यहाँ भावालंकार के प्रथम उदाहरण में नायिका में मुखमालिन्यरूपी विकार उत्पन्न हुआ। उसका कारण है मौलसिरी की मंजरी को देखना उस देखने के साथ उस मालिन्य का कोई निश्चित कार्यकारणभावरूपी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि उस मंजरी को देखने से सदा ही मुखमालिन्य नहीं होता। यह मुखमालिन्य नायिका का भाव व्यक्त कर देता है। यह बतला देता है कि निश्चित ही नायिका ने तरुण को मौलसिरी के बगीचे में मिलने बुलाया था किन्तु अन्य कार्य में

लग जाने से वह स्वयं वहाँ नहीं पहुँच सकी किन्तु मौलसिरी की नवीन मञ्जरी हाथ में लेकर आने से तरुण के विषय में उसे यह विदित हो गया कि वह मौलसिरी के बगीचे जा कर आ रहा है फलतः नायिका को यह सोचकर दुःख हुआ कि "मैं सुख से वञ्चित रह गई"। ऐसा भाव मन में आते ही जो मुखमालिन्य हुआ उसका और मञ्जरीदर्शन का कार्यकारणभाव भी निश्चित हो गया क्योंकि यदि वह मञ्जरी न होती तो कदाचित् नायिका का तरुण के मौलसिरी उपवन जाने का निश्चय न होता। यहाँ वाच्य एवं व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी है अतः काव्यप्रकाशकार ने इसे गुणीभूत व्यङ्ग्य या मध्यमकाव्य का उदाहरण माना है।

द्वितीय पद्य में "काम की याचना क्यों करते हो" इस प्रकार के प्रश्नकाकु से बतलाया जा रहा है कि "याचना नहीं करनी चाहिए" परन्तु पूरे वक्तव्य में स्थिति ऐसी बतलाई जा रही है कि पान्थ को काम करने के लिए याचना भी अनावश्यक है, उसे तो स्थिति समझकर बिना पूछे ठहर जाना चाहिए। यह है वाच्य और व्यङ्ग्य का भिन्न प्रकार का होना। इसीलिए यह भावालङ्कार है, क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ नायिका के हृदय का भाव है। यहाँ निषेधरूपी वाच्यार्थ से जो विधानरूपी व्यङ्ग्यार्थ निकलता है वही अधिक चमत्कारकारी हो तो इस काव्य को उत्तम काव्य माना जा सकता है। विमर्शिनीकार ने माना भी है। इसमें यहाँ व्यङ्ग्यार्थगत वैचित्र्य की अपेक्षा उक्तिवैचित्र्य में अधिक चमत्कार प्रतीत होता है अतः वस्तुतः यह उदाहरण भी गुणीभूत व्यङ्ग्य का ही उदाहरण होना चाहिए। विमर्शिनीकार का मन्तव्य केवल इतना ही है कि प्रथम उदाहरण गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप में काव्यप्रकाश आदि में प्रसिद्ध है द्वितीय उदाहरण का उससे अन्तर करने के लिए उसे ध्वनिकाव्य का उदाहरण मानना चाहिए। यदि "दत्ताकिनी" यह उदाहरण ध्वनिकाव्य न भी सिद्ध हो तो कोई दूसरा उदाहरण अपना लेना चाहिए। सर्वथा विमर्शिनीकार का कहना है अलङ्कारसर्वस्वकार के मत में रुद्रट गुणीभूतव्यङ्ग्य और ध्वनि दोनों को भावालङ्कार रूप मानते हैं।

विमर्शिनी

इदानीमलंकारस्यापि प्रतीयमानस्य वाच्योपस्कारकत्वं प्रतिपादयति—रूपकेत्यादिना।
तत्र रूपकं यथा—

> भीमभ्रूकुटिपन्नगीफणमणिः कायस्य चण्डं चिता-
> कुण्डं कुण्डलितेन्दुनालवलयभ्रंशि रक्तोत्पलम्।
> प्रागल्भ्यस्फाटिकमल्लिकापरिचिते भालप्रभालाजिरे
> दीप्ता दीपशिखा शिवस्य नयनं कार्शानवं पातु नः॥'

अत्र नयनादीनां मण्यादीनां चोपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते। तां विना सादृश्याप्रतिपत्तेः।

[अभी प्रतीयमान वस्तु की वाच्योपस्कारकता बतलाई] अब प्रतीयमान अलङ्कार की भी वाच्योपस्कारकता बतलाते हुए कहते हैं—'रूपक०'। इसमें रूपक का उदाहरण जैसे—"भगवान् शिव का तृतीय आग्नेय नेत्र हम सबकी रक्षा करे जो भ्रुकुटिरूपी भयङ्कर नागिन की फणमणि है, काम का प्रचण्ड चिताकुण्ड है, चन्द्ररूपी [कमल] नालनिर्मित गोल वलय से गिरा हुआ लालकमल पुष्प है, [या] नासिकारूपी दायट से युक्त ललाटरूपी आँगन में चमकती दीपशिखा है।" यहाँ नेत्रादि और मणि आदि की उपमा व्यंजना से प्रतीत होती है और उससे वाच्य (रूपक) का उपस्कार होता हुआ विदित होता है। क्योंकि (रूपक सादृश्यमूलक अलङ्कार है और) सादृश्य का ज्ञान उस (उपमा) के बिना सम्भव नहीं।

विमर्श—यहाँ उपमा तो व्यक्त होती है किन्तु वह उपमामात्र है। अलंकार नहीं। वह अलंकार तब होती जब उसमें चमत्कार होता। चमत्कार यहाँ रूपक में ही है अतः वही यहाँ अलंकार है। विमर्शिनीकार यहाँ जो उपमालंकार को वाच्योपस्कारक बतलाना चाहते हैं उसके पीछे ब्राह्मणश्रमण-न्याय छिपा मानना चाहिए। ब्राह्मण जब तक शिखासूत्रादि से युक्त ब्राह्मण था जब तक वह शिखा-सूत्रादि विहीन श्रमण (जैन या बौद्ध भिक्षु) नहीं था और जब शिखासूत्रादि को तोड़ताड़कर वह श्रमण बन गया तब वह ब्राह्मण नहीं रहता, इतने पर भी क्योंकि वह पहले ब्राह्मण था इसलिए श्रमण बने अन्य अब्राह्मण व्यक्तियों से उसका अन्तर बतलाने के लिए उसे "ब्राह्मणश्रमण" कह दिया जाता है ठीक इसी प्रकार उपमा रूपक आदि जब व्यंग्य होते हैं तब अलंकार नहीं रहते क्योंकि उनसे किसी अन्य की शोभा नहीं बढ़ती फलतः वे अलंकार्य हो जाते हैं और जब अलंकार रहते हैं तब व्यंग्य नहीं रहते, तथापि वाच्यावस्था में उपमादि अलंकार रहते हैं तत्सदृश कोई उपमादि व्यंग्य हो जाती है तो व्यंग्योपमादि को भी अलंकार न रहने पर भी अलंकारभूत वाच्योपमादि की नई उपमालंकारादि कह दिया जाता है। रुद्रट ने उनसे वाच्य का उपस्कार माना है।

विमर्शिनी

दीपकं यथा—

'पाउअबंधं पढिउं बंधेउं तहअ कुज्जकुसुमाइ। पोढमहिलं अ रमिउं विरलच्चिअ के वि जाणन्ति॥'

अत्र प्राकृतबन्धपाठादेरुपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते। प्रकृतस्य प्रौढमहिलारमणादेः सादृश्योपादानार्थंचोभयोरुपनिबन्धनात्। अपह्नुतिर्यथा—

'अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि'॥

अत्र कलङ्कस्य रजनिसादृश्यप्रतीतेरुपमा वाच्योपस्कारायावगम्यत एव। तुल्ययोगिता यथा—

'द्विगुणिताद्युपधानभुजाच्छिरः पुलकिताद्युरसः स्तनमण्डलम्।
अधरमर्धसमर्पितमाननाद् व्यघटयन्त कथंचन योषितः॥'

अत्र भुजादीनां सादृश्यावगमादुपमा वाच्योपस्कारायावगम्यते। तुल्ययोगितादावित्यादिशब्दान्निदर्शनादेर्ग्रहणम्। उपमादीत्यादिशब्दादुपमेयोपमादीनाम्। तत्तु यथा—

'प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषमधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः॥'

अत्र वाच्याया निदर्शनाया उपस्कारत्वेनोपमेयोपमा गम्यते। तामन्तरेणासंभवद्वस्तुसंबन्धत्वेन वाच्यस्याविश्रान्तेः। अतश्चात्रालंकारो गम्यमानः स्थितो न वस्तुमात्रम्। तेन पूर्वत्र यदादिग्रहणं सफलयितुमन्यैरेतदुदाहृतं तदयुक्तमेव। तत्र वस्तुमात्रस्य वाच्योपस्कारकत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्। वाच्योपस्कारकत्वेनोत्प्रेक्षा कथितेति समन्वयः। सा तु—

'महिलासहस्सभरिए तुय हिअए सुहअ सा अमायन्ती।
दिअहं अणण्णअम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ॥' इति।

तदित्थमलंकारोऽपि प्रतीयमानो वाच्यशोभाहेतुत्वेनोक्तः।

दीपक यथा—

"प्राकृतबन्धं पठितुं बद्धुं तथा कुब्जकुसुमानि।
प्रौढमहिलां च रन्तुं विरला एव केऽपि जानन्ति॥"

"प्राकृत ग्रन्थ पढ़ना, कुब्ज (?) कुसुमों को गूँथना तथा प्रौढमहिलाओं को भोगना विरले ही कोई जानते हैं।" यहाँ भी प्राकृतबन्ध आदि की उपमा प्रतीत होती है और उससे वाक्य का

उपस्कारक होता है'. क्योंकि इस वाक्य में वर्णनीयत्वेन प्रकृत है प्रौढमहिला उसके अतिरिक्त प्राह्नवन्धादि अप्रस्तुत पदार्थों का जो उपादान किया गया है वह 'प्रौढमहिला' के साथ उनका सादृश्य बतलाने के लिए।

[दीपक में प्रकृत और अप्रकृतों का किसी एक धर्म या किसी एक क्रिया में सबन्ध दिखलाया जाना है जिससे सादृश्य व्यक्त होता है।]

अपह्नुति जैसे—[भगवान् शिव पार्वतीजी से कह रहे हैं] "हे पार्वती ! पर्याप्त मात्रा में खिली कान्ति से इस चन्द्रमा के शरीर में [पिता की गोद में शिशु के समान] प्रगल्भता के साथ यह जो है सो कलङ्क विलसित नहीं हो रहा है, अपितु मैं समझता हूँ कि इसके झरती अमृतधारा से अत्यन्त शीतल वक्षःस्थल पर इसकी प्रिया रात रति से श्रान्त होकर गहरी नींद में सो रही है।" यहाँ कलङ्क का रात के साथ सादृश्य प्रतीत होता है वही उपमालङ्कार है और उससे वाच्यार्थ अपह्नुति का उपस्कार प्रतीत होता ही है।

[अपह्नुति का अर्थ होता है छिपाना। इस अलङ्कार में चमत्कारी तत्त्व यही छिपाना है। प्रस्तुत पद्य में कलक का कलङ्कत्व "यह कलक नहीं है" इस निषेधोक्ति से छिपाया जा रहा है। यह छिपाया जाना सादृश्य के आधार पर ही संभव है अतएव यहाँ सादृश्य की व्यञ्जना होती है और सादृश्य ही है उपमालङ्कार। उसके द्वारा वाच्य (शब्दतः कथित) अपह्नुति अलङ्कार का उपस्कार या पोषण होता है।]

तुल्ययोगिता यथा =

'स्त्रियों ने द्विगुणित उपधानभूत भुजा से सिरको, पुलकित वक्षःस्थल से स्तनों को, मुख से अर्धसमर्पित अधर को किसी प्रकार विरहित किया' ? यहाँ भुजा आदि का सादृश्य प्रतीत होता है इससे उपमालङ्कार प्रतीत होता है और उससे वाच्य (तुल्ययोगिता) का उपस्कार होता है।

[जहाँ एक ही धर्म में अनेक ऐसे पदार्थों का अन्वय हो जिनमें प्रत्येक प्रस्तुत ही हो या प्रत्येक अप्रस्तुत ही वहाँ तुल्ययोगिता होती है। प्रस्तुत पद्य में नायिका के सभी अंग प्रस्तुत हैं और एक विरहन क्रिया में अन्वित होते हैं। एकधर्मान्वयित्वरूपी साधर्म्य के आधार पर उन सभी अंगों में सादृश्य की प्रतीति होती है। सादृश्य उपमालङ्काररूप है अतः यहाँ उपमालङ्कार की व्यंजना मानी जाएगी और क्योंकि उससे वाच्य तुल्ययोगिता का उपस्कार होता है अतः वह भी अलङ्कार ही है।]

मूल में जो "तुल्ययोगिता आदि में" इस प्रकार आदि शब्द का प्रयोग किया गया है उससे निदर्शनालङ्कार आदि लिए जा सकते हैं और इसी प्रकार "उपमा आदि का" इस प्रकार जो आदि पद का ग्रहण किया गया है उससे उपमेयोपमा आदि। उदाहरणार्थ (निदर्शना में उपमेयोपमा का उपस्कारकत्व) यथा—"पर्याप्त पवन वाले स्थान (प्रवात) में लगे हुए (अतएव हवा की झकोर में झूलते हुए) नील कमल से तनिक भी अन्तर न रखने वाली अधीर चितवन या तो उस विशालनेत्रा (पार्वती) ने हिरनियों से ली होगी या (वैसी ही विशालनेत्रा) हिरनियों ने उस (पार्वती) से।" यहाँ (पदार्थ) निदर्शना वाच्य है, उसका उपस्कारक के रूप में यहाँ उपमेयोपमा प्रतीयमान है, क्योंकि यदि उपमेयोपमा प्रतीत न हो तो वाच्य, जिसमें यहाँ पदार्थों का सबन्ध नहीं बनता, असंगत ही रहा जाएगा। इसलिए इस पद्य में भी अलङ्कार ही प्रतीयमान है, वस्तु नहीं। निदर्शना में वाच्यार्थ ऐसा रहता है जिसमें पदार्थों का सबन्ध संभव नहीं होता, बाद में उपमा द्वारा उसमें सगति लगाई जाती है। प्रस्तुत पद्य में मृगाङ्गनाओं की चितवन उन्हीं मृगाङ्गनाओं के पास है उसे पार्वती नहीं ले सकतीं और पार्वतीजी की चितवन पार्वतीजी के ही पास है, उसे मृगाङ्गनाएँ नहीं ले सकतीं, फलतः एक दूसरे की चितवन का एक दूसरे द्वारा कहा जा रहा आदान संभव नहीं। 'बाद में ये दोनों ही इन दोनों के समान हैं। ऐसी सादृश्यप्रतीति होती

है तो उससे वाच्यार्थ संगत प्रतीत होता है। उपमेयोपमा इसलिए व्यंग्य है कि यहाँ यह भी प्रतीति होती है कि इन दो चितवनों के समान कोई तीसरी चितवन नहीं है फलतः इस प्रकार के पूर्व "उपमेयोपमानन्वयादौ" इस पद में जो आदि शब्द आया है उसके उदाहरण के रूप में लोगों ने जो इस "प्रवातनीलो०" आदि पद्य को उद्धृत किया वह ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रकरण में तो केवल वस्तुमात्र की व्यंजना का प्रतिपादन करना अभीष्ट रहा है, अलंकार की व्यंजना का नहीं। "वाच्योपस्कारकत्व"—इस विशेषण को आगे भी जोड़ना चाहिए। ऐसा करने पर इस प्रकार का अर्थ निकलेगा—"उत्प्रेक्षा को जो वाच्योपस्कारक कहा गया है" इत्यादि।

वाच्योपस्कारक उत्प्रेक्षा का उदाहरण है—

"महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा अन्तीमा।
दिवसमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनूकरोति" ॥

अर्थात् "हे सुभग (जिसे कामिनियाँ चाहती हों) तुम्हारा हृदय सहस्र महिलाओं से भरा है अतः वह बेचारी उसमें बन नहीं पाती, फलतः दिन भर अन्य कोई कार्य नहीं करती, केवल पहले से ही दुबले अपने अंग को और दुर्बल बनाती जा रही है।" यहाँ काव्यलिंगालंकार वाच्य है क्योंकि हृदय में नायिका के न बनने का कारण वहाँ उक्त है। वह है हृदय का सहस्र महिलाओं से घिरा होना। उससे उत्प्रेक्षा की व्यंजना होती है। वह इस प्रकार कि नायिका के नायक के चित्त में न बन पाने का मूलकारण तो है नायिका के प्रति नायक की रागशून्यता, किन्तु उससे भिन्न "महिलासहस्रभरितत्व' रूपी अन्य कारण वैसा होता बतलाया जा रहा है। यह हुई हेतूत्प्रेक्षा। इससे वाच्य काव्यलिंग का उपस्कार होता है। इसप्रकार अलंकार भी प्रतीयमान होकर वाच्य का उपस्कारक (वाच्यशोभाधायक) स्वीकार किया गया है।

विमर्शिनी

अधुना रसस्यापि वाच्योपस्कारकत्वं दर्शयितुमाह—रसवदित्यादि। प्रभृतिशब्दादूर्जस्व्यादयः। आदिशब्दाच्च तदाभासादयः। तत्र रसवदलंकारो यथा—

'कृच्छ्रेणोरुयुगं व्यतीत्य सुचिरं भ्रान्त्वा नितम्बस्थले
मध्येऽस्यास्त्रिवलीतरङ्गविषमे निस्पन्दतामागता।
मद्दृष्टिस्तृषितेव संप्रति शनैरारुह्य तुङ्गौ स्तनौ
साकाङ्क्षं मुहुरीक्षते जललवप्रस्यन्दिनी लोचने॥'

अत्र वत्सराजस्य परस्परास्थाबन्धरूपो रत्याख्यः स्थायिभावो विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसीभूतः सन् वाच्योपस्कारकः। तत्संवलितत्वेन वाच्यस्य सचमत्कारप्रतिपत्तेः।

अब रस को भी वाच्यार्थ का शोभावर्धक बतलाने के लिए लिखते हैं—रसवदित्यादि। प्रभृति शब्द से ऊर्जस्वी आदि का ग्रहण अभिप्रेत है और आदि शब्द से उनके आभास आदि। उनमें से रसवदलंकार का उदाहरण है—"मेरी दृष्टि बड़ी कठिनाई से दोनों ऊरु पार कर और नितम्बस्थल में चक्कर खाकर ज्योंही इस (सुन्दरी वासवदत्ता) के त्रिवलीतरंग से ऊबड़ खाबड़ मध्यभाग में पहुँची तो निस्पन्द हो गई। फिर जिस किसी प्रकार वह धीरे-धीरे करके उत्तुंग स्तनों पर चढ़ी तो अब मानों पियासी होकर जललव बहा रही आँखें बार-बार देख रही है।" यहाँ वत्सराज का परस्पर में प्रेमरूपी रति नामक स्थायी भाव विभावानुभावव्यभिचारी के संयोग से रसरूपता को प्राप्त होकर वाच्य की शोभा बढ़ाता है, क्योंकि उससे युक्त होकर प्रतीत होने पर ही वाच्य में चमत्कार प्रतीत होता है।

विमर्शिनी

प्रेयोऽलंकारो यथा—

'तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥'

अत्र वितर्काख्यो व्यभिचारिभावो वाच्यशोभाधायक एव।

प्रेयोऽलङ्कार जैसे—(उर्वशी के लताख्य से परिणत हो जाने पर पुरूरवा वितर्क करता है) हो सकता है वह (उर्वशी अपने) प्रभाव (देवी होने के कारण तिरस्करिणी विद्या) से कहीं छिपी हो, किन्तु वह अधिक देर तक तो कुपित रहती नहीं। सम्भव है वह (अपने मूलस्थान) स्वर्ग के लिए उड़ गई हो, किन्तु उसका मन तो सानुराग है मुझ पर। मेरे देखते-देखते उसे राक्षस लोग भी नहीं हर सकते। इतने पर भी वह आँखों से एकदम ओझल हो गई है। आखिर यह घटना क्या है।" यहाँ वितर्कनामक सञ्चारी भाव व्यंजित होकर वाच्य की शोभा बढ़ाता है।

विमर्शिनी

ऊर्जस्व्यलङ्कारो यथा—

'अक्षीलासु सकौतुकं यदि मनस्तन्मे दृशो विंशतिः
निःसंधौ परिरम्भणे रतिरथो दोर्मण्डली हस्यताम्।
प्रीतिश्चेत्परिचुम्बने दशमुखी वैदेहि! सज्जा पुरः
पौलस्त्यस्य च राघवस्य च महत्पश्योपचारान्तरम्॥'

अत्र सीतां प्रति रावणस्य रतिरनौचित्येन प्रवृत्तेति रसाभासो वाच्योपस्कारकः। अन्यत् स्वयमभ्यूह्यम्।

ऊर्जस्वी अलङ्कार जैसे—(रावण की भगवती सीता के प्रति दुष्टोक्ति)—"हे सीता, यदि तेरा मन आँखों की चेष्टाएँ पसन्द करता है तो मेरे पास बीस आँखें हैं, यदि तुझे गाढ़ आलिंगन पसन्द है तो देख मेरी बीस भुजाएँ हैं और यदि तुझे चुम्बन पसन्द हो तो उसके लिए भी मेरे पास दस मुख हैं। इस प्रकार तेरे उपचार की दृष्टि से भी मेरे और राम के बीच, देख, कितना भारी अन्तर है।" यहाँ (अननुरक्त परस्त्री) सीता के प्रति रावण का रतिनामक स्थायीभाव व्यंजित होता है फलतः यह रसाभास हुआ और (क्योंकि) यह यहाँ वाच्यार्थ की शोभा बढ़ा रहा है इसलिए ऊर्जस्वी अलङ्कार हुआ। अन्य (समाहितादि अलङ्कार) के उदाहरण (काव्यप्रकाश आदि में) स्वयं सोचे जा सकते हैं।

विमर्शिनी

एतदेवोपसंहरति—तदित्थमित्यादिना। त्रिविधमिति। पर्यायोक्तादौ वस्तु, रूपकादावलंकारः, रसवदादौ रसः। तदेवं चिरंतनैः प्रतीयमानस्यालंकारान्तर्भाव एव तावदुक्तः। तदुपस्कार्यं पुनरात्मा कैश्चिदपि नाभ्युपगतः।

"तदित्थम्=तो इस प्रकार" इत्यादि द्वारा इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं। तीनों प्रकार का अर्थात् (प्राचीनों ने) पर्यायोक्तादि में वस्तु, रूपकादि में अलङ्कार और रसवदादि अलंकारों में रस (वाच्योपस्कारक स्वीकार किया है) इस प्रकार (वस्तु अलङ्कार और रस तीनों

प्रकार का प्रतीयमान अर्थ) प्राचीनों ने अलंकार के ही बीच अन्तर्भूत बतलाया है क्योंकि उनके मत में तीनों ही प्रकार का वह अर्थ (रूपक, उपमादि के ही समान) वाच्य का शोभाधायक होता है। (ध्वनिवादी आचार्यों के समान) इन प्राचीन आचार्यों में से किसी ने भी वाच्य को उपस्कारक और प्रतीयमान को प्रधान (आत्मभूत) स्वीकार नहीं किया है।

[अच्छा होता कि विमर्शिनीकार रसवत् आदि के वे ही उदाहरण प्रस्तुत करते जो रुद्रट आदि ने दिए हैं जैसा कि उन्होंने भावालंकार के प्रकरण में किया है। श्री रामचन्द्र द्विवेदी ने "रुद्रटेन तु" इस प्रसंग पर एक टिप्पणी देते हुए लिखा है—"प्रतीयमान अर्थ वस्तु अलंकार तथा रसरूप से तीन प्रकार का होता है। प्रतीयमान वस्तु-रूप अर्थ कहीं गुणीभूत होता है और कहीं प्रधान। इन दोनों प्रकार के अर्थों का भावालंकार में, उपमा आदि प्रतीयमान अलंकार का रूपक दीपक आदि अलंकारों में तथा रस, भाव आदि का रसवत् प्रेय आदि में अन्तर्भाव रुद्रट ने किया है।"

इसमें "रुद्रट" के स्थान पर "रुद्रटादि" पद चाहिए। रुद्रट ने केवल भावालंकार के दो भेद अवश्य प्रस्तुत किए हैं किन्तु रस, भाव का रसवत् प्रेय आदि में अन्तर्भाव नहीं दिखलाया। भामह और उद्भट ने अवश्य इनका प्रतिपादन किया है।

वस्तुतः "इह हि०" से लेकर "त्रिविधमपि प्रतीयमानतया (ख्यापितमेव)" यहाँ तक वक्तव्य और प्रबन्धक एक ही हैं। श्री द्विवेदी ने 'रुद्रटेन' से उसमें अन्तर कर दिया है। उन्होंने पाठ भी इसलिए स्वतन्त्र वाक्य के ही अनुरूप "रुद्रटेन ■ द्विधैवोक्तः" ऐसा स्वीकार किया है।]

वामन [पूर्वोक्त आचार्यों से कुछ आगे हैं उन्होंने] प्रतीयमान को अलंकार में अन्तर्भूत दिखलाते हुए भी उससे उपस्कार्य (अलंकार्य) भूत एक आत्मा भी स्वीकार की है" इस तथ्य को स्पष्ट करते हुये आगे कहते हैं—"वामनेनेत्यादि"—

[सर्वस्व]

वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलंकारत्वं ब्रुवता कश्चिद्ध्वनिभेदोऽलंकारतयैवोक्तः। केवलं गुणविशिष्टपदरचनात्मिका रीतिः काव्यात्मकत्वेनोक्ता।

उद्भटादिभिस्तु गुणालंकाराणां प्रायशः साम्यमेव सूचितम्। विषयमात्रेण भेदप्रतिपादनात्। संघटनाधर्मत्वेन चेष्टेः। तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

(काव्यालंकारसूत्रवृत्तिकार) वामन ने तो ['सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इस प्रकार] सादृश्यमूलक लक्षणा को वक्रोक्तिनामक अलंकार कहते हुए ध्वनि का एक [अविवक्षितवाच्य] भेद [स्वीकार किया है किन्तु उसे भी उन्होंने] अलंकाररूप ही बतलाया है [क्योंकि वक्रोक्ति एक अलंकार ही है] काव्यकी आत्मा उन्होंने गुणविशिष्ट-पदरचनास्वरूप रीति को ही कहा है।

उद्भट ने गुण और अलंकारों का प्रायः साम्य ही बतलाया है [उनके मत में दोनों ही, काव्य में समवायसम्बन्ध से ही रहते हैं, अलंकार संयोगसंबंध से और केवल गुण समवाय संबन्ध से नहीं, यह तो लौकिक पदार्थों की स्थिति है द्रष्टव्य = काव्यप्रकाशउल्लास ८] भेद उनमें केवल इसलिए माना गया है कि दोनों के विषय में भेद है और गुण संघटना का धर्म माना गया है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के मत में काव्य में अलंकार ही प्रधान है।

विमर्शिनी

वामनेन प्रतीयमानस्यालंकारान्तर्भावमभिदधतापि तदुपस्कार्य आत्मा कश्चिदुक्त इत्याह—वामनेनेत्यादि। तुशब्दः पूर्वेभ्यो व्यतिरेकद्योतकः। आत्मनोऽपि प्रतिपादकत्वात्। ब्रुवतेति। यदाह—'सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः' इति। एतदेवोदाजहार च 'उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च निमिमील मुहूर्तम्' इति। कश्चिद्ध्वनिभेद इति। 'अविवक्षितवाच्यादिः'। केवलमिति। यदि परमित्यर्थः। गुणेति। यदाह—'विशिष्टा पदरचना रीतिः' इति। काव्यात्मकत्वेनेति। यदाह—'रीतिरात्मा काव्यस्ये'ति काव्यस्याभ्युपगतायाः रीतेः 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' इत्याद्युक्त्यान्तर्भावितध्वनयोऽलंकारा उपस्कारका इत्येतन्मतम्।

यहाँ तु (तो) शब्द पूर्वोक्त आचार्यों से अन्तर का द्योतक है। क्योंकि वामन ने काव्यात्मा का भी प्रतिपादन किया है। कहते हुए—जैसा कि कहा है "सादृश्य में होने वाली लक्षणा वक्रोक्ति है।

इसी पर उदाहरण भी दिया है—"तलैयों के कमल उन्मीलित हो गए और कुमुद निमीलित।" [यहाँ उन्मीलन और निमीलन लाक्षणिक हैं] ध्वनि का एक कोई भेद = अविवक्षितवाच्यरूप। केवल का अर्थ है यदि परम्=किन्तु। गुण इत्यादि जैसा कि कहा है—"विशिष्ट पद रचना रीति है"। काव्यात्मकत्वेन—जैसा कि कहा है—'रीति काव्य की आत्मा है'' इस प्रकार वामनका मत है कि "विशिष्ट पदरचनारूप रीति काव्य की आत्मा है, और [गुणों से उत्पन्न] काव्यशोभा में अतिशय लाने वाले तत्त्व अलंकार कहलाते हैं" इस प्रकार से लक्षित अलंकार उस (रीति) के उपस्कारक (शोभावर्धक) होते हैं"।

विमर्शिनी

अन्यैः पुनरेतदपि प्रायुक्तमित्याह—उद्भटादिभिरित्यादिना। प्रायश इति। बाहुल्येनेत्यर्थः। विषयमात्रेणेति। भिन्नकक्ष्याणां ह्युपस्कार्योपस्कारकत्वस्यानुपपत्तेः। तथात्वे चालंकाराणामपि गुणोपस्कार्यत्वं प्रसज्यते। समानन्यायत्वात्। तद्गुणालंकाराणां तुल्यत्ववादिन एवोद्भटाः। इत्यमनेन वाच्याश्रयाणामलंकाराणां मध्य एव ध्वनेरन्तर्भावादभिधाव्यापारगोचर एव ध्वनिः, न पुनस्तद्व्यतिरिक्तः कश्चिद्ध्वनिर्नामेति चिरंतनानां मतमित्युक्तम्।

इदानीं यदप्यन्यैरस्य भक्त्यन्तर्भूतत्वमुक्तं तदपि दर्शयितुमाह—वक्रोक्तेत्यादि।

'दूसरों ने तो इतना भी स्वीकार नहीं किया' इस बातको बतलाने के लिए लिखते हैं—"उद्भट" आदि। प्रायशः अर्थात् बहुधा। विषयभेदमात्रेण विषयमात्र का भेद [गुणों का विषय है शोभाजनकता और अलंकारों का शोभावर्धकता, किन्तु इन दोनों की प्रतीति एक ही साथ होती है] अलग-अलग समय में प्रतीति होने पर [गुण ही उपस्कार्य और अलंकार ही उपस्कारक ऐसा] उपस्कार्योपस्कारकभाव सम्बन्ध नहीं बनेगा, वैसा मानने पर [गुण भी अलंकारों के उपस्कारक और] अलंकार भी गुणों के उपस्कार्य माने जा सकेंगे। क्योंकि स्थिति दोनों में समान है [अर्थात् पूर्ववर्ती जैसे परवर्ती का उपस्कारक माना जाता है वैसे ही परवर्ती भी पूर्ववर्ती का। उदाहरण यथा गुणीभूतव्यंग्य में प्रतीयमान का वाच्यार्थ के प्रति उपस्कारक होना]। इस कारण उद्भटानुयायी गुण और अलंकारों में समानता ही मानते हैं।

इस प्रकार यहाँ तक के ग्रन्थ द्वारा यह प्रस्तुत किया गया कि प्राचीन आलंकारिक प्रतीयमान

अर्थ को अभिधावृत्ति का विषय ही मान लेते हैं, उससे भिन्न नहीं, क्योंकि उनके अनुसार उपमादि अन्य अलंकारों के ही समान ध्वनि भी अर्थ का ही एक अलंकार है।

, अब "वक्रोक्तिः" इत्यादि अग्रिम ग्रन्थ में आचार्यों ने जो प्रतीयमानार्थ को भक्ति (उपचार-वक्रता) में अन्तर्भूत माना है उसे बतलाते हैं—

[सर्वस्व]

वक्रोक्तिजीवितकारः पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात्काव्यजीवितमुक्तवान्। व्यापारस्य प्राधान्यं च [काव्यस्य] प्रतिपेदे। अभिधानप्रकारविशेषा एव चालंकाराः। सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचरः। उपचारवक्रतादिभिः समस्तो ध्वनिप्रपञ्चः स्वीकृतः। केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं, न व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम्।

वक्रोक्तिजीवितकार (कुन्तक) ने वक्रोक्ति को काव्य का जीवित माना है। वक्रोक्ति को उन्होंने "वैदग्ध्यभङ्गीभणिति"—स्वरूप कहा है और उसके अनेक भेद बतलाए हैं। (वक्रोक्ति को काव्य का प्रधानतत्त्व मानने के लिए) उन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि काव्य में व्यापार तत्त्व भी प्रधानतत्त्व है। (उनके मत में) अलंकार अभिधान (कथन, उक्ति) के ही विशिष्ट-विशिष्ट भेद हैं (साथ ही) काव्य में (वस्तु, अलंकार और रस) ये तीनों प्रकार के प्रतीयमान अर्थ रहते अवश्य हैं किन्तु कवि का संरम्भ (जोर, अधिक ध्यान) व्यापारस्वरूप भणिति (उक्ति) पर ही रहता है। ध्वनि के अन्य अवान्तर भेदों को भी [उन्होंने] उपचारवक्रता के अन्तर्गत स्वीकार कर लिया है। [इस प्रकार संक्षेप में] उन [वक्रोक्तिजीवितकार] का सिद्धान्त केवल इतना ही है कि "काव्य का प्राण (प्रधानतत्व) उक्तिवैचित्र्य ही है, व्यंग्यार्थ नहीं।"

विमर्शिनी

वैदग्ध्येत्यनेन वक्रोक्तेः स्वरूपमुक्तम्। यदाह—'वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते' इति। एवकारोऽन्यस्य काव्यजीवितत्वव्यवच्छेदकः। काव्यजीवितमिति काव्यस्यानुप्राणकम्। तां विना काव्यमेव न स्यादित्यर्थः। यदाह—विचित्रो यत्र वक्रोक्तिवैचित्र्यं जीवितायते' इति। व्यापारस्येति कविप्रतिभोल्लिखितस्य कर्मणः। कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वमन्तरेण हि वक्रोक्तिरेव न स्यादिति कस्य जीवितत्वं घटत इति तदनुपक्तमेवाम्नास्यात्र प्राधान्यं विवक्षितम्। अतश्च द्वयोः प्राधान्यस्य दुर्योजत्वमत्र नाशङ्कनीयम्।

"वैदग्ध्यभङ्गीभणिति" यह वक्रोक्ति का लक्षण है, जैसा कि (कुन्तक ने कारिका में) कहा है—

"उभावेतावलंकार्यौ तयोः पुनरलंकृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभंगीभणितिरुच्यते॥" १।१० कारिका॥

शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं, और उन दोनों का अलंकार है केवल वक्रोक्ति जिसका स्वरूप है "वैदग्ध्यभङ्गीभणिति" = अर्थात् वैदग्ध्य के कारण भंगिमा (बाँकपन) के साथ बोलना। "केवल वक्रोक्ति" इस प्रकार केवल शब्द के प्रयोग का अर्थ है कि अन्य कोई तत्त्व काव्य का जीवातु नहीं हो सकता। काव्यजीवित शब्द का अर्थ है वह तत्त्व जो काव्य को (अकाव्य से भिन्न कर) काव्यत्व प्रदान करे। फलतः आशय यह हुआ कि वक्रोक्ति के विना काव्य काव्य ही नहीं हो सकेगा। जैसा कि (कारिका में कुन्तक ने) कहा भी है—"विचित्र [मार्ग] वह है जिसमें वक्रोक्ति की

विचित्रता जीवन (या प्राण) का काम करती है॥" [कारिका १।४२] व्यापार अर्थात् कवि-प्रतिभा से उल्लिखित कर्म। वक्रोक्ति तब तक वक्रोक्ति ही नहीं हो सकती जब तक वह कविप्रतिभा से निष्पन्न न हो और जब वह वक्रोक्ति ही सिद्ध नहीं हो सकेगी तब उसमें काव्यजीवितत्व कैसे संभव होगा! इसलिए यहाँ जो व्यापार की प्रधानता की बात कही जा रही है वह वक्रोक्ति की प्रधानता की बात को ध्यान में रखकर ही कही गई है, "इसलिए एक ही काव्य में दो की प्रधानता कठिन है"—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए।

विमर्श—निर्णयसागर और मोतीलालबनारसीदाससंस्करण में यह मूल छपा है "व्यापारस्य प्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे"। इसमें या तो "व्यापारप्राधान्यं च काव्यस्य प्रतिपेदे" ऐसा पाठ होना चाहिए जैसा कि संजीविनीकार ने स्वीकार किया है, या फिर "व्यापारस्य प्राधान्यं च प्रतिपेदे" ऐसा। अर्थात् या तो व्यापार शब्द से षष्ठीविभक्ति हटाई जानी चाहिए या "काव्यस्य" यह पद। विमर्शिनी में "व्यापारस्येति" ऐसा प्रतीक दिया हुआ है अत उसके अनुसार "काव्यस्य" शब्द ही अधिक है। इसलिए हमने उसे कोष्ठक में डाल दिया है।

वक्रोक्तिजीवितकार ने एक बार वक्रोक्ति को प्रधान बतलाया और एक बार व्यापार को। इसकी संगति लगाते हुए विमर्शिनीकार ने लिखा कि इ व्यापार का अर्थ कविप्रतिभागत व्यापार है। यदि वह न हो तो वक्रोक्ति में वक्रोक्तित्व ही निष्पन्न न हो क्योंकि कविप्रतिभा जिसमें नहीं रहती उसकी उक्ति में वक्रता नहीं आती। फलतः साध्यसाधनभाव होने से दोनों की प्रधानता मानी जा सकती है, वस्तुतः रहती तो प्रधानता केवल वक्रोक्ति की ही है।

हमारी समझ में टीकाकार की ऐसी संगति निरापद नहीं। वक्रोक्ति 'उक्ति'रूप है और उक्ति कथन व्यापार है, फलतः काव्य में यदि वक्रोक्ति प्रधान है तो इसका निषेध नहीं किया जा सकता कि व्यापार भी प्रधान है। व्यक्तिविवेककार आदि के अनुसार कुन्तक को व्यापार का अर्थ अभिधावृत्ति जैसी वृत्ति ही यहाँ मान्य है। समुद्रबन्ध ने भी भट्टनायक और वक्रोक्तिजीवितकार को व्यापारप्राधान्यवादी आचार्य माना है। यहाँ व्यापार को अभिधादिरूप व्यापार स्वीकार करने पर ही उसका खण्डन भी किया जा सकता है क्योंकि 'कविप्रतिभाव्यापार' की प्रधानता काव्य में अस्वीकार नहीं की जा सकती। आनन्दवर्धनाचार्य इसीलिए प्रतीयमान अर्थ की व्यंजक पदावली (सरस्वती) में अलौकिक और विशिष्ट प्रतिभा का परिस्फुरण स्वीकार करते हैं—

> सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
> अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥ उद्योत १।

"प्रतिभा का उन्मेष ही विश्व का उन्मेष है"—ऐसा अभिनव गुप्त भी मानते हैं—

> 'यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।'

प्रत्येक आचार्य ने काव्य के प्रति प्रतिभा को प्रधान कारण माना ही है।

विमर्शिनीकार के मत में व्यापार शब्द का अभिधा अर्थ करने में जो आपत्ति है वह यही है कि कथनव्यापार कण्ठताल्वादि के अभिघात से होने वाला उच्चारणरूपी व्यापार है और वक्रोक्ति अलंकाररूप है। अलंकार उच्चारणरूप नहीं है, फलतः कथनव्यापार या उक्ति भी उन्हें नहीं कहा जा सकता। किन्तु ग्रन्थकार अलंकार को व्यापारस्वरूप और उक्तिरूपव्यापारस्वरूप ही बतला रहा है, फलतः उन्होंने व्यापार को कविप्रतिभाव्यापारपरक माना और शंका को निर्मूल किया। परन्तु ऐसा करते हुए वे यह भूल गये कि उन्हें पूर्वपक्ष पर विचार करना है जो खण्डनीय है।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि कुन्तक ने अलंकार को अभिधाव्यापार स्वरूप माना है या नहीं। हमें वक्रोक्तिजीवित में एक भी ऐसा स्थल नहीं मिला जहाँ अलंकार को अभिधात्मक कहा

गया हो। उन्हें अभिधेय अवश्य कहा गया है। किन्तु व्यक्तिविवेककार ने ध्वनिलक्षण का खण्डन करते हुए ध्वनिकारिका में शब्द और अर्थ के ही समान अभिधा को भी शब्दतः उपादेय बतलाया है और लिखा है—

"किंच यथा अभिधेयोऽर्थः तद्विशेषणं चोपात्तं तद्वदभिधाप्युपादानमर्हत्येव, अन्यथा यत्र दीपकादेरलंकारादलंकारान्तरस्योपमादेः प्रतीतिस्तत्र ध्वनित्वमिष्टं न स्यात्, तल्लक्षणेनाव्याप्तेः। अलंकाराणां चाभिधात्मत्वमुपगतं तेषां भङ्गीभणिति-भेदरूपत्वात्" [हिन्दीव्यक्तिविवेक पृष्ठ २२]

व्यक्तिविवेक के टीकाकार जो अलंकारसर्वस्वकार से अभिन्न हैं ने इस प्रकरण पर भी अलंकारों की अभिधात्मकता पर व्यंजनावादी की ओर से आक्षेप किया है। हमने चौखंभा से प्रकाशित अपने हिन्दीव्यक्तिविवेक में यह अंश भलीभाँति स्पष्ट कर दिया है। उसे वहाँ से देख लेना चाहिए।

विमर्शिनी

अलंकारा इति। तेनोक्ता इति शेषः। एवकारश्चिरंतनोक्तध्वनिप्रकारविशेषण्यवच्छेदकः। सत्यपीति। सदपि प्रतीयमानमनादृत्येत्यर्थः। व्यापाररूपेति वक्रस्वभावेत्यर्थः। भणिति-रियुक्तिः। कवीति। तत्रैव कवेः संरब्ध इत्यर्थः। तत्संरम्भमन्तरेण हि वक्रोक्तिरेव न स्यात्। ननु च प्रतीयमानस्यानादरः किमभावमुखेनान्यथा वा कृत इत्याशङ्क्याह—उप-चारेत्यादि। उपचारवक्रतादीनामेव मध्ये ध्वनिरन्तर्भूत इति तात्पर्यार्थः। यदाह—

'यत्र दूरान्तरेऽन्यस्मात्सामान्यमुपचर्यते। लेशेनापि भवेत्कर्तुं किंचिदुद्रिक्तवृत्तिताम् ॥
यन्मूला सरसोल्लेखा रूपकादिरलंकृतिः। उपचारप्रधानासौ वक्रता काचिदिष्यते ॥' इति।

एतामेवोदाजहार च—

'गअणं च मत्तमेहं धाराललिअज्जुणाइं अ वणाइं।
णिरहंकारमिअङ्का हरन्ति णीलाओ वि अ णिसाओ ॥'

अत्र मदनिरहंकारत्वे औपचारिके इत्युपचारवक्रता। आदिपदेन क्रियावक्रतादीनामपि ग्रहणम्। एवं सर्वोऽपि ध्वनिप्रपञ्चो वक्रोक्तिभिरेव स्वीकृतः सम्स्थित एव। यदि परं तस्य प्राधान्यमेव नास्तीत्याह—केवलमित्यादि। तदीयमिति। वक्रोक्तिजीवितकारसंबन्धी-त्यर्थः। तदित्थं लक्षणामूलवक्रोक्तिमध्यान्तर्भावाद्ध्वनेरेव तत्त्वं प्रतिपादितम्।

अलंकार = वक्रोक्तिजीवितकार द्वारा प्रतिपादित अलंकार। "अलंकार अभिधारूप ही हैं" यहाँ "ही" शब्द द्वारा इसका खण्डन किया गया कि अलंकार भेदप्रभेदरूप से ध्वनि में अन्तर्भूत हो सकते हैं। सत्यपि अर्थात् भले ही तीनों ही प्रकारका प्रतीयमान अर्थ स्वीकार कर लिया तब भी कवि का आदर उसमें नहीं रहता है। व्यापाररूपा = वक्रस्वभावा। भणिति = उक्ति। कविसं० = अर्थ यह कि कवि मुख्यतः व्यापाररूप वक्रभणिति में ही प्रयत्नशील रहता है। क्योंकि कविसंरंभ के बिना कोई भी उक्ति वक्रोक्ति ही नहीं बन सकती ?

प्रश्न उठता है कि प्रतीयमान अर्थ का अनादर वक्रोक्तिकार ने किस प्रकार से किया है ? उसका अभाव मानकर अथवा और किसी प्रकार से ? इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—उपचार आदि। इसका तात्पर्य यह कि ध्वनि को उपचारवक्रता आदि में ही अन्तर्भुक्त मान लिया है। जैसा कि वक्रोक्तिकार ने कहा है—"जहाँ (अन्य गुणों के कारण) अत्यन्त भिन्न (प्रस्तुत) पदार्थ में किसी भिन्न (अप्रस्तुत) पदार्थ का सामान्य (साधारण) धर्म भले ही वह बहुत ही छोटा क्यों न हो, इसलिए प्रतिपादित किया जाता है कि उस वर्णनीय प्रस्तुत पदार्थ में अतिशय आ सके, उसे

उपचारवक्रता कहा जाता है। अत्यन्त सरस रूपकादि अलङ्कार का मूल यही उपचारवक्रता होती है।" [१।१३,१४ कारिका वक्रोक्तिजीवित] और उदाहरण भी दिया है—

'गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीलाश्च निशा ॥"

अर्थात् मत्त मेघों से युक्त आकाश, [मेघमुक्त] जलधाराओं से धुले अर्जुन वृक्षवाले वन, तथा अहंकारशून्य चन्द्रमावाली नीली निशाएँ भी चित्त आकृष्ट करती हैं।" [गउडवह] यहाँ मेघों में 'मद' और चन्द्रमा में "अहङ्कारशून्यता" उपचरित (अर्थात् मेघ तथा चन्द्र में नशे से युक्त और हतप्रभ व्यक्तियों के सादृश्य के कारण प्रयुक्त) हैं। अतः यहाँ उपचारवक्रता (है। आदि शब्द से क्रियावक्रता) आदि भेद लिए जा सकते हैं (क्रियावक्रता में भी कुन्तक ने 'उपचारमनोज्ञता-' नामक भेद बतलाया है। (द्रष्टव्य-वक्रोक्तिजीवित पृष्ठ २६६ विश्वेश्वर संस्करण) इस प्रकार ध्वनि का सम्पूर्ण प्रपंच भिन्न-भिन्न वक्रोक्तियों के नाम से अपना लिया गया है, परन्तु उसका प्राधान्यमात्र स्वीकार नहीं किया गया है। इस तथ्य को कहने के लिए लिखा = "केवल" इत्यादि। तृतीय = अर्थात् वक्रोक्तिजीवितकार का। इस प्रकार कुन्तक ने बतलाया तो ध्वनि-तत्त्व ही किन्तु स्वतन्त्ररूप से नहीं अपितु लक्षणामूलवक्रोक्ति के भेदों में अन्तर्भूत करके।

विमर्श.—विमर्शिनी के निर्णयसागर संस्करण में "मदनिरहङ्कारत्वे औपचारिके इत्युपचारवक्रतादीनामपि ग्रहणम्"—ऐसी पंक्ति छपी है। यहाँ "उपचारवक्रता" के पश्चात् "आदिपदेन वक्रतादीनामपि ग्रहणम्" यह अंश अवश्य ही रहा है। कदाचित् मुद्रण में छूट गया है। उपचारवक्रता के बाद कुन्तक ने "विशेषणवक्रता" का निरूपण किया है किन्तु उसमें उपचार (लक्षणा) ध्यान में नहीं आता। आगे क्रियावक्रता के "उपचारमनोज्ञता" आदि भेदों में ही वह काम में आती है अतः हमने "वक्रतादीनां" की पूर्ति 'क्रियावक्रतादीनां' इस प्रकार कर दी है। इस विषय में सञ्जीविनी से कोई प्रकाश नहीं मिलता।

विमर्शिनी

केश्चिदप्यस्य वागविषयत्वादलक्षणीयत्वमुक्तमित्याह—भट्टनायकेत्यादि।

"कुछ आचार्यों ने ध्वनि को वाणी का अविषय = अनिर्वचनीय और इसलिए अलक्षणीय कहा है" उस विषय को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—भट्टनायक आदि।

[सर्वस्व]

भट्टनायकेन तु व्यङ्ग्यव्यापारस्य प्रौढोक्त्याभ्युपगतस्य काव्यांशत्वं ब्रुवता न्यग्भावितशब्दार्थस्वरूपस्य व्यापारस्यैव प्राधान्यमुक्तम्। तत्राप्यभिधाभावकत्वलक्षणव्यापारद्वयोत्तीर्णो रसचर्वणात्मा भोगापरपर्यायो व्यापारः प्राधान्येन विश्रान्तिस्थानतयाङ्गीकृतः।

भट्टनायक ने व्यङ्ग्यव्यापार को स्वीकार तो किया है किन्तु उसका लक्षण नहीं किया और उसे (स्वतन्त्रः स्वीकार करके भी) काव्य का अंश (ही) बतलाया है, (उन्होंने) प्राधान्य माना है व्यापार का ही तथा शब्द और अर्थ दोनों को उस (व्यापार) की अपेक्षा गुणभूत और अप्रधान (दबा हुआ) बतलाया है। व्यापारों में भी (इन्होंने) अभिधा और भावकता नामक दो व्यापारों से उनके आगे आने वाला भोगनामक रसचर्वणास्वरूप व्यापार ही प्रमुख रूप से हृदयविश्रान्तिकारी माना है।

विमर्शिनी

प्रौढोक्त्येति। न पुनर्लक्षणकरणेन। अत एवोक्तेः प्रौढत्वं यल्लक्षयितुमशक्यैस्तस्याप्यभ्युपगमः। काव्यांशत्वमिति न पुनः काव्यात्मत्वम्। यदाह—

'ध्वनिर्नामापरो योऽपि व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।
तस्य सिद्धेऽपि भेदे स्यात्काव्यांशत्वं न रूपिता॥' इति।

व्यापारस्येति। कविकर्मणः। अन्यथा शब्दप्रधानेभ्यो वेदादिभ्योऽर्थप्रधानेभ्यश्चेतिहासादिभ्यः काव्यस्य वैलक्षण्यं न स्यात्। यदुक्तम्—

'शब्दप्राधान्यमाश्रित्य तत्र शास्त्रं पृथग्विदुः।
अर्थतत्त्वेन युक्तं तु वदन्त्याख्यानमेतयोः॥
द्वयोर्गुणत्वे व्यापारप्राधान्ये काव्यधीर्भवेत्'॥ इति।

तत्रापीति। कविकर्मरूपस्य व्यापारस्य प्राधान्ये सत्यपीत्यर्थः। 'अभिधा भावना चान्या तद्भोगीकृतिरेव च' इति काव्यं तावत् त्र्यंशं तेनोक्तम्। तत्रापि—

'अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो मतः॥'

इत्यंशद्वयस्य विषयं प्रतिपाद्य 'तद्भोगीकृतिरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः' इति तृतीयोऽंशः सहृदयगतस्तदंशद्वयचर्वणात्मा 'दश्यमानाथवा मोक्षे चात्यङ्गत्वमियं स्फुटम्' इत्युक्त्या परमब्रह्मास्वादसविधवर्ती विश्रान्तिधामतयाभ्युपगतः। तदेवं यद्यपि

'तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती, द्विधा।
अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥'
'रसस्य कार्यता भोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥' इति

नीत्या बहवो विप्रतिपत्तिप्रकाराः संभवन्ति, तथापि

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्'—
इत्युक्तनीत्यैव ध्वनेर्विप्रतिपत्तिप्रकारत्रयमिह प्राधान्येनोक्तम्।

प्रौढोक्तिद्वारा, न कि लक्षणनिर्वचन के द्वारा। इसलिए उक्ति को प्रौढ कहा गया क्योंकि जिसका लक्षण नहीं किया जा सकता उसको भी स्वीकार किया जा रहा है। **काव्यांशत्व**, काव्यात्मत्व नहीं। जैसा कि (भट्टनायक ने) कहा भी है—"ध्वनि नामक जो एक और व्यंजनात्मक व्यापार है, उसकी यदि (अभिधा भावना, भोग–इन तीन व्यापारों से) भिन्नता भी सिद्ध हो जाय तब भी उसे काव्य का एक अंश ही माना जाएगा, आत्मतत्त्व नहीं।" **व्यापारस्यैव** के व्यापारशब्द का अर्थ है कविकर्म। नहीं तो शब्दप्रधान वेद आदि से तथा अर्थप्रधान पुराणआदि से काव्य की भिन्नता सिद्ध नहीं हो सकेगी, जैसा कि कहा है—"शास्त्र (काव्यादि से) भिन्न होता है क्योंकि उसमें शब्दकी प्रधानता रहती है। (पुराण आदि) आख्यानों में अर्थ की प्रधानता रहती है। ये दोनों (शब्द और अर्थ) काव्य तब कहलाते हैं जब वे दोनों अप्रधान रहते हैं और व्यापार प्रधान। **तत्रापि** उसमें भी अर्थात् व्यापार की प्रधानता रहने पर भी। भट्टनायक काव्य के तीन अंश माने हैं (१) अभिधा (२) भावना और (३) भोग। इनमें भी अभिधा का विषय

माना है शब्द और अर्थों के अलङ्कारों को तथा भावना का विषय माना है शृङ्गारादि के साधारणीकरण को। इस (रस) की भोगीकृति, भोग या भोक्तृत्व को सिद्धिमान् (सहृदय) जन के हृदय को व्याप्त कर देने वाला बतलाया है। इस प्रकार यह तृतीय व्यापार सहृदय में रहता है और इसमें पूर्वोक्त (अभिधा अर्थात् इसके विषय अलङ्कार तथा भावना अर्थात् उसका विषय साधारणीभूत विभावादि सामग्री) दोनों भी प्रतीत होते हैं। यह (भोगीकृति) मोक्ष का भी अंग बनती देखी जाती है (२)।" इस प्रकार तृतीय व्यापार को ब्रह्मास्वादतुल्य माना गया है इसलिए कि इसमें भी वैसा ही विश्राम मिलता है जैसा ब्रह्मास्वाद में।

इस प्रकार यद्यपि (१) तात्पर्यशक्ति (२) अभिधा (३) लक्षणा (४-५) (स्वार्थ और परार्थ दो प्रकार की) अनुमिति (६-७)-(श्रुतार्थापत्ति और अर्थापत्ति इस प्रकार) दो प्रकार की अर्थापत्ति (८) तन्त्र (अनेकार्थक शब्द प्रयोग) (९) समासोक्ति आदि अलङ्कार (१०) रस की कार्यता (११) रस का भोग (१२) (व्यञ्जनाख्य) अन्य व्यापार का बाध 'इस प्रकार ध्वनि पर बारह विप्रतिपत्तियाँ हैं।' इस कथन के अनुसार और भी विप्रतिपत्तियाँ उठाई जा सकती हैं तथापि उपर्युक्त प्रसंग में केवल उन्हीं तीन विप्रतिपत्तियों को प्रस्तुत किया गया है जो निम्नलिखित ध्वनिकारिका में प्रस्तुत की हैं—"काव्यस्यात्मा" अर्थात् 'जिस ध्वनि को अनेक विद्वानों ने मिलकर काव्य की आत्मा ठहराया उसके विषय में कुछ लोग यह कहते सुने गए हैं कि वह 'है ही नहीं', कुछ लोग उसे लक्षणास्वरूप मानते सुने जा रहे हैं और यह कि वह कोई न कोई तत्त्व है तो अवश्य किन्तु वाणी से परे है।' ये ही आपत्तियाँ वस्तुतः प्रधान हैं।

विमर्श—(१) भट्टनायक का सिद्धान्त उन्हीं के शब्दों में यहाँ जितना प्रस्तुत किया गया है उतना लोचन और अभिनवभारती में भी नहीं। इस प्रसंग में "दृश्यमानाथवा मोक्षे" का अभिप्राय पूर्वप्रसङ्ग के बिना सन्दिग्ध है। भोगीकृति का देखा जाना और तब इसका मोक्ष में अंग बनाना विचित्र सी स्थापना है। लोचन और अभिनवभारती में यह अंश उद्धृत नहीं है। सञ्जीविनी टीका में इस पूरे ही प्रसंग पर कोई विस्तृत विचार नहीं है। 'भोगीकृति'-भी यदि काश्मीरियों के परमशिव का या संविद्भट्टारिका की कोई कला है तो इसका दर्शन स्पर्शरूप या परामर्शरूप होगा तब दृश्यमाना की अपेक्षा 'स्पृश्यमाना' शब्द अधिक उपयुक्त होगा। मोक्ष का अर्थ यहाँ विघ्नरूप असाधारणत्व से छुटकारा नहीं किया जा सकता क्योंकि असाधारणत्व के निराकरण अर्थात् साधारणीकरण में अंग अर्थात् कारण माना गया है भावनाव्यापार, भोगव्यापार नहीं। अंग शब्द का अर्थ अंश किया जाय तो भावना ही भोग का अंश मानी गयी है, भावना का भोग नहीं। मोक्ष का अर्थ चतुर्थपुरुषार्थ मुक्ति ही यहाँ अभिप्रेत है यह तथ्य ब्रह्मास्वाद की चर्चा से भी पुष्ट होता है।

(२) यहाँ जो बारह आपत्तियाँ ध्वनि के विपक्ष में उठाई गई हैं ये साहित्यशास्त्र में प्रायः प्रसिद्ध हैं। तात्पर्यशक्ति दशरूपक ४-प्रकाश, काव्यप्रकाश ५-उल्लास और लोचन में चर्चित है, अभिधा और लक्षणा ध्वन्यालोक १,-२ उद्योत, काव्यप्रकाश-२,५ उल्लास, साहित्यदर्पण आदि में, अनुमिति और अर्थापत्ति व्यक्तिविवेक, ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश आदि में तन्त्र और अलंकार उद्भट, कुन्तक आदि के ग्रन्थों में और रस की कार्यता लोल्लट के रसोत्पत्तिवादप्रसंग प्रस्तुत करने वाले लोचन, अभिनवभारती, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में, तथा भोग—रसमीमांसा वाले सभी ग्रन्थों में। भट्टनायक के मत के निरूपण में व्यञ्जना का पृथक् शब्दव्यापार न माना जाना उक्त सभी आपत्तियों का मूल है। यहाँ तन्त्र शब्द से शब्दालंकार और समासोक्ति आदि अर्थालंकार में ध्वनि के अन्तर्भाव का संकेत है। श्लेष यहाँ अनेकार्थक शब्दों का बदलना

संभव न हो शब्दालंकार माना जाता है। शब्दशक्ति मूलक ध्वनि का उसी में अन्तर्भाव दिखलाया जा सकता है।

यद्यपि उक्त सभी आपत्तियाँ सुविदित हैं तथापि द्वादश दोष प्रस्तुत करने वाली "तात्पर्या शक्तिः" इत्यादि कारिका पहिली बार यहीं विमर्शिनी में ही मिली है अतः यह किसकी है यह विचारणीय है। महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में ध्वनि पर जो दस दोष दिखलाएँ हैं उनकी संग्रह-कारिकाओं से यह कारिका सर्वथा भिन्न है। लोचन और अभिनवभारती में यह कारिका हमें नहीं मिली। संभवतः यह भी भट्टनायक की ही हो। भट्टनायक का हृदयदर्पण या उसके अधिकांश संभवतः विमर्शिनीकार को उपलब्ध रहे।

विमर्शिनी

एवमिदानीमेतद्विप्रतिपत्तिप्रकारत्रयं निराकुर्वन् ध्वनेरेव काव्यात्मत्वं साधयति—ध्वनिकार इत्यादिना।

इस प्रकार उक्त तीनों विप्रतिपत्तियों का निराकरण करते हुए एवं ध्वनि को ही काव्य की आत्मा सिद्ध करते हुए लिखते हैं—ध्वनिकार इत्यादि—

[सर्वस्व]

ध्वनिकारः पुनरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यव्यापारत्रयोत्तीर्णस्य ध्वननद्योतनादिशब्दाभिधेयस्य व्यञ्जनव्यापारस्यावश्याभ्युपगम्यत्वाद् व्यापारस्य च वाक्यार्थत्वाभावाद् वाक्यार्थस्यैव च व्यङ्ग्यरूपस्य गुणालंकारोपस्कर्तव्यत्वेन प्राधान्याद् विश्रान्तिधामत्वादात्मत्वं सिद्धान्तितवान्।

व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यात् स्वरूपेण विदितत्वाभावाद् विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम्। तस्माद् विषय एव व्यङ्ग्यनामा जीवितत्वेन वक्तव्यः, यस्य गुणालंकारकृतचारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यम्। रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्, रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्माद् व्यङ्ग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः। व्यञ्जनव्यापारस्य सर्वैरनपह्नुतत्वात् तदाश्रयेण च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात्।

इन सब मतों के विरुद्ध ध्वनिकार (आनन्दवर्धनाचार्य) ने यह सिद्धान्त स्थापित किया है कि काव्य का वाक्यार्थ (अन्तिम अतः तात्पर्यविषयीभूत प्रधान अर्थ) व्यंग्यरूप अर्थ ही है क्योंकि उसी में विश्रान्ति (जिज्ञासा की शान्ति) होती है और गुण तथा अलंकार उसी अर्थ की शोभा बढ़ाते है अतः वही अर्थ प्रधान और (काव्य का) आत्मभूत अर्थ होता है। (इस अर्थ को उन्होंने व्यंग्य इसलिए कहा है कि इसकी प्रतीति अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा नामक तीनों व्यापारों से नहीं हो पाती, उसके लिए इन तीनों के बाद काम में आने वाला और ध्वनन, द्योतन आदि शब्दों से पुकारा जाने वाला व्यंजनानामक एक अतिरिक्त व्यापार मानना पड़ता है, क्योंकि व्यंजना एक व्यापार है और व्यापार वाक्यार्थ नहीं हो सकता (वह अर्थप्रतीति का साधनमात्र है) अतः उसके अर्थ व्यंग्य को ही वाक्यार्थ और प्रधान माना जाता है।

(और यह ठीक भी है क्योंकि) व्यापार को व्यापारता तभी प्राप्त होती है जब वह अपने विषय को निष्पन्न करता है अतएव उस (व्यापार) में प्रधानता भी उस (विषय) की प्रधानता के कारण (उपचार द्वारा) आती है। इस प्रकार क्योंकि व्यापार का विचार (विषयनिरपेक्षतया) केवल व्यापाररूप से नहीं किया जा सकता (विषयसापेक्षतया ही किया जा सकता है) अतः (विचार का) समस्त भार केवल विषय ही उठा सकता है। इसलिए (व्यञ्जनाव्यापार नहीं अपितु उसका) व्यङ्ग्यात्मक विषय ही (काव्य का) जीवित (प्रधानतत्त्व) कहा जाना चाहिए और (पूर्वाचार्यों द्वारा काव्यात्मरूप से सिद्धान्तित) गुण तथा अलङ्कार जो शोभा उत्पन्न करते हैं उसकी प्राप्ति का एकच्छत्र अधिकार भी उसी (विषयरूप व्यङ्ग्यार्थ) को है। व्यङ्ग्यार्थ रसादिस्वरूप होता है अतः) जो अर्थ रसादिरूप में (काव्य की) आत्मा है (वह तो अलङ्कार्य है) उसे अलङ्कार नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अलङ्कार का धर्म है शोभा बढ़ाना और रसादि का धर्म है शोभित होना, क्योंकि वे प्रधान हैं। इसलिए वाक्यार्थ को समझने वाले सहृदयों की यही पक्ष रचना है कि "(स्वयं व्यञ्जना नहीं अपितु) व्यञ्जना द्वारा प्रतिपाद्य (व्यङ्ग्य) अर्थ ही (काव्यवाक्य का) प्रधान प्रतिपाद्य अर्थ है और वही काव्य की आत्मा है।" (व्यञ्जना-विरोधी) सबके सब (आचार्य) व्यञ्जना का खण्डन नहीं कर सके और उस (व्यञ्जना) के आधार पर दूसरा कोई पक्ष प्रतिष्ठित नहीं हो सकता (अर्थात् व्यापार का नाम यदि व्यञ्जना है तो तत्प्रतिपाद्य अर्थ को व्यङ्ग्य से भिन्न कुछ नहीं कहा जा सकता)।

विमर्शिनी

समयापेक्षार्थावगमशक्तिरभिधा। सामान्यानां परस्परान्वितत्वेन विशेषार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यम्। मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणा। एतद्व्यापारत्रयादुत्तीर्णस्य तदतिरिक्तस्येत्यर्थः। तथा च 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र गङ्गाशब्दो घोषशब्दश्च सामान्यात्मके जलप्रवाहे गृहनिकुरम्बे च संकेतितौ। सामान्य एवोपयोगात्। विशेषस्य हि सङ्केतकरणे आनन्त्यं व्यभिचारश्च स्यात्। ततश्चाभिधया जलप्रवाहमात्रं गृहनिकुरम्बमात्रं च प्रतीतमित्येका कक्ष्या। एतत्प्रतिपाद्यान्यप्रतिपादनायामभिधा न समर्था। 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इत्याद्युक्तयुक्त्या तस्या विरम्य व्यापारासंभवात्। 'सामान्यान्यन्यथासिद्धेर्विशेषं गमयन्ति हि' इति न्यायात्तात्पर्यशक्त्या सामान्यान्याधाराधेयभावेनावस्थितं विशिष्टं गङ्गाघोषपदार्थमागूरयन्तीति तात्पर्येण परस्परान्वितत्वमात्रमेव प्रतीयत इति द्वितीया। जलप्रवाहस्य च घोषाधिकरणत्वमयुक्तमिति प्रमाणान्तरबाधितः सन् गङ्गाशब्दस्तदधिकरणयोग्यं तटं लक्षयतीति तृतीया। तत्र तावत्

'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥' इति

नीत्या लक्षणा त्रितयसंनिधावेव भवति। तत्र मुख्यार्थबाधा तावत्प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरमूला। यश्च सामीप्यादिसम्बन्धः स च प्रमाणान्तरावगम्य एव। यत्पुनरिदं घोषस्य शैत्यपावनत्वादिलक्षणं प्रयोजनं प्रतीयते तच्छब्दान्तरानुक्तं प्रमाणान्तराप्रतिपन्नं च कुत आगतम्। न तावत्प्रत्यक्षादेस्तत्प्रतीतिः, अस्मादेव शब्दादवगमसिद्धेः। शब्दार्थे च तस्याप्रवृत्तेः। नाप्यनुमानात्। सामीप्येऽपि शैत्यपावनत्वादेरसंभवादनैकान्तिकत्वात्। न स्मृतिः। तदनुभवाभावात्। सत्यामपि वा तस्यां नियतस्मरणं न स्यात्। अस्मादेव च शब्दादेतदेव बुध्यत इति को हेतुः। तस्मादस्यैव शब्दस्यैष व्यापारोऽ-

भ्युपगन्तव्यः । निर्व्यापारस्यार्थप्रतीतिकारित्वाभावात् । स तावन्नाभिधात्मा । समयाभावात् । न तात्पर्यात्मा । तस्यान्वयप्रतीतावेव परिक्षयात् । न लक्षणात्मा । मुख्यार्थबाधाद्यभावात् । तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थकक्ष्यानिक्षिप्तो व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनाव्यापारोऽभिहितान्वयवादिनावश्याभ्युपगन्तव्यः । अन्विताभिधानवादिनापि यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छतापि नैमित्तिकार्थानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्त इति निमित्तपरिकल्पनेऽपि समग्रैवेयं प्रक्रियानुसरणीयैवेत्युभयथापि सिद्ध एव व्यञ्जनव्यापारः । एतच्च गहनगहनमिति मनागेव सिद्धरसन्यायेनेहोक्तम् ।

जो शक्ति [इस शब्द से यह अर्थ विदित हो ऐसे] संकेत के सीधे अर्थ का ज्ञान कराती है उसे अभिधा कहा जाता है। सामान्य (स्वरूप-) रूप से (अलग-अलग) उपस्थित अर्थों का (कर्तृकर्मत्वादिरूप से) परस्पर अन्वित स्थिति में विशेष (कर्तृत्वादि की आश्रयता आदि रूप) अर्थ का ज्ञान कराने वाली शक्ति तात्पर्य कहलाती है। लक्षणा वह शक्ति है जो मुख्य अर्थ के बोध आदि सहकारी कारणों के आधार पर अर्थ का ज्ञान कराती है। इन तीनों से उत्तीर्ण अर्थात् तीनों से भिन्न। उदाहरणार्थ जैसे "गंगा पर घोष" यह वाक्य। इसमें गंगाशब्द और घोषशब्द क्रमशः सामान्य (असंबद्ध) जल प्रवाह और गृहसमुदाय रूपी अर्थों में संकेतित हैं, क्योंकि शब्द की प्रवृत्ति सामान्य अर्थ की ही ओर होती है। यदि विशेष (संबद्ध) अर्थ में संकेत माना जाय तो अनन्त संकेत मानने होंगे (क्योंकि संबन्ध अनन्त होते हैं) और उतने संकेत मानने पर भी कुछ (नष्ट, दूरस्थ और अनुत्पन्न) अर्थ अविदित ही रह जावेंगे (क्योंकि संकेत केवल सामने विद्यमान अर्थ में ही किया जा सकता है)। इस प्रकार अभिधा के द्वारा केवल जलप्रवाह और गृहसमुदाय का ज्ञान हुआ। यह हुई ज्ञान की प्रथम कक्षा। अभिधा इतना अर्थ बतलाकर और कोई अर्थ नहीं बतला सकती। "अभिधा यदि विशेषण का ज्ञान करा देती है तो फिर वह विशेष्य का ज्ञान नहीं करा पाती क्योंकि (वह एक व्यापार है अतः) इसके एक बार रुक जाने के बाद उसकी पुनः प्रवृत्ति संभव नहीं।" सामान्य विशेष से रहित नहीं रहते अतः वे विशेष का ज्ञान कराते ही हैं।" यह एक माना हुआ सिद्धान्त है। इसके आधार पर (असंबद्ध और) साधारणरूप से उपस्थित गंगा और घोष आदि तात्पर्यशक्ति के द्वारा परस्पर में संबद्ध गंगा और घोष आदि का ज्ञान कराते हैं। यह हुई (संबद्ध अर्थों के ज्ञान की) दूसरी कक्षा, किन्तु (गंगा का अर्थ) जलप्रवाह घोष का आधार बन नहीं सकता, यह प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित है, इसलिए गंगाशब्द (घोष) के अधिकरण बनने योग्य तटरूपी अर्थ को लक्षणा द्वारा प्रस्तुत कराता है, यह हुई तीसरी कक्षा इसमें जो लक्षणा है वह "मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थसंबन्ध तथा रूढि और प्रयोजन में से कोई एक, इस प्रकार तीन की सहायता से जो शक्ति दूसरे अर्थ का ज्ञान कराती है उसे लक्षणा कहा जाता है यह वस्तुतः है तो मुख्यार्थ का व्यापार किन्तु मानी जाती है मुख्यार्थवाचक शब्द में" (काव्यप्रकाश. २ उ०)। इस नियम के अनुसार मुख्यार्थबाधादि तीनों के जुटने पर ही अर्थज्ञान कराती है। इन तीनों में जो मुख्यार्थबाध है वह शब्दप्रमाण से भिन्न प्रत्यक्षप्रमाण से प्राप्त है। इसी प्रकार (गंगाप्रवाह और तट आदि का सामीप्यादि संबन्ध भी प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरों से ही जान लिया जाता है। किन्तु यह जो (गंगागत) शैत्यपावनत्व की घोष में प्रतीति होती है वह न तो किसी शब्द से ही कही जा रही है और न किसी अन्य प्रमाण से ही जानी जा सकती, अतः प्रश्न उठता है कि उसकी प्रतीति कैसे होती है। प्रत्यक्ष से ही उसकी प्रतीति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि यह नहीं माना जा सकेगा कि [गंगा आदि] से ही उसकी

प्रतीति हो रही है [जो कि अनुभव सिद्ध है]। साथ ही प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति शब्द प्रमाण से विदित होने वाले अर्थ में नहीं होती (क्योंकि शब्दप्रमाण से तभी अर्थज्ञान कराया जाता है जब वह अन्य किसी प्रमाण से समव नहीं होता = अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः । उसकी प्रतीति अनुमान से भी नहीं होती क्योंकि गगाप्रवाह का तट से या घोष से जो सबन्ध है वह सामीप्यरूपी सबन्ध है और सामीप्यसबन्ध से गगाप्रवाहगत शैत्यपावनत्व या तट या घोष में पहुचना सभव नहीं, अत तट, घोष और शैत्यपावनत्वादि में ऐकान्तिकता (व्याप्तिसबन्ध) नहीं है (फलत. अनुमान से शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति समव नहीं) घोष में शैत्यपावनत्वादि का स्मृति रूप ज्ञान भी नहीं है क्योंकि (स्मृति अनुभूतपदार्थ की होती है और सुनने वाले व्यक्ति को घोष में) उस शैत्यपावनत्व) का अनुभव नहीं रहता। यदि शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान स्मृतिरूप भी होता तो कभी-कभी ऐसा भी होता है कि गगादिशब्दों को सुनने से शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान कभी नहीं भी होता (क्योंकि स्मृति सदा हो ही ऐसा नहीं, वह कभी नहीं भी होती, जब कि शैत्यपावनत्वादि की प्रतीति नियमत· होती ही है) फिर यह क्या बात है कि किसी शब्द से कोई ही अर्थ विदित होता है (अर्थात् गगाशब्द से शैत्यपावनत्व ही और 'कुन्ता प्रविशन्ति'—में कुन्तशब्द से पुरुष में तीक्ष्णत्व ही)। इसलिए यही मानना उचित है कि शैत्यपावनत्वादिप्रयोजनीभूत अर्थ के ज्ञान में *गगादिशब्द ही कारण हैं और उन्हीं के किसी व्यापार से उस अर्थ का ज्ञान होता है क्योंकि* शब्द बिना व्यापार के अर्थ का ज्ञान नहीं करा पाता। (जहाँ तक उस व्यापार का सबन्ध है) वह अभिधा नहीं कहा जा सकता क्योंकि (गगादि) शब्द का उस (शैत्यादि) अर्थ में सकेत नहीं रहता, न वह तात्पर्यरूप है क्योंकि तात्पर्य केवल पदार्थसम्बन्ध का ज्ञान कराता और उतने में ही समाप्त हो जाता है (आगे नहीं बढ़ता)। न वह व्यापार लक्षणारूप ही है क्योंकि इस अर्थ-ज्ञान में (लक्षणा के हेतु) मुख्यार्थबाधादि नहीं होते। इसलिए (प्रयोजनस्वरूप यह अर्थ व्यग्य होता है और) अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न चतुर्थ कक्षा में अवस्थित (इस) व्यग्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यञ्जनानामक व्यापार अभिहितान्वयवादी को अवश्य ही मानना पड़ता है [उक्त क्रम के अनुसार जो पहले वाक्य के प्रत्येक शब्द से अभिधा द्वारा उसके असबद्ध अर्थ का ज्ञान मानता है और बाद में तात्पर्यद्वारा उन सब अर्थों का सबन्ध]। जो अन्विता-भिधानवादी है (अर्थात् पदार्थों का सबन्ध पहले और उनमें से प्रत्येक का अभिधा द्वारा ज्ञान बाद में मानता है अर्थात् जिसके मत में परस्पर सबद्ध अर्थों में ही अभिधा होती है फलत जो वाक्य में अभिधा मानता और वाक्यार्थ को वाच्य अर्थ मानता है) उसे भी अभिहितान्वयवादियों के खण्डन में प्रस्तुत सारी आपत्तियाँ स्वीकार करनी होगी, (उनका उत्तर उसके पास भी नहीं है, फलत· उसे भी व्यञ्जनानामक अतिरिक्त शब्दव्यापार मानना पड़ेगा। क्योंकि वह यह सिद्धान्त स्वीकार करता है कि अन्तिम अर्थ तक शब्द की (अभिधा क्षणध्वसी नहीं, अपितु विवक्षित अर्थ की प्रतीति के क्षण तक प्रवृत्त रहती है और वह दृष्टान्त देता है (किसी बलवान् व्यक्ति के द्वारा शत्रु पर छोड़े गए उस) बाण का। जो अपनी एक ही गति में शत्रु के कवच का भेद, त्वचा का विदारण, हृदय का छेदन और प्राणों का हरण, ये सब कार्य करता है। उसे उपर्युक्त आपत्तियाँ इसलिए स्वीकार करनी होगी कि वह यह मानता है कि) "नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना की जाती है" (यहाँ नैमित्तिक है शैत्यपावनत्वादि का ज्ञान, उसकी प्रतीति निश्चित ही गगा शब्द से होती है और गगा शब्द तात्पर्य या अभिधा, किसी भी अन्य व्यापार के द्वारा उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण उस शैत्यादि प्रयोजन का ज्ञान नहीं करा सकता फलत. उसे तदर्थ व्यञ्जना ही स्वीकार करनी पड़ती है।) इस प्रकार अभिहितान्वय की प्रक्रिया से शब्दबोध

माना जावे या अन्विताभिधान की प्रक्रिया से, लक्षणा में प्रयोजनज्ञान के लिए व्यञ्जनाव्यापार मानना ही पड़ता है। यह विषय (अर्थात् व्यञ्जना की सिद्धि) अत्यन्त ही गहन और गंभीर है—ठीक वैसे ही जैसे (आयुर्वेद में पारद आदि को मूर्च्छित कर उसका) रस बनाना (किन्तु जैसे कोई किसी अन्य के द्वारा बना बनाया रस किसी के लिए सुलभ करदे उसी प्रकार हमने भी यहाँ सरलता के साथ व्यञ्जनासिद्धि की प्रक्रिया प्रस्तुत कर दी है, क्योंकि ध्वनिवादी आचार्यों (आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट) ने इस विषय को पर्याप्त स्पष्ट कर दिया है।

विमर्शः—इस संपूर्ण प्रकरण के लिए काव्यप्रकाश के द्वितीय तथा पंचम उल्लास देख लेने चाहिए। हमने इन्हीं के आधार पर कोष्ठक में स्पष्टीकरण कर दिया है।

विमर्शिनी

आदिशब्दात्प्रत्यायनावगमनादीनामपि ग्रहणम्। अवश्येति। तेन विना व्यङ्ग्यस्यार्थस्यासंग्रहणात्। व्यापारस्येति। व्यञ्जनात्मिकायाः क्रियाया इत्यर्थः। सा खलु साध्यमानत्वेन पूर्वापरीभूतावयवत्वान्न स्वरूपेणोपलभ्यत इति विचारपदवीमेव स्वयमुपारोढुं नोत्सहत इति कथं नाम तस्या वाक्यार्थत्वं स्यादिति भावः। यद् वक्ष्यति—'व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यात्स्वरूपेण विचार्यत्वाभावाद् विषयस्यैव समग्रभरसहिष्णुत्वम्' इति। उपसर्जनत्वेनेति। तत्परतयावस्थानेनेत्यर्थः। यदुक्तम्—

> 'वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
> रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥' इति।

अत एव विश्रान्तिधामत्वादित्युक्तम्। आत्मत्वमिति। सारभूतत्वमित्यर्थः। अतश्च तेन विना काव्यं काव्यमेव न स्यादिति तात्पर्यम्। नहि निर्जीवं शरीरं क्वाप्युपयुक्तम्। ननु यद्येवं तर्हि 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्रापि व्यङ्ग्यस्य सद्भावात् काव्यत्वं प्रसज्यते। नैतत्। इह यद्वदात्मनो व्यापकत्वाच्छरीरे घटादौ वर्तमानत्वेऽपि करणादिविशिष्टे शरीर एव जीवव्यवहारो न घटादौ, तद्वदस्यापि विविधगुणालंकारौचित्यचारुशब्दार्थशरीरगतत्वेनैवात्मत्वव्यवहारो नान्यत्रेति न कश्चिद्दोषः। ननु च सर्वत्र क्रियाया एव प्राधान्यं प्रसिद्धम्, इह पुनर्विषयस्योक्तमिति किमेतदित्याशङ्क्याह—व्यापारस्येत्यादि। विषयमुखेनेति। यथा ह्योदनादिर्विक्लित्त्यादिमुखेन पाकादेः क्रियायाः स्वरूपोपलम्भः। तत्प्राधान्येनेति। विषयप्रधानत्वेनेत्यर्थः। तेन व्यापारस्य प्राधान्यमुपचरितमिति भावः। स्वरूपेणेति। स्वरूपं हि तस्य साध्यमानत्वाद् विचारयितुमशक्यम्। सिद्धस्य हि विचारो भवतीति भावः। एवकारो व्यञ्जनव्यापारव्यवच्छेदकः। समग्रेति। समग्रस्य भरस्यात्मेति व्यवहारादेः सहनशीलत्वमित्यर्थः। एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादिना। यस्येति। व्यङ्ग्यनाम्नो रसाद्यात्मनो विषयस्य। गुणालंकारकृतचारुत्वेति। गुणानां—

> 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
> उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥' [का० प्र० ८]

इत्यादिनीत्या साक्षादेव तद्धर्मत्वात्। अलंकाराणामपि—

> 'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
> हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥' [का० प्र० ८]

इत्यादिनीत्या शब्दार्थलक्षणाङ्गातिशयद्वारेण तदुपस्कारकत्वात्। अलंकाराणां च रसादिरूपं व्यङ्ग्यमर्थमलंकुर्वतां मुख्यया वृत्त्यालंकारत्वम्, अलंकार्यसद्भावनिबन्धन-

त्वात् तस्य, रसाद्यात्मन एव च व्यङ्ग्यस्यालङ्कार्यत्वेन प्रतिष्ठानात्। अत एव च यत्र स्फुट-व्यङ्ग्यार्थरहितत्वं तत्र 'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' [का०प्र०८] इत्यादिनीत्या शब्दार्थमात्रनिबन्धनत्वेनोक्तिवैचित्र्यमात्रपर्यवसितत्वादेषां गौणमलंकारत्वम्। यदभि-प्रायेणैव च चित्राख्यकाव्यभेदप्रकारत्वमलङ्काराणां निरूपयिष्यते। अत एवानुप्रासादयो-ऽलंकाराश्चित्रमित्याचार्यैरुक्तम्। स च प्रतीयमानोऽर्थो यद्यपि वस्त्वलङ्काररसत्वेन त्रिविधः, तथापि [तेन विना काव्यात्मत्वाभावात्] मुख्यत्वेन रसस्यैवात्मत्वं युक्तम्। अतश्च वस्त्वलंकारयोर्यदलंकारपक्षनिक्षिप्तत्वमन्यैरुक्तं तत्तावदास्ताम्, काव्यात्मनो रसस्य पुनरलंकारत्वमत्यन्तमेवावाच्यमित्याह—रसादय इत्यादि। आदिग्रहणाद् भावतदाभासा-दीनां ग्रहणम्। न वाच्या इति। वक्तुमयुक्ता एवेत्यर्थः। अलङ्कार्यस्यालङ्कारत्वानुपपत्तेः। तस्य चालंकारत्वकथनेऽलङ्कार्यान्तरं प्रसज्यते। तेन विनालङ्काराणामनुपपत्तेः। एतदेवो-पसंहरति—तस्मादित्यादिना। व्यङ्ग्य इति रसादिरूपः। तस्यैवोपक्रान्तत्वात्। वाक्यार्थीभूत इति। अवाक्यार्थीभूतस्तु रसादिरलङ्कारोऽपि स्यात्। यदुक्तम्—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥' इति।

एतच्च रसवदाद्यलङ्कारप्रस्ताव एव निर्णेष्यामः। इतिशब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ। एतदेव युक्तमित्याह—एष एवेत्यादि। सर्वैरिति। अवाच्यार्थविद्भिरसहृदयप्रायैरित्यर्थः। प्रस्थानान्तरस्थैरिति। तत्र तावद्वाच्यवाचकमात्राश्रयिणामलंकाराणां मध्ये व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-समाश्रयेण व्यवस्थितत्वादस्यान्तर्भावो न युक्तः। यदुक्तम्—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः॥' इति।

लक्षणायामप्यस्यान्तर्भावो न युक्तः। तदसद्भावेऽस्य सद्भावात्, तत्सद्भावे चास्यासद्भा-वात्। यदुक्तम्—'अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया' इति। नाप्यस्यालक्षणीयत्वं युक्तम्—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥' इति।

तदित्थमेतद्विप्रतिपत्तित्रयस्याप्रतिष्ठानमुपपादितम्।

("ध्वननद्योतनादि०" में आए) आदि शब्द से प्रत्यायन, अवगमन आदि नाम लिए जा सकते हैं। अवश्य अर्थात् व्यञ्जनव्यापार के बिना व्यंग्य अर्थ का ज्ञान सम्भव नहीं। व्यापार (व्यापार प्रधान नहीं हो सकता अर्थात्) व्यञ्जनारूप जो क्रिया है (वह प्रधान नहीं हो सकता)। क्योंकि क्रिया का अर्थ यहाँ साध्यमान क्रिया है (पाकशब्दादिप्रतिपाद्य सिद्ध क्रिया नहीं) और साध्य क्रिया एक के बाद एक करके अनेक अवयव होते हैं (जैसे पचन क्रिया में (१) आग जलाना (२) अन्न चूल्हे पर चढ़ाना और (३) उतारना आदि) इसलिए इसको अपने आपमें इष्ट नहीं जा सकता, (अन्न पकता है इसलिए उसके आधार पर हुए सारे अवयव समुदाय को पचन क्रिया कहना सम्भव है) ऐसी स्थिति (अन्नादि विषयों से निरपेक्ष होकर पाकादि क्रिया) अपने आप में वाक्यार्थ कैसे कही जा सकती ? इसी बात को यहीं कहेंगे भी कि व्यापार विषय के द्वारा स्वरूपलाभ करता है, और उस [विषय] के प्रसाद होने पर . ही प्रधानता प्राप्त करता है, अलग से उस [व्यापार] पर विचार

करना संभव नहीं होता, इसलिए सारा दारमदार विषय पर ही निर्भर रहता है।" उपस्कर्त्तव्य = (व्यंग्य उपस्कार्य होता है और गुण तथा अलंकार उपस्कारक यहां) उपस्कार्य का अर्थ है गुण तथा अलंकारों का व्यंग्य के लिए होना जैसा कि (आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोककारिका में कहा है)—"ध्वनि वहां होती है जहां अर्थ और शब्द की सुन्दरता के (गुण अलंकार आदि) विविध हेतु इसके लिए होते हैं (न कि यह उनके लिए)। इसी लिए उस (व्यंग्य) अर्थ को ही विश्रान्तिधाम कहा। आत्मत्व = सारभूतत्व, और इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि उस (व्यंग्य) अर्थ के बिना काव्य काव्य ही नहीं हो पाता। ऐसा कहीं नहीं देखा गया कि जीवात्मा से रहित शरीर का उपयोग (व्यक्ति के रूप में) किया जाता हो। प्रश्न यदि ऐसा है तो 'गंगा पर घोष" वाक्य भी काव्य होना चाहिए, क्योंकि यहां भी शैत्यपावनत्वादि व्यंग्यार्थ है। उत्तर = जी नहीं। जिस प्रकार घटादिरूप शरीर में आत्मा का अस्तित्व (माना जाता है क्योंकि आत्मा व्यापक है तथापि जीव केवल उसी शरीर को कहा जाता है जिसमें आत्मा के अतिरिक्त इन्द्रिय प्राण आदि भी हों, घट आदि को नहीं, उसी प्रकार व्यंग्य भी (जीवात्मा के समान काव्य की) आत्मा तभी माना जाता है जब वह विविध गुण और अलंकार के औचित्यपूर्ण, अत एव सुन्दर शब्दार्थरूपी (काव्य) शरीर में प्राप्त हो, अन्यत्र (गुणादिशून्य 'गंगा में घोष आदि लौकिक वाक्यों में) नहीं। इसलिए (व्यंग्यार्थयुक्त लौकिक वाक्य और उसके अर्थ को भी काव्य मानने का कोई दोष नहीं आता।

'व्यापारस्य विषयमुखेन' इत्यादि = इस शंका के उत्तर में कहा जा रहा कि "व्याकरण शास्त्र आदि में सर्वत्र व्यापार का ही प्रधान माना जाना प्रसिद्ध है किन्तु यहां विषय की प्रधानता बतलाई जा रही है—"यह विषम मान्यता क्यों? विषयमुखेन जैसे पाकादि क्रिया पाकादि शब्द से तब पुकारी जाती है जब वह भात आदि विषय में विक्लित्ति (वह विकृति जिसमें चावल भात रूप प्राप्त करता है) उत्पन्न करता है। तत्प्राधान्य = उसका अर्थात् विषय का प्राधान्य। इससे यह सिद्ध होता है कि व्यापार की प्रधानता औपचारिक है। स्वरूपेण = व्यापार (क्रिया) का स्वरूप तो साध्यमान है, सिद्ध नहीं, अतः उस पर कोई निर्वचन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता ? क्योंकि विचार सिद्ध वस्तु का होता है। "विषयस्यैव" में "एव" शब्द के द्वारा व्यंजना = व्यापार का निराकरण किया गया। समग्र०=सारा भार अर्थात् आत्मा जीवित, जीवातु आदि सारे व्यवहारों को पचाने की क्षमता। इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—तस्मात् इत्यादि। यस्य अर्थात् व्यंग्यनामक-रसादिरूप विषय का। गुणालंकारकृतचारुत्व = गुण (काव्यप्रकाशकारिका ८-)"आत्मा के शौर्य आदि धर्मों के समान जो प्रधान रस के धर्म हैं, जो सदैव (रस में चमत्कार का) उत्कर्ष ही करते हैं और (रस को छोड़) अन्यत्र नहीं रहते वे गुण कहलाते हैं" इसके अनुसार साक्षात् (न कि परम्परया) रसधर्म हैं। अलंकार भी (काव्यप्रकाशकारिका ८—) "रस यदि काव्यवाक्य से प्रतीत हो रहा हो तो जो (साक्षात् नहीं अपितु) अंग (वाच्य आदि) के द्वारा उसका चमत्कार कदाचित् (सदा नहीं) बढ़ाते हैं वे अनुप्रास उपमा आदि तत्त्व हार आदि के समान अलंकार कहलाते हैं—" के अनुसार शब्द और अर्थ रूपी अंगों में विशेषता लाकर उनके द्वारा (न कि साक्षात्) रसका उपस्कार करते हैं। अलंकार तभी अलंकार कहलाते हैं जब वे रस आदि व्यंग्य अर्थ की शोभा बढ़ाते हैं, क्योंकि अलंकारों का अलंकारत्व तभी संभव है जब कोई अलंकार्य हो और अलंकार्य केवल रसादि व्यंग्य अर्थ ही माने जाते हैं इसीलिए जहां कोई स्पष्ट व्यंग्य अर्थ नहीं रहता वहां अनुप्रास उपमा आदि शब्द और अर्थ तक सीमित रहते हैं, इसलिए उनसे उक्तिमें ही वैचित्र्य संपादित हो पाता है फलतः उनमें अलंकारत्व ठीक उसी प्रकार औपचारिक ही रहता है जिस प्रकार (काव्यप्रकाशकारिका

८। ७१ "गुणवृत्त्या-इत्यादि के अनुसार) रसैकधर्म गुणों का नीरस काव्य में गुणत्व। और इसी अभिप्राय से अलंकारों को चित्र नामक (अधम) काव्य का भेद बतलाया जावेगा। और अन्य (ध्वनिकार आदि) आचार्यों ने भी अनुप्रास आदि को "चित्र" कहा है।

यह जो प्रतीयमान अर्थ है वह वस्तु, अलंकार और रस इस प्रकार यद्यपि माना तो तीन प्रकार का गया है तथापि वस्तुतः रस को ही काव्यात्मा मानना उचित है क्योंकि रस ही तीनों प्रतीयमानों में प्रमुख है। इसलिए वस्तु और अलंकार को जो अलंकार कोटि में रखने का प्रयास अन्य आचार्यों ने किया है (है तो वह भी अनुचित किन्तु यदि) उसे छोड़ भी दिया जाय तब भी रस को तो अलंकार बिलकुल ही नहीं कहा जा सकता। इस अभिप्राय से कहते हैं = "रसादि" इत्यादि। आदि पद भाव और रसभास तथा भावाभास आदि का सग्राहक है। न वाच्याः = वाच्य कहना अनुचित है क्योंकि अलंकार्य अलंकार नहीं हो सकता। यदि उसे अलंकार कह दिया जाय तो अलंकार्य और पदार्थ को मानना होगा, क्योंकि उसके बिना अलंकार अलंकार नहीं कहे जा सकेंगे। इसी का उपसंहार करते कुछ कहते हैं—"तस्मात्" इत्यादि। व्यङ्ग्य अर्थात् रसादिरूप क्योंकि विचार उसी का चल रहा है। वाक्यार्थीभूत अर्थात् जो रस आदि वाक्यार्थीभूत नहीं होते वे कदाचित् अलंकार भी हो सकते हैं जैसा कि (ध्वनिकारिका २।५) कहा है-'जहां प्रधान और वाक्यार्थीभूत कोई अन्य तत्त्व हो और रस आदि अंग या अप्रधान हों। हमारे मत में उस काव्य में रसादि को अलंकार मानना उचित है।" इस विषय को हम रसवद् आदि अलंकारों के प्रसंग में तय करेंगे। इति-शब्द है प्रमेय (सिद्धान्त) तत्त्व की पूर्णता का द्योतक। यही पक्ष ठीक है ऐसा कहते हैं—'एष एव' इत्यादि द्वारा। सर्वैं = सबों ने अर्थात् उन सबने जो वाच्यार्थ का ज्ञान नहीं रखते अन जो प्राय सहृदयताशून्य हैं। पक्षान्तरस्य दूसरे पक्ष (प्रतिष्ठित नहीं हो पाते क्योंकि उन पक्षों) में प्रधानता है अलंकार की जो अर्थ और शब्द तक सीमित रहते हैं जब कि व्यङ्ग्यपक्ष व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव पर निर्भर है अतः उनमें व्यङ्ग्यपक्ष का अन्तर्भाव सम्भव नहीं। जैसा कि (ध्वनिकारिका १। में) कहा है—"ध्वनि व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्ध पर निर्भर है। उसका वाच्यावाचकों के शोभाधायक धर्म अलंकार आदि में अन्तर्भाव हो कैसे सकता है।" लक्षणा में भी इसका अन्तर्भाव मानना ठीक नहीं क्योंकि (रस आदि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि में) लक्षणा नहीं रहती किन्तु ध्वनि रहती है और (लावण्य आदि रूढिलक्षणावाले जिन स्थलों में) लक्षणा रहती है वहां ध्वनि नहीं रहती। जैसा कि (ध्वनिकारिका १। १४) में कहा है—"लक्षणा ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती क्योंकि वैसा मानने पर (उपर्युक्त ढंग से) अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आते हैं।" किन्तु इसका यह अर्थ नहीं किया जाना चाहिए कि ध्वनि का लक्षण ही नहीं किया जा सकता क्योंकि (ध्वनिकार आनन्दवर्धन "जिसमें शब्द द्वारा उसका लक्षण) उपसर्जनीकृतार्थ होकर तथा अर्थ उपसर्जनीकृत होकर उस प्रतीयमान अर्थ का प्रतिपादन व्यञ्जनाव्यापार से करते हैं उस विशिष्ट काव्य को विद्वज्जनों ने ध्वनि कहा है।"—इस प्रकार (कर दिया गया है)। इस प्रकार इन तीनों (अर्थात् ध्वनि का अभाव, उसका लक्षणा आदि में अन्तर्भाव और उसकी अलक्षणीयता) अनुपपत्तियों का निराकरण प्रस्तुत किया गया है।

विमर्शिनी

इदानीमन्योऽपि यः कश्चिद्विप्रतिपत्तिप्रकारः कैश्चिदुक्तः सोऽपि नोपपद्यत इत्याह— *यत्त्वित्यादि।*

अब और भी जो विप्रतिपत्तियां अन्य आलंकारिकों द्वारा प्रस्तुत की गई हैं वे भी सिद्ध नहीं होतीं इस तथ्य के प्रतिपादन के लिए अगला ग्रन्थ "यत्तु" आदि प्रस्तुत करते हैं।

[सर्वस्व]

यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति लिङ्गतया व्यञ्जनस्यानुमानान्तर्भावमाख्यत् तद् वाच्यस्य प्रतीयमानेन सह तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादविचारिताभिधानम् । तदेतत्कुशाग्रधिषणैः क्षोदनीयमतिगहनमिति नेह प्रतन्यते ।

व्यक्तिविवेककार (महिमभट्ट) ने जो वाच्य अर्थ को हेतु और प्रतीयमान अर्थ को साध्य मानकर व्यंजनाव्यापार का अन्तर्भाव अनुमान में बतलाया है वह विचार कर कही गई बात नहीं है क्योंकि वाच्यका प्रतीयमान के साथ न तो तादात्म्य संबन्ध ही है और उत्पाद्योत्पादकभाव संबन्ध । इस विषय पर अत्यन्त सूक्ष्म प्रज्ञा वाले सहृदयों को विचार करना चाहिए क्योंकि यह विषय अत्यन्त गहन है । इसी लिए हम इसका विस्तार यहाँ (जहां ध्वनि और उसके विरोध की आनुषंगिकमात्र है) नहीं करते ।

विमर्शिनी

ध्वनिकारानन्तरभावी व्यक्तिविवेककार इति तन्मतमिह पश्चान्निर्दिष्टम् यद्यपि वक्रोक्तिजीवितहृदयदर्पणकारावपि ध्वनिकारान्तरभाविनावेव, तथापि तौ चिरन्तरमतानुयायिनावेति तन्मतं पूर्वमेवोद्दिष्टम् । अनेन पुनरेतस्योपज्ञमेवोक्तम् । अनुमानान्तर्भावमिति । अनुमानरूपत्वमेवेत्यर्थः । आख्यदिति । यदाह—

'वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
संबन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता' ॥ इति ।

अविचारिताभिधानमिति । इह लिङ्गलिङ्गिनोस्तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव तावत्प्रतिबन्धो निश्चीयते । तन्निश्चयेनैव च साध्यसिद्धिः । अन्यथा हि साध्यसिद्धिर्न स्याद्व्यभिचारात् । तत्र तादात्म्यं यथा कृतकत्वानित्यत्वयोः । तदुत्पत्तिर्यथा वह्निधूमयोः । वाच्यप्रतीयमानयोः पुनस्तादात्म्यतदुत्पत्ती न स्तः । तथाहि—

'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तथेयं तनुः ।
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमा
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥'

इत्यत्र विधिना निषेधो निषेधेन वा विधिः प्रतीयते । न तस्य वाच्येन सह तादात्म्यम् । विरुद्धत्वात् । नह्यभावो भावात्मा भावोऽप्यभावात्मा । नापि तदुत्पत्तिः । अभावस्य जन्यजनकत्वानुपपत्तेः । नापि निःशेषच्युतचन्दनादीनां विशेषणानां तदन्तिकगमनानुमापकत्वं युक्तम्, तेषां स्नानादावपि सद्भावादनैकान्तिकत्वात् । एतच्च ध्वनिकारेणादूषितत्वाद्ग्रन्थकृता स्वकण्ठेन दूषितम् । अत एवानेनान्या विप्रतिपत्तयो न दूषिताः । एतदिति । वाच्यस्य प्रतीयमानेन तादात्म्यतदुत्पत्त्यभावादि नेह प्रतन्यत इति व्यक्तिविवेकविचारे हि मयैवैतद्वितत्य निर्णीतमिति भावः ।

व्यक्तिविवेककार ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) के बाद हुए हैं इसलिए उनका मत यहाँ (ध्वनिकार के मत के) बाद में बतलाया जा रहा है । यद्यपि वक्रोक्तिजीवितकार (कुन्तक) तथा हृदय-

दर्पणकार (भट्टनायक) भी ध्वनिकार के बाद के ही हैं तथापि वे प्राचीन आलंकारिकों के मतों के ही अनुयायी हैं इसलिए उनके मत (ध्वनिमत के) पहले ही बतला दिए गए। इन्होंने (व्यक्तिविवेककार ने) जो पूर्वोक्त मत प्रस्तुत किया है वह उनकी अपनी ही सूझ है। [यद्यपि ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में भी अनुमान और व्यञ्जना के अभेद की चर्चा है, तथापि स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में पहिली बार प्रस्तुत करने के कारण व्यक्तिविवेककार ही इस मत के प्रवर्त्तक मान लिए जाते हैं]

अनुमानान्तर्भाव = व्यञ्जना को अनुमानरूप ही, आख्यत्—बतलाया है जैसा कि कहा है—"वाच्य या उससे अनुमित अर्थ जहाँ दूसरे अर्थ का अनुमान किसी भी सम्बन्ध से कराते हैं उसे काव्यानुमिति कहते हैं।" (व्यक्तिविवेक—पृ० १११, चौखम्बा संस्करण-२)। अविचारिताभिधानम् = बिना विचार कही गई बात। हेतु और साध्य का जो व्याप्तिसम्बन्ध है वह केवल दो ही सम्बन्धों से निर्णीत होता है (१) तादात्म्य और (२) उत्पाद्योत्पादकत्व। व्याप्तिनिश्चय से ही साध्य की सिद्धि होती है। व्याप्तिनिश्चय के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं होती क्योंकि वहाँ जहाँ व्याप्तिनिश्चय नहीं रहता हेतु व्यभिचरित (साध्य से असम्बद्ध भी) रहता है। दोनों सम्बन्धों में से तादात्म्य जैसे—कृतकत्व (निर्मितत्व) और अनित्यत्व का। (जो बनाया जाता है वह निश्चित ही अनित्य होता है जैसे घड़ा)। (और) उत्पाद्योत्पादकत्व जैसे—धूम और अग्नि में (धूम = उत्पाद्य, जन्य, कार्य और अग्नि उसका उत्पादक, जनक, कारण)। वाच्य और प्रतीयमान अर्थों में न तादात्म्य है और न उत्पाद्योत्पादकभाव। जैसे—"हे दूति तू झूठ बोलती है। तुझे अपने की पीर नहीं। तू उस अधम के पास थोड़े ही गई थी। तू तो यहाँ से बावड़ी नहाने गई थी। देख तेरे आँचरों के उतार का चन्दन पूरी तरह झड़ गया है, तेरे अधर की गेरू बिलकुल पुछ गई है, आँखों का काजल आसपास से एकदम मिट गया है और तेरा पूरा-अंग पुलकित हो रहा है।' यहाँ इस (नायकसम्भुक्ता दूती के प्रति खिन्न नायिका की) उक्ति में (वापीस्नान के) विधान (रूपी वाच्य अर्थ) से निषेध और (नायक के पास जाने के) निषेध (रूपी वाच्य अर्थ) से विधान (व्यञ्जना से) प्रतीत होता है। उस (व्यङ्ग्य निषेध या विधान) का वाच्य (विधान या निषेध) से तादात्म्य नहीं है क्योंकि दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। ऐसा थोड़े ही होता है कि अभाव भावरूप हो जाय और भाव अभावरूप। न तो (वाच्य से) उस (व्यङ्ग्य) की उत्पत्ति ही होती (अतः उनका उत्पाद्योत्पादकत्व सम्बन्ध हो है। परस्पर विरुद्ध (अन्योन्याभाव वाले) पदार्थों में (उत्पाद्योत्पादकत्वरूप) अन्यजनकत्व नहीं रहता। न तो 'निश्शेषच्युतचन्दनत्वादि विशेषणों से "नायकान्तिक गमन" आदि का अनुमान ही हो सकता क्योंकि वे विशेषण-पदार्थ (नायकान्तिकगमनादि से भिन्न) वापीस्नान आदि से भी सम्भव हैं अतः (नायिकान्तिकगमनादिसाध्यों से) ऐकान्तिकरूप से सम्बद्ध नहीं हैं। परवर्ती होने से) इस मत को ध्वनिकार ने स्वयं दूषित नहीं ठहराया था इसलिए ग्रन्थकार ने अपनी ओर से उसे दूषित ठहराया। यह इससे सिद्ध है कि ग्रन्थकार ने अन्य मतों पर अपनी ओर से दोष प्रस्तुत नहीं किए। एतद् = वाच्य का प्रतीयमान के साथ तादात्म्यतदुत्पत्त्यादि सम्बन्धों पर यहाँ कोई विस्तार नहीं करते क्योंकि उसे हमने अपनी व्यक्तिविवेकटीका में विस्तारपूर्वक तय कर दिया है।'

विमर्श—व्यक्तिविवेक पर संस्कृतटीका 'व्यक्तिविवेकव्याख्यान' मिलती है जो अलंकारसर्वस्वकार की ही रचना है। त्रिवेन्द्रम् तथा चौखम्बा से छपे व्यक्तिविवेकों में यह टीका दी हुई है। हमने व्यक्तिविवेक के साथ इस टीका का भी विमर्शिनी के ही समान हिन्दी अनुवाद कर दिया है। इसमें व्यक्तिविवेककार ने ध्वनि(रूप)का मत जहाँ-जहाँ सदोष बतलाया है वहाँ ध्वनिकार की ओर से स्पष्टीकरण

देते हुए व्यक्तिविवेककार के मत का खण्डन किया गया है। किन्तु यह टीका अपूर्ण ही छपी है। "वाच्यस्तदनुमितो वा" इत्यादि जो कारिका ऊपर उद्धृत है उस पर यह टीका प्राप्त नहीं है। वह प्रथम विमर्श में उसके पहिले ही खण्डित हो गई है।

विमर्शिनी

तदित्थं परपरिकल्पितसमारोपापसारप्रत्याख्यानेन प्राप्तप्रतिष्ठानो ध्वनिरित्याह—अस्तीत्यादि।

इस प्रकार विरोधी आचार्यों द्वारा उपस्थित आरोपों का निराकरण होने से ध्वनिसिद्धान्त प्रतिष्ठित हो जाता है' यह बतलाते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

अस्ति तावद् व्यङ्ग्यनिष्ठो व्यञ्जनव्यापारः। तत्र व्यङ्ग्यस्य प्राधान्याप्राधान्याभ्यां ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यौ द्वौ काव्यभेदौ। व्यङ्ग्यस्यास्फुटत्वेऽलंकारसत्त्वेन चित्राख्यः काव्यभेदस्तृतीयः। तत्रोत्तमो ध्वनिः। तस्य लक्षणाभिधामूलत्वेनाविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्याख्यौ द्वौ भेदौ। आद्योऽप्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन द्विविधः। द्वितीयोऽप्यसंलक्ष्यक्रमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यतया द्विविधः। लक्षणामूलः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलो रसादिध्वनिः। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः शब्दार्थोभयशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिश्चेति। तत्र रसादिध्वनिरलंकारमञ्जर्यां दर्शितः, काव्यस्य शृङ्गारप्रधानत्वात्। शिष्टस्तु यथावसरं तत्रैव विभक्तः। गुणीभूतव्यङ्ग्यो वाच्याङ्गत्वादिभेदैर्यथासंभवं समासोक्त्यादौ दर्शितः।

यह मानने में अब कोई आपत्ति नहीं कि व्यंजना (भी काव्य का एक स्वतन्त्र) व्यापार है जिसका प्रतिपाद्य विषय है (प्रतीयमान) व्यंग्य अर्थ। यह जो व्यंग्य अर्थ है वह (=उसका चमत्कार कहीं) प्रधान होता है और (कहीं) अप्रधान फलतः (व्यंग्यार्थयुक्त) काव्य के दो भेद हो जाते हैं (प्रधान होने पर) ध्वनि और (अप्रधान होने पर) गुणीभूतव्यंग्य। जिस काव्य में व्यंग्य अस्फुट (चमत्कारशून्य) होता वह एक तीसरा भेद भी होता है। उसे चित्र कहा जाता है क्योंकि उसमें अलंकार की ही छटा रहती है। इन तीनों में ध्वनिनामक काव्य उत्तमकाव्य होता है। उसके लक्षण और अभिधा के आधार पर क्रमशः दो भेद होते हैं (लक्षणा के आधार पर) अविवक्षितवाच्य (जिसमें वाच्य अपने स्वरूप से उपयोगी नहीं रहता) और अभिधा यानी अभिधेयार्थ के आधार पर) विवक्षितान्यपरवाच्य (जिसमें वाच्य अर्थ बदलता तो नहीं किन्तु वह प्रधान नहीं रहता)। इनमें से दूसरा (विवक्षितान्यपरवाच्य नामक भेद) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (जिसमें वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति होती तो एक के बाद एक करके है किन्तु लगती वैसी नहीं) और संलक्ष्यक्रमव्यंग्य (जिसमें वाच्य और व्यंग्य की प्रतीति एक के बाद एक होती हुई ही प्रतीत होती है) इस प्रकार दो प्रकार का होता है। (प्रथम : जो लक्षणामूलक ध्वनि है वह शब्दशक्तिमूलक ही होती है और उसमें ध्वनि वस्तुरूप ही रहती है (रस या अलंकाररूप नहीं)। (द्वितीय का प्रथम) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (नामक जो भेद है वह), अर्थशक्तिमूलक

होता है और (वहाँ ध्वन्यमान अर्थ रस आदि स्वरूप ही होता है, (तथा द्वितीय) सलक्ष्यक्रम-व्यंग्य (नामक भेद) शब्दशक्तिमूलक भी होता है और अर्थशक्तिमूलक भी तथा उसमें व्यंग्यार्थ वस्तुरूप भी होता है और अलंकाररूप भी। इनमें से रसादिध्वनि अलंकारमञ्जरी में दिखला दिया है क्योंकि काव्य में प्रधानता शृंगार की है। शेष (वस्तुध्वनि अलंकारध्वनि भी) जहां-तहां वहीं विभक्त कर दिया है। (यह हुई ध्वनिनामक उत्तमकाव्य के भेदों की चर्चा, जहां तक) गुणीभूतव्यंग्य (का सबन्ध है उसके) 'वाच्यांग' आदि (अनेक) भेद (होते हैं उन्हें) समासोक्ति आदि (अर्थालंकारों) में (ध्वनिकार आदि ने) समासोक्ति आदि में यथासम्भव दरसा दिया है।"

विमर्शिनी

तावच्छब्दो विप्रतिपत्त्यभावद्योतकः। अस्यैव भेदनिर्देशं कर्तुमाह—तत्रेत्यादि। व्यङ्ग्यनिष्ठे व्यञ्जनाव्यापारे सत्यपीत्यर्थः। प्राधान्याप्राधान्येति। यदुक्तम्—

'तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः॥' इति।

तथा—

'प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते।
तत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत्॥' इति।

अस्फुटत्व इति। व्यङ्ग्यस्याविवक्षितत्वे सतीत्यर्थः। यदुक्तम्—

'रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति। अलंकारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः॥'

इति। तत्रेति। त्रयनिर्धारणे। तस्येति, उत्तमस्य ध्वनेः। आद्य इति अविवक्षितवाच्यः। न केवलं ध्वनिर्द्विविधः यावत्तत्प्रभेदोऽप्ययं द्विविध इत्यपिशब्दार्थः। यदुक्तम्—

'अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥' इति।

'तावत्' शब्द विप्रतिपत्ति के अभाव का द्योतक है। ध्वनि के ही भेद बतलाने के लिए कहते हैं—'तत्र' अर्थात् व्यंग्यनिष्ठ व्यंजनाव्यापार के रहने पर भी। प्राधान्याप्राधान्य = जहा कि (ध्वनिकार ने) कहा है—"शब्द और अर्थ जहा व्यंग्य के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हों उसी (काव्य) को ध्वनि का शुद्ध स्थल माना जाना चाहिए।" (ध्वन्यालोक—संग्रहकारिका उद्योत-१ पृ० १३१ चौखंभा संस्करण), तथा "काव्य का एक और भेद होता है जिसमें व्यंग्य (का चमत्कार) गुणीभूत रहता है और जहा व्यंग्य के सबन्ध से वाच्य की चारुता बढ़ जाया करती है।" [ध्वन्यालोक ३।४० कारिका]। अस्फुटत्व = अर्थात् व्यंग्य की विवक्षा का अभाव। जैसा कि कहा है-"रस, भाव आदि विषयों की विवक्षा न रख कर जहा अलंकार का निवेश किया जाय वह काव्य चित्रकाव्य कहलाता है। (४९७ पृ० ध्वन्यालोक संग्रहकारिका)। तत्र यह पद काव्य के तीन भेदों के निर्धारण के लिए है। तस्य अर्थात् उत्तम ध्वनि का। आद्य = प्रथम अर्थात् अविवक्षितवाच्य। अपि (भी) शब्द का अर्थ है कि केवल ध्वनि ही दो प्रकार की नहीं है अपितु उसके प्रभेद (भेद के भेद) भी दो प्रकार के हैं। जैसा कि कहा है—"अविवक्षितवाच्यनामक ध्वनि का वाच्यार्थ दो प्रकार का रहता है अर्थान्तरसंक्रमित (उपादानलक्षणा द्वारा अपना रूप रक्षित रखते हुए दूसरे अर्थ का परिग्रह करने वाला जैसे "कमल तो कमल ही है" वाक्य में द्वितीय कमल) और अत्यन्त तिरस्कृत (लक्षणलक्षणा द्वारा अपना स्वरूप बिलकुल छोड़कर दूसरे का रूप अपना लेने वाला, जैसे शत्रु से कथित "तुमने मेरा बहुत उपकार किया"—वाक्य में उपकार,

जो अपकार अर्थ में बदल जाता है। अथवा "निर्भाग्य ... गम्यते। इति शब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ।
अन्ध शब्द का अर्थ"–ध्वन्यालोक–२।१)। ...प्याप्यन्यतो योजयति—गुणीभूततया-

विमर्शिनी

द्वितीय इति विवक्षितान्यपरवाच्यः। यदुक्तम्—

'असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः॥'

इति। अत्रैव वस्तुरसालंकाराणां ध्वन्यमानत्वं दर्शयितुमाह—लक्षणेत्यादि। लक्षणामूल इत्यविवक्षितवाच्यः। शब्दशक्तिमूल इति न पुनरर्थशक्तिमूलः। यद्यपि शब्दशक्तिमूलेऽर्थशक्तिरप्यस्ति तथापि तत्र तस्याः सहकारितया व्यवस्थानमिति प्राधान्याच्छब्दशक्तिमूलत्वमुक्तम्। एवमर्थशक्तिमूलत्वेऽपि ज्ञेयम्। वस्तुध्वनिरिति। रसालंकारव्यतिरिक्तस्य वस्तुमात्रस्य ध्वन्यमानत्वात्। तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो वस्तुध्वनिर्यथा—

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्‌बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥'

द्वितीय अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य। जैसा कि कहा है—"विवक्षितवाच्य" ध्वनि का स्वरूप दो प्रकार का दिखाई देता है एक असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यंग्य।" (ध्वन्यालोक २।२)। यहीं वस्तु, रस और अलंकारों की ध्वन्यमानता बतलाने के लिए लिखते हैं—"लक्षणा" इत्यादि। लक्षणामूल = अर्थात् अविवक्षितवाच्य। शब्दशक्तिमूलक अर्थात् अर्थशक्तिमूलक नहीं। यद्यपि यहां शब्दशक्ति से ध्वनि प्रतीति होती है वहां अर्थशक्ति भी रहती ही है तथापि वहां उस (अर्थ शक्ति) का सहयोगमात्र रहता है अतः प्रधान होती है शब्द शक्ति ही, फलतः नाम 'शब्दशक्तिमूलक' रखा गया है। यही स्थिति अर्थशब्दशक्तिमूलक ध्वनि के नामकरण में भी है (यहां शब्दशक्ति अप्रधान रहती है और नाम प्रधान के आधार पर दिया जाता है = "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति")। वस्तुध्वनि अर्थात् यहां रस और अलंकार की नहीं, केवल वस्तु की ही ध्वनि होती है। उनमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य वस्तुध्वनि यथा—(वियुक्त भगवान् राम प्रावृट् का मेघाडम्बर देख कर रहे हैं) "स्निग्ध और श्यामल कान्ति से आकाश को लीप रहे तथा बकपंक्तियों के नृत्य से युक्त (श्यामश्वेतवर्णयोग से सुहावने) मेघ उमड़ते आएँ, फुहार लेकर (शीतल) पवन बहें और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्दपूर्ण सुन्दर केका (ध्वनि) उठें, उठती रहें, मैं तो अत्यन्त कठोर हृदय वाला हूँ, राम जो ठहरा, सब सहता जाऊँगा, सह लूँगा, सह ही रहा हूँ; परन्तु इस समय (सुकुमारचित्त) सीता की स्थिति क्या होगी। ह हा हा देवि, तुम धीरज रखना, (चल न बसना)।" यहां रामशब्द "राज्यनिर्वासन आदि असंख्य दुःख का पात्र होना" ध्वनित करता है जो (न रसरूप है और न अलंकाररूप सामान्य बात (Statement) है अतः) वस्तुरूप है।

विमर्शिनी

अत्र रामशब्दो राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयदुःखभाजनत्वस्वरूपं वस्तु ध्वनति। अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽपि यथा—

'रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥'

होता है और (यहाँ ध्वन्यमान अर्थ रस अर्दर्शनसाधारणचिच्छायत्वादिधर्मजातं वस्तुरूपं
व्यंग्य (नामक भेद) शब्दिशक्तिमूलावितदाभासादयः । तत्र रसध्वनिर्यथा—
वस्तुरूप भी होता है और
दिया है क्योंकि काव्य

'...णयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
...मान ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
वहाँ विभक्त कर
...स्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालिप्यते मे क्रूरस्त-
तद्व्यंग्य
स्मिन्नपि न सहते सगमं नौ कृतान्तः ॥'

अत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्त एव रसः ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य यथा—(हेमन्तवर्णन) चन्द्रमा, जिसने अपनी सुहावनी कान्ति सूर्य में डाल दी है और जिसका मण्डल ओस से घिर गया है, ऐसा लग रहा है जैसे फूँक से अन्धा दर्पण ।" अन्ध शब्द (का अर्थ है 'देख न सकना' और जहा यह रहता है वहा मलिनता भी रहती ही है फलत) अन्ध शब्द (अपने अर्थ अदर्शन से लगी मलिनता और ऐसे ही अन्य धर्मों को ध्वनित करता है जो न रसरूप है और न अलङ्काररूप अत.) वस्तुरूप है ।

रसादि = आदि शब्द से भाव, रसाभास भावाभास भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता और भावोदय की ओर सकेत है इनमें से रसध्वनि जैसे—(यक्ष का मेघदूत में सदेश) "मैं तुम्हारी तो प्रणयकुपित मुद्रा गेरू आदि से शिलाखण्ड पर बना लेता हूँ किन्तु जब अपनी स्वय की चरणपतित मुद्रा बनाने चलता हूँ तो बार बार उमड़ते आँसू मेरी दृष्टि लीप देते हैं । विधाता इतना क्रूर है कि चित्रलेख में भी वह हम दोनों का समागम नहीं सहता" । यहाँ (यक्ष तथा भावाहित यक्षी) विभाव, (चित्रलेख, अश्रुपात, विलाप) अनुभाव (क्रूरशब्द से विधाता के प्रति व्यक्त अमर्ष आदि) व्यभिचारी भावों से रस अभिव्यक्त हुआ ही ।

विमर्शिनी

भावध्वनिर्यथा—

'जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मा संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता ततः ।
नो यावत् परिरभ्य चाटुकशतैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥'

अत्र विधिं प्रत्यसूयाख्यो व्यभिचारिभावः । रसाभासध्वनिर्यथा—

'स्तुमः कं वामाक्षि क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ध्यायसि तु यम् ॥'

अत्रानेककामुकविषयोऽभिलाष इति रसाभासः ।

भावध्वनि यथा—"मुझे स्मरण आ रहा है, मैंने सपने में प्रियतमा को देखा है वह कोप से मुँह फेरे हुए थी, वह बार बार मुझे हाथ से रोक कर रोती हुई कह रही थी मुझे न छूना, न छूना और ऐसा कहती हुई मेरे सामने से हटने लगी थी । उस समय मुझे उसे अपनी छाती से चिपका कर अनेक मीठी और प्यारी बातों से मनाना था किन्तु वह कर ही नहीं पाया और शठ विधाता ने मेरी नींद छीन ली, उसने ... मैं दरिद्र हो रहा ।' यहाँ विधाता के प्रति असूया नामक संचारी (शठ-शब्द से) ... से

रसाभासध्वनि, यथा—(किसी पुंश्चली से कोई ,गम्यते। इति शब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ। प्रशंसा करें जिसके बिना तेरा चित्त क्षण भर नहीं लगता, गप्यन्यतो योजयति—गुणीभूतत्या- हैं (जो यज्ञ में प्राणाहुति देता हैं वही इतना बड़भागी होता कि
है) जिसे तू खोजती रहती है। अच्छी लग्न में किसका जन्म हुआ
चन्द्रमुखि ! तू बलात् करती है। हे कामनगरि ! किसकी इतनी तपोमहिमा है
किया करती है।" यहाँ एक नायिका का अनेक नायकों के प्रति अनुराग व्यक्त हो न्नं दर्शयितु- यहाँ (श्रृंगार) रसाभास है (क्योंकि यहाँ श्रृङ्गार श्रृङ्गाररस जैसी स्थिति तक ही पहुँचता है, नहीं बन पाता)।

भावाभासध्वनि यथा—(परस्त्री पर आसक्त कामुक चिन्ता कर रहा है)–"वह (उसकी स्त्री) कितनी सुन्दर है। उसका चेहरा पूर्णिमा के चन्द्र की नाईं सुडौल, गौर और दमदमाती कान्ति लिए है) उसकी आँखे चंचल हैं, मुसकुराते यौवन के अनेक विभ्रम उसके अंग अंग में तरंगित हो रहे हैं। तो क्या करूँ किस प्रकार उससे मैत्री करूँ। वह कौन सा उपाय हो सकता है कि वह मुझे अपना ले।' यहाँ परस्त्रीविषयक चिन्ता अनुचित है अतः यहाँ चिन्तारूपी भावाभास ध्वनि है।

विमर्शिनी

भावाभासध्वनिर्यथा—

'राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी।
तत्किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥'

अत्रानौचित्यप्रवृत्ता चिन्तेति भावाभासः। भावप्रशमो यथा—

'एकस्मिञ्छयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्य-
तोरन्योन्यं हृदयस्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।
दंपत्योः शनकैरपाङ्गवलनामिश्रीभवच्चक्षुषो-
र्भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यावृत्तकण्ठग्रहः ॥'

अत्रासूयायाः प्रशम इति भावप्रशमध्वनिः। वस्तुध्वनिरलंकारध्वनिश्चेति। तत्र शब्द-शक्तिमूलो वस्तुध्वनिर्यथा—

'निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥'

अत्र कौरवाणां क्षतशरीरादिकत्वं वस्तुरूपं शब्दशक्त्यैव प्रतीयते। स एवार्थशक्ति-मूलो यथा—

'अलससिरोमणि धुत्ताणँ अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ।
इह भणिएण णअंगी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥'

अथार्थशक्त्या ममैवोपभोग्योऽयमिति वस्तु व्यज्यते। स एवोभयशक्तिमूलो यथा—

'पंथिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥'

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति वस्तु वक्रौचित्यमाश्रित्य शब्दार्थशक्त्याभि-व्यज्यत इत्युभयशक्तिमूलत्वम्।

भावप्रशम यथा—"एक ही शय्या पर एक दूसरे की ओर पीठ करके सो रहे, एक दूसरे का उत्तर देते हुए मुँह फुलाते जा रहे, साथ ही चित्त में दूसरे को मनाने की इच्छा रहने पर भी अपना

होता है और (वहाँ ध्वन्यमान अर्थ रस रूप) टेढ़ी कर धीरे से एक दूसरे को देखना चाहा तो व्यग्य (नामक भेद) शब्दशक्ति मानकलह टूट गया और दोनों के तिरछे कण्ठ हँसी के वस्तुरूप भी होता है और । असूया नामक संचारी भाव का प्रशम (अन्त) ध्वनित है अतः यह दिया है क्योंकि काव्यरूप है ।

वहीं विभक्त करते अलंकारध्वनि । दोनों में शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण तव्यस्य .भी (कौरवों) के विकास से वैराग्नि जिनकी शान्त हो गई है ऐसे पाण्डव श्रीकृष्ण के ? आनन्द करें तथा कौरव पृथ्वी को रक्तप्रसाधित बना क्षतविग्रह हो अपने सभी भृत्यों के साथ स्वस्थ हो जावें । (यहाँ रक्तप्रसाधित, क्षतविग्रह और स्वस्थ शब्द द्व्यर्थक है । [रक्त अर्थात् खून से सँवार ली है पृथिवी जिन्होंने तथा अनुरूप और भली सँवरी है पृथिवी जिनकी, क्षत है विग्रह= युद्ध या शरीर जिनका तथा स्वस्थ = स्वर्गस्थ या शरीर से ठीक) यहाँ शरीर की क्षति आदि अर्थ वस्तुरूप ही है और वे शब्दशक्ति से ही प्रतीत होते हैं (क्योंकि यहाँ शब्द बदले नहीं जा सकते) । अर्थशक्तिमूलक वस्तुध्वनि यथा—

> अलसशिरोमणिर्धूर्तानामग्रणीर्धनसमृद्धिमय' ।
> इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता ॥'

अर्थात् (उपमाता ने जब लड़की से कहा कि) वह (तुम्हारे लिए निर्धारित लड़का आलसियों में शिरोमणि है, धूर्तों (जुआड़ी या धोखेबाजों) में अगुआ है और धनसमृद्धि से भरपूर है "तो इस कथन से उस नताङ्गी की आँखें खिल उठीं।" यहाँ यह बात (वस्तु) ध्वनित होती है कि वह पुरुष एकमात्र उसी नताङ्गी तक सीमित रहेगा ।

उभयशक्तिमूलक वस्तुध्वनि यथा—

> ' पथिक नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
> उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥"

अर्थात् (स्वयं दूती की उक्ति) हे पथिक ! यहाँ बिछौना थोड़ा भी नहीं है और गाँव की जमीन भी पथरीली है । उठे पयोधरों को देखकर ठहरना चाहो तो ठहर जाओ" यहाँ यह बात (वस्तु) ध्वनित होती है कि 'यदि तुम (पथिक) उपभोगक्षम हो तो यहाँ ठहरो "यह ध्वनि बोलने वाले के विषय में यह विदित होने से होती है कि वह चपल है और यहाँ न तो 'पयोधर' शब्द बदला जा सकता और न अन्य सभी अर्थ अतः यह ध्वनि शब्दार्थोभयशक्तिमूलक है ।

विमर्शिनी

शब्दशक्तिमूलोऽलंकारध्वनिर्यथा—

> 'उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः ।
> पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥'

अत्र शब्दशक्त्या मेघलक्षणमर्थान्तरं प्रतीयते । प्रकृताप्रकृतयोश्चार्थयोरसंबद्धाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति तयोरौपम्यं कल्प्यत इत्यलंकारध्वनिः । स एवार्थशक्तिमूलो यथा—

> 'तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसं ।
> बिंबाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन ॥'

अत्र कौस्तुभबिम्बाधरयोः केवलयैवार्थशक्त्यौपम्यं गम्यत इत्यर्थशक्तिमूलोऽलंकारध्वनिः । उभयशक्तिमूलो यथा—

> 'जणहिअअविदारणए धारासलिलुल्लिए ण रमइ तहा ।
> तव दिट्ठी चिउरभरे पिआण जह वेरिखग्गम्मि ॥'

अत्रोभयशक्त्या चिकुरभरखड्गयोरौपम्यं गम्यते। इति शब्दः प्रमेयपरिसमाप्तौ। एवं ध्वनेः प्रभेदजातं प्रदर्श्य क्रमप्राप्तं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याप्यन्यतो योजयति—गुणीभूतेत्यादिना। दर्शित इति ध्वनिकारेण। यदाह—

व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः॥ इति॥

एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याप्यन्यतो भेदजातं योजयित्वा चित्रस्यापि प्रभेदजातं दर्शयितुमाह—चित्रमित्यादि।

शब्दशक्तिमूलक अलंकारध्वनि यथा—'उस तन्वी के खूब उभरे पयोधरों ने किसे साभिलाष नहीं बना दिया। पयोधर उन्नत, प्रोल्लसद्धार और कालागुरुमलीमस जो हैं'। (पयोधर = स्तन तथा मेघ, प्रोल्लसद्धार = प्रोल्लसित हो रहे हैं हार जिनपर ऐसे-स्तन, प्रोल्लसित हो रही हैं धाराएँ जिनमें ऐसे = मेघ; कालागुरु से कृष्ण = स्तन, कालागुरुतुल्य कृष्ण = मेघ। यहाँ स्तन प्रस्तुत हैं मेघ अप्रस्तुत और पयोधर आदि शब्द बदल देने पर मेघपक्ष की प्रतीति नहीं होती अतः यहाँ) शब्दशक्ति से [(हाँ) मेघरूप अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है और स्तन तथा मेघों में उपमानोपमेयभाव मानना पड़ता है अन्यथा दोनों अर्थ असंबद्ध पड़े रह सकते हैं जिससे वाक्यभेदनामक दोष हो सकता है। वाच्यस्थिति में अलंकार माना जाने वाला यह) उपमानोपमेयभाव व्यंजना द्वारा प्रधानरूप से ध्वनित होता है अतः यहाँ अलंकारध्वनि है।

अलंकारध्वनि ही जो अर्थशक्ति से ध्वनित होती है यथा—

"तत् तेषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम्।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन॥"

अर्थात् = "उन (राक्षसों) का (समुद्रमन्थन से उत्पन्न रत्नों में से) श्रीसहोदर (श्री = लक्ष्मी के साथ उत्पन्न होने से उसका सहोदर और सुन्दर होने से भी श्री = शोभामयी लक्ष्मी का सहोदर) रत्न (कौस्तुभ) किसी भी प्रकार हड़प लेने में सर्वात्मना सन्नद्ध हृदय कुसुमबाण ने प्रियाओं के बिम्बाधर पर लगा दिया।" यहाँ कौस्तुभमणि और अधरोष्ठ का तुल्यता अपरिवर्तनीय अर्थ से प्रकट होती है अतः यहाँ अर्थशक्तिमूलक ही अलंकारध्वनि है (शब्द तो यहाँ कोई भी रखे जा सकते हैं)।

उभय—(शब्दार्थ) शक्तिमूलक यथा—

'जनहृदयविदारणके धारासलिलतुलिते न रमते तथा।
तव दृष्टिश्चिकुरभरे प्रियाणां, यथा वैरिखड्गे॥"

अर्थात् तुम्हारी दृष्टि जनों के हृदय विदारित करने वाले तथा धाराजल से तुलित (केशपाशपक्ष में धारासलिल = नदी आदि की धारा का जल, खड्गपक्ष में—उसकी धार का पानी—प्रियाओं के केशपाशों में उतनी नहीं रमती जितनी वैरियों के खड्गों में।" यहाँ (धारा. शब्द अपरिवर्तनीय है, शेष बदले जा सकते हैं अतः) शब्द और अर्थ दोनों की शक्तियों से खड्ग तथा प्रियाकेशों की तुलना द्योतित होती है।

इसके बाद जो **इति** शब्द है उसका अर्थ है प्रतिपाद्य तत्त्व के प्रतिपादन की समाप्ति।

इस प्रकार ध्वनि के प्रभेद दिखलाकर उसके बाद आने वाले गुणीभूतव्यंग्य के भी भेदों का अन्य ग्रन्थों में संकेत देते हुए लिखते हैं—**गुणीभूतव्यंग्य** आदि। **दर्शितः** दिखला दिया है अर्थात् ध्वनिकार ने। जैसा कि (ध्वनिकार ने) कहा है—

"जहाँ व्यंग्य अप्रधान रहता है, अर्थात् वह केवल वाच्य के पीछे चलता है वहाँ समासोक्ति आदि अर्थालंकार ही होते हैं।" (ध्वन्या० संग्रहकारिका उद्योत-१ पृष्ठ० १३० चौ० सं० १) इस प्रकार गुणीभूतव्यंग्य के भेद भी अन्यत्र दिखला दिए।

अब चित्रकाव्य के भेद भी दिखलाने के लिए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

चित्रं तु शब्दार्थालंकारस्वभावतया बहुतरप्रभेदम्। तथा हि—

[सूत्रम् १] इहार्थपौनरुक्त्यं शब्दपौनरुक्त्यं शब्दार्थपौनरुक्त्यं चेति त्रयः पौनरुक्त्यप्रकाराः ॥ १ ॥

आदौ पौनरुक्त्यप्रकारवचनं वक्ष्यमाणालंकाराणां कक्षाविभागघटनार्थम्। अर्थापेक्षया शब्दस्य प्रतीतावन्तरङ्गत्वेऽपि प्रथममर्थगतधर्मनिर्देशश्चिरंतनप्रसिद्ध्या पुनरुक्तवदाभासस्य पूर्वं लक्षणार्थः। इहशब्दः प्रस्थाने। इतिशब्दः प्रकारे, त्रिशब्दादेव संख्यापरिसमाप्तिसिद्धेः।

चित्रनामक जो काव्यभेद है वह तीन प्रकार का है शब्दालंकारस्वरूप, अर्थालंकारस्वरूप तथा उभयालंकारस्वरूप। इसके प्रभेदों की संख्या बहुत अधिक है। जैसे—

[सूत्र] "यहाँ (काव्य में) पौनरुक्त्य के तीन भेद होते हैं—(१) अर्थपौनरुक्त्य (२) शब्दपौनरुक्त्य तथा (३) शब्दार्थ (उभय) पौनरुक्त्य ॥ १ ॥

[वृत्ति] (अलंकारों के निरूपण के) आरम्भ में पौनरुक्त्य के भेदों के निरूपण का प्रयोजन है— (इसके) आगे निरूपित किए जाने वाले (पुनरुक्तवदाभास आदि पाँच पौनरुक्त्यमूलक) अलंकारों का कक्षाविभाग (अर्थ, शब्द और उभयगत रूप से विभाजन) करना है।

प्रतीति में शब्द अर्थ की अपेक्षा अन्तरंग है (काव्य में शब्द का ज्ञान पहिले होता है और अर्थ का बाद में) इसलिए शब्दगत पौनरुक्त्य का उल्लेख पहिले होना चाहिए तथापि) अर्थगत धर्म (पौनरुक्त्य) का (पहिले) निर्देश प्राचीन (उद्भटादि) आलंकारिक आचार्यों के समान (अर्थगत पौनरुक्त्य पर निर्भर) पुनरुक्तवदाभास का लक्षण (शब्दालंकारों की अपेक्षा) पहिले करने के लिए किया गया है।

इह-(यहाँ-) शब्द (काव्य-) प्रस्थान के लिए प्रयुक्त है (क्योंकि अलंकार काव्य के ही धर्म हैं)। इति (इस प्रकार-) शब्द (समाप्तिवाचक नहीं) प्रकार-(भेद-) वाचक है, क्योंकि संख्या की समाप्ति (पूर्ति) त्रि-(तीन-) शब्द से ही चली आती है।

विमर्शिनी

तुशब्दः काव्यप्रकारद्वयादस्य वैलक्षण्यद्योतकः। अत एव बहुतरप्रभेदमित्युक्तम्। शब्दार्थेत्येक शेषः। तेनोभयालंकाराणामपि ग्रहणम्। तदेव दर्शयितुमाह—तथाहीत्यादि। चित्राख्यकाव्यभेदनिरूपणावसरे किं पौनरुक्त्यप्रकारवचनेनेत्याशङ्क्याह—आदावित्यादि। वक्ष्यमाणालंकाराः पुनरुक्तवदाभासादयः पञ्च। शब्दप्रतीतिपुरःसरीकारेणार्थप्रतीतिरिति प्रथमं शब्दगत एव धर्मनिर्देशो न्याय्यो नार्थगत इत्याशङ्क्याह—अर्थेत्यादि। चिरंतन प्रसिद्धेति। न पुनर्युज्यमानतयेति भावः। 'पुनरुक्तवदाभास छेकानुप्रास एव च' इति चिरंतनप्रसिद्धिः। अर्थालंकारत्वादर्थालंकारप्रकरणे पुनरस्य युज्यमानत्वम्। नन्वादौ शब्दगतो, धर्मनिर्देशः कार्यः पश्चादर्थगत इति क्रमस्य न किंचित्प्रयोजनमुत्पश्याम इति किं तेनेति यदन्यैरुक्तं

तदयुक्तम्। शब्दार्थयोः क्रमेणैव प्रतीतावभासनात्तथात्वेनैव धर्मनिर्देशस्योपपत्तेः किं च 'वर्धमानोत्कर्षाणि शास्त्राणि प्रथन्ते' इति नीत्या परिमितचमत्काराणामर्थालंकाराणां पश्चान्निर्देशः कार्य इति सप्रयोजन एव क्रमः। चिरंतनमतानुल्लङ्घनेन च वयं प्रवृत्ता इत्ययुक्तमपि ग्रन्थकृता तन्मतमाश्रितम्। अग्रेऽप्यनेनाशयेन तन्मताश्रयणं करिष्यत्येव। तेन वयं यच्चिरंतनमताश्रयणं व्याख्यास्यामस्तद्युक्तमेव।

तु-शब्द (ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य इन) दोनों काव्यप्रकारों से इस (चित्र काव्यप्रकार) की विलक्षणता (विशेषता) का द्योतक है। इसीलिए कहा कि इस (चित्रकाव्य) के भेदों की संख्या अधिक है। शब्दार्थपौनरुक्त्य में 'शब्दार्थशब्द में एकशेष समास है [अर्थात् इसका विग्रह इस प्रकार होगा शब्दश्चार्थश्चेति शब्दार्थौ, शब्दश्च (तत्सहितः) अर्थश्चेति शब्दार्थौ, शब्दार्थौ च शब्दार्थौ चेति शब्दार्थौ, अर्थात् एकबार अलग अलग शब्दार्थ का समाससमाश्रगत जोड़ा = शब्दार्थौ, दूसरी बार मिले हुए शब्दार्थ का जोड़ा, दोनों जोड़ों के वाचक दो "शब्दार्थशब्दों" का पुनः समास और इसमें एकमात्र का बचना] उस (एकशेष समास) से उभयालंकारों का ग्रहण भी हो जाता है। उसी को दिखलाने के लिए लिखना आरम्भ करते हैं "तथा हि = जैसे"-इत्यादि। (सूत्रकार ने तीन प्रकार के पौनरुक्त्य का निरूपण पहले किया उस पर प्रश्न उठा कि) प्रकरण तो था चित्रनामक काव्य के भेदों के निरूपण का, उसमें पौनरुक्त्य के भेदों की चर्चा क्यों? इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं आदौ = पहले, आरम्भ में इत्यादि। **वक्ष्यमाण अलंकार** अर्थात् पुनरुक्तवदाभास आदि पाँच अलंकार। शंका:—अर्थ की प्रतीति शब्द की प्रतीति को आगे करके होती है इस लिए पहले शब्दगत धर्मों का ही निर्देश उचित था, न कि अर्थगत धर्मों का, उत्तर = अर्थः इत्यादि। **चिरंतनप्रसिद्धि** = भाव यह कि प्राचीन आलंकारिकों में पुनरुक्तवदाभास का ही निरूपण पहले किया जाता रहा है इसलिए हम भी यहाँ उसी का निरूपण पहले पहल कर रहे हैं इसलिए नहीं कि उसी का निरूपण पहले किया जाना उचित है। चिरंतनप्रसिद्धि के लिए (उद्भट के काव्यालंकार-सारसंग्रह की प्रथम कारिका =) "पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च" (ली जा सकती है)। वस्तुतः पुनरुक्तवदाभास अर्थ का अलंकार है इसलिए इसका निरूपण अर्थालंकारप्रकरण में होना उचित था।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'शब्द के धर्मों' का ही निर्देश पहले होना चाहिए, अर्थ के धर्मों का बाद में, यह जो क्रम है वह निरर्थक है, उलटा क्रम भी अपनाया जा सकता है, उसमें भी कोई हानि नहीं दीखती। किन्तु उनका यह कहना तथ्यशून्य है। क्योंकि शब्द और अर्थ की प्रतीति क्रम से ही होती है (और उसमें शब्द की ही प्रतीति पहले होती है) अतः उसी क्रम से धर्मनिर्देश करना ठीक रहता है। और क्रम सार्थकभी है क्योंकि "शास्त्र वे प्रसिद्ध होते हैं जिनमें उत्कर्ष बढ़ता जाय" (उत्तरोत्तर अधिक महत्त्व का विवेचन प्रस्तुत करने वाले शास्त्र बढ़ते और प्रसिद्ध होते हैं) इस व्यवहार के अनुसार अर्थालंकारों का ही निरूपण बाद में किया जाना चाहिए क्योंकि उन्हीं में (अपेक्षाकृत अधिक) चमत्कार होता है। जहाँ तक हमारा संबन्ध है हम (अलंकारसर्वस्वकार) 'प्राचीन (उद्भटादि) के मत का उल्लंघन बिना किए ही अपना ग्रन्थ बना रहे हैं" इस भावना से ग्रन्थकार युक्तिविरुद्ध होने पर भी प्राचीनों का क्रम ही यहाँ दे रहे हैं। इसी भावना से प्रेरित हो वे आगे भी प्राचीनों के मत अपना कर ही चलेंगे। इसलिए आगे भी हम जो प्राचीनों के मत के ही अनुसार व्याख्या प्रस्तुत करेंगे वह गलत नहीं होगा।

विमर्शिनी

एतदेव यथोद्देशं निर्णेतुमाह—तत्रेत्यादि। [धर्मे]

अब इसी (पौनरुक्त्य) को नामनिर्देशक्रम से एक एक करके बतलाना आरम्भ करते हैं, सारे

[सर्वस्व]

[सू० २] तत्रार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः ॥

प्ररूढाप्ररूढत्वेन द्वैविध्यम्। प्रथमं हेयवचनमुपादेये विश्रान्त्यर्थम्। तत्रेति त्रयनिर्धारणे। यथावभासनविश्रान्तिः प्ररोहः।

[सू० २] उन [तीनों पौनरुक्त्य] में प्ररूढ अर्थपौनरुक्त्य दोष होता है ॥

[वृत्ति] = '(अर्थपौनरुक्त्य) दो प्रकार का होता है प्ररूढ और अप्ररूढ। [इनमें से] आरम्भ में त्याज्य [दोषस्वरूप प्ररूढ पौनरुक्त्य] का कथन उपादेय [अलङ्कारस्वरूप अप्ररूढ पौनरुक्त्य] से [निरूपण की] समाप्ति करने के लिए किया गया। 'तत्र'-शब्द तीन [पौनरुक्त्य] में से [एक प्ररूढ के] निर्धारण के लिए है। [प्ररूढ में] प्ररोह का अर्थ है 'आरम्भिक प्रतीति के समान ही अन्तिम प्रतीति का होना' [अर्थात् पदार्थ और वाक्यार्थ दोनों की प्रतीतियों का एकरूप होना]।

विमर्शिनी

किमलंकारप्रस्तावे दोषकथनेनेत्याशङ्क्याह—प्रथममित्यादि। उपादेय इत्यलंकारस्वरूपे। यथेति। यथैव हृदयस्थतथैव पर्यवसित इत्यर्थः। यथा—

'हरिणनयनां सारङ्गाक्षीं कुरङ्गविलोचनां कमलवदनां राजीवास्यां सरोजसमाननाम्।
विलुलितकचां चञ्चत्केशीं चलच्चिकुरोत्करां सुरतविरतौ संभोगान्ते विलोकय कामिनीम् ॥'

अत्र सारङ्गाक्षीमित्यादिषु पुनर्वचनं प्ररूढम्। अप्ररूढं पुनरलंकारः।

न चैतावतैव दोषाभावमात्रेणालंकारत्वमस्येत्याशङ्क्यम्, वक्ष्यमाणनीत्यालंकारत्वोचितस्य विच्छित्तिविशेषस्यापि भावात्। तदेवाह—आमुखेत्यादि।

"अलंकार के प्रसङ्ग में दोष (प्ररूढ अर्थपौनरुक्त्य) का कथन क्यों किया जा रहा है"—इस शंका का उत्तर देते हुए कहते हैं—प्रथम = आरम्भ में इत्यादि। उपादेय अर्थात् अलंकार। 'यथा' "जैसा लगा वैसा ही ठहरा"। उदाहरण—

सुरतपूर्ति और संभोगसमाप्ति में कामिनी को देखो। उस समय वह हरिण-नयना, सारंगाक्षी और कुरंगविलोचना, कमलवदना, राजीवास्या और सरोजसमानना तथा विलुलितकचा, चचत्केशी और चलच्चिकुरोत्करा प्रतीत होती हैं। [यहाँ हरिण, सारंग और कुरंग, नयन, अक्षि और विलोचन, कमल, राजीव और सरोज, वदन, आस्य और आनन, विलुलित, चचत् और चलत् तथा कच, केश और चिकुर शब्द एकार्थक हैं] यहाँ सारंगाक्षी इत्यादि पदों में पौनरुक्त्य प्ररूढ [आरम से अन्त तक एक सा बना रहता] है। जो पौनरुक्त्य अप्ररूढ रहता है वह अलंकार माना जाता है।

किन्तु इसके [अप्ररूढ होने] मात्र से यह नहीं मानना चाहिए कि "यह (अर्थपौनरुक्त्य) दोषाभावमात्र है और यही इसका अलंकारत्व है" क्योंकि इसमें अलंकारोचित विशिष्ट सौन्दर्य भी अभी यहीं बतलाया जाने वाला है। उसी को बतलाते हैं—

[सर्वस्व]

[सू० ३] आमुखावभासनं पुनः पुनरुक्तवदाभासम् ॥

न पुन- अर्थालंका- कार्यः पश्चाद्- आमुखग्रहणं पर्यवसानेऽन्यथात्वप्रतिपत्त्यर्थम्। लक्ष्यनिर्देशे नापुंसक-

संस्कारो लौकिकालंकारवैधर्म्येण काव्यालंकाराणामलंकार्यपारतन्त्र्यध्वननार्थः । अर्थपौनरुक्त्यादेवार्थाश्रितत्वादर्थालंकारत्वं ज्ञेयम् ।

प्रभेदास्तु विस्तरभयान्नोच्यन्ते । उदाहरणं मदीये श्रीकण्ठस्तवे यथा—

'अहीनभुजगाधीशवपुर्वलयकङ्कणम् ।
शैलादिनन्दिचरितं क्षतकंदर्पदर्पकम् ॥
वृषपुंगवलक्ष्माणं शिखिपावकलोचनम् ।
ससर्वमङ्गलं नौमि पार्वतीसखमीश्वरम् ॥'

'दारुणः काष्ठतो जातो भस्मभूतिकरः परः ।
रक्तशोणार्चिरुच्चण्डः पातु वः पावकः शिखी ॥'

'भुजंगकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ।
जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः ॥'

[सूत्र-२] किन्तु [केवल] आरम्भ [मात्र] में भासित होने वाले [अर्थ-पौनरुक्त्य-तो पुनरुक्तवदाभास [अलंकारभूत पुनरुक्त पद] हैं ।

[वृत्ति] [सूत्र में] आमुख शब्द का ग्रहण पर्यवसान [अन्त] में भिन्नता [पुनरुक्ति के अभाव] का ज्ञान कराने के लिए किया गया । लक्ष्य [पुनरुक्तवदाभास के नाम] निर्देश में [पुनरुक्तवदाभासशब्द के साथ पुलिङ्ग न होकर] नपुंसकलिंग का प्रयोग इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए है कि काव्य के अलंकार अलंकार्य [काव्य] से बंधे होते हैं, लौकिक अलंकार [हार आदि] के समान [अलंकार्य से स्वतन्त्र] नहीं । यह अलंकार अर्थ के पौनरुक्त्य पर निर्भर है अतः स्वयं भी अर्थ पर निर्भर है और इसीलिए इस अलंकार को अर्थालंकार समझना चाहिए । [इसके] प्रभेद नहीं बतलाए जा रहे क्योंकि [हमें] विस्तार में नहीं जाना है । उदाहरण जैसे मेरे श्रीकण्ठस्तव में—मैं भगवान् शंकर को प्रणाम करता हूँ जो अहीन [अहि-सर्प, इन = स्वामी, अ-हीन = पुष्ट] भुजगाधीश [वासुकिनाग] के शरीर के वलय [मण्डलीकृत शरीरों का कंकण पहने हैं, जो शैलादिनन्दिचरित [शिलाद पुत्र = शैलादि अर्थात् नन्दी, शैलादि नन्दी, पुनरुक्त, शैलादि को नन्दित प्रहृष्ट करने वाला चरित] जो क्षतकन्दर्प-दर्पक हैं—[कन्दर्प और दर्पक = काम = पुन०, कन्दर्प का दर्प] जिसका निशान है वृष पुंगव [वृष = बैल नन्दी, पुंगव = बैल नन्दी, वृषों में पुंगव श्रेष्ठ], जो शिखिपावक से युक्त नेत्र वाले हैं शिखी = अग्नि और अग्नि-पुन०, शिखायुक्त अग्नि जो ससर्वमंगल और पार्वतीसहित हैं [सर्वमंगला-पार्वती, उनसे युक्त, तथा सबके मंगल से युक्त]।

'दारुणः काष्ठ से उत्पन्न [दारुणः = दारुण शब्द का पंचमी एकवचन, अतः दारु से और काष्ठ से = पुनरुक्ति; दारुण = क्रूर] भस्मभूतिकर [भस्म और भूति = भस्म पैदा करने वाले, भस्म की भूति = ढेर पैदा करने वाला] तथा रक्तशोणार्चि [रक्त = खून, शोण = खून, के समान लपट वाले शोण = लाल] शिखी [शिखा = लपट वाला अग्नि] उच्चण्ड पावक [अग्नि और पवित्र करने वाला] आपकी रक्षा करे ।'

—ये स्थल हैं सुबन्त [नाम पदों] के पौनरुक्त्य के । तिङन्त [क्रियापदों] का पौनरुक्त्य भी उसी प्रकार वहीं [मेरे श्रीकण्ठस्तव में]—

भुजंगकुण्डली [कुण्डली = सर्प, कुण्डल वाले,] व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः [व्यक्त है, शशी = चन्द्र, शुभ्रांशुचन्द्रशीतगु = चन्द्र जिसमें, शश = खरगोश से युक्त, शुभ्र किरणों वाला चन्द्र जिसमें] चेतोहर [चेतः चित्त को, हरः = शिव, चेतोहरः चित्त को हरण करने वाले] शंकर भगवान् सारे

ब्रह्माण्डों को सदापायात् अव्यात् [सदा पायात् = रक्षा करे, अव्यात् = रक्षा करे "सदाऽपायात्= अपाय हानि से रक्षा करे]" । [यहां पायात् और अव्यात् पुनरुक्त से लगते हैं] ।

विमर्शिनी

अन्यथात्वेति । यथावभातस्यार्थस्य पर्यवसाने तथात्वेनैवाविश्रान्तिरित्यर्थः । अन्यथा ह्युक्तनीत्या दोष स्यात् । ननु पुनरुक्तवदाभासशब्दस्यालङ्कारशब्दसामानाधिकरण्यादुपमादिवदजहल्लिङ्गत्वयोगाच्च पुंल्लिङ्गत्वे किमितीह नापुंसक संस्कारः कृत इत्याशङ्क्याह—लक्ष्येत्यादि । लक्ष्यस्य लक्षणीयस्य पुनरुक्तवदाभासस्य पुनःशब्दापेक्षया निर्देशो वचनमित्यर्थः । अलङ्कार्यपारतन्त्र्येणेति । काव्यसामानाधिकरण्येन निर्देशात् । लौकिका हारादयः । एषां ह्यलंकार्येण सह संयोग संबन्धः । अत एवैषां तत्परतन्त्रतापि न स्यात् । काव्यालंकाराणां पुनरलंकार्येण सह समवायः संबन्धः । अत एवैषामयुतसिद्धत्वादलंकार्यपारतन्त्र्यमेवेति लौकिकालंकारवैधर्म्यमेव न्याय्यम् । आश्रयाश्रयिभावेनालंकार्यालंकरणभावोपपत्तेः किमाश्रयमस्यालङ्कारत्वमित्याशङ्क्याह—अर्थेत्यादि । एवकारः शब्दपौनरुक्त्यव्यवच्छेदद्योतकः ।

अन्यथात्व = भिन्नता अर्थात् अर्थ का ज्ञान आरम्भ में जैसा हुआ अन्त में उसका वैसा ही न ठहरना, ऐसा न होने से उपर्युक्त ढंग से [पौनरुक्त्य प्ररूढ होकर] दोष बन सकता है ।

प्रश्न उठता है कि 'पुनरुक्तवदाभास–' शब्द [मूलतः पुंलिंग शब्द है और वह ठीक उसी प्रकार] अलंकार का वाचक है जिस प्रकार अलंकारशब्द और इसलिए "उपमा" आदि शब्दों में जैसे लिंग नहीं बदलता उसमें भी लिंग नहीं बदल सकता फलतः उसमें पुंलिंग ही रहना चाहिए, तब उसके साथ नपुंसकलिंग का प्रयोग क्यों किया गया"–इस पर उत्तर देते हुए लिखा "लक्ष्य"–आदि । लक्ष्य अर्थात् लक्षणीय यानी पुनरुक्तवदाभास का पुनःशब्दापेक्षया निर्देश अर्थात् कथन । अलंकार्यपारतन्त्र्य, अलंकार्य = काव्य, उसके लिंग (नपुंसक लिंग) के साथ निर्देश करने से [पुनरुक्तवदाभास शब्द में नपुंसक लिंग का प्रयोग] लौकिक [अलंकार] = हार आदि । इनका अलंकार्य (शरीर) से संयोग सम्बन्ध रहता है । इसलिए ये शरीर के गुणधर्म अपनाने के लिए विवश नहीं रहते । काव्य के अलंकारों की स्थिति भिन्न है । [उद्भट आदि के अनुसार] इनका अलंकार्य के साथ समवाय सम्बन्ध रहता है । इन्हें काव्य से अलग नहीं किया जा सकता इसीलिए इन्हें काव्य के (लिंग आदि) गुण धर्म अपनाने पड़ते हैं । अतः इनका लौकिक अलंकारों से वैधर्म्य ठीक ही है । अब एक प्रश्न यह उठता है कि अलंकार और अलंकार्य में आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध देखा गया है अतः इन (उपमादि) अलंकारों का भी कोई न कोई आश्रय होना ही चाहिए । वह कौन तत्त्व है ?" इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं–"अर्थपौनरुक्त्य" आदि । यहाँ एव (ही) शब्द से पौनरुक्त्य का ग्रहण नहीं होता ।

विमर्शः—(१) आभासशब्द संस्कृत में पुंलिंग शब्द है । "पुनरुक्तवदाभास"–शब्द का अर्थ है "फिर से कहे गए जैसा लगना" । इस अर्थ में आभासशब्द स्वतन्त्रशब्द है किसी के लिए विशेषण शब्द नहीं, फलतः यहां इसका प्रयोग पुंलिंग में ही होना चाहिए, किन्तु सूत्र में उसे नपुंसकलिंग में रखा गया है "पुनरुक्तवदाभासम्" इस प्रकार । यह क्यों ? वस्तुतः इस शब्द का नपुंसकलिंगान्त प्रयोग पहली बार उद्भट ने किया है । उनकी कारिका विमर्शिनी में उद्धृत है [पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च] [दण्डी, भामह और वामन में यह अलंकार नहीं मिलता ।] वृत्तिकार ने यहां जो उत्तर दिया है उसका भी मूल कदाचित् उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह की लघुवृत्ति है । उसमें प्रतीहारेन्दुराज ने नपुंसकलिंगान्त पुनरुक्तवदाभास शब्द में बहुव्रीहि प्रतिपादित किया है, और

शब्द को काव्यपरक माना है अर्थात् उन्होंने इस शब्द का अर्थ किया है ऐसा काव्य जिससे पुनरुक्त (पुनरुक्ति) जैसा आभास हो। पुनरुक्तवदाभास की उद्भटकृत परिभाषा "पुनरुक्ताभासम् अभिन्नवस्तु इव उद्भासि भिन्नरूपं पदम्" "उस काव्य को पुनरुक्तवदाभासयुक्त काव्य कहते हैं जिसमें स्वरूपतः भिन्न पद अर्थतः अभिन्न लगते हों"—पर वृत्ति लिखते हुए प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा—"पुनरुक्ताभासम् अत्र काव्यमलंकार्यं निर्दिष्टम्, पुनरुक्तवद् आभासमाने च पदे तस्यालंकारः। अत्र अलंकार्यं यत् काव्यं तद्धर्मत्वेन पुनरुक्तवद् आभासमानयोः पदयोः अलंकारत्वम् उक्तम्, न तु स्वतन्त्रतया। फलं चैवमभिधानस्य पुनरुक्तवदाभासमानपदसमन्वयस्य अलंकारताख्यापनम्। अलंकारस्य खलु अलंकार्यपरतन्त्रतया निरूपणे क्रियमाणे सुष्ठु स्वरूपं निरूपितं भवति, स्वात्मन्यवस्थितस्य तस्यानलंकारत्वात् समुद्गकस्थितहार-केयूर-परिहार्याद्यलंकारवत्। अतः पुनरुक्तवदाभासत्वस्य अलंकारताख्यापनाय काव्यपरतन्त्रतया निर्देशो युक्त एव।"

इस पूरे सन्दर्भ का कुल मिलाकर केवल इतना ही अर्थ है कि नपुंसकलिंगान्त पुनरुक्तवदाभास में बहुव्रीहि है और उससे युक्त यह शब्द अलंकार का वाचक न होकर काव्य का वाचक है। और काव्यशब्द नपुंसकलिंगान्त होता है। काव्यवाचकरूप से इस शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि काव्य में प्रयुक्त होने पर ही पुनरुक्त जैसे लगते पद अलंकार बनते हैं।

यहां अलंकारसर्वस्वसूत्र के वृत्तिकार भी इसी बात को दोहरा रहे हैं। टीकाकार के अनुसार वृत्तिकार प्राचीन आचार्यों की मान्यता का अनुसरण कर रहे हैं। उनका खण्डन नहीं।

किन्तु इस तथ्य का इन दोनों वृत्तिकारों के पास उत्तर नहीं है कि उद्भट ने जहां पुनरुक्तवदाभास का उल्लेख—

> "पुनरुक्तवदाभासं छेकानुप्रास एव च।
> अनुप्रासस्त्रिधा लाटानुप्रासो रूपकं चतुः॥
> उपमा दीपकं चैव प्रतिवस्तूपमा तथा।
> इत्येत एवालंकारा वाचां कैश्चिदुदाहृताः॥"

—इस कारिका में किया है, वहाँ तो केवल अलंकारों का ही उल्लेख है। वहाँ तो काव्य के लिए इस शब्द का प्रयोग नहीं है। यदि 'पुनरुक्तवदाभास' शब्द काव्य के लिए है तो छेकानुप्रास आदि शब्दों को भी काव्य के लिए ही होना था, और इसीलिए उनमें भी नपुंसकलिंग होना चाहिए था।

यहाँ 'पुनरुक्तवदाभास'-शब्द 'पद' के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है। 'पद' नपुंसकलिंग शब्द है। "वह पद जिसका आभास पुनरुक्त सा हो"—काव्य का अलंकार होता है ऐसा अर्थ करने पर उपर्युक्त कारिका में भी नपुंसकलिंग उचित सिद्ध होता है। अलंकाररत्नाकरकार ने सूत्र में 'आमुखैकार्थपदं पुनरुक्तवदाभासम्' इस प्रकार 'पद'-शब्द का प्रयोग किया भी है। छेकानुप्रास आदि पद के धर्म नहीं, वृत्ति के धर्म हैं, अतः उन्हें स्वतन्त्ररूप से उनके अपने-अपने लिंगों में ही रखा उद्भट ने पुनरुक्तवदाभास का जो लक्षण किया है उसमें तो "पुनरुक्ताभासं······पदम्" इस प्रकार पदशब्द का प्रयोग है ही।

वस्तुतः अलंकारसर्वस्वकार ने अपने सूत्र में उद्भट के शब्द को दोहरा दिया है। उसके अनुसार अर्थ यह होगा कि "जो पौनरुक्त्य आरम्भमात्र में प्रतीत होता है वह तो वही तत्त्व है जिसे उद्भट ने पुनरुक्तवदाभासम् कहा है।" दोनों में अन्तर यह है कि उद्भट ने पुनरुक्त जैसे लग रहे 'पद'को अलंकार कहा है और अलंकारसर्वस्वकार ने पदगत 'पौनरुक्त्य' को जो अधिक वैज्ञानिक है। पद

तो काव्यशरीर का घटक है अलंकार नहीं। पदगत पौनरुक्त्य अंगगत हार आदि अथवा सुडौल-पन आदि के समान शोभाधायक अलंकार माना जा सकता है।

यह भी संभावना की जा सकती है कि सूत्र में जिस प्रकार उद्देश्य में "आमुखावभासन" इस प्रकार अवभासन शब्द है उसी प्रकार विधेय में भी "पुनरुक्तवदाभासनम्" इस प्रकार "अव-भासन" शब्द रहा हो। 'अवभासन' शब्द नपुंसकलिंग होता ही है। किन्तु ऐसा सोचना संभव नहीं, कारण कि वृत्तिकार सूत्रकार के शिष्य हैं, उन्हें मूल पाठ में इस प्रकार भ्रम नहीं हो सकता। यदि सूत्रकार और वृत्तिकार अभिन्न हैं तब तो पाठभेद का प्रश्न ही नहीं उठता।

यह भी नहीं माना जा सकता कि सूत्रकार ने लघुवृत्तिकार की मान्यता को दोहरा दिया हो, क्योंकि एक तो प्रतीहारेन्दुराज सूत्रकार से पहले के हैं यह निश्चित नहीं दूसरे प्रतीहारेन्दुराज का यह कथन कि "पुनरुक्तवदाभासम्" पद काव्य के लिए है, पौनरुक्त्य और काव्य में अभेद सिद्ध करता है, जो निरी भावुकता है। पौनरुक्त्य काव्य धर्म हो सकता है काव्य नहीं। इसीलिए हमें यहाँ भी वृत्तिकार और सूत्रकार उद्भट और प्रतिहारेन्दुराज के ही समान भिन्न लग रहे हैं।

यह भी सोचा जा सकता है कि-"पौनरुक्त्य तीन प्रकार के होते हैं—अर्थगत, शब्दगत, उभय-गत, इनमें अर्थगत पौनरुक्त्य यदि प्ररूढ हो जाय तो दोष माना जाता है, किन्तु यदि वह केवल आरम्भमात्र में प्रतीत हो, तो पुनरुक्तवदाभास होता है अर्थात् उसमें पद पुनरुक्त जैसे प्रतीत होते हैं। 'इस प्रकार सदर्थ के क्रम से 'पुनरुक्तवदाभास' शब्द पौनरुक्त्य के लिए बहुव्रीहि युक्त है, अतः नपुंसकलिंगान्त है।' किन्तु यह भी अवैज्ञानिक है, क्योंकि जब प्ररूढ पौनरुक्त्य दोष कहा जा रहा है तो अप्ररूढ को दोषविरुद्ध अलंकार कहना ही स्वाभाविक है, और निरूपण भी अलंकारोंका ही करने जा रहे हैं।

उद्भट ने पद को 'पुनरुक्तवदाभास' कहा और पद को ही अलंकार माना। उनकी यह स्थापना स्थूल है अतः कदाचित् उनके इस दोष पर कटाक्ष करने के लिए सूत्रकार ने उनका पद उन्हीं के अनुसार प्रस्तुत कर दिया हो।

सर्वथा है यहाँ उद्भट के "पुनरुक्तवदाभास" शब्द का अनुवाद। उद्भट के पश्चात् पुनरुक्तवदाभास का निरूपण मम्मट में मिलता है। रुद्रट ने इसे छोड़ दिया है। मम्मट का पुनरुक्तवदाभास विवे-चन इस प्रकार है—

[का०] पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा।
एकार्थतेव शब्दस्य तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ [९ । ८६ काव्यप्रकाश]

[वृ०] भिन्नरूप—'सार्थकानर्थकशब्दनिष्ठमेकार्थत्वेन मुखे भासनं पुनरुक्तवदाभासः। स च-शब्दस्य समङ्गाभङ्गरूपकेवलशब्दनिष्ठ'।' अर्थात्-भिन्न भिन्न आकार के सार्थक और निरर्थक शब्दों का आरम्भ में एकार्थक भासित होना पुनरुक्तवदाभास होता है। शब्द में वह सभङ्ग और अभङ्ग दोनों प्रकार के शब्दों में रहता है।

(२) वृत्तिकार सूत्रकार से भिन्न है यह तथ्य इससे भी प्रमाणित होता है कि सूत्रकार ने पुन-रुक्तवदाभास को अर्थालंकार नहीं कहा। पुनरुक्तवदाभास में केवल पौनरुक्त्य को अर्थगत स्वीकार किया है। अर्थात् "अहीन" का अर्थ भी 'सर्पों का राजा' होता है और "भुजगाधीश" का भी। एक ही पद्य में दो बार एक ही अर्थ का कथन दोषतुल्य लगता है, किन्तु 'अहीन' शब्द का अर्थ 'पुष्ट' है ऐसा समझ में आते ही अर्थ भिन्न हो जाते हैं। पौनरुक्त्य नहीं रहता। इस प्रकार भुलावे में डालना एक शब्दच्छल सिद्ध होता है जो विरोधाभास के समान चमत्कारी है। किन्तु अर्थ में

पौनरुक्त्य कदापि न आता यदि 'अहीन' शब्द के स्थान पर पुष्ट शब्द का प्रयोग किया गया होता। इसलिए पौनरुक्त्य अर्थ में भले ही हो किन्तु उसका प्रत्यायक है, पद। फलतः अलंकार पद में ही है। काव्यप्रकाशकार ने इसीलिए अन्वयव्यतिरेक को गुण अलंकार और दोषों की शब्दार्थ-निष्ठता का मानदण्ड बतलाया है। यहाँ शब्द के रहने पर ही अलंकार रहता है। काव्यप्रकाशकार की इस स्थापना का पण्डितराज जगन्नाथने खण्डन किया है; किन्तु वह अवैज्ञानिक है। अलंकार-सर्वस्वकार ने अलंकारनिरूपण का जो क्रम अपनाया है उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार मानते हैं। उन्होंने शब्दालंकारों के निरूपण के पश्चात् अर्थालंकारों का निरूपण किया है। फलतः सूत्रकार के अनुसार पुनरुक्तवदाभास शब्दालंकार ही है। उद्भट ने जो उपर्युक्त कारिकाओं में अलंकारों का नामोल्लेख किया है उसमें से भी प्रतीहारेन्दुराज ने पुनरुक्तवदाभास आदि प्रथम चार अलंकारों को शब्दालंकार कहा है और शेष चार को अर्थालंकार। "तत्र चाद्यौ चत्वारः शब्दालंकारा निरूपिताः, रूपकादीनां तु चतुर्णामर्थालंकारता"। यद्यपि मम्मट ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार मानकर उभयालंकार भी माना है तथापि उन्होंने, शब्दालंकारों में ही गिनाया है। काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में शब्दालंकारों का ही निरूपण है। इसी प्रकार श्लिष्टपरम्परितरूपक आदि को भी उभयालंकार मानते हैं किन्तु गिनाते अर्थालंकारों में ही। कारण देते हुए कहते हैं कि उन अलंकारों की प्रसिद्धि वैसी ही है। उभयालंकार नाम से वे प्रसिद्ध नहीं हैं। वस्तुतः पुनरुक्तवदाभास में अर्थ की अपेक्षा शब्द का अलंकार-निष्पादकत्व प्रधान है, और श्लिष्टपरम्परितरूपक आदि में शब्द की अपेक्षा अर्थ का। फलतः उनकी प्रसिद्धि शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में ही है। मम्मट ने इनमें यदि एक एक की प्रधानता न देखी होती तो वे पुनरुक्तवदाभास, परम्परितरूपक आदि के लिए एकादश उल्लास लिखते और नवम में शब्दालंकार, दशम में अर्थालंकार का निरूपण कर उसमें उभयालंकार का निरूपण करते। वस्तुतः मम्मट को भी पुनरुक्तवदाभास में शब्दालंकारत्व ही अधिक मान्य है।

इस प्रकार यह सत्य है कि पुनरुक्तवदाभास में पौनरुक्त्य अर्थगत ही है; किन्तु यह भी सत्य है कि अलंकार शब्दगत ही है। यहाँ अर्थ में पौनरुक्त्य का दोष आता है। उसे उन्मेष मिलता है शब्द से। किन्तु शब्द का शिल्प उसे आभासात्मक ठहरा देता है। अतः चमत्कार शब्द के शिल्प में है। फलतः पुनरुक्तवदाभास शब्द का ही अलंकार है। वृत्तिकार ने इसे अर्थालंकार कहा है और टीकाकार भी उसका समर्थन करेंगे। किन्तु यह सब मूलविरुद्ध है।

(३) मम्मट ने आनन्दवर्धन के अनुसार अलंकारों को काव्यांग का धर्म माना है, काव्यात्मा का धर्म नहीं; और उन्होंने उसे हार आदि के समान कहा है। इससे इस भ्रम को जन्म मिलता है कि वे अलंकार और काव्य में सम्बन्ध भी वही स्वीकार करते हैं जो हार और शरीर में स्वीकार किया जाता है अर्थात् संयोग सम्बन्ध। किन्तु मम्मट ने ऐसा कहीं नहीं कहा। उन्होंने संयोग और समवाय के आधार पर गुण और अलंकार का उत्तर प्रस्तुत करनेवाले उद्भटादि के मत का खण्डन अवश्य किया है किन्तु उनका वह खण्डन यह सिद्ध करने के लिए नहीं है कि अलंकारों का संबन्ध काव्य में संयोगरूप ही है, और गुणों का समवायरूप ही। उनका खण्डन इसलिए है कि वे गुण और अलंकारों में संयोग और समवाय को भेदक नहीं मानना चाहते। वे उनके साक्षात् और परम्परया उपस्कारकत्व को ही भेदक मानना चाहते हैं। यह भी इसलिए कि संयोग और समवाय दार्शनिक शब्द हैं और वे विवादास्पद हैं। समवाय के लिए सम्बन्ध का एक छोर (अनुयोगी) अवश्य ही भौतिक होना चाहिए। संयोग तो केवल भौतिक पदार्थों में ही होता है। काव्य इसके विरुद्ध सर्वथा अभौतिक है। उसमें संयोगादि की चर्चा प्ररूढ नहीं हो सकती।

यह सिद्धान्त बिलकुल मान्य है कि जिस प्रकार काव्यगुण काव्य से अलग करके नहीं पाए जा सकते उसी प्रकार काव्यालंकार भी काव्य से अलग करके नहीं पाए जा सकते, जब कि हार आदि पाए जा सकते हैं। निष्कर्ष यह कि गुणों को जो शौर्य आदि के समान कहा वह जितना संगत है उतना अलंकारों को जो हार आदि के समान कहा वह नहीं। उद्भटादि की संयोग और समवाय आदि की चर्चा का यही सार है। टीकाकार ने जो "काव्यालंकाराणां पुनः अलंकार्येण सह समवायः संबन्धः" कहा उसमें समवाय का अर्थ 'अयुतसिद्धत्व' ही है। अयुत शब्द में यु धातु का अर्थ मिश्रण नहीं अमिश्रण है, अमिश्रण यानी पार्थक्य। फलतः उसका अर्थ है अपृथक्। जो वस्तुएँ एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकतीं उन्हें अयुतसिद्ध कहा जाता है। जैसे गुण और द्रव्य। यहाँ अलंकार भी काव्य से पृथक् नहीं मिलते। न्यायशास्त्र समवाय सबन्ध को द्रव्य में ही मानता है और काव्य द्रव्य नहीं है। अतः समवाय का अर्थ वही नहीं लिया जा सकता जो न्यायशास्त्र में लिया जाता है।

(४) टीका में यहाँ एक पंक्ति है "लक्ष्यस्य लक्षणीयस्य पुनरुक्तवदाभासस्य पुनः शब्दापेक्षया निर्देशो वचनमित्यर्थः"। इसमें निर्णयसागर संस्करण के अनुसार "पुनः शब्दा०" ऐसा, और "निर्देशे" ऐसा पाठ है। पुनःशब्दापेक्षया का संकेत कदाचित् सूत्रस्थ 'पुनः पुनरुक्त०' इस प्रकार आए प्रथम पुनः शब्द की ओर है। निर्णयसागर संस्करण में यह सूत्र केवल "आमुखावभासनं पुनरुक्तवदाभासम्" इतना ही है। इसमें प्रथम 'पुनः'-शब्द नहीं है। इसमें हमने टीका की इसी पंक्ति के आधार पर 'पुनः' शब्द जोड़ दिया है यद्यपि संजीविनीकार ने यहाँ 'तु' शब्द दिया है। प्ररूढ पौनरुक्त्य से अप्ररूढ का अन्तर बतलाते समय व्यावर्तकया वैलक्षण्यद्योतक ऐसे किसी शब्द का सूत्र में होना आवश्यक था। 'निर्देशे' यह सप्तमी अवश्य ही मुद्रादोष है।

संगति = आगे आरही विमर्शिनी जिन विकल्पों का खण्डन कर रही है वे अलंकाररत्नाकरकार द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। एतदर्थ अलंकाररत्नाकर के प्रथम सूत्र की वृत्ति देख लेनी चाहिए। यहाँ थोड़ा सा अंश आगे उद्धृत कर दिया गया है।

विमर्शिनी

तेन शब्दस्यापौनरुक्त्याच्च शब्दालंकारो नाप्युभयालंकारोऽयमित्यर्थः। पर्यवसाने वस्तुतोऽर्थस्यासत्त्वात् धर्म्यभावे च धर्मस्य निर्विषयत्वात्पौनरुक्त्यं कस्य धर्मः स्यादिति न वाच्यम्। आमुखेऽर्थस्यावभासमानत्वेन सत्त्वाद्धर्मिधर्मभावस्य नैयामिष्टेरर्थगतयोः सत्त्वासत्त्वयोरनुपयोगात्। आमुखावगतैव च प्रतीतिरलंकारबीजं न पार्यवसानिकी। तथात्वे ह्युपमारूपकादीनामप्यविशेषः स्यात्। पर्यवसानेऽप्यर्थस्य 'दारुणः काष्ठतो जातः' इत्यादाविन्धनार्थस्य सत्त्वादनैकान्तिकत्वाभावाच्छशशृङ्गवदभावो न वाच्यः। पर्यवसानेऽप्यत्रेन्धनार्थं सन्नपि नालंकारत्वप्रयोजक इति 'अरिवधदेहशरीर' [काव्यप्रकाश ९।३८९] इत्यादावप्यसता कायार्थेनाविशेषात्समानः। किं च इतो न पर्यवसानेऽर्थस्यासत्त्वम्। इह हि प्रतीतिमात्रसारत्वात्काव्यस्य यद्यथैव प्रतीयते तत्तथैव भवतीत्यविवादः। तद्बाधोत्पत्तावपि तैमिरिकद्विचन्द्रप्रतीतिवत् पुनरुक्ततयावभातस्यार्थस्यावभासमानत्वात्सत्त्वमेव। नहि शतशोऽपि करायर्थोपलम्भे काष्ठादेरर्थस्यापुनरुक्ततयाभानमस्ति। बाधोत्पत्तेः पुनर्द्विचन्द्रप्रतीतिवत्पौनरुक्त्यप्रतीतेरनुपपद्यमानत्वं भवति, नतु शुक्तिकायामिव रजतप्रत्ययस्य स्वरूपत एवाभावः। अत एवाभातपौनरुक्त्यापि प्रतीतिरपौनरुक्त्यपर्यवसायिन्यस्य स्वरूपम्। एवमपि वस्तुतः कायाद्यर्थाभावस्तद्वस्थ इति चेत्,

सत्यम् । किं तु तथा वस्तुतो वहिरसंभवन्नपि द्वितीयश्चन्द्रः प्रतीतौ कंचन विशेषमाधातुं नोत्सहते तथेहापि वस्तुवृत्तेन कायादेरर्थस्यासंभवेऽपि प्रतीतौ न कश्चिद्विशेष इति दिग्डिकाराग एव वास्तवत्वान्वेषणम् । तस्मादत्रावभासमानत्वमेवार्थस्य सत्त्वप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् ।

क्योंकि [पुनरुक्तवदाभास में] पौनरुक्त्य [अर्थ में रहता है] शब्द में नहीं रहता, इसलिए न तो यह शब्दालंकार है और न उभयालंकार । (शंका) "जिस अर्थ में पौनरुक्त्य रहता है वह मिथ्या है क्योंकि वह अन्त में तो रहता नहीं है अतः पौनरुक्त्य किसमें रहेगा ? इसलिए कि धर्म विना धर्मी के नहीं रह सकता" यह शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि वह अर्थ आरम्भ में तो रहता ही है । अतः धर्मधर्मिभाव का कुछ नहीं बिगड़ता [यहाँ वस्तुतः "तैनैवेष्टेः" पाठ होना चाहिए , अर्थगत वास्तविकता और अवास्तविकता का यहाँ प्रतीतिपरमार्थ काव्य में कोई उपयोग नहीं । यहाँ पुनपुनरुक्तवदाभास में आरम्भिक प्रतीति ही अलंकार का बीज है, अन्तिम नहीं । यदि वैसा होता [अन्तिम प्रतीति को अलंकार-बीज माना जाता] तो उपमा और रूपक आदि में कोई अन्तर न होता [क्योंकि अन्त में तो दोनों ही सादृश्य में पर्यवसित होते हैं] ।

[सच तो यह है कि] अर्थ पर्यवसान में भी रहता ही है (उदाहरणार्थ] "दारुणः काष्ठतो जातः" में इन्धनरूपी अर्थ अन्त में भी (व्यंजना द्वारा) प्रतीत होता ही है । अतः जब उसकी सत्ता में संदेह नहीं (अनैकान्तिकत्वाभाव) है तब उसका शशशृङ्ग (खरगोश के सींग) के समान अत्यन्ताभाव नहीं माना जा सकता । इतना है कि यहाँ इन्धनरूपी अर्थ पर्यवसान में भी प्रतीत तो होता है किन्तु वह अलंकारत्व का कारण नहीं बन पाता (उसमें आरम्भ के समान चमत्कार नहीं रहता) इसलिए "अरिवधदेह शरीर" [शत्रु को वध देनेवाली अरिवधदा ईहा है जिनकी ऐसे शरी = बाण वाले वीरों को 'ईर' = प्रेरित करने वाला, काव्यप्रकाश में पुनरुक्तवदाभास का उदाहरण] इत्यादि में [देह और शरीर दोनों का अर्थ] कायरूपी अर्थ और इस (इन्धनरूपी) अर्थ की स्थिति एक सी है, दोनों में कोई भेद नहीं है । (यहाँ निर्णयसागर संस्करण में 'काय' की जगह 'कार्य' छप गया है) । वस्तुतः इन सब हेतुओं से भी पुनरुक्तवदाभास में अर्थ असत्य (अवास्तविक) नहीं रहता । काव्य में सारा खेल प्रतीति का है अतः इसमें जो जैसा प्रतीत होता है वह निर्विवाद रूप से वैसा ही मान लिया जाता है । बाद में उसका बाध भी हो जाता है तब भी जैसे तैमिरिक रोग से पीड़ित को एक की जगह दो चन्द्र दिखलाई देते हैं, और उनमें से एक के बाधित होने पर भी दोनों का दिखाई देना बन्द नहीं होता उसी प्रकार पुनरुक्त अर्थ प्रतीत हो जाता है तो फिर प्रतीत होता ही रहता है । फलतः द्वितीय असत्य अर्थ भी प्रतीति में सत्य ही रहता है । ऐसा नहीं है कि (दारुणः काष्ठतः) में दारुण का अर्थ क्रूर प्रतीत हो जाने पर काष्ठरूपी अर्थ की प्रतीति बन्द हो जाती हो या उसमें पौनरुक्त्य की प्रतीति न होती हो । बाध होने से द्विचन्द्र प्रतीति के समान पुनरुक्तप्रतीति में केवल अनुपपद्यमानता असमर्थनीयतामात्र की प्रतीति होती है, न कि सीपी में रजतज्ञान के समान उसका स्वरूपतः अभाव प्रतीत होता है । इसीलिए पुनरुक्तवदाभास का स्वरूप अपौनरुक्त्य में पर्यवसित होनेवाली वह प्रतीति है जिसमें आरम्भ में पौनरुक्त्य आभासित होता हो । (शंका) "किन्तु ऐसा मानने पर भी ("अरिवधदेहशरीर" इत्यादि में) काय आदि अर्थ का अभाव बना ही रहता है, काय आदि वास्तविक तो हो नहीं जाते" ? ऐसा कहना ठीक है किन्तु यहाँ वास्तविकता का अन्वेषण दिग्डिकाराग ही है, क्योंकि जिस प्रकार द्वितीय चन्द्रमा भौतिक रूप से बाहर उपलब्ध नहीं रहता तथापि उसके इस

अभाव से द्विचन्द्रप्रतीति में कोई फरक नहीं पड़ता, उसी प्रकार यहाँ काय आदि अर्थ के भौतिक-रूप से वस्तुतः न रहने पर भी पुनरुक्तत्वेन हुई उनकी प्रतीति में कोई फरक नहीं पड़ता। इसलिए यहाँ (काव्यक्षेत्र में) पदार्थ की सत्ता का प्रमापक उसकी प्रतीति या उसका अवभास ही है, (अर्थात् जिसका आभास हो रहा हो वह काव्य में सत्य ही है, लोक में भले ही न हो)।

विमर्शिनी

ननु अवभासमानत्वं प्रमातृधर्म इति कथं तदाश्रयो धर्मः काव्यालंकार इति चेत्, असदेतत्। अवभासमानत्वस्यावभास्यनिष्ठतया प्रतीतेरर्थधर्मत्वात्। तथा हि केषाचन प्रतीतिवादिनां—

> 'तथाहि वेदना नाम भावस्यैव निजं वपुः।
> वैद्येन वेद्य वेद्मीति किं ह्यत्र प्रतिभासते॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या कौमारिलप्रतीतताया इव वेद्यताया अप्यर्थधर्मत्वमेवेष्टम्। इह च तदुपक्रम एवेति न वस्तुवादस्पर्शो न्याय्यः। आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वात् शब्दालंकारत्वं यद्यप्युच्यते तथापि पर्यवसाने वस्तुतस्तुल्यार्थत्वस्यासंभवात् शशशृङ्गवद्धर्मधर्मिभावो दुष्ट स्यात्। सत्त्वेऽपि दोष एवेत्यस्मत्पक्षोक्तसमप्रयोगाव-काशः। अत्रापि यद्यामुख एवैकार्थत्वेनावभासनं समाधिस्तदास्मत्पक्षेण किमपराद्धम्। एवं च विरोधेऽपि वस्तुतो विरुद्धस्यार्थस्यासंभवाद्विरुद्धार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वात् शब्दालंकारत्वं प्रसज्यते। अत्र विरुद्धस्यार्थस्यासंभवेऽपि कर्त्रादिभिर्वाच्यतयाध्यवसायः, इह तु पौनरुक्त्याश्रयस्यानन्वितत्वेन न वाच्यतेति चेद्, नैतद्, यतः 'दारुणः काष्ठतो जातः' इत्यादौ तावत्पौनरुक्त्याश्रयस्य काष्ठादेरर्थस्य जातत्वादिना सहान्वितत्वावगमादस्यैव मुख्यया वृत्त्या वाच्यत्वम्। 'अरिवधदेहशरीरः' इत्यादौ तु वस्तुतः कायादेरवाच्येऽप्यवभातपौनरुक्त्याश्रयत्वादकृत्रिमार्थशोभापर्यवसायित्वेन वाच्यतयास्यैव विवक्षितत्वम्। अत्र ह्यकृत्रिमोऽर्थोऽलंकृतकृत्रिमार्थोपस्कृतो यथा चमत्कारकृत् न तथा तदुपस्कृततयोच्यमानः स्यात्। 'स्त्रीणां हि कण्ठाभरणानि हाराः पयोधरानप्यभिभूषयन्ति' इत्यादिदृशा च हारस्य कण्ठालंकारत्वेऽपि सामीप्यात्तावतिशोभातिशयाधायकत्वाद्यथा पयोधरादावप्यलंकारत्वं तथैव कृत्रिमार्थाश्रयत्वेऽप्यवभासमानस्य पौनरुक्त्यस्याकृत्रिमार्थोपस्कारकत्वमपि प्रतीयत एवेति नानुभवापह्नवः कार्यः। एवं च पौनरुक्त्याश्रयस्यार्थस्य यत्रैव वाच्यत्वेन विवक्षितत्वं तत्रैवास्यालंकारत्वं नान्यत्र।

> 'अकृष्णपक्षेन्दुमुखी बन्धुजीवाधरद्युतिः।
> इयं विलासिनी कस्य न नेत्रोत्सवकारिणी॥'

'अत्राकृष्णेत्ययं पौनरुक्त्यस्य संभवेऽपि वाच्यत्वेनाविवक्षितत्वान्नायमलंकारः'। एवं वक्ष्यमाणानामप्यलंकाराणां कविविवक्षैव स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणं ज्ञेयम्। किं बहुना, सर्वेषामप्यलंकाराणामुपमितार्थत्वादेः शब्दधर्मत्वाच्छब्दालंकारत्वं स्यात्। तदर्थालंकारत्वमस्य ज्यायः, यावता ह्यर्थस्यामुख एव पुनरुक्ततयावभासोऽस्य जीवितम्। अत एव पुनरुक्तवदाभासमित्यन्वर्थसंज्ञा। अर्थस्य च पौनरुक्त्यप्रतीतौ न कस्यचिद्विवादः, तामेवाश्रित्य शब्दालंकारस्य भवन्निदक्तत्वात्। एवं च प्रत्यासत्तेस्तदाश्रयत्वमेवास्यालंकारत्वं युक्तम्। अन्यथा तुल्यार्थशब्दतापि वाक्यधर्म इति तदाश्रयेऽपि स्यादित्यनवस्थाप्रसङ्गः।

शंका होती है कि 'अवभासमानता तो वस्तुतः प्रमाता = अनुभविता (सहृदय सामाजिक) का धर्म है अतः उस (अनुभविता) में रहने वाले धर्म को काव्य का धर्म अलंकार कैसे कह सकते हैं ?' उत्तर:—यह कथन गलत है। अवभासमानता धर्म है अवभास्य वस्तु का, अतः प्रतीति भी वस्तुतः अर्थ का ही धर्म है। जैसी कि कुछ प्रतीतिवादियों की "वेद्यता। ज्ञेयता) जो है सो पदार्थ का ही अपना रूप है, मैं जानता हूँ कि चैत्र को क्या विदित है"—इस उक्ति में क्या भासित होता है ? [अर्थात् यहाँ वक्ता के ज्ञान में चैत्र का ज्ञान ही विषय है, अतः वह यहाँ वस्तुरूप है।] इत्यादि युक्तियों से वेद्यता भी ठीक उसी प्रकार अर्थधर्म है जिस प्रकार कौमारिल संप्रदाय (भट्ट मत, पूर्वमीमांसा) में नीलता (भट्टमत में नीलादि वस्तुओं में जिस प्रकार नीलता आदि रहती हैं उसी प्रकार वेद्यता = ज्ञातता भी)। यहाँ (पुनरुक्तवदाभास में) वह (अवभासमानत्व = वेद्यत्व) आरम्भमात्र में रहता है (अन्त में नहीं) इसलिए यहाँ वस्तुवाद (वास्तविकता की चर्चा) का संस्पर्श भी करना उचित नहीं है।

(शंका) "यह जो आरम्भ-आरम्भ में तुल्य (एक से दो) अर्थों की प्रतीति है इससे आमुख-तुल्यार्थत्व (आमुख = आरम्भ में हैं तुल्य = एक सा अर्थ जिसका = ऐसा शब्द, तद्धर्म, इस प्रकार से) धर्म शब्द में रहेगा और जब वह शब्द में रहेगा तब इस (पुनरुक्तवदाभास) को शब्दालंकार माना जाना चाहिए", ऐसी शंका उठाई जा सकती है (किन्तु क्योंकि यह शंका धर्मधर्मिभाव (आमुखतुल्यार्थत्व धर्म, शब्द धर्मी) के आधार पर की जा रही है और धर्मधर्मिभाव आरम्भमात्र में बनता है अन्त में नहीं, क्योंकि अन्त में अर्थ नहीं रहता, अतः) इस शंका में धर्मधर्मिभाव में शशशृंग के समान दोष आ जावेगा। (पूर्वपक्ष) यह और ऐसे सभी दोष तो आपके उस पक्ष में भी आवेंगे जिसमें अर्थ का प्रातिभासिक या प्रातीतिक अस्तित्व माना गया है। और यदि अपने पक्ष के उत्तर में आप यह तर्क प्रस्तुत करते हों कि पुनरुक्तवदाभास में शब्द आरम्भ में एकार्थक भासित होते हैं, तो हमारे पक्ष ने क्या अपराध किया है ? ऐसे तो विरोध में भी विरुद्ध अर्थ वास्तविक नहीं होता और विरुद्धार्थता धर्म होता है शब्द का, अतः उसमें भी शब्दालंकारत्व की प्राप्ति होती है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि विरोध में विरुद्ध अर्थ मिथ्या होते हुए भी कर्ता आदि से अन्वित रहने के कारण वाच्यरूप से स्वीकार किया जाता है (यद्यपि मिथ्या होने के कारण उसका वाच्यत्व भी रहता झूठा ही है (इसके विपरीत पुनरुक्तवदाभास में पौनरुक्त्य का आश्रयीभूत अर्थ अन्वित नहीं रहता अतः वह वाच्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'दारुणः काष्ठतो जातः' इत्यादि स्थलों में पौनरुक्त्य के आश्रय काष्ठ आदि अर्थ का जातत्व आदि के साथ अन्वय प्रतीत होता है फलतः वह (पुनरुक्त अर्थ) भी यहाँ सच्चे अर्थों में वाच्य है। यद्यपि "अरिवधदेहशरीरः" आदि में जहाँ पुनरुक्त्यार्थकशब्द भंगश्लेष द्वारा बना रहता है (यथा शरीर-शब्द 'अरिणः ईरयति' इस प्रकार की व्युत्पत्ति से बना है) वहाँ (पौनरुक्त्याश्रय शरीर आदि शब्दों के) काय आदि अर्थ वाच्य नहीं होते (क्योंकि वहाँ वाचकशब्द का ही अस्तित्व अवास्तविक होता है) किन्तु पौनरुक्त्य के आश्रयरूप से प्रतीत यह बनावटी अर्थ स्वाभाविक और मूलभूत अर्थ की शोभा बढ़ाता है अतः वह वाच्यरूप से अवश्य ही विवक्षित है। यहाँ जितना चमत्कार अलंकृत और बनावटी अर्थ के द्वारा स्वाभाविक अर्थ के उपस्कार से होता है उतना उस (कृत्रिमार्थ) के द्वारा उपस्कृत रूप से इसके अभिधा द्वारा कथन से नहीं होता। "स्त्रियों के कण्ठाभरण हार स्तनों को भी भूषित करते हैं"—इस उक्ति के अनुसार जैसे हार आभरण तो कण्ठ के होते हैं तब भी शोभा समीपवर्ती (होने के कारण) स्तनों की भी बढ़ा दिया करते हैं वैसे ही पौनरुक्त्य रहता तो कृत्रिम अर्थ में ही है किन्तु वह अकृत्रिम (स्वाभाविक) अर्थ की भी शोभा

दहाता ही है। यह अनुभवसिद्ध भी है अतः इसको छिपाया नहीं जा सकता। इस प्रकार पौनरुक्त्य का आश्रय अर्थ जहाँ वाच्यरूप से विवक्षित होता है वहीं यह अलंकार होता है, अन्यत्र नहीं।

"अकृष्णपक्षेन्दुमुखी, बन्धुजीव के समान अधरकान्ति वाली यह विलासिनी किसकी आंखों को आनन्द नहीं देती"।

यहाँ ("अकारो वासुदेवे स्यात्", 'अक्षराणामकारो ऽस्मि' इत्यादि वचनों के अनुसार 'अ का अर्थ है विष्णु और वही कृष्ण का भी फलत.) "अकृष्ण" शब्द में पौनरुक्त हो सकता है तथापि वह *वाच्यत्वेन विवक्षित नहीं है* (कवि उसको बतलाना नहीं चाहता) अतः उसे (पुनरुक्तवदाभास) अलंकार नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आगे कहे जाने वाले अलंकार भी तभी अलंकार होंगे जब वे कवि को अलंकाररूप से विवक्षित होंगे। अधिक से क्या? (रूपक दीपक आदि सादृश्यमूलक) सभी अलंकार शब्दालंकार कहे जा सकते हैं क्योंकि उनके शब्दों में उपमितार्थत्व' रहता है। इसलिए इस पुनरुक्तवदाभास) को अर्थालंकार मानना ही अधिक अच्छा है। क्योंकि वह अर्थ ही है जिसकी आरम्भ में पुनरुक्तरूप से प्रतीति होने के कारण इस अलंकार में प्राण आते हैं। इसीलिए "पुनरुक्तवदाभासम्" यह अर्थानुरूप नाम सार्थक सिद्ध होता है। अर्थ में जो पुनरुक्ति की प्रतीति है उसमें तो किसी को विवाद है नहीं क्योंकि उसी के आधार पर आपने भी इस अलंकार को शब्दालंकार माना है। प्रतीति का निकटवर्ती है अर्थ ही अतः उसी को अलंकार का आश्रय मानना ठीक है। यदि दूरस्थ (शब्दों को भी आप अलंकाराश्रय मानना चाहें तो फिर वाक्य को भी अलंकाराश्रय मानिए क्योंकि वाक्य में भी तुल्यार्थकशब्दयुक्तता रहती ही है। इस प्रकार यदि दूरस्थ सम्बन्ध के आधार पर भी अलंकार की आश्रयता का निश्चय किया जाने लगेगा तो अनवस्था दोष आएगा।

विमर्शिनी

अथात्र शब्दस्वरूपवैशिष्ट्यनिबन्धनं चमत्कारकारित्वमिति तदलंकारत्वमिति चेत्, किं नाम शब्दस्य स्वरूपे वैशिष्ट्यम्। किं पौनरुक्त्यम्, उत पुनरुक्तार्थवाचित्वम्, उत सभङ्गाभङ्गपदेन श्लिष्टत्वम्। तत्र न तावदाद्यः पक्षः। शब्दस्य द्विरुच्चारणाभावात्तथात्वाप्रतिभासनात्। नापि द्वितीयः। वाच्यवाचकभावेनालंकार्यालंकरणभावात्तस्याश्रयाश्रयिभावे, नोपपत्तेः। अत एव सर्वेषामेवार्थालंकाराणामुपमितार्थादिवाचित्वाच्छब्दस्य तदलंकारत्वं स्यादित्युक्तम्। नापि तृतीयः। पुनरुक्तवदाभासमित्यन्वर्थसंज्ञाश्रयणात्। पौनरुक्त्याख्यधर्मप्रयोजकीकारेणालंकारस्योपक्रान्तत्वात् श्लिष्टत्वस्येहानौपयिकत्वात्। तत् पुनरर्थपौनरुक्त्यावगमे निमित्तमात्रम्। निमित्तनिमित्तभावश्च नालंकारत्वप्रयोजक इत्यविवादः। तस्मादर्थाश्रयत्वात्पौनरुक्त्यस्य तदलंकारत्वमेवेति युक्तम्। एवं चक्रालंकारतापि निरस्ता। सर्वेषामपि वक्रातिशयरूपत्वात् तथात्वोपपत्तेः।

यदि यह कहें कि "शब्द के स्वरूप में वह वैशिष्ट्य है जिससे चमत्कार होता है अतः अलंकार को शब्दाश्रित ही मानना ठीक है" तो हम पूछते हैं शब्द के स्वरूप में क्या वैशिष्ट्य है? क्या वह वैशिष्ट्य पौनरुक्त्यस्वरूप है, अथवा पुनरुक्तार्थवाचक-स्वरूप, अथवा सभंग और अभंग श्लेष से युक्त होना। इनमें से प्रथम पक्ष अमान्य है क्योंकि (पौनरुक्त्य में शब्द का दूसरी बार उच्चारण आवश्यक होता है और शब्द का) दूसरी बार उच्चारण यहाँ होता नहीं है। दूसरा पक्ष भी मान्य नहीं, क्योंकि (यहाँ पुनरुक्तवदाभास में) एक की अलंकारता और दूसरे की अलंकार्यता वाच्यवाचकभाव पर निर्भर है आश्रयाश्रयिभाव पर नहीं। (यदि पुनरुक्तवदाभास शब्दस्वरूपनिष्ठ

माना जाय तो उसमें वाच्यार्थज्ञान के बिना भी अलंकारत्व मानना पड़ेगा जो अनुभवविरुद्ध होगा। वस्तुतः जब अर्थों का ज्ञान होता है तब उनमें पौनरुक्त्य का ज्ञान होता है और तब चमत्कार इसीलिए स्वयं पूर्वपक्षी ने भी 'पुनरुक्तार्थवाचित्व' इस प्रकार वाच्यवाचकभाव को अपने पक्ष में प्रस्तुत किया है। इसीलिए, जैसा कि हमने पहले कहा है, अर्थ के (उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि) सभी अलंकार शब्दालंकार माने जा सकते हैं क्योंकि उपमितार्थवाचित्व (आरोपितार्थवाचित्व, उत्प्रेक्षितार्थवाचित्व) इत्यादि धर्म शब्द में रहते ही हैं।

तीसरा पक्ष भी अमान्य है क्योंकि 'पुनरुक्तवदाभास' यह संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है (इसमें स्वयं शब्द ही अपना प्रतिपाद्य अर्थ प्रतिपादित कर देता है क्योंकि यह यौगिक शब्द है) इसके अतिरिक्त यहाँ जो अलंकारों का विवेचन किया जा रहा है वे पौनरुक्त्य-जनित अलंकार ही हैं अतः यहाँ आगे आने वाले श्लेष की चर्चा अप्रासंगिक और अनुपयुक्त है। वह (श्लेष) तो यहाँ एक निमित्त भर है जिससे अर्थपौनरुक्त्य प्रतीत हो सके। और निमित्तनिमित्तिभाव तो अलंकारत्व का प्रयोजक होता है नहीं। इस प्रकार (तीनों पक्ष अमान्य ठहरते हैं और पुनरुक्तवदाभास से 'शब्दत्वरूपाश्रितत्व या शब्दालंकारत्व का) कोई विवाद शेष नहीं रहता।

उक्त हेतुओं से यही मानना उचित है कि पुनरुक्तवदाभास अर्थालंकार ही है क्योंकि यहाँ पौनरुक्त्य का आश्रय अर्थ ही है।

इसी प्रकार (पुनरुक्तवदाभास) की वक्रालंकारता (वक्ता = कवि, तद्गत अलंकारता?) भी निरस्त हो जाती है क्योंकि वक्रालंकार तो सभी अलंकारों को कहा जा सकता है क्योंकि वे सब वक्रातिशयस्वरूप होते हैं। [वक्रालंकार से संबन्धित यह पंक्ति रत्नाकर के पुनरुक्तवदाभास प्रकरण की परिकर कारिका के बाद की पंक्ति पर निर्भर प्रतीत होती है, जिसमें अलंकार को कविप्रतीतिरूप धर्म माना है]

विमर्श—अलंकारसर्वस्वकार के विरुद्ध रत्नाकरकार ने पुनरुक्तवदाभास को शब्दालंकार माना है। उन्होंने इसके समर्थन में तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यहाँ जो अर्थ पुनरुक्त प्रतीत होता है वह अपने आप में असत् है और उसका जो आभास होता है वह भी उसका धर्म न होकर प्रमाता का धर्म है जबकि अलंकार प्रमाता का धर्म नहीं हो सकता। संक्षेप में उनका मूलविवेचन इस प्रकार है—

सू० आमुखैकार्थपदं पुनरुक्तवदाभासम्॥ १॥

वृ०······आमुखतुल्यार्थत्वस्य च शब्दधर्मत्वेन शब्दाश्रयत्वाच्छब्दालंकारोऽयम्। न त्वर्थधर्मः पौनरुक्त्यमलंकार इत्यर्थालंकारता वाच्या, अर्थस्याविद्यमानत्वात्।···न च वाच्यं पारमार्थिकत्वमर्थस्यानुपयोगि, प्रतीतिमात्रसारत्वात् काव्यस्येति, अवभासमानत्वमपि न शब्दस्यार्थस्य वा धर्मः, किन्तु प्रमातुः, तस्य तथा संविदुत्पत्तेः।···न च प्रमात्राश्रयो धर्मः काव्यस्यालंकारः। न च कृत्रिमस्यार्थस्य पौनरुक्त्यादेर्धर्मस्यार्थोपस्कारकत्वं युक्तम्, असत उपस्कारहेतुत्वासंभवात्। न चावभासमानपौनरुक्त्यालङ्कृतेन 'कृत्रिमेणार्थेनाकृत्रिमस्य अरिवधदेहशरीर' इत्यादौ रिपुमृत्युप्रदर्चेद्यादेरतिशयः कश्चित् प्रतीयते, येन तदुपस्कारकता स्यात्। चमत्कारित्वं तु शब्दस्य रूपवैशिष्ट्यनिबन्धनम्।'

अनन्वितत्वात् कायादेर्वाच्यत्वं न प्रकल्प्यते।
मुख्यार्थबाधसंबन्धफलाभावान्न लक्ष्यता।
असंबन्धाभिधायित्वप्रसंगाद् व्यंग्यतापि वा।
अकृत्रिमस्य चार्थस्य न धर्मः पुनरुक्तता।

पुनरुक्तोऽपि वा तत्त्वे स एव स्यादलङ्कृतिः ।
पौनरुक्त्यमलङ्कारस्तेनार्थस्य न कस्यचित् ॥

इति परिकरश्लोकाः ।

तस्मात् सर्वत्र काव्यस्य वस्तुतः कविप्रतिपादनया वा, सम्भवी कश्चित् तत्प्रतीतिरूपो धर्मविशेषः शब्दागतोऽर्थगतो वाऽलङ्कारतया वाच्यः । इह त्वर्थालङ्कारत्वे पूर्वोक्तनीत्या विरोधादिवत् कविप्रतिपादनया वा न सम्भवी कश्चिदर्थगतोऽपि धर्मविशेषः, इति 'अरिवधदेहशरीरे'-त्यादौ कायादिवाचकदेहशरीरादिशब्दसाधारण विशिष्ट रूपमेकार्थत्वेनावभासमान तद्धर्मतेऽलङ्कार इति साधु । पदमत्र अर्थप्रतीतिकृद्, न तु सुप्तिङन्तमेव । 'इस प्रकार रत्नाकरकार ने सभी प्रकार की पद सम्बन्धी मान्यता का भी खण्डन किया है। पद का अर्थ केवल अर्थ प्रतीति कराने वाला शब्द करते हैं जब कि सर्वस्वकार ने पद को सुबन्त और तिङन्त शब्द में विभक्त किया था ।

विमर्शिनी

विस्तरभयादिति । न तु चित्रत्वाभावात् । नोक्त्यन्त इति । वस्तुतस्तु संभवन्त्येवेत्यर्थः । अतश्चायं प्रायो वाक्यार्थपदार्थाश्रयत्वात्प्रथमं द्विधाभवन् समस्तासमस्तपदत्वेन चतुर्विधः । क्रमेण यथा—

'तुहिनक्षितिभृद्युष्मान्पातात्सर्वत्र[-]सर्वदा[-]ख्यात ।
हिमवानवतु सदा वो विश्वत्र समागतः ख्यातिम् ॥'

'नदीप्रकरसुश्लिष्टितवन्तं मनोहरहस्तसमन्यजन्तं च, सपर्याणा रुचिं वहन्तं सर्वत्र पूजनीयं च, सकुम्भं सकलशधरन्तं च, सदानदन्तं मदपयोविलदशनं च, करट कमपि बिभ्रतं कपाटविभ्रममुद्वहन्तं च, कुञ्जराजिवर्धितरुचि वारणरणरणरणिकाकुलितं च, राजमानविसंधायिनं विराजमानं च, वारीभूतं मदसलिलेन शबलीभूतं च, इति पुनरुक्ताश्रयम्' इत्यनङ्गलेखायां हस्तिवर्णने ।

'यतहन्तामितः कालो गोविभावसुदीधितीः ।
विपास्य रवावसितश्वेतराजयशोभय ॥'

असमस्तपदं तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम् ।

विस्तरभयादिति = विस्तार के भय से, न कि चित्रत्व के अभाव से । **नोक्त्यन्त इति** = नहीं बतलाए जा रहे यद्यपि हो सकते हैं । भेद की दृष्टि से इस पुनरुक्तवदाभासलङ्कार को पहले दो भागों में बाँटा जा सकता है वाक्यार्थगत और पदार्थगत । तदनन्तर प्रत्येक के समस्तपदगत और असमस्तपदगत इस प्रकार दो दो भेद करके चार प्रकार का माना जा सकता है। इनमें से एक एक के क्रमशः उदाहरण (वाक्यार्थगत समस्तपदाश्रित पुनरुक्तवदाभास–)

[इसमें पुनरुक्तार्थ इस प्रकार है—

सर्वदा और **सदा**, **सर्वत्र** और **विश्वत्र** (विश्वशब्द भी सर्ववाचक है) **ख्यात** और **ख्याति** को **समागत** प्राप्त, **तुहिनक्षितिभृद्** = बर्फीली स्थली से युक्त और **हिमवान्** हिम से युक्त (पर्वतराज हिमालय) **युष्मान्** तुम्हारी और **वः** = तुम्हारी **पातात्**—रक्षा करे और **अवतु** = रक्षा करे ।

परिहार = **तुहिन** = वर्फ तथा **क्षिति** = पृथ्वी को धारण करने वाला, **सर्वत्र सर्वदा ख्यात** = **सर्व** = सबकी **त्र** = रक्षा करने वाला, **सर्व** = सब कुछ **द** = देने वाला **आख्यात** = कहा जाने वाला

वः = (नाम प्रथमाक्षर ग्रहण करके) विष्णु स्वरूप, विश्वत्र = विश्व भर में सर्वत्र, सदा = सब कालों में ख्याति को प्राप्त समागत हिमवान्) = पर्वतराज हिमाचल युष्मान् = तुम सबको पातात् = अधः-पतन से अवतु = बचावे। यहाँ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध के वाक्यार्थ प्रथम पक्ष में एकार्थ हैं और 'सर्वत्र सर्वदा ख्यात में समास हैं अतः यह उदाहरण वाक्यार्थगत समस्त पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास का हुआ।

वाक्यार्थगत असमस्त पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास यथा अनंगलेखा में "नदी प्रकरमुल्लिंगयन्तम्" इत्यादि हस्तिवर्णन।

इस में पुनरुक्तार्थ =

दीप्र = चमकते हुए कर = शुण्डादण्ड को न उल्लिंगितवन्तम् = न छोड़ते हुए मनोहर = सुन्दर हस्त = शुण्डादण्ड को अत्यजन्तम् = न छोड़ते हुए (तो) सपर्याणां = सपर्याओं = पूजाओं की रुचि शोभा को धारण किए हुए तथा सर्वत्र पूजा पा रहे, सकुम्भ=कुम्भ (मस्तक) से युक्त तथा सकलश = कुम्भ के साथ चरन्तं = चलने वाले सदान = दान = मदजल से युक्त दाँत वाले तथा मद = मदजल से पर्याविल = भीगे हुए हैं दशन दाँत जिसके कमपि किसी एक करट = कौए को धारण किए हुए और कवाटवि = कव = कुत्सितद्रव्य = मल आदि पर अट = घूमने वाला वि = पक्षी = कौआ, उसके भ्रम = घूमने को अमुंचन्तम् = न छोड़ता हुआ (?), कुंजर = हाथी उसके साथ आजि = युद्ध उसमें बढ़ी है रुचि = इच्छा जिसकी और वारण = हाथी उसके साथ जो रण = युद्ध उसके लिए रणरणिका = इच्छा, ऐसे आकुलित, राजा के मान के विसंधायी = दूर करने वाला वि = विगत है दूर है राज = राजकीय मान जिससे मदजल से शारीभूतः अनेक वर्णमय, और शबलीभूत = अनेक वर्णमय इस प्रकार पुनरुक्त के आश्रय हाथी को...."।

परिहार = नदी प्रकर = नदी समुदाय को उल्लिंगितवन्तम् = पार करते हुए सकल व्यक्तियों का शं = कल्याण, चरन्तं करते हुए (हाथी का दर्शन शुभ माना जाता है)। सपर्याणां पर्याण = कुथ पालकी या हौदे से युक्त, सदानदन्त = सदा नदन्तम् = चिंघाड़ते, करटं = गण्ड को, कुशराजि = कुशों की राजि पाँत, विराजमान = शोभित हो रहे, शबल (श्लेष में स-श-के अभेद से) = सबल = बलशाली।

[यहाँ पूरे वाक्य में पुनरुक्तार्थता है किन्तु वैसे अर्थ प्रतिपादक पदों में समास नहीं है अतः यह वाक्यार्थगत असमस्त पदाश्रित पुरुक्तवदाभास' का उदाहरण हुआ।]

पदार्थगत समस्त पदाश्रित पुनरुक्तवदाभास यथा—"वतहन्तादि" पद्यार्थ।

पुनरुक्तार्थ = वत = खेद, हन्त = खेद, असितः = कृष्ण वर्ण का कालः = कृष्ण वर्ण का, गो = किरण, विभा = किरण, वसु = किरण, दीधित = किरण; क्षिप = फेंको अस्य = फेंको; रक्ष = रक्षा करो; सित = सफेद, श्वेत = सफेद; राजय = विराजित होओ, शोभय = विराजित होओ।

परिहार = दुःख की बात है कि असित काल कृष्ण पक्ष गो = चन्द्रमा (गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे चन्द्रमसि स्मृतिः = विश्व प्रकाश) और असित काल = वर्षा ऋतु अथवा दक्षिणायन सूर्य = (विभावसुर्दिनमणौ हारभेदे च पावके = विश्वप्रकाश) की दीधिति = किरणों को हन्ता = सूर्य समाप्त करता। हे अभय और रक्षा में अवहित = लगे श्वेतराज अस्य = इसके यश को क्षिप = हटाओ।"

यहाँ पदार्थमात्र में पुनरुक्ति है। और जिन पदार्थों में वह है उनके वाचक पदों में समास हैं अतः यहाँ पदार्थगत समस्तपदाश्रित पुनरुक्तवदाभास है।

पदार्थगत असमस्तपदाश्रित पुनरुक्तवदाभास के उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही प्रस्तुत कर दिए हैं।

यहाँ तक अर्थगत पौनरुक्त्य का विचार कर अब शब्दगत पौनरुक्त्य पर विचार करते हैं–

[सर्वस्व]

[सू०४] शब्दपौनरुक्त्यं व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्यं स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं च ॥

अलंकारप्रस्तावे केवलं स्वरपौनरुक्त्यमचारुत्वान्न गण्यते इति द्वैविध्यमेव।

[सू० ४] शब्दपौनरुक्त्य [केवल दो प्रकार का होता] व्यंजनमात्र का पौनरुक्त्य तथा स्वरव्यंजन दोनों के समुदाय का पौनरुक्त्य ॥"

[वृ०] अलंकारप्रकरण में केवल स्वर का पौनरुक्त्य चमत्कारकारी नहीं होता इसलिए दो ही भेद बतलाए।

विमर्शिनी

केवलस्वरपौनरुक्त्यं किं न गणितमित्याशङ्क्याह—अलंकारेत्यादि। यथा—

'इंदीवरम्मि इंदम्मि इंदुआलम्मि इदिअगणम्मि।
इंदिदिरम्मि इंदम्मि जोइण्णो सरिससंकप्पो ॥'

अत्र स्वरपौनरुक्त्यस्य चारुत्वाभावान्नालंकारत्वम्।

तत्र केवलव्यञ्जनस्वरव्यञ्जनसमुदायाश्रितमलंकारद्वयं लक्षयति—संख्येत्यादिना।

"केवल स्वर का पौनरुक्त्य [एक तीसरा भेद हो सकता था उसे] क्यों नहीं गिना" इस शंका पर उत्तर देते हुए लिखा 'अलंकार" इत्यादि। [केवल स्वर के पौनरुक्त्य का उदाहरण] यथा– इंदीवरम्मि···" इत्यादि पद्य। यहाँ स्वर (इकार) का पौनरुक्त्य तो है किन्तु उससे कोई चमत्कार नहीं हो रहा अतः उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता [अलंकार है यहाँ तुल्ययोगिता या दीपक]।

उक्त दोनों शब्दपौनरुक्त्यों में से केवल व्यञ्जनगत पौनरुक्त्य और स्वरव्यञ्जनगत पौनरुक्त्य, इन दोनों में जो जो अलंकार होते हैं उनका लक्षण करते हैं—

[सर्वस्व]

[सू० ५] संख्यानियमे पूर्वं छेकानुप्रासः ॥

द्वयोर्व्यञ्जनसमुदाययोः परस्परमनेकधा सादृश्यं संख्यानियमः। पूर्वं व्यञ्जनसमुदायाश्रितं यथा—

'किं नाम दर्दुर दुरध्यवसाय सायं
कायं निपीड्य निनदं कुरुषे रुषेव।
एतानि केलिरसितानि सितच्छदाना-
माकर्ण्य कर्णमधुराणि न लज्जितोऽसि ॥'

अत्र सायंशब्देनास्यालंकारस्य यकारमात्रसादृश्यापेक्षया वृत्त्यनुप्रासेन सहैकाभिधानलक्षणः संकरः। छेका विदग्धाः।

[सू० ५] "संख्या यदि नियत हो तो प्रथम [व्यंजनपौनरुक्त्य] छेकानुप्रास [कह-लाता] ॥"

[वृ०] व्यंजनों के दो समुदायों में एकाधिक वार सादृश्य का होना संख्यानियम [या संख्या का नियत होना] है। प्रथम अर्थात् व्यंजनसमुदायाश्रित [पौनरुक्त्य, उसका उदाहरण] यथा- "किं नाम दर्दुर०" इत्यादि संस्कृतपद्य। [इसका अर्थ इस प्रकार है] 'अरे नासमझ मेंढक ? गुस्सा सा होकर इस समय शाम को पूरा शरीर कँपा कर इतनी टर्र-टर्र क्यों कर रहा है ? इन उज्ज्वल पंख वाले हंसों की श्रुतिसुखद क्रीडामयी सरस वाणी सुनकर तुझे लज्जा नहीं आती ?' यहाँ [दुर दुर और साय साय" इस प्रकार दो दो व्यंजनों की नियत संख्या में आवृत्ति है अतः छेकानुप्रास है, और 'सायं सायं' इन दो पदों में केवल] यकार की आवृत्ति है अतः [यह वृत्त्यनुप्रास है फलतः] सायं शब्द में [दुरध्यवसाय के साथ छेकानुप्रास और काय के साथ वृत्त्यनुप्रास होने से] वृत्त्यनुप्रास के साथ [छेकानुप्रास का] एकवचनानुप्रवेश संकर है। छेक का अर्थ है विदग्ध।

विमर्श—प्रतीहारेन्दुराज ने छेक को घोसलों में रहने वाले पक्षियों का भी वाचक माना है— छेकशब्देन कुलायाभिरतानां पक्षिणामभिधानम्, तदुक्तम्–'छेकान् गृहेष्वभिरतानुशन्ति मृगपक्षिणः' इति। जो पक्षी घोसलों में रहते हैं वे दूसरों से सताए नहीं जाते, अतः उनकी बोली इसी अनुप्रास के समान स्वभावतः मधुर होती है–'तेषां कुलायाभिरतत्वादन्येन केनचिद् अनायास्यमानत्वमने- नानुप्रासेन सदृशी मधुरा वागुच्चरति।'

विमर्शिनी

एकवचनस्य जात्या बहुत्वप्रसङ्गाद्बहुवचनस्य च त्र्यादीनां स्वयमेव बहुत्वात्संख्या- नियमो द्वित्व एव संभवतीति द्वयोरित्युक्तम्। द्वयोरप्येकधा सादृश्यं वृत्त्यनुप्रास एवे- त्याशङ्क्याह—अनेकधेति। यकारमात्रेत्यनेन द्वयोरेव सादृश्यमस्य जीवितमिति ध्वनितम्।

यद्यपि चायं व्यञ्जनमात्रपौनरुक्त्याख्यस्य सामान्यलक्षणस्य संभवादनुप्रास एवान्यै- रन्तर्भावितः तथाप्यस्य ग्रन्थकृता उद्भटमतानुरोधादिह लक्षणं कृतम्—अन्यथेत्यादि।

द्वयोः इस प्रकार जो द्विवचन का प्रयोग किया गया उसका अर्थ यह है कि संख्यानियम केवल द्विवचन में ही संभव है, जहाँ तक एक वचन का संबन्ध है उसे जाति परक मानकर बहुत्व- परक मानना होगा और बहुवचन में बहुत्व के कारण संख्यानियम हो नहीं सकेगा। दो व्यञ्जन- समुदायों का सादृश्य भी यदि केवल एक बार ही घटित हो तो वह वृत्त्यनुप्रास होता है। इसी लिए छेकानुप्रास में "अनेकधा" शब्द का प्रयोग किया गया। यकारमात्र कहने का अभिप्राय यह है कि छेकानुप्रास बिना दो व्यञ्जनों के सादृश्य के संभव नहीं (यहाँ केवल एक ही व्यञ्जन का सादृश्य है)।

यद्यपि यह छेकानुप्रास अन्य आचार्यों द्वारा सामान्य अनुप्रास में ही गिन लिया गया है क्योंकि इसमें सामान्य लक्षण व्यञ्जनमात्र पौनरुक्त्य समन्वित हो जाता है, तथापि ग्रन्थकार ने उद्भट के अनुसार यहां [छेकानुप्रास का] लक्षण अलग किया [इस तथ्य का निर्देश करते हुए अगला सूत्र प्रस्तुत कर रहे हैं—]

[सर्वस्व]

[सू०६] अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः ॥

केवलव्यञ्जनमात्रसादृश्यमेकधा समुदायसादृश्यं त्र्यादीनां च परस्पर- सादृश्यमन्यथाभावः। वृत्तिस्तु रसविषयो व्यापारः। तद्वती पुनर्वर्णरचनेह-

वृत्तिः। सा च परुषकोमलमध्यमवर्णारब्धत्वात्त्रिधा। तदुपलक्षितोऽयमनुप्रासः। यथा—

'आटोपेन पटीयसा यदपि सा वाणी कवेरामुखे
खेलन्ती प्रथते तथापि कुरुते नो सन्मनोरञ्जनम्।
न स्याद्यावदमन्दसुन्दरगुणालंकारझांकारितः
सम्प्रस्यन्दिलसद्रसायनरसासारानुसारी रसः॥'

यथा वा—

'सह्याः पन्नगफूत्कृतानलशिखा नाराचपाल्योऽपि वा
राकेन्दोः किरणा विपद्द्रवमुचो वर्षासु वा वायवः।
न त्वेताः सरलाः सितासितरुचः साचीकृताः सालसाः
साकूताः समदाः कुरङ्गकदृशां मानानुविद्धा दृशः॥'

[सू० ६] और यहाँ [यदि संख्यानियम न हो] तो [व्यञ्जनपौनरुक्त्य] वृत्त्यनुप्रास [कहलाता है]।

[वृ०] (१) केवल [एक] व्यञ्जनमात्र का सादृश्य, (२) केवल एकवार समुदायसादृश्य तथा (३) तीन [चार] आदि [संख्या वाले व्यञ्जनों का] परस्पर सादृश्य यह है अन्यथाभाव [अर्थात् छेकानुप्रास की स्थिति से वृत्त्यनुप्रास की स्थिति का अन्तर] [वृत्त्यनुप्रास शब्द में] वृत्ति का [मूलभूत] अर्थ तो है रसविषयक व्यापार किन्तु यहां वृत्ति है उस [रस विषयक-व्यापार] से युक्त वर्णरचना। वह [रचना] परुष, कोमल और मध्यम इन तीन प्रकार के वर्णों से युक्त होने के कारण तीन प्रकार की होती है। यह अनुप्रास उससे उपलक्षित होता है। उदाहरण है—"आटोपेन पटीयसा०" इत्यादि [संस्कृत पद्य]। [इसका अर्थ है] "बड़े भारी आटोप से यद्यपि वह वाणी (वाग्देवी और कविता) कवि के आमुख (आरम्भ और मुख में) खेलती रहती है और विस्तार को भी प्राप्त होती है किन्तु उतने पर भी मेरे चित्त को वह तब तक मुग्ध नहीं कर पाती जब तक उज्ज्वल और सुन्दर गुणों तथा अलंकारों से झंकृत, एवं छलछलाते रसायनरस की बौछार जैसा वह रस न हो।" अथवा जैसे—"सह्याः पन्नगफूत्कृता०" इत्यादि संस्कृतपद्य। [इसका अर्थ है—]

"सर्प की फुफकार से उत्पन्न अग्निशिखा हो या बाणों की पाँतें, पूर्णचन्द्र की तरल गरल चुआती किरणें हों या पवन के [विषतुल्य] पानी की फुहार [विपद्द्रव] लिए हुए बरसाती झौंके, सब सह्य हैं। किन्तु ये जो मृगनयनियों की मानभरी सरल श्वेतश्याम, तिरछी, अलसाई, भावभरी, और मदमाती चितवनें हैं ये कथमपि सह्य नहीं।"

विमर्श—सञ्जीविनीकार के अनुसार दोनों उदाहरणों में से प्रथम के चारों चरणों में केवल व्यञ्जनसाम्य है। उसमें भी "अलंकारझांकारित" इसमें एकवार समुदायसादृश्य है और "रसायनरसासारानुसारी रसः" में तीन व्यञ्जन समुदायों का सादृश्य है। इसी प्रकार "आटोपेन पटीयसा" में गौडी रीति है, 'अमन्दसुन्दर' इत्यादि में वैदर्भी रीति और "गुणाऽऽकारझांकारित" में पाञ्चाली रीति है। इसका निर्णय उन-उन पदों से निकलने वाले अर्थों से होता है।

इसी प्रकार द्वितीय पद्य में संजीविनीकार के अनुसार केवल व्यञ्जनपौनरुक्त्य है। वृत्ति परुषा है क्योंकि यहां रोष का वर्णन है। संजीविनीकार ने ही 'सालस' और 'मानानुविद्ध' पर इस प्रकार टिप्पणी की है—

सालस = पश्चात्तापपूर्वक लौटती हुई चितवनें, जैसा कि भावप्रकाश में [शारदातनय] ने कहा है—'आलस्य वह भाव है जिसमें लज्जादि अभीष्ट विषयों से विमुखता आवे' = 'आलस्यं तदभीष्टार्थाद् व्रीडादेर्यन्निवर्तनम्।'

मानानुविद्ध = रोषारुण, मान अर्थात् देखे या सुने किसी अपराध से उत्पन्न रोष, उससे जलती हुई चितवनें। "दृष्टश्रुतापराधजन्मा रोषो मानः, तेन समुच्छ्रिताः ज्वलत्कल्पा इत्यर्थः।"

इन दोनों भेदों को संजीविनीकार ने वर्णालंकार कहा है और आगे आने वाले यमक को शब्दालंकार।

विमर्शिनी

एतदेव भेदनिर्देशं कुर्वन्व्याचष्टे केवलेत्यादि। समुदायः पारिशेष्याद् व्यञ्जनद्वयरूपः। एकधेति चात्रैव संबद्धव्यम्। केवलस्य य्यादीनां चानेकधापि सादृश्यस्यानेन व्यासत्वात्। एतच्च समस्तासमस्ताक्षरत्वेन संभवतीत्यस्य प्रायः षट् प्रकाराः। क्रमेण यथा—

'यया यायाय्यया यूयं यो यो यं येययायया।
ययुयायि ययेयाय ययेयायाय याययुक्॥'

असमस्ताक्षरं तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्।

'दीनादीनां ददौ दानं निननाद दिने दिने।
निदिन्द नन्दनानन्दानदुनोदिननन्दनम्॥'
रुच्याभिः प्रचुराभिस्तरुशिखरापाञ्चिताभिरुचिताभिः।
अचिररुचिरुचिरुचिभिश्चिराचिराभिश्चमस्कृतं चेतः॥'
'ततः सोमसिते मासि सततं संमतं सताम्।
अतामसोत्तममतिः सती सुतमसूत सा॥'
'कमलदृशः कमलामलकोमलकमनीयकान्तिवपुरमलम्।
कमलंकुरुते तावत्कमलापतिलोऽपि यो विमलः॥'

आदिशब्दाच्चतुरक्षरादेर्ग्रहणम्। यथा—

'स ददातु वासवादिदेवतासंस्तवस्तुतः।
सदा सद्वर्सतिं देवः सविता विततां सताम्॥'

वर्णरचनेह वृत्तिरित्ति। उपचारादिति भावः। त्रिधेति। यदुक्तम्—

'शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता।
परुषा नाम वृत्तिः स्याद्ध्ह्ह्याद्यैश्च संयुता॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्धवर्गान्त्ययोगिभिः।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः॥
शेषवर्णैर्यथायोगं रचितां कोमलाख्यया।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः॥ [उद्भट काव्या. सं. १।४–६]

यथा—

निरर्गलविनिर्गलद्गलगुलाकरालैर्गलैरसौ तदिति ताडितोड्डमरडिण्डिमोड्डामराः।
मदाचमनचञ्चुरप्रचुरचञ्चरीकोच्चया पण. परिणतिक्षणक्षततटान्तरा दन्तिनः॥'

अत्र लकाराद्यावृत्त्या मध्यमत्वमिति वृत्तित्रैविध्यम्।

[छेकानुप्रासक से वृत्त्यनुप्रास के] इसी [अन्तर] की व्याख्या भेद का निर्देश करते हुए कहते हैं—केवल इत्यादि। समुदाय—अर्थात् दो व्यञ्जनों का, क्योंकि वही शेष बचता है [एक और तीन व्यञ्जनों का सादृश्य यहाँ आगे और पीछे बतला दिया गया है] 'एकधा = एकबार' इसका भी संबन्ध इसी [दो व्यञ्जनों के समुदाय से करना चाहिए। एक और तीन चार आदि [अर्थात् दो से अधिक सब] व्यञ्जनों का अनेकबार हुए सादृश्य भी इसी [वृत्त्यनुप्रास] में आ जाते हैं। यह अनुप्रास समस्त (सभी) अक्षरों में और असमस्त (कतिपयमात्र) अक्षरों में हो सकता है इसलिए इसके [एकव्यञ्जनगतानेकसादृश्य, द्व्यधिकव्यञ्जनगतानेकसादृश्य तथा व्यञ्जनद्वयगतैकसादृश्य इन तीन भेदों को समस्ताक्षर और और असमस्ताक्षर इस प्रकार दो-दो प्रभेदों में विभक्त करने से] प्रायः छ भेद होते हैं। एकएकका क्रमशः उदाहरण यथा

(१) एकव्यञ्जन समस्ताक्षर—"यया यायाव्यया०" इत्यादि पूर्ण पद्य।

(२) इसी के असमस्ताक्षर का उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत है।

(३) व्यञ्जनसमुदायद्वय समस्ताक्षर—"दीनादीना ददौ दानम्" इत्यादि पद्य।

[अर्थ है—उसने] दीन आदि को (सम्प्रदान में षष्ठी) दान दिया, प्रतिदिन निनाद किया, नन्दन (स्वर्गोद्यान) के आनन्दों की निन्दा की और इन-नन्दन = सूर्यपुत्र = यम को दूरी किया"।

(४) उसी में असमस्ताक्षर = "रुच्यामि प्रचुराभिः" इत्यादिपद्यरत्न। [अर्थ है—रुचिर माया में प्रचुर, ताल की पकी, एक छनकर गाई हुई और रण में बिजली के समान चिरा [निर्णयसागर संस्करण की टिप्पणी के अनुसार कश्मीर के खुबानि] नामक फलों से चित्त बहुत दिनों से छका है।

(५) अनेकव्यञ्जनगत० समस्ताक्षर = "तत सोमसिते मासि०" इत्यादि पद्य। [अर्थ है—"उसके पश्चात् तामसीवृत्ति से रहित और उत्तम मति वाली उस सती ने शुक्ल पक्ष में सत्पुरुषों में समादृत सुत को जन्म दिया।"]

(६) उसी का असमस्ताक्षर = "कमलदृग्मन्द०" इत्यादि पद्य। [अर्थ है—'विष्णु से भी अधिक सुन्दर या भाग्यशाली ऐसा कौन सौभाग्य शाली पुरुष है जिसे कमलनयनी का निर्मल और कमला [लक्ष्मी] या कमल के समान अमल और कमनीय कान्ति वाला शरीर अलङ्कृत करता है ? यहाँ केवल कमल' इन तीन व्यञ्जनों का अनेकबार सादृश्य है]

आदि शब्द से चतुरक्षर आदि का भी ग्रहण किया जा सकता है उदाहरण यथा—"स ददातु०" पद्य [अर्थ—"इन्द्र आदि देवताओं द्वारा संस्तवों में जिसकी स्तुति की गई है, वह सूर्यदेव सत्पुरुषों को सदा सद्वसनि प्रदान करें।" यहाँ 'द, स, व त' इन वर्णों की अनेकबार आवृत्ति है]

वर्णरचनेह वृत्तिः शब्दालङ्कारप्रकरण में वृत्ति का अर्थ वर्णरचना है अर्थात् = उपचार [लक्षणा] से। त्रिधा तीन प्रकार की, जैसा कि [उद्भट ने] कहा है—"श, ष, रेफ, संयोग, टवर्ग तथा ह, ह, ध्र आदि से, युक्त [जो वर्ण विन्यास होता है उस] को परुषा वृत्ति कहा जाता है।" काव्याल० सा० सं० १।४]

[क् क्, प् प् आदि] 'सरूपवर्णों के संयोग से युक्त, तथा स्पर्श ['क' से लेकर 'म' तक के] वर्णों में से प्रथम वर्ण के माथे पर अन्तिम वर्ण के संयोग से युक्त वृत्ति को विद्वज्जन उपनागरिका कहते हैं।' [काव्यालं०, सा० सं० १ । ५]

[उपर्युक्त दोनों वृत्तियों में उपयुक्त वर्णों से] 'शेष [लकार आदि] वर्णों से यथायोग रचित ग्राम्या नामक वृत्ति को काव्यप्रेमी जन कोमलावृत्ति कहते हैं।' [काव्यालं० सा० सं० १।६]

[इस तृतीय वृत्ति का उदाहरण] यथा "निर्गल-विनिर्गलद्०" इत्यादि पद्य।

[इसका अर्थ है—"अब, बेरुकावट पड़ रहे और गड़-गड़ आवाज कर रहे गड़ों के द्वारा तड़ा-तड़ ताड़ित बहुत से विशाल डिंडियों के कारण हड़बड़ाए, मदजल के आचमन में निरत झुण्ड के झुण्ड भौंरो से घिरे तथा परिणति [तिर्यग्दन्तप्रहार] के क्षण [उल्लास] में पर्वत-तटों को टूक-टूक करने वाले ये हाथी हैं पण [द्यूत पर चढ़ा धन]।" यहां लकार आदि वर्णों की आवृत्ति है अतः यहां की वृत्ति मध्यम है—इस प्रकार वृत्तियां तीन होती हैं।

विमर्श—वृत्त्यनुप्रास के लिए इन तीनों वृत्तियों के उदाहरण उद्भट ने इस प्रकार दिए हैं—

(१) परुषा = "तत्र तोयाशयाशेषव्याकोशितकुशेशया।
चकाशे काश-किशारु-कपिशाशामुखा शरत् ॥"

(२) [उपनागरिका मध्यमा] = "सान्द्रारविन्दवृन्दोत्थमकरन्दाम्बुबिन्दुभिः।
स्यन्दिभिः सुन्दरस्पन्दं नन्दितेन्दिन्दिरा क्वचित् ॥"

(३) कोमला = "केलिलोलालिमालानां कलैः कोलाहलैः क्वचित्।
कुर्वती काननारूढश्रीनूपुर-रव-भ्रमम् ॥"

संजीविनीकार ने अनुप्रास के उक्त विवेचन पर निम्नलिखित संग्रहकारिकाएँ बनाई हैं—

१—'प्रकृष्टो वर्णविन्यासो रसाद्यनुगतस्तु यः। सोऽनुप्रासः स च च्छेकवृत्त्युपाधिवशाद् द्विधा ॥'

२—'समुदायद्वयं यत्र विविधं साम्यमृच्छति। स च्छेकलालनात् प्राज्ञैः छेकानुप्रास ईरितः ॥

३—'व्यञ्जनव्याप्तिर्वृत्तिर्वर्णानां रसगोचरा। तत्संयोगादियं वर्णरचना वृत्तिरिष्यते ॥'

४—'सा वैदर्भ्यादिभेदेन त्रिधा पूर्वनिरूपिता। तयोपलक्षितत्वाच्च वृत्त्यनुप्रास इष्यते ॥'

दण्डी—ने अनुप्रास का विवेचन माधुर्य गुण के प्रसंग में किया है। उन्होंने अनुप्रास को विवेचन अत्यन्त मनोवैज्ञानिक पद्धति से इस प्रकार किया है—

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता ॥ १ । ५५ ॥

अर्थात् पादों और पदों में वर्णों की ऐसी पुनरुक्ति जिससे प्रथमोक्त वर्ण का संस्कार जाग सके अनुप्रास कहलाती है। यह तब होती है जब पादों या पदों में अदूरता रहती है। इस तथ्य को दण्डी ने एकबार पुनः दुहराते हुए लिखा—'अनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरश्रुतिम्।' इनके पाद-यमक में लाटानुप्रास का अन्तर्भाव हो सकता है।

भामह—ने अनुप्रास का सामान्य लक्षण इस प्रकार किया है—'सरूपवर्णविन्यासमनुप्रासं प्रचक्षते।' भेदों को उन्होंने दो नाम दिए हैं—ग्रामानुप्रास तथा लाटानुप्रास। ग्रामानुप्रास वही है। जिसे ललितानुप्रास या कोमलानुप्रास कहा जाता है। इनके लक्षण भामह ने नहीं बनाए केवल नामोल्लेख कर उदाहरणमात्र दिए हैं। वामन ने अनुप्रास को वर्णसाम्यरूप माना है—'शेषः सरूपोऽनुप्रासः'। शेष का अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है—

'पदमेकार्थमनेकार्थं च स्थानानियतं तद्यमक्षरं च शेषः। सरूपोऽन्येन प्रयुक्तेन तुल्यरूपोऽनुप्रासः।'

सारूप्य की आवृत्ति से भिन्न बतलाते हुए भी उन्होंने लिखा है–'कार्त्स्न्येनैवावृत्ति, कार्त्स्न्येनैकदेशाभ्यां च सारूप्यम्' अर्थात् आवृत्ति में पूरे के पूरे पद को पुनः कहना पड़ता है जब कि सारूप्य में इसके साथ उस पद के अंश का भी पुनः कथन रहता है। अनुप्रास के विषय में अत्यन्त रुचिपूर्ण टिप्पणी देते हुए वामन लिखते हैं–'अनुल्बणो वर्णानुप्रासः श्रेयान्' वर्णानुप्रास वह अच्छा होता है जो अधिक उत्कट नहीं होता। जो उत्कट होता है वह अच्छा नहीं 'उल्बणस्तु न श्रेयान्'। लाटानुप्रास का उल्लेख वामन में नहीं मिलता किन्तु उसका स्वरूप उनमें स्पष्ट है। वे उसे पादानुप्रास कहते हैं। छेक और वृत्ति नाम भी वामन में नहीं मिलते।

उद्भट—अनुप्रास का छेक, वृत्ति तथा लाट नामक अनुच्छेदों में प्रचलित वर्गीकरण प्रथमतः उद्भट में मिलता है। इसीलिए वृत्तिकार ने लिखा कि—'छेकानुप्रास प्राचीन आलंकारिकों द्वारा सामान्य अनुप्रास में गिन लिया गया है।' उद्भट का विवेचन इस प्रकार है—

'छेकानुप्रासस्तु द्वयोर्द्वयोः सुसदृशोक्तिकृतौ।' यथा 'गरिष्ठगोष्ठी०'। उनका वृत्त्यनुप्रास का विवेचन पिछले पृष्ठ पर दिया जा चुका है। लाटानुप्रास पर उनका विवेचन इस प्रकार है—

'स्वरूपार्थाविशेषेऽपि पुनरुक्तिः फलान्तरात्।
शब्दानां वा पदानां वा लाटानुप्रास इष्यते ॥'

अर्थात्–'शब्द अथवा पदों में, स्वरूप और अर्थ में अन्तर न रहने पर भी तात्पर्य में अन्तर होने मात्र से की गई पुनरुक्ति लाटानुप्रास मानी जाती है।' इसके भेद पांच माने हैं (१) स्वतन्त्रपदावृत्ति, (२) परतन्त्रपदावृत्ति, (३) स्वतन्त्रपदावृत्ति, (४) परतन्त्रपदावृत्ति तथा (५) स्वतन्त्र-परतन्त्रोभयात्मकपदावृत्ति। उद्भट ने इनमें से प्रत्येक के उदाहरण भी दिए हैं। सर्वस्वकार ने 'कान्ताः कान्ता इव' पद्य उद्भट से ही लिया है। उन्होंने इसे स्वतन्त्रपदावृत्ति के उदाहरण के रूप में दिया था। सर्वस्वकार के सभी उदाहरण इसी एक भेद तक सीमित हैं।

रुद्रट—ने अनुप्रास को केवल वृत्त्यनुप्रास तक सीमित रखा है। उन्होंने छेकानुप्रास तथा लाटानुप्रास को अपने काव्यालंकार में स्थान नहीं दिया। अनुप्राससामान्य का लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है—

'एकद्वित्र्यन्तरितं व्यञ्जनमविवक्षितस्वरं बहुशः।
आवर्त्यते निरन्तरमथवा यदसावनुप्रासः' ॥ २।१८ ॥

यहां अनुप्रास का नाम तो वृत्त्यनुप्रास नहीं मिलता, परन्तु इस सदर्भ में रुद्रट द्वारा किए गए पांच वृत्तियों के निरूपण से यह सन्देह नहीं रह जाता कि वे अनुप्रास को वृत्त्यनुप्रासात्मक ही मानते हैं। पांच वृत्तियों के नाम उन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

'मधुरा, प्रौढा परुषा, ललिता, भद्रेति वृत्तयः पञ्च।
वर्णानां नानात्वादस्येति यथार्थनामफला:' ॥ २।१९ ॥

इन सबके पृथक्-पृथक् लक्षण बनाकर रुद्रट ने इनके उदाहरण भी दिए हैं।

मम्मट—ने उद्भट के ही अनुसार 'छेक, वृत्ति और लाट' इन भेदों में अनुप्रास का विभाजन करते हुए वृत्ति को व्यञ्जनात्म माना है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

'वर्णसाम्यमनुप्रासः, छेकवृत्तिगतो द्विधा।
सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वं एकस्याप्यसकृत् परः।
शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥'

अर्थात् 'वर्णसाम्य है अनुप्रास'। वह 'छेक और वृत्ति'–इस प्रकार दो भेदों में प्रतिष्ठ वर्णगत रहता है। इनमें छेकानुप्रास में अनेक वर्णों की एकवार आवृत्ति होती है और वृत्त्यनुप्रास में एक

या अनेक वर्णों की अनेकबार। जो अनुप्रास शब्दगत होता है वह लाटानुप्रास कहलाता है। इसके पांच भेद होते हैं—

> 'पदानां स पदस्यापि वृत्तावन्यत्र तत्र वा।
> नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च तदेवं पंचधा स्मृतः॥'

प्रथमतः यह दो भागों में विभक्त रहता है पदगत तथा नामगत या प्रातिपदिकगत। इनमें पदगत दो प्रकार का होता है अनेकपदगत और एकपदगत। नामगत तीन प्रकार का होता है एकसमासगत, अनेकसमासगत और एकानेकसमासगत। इस प्रकार कुल भेद पांच होते हैं।

परवर्ती आचार्यों में रत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने अनुप्रास का विवेचन उक्त भेदों में ही इस प्रकार किया है—

> १—'द्वयोर्द्वयोः समुदाययोः साम्यं छेकानुप्रासः।' ३।
> २—अन्यथा तु वृत्त्यनुप्रासः। ४।
> ३—तुल्याभिधेय-भिन्नतात्पर्यशब्दावृत्तिर्लाटानुप्रासः॥ ५॥

तीनों अनुप्रासों तथा यमक का अन्तर बतलाते हुए उन्होंने लिखा है-'व्यंजनमात्रसमुदायमध्यगतं स्वरव्यञ्जनसमुदायसाम्यमेकाक्षरव्यापि छेकानुप्रासः। शुद्धं बह्वक्षरमल्पाक्षरं वा नियतस्थानं यमकम्। अनेकद्विकाभावे नियतस्थानगतमपि वृत्त्यनुप्रास इति भेदः।'

अप्पयदीक्षित, पण्डितराज तथा विश्वेश्वर ने शब्दालंकारों का निरूपण नहीं किया।

विमर्शिनी

एवं व्यञ्जनमात्राश्रयमलंकारद्वयं लक्षयित्वा स्वरव्यञ्जनाश्रयं यमकं लक्षयति—
स्वरेत्यादि।

इस प्रकार व्यंजनमात्र पर निर्भर दोनों अलंकारों के लक्षण निश्चित किए। अब स्वरव्यञ्जनाश्रित यमक का लक्षण करते हैं—

[सर्वस्व]

[सू० ७] स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यं यमकम्॥

अत्र क्वचिद्भिन्नार्थत्वं क्वचिदभिन्नार्थत्वं क्वचिदेकस्यानर्थकत्वमपरस्य सार्थकत्वमिति संक्षेपतः प्रकारत्रयम्। यथा—

> **यो यः पश्यति तन्नेत्रे रुचिरे वनजायते।**
> **तस्य तस्यान्यनेत्रेषु रुचिरेव न जायते॥'**

इदं सार्थकत्वे। एवमन्यज्ज्ञेयम्।

[सू० ७] "स्वर [और] व्यंजन [दोनों का] पौनरुक्त्य यमक [कहलाता है]।"

[वृत्ति] इसमें [पुनरुक्त पदों के] अर्थ कहीं भिन्न-भिन्न होते हैं, कहीं अभिन्न और कहीं एक [पद] अर्थरहित रहता है तथा दूसरा सार्थक, इस प्रकार संक्षेप में तीन भेद होते हैं। उदाहरण जैसे—'यो यः पश्यति०' इत्यादि पद्य। [अर्थः—जो जो व्यक्ति तुम्हारे वनज (कमल) के समान विशाल और रुचिर नेत्र देखता है उस प्रत्येक में अन्य (मृग आदि अथवा अन्य नायिका) के नेत्रों पर कोई रुचि ही नहीं जागती।' यहाँ ['रुचिरे वनजायते' पदों की पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में आवृत्ति है और दोनों जगह प्रत्येक पद सार्थक है अतः यमक हुआ] सार्थक पदों में। इसी प्रकार अन्य [यमक भी] जान लेने चाहिए।

विमर्शिनी

एकस्येत्याद्युपलक्षणपरम्। अतो बहूनां यमकानां क्वचित्सार्थकत्वं निरर्थकत्वं च स्थितं संगृहीतमेव। 'क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम्' इति तु पाठे प्रथममेव भेदद्वयमुक्तं स्यान्न तृतीयः प्रकारः। अतश्च भेदनिर्देशग्रन्थो यथास्थित एव ज्यायान्। संक्षेपत इति। एतच्च काव्यात्मभूतरसचर्वणाप्रत्यूहकारित्वात्प्रपञ्चयितुं न योग्यमिति चिरंतनालंकारवन्न विभज्य दर्शितमिति भावः। एवं चित्रेऽपि ज्ञेयम्। अन्यदिति। प्रकारद्वयम्। तत्रानर्थकं यथा—

'सरसमन्थरतामरसादरभ्रमरसज्ञलया नलिनी मधौ।
जलधिदेवतया सदृशी श्रियं स्फुटतरागतरागरुचिर्दधौ॥"

अत्र तरागेत्यनर्थकम्। अनर्थकत्वसार्थकत्वयोर्यथा—

'साहारं साहारं साहारं सुणइ सज्ञमाहारम्।
सं ताणं सताणं संताणं मोहसताणम्॥'

अत्र सज्ञसाहारमित्यनर्थकम्। अन्यानि तु सार्थकानीति न कश्चिद्दोषः॥

इदं च स्थाननियममन्तरेण न भवति। यदुक्तम्—'पदमनेकार्थमक्षरं चावृत्तं स्थाननियमे यमकम्' इति। अत एव स्थाननियमाद्यमकमित्यस्यान्वर्थमभिधानम्। स च स्थाननियमो वैवक्षिको न वास्तवः। यथा—

'मधुपराजिपराजितमानिनीजनमनः सुमनः सुरभि श्रियम्।
अभृत वारितवारिजविप्लवां स्फुटिततात्रतताम्रवणं जगत्॥'

अत्रार्धद्वयानन्तरं यमकविन्यासात्स्थानस्य नियतत्वम्। यथा वा—

'छिन्द्यादार्तिं तव कार्तिकेयः शशी जितो येन स कार्तिके यः।
उत्पातदन्तो गणनायकस्य स्वामी यदन्यो गणनाय कस्य॥'

अत्र पादद्वये यमकद्वयमिति स्थाननियमो द्विधैवेति नास्यालंकारस्य इति कश्चित्। अतश्च—

'श्रु[१]तरसिकच्छितरक्ततरसिकल्लितरजाल्हरिजाल्हरिणतमः।
हरिणतमश्च ततस्तव ततस्तव. स्याद्यशोराशिः॥'

इत्यत्र सत्येऽपि स्वरव्यञ्जनसमुदायपौनरुक्त्यस्य स्थाननियमाभावाद्यमकाभासोऽयं वृत्त्यनुप्रासः।

एक की अर्थरहितता उपलक्षणमात्र है। उससे बहुत से यमकों में जो किसी की सार्थकता और किसी की अर्थरहितता मिलती है उसका भी उपादान हो जाता है। 'क्वचित् सार्थक और क्वचित् निरर्थक [यमक]' इस पाठ में प्रारम्भ के दो ही भेद कहे जा सकते हैं [क्योंकि तब सार्थकता और निरर्थकता ये दो भेद उन्हीं के प्रभेद सिद्ध होंगे] तीसरा नहीं, अतः भेदनिर्देश प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थांश का जैसा का तैसा मानना ही अधिक अच्छा है। संक्षेप—संक्षिप्त-रूप से, अभिप्राय यह कि यमक काव्यात्मा रस की चर्वणा में विघ्न उत्पन्न करता है इसलिए इसका अधिक विस्तार करना उचित नहीं है इसलिए इसको प्राचीन अन्य अलङ्कारों के समान भेद-प्रभेद करके नहीं बतलाया। चित्र (खड्गबन्धादि) के विषय में भी यही जानना चाहिए। अन्यत् अर्थात् शेष दो प्रकार। इनमें से अर्थरहित का उदाहरण यथा—'सरसमन्थर०' इत्यादि पद्य में 'तराग तराग' शब्द। वह अर्थरहित है [प्रथम तराग शब्द स्फुटतर के 'तर' और आगत के 'आग' के मिश्रण से बना है तथा द्वितीय तराग शब्द आगत के 'त' तथा 'राग' शब्द के

---

१. पाठान्तर—श्रुतरसिकतरसिकल्लितं तरकल्लिततरजाल्हरिणतम [नि. सा. सं.]

मिलने से । वे सब शब्दांश हैं उनमें अभिधा नहीं, अतः उनका कोई अर्थ नहीं] । [इस पद्य का अर्थ है—'मधुमास में कमलिनी ने जलधिदेवता—समुद्र की देवी के समान शोभा धारण की । वे दोनों 'सरसमन्थरतामरसादरभ्रमरसज्जलया और स्फुटतरागतरागरुचि थीं । **जलधिदेवता** = सरस-मन्थ-रत-अमर-सादर-भ्रम-रसत्-जला (तृतीया एकवचन में '००जलया') थी अर्थात् सरस= समुद्र का मन्थ = मन्थ अथवा सरस = प्रलोभन में पड़े तथा मन्थ = मंथन में रत अमर=देवता, उनके द्वारा सादर = आदरपूर्वक (व्यक्तिविवेक में पाठ है सोदर उसका अर्थ होगा देवताओं के भाई = असुर) जो भ्रम = घुमाना उससे रसत् = आवाज करता हुआ है जल जिसका उसकी तृतीया का एकवचन]; **नलिनी** = सरस-मन्थर-तामरस-आदर-भ्रमर-सज्ज-लया अर्थात् सरस = मकरन्द युक्त, मन्थर = कुछ-कुछ हिल रहे, तामरस = कमल पर है आदर जिसका ऐसे भ्रमरों से, सज्ज = आया हुआ है, लय = राग जिसमें अथवा भ्रमरों में सज्ज है लय जिसके द्वारा । (सोदरपाठ होने पर अर्थ होगा **तामरस के उदर में**) । स्फुटतरागतरागरुचि [शब्द यहाँ और मूल हरविजय में प्रथमान्त है और व्यक्तिविवेक में द्वितीयान्त । द्वितीयान्त होने पर यह श्री का विशेषण बनता है तथापि विभक्तिविपर्यय द्वारा नलिनी तथा जलधिदेवता में भी अन्वित हो सकता है] **नलिनीपक्ष** में स्फुटतर आगत है रागरुचि (ललाई) जिसमें **जलधिदेवतापक्ष** में स्फुटतर आगत है राग (पद्मराग) रुचि जिनमें **श्रीपक्ष** में स्फुटतर आगत है राग (अनुराग, लालरंग की) रुचि जिसमें । अर्थरहित और सार्थक यमकों के योग का उदाहरण यथा—'साहारं साहारम्०' इत्यादि प्राकृतगाथा । [इसका संस्कृतच्छाया निर्णयसागरीय संस्करण में भी नहीं है । गाथा अव्यक्त है]

यहाँ 'सज्जसाहार' यह निरर्थक = अर्थरहित है और शेष सब सार्थक हैं अतः कोई दोष नहीं ।

यह स्थाननियम के बिना नहीं होता । जैसा कि [वामन ने] कहा है—'अनेकार्थक [भिन्नार्थक] पदों या केवल अक्षरों की आवृत्ति यमक कहलाती है, यदि स्थाननियम हो—' [का० सू० ४।१।१] । इसीलिए इस अलंकार का नाम भी यमक है क्योंकि इसमें स्थान (चरणों के आदि, मध्य, अन्त भाग] का नियम रहता है, यह अन्वर्थ संज्ञा है । स्थान का यह नियम वास्तविक नहीं, विवक्षाधीन होता है । उदाहरणार्थ—[हरविजय का १।२] 'मधुपराजि०' इत्यादि पद्य । [इसका **अर्थ है—** 'मधुपों की राजि (पाँतों) द्वारा पराजित कर दिए हैं मानिनी नायिकाओं के मन जिन्होंने ऐसे पुष्पों से सुरभि = सुगन्धित और खिले तथा लालवर्ण की विस्तृत अमराइयों से युक्त जगत् ने कमल-विप्लवों से युक्त शोभा को धारण किया ।] यहाँ प्रत्येक चरण में प्रथम दो अक्षरों के बाद ही यमक रखा गया है । इस प्रकार यहाँ उसका स्थान निश्चित है । दूसरा उदाहरण जैसे 'छिन्द्यात् भयार्त्ति०' इत्यादि पद्य [इसका अर्थः—तुम्हारी भयार्त्ति (संभवतः भयार्ति) को वे कार्त्तिकेय भग-वान् नष्ट करें जिन्होंने कार्त्तिक का चन्द्रमा जीत लिया है और जिससे भिन्न ऐसा स्वामी किसकी गणना में आएगा जिसने गणनायक-(गणेश) का दाँत उखाड़ लिया हो ।'] इस पद्य में दो यमक हैं (१ कार्त्तिकेयः कार्त्तिकेयः तथा २ गणनायकस्य गणनायकस्य) दोनों में स्थाननियम भिन्न है [प्रथम सात वर्णों के बाद आने वाला है और द्वितीय पाँच वर्णों के बाद] अतः [यह समझकर कि इस पद्य में एक ही यमक है] यह नहीं सोचना चाहिए कि यहाँ [द्वितीय यमक में प्रथम से दो] अक्षरों की कमी है । इसीलिए 'श्रुतरसि०' इत्यादि पद्य में स्वरव्यंजनसमुदायपौनरुक्त्य [**श्रु-तरसिकलित-रुक**—तरसिकलितरु, चालहरि-आलहरि, हरिणतम-हरिणतम, ततस्तव—ततस्तव' इस प्रकार प्रथम यमक एक अक्षर के बाद आता है किन्तु अन्य सब बिना व्यवधान के स्थित हैं । प्रथम ततस्तव के पहिले एक 'च' अवश्य है किन्तु वैसा कोई वर्ण द्वितीय 'ततस्तव' के पहिले नहीं है ।

इस प्रकार यहाँ [आवृत्ति में] स्थाननियम नहीं है यह यमक जैसा प्रतीत होने वाला वस्तुतः वृत्त्यनुप्रास है। [इस पद्य के पूर्वार्द्ध का अर्थ स्पष्ट है, उत्तरार्ध का अर्थ है—इस कारण हे तत = विस्तृत, स्तव = स्तुतिवाले, जिसकी स्तुति पुष्कलमात्रा में हो रही है, आपका यशोराशि ताम्रगामी हरिण हो।]

विमर्श—यमक दण्डी, भामह, वामन, उद्भट, रुद्रट और मम्मट इन सभी आचार्यों में विविधता के साथ मिलता है। इसका विस्तार भट्टिकाव्य आदि में भी द्रष्टव्य है। यह इतना व्यापक है कि इसके लिए उक्त आचार्यों के मूल ग्रन्थ ही देखना चाहिए।

उक्त आचार्यों के यमक सामान्य लक्षण ये हैं—

दण्डी—आवृत्तिमेव संघातगोचरां यमकं विदुः।

भामह—ने काव्यालङ्कार में यमकसामान्य का लक्षण नहीं मिलता।

वामन—पदमनेकार्थमक्षरं वाऽऽवृत्तं स्थाननियमे यमकम्॥ ४। १। १।

उद्भट—उद्भट ने यमक नामक किसी भी अलङ्कार का निरूपण नहीं किया। कदाचित् वे यमक को लाटानुप्रास से अभिन्न मान बैठे हैं।

रुद्रट—तुल्यश्रुतिक्रमाणामन्यार्थानां मिथस्तु वर्णानाम्। पुनरावृत्तिर्यमकम्। [३। १ काव्यालंकार]।

मम्मट—अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः, यमकम्।

[सर्वस्व]

[सू० ८] "शब्दार्थपौनरुक्त्यं प्ररूढं दोषः॥"

प्ररूढग्रहणं वक्ष्यमाणप्रभेदवैलक्षण्यार्थम्। यदाहुः—'शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात्।' इति।

'[सू० ८] शब्द [और] अर्थ [दोनों] का प्ररूढ पौनरुक्त्य दोष होता है।'

[वृ०] प्ररूढ शब्द आगे कथित प्रभेद से [इस पौनरुक्त्य का] अन्तर बतलाने के लिए अपनाया गया। जैसा कि [महामुनि अक्षपाद के सम्प्रदाय में] कहा जाता है—'शब्द और अर्थ का पुनः कथन पुनरुक्त नामक दोष होता है अनुवाद को छोड़कर।'

विमर्शिनी

प्ररूढमिति। यथासनं विश्रान्तेः। यथा—

'तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तमः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥'

अत्रेन्दुरिति। अत्रिनेत्रक्षीरोदजन्मत्वादिन्दोर्द्विस्त्वान्नैतत्प्ररूढमिति न कार्यम्', कविसमये तथात्वस्याप्रतीतेः। आहुरित्याक्षपादाः। अन्यत्रानुवादादिति। अनुवादे हि शब्दार्थयोः पुनर्वचनं क्रियमाणं न दोषाय। अक्रियमाणं पुनर्दोषाय भवतीति भावः। यथा—

'उदेति रक्तः सविता रक्त एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता॥'

अत्र रक्त इति।

'शिरः शार्वं स्वर्गात्पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरं महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम्।
अधोधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः॥

अत्रार्थपौनरुक्त्येऽपि शब्दस्यापुनर्वचनं प्रतीत्यन्तरजनकत्वाद्दोषः।

तदेवाप्ररूढमलंकार इत्याह—तात्पर्येत्यादि।

प्ररूढ अर्थात् जैसा आरम्भ में प्रतीत हो वैसा ही अन्त में भी। उदाहरण [कालिदास का पद्य] उस (वैवस्वत मनु) के शुद्धियुक्त वंश में अत्यन्त शुद्धियुक्त दिलीप नामक राजेन्दु हुआ जैसे क्षीरसमुद्र में इन्दु। [रघु० १]। यहाँ 'इन्दु' [शब्द और उसका अर्थ दोनों ही पुनरुक्त हैं क्योंकि उनमें आरम्भ से अन्त तक एकरूपता बनी रहती है] इसे यह कहकर अप्ररूढ नहीं बतलाया जा सकता कि चन्द्रमा दो हैं, एक अत्रिमुनि के नेत्र से उत्पन्न और दूसरा क्षीरसागर से उत्पन्न, क्योंकि कविसमय में चन्द्रमा एक ही प्रसिद्ध है दो नहीं। आहुः = कहा है अर्थात् अक्षपाद मुनि ने। अन्यत्रानुवादात् = अनुवाद को छोड़कर; अर्थात् अनुवाद में यदि शब्द और अर्थ पुनः कहे जाएँ तो उसमें दोष नहीं; वहाँ पुनः न कहना ही दोष होता है। उदाहरणार्थ—'उदेति सविता०' इत्यादि पद्य में रक्तशब्द [पद्य का अर्थः—सूर्य रक्त ही उदित होता है और रक्त ही डूबता है। जो महान् होते हैं वे संपत्ति और विपत्ति दोनों में एक से रहते हैं।] 'स्वर्ग से भगवान् शंकर के सिर पर, पशुपति के सिर से पर्वत (हिमाचल) पर, उत्तुङ्ग शैल (हिमालय) से पृथिवी पर, पृथिवी से जलधि में, इस प्रकार नीचे ही नीचे गंगा के समान हम पहुँचते गए, कारण यह कि जो विवेकभ्रष्ट होते हैं उनका सैकड़ों प्रकार से पतन होता[1] है।' यहाँ अर्थ तो अवश्य दुबारा (एक ही शिव आदि अर्थ मूल में शर्व और पशुपति आदि तथा अनुवाद में शंकर और पशुपति आदि इन शब्दों से) कहे गए हैं किन्तु शब्द दुबारा नहीं कहे गए, उन्हें बदल दिया गया। इससे आरम्भ में ऐसा कुछ लगता है कि जैसे कोई दूसरा अर्थ बतलाया जा रहा है फलतः यह दोष है। [अनुवाद का उद्देश्य अर्थ तो है ही किसी के शब्दों का अक्षरशः उच्चारण या अनुकरण भी है, किन्तु टीकाकार का उस ओर ध्यान नहीं गया। व्यक्तिविवेककार ने इस पर अच्छा विवेचन किया है, एतदर्थ देखिए हमारे हिन्दी अनुवाद के साथ व्यक्तिविवेक पृष्ठ- २६, चौखम्बा संस्करण।]

'वही [शब्दार्थ पौनरुक्त्य ही] यदि अप्ररूढ होता है तो अलंकार बन जाता है' इसीका प्रतिपादन करते हैं—

[सर्वस्व]

[सू० ९] 'तात्पर्यभेदवत्तु लाटानुप्रासः ॥'

तात्पर्यमन्यपरत्वम्। तदेव भिद्यते, न शब्दार्थस्वरूपम्। यथा—

'जाला जाअंति गुणा जाला दे सहिअएहिँ घेप्पंति।
रइकिरणाणुग्गहिआइँ होंति कमलाइँ कमलाइँ ॥'

'भ्रमः कियन्तय कथंचन कालमल्प-
मत्राब्जपत्रनयने नयने निमील्य।
हेमाम्बुजं तरुणि तत्तरसापहृत्य
देवद्विपोऽयमहमागत इत्यवेहि ॥'

इत्यादौ विभक्त्यादेरपौनरुक्त्येऽपि बहुतरशब्दार्थपौनरुक्त्याल्लाटानुप्रासत्वमेव।

---

१. हिन्दी का यह वाक्य मूल संस्कृत वाक्य की छाया है अतः इसमें वे सब दोष हैं जो मूल में प्रतीत होते हैं।

'काशाः काशा इवाभान्ति सरांसीव सरांसि च ।
चेतांस्याचिक्षिपुर्यूनां निम्नगा निम्नगा इव ॥'

इत्यादावनन्वयेन सहास्यैकाभिधानलक्षणो न संकरः । अन्योन्यापेक्षया शब्दार्थगतत्वेनार्थमात्रगतत्वेन च व्यवस्थितेर्भिन्नविषयत्वात् ।

'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम् ।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ॥'

[सू० १०] तदेवं पौनरुक्त्ये पञ्चालंकाराः ॥

निगदव्याख्यातमेतत् ।

[सू० ९] 'किन्तु तात्पर्य के भेद से युक्त [शब्दार्थ पौनरुक्त्य] लाटानुप्रास [नामक अलंकार होता है] ।

[वृ०] तात्पर्य का अर्थ है अन्यपरता [यहाँ] भेद केवल उसी में रहता है, शब्दार्थ-स्वरूप में नहीं । यथा—

'तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥'

'[गुण] गुण तब होते हैं जब वे सहृदयों द्वारा माने जाते हैं । कमल कमल तब बन पाते हैं जब वे सूर्य-किरणों से अनुगृहीत होते हैं ।'

'कितना कहूँ, हे कमलपत्रतुल्य नयन-वाली ! तुम अपने नयन मींच कर यहीं थोड़ा समय बिताओ और यह समझो कि—हे तरुणि ! देवों का शत्रु मैं उस हेमाम्बुज को बलात् छिनाकर यह आया ।'

इत्यादि में [००नयने नयने आदि स्थलों में] विभक्ति आदि का तो पौनरुक्त्य नहीं है [क्योंकि प्रथम नयन बहुव्रीहि के कारण स्त्रीलिंग में है और सबोधन के कारण प्रथमा के एकवचन में जब कि द्वितीय नयन नपुसकलिंग द्वितीया के द्विवचन में है] तथापि शब्द [विभक्ति आदि की मूल प्रकृति नयन] तथा उनके अर्थों का अधिकांश पुनरुक्त ही है अतः यहाँ लाटानुप्रासत्व ही [मान्य] है ।

[शरद में] काश काश से ही लग रहे हैं और सरोवर सरोवर से । [वर्षा में निम्नगाएँ [नदियाँ] निम्नगाओं [नीचों से लगी स्त्रियों] के [ही] समान युवकों के चित्त बिगाड रही थीं ।

इत्यादि में लाटानुप्रास का अनन्वय के साथ एकवाचकानुप्रवेश सकर नहीं है क्योंकि दोनों के क्षेत्र भिन्न हैं । लाटानुप्रास का क्षेत्र है अन्योन्यापेक्षी शब्दार्थयुग्म और अनन्वय का क्षेत्र है केवल अर्थ ।

'अनन्वय में जो शब्द की पुनरुक्ति होती है वह इसलिए कि उसके बिना अनन्वय संभव नहीं, अतः वहाँ शब्दपुनरुक्ति [अलंकारत्वप्रयोजक, चमत्कारकारी नहीं] आनुषंगिक है । जहाँ तक लाटानुप्रासका सबन्ध है इसमें शब्दपुनरुक्ति ही अलंकारत्व-प्रयोजक है ।'

[सू० १०] इस प्रकार पौनरुक्त्य में पाँच अलंकार होते हैं ।

[वृ०] सुननेमात्र से इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है ।

विमर्शिनी

अन्यपरत्वमिति । एकस्य वाच्यविश्रान्तत्वेऽन्यस्य लक्ष्ये व्यङ्ग्ये वार्थे वाच्यविश्रान्तिरित्यर्थः। भिद्यत इति पर्यवसाने। आमुखे हि शब्दवदर्थस्याप्येकत्वेनैवावभासः। अत एवाह—न शब्दार्थस्वरूपमिति। एवं च नायं द्वयोर्वाच्यविश्रान्तत्वेऽनुवादमात्रमलंकारः। नहि दोषाभावमात्रमलंकारस्वरूपम्। एवं हि सत्यपशब्दाद्यभावस्याप्यलंकारत्वप्रसङ्गः। यत्परमादावुक्तं तत्परमेव पुनर्नोच्यते इत्येव सामान्येन यदान्यपरत्वमुच्यते तद्विरोधादिवत् 'उदेति रक्तः सविता—' इत्यादौ दोषाभावमात्रत्वेप्यलंकारत्वोचितस्यान्यपरत्वाख्यस्यातिशयस्यापि भावालंकारत्वप्रसङ्गः। न चैतावतैव कश्चिदतिशयः प्रतीयत इति यथोक्तमेव युक्तम्। एकः कमलशब्दो वाच्यपर्यवसितः अन्यश्च सौरभवन्धुरत्वाद्यनेकधर्मनिष्ठ इति तात्पर्यमेदः।

अन्यपरत्व = अर्थात् एक शब्द के अर्थ की वाच्यरूप में ही विश्रान्ति और दूसरे के अर्थ की लक्ष्य या व्यंग्य अर्थ में। भिद्यते = भिन्न होता है अर्थात् पर्यवसान (अन्त) में। आरम्भ में तो शब्द के समान अर्थ भी एक से ही प्रतीत होते हैं। इसीलिए कहा 'न शब्दार्थस्वरूपम्'। इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि यदि दोनों वाच्यार्थ में ही ठहर जाएँ तो वह अनुवादमात्र (उद्देश्यमात्र या पुनःकथनमात्र) होता है अलंकार नहीं। [वहाँ पुनः कथन न करना दोष होता है अतः पुनः कथन दोषाभावस्वरूप और] दोषाभावमात्र को अलंकार नहीं माना जा सकता। यदि दोषाभाव को ही अलंकार माना जाय तो अपशब्द आदि के अभाव को भी अलंकार मानना पड़ेगा। 'जो शब्द जिस अर्थ के लिए एक बार बोला जाता है वह दूसरी बार भी उसी अर्थ के लिए नहीं बोला जाता', इसी को यदि सामान्यतः अन्यपरता कहा जाता है तो विरोध आदि अलंकारों के समान 'उदेति रक्तः सविता' इत्यादि स्थलों में पुनरुक्ति को दोषाभावमात्र मानने पर भी और उसमें अलंकारत्वनिष्पादक अन्यपरत्वस्वरूप विशिष्ट तत्त्व का अस्तित्व मानने पर भी भावनामक अलंकार होगा, लाटानुप्रास नहीं [अतः लाटानुप्रास में अन्यपरत्व के साथ शब्दार्थस्वरूप में अभेद भी रहना आवश्यक है]। केवल इतने [अन्यपरत्वमात्र] से ही कोई अतिशय (वैशिष्ट्य) प्रतीत नहीं होता अतः [ग्रन्थकार ने] जो कहा है [अन्यपरत्व और शब्दार्थस्वरूपाभेद ये दो विशेषताएँ लाटानुप्रास के लिए आवश्यक बतलाई हैं] वह [उसी रूप में] ठीक है। 'कमलानि कमलानि' में] एक [प्रथम] कमलशब्द वाच्यरूप में ही पर्यवसित होता है और दूसरा [द्वितीय] सौरभ, सौन्दर्य या खिली पँखुड़ियों की उतार-चढ़ावदार शोभा आदि अनेक धर्मों का प्रतिपादन करता है। अतः यहाँ दोनों कमलशब्दों के तात्पर्यमात्र में भेद है। [इसीको ध्वनिवादियों ने अर्थान्तर संक्रमितवाच्यध्वनि कहा है]।

विमर्श—इस प्रकरण में 'भ्रमः कियत्०' इत्यादि पूर्ण पद्य मूल न मानकर डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने अनेक पाण्डुग्रन्थों के आधार पर इसके केवल द्वितीय चरण 'अत्राब्ज०' इत्यादि को ही मूल माना है। निर्णयसागरीय संस्करण में पूर्ण पद्य के साथ अन्त में यह द्वितीयचरण भी 'भ्रमः-इम्'अत्राब्जपत्रनयने नयने निर्मील्य इत्यादी-इस प्रकार दिया हुआ है। डॉ० द्विवेदी ने 'काशाः काशा इव०' इत्यादि पद्य का भी 'काशाः काशा इव' इतना ही अंश मूल माना है। निर्णयसागरीय संस्करण में वह भी पूर्ण है किन्तु वहाँ भी पादटिप्पणी में एक प्रति में 'काशाः काशा इव' इतना ही मिलने का उल्लेख है। विमर्शिनीकार ने 'भ्रम०' इत्यादि पद्य के चारों चरण नहीं तो कम से कम प्रथम दो चरण तो मूल अवश्य माने हैं क्योंकि उन्होंने प्रतीक दिया है प्रथम चरण का 'भ्रमः कियदिति' इस प्रकार। हमने इसी टीका के अनुसार मूल रखकर निर्णयसागरीय संस्करण में पुनः आए द्वितीय चरण को हटा दिया है। वह आवश्यक था।

यद्यपि लाटानुप्रास के लिए द्वितीय और तृतीय पद्य के उपादेय अंश केवल 'अब्जपत्रनयने नयने' और 'काशाः काशा इव' ये ही हैं और ग्रन्थकार को भी केवल इतना ही प्रतिपादित करना है, माना जाय या नहीं, विशिष्टस्थिति में लाटानुप्रास तदर्थ उतने से अधिक पूर्ण श्लोकों की आवश्यकता नहीं है, तथापि काव्य के भीतर लाटानुप्रास कितना चमत्कार लाता यह जानने के लिए यहाँ पूर्ण पद्य ही उपादेय हैं। टीकाकार यदि उनकी व्याख्या न करें तो उससे मूल में पूर्ण पद्य का अभाव नहीं माना जा सकता। टीकाकार श्लोक की व्याख्या भी कर यह आवश्यक नहीं है। सञ्जीविनी और विमर्शिनी दोनों में श्लोकों की व्याख्या नहीं के बराबर है।

वृत्तिकार ने अनन्वय और लाटानुप्रास के क्षेत्रभेद पर जो प्रश्न प्रस्तुत किया है उसका समाधान इतना ही है कि अनन्वय में पदों की आवृत्तिमात्र आवश्यक है, यह नहीं कि दोनों पद एक साथ रखे जावें। 'काशा भान्ति यथा काशाः' ऐसा कहने पर भी अनन्वय की निष्पत्ति सम्भव है। लाटानुप्रास केवल तभी हो सकेगा जब दोनों काशपदों को एक साथ रखा जाय। अनन्वय में यह आवश्यक नहीं है कि पुनःकथित पद में अतिशय भी प्रतीत हो। लाटानुप्रास में वही प्रधान है। उसके बिना लाटानुप्रास में अलंकारत्व नहीं आता। अनन्वय में चमत्कार का कारण है द्वितीयसदृशव्यवच्छेद। 'अमुक के समान अमुक ही है' कहने से प्रतीत होता है कि उसके समान दूसरा कोई नहीं है। यही है द्वितीयसदृशव्यवच्छेद। इसी को लेकर अनन्वय उपमा और उपमेयोपमा से अलग होता है। लाटानुप्रास में तात्पर्यभेदानुगत पदपुनरुक्ति ही चमत्कारकारक होता है। 'काशा काशा इव०' पद्य में लाटानुप्रास मानना चाहिए या अनन्वय इस प्रश्न का समाधान केवल यह देखकर करना उचित है कि क्या यहाँ द्वितीय काशादि शब्द उसी प्रकार अतिशययुक्त काशादि अर्थ के वाचक हैं जिस प्रकार 'कमलानि कमलानि' में द्वितीय कमल। यदि नहीं तो यहाँ अनन्वय ही है। दो दो काश आदि पदों के एकसाथ प्रयुक्त हो जाने मात्र से यहाँ लाटानुप्रास सम्भव नहीं है।

विमर्शिनी

भूमः कियदिति। अत्र अब्जशब्दस्याप्यपौनरुक्त्यात् लाटानुप्रासत्वमेवेति चिन्त्यम्। अत्र हि द्वयोरपि नयनशब्दयोर्वाच्यविश्रान्तत्वादन्यपरत्वाभावान्नास्ति तात्पर्यभेदः। स एव ह्यस्य जीवितम्। अन्यथा ह्यनुप्रासमात्रत्वं स्यान्नालंकारत्वम्। अथापि केवलनयनशब्दस्य स्वार्थविश्रान्तिः संसर्गपदान्तर्गतस्य पुनः स्वार्थमुपसर्जनीकृत्य संज्ञिनमभिदधतश्च स्वार्थत्यागात्परार्थे च वृत्तिरस्त्येव लक्ष्यनिष्ठत्वमिति चेत्, नैतत्। लक्षणासामग्र्यभावात्। अत्र ह्यन्यपदार्थप्रधानत्वान्नयनशब्दस्य गुणीभावः, न मुख्यार्थबाधः। स्वार्थ एव विश्रान्तेः। न च गुणीभावमुख्यार्थबाधयोरेकत्वम्। सतो हि मुख्यार्थस्य कंचिदपेक्ष्य गुणीभावः। बाधः पुनः स्वस्मिन्नेवाविश्रान्तिरित्यनयोर्महान् भेदः। नाप्यत्र किंचित्प्रयोजनं न वा रूढिरियमित्येतत्पौनरुक्त्यमात्रम्। एवम्,

'सितकरकररुचिरविभा विभाकराकार धरणिधर कीर्तिः।
पौरुषकमला कमला सापि तवैवास्ति नान्यस्य ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम्। चमत्कारस्त्वत्रानुप्रासकृतोऽवसेयः। नन्वनन्वयेऽपि शब्दपौनरुक्त्यं दृश्यत इति तत्रापि किमयमेवालंकारः किमु स एवेत्याशङ्क्याह—अनन्वय इत्यादि। आनुषङ्गिकमिति। न पुनः साक्षात्प्रयोजकमित्यर्थः। शब्दैक्यं विनाप्यनन्वयस्य प्रतिपादनात्। अत्र हि शब्दैक्यं क्वचिदक्रियमाणमनौचित्यमावहति क्वचिन्नेति भावः। तत्र यथा—

'यच्चक्षुर्जगतां सहस्रकरवद्धाम्नां च धामार्कव-
न्मोक्षद्वारमपावृतं च रविवद् ध्वान्तान्तकृत् सूर्यवत्।
आत्मा सर्वशरीरिणां सवितृवत् तिग्मांशुवत् कालकृत्
साक्षी नः स गिरं ददातु दिनकृद् योन्यैरतुल्योपमः॥'

अत्र सहस्रकरादयोऽन्य इवाभासमाना अनन्वयप्रतीतिं विघ्नयन्तीति शब्दैक्याभावोऽनौचित्यमावहति, न पुनरनन्वयस्याभावम्।

'स्थैर्याद् भूर्व्यापकत्वाद् वियदखिलजगत्प्राणभावात्सखस्वान्
भास्वान् विश्वप्रकाशादयुगपदपि सुधामूर्तिराह्लादनाच्च।
वह्निः संहारकत्वाज्जलमखिलजनाप्यायनात्तोपमानं
सत्यात्मत्वेऽपि यस्य प्रभवतु भवतां सोऽष्टमूर्तिः शिवाय॥'

अत्र निर्विघ्नमेवानन्वयस्य प्रतीतेः शब्दैक्याभावो नानौचित्यावहः। तुशब्दो व्यतिरेके। साक्षादिति। शब्दैक्यं विनास्यानुत्थानात्।

एतदेवोपसंहरति—तदेवमित्यादि। पुन रुक्तवदाभाससमर्थपौनरुक्त्याश्रितं, छेकानुप्रासादयस्त्रयः शब्दपौनरुक्त्याश्रयाः। लाटानुप्रासस्तूभयाश्रित इति पञ्च पौनरुक्त्याश्रिता अलंकाराः। यद्यप्युक्तेः शब्दार्थगतत्वेनोच्चरणाभिधानतया भेदात् सामान्याभावात् कस्य पञ्चप्रकारत्वं तथापि तस्या द्वयोरप्यनुगमादेकत्वेन प्रतीतेरुक्तिसामान्यनिबन्धनमेव प्रकारिप्रकारभाववचनम्। यत्त्वर्थभेदेन शब्दस्यापि भिन्नत्वं तदवास्तवम्। प्रतीतावेकतयैवावभासात्। अत एवानेकार्थवर्गादिष्वपि तथात्वेनैव व्यवहारः।

''भ्रमः कियत्' इस [पद्य] में (अन्य शब्द भी पुनरुक्त नहीं हैं अतः यहाँ अलंकार में) लाटानुप्रासत्व ही है' यह विचारणीय है। यहाँ दोनों ही नयन शब्द अन्ततक वाच्यार्थमात्र तक ही सीमित रहते हैं। उनमें तात्पर्यभेद नहीं है। और वही [तात्पर्य भेद] तो लाटानुप्रास का प्राण है। उसके बिना यह (लाटानुप्रास) अनुप्रासमात्र होगा, अलंकार नहीं। इतने पर भी यह कहा जा सकता है कि यहाँ जो नयनशब्द स्वतन्त्ररूप से (समास से अलग) प्रयुक्त है वह अपने वाच्य अर्थ तक ही सीमित रहता है, किन्तु जो नयनशब्द 'अञ्जनयने' इस प्रकार बहुव्रीहि समास में अन्य पद के साथ है उसमें उसका वाच्यार्थ अप्रधान है और प्रधान है (बहुव्रीहि का अन्य पुरुष) नायिकारूपी अर्थ। इस प्रकार यह नयनशब्द अपना अर्थ छोड़कर दूसरे नायिकारूपी अर्थ में पर्यवसित होता, फलतः इस नयनशब्द में तो [वाच्येतर] लक्ष्य अर्थ के प्रति परायणता दिखलाई देती है। किन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि यहाँ लक्षणा के लिए अपेक्षित (मुख्यार्थबाध आदि कारण—) सामग्री नहीं है। यहां बहुव्रीहि में अन्यपुरुष की प्रधानता रहती है इसलिए नयनशब्द अप्रधान अवश्य है किन्तु उसके वाच्य अर्थ का बाध नहीं है इसलिए वह (नयनशब्द) अपने (वाच्य) अर्थ में ही पर्यवसित होता है। ऐसा थोड़े ही है कि अप्रधानता और मुख्यार्थबाध अभिन्न हों। जो मुख्य अर्थ बदलता नहीं उसमें किसी अन्य अर्थ की अपेक्षा अप्रधानता आती है। बाध कहलाता है उसका अपने अर्थ में पर्यवसित न होना (अपने अर्थ का वाक्यार्थबोध तक अपरिवर्तित न रह सकना) इस प्रकार अप्रधानता और बाध में बहुत अन्तर है। फिर यहां न तो लक्षणा के लिए अपेक्षित प्रयोजन ही है और न रूढि ही। अतः 'नयने नयने' यह पौनरुक्त्यमात्र है (अलंकार नहीं)। यही बात 'हे विभाकर [सूर्य] के समान, हे धरणिधर सितकर-कर-रुचिर-विभा (सितकर = चन्द्र उसके कर = किरण उनके समान रुचिर = सुन्दर विभा=कान्तिवाली] कीर्ति तथा पौरुषकमला (पौरुष ही है कमल = वासस्थान जिस में [illegible])

कमला (लक्ष्मी) भी तुम्हारे ही पास है अन्य किसी के पास नहीं।' इत्यादि स्थलों में भी है। यहाँ जो चमत्कार है उसका कारण अनुप्रास ही मानना चाहिए।

प्रश्न उठता कि 'शब्दपौनरुक्त्य अनन्वय में भी रहता है, वहाँ लाटानुप्रास मानना चाहिए या अनन्वय' इस पर उत्तर देते हुए कहा अनन्वय इत्यादि' आनुषंगिक अर्थात् साक्षात् प्रयोजक नहीं। क्योंकि अनन्वय शब्दैक्य के बिना भी प्रतिपादित किया गया है। इस (अनन्वय) में कहीं तो शब्दैक्य न रखने से दोष आ जाता है कहीं नहीं। यथा 'वह दिनरत्न सूर्य हमें साधु-वाणी प्रदान करे जो सहस्रकर (सूर्य) के समान जगत् का चक्षु है, अर्क (सूर्य) के समान धाम (प्रकाश, तेज) का धाम है, रवि (सूर्य) के समान खुला हुआ मोक्षद्वार है, सूर्य के समान ध्वान्त (अन्धकार, अज्ञान) का अन्त करने वाला है, सविता (सूर्य) के समान सभी शरीरधारियों के लिए आत्मा है [और] तिग्मांशु [तीक्ष्ण किरणों वाले सूर्य] के समान काल [समय] का निर्माता है'। यहाँ [एक ही सूर्य के लिए] जो सहस्रकर आदि (भिन्न-भिन्न) शब्दों का प्रयोग किया गया है, उसमें ऐसा प्रतीत होता कि कदाचित् उपमान और उपमेय भिन्न-भिन्न हैं फलतः वे अनन्वय के चमत्कार में विघ्न बन जाते हैं, इसलिए यहाँ शब्दैक्य के अभाव से अनौचित्यमात्र आता है अनन्वय का अभाव नहीं।

'वे भगवान् अष्टमूर्ति [पंच महाभूत, सूर्य, चन्द्र तथा चैतन्य] आपका कल्याण करें जिनके लिए स्वयं उन्हीं की सातों मूर्तियाँ एकमात्र उपमान हैं, स्थैर्य के कारण पृथिवी (उनका उपमान है), व्यापकता के कारण आकाश, निखिल जगत् के प्राण होने के कारण वायु, विश्वमात्र को प्रकाशित करने के कारण सूर्य [विश्वमात्र को] आह्लादित करने के कारण चन्द्रमा (सुधामूर्ति), महारक होने के कारण वह्नि और अखिल जगत् को आप्यायित करने के कारण जल।' यहाँ अनन्वय की प्रतीति बिना विघ्न के हो जाती है अतः यहाँ शब्दैक्य का अभाव दोषावह नहीं है।

तु-शब्द भेदप्रत्यायक है। साक्षात् अर्थात् इस [लाटानुप्रास] का अलङ्कारत्व ही शब्दैक्य के बिना संभव नहीं होता।

इसीका उपसंहार करते हैं—तदेवम् पुनरुक्तवदाभास अर्थपौनरुक्त्य पर निर्भर है और छेका-नुप्रास आदि तीन [आदि पद से वृत्त्यनुप्रास और यमक] शब्दपौनरुक्त्य पर। लाटानुप्रास जो है सो दोनों (शब्दार्थोभय) के पौनरुक्त्य पर निर्भर रहता है। इस प्रकार पौनरुक्त्य पर निर्भर रहने वाले पाँच अलंकार हुए।

यद्यपि [पुनरुक्ति में जो] उक्ति तत्त्व [है वह] शब्द में उच्चारणस्वरूप होता है और अर्थ में अभिधान-[अभिधावृत्ति द्वारा प्रतिपादन]-स्वरूप, इसलिए दोनों में भेद रहता है, एकरूपता नहीं, इसलिए पाँचों स्वतन्त्र अलंकार हो सकते हैं [किसी एक के पाँच भेद नहीं हो सकते] तथापि उक्ति उक्तित्वेन दोनों प्रकार की उक्तियों में समान है अतः उन दोनों उक्तियों में प्रतीति अभेद की ही होती है फलतः यह जो प्रकारप्रकारिभाव [प्रकार-भेद, प्रकारी = भेदवाला] सम्बन्ध है वह केवल सामान्य उक्ति पर निर्भर है। यह जो कहा जाता है कि अर्थ में भेद होने से शब्द में भी भेद हो जाता है, अवास्तविक है, क्योंकि प्रतीति में तो एकरूपता ही भासित होती है। इसीलिए कोषों के अनेकार्थ वर्ग आदि अंशों में (अर्थ अनेक होने पर भी शब्द को) वैसा (एक और अभिन्न) ही मानने का प्रचलन है।

विमर्श-'स्थैर्याद् भू०' इत्यादि पद्य में टीकाकार ने जो अनन्वय माना है वह विचारणीय है। पद्य में अष्टमूर्ति भगवान् की सात मूर्तियों का उनकी अष्टममूर्ति के साथ उपमानोपमेयभाव बतलाया गया है। अतः अष्टममूर्तिस्वरूप शिव उपमेय सिद्ध होते हैं और अन्यमूर्तिस्वरूप शिव उपमान। इस प्रकार 'अनुहरति सुभग तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य' = 'उस सुन्दरी का वामांग उसी के दक्षिणांग का अनुकरण करता है' इस पद्य में जैसे नायिका के एक ही होने पर भी अंगों में

वामत्व और दक्षिणत्व का भेद हो जाने से उपमान और उपमेय दोनों में अभेद की प्रतीति नहीं होती और उससे अनन्वय सिद्ध नहीं हो पाता उसी प्रकार यहाँ भी शिव के अभिन्न होने पर भी उनकी मूर्तियों में परस्पर भेद होने से उपमान और उपमेय में अभेद की प्रतीति नहीं होती, फलतः यहाँ भी अनन्वय सिद्ध नहीं होता।

यदि यह कहा जाय कि यहाँ अष्टम यजमान या चैतन्यमूर्ति उपमेय न होकर अष्टमूर्ति ही उपमेय है और प्रत्येक मूर्ति उसकी ही एक-एक इकाई है, फलतः उनसे अभेद की प्रतीति और ततः अनन्वय असंभव नहीं, तब भी निर्वाह नहीं क्योंकि अष्टमूर्ति सामान्यस्वरूप का वाचक शब्द है और भू आदि विशेषस्वरूप के वाचक। सामान्य और विशेष अभिन्न अवश्य होते हैं किन्तु उनमें भेदप्रतीति नहीं होती ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यहाँ अनन्वय की ध्वनि कदाचित् संभव है क्योंकि केवल सात मूर्तियों में अपना-अपना औपम्य बतलाने से यह प्रतीति होता है कि अष्टम आत्ममूर्ति का कोई उपमान नहीं है। [सूक्ष्म विवेचन के लिए देखिए रसगंगाधर का अनन्वय प्रकरण]। सब कुछ के बाद यहाँ यदि अभेद-प्रतीति मान भी ली जाय तो यह तो नहीं माना जा सकता कि यहाँ भिन्न शब्द प्रयोग से जनितभेदप्रतीति अनन्वयनिष्पत्ति में बाधा नहीं डालती। 'आत्मा होने पर भू आदि ही उपमान बन पाते हैं' इस प्रकार आत्मत्व के प्रतिपादन से भेदप्रतीति अवश्य ही दुर्बल हो जाती है। संजीविनीकार ने लाटानुप्रास और अनन्वय का भेद इस प्रकार संगृहीत किया है—

> 'यत्र तावेव शब्दार्थौ तात्पर्यं तु विभिद्यते।
> तत् पौनरुक्त्यमाचार्यैर्लाटानुप्रास इष्यते॥
> दोषापत्तिभयादेव शब्दैक्यं स्यादनन्वये।
> अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव हि लक्षणम्॥'

अर्थात् 'जहाँ शब्द और अर्थ वे ही हों किन्तु तात्पर्य में भेद हो उस पौनरुक्त्य को आचार्य-गण लाटानुप्रास मानते हैं। अनन्वय में शब्द की एकता दोषापत्ति के भय से होती है, जबकि लाटानुप्रास में वह लक्षण ही है।'

संजीविनीकार ने 'अब्जपत्रनयने नयने' में प्रथम नयनशब्द को बहुव्रीहि के कारण अन्य पदार्थपरक मानकर लाटानुप्रास मान लिया है।

[सर्वस्व]

[सू० ११] वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुत्वे चित्रम्॥

पौनरुक्त्यप्रस्तावे स्थानविशेषश्लिष्टवर्णपौनरुक्त्यात्मकं चित्रमुच्यते। यद्यपि लिप्यक्षराणां खड्गादिसंनिवेशविशिष्टत्वं तथापि श्रोत्राकाशसमवेत-वर्णात्मकशब्दाभेदेन तेषां लोके प्रतीतेर्वाचकशब्दालंकारोऽयम्। आदि-ग्रहणाद् यथाव्युत्पत्तिसंभवं पद्मबन्धादिपरिग्रहः। यथा—

> 'भासते प्रतिभासार रसाभाता हताविभा।
> भावितात्माशुभावादे देवाभा बत ते सभा॥'

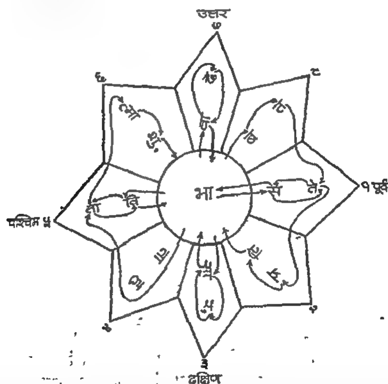
पद्मोऽष्टदलपद्मबन्धः। अत्र दिग्दलेषु निर्गमप्रवेशाभ्यां श्लिष्टाक्षर-त्वम्। विदिग्दलेषु त्वन्यथा। कर्णिकाक्षरं तु श्लिष्टमेव।

[सू० ११] 'जहाँ वर्ण खड्ग आदि के आकार को जन्म दें उसे चित्र [अलंकार] कहते हैं।'

[वृ०] पौनरुक्त्य के प्रसंग में [उसके तुरत बाद] चित्रालंकार का निरूपण इसलिए किया जा रहा है कि इसमें भी [गजन, कपालिका, कुण्डिका आदि] विशिष्ट-विशिष्ट स्थानों में श्लिष्ट वर्णों का पौनरुक्त्य रहता है।

यद्यपि खड्ग आदि के आकार से युक्त केवल लिपि में लिखे अक्षर होते हैं तथापि इस अलंकार को वाचक शब्दों का अलंकार मान लिया जाता है कारण कि लिप्यक्षरों का श्रोत्राकाश में समवेत [समवाय सम्बन्ध से विद्यमान] वर्णात्मक शब्दों से अभेद प्रतीत होता है।

आदि शब्द के ग्रहण से व्युत्पत्ति के अनुसार यथासंभव पद्मबन्धादि का संग्रह हो जाता है। यथा—**'भासते प्रतिभासार०'** इत्यादि पद्य अष्टदलपद्मबन्ध का उदाहरण है।



[श्लोकार्थ] [प्रतिमासार] प्रतिभा ही है सार = बल जिसका ऐसे हे राजन् [ते] आपकी सभा [दन] भली भाँति [भासते] भासित हो रही है। वह [रसाभाता शृंगार आदि रसों से सुशोभित है, उसने [हताप्रविभा] अविभा = व्यामोह को [हत] दूर कर दिया है, [भावितात्मा] उसका स्वरूप परिष्कृत है, वह [वादे शुभा] वादों में शुभ है अत: [देवाभा] देव [सभा] तुल्य है।'

यहाँ दिग्दलों में प्रवेश तथा निर्गम के क्रम से अक्षर श्लिष्ट हैं। विदिग्दलों में स्थिति उलटी है। कर्णिकाक्षर श्लिष्ट ही है।

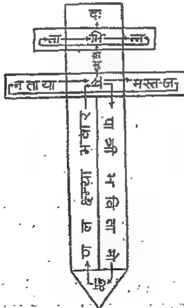
विमर्शिनी

वर्णानामित्यादि । उच्चारणकाले स्थानविशेषश्लिष्टवर्णात्मकखड्गादिसंनिवेशस्याभावात् पौनरुक्त्यप्रतीतिर्नास्तीति किमाश्रयोऽयमलंकार इत्याशङ्क्याह—यद्यपीत्यादि । लिप्यक्षराणां मषीबिन्दुरूपाणां श्रूयमाणतासतत्त्ववर्णशब्दाभेदप्रतिपत्त्या औपचारिकोऽयं शब्दालंकार इति तात्पर्यार्थः । आदिग्रहणं सफलयितुं पद्मबन्धेनोदाहरति—भासतेत्यादि । खड्गबन्धः पुनर्यथा—

> 'स पात्रीभविता मोक्षक्षणलक्ष्म्या भवारसः ।
> समस्तजनतायाससमुद्राभिन्नताभिदः ॥'

श्लिष्टमेवेति । अष्टदिक्षमपि निर्गमप्रवेशयोः ।

उच्चारण के समय विशिष्ट स्थानों में श्लिष्ट जो वर्ण तत्स्वरूप खड्ग आदि के आकार का अभाव रहता है अतः यहाँ पौनरुक्त्य की प्रतीति नहीं होती अतः यह जिज्ञासा होती है कि यह अलंकार किसके आसरे रहता है । [इस जिज्ञासा और] इस [के उत्तर] के लिए लिखा **'यद्यपि॰'** इत्यादि । तात्पर्य यह कि लिपि के अक्षर स्याही की बूंद होते हैं । उनके साथ सुनाई देने वाले वर्णों से अभिन्न शब्दों की अभेदप्रतीति होती है । उसी के आधार पर इस [चित्र] को लाक्षणिक रूप से शब्दालंकार कहा जाता है । आदिशब्द को सफल करने के लिए [नीचे के] उदाहरण के रूप में पद्मबन्ध प्रस्तुत करते हैं **'भासते॰'** इत्यादि । खड्गबन्ध का उदाहरण यह है 'स पात्रीभविता॰' ॥



[श्लोकार्थः =] '[भवारस] भव = [संसार, रस] के रस से रहित [अरस] वह समस्त जनता के आयासरूपी समुद्र को अभिन्नता तोड़ने वाली मोक्षक्षण की लक्ष्मी का पात्र बनेगा ।'

श्लिष्टमेव अर्थात् आठों दिशाओं में प्रवेश करते और निकलते समय भी ।

विमर्श—श्रीविद्याचक्रवर्त्ती ने सञ्जीविनी में पद्मबन्ध और खड्गबन्धों का निष्कर्ष इस प्रकार दिया है—

'अत्राय निष्कर्षः—

'कर्णिकाया लिखेदेकं द्वौ द्वौ दिक्षु विदिक्षु च ।
प्रवेशनिर्गमौ दिक्षु पद्मबन्धो भवेदयम् ॥
आरोप्य लिपिवर्णाना साम्याद् वाचकवर्णताम् ।
खड्गबन्धादिकं चित्रं काव्यालङ्कार इष्यते ॥' इति ।

अर्थात् = कर्णिका में प्रथम एक अक्षर लिखकर दिशाओं और विदिशाओं में दो-दो अक्षर लिखे जायँ और प्रवेश तथा निर्गम केवल दिशाओं में रहें तो उससे पद्मबन्ध बनता है ।

'साम्य के आधार पर लिपिवर्णों के ऊपर वाचकवर्णों का आरोप करने से काव्य में खड्गबन्ध आदि [चित्र] को अलङ्कार मान लिया जाता है ।

संजीविनीकार ने यहाँ तक के सभी अलङ्कारों को शब्दालङ्कार कहा है । इस प्रकरण के अन्त में उन्होंने इस प्रकार की पुष्पिका दी है—'इति श्रीविद्याचक्रवर्तिन कृती अलङ्कारसर्वस्वसंजीविन्या शब्दालङ्कारप्रकरणम् ।'

अगले प्रकरण का आरम्भ उन्होंने इन शब्दों से किया है 'अथ अर्थालङ्काराः ।' इससे स्पष्ट है कि सञ्जीविनीकार पुनरुक्तवदाभास को भी शब्दालङ्कार ही मानते हैं । वृत्तिकार से पुनरुक्तवदाभास को जहाँ अर्थालङ्कार कहा है वहाँ सञ्जीविनीकार ने उसपर कोई विचार नहीं किया है। कदाचित् वे उसे उपेक्षणीय मानते हैं ।

इतिहास—चित्रबन्ध का संग्रह प्रथमतः दण्डी ने किया है । इसके पश्चात् चित्रबन्ध रुद्रट और मम्मट में ही मिलते हैं । मध्यवर्ती भामह, वामन और उद्भट के काव्यालङ्कारों में इनका अभाव है ।

[सर्वस्व]

[सू० १२] उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमा॥

अर्थालंकारप्रकरणमिदम् । उपमानोपमेययोरित्यप्रतीतोपमानोपमेयनिषेधार्थम् । साधर्म्ये त्रयः प्रकाराः । भेदप्राधान्यं व्यतिरेकादिवत् । अभेदप्राधान्यं रूपकादिवत् । द्वयोस्तुल्यत्वं यथास्याम् । यदाहुः—'यत्र किंचित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः' इति । उपमैवानेकप्रकारवैचित्र्येणानेकालंकारबीजभूतेति प्रथमं निर्दिष्टा । अस्याश्च पूर्णालुप्तात्वभेदाच्चिरंतनैर्बहुविधत्वमुक्तम् । तत्रापि साधारणधर्मस्य क्वचिदनुगामितयैकरूप्येण निर्देशः, क्वचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावेन पृथङ्निर्देशः । पृथङ्निर्देशे च संबन्धिभेदमात्रं प्रतिवस्तूपमावत्, बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा दृष्टान्तवत् । क्रमेणोदाहरणम्—

'प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः ।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥'

'यान्त्या मुहुर्वलितकंधरमाननं तदावृत्तवृन्तशतपत्रनिभं वहन्त्या।
दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्या गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः॥'

अत्र वलितत्वावृत्तत्वे संबन्धिभेदाद्भिन्ने। धर्म्यभिप्रायेण तु बिम्बप्रतिबिम्बत्वमेव।

'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरिचन्दनेन।
आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः॥'

अत्र हाराङ्गरागयोर्निर्झरबालातपौ प्रतिबिम्बत्वेन निर्दिष्टौ।

[सू० १२] 'उपमान और उपमेय का समानधर्म के साथ ऐसा संबन्ध जिसमें भेद और अभेद [प्रधान या अप्रधान न होकर] समान हों उपमा [नामक अलंकार] कहलाता है।'

[वृ०] यह प्रकरण अर्थालंकार का है। [साधर्म्य केवल उपमानोपमेय का ही होता है कार्यकारण आदि का नहीं तथापि सूत्र में उपमानोपमेय का शब्दतः कथन अप्रतीत उपमान और वैसे ही उपमेय के निषेध के लिए किया गया है। साधर्म्य में तीन भेद होते हैं [एक वह] जिसमें भेद की प्रधानता रहती है जैसे व्यतिरेक आदि में, [दूसरा वह] जिसमें अभेद की प्रधानता रहती है जैसे रूपकादि में [तीसरा वह] जिसमें दोनों की समानता रहती है जैसे इसी उपमा में। जैसा कि [भाष्यकार आदि ने] कहा है—'सदृशता = उपमा का विषय [स्थल] वह होता है जहां कुछ [सामान्य—] समानता [साधर्म्य अभेद] और कुछ [विशेष—] असमानता [वैधर्म्य-भेद] रहे।'

[यद्यपि प्राचीन आचार्यों में भामह और उद्भट ने अर्थालंकार का निरूपण रूपक से आरम्भ किया है और रुद्रट ने सहोक्ति से तथापि] ग्रंथकार ने (वामन के समान) उपमा का ही निरूपण पहले किया यह इसलिए कि [वामन के ही समान उन्होंने भी यह माना है कि] उपमा ही थोड़े थोड़े से अन्तर को लेकर अनेक अलंकारों में बीज का काम करती है।

[वामन, उद्भट और मम्मट] ने इसे पूर्ण और लुप्ता इन दो भागों में बाँटा है और उनके भी अनेक [उद्भट ने १७, मम्मट ने २५] भेद बतलाये हैं, [भामह और रुद्रट में ये भेद नहीं हैं] तथापि [कुछ और भी मार्मिक भेद किए जा सकते हैं यथा] कहीं साधारण धर्म [एक शब्द से कहे जाने पर भी] अनुगामी (उपमेय और उपमान दोनों में वे-रुकावट लागू होने वाला) होता है अतः उसे एक ही रूप में [एक ही शब्द से] प्रस्तुत किया जाता है किन्तु कहीं (वह अनुगामी नहीं होता एक शब्द से नहीं कहा जाता और) वस्तुप्रतिवस्तु-स्वरूप (एक होने पर भी भिन्न-भिन्न शब्दों से पृथक् पृथक् प्रतिपादित फलतः भिन्न प्रतीत होने वाला) रहता है अतः भिन्न-भिन्न रूपों में (पृथक् पृथक् शब्दों से) प्रस्तुत किया जाता है। वहाँ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतिपादित किया जाता है वहाँ भेद केवल सम्बन्धियों (उपमानोपमेयों) में रहता है (धर्म में नहीं) या तो (वहाँ साधारणधर्म में) बिम्बप्रतिबिम्बभाव (भिन्न होने पर भी सादृश्य के कारण (अभेदज्ञान) रहता है। (दोनों के) एक-एक करके उदाहरण—(साधारण धर्म का उपमान और उपमेय दोनों के लिए एक ही बार उपयोग अर्थात् अनुगामी साधारण धर्म का उदाहरण)—"वह पर्वतराज (हिमाचल) उस (नवजात) कन्या (पार्वती) से ठीक उसी प्रकार पवित्र भी हुआ और विभूषित भी जिस प्रकार पर्याप्त प्रकाशवाली (अग्नि) शिखा से दीप, (मन्दाकिनी)

गंगा से स्वर्ग-मार्ग (अन्तरिक्ष) (अथवा) संस्कृत भाषा से विद्वान् (पवित्र और विभूषित होता है' (कुमारसम्भव-१ सर्ग) ।

[यहाँ पूतत्व और विभूषितत्व दोनों धर्म साधारण धर्म हैं। इन्हें श्लोक में एक ही बार कहा गया है किन्तु ये उपमानभूत दीपक, स्वर्गमार्ग और विद्वान् तथा उपमेयभूत हिमालय दोनों में समन्वित हो जाते हैं अतः इन्हें अनुगामी कहा जा सकता है]

[वस्तुप्रतिवस्तुरूप से पृथक् पृथक् शब्दों द्वारा पृथक् पृथक् रूप से प्रस्तुत अतः अननुगामी साधारणधर्म का उदाहरण]—

['जब वह [मालतीमाधव की नायिका मालती] जा रही थी तो उसने अपनी ग्रीवा के साथ अपना चेहरा (मेरी ओर) घुमाया। (उस समय) वह ऐसा लग रहा था जैसे वृन्त (डंठल) के साथ तिरछा किया गया सौ पंखुड़ी का कमलपुष्प हो। उस स्थिति में घनी बरौनी वाला आँखों से जो कटाक्ष किया मेरे (माधव के) हृदय में बहुत ही गहराई से गड गया है। ऐसा लगता है कि वह अमृत और विष दोनों से बुझाया गया है।' (यहाँ अनुवाद में उपमान और उपमेय दोनों के लिए दो वाक्य हो गए हैं, मूल पद्य में वाक्य एक ही है वही होना भी चाहिए, अनुवाद में वैसा करने पर काव्यशिल्प मटियामेट हो जाता)

यहा [वलितत्व] घुमाव और आवृत्तत्व [तिरछापन] केवल सम्बन्धियों [आनन = चेहरा और शतपत्र = कमल] के भिन्न होने से भिन्न हैं स्वतः तो ये एक ही है] यदि इन धर्मों से युक्त [आनन और ग्रीवा तथा शतपत्र और वृन्त] वस्तुओं को लेकर उपमा मानी जाय तो उनमें तो [यहां भी बिम्ब प्रतिबिम्बभाव। सादृश्य के आधार पर प्रातीतिक अभेद] ही मानना होगा।

[मूलतः भिन्न साधारण धर्म के अलग अलग शब्दों से अलग-अलग रूप में प्रस्तुत किए जाने पर भी सादृश्य के आधार पर अभेद अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण]—

'पाण्ड्य देश का [विशालकाय] यह राजा कन्धों पर हार लटकाए हुए है और लाल चन्दन का अंगराग (लेप) लगाए हुए है अतः ऐसा सुशोभित हो रहा है जैसे कोई पर्वतराज हो जिसपर झरने बह रहे हों और जिसकी चोटियों पर सबेरे की लाली आई हो।'—(रघुवंश ६सर्ग)।

यहाँ [बिम्बभूत] हार और राग के लिए निर्झर बालातप प्रतिबिम्बरूप से प्रस्तुत किए गए है। [हार और निर्झर में लम्बायमानत्व तथा शुक्लत्व की समानता है अतः उनमें अभेद प्रतीत होता है। इसी प्रकार अगराग तथा बालातप में विस्तृतत्व तथा रक्तवर्णत्व की समानता है जिससे इनमें भी अभेद की प्रतीति होती है। इस प्रकार इन स्वगत साधारणधर्मों के कारण अभिन्न हुए हार + निर्झर अंगराग + बालातप राजा और पर्वत की उपमा में साधारणधर्म का काम कर देते हैं, अतः यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव मान्य है] ।

विमर्शिनी

उपमानेत्यादि। अर्थेति। शब्दालंकारनिर्णयानन्तरमवसरप्राप्तमित्यर्थः। ननूपमानोपमेययोरेव साधर्म्यं संभवति न कार्यकारणादिकयोरिति किं तदुपादानेनेत्याशङ्क्याह—उपमानेत्यादि। तत्रोपमानस्याप्रतीतत्वं लिङ्गभेदादिना प्राच्यैरुक्तम्। यथा—

'कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव।
मनस्तु साधुध्वनिभिः पदे पदे हरन्ति सन्तो मणिनूपुरा इव॥'

अत्र क्वणनादिधर्मस्योपमानेऽन्यतां करोतीति लिङ्गभेदो दुष्टः। यद्यपि साधारणधर्मस्योभयसंबन्धसंभवेऽपि सिद्धत्वादुपमाने तत्संबन्धस्य स्वयमेवावगमात् तस्य न शाब्दता

युक्तेत्युपमानपारतन्त्र्येण लिङ्गादिविपरिणामो न कार्य इति न लिङ्गभेदादेर्दुष्टत्वम्, तथाप्युपमानवाक्यस्य साकाङ्क्षत्वात्प्रतीतिविश्रान्तेः शाब्दस्तत्संबन्ध उपयुक्त एव। नहि प्रभामहत्याद्यावुपमानवाक्ये पूतत्वादिसंबन्धं विना समन्वयविश्रान्तिः स्यात्। केवलं समानधर्मस्योपमेये विधीयमानत्वमुपमाने चानूद्यमानत्वमितीयानेव विशेषः। तदुभयत्रापि तत्संबन्धस्यावश्योपयोगादुपपद्यत एव समानधर्मस्यानुगामित्वम्। तल्लिङ्गभेदादेरपि दुष्टत्वं युक्तम्। उपमेयस्याप्रतीतत्वमवर्णनीयस्यापि वर्णनीयत्वम्। यथा—

'गौरः सुपीवराभोगो रण्डाया मुण्डितो भगः।
मेरोरर्कहयोच्छीढ-शष्प-हेम-तटायते ॥'

अत्र तन्वङ्ग्या रूपवर्णने भगवर्णनमनौचित्यावहमित्युपमेयस्याप्रतीतत्वम्।

उपमानेत्यादि। अथेति अभिप्राय यह है कि अर्थालंकार का निरूपण शब्दालंकार निरूपण के पश्चात् अवसर प्राप्त है।

शंका=[मम्मट ने उपमा लक्षण में उपमानोपमेय का निवेशन कर कहा है कि] साधर्म्य उपमान उपमेय में ही रहता है कार्यकारण आदि में नहीं [इसलिए उन्होंने अपने उपमालक्षण "साधर्म्यमुपमा भेदे" में उपमान उपमेय का निवेश नहीं किया] तब यहाँ उनका उपादान क्यों किया जा रहा है। 'इसके उत्तर में कहते हैं'—उपमानेत्यादि। यहां जो उपमान का अप्रतीतत्व है उसमें [वामन आदि] प्राचीनों ने लिंगभेद आदि को कारण माना है। यथा—

'कटु बोलते और कालिख लगाते खल लोग बन्धनशृंखला के समान बहुत अधिक सताते हैं। इसके विरुद्ध सत्पुरुष मीठी वाणी से मणिनूपुर के समान पद पद में चित्तको हर लेते हैं। '[कादम्बरी आमुख]।'

यहाँ [उपमानभूत शृङ्खला स्त्रीलिंग है और क्वणन्तः पुंल्लिंग। इस प्रकार विशेषण विशेष्यों में] लिङ्गभेद[1] है और वह क्वणन आदि धर्म को उपमान में अन्वित नहीं होने देता इसलिए दोष भी है। यद्यपि साधारणधर्म का संबन्ध दोनों से होता है [अतः उसमें एकमात्र से संबन्ध रखने वाला दोष नहीं होना चाहिए] किन्तु उपमान के साथ उस [साधारण धर्म] का संबन्ध स्वतः विदित हो जाता है क्योंकि उपमान में वह [धर्म लोकप्रमाण से] सिद्ध रहता है [शृङ्खला आदि में कटुक्वणनादि धर्म लोकप्रसिद्ध हैं] निदान उसे शब्द द्वारा कहना युक्त या आवश्यक नहीं होता, फलतः उपमेयगत धर्म लिंग विपरिणाम द्वारा उपमान में भी लागू किया जाय यह भी आवश्यक नहीं है और इस स्थिति में लिंगभेद दोष नहीं ठहरता, तथापि उपमानवाक्य उसके ज्ञान तक साकांक्ष रहता है इसलिए प्रतीति अटकी न रहे, वह शीघ्र पर्यवसित हो सके इसलिए साधारणधर्म का सम्बन्ध उपमान के साथ भी शब्दतः कथित ही होना चाहिए। "प्रभामहत्या०" इत्यादि पद्यों में जबतक उपमानवाक्य में पूतत्वादि के संबन्ध प्रतीत नहीं हो जाते, समन्वय

१. 'स्तम्बेरमा मुखरशृङ्खलकर्षिणस्ते' [रघु० ५] आदि में शृङ्खलशब्द भी है। अनेकार्थ संग्रह में हेमचन्द्र ने इसे लोहरज्जुवाचक माना है और नपुंसकलिङ्गान्त। अमरकोष ने इसे पुरुष की करधनी का वाचक माना है किन्तु तीनों लिंगों में। यद्यपि रघुवंश के उक्त पद में हेमाद्रि और मल्लिनाथ ने शृङ्खलशब्द को नपुंसकलिङ्गान्त ही माना है तथापि लोहरज्जु के भी अर्थ में इसका प्रयोग पुंल्लिङ्गान्त संभव है तभी बाणभट्ट ने विशेषणवाची शब्द में पुंल्लिंगीय शतृप्रत्ययदिया है अतः यहां लिंगभेद मिटाया भी जा सकता है।

[पदार्थों का सवन्ध] तय नहीं हो पाता। अन्तर इतना ही रहता है कि साधारणधर्म उपमेय में विधेय रहता है और उपमान में उद्देश्य। इस प्रकार उपमान और [उपमेय] दोनों के साथ उपयोग आवश्यक होने से साधारण धर्म का अनुगामी [उभयान्वयी] होना उपयुक्त ही है। इसीलिए लिंगभेद आदि को दुष्ट मानना भी ठीक है।

उपमेय तब भी अप्रतीन होता है जब किसी अवर्णनीय का भी वर्णन कर दिया जाय। यथा—'राँड़ स्त्री का गोरा, चौड़ा चकला और मुण्डित भग [योनिवेदिका] मेरु के उस सुवर्ण तट के समान लगता है जिसकी घास सूर्य के घोड़ों ने चर ली हो।'

यहाँ किसी तन्वंगी के रूप का वर्णन करते करते उसके भग का वर्णन करना अनौचित्यकारी है इसलिए यहाँ उपमेय अप्रतीन है।

[सूत्रकार ने सूत्र में उपमान और उपमेय को स्थान देकर ऐसे उपमान उपमेय का परिहार आवश्यक माना है, अतः उनका सूत्रमें इन दोनों का उपयोग करना उचित है]

विमर्शिनी

भेदाभेदतुल्यत्वं व्याख्यातुं साधर्म्यस्य विषयविभागेन व्यवस्थितिं दर्शयति—साधर्म्य इत्यादिना। एतैरेव च त्रिभिः प्रकारैः साधर्म्याश्रयः समग्र एवालंकारवर्गः संगृहीतः। तेन व्यतिरेकवदित्यनेन सहोक्त्यादयः संगृहीताः रूपकवदित्यनेन परिणामोत्प्रेक्षादयः। किंतु रूपकोत्प्रेक्षयोरभेदप्राधान्यसद्भावेऽप्यारोपाध्यवसायकृत एव विशेषः। यद्वक्ष्यति—'आरोपादभेदेऽध्यवसायः प्रकृष्यते' इति। अतश्चाध्यवसायगर्भेष्वलंकारेषु शुद्धाभेदरूपश्चतुर्थः प्रकारो न कश्चिदाशङ्कनीयः। तत्राप्यभेदप्राधान्यस्यैव भावात्। अनयाप्युपमेयोपमादयः संगृहीताः। सामान्यमित्यभेदहेतुकम्। विशेष इति भेदहेतुकः। एवं च भेदाभेदतुल्यत्वविषये यः सादृश्यप्रत्ययो जायते तस्योपमाविषयत्वमुक्तम्। ननु च सत्स्वप्यनेकेष्वर्थालंकारेषु प्रथममियमेव किं निर्दिष्टेत्याशङ्क्याह—उपमैवेत्यादि। अनेकेऽलंकाराः साधर्म्याश्रयाः तत्रैवास्य बीजत्वात्। उक्तमिति।

'साधर्म्यमुपमा भेदे पूर्णा लुप्ता च साग्रिमा।
श्रौत्यार्थी च भवेद् वाक्ये समासे तद्धिते तथा॥' इत्यादिना।

अतश्च किमस्माकं तदाविष्करणेनेति भावः। एवं च तेषां गणने तथा न वैचित्र्यं किंचिदिति सूचितम्।

भेदाभेदतुल्यता की व्याख्या करने के लिए विषय विभाग द्वारा साधर्म्य की व्यवस्था दिखलाते हुए लिख रहे हैं—'साधर्म्य' इत्यादि। इन्हीं तीन भेदों में साधर्म्याश्रित सभी अलंकारों का संग्रह हो जाता है, इसलिए व्यतिरेक के समान ऐसा कहने से सहोक्ति आदि का संग्रह हो जाता है और रूपक के समान कहने से परिणाम, उत्प्रेक्षा आदि का। रूपक और उत्प्रेक्षा में अभेद प्राधान्य रहने पर भी अन्तर आरोप [रूपक] और अध्यवसाय [उत्प्रेक्षा] को लेकर होता है। जैसा कि कहेंगे—अभेद में आरोप की अपेक्षा अध्यवसाय उत्कृष्ट होता है। इसलिए अध्यवसायवाले अलंकारों में 'शुद्ध अभेद' नामक किसी चतुर्थ भेद की संभावना नहीं की जानी चाहिए। वहाँ भी अभेद की ही प्रधानता रहती है। इस [उपमा] के द्वारा उपमेयोपमा आदि का संग्रह किया गया।

सामान्य अभेद के आधार पर, विशेष भेद के आधार पर। इस प्रकार जहाँ भेद और अभेद दोनों की बराबरी रहती है वहाँ जो सादृश्य की प्रतीति होती है उसे उपमा का विषय

माना गया। [प्रश्न] "अर्थ के अलंकार तो और भी अनेक हैं, अर्थालंकारनिरूपण उनसे आरम्भ न कर उपमा से ही आरम्भ क्यों किया" इसपर उत्तर देते हुए लिखा—**उपमैव** इत्यादि। अनेक अलंकार कहने का अर्थ है वे अलंकार जो साधर्म्य पर आश्रित हैं क्योंकि उपमा केवल उन्हीं में बीजभूत होती है।

उक्तम् [पूर्णा लुप्ता आदि अनेक भेद कहे हैं] अर्थात् "साधर्म्यमुपमा भेदे पूर्णा लुप्ता०" [काव्यप्रकाश उ० १०] "भेद रहने पर समानधर्म का जो सम्बन्ध उसे उपमा कहा जाता है। वह दो प्रकार की होती है पूर्णा और लुप्ता। इनमें से प्रथम [पूर्णा] वाक्य, समास तथा तद्धित में श्रौती और आर्थी [इस प्रकार छ प्रकार की] होती है। यहाँ से लेकर आगे लुप्ता के १९ भेदों के निरूपण तक। अभिप्राय यह कि प्राचीन आचार्यों-द्वारा निरूपण कर दिए जाने से पुनः उनका निरूपण करना आवश्यक नहीं है। इससे यह भी ध्वनित हुआ कि प्राचीनों के इन भेदों में कोई चमत्कार नहीं है [रसगंगाधरकार ने भी यहां कहा है 'अस्याश्चोपमायाः प्राचामनुरोधेन केचिद् भेदा उदाह्रियन्ते' पृ० २१३ निर्णयसा० सं० ६]

विमर्शिनी

तत्रापीति। **चिरंतनोक्ते पूर्णत्वादिभेदनिर्देशे सत्यपीत्यर्थः**। साधारणधर्मस्येति। **धर्मः पराश्रितः, तस्य च तदतद्गामित्वात् साधारणत्वम्। तदेव चोपमाद्यस्थाने निमित्तम्। स च चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इति महाभाष्यप्रक्रियया जातिगुणक्रियाद्रव्यात्मकेषु धर्मिष्वेवंरूप एव भवति। न चैतद्विरुध्यते। धर्मिधर्मभावस्य न वास्तवत्वम्। जात्याद्यात्मनो धर्मिणोऽपि कदाचिदन्याश्रितत्वे धर्मत्वात्। एवं च तदतिरिक्तं धर्ममात्रमपि साधारणं न किंचिद्वाच्यम्। चतुष्टय्या एव शब्दानां प्रवृत्तेरुक्तत्वात्।**

'सद्यं बुभुजे महाभुजः सहसोद्वेगमियं व्रजेदिति।
अचिरोपनतां स मेदिनीं नवपाणिग्रहणां वधूमिव॥'

इत्यादावुपमानादौ क्रियारूपत्वादेर्योजयितुं शक्यत्वात् तस्य एव च समग्रविषयावगाहनसहिष्णुत्वात्। ननु जातेः साधारणधर्मत्वे तज्जातीयत्वात् तत्त्वं न स्यात्, न सदृशत्वमिति कथमुपमाङ्गत्वमस्याः स्यादिति चेत्, न। बिम्बप्रतिबिम्बभावाश्रयेण तथात्वाभावात्। तत्र ह्यसकृन्निर्देशाद् द्वयोर्हारादिकयोर्जात्योः श्वैत्याद्यभेदनिमित्तावलम्बनेनैकत्वमाश्रित्य सादृश्यनिमित्तं साधर्म्यं स्यात्। एतच्च सविस्तरमुपरिष्टाद् वक्ष्यामः।

तत्रापि=तब भी अर्थात् प्राचीनों के द्वारा निर्दिष्ट पूर्णा आदि २५ भेदों के रहने पर भी।

साधारणधर्मस्य=धर्म का अर्थ है जो दूसरे में रहे। वह जब दो भिन्न-भिन्न [तद् अतद्] वस्तुओं में रहता है तो साधारण कहलाता है। यही साधारण धर्म उपमादि अलंकारों के अलंकारत्व का कारण होता है। धर्मी चार प्रकार के होते हैं जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य, जैसा कि महाभाष्यकार ने कहा है "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः"। इन धर्मियों में ये ही चारों साधारण धर्मरूप भी होते हैं। [वह धर्मी का धर्मरूप होना] कोई विरुद्ध बात नहीं है, क्योंकि [काव्य में] धर्मधर्मिभाव [विवक्षाधीन अतः काल्पनिक, न कि भौतिक स्तर पर सत्य] आश्रयाश्रयिभावरूप से रहता है। इसीलिए धर्मधर्मिभाव वास्तविक नहीं होता। जाति आदि धर्मों भी यदि अन्याश्रित [रूप से प्रतिपादित] होते हैं तो धर्म मान लिए जाते हैं। इससे यह बात आती है कि इन [चार] के अतिरिक्त अन्य किसी को भी साधारण धर्म नहीं माना जा सकता क्योंकि शब्दों के अर्थ केवल चार ही (जाति आदि) बतलाए गए हैं"। "उस महाबाहु (राजा) ने तुरन्त प्राप्त

पृथिवी का भोग नवोढा वधू के समान यह सोचकर दया के साथ किया कि कहीं यह उद्वेजित न हो जाए।" यहाँ उपमान आदि में क्रियारूपत्वादि की योजना की जा सकती है और वही [क्रिया ही] यहाँ समप्रविभागावगाहनसहिष्णु है [अर्थात् क्रिया ही यहाँ उपमात्कार निष्पादक है]। (प्रश्न) जाति उपमा का अंग कैसे मानी जा सकती है क्योंकि न तो [उपमानोपमेयगत भिन्न-भिन्न] वे [जातियाँ] अभिन्न हो सकतीं क्योंकि वे अधिक से अधिक तज्जातीय ही हो सकती हैं और न इनमें परस्पर का सादृश्य ही रह सकता [क्योंकि दोनों सर्वथा भिन्न होंगी]। [उत्तर] ऐसा नहीं। जातियों के भेद की प्रतीति बिम्बप्रतिबिम्बभाव से मिट जाती है। 'पाण्ड्योऽ-यमंसार्पितलम्बहारः' आदि में, उपमान और उपमेय के साथ [बार-बार कथित हारत्वादि जातियों का श्वैत्य आदि के आधार पर ऐक्य हो जाएगा और उस [श्वैत्यादिजनित] सादृश्य के आधार पर इन [जातियों] का साधारणत्व भी निष्पन्न हो सकेगा। यह विषय और भी अधिक विस्तार में हम आगे बतलावेंगे।

विमर्शिनी

तत्र धर्मिणो जात्यादिरूपता यथा—

> 'घनोद्यानच्छायामिव मरुपथाद्, दावदहनात्
> तुषाराम्भोवापीमिव विषविपाकादिव सुधाम्।
> प्रवृद्धादुन्मादात् प्रकृतिमिव निस्तार्यविरहा-
> त्त्वमेय त्वद्भक्तिं निरुपमरसां शंकर कदा॥'

अत्र च्छायावापीसुधाप्रकृतीनामुपमानानां जातिगुणद्रव्यक्रियात्वम्। छायायास्तु जाति-रूपत्वाद् गुणत्वं नाशङ्कनीयम्। उपमेयस्य पुनरंतरस्त्वयमेवाभ्यूह्यम्।

जात्यादि की धर्मिरूपता का उदाहरण—

"मरुपथ से घनोद्यानछाया के समान, दावाग्नि से शीतलजलवापी के समान, विषविपाक से सुधा के समान, प्रवृद्ध उन्माद से प्रकृति [स्वस्थचित्तता] के समान दुस्तर विरह से आपकी भक्ति को हे भगवान् शंकर मैं कब पाऊँगा।"

यहाँ छाया, वापी, सुधा और प्रकृति क्रमशः जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया रूप हैं (?)। छाया जातिरूप है। उसमें गुणत्व की शंका नहीं करना चाहिए। उपमेय में ये [जाति आदि] स्वयमेव समझ लेनी चाहिए। [इसी श्लोक में विरह और भक्ति उपमेय हैं इनमें विरह जातिवाचक शब्द हो सकता है क्योंकि वह अभाव पदार्थ है और विरह अनेक हो सकते हैं, जिनमें विरहत्व जाति रह सकती है, भक्ति रागात्मक भावतत्त्व है जो स्पष्टरूप से गुण है। द्रव्य के रूप में यहाँ शंकर भगवान् को उपमेय माना जा सकता है। प्राप्तक्रिया यदि छाया आदि प्रत्येक के साथ लागू की जाय तो वह भी भक्ति के साथ उपमेय बन सकती है]

विमर्शिनी

धर्माणां तु यथा—

> 'वैदेहि पश्य मलयाद् विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
> छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम्॥'

अत्र विभक्तमित्यस्य क्रियात्वं रामसेतुच्छायापथयोर्द्रव्यत्वं फेनतारकाणां जातित्वं प्रसादस्य च गुणत्वं द्व्यामकाशाम्बुराशिगतत्वेनोपनिबद्धम्। एवं प्रकृतामेव महाभाष्यप्रक्रियामपहाय निर्निमित्तमेव प्रक्रियान्तरमाश्रित्य यदन्यैरुक्तं तदयुक्तमेवे-

त्यलं बहुना। एवंविधस्य चास्य भावाभावरूपतया द्वैविध्यम्। एतच्च न तथा वैचित्र्यावहमिति ग्रन्थकृता नोक्तम्।

धर्मों की जात्यादिरूपता यथा—

'हे वैदेहि! देखो फेन से युक्त यह अम्बुराशि मेरे सेतु से मलयाचल पर्यन्त दो भागों में बँट गया है, ठीक उसी प्रकार जैसे आकाशगंगा से सुन्दरतारों भरा शरत्कालीन निर्मल आकाश।'

यहाँ विभक्त होना [बँटना] क्रियारूप है, रामसेतु और छायापथ (आकाशगंगा) द्रव्यरूप हैं, फेन और तारे जातिरूप हैं तथा प्रसन्नता (निर्मलता) गुणरूप। ये सब आकाश और अम्बुराशि में विद्यमान बतलाए गए हैं जो द्रव्यात्मक हैं। इस प्रकार महाभाष्य की प्रकृत [प्रसिद्ध] प्रक्रिया को छोड़कर [उद्भट, मम्मट, और रत्नाकरकार] अन्य आचार्यों ने अकारण ही [पूर्णा लुप्ता आदि की] जो, दूसरी प्रक्रियाएँ अपनाई हैं वह ठीक नहीं है। हम इस प्रसंग को यहीं समाप्त करते हैं। इस प्रकार [चार प्रकार] का यह [साधारण धर्म] भावात्मक भी होता है और अभावात्मक भी किन्तु इसमें कोई चमत्कार नहीं है इसलिए ग्रन्थकार ने इसका प्रतिपादन नहीं किया।

विमर्शिनी

एकरूप्येणेति। सकृत्। यद्वक्ष्यति—'तत्र सामान्यधर्मस्यैवाद्युपादाने सकृन्निर्देश उपमा' इति। पृथङ्निर्देश इति। असकृदित्यर्थः। यद्वक्ष्यति—'वस्तुप्रतिवस्तुभावेनासकृन्निर्देशेऽपि सैव' इति। साधारणधर्मस्येत्यत्रापि संबन्धनीयम्। वस्तुप्रतिवस्तुभावेऽपि द्वैविध्यमित्याह—पृथङ्निर्देश इत्यादि। सम्बन्धिभेदमात्रमिति। न पुनः स्वरूपभेदः कश्चिदित्यर्थः। यद्वक्ष्यति—असकृन्निर्देशे शुद्धसामान्यरूपत्वं बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा' इति। एतच्च भेदत्रयं प्रायः सर्वेषामेव सादृश्याश्रयाणामलंकाराणां जीवितभूतत्वेन संभवतीत्यत्र एव तत्र तत्रोदाहरिष्यामः। क्रमेणेति यथोद्देशम्। सम्बन्धिभेदादिति। संबन्धिनोः कंधरावृन्तयोर्भेदात्। न तु हारनिर्झरादिवत्स्वरूपतो भेदः। वस्तुत एकत्वाद्वलितत्वावृत्तत्वयोरभेदः। ननु यदि वलितत्वावृत्तत्वाख्यो धर्म आननशतपत्रयोः शुद्धसामान्यरूपतयोपात्तस्तद्धर्मी कंधरावृन्तरूपः पुनः किंरूपतयेत्याशङ्क्याह—धर्म्यभिप्रायेणेत्यादि। एवकारः शुद्धसामान्यरूपत्वव्यवच्छेदकः। कंधरावृन्तयोश्च यथोक्ते धर्मित्वेऽप्याननशतपत्रापेक्षया धर्मत्वमेव युक्तम्। आश्रयाश्रयिभावेन धर्मिधर्मभावस्य भावात्। अत एवास्यावास्तवत्वं पूर्वमुक्तम्। अतश्चाननशतपत्रापेक्षया इति न व्याख्येयम्। तयोरुपमानोपमेयभावबाधोयुक्तेरेव युक्तत्वात्। एवं च सति कंधरावृन्तयोः स्वरूपमनभिमतं स्यात्। अनेनैव च बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य स्वरूपे दर्शितेऽप्यसंकीर्णप्रकटनाशयेन पुनः 'पाण्ड्योऽयम्' इत्याद्युदाहृतम्।

सकृत् एक बार [निर्देश] जैसा कि कहेंगे—'उनमें सामान्यधर्म का, इत्यादि शब्दों का उपादान होने पर यदि एक ही बार निर्देश हो तो उसे उपमा कहा जाता है।' पृथक् निर्देश अर्थात् अनेक बार निर्देश, जैसा कि कहेंगे—'वस्तुप्रतिवस्तुभावपूर्वक [साधारणधर्म का] एकाधिक बार निर्देश होने पर भी वही [उपमा ही] होती है।' इस वाक्य में "साधारण धर्म का" इतना और जोड़ देना चाहिए [हमने जोड़ दिया है]। वस्तुप्रतिवस्तु भाव जहाँ होता है वहां भी दो भेद होते हैं इस बात को पृथक् निर्देश इत्यादि के द्वारा बतलाया। सम्बन्धिभेदमात्र न कि किसी प्रकार का स्वरूपभेद, जैसा कि कहेंगे—"[साधारण के] अनेक बार कहे जाने पर या तो वह शुद्ध सामान्यरूप रहता है या उसमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव रहता है।' ये तीन भेद सादृश्यमूलक प्रायः सभी अलंकारों में प्राण का काम करते हैं इसलिए इन्हें जहाँ तहाँ शुरू शुरू में ही बतलाते रहेंगे। क्रमेण = क्रम से अर्थात् जिस क्रम से नामोल्लेख किया गया है। संबन्धिभेद से

मत्वन्धियों अर्थात् कन्धरा और वृन्त के भेद से। वस्तुत [वलितत्व और आवृत्तत्व में] वैसा स्वरूपभेद नहीं है जैसा हार और निर्झर में है। मूलत एक होने से वलितत्व और आवृत्तत्व [शब्दभेद होने पर भी] अभिन्न ही हैं। यदि वलितत्व और आवृत्तत्व आनन तथा शतपत्र में शुद्धसामान्यरूप से उपात्त हैं तो प्रश्न उठता है कि उनके धर्मी कन्धरा (ग्रीवा) और वृन्त (वेंट) किस रूप से उपात्त हैं। इस पर उत्तर देते हैं—"धर्म्यभिप्रायेण०" एव शब्द यहा शुद्धसामान्यरूपता का निवर्त्तक है। कन्धरा और वृन्त यद्यपि उपर्युक्त क्रम से धर्मी ही हैं तथापि आनन और शतपत्र की अपेक्षा वे धर्मरूप भी हो सकते हैं। क्योंकि (काव्य में) धर्मधर्मिभाव आश्रयाश्रयिभावरूप से व्यवस्थित होता है। इसीलिए [अभी कुछ ही] पहले इसे अवास्तविक भी कहा है। इसीलिए व्याख्या में "आनन और शतपत्र की अपेक्षा" ऐसा कहना भी ठीक नहीं है [वस्तुत यह संशोधन वृत्ति द्वारा प्रस्तुत "धर्म्यपेक्षया"–इस विचार पर है] उपमानोपमेयभाव की वाचोयुक्ति ही उनमें उपयुक्त और उचित है। [अर्थात् कन्धरा और वृन्त में उपमानोपमेयभाव ही मानना पर्याप्त तथा उचित है, बिम्बप्रतिबिम्बभाव द्वारा अभेद नहीं] ऐसे [धर्मरूप मान लेने पर] तो कन्धरा और वृन्त के अपने स्वरूप अनभिमत [व्यर्थ] सिद्ध हो जावेंगे। [इसलिए इनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं मानना चाहिए] और इसी अभिप्राय से "पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः" यह पृथक् उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसमें केवल बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही है वस्तुप्रतिवस्तुभाव नहीं। वस्तुप्रतिवस्तुभाव से संकीर्ण बिम्बप्रतिबिम्बभाव तो इसी "कान्त्या मुद०" पद्य से [कन्धरावृन्त में उपर्युक्त क्रम से बिम्बप्रतिबिम्बभाव मानने के कारण] स्पष्ट हो सकता था।

विमर्शिनी

हाराङ्गरागयोरिति। स्वरूपयोरिति शेष। न चात्र बिम्बप्रतिबिम्बभावस्य विषयान्तरं प्रदर्श्य वाक्यार्थगतामुपमामाशङ्क्य गुणसाम्यनामा चतुर्थ प्रकारो वाच्यः। यावता हि साधारणधर्मनिबन्धनमुपमास्वरूपम्, स चात्र धर्मो निर्दिष्टानिर्दिष्टत्वेन द्विविध। निर्देशपक्षे चास्य त्रैविध्यमुक्तम्। अनिर्देशपक्षे चास्य न वैचित्र्यं किंचिदिति न तदाश्रयं भेदजातमुक्तम्। अतश्चात्र निर्दिष्ट साधारणधर्मो व्यवस्थित इति का नाम चतुर्थप्रकारकल्पना। वाक्यार्थोपमागन्धोऽप्यत्र नास्ति। स ह्यनेकेषा धर्मिणा परस्परावच्छिन्नानां तादृशैरेव धर्मिभि साम्ये भवति। यथा—

> 'जनयित्र्याः कुलाल्याश्च रक्षित्र्या विदितोऽभवत्।
> राजसूतेर्भुजंग्याश्च प्रच्छन्न इव शेवधि॥'

अत्र जनयित्र्यादीनां राजसूत्यादीन्युपमानान्युपात्तानि। एतेषा धर्मित्व च स्फुटमेव। बिम्बप्रतिबिम्बभाव पुनर्धर्मिविशेषप्रतिपादनोन्मुखानां धर्माणां भवति। परस्परावच्छिन्नत्वं यथात्रैव। अत्र हि हाराङ्गरागयो पाण्ड्यस्य विशिष्टतापादनार्थमेवोपादानम्। इन्दुमतीं प्रति तस्य विशिष्टालम्बनविभावत्वेन विवक्षितत्वात्। अतश्च तयो परस्परोन्मुखत्वाभावात्स्वात्मन्येवाविश्रान्तिरिति का कथोपमेयतायाः। एवं पाण्ड्यस्याद्रिराजेन हारनिर्झरादिधर्मनिमित्तैवोपमा, तावन्मात्रेणैव सादृश्यपर्यवसानात्। तच्च हारादे साधारणधर्मस्य बिम्बप्रतिबिम्बत्वाद् दृष्टान्तन्यायस्यैतत्सूदाहरणमेव।

–हारांगरागयो हार और अंगराग के अर्थात् उनके स्वरूप के [न कि उनमें विद्यमान जाति के प्रतिबिम्ब]। [वामन ने 'पाण्ड्योऽयमंसार्पित०' पद्य में वाक्यार्थोपमा मानी है द्रष्टव्य ४।२।३-काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, टीकाकार इसपर संशोधन करते हुए लिख रहे हैं—] "यह कहा जा सकता

है कि यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव का विचार विषयान्तर है, क्योंकि विचार प्रस्तुत है उपमा का, फलतः यहाँ वाक्यार्थोपमा माननी चाहिए और उसे उपमा का गुण साम्यमूलक एक चौथा प्रकार स्वीकार कर लेना चाहिए।" किन्तु यह कहना ठीक नहीं है, कारण कि उपमा का जो स्वरूप है वह निर्भर है साधारणधर्म के ऊपर, और जो साधारणधर्म है वह दो प्रकार का होता है निर्दिष्ट और अनिर्दिष्ट। निर्देशपक्ष में उसके तीन प्रकार बतलाए हैं। अनिर्देशपक्ष में उसमें कोई चमत्कार नहीं रहता अतः उससे संभव भेदों का निरूपण नहीं किया है। इस प्रकार इस प्रसंग में क्योंकि केवल निर्दिष्ट साधारण धर्म का ही विचार किया गया है अतः (अनिर्दिष्ट साधारणधर्मरूप गुण-साम्यमूलक) चतुर्थ भेद का प्रश्न ही नहीं उठता। जहां तक वाक्यार्थोपमा का संबन्ध है वहां उसकी गन्ध भी नहीं है। वह तो तब होती है जब परस्पर संबद्ध अनेक धर्मियों का वैसे ही धर्मियों से साम्य दिखलाया जाता है। जैसे—'वह केवल जन्म देने वाली माँ और रक्षा करने वाली कुलाली = कुम्हारिन ही जानती थी उसी प्रकार जिसप्रकार छिपे हुए कोप को रत्नगर्भा पृथिवी और सर्पिणी [रत्नसूति = रत्न उपजानेवाली भूमि पर प्रायः सर्पिणी या सर्प रहते हैं]'।) यहाँ माँ आदि [आदि पद से कुलाली और 'स' इस पद से कथित व्यक्ति के लिए रत्नसूति आदि [आदि-पद से भुजंगी और शेवधि या कोष] उपमानरूप से अपनाए गए हैं। इनका धर्मित्व और परस्पर में संबद्धत्व स्पष्ट ही है। बिम्बप्रतिबिम्बत्व जो होता है वह उन धर्मों में होता है जो किसी विशिष्ट धर्मी का प्रतिपादन करने के लिए होते हैं। जैसे इसी [पाण्ड्योऽयमंसा०] पद्य में ही। इसमें हार और अंगराग का जो उपादान है वह पाण्ड्यराज में विशेषता लाने के लिए ही। यह भी इस-लिए कि कवि उसे इन्दुमती के प्रति विशिष्ट [असामान्य] आलम्बन विभाव के रूप में चित्रित करना चाहता है। इसीलिए वे [हार और अंगराग] परस्पर के प्रति उन्मुख हैं इसलिए वे अपने आप में विश्रान्त तक नहीं हो पाते, उनमें उपमेयता की बात ही कैसे की आ सकती है। इस प्रकार पाण्ड्य और अद्रिराज की उपमा हार और निर्झर आदि धर्मों पर ही निर्भर है। उन दोनों में सादृश्य का बोध केवल इन्हीं धर्मों से होता है। और वह [सादृश्य] ज्ञात होता है हार आदि धर्मों के बिम्बप्रतिबिम्बभाव से अतः इनमें दृष्टान्त जैसी स्थिति का बतलाया जाना उचित ही है।

विमर्शिनी

ननु हारनिर्झरयोस्तदतद्वामित्वाभावात्कथं साधारणधर्मतेति चेत्, उच्यते—

अस्यास्तावद्धर्मस्य साधारण्यं जीवितम्। तच्च धर्मस्यैकत्वे भवति। न च वस्तुतोऽत्र धर्मस्यैकत्वम्। नहि य एव मुखगतो लावण्यादिर्धर्मः स एव चन्द्रादौ, तस्यान्वयासंभवात्। अपि तु तज्जातीयोऽन्योऽस्ति धर्मः। एवं धर्मयोर्भेदात्साधारणत्वाभावादुपमायाः स्वरूपनिष्पत्तिरेव न स्यात्। अथ धर्मयोरपि सादृश्यमभ्युपगम्यते तत्रापि सादृश्य-निमित्तमन्यदन्वेष्यम्। तत्राप्यन्यदित्यनवस्था स्यात्। ततश्च धर्मयोर्वस्तुतो भेदेऽपि प्रतीतावेकतावसायाद्भेदेऽप्यभेद इत्येतन्निमित्तमेकत्वमाश्रयणीयम्। अन्यथा ह्युपमाया उत्थानमेव न स्यात्। एवमिहापि हारनिर्झरादीनां वस्तुप्रतिवस्तुतयोपात्तानां वस्तुतो भेदेऽप्यभेदविवक्षयैकत्वं ग्राह्यम्। अन्यथा ह्येषां पाण्ड्याद्रिराजयोरौपम्यसमुत्थाने निमित्तत्वमेव न स्यात्। न चैषामौपम्यं युक्तमिति समनन्तरमेवोक्तम्। अत एवात्र बिम्ब-प्रतिबिम्बभावव्यपदेशः। लोको हि दर्पणादौ बिम्बात्प्रतिबिम्बस्य भेदेऽपि मदीयमेवात्र वदनं संक्रान्तमित्यभेदेनाभिमन्यते। अन्यथा हि प्रतिबिम्बदर्शने कृशोऽहं स्थूलोऽहमित्या-द्यभिमानो नोदियात् भूषणविन्यासादौ च नायिका नाद्रियेरन्। प्राच्यैरपि—

'स मुनिर्लाञ्छितो मौञ्ज्या कृष्णाजिनपटं वहन्।
व्यराजन्नीलजीमूतभागश्लिष्ट इवांशुमान् ॥' इति,

तथा—स पीतवासाः प्रगृहीतशार्ङ्गो मनोज्ञभीमं वपुराप कृष्णः।
शतह्रदेन्द्रायुधवान्निशायां संसृज्यमानः शशिनेव मेघः ॥'

इत्यत्र मौञ्जीतडितोः शङ्खशशिनोश्च वस्तुतो भेदेऽप्यभेदविवक्षामेवाश्रित्य साधारणधर्मस्य हीनत्वमाधिक्यं चोक्तम्। अत एव चात्र पूर्वं ग्रन्थकृता वस्तुप्रतिवस्तुभाववद् वस्तुद्वयस्य प्राच्योक्तमेव व्यवहारं दर्शयितुं प्रतिवस्तूपमावद् दृष्टान्तवच्चेति तदुक्तमेव दृष्टान्तद्वय दत्तम्। एवं चाग्राभेदविवक्षैव जीवितम्।

प्रश्न उठता है कि [जिसमें (पाण्ड्य में) हार है उसमें निर्झर नहीं और जिसमें (पर्वत में) निर्झर है उसमें हार नहीं इस प्रकार] हार और निर्झर दोनों में से कोई भी परस्पर भिन्न दोनों वस्तुओं [पाण्ड्य और पर्वत] में रहने वाला नहीं है [दोनों एकही एक में रहते हैं] अतः ये साधारण धर्म कैसे माने जा सकते हैं। उत्तर में कहा जाता है कि इस [उपमा] का प्राण है धर्म का साधारण्य। वह [साधारण्य] तभी होता है जब धर्म एक हो [भिन्न नहीं और धर्म यहाँ वस्तुतः एक नहीं है। ऐसा नहीं कि जो लावण्य आदि धर्म मुख [आदि] में रहता है वही चन्द्र आदि में रहता हो क्योंकि उस [मुखगत धर्म] का [चन्द्रादि से] सम्बन्ध [ही] सम्भव नहीं। चन्द्रादि में जो धर्म रहता है वह मुखादिगत लावण्यादिकधर्म का सजातीय और उससे कोई भिन्न धर्म होता है। इस प्रकार धर्मों के भिन्न होने से साधारणता नहीं बनेगी फलतः उपमा का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं होगा।

यदि धर्मों में भी अभेद के लिए सादृश्य स्वीकार किया जाता हो तो वह सादृश्य अपनी सिद्धि के लिए किसी अन्य सादृश्य की अपेक्षा रखेगा और वह [तीसरा सादृश्य] भी [अपनी सिद्धि के लिए] अन्य [किसी चौथे] सादृश्य की। इस प्रकार अनवस्था आ पड़ेगी। इसलिए धर्मों में वस्तुतः भेद रहने पर भी प्रतीति में एकता ही भासित होती है अतः "अतः भिन्नता होने पर भी अभेद" इस तथ्य को निमित्त मानकर [चन्द्रादिगत और मुखादिगत] भिन्न भिन्न धर्मों में अभेद मान लेना पड़ता है। ऐसा न मानने पर [मुख और चन्द्र आदि में] उपमा कभी ही नहीं हो सकेगी। इसी प्रकार यहाँ [पाण्ड्योऽयमंसार्पित० में] भी हार और निर्झर आदि वस्तुप्रतिवस्तुरूप से (?) उपात्त हैं, इनमें वस्तुतः भेद है तथापि विवक्षा अभेद की है इसलिए एकता मान लेनी चाहिए। नहीं तो ये [हार निर्झर] पाण्ड्य तथा पर्वत की उपमा में निमित्त ही नहीं बन सकेंगे। इनमें उपमा तो बनती ही नहीं [क्योंकि ये तो परस्परोन्मुख रहते हैं, आत्मविश्रान्त नहीं] ऐसा अभी कुछ ही पहिले कहा है। इसीलिए यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव [शब्द] का व्यवहार होता है। कोई भी व्यक्ति बिम्ब से [स्थानभेद आकारभेद आदि के कारण] प्रतिबिम्ब का भेद रहने पर भी "मेरा ही मुख दर्पण में सङ्क्रान्त हुआ है" इस प्रकार दोनों में अभेद ही मानता है। नहीं तो प्रतिबिम्ब देखकर 'मैं दुबला हूँ या मोटा हूँ' यह भाव उसमें उदित नहीं हो सकता और स्त्रियाँ भी [दर्पण में देखकर अंग प्रत्यंग में] भूषणों का विन्यास करने में प्रवृत्त नहीं हो सकतीं। प्राचीन आलङ्कारिकों ने भी—"मौंजी मेखला बाँधे तथा कृष्णमृगचर्म पहने वे मुनि नीलमेघ के टुकड़े से घिरे सूर्य जैसे लग रहे थे" इस पद्य में [वामन तथा मम्मट ने] तथा—'कृष्ण भगवान् पीताम्बर पहने थे और शार्ङ्ग धनुष लिए हुए थे। उनका स्वयं का शरीर श्यामसुन्दर और विशाल था। इस प्रकार वे बिजली, इन्द्रधनुष और चन्द्रमा से युक्त हो रहे रात्रिकालीन मेघ जैसे लग रहे थे" इस पद्य में [मम्मट ने] मौंजी और बिजली तथा शंख और

चन्द्र का वस्तुतः भेद होने पर भी अभेद की विवक्षा को ही लेकर साधारणधर्मत्व माना है और उसमें हीनता [प्रथम उपमा में तडित् की] और अधिकता [द्वितीय उपमा में चन्द्र की] बतलाई है और इसी कारण यहाँ ग्रन्थकार ने भी [उदाहरण देने के] पहिले वस्तुतः वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त दो वस्तुओं में प्राचीन आचार्यों द्वारा किया गया व्यवहार दिखलाने के उद्देश्य से दो उदाहरण दिए, एक प्रतिवस्तूपमा का और दूसरा दृष्टान्त का। इस प्रकार यहाँ [पाण्डयों० इत्यादि स्थलों की उपमा में] अभेद की विवक्षा ही प्राण है।

विमर्श—टीकाकार ने इस मार्मिक विवेचन के अन्त में यहाँ तो बिम्बप्रतिबिम्बभाव को प्राचीनाभिमत बतलाकर "पाण्ड्योऽयम०" इत्यादि स्थलों की उपमा में वस्तुप्रतिवस्तुभाव को ही ग्रन्थकाराभिमत बतलाया है, किन्तु पहिले उसी प्रकरण में वे इन स्थलों में कन्धरा-वृन्त आदि के बीच उपमा स्वीकार कर आए हैं और आगे भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही स्वीकार करेंगे। उनके इस बौद्धिक पलायन में कोई ठोस आधार नहीं है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव और वस्तुप्रतिवस्तुभाव दोनों में एक तथ्य सामान्य है। वह है भेद और अभेद की समष्टि। वस्तुप्रतिवस्तुभाव में ज्ञानधारा प्रातिभासिक भेद से पारमार्थिक अभेद की ओर बढ़ती है जब कि बिम्बप्रतिबिम्बभाव में पारमार्थिक भेद से प्रातिभासिक अभेद की ओर। इस प्रकार ज्ञानधारा की प्रवृत्ति भी दोनों एक ही है भेद से अभेद की ओर। अन्तर केवल भेद तथा अभेद में दोनों भावों की विपरीत स्थिति का है। इस प्रकार "यान्त्या मुहुर्वलित०" में कन्धरा और वृन्त दोनों 'पाण्ड्योऽयम्०' के हार और निर्झर के समान ही वस्तुतः भिन्न और विवक्षया अभिन्न होने से बिम्बप्रतिबिम्बभावयुक्त ही हैं। चाहें तो टीकाकार प्रथम पद्य में आवृतत्व और वलितत्व के वस्तुप्रतिवस्तुभाव को प्रधान मान सकते हैं और कन्धरावृन्त के बिम्बप्रतिबिम्बभाव को अप्रधान, किन्तु उसे वे अमान्य नहीं ठहरा सकते। परस्परोन्मुखता से उनका अर्थ नहीं बदल जाता जो उन्हें आत्मविश्रान्त न माना जा सके।

विमर्शिनी

एषा च लक्ष्ये सुप्रचुरैव। यथा—

> 'विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
> संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
> अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
> प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥'

अत्र विद्युद्वनितादीनां मेघप्रासादविशिष्टताधायकतया धर्मत्वेनैवोपादानम्। अत एव तैस्तैर्विशेषैरित्युक्तम्। तेषां सकृन्निर्देशाभावान्नानुगामिता। एकार्थत्वाभावान्न शुद्धसामान्यरूपत्वमिति पारिशेष्याद्बिम्बप्रतिबिम्बभाव एव। एतेषां चाभेदेनैव प्रतीतेः साधारणत्वम्। एवं हारादेरपि ज्ञेयम्। अभेदप्रतीतिश्चात्र सादृश्यनिमित्ता। न चैतावतैवैषामुपमानोपमेयत्वं वाच्यम्। तथात्वाविवक्षणात्। सादृश्यस्य च सितत्वादिगुणयोगित्वं नाम निमित्तम्। एवमभेदप्रतीतिमुखेनात्र हारादेः समानधर्मत्वम्। क्वचिन्निमित्तान्तरेणाप्यभेदप्रतीतिर्भवति। यथा—

> 'द्वेष्योऽपि संमतः शिष्टस्तस्यार्तस्य यथौषधम्।
> त्याज्यो दुष्टः प्रियोऽप्यासीद् दष्टोऽङ्गुष्ठ इवाहिना॥'

अत्रोत्तरार्धे दष्टदुष्टयोर्दोषकारित्वादिना एककार्यकारित्वमभेदकारणमित्यलं बहुना।

[बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक] यह [उपमा] काव्यों में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त है। यथा-"हे मेघ ! [अलका के] प्रासाद उन उन विशेषणों से तुम्हारी समानता भलीभाँति कर सकते हैं। तुम्हारे पास विद्युत् है उनमें ललितवनिताएँ हैं, तुम इन्द्रचाप से युक्त हो उनमें चित्र बने हैं, तुममें स्निग्ध और गम्भीर घोष है उनमें संगति के लिए मृदंग बजते रहते हैं, तुम्हारे भीतर जल है वे भी मणिमय भूमि से युक्त हैं, तुम बहुत ऊँचे हो और उनके शिखर भी गगनचुंबी हैं।' यहाँ विद्युत और वनिता आदि का उपादान मेघ और प्रासाद में विशिष्टता लाने वाले धर्म के रूप में ही किया गया है, इसीलिए [स्वयं कविने] 'उन-उन विशेषों द्वारा, इस प्रकार उन्हें विशेष अर्थात् धर्म कहा है। किन्तु ये अनुगामी धर्म नहीं हैं क्योंकि उनका निर्देश अलग-अलग किया गया है। न वे शुद्धसामान्य स्वरूप हैं क्योंकि उनमें एकार्थकता नहीं है। इसलिए अब उनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही शेष बचता है। इन्हें जो साधारण धर्म कहा है वह केवल इसलिए कि इनकी प्रतीति अभिन्नरूप से होती है। हार आदि के विषय में भी यही समझना चाहिए। और अभेद की जो प्रतीति है वह यहाँ सादृश्यमूलक है। किन्तु इतने भर से [सादृश्यमात्र होने से] इनमें उपमानोपमेयभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि इनकी उस रूप में यहाँ विवक्षा नहीं है। सादृश्य का निमित्त [हार निर्झर आदि में]सफेदी रूपी गुण से युक्त होना है। इस प्रकार अभेद प्रतीति के द्वारा यहाँ हार आदि साधारण धर्म बन जाते हैं।

कहीं दूसरे निमित्तों से भी अभेद प्रतीति होती है। यथा—"उस [दिलीप] को द्वेष्य व्यक्ति भी यदि शिष्ट होता था तो मान्य होता था जैसे बीमार को औषधि। इसके विरुद्ध प्रिय व्यक्ति भी यदि दुष्ट होता था तो त्याज्य होता था जैसे सर्पदष्ट अँगूठा।' [रघुवंश—१, रघुवंश में चतुर्थचरण 'अङ्गुलीवोरगक्षता' है। टीकाकार ने यह पाठ कदाचित् उपमानोपमेय में पूर्वार्द्ध के समान लिंगैक्य के लिए पसन्द किया या स्वयं बनाया हो] यहां [सर्प] दष्ट [अङ्गुष्ठ] और दुष्ट इनमें अभेद एक कार्यकारित्व के आधार पर है दोषकारित्वादि गुण दोनों में ही रहते हैं। अस्तु, अधिक विस्तार से लाभ नहीं।

विमर्शिनी

इयं च द्वयोरपि प्रकृतयोरप्रकृतयोश्चौपम्ये समुचिता भवति। क्रमेण यथा—

'सदय बुभुजे महाभुजः' इत्यादि। अत्र वधूमेदिन्योरचिरोपनतत्वात्प्रकृतत्वेन सदयोपभोगे समुचितत्वम् यथा—

> 'स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
> अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना॥'

अत्र भगवत्यपेक्षयान्यपुष्टावितन्त्र्योरप्रकृतयोः प्रतिकूलशब्दत्वे समुचितत्वम्।

इयमेकदेशविवर्तिन्यपि। यथा—

> 'कमलदलैरधरैरिव दशनैरिव केसरैर्विराजन्ते।
> अलिवलयैरलकैरिव कमलैर्वदनैरिव नलिन्यः॥'

अत्र नलिनीनां नायिका उपमानत्वेन नोपात्ता इत्येकदेशविवर्तित्वम्। इयं च सादृश्यदार्ढ्यार्थं कविप्रतिभाकल्पिते साधर्म्ये कल्पिता भवति। तच्च क्वचिदुपमेयगतत्वेन क्वचिदुपमानेनापि कल्पितमिति द्विधात्वमस्याः। यदुक्तम्—

'उपमेयस्य वैशिष्ट्यमुपमानस्य वा क्वचित्' इति। वैधर्म्येणापि साधर्म्यमिति तृतीयः प्रकारः पुनरस्या न वाच्यः। अस्योपमायामेव संभवाद्दार्ढ्यप्रतिपादनप्रतीतेश्च।

यह [उपमा] ऐसे दो पदार्थों के साधर्म्य में भी होती है जिनमें से दोनों ही प्रकृत होते हैं या दोनों ही अप्रकृत। क्रम से उदाहरण यथा [दोनों प्रकृत की उपमा] "सदयं बुभुजे महाभुजः०" इत्यादि [पूर्वोदाहृत पद्य में] यहाँ वधू और मेदिनी दोनों ही अचिरोपनत [तुरन्त पास आई प्राप्त] हैं। अतः दोनों ही प्रकृत है फलतः सदय उपभोग में दोनों का ही समुच्चय है। [अप्रकृतों की ही उपमा] यथा—"उस [पार्वती] की वाणी बड़ी ही अभिजात थी। जब वह बोलती थी तो उसका स्वर अमृत सा बरसाता था। तब कोकिला की कूक भी सुनने वाले को वैसे ही प्रतिकूल लगती थी जैसे [वीणा की] झनकारी गई कोई उल्टी तन्त्री [तार]।[कुमार–१]। यहाँ भगवती पार्वती [प्रकृत हैं, उन] की अपेक्षा कोयल और वितन्त्री दोनों ही अप्रकृत हैं। इन दोनों का एक ही प्रतिकूल शब्दस्वरूपी धर्म में समुच्चय कर दिया गया है।

यह [उपमा रूपक के समान] एकदेशविवर्त्तिनी भी होती है [अर्थात् इसमें आरम्भ से अन्त तक उपमानोपमेयभाव का निर्वाह शब्दतः करते करते किसी एक अंश में उसे आर्थ बनाकर छोड़ दिया जाता है] उदाहरणार्थ—"अधर के समान कमल की पंखुड़ियों से; दाँतों के समान केसरों से अलकों के समान अलकुलय से और केसरों के समान कमलपुष्पों से कमलिनी सुशोभित हो रही है।" इसमें कमलिनी के उपमान के रूप में [विवक्षित होने पर भी] नायिका का उपादान शब्दतः नहीं किया गया [उसे वाक्यार्थ सामर्थ्य से आक्षेप्य रहने दिया इसलिए यह एकदेश विवर्त्तिनी है [विवर्त का अर्थ पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अभाव किया है। उसका स्रोत कदाचित् विमर्शिनी का यही स्थल है। काव्यप्रकाशकार की 'एकदेश में विशेषरूप से वर्णन रहना' इस पदावली में विशेषशब्द कदाचित् 'अन्तर या भिन्नता' का वाचक है। टीकाकारों ने उसे स्फुटता का वाचक माना है जो विरुद्ध है। अन्तर अर्थ करने पर अभाव अर्थ चला आता है, अभाव का अर्थ है शब्दानुपादान। यही उपमा तब कल्पित उपमा कहलाती है जब सादृश्य की दृढ़ता के लिए साधर्म्य कविप्रतिभाकल्पित होता है। वह साधर्म्य कहीं तो उपमेय में कल्पित किया जाता है और कहीं उपमान में, अतः यह [कल्पितोपमा] दो प्रकार की हो जाती है। जैसा कि कहा है "कहीं उपमेय का वैशिष्ट्य बतलाया जाता है और कहीं उपमान का" ॥ १ ॥

"वैधर्म्य से साधर्म्य" नामक एक तृतीय भेद भी होता है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यह भेद केवल सामान्य उपमा में ही हो सकता है और [कल्पितोपमा में यह भेद मानने पर उपर्युक्त] दृढ़ता का प्रतिपादन नहीं हो सकता।

विमर्शिनी

क्रमेण यथा—

> तं णमह णाहिणलिनं हरिणो गअणङ्गणाहिरामस्स।
> छुप्पअछम्पिअगत्तो मलो व्व चन्दम्मि जत्थ विही ॥'

अत्रोपमेयस्य षट्पदाच्छादितत्वं कल्पितम्।

> "आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसानाऽतरुणार्करागम्।
> संजातपुष्पस्तबकाभिनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥'

अत्रोपमानगतत्वेन संचारिणीत्वं कल्पितम्। न चास्याः पृथग्लक्षणं वाच्यम्, द्वयोरौपम्यप्रतीतेः। सामान्यलक्षणस्यात्राप्यनुगमात्। अथात्र कल्पनास्तीति चेत्, न। एवं हि प्रतिभेदं लक्षणकरणप्रसङ्गः। समुच्चितत्वादेर्विशेषान्तरस्यापि भावात्। अथोपमानगुण-

विशिष्टोपमेयावगमफलत्वेनोपमायाः प्रतिभटभूतवस्त्वन्तराभावप्रयोजनत्वेन चास्याः पृथगलंकारत्वमिति चेत्, न। अत्रोपमेयस्योपमानगुणविशिष्टतयैव प्रतीतेः फलभेदाभावात्। तथा हि 'आवर्जिता' इत्यादौ भगवत्या लतायाः सादृश्यस्य संचारिणीत्वेनाभावो मा प्रसाङ्क्षीदिति तयोः साधर्म्यमेव द्रढयितुं कविना लतायाः संचारिणीत्वं कल्पितम्। नन्वत्र भगवत्या अन्यदुपमानं नास्तीति प्रतीयते। अनन्वयादिवदुपमानान्तरनिषेधस्य वाक्यार्थत्वात्। नैवम्। एवमुपमेयस्यापि वैशिष्ट्यकल्पने उपमेयान्तरनिषेधफलत्वं वाच्यम्। समानन्यायत्वात्। तद्यथा दृढारोपे रूपके विषयविषयिणोरभेदमेव द्रढयितुं कस्यचिद्धर्मस्य हानिराधिक्यं वा कल्प्यते, तथेहापि सामान्यदार्ढ्यायैव कल्पितत्वं ज्ञेयम्। अत्राप्यभेदालंकारत्वादलंकारान्तरत्वं न वाच्यम्। रूपकेणैवास्या विच्छित्तेः सगृहीतत्वात्। विषयविषयिणोरभेदो हि रूपकसतत्त्वम्। स एव चात्र दार्ढ्येन प्रतीयत इति को नामास्य रूपकात्पृथग्भावः। अभेदमात्रप्रतीतौ रूपकम्, नियतधर्महानावन्यतः सर्वतोऽप्यभेदप्रतीतावभेद इति प्रतीतिभेदोऽप्यस्तीति चेत्, न। एवं ह्यस्ति तावदभेदप्रतीतिरप्यनुगता। यस्तु विशेषः स पृथग्भेदत्वे व्यवस्थापकोऽस्तु न पृथगलंकारत्वे। नहि शाबलेयतामात्रेण गोत्वमन्यव्यपदेश्यं भवति। एवं च—

> 'गृहीतविग्रहः कामो वसन्तः सार्वकालिकः।
> जहार हृदयं कामी नित्यपूर्णः सुधाकरः'॥'

इत्यादौ गृहीतविग्रहत्वादेर्नियतस्य धर्मस्याधिक्येऽप्यलंकारान्तरप्रसङ्गः। इयं च मालादिनानन्तभेदेति तद्ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रपञ्चितम्।

क्रम से उदाहरण—

> 'तन्नमत नाभिनलिनं हरेर्गगनागनाभिरामस्य।
> षट्पदाच्छादितगात्रो मल इव चन्द्रे यत्र विधिः॥'

"गगनागम के समान अभिराम भगवान् विष्णु के उस नाभिकमल को प्रणाम कीजिए जिसमें भ्रमरों से ढँके ब्रह्माजी चन्द्र में कलङ्क से प्रतीत होते हैं।" यहाँ उपमेय [विधि ब्रह्मा] का भ्रमरों से ढँकना कल्पित है।

'स्तनों से थोड़ी सी झुकी हुई तथा अनरुण [बाल] सूर्य के समान वस्त्र धारण की हुई [पार्वती जी] मिलते पुष्प के स्तवकों से झुकी पल्लवों से ढँकी और चलती फिरती लता सी [दिखलाई दीं]।' यहाँ उपमान [लता] ने सञ्चारिणीत्व कल्पित है।

ऐसा नहीं कि इसका लक्षण [सामान्य उपमा से] अलग किया जाए क्योंकि अन्ततोगत्वा इसमें भी प्रतीति सादृश्य की ही [चमत्कारकारिणी] होती है। अतः सामान्यलक्षण इसमें भी लागू होता है। यदि कहा जाय कि यहाँ कल्पना [तत्त्व अधिक] है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करने पर प्रत्येक भेद का पृथक् पृथक् लक्षण करना पड़ जायगा। क्योंकि समुच्चितत्व आदि भी नवीन भेद हैं। यदि कहा जाए कि उपमा का फल है उपमान के गुणों का उपमेय में ज्ञान तथा इस [कल्पितोपमा] का फल है अन्य किसी समान वस्तु के अभाव का ज्ञान। इस प्रकार फलभेद के कारण इस (कल्पितोपमा) का लक्षण अन्य किया जाना चाहिए तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ [कल्पितोपमा में] भी उपमानगुणों का उपमेय में ज्ञान नियमतः होता है। अतः फलभेद भी नहीं है। स्पष्टीकरण के लिए "आवर्जिता॰" इत्यादि पद्य ही लीजिए। इसमें लता स्थावर है और भगवती पार्वती जङ्गम [संचारशील] अतः पार्वती में लता का सादृश्य [संचारिणीत्व को लेकर] घटता नहीं है। ऐसा न हो इसके लिए उनके साधर्म्य को दृढ करने हेतु कवि ने लता में भी सञ्चारिणीत्व की कल्पना की। शङ्का = यहाँ [कल्पितोपमा में लता

को छोड़] अन्य कोई वस्तु भगवती पार्वती का उपमान नहीं है यह प्रतीति भी होती है, क्योंकि यहाँ जो वाक्यार्थ है उसका स्वरूप अनन्वय आदि के समान ही अन्य उपमान का निषेध है ! किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे तो जहाँ उपमेय में वैशिष्ट्य की कल्पना की जाती है वहां भी अन्य उपमेय के निषेध की प्रतीति मानी जा सकती है, क्योंकि बात बराबर है। इसलिए जैसे दृढारोप रूपक में विषय और विषयी के अभेद को दृढ करने के लिए किसी धर्म की हानि या अधिकता की कल्पना की जाती है उसी प्रकार यहां [कल्पितोपमा में] भी सामान्य [साधर्म्य] की दृढ़ता के लिए कल्पितत्व को जानना चाहिए। यहां [कल्पित रूपक में] भी अभेदनामक भिन्न कोई अलंकार नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस विच्छित्ति का संग्रह भी रूपक में ही हो जाता है। रूपक का रूपकत्व है विषय और विषयी का अभेद। यहां वह केवल दृढ़ता के साथ प्रतीत होता है इसलिए इसे रूपक से पृथक् कैसे माना जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि रूपक वहाँ माना जाना चाहिए जहां केवल अभेद की प्रतीति होती हो और अभेद वहां जहां किसी निश्चित धर्म की हानि होने पर अन्य सबसे अभेद, इस प्रकार इन दोनों की प्रतीतियों में भी भेद है तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर भी अभेदप्रतीति तो अभेदालंकार में रहेगी ही और वही रूपक में भी रहेगी। अतः वह दोनों में ही रहता है। सामान्य रूपक से [कल्पित रूपक] का जो अन्तर है उसे रूपक का स्वतन्त्र भेद तो माना जा सकता है किन्तु पृथगलंकार नहीं, केवल चितकबरेपन से गोत्व को अगोत्व नाम से थोड़े ही पुकारा जाता है। यदि ऐसा मानें तो "वह कामी पुरुष शरीरधारी काम है, सर्वदा रहने वाला वसन्त है और सदा पूर्ण रहने वाला चन्द्रमा। उसने हृदय हर लिया है।" इत्यादि में नियत धर्म गृहीतविग्रहत्व आदि की अधिकता है। यहां भी भिन्न अलंकार की कल्पना करनी पड़ जायगी।

यह [उपमा] मालत्व, कल्पितत्व आदि के क्रम से इतने भेदवाली हो जा सकती है कि जिनका अन्त नहीं, अतः ग्रन्थविस्तार के भय से उनका निरूपण विस्तारपूर्वक नहीं किया।

विमर्शः—कल्पितोपमा भरतमुनि ने भी दिखलाई है। "मतंगजा विराजन्ते जंगमा इव पर्वताः"—में जंगमपर्वत कविकल्पित है अतः उपमान के कविकल्पित होने से उपमा कल्पित है। विमर्शिनीकार की कल्पितोपमा का कदाचित् यही मूल है। वामन ने भी मानी है। किन्तु उनकी कल्पितोपमा विमर्शिनीकार की कल्पितोपमा से भिन्न है। विमर्शिनीकार ने भी इसमें कविकल्पना का अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु इनकी कविकल्पना सादृश्य में आ रहे विघ्न को दूर करने के लिए अनिवार्य है। वामन ने कल्पना को प्रसिद्ध उपमानातिरिक्त उपमानकल्पना तक सीमित रखा है यथा "नारंगी कैसी है ? जैसे मत्त हूण (पठान) की तुरंत मुड़ी दाढ़ी"। "शिरीष पुष्प कैसा है ? जैसा तुरंत फूटा कुशाग्रभाग" स्पष्ट ही यहाँ सादृश्य में कोई विघ्न नहीं आ रहा जिसका निवारण करने के लिए कवि ने प्रसिद्ध उपमानों को छोड़ नवीन उपमानों की योजना की है। मृच्छकटिक में भी "मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलः" 'मेघ पानी से भीगे भैंसे के पेट और भृंग सा नीला है' इत्यादि अनेक नवीन उपमान मिलते हैं। काव्यमीमांसा में "अभिनववधूरोषस्वादुः करीषतनूनपाद्" इत्यादि पद्य इसका अच्छा उदाहरण है। इसमें भी कंडे की आग को ठंड के दिनों में नवोढा के कोप की उपमा दी गई है। नवीन उपमानों की कल्पना भवभूति, राजशेखर और श्रीहर्ष आदि परवर्त्ती कवियों ने पर्याप्त मात्रा में की है।

उपमा के लक्षण पूर्ववर्त्ती आचार्यों में इस प्रकार मिलते हैं—

भामह—'विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः।
उपमेयस्य यत् साम्यं गुणलेशेन सोपमा ॥ २। ३० ॥

देश, काल, क्रिया आदि [अनेक तत्त्वों] में परस्पर असमान रहने पर भी उपमान और उपमेय का जो किसी गुण में समान होना बतलाया जाता है वह उपमान है।' [देशकालक्रियादिभिः विरुद्धेन असमानेन उपमानेन देशकालक्रियादिभि विरुद्धस्य असमानस्य यत् गुणलेशेन केनचिद् गुणेन साम्य समानत्व तदेव उपमा' इति भावार्थ ।']

वामन—'उपमानेनोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा' ॥ ४।२।१॥

'उपमान के साथ गुणलेश में जो उपमेय का साम्य वही उपमा'
निश्चित ही यह भामह के लक्षण का संशोधन है।

उद्भट = 'यच्चेतोहारि साधर्म्यमुपमानोपमेययो ।
मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमा तु तत् ॥ १।१।५

'विभिन्नकालादिवाचक शब्दों द्वारा प्रतिपादित उपमान तथा उपमेय का परस्पर में जो चित्ताकर्षक साधर्म्य वही उपमा है।'

रुद्रट = 'उभयो समानमेकं गुणादि सिद्ध भवेद् यथैकत्र ।
अर्थेऽन्यत्र तथा तस्माघ्यन इति सोपमा ॥' ८।४॥

'गुण आदि ऐसा कोई धर्म जो दो वस्तुओं में समानरूप से प्रसिद्ध हो तो [दोनों वस्तुओं में से] एक की ही भाँति दूसरे में भी जो उसकी सिद्धि की जाती है उसीको उपमा कहते हैं।'

मम्मट = 'साधर्म्यमुपमा भेदे।'

'भेद रहते हुए जो समानधर्मसम्बन्ध उसीको उपमा कहा जाता है।'

इस प्रकार स्पष्ट है कि अलङ्कारसर्वस्वकार ने उद्भट और मम्मट का अनुसरण किया है। साधर्म्य और सादृश्य में प्राचीन आचार्यों ने [मम्मट के समान महिमभट्ट ने भी] उतना अन्तर नहीं देखा जितना परवर्ती पण्डितराज आदि ने साधर्म्य और सादृश्य में, जो समास के कारण "सा"-शब्द के रूप में परिणत समान शब्द है वह इन दोनों का एकमात्र बुद्धिधर्मत्व सिद्ध करता है। जो कुछ भी समानता या साम्य है वह द्रष्टृसापेक्ष है, वस्तुसापेक्ष नहीं। 'समानो धर्मो- ययोस्तौ सधर्मौ तयोर्भाव' साधर्म्यम्,' 'समाना दृक् [दर्शन] ययोस्तौ सदृशौ तयोर्भावः सादृश्यम्" इस प्रकार व्युत्पत्ति करने से दोनों ही प्रतीतितत्त्व पर निर्भर लगते हैं। वस्तुत- जो साम्य विषयगत दृष्टि से साधर्म्य है वही विषयिगत दृष्टि से सादृश्य है। प्रतीहारेन्दुराज की इस पंक्ति से यह तथ्य अधिक स्पष्ट है—"उपमानोपमेययो' यत् साधर्म्य समानो धर्म' तेन सम्बन्धो य- सा उपमानोपमेययो सादृश्यद्वारेण सामीप्यपरिच्छेदहेतुत्वादुपमा"—समानधर्म-सम्बन्धरूप साधर्म्य वस्तु को सादृश्य के द्वारा सहृदय के पास पहुँचता है अर्थात् साम्यज्ञान में वस्तु को उपादानरूप से प्रस्तुत करता है।" यह विचारमात्र का क्रम है। चमत्कारानुभव जो अलंकार का बीज है प्रतीतिरूप ही है फलत सहृदय साम्यप्रतीति को ही मिलना चाहिए। कल्पितोपमा का जो रूप विमर्शिनीकार ने प्रस्तुत किया है और जिसका अनुसरण पण्डितराज जगन्नाथ ने किया है वह इस मान्यता में और भी सबल प्रमाण है। वहां तो उपमान या तद्गत धर्म एकमात्र प्रातीतिक ही है। लता में सञ्चारिणीत्व धर्म केवल बौद्धिक या प्रातीतिक है। इसीप्रकार

"स्तनाभोगे पतन् भाति कपोलात् कुटिलोऽलकः ।
शशाङ्कबिम्बतो मेरौ लम्बमान इवोरग ॥" रसगङ्गा० ॥

सुन्दरी का कुटिल अलक कपोल पर से होता हुआ विपुल स्तनों पर पड़ता हुआ ऐसा लग रहा है जैसे चन्द्रबिम्ब से मेरु पर लटका हुआ कोई सर्प।'—यहाँ चन्द्रबिम्ब में सर्प का अस्तित्व उसके

नेट पर लटकने के ही समान काल्पनिक या प्रातीतिक है। इस तथ्य का विशदीकरण का श्रेय एकमात्र विमर्शिनीकार जयरथ को है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने लक्षणा के खण्डन में सादृश्य और साधर्म्यशब्दों का पर्यायशब्दों के रूप में ही प्रयोग किया है—

'न हि अनुन्मत्तः कश्चित् कचित् किंचित् कथंचित् साधर्म्यम् अनुपश्यन्नेव अकस्मात् तत्त्वमारोपयति' इति परिशीलितवस्तुस्वरूपः प्रतिपत्ता 'तत्त्वारोपनिमित्त सादृश्यमात्रमेव प्रतिपत्तुमर्हति।' [द्रष्टव्य = इसपर हमारा हिन्दीविमर्श पृ० ११४-१६]

उपमान और उपमेय के लक्षण भी आचार्यों ने दिए हैं। वामन ने—

"उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेन अन्यत् तदुपमानम्'
"यदुपमीयते न्यूनगुणं तदुपमेयम्"

अर्थात्—"उत्कृष्ट गुणवाली जिस वस्तु से अन्य वस्तु सादृश्य को पहुँचाया जाता है वह उपमान कहलाती है और न्यूनगुणवाली जो वस्तु उपमित होती है वह उपमेय कहलाती है"—इस प्रकार उपमान और उपमेय में गुणगत अधिकता और न्यूनता को भी महत्त्व दिया है।

उद्भटकृत काव्यालंकारसारसंग्रह के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने इनका विवेचन इस प्रकार किया है—

"सादृश्यसम्बन्धित्वेनोपादीयते यत् प्राकरणिकं तत् उपमेयम्।"

जो प्राकरणिक पदार्थ सादृश्यसंबन्धीरूप से वाक्य में अपनाया जाता है वह उपमेय होता है।

इसके स्पष्टीकरण में एक एक विशेषण पर बल देते हुए उन्होंने अत्यन्त सहृदयता के साथ लिखा है—

'न खलु प्राकरणिकस्यापि सादृश्यसम्बन्धित्वेन अनुपादीयमानस्य उपमेयता। यथा 'राज्ञः पुरुषमानय' इत्यत्र पुरुषस्य। पुरुषो हि अत्र आनीयमानत्वेन चोद्यमानत्वात् सत्यपि प्राकरणिकत्वे सादृश्यसम्बन्धित्वेनानुपादीयमानत्वान्नोपमेयः। सत्यपि च सादृश्यसंबन्धित्वेनोपादाने यस्य प्राकरणिकत्वं नास्ति तस्योपमानत्वम् न तूपमेयत्वमिति प्राकरणिकमित्युक्तम्। तदेवं सादृश्यसंबन्धित्वेनोपादीयमानं यत् प्राकरणिकं तदुपमेयम्। तद्धि उपमानेन सादृश्यप्रतिपादनद्वारेण समीपे क्षिप्यते तस्मादुपमेयम्। अप्राकरणिकं तु तथाविधमेवोपमानम्।'

जो प्राकरणिक भी हो किन्तु सादृश्य सम्बन्धी के रूप से उपात्त न हो वह उपमेय नहीं होता। जैसे 'राजा के आदमी को लाओ' में आदमी। आदमी जो है वह यहाँ आनीयमानरूप से कथित है न कि सादृश्यसम्बन्धिरूप से। अतः प्राकरणिक होने पर भी वह उपमेय नहीं है। इसी प्रकार सादृश्यसंबन्धिरूप से उपात्त होने पर जो प्राकरणिक नहीं होता वह उपमान होता है, उपमेय नहीं। इसलिए जो प्राकरणिक भी हो और सादृश्यसम्बन्धी भी वही उपमेय होता है। वह उपमान के द्वारा सादृश्यप्रतिपादन द्वारा उप = समीप में फेंका जाता है [मेय] इसीलिए उपमेय नाम से पुकारा जाता है। जो अप्राकरणिक हो और सादृश्यसम्बन्धी भी वह उपमान कहलाता है।

इस प्रकार प्रतीहारेन्दुराज उपमान और उपमेय में गुणगत न्यूनाधिकभाव पर निर्भर न रह उनके प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व पर बल देते हैं।

अर्थालंकारों का विवेचन भिन्न भिन्न आचार्यों ने भिन्न भिन्न अलंकार से आरम्भ किया है। भरत मुनि ने उपमा से ही आरम्भ किया है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण ने रूपक से। भामह और उद्भट ने रूपक से आरम्भ किया है। रुद्रट ने अर्थालंकारों को चार वर्गों में बाँटा है। इनमें प्रथम है वास्तव, द्वितीय है औपम्य, तृतीय है अतिशय और चतुर्थ है श्लेष। उपमा की गणना औपम्य के अन्तर्गत की गई है। यद्यपि अपने इस वर्ग में प्रथम स्थान उपमा को ही दिया गया है, तथापि

अर्थालङ्कारों का विवेचन वास्तव वर्ग से कर और वास्तव में प्रथम स्थान सहोक्ति को दे उसे वाञ्छित गौरव से दूर रखा है। दण्डी वामन और मम्मट ने उपमा से ही अर्थालंकार का विवेचन आरम्भ किया है, किन्तु दण्डी को ग्रन्थकार ने कम आदर दिया है। इस प्रकार अलङ्कारसर्वस्वकार ने मम्मट और वामन के अनुकरण पर उपमालंकार से अर्थालङ्कारों का विवेचन किया है। मम्मट और अलङ्कारसर्वस्वकार ने उपमा के विवेचन में वामन का अनुकरण करते हुए भी उन्हें आंशिक महत्त्व ही दिया है। वे उद्भट के अलङ्कारसारसंग्रह पर अधिक निर्भर रहे हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलङ्कारसर्वस्व के उपमा लक्षण को अछूता छोड़ दिया – यह आश्चर्य की बात है। आश्चर्य की एक बात यह भी है कि वृत्ति और विमर्शिनी दोनों के रचयिताओं ने सूत्र में उल्लिखित 'भेदाभेदतुल्यत्व' का एक भी उदाहरण नहीं दिया। बिम्बप्रतिबिम्बभाव और वस्तुप्रति-वस्तुभाव पर उन्होंने अधिक बल दिया।

वस्तुत: चमत्कार का कारण ही अलङ्कारों का विभाजक होता है। उपमा में वह साधर्म्य का सादृश्य है। व्यतिरेक आदि में व्यतिरेक आदि चमत्कार के कारण हैं। अतः भेदाभेदतुल्यत्व विशेषण छोड़ा जा सकता है। 'उपमानोपमेय' शब्द भी अधिक आवश्यक नहीं। साधर्म्य एकमात्र उपमानो-पमेय में ही होता है। इसीलिए मम्मट ने उन्हें लक्षण में स्थान नहीं दिया। अप्रतीति या अवर्गनी-यता का निराकरण साधर्म्यगत चमत्कारकारित्व से ही हो जाता है। ये दोष रहते हुए चमत्कार निष्पन्न नहीं होगा। "चमत्कारि साधर्म्यमुपमा" चमत्कारकारक साधर्म्य उपमा है—इतना लक्षण ही उपमा के लिए पर्याप्त है। उपमाध्वनि में चमत्कार ध्वनि में होता है, अतः पण्डितराज द्वारा प्रदत्त विशेषण 'वाक्यार्थोपस्कारत्व' भी व्यर्थ है। जहाँ केवल शब्दार्थ रहते हैं वहाँ उन्हीं का उप-स्कार होता है। पण्डितराज जगन्नाथ के उपमा लक्षण में 'उपमालङ्कृति' यह जो अलङ्कृति शब्द है यह भी अनपेक्षित है, क्योंकि प्रकरण अलङ्कार निरूपण का है। अतः अलङ्कारभूत उपमा का ही लक्षण होने से लौकिक अलङ्कारभूत उपमा का लक्षण प्राप्त ही नहीं होता। अस्तु, यह स्वतन्त्र विवेचन का विषय है।

सञ्जीविनीकार ने उपमा का लक्षण कारिकारूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'भेदाभेदतुल्यवृत्तौ साधर्म्यमुपमोच्यते।
धर्मविच्छित्तिविज्ञानत्रैविध्यमुपयाति सा॥'

[सर्वस्व]

[सू० १३] एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयः ॥

वाच्याभिप्रायेण पूर्वरूपानुगमः। एकस्य तु विरुद्धधर्मसंसर्गो द्वितीय-सब्रह्मचारिनिवृत्त्यर्थः। अत एवानन्वय इति योगोऽप्यत्र संभवति। यथा—

'युद्धेऽर्जुनोऽर्जुन इव प्रथितप्रतापो
भीमोऽपि भीम इव वैरिषु भीमकर्मा।
न्यग्रोधवर्तिनमथाधिपतिं कुरूणा-
मुत्थासनार्थमिव जग्मतुरादरेण ॥'

[सू० १३] 'एक ही [पदार्थ] का उपमान [और] उपमेय [दोनों] होना अनन्वय [कहलाता है]।'

विमर्शिनी

एकस्यैवेत्यादि । ननु सादृश्याश्रयाणामलंकाराणां लक्षयितुं प्रस्तुतत्वात्सादृश्यस्योभयनिष्ठत्वेनैव संभवादेकस्य च तद्भावात्कथमिहातदाश्रयस्याप्यस्य वचनमित्याशङ्क्याह—वाच्याभिप्रायेणेत्यादि ।

शंका होती है कि प्रकरण है सादृश्यमूलक अलंकारों के लक्षण का और अनन्वय में सादृश्यमूलता है नहीं, क्योंकि सादृश्य दो भिन्न पदार्थों में रहता और अनन्वय पदार्थ केवल एक ही होता है, ऐसी स्थिति में इसका लक्षण यहाँ क्यों किया जा रहा है। इसके उत्तर में कहते हैं—वाच्याभिप्रायेण आदि ।

[वृ०] वाच्य को लेकर [यहाँ] पूर्वरूप [सादृश्याश्रयत्व = उपमात्व] की प्रतीति होती है। वस्तुतः तो [उपमानत्व और उपमेयत्व इन परस्पर] विरुद्ध धर्मों का एक ही [पदार्थ] के साथ सम्बन्ध का प्रयोजन है [व्यंग्य के रूप में] द्वितीय उपमान की निवृत्ति। इसी [विरुद्ध धर्मों के एक के साथ संबन्ध के] कारण यह अनन्वय इस शब्द का] "अनन्वय" = [अन्वय = उपमानोपमेयसंबन्ध का अभाव] यह योग [शक्तिलभ्य अर्थ] भी यहाँ हो सकता है। उदाहरण—

युद्ध में प्रताप फैलाने में जो अर्जुन अर्जुन के ही समान है और शत्रुओं के बीच भयंकरता बरतने में भीम भीमके ही समान है, वे दोनों वटवृक्ष के नीचे बैठे कुरुओं के स्वामी [धृतराष्ट्र] के पास उसे मानो और भी अधिक लज्जित करने के लिए आदर पूर्वक पहुँचे।"

विमर्शिनी

पूर्वरूपेति । सादृश्याश्रयत्वस्येत्यर्थः । अस्त्येव ह्यत्र शाब्दी सादृश्यप्रतीतिः । मुखं चन्द्र इवेत्यादिवदेवात्रोपमानोपमेयत्वस्य वाच्यतयोपनिबन्धनात् । अत एवाह—वाच्याभिप्रायेणेति । न पुनर्वस्त्वभिप्रायेणेत्यर्थः । वस्तुतो ह्येकस्यैव साध्यसिद्धधर्मरूपत्वासंभवादुपमानोपमेयत्वेऽपि विरोधः स्यात् । इत्थं शाब्दमेव सादृश्यानुगममाश्रित्येहास्य लक्षणम् ।

ननु यद्येवमेकस्योपमानोपमेयत्वं विरुध्यते तत्किं वस्तुविरुद्धेन निष्फलेन चैतेनेत्याशङ्क्याह—एकस्येत्यादि ।

पूर्वरूप = सादृश्याश्रयत्व = सादृश्यमूलरूप । यहाँ भी सादृश्य का ज्ञान शब्द से तो होता ही है। क्योंकि 'मुख चन्द्र के जैसा है' इत्यादि वाक्य के समान यहाँ भी उपमानोपमेयभाव वाच्यरूप से उपनिबद्ध रहता है। इसीलिए कहा "वाच्य को लेकर"। अर्थ यह कि वास्तविकरूप से नहीं। वास्तविक रूप से तो यह संभव नहीं कि एक ही वस्तु साध्य भी हो और सिद्ध भी। अतः एक ही वस्तु में उपमानत्व (साध्य) और उपमेयत्व (सिद्ध) का होना विरुद्ध है। इसलिए केवल शाब्दिक सादृश्य की प्रतीति देखकर यहाँ (सादृश्य के प्रकरण में) इस [अनन्वय] का लक्षण किया जा रहा है।

शंका होती है कि यदि एक ही पदार्थ का उपमान और उपमेय होना विरुद्ध है तो वास्तविक रूप से विरुद्ध होने के कारण [काव्य में] इस [प्रकार के] निरर्थक [लिखने] से क्या लाभ। इसपर उत्तर देते हुए [वृत्तिकार] लिख रहे हैं—'एकस्य इत्यादि'।

विमर्शिनी

एवं चास्य द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्तिरेवालंकारत्वप्रतिष्ठापकं प्रमाणम् । अन्यथा पुनर्नास्यालंकारत्वम् । यथा—

'तस्याज्ञयैव परिपालयतः प्रजा मे कर्णोपकण्ठपलितंकरिणी जरेयम् ।
यद्गर्भरूपमिव मामनुशास्ति सोऽयमद्यापि तन्मयि गुरोर्गुरुपक्षपातः ॥'

अत्र यथैव गर्भरूप मां गुरुरन्वशात्तथैवाद्याप्यनुशास्तीति सत्यप्येकस्योपमानोपमेयत्वे द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्तिप्रतिपत्त्यभावान्नायमलंकारः । एकस्यैवावस्थाभेदेन च सिद्धसाध्यधर्मसमवायेऽपमानोपमेयत्वरूपविरुद्धधर्मसंसर्गः । अत एवेति । विरुद्धधर्मसंयोगात् । एकस्यैव सिद्धसाध्यरूपेणोपमानोपमेयत्वेनाविद्यमानोऽन्वयः सम्बन्धो यत्र स तथोक्तः । अर्जुनादन्यो युद्धे प्रथितप्रतापो नास्तीति द्वितीयसब्रह्मचारिनिवृत्तिरत्र जीवितभूता प्रतीयत एव । अत एव कार्तवीर्यहिंसत्त्वयोरुपमानरूपयोरप्रतीतेः शुद्धमेवैतदुदाहरणम् ।

'हत्थिअमेत्तम्मि जए सुन्दरमहिलासहस्सभरिअम्मि ।
अणुहरइ णवरँ तिस्सा, वामाद्धं दाहिणद्धस्स ॥'

इत्यादौ चानन्वयोदाहरणत्वं न वाच्यम् । अत्रान्यार्धनान्यार्धस्योपमीयमानत्वेनोपमाया अभिधीयमानत्वात् । अस्य ह्युपमानान्तरनिषेधपर्यवसाय्यभिधीयमानमेकस्यैवोपमानोपमेयत्वं स्वरूपम् । न च तदत्र शब्देनाभिधीयतेऽपि तु व्यज्यत इति प्रतीयमानत्वं युक्तमिति न वाच्यत्वमस्येति वाच्यम् । एवं ह्यलङ्कारध्वनेर्विषयापहारः स्यात् । एवम्

'गाम्भीर्येण किं गुरुधुरधर यदन्यमैर्नैमैरावणप्रभृतयोऽपि न दिग्गिजास्ते ।
तद्यं कचग्रिवनयनाञ्चलरत्नभित्तिस्वीयप्रतिच्छ्विषु यूथपतित्वमेपि ॥'

इत्यत्राप्यनन्वयो न वाच्यः । स्वीयप्रतिबिम्बैरेव सादृश्यप्रतीतेस्तद्रूप्यस्याप्यभावात् । यदि नाम भवतप्रतीयेत तदप्यस्य प्रतीयमानत्व स्यान्न वाच्यत्वम् । यथोक्तन्यायात् । एवं च मदेकदेशेनावसितभेदेन चैरपास्य उपमानतया कल्पितेन सैव सादृश्यमनन्वय इत्येव त्वया सूत्रणीयम् ।

'असमानमिवौजांसि सदस्यैगौरवेरितम् ।
नाम यस्याभिनन्दन्ति द्विषोऽपि स पुमान्पुमान् ॥'

इत्यत्र पुंस पुंस्त्वारोपादनन्वयरूपकमिति यदन्यैरुक्त तदयुक्तम् । एकस्यैव विषयानुवादभावेनावस्थानादारोपाभावात् ।

इस प्रकार द्वितीय समान की निवृत्ति ही इस [अनन्वय] का अलंकारत्व प्रतिष्ठापक प्रमाण है । इसके बिना इसमें अलंकारत्व संभव नहीं । यथा—

"उन्हीं की आज्ञा से प्रजा का परिपालन करते हुए मेरी यह जरावस्था आ गई जिसने मेरे कान के पास के केश पका दिए हैं । क्योंकि आज भी मुझे नवजात शिशु के समान समझाते हैं, अत: गुरुजी का मेरे ऊपर वही महान् अनुग्रह है ।"

इसमें "जिस प्रकार गुरु जी मुझे तब समझाते थे जब मैं नवजात शिशु तुल्य अबोध था उसी प्रकार आज भी मुझे समझाते हैं" इस वाक्य में यद्यपि उपमान और उपमेय एक ही तत्त्व है तथापि यहाँ द्वितीय समान की निवृत्ति नहीं होती, अतः यहाँ यह अलंकार नहीं होता । यदि अवस्थागत भेद हो तो एक ही वस्तु में सिद्धसाध्यभाव बन जाता है तब 'उपमानत्व' और 'उपमेयत्व' इन विरुद्धधर्मों का संसर्ग नहीं होता [दोनों पृथक्-पृथक् रहे आते हैं । एक दूसरे से मिल नहीं पाते] । अतएव = इसीलिए अर्थात् विरुद्ध धर्म संसर्ग के कारण । एक ही वस्तु के सिद्ध और साध्यरूप उपमानत्व और उपमेयत्व रूपसे नहीं होना ॥ अन्वय = सम्बन्ध जिसमें ऐसा । 'अर्जुन से भिन्न अन्य कोई युद्ध से प्रथितप्रताप नहीं है' इस प्रकार द्वितीय समान की निवृत्ति ही यहाँ प्राणस्वरूप

प्रतीत होती है। इसलिए [अर्जुन का अर्थ] कार्तवीर्य और [भीम शब्द का अर्थ] हिंसक प्राणी उपमानरूप से यहाँ प्रतीत नहीं होते, फलतः यह [अनन्वय का] सर्वथा शुद्ध [निर्दोष] उदाहरण है।

'एतावन्मात्रे जगति सुन्दरमहिलासहस्रभरितेऽपि ।
अनुहरति केवलं तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥'

'यह संसार इतना बड़ा है और सहस्रों सुन्दर महिलाओं से भरा हुआ है, तथापि उसका वामांग केवल उसीके दक्षिणांग की बनावट का है।' इत्यादि को अनन्वय का उदाहरण नहीं मानना चाहिए [जैसाकि शोभाकर मित्र ने अपने अलंकाररत्नाकर में माना है]। यह इसलिए कि यहाँ एक अंग से दूसरे अंग की उपमा है और वह स्वयं अभिधावृत्ति के द्वारा यहाँ प्रतिपादित है [पर्यवसान में अभावात्मक सिद्ध नहीं होती]। यह जो अनन्वय है इसका स्वरूप है एक ही वस्तु का अभिधा द्वारा प्रतिपादित ऐसा उपमानोपमेयभाव जो अन्य उपमान के अभाव में परिणत हो। शंका—वह अभाव यहाँ शब्द से नहीं कहा जाता। उसकी प्रतीति तो व्यंजना से होती है। इसलिए उसका व्यंग्य होना ही उचित है वाच्य होना नहीं। समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने से तो अलंकारध्वनि के लिए कोई स्थान ही नहीं रह जायेगा। इसी प्रकार—

"हे सिन्धुरधुरंधर [गजवक्त्र = गणेश] तुम्हारे गन्ध के कारण ऐरावत आदि को भी तुम्हारे चेहरे की समानता पाने का अभ्यास नहीं है। इसलिए तुम कैलाश की दीप्त रत्नभित्तियों पर प्रतिफलित होती अपनी ही अनेक प्रतिच्छवियों के बीच यूथपतिपद प्राप्त करते हो।" यहाँ भी [शोभाकरने जो] अनन्वय [माना है वह] नहीं मानना चाहिए। प्रतिबिम्ब भले ही स्वयं के ही हों किन्तु उनके साथ सादृश्य प्रतीत हो ही जाता है। अतः यहाँ उस [अनन्वय] की गन्ध भी नहीं है। यदि यह [अनन्वय] यहाँ प्रतीत भी होता हो तो व्यंग्यरूप में ही होता होगा, वाच्यरूप में नहीं। हेतु ऊपर दिया जा चुका है। इसलिए [शोभाकर मित्रजी] आपको [तेनैव तदेकदेशेनावस्थितभेदेन वा उपमानतया कल्पितेन अनन्वयः = एक ही पदार्थ या उसका एकदेश यदि उपमानरूप से कल्पित किया जाय तो वह अनन्वय होता है'—ऐसा सूत्र न बनाकर केवल "उपमानतया कल्पितेन तेनैव सादृश्यमनन्वयः = उपमान रूप से कल्पित उसी (उपमेयभूत) पदार्थ के साथ सादृश्य अनन्वय" इतना ही सूत्र बनाना चाहिए।

"सभासदों द्वारा गौरवपूर्वक उच्चारित और मानों ओज को पीता हुआ सा जिसका नाम शत्रु द्वारा भी अभिनन्दित हो वही पुरुष है।" यहाँ पुरुष पर पुरुषत्व के आरोप के कारण जो कुछ लोगों ने अनन्वयरूपक माना है वह ठीक नहीं है। यहां आरोप नहीं हो सकता, क्योंकि यहां जो पदार्थ उद्देश्य है वही विधेय है।'

विमर्शः—(१) निर्णयसागरीय संस्करण में 'वाच्याभिप्रायेण" इत्यादि वृत्त्यंश इस प्रकार का है—"वाच्याभिप्रायेण पूर्वरूपावगमः।" विमर्शिनीकार ने "सादृश्यानुगममाश्रित्य" लिखा है अतः हमने अवगम को अनुगम बना दिया है। संजीविनी में भी यही पाठ है उस में 'अत्र'-शब्द और जुड़ा हुआ है "वाच्याभिप्रायेणात्र" इस प्रकार।

संजीविनीकार ने पूर्वरूप का अर्थ किया है, पूर्व = पूर्वतः सिद्ध उपमेय तद्रूप और इसके आधार पर उपमान को अपूर्व कहा है। "पूर्वं रूपमुपमेयत्वम् अपूर्वं रूपमुपमानत्वम्।' अनुगम का अर्थ किया है उपमेयत्व का अनुगम।

(२) डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने 'विरुद्ध धर्म' का अर्थ किया है 'अपने से विरोधी धर्म।'

इन दोनों के अनुसार यह मानना पड़ेगा कि उपमेय भिन्न उपमान से अन्वित होता है न कि एक ही पदार्थ [अर्जुन आदि] का [परस्पर विरुद्ध] उपमानत्व और उपमेयत्व से अन्वय होता है।

(३) निर्णयसागरसंस्करण में "एकस्यैव अवस्थाभेदेन च सिद्ध-साध्यधर्मसमवान्नोपमानोपमेयत्वस्य विरुद्धधर्मभ्रमर्ग." ऐसी पंक्ति है [यहाँ पृष्ठ १०० पर पंक्ति ४-५]। हमने अर्थ स्वारस्य की दृष्टि से षष्ठी के स्थान पर 'रूप' शब्द जोड़ दिया है।

(४) अवस्थाभेद से व्यक्तिभेद होने पर भी शोभाकरमित्र ने अलङ्काररत्नाकर में अनन्वय माना है और उसके वे ही उदाहरण दिये हैं जो यहाँ विमर्शिनीकार ने। विमर्शिनीकार रत्नाकर का उपर्युक्त रूप भी उद्धृत करते और उसका परिष्कार करते हैं। रत्नाकर की इस मान्यता का खण्डन पण्डितराज जगन्नाथ ने भी किया है। वस्तुतः शोभाकर ऐसे स्थलों पर अनन्वयध्वनि की ओर सकेत करते हैं जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

सजीविनीकार ने इस प्रकरण को इस प्रकार कारिकाबद्ध किया है—

"विरुद्धधर्मसंसर्गस्तुल्यान्तरनिवृत्तये ।
ततस्तदन्वयाभावाद् भवेदयमनन्वय' ॥'

विरुद्ध धर्म संसर्ग का अर्थ उन्होंने भी "एकस्यैवोपमानोपमेयक्लृप्ति." एक ही को उपमान और उपमेय बनाना, किया है।

अन्य आचार्यों ने अनन्वय के लक्षण इस प्रकार किए हैं—

भरतमुनि = भरतमुनि ने अनन्वय को 'सदृशी उपमा' नामक उपमाका भेद माना है। उनके

यत्त्वयाद्य कृत कर्म परिचत्तानुरोधिना ।
सदृश तत् तवैव स्यादिति मातुपकर्मण ॥ [१६।५० नाट्यशास्त्र बड़ौदा स.]

इस उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट है। अभिनवगुप्त ने इसका सदृशी के स्थान पर 'असदृशी' नाम भी बतलाया है। असादृश्य और अनन्वय एक ही हैं।

भामह तथा उद्भट = 'यत्र तेनैव तस्य स्यादुपमानोपमेयता ।
असादृश्यविवक्षातस्तमित्याहुरनन्वयम् ॥ ४।४५ काव्याल०

सादृश्य का अभाव बतलाने के लिए जहाँ जो उपमेय हो वही उपमान हो तो उसे अनन्वय कहते हैं।'

वामन = विरोधप्रसङ्गेनानन्वयं दर्शयितुमाह—

'एकस्योपमानोपमेयत्वेऽनन्वय' ॥'
अन्यासादृश्यमेतेन प्रतिपद्यते ।

विरोध के प्रसंग में अनन्वय दिखलाते हुए लिखते हैं कि "एक ही पदार्थ यदि उपमान और उपमेय दोनों हो तो अनन्वय होता है।' इसमे अन्य के साथ उसका सादृश्य नहीं है ऐसा प्रतीत होता है।

रुद्रट = रुद्रट में अनन्वय नहीं मिलता।

मम्मट = 'उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे। अनन्वयः।'

एक ही पदार्थ यदि एक ही वाक्य में उपमान और उपमेय दोनों ही हो तो उसे अनन्वय कहते हैं।

शोभाकर = 'तेनैव तदेकदेशेनावस्थितभेदेन वोपमानतया कल्पितेन अनन्वयः।' अर्थ विमर्शिनी में किया जा चुका है।

इससे स्पष्ट है कि अनन्वय में 'द्वितीयसदृश निवृत्ति' पर आचार्यों का ध्यान आरम्भ से ही था। विरोधमूलक कहकर वामन ने उसमें विरुद्ध धर्मसंसर्ग को भी आँक लिया था। पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन सभी अभिप्रायों को चालनीन्याय से बीन बटोर कर इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"द्वितीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकं यदेकोपमानोपमेयकं सादृश्यं तदनन्वयः।"

'ऐसा सादृश्य अनन्वय होता है जिसमें उपमान और उपमेय दोनों एक ही पदार्थ हो तथा जिससे किसी संभावित द्वितीय सदृश का निराकरण फलित हो।'

पण्डितराज जगन्नाथ ने जयरथ के इस मत पर कि 'एतन्मात्रे०' तथा 'गन्धेन०' इत्यादि पद्यों में अनन्वय ध्वनि हो सकती है—आक्षेप करते हुए लिखा है कि द्वितीयसदृशव्यवच्छेदमात्र की ध्वनि को अनन्वय की ध्वनि नहीं कह सकते, क्योंकि वह कल्पितोपमा में भी होती है और अतिशयोक्ति में भी। असमालंकार में भी उसका अस्तित्व रहता है। कल्पितोपमा में विमर्शिनीकार भी इसे स्वीकार कर चुके हैं।

वस्तुतः पण्डितराज जगन्नाथ ने विमर्शिनी को ठीक से नहीं देखा। पण्डितराज ने उसका मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'यद्यपि चालंकारसर्वस्वकृता अनन्वयध्वनित्वमत्र भविष्यति, अन्यथाऽलंकारध्वनेर्विषयापहारः स्याद् इत्युक्तम्, तदपि तुच्छम्।'

यहाँ एक तो उन्हें यह विदित नहीं है कि यह मत अलंकारसर्वस्वकार का नहीं विमर्शिनीकार का है, जिसका आधार अलंकारसर्वस्व के बाद बना अलंकाररत्नाकर है। दूसरे उन्हें यह विदित नहीं कि विमर्शिनीकार भी दबी जबान से ही यहाँ अनन्वयध्वनित्व की बात करते हैं। पण्डितराज ने या तो केवल खण्डन के लिए ही इसे तूल दे दिया है या उन्हें पाण्डुलिपियाँ गलत मिली हैं। हो सकता है रसगंगाधर की ही पाण्डुप्रतियों में दोष रहा हो और संपादक उसे सुधार न पाए हों।

[सर्वस्व]

[सू० १४] द्वयोः पर्यायेण तस्मिन्नुपमेयोपमा ॥

तच्छब्देनोपमानोपमेयत्वप्रत्यवमर्शः। पर्यायो यौगपद्याभावः। अत एवात्र वाक्यभेदः। इयं च धर्मस्य साधारण्ये वस्तुप्रतिवस्तुनिर्देशे च द्विधा।

आद्ये यथा—

'खमिव जलं जलमिव खं हंसश्चन्द्र इव हंस इव चन्द्रः।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥'

द्वितीये यथा—

'सच्छायाम्भोजवदनाः सच्छायवदनाम्बुजा।
वाप्योऽङ्गना इवाभान्ति यत्र वाप्य इवाङ्गनाः ॥

[सू० १४] दो का वह [उपमानोपमेयभाव] यदि क्रम से हो तो उपमेयोपमा [कहलाता है]।

[वृ०] [तस्मिन् के] तद् = वह = शब्द से यहाँ उपमानोपमेयत्व का परामर्श किया गया है [सन्निहित अनन्वय का नहीं]। पर्याय=क्रम का अर्थ है एक साथ [होकर, न कि भिन्न भिन्न वाक्यों में एक के बाद एक इस क्रम से] होना। इसीलिए इसमें वाक्य बदल जाते है। यह दो प्रकार की होती है एक जहाँ धर्म साधारण होता है और दूसरी जहाँ वस्तुप्रतिवस्तुनिर्देश होता है। प्रथम का उदाहरण—

'आकाश के समान जल है और आकाश जल के समान, हंस चन्द्र के समान है और चन्द्र हंस के समान, तारे कुमुद के समान हैं और कुमुद तारों के समान।'

द्वितीय का उदाहरण—

'वापियाँ अंगनाओं के समान प्रतीत होती हैं और अंगनाएँ वापियों के समान। एक [वापियाँ] मुखतुल्य शोभायुक्त कमल वाली हैं और दूसरी [अंगनाएँ] कमल तुल्य शोभायुक्त मुख वाली।'

विमर्शिनी

द्वयोरित्यादि। द्वयोरित्युपमानोपमेययो, न पुनर्द्विसंख्याकयोः। तेन,

'कान्ताननस्य कमलस्य सुधाकरस्य पूर्वं परस्परमभूदुपमानभावः।
सद्यो जरातुहिनराहुपराहतानामन्यः परस्परमसावरसः प्रसूतः॥'

इत्यत्र त्रयाणामप्युपमानोपमेयत्वे स्थितमस्या एवाङ्गम्। तच्छब्देनेति तस्मिन्नित्यनेन। यौगपद्याभाव इति क्रमरूपत्वात्। अत इति यौगपद्याभावात्। स च वाक्यभेदः शाब्द आर्थश्च। तत्र शाब्दो यथा—

'रजोभिः स्यन्दनोद्धूतैर्गजैश्च घनसन्निभैः।
भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन्व्योमेव भूतलम्॥'

अत्र भुवस्तलं व्योमेव कुर्वन्निति वाक्यपरिनिष्पत्तेः स्फुट एव शाब्दो वाक्यभेदः। आर्थो यथा—

'भवत्पादाश्रयादेव गङ्गा भक्तिश्च शाश्वती।
इतरेतरसादृश्यसुभगामेति बन्धताम्॥'

अत्र स्फुटेऽपि शाब्दे एकवाक्यत्वे गङ्गा भक्तिवद्भक्तिश्च गङ्गावद् बन्धेरयस्येवार्थो वाक्यभेदः। अस्याश्चोपमानान्तरनिरस्कार एव फलम्। अत एवोपमेयेनोपमा इत्यस्या अन्वर्थाभिधानम्। यत्र पुनरुपमानान्तरतिरस्कारो न प्रतीयते तत्र नायमलंकारः। यथा—

'सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि॥'

न ह्यत्र विधुसवित्रादीनामुपमानान्तरतिरस्करणं विवक्षितं किं तु सुखदुःखवशीकृतमनसामेव विपरीतं भवतीति।

दो का अर्थ है उपमान और उपमेय। दो सख्यावाले नहीं। इसमें—

'कान्तानन, कमल और चन्द्र का पहले परस्पर में उपमानभाव सबन्ध था। बहुत शीघ्र ही जरावस्था, ओस तथा राहु से आक्रान्त इन सबमें फिर भी यह सबन्ध बन पड़ा है यद्यपि यह [प्रथम की अपेक्षा] नीरस है।'

यहाँ जो तीन पदार्थों में उपमानोपमेयभाव है वह भी इसी [उपमेयोपमा] का अंग है। तद् शब्द अर्थात् 'तस्मिन्' इस पद की प्रकृति के रूप में आया तद् शब्द। यौगपद्या-भाव

साथ न होना अर्थात् क्रम के कारण अतः अर्थात् यौगपद्य के ही कारण वह वाक्यभेद दो प्रकार का होता है शाब्द और आर्थ। इनमें प्रथम शाब्द यथा—

'दुर्गों से ऊपर उड़ाई गई धूली से और मेघ के समान हाथियों से आकाश को पृथिवीतल के समान और पृथिवीतल को आकाश के समान बनाता हुआ [रघु दिग्विजय के लिए पूर्व दिशा की ओर बढ़ा] यहाँ पृथिवीतल को आकाश के समान बनाता हुआ—इस प्रकार वाक्य की पूर्ति हो जाने के कारण शाब्द वाक्यभेद स्पष्ट ही दिखाई देता है। आर्थ यथा—

'गंगा और शाश्वत भक्ति आपके चरणों के आश्रय से ही परस्पर सादृश्य से सुभग वन्द्यता को प्राप्त होती है।'

यहाँ शब्दतः तो वाक्य में एकता ही प्रतीत होती है, किंतु गंगा भक्ति के समान वन्द्य है और भक्ति गंगा के समान वन्द्य है, इस प्रकार यहाँ अर्थतः वाक्यभेद है ही। इसका फल है उपमानान्तर [अन्य किसी उपमान] का निराकरण। इसलिए 'उपमेय से उपमा' इस प्रकार इसका नाम भी सार्थक है। जहां कहीं अन्य उपमान का निराकारण प्रतीत नहीं होता वहां यह अलंकार नहीं माना जाता। यथा—

'चित्त जब सुख और दुःख में डूबा रहता है तब सूर्य चन्द्र सा लगता और चन्द्र सूर्य सा। इसी प्रकार रातें भी दिन सी लगती हैं और दिन भी रात से।'

यहां कवि की सूर्य और चन्द्र आदि के अन्य उपमानों की संभावना निरस्त करने की कोई इच्छा नहीं है। केवल इतना ही बतलाने की इच्छा है कि जिसका चित्त सुख और दुःख से आक्रान्त होता है उन्हें ऐसी विपरीत अनुभूति होने लगती है।

विमर्शिनी

साधारण्य इति। एतच्च धर्मस्य निर्देशानिर्देशरूपपक्षद्वयापूरकत्वेनोक्तम्। तत्र निर्देश-पक्षेसाधारण्यमस्ति तथाप्यत्र सकृन्निर्देशेनैवानुगतत्वात्तदुपलम्भः स्फुट इत्यत्र भावः। अनिर्देशपक्षे तु वास्तवमेव साधारण्यम्। यदनुसारं खमिव जलमित्याद्युदाहृतम्। धर्मस्या-नुगामित्वे तु यथा—

> 'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला तनुरिव विभा विभेव तनुः।
> धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी सततं विभाति बत यस्य॥'

अत्र विभातीति सकृन्निर्दिष्टम्। वस्तुप्रतिवस्तुनिर्देशश्च पूर्ववदिहापि शुद्धसामान्य-रूपत्वबिम्बप्रतिबिम्बभावाभ्यां द्विधा। तत्र बिम्बप्रतिबिम्बभावो ग्रन्थकृतैवोदाहृतः। तत्र ह्यम्भोजवदनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

> 'तद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्सद्यः परस्परतुलामधिरोहतां द्वे।
> प्रस्पन्दमानपरुषेतरतारमन्तश्चक्षुस्तव प्रचलितभ्रमरं च पद्मम्॥'

(अत्र) प्रस्पन्दमानप्रचलितत्वेन शुद्धसामान्यरूपत्वम्। तारकभ्रमरयोस्तु बिम्ब-प्रतिबिम्बभावः। उन्मेषाभिप्रायेण चानुगामितेति भेदत्रयस्याप्येतदुदाहरणम्।

साधारण्य इति यह इस बात को बतलाने के लिए लिखा कि साधारण धर्म [यहाँ] दो प्रकार का होता है १-निर्दिष्ट और २-अनिर्दिष्ट। जहाँ साधारण धर्म का निर्देश रहता है वहां की विशेषता यह रहती है कि उसका उल्लेख एक ही बार होता है अतः वह अनुगामी रूप से ज्ञात होता है। जहां निर्देश नहीं रहता वहाँ साधारण धर्म वास्तव = वस्तु से आक्षिप्त आर्थ होता है, जिसके अनुसार 'आकाश के समान जल' इत्यादि उदाहरण दिया। अनुगामी धर्म के लिए उदाहरण—

"जिसको मति लक्ष्मी के समान प्रतीत होती है और लक्ष्मी मति के समान, शरीर के समान कान्ति प्रतीत होती है और कान्ति के समान शरीर। इसी प्रकार जिसको धृति धरणी के समान लगती है और धरणी धृति के समान।"

यहाँ विभाति = लगती या प्रतीत होती है यह धर्म एक ही वार उल्लिखित है।

वस्तु प्रतिवस्तु का निर्देश भी पहले के ही समान यहाँ भी शुद्ध सामान्य स्वरूप तथा बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव युक्त इस प्रकार दो प्रकार का होता है। इनमें से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है। वहाँ कमल और मुख का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। शुद्धसामान्य स्वरूप का उदाहरण यह है—

'ये तुम्हारे नयन जिनमें स्निग्ध कोमल पुतलियाँ चल।
ये कमल जो कोष में बन्दी बनाए भ्रमर चंचल।
साथ ही खुल आएँ तो उपमान बन जाएँ परस्पर।' [महादेवीजी]

'तो एक साथ सुन्दर उन्मेष से दो वस्तुएँ परस्पर तुला पर शीघ्र ही चढ़ जायें, एक तो भीतर ही भीतर किंचित् घूमती और कोमल पुतली से युक्त तुम्हारा चक्षु और दूसरा भ्रमरसञ्चार युक्त पद्म।'

यहाँ जो प्रस्पन्दमानता अर्थात् घूमना है वही प्रचलितत्व अर्थात् सचरण है। अत यहाँ वस्तुप्रतिवस्तुभाव शुद्धसामान्यस्वरूप है। तारा और भ्रमर में यहाँ भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। उधर उन्मेष की दृष्टि से इसमें अनुगामिधर्मत्व भी है। इस प्रकार यह पद्य तीनों भेदों का उदाहरण है।

विमर्श—उपमेयोपमा के प्राचीन लक्षण—

भामह = उपमानोपमेयत्वं यत्र पर्यायतो भवेत्।
उपमेयोपमा नाम ब्रुवते तां यथोदिताम्॥ ३।३७॥

'जहाँ क्रम से [बारी बारी से] उपमानोपमेयत्व हो उसे अपने अर्थ के ही अनुरूप उपमेयोपमा कहते हैं।'

वामन = क्रमेण एकस्यैवोपमानोपमेयत्वं उपमेयोपमा।' 'एक ही पदार्थ यदि क्रम से [एक वाक्य में] उपमान और [एक वाक्य में] उपमेय बनाकर प्रस्तुत किया जाए तो वहाँ उपमेयोपमा होती है।

उद्भट = अन्योन्यमेव यत्र स्यादुपमानोपमेयता।
उमेयोपमामाहुस्तां पक्षान्तरहानिगाम्॥

जहाँ एक दूसरे के ही साथ दो के बीच उपमानोपमेयता हो उसे उपमेयोपमा कहते हैं। इसका तात्पर्य होता है पक्षान्तर [अन्य के उपमानत्व] का निराकरण।'

रुद्रट = में अप्राप्त।

मम्मट = 'विपर्यास उपमेयोपमा तयो-॥'

तयो- उपमानोपमेययो। परिवृत्ति [विपर्यास] अर्थात् वाक्यद्वये। इतरोपमानव्यवच्छेदपरा। उपमेयेन उपमा इति उपमेयोपमा॥

उपमान और उपमेय का परस्पर में एक दूसरे के रूप में आना। यह दो वाक्यों में ही संभव है। तभी इसका नाम है उपमेयोपमा अर्थात् उपमेय के द्वारा [उसे उपमान बनाकर] उपमा।

शोभाकर = परस्परमुपमानोपमेयत्वमुपमेयोपमा !'

उपमानस्य उपमेयतापि, उपमेयस्यापि उपमानत्वम् इति उपमेयोपमालंकारः, स चोपमानान्तरनिषेधार्थः।

परस्पर में उपमानोपमेय भाव उपमेयोपमा कहलाता है। यहाँ उपमान भी उपमेय बना दिया जाता है और उपमेय भी उपमान। इस अलंकार का प्रयोजन है अन्य किसी उपमान का निराकरण।

इस ऐतिहासिक विवेचन से स्पष्ट है कि उपमेयोपमालंकार के निम्नलिखित चारों तत्त्वों पर प्राचीन सभी आचार्यों की दृष्टि थी १ = भिन्न भिन्न पदार्थों में परस्पर उपमानोपमेयभाव, २ = एतदर्थ वाक्यभेद, ३ = इसका उद्देश्य वाक्योपात्तपदार्थातिरिक्त पदार्थ की उपमानता का निरास तथा ३ = इसकी अन्वर्थता।

परवर्ती शोभाकर और पूर्ववर्ती वामन ने अलंकारसर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'खमिव जलम्०' पद्य ही उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया है। शोभाकर ने मम्मट द्वारा अन्योन्योपमा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत "सविता विधवति" पद्य को भी उपमेयोपमा का उदाहरण माना है। उन्होंने सूर्य और चन्द्र का परस्पर उपमानोपमेयभाव विरोध को लेकर माना है। सुख और दुःख में सूर्य के विरुद्ध चन्द्र ही है और चन्द्र के विरुद्ध सूर्य। इस प्रकार दोनों में परस्परविरुद्धत्वेन उपमानोपमेयभाव माना है। वस्तुतः "यहाँ चित्त के दुःखी होने पर सुखकारी चन्द्र भी सूर्य सा संतापकारी बन जाता है और सुखी होने पर संतापकारी सूर्य भी चन्द्रमा सा सुखकारी बन जाता है।' इस प्रकार सूर्य चन्द्र की उपमा में एक बार सुखकारित्व और दूसरी बार दुःखकारित्व साधारण धर्म हैं। साधारण धर्म के भिन्न होने पर तृतीयसदृशव्यवच्छेदप्रतीति नहीं हो पाती। विमर्शिनीकार ने जो विवेचन किया है वह बड़ा ही हृद्य है। पण्डितराज ने भी उसे मान लिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अलंकारसर्वस्वकार, अलंकाररत्नाकरकार तथा विमर्शिनीकार तीनों की उपमेयोपमाविषयक समस्त मान्यताओं का अक्षरशः खण्डन किया है। उनके खण्डन का केन्द्र केवल एक ही तत्त्व है। वह है उपमेयोपमा में वाक्य भिन्न हो जाने पर भी साधारण धर्म का एक होना। उपमानान्तरनिषेध की प्रतीति साधारणधर्म के दोनों वाक्यों में एक न होने से नहीं हो सकती। उन्होंने 'रजोभिः०' इत्यादि पद्य को 'सविता विध०' पद्य के ही समान अन्योन्योपमा का उदाहरण माना है। उनका कहना है कि यहाँ उपमानान्तरनिषेध की प्रतीति नहीं होती। कारण कि यहाँ दोनों उपमाओं में साधारण धर्म एक नहीं है। 'भूतल तुल्य व्योम' इस उपमा में रजोरूप साधारण धर्म अनुगामी है किन्तु 'व्योमतुल्य भूतल' इस उपमा में वह बिम्बप्रतिबिम्बात्मक है। वहाँ हाथी और मेघों का ऐक्य आकार और वर्ण के आधार पर भासित होता है।' हमारी समझ में यदि 'रजोमज' और 'रजोमेघ' ऐसे दो वर्ग बनाकर इनमें बिम्बप्रतिबिम्ब और वस्तुप्रतिवस्तुभाव मानकर ऐक्य मान लिया जाय तो धर्म में एकत्व हो सकता है, किन्तु तृतीयसदृशव्यवच्छेद की प्रतीति तब भी होगी या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डित ने भी इसी प्रकार का तर्क प्रस्तुत किया है। द्र० अ० कौ० पृ० १७९ काव्यमाला श्लोक ५)।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वस्वकार के 'द्वयोः' इस विशेषण पर आक्षेप करते हुए कहा कि वह व्यर्थ है। उन्होंने कारण यह बतलाया है कि 'वाक्यभेद' शब्द अपना लेने पर 'द्वयोः' का कार्य हो जाता है। ठीक भी है। किन्तु पण्डितराज यह नहीं सोच पाए कि 'द्वयोः' सूत्र का अंश है और 'वाक्यभेद' वृत्ति का।

पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उपमेयोपमा का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

'तृतीयसदृशव्यवच्छेदबुद्धिफलकवर्णनविषयीभूत
परस्परमुपमानोपमेयभावमापन्नयोरर्थयोः सादृश्यं सुन्दरमुपमेयोपमा ।'

'ऐसे पदार्थों का सुन्दर सादृश्य उपमेयोपमा होता है जो परस्पर में ऐसे उपमानोपमेयभाव से युक्त हों जिसके वर्णन का फल तृतीयसदृशव्यवच्छेद हो ।'

वृत्ति द्वारा इसी का स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है—'एकेन धर्मेण एकप्रतियोगिके परानुयोगिके सादृश्ये निरूपिते अपरप्रतियोगिकस्य एकानुयोगिकस्यापि तेन धर्मेण सादृश्यस्य अर्थेन सिद्धतया शब्देन पुनरुक्तिः स्वनैरर्थक्यपरिहाराय तृतीयसदृशव्यवच्छेदमाक्षिपति ।'

अर्थात्—एक ही धर्म के आधार पर किसी एक पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ में सादृश्य बतला देने पर उसी धर्म के आधार पर दूसरे पदार्थ का प्रथम पदार्थ में सादृश्य भी स्वतः ही विदित हो जाता है, तथापि उसे जो पुनः शब्दतः कहा जाता है वह अपनी निरर्थकता के परिहार के लिए दोनों से भिन्न तृतीय सदृश के निराकरण का आक्षेप करता है ।

उपमेयोपमा में पण्डितराज ने जिस साधारणधर्मैक्य पर बल दिया है उसकी ओर पहिली बार अप्पयदीक्षित ने ध्यान दिया है। चित्रमीमांसा में उनका वाक्य है—"एकधर्माश्रयेण परस्परसाम्ये वर्ण्यमाने अनयोरस्मिन् विषये तृतीयः सब्रह्मचारी नास्तीति फलति । कस्यचित् केनचित् सादृश्ये वर्णिते तस्याप्यन्येन सादृश्यमर्थसिद्धमपि मुखतो वर्ण्यमानं तृतीयसदृशव्यवच्छेदार्थं भवतीति हि तत्फलकत्वे बीजम् ।"

अर्थ वही है जो पंडितराज के उपर्युक्त वाक्य का है।

इस प्रकार तृतीयसदृशव्यवच्छेद के लिए साधारणधर्म की एकता भी उपमेयोपमा में अपेक्षित है।

यहाँ एक बात यह ध्यान देने की है कि विमर्शिनीकार ने "कान्ताननस्य कमलस्य सुधाकरस्य, "यह जो उदाहरण दिया है इसमें दो से अधिक पदार्थों का परस्पर में उपमानोपमेयभाव है। फलतः पण्डितराज का 'तृतीयसदृशव्यवच्छेद' यह विशेषण लक्षण में अव्याप्ति दोष लाता है।

सञ्जीविनीकार ने उपमेयोपमा का लक्षण कारिका में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'उपमानोपमेयत्वव्यत्यस्तयो न क्रमं विना ।
उपमेयोपमा तेन वाक्यभेदैकगोचरा ॥'

—'उपमान और उपमेय में परिवर्तन हो किन्तु उसमें क्रम का अभाव न हो तो वह उपमेयोपमा होती है। वह नियमतः भिन्न वाक्यों में ही होती है।

सञ्जीविनीकार के अनुसार यहाँ बिम्बप्रतिबिम्बभाव नहीं होता। इसका कारण उन्होंने वाक्यभेद बतलाया है। वाक्यभेद होने से बिम्बप्रतिबिम्बभाव का चमत्कार, उनकी दृष्टि से, प्रतीत नहीं हो पाता।

[सर्वस्व]

[सू० १५] सदृशानुभवाद् वस्त्वन्तरस्मृतिः स्मरणम् ॥

वस्त्वन्तरं सदृशमेव। अविनाभावाभावान्नानुमानम्। यथा—

'अतिशयितसुरासुरप्रभावं शिशुमवलोक्य तथैव तुल्यरूपम् ।
कुशिकसुतमखद्विषां प्रमाथे धृतधनुषं रघुनन्दनं स्मरामि ॥'

साहश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलंकारः। यथा—

'अत्रानुगोदं मृगयानिवृत्तस्तरङ्गवातेन विनीतखेदः।
रहस्त्वदुत्सङ्गनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तः॥'

अत्र च कर्तृविशेषणानां स्मर्तव्यदशाभावित्वे स्मर्तृदशाभावित्वम-समीचीनम्।

[सू० १५] समान [वस्तु] के अनुभव से दूसरी वस्तु की स्मृति स्मरण नामक अलंकार कहलाती है।

[वृ०] दूसरी वस्तु अर्थात् दूसरी सदृश वस्तु हो। यह अनुमान नहीं है क्योंकि यहाँ व्याप्ति का अभाव है।

[उत्तररामचरित में सारथि सुमन्त्र लव को लक्षित कर चन्द्रकेतु के प्रति] 'देव और दानवों के प्रभाव से भी अधिक प्रभाव वाले उन्हीं से [राम के ही समान] शरीर वाले तथा हमारी सेना पर धनुष ताने हुए इस शिशु [लव] को देखकर मुझे विश्वामित्र के यज्ञ के विनाशक राक्षसों को नष्ट करने लिए धनुष खींचे हुए राम का स्मरण हो रहा है।'

जो स्मृति सादृश्य के बिना होती है वह यह अलंकार नहीं बन पाती। यथा—

[रघुवंश में पुष्पकारूढ राम की जनकतनया सीता से उक्ति] मुझे स्मरण आ रहा है कि गोदावरी के किनारे इसी पंचवटी में मृगया करके लौटता और बेंतों के बने इन घरों के एकान्त स्थान में तुम्हारी गोद में सिर रख कर लेटा करता था। उस समय गोदावरी की तरंगों से शीतल पवन द्वारा मेरी थकावट दूर होती थी।

यहाँ एक [आनुषंगिक] बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि [मूल में स्मरण क्रिया के] कर्ता के जो विशेषण हैं [मृगयानिवृत्त, विनीतखेद, त्वदुत्संगनिषण्णमूर्धा, सुप्त] उन्हें उस दशा का विशेषण बनाना चाहिए जिसका स्मरण किया जा रहा है। अतः उन्हें जो स्मरण कर्त्ता का विशेषण बनाकर प्रस्तुत किया गया वह ठीक नहीं।

विमर्शिनी

सदृशेति। वस्त्वन्तरमिति स्मर्यमाणम्। सदृशमेवेति। सादृश्यस्योभयनिष्ठत्वात्। अतश्च स्मर्यमाणेनानुभूयमानस्य, अनुभूयमानेन वा स्मर्यमाणस्य सादृश्यपरिकल्पनमय-मलंकारः।

यदुक्तम्—

यथा हृदयेन जनिता साम्यधीः स्मर्यमाणगा।
स्मर्यमाणकृताप्यस्ति तथेयं हृदयगामिनी॥' इति।

तत्राद्यः प्रकारो ग्रन्थकृदुदाहरणे। तत्र हि शिशोरेव रघुनन्दनेन सादृश्यं विवक्षितम्। द्वितीयस्तु यथा—

'तस्यास्तीरे रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः क्रीडाशैलः कनककदलीवेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं त्वां तमेव स्मरामि॥'

अत्रानुभूयमानेन मेघेन स्मर्यमाणस्य क्रीडाशैलस्य सादृश्यपरिकल्पनम्। एवं चात्र सादृश्यस्योभयसंबन्धेऽप्यनुभूयमानेनैव पुनः स्मर्यमाणप्रतीतिर्भवतीत्यवमेयम्।

ननु यद्येवं तत्परस्मात्परप्रतिपत्तेः किं नेदमनुमानमित्याशङ्क्याह—अविनाभावेत्यादि। अविनाभावस्तादात्म्यान्नियतसाहचर्याद्वा। अनुभूयमानस्मर्यमाणयोश्च तदभावः। शिशु-

रघुनन्दनयोः सादृश्यपरिकल्पने चातिशयितसुरासुरप्रभावत्वादिधर्मोऽनुगामितया निर्दिष्टः। वस्तुप्रतिवस्तुभावेनापि धर्मस्यायं भवति। तत्र शुद्धसामान्यरूपत्वेन यथा—

> 'सान्द्रां मुदं यच्छतु नन्दको वः सोल्लासलक्ष्मीप्रतिबिम्बगर्भः।
> कुर्वन्नजस्रं यमुनाप्रवाहसलीलराधास्मरणं मुरारेः॥'

अत्र सोल्लाससलीलत्वयोरेकत्वम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावेनापि यथा—

> 'पूर्णेन्दुना मेघलवाङ्कितेन द्यां मुद्रितां सुन्दरि वीक्षमाणः।
> विवाहहोमानलधूमलेखामिलत्कपोलां भवतीं स्मरामि॥'

अत्र मेघलवधूमलेखादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावः। एतदेव सादृश्यनिमित्तत्वं द्रढयितुं प्रत्युदाहरति—सादृश्यमित्यादिना। सदृशानुभवाभावादत्र स्मृतेर्न सादृश्यहेतुकात्वम्। स्मर्तव्यदशामाविन्य इति। स्मर्तव्यदशाभाविन्य इत्यस्य वाच्ये सदृशादृश्येत्यर्थः। अत एव वाच्यस्यात्र वचनम्। स्मर्तृदशाभावित्वमित्यवाच्यस्य वचनम्। यद्यपि स्मर्तृदशायामतीतत्वात् कर्तृविशेषणानां मृगयानिवृत्तत्वादीनामप्यतीतकालावच्छिन्नानां तद्भावित्वं तथापि वर्तमानकालावच्छिन्नस्य स्मर्तृविशेषणभावेनोपनिबन्धापेक्षया तदवच्छिन्नतैव प्रतीयत इति यथोक्तमेव दूषणद्वयं युक्तमिति सहृदया एव प्रमाणम्।

सदृशेति। वस्त्वन्तरम् = दूसरा वस्तु अर्थात् स्मर्यमाण वस्तु। सदृशमेवेति = सदृश ही = क्योंकि सादृश्य दोनों में रहता है इसीलिए स्मर्यमाण [याद किये जा रहे] से अनुभूयमान का अथवा अनुभूयमान से स्मर्यमाण का सादृश्य बोध होना यह अलङ्कार है। जैसा कि कहा है— 'जिस प्रकार दृश्य = दिखाई दे रही वस्तु से उत्पन्न साम्यज्ञान में स्मर्यमाण वस्तु भी विषय बनती है उसी प्रकार स्मर्यमाण वस्तु से उत्पन्न इस [साम्यज्ञान] में दृश्य वस्तु (१)।' इनमें से प्रथम प्रकार [दृश्यसाम्य का स्मर्यमाण तक पहुँचना] ग्रन्थकार द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से स्पष्ट है। यहाँ शिशु (लव) का राम से सादृश्य विवक्षित है। दूसरा प्रकार [मेघदूत के] इस पद्य में है—

'[मेरे भवन में बनी] उस [वापी] के तट पर सुवर्णकदली की वृत्ति [घेरे] से अधिक दर्शनीय और लुभावने इन्द्रनील खण्डों से रचित शिखर का क्रीडाशैल है। वह मेरी गेहिनी [= ठेठ घरवाली, यक्षी] को प्रिय है। इसलिए हे मित्र [मेघ] आसपास चमकी बिजली से युक्त तुम्हें देखकर कातर चित्त से मैं उसी का स्मरण कर रहा हूँ।'

यहाँ अनुभूयमान मेघ से स्मर्यमाण क्रीडाशैल का सादृश्य बतलाया गया है।

यहाँ सादृश्य का सम्बन्ध दोनों के साथ रहने पर भी मानना यही ठीक है कि अनुभूयमान से ही स्मर्यमाण का [सादृश्य] बोध होता है।

यदि ऐसा है तो भिन्न पदार्थ से भिन्न पदार्थ का ज्ञान होने के कारण इसे अनुमान क्यों न माना जाय। इस शंका पर उत्तर देते हैं—"अविनाभाव" = व्याप्ति। अविनाभाव = पृथक् पृथक् न रहना, या तो तादात्म्य से होता है या नित्यसाहचर्य से। अनुभूयमान और स्मर्यमाण में ये (तादात्म्य या साहचर्य) नहीं रहते।

शिशु और रघुनन्दन में जो सादृश्य की कल्पना है उसमें 'अतिशयितसुरासुरप्रभावत्व' आदि धर्म अनुगामी [समानरूप से उभयनिष्ठ] रूप से निर्दिष्ट है, किन्तु यह धर्म के वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न होने पर भी होता है। उससे भी शुद्ध सामान्यरूप वस्तुप्रतिवस्तुभाव यथा—

नन्दक [भगवान् विष्णु का खड्ग] आपको घना आनन्द प्रदान करे, जिसके बीच उल्लासयुक्त लक्ष्मी का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो विष्णु भगवान् को यमुना प्रवाह में लीलायुक्त राधिकाजी

का स्मरण आ जाता है। [विक्रमाङ्कदेव चरित मङ्गलपद्य]। यहाँ सोल्लासत्व और सलीलत्व एक ही हैं। बिम्बप्रतिबिम्बभाव के साथ भी यह होता है। यथा—'मेघखण्ड से अंकित पूर्णेन्दु से द्यौ [अन्तरीक्ष] को मुदित देख रहा हूँ तो हे सुन्दरि ! विवाहहोमाग्नि की धूमलेखा से स्पृष्ट कपोल वाली तुम्हारा स्मरण कर रहा हूँ (?)। यहाँ मेघखण्ड और धूमलेखा आदि का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है [वस्तुतः खण्ड और लेखा में वस्तुप्रतिवस्तुत्व ही है क्योंकि दोनों वस्तुतः एक हैं]।

सादृश्यनिमित्तता को दृढ करने के लिए इसी [स्मरण] का प्रत्युदाहरण देते हैं—**सादृश्यम्** [इस अत्रानुगोदं पद्य में] सदृशवस्तु का अनुभव नहीं है, अतः उसकी स्मृति सादृश्य जनित नहीं है।

स्मर्त्तव्यदशाभावि अर्थात् (विशेषणों को) स्मरण की जा रही दशा के विशेषणरूप से प्रस्तुत करना उचित था। वैसा नहीं किया। इसीलिए वाच्यावचन नामक दोष हुआ। [वाच्या-वचन के लिए द्रष्टव्य व्यक्तिविवेक विमर्श-२, पृष्ठ-३८७ हिन्दी अनुवाद] स्मर्तृदशा के विशेषण-रूप से प्रस्तुत किया इससे अवाच्यवचन दोष हुआ [अवाच्यवचन के लिए द्रष्टव्य व्यक्तिविवेक विमर्श-२ पृ० ४३६ हि० अ०] यद्यपि स्मरणकर्त्ता [राम] की दशा [गोद में सिर रखकर सोना आदि।] बीती दशाएं हैं अतः [स्मरण] कर्त्ता के कृताय-निवृत्तत्व आदि सभी विशेषण भी बीते समय अर्थात् भूतकाल के ही हैं, अतः श्लोक में भी इन्हें वैसा ही बतलाया जाना चाहिए था, किन्तु [उन्हें स्मरणकर्त्ता की दशा का विशेषण न बनाकर स्मरणकर्त्ता का ही विशेषण बनाया गया है और] स्मरणकर्त्ता अतीतकाल का नहीं, वर्त्तमानकाल का ही है। अतः उसके विशेषणों में भी वर्त्तमानकालिकता प्रतीत होती है। फलतः [हमारी दृष्टि से] वाच्यावचन तथा अवाच्यवचन दोनों दोष यहाँ ठीक ही हैं। आगे इस विषय में सहृदय ही प्रमाण हैं।

[सर्वस्व]

प्रेयोलंकारस्य तु सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयः। यथा 'अहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्' इति। तत्रापि विभावाद्यागूरितत्वेन स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यत्वे यथा—'अत्रानुगोदम्' इत्यादि।

'यैर्दृष्टोऽसि तदा ललाटपतितप्रासप्रहारैः युधि
स्फीतासृक्स्नुतिपाटलीकृतपुरोभागः परान् पातयन्।
तेषां दुःसहकामदेहदहनप्रोद्भूतनेत्रानल-
ज्वालालीभरभास्वरे स्मरसि ध्वस्तं गतं कौतुकम् ॥'

इत्यादौ सदृशवस्त्वन्तरानुभवेऽशक्यवस्त्वन्तरकरणात्मा विशेषा-लंकारः, करणस्य क्रियासामान्यात्मनो दर्शनेऽपि संभवात्। मतान्तरे काव्य-लिङ्गमेतत्। तदेते सादृश्याश्रयेण भेदाभेदतुल्यत्वेनालंकारा निर्णीताः।

[वृत्ति] प्रेयोलंकार का विषय वह स्मृति है जो सादृश्य से भिन्न कारण से उत्पन्न होती है। यथा—'अहो, कोप में भी मुख कमनीय था।' किन्तु [सादृश्येतरनिमित्त से उत्पन्न होने पर] उस [स्मृति] में विभावादि द्वारा व्यंग्यता रहनी चाहिए। केवल [स्मरण आदि] स्व [वाचक] शब्दमात्र से कह देना मात्र नहीं; जैसा कि "अत्रानुगोदम्" आदि में कहा गया है]।

'युद्ध में आपके भाल पर भाले का प्रहार पड़ा । उससे वह पड़े पर्याप्त रक्त प्रवाह से आपका अगला भाग लाल हो गया । उस समय भी युद्ध में [एक नहीं] अनेक शत्रुओं को दबाते हुए आप जिस किसी को भी दिखाई दिए उसका दुःसह कामशरीर को जलाने के लिए भयंकरता के के साथ उद्भूत नेत्राग्नि की ज्वालावली समुदाय से जगमगाते कामान्तक भगवान् शंकर के विषय में जो कौतूहल था वह शान्त हो गया ।'

इत्यादि स्थलों में [स्व] भिन्न [किन्तु स्व] समान किसी वस्तु के अनुभव से अन्य अशक्य वस्तु का जो निर्माण है तद्रूप विशेषालङ्कार है । क्योंकि निर्माण = अर्थात् करना [विशेषालङ्कार के लक्षण में 'करना' ही उपात्त] एक सामान्य क्रिया [जैसे भू और अस्] है अतः वह दर्शनस्वरूप भी माना जा सकता है । दूसरे मत में यह काव्यलिङ्ग है ।

सो इस प्रकार सादृश्यमूलक किन्तु भेद और अभेद दोनों को बराबरी से होने वाले अलङ्कारों का [लक्षण] निर्णय किया गया ।

विमर्शिनी

प्रत्युदाहरणान्तरमपि दर्शयति—प्रेयोलङ्कारस्येत्यादिना । तुशब्दश्चार्थे । सादृश्यव्यतिरिक्तं संस्कारादिनिमित्तम् । तथापीति । एवं स्थितेऽपि सतीत्यर्थः । विभावाद्यागूरितत्वे प्रेयोलङ्कारस्य सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापिता स्मृतिर्विषयो न स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यत्वे स्मृतिर्विषय इति सम्बन्धः । तत्र विभावाद्यागूरितत्वे स्मृतिर्यथा—'अहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्' इति । स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यत्वे यथोदाहृतम् 'अत्रानुगोदम्'–इत्यादौ । अत्र च यथा प्रेयोलङ्कारो भावध्वनेश्चास्य यथा भिन्नविषयत्वं तथाग्र एव वक्ष्यामः । एवं च प्रत्युदाहरणद्वयस्यापि प्रयोजनं भिन्नविषयत्वात् ।

क्वचिच्च सादृश्यनिमित्तापि स्मृतिरवाक्यार्थत्वादस्मिन्पर्यवस्यतीत्याह—'दृष्टोऽसि-' इत्यादि । वस्त्वत्र जयापीडदर्शनम् । वस्त्वन्तरं तु भगवद्दर्शनम् । अत्र त्वद्दर्शनमभिलषतां जनानां न त्वद्दर्शनावाप्तिरेवाभूद्यावत्तेषामसम्भाव्यं भगवद्दर्शनमपि जातमित्यशक्यवस्त्वन्तरकरणम् ।

विशेषालङ्कारस्य ह्यशक्यवस्त्वन्तरकरणं रूपम्, इह पुनरशक्यवस्त्वन्तरदर्शनं स्थितमिति कथमत्र विशेषालंकार इत्याशङ्क्याह—करणस्येत्यादि । पुनश्च गम्यगमकभावमाश्रित्यान्यैः काव्यलिङ्गत्वेनाभ्युपगतमिति दर्शयितुमाह—मतान्तर इत्यादि । एतदिति स्मरणम् । मतान्तर इत्युद्भटे । यदुक्तम्—

> 'श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा ।
> हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते ॥' इति ।

इह पुनर्गम्यगमकभावादनुभूयमानस्मर्यमाणव्यवहारोऽपि विशिष्यत इति पृथगलंकारतयैतदुक्तम् । एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—तदेत इत्यादि । एत इत्युपमाद्याश्च-त्वारोऽलंकाराः ।

दूसरा प्रत्युदाहरण भी बतलाते हैं—प्रेयोलंकार इत्यादि । तुशब्द 'च' शब्द के अर्थ = [और या समुच्चय] में प्रयुक्त है । सादृश्य भिन्न अर्थात् संस्कारादि जनित । तथापि ऐसा होने पर भी ['प्रेयोलङ्कारस्य—स्वशब्दप्रतिपाद्यत्वे] इतने ग्रन्थ का अर्थ इस प्रकार है—'विभावादि से व्यङ्ग्य होकर यदि स्मृति सादृश्यातिरिक्त निमित्त से हुई हो तो प्रेयोलङ्कार बनती है, न कि केवल स्मरामि, स्मरति, स्मरण आदि स्मृतिवाचक शब्दों द्वारा उसके उल्लेखमात्र से । इनमें

से विभावानुभावव्यभिचारी से व्यंग्य स्मृति का उदाहरण दिया "अहो कोप में भी मुख की कमनीयता" । स्वशब्दमात्रप्रतिपाद्यता का उदाहरण दिया—"अत्रानुमोदम्"—यहाँ इन [दोनों में से प्रथम] में प्रेयोलंकार और भावध्वनि जिस प्रकार हैं यह आगे चलकर बतलावेंगे। इस प्रकार जो दो प्रत्युदाहरण दिये उन दोनों के विषय भिन्न भिन्न हैं [नहीं तो एक ही प्रत्युदाहरण पर्याप्त होता] ।

कहीं कहीं स्मृति सादृश्यमूलक होकर भी वाक्यार्थरूप न होने के कारण स्मरणालंकार नहीं बनती। इसी के लिए उदाहरण दिया = येऽद्दृष्टोऽसि । यहाँ वस्तु है जयापीड का दर्शन, वस्त्वन्तर है भगवान् शिवरूप । यहाँ, तुम्हारा दर्शन चाहने वाले व्यक्तियों को केवल तुम्हारे ही दर्शन का लाभ नहीं हुआ, अपितु जो सर्वथा असंभव था वह भगवान् शिव का दर्शन भी हो गया। इस प्रकार अशक्यवस्त्वन्तरकरण [अन्य अशक्य वस्तु का कर देना = बना देना] यहाँ हुआ [जो विशेषालंकार का लक्षण है ।]

विशेषालंकार जो है वह अशक्यवस्त्वन्तरकरणरूप है, और यहाँ ("येऽद्दृष्टोऽसि" पद्य में) है अशक्यवस्त्वन्तर दर्शन । अतः यहाँ विशेषालंकार कैसे है इस शंका पर लिखते हैं—**'करणस्य'** । यहाँ गम्यगमकभाव मानकर कुछ आचार्यों ने काव्यलिंग माना है । इस बात को बतलाने के लिए कहा–'मतान्तर' इति । एतत् = यह = अर्थात् स्मरण । मतान्तरे = अर्थात् उद्भट के मत में, जैसा कि कहा है एक सुनी वस्तु—यदि स्मृति या अनुभव का हेतु बने तो उसे काव्यलिंग कहा जाता है' [उद्भट, काव्या. सा. सं. ६।७] ।

यहाँ गम्यगमकभाव से अनुभूयमान और स्मर्यमाण का व्यवहार भी विशेषता को प्राप्त होता है, इसलिए इसे अलग अलंकाररूप से कहा ।

अब इसका उपसंहार करते हुए अन्य अलंकार की प्रस्तावना करते हैं तदेतद् इति । एते = ये अर्थात् उपमा आदि [अनन्वय, उपमेयोपमा और स्मरण] चार अलंकार ।

विमर्शः—'करण और दर्शन' की अभिन्नता पर संजीविनीकार ने अपनी प्रयोगदीपिका में निम्नलिखित विवेचन किया है—

"तेऽस्त्यर्था धातवो ह्येया य उदासीनकर्तृकाः ।
विकुर्वाणप्रयुञ्जानकर्तृका भूकृञर्थकाः ॥"

'जिनके कर्ता उदासीन रहते हैं वे धातुएँ अस्ति धातु के अर्थ की होती हैं, जिनके कर्ता विकृति को प्राप्त होते हैं वे भूधातु के अर्थ की और जिनके कर्ता प्रयोग में आते हैं वे कृधातु के अर्थ की होती हैं ।' दृशधातु का कर्त्ता प्रयुक्त होता है अतः यह कृधातु [करण शब्द की प्रकृति] से अभिन्न अर्थवाली है ।

उदासीन = जिसका प्रयोग अनिवार्य न हो । विकृति को प्राप्त = अवस्थाभेद को प्राप्त । प्रयुंजान—जिसका प्रयोग अवश्य ही किया जाय ।

'येऽद्दृष्टोऽसि' पद्य में स्मरणालंकार न होने पर संजीविनीकार का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'अत्र योऽयं सदृशवस्त्वन्तरानुभवो येऽद्दृष्टोऽसीति निर्दिष्टः नासौ स्मररिपुस्मरणजननात् स्मरणालंकारः, किन्तु अशक्यस्मररिपुदर्शनकौतुकास्तमयरूपार्थान्तरकरणात्मा विशेषालंकारः । एतद्दर्शनेन तदपि सिद्धमिति प्रतीतिः ।

—यहाँ जो यह सदृशवस्त्वन्तर का निर्देश "येऽद्दृष्टोऽसि" इस प्रकार किया गया है वह स्मरणालंकार नहीं है यद्यपि उससे स्मरणीय (शंकर) रूपी वस्त्वन्तर का स्मरण होता है, अपितु यह विशेषालंकाररूप है, क्योंकि यहाँ अशक्य जो शंकर दर्शन के कौतुक का शमनरूप दूसरी वस्तु

है उसका किया जाना बतलाया जा रहा है जो विशेषालंकार रूप है। क्योंकि यहाँ 'इसके दीखने में वह भी सिद्ध हो गया' ऐसी प्रतीति होती है।

संजीविनीकार ने स्मरणालंकार का विवेचन कारिकारूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"स्मृतिः सा स्मर्यते यत्र सदृशात् सदृशान्तरम्।
अप्राधान्यादवाच्यत्वादिनं प्रेयान् विभिद्यते॥"

'उसे स्मरणालंकार कहते हैं जिसमें समान वस्तु से समान वस्तु का स्मरण किया जाय।

प्रेयोऽलंकार भाव की अप्रधान व्यञ्जना का नाम है। भावों में जिस प्रकार रतिनामक भाव प्रेयोऽलंकार बनता है उसी प्रकार स्मृतिनामक भाव भी बन सकता है, फिर स्मृति को प्रेयोऽलंकार न मानकर स्मरणालंकार क्यों माना गया इसका उत्तर भी सञ्जीविनीकार ने उक्त कारिका के उत्तरार्ध में इस प्रकार दिया है—

इससे प्रेयोलंकार इसलिए भिन्न हो जाता है कि यह न तो सादृश्यमूलक होता और न वाच्य ही।

स्मरणालंकार पर पूर्ववर्ती आचार्य भामह, वामन, उद्भट तथा रुद्रट ने इस अलंकार का विवेचन नहीं किया है। इन आचार्यों ने कदाचित् स्मृति को भी भावालंकार माना है इसीलिए ग्रन्थकार ने उसका पक्ष उठाया और अन्तर किया है।

मम्मट = "यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः स्मरणम्" सदृश वस्तु के दिखाई देने पर अनुभव के अनुरूप सदृश वस्तु की स्मृति स्मरणालंकार।'

उदाहरण = 'पूर्णेन्दुना नेन००' इत्यादि पद्य जो विमर्शिनी में उद्धृत है।

स्मरणालंकार, भावध्वनि प्रेयान् नामक भावालंकार तथा स्मृतिभाव में अन्तर दिखलाते हुए पण्डितराज ने लिखा है—

'अयं चालंकारिकाणां सम्प्रदायो यत् सादृश्यमूलकत्वे स्मरणं निदर्शनादिवदलंकारः, तस्याभावे व्यंग्यतायां भावः, तयोरभावे तु वस्तुमात्रम्। भावस्य हि भावाद्यङ्गतायां प्रेयोऽलङ्कारत्वम्।

अर्थात् आलंकारिक आचार्यों का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि स्मृति यदि सादृश्यमूलक होती है तो निदर्शनादि के समान अलंकार होती है, यदि नहीं [सादृश्यमूलक नहीं होती] किन्तु यदि व्यंग्य होती है तो वह भाव कहलाती है। यदि सादृश्यमूलक और व्यंग्य दोनों नहीं होती तो वस्तुमात्र कहलाती है। प्रेयोलंकार वह भाव होता है जो भावादि का अंग बनकर आता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रेयोऽलङ्कार और स्मरणालंकार पर जो अन्तर अलंकारसर्वस्वकार ने प्रस्तुत किया है उसे प्रामाणिक माना है और अप्पय्यदीक्षित के खण्डन में उसे साक्ष्यरूप से प्रस्तुत किया है। स्मरणालंकार के लक्षण में उन्होंने न केवल सर्वस्वकार अपितु रत्नाकरकार का भी खण्डन किया है। उनका कहना है कि स्मरणालंकार की व्याप्ति उस स्मृति तक भी है जिसका स्मरण स्मर्यमाण सदृश वस्तु से होता है।

उदाहरण के रूप में उन्होंने अपना यह पद्य प्रस्तुत किया है—

'सन्त्येवास्मिन् जगति बहवः पक्षिणो रम्यरूपा-
स्तेषां मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।
यैरध्यक्षैरथ निजसखं नीरदं स्मारयद्भिः
स्मृत्यारूढं भवति किमपि ब्रह्म कृष्णाभिधानम्॥'

—'इस संसार में बहुत से सुन्दर सुन्दर पक्षी हैं किन्तु चातक उनमें मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं, क्योंकि उन्हें देखते ही स्मरण आ जाता है उनके मित्र मेघों का और उनसे स्मृति में आ जाता है कोई एक कृष्ण नामक महा' यहाँ [कृष्ण सदृश] चातक द्वारा सम्बन्धित्वेन स्मर्यमाण है। उससे उसदृश श्रीकृष्ण का स्मरण सादृश्य द्वारा होता है। पण्डितराज का कहना है कि 'सदृशानुभव' शब्द के स्थान पर यहां 'सदृशज्ञान'—शब्द अधिक उपयुक्त है। इससे उपयुक्त स्थल में भी लक्षण संगत हो सकता है। मेघ का अनुभव भले हो न हो ज्ञान अवश्य हो रहा है।

पण्डितराज ने स्वयं इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

'सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसंस्कारप्रयोज्यं स्मरणं स्मरणालङ्कारः।

'सादृश्यज्ञान से जागे संस्कार से जनित स्मरण स्मरणालङ्कार कहलाता है।' पण्डितराज जगन्नाथ के आलोचक विश्वेश्वर पण्डित ने अपने अलंकारकौस्तुभ में पण्डितराज के उपर्युक्त संशोधन को अक्षरशः स्वीकार किया है—

'सदृशज्ञानोद्बुद्धसंस्कारभवा स्मृतिः स्मरणम्' अनुभवे व्यभिचारवारणाय भवान्तं ज्ञानविशेषणम्। उद्बोधकान्तरसमवधानजन्यस्मरणवारणाय सदृशज्ञानेति। ज्ञानपदं च स्मृत्यनुभवोभयसाधारणम्। अतः स्मरणस्यैवोद्बोधकत्वस्थले नाव्याप्तिः।'

अब अभेदप्राधान्य से होने वाले अलंकार कहे जा रहे हैं—

[सर्वस्व]

[सू० १६] अभेदप्राधान्ये आरोपे आरोपविषयानपह्नवे रूपकम्।

अभेदस्य प्राधान्याद्भेदस्य वस्तुतः सद्भावः। अन्यत्रान्यावाप आरोपः। तस्य विषयविषय्यवष्टम्भत्वाद्विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः। अन्यथा तु विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद्रूपकम्। साधर्म्यं त्वनुगतमेव। यदाहुः—'उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते' इति आरोपादभेदेऽध्यवसायः प्रकृष्यते इति पश्चात्तन्मूलालंकारविभागः।

[सू० १६] अभेद की प्रधानता होने पर आरोप हो किन्तु आरोपविषय छिपा न हो तो रूपक [होता है]।

[वृ०] अभेद की प्रधानता कहने का अर्थ है कि इस अलंकार में भेद का भी अस्तित्व रहता है। आरोप कहलाता है दूसरे पर दूसरे का आवाप [अध्यास, थोपना]। वह [आरोप] विषय और विषयी से बंधा रहता है। तब यदि विषय [जिस पर आरोप किया जाता है] छिपा दिया जाय [शब्दतः न कहा जाय] तो अपह्नुति अलंकार होता है। अन्यथा [यदि विषय छिपाया न जाय उसे शब्दतः कहा जाए तो] रूपक होता है। क्योंकि तब विषय विषयी के द्वारा [उसके] रूप से युक्त बनाया जाता है। [क्योंकि यह अलंकार साधर्म्यमूलक अलंकारों के सन्दर्भ में बतलाया जा रहा है इसलिए] साधर्म्य तो [इस अलंकार में प्रकरण से ही] चला आता है। जैसा कि कहा है—"उपमा ही भेद को छिपाकर रूपक मानी जाती है"—[दण्डी काव्यादर्श—२।६६]

अभेद में आरोप की अपेक्षा अध्यवसाय अधिक उत्कृष्ट होता है, इसलिए तन्मूलक [अध्यवसायमूलक] अलंकारों का विभाजन बाद में किया जायगा।

विमर्शिनी

संप्रतीति। भेदाभेदतुल्यत्वाश्रयालंकारानन्तरमभेदप्रधानं लक्षयितुमुचितत्वादवसरप्राप्ताविरयर्थः। तत्र तावत्प्रथम रूपकं लक्षयति—अभेदप्राधान्य इत्यादि। वस्तुत इति। न तु प्रतीतितः। सद्भाव इति। प्रधानाप्रधानयोः संबन्धिशब्दत्वात्। अन्यत्रान्यावाप आरोप इति। अन्यत्रेति प्रकृते मुखादौ। अन्यस्येत्यप्रकृतस्य चन्द्रादेः। स च सामानाधिकरण्येन वैयाधिकरण्येन च निर्देशे भवति। न तु सामानाधिकरण्येन निर्देश एव स। एवं हि—'याताः कणादतां केचित्' इत्यादावारोपसद्भावेऽपि न सामानाधिकरण्यमस्तीत्यव्याप्तिः स्यात्। आर्थं सामानाधिकरण्यमस्तीति नाव्याप्तिरिति चेत्, न। भिन्नयोः सामानाधिकरण्येन निर्देशो [अ० र० सू० २६] ह्यारोपलक्षणम्। न च तदत्र निर्दिष्टम्। वैयधिकरण्येन निर्देशात्तत्रार्थावसेयत्वात्। अर्थावसायो निर्देशश्च नैकं रूपम्। विप्रतिषेधात्। नीलमुत्पलमित्यादावपि गुणजातिरूपत्वेन भिन्नयोर्नीलोत्पलयोः सामानाधिकरण्येन निर्देशादारोपः प्रसज्यत इत्यतिव्याप्तिः स्यात्। न चारोपे भिन्नयोः सामानाधिकरण्येन निर्देश उच्यत इत्यसंभवोऽपि। इति न निरवद्यमेतदारोपलक्षणम्। यद्येवं तत्किं शब्दे शब्दान्तरमर्थे वार्थान्तरमारोप्यत इति चेद् न। तत्र न शब्दे शब्दान्तरारोपः। मुखशब्दादेश्चन्द्रशब्दादिरूपत्वेनाप्रतीतेरन्योन्यविविक्तत्वविश्रान्तरूपोपलम्भादिति भवद्भिरेवोक्तत्वात्। किं त्वर्थेऽर्थान्तरारोपः। स च प्रयोजनपरतया तथा निर्दिश्यते न भ्रान्त्या। अत एव शुक्तिकायामिव रजतारोपो न मुखे चन्द्रारोपः। तस्य स्वरसत एवोत्थानेन भ्रमरूपत्वात्। अत एव तत्रारोपविषयस्यारोप्यमाणेनाच्छादितत्वेन प्रतीतिः। इह पुनर्ज्ञानान एव कश्चिच्चन्द्रविविक्तं मुखं तत्र प्रयोजनपरतया चन्द्रार्थमारोपयति। अत एवोक्तमारोपविषयानपह्नव इति। भवद्भिरप्यनेनैवाशयेन 'प्रतिपादनभ्रमोऽयं न भ्रान्ता प्रतिपत्तिरित्या'युक्तम्। तथैवारोपस्य त्रिषय प्रकृतः विषयी चाप्रकृतः। ताभ्यामवष्टम्भात् युक्तत्वम्। यदुक्तम्—'सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा' इति।

संप्रति अर्थात् भेदाभेद की तुल्यता वाले अलङ्कारों के निरूपण के पश्चात् अभेदप्रधान अलङ्कारों का लक्ष्य करना उचित होने के कारण अवसर आ जाने पर। उनमें पहले रूपक का लक्षण करते हैं—अभेदप्राधान्य इत्यादि। वस्तुतः वास्तविक रूप से न कि केवल प्रतीतिमात्र में। सद्भाव इसलिए कि प्रधान और अप्रधान सम्बन्धिवाचक शब्द हैं। अन्यत्रान्यावाप आरोप अन्यत्र = दूसरे में अर्थात् मुख आदि प्रकृत वस्तुओं में। अन्यस्य = दूसरे का अर्थात् चन्द्र आदि अप्रकृत वस्तुओं का।

यह आरोप दोनों ही प्रकार के निर्देशों से होता है सामानाधिकरण्यपूर्वक [सामानाधिकरण्य]= उपमानोपमेय या विषय विषयी के एक ही विभक्ति में रहने से और वैयधिकरण्यपूर्वक [वैयधिकरण्य]= उनको भिन्न-भिन्न विभक्तियों में रहने से ऐसा नहीं कि केवल सामानाधिकरण्यपूर्वक ही निर्देश से यह हो [जैसा कि अलङ्काररत्नाकरकार ने माना है]। ऐसा मानने पर [कि केवल सामानाधिकरण्य में ही आरोप होता है] "कुछ लोग कणादता को प्राप्त हुए" इत्यादि में आरोप रहने पर भी सामानाधिकरण्य न होने से [आरोप का लक्षण लागू नहीं होगा फलतः] अव्याप्ति दोष आवेगा। 'अर्थगत सामानाधिकरण्य [एकार्थकत्व] यहाँ है ही अतः अव्याप्ति नहीं होगी' यदि ऐसा कहें यह भी ठीक नहीं, क्योंकि [आपने अलङ्काररत्नाकर में] आरोप का रूप ही भिन्न-भिन्न अर्थों का सामानाधिकरण्यपूर्वक [एक विभक्ति के साथ] निर्देश [बतलाया] है। वह [सामानाधिकरण्य] यहाँ [कणादतां केचित् = कुछ कणादता को प्राप्त हुए में] निर्दिष्ट नहीं है।

वैयधिकरण्यपूर्वक निर्देश होने पर उस [सामानाधिकरण्य] का ज्ञान अर्थतः होता है। अर्थतः ज्ञान होना और [शब्दतः] ये दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि इनमें परस्पर विरोध है।

[आपके आरोप लक्षण के अनन्तर] "नील उत्पल" इत्यादि [विशेष्यविशेषणभाव के स्थलों] में भी आरोप मानना होगा क्योंकि यहाँ एक [नील] गुणरूप है और दूसरा [उत्पल] जातिरूप है, अतः दोनों भिन्न हैं और दोनों का सामानाधिकरण्यपूर्वक शब्दतः निर्देश भी है। इस प्रकार यहाँ [जो कि आरोप का स्थल नहीं है आरोप का लक्षण लागू होगा अतः] अतिव्याप्ति दोष होगा। आरोप में भिन्न-भिन्न वस्तुओं का [सामानाधिकरण्य तो शब्दतः कथित रहता है पर उनका] सामानाधिकरण्यपूर्वक निर्देश शब्दतः कथित नहीं रहता [किसी भी आरोप में आरोप लक्षण लागू नहीं होता] अतः असंभव [नामक दोष] भी [आरोप लक्षण में होगा]। इस प्रकार आरोप का [अलंकाररत्नाकर में] उक्त लक्षण निर्दोष नहीं है।

यदि ऐसा है तो क्या शब्द पर दूसरे शब्द का आरोप होता है या अर्थ पर दूसरे अर्थ का? यदि ऐसा पूछते हैं तो सुनिए हम कहते हैं—शब्द पर शब्द का आरोप नहीं होता क्योंकि रूपक या आरोप ऐसी प्रतीति नहीं होती कि मुख आदि शब्द चन्द्र आदि शब्द रूप हैं। उन [शब्दों] की प्रतीति एकदम पृथक्-पृथक् रूप से होती है और वे अपने आप तक ही सीमित हैं। यह आपने ही स्वयं कहा है। आरोप अर्थ पर अर्थ का होता है। और यह किसी प्रयोजन से होता है भ्रान्ति से नहीं। इसीलिए मुख पर चन्द्र का आरोप सीप पर चाँदी के आरोप जैसा नहीं होता। क्योंकि वह सीप पर चाँदी का आरोप स्वभावतः होता है अतः उसे कहा भी, भ्रम जाता है। इसीलिए यहाँ [सीप और चाँदी में] आरोपविषयीभूत वस्तु [सीप] आरोप्यमाण [चाँदी] से आच्छादित प्रतीत होता है। यहां [मुखचन्द्र आदि स्थलों में] तो कोई भी व्यक्ति जानते हुए कि मुख चन्द्र से भिन्न है उस [मुख] पर प्रयोजनविशेष से चन्द्ररूपी अर्थ का आरोप करता है। इसीलिए कहा कि आरोप विषय का अनपह्नव = प्रकटत्व, शब्दतः कथन रहना चाहिए। आप [शोभाकरमित्र अर्थात् अलंकाररत्नाकरकार] ने भी इसी आशय से—"यह प्रतिपादन का क्रम है कि प्रतीति भ्रान्तिपूर्ण है" ऐसा कहा है।

तस्य = उसका = अर्थात् आरोप का विषय = प्रस्तुत और विषयी = अप्रस्तुत वस्तु। उन दोनों से अवष्टब्ध होना अर्थात् युक्त होना। जैसा कि [मम्मट ने] कहा है—'वह लक्षणा सारोपा कहलाती है जहां विषय और विषयी दोनों कथित हों [काव्यप्रकाश—२]।

विमर्शः—अलंकाररत्नाकरकार ने रूपक के विषय में जो लिखा है वह इस प्रकार है—

'आरोपो रूपकम्'। भिन्नयोः सामानाधिकरण्यनिर्देश आरोपः। शब्दान्यशब्दान्यारोपः। नह्यर्थे अर्थान्तरं वस्तुत आरोप्यते, नापि प्रतीतितः। नह्यनुसन्धेन 'मुखं चन्द्र' इत्यादौ शुक्त्या इव रजतेन मुखस्य चन्द्रेणाच्छादितत्वं प्रतीयते, मुखस्य पृथगुपात्तस्य स्वरूपेणैव भासमानत्वम्। नापि द्विचन्द्रादिवद् बाध्यमानैव प्रतीतिः, बाधोपन्यासेऽपि तत्र तस्या अनिवृत्तेः। इह स्वरूपतश्चन्द्रविविक्तमुखस्वरूपस्य निश्चितशुक्तिरूपस्येव प्रमातुश्चन्द्रोऽयं रजतमितिवच्छब्दतोऽप्युच्यमाने न तद्रूपतया प्रतिपत्तिः। किन्तु नीलमुत्पलमित्यादिवत् सामानाधिकरण्यदर्शनात् प्रतिपादनक्रमोऽयं न भ्रान्ता प्रतिपत्तिः। द्विचन्द्रादिवद् बाध्यमानाया अपि तस्या अभावात्। नापि शब्दे शब्दान्तरारोपः, मुखादेश्चन्द्रादिरूपतयाऽप्रतीतेः। अन्योन्यविविक्तस्वविश्रान्तत्वोपलम्भात्। तस्मात् तद्धर्मत्वादिप्रतिपत्त्यर्थः सामानाधिकरण्यनिर्देश एवारोपः।—'आरोप रूपक कहलाता है। आरोप है दो भिन्न वस्तुओं का सामानाधिकरण्यनिर्देश [शब्दतः सामानाधिकरण्य बतलाना]। न कि दूसरे पर दूसरे का आरोप। क्योंकि एक पदार्थ पर दूसरे पदार्थ का आरोप

न तो वस्तुत. होता और न प्रतीतित. ही। स्वस्थचित्त वाले किसी भी व्यक्ति को 'मुख चन्द्र' है इत्यादि में मुख का चन्द्र द्वारा वैसा आच्छादन प्रतीत नहीं होता जैसा शुक्तिका का रजत के द्वारा प्रतीत होता है। मुख तो अलग कथित रहता है [जब कि शुक्तिका का बोधक कोई प्रमाण नहीं रहता] अत उसका भान अपने रूप में ही होता है [जब कि शुक्तिका का भान सर्वथा रजतरूप से ही होता है] यह प्रतीति "दो चन्द्र"—इस प्रतीति के समान [उत्तरकाल में मिटने वाली अत.] बाधित भी नहीं है, क्योंकि बाध की प्रतीति हो जाने पर भी यह प्रतीति हटती नहीं [होती ही रहती है]। यहां जिस प्रमाता [ज्ञाता] को मुख की प्रतीति चन्द्रभिन्नत्वेन हो जाती है उससे यदि सौ बार भी कहा जाय कि यह चन्द्र है तो तादूप्य की प्रतीति नहीं होगी ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शुक्ति का शुक्तित्वेन ज्ञान हो जाने पर उसमे रजत की प्रतीति। यह तो 'नील उत्पल' इत्यादि के समान सामानाधिकरण्य देखने मे हुआ प्रतिपादन भ्रम है, न कि भ्रान्त प्रतिपत्ति। क्योंकि "दो चन्द्र" आदि के समान वह बाधित नहीं पाई जाती।

न तो शब्द पर ही शब्द का आरोप होता क्योंकि मुखादि [शब्द] चन्द्रादि [शब्द] रूप से प्रतीत नहीं होते। उनका [दोनों शब्दों का] स्वरूप परस्पर भिन्न रूप से प्रतीत होता है। वे [दोनों] तो अपने तक ही सीमित रहते हैं।

इस लिए 'तद्धर्मत्व' आदि की प्रतीति के लिए सामानाधिकरण्यनिर्देश ही आरोप होता है।

स्पष्ट है कि विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार की उपर्युक्त पंक्तियों को अक्षरशः उद्धृत किया है और रत्नाकरकार ने जिस 'अर्थ पर अर्थ के आरोप' का खण्डन किया है उसे ही उन्होंने सिद्धान्त बतलाया है। रत्नाकरकार का कहना इतना ही है कि जब तक दो वस्तुओं को शब्दत. कहकर उनमें से एक पर दूसरे को न थोपा जाय, आरोप नहीं होता।

विमर्शिनी

अन्ययेति। अनपह्नवे। एवमनेनापह्नुतिरूपकयोर्भेदोऽप्युक्तः। आहुरिति दण्ड्यादयः। अतश्च साधर्म्यसद्भावात्तदनुयायिभेदत्रयानुप्राणितत्वमप्यस्य ज्ञेयम्। यथा—

'कंदर्पद्विपकर्णकम्बुमसितैर्दानाम्बुभिर्लाञ्छितं
संलग्नाञ्जनपुञ्जकालिमकलं गण्डोपधानं रते.।
व्योमानोकहपुष्पगुच्छमलिभि' संछाद्यमानोदरं
पश्यैतच्छशिनः सुधासहचरं बिम्बं कलङ्काङ्कितम्॥'

अत्र कलङ्कस्य दानाम्बादिभि. प्रतिबिम्बनम्। लाञ्छितत्वाङ्कितत्वयो' शुद्धसामान्यरूपत्वम्। सुधासहचरत्वस्यानुगतत्वादनुगामितेति भेदत्रयानुप्राणितत्वम्। अनेन च सादृश्यनिमित्त एवारोपो रूपकमित्युक्तं भवति। केषांचिदपि सबन्धान्तरहेतुरप्यारोपो रूपकाङ्गमेवेति मतम्। यदाहालकारभाष्यकारः—'लक्षणापरमार्थं यावता रूपकस्वरूपम्' इत्युपक्रम्य 'सारोपान्या च सादृश्याद्वा संबन्धान्तराद्वा' इत्यादि। स [illegible] यथा—

'अमृतकवलः शोभाराशि प्रमोदरसप्रपा
सितिमशकटं ज्योत्स्नावापी तुषारघरट्टिका।
मनसिजरुसी श्रृङ्गारश्रीविमानमहो नु मो
निरवधिसुखश्रद्धा दृष्टे' कृती मृगकेतनः॥

अत्रेन्दुरूपे कारणे कार्यरूपाया. श्रद्धाया आरोप.। ग्रन्थकृताप्यलंकारानुसारिण्याम 'श्रद्धाहेतुत्वाच्छ्रद्धे'त्यभिधाय 'विशेषणैकस्मिन्ननेकवस्त्वारोपान्मालारूपकमित्यभि-

दधतायमेव पक्षः कटाक्षितः। ननु चाध्यवसायगर्भाणामप्यलंकाराणामभेदप्राधान्ये सति प्रथमारोपगर्भा अलंकाराः किमिति लक्षिता इत्याशङ्क्याह—आरोपादित्यादि।

अन्यथा अर्थात् अपह्नव होने पर। ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने अपह्नुति और रूपक का भेद भी बतला दिया। आहुः=कहा है अर्थात् दण्डी आदि ने। [रूपक में] साधर्म्य का सद्भाव बतलाने से उस [साधर्म्य] के साथ चलने वाले [बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक वस्तुप्रतिवस्तुभाव, शुद्ध सामान्य रूप वस्तुप्रतिवस्तुभाव तथा अनुगामी धर्म-इनके आधार पर होने वाले] तीनों भेद भी रूपक में आ जाते हैं। यथा—

'देखो यह चन्द्रमा का बिम्ब, इसमें सुधासहचरत्व [सुधायुक्त होना तथा सुधासदृश सफेद होना दोनों का एक ही शब्द से कथन होने के कारण अभेद है] भी है और कलंक भी इसलिए यह कामरूपी गज के कान का शंख है जिस पर मटमैले मदजल का धब्बा पड़ गया है; यह रति का गण्डोपधान [गाल का तकिया] है जिसमें काजल की कालिख लग गई है; यह 'आकाश-वृक्ष का पुष्पगुच्छ है जिसके बीच भौंरे भर गए हैं।'

यहां [बिम्बभूत] कलंक के मदजल, काजल, भौंरे प्रतिबिम्ब हैं। लंछितत्व = धब्बा पड़ना और अंकित होना = लगना शुद्ध सामान्य वस्तु प्रतिवस्तु हैं और सुधासहचरत्व अनुगत धर्म है अतः यह अनुगामी साधारण धर्म हुआ।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि सादृश्यमूलक आरोप ही रूपक होता है।

कुछ लोगों का यह भी मत है कि [सादृश्य से भिन्न] अन्य संबन्ध से होने वाला आरोप भी रूपक का ही अंग होता है। जैसा कि अलंकारभाष्यकार ने कहा है—'रूपक का जो स्वरूप है उसमें सार है लक्षणा'—यहां से लेकर 'दूसरी जो सारोपा है वह या तो सादृश्य से होती है या दूसरे सम्बन्ध से।' यहां तक।' [सादृश्यभिन्नसम्बन्धमूलक] इस दूसरे रूपक का उदाहरण यह है—

["यह कुती चन्द्र अमृतग्रास है, शोभा की राशि है, प्रमोदरस की प्याऊ है, सफेदी का छकड़ा है, ज्योत्स्ना की बावड़ी है, तुषार की भट्ठी है, काम की आसन्द है, शृङ्गारश्री का विमान है, और कितना कहें, निरवधि सुख की श्रद्धा है।" [सोमपाल विलास]।]

यहाँ चन्द्ररूपी कारण पर कार्यरूपी श्रद्धा का आरोप है। ग्रन्थकार ने भी 'अलंकारानुसारिणी' में उक्त श्लोक की टीका में इस श्लोक पर श्रद्धाहेतु होने से श्रद्धा" ऐसा कहकर यह कहते हुए कि 'खासकर एक में अनेक वस्तुओं के आरोप से यहाँ मालारूपक है' इसी पक्ष की ओर संकेत किया है।

विमर्श—अलंकाररत्नाकरकार ने भी सादृश्यातिरिक्तसम्बन्धमूलक आरोप को रूपक माना है। उन्होंने विस्तारपूर्वक लिखा है—

'इह अन्ये सादृश्यनिमित्त एव आरोपो रूपकं न सम्बन्धान्तरनिमित्तकोऽपि, तेन सम्बन्धान्तर-पूर्वक आरोपो वैचित्र्यमात्रं न त्वलङ्कार कश्चिदिति मन्यन्ते, तन्न नयनिपुणहृदयावर्जकम्। तथाहि इह द्विविधा लक्षणा (१) प्रयोजनरहिता रूढा, (२) तद्युता च कार्या। तत्र रूढायां प्रयोजन-रूपव्यंग्यार्थाभावाद् अभिधावद् वैचित्र्यचारुताविरहान्न सहृदय-हृदयाह्लादकारितया रसपरिपोष-कत्वमिति नालंकारता। कार्या पुनरुक्तद्वैलक्षण्येन काव्यजीवितायमाना सर्वथा कविभिरादरणीयेति सर्वेषां ध्वनिकारादीनामविप्रतिपत्तिः। न च तस्याः सादृश्ये सम्बन्धान्तरे वा कश्चिद् विशेषः येनैकत्र अलंकारता अपरत्र तदभाव इति स्यात्। न च सम्बन्धान्तरनिमित्त आरोपोऽलंकारतया लक्षितः,

नापि तद् युज्यते। रूपकसाजात्येन तदन्तर्भावस्यैवोचितत्वात्। अत एव 'आरोपो रूपकमिति समान्येनैवेह सूचितम्, न ■ सादृश्यमित्यनुपक्रम्।

साद्दृश्यसम्बन्धनिबन्धनाया यद्यलंकृतित्व यदि लक्षणाया।
साम्येऽपि सर्वस्य परस्य हेतो सम्बन्धभेदेऽपि तथैव युक्ता ॥' इति सग्रह.।

'यहाँ कुछ आचार्यों की मान्यता है कि "सादृश्यमूलक आरोप ही रूपक है, सम्बन्धान्तरनिमित्तक नहीं। इसलिए सम्बन्धान्तरमूलक आरोप वैचित्र्यमात्र है कोई अलंकार नहीं, जैसा कि कहते हैं—'तदेव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते" इत्यादि [अर्थ अभी आचुका है]।" यह मत नीतिनिपुण सज्जनों का हृदय आकृष्ट नहीं कर पाता। क्योंकि लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) प्रयोजनरहित निरूढा और (२) प्रयोजनसहित कार्या। दोनों में निरूढा प्रयोजनरूप व्यंग्यार्थ से रहित रहती है अतः वह अभिधा जैसी ही होती है, उसमें वैचित्र्य तो रहता है पर उसकी चारुता नहीं रहती। इसलिए वह सहृदयहृदयाह्लादकारी होकर रसपरिपोषक नहीं बन पाती अतः इसे अलंकार नहीं माना जाता। कार्या लक्षणा उससे विलक्षण होती है अतः वह काव्य का प्राण मानी जाती है। कवियों के लिए वह सर्वथा आदरणीय होती है। इस तथ्य में सब के सब ध्वनिवादी भी अविरुद्ध हैं। वह सादृश्यमूलक हो या सम्बन्धान्तरमूलक उसमें कोई अन्तर नहीं आता जिससे एक को अलंकार माना जाए और दूसरी को नहीं। सम्बन्धान्तरमूलक आरोप को अलंकाररूप से जो लक्षित नहीं किया गया है वह भी अनुचित है। जैसा रूपकत्व सादृश्यमूलक आरोप में रहता है वैसा ही सम्बन्धान्तरमूलक आरोप में, अतः उसका भी रूपक में गिना जाना उचित है। इसीलिए [हमने] "आरोप रूपक कहलाता है" इस प्रकार सामान्य आरोप को ही रूपक लक्षण में रूपक कहा है। उसमें सादृश्य की अनुवृत्ति नहीं की। निष्कर्ष यह कि—

यदि सादृश्यसम्बन्धमूलक लक्षणा को अलंकार माना जाता है तो अन्य सब हेतुओं के समानरूप से विद्यमान रहने पर केवल सम्बन्धभेदमात्र से [सादृश्येतर-सम्बन्धमूलक आरोप को रूपक न मानना अनुचित है उसमें] भी अलंकारता स्वीकार करना ही उचित है।'

रुद्रट ने इसे हेतु नामक अलंकार बतलाया है—

'हेतुमता सह हेतोरभिधानमभेदकृद् भवेद् यत्र।
सोऽलङ्कारो हेतुः स्यादन्येभ्यः पृथग्भूतः ॥" ७।८२ ॥

जहाँ कार्य के साथ कारण का इस प्रकार का कथन हो जिससे उनमें अभेद हो रहा हो तो उस अलंकार को हेतुनामक अलंकार माना जाता है। यह अन्य सब अलंकारों से भिन्न होता है।' उदाहरण दिया है—

'अविरलकमलविकासः सकलालिमदश्च कोकिलानन्दः।
रम्योऽयमेति संप्रति लोकोत्कण्ठाकरः कालः ॥'

'अब वह ऐसा रम्य समय आ रहा है जो लोगों में उत्कण्ठा जगाने वाला है, कमलों का घना विकास है, सभी भौंरों का मद है और कोयलों का आनन्द है।'

रुद्रट के काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु ने इस उदाहरण को उदाहरणों की दिशा कहा है और उदाहरण के रूप में अपनी ओर से यह पद्य प्रस्तुत किया है—

'आयुर्घृतं नदी पुण्यं भयं चौरः सुखं प्रिया।
वैरं द्यूतं गुरुर्ज्ञानं श्रेयो ब्राह्मणपूजनम् ॥'

—घी आयु है, नदी पुण्य है, और मय चोर है, प्रिया सुख है, जुआ वैर है, गुरु ज्ञान है, ब्राह्मण पूजन श्रेय है।'

मम्मट ने रुद्रट के इस मत का खण्डन किया है और हेतु को काव्यलिंगात्मक रूप से ही मान्य बतलाया है, तद्भिन्न उपर्युक्त रूप से उसमें कोई चमत्कार नहीं माना। कहा है कि "अविरल" आदि पद्य में काव्यत्व का कारण कोमल अनुप्रास है। भामह ने भी हेतु को अलंकारत्व योग्य नहीं माना है। उन्होंने—

'हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥ २।८६॥

अर्थात् हेतु सूक्ष्म और लेश को अलंकार नहीं माना कारण कि इनमें वाक्यार्थ (समुदायाभिधान) वक्रोक्तिशून्य होता है। भामह के मत में वक्रोक्ति ही अलंकारों का मूल है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥'

यद्यपि सूक्ष्म को मम्मट ने अलंकार मान लिया है। उद्भट ने भी हेत्वलंकार की चर्चा नहीं की। आचार्य दण्डी ने भामह के विरुद्ध हेतु सूक्ष्म और लेश इन तीनों को वाणी का भूषण ही नहीं उत्तम भूषण कहा है—

'हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम् [२।२३५ काव्यादर्श] उसके बहुत से भेद भी बतलाए हैं। किन्तु इनका हेतु रुद्रट के हेतु से सर्वथा भिन्न है। शोभाकर, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज ने अलंकाररत्नाकर, चित्रमीमांसा और रसगंगाधर में हेतु को अलंकार नहीं माना। यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ ने 'उल्लासः फुल्ल०' पद्य में हेत्वलङ्कार की संभावना व्यक्त की है।

प्रश्न उठता है कार्यकारणभावादिसम्बन्धमूलक आरोप को अलंकार माना जाय या नहीं। हमारी दृष्टि से अलंकाररत्नाकरकार का यह कथन संगत है कि इसे अलंकार न मानना सहृदयता के साथ अन्याय है। इसमें चमत्कार का अनुभव किसे नहीं होता। केवल ध्यान देने की बात इतनी है कि यहाँ चमत्कार का कारण क्या है। यदि घृत आदि कारण पर आयु आदि कार्य का आरोप चमत्कारकारी है तो यहाँ अवश्य ही रूपक होगा। किन्तु हमें यहाँ आरोप में नहीं अतिशय में चमत्कारकारणता लगती है। अतिशयोक्ति का एक भेद मम्मट ने भी कार्यकारणों के बीच पौर्वापर्य का विपर्यय माना है और उसमें वे सादृश्य भी स्वीकार नहीं करते। कार्यकारणके पौर्वापर्यविपर्यय के समान मम्मट को उनके अभेद में भी अतिशयोक्ति स्वीकार करनी चाहिए। कार्यकारण का अभेद भी वस्तुतः पौर्वापर्यविपर्यय ही है। क्योंकि कार्य और करण में कारण को पूर्ववर्त्ती और कार्य को परवर्ती प्रत्येक दार्शनिक मानता है। रुद्रट ने अहेतुनामक अलंकार को अतिशय वर्ग के भीतर गिना है वस्तुतः हेतु को अतिशय वर्ग में गिनना था। उन्होंने उसे वास्तव के भीतर गिना यही एक अरुचि का कार्य किया।

अनुभव के आधार पर कार्यकारणभावसम्बन्धयुक्त वस्तुओं का अभेद अतिशय को जन्म देता है और सादृश्ययुक्त वस्तुओं का अभेद आरोप को अतः दोनों अलंकारों में भेद मानना भी उचित है। रत्नाकर के समान अभेद नहीं। वस्तुतः काव्यों में प्रयोग सादृश्यमूलक अभेद का हीं अधिक है, अतः उसी के आधार पर रूपक की व्याख्या सब ने की है। इस विषय पर देखिए हमारा लेख 'मम्मटाभिमतं लक्षणायाः षड्विधत्वं हेत्वलङ्कारश्च'। [उदयपुरविश्वविद्यालय से १९६८ में प्रकाशित]

[सर्वस्व]

इदं तु निरवयवं सावयवं परम्परितमिति त्रिविधम्। आद्यं केवलं मालारूपकञ्चेति द्विधा। द्वितीयं समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति

द्विधैव। तृतीयं श्लिष्टशब्दनिबन्धनत्वेन द्विविधं सत्प्रत्येकं केवलमालारूपकत्वाच्चतुर्विधम्। तदेवमष्टौ रूपकभेदाः। अन्ये तु प्रत्येकं वाक्योक्तसमासोक्तादिभेदाः संभवन्ति तेऽन्यतो द्रष्टव्याः।

[वृत्ति] यह [रूपक] निरवयव, सावयव तथा परंपरित इस प्रकार तीन प्रकार का होता है। [इनमें से] प्रथम केवल [शुद्ध] तथा मालारूपक इस प्रकार दो प्रकार का होता है। द्वितीय [भी] समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति इस प्रकार दो ही प्रकार का होता है। तृतीय श्लिष्ट- [इनमें शब्दमूलक और अश्लिष्ट शब्दमूलक होकर केवल और मालारूपक होने से चार प्रकार का होता है। तो इस प्रकार रूपक के भेद आठ होते हैं। प्रत्येक में वाक्योक्त समासोक्त आदि [जो] कुछ और भी भेद होते हैं उन्हें अन्य ग्रन्थों में देखा जा सकता है।

विमर्शिनी

चशब्दोऽन्यालङ्कारापेक्षया भेदसमुच्चयार्थः। विषयद्योतकस्तुशब्दः। अवयवेभ्यो निष्क्रान्त आरोप्यमाणो यत्र तत्तथोक्तम्। सहावयवैरारोप्यमाणो वर्तते यत्र तत्तथोक्तम्। परम्परयैकस्य माहात्म्यादपरस्यारूपणत्वमायात यत्र तत्तथोक्तम्। आद्यमिति निरवयवम्। माला चैकस्यानेकस्य वानेकारोपाद्भवति। एवं परम्परितत्वेन मालारूपकं ज्ञेयम्। द्वितीयमिति सावयवम्। समस्तमारोप्यमाणात्मकं वस्त्वभिधाया विषयो यत्र तत्तथोक्तम्। एकदेश आरोपविषयाणाम्, अर्थस्तदात्मक एवारोप्यमाणप्रयोजनप्रतिपादनाय तद्रूपतया विवर्तते परिणमति यत्र तत्तथोक्तम्। तृतीयमिति परम्परितम्। यद्यपि श्लेषनिबन्धनेऽस्मिन्गुणक्रियात्मकधर्मनिबन्धनस्य सादृश्यस्यासंभव एव तथापि शब्दमात्रकृतमेवाभेदाध्यवसायतः सादृश्य ग्राह्यम्। अन्य इति एतद्भेदाष्टकव्यतिरिक्ताः। संभवन्तीति चिरंतनालङ्कारग्रन्थेष्वेव। न पुनर्लक्ष्यन्त इति भावः। तत्र हि तेषां सत्त्वेऽप्येतद्भेदाष्टककृतमेव वैचित्र्यं प्रतीयते। तथा च—

> 'पादः कूर्मोऽत्र यष्टिर्भुजगपतिरयं भाजनं भूतधात्री
> तैलापूराः समुद्राः कनकगिरिरयं वृत्तवर्तिप्ररोहः।
> अर्चिश्चण्डांशुरुच्चैर्गगनमलिनिमा कज्जलं दह्यमाना
> वैरिश्रेणी पतङ्गा ज्वलति नरपते त्वत्प्रतापप्रदीपः॥'

इत्यत्र सत्यपि वाक्यार्थोक्तत्वे समस्तवस्तुविषयकृतमेव वैचित्र्यम्।

'च' [और]—शब्द अन्य अलंकारों के अभेद भेद का समुच्चायक है। 'तु' शब्द विषय का द्योतक है [निरवयव =] अवयवों से निष्क्रान्त हो आरोप्यमाण जिसमें ऐसा [सावयव] जहाँ आरोप्यमाण अवयवों से युक्त हो। [परम्परित =] परम्परा अर्थात् एक के प्रभाव से दूसरे का आरोपण समर्थ हुआ हो जिसमें ऐसा। आद्य = प्रथम = निरवयव। माला एक या अनेक के आरोप से होता है। इस प्रकार का और परम्परितत्व से युक्त होने के कारण [रूपक को] मालारूपक माना जा है। द्वितीय = अर्थात् सावयव। [समस्तवस्तु विषय =] समस्त आरोप्यमाणात्मक वस्तु जहाँ अभिधा का विषय [शब्दतः कथित] हो वैसा। [एकदेशविवर्ति =] एकदेश = अर्थात् आरोपविषयों का, जहाँ अर्थ अपने ही रूप में बना रहे और आरोप्यमाण का प्रयोजन बतलाने के लिए आरोप्यमाण रूप से विवर्तित = अर्थात् परिणत हो। तृतीय अर्थात् परम्परित। यद्यपि जहाँ यह श्लेषमूलक होता है वहाँ गुणक्रियात्मक सादृश्य संभव नहीं होता तथापि शब्दमात्र से जनित अभेदाध्यवसाय से वहाँ सादृश्य बन जाता है। अन्य इन आठ भेदों

से भिन्न। संभवन्ति = हो सकते। अर्थात् प्राचीन अलंकार ग्रन्थों में ही। हम उसका लक्षण नहीं करेंगे। वहाँ उन भेदों के रहने पर भी इन आठ भेदों से होने वाला चमत्कार ही अनुभव में आता है [अतः चमत्कारकारण भिन्न न होने से उन भेदों से भिन्न नहीं माना जायगा]। जैसे—

"हे राजन्! आपके प्रताप का प्रदीप जल रहा है, इसमें पाद कूर्म है, भुजगपति = शेषनाग यष्टि है, पृथ्वी पात्र है, समुद्र तैल का भराव है, यह (सोने का शैल) सुमेरु गोलाकार बत्ती है, सूर्य ऊँची आँच है, आकाश की नीलिमा काजल है, [तथा] दह्यमान वैरियों की पाँत है पतंग।"

यद्यपि यहाँ रूपक वाक्यार्थ में व्याप्त है तथापि यहाँ चमत्कार समस्तवस्तुविषयत्वकृत ही है।

विमर्शः—समासगत और वाक्यगत भेद रुद्रट ने बतलाए हैं। दण्डी और वाग्भट ने भी इसकी चर्चा की है।

[सर्वस्व]

क्रमेण यथा—

दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दूये।
उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यत्खिद्यते तव पदं ननु सा व्यथा मे॥'

'पीयूषप्रसृतिर्नवा मखभुजां दात्रं तमोलूनये
स्वर्गङ्गाविमनस्ककोकवदनत्रस्तता मृणालीलता।
द्विर्भावः स्मरकार्मुकस्य किमपि प्राणेश्वरीसागसा-
माशातन्तुरुदञ्चति प्रतिपदि प्रालेयभानोस्तनुः॥'

'विस्तारशालिनि नभस्तलपत्त्रपात्रे
कुन्दोज्ज्वलप्रभ-भं संचयभूरिभक्तम्।
गङ्गातरङ्गघनमाहिषदुग्धदिग्धं
जग्धं मया नरपते कलिकालकर्णं॥'

'आभाति ते क्षितिभृतः क्षणदाप्रभेयं
निस्त्रिंशमांसलतमालवनान्तलेखा।
इन्दुत्विषो युधि हठेन तवारिकीर्ती-
रानीय यत्र रमते तरुणः प्रतापः॥'

क्षितिभृत इत्यत्र श्लिष्टं पदम्। परम्परितम्—

'किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न वा
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्गतो
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तदप्यस्त्येव बिम्बाधरे॥'

यत्र वक्त्रेन्दुरूपणहेतुकमधरामृतस्य पीयूषेण श्लिष्टशब्द-रूपणम्।

'विद्वन्मानसहंस वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते
दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर।

सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भावभीम प्रभो
साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः ॥'

अत्र त्वमेव हंस इत्यारोपणपूर्वको मानसमेव मानसमित्याद्यारोप इति श्लिष्टशब्दं मालापरम्परितम्।

'यामि मनोवाक्कायैः शरणं करुणात्मकं जगन्नाथम्।
जन्मजरामरणार्णवतरणतरण्डं हराङ्घ्रियुगम् ॥'

'पर्यङ्को राजलक्ष्म्या हरितमणिमयः पौरुषाब्धेस्तरङ्गो
भग्नप्रत्यर्थिवंशोल्वणविजयकरिस्त्यानदानाम्बुपट्टः।
सङ्ग्रामत्रासताम्यन्मुरलपतियशोहंसनीलाम्बुवाहः
खड्गः क्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥'

अत्र क्ष्मासौविदल्ल इति परम्परितमप्येकदेशविवर्ति। एवमादयोऽन्येऽपि भेदा लेशतः सूचिता एव।

[वृत्ति] क्रम से उदाहरण—

[१ = निरवयव शुद्ध]—"'अपराध करने पर स्वामी का सेवक पर पादप्रहार उचित ही होता है' इसलिए हे सुन्दरि! [तुम्हारे पादप्रहार करने पर भी] मुझे कोई खेद नहीं है, व्यथा मुझे इसकी है कि 'तुम्हारे सुकोमल चरण में मेरा कठोर 'रोमकण्टक' न टूट गया हो।'"

[यहाँ पूरे वाक्यार्थ में एकमात्र रोम पर एकमात्र कण्टक का आरोप है अतः उसमें अवयवावयविभाव न होने से निरवयवत्व तथा शुद्धरूपत्व भी है,]।

[वृत्ति] [२ = निरवयव मालारूप यथा]—"प्रतिपद तिथि को शीतकिरण चन्द्रमा का बिम्ब उदित हो रहा है। यह देवताओं के लिए नवीन अमृतभरी पसो (अञ्जलि) है, अन्धकार काटने के लिए यह दाँतरा है, स्वर्ग की गङ्गा में उदास बैठे चक्रवाक की चोंच से टपकी मृणाललता है, काम का दूसरा धनुष है, और प्रणयिनी के प्रति सापराध व्यक्तियों के लिए यह आशा का तन्तु है।"

[यहाँ न तो आरोपविषय चन्द्र में उसके अंग चन्द्रिका आदि का वर्णन है और न आरोप्यमाण पीयूषप्रसृति आदि में ही। अतः यह निरवयव है। साथ ही यहाँ आरोप का विषय एक ही है चन्द्र। जब कि आरोप्यमाण अनेक हैं पीयूषप्रसृति आदि, अतः यह मालारूप है। फलतः निरवयव मालारूपक यहाँ संगत है]। अनेक आरोपविषयों में से एक एक पर अनेक के आरोप का उदाहरण टीका में देखिए]

[३ = सावयव समस्तवस्तुविषय रूपक यथा किसी मूर्ख विद्वान् की सहायता के लिए राजा से उक्ति]।

[illegible] ...दलरूपी भँसों ...या है।"

...], गगनतरंग का आरोप है। वे भी आकाश सन्ध्या के अंग हैं। अतः विषय और विषयी (आरोप्यमाण) दोनों साङ्ग हैं और उनके सभी अंगों का अभेद बतलाने से यहाँ समस्तवस्तुविषय सावयव रूपक हुआ।]

[४ = सावयव एकदेशविवर्ती रूपक =]

[वृत्ति] 'आप क्षितिभृत [राजा, पर्वत] हैं। आप की जो तलवार है वह 'रात्रि तुल्य श्याम-कान्ति की मांसल (घनी) तमालद्रुमराजि है, जहाँ आपका तरुण प्रताप शत्रुओं की चन्द्रतुल्यकान्ति वाली कीर्तियों को बलात् ले आता है और उनके साथ रमण करता है।' यहाँ 'क्षितिभृत' यह पद श्लिष्ट है।

[यहाँ राजा पर पर्वत का और राजा की तलवार पर पर्वत की तमालमाला का तो आरोप शाब्द है किन्तु शत्रुओं की कीर्ति पर अपहृत सुन्दरियों का आरोप शाब्द नहीं है वह अर्थतः प्रतीत होता है। अतः यहाँ एकदेशविवर्त्ती सावयव रूपक है। वस्तुतः यहाँ समासोक्ति है। सावयव रूपक केवल राजा और पर्वत तक सीमित है उसमें एकदेशविवर्तिता नहीं है। जिस कीर्ति में वह है वह समासोक्तिस्थल है। 'तरुण' शब्द में श्लेष समासोक्ति में शिथिलता ला देता है। उधर 'क्षणदा-प्रभा' और 'इन्दुत्विषः' में उपमा भी है। अतः यह उदाहरण संकरालंकार का माना जाना उचित है। विमर्शिनीकार ने इसीलिए सावयव एकदेशविवर्त्ती रूपक के लिए नवीन उदाहरण दिया है—"भवत्संवित्०"]

[वृत्ति] [५ =] परम्परित =

"[तुम्हारा मुखरूपी चन्द्र] क्या पद्म की कान्ति नष्ट नहीं करता और क्या आँखों को आनन्द नहीं देता, या आलोक [दर्शन = प्रकाश] मात्र से कामदेव को नहीं बढ़ा देता? जो तुम्हारे मुख-रूपी चन्द्रमा के रहते हुए यह दूसरा चन्द्र उदित हो रहा है, यदि [इसे] अमृत का दर्प हो तो वह भी तो बिम्बफलतुल्य अधरयुक्त इस [मुख] में है हो।" यहाँ मुख पर चन्द्र के रूपण [आरोप] के आधार पर अधरामृत पर पीयूष का [अमृत-रस] श्लिष्ट पद द्वारा रूपण किया गया है।

[यहाँ अमृत शब्द अधर का भी वाचक है ऐसा मानकर श्लेष स्वीकार किया गया है, किन्तु कोषों में अमृत का अधर अर्थ नहीं मिलता। मुख पर चन्द्र का आरोप न होता तो अधर पर अमृत का आरोप न हो सकता, अतः एक रूपक दूसरे का कारण होने से यहाँ श्लिष्ट परम्परित है किन्तु आरोप्यमाण की संख्या अनेक नहीं है अतः यहाँ केवल श्लिष्ट परंपरित रूपक हुआ]

[६ = माला श्लिष्टपरम्परित =]—

[वृ०] "हे प्रभो! आप ब्रह्मा के सौ वर्षों तक उच्च साम्राज्य करें। आप विद्वन्मानस के हंस हैं, वैरिकमलासंकोच के लिए सूर्य हैं, दुर्गामार्गण के लिए शंकर हैं, समित्स्वीकार के लिए अग्नि हैं। सत्यप्रीति में दक्ष हैं, विजयप्राग्भाव के लिए भीम हैं और उत्कृष्ट वीर हैं।"

यहाँ 'तुम्हीं हंस हो' इत्यादि जो आरोपण [आरोप, रूपक] हैं उन्हीं के आधार पर "मानस ही मानस है" इत्यादि आरोप होते हैं, अतः श्लिष्ट शब्दों से युक्त माला-परम्परित [रूपक] है।

[मानस = मन तथा मानस सरोवर; कमलासंकोच = शत्रुपक्ष में कमला = लक्ष्मी का संकोच और सूर्य पक्ष में कमल का असंकोच। दुर्गामार्गण = राजपक्ष में दुर्गों का अमार्गण = न खोजना, शिवपक्ष में दुर्गा = सती का मार्गण खोजना, समित् = युद्ध और समिधा; सत्यप्रीति = राज पक्ष में सत्य पर प्रीति और दक्षप्रजापति. के पक्ष में सती की अप्रीति; विजयप्राग्भाव = राज-पक्ष में = विजय = जीत उसका प्राग्भाव पहले से ही रहना; भीमसेन पक्ष में विजय = अर्जुन उससे प्राग्भाव = प्राक् पहले हुआ है भाव = उत्पत्ति जिसकी, भीम अर्जुन से बड़ा था। इस प्रकार विद्वानों के चित्तरूपी मानस पर मानस-सरोवररूपी मानस का आरोप किया गया, तब राजा पर हंस का आरोप हो सका। इसी प्रकार वैरियों की कमला का जो संकोच एतत्स्वरूप जो कमलासंकोच उस पर 'कमलों का असंकोच' एतत्स्वरूप कमलासंकोच का आरोप होने पर राजा पर सूर्य का आरोप हो सका, दुर्ग का असमार्गण एतत्स्वरूप दुर्गामार्गण पर दुर्गा का मार्गण एतत्स्वरूप दुर्गामार्गण का आरोप

होनेसे राजा पर शिव का आरोप हुआ, युद्धरूपी समित् पर समिधारूपी समित् का आरोप करने पर राजा पर अग्नि का आरोप हुआ, 'सत्य पर प्रीति' एतत्स्वरूप सत्यप्रीति पर 'सतां पर अप्रीति' एतत्स्वरूप सत्यप्रीति का आरोप करने पर राजा पर दक्षप्रजापति का आरोप हुआ तथा जीत रूपी विजय के ऊपर अर्जुन रूपी विजय का आरोप होने से राजा पर भीम का आरोप सम्पन्न हुआ। इनमें हेतुभूत आरोपों में विषय और विषयी का सादृश्य 'एकशब्दवाच्यत्व'-रूपी साधारण धर्म से हुआ। एकशब्दता का अर्थ है शब्दों की वर्णानुपूर्वी का अभिन्न होना। मानस, कमलासकोच दुर्गामार्गण, समित्, सत्यप्रीति, विजय ऐसे ही शब्द हैं जिनमें 'म्+आ+न्+अ+स्+अ' इस प्रकार वर्णानुपूर्वी एक है और जो चित्त और सरोवरविशेष आदि ऊपर निर्दिष्ट विभिन्न अर्थों के वाचक हैं। एक ही शब्द जिन अनेक अर्थों का ज्ञान कराता है उनमें एक वृन्त में लगे फलों के समान अथवा एक आवरण में छिपी दो दालों के समान अभेद माना जाता है। इस श्लेष को एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन हुआ श्लेष कहते हैं। वस्तुतः एकत्वीजगतदलद्वयन्यायेन श्लेष कहा जाना चाहिए। यहाँ आरोप विषय एक ही है राजा, किन्तु आरोप के विषयी आरोप्यमाण अनेक हैं हंस, सूर्य आदि, अतः यह रूपक मालास्वरूप हुआ। फलतः इसे मालाश्लिष्ट परम्परितरूपक कहना ठीक है] [७ = अश्लिष्ट = केवल परम्परित =]—

[वृत्ति] 'मैं मन, वाणी और शरीर से भगवान् शंकर के चरण युगल की शरण में आता हूँ जो करुणात्मक हैं, जगत् के प्रभु हैं और जन्म, जरा, मृत्यु रूपी समुद्र से पार उतारने वाले तरण्ड = नौका हैं।'

[यहाँ जन्म जरा मृत्यु पर समुद्र का आरोप शिव चरणों पर नौका के आरोप का कारण है, आरोप की संख्या एक ही है और यहाँ श्लेष नहीं है अतः अश्लिष्ट केवल परम्परित हुआ]

८ = अश्लिष्ट मालापरम्परित =]—

[वृत्ति] "मालवेन्द्र का खड्ग युद्धस्थल में सर्वोत्कृष्ट है। वह राजलक्ष्मी का मरकत या इन्द्रमणि का बना पलंग है, शौर्यसमुद्र का तरंग है, वह शत्रुकुल पर विजय रूपी हाथी की [मद से] तराबोर गलपट्टी [दानाम्बु पट्ट] है, युद्धभव ने परराष्ट्र सुरल देश के स्वामी के यशरूपी हंस के लिए नीलमेघ है और पृथिवीरूपी पट रानी के लिए कञ्चुकी है।'

यहाँ "क्ष्मामीविदस्ले" पद में रूपक परम्परित होते हुए भी एकदेशविवर्ति है [क्ष्मा पर रानी का आरोप शाब्द नहीं आर्थ है] ऐसे और भी भेद अंशतः सूचित कर ही दिए गए हैं।" [यह वैधर्म्य से भी होता है, उनके उदाहरण आगे दिए जायेंगे]।

विमर्शिनी

क्रमेणेति यथोद्देशम्। द्विर्भावः स्मरकार्मुकस्येत्यत्र च वाक्यार्थपर्यालोचनयेन्दौ स्मरकार्मुकारोपप्रतीतेः कुटिलत्वाद्यनेकधर्मनिमित्त सादृश्यमेव संबन्धः। इन्दोश्चैकस्य यत्र आरोपा इति मालारूपकम्। अनेकस्य तु यथा—

'बाहू बालमृणालिके कुचतटी माणिक्यहर्म्यं रते-
र्मुक्ताशैलशिला नितम्बफलकं हासः सुधानिर्झरः।
वाचः कोकिलकूजितानि चिकुराश्चेनोभवश्चामरं
तस्यास्तत्तुरङ्गशावकदृशः किं किं न लोकोत्तरम् ॥'

अत्रानेकेषामनेकारोपाद्रूपकमाला। इयं च श्लेषनिबन्धनापि दृश्यते। यथा—

'नेत्रे पुष्करसोदरे मधुमती वाणी विपाशा मति-
श्चेतो याति नदीनतां कलयते शोणत्वमस्याधरः।

चारित्रं ननु पापसूदनमहो मामेव तीर्थाश्रयः
स्नातुं वाञ्छति भूपतिः परमितीवोष्णोदकं वल्गति ॥'

अत्रानेकेषां श्लिष्टा अनेक आरोपिता इति श्लिष्टार्थरूपकमाला।

आभातीत्यत्र समासोक्तिमन्ये मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते। यथा—

'भवत्संवित्पुष्पश्रियमनुपमामोदमधुरां समुच्चिन्वन्नानाविषयवनराजीविकसिताम्।
भवोद्याने भक्त्या तव सह विशेषोल्लसितया विहर्तुं व्यग्रः स्यामनुसृतविवेकप्रियसखः॥'

भक्तेर्नायिकारोपस्याशाब्दत्वादेकदेशविवर्तित्वम्।

'पीयूषस्याधरामृतेन श्लिष्टशब्दनिरूपणम्' इति लेखककल्पितोऽयमपपाठो ज्ञेयः। अधरामृतस्य हि पीयूषेण निरूपणमत्र स्थितम्। अतश्च 'अधरामृतस्य पीयूषेण श्लिष्टशब्दनिरूपणम्' इति पाठो ग्राह्यः। अत्र च पीयूषवदमृतशब्दस्याधररसावाचकत्वमन्ये मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरमुदाह्रियते। यथा—

'अलौकिकमहालोकप्रकाशितजगत्त्रय। स्तूयते देव सद्वंश मुक्तारत्नं न कैर्भवान्॥'

अत्र मुक्तारत्नमित्यारोपपूर्वको वंश एव वंश इत्यारोप इति श्लिष्टशब्दं केवलपरम्परितम्।

विद्वदित्यादौ हंसरूपगामाहात्म्यान्मानसरूपेणेति परम्परितम्। एवमर्णवरूपणा तरण्डारोपस्य हेतुरिति परम्परितम्। पर्यङ्क इत्यत्रैकस्य बहव आरोपा इति मालापरम्परितम्। अनेकस्य तु यथा—

'श्रीः श्रीधरोरःस्थलखेन्दुलेखा श्रीकण्ठकण्ठाम्रतडिच्च गौरी।
शक्राब्धिपद्माकरराजहंसी शची च वो यच्छतु मङ्गलानि॥'

अत्र बहूनामनेकारोपात्परम्परितमाला। एवमादय इति। परम्परितमप्येकदेशविवर्तीत्येवंप्रकाराः। सूचिता इति। एतत्प्रदर्शनादेव। ततश्च सावयवं द्विविधमपि श्लिष्टं दृश्यते। तत्र समस्तवस्तुविषयं यथा—

'विहडन्तोठ्ठदलउडं फुरन्तदन्ताकारबहलकेसरपअरम्।
पहरिसचन्दालोए हसिअं कुमुएण सुरहिगन्धोग्गारम्॥' [सेतुबन्धे ७।६]

अत्र कुमुदस्य श्लिष्टत्वम्। एकदेशविवर्ति यथा—

'यत्तारामौक्तिकार्घप्रकरपुलकितं चन्द्रिकाचन्दनाम्भो-
बिम्बं सम्पिहस्तस्थितकरकपयोधौतमाकाशलिङ्गम्।
तोयाधारे प्रतीचि च्युतवति दिनकृद्बिम्बनिर्माल्यपद्मे
तस्यार्चापुण्डरीकं व्यधित हिमकरं सत्वरं मूर्ध्नि कालः॥'

अत्र कालविषये पूजकादिरारोप्यमाणो न शाब्द इत्येकदेशविवर्तित्वम्। तोयाधारस्य समुद्रनिर्माल्योदकभाण्डवाचकत्वाच्छ्लिष्टत्वम्।

क्रमेण = क्रम से अर्थात् जिस क्रम से नाम लिए गए हैं उसी क्रम से। "द्विर्भावः स्मरकार्मुकस्य" = इस स्थल में वाक्यार्थ का विचार करने पर चन्द्रमा पर स्मरकार्मुकत्व के आरोप की प्रतीति होती है। उसमें कुटिलता आदि अनेक धर्म पर आश्रित सादृश्य ही संबन्ध है। और एक इन्दु पर अनेक का आरोप है इसलिए यह मालारूपक भी है। अनेक [पर अनेक के आरोप] का उदाहरण यथा—"हरिण के डरे हुए छौने की सी आँखों वाली उस सुन्दरी का क्या लोकोत्तर नहीं है—उसकी बाहें कोमल वल्लरी मृणाल हैं, कुचस्थल रति का माणिक्यहर्म्य हैं, नितम्ब मुक्ताशैलशिला है, हाथ सुधानिर्झर है, बोली कोयल की कूक है और केश काम के चँवर हैं।" यहाँ अनेकों का अनेकों पर आरोप होने से इसे रूपकमाला कहना चाहिए। यह रूपकमाला कहीं श्लेषमूलक भी

होती है। यथा—"यह भूपति तीर्थों [पुण्यस्थान और गुरु, शास्त्र, प्राड्विवाक आदि] का आश्रय है। इसके नेत्र पुष्कर [पुष्करनाम तीर्थ और कमल] के सहोदर हैं, इसकी वाणी मधुमती [सम्भव है कश्मीर में इस नाम का कोई तीर्थ हो, सामान्य अर्थ मिठासयुक्त] है, इसकी मति विपाशा [इस नाम की नदी और पाश = उलझ या कुण्ठा से रहित] है, चित्त नदीनता [नदी का इन स्वामी = समुद्र तद्भाव तथा अदीनता को प्राप्त होता है, इसका अधर शोणत्व [शोणनद तद्रूपता और ललाई] को धारण करता है, इसका चारित्र्य पापसूदन [पापनाशक] है। परन्तु आश्चर्य है कि यह नहाने के लिए मेरे पास आ रहा है, केवल इसीलिए यह उष्ण जल निकल रहा है।" इसमें अनेक पर अनेक श्लिष्टों का आरोप है इसलिए यह श्लिष्टार्थरूपकमाला है।

'आभाति ते' इस पद्य में दूसरे लोग समासोक्ति मानते हैं। इसलिए इसके लिए दूसरा उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—"संसाररूपी उद्यान में विवेकरूपी प्रियमित्र को साथ ले मैं नानाविषयरूपी वनराजि में विकसित और अद्वितीय आमोद [सुगन्ध तथा आनन्द] से मधुर आपकी सविद्रूपी पुष्पश्री का चयन करते हुए भक्ति के संग विहार करने हेतु कब व्यग्र होऊँगा।" यहाँ भक्ति के ऊपर नायिका का आरोप शब्दतः न हो कर अर्थतः हुआ है। अतः रूपक में यहाँ एकदेशविवर्तित्व हुआ।

['अत्र वक्त्रेन्दु०' इत्यादि पंक्ति में] 'पीयूषस्य अधरामृतेन श्लिष्टशब्दनिरूपणम्' यह पाठ [इस ग्रन्थ के] लिपिकार ने अपने मन से गढ़ लिया समझना चाहिए। यहाँ अधरामृत पर पीयूष [रूपी अमृत] का निरूपण किया जा रहा है इसलिए "अधरामृतस्य पीयूषेण श्लिष्टशब्दनिरूपणम्" यह पाठ ग्राह्य है। इस पद्य में कुछ लोग अमृत शब्द को पीयूष अर्थ का वाचक तो मानते हैं, परन्तु अधररस का वाचक नहीं। अतः हम दूसरा उदाहरण देते हैं—"हे देव, आप सद्वंश [कुल और बाँस] के मुक्तामणि हैं और अलौकिक महान् आलोक से तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाले हैं। अतः आपकी स्तुति कौन नहीं करता।" यहाँ राजा पर मुक्तामणि का जो आरोप है उससे 'कुलरूपी वंश ही बाँसरूपी वंश' इस प्रकार के वंश पर वंश का आरोप सम्भव होता है, अतः यहाँ श्लिष्ट शब्दपूर्वक हुआ केवल [अमाला] परम्परित रूपक है।

'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि पद्य में हंस के आरोप के माहात्म्य से [विद्वानों के चित्तरूपी मानस पर] मानस का आरोप हुआ है, अतः यहाँ भी परम्परितरूपक है [वस्तुतः मानसरूपक कारण है और हंसरूपक कार्य रूपक है—उद्देश्यविधेयभाव ऐसा मानने पर ही रक्षित रह सकता है] इसी प्रकार ['यामि०' इत्यादि पद्य में] अर्णव का आरोप [शकरचरणों पर] नरण्ड के आरोप का हेतु है, इसलिए यहाँ भी परम्परितरूपक है। 'पर्यङ्को राजलक्ष्म्या०' पद्य में एक पर अनेक आरोप हैं, अतः मालापरम्परित हुआ। अनेक पर अनेक के आरोप का उदाहरण यथा—"विष्णु के वक्षरूपी आकाश की चन्द्रलेखा लक्ष्मी, शिव के कण्ठरूपी मेघ की तड़ित गौरी तथा इन्द्र के नेत्ररूपी पद्मसरोवर की राजहंसी शची आपका मंगल करें।" यहाँ अनेक पर अनेक के आरोप से परम्परितमाला हुई।

एवमादयः अर्थात् परम्परित भी एकदेश-विवर्ती होता है, इस प्रकार के अन्यभेद।

सूचिता अर्थात् पूर्वोक्त भेदों को दिखलाते दिखलाते हो। इस प्रकार विचार करने पर दोनों प्रकार का सावयव रूपक भी श्लिष्ट होता है। दोनों में से समस्तवस्तुविषय यथा—

[सेतुबन्ध में कुमुदवानर का वर्णन ४।१६]—

"विघटमानोष्ठदलपुट स्फुरद्दन्ताकारबद्धकेसरप्रकरम्।
प्रहर्षचन्द्रालोके हसित कुमुदेन सुरभिगन्धोद्गारम्॥"

प्रहर्ष की चाँदनी में कुमुद हँस पड़ा, उसके पंखुड़ियोंरूपी ओठ खुल गए, दन्त के आकार के बहुत से केसर (रेशे) साफ-साफ दिखाई देने लगे तथा सुगन्ध पूर्ण अलेख (उद्गार) भी दृष्टिगोचर होने लगा।' यहाँ कुमुद शब्द श्लिष्ट है [यहाँ कुमुदवानर के ऊपर कुमुदपुष्प का आरोप किया जा रहा है] एकदेशविवर्त्ती में श्लेष —

"ताराकारूपी मुक्तामय अर्घ्य से पुलकित, चांदनीरूपी चन्दनरस से लिप्त तथा सप्तर्षिमण्डल के हाथों में रखे करक (कमण्डलु और ओले) के जल से धौत जो आकाशरूपी शिवलिंग है उसपर 'काल' ने चन्द्ररूपी पूजापुण्डरीक चढाया जब सूर्यरूपी निर्माल्यपद्म पश्चिम दिशा में स्थित तोयाधार (समुद्र जलपात्र) में जा पड़ा।

यहां कालरूपी विषय के ऊपर पूजा करने वाले आदि (?) का आरोप शब्दतः नहीं हुआ अतः यह एकदेशविवर्त्ती हुआ। तोयाधार शब्द समुद्र और निर्माल्य के लिए निश्चित जलपात्र का वाचक होने से श्लिष्ट है [करक शब्द भी श्लिष्ट है। 'करको दाडिमे पक्षिभेदे हस्ते कमण्डलौ। लट्वाकरंजयोर्मेघोपले च'—अनेकार्थसंग्रह के इस वाक्य के अनुसार उसका अर्थ कमण्डलु भी है। इसी पद में हाथ के लिए हस्त शब्द का प्रयोग होने से करकका दूसरा अर्थ वर्षोपल = अर्थात् ओले लेना होगा। तब करक शब्दवाच्यत्वेन अभिन्न 'कमण्डलु रूपी ओले के जल से' ऐसा अर्थ निकालना जावेगा]।

विमर्शिनी

क्वचिच्चाभेदमेव द्रढयितुं विषयिणो निषेधपूर्वमारोप्यमाणत्वेन तदीयस्य वा भेदहेतोर्धर्मस्य हानिकल्पनेनाधिक्येन वा दृढारोपत्वेनापीद् दृश्यते। क्रमेण यथा—

'कलिप्रिया शश्वदपालिताज्ञावशां गुरुज्ञातिषु दर्शयन्ती।
जाया निजा या ननु सैव कृत्या कृत्या न कृत्या सरलस्य धर्मैः॥'

अत्र कृत्या निषेधपूर्वं जायायामारोपिता। तन्निषेधेन हि जायाया कृत्यया दार्ढ्येन साम्यं प्रतीयते। कृत्या तथा न स्वकर्मणि व्याप्रियते यथेयं तत्कर्मणीति ह्यत्र वाक्यार्थः। अत्र च यदन्ये विशेषालंकारमाहुस्तदभेदालंकारनिराकरणादेव निराकृतमिति न पुनरायस्यते। हान्या यथा—

'वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥'

अत्रातैलपूरेण हानिकल्पनम्। आधिक्येन यथा—

'तुरीयो ह्येष मेध्योऽग्निराम्नायः पञ्चमोऽपि वा।
अपि वा जंगमं तीर्थं धर्मो वा मूर्तिसंचरः॥'

अत्र तुरीयत्वादेर्धर्मस्याधिक्यम्।

'दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोषनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेदः॥'

इत्यत्रापि दृढारोपमेव रूपकं ज्ञेयम्। अत्र हि कृपाणस्येति समुच्चीयमानत्वेन निर्देशाच्छाब्दस्यारोपस्याप्रतीतेरप्याकारमात्रेण भेदस्योक्तेर्वाक्यार्थपर्यालोचनमाहात्म्यात्परिशिष्टसमस्तधर्मान्तरसद्भावाभ्यनुज्ञानात्पर्यवसाने दार्ढ्येन विषयविषयिणोरभेदप्रतिपत्तिः। सैव च रूपकसतत्त्वमिति पूर्वमेवोक्तम्। अन्येऽपि भेदाः स्वयमेवाभ्यूह्योदाहार्याः।

कहीं कहीं केवल अभेद को ही दृढ करने के लिए विषयी का आरोप निषेधपूर्वक किया जाता है। कहीं कहीं उसी विषयी के उस धर्म की हानि या अधिकता दिखलाकर आरोप किया जाता

है जो [अभेद के विरुद्ध] भेदक होता है। क्रम से उदाहरण यथा—सीधे और धर्मप्रिय व्यक्ति की कलहप्रिय, कभी कभी आज्ञा न पालने वाली, बड़ों की सदा अवज्ञा करने वाली अपनी जो स्त्री हो वही वस्तुत कृत्या है, कृत्या कृत्या नहीं। यहाँ जाया पर कृत्या का आरोप निषेधपूर्वक किया गया है। उसके निषेध से जाया पर कृत्या का अभेद और अधिक दृढ़ता के साथ प्रतीत होता है। इस पद्य का वाक्यार्थ है कि 'अपने कार्य में कृत्या उतनी तत्परता नहीं दिखलाती जितनी उसके कार्य में कर्कशा पत्नी। यहाँ [शोभाकर आदि] अन्य विद्वानों ने जो एक विशेष अलङ्कार माना है उसका निराकरण हमने [उपमा के प्रकरण में] अभेदालङ्कार के निराकरण द्वारा ही कर दिया है, अत अब पुन. परिश्रम नहीं करते। [भेदक धर्म की] हानि के द्वारा [अभेदपुष्टि का उदाहरण] यथा—"जिस [हिम-गिरि] पर गुफागृहों की गोद में रमी रोशनी वाली ओषधियाँ ही मदरनीक वनेचरों के लिए रति में तैलापेक्षारहित सुरतप्रदीप का काम किया करती हैं।" यहाँ 'अनैलपूर' तैलापेक्षारहित कहकर हानि की कल्पना की गई है। भेदकधर्म की अधिकता के द्वारा [अभेदपुष्टि का उदाहरण] यथा—"यह या तो चतुर्थ यज्ञाग्नि है, या पाँचवा वेद है, या फिर जंगम तीर्थ है अथवा शरीर-धारी धर्म।" यहाँ चतुर्थत्व आदि विशेषणों की अधिकता बतलाकर अभेद दिखलाया गया है। "कृपण और कृपाण में केवल आकार [स्वरूप तथा 'आ' अक्षर] मात्र का भेद रहता है, दोनों ही दृढतरनिबद्धमुष्टि [मुष्टि = मूठ, मुट्ठी] होते हैं, कोषनिषण्ण [कोष = म्यान, खजाना] रहते हैं और स्वभावतः मलिन [कृष्णवर्ण का, गन्दा] होते हैं।" यहाँ भी दृढारोप रूपक ही है। यहाँ कृपाण का निर्देश समुच्चीयमान पदार्थ के रूप में हुआ है, अत [कृपण पर] उसका आरोप शब्दतः प्रतीत नहीं होता, इतने पर भेद केवल आकार मात्र को लेकर बतलाया गया है अतः वाक्यार्थ की विवेचना करने पर दोनों का शेष सभी धर्मों से युक्त होना प्रतीत होता है। इस प्रकार विषय-विषयी का अभेद अन्त में दृढता द्वारा ही होता है। यह अभेद प्रतीति ही वस्तुत. रूपक का स्वरूप है यह पहले ही कह दिया गया है। ऐसे ही अन्य भेद भी स्वयं आँके जा सकते हैं। [व्यक्तिविवेककार ने इस पद्य में अभेद को असम्भव बतलाया है, द्रष्टव्य हिन्दीव्यक्तिविवेक पृष्ठ-४३९, अवाच्यवचन दोष]। ['वनेचराणा०' तथा 'दृढतरनि०' में अल० रत्नाकरकार ने अभेद नामक एक स्वतन्त्र अलङ्कार माना था]

[सर्वस्व]

इदं वैधर्म्येणापि दृश्यते। यथा —

'सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा।
यैरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥'

अत्र चारोप्यमाणस्य धर्मित्वादाविष्टलिङ्गसंख्यात्वेऽपि क्वचित्स्वतोऽसंभवत्संख्यायोगस्यापि विषयसंख्यात्वम् प्रत्येकमारोपात्। यथा—'क्वचिज्जटावल्कलावलम्बिनः कपिला दावाग्नयः' इत्यादौ। न हि कपिलमुनेर्बहुत्वम्।

'भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥'

इत्यत्र नियतसंख्याककार्यविशेषोत्थापितो गरलार्थप्रभावितो विषशब्दे श्लेष एव। जलदभुजगजमिति रूपकसाधकमिति पूर्वं सिद्धत्वाभावान्न तन्निबन्धनं विषशब्दे श्लिष्टशब्दं परम्परितमिति श्लेष एवात्रेत्याहुः।

[वृत्ति] यह [रूपक] वैधर्म्य से भी देखा जाता है। यथा—'जो सौजन्यरूपी जल के लिए मरुस्थली है, सुचरितरूपी चित्र के लिए आकाशभित्ति है, गुणरूपी चन्द्रिका के लिए अँधेरे पाख की चौदस है, [तथा] सरलता [सीधेपन] के लिए कुत्ते की पूँछ है ऐसी इस अत्यन्त दुष्ट चित्तवाली राजावली की भी कलियुग में जिन्होंने किसी भी दुरेषणा में पड़कर सेवा कर ली उनके लिए केवल भक्तिमात्र से सुलभ भगवान् शूली (शिव) की सेवा कितना बड़ा कौशल है।'

इस [रूपक] में आरोप्यमाण पदार्थ धर्मी होता है इस कारण उसमें [विषय का] लिंग और संख्या अवश्य ही रखे जाते हैं किन्तु विषय की संख्या भी जो उसमें कभी-कभी स्वभावतः नहीं रहती, उसमें रखी जाती है क्योंकि आरोप करते समय प्रत्येक धर्म का आरोप किया जाता है। जैसे 'कहीं जटावल्कल का अवलम्बन करने वाली दावाग्नियाँ कपिल हैं।'—इत्यादि स्थलों में। [यहाँ 'कपिलाः'–इस प्रकार] कपिल [मुनि पक्ष] में जो बहुत्व है वह स्वाभाविक नहीं है। [वह केवल विषय दावाग्नि के अनुरोध से लाया गया है]।

"जलद-भुजग से उत्पन्न विष वियोगियों में भ्रम [चक्कर] अरुचि आलस्य, शून्यता (प्रलय), मूर्च्छा, विषाद, शरीरशैथिल्य तथा मृत्यु परवश उत्पन्न कर रहा है।"

—यहाँ उन उन गिने गिनाए कार्य [भ्रमि आदि] से कुछ कुछ प्रतीति विषय बनाया गया तथा गरल अर्थ में अधिक प्रभावपूर्ण बनाया गया विषशब्द में जो श्लेष है उसमें 'जलद-भुजग'–में रूपक की सिद्धि होती है अतः [रूपक के श्लेष से] पहले न रहने के कारण यहाँ उस [रूपक] के आधार पर विष शब्द में श्लिष्ट पद परम्परित रूपक नहीं माना जा सकता, अतः यहाँ श्लेष ही है ऐसा कहा गया है।

विमर्शिनी

वैधर्म्येणापीति। न केवलं साधर्म्येणेत्यर्थः। अस्य च विच्छित्तिविशेषान्तरं दर्शयितुमाह—अत्रेत्यादि। आविष्टलिङ्गत्वेऽपीत्यनेन धर्मिणः स्वरूपमात्रपर्यवसितत्वेऽपि धर्म्यन्तरसंबन्धिनः संख्यात्मनो धर्मान्तरस्यापि स्वीकार इत्यावेदितम्। असंभवत्संख्यायोगस्येति। यद्यप्येकादिव्यवहारहेतुः संख्येति नीत्या एकस्मिन्नपि द्रव्ये तद्योगः संभवति तथाप्यनेकद्रव्यवर्तित्वाद्यभिप्रायेणैतदुक्तम्। प्रत्येकमारोपादिति अयमग्निः कपिलोऽयमग्निः कपिल इत्येवंरूपात्। अतश्चारोप्यमाणस्य कपिलमुनेर्बहुत्वायोगाद्विषयसंख्यत्वम्। श्लिष्टतानिबन्धनस्य परम्परितस्य श्लेषाद्वैलक्षण्यं द्योतयितुमाह—भ्रमिमिति। प्रभावित इति। प्रथममेव प्रतीतिगोचरीकृत इत्यर्थः।

वैधर्म्य से भी अर्थात् केवल साधर्म्य से ही नहीं। इस [रूपक] के अन्य प्रकार दिखलाने के लिए कहते हैं—'अत्र' इत्यादि। आविष्टलिङ्गत्वेऽपि ऐसा कहकर ग्रन्थकार यह बतलाना चाहते हैं कि [आरोप्यमाण] धर्मी यद्यपि अपने ही रूप में रहता है तथापि उसमें दूसरे धर्मों से सम्बन्धित संख्यारूपी धर्म भी आ जाता है। असंभवत्संख्यायोगस्य 'संख्या एक दो आदि व्यवहार का हेतु धर्म है' इस नियम के अनुसार एक द्रव्य में भी संख्या रह सकती है तब भी अनेक द्रव्यों में रहने आदि के अभिप्राय से यह कहा। प्रत्येकमारोपात् अर्थात् 'यह अग्नि कपिल है' 'यह अग्नि कपिल है' इस प्रकार के आरोप से। इसी कारण आरोप्यमाण कपिलमुनि में बहुत्व न होने पर भी उसमें विषय (दवाग्नि) की संख्या लाकर बहुत्व दिखलाया गया।

श्लेषमूलक परम्परित रूपकों का श्लेष से भेद दिखाने के लिए कहते हैं—'भ्रमिमरतिम्'। प्रभावित अर्थात् पहले ही प्रतीतिपथ में अवतीर्ण।

विमर्शिनी

पूर्वं सिद्धत्वाभावादिति। रूपकस्य श्लेषहेतुत्वात्। तन्निबन्धनमिति रूपकनिबन्धनम्। इति शब्दो हेतौ। अतश्च श्लेष एवात्रालंकारो न परम्परितं रूपकमित्यत्र तात्पर्यम्। चिन्त्यं चैतत्। यतः श्लेषस्तावद्वाच्ययोर्द्वयोः प्रकृतयोरप्रकृतयोः प्रकृताप्रकृतयोश्च भवति। अत्र च न द्वयोः प्रकृतत्वं नाप्यप्रकृतत्वम्। वर्षासमये जलदस्येव जलस्य वर्णनीयत्वात्। प्रकृताप्रकृतयोश्च विशेषणसाम्य एव श्लेषो भवति इह तु विशेष्यस्यापि साम्यमिति शब्दशक्त्युत्थितस्य ध्वनेरस्य विषयो न श्लेषस्य। अतश्च नात्र श्लेषालंकारः। नापि ध्वनिः। जलदभुजगजमिति रूपकमाहात्म्याच्छब्दशक्त्या गरलार्थस्याभिधानात्। एवमत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं [रूपकमेवालंकारः] जलदभुजगजमिति रूपकान्तरेणापि गरलार्थो यदि प्रतीयते तस्य ध्वनेर्विषयः स्यादित्युक्तम्। स्थिते तु जलदभुजगजमिति रूपके तन्माहात्म्यादेव विषशब्दे श्लिष्टशब्दनिबन्धनं रूपकम्। अन्यथा हि जलदभुजगजमिति रूपकं व्यर्थं स्यात्। तेन विना हि गरलार्थः प्रतीयत इत्यलं बहुना।

पूर्वं सिद्धत्वाभावात् = पहले से सिद्ध न होने के कारण अर्थात् क्योंकि यहाँ रूपक श्लेषमूलक है। तन्निबन्धनमिति रूपकमूलक। इति शब्द यहाँ हेत्वर्थक है। इसलिए तात्पर्य यह हुआ कि यहाँ श्लेष ही अलंकार है, श्लिष्टपरम्परित रूपक नहीं।

किन्तु यह मान्यता शोचनीय है, क्योंकि श्लेष होता है केवल दो वाच्य अर्थों में चाहे वे केवल प्रकृत हों या केवल अप्रकृत अथवा प्रकृताप्रकृत दोनों। इस [भ्रमिमरति०] पद्य में न तो दोनों प्रकृत ही हैं न अप्रकृत ही, क्योंकि वर्षा काल में जैसे बादलों का वर्णन किया जाता है वैसे ही पानी का भी [अतः यदि एक प्रकृत है तो दूसरा अप्रकृत और यदि एक अप्रकृत है तो दूसरा प्रकृत] प्रकृत और अप्रकृत दोनों का श्लेष केवल वहीं होता है जहाँ केवल विशेषणों में समानता होती है [यथा समासोक्ति में] किन्तु इस पद्य में विशेष्यों में भी समानता है। इसलिए यह पद्य शब्दशक्ति मूलक ध्वनि का स्थल [हो सकता जैसा कि मम्मट ने भी माना है] है, श्लेष का नहीं। इसलिए यहाँ श्लेषालंकार नहीं है। [वस्तुतः] यहाँ ध्वनि भी नहीं है। इसलिए कि 'जलद-भुजग-ज' पद में जो रूपक हुआ है उसके बल से गरल-रूपी अर्थ शब्दशक्ति [अभिधा] से ही प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार यहाँ श्लिष्ट शब्दमूलक रूपक ही अलंकार है। हाँ यदि यहाँ 'जलद-भुजगज' के रूपक के द्वारा भी गरल रूपी अर्थ [अभिधा द्वारा कथित न होकर] व्यञ्जना द्वारा ही प्रतीत हो तो उसे ध्वनि का विषय कहा जा सकेगा। किन्तु जब यहाँ जलदभुजगज-पद में रूपक ही रहा है तब उसी के आधार पर विषशब्द में भी श्लिष्टशब्दमूलक रूपक ही मान्य होगा। ऐसा न मानने पर 'जलदभुजगज' का रूपक निरर्थक ठहरेगा। क्योंकि गरल-रूपी अर्थ की प्रतीति उस रूपक के बिना भी [व्यञ्जना द्वारा] प्रतीत हो जाती है। अस्तु,—अधिक विवेचन से कोई लाभ नहीं।

विमर्श.—प्रकृताप्रकृतनिष्ठ श्लेष भी श्लेषालंकार होता है यदि यह मान लिया जाय तो समासोक्ति का उच्छेद हो जाता है। उसी में केवल विशेषणों की उभयार्थकता के कारण अप्रकृत अर्थ की प्रतीति होती है। अप्रकृतार्थ की प्रतीति भी विशेषणशब्द व्यञ्जना द्वारा कराते हैं, अतः वहाँ दोनों अर्थ वाच्य नहीं होते। इस प्रकार दो वाच्य अर्थों में ही श्लेष मानकर प्रकृताप्रकृतोभय में भी एक साथ श्लेष मान लेना असम्भव है, क्योंकि अप्रकृत अर्थ वहाँ कभी भी वाच्य नहीं होगा जहाँ उसके साथ प्रकृत अर्थ रहेगा। वहाँ अभिधा केवल प्रकृत अर्थ में सीमित रहेगी। यदि दोनों अर्थों की प्रतीति हो जाने पर प्रकृतत्व और अप्रकृतत्व की प्रतीति मानी जाय और प्रकृतत्व की प्रतीति को अप्रकृतार्थ की अभिधा में बाधक न माना जाय तो उस प्राथमिक प्रतीति

में श्लेष तो माना जा सकेगा, किन्तु उसे अलंकार नहीं कहा जा सकेगा क्योंकि वहाँ चमत्कार समासोक्ति से ही होगा, अतः उसी में अलंकारत्व माना जायगा। टीकाकार ने प्रकृताप्रकृतोभय में कदाचित् श्लेषालंकार स्वीकार न कर केवल श्लेष स्वीकार किया है। यदि ऐसा है तो वह मान्य है।

दशरूपक के टीकाकार धनिक ने 'उद्दामोत्कलिकाम्' इत्यादि उपमापद्य में समासोक्ति स्वीकार की है और अप्रस्तुतप्रशंसा के "येनास्यभ्युदितेन" पद्य में मम्मट ने भी। वहाँ समासोक्तिपद केवल तुल्यविशेषणमात्र के लिए प्रयुक्त किया गया माना जाता है। अलंकारत्व उपमा और अप्रस्तुतप्रशंसा में ही माना जाता है। इसी प्रकार समासोक्ति में भी श्लेष का अर्थ यहाँ पूर्वविश्लेषित एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन द्व्यर्थकतामात्र या दो अर्थों का आपस में चिपटे रहना ही मानना होगा। प्राचीन आचार्यों ने श्लेष को महत्त्व दिया है और अलंकारान्तरस्थलों में भी उसी को अलंकार माना है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि विमर्शिनीकार उन्हीं के अनुसार विवेचन कर रहे हैं, क्योंकि प्राचीनों के इस मत का मम्मट ने नवम उल्लास में भलीभाँति खण्डन कर दिया है और विमर्शिनीकार उन्हीं के अनुयायी हैं, किन्तु आगे स्वयं अलंकारसर्वस्वकार ने भी प्रकृताप्रकृतोभयगत श्लेष स्वीकार किया है। टीकाकार ने उन्हीं के अनुसार यहाँ श्लेषविवेचन किया है।

रूपक का इतिहास :—

भरतमुनि = "स्वविकल्पेन रचितं तुल्यावयवलक्षणम्।
किंचित्सादृश्यसंपन्नं यद्रूपं रूपकं तु तत् ॥ १६ ॥ ५६ ॥

अपने [उपमान के] रूप से निरूपित जो उपमेय का रूप वही रूपक होता है। उसके दो भेद होते हैं सांग [तुल्यावयव] और एकदेशविवर्ती [किंचित्सादृश्य]।

उदाहरण = "पद्माननास्ताः कुमुदप्रभासा विकाशनीलोत्पलचारुनेत्राः।
वापीस्त्रियो हंसकुलैः स्वनद्भिर्विरेजुरन्योन्यमिवालपन्त्यः ॥'

भामह = 'उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य रूप्यते।
गुणानां समतां दृष्ट्वा रूपकं नाम तद्विदुः ॥ २ । २१ ॥
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च।
द्विधा रूपकमुद्दिष्टमेतत्............ ॥ २ । २२ ॥'

गुणों की समता देखकर उपमेय का जो उपमान के साथ अभेद या तादूप्य बतलाया जाता है उसे रूपक कहा गया है। यह दो प्रकार का होता है १—समस्त वस्तुविषय और २—एकदेशविवर्त्ती।

वामन = 'उपमानेनोपमेयस्य गुणसाम्यात् तत्त्वारोपो रूपकम्' । ४ । ३ । ६ ।
'गुणों के साम्य से उपमेय का जो उपमान के साथ अभेद वही रूपक।'

उद्भट = 'श्रुत्या सम्बन्धविरहात् यत् पदेन पदान्तरम्।
गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तु तत्' ॥ १ । ११ ॥

अभिधाद्वारा सम्बन्ध न हो सकने पर लक्षणाद्वारा पद का दूसरे पद के जो संबन्धित होता है वही रूपक है। भेद =

"बन्धस्तस्य यतः श्रुत्या श्रुत्यर्थाभ्यां च तेन तत्।
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्त्ति च ॥ १ । १२ ॥
समस्तवस्तुविषयं मालारूपकमुच्यते।
यत् त्वेकदेशवृत्ति स्यात् पररूपेण रूपणात्" ॥ १३ ॥

यह या तो पूरा का पूरा शब्द द्वारा ही प्रतिपादित रहता है या तो अशतः शब्द और अशतः अर्थ द्वारा इस कारण इसके क्रमशः दो भेद हो जाते हैं। समस्तवस्तु विषय तथा एकदेशविवर्त्ती। समस्तवस्तुविषय को मालारूपक भी कहा जाता है। एकदेशविवर्त्ती रूपक केवल एक स्थान में उपमान के स्पष्ट उल्लेख न होने से होता है। कारिका में आए "एकदेशवृत्ति"–शब्द का विग्रह प्रतीहारेन्दुराज ने इस प्रकार किया है—"एकदा अन्यदा ईश- प्रभविष्णुर्योऽसौ वाक्यार्थ तद्वृत्तित्वं रूपकस्याभिमतम्।"

अर्थात् एकदा = एकबार ईश = प्रभावपूर्ण जो वाक्यार्थ उसमें वृत्ति = रहने वाला रूपक। यह एक विचित्र व्याख्या है। यहाँ जो गुणवृत्ति शब्द आया है उसका अर्थ गौणी सारोपा लक्षणा है। [द्र० काव्यप्रकाश उल्लास–२]।

रुद्रट = 'यत्र गुणानां साम्ये सत्युपमानोपमेययोरभिदा।
अविवक्षितसामान्या कल्प्यत इति रूपकं प्रथमम्॥ ८। ३८॥
उपसर्जनोपमेयं कृत्वा तु समासमेतयोरुभयो।
यत्तु प्रयुज्यते तद् रूपकमन्यत् समासोक्तम्॥ ८। ४०॥
सावयव निरयव सकीर्णं चेति भिद्यते भूय।
द्वयमपि पुनर्द्विधैतत् समस्तविषयैकदेशितया॥ ४१॥

जहाँ साम्य हो और उसके आधार पर उपमान तथा उपमेय का जातिनिरपेक्ष [अविवक्षित सामान्य] अभेद वही रूपक कहलाता है। जहाँ उपमान और उपमेय दोनों का समास होना है और उसमें उपमेय अप्रधान रहता है वह रूपक समासरूपक कहलाता है। इसके सावयव, निरवयव और सकीर्ण ये तीन भेद होते हैं। यह दोनों प्रकार का रूपक समस्तवस्तुविषय और एकदेशी इस प्रकार से पुन- दो दो प्रकार का होता है।

मम्मट = 'तद् रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो।'
समस्तवस्तुविषय श्रौता आरोपिता यदा॥
श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्त्ति तत्।
साङ्गमेतन्निरङ्ग तु शुद्ध माला तु पूर्ववत्॥
नियतारोपणोपाय स्यादारोप परस्य यत्।
तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा॥

उपमान और उपमेय का अभेद रूपक होता है। वह तीन प्रकार का होता है साङ्ग (सावयव), निरग (निरवयव) तथा परम्परित। इनमें से साग दो प्रकार का होता है समस्तवस्तु विषय अर्थात् जिसमें सभी आरोपित पदार्थ शब्दत कथित होते हैं और एकदेशविवर्त्ती—अर्थात् जिसमें कुछ आरोपित पदार्थ शब्दत कथित और कुछ अर्थत प्रतीतिगोचर होते हैं। यह निरग रूपक या तो मालारूप होता है या केवल या शुद्ध परम्परित में एक आरोप दूसरे आरोप का कारण होता है। इसमें कहीं तो उपमान और उपमेय दोनों का कथन किसी एक ही श्लिष्ट पद से होता है, कहीं-कहीं दोनों का पृथक् पृथक् उल्लेख रहता है। दोनों प्रकार का यह या तो मालारूप होता है या केवल या शुद्ध। इस प्रकार रूपक आठ प्रकार का होता है।

शोभाकर का रूपकनिरूपण विमर्शिनी में आए आरोप के सदर्भ में दिया जा चुका है।

इस प्रकार मम्मट और अलंकारसर्वस्वकार दोनों का रूपकनिरूपण सिद्धान्तत एक और अभिन्न है। दण्डी की "उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते" यह एक पक्ति यहाँ किसी भी प्रकार से आ गई है। वैसे दण्डी का कोई प्रभाव अलंकारसर्वस्व में नहीं दिखता।

संजीविनीकार ने रूपक का विवेचन संग्रहकारिकाओं में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—

"यत् त्वभेदप्रधानं स्यात् साधर्म्यं तद् द्विधा मतम् ।
आरोपाध्यवसानाभ्यामारोपे रूपकं भवेत् ॥
वस्तुतो भेदसद्भावाद् शक्त्या नातिशयोक्तिता ।
विषयस्यानपह्नुत्या न चैतत् स्यादपह्नुतिः ॥
ततो विषयिरूपेण रूपवान् विषयो यतः ।
आरोपणेन क्रियते तेनैतद् रूपकं मतम् ॥
भेदस्तृतीयो यस्त्वत्र परम्परितसंज्ञकः ।
साधर्म्येणैव तत्सिद्धिर्वैधर्म्येणापि दृश्यते ॥
विषय्यारोप्यते येन प्रतिस्वं विषयेषु तत् ।
भवेद् विषयसंख्यात्वं संख्याभेदे विधर्मिणः ॥
रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषमुत्थापयेद् यदि ।
तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते ।।"

अभेदप्रधान साधर्म्य दो प्रकार से होता है आरोप और अध्यवसान से । इनमें से आरोप होने पर रूपक होता है। इसमें भेद वस्तुतः रहता है इसलिए इसे अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता और न अपह्नुति ही, क्योंकि इसमें विषय छिपाया नहीं जाता । इसलिए क्योंकि इसमें विषयी विषय को आरोप के द्वारा अपने रूप से रूपित करता है अतः यह रूपक माना जाता है। इसका जो तीसरा भेद परम्परित रूपक है उसकी निष्पत्ति साधर्म्य के अतिरिक्त वैधर्म्य से भी होती है। इसमें [विषयों में से एक-एक करके] प्रत्येक विषय पर विषयी का आरोप होता है अतः उस [विषयी] में विषय की संख्या चली आती है और भिन्न धर्म से युक्त होने पर भी उस [विषयी] में विषय-लिङ्गता का समावेश भी कर दिया जाता है। पहले से निष्पन्न होकर यदि रूपक श्लेष की उद्भावना को जन्म दे तो वहां अलंकार रूपक ही माना जावे, इसके विपरीत श्लेष ही अलंकार माना जाता है।

[सर्वस्व]

[सू० १७] आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः ।

आरोप्यमाणं रूपके प्रकृतोपयोगित्वाभावात्प्रकृतोपरञ्जकत्वेनैव केवलेनान्वयं भजते परिणामे तु प्रकृतात्मतया आरोप्यमाणस्योपयोग इति प्रकृतमारोप्यमाणरूपत्वेन परिणमति । आगमानुगमविगमख्यात्यभावात्सांख्यीयपरिणामवैलक्षण्यम् । तस्य सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यप्रयोगाद् द्वैविध्यम् । आद्यो यथा—

'तीर्त्वा भूतेशमौलिस्रजममरधुनीमात्मनासौ तृतीय-
स्तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानातरं नाविकाय ।
व्यामग्राह्यस्तनीभिः शबरयुवतिभिः कौतुकोदञ्चदक्षं
कृच्छ्रादन्वीयमानस्त्वरितमथ गिरिं चित्रकूटं प्रतस्थे ॥'

अत्र सौमित्रिमैत्री प्रकृता आरोप्यमाणसमानाधिकरणातररूपत्वेन परिणता। आतरस्य मैत्रीरूपतया प्रकृते उपयोगात्। तद्ध यथा समासोक्तावारोप्यमाणं प्रकृतोपयोगि तच्चारोपविषयात्मतया तत्र स्थितम्, अत एव तत्र तद्व्यवहारसमारोपः एवमिहापि ज्ञेयम्, केवलं तत्र विषयस्यैव प्रयोगः, विषयिणो गम्यमानत्वात्। इह तु द्वयोरप्यभिधानम्, तादात्म्यात् तु तयोः परिणामित्वम्। द्वितीयो यथा—

अथ पक्त्रिमतामुपेयिवद्भिः मरसैर्वक्रपथाश्रितैर्वचोभिः।
क्षितिभर्तुरुपायनं चकार प्रथमं तत्परतस्तुरंगमाद्यैः॥'

राजसंघटने तूपायनमुचितम्। तच्चात्र वचोरूपमिति वचसां व्यधिकरणोपायनरूपत्वेन परिणामः।

[वृत्ति] रूपक में आरोप्यमाण केवल प्रकृत अर्थ का उपरंजक [शोभावर्धक] होता है, क्योंकि वह प्रकृतोपयोगी नहीं होता। परिणाम में आरोप्यमाण का प्रकृतरूप से उपयोग भी होता है इसलिए प्रकृत यहाँ आरोप्यमाणरूप से परिणत होता है। साख्यशास्त्र के परिणाम से यह [अलंकारभूत] परिणाम भिन्न होता है, इसलिए कि इसमें आगम, अनुगम तथा विगम की ख्याति [ज्ञान] का अभाव रहता है।

उस [परिणाम] के दो भेद होते हैं। एक वह जिसमें सामानाधिकरण्य का उपयोग किया जाता है और दूसरा वह जिसमें वैयधिकरण्य का। इनमें प्रथम का उदाहरण—

[एक लक्ष्मण और दूसरी सीताजी इनके अतिरिक्त] तीसरे स्वय [भगवान् राम] ने शंकरजी की मौलिमाला देवनदी [गंगा जी] को पार किया तथा नाविक [निषाद गुह] को लक्ष्मण की मैत्री उतराई के रूप में दी। इसके पश्चात् वे अतिशीघ्र चित्रकूट गिरि की ओर चले। उस समय उनके पीछे वे कौतूहलवश आँखें उठाकर शबर प्रमदाएँ कठिनाई से चल रही थीं जिनके स्तन दोनों भुजाएं फैलाने पर पूरी तरह से पकडे जा सकते थे। [व्याम = व्यामो बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम् = अमरकोष', पंजों सहित बाजू की ओर फैले हाथों का फॉसला व्याम]।

यहाँ लक्ष्मण की मैत्री प्रकृत है और वह (आतरम् इस प्रकार) उसी की कारकविभक्ति [द्वितीया] के साथ प्रयुक्त तथा अभिन्नरूप से विवक्षित आतर के रूप में परिणत हो रही है, क्योंकि आतर का प्रकृत में उपयोग मैत्रीरूप से ही हो सकता है। इस प्रकार जैसे समासोक्ति में आरोप्यमाण [अप्रकृत] प्रकृतोपयोगी होता है और वह वहाँ आरोपविषयरूप से ही अवस्थित रहता है जिस कारण उस [आरोप्यमाण अप्रकृत] के केवल व्यवहार का ही [प्रकृत व्यवहार पर] आरोप होता है यही स्थिति यहाँ भी समझनी चाहिए। [अन्तर] केवल [इतना ही रहता है कि] वहाँ [समासोक्ति में] केवल विषयमात्र शब्दतः [अभिधावृत्ति से] कथित होता है क्योंकि वहा विषयी व्यग्य [व्यंजनावृत्ति से कथित] रहता है, और यहाँ [परिणाम में] दोनों ही अभिधा द्वारा ही कहे जाते हैं। परिणाम इनमें इसलिए माना जाता कि इनमें तादात्म्य रहता है।

दूसरा यथा—

'इसके पश्चात् पहले तो परिपाक को प्राप्त तथा सरस किन्तु वक्रोक्तिपूर्ण वचनों से राजा का उपायन [उपहार] किया उसके पश्चात् घोडों आदि से।'

यहाँ राजा के मिलने पर उपायन [भेंट] देना आवश्यक [उचित] होता है। यहां वह वचन-रूप है इसलिए यहां वचनों का भिन्नविभक्तिक उपायन के रूप से परिणाम है।

विमर्शिनी

आरोप्यमाणस्येत्यादि। आरोप्यारोपविषयभावसाम्येऽपि रूपकाद्वैलक्षण्यं दर्शयन्नेतदेव व्याचष्टे—आरोप्यमाणमित्यादिना। प्रकृतोपरञ्जकत्वेनेति। यदुक्तम्—विषयिणा विषयस्य रूपवतः करणाद्रूपकमिति। प्रकृतात्मतयेति। प्रकृताङ्गतयेत्यर्थः। उपयोग इति। तेन विना प्रकृतार्थस्यानिष्पत्तेः। परिणमतीति। प्रकृतमप्रकृतव्यवहारविशिष्टतयावतिष्ठते। प्रकृत-स्वरूपमात्रावस्थाने प्रकरणार्थानिष्पत्तेः। एवमत्र प्रकरणोपयोगित्वाभावादित्यारोप्यमाण-स्योपयोग इति चान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रकृतोपयोगित्वस्यासाधारणत्वं दर्शितम्। असा-धारणत्वस्य हि धर्मस्य तत्त्वव्यवस्थापकत्वाल्लक्षणत्वम्। अतश्च नास्यैवालंकारान्तरेषु प्रकृतोपयोगित्वम्। एवम्—

> 'आशास्यमन्यत्पुनरुक्तभूतं श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते।
> पुत्रं लभस्वात्मगुणानुरूपं भवन्तमीड्यं भवतः पितेव॥'

इत्यत्रोपमायाम्, 'अत्रान्तरे सरस्वत्यवतरणवार्तामिव कथयितुमवततार मध्यमं लोकमंशुमाली' इत्यादावुत्प्रेक्षायाम्,

> 'मन्दरमेहरुलोहिअसलिलकलहंसपरिम(मु)क्कसलिलोच्छङ्गम्।
> मरगअसेवालोव रिगिगण्णतु हिकमीणचक्कासुअम॥'

इत्यत्र च रूपके तथान्यालंकारेष्वौचित्यमेव नोपयोगः। औचित्यं हि सिद्धस्य सतः प्रकृतार्थोपलम्भकं भवति। उपयोगः पुनः सिद्धावेव प्रकृतार्थहेतुतां भजते इत्यनयो-र्महान्भेदः। तथा हि—

> 'अनन्वये च शाब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम्।
> अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम्॥'

इत्यत्रैकस्यैव शाब्दैक्यस्यौचित्योपयोगाभ्यां भेद उक्तः। अतश्चौचित्योपयोगयोर्भेद-मजानद्भिः सर्वत्रैव प्रकृतोपयोगित्वमन्यैर्यदुक्तं तदयुक्तम्। तस्माद्रूपकादन्य एव परिणामः। इह पुनः अप्रकृतार्थस्य प्रकृतार्थारोपमन्तरेण सिद्धिरेव न भवतीति प्रकृतोपयोगितैव जीवितम्।

> 'दाहोऽम्भः प्रसृतिंपचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
> श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः।
> किं चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
> हस्तच्छत्त्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते॥'

अत्र हि च्छत्त्रारोपमन्तरेण चन्द्रातपरोध एव न भवतीति तस्य प्रकृतोपयोगित्वम्। अतश्च प्रकृतमप्रकृततया परिणमतीति परिणामः। यद्येवं तर्हि सांख्यीयपरिणामादस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह—आगमेत्यादि।

> 'जहद्धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम्।
> तत्त्वादप्रच्युतो धर्मी परिणामः स उच्यते॥'

इति सांख्यीयपरिणामलक्षणम्। मैत्रीरूपतयेति। मैत्र्यात्मतयेत्यर्थः। उपयोगादिति। आतरमन्तरेण तरणायोगात्। अतश्च प्रकृते यत आतरस्योपयोगस्ततश्च प्रकृताया एव

मेभ्यास्तत्कार्यकारित्वाच्चद्व्यवहारारोप । एतदेव दृष्टान्तमुखेनापि प्रतिपादयति—तदत्रे-त्यादिना । अत्रेति परिणामे । समासोक्तौ चारोप्यमाणस्य प्रकृतोपयुक्तत्वम् । प्रकृत-सिद्ध्यर्थमेवाप्रकृतस्याक्षेपात् । आरोप्यमाणमपि तत्र प्रकृतावच्छेदकत्वेन स्थितं न पुन-राच्छादकत्वेनेत्याह—तच्चेत्यादि । अत एवेति । आरोपविषयात्मकत्वादेव । तत्रेति समासोक्तौ । एतदेव प्रकृते योजयति—एवमित्यादि । यद्येवं तर्हि समासोक्तिपरिणामयोः को विशेष इत्याशङ्क्याह—केवलमित्यादि । तयोरित्यभिधीयमानयोर्द्वयोः । उचितमिति । उपयुक्ततयेति शेषः ।

आरोप्य-आरोपविषयस्वरूपी सम्बन्ध का साम्य रहने पर भी रूपक से भिन्नता दिखलाते हुए इसी [परिणाम] की व्याख्या करते हैं = आरोप्यमाणम्० आदि के द्वारा ।

प्रकृतोपरञ्जकत्व जैसा कि [स्वयं ग्रन्थकार ने ही] कहा है—'विषयी के द्वारा विषय का अपने रूप से युक्त बनाए जाने के कारण रूपक कहलाता है ।'

प्रकृतात्मतया प्रकृत के अंग के रूप से = उपयोग क्योंकि उसके बिना प्रकृत अर्थ की निष्पत्ति नहीं होती । परिणमति प्रकृत अप्रकृत के व्यवहार से विशिष्ट होकर प्रस्तुत होता है । यदि केवल प्रकृतस्वरूपमात्र से प्रस्तुत हो तो प्राकरणिक अर्थ की निष्पत्ति न हो । इस प्रकार यहां 'प्रकरणोपयोगित्वाभाव' तथा 'आरोप्यमाणोपयोग' दो पदों के द्वारा अन्वयव्यतिरेक दिखलाकर [परिणाम में विषयी के] प्रकृतोपयोगित्व को [अलंकारान्तर से] असाधारणता दिखलाई । यह इसलिए कि जो धर्म असाधारण होता है वह वस्तु का मूलभूत रूप [तत्त्व] स्थापित करने वाला होता है, अतः उसे उस वस्तु का लक्षण कहा जाता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि अन्य अलंकारों में प्रकृतोपयोगित्व नहीं रहता । इस प्रकार—[कौत्स की रघु के प्रति उक्ति = रघुवंश सर्ग-५] 'सभी ज्ञेय प्राप्त कर चुके आपके लिए अन्य कोई चाहने योग्य वस्तु [उसकी प्राप्ति का आशीर्वाद] निरर्थक होगा । आप आत्मगुणों [आपके अपने गुण तथा राजा के व्यक्तित्व के लिए 'आत्मसम्पत्' नाम से राजशास्त्रों में निर्दिष्ट गुण] के अनुरूप पुत्र उसी प्रकार पाएँ जिस प्रकार आप के पिता ने आप जैसे स्तुत्य पुत्र को पाया है ।' यहां उपमा में, "इस बीच सरस्वती के अवतार की बात कहने के लिए मानों, सूर्य भगवान् मर्त्यलोक में अवतीर्ण हुए ।" इत्यादि उत्प्रेक्षा में, तथा—

"मन्दरमेरुशोभित-शशि-कलहंसपरिमुक्तसलिलोत्सङ्गम् ।
मरकत-शैवालोपरि-निषण्णमौनचक्रवाकयुगम् ॥"

'मन्दराचलरूपी मेरु से शोभित चन्द्रमारूपी राजहंस छोड़ चुका है जलरूपी गोद जिसका तथा मरकत [हरितमणि] रूपी शैवाल पर बैठे हुए हैं चुपचाप मौन और चक्रवाक के जोड़े जिसमें ।'—इस रूपक में और इसी प्रकार अन्य अलंकारों में भी औचित्यमात्र है उपयोग नहीं । औचित्य जो है वह उसी पदार्थ को प्रकृत पदार्थरूप बनाने में सहायक होना है जो पहले से सिद्ध रहता है [जिसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती] और जो उपयोग है वह तो प्रकृतपदार्थरूप बनने के लिए [अप्रकृतपदार्थ की] सिद्धि [प्रकृत क्रियान्वय] में हेतु बनाना है । इस प्रकार इन दोनों में महान् भेद होता है । जैसा कि पहले—"अन्वय में शब्दों की आवृत्ति [ऐक्य] औचित्य के [अर्थात् होनी ही चाहिए इस] कारण होनी है अत वह आनुषङ्गिक होती है । लाटानुप्रास में वह स्वरूप निष्पादिका होती है ।"—इस ग्रन्थ में एक ही शब्दैक्य में औचित्य तथा उपयोग के आधार पर भेद बतलाया गया है । इस कारण औचित्य और उपयोग का भेद न जानने वाले जिन लोगों ने सभी स्थलों में जो प्रकृतोपयोग बतलाया गया है वह ठीक नहीं है । इसलिए परिणाम रूपक से भिन्न ही है । यहाँ [परिणाम में] प्रकृतार्थ पर [अप्रकृतार्थ के] आरोप

के बिना अप्रकृत अर्थ की सिद्धि [मुख्यवाक्यार्थ में अन्वय] नहीं होती, अतः यहाँ प्रकृतोपयोगिता ही सर्वस्व है।

"दाह इतना है कि पसो [अंजलि] भर पानी तक को सुखा दे, आँसू इतने उमड़ रहे हैं कि पनाले से बहाए जा सकें, साँसें डोल रहे और टिमटिमाते दिए की लौ बन गई है, सारी काया पीलेपन में डूब गई है। और क्या कहूँ हाथ के छत्ते से चाँदनी रोक रोक कर तुम्हारे रास्ते की खिड़की में वह रात भर बैठी ही रह जाती है।"—यहाँ छत्र के आरोप के विना चाँदनी का निरोध बनता ही नहीं इसलिए वह प्रकृतोपयोगी है। इसलिए इसे परिणाम कहा जाता है। क्योंकि इसमें प्रकृत अप्रकृत रूप से परिणत होता है।

"यदि ऐसा है तो सांख्यशास्त्र के परिणाम से इस परिणाम का क्या अन्तर है"—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—**आगम** इत्यादि। सांख्यों के परिणाम का लक्षण यह है—"धर्मी जहाँ पूर्ववर्ती धर्म को छोड़कर दूसरे धर्म को अपना ले किन्तु उसका स्वरूप [तत्त्व] नष्ट न हो तो उसे परिणाम कहा जाता है।"

मैत्रीरूपतया मैत्री रूप से **उपयोगात्** क्योंकि 'आतर' [तरण शुल्क] के विना तरना [पार करना संभव नहीं है। इस कारण क्योंकि प्रकृत में आतर उपयोग है इसलिए प्रकृत मैत्री पर उसके उसके व्यवहार का आरोप हो रहा है कारण कि वह [मैत्री] उस [आतर] का कार्य कर रही है। इसी तथ्य को दृष्टान्त के द्वारा भी बतलाते हैं—**'तद् अत्र'** इत्यादि द्वारा। अत्र = इसमें अर्थात् परिणाम में समासोक्ति में भी आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग होता है। क्योंकि अप्रकृत का आक्षेप प्रकृत की सिद्धि के ही लिए किया जाता है "उसमें भी जो आरोप्यमाण होता है वह प्रकृत का अवच्छेदक [धर्म] होकर ही स्थित रहता है आच्छादक होकर नहीं" तथ्य को प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—**तच्च** इत्यादि। अत एव इसी कारण अर्थात् आरोपविषयात्मता के कारण। तत्र इसमें अर्थात् समासोक्ति में। इसी को प्रकृत प्रसंग में सम्बन्धित करने के लिए कहा—**एवम्** इत्यादि। 'यदि ऐसा है तो समासोक्ति और परिणाम में अन्तर क्या होगा' इस शंका पर लिखते हैं—**'केवलम्'** इत्यादि। तयोः = उनका अर्थात् जो दो अभिधा द्वारा प्रतिपादित होते हैं उनका। **उचितम्** अर्थात् उपयुक्त रूप से।

विमर्शः—विमर्शिनीकार ने अन्य अन्य अलंकारों में अप्रकृत के प्रकृतरूप होने की जो बात कही है वही रत्नाकरकार ने भी कही है किन्तु उन्होंने इसे दूसरों का मत कहा है। संभव है यह मत अलंकारभाष्यकार ने प्रस्तुत किया हो जो अप्राप्य है। इतिहास—पूर्ववर्ती आचार्यों में से भरत, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट तथा मम्मट—इन सभी आचार्यों में परिणाम नामक अलंकार नहीं मिलता। उसका प्रतिपादन ही नहीं खण्डन भी इनके ग्रन्थों में नहीं है। स्पष्ट ही यह स्वयं अलंकारसर्वस्वकार की ही सूझ है। परवर्ती शोभाकर के ही समान पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में परिणाम को अलंकार माना है, किन्तु उन्होंने अलंकारसर्वस्वकार के परिणाम-निर्वचन में वाञ्छित स्पष्टता की कमी बतलाई है। उन्होंने "आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः" इस सूत्र से लेकर "प्रकृतमारोप्यमाणतया परिणमति" इस वृत्ति तक का अंश अविकलरूप से उद्धृत कर लिखा है कि "आरोप्यमाण के प्रकृतोपयोग" का अभिप्राय यदि प्रकृत कार्य में उपयोग हो तो अलंकारसर्वस्वकार द्वारा ही उद्धृत "दासे कृतागसि०" इस रूपक के उदाहरण में खेदरूपी प्रकृत कार्य के काँटों का उपयोग का ही स्थल मानना होगा और यदि 'प्रकृत = विषय तद्रूप से उपयोग' ऐसा अभिप्राय हो तो व्यधिकरण-परिणाम के उदाहरण के रूप में उद्धृत "अथ पवित्रमता०" इस पद्य में परिणाम नहीं माना जा सकेगा। क्योंकि यहाँ वचन आरोप विषय है और उपायन आरोप्यमाण और वह आरोप्यमाण उपायन स्वरूप से

ही राजा से भेंट करने रूपी अर्थ में उपयुक्त होना है, वचनरूप से परिणत होकर नहीं। बल्कि उल्टे वचनों का ही उपयोग तब सम्भव हो पाता है जब वे उपायनरूप से विदित होते हैं। इस लिए इस *"अथ पक्तिमना०" पद्य को वस्तुत: व्यधिकरण रूपक का उदाहरण माना जाना* चाहिए।

पण्डितराज जगन्नाथ ने एक तथ्य की ओर आर ध्यान आकृष्ट किया है। वह यह कि परिणाम में यह मानना वास्तविकता के विरुद्ध है और उसमें उल्टे रूपक की सिद्धि होती है कि "परिणाम में प्रकृतपदार्थ अप्रकृतपदार्थ रूप से परिणत होता है।" उनके अनुसार माना यह जाना चाहिए कि परिणाम में अप्रकृत प्रकृतरूप से परिणत होता है। अल्कारसर्वस्वकार और विमर्शिनीकार दोनों ने प्रकृत को ही अप्रकृत रूप से परिणत होता हुआ माना है। दोनों के बीच हुए अल्कार-रत्नाकरकार ने 'प्रकृतमप्रकृतरूपतया परिणमतीति परिणामालङ्कार" इस प्रकार प्रकृत को ही अप्रकृतरूप से परिणत होता माना है। पण्डितराज का ही मत यहाँ मान्य है।

हमारी दृष्टि से परिणाम अल्कार नहीं दोष है। जिसका उपयोग न हो सके उसका काव्य-प्रयोग निरर्थक होता है जो अपुष्टार्थत्व दोष है। कदाचित् इसी कारण पूर्ववर्त्ती किसी भी आचार्य ने परिणाम नामका कोई भी अल्कार नहीं माना। उन्होंने किसी अन्य नाम से भी इस या ऐसे अल्कार का निर्वचन नहीं किया।

सञ्जीविनीकार ने परिणाम का पूर्ण विवेचन संग्रहकारिकाओं में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

> 'आरोप्यमाण प्रकृते यदासावुपयुज्यते।
> परिणामस्तदा तेन रूपकादस्य भिन्नता॥
> रूपमात्रसमारोपाद् रूपके व्यञ्जको ह्यसौ।
> व्यवहारसमारोपादिह स्यात् प्रकृतान्वय॥
> भवेदप्रस्तुतत्वेन रूपके प्रकृतस्थिति।
> परिणामसमासोक्त्योर्नन्वयोऽस्याद् विपर्यय॥
> उपादानानुपादानकृतो भेदस्तयोर्मिथ॥'

आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग हो तो वह परिणाम होता है। इसीसे परिणाम रूपक से भिन्न होता है। रूपक में तो रूपमात्र का आरोप [अभिधावृत्तिद्वारा] होता है जब कि परिणाम में व्यवहार का, और वह भी व्यंजना द्वारा। रूपक में प्रकृत अप्रकृतरूप से कथित रहता है और परिणाम में समासोक्ति के समान इसके विपरीत प्रकृत अप्रकृतरूप से। उन दोनों [समासोक्ति और परिणाम] में परस्पर में भेद यह है कि परिणाम में आरोप्यमाण भी शब्दत: कथित रहता है जब कि समासोक्ति में नहीं।'

[सर्वस्व]

[सू० १८] विषयस्य संदिह्यमानत्वे संदेहः।

'अभेदप्राधान्ये आरोप इत्येव। विषयः प्रकृतोऽर्थः, यद्विचित्त्वेनाप्रकृतः संदिह्यते। अप्रकृते संदेहे विषयोऽपि संदिह्यत एव। तेन प्रकृताप्रकृतगतत्वेन कविप्रतिभोत्थापिते संदेहे संदेहालंकारः।

[सू० १८] 'विषय यदि संदेहास्पद बतलाया जाय तो संदेह [नामक अर्थालंकार होता है]।'

[वृ०] 'आरोप जिसमें अभेद की प्रधानता हो' इतना यहाँ [रूपकलक्षण से] प्राप्त ही है विषय का अर्थ [यहाँ भी] प्रकृत अर्थ है जिसको भित्ति बनाकर अप्रकृत अर्थ का संदेह किया जाता है। अप्रकृत पर संदेह होने पर [प्रकृत] विषय भी संदेह का विषय बन ही जाता है। इस प्रकार संदेहालंकार [का निष्कृष्ट लक्षण] है—"प्रकृत और अप्रकृत दोनों [पदार्थों] पर कविप्रतिभा द्वारा उद्भावित संदेह"।

विमर्शिनी

विषयस्येत्यादि। **विषयविषयिणोः संबन्धिशब्दत्वाद्विषयस्योक्तेर्विषयिणोऽप्याक्षेपाद्ग्रहणम्। तेन विषयस्य विषयिणश्च संदेहप्रतीतिविषयत्वं सूत्रार्थः। ननु विषयशब्देन विषयिशब्दस्य संबन्धिशब्दत्वादाक्षेपेऽपि विना वचनमाक्षेपमात्राद्विषयिणः कथं संदिह्यमानता लभ्यत इति चेत्, न। अनियतोभयांशावलम्बिविमर्शरूपत्वाद्विषयमात्रगतत्वेनासंभवात्संदेहस्यान्यथानुपपत्त्या विषयिणस्तत्संबन्धित्वं लभ्यत एवेति यथासूत्रितमेव न्यायः। एतदेव विभज्य व्याचष्टे—**विषय इत्यादिना। यद्भित्तित्वेनेति। **अन्यथा ह्यप्रकृतस्य निर्विषयत्वमप्रस्तुताभिधानलक्षणो वा दोषः स्यादिति भावः। तेन विषयभित्तितया विषयिणामेव तथाभावो भवतीत्याशङ्क्याह—**अप्रकृतेत्यादि। विषयोऽपीति। **न केवलं विषयिण एव संदिह्यमानत्वं यावद्विषयस्यापीत्यपिशब्दार्थः। तेन क्वचिद्विषयिणामेव संदिह्यमानत्वे क्वचिच्च विषयविषयिणोरप्यलंकारो भवेत्। उभयत्रापि सामान्यलक्षणानुगमात्। अनियतोभयांशावलम्बी हि विमर्शः संशयः। स च विषयिणामेव भवति। विषयविषयिणोरेव संदिह्यमानत्वात्। अत एव च प्रकृताप्रकृतगतत्वेनेति यथासंभवं योज्यम्।** प्रतिभोत्थापित इति। **न पुनः स्वरसोत्थापितः, स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्येवमादिरूप इत्यर्थः।**

विषयेत्यादि। विषय और विषयी दोनों शब्द परस्पर सम्बन्धित शब्द हैं, अतः केवल 'विषय' के कहने से विषयी का ज्ञान भी यहाँ आक्षेप से हो जाता है। इस कारण सूत्र का अर्थ होगा 'विषय और विषयी दोनों का संदेहात्मक प्रतीति का विषय बनना।' यहाँ शंका होती है कि 'माना कि विषयिशब्द सम्बन्धिशब्द है, इसलिए विषयशब्द से उसका आक्षेपद्वारा लाभ संभव है तथापि बिना शब्दतः कहे केवल आक्षेपमात्र से प्रतीत विषयी का संदेहविषय होना कैसे संभव है।' किन्तु ऐसी शंका ठीक नहीं। इसलिए कि संदेह सदा ही दो अनियत अंशों पर निर्भर ज्ञान का नाम है। अतः उसका केवल विषयमात्रगत होना संभव नहीं। इस कारण अन्यथानुपपत्ति प्रमाण द्वारा विषयी की विषयसंबद्धता विदित हो ही जाती है। इस प्रकार ग्रन्थकार ने जैसा सूत्र बनाया वैसा ही कहना अधिक उपयुक्त है। इसी तथ्य को प्रकट करने के हेतु सूत्रगत अर्थों की विवेचना अलग अलग करते हैं—**विषय इत्यादि। यद्भित्तित्वेन** अर्थात् यदि विषय की भित्ति [आधार] न हो तो अप्रकृत अर्थ निराधार हो जाए अथवा अप्रस्तुताभिधान रूप दोष यहां चला आवे। 'यदि ऐसा है तो विषय की भित्ति पर विषयी ही वैसा [संदेहविषय] बनता है ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय"–इस शंका पर कहते हैं—**अप्रकृत इत्यादि। विषयोऽपि** विषय भी, अर्थात् न केवल विषयी ही संदेहविषय बनता, विषय भी संदेहविषय बनता है यह है अपि = शब्द भी-शब्द का अभिप्राय, इससे निष्कर्ष यह निकला कि कहीं तो केवल 'विषयी' के ही संदेह—विषय होने पर संदेहालंकार होता है और कहीं विषय और विषयी दोनों के ही संदेहविषय होने पर। कारण कि दोनों ही दशा में संदेह का सामान्य लक्षण लागू होता है। संशय जो है वह ऐसा ज्ञान है जो दो अनिश्चित अंशों पर निर्भर हो। यह ज्ञान केवल विषयी के विषयमें ही होता है क्योंकि संदेह विषय विषय और विषयी दोनों ही होते हैं। और इसीलिए 'प्रकृताप्रकृतगत'

का अर्थ जहाँ जैसा हो वैसा लगा लेना चाहिये। प्रतिभोत्थापित अर्थात् साधारणरूप से उत्थापित नहीं। जैसा कि 'यह ठूँठ है या आदमी' में होता है।

विमर्श—सूत्र में केवल विषय का उल्लेख है। वृत्ति विषयी को भी जोड़ती है। टीकाकार विषय की अपेक्षा विषयी को ही अधिक महत्त्व दे रहे हैं। वृत्तिकार ने सन्देह का दो दो बार 'अनियतोभयाद्यविषयक' निर्णय = ज्ञान कहा है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसके आधार पर "सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोटिअवगाहिनी धी रमणीया सन्देहालङ्कृति" = अर्थात् सादृश्यमूल ऐसे सुन्दर ज्ञान को सन्देहालङ्कार माना जाता है जिसमें विरोध भासित हो रहा हो, जिसके विषय एकाधिक पदार्थ हों तथा उन सब पदार्थों में से किसी एक पर अधिक झुकाव न हो—इस प्रकार सन्देहालङ्कार में विषय और विषयी को स्थान देकर ज्ञान में एकाधिक-विषयकतामात्र को स्थान दिया है। विचारना यह है कि इनमें मान्य क्या है। हम ऐसा सोचते हैं कि सन्देह में महत्त्वपूर्ण तत्त्व है अनिश्चय और उसका विषय एकमात्र वही होता है जिसका विचार चलता है अर्थात् प्रस्तुत। इस प्रकार वस्तुत चमत्कार का कारण विषय का अनिश्चय है। अन्य पदार्थ उसपर विकल्पित रहते हैं। वे आगमापायी होते हैं। उनके ज्ञानचक्र की धुरी प्रस्तुत या वर्णनीय पदार्थ ही होता है। अत सर्वस्वकारसर्वस्वकार का सूत्र ही इस दिशा में अधिक मान्य है। यह तथ्य और सत्य है कि सन्देह में ज्ञान नानाविषयक ही होता है और उसमें भी ज्ञाता की सविचिसधारा का मोड़ सम्भावना के समान किसी एक दिशा में प्रबलता से नहीं होता, तथापि सन्देहालङ्कार से चमत्कार का कारण विषय का विषयत्वेन अनिश्चय ही होता है। अत उसी पर अधिक बल देना वैज्ञानिक और उचित है।

[सर्वस्व]

स च त्रिविधः। शुद्धो निश्चयगर्भो निश्चयान्तश्च। शुद्धो यत्र संशय एव पर्यवसानम्। यथा—

'किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
लीलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारांनिधेः।
उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविस्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः॥'

निश्चयगर्भो यः संशयोपक्रमो निश्चयमध्यः संशयान्तश्च। स यथा—

'अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।
कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति चिरात्
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान्प्रतिभटाः॥'

निश्चयान्तो यत्र संशय उपक्रमो निश्चये पर्यवसानम्। यथा—

'इन्दुः किं क कलङ्कः सरसिजमेतत्किमम्बु कुत्र गतम्।
ललितसविलासवचनैर्मुखमिति हरिणाक्षि निश्चितं परतः॥'

क्वचिदारोप्यमाणानां मिथ्याश्रयत्वेन दृश्यते। यथा—

'रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण॥'

अत्रारोपविषये तिमिरे रागादि तर्वादिभिन्नाश्रयत्वेनारोपितम् । केचित्त्वध्यवसायाश्रयत्वेन संदेहप्रकारमाहुः । अन्ये तु नुशब्दस्य संभावनाद्योतकत्वादुत्प्रेक्षाप्रकारमिममाचक्षते ।

[वृत्ति] वह [संदेहालंकार] तीन प्रकार का होता है (१) शुद्ध (२) निश्चयगर्भ और (३) निश्चयान्त । [इनमें से]—(१) शुद्ध वह होता है जिसका पर्यवसान संशय में ही हो जाता हो । यथा—

'यह क्या तारुण्यतरु की पर्याप्त रस लेकर खिली नई मंजरी है ? या लीला से उछलते लावण्य-जलनिधि की नन्हीं सी लहर या कि [उत्कण्ठित जनों में] अपने अनुरूप प्रवृत्ति का आरम्भ देखने से आश्वस्त शृङ्गारी देव [काम] के द्वारा देने के लिए गाढ़तम उत्कण्ठा (हूक) से भरे [कामि-] जनों को उपदेश देने के लिए गृहीत छड़ी ? (२) निश्चयगर्भ संदेहालंकार वह होता है। जिसमें आरम्भ और अन्त दोनों में संशय रहे किन्तु मध्य में निश्चय हो । उसका उदाहरण—

"यह क्या सूर्य है, किन्तु वह [सूर्य] तो सदा सात घोड़ों से युक्त रहता है, क्या यह साक्षात् अग्नि है, किन्तु वह एक एक करके दिशाओं में योजनाबद्धरूप से [सब दिशाओं में एक ही साथ] नहीं फैलता; तो क्या यह साक्षात् यमराज है, पर वह तो भैंसे पर सवार रहता है'—आपको युद्ध में सामने देखते हैं तो शत्रुयोद्धा ऐसे विकल्प करते हैं ।"

[यहाँ सूर्य आदि के संशय का निराकरण हो जाता है उतने ही अंश में यहाँ निश्चय है अर्थात् यहाँ सूर्यादि के अभाव का निश्चय बीच बीच में आता गया है, निश्चयगर्भ का अर्थ यह नहीं इसमें बीच में विषय का निश्चय हो जाए ।]

(३) निश्चयान्त संदेहालंकार में वहाँ होता है जहाँ आरम्भ में संशय हो और अन्त में निश्चय । उदाहरण—

'चन्द्रमा है क्या, पर कलंक कहाँ गया ? क्या कमल है परन्तु जल कहाँ गया ? [ऐसे कल्प-विकल्प करने के] पश्चात्, हे मृगाक्षि ! ललित और विलासपूर्ण वचनों से विदित हुआ कि यह मुख है ।' कहीं कहीं आरोप्यमाण का आश्रय [आरोप विषय से] भिन्न होने से भी [यह अलंकार] देखा जाता है । यथा—"अन्धकार ने विविध [रंग के] वृक्ष और पर्वतों को रंग सा दिया; आसमान को झुका-सा या ढँक-सा दिया है, ऊबड़ खाबड़ स्थलों पर पृथिवी को भरवा दिया है [और] दिशाएँ [नीरक्षीरवत्] मिला-सी दी हैं ।"

यहाँ आरोप का विषय जो अन्धकार है उसपर राग आदि का आरोप किया तो गया किन्तु उन [राग आदि] को तरु आदि पर आश्रित बतलाया गया है ।

कुछ लोग [इस स्थल में] संदेह का अध्यवसायमूलक [न कि आरोपमूलक नवीन] भेद मानते हैं और कुछ लोग इस स्थल को उत्प्रेक्षा का अंग मानते हैं, क्योंकि 'नु' = 'सा' या 'मानों' शब्द [उत्प्रेक्षा बीज] संभावना का द्योतक होता है ।

विमर्शिनी

एतदेव भेदत्रयं विवृण्वन्नुदाहरति—शुद्ध इत्यादि । अत्र प्रकृतायास्तन्व्याः संदेहप्रतीतिविषयत्वाभावाद्विषयिणां मञ्जर्यादीनामेव संदेहः । विषयविषयिणोर्यथा—

> 'किं पङ्कजं किमु सुधाकरबिम्बमेतत्किं वा मुखं क्लमहरं मदिरेक्षणायाः ।
> यद्दृश्यते मधुकराभकुरङ्गकान्तिनेत्रद्वयात्तुकृति कार्ष्ण्यममुष्य मध्ये ॥'

अत्र क्लमहरत्वादिः समानो धर्मोऽनुगामित्वेनोपात्तः । क्वचिद्वस्तुप्रतिवस्तुभावेनापि भवति यथा—

> 'किमिदमसितालिकलितं कमलं किं वा मुखं सुनीलकचम् ।
> इति संशेते लोकस्त्वयि सुतनु सरोवतीर्णायाम् ॥'

अत्रासितत्वसुनीलत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । अलिकचानां च विम्वप्रतिबिम्बभावः । एवं चास्य सादृश्यनिमित्तत्वात्समानधर्मानेकधर्मनिमित्तत्वेन द्विभेदत्वं न व्याकार्यम् । सादृश्यनिमित्तत्वेनैवास्य सङ्ग्रहसिद्धेः । विप्रतिपत्त्यादिनिमित्तान्तरवचारुत्वाभावाच्च । भिन्नाश्रयत्वेनेति वैयधिकरण्येन ।

इन्हीं तीनों भेदों का अर्थ स्पष्ट करते हुए उदाहरण देते हैं—शुद्ध इत्यादि । यहाँ [शुद्ध के उदाहरण—"किं तारुण्यतरोः" में] तन्वी प्रकृत है किन्तु वह संदेह प्रतीति का विषय नहीं, अतः यहाँ मञ्जरी आदि जो विषयी, है उन्हीं का संदेह है । विषय और विषयी दोनों के संदेह का उदाहरण—दुःख दूर करने वाला क्या यह कमल है, या चन्द्र बिम्ब है अथवा किसी मदिरेक्षणा का मुख, जिसमें भौंरे से समान, हरिण के तुल्य और दो नेत्रों का अनुकरण करने वाली यह कालिमा दिखाई दे रही है ।' [यहाँ चन्द्रमा रूपी विषय और अन्य सब विषयी हैं । इन दोनों का सन्देह किया जा रहा है । यहाँ, जो साधारण धर्म 'दुःख दूर करना है वह अनुगामी धर्म है' । कहीं वस्तुप्रतिवस्तुभावात्मक साधारण धर्म से भ [सदेहालंकार निष्पन्न होता है । यथा—"हे सुतनु जब तुम तालाब में उतरती हो तो लोग यह संदेह करते हैं कि असित भौंरों से ढँका हुआ यह कमल है या सुनील केशों से घिरा मुख ।' [यहाँ भी मुख जो कि विषय है उसका और कमलरूपी विषयी का साथ-साथ संदेह है] यहाँ 'असितत्व और 'सुनीलत्व' एक और अभिन्न हैं, अतः इनका यह जो साधारण धर्म है यह शुद्ध सामान्यात्मक वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न साधारणधर्म है । और जो भौंरों तथा केशों का साधारणत्व है वह बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निष्पन्न होता है [भौंरे तथा केश दोनों कृष्णवर्ण-रूपी साधारण धर्म के कारण अभिन्न प्रतीत होने लगते हैं] इस प्रकार इस [सदेहालंकार] में समान धर्म तथा अनेक धर्म, इस प्रकार धर्म के आधार पर दो भेद नहीं जाने चाहिए [जैसा कि अलंकाररत्नाकरकार ने बतलाया है क्योंकि यह अलंकार एक सादृश्यमूलक अलंकार है इसलिए उक्त दोनों भेद सादृश्यनिमित्तता में ही अन्तर्भूत हो जायेंगे । दूसरे इसमें चारुत्व भी नहीं रहता जैसे कि [रत्नाकरकार के ही अनुसार] विप्रतिपत्ति-आदि अन्य निमित्तों में चारुत्व नहीं रहता । भिन्नाश्रयत्व का अर्थ है वैयधिकरण्य ।

विमर्श—अलंकाररत्नाकरकार ने सदेहालंकार के भेद बतलाते हुए लिखा है—'कमलं वा वदनं वा इति वार्थमिश्रा प्रतीतिः संदेहः । स च यद्यपि समानधर्मानेकधर्म-विप्रतिपत्त्युपलब्ध्यव्यवस्थानं इत्यनेकधोक्तः तथापि निमित्तान्तरोत्थापितस्य तस्य चारुत्वाभावात् समानधर्मानेकधर्मनिमित्तत्वेनेह द्विविध एव ।' अर्थात् 'या तो कमल है या मुख है'—इस प्रकार वा-(या)-शब्द के अर्थ से मिश्रित प्रतीति का नाम संदेह है । वह यद्यपि—समानधर्म, अनेकधर्म, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि और अव्यवस्था इन तत्त्वों के आधार पर अनेक प्रकार का बतलाया गया है किन्तु अन्य तत्त्वों के आधार पर होने वाले संदेह में चारुत्व नहीं होता । अतः केवल उसे दो ही प्रकार का मानना चाहिए एक समान धर्मनिमित्तक तथा दूसरा अनेकधर्मनिमित्तक ।' इन दोनों में से प्रथम के उदाहरण के रूप में उन्होंने 'किं पङ्कजम्०' पद्य ही प्रस्तुत किया है तथा द्वितीय के उदाहरण के रूप में कालिदास के विक्रमोर्वशीय का "अस्याः सर्गविधौ०" यह प्रसिद्ध पद्य । प्रथम पद्य में सभी के बीच 'कलमहरत्व' यह एक ही समान धर्म है । द्वितीय पद्य में कान्ति, शृङ्गार आदि अनेक धर्म । विमर्शिनीकार ने कहा है कि धर्म की संख्या में भेद होने से चमत्कार की अनुभूति नहीं होती 'अतः उक्त दो भेद भी पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त अन्य भेदों के समान अमान्य हैं । अलंकाररत्नाकर द्वारा प्रतिपादित ये दो भेद भरत, भामह, दण्डी, वामन, उद्भट, रुद्रट तथा मम्मट में नहीं मिलते । कदाचित् 'अलंकारभाष्य' में ये भेद रहे हों]

विमर्शिनी

अत्रैव पक्षान्तरमाह—केचिदित्यादि। अनेन च संदेहस्याध्यवसायमूलत्वमपि ग्रन्थकृतै-वोक्तम्। तेनाध्यवसायाश्रयोऽप्ययं स्वरूपहेतुफलानां संदिह्यमानत्वेन त्रिधा भवति। तत्र स्वरूपसंदेहो यथा—'रञ्जिता' इत्याद्येव। यथा वा—

> एतत्तर्कय कैरवक्लमहरे शृङ्गारदीक्षागुरौ
> दिक्कान्तामुकुरे चकोरसुहृदि प्रौढे तुषारत्विषि।
> कर्पूरैः किमपूरि किं मलयजैरालेपि किं पारदै-
> रक्षालि स्फटिकोपलैः किमघटि द्यावापृथिव्योर्वपुः॥'

अत्र कौमुदीधवलिम्नः कर्पूरपूरणादिनाध्यवसितत्वादध्यवसायमूलत्वम्। हेतुसंदेहो यथा—

> 'देवि त्वच्चरणाम्बुजस्मृतिविधौ गाढावधानस्पृशां
> धन्यानां प्रसरन्ति संततया ये बाष्पधाराभराः।
> किं ते स्युश्चिरकालभावितभवाभ्रमणक्रियावेगतः
> किं वासादितमुक्तिचन्द्रवदनासंदर्शनानन्दतः॥'

अत्राश्रुहेतोरानन्दस्य संसारवियोगो मुक्तिसांमुख्यं चेति हेतुद्वयमध्यवसितम्। फल-संदेहो यथा—

> 'नृत्तान्ते पारिजातं किमु विघटयितुं स्प्रष्टुमाकाशगङ्गां
> किंस्विद्वा चन्द्रसूर्यौ किमु विदलयितुं श्वेतरक्ताब्जबुद्ध्या।
> लब्धुं नक्षत्रमालाभरणमरमुत स्वर्गजं वाभियोद्धुं
> दूरोदस्तः समस्तस्तव गणपतिना स्वस्तये सोऽस्तु हस्तः॥'

अत्र करिणो निष्पादनस्य विघटनादिफलमध्यवसितम्। अत्रैवादिशब्दवन्नुशब्दस्य संभावनाद्योतकत्वात्पक्षान्तरमपि दर्शयितुमाह—अन्य इत्यादि। अतश्च रञ्जिता इवेत्यर्थः। पूर्वत्रार्थे तु नुशब्दो वितर्कमात्र एव व्याख्येयः।

विमर्शिनी—इसी [रञ्जिता नु०] पर दूसरे पक्ष प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—'केचित्'—'कोई'—इत्यादि। इससे यह बात आई कि ग्रन्थकार स्वयं संदेह को अध्यवसायमूलक भी मानते हैं। इस कारण [हम इसके भी भेद बतलाए देते हैं] अध्यवसायमूलक संदेह भी तीन प्रकार का होता है—(१) जिसमें स्वरूप का सन्देह होता है (२) जिसमें हेतु का संदेह होता है और (३) जिसमें संदेह होता है फल का। इनमें से प्रथम स्वरूपसंदेह यथा—'रञ्जितानु०' इत्यादि मूल में उद्धृत पद्य ही। अथवा—'कुमुद का क्लम हरने वाले, शृङ्गारदीक्षा के गुरु, दिशारूपी सुन्दरी के दर्पण, चकोरों के मित्र (इस) शीतरश्मि [चन्द्र] के प्रौढ होने पर, थोड़ा यह तो सोचिए कि द्यावापृथिवी का संपूर्ण शरीर क्या कपूर से भर गया है, या धवल चन्दन से लिप गया है, या पारदरस (पारे) से धो दिया गया है या स्फटिकमणि से जड़ दिया गया है।' यहाँ चाँदनी की धवलता [का स्वरूप ही] कर्पूरपूर आदि द्वारा अध्यवसित है [चाँदनी स्वशब्दतः अनुक्त है], अतः यह भेद अध्यवसायमूलक [स्वरूप संदेह का] भेद हुआ।

हेतुसन्देह यथा—

'हे भगवति! आपके चरणारविन्द का ध्यान करने में गाढ समाधि तक पहुँचे धन्य महात्माओं में जो अविरल रूप से अनेकानेक अश्रुधाराएँ बह निकलती हैं वे चिरकाल तक सेवित संसार-

का प्रश्न न रहने के वेग से निकलती हैं अथवा मुक्तिरूपी चन्द्रमुखी के सदर्शन से प्राप्त आनन्द से।

—यहाँ अश्रुपात का कारण आनन्द है। उस [आनन्द] की उत्पत्ति में दो हेतुओं का संदेह किया जा रहा है एक समार से छुट्टी और दूसरा मुक्ति का आभिमुख्य। ये दोनों हेतु अध्यवसित हैं। [देखिए—इस प्रकरण के अन्त का विमर्श]

फलसंदेह यथा—

'गणपति जी का वह हाथ आपके लिए कल्याणकारी हो जिस पूर्ण हाथ को उन्होंने या तो इसलिए दूरतक फैलाया है कि उन्हें स्वर्ग का पारिजात उखाड़ लाना है, या इसलिए कि उन्हें आकाश में गंगा का स्पर्श करना है, या इस लिए कि सफेद और लाल कमल समझ वे चन्द्र और और सूर्य को ले लेना चाहते हैं, या इसलिए कि वे नक्षत्र माला [इक्कीस रत्नों या गुरियों की माला तथा ग्रह नक्षत्रों की माला] के आभूषण पहना चाहते हैं या तो वे स्वर्ग के हाथी से जूझना चाहते हैं।' —यहाँ हाथी का जो निष्पादन (गणपति पर आरोप है) उसका फल विघटनादि गणपतिगत विघटनादि से अध्यवसित है।

यहाँ [काव्य में] इव-आदि, [आदिपद से मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्राय, नूनम् आदि] शब्द के ही समान 'नु'—शब्द भी [उत्प्रेक्षाबीज] सम्भावना का द्योतक होता है इसलिए [रजिता नु०— पद्य में] एक दूसरा भी पक्ष दिखलाते हैं—**अन्य** इत्यादि द्वारा। इस [उत्प्रेक्षा] पक्ष में 'रञ्जिता नु' का अर्थ हुआ 'रजिता इव' [मानों रजित = रंगे हुए] पहले अर्थ में 'नु'-शब्द की व्याख्या केवल वितर्क ही की जानी चाहिए।

विमर्श—अध्यवसायमूलक प्रस्तुत तीनों भेदों में से प्रथम के उदाहरण 'पतत् तर्कय०' में तो संदेह सादृश्यमूलक है, किन्तु दूसरे तथा तीसरे के उदाहरण सादृश्यमूलक नहीं हैं, इतने पर भी इनमें संदेहालंकार माना जा रहा है। यह विचारणीय है। अलंकाररत्नाकरकार ने सादृश्येतरमूलक संदेह को भी उसी प्रकार अलंकार माना है जिस प्रकार आयुर्घृतम् = 'घृत आयु है' आदि सादृश्येतरसम्बन्धमूलक रूपक को रूपकालंकार। उनकी पंक्ति है—

'स्थाणुर्वा पुरुषो वेति न स्वारसिक सदेहोऽलंकार, अपि तु कविप्रतिभोत्थापित। तेन साधर्म्यं विहायापि निमित्तान्तरमवलम्ब्य कविप्रतिभोत्थापित सदेहोऽलंकार एव। उदाहरणम्—"देवि त्वच्चरणारविन्द०"। अत्राश्रुधारारूपस्य कार्यस्य ससारवियोगो मुक्तिसाम्मुख्य चेति हेतुद्वयं संशयितम्।'

'ठूँठ है या आदमी'—यह लौकिक [स्वारसिक] संदेह है। यह संदेहालंकार नहीं हो सकता, क्योंकि वही संदेहालंकार होता है जो कविप्रतिभोत्थापित होता है। यहाँ तक कि संदेह यदि कविप्रतिभोत्थापित हो और सादृश्यमूलक न हो तब भी वह अलंकार माना जा सकता है। उदाहरण— 'देवि त्वच्चरणारविन्द०' पद्य। यहाँ जो अश्रुधारारूपी कार्य है उसके हेतुरूप से दो तथ्यों का संदेह किया गया है—एक संसारवियोग० और दूसरा मुक्तिसाम्मुख्य।'

निश्चित ही विमर्शिनीकार ने असादृश्यनिमित्तक संदेह को भी संदेहालंकार मान लिया है जो मूलविरुद्ध है। मूलकार सादृश्यमूलक संदेह को ही संदेहालंकार मानते हैं।

यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि "देवित्वच्चर०" पद्य में अलंकाररत्नाकरकार ने 'अश्रुधारारूप कार्य' के प्रति दो कारणों का संदेह बतलाया है जब कि विमर्शिनीकार ने "अश्रुहेतो आनन्दस्य ससारवियोगो मुक्तिसाम्मुख्य चेति०" इस प्रकार "अश्रु के कारण आनन्द को कार्य मान कर उसके प्रति दो हेतु का संदेह बतलाया है। वस्तुतः कथन अलंकाररत्नाकरकार का ही

मान्य है। क्योंकि यहाँ "आसादितभक्तिचन्द्रवदनासंदर्शनानन्दतः" इस प्रकार जिस आनन्द को कारण बतलाया जा रहा है वह कार्य नहीं माना जा सकता है। दूसरे अलंकाररत्नाकरकार के पाठ से "चिरकालभावितभवाप्रश्नक्रियावेगतः" का अर्थ 'चिरकाल तक भावित संसार पर विचार न करने या उसके छूटने के आवेग से' करना होगा तभी संसारवियोग में 'वियोग'—शब्द का स्वारस्य ठीक बैठेगा, नहीं तो संसारत्याग अर्थ करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त वाक्यार्थ की दृष्टि से भी यह अर्थ अधिक रुचिर है। इसलिए कि ऐसा मानने पर हेतु रूप से विरुद्ध पदार्थ गृहीत होते हैं "आवेग और आनन्द।" फिर अश्रुपात होता भी आवेग या आनन्द से ही है। 'आवेग' अर्थ निकालने में पाठान्तर से भी सहायता मिलती है। यहाँ अलंकाररत्नाकर में "आवेशितः" पाठान्तर दिया गया है। उसे 'आवेशतः' होना चाहिए। संस्कृतग्रन्थों में आवेग और आवेश का यह हेर फेर प्रायः सार्वत्रिक ही है।

संदेहालंकार का इतिहास—

भामहः—

'उपमानेन तत्त्वं च भेदं च वदतः पुनः। ससन्देहं वचः स्तुत्यै ससन्देहं विदुर्यथा॥
किमयं शशी न स दिवा विराजते कुसुमायुधो न धनुरस्य कौसुमम्।
इति विस्मयाद् विमृशतोऽपि मे मतिस्त्वयि वीक्षिते न लभतेऽर्थनिश्चयम्॥'

—उपमान के साथ उपमेय का अभेद और तत्पश्चात् भेद उपमेय की प्रशंसा के लिए जिन शब्दों में बतलाया जाय वे शब्द ससन्देह शब्द होते हैं। उसी को ससन्देहालंकार कहा जाता है। उदाहरण यथा—"तुम्हारे दिखाई देने पर क्या यह चन्द्रमा है, पर वह दिन में शोभित नहीं होता, क्या यह कुसुमायुध = काम है, किन्तु इसका धनुष कुसुम का नहीं है :—ऐसा आश्चर्यपूर्वक विचार करता रहता हूँ, किन्तु वास्तविकता का निश्चय नहीं कर पाता।"

वामन = "उपमानोपमेयसंशयः सन्देहः—।" ४।३।११।

उपमानोपमेययोरतिशयार्थं यः क्रियते संशयः स सन्देहः। यथा—

'इदं कर्णोत्पलं चक्षुरिदं वेति विलासिनी। न निश्चिनोति हृदयं किन्तु दोलायते मनः॥'

—उपमानोपमेय का संशय संदेह होता है। अर्थात् उपमानोपमेय में अतिशय बतलाने के लिए जो संशय किया जाता है वह संदेहालंकार कहलाता है। यथा "हे विलासिनि! चित्त को कर्णोत्पल है या चक्षु है" ऐसा निश्चय नहीं हो पाता। चित्त केवल दोलायित ही रहा आता है।

उद्भट :—उद्भटने संदेहालंकार के दो लक्षण दिए हैं। प्रथम में उन्होंने भामह की ऊपर उद्धृत संदेहलक्षणकारिका ज्यों की त्यों अपना ली है। केवल उसमें अन्तिम पद 'यथा' के स्थान पर 'बुधाः' कर दिया है। दूसरा लक्षण इस प्रकार है—

'अलंकारान्तरच्छायां यत्कृत्वा धीषु बन्धनम्। असन्देहेऽपि संदेहरूपं संदेहनाम तत्॥'

—दूसरे किसी अलंकार की छाया (शोभा) चित्त में रखकर संदेह होने पर भी जो संदेह का निरूपण उसे भी संदेह कहा जाता है। यथा—

'नीलाब्दः किमयं मेरौ धूमोऽप्य प्रलयानले। इति यः शङ्क्यते श्यामः पक्षीन्द्रेऽर्केऽपि स्थितः॥'

—'भगवान् स्वयं श्याम हैं और वे जिस पक्षिराज गरुड़ पर विराजमान हैं वह है सूर्य के समान लाल। अतः उन्हें देखकर संदेह होता कि क्या यह मेरु पर्वत पर कोई नील मेघ है या प्रलयाग्नि पर धूम।' यहाँ उपमानोपमेयभाव को मन में रखकर संदेह प्रस्तुत किया गया है।

रुद्रट :—(१) 'वस्तुनि यत्रैकस्मिन्ननेकविषयस्तु भवति संदेहः।
प्रतिपत्तुः सादृश्यादनिश्चयः संशयः स इति ॥' ८।५९ ॥

उदाहरण = 'किमिदं नीलालिकुलं कमलं किंवा मुखं सुनीलकचम्।
इति संदेहे लोकस्त्वयि सुतनु सरोऽवतीर्णायाम् ॥'

(२) 'उपमेये सदसमपि विपरीतं वा तयोपमानेऽपि।
यत्र स निश्चयगर्भस्तनोऽपरो निश्चयान्तोऽन्यः ॥

—जहाँ एक वस्तु में अनेक वस्तु का संदेह होता है, इसलिये कि ज्ञाता सादृश्य के कारण निश्चय नहीं कर पाता उस संदेह को संदेहालंकार कहा जाता है। उदाहरण विमर्शिनी में उद्धृत 'किमिदम्०'।

—जहाँ उपमेय में संभव वस्तु भी असंभव बतलाई जाए तथा असंभव भी संभव और इसी प्रकार उपमान में भी, तो वह भी संदेहालंकार होता है। वह एक तो निश्चयगर्भ होता है और दूसरा निश्चयान्त। उदाहरण उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के स्वयं ग्रन्थकार ने प्रस्तुत किए हैं यद्यपि पद्य भिन्न हैं।

मम्मट = 'ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः।'

संशय का नाम ससंदेहालंकार है। वह भेदोक्ति और भेदानुक्ति में होता है। भेदोक्ति का उदाहरण = 'अयं मार्तण्ड०' तथा भेदानुक्ति का 'अस्याः सर्गविधौ०'।

रत्नाकरकार = अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरने उक्त उदाहरणों के आधार पर संदेहालंकार से भिन्न एक वितर्कालंकार भी खोज निकाला है। उनका संदेहालंकार का लक्षण इस प्रकार है—

[सूत्र] "तस्यापि संदिह्यमानत्वे संदेहः।"

[वृत्ति] विषयस्येवैव तच्छब्देनारोप्यमाणप्रत्ययमर्शः। 'कमलं वा वदनं वा०' [इत्यादि पूर्वोद्धृत]।

—विषय के साथ साथ यदि विषयी भी संदेह का विषय बने तो संदेहालंकार होता है।

इसके पश्चात् उन्होंने संदेह के भेद इस प्रकार किए हैं। (१) सादृश्यमूलक तथा सादृश्येतर सम्बन्ध मूलक। इनमें से सादृश्यमूलक के भेद इस प्रकार किए हैं—१ = विषय और विषयी दोनों का संदेह २ = केवल विषयी का संदेह। इनमें से प्रथम आरोपगर्भित होता है और दूसरा दो प्रकार का १ = जहाँ विषय का शब्दतः कथन हो और २ = जहाँ न हो। इनमें से प्रथम, जिसमें विषय का उपादान रहता है—

१ = जिसमें विषय का अपह्नव (छिपाव) रहता है और २ = जिसमें नहीं रहता है। ये दोनों ही भेद आरोपगर्भित ही होते हैं। दूसरा जहाँ विषय का शब्दतः उपादान नहीं रहता अध्यवसायमूलक संदेह माना जाता है। उदाहरण—

१ = *आरोपगर्भित उभय संशय—' किं पङ्कजं किन्तु०" उदाहृत।*

—यहाँ धर्म केवल एक है सद्मदरत्व।

२ = आरोपगर्भित विषयिसंशय में विषय का उपादानपूर्वक अपह्नव—"अस्याः सर्गविधौ०"। इसमें पुराणमुनि को उर्वशी महिमा से हटाया गया है यही उसका अपह्नव है।

३ = इसी में अपह्नवाभाव यथा—

'चिरं चित्तोद्याने चरसि च मुखाब्जं पिबसि च क्षणादेणाक्षीणां विरहविषवेगं हरसि च।
नृप त्वं मानाद्रिं दलयसि च किं कौतुककरः कुरङ्गः किं भृङ्गो मरकतमणिः किं किमशनिः ॥'

—हे नृप ! तुम (१) चित्तोद्यान में चिरकाल तक विचरण करते हो (२) सुन्दरियों के मुख कमल का पान करते हो, (३) सुन्दरियों के विरहविपवेग को क्षणभर में दूर करते हो और मानादि का भेदन करते हो। इसलिए तुम क्या आश्चर्यकारी (१) कुरंग हो (२) क्या भृंग हो (३) क्या मरकतमणि हो या कि (४) वज्र हो ?। इन दोनों पक्षों में धर्म अनेक हैं। प्रथममें शृंगार कान्ति आदि तथा द्वितीय में उद्यानचार पान आदि।

४ = विषय का उपादान करने पर विषयिसंदेह—'किं तारुण्यतरोः०'। सादृश्येतर संबन्धमूलक का उदाहरण इस संदर्भ में उद्धृत किया जा चुका है—'देवि त्वच्चरणाविन्द०' इत्यादि।

शोभाकर ने इसके पश्चात् वितर्कालंकार का निरूपण इस प्रकार किया है—

[सूत्र] 'सम्भावितसम्भाव्यमानापोहो वितर्कः।'

[वृत्ति] सामान्येन दृष्टे वस्तुनि आशङ्कितस्य आशङ्क्यमानस्य वा विशेषस्य बाधकेनोत्पुंसनं वितर्कः। अतएव बाधकसद्भावात् साधक-बाधक-प्रमाणाभावनिमित्तात् संदेहादस्य भेदः। किंच तत्र सन्दिह्यमानानां 'वा'-र्थसम्भिन्नैकप्रतीतिविषयीकृतत्वम्, इह पुनः अनेकविकल्पेन सम्भावितस्य बाधकेनोत्पुंसितस्य अपरविकल्पोदयसमयेऽनुसन्धानाभावाद् भिन्नप्रत्ययगोचरत्वम्।

—अर्थात् संभावित अथवा सम्भाव्यमान का निराकरण वितर्क कहलाता है। अर्थात् सामान्य रूप से प्रतीत वस्तु में यदि विशेष की संभावना की जा चुकी हो या की जा रही हो और यदि उसका किसी बाधक को बीच में लाकर निराकरण कर दिया जाय तो उसे वितर्क कहा जाता है। इसमें बाधक उपस्थित किया जाता है, इसलिए इसका संदेहालंकार से भेद है, क्योंकि संदेह में न तो साधक ही उपस्थित किया जाता, न बाधक ही। संदेह में एक विशेषता यह भी रहती है कि वहाँ जिन जिनका संदेह किया जाता है वे सब 'वा' अर्थात् "अथवा" शब्द के अर्थ की प्रतीति से मिश्रित प्रतीति में साथ साथ विषय बनते हैं, जबकि वितर्क में अनेक विकल्प रहते हैं और इसमें संभावित वस्तु का बाधक द्वारा निराकरण कर दिया जाता है। फलतः दूसरे विकल्प में होने वाले ज्ञान में वह सम्मिलित नहीं हो पाता, अतः प्रत्येक संभावित पदार्थ का ज्ञान अलग अलग पूर्वापरभाव के साथ होता है। इस पूरे विषय का संक्षेप शोभाकार ने इस प्रकार का दिया है—

"अर्थद्वयोल्लेखवती मतिर्या स संशयः, केवलवस्तुनिष्ठा।
संभावना बाधकबाधनीया यत्र स्फुटस्तत्र भवेद् वितर्कः॥"

'जिस ज्ञान में एकाधिक पदार्थ भासित हो वह संशय, और केवल एक पदार्थ की ऐसी संभावना वितर्क जो बाधक द्वारा बाध्य हो।'

उन्होंने संदेह के प्रसिद्ध उदाहरण—'अयं मार्तण्डः किम्०' को वितर्क का उदाहरण बतलाया है। इनमें राजा या मार्तण्ड की संभावना की जाती है फिर उसका बाध प्रस्तुत कर दिया जाता है यह कह कर कि सूर्य सात घोड़ों से युक्त रहता है और राजा वैसा नहीं है। इसके पश्चात् दूसरा विकल्प किया जाता है अग्नि का और उसका भी बाध कर दिया जाता है। इसी प्रकार तीसरा विकल्प यमराज का किया जाता है और उसका भी बाध प्रस्तुत कर दिया जाता है। इस प्रकार अग्नि आदि की परवर्ती विकल्पबुद्धि में पूर्ववर्ती संभावित पदार्थ मार्तण्ड आदि का समावेश नहीं रहता अर्थात् वे पूर्ववर्ती पदार्थ के ज्ञान के विषय नहीं बनते। उनमें परवर्ती ज्ञान की विषयता का अभाव रहता है। इसलिए वितर्क का लक्षण इसमें पूर्णरूप से लागू होता है।

आश्चर्य है कि पण्डितराज जगन्नाथ इस मार्मिक मीमांसा पर चुप हैं। न तो उन्होंने संदेह के प्रकरण में इसका खण्डन किया है न इसे स्वीकार ही।

यहाँ तक इस अलंकार के नाम का संबन्ध है उद्धृत लक्षणों के अनुसार इसे पूर्ववर्ती भामह, उद्भट और मम्मट ने 'ससन्देह' नाम दिया है तथा परवर्ती पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसका अनुकरण किया है। भामह के लक्षण से स्पष्ट है कि ससन्देहपद सन्देहप्रतिपादक पदों के लिए आया है। वे पद ही काव्य में अलंकार मान लिए जाएँ तो यह नाम अलंकार के लिए भी उपयुक्त माना जा सकता है। पण्डितराज ने पद को संदेहयुक्त न मानकर 'ज्ञान' को संदेहयुक्त माना है। ससन्देह जैसा ही एक नाम 'भ्रान्तिमान्' भी है। हम सोचते हैं यदि सन्देहयुक्त अर्थ या भ्रान्तियुक्त अर्थ या ज्ञान को अलंकार माना जाता है तो उपमा रूपक आदि में भी उपमा रूपक से युक्त अर्थ या ज्ञान को ही अलंकार मानना चाहिए। और इसीलिए उन्हें भी 'उपमावान्' 'रूपकवान्' ऐसे कुछ नाम दिए जाने चाहिए। फिर यह एक अत्यन्त स्थूल तथ्य है कि अर्थ और अलंकार में अगाङ्गिभाव है। अभेद नहीं। पद को ससन्देहादि नाम देने पर अलंकार में शब्दालंकारत्व मानना होगा जबकि हैं वे अर्थालंकार। ज्ञान को अलंकार मानना कुछ समझ में आने की बात है किन्तु संदेह और भ्रान्ति भी अपने आप में ज्ञान ही हैं। अतः 'ज्ञानवान् ज्ञान' कहने के समान ससन्देह या भ्रान्तिमान् कथन अन्योन्याश्रयत्व या पौनरुक्त्य दोष से युक्त ठहरता है। वस्तुतः विरोधाभास में जैसे विरोधज्ञान की आभासात्मकता अथवा प्रातिभासिक विरोधज्ञान ही अलंकार है और इसी कारण 'विरोध' को 'विरोधवान्' नाम नहीं दिया जाता वैसे ही संदेहात्मक या भ्रान्त्यात्मक ज्ञान ही वस्तुतः अलंकार है, अतः उनका नाम भी सन्देह या भ्रान्तिमान् न होकर सन्देह तथा भ्रान्ति ही होना चाहिए। सबसे अधिक महत्त्व की बात यह है कि अलंकारों में नाम का निश्चय चमत्कारकारी तत्त्व के आधार पर होता है। इसीलिए सादृश्य की चारों विशेषताएँ रहने पर भी अनन्वय उपमेयोपमा और प्रतीप को भिन्न अलंकार माना जाता है। उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, अतिशयोक्ति और रूपक में अभेद की समानता रहने पर भी सम्भावना, अपह्नव, अतिशय तथा आरोप इन चमत्कार हेतुओं में भेद होने से उन अलंकारों में स्वरूपतः तथा नामतः भेद माना गया है। प्रस्तुत सन्देह में चमत्कार का कारण सन्देह ही है। इसी प्रकार भ्रान्तिमान् में भी भ्रान्ति ही। अतः इन अलंकारों के नाम भी केवल संदेह और भ्रान्ति ही होने चाहिए।

वृत्ति की अन्तिम पंक्ति में 'नुशब्दस्य सम्भावनाद्योतकत्वात्' के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में 'नुशब्दस्य संभावनाद्योतकसत्त्वात्' छपा है तथा संजीविनीसहित छपे संस्करण में डा० रामचन्द्र द्विवेदी ने 'नुशब्दस्य द्योतकत्व सत्त्वा' पाठ दिया है। हमारा पाठ विमर्शिनी पर आधृत है और—

"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥"—२।२३४ काव्यादर्श.

इसमें आए आदि पद के अनुसार 'नु'-शब्द उत्प्रेक्षा का वाचक माना भी जा सकता है। इसी प्रमाण के अनुसार 'इव'—शब्द भी उत्प्रेक्षावाचक होता है। अतः निर्णयसागरीय विमर्शिनी में 'अत्रेवादि०' के स्थान पर छपा 'अत्रैवादि०'—पाठ असंगत है। वहाँ इस अंश का 'पाठान्तर' अत्रैव चेवादि भी दिया है।

संजीविनीकार ने सन्देहालंकार का कारिकाबद्ध निरूपण इस प्रकार किया है—

'सन्देहोऽप्रकृतद्वारा प्रकृतं संस्पृशेद् यदि।
प्रतिभोत्थापितः सोऽयं सन्देहालङ्कृतिर्मतः॥'

'संदेह अप्रकृत के द्वारा यदि प्रकृत का स्पर्श करे और यदि वह संदेह प्रतिभोत्थापित हो तो वह सन्देहालंकृति माना जाता है।'

[सर्वस्व]

[सू० १९] सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान् ।

असम्यग्ज्ञानत्वसाधर्म्यात्संदेहानन्तरमस्य लक्षणम् । भ्रान्तिश्चित्तधर्मः । स विद्यते यस्मिन्भणितिप्रकारे स भ्रान्तिमान् । सादृश्यप्रयुक्ता च भ्रान्तिरस्य विषयः । यथा—

'ओष्ठे बिम्बफलाशयालमलकेषूत्पाकजम्बूधिया
कर्णालंकृतिभाजि दाडिमफलभ्रान्त्या च शोणे मणौ ।
निष्पत्त्या सकृदुत्पलच्छदृशामात्तक्लमानां मरौ
राजन्गुर्जरराजपञ्जरशुकैः सद्यस्तृषा मूर्च्छितम् ॥'

गाढमर्मप्रहारादिना तु भ्रान्तिर्नास्यालंकारस्य विषयः । यथा—

'दामोदरकराघातचूर्णिताशेषवक्षसा ।
दृष्टं चाणूरमल्लेन शतचन्द्रं नभस्तलम् ॥'

सादृश्यहेतुकापि भ्रान्तिर्विच्छित्त्यर्थं कविप्रतिभोत्थापितैव गृह्यते, यथोदाहृतम् , न स्वरसोत्थापिता शुक्तिकारजतवत् । एवं स्थाणुर्वा स्यात्पुरुषो वा स्यादिति संशयेऽपि बोद्धव्यम् ।

[सूत्र १९] सादृश्य के कारण [एक वस्तु पर] दूसरी वस्तु की प्रतीति भ्रान्तिमान् [अलंकार कहलाती है]।

[वृत्ति] सम्यक् ज्ञान के अभाव की समानता के आधार पर संदेह के [तुरन्त] पश्चात् इसका लक्षण दिया जा रहा है । भ्रान्ति चित्त का एक धर्म है । वह रहता है जिस उक्ति प्रकार में वह होता है भ्रान्तिमान् । [किन्तु] इस भ्रान्तिमान् उक्तिप्रकार = अलंकार का क्षेत्र [केवल] सादृश्यमूलक भ्रान्ति है । जैसे—

हे राजन् ! एकाएक ज्यों ही यह विदित हुआ [निष्पत्ति] कि ये नीलकमल की पंखुडी से नेत्रों वाली थकी थकाई सुन्दरियाँ है तो [निराश होकर] गुर्जराज के पञ्जरबद्ध शुक मरुस्थल में पिपासा से तत्काल मूर्च्छित हो गए; क्योंकि [इसके पहिले] वे [उन सुन्दरियों के] ओठों को बिम्बफल समझ बैठे थे, नीले केशों पर तो उन्हें परिपक्व जामुन का आत्यन्तिक निश्चय ही हो गया था और कर्णफूल के लाल (माणिक्यमणि) को वे मान बैठे थे अनार ।'

इसके विरुद्ध जो भ्रान्ति [चकराना] मर्मस्थान पर गहरी चोट आदि से होती है वह इस अलंकार का क्षेत्र नहीं होती । जैसे—

'श्रीकृष्ण की मुट्ठी की चोट से जिसकी पूरी छाती चूर चूर हो गई थी ऐसे चाणूर नामक पहलवान ने देखा कि आकाश में सैकड़ो चन्द्र निकले हैं ।'

[साथ ही] जो भ्रान्ति सादृश्यमूलक भी होती है वह भी तभी अलंकार बनती है जब वह कविकल्पित होती है, जैसा कि पूर्वदत्त उदाहरण ['ओष्ठे०' इत्यादि] से स्पष्ट है न कि लौकिक भ्रान्ति यथा सिपली में चाँदी की भ्रान्ति । इसी प्रकार 'या तो यह ठूँठ होगा या आदमी होगा'—इत्यादि लौकिक संशय में भी समझना चाहिए [कि वह कविकल्पित न होने से अलंकार नहीं है]।

विमर्शिनी

सादृश्यादित्यादि । असम्यग्ज्ञानत्वसाधर्म्यादिति न पुनरारोपगर्भत्वसाजात्यात्प्रचितमिति भाव. । आरोपो हि विषयविषयिणोर्युगपदेकप्रमातृविषयीकृतत्वे भवतीति नारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति, शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमानाभावात् ।

ननु भ्रान्तिश्चित्तधर्मः स यस्यास्ति स भ्रान्तिमानिति वक्तुं न्याय्यं तत्कथमलंकारस्यैतदभिधानमित्याशङ्क्याह—भ्रान्तिरित्यादि । स इति भणितिप्रकारः अतश्चालंकारे भ्रान्तिमच्छब्द उपचरित इति भावः । सादृश्यप्रयुक्तेति । न तु

'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुताः ।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥'

इत्याद्यभिहितावान्तरनिमित्तोत्थापितेत्यर्थः । अतश्च सादृश्यनिमित्तैव भ्रान्तिरलंकारविषय इति तात्पर्यार्थः । एवं च—

'प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य ।
हहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति ते कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः ॥'

इत्यत्रैकस्या एव परिमिताया अपि योषितो गाढानुरागहेतुकं तन्मयतानुसंधानं प्रासादाद्यनेकत्र युगपत्प्रतीतौ निमित्तमिति न भ्रान्तिमदलंकारः । स हि प्रासादादेर्वल्लभारूपत्वेन प्रतीतौ स्यात् । अन्यस्यान्यरूपत्वेन सम्यगभिधानात्मा निश्चयो हि भ्रान्तिमल्लक्षणम् । न च प्रासादादिर्वल्लभात्वेन प्रतीयत इति स्फुट एवायं विशेषालंकारस्य विषयः । अथ प्रासादाद्यसंभूताया अपि वल्लभाया दर्शनात् भ्रान्तिरिति चेत्, नैतत् । एवं ह्यत्र भ्रान्तिमात्रं स्यान्नालंकारः । गाढानुरागात्मकनिमित्तसामर्थ्यात्स्वरसत एव प्रासादादावसत्या अपि युवत्याः प्रतीतिसमुल्लासः । कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वाभावात् । 'देवमपि हर्षं पितृशोकविह्वलीकृतं श्रियं शाप इति महीं महापातकमिति राज्यं रोग इति भोगान्भुजगा इति निलयं निरय इत्यादि मन्यमानम्' इत्यादावपि न भ्रान्तिमदलंकारः । तत्र हि विषयानवगम एव निमित्तसामर्थ्यात्स्वरसत एव विषयप्रतीतिरुल्लसेत् । शुक्तिकादीनां शुक्तिकादिरूपतयावगमे रजताद्यभिमानानुदयादिति समनन्तरमेवोक्तत्वात् । इह पुनर्विषयरूपां श्रियमवगम्यापि श्रीहर्षेण पितृशोकविह्वलीकृतत्वाच्छापत्वेन भाव्यत इति विषमालंकारो न्यायान् ।

'दातुं वाञ्छति दक्षिणेऽपि नयने वामः करः कज्जलं
मौञ्जीं च भुजोऽङ्गदं घटयितुं वामेऽपि वामेतरः ।
इत्थं स्वं स्वमशिक्षितं भगवतोरर्धं वपुः पश्यतोः
साधारस्मिनलाञ्छितं दिशतु नो वक्त्रं मनोवाञ्छितम् ॥'

इत्यत्रापि संस्कार एवालंकारो न भ्रान्तिमान् । अत्र हि भगवत्या नेत्रद्वयाञ्जनदानसतताभ्यासाद्वामनेत्राञ्जनदानानन्तरं दक्षिणनेत्राञ्जनदानवासनानुरोधो जायत इति संस्कारस्यैव वाक्यार्थत्वम् । अथात्र संस्कारप्रबोधं विना तदभावादञ्जनदानसंस्कारहेतुका भगवदर्धस्य स्वार्धत्वेनाभिमानरूपा भगवत्या भ्रान्तिरेवेति चेत्, नैतत् । प्रत्युतात्र हि भगवदर्धस्य तथात्वेनैवावगमादञ्जनदानसंस्कारो न प्ररोह-

मुपागत इति कारणस्यैव स्खलद्गतित्वात्तत्कार्यस्य भ्रमस्योत्पाद एव न संभवतीति न भ्रान्तिमतोऽवकाशः। प्ररूढ एव हि संस्कारो भ्रमः। स्वात्ममात्रावस्थितस्तु संस्कारालंकारः। अत एव दातुं वाञ्छतीत्युक्तम्। एवं चात्र नेत्रद्वयाञ्जनदानसततताभ्यासहेतुकः संस्कार एव प्रतीयते न तु तन्निमित्तकोऽपि भ्रमः परमः। परमेश्वरार्धस्य तथात्वेनैवावगमात्तद्बन्धस्याप्यभावात्। अत एवाशिक्षितं स्मितलाञ्छितं चेत्युक्तम्। अवान्तर एवानयोर्विशेषोऽलंकारभाष्य एवोक्त इति तत एवानुसर्तव्य इति। एवं च सादृश्यनिमित्तैव भ्रान्तिरलंकारविषयो न निमित्तान्तरोत्थापितेति न लक्षणस्याव्यापकत्वं वाच्यम्।

एवं सादृश्यनिमित्तकत्वादस्य साधारणधर्मस्यापि त्रयी गतिः। तत्रानुगामिता यथा—

नीलोत्पलमिति भ्रान्त्या विकासितविलोचनम्।
अनुधावति मुग्धाक्षि पश्य मुग्धो मधुव्रतः॥'

अत्र विकासीत्यनुगामित्वेन निर्दिष्टो धर्मः। शुद्धसामान्यरूपत्वं तु यथा—

'अयमहिमरुचिर्भजन्प्रतीचीं कुपितवलीमुखतुण्डताम्रबिम्बः।
जलनिधिमकरैरुदीक्ष्यते द्राङ्नवरुधिरारुणमांसपिण्डलोभात्॥'

अत्र ताम्रत्वारुणत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो यथा—

'पुसिआ कण्णाहरणेन्दणीलकिरणाहआ ससिमऊहा।
माणिणिवअणम्मि सकज्जलं सुसङ्काए दइएण॥'

अत्र सकज्जलश्वेन्द्रनीलकिरणाहतत्वयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। सादृश्यनिमित्तकत्वमेवास्य द्रढयितुं प्रत्युदाहरति—गाढेत्यादिना। सादृश्यनिमित्तकत्वेऽपि कविप्रतिभोत्थापितैव भ्रान्तिरस्यैव विषयो न पुनर्वास्तवीत्याह—सादृश्येत्यादि। उदाहृतमिति। ओष्ठे बिम्बफलाशयेत्यादि। एतदेव संदेहेऽपि योजयति—एवमित्यादि। संशय इति। अर्थादारोपगर्भ एव। तत्रैव ह्यस्य सादृश्यं निमित्तम्। अध्यवसायमूले हि संदेहे सादृश्यात्सम्बन्धान्तराद्वा विषयविषयिणोः संदिह्यमानत्वं स्यात् यथोदाहृतं प्राक्। एवमारोपगर्भत्व एव सादृश्यं विना नायमलंकार इत्यवगन्तव्यम्। तस्मादविशेषेणैव साधर्म्यं विहायापि निमित्तान्तरमवलम्ब्य नास्यालंकारत्वं वाच्यम्। सादृश्येऽपि कविप्रतिभोत्थापितस्यैवालंकारत्वं न पुनः स्वारसिकस्येति।

विमर्शिनी—असम्यग्ज्ञानत्व के साधर्म्य से न कि आरोपगर्भत्व के साधर्म्य से भ्रान्तिमान् का लक्षण संदेह के बाद तुरन्त किया। आरोप जो है तब होता है वह जब विषय और विषयी दोनों किसी एक ही ज्ञाता के ज्ञान का विषय बनें इसलिए भ्रम कभी भी आरोपाश्रित नहीं हो सकता क्योंकि शुक्ति आदि का ज्ञान यदि शुक्ति आदि के रूप में ही होता है तो उसमें रजत आदि का विपर्ययात्मक ज्ञान नहीं होता।

'भ्रान्ति एक चित्त धर्म है अतः भ्रान्तिमान् जिसे भ्रान्ति हो उस व्यक्ति को कहा जाना चाहिए; अलंकार को भ्रान्तिमान् क्यों कहा जा रहा है'–ऐसी शंका कर उसका उत्तर देने हेतु लिखते हैं—'भ्रान्तिः' इत्यादि। 'स'–'वह' अर्थात् भणितिप्रकार। इस प्रकार अलंकार के लिए 'भ्रान्तिमान्' शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है [मूलतः वाचक है वह भ्रान्तियुक्त व्यक्ति का]।

सादृश्यप्रयुक्त न कि–'काम, शोक, भय, उन्माद चौर स्वप्न आदि से उद्विग्न व्यक्ति असत्य वस्तुओं को भी सामने उपस्थित सा देखते हैं—' इत्यादि वाक्यों में प्रतिपादित अन्य निमित्तों से प्रयुक्त। इसलिए तात्पर्य यह निकला कि सादृश्यनिमित्ता भ्रान्ति ही भ्रान्तिमदलंकार का विषय होती है। [अलंकाररत्नाकरकार ने सादृश्येतरकारणमूलक भ्रान्ति को भी भ्रान्तिमदलंकार

माना है और 'प्रासादे सा०' 'आदि पद्य ही उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया है। इसके खण्डन में विमर्शिनीकार लिखते हैं] इस प्रकार—

'उसके वियोग में आतुर मुझे प्रासाद में वही दिखाई देती है और रास्ते रास्ते में वही, पीछे वही, सामने वही और दिशा दिशा में वही, अरे चित्त तुझे कुछ और सूझता ही नहीं। सम्पूर्ण विश्व में केवल वह वह वह वह। आखिर यह कैसा अद्वैतवाद है?

—यहाँ नायिका एक ही है और उसकी अवस्थिति भी कहीं एक ही स्थान पर है तथापि प्रासाद आदि अनेक स्थानों में एक साथ उसकी प्रतीति हो रही है। इस प्रतीति में कारण है गाढ़ अनुराग से जनित तन्मयता का बोध। अतः यह भ्रान्ति भ्रान्तिमदलङ्कार नहीं है। वह तब होता जब प्रासाद आदि का ज्ञान वल्लभारूप से होता क्योंकि ऐसे विषय को ही तो भ्रान्तिमान् माना जाता है जिसमें भिन्न वस्तु का भिन्नरूप से कथन हो किन्तु वक्ता समझे कि वह ठीक कह रहा है। किन्तु यहाँ प्रासाद आदि का वल्लभारूप से प्रतीत नहीं हो रहे हैं इसलिए स्पष्ट रूप से यहाँ विशेषालङ्कार है। यदि यह कहा जाय कि प्रासाद आदि में अविद्यमान होने पर भी वल्लभा के दिखाई देने से भ्रान्ति है तो वह भी निरर्थक है। क्योंकि ऐसा मानने पर यहाँ भ्रान्तिमात्र सिद्ध होगी भ्रान्तिमदलंकार नहीं। ऐसा इसलिए कि यहाँ प्रासाद आदि में अविद्यमान होने पर भी वल्लभा की जो भ्रान्ति हो रही है वह कविप्रतिभाप्रसूत नहीं है। उसका कारण है गाढ़ अनुराग। अतः वह लौकिक भ्रान्ति ही है। इसी प्रकार [रत्नाकरकार ने] 'महाराज हर्ष भी पितृशोक से विह्वल होकर श्री को शाप, मही को महापातक, राज्य को रोग भोगों को भुजग, प्रासाद को नरक आदि मान रहे थे।'—[इस स्थल में भी भ्रान्तिमदलङ्कार माना है किन्तु] यहाँ और अन्य स्थलों में भी भ्रान्तिमदलङ्कार नहीं है। क्योंकि उस [भ्रान्ति] के [वास्तविक] विषय [भ्रान्ति के आधार] की प्रतीति नहीं होती [अपितु किसी] निमित्त [जिसे दोष कहा जाता है] के बल पर [अन्य किसी] विषय की प्रतीति हो उठती है। यह अभी अभी कहा गया है कि 'शुक्ति आदि का शुक्ति आदि के रूप से ज्ञान हो जाने पर उसके ऊपर रजत आदि की भ्रान्ति नहीं हो पाती। प्रस्तुत [देव. हर्ष०] उदाहरण में श्री विषय है और श्रीहर्ष को उसकी प्रतीति भी होती है। उसे वह शाप रूप इस कारण मानता है कि वह पितृशोक से विह्वल है। अतः यहाँ विषमालंकार ही अधिक प्रबल है। [इसी प्रकार अलङ्काररत्नाकरकार भट्टशोभाकर ने—] 'बायाँ हाथ दाहिनी आँख में भी काजल लगाने लगता है और दाहिना हाथ भी बायें हाथ में सर्प का कंकण पहनाने लगता है। इस प्रकार नवीन अभ्यास से रहित अपने-अपने अर्ध भाग को देखकर भगवान् शिव तथा पार्वती जी का एकसाथ समानरूप [साधार=साधारण=समान] से या सकारण-स्मित युक्त हुआ मुख हमें हमारा मन चाहा लाभ प्रदान करे।' यहाँ भी [भ्रान्तिमान् अलङ्कार माना है किन्तु यहाँ भी] केवल संस्कारालङ्कार ही है भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं। यहाँ भगवती पार्वती को दोनों नेत्रों में अंजन लगाने का जो सदा का अभ्यास है उसी से उन्हें बायें नेत्र में भी काजल लगाने के बाद दाहिने नेत्र में भी काजल लगाने की वासना बाध्य कर देती है। इस कारण यहाँ संस्कार ही वाक्यार्थ और इसलिए प्रधान है। यदि कहा जाए कि 'संस्कारप्रबोध के बिना वैसा होना संभव न होने से शिवरूप अर्धभाग को निजरूप अर्ध समझ बैठने की अञ्जनदानाभ्यासमूलक भ्रान्ति ही भगवती पार्वती को हुई' तो यह ठीक नहीं है। वस्तुतः स्थिति उल्टी है। यहाँ भगवती पार्वती द्वारा भगवान् शिवरूपी अर्धभाग को शिवरूपी अर्धभाग ही समझा जा रहा है। इसीलिए अञ्जनदानसंस्कार पूरा उभर नहीं पाता [उसके उदित होते ही उसका बाध भी हो जाता है। इसीलिए अंजन लगाने की निश्चित चेष्टा संपन्न नहीं हो पाती अतः उसके आधार पर सिद्ध होने वाला भ्रम भी उत्पन्न नहीं हो पाता अतः यहाँ

भ्रान्तिमान् नामक अलंकार संभव नहीं है। जो संस्कार प्ररूढ हो जाता है वही भ्रम होता है। यहाँ तो संस्कार अपने तक ही सीमित है अतः संस्कार नामक ही अलंकार है। इसीलिए स्वयं कवि ने भी कहा है—'देना चाहता है' [न कि देता है]। इस प्रकार यहाँ दोनों आँखों में अञ्जन लगाने के सतत अभ्यास से बना केवल संस्कार ही प्रतीत होता है, न कि उस संस्कार से होने वाला भ्रम भी। न तो यह भ्रम यहाँ ऐकान्तिक रूप से भ्रम ही सिद्ध हो पाता क्योंकि शिव का अर्धशरीर वहाँ उसी रूप में अर्थात् शिव के अर्ध शरीर के रूप में ही भासित होता है। इस कारण भ्रम का यहाँ गन्ध भी संभव नहीं है। इसीलिए श्लोक में भी 'अशिक्षित' और 'स्मितलाञ्छित' ये विशेषण रखे गए हैं। इस प्रकार इनमें थोड़ा सा ही अन्तर है। वह अलंकार-भाष्य में बतलाया जा चुका है, अतः उसे वहीं से समझ लेना चाहिए। इस प्रकार सादृश्य निमित्ता भ्रान्ति ही भ्रान्तिमान् नामक अलंकार का विषय है, अन्य निमित्त से हुई भ्रान्ति नहीं। इसलिए [सर्वस्वकार के भ्रान्तिमान् के]लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं निकाला जा सकता।

इसी प्रकार सादृश्यमूलक होने से इसमें भी साधारण धर्म तीन प्रकार का होता है। उसमें अनुगामी साधारण धर्म का उदाहरण यथा—

'हे सुधाक्षि! देख, तेरे खिले हुए नेत्र को नीले कमल समझकर भ्रम में पड़ा भोला मधुकर उसकी ओर दौड़ रहा है।'

यहाँ 'विकासी' = 'खिले हुए' यह धर्म अनुगामी धर्म के रूप में कथित है। शुद्ध सामान्यरूप धर्म का उदाहरण यथा—

'कुपित वानर के मुख सा ताम्रवर्ण का यह प्रतीची में पहुँचा सूर्य समुद्र के घड़ियालों द्वारा मांस के रुधिरार्द्र नवीन पिण्ड के लोभ से बड़ी तत्परता के साथ देखा जा रहा है।'

—यहाँ ताम्रत्व और अरुणत्व शुद्धसामान्य धर्म हैं। बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण यथा—

'प्रोञ्छिताः कर्णाभरणेन्द्रनीलकिरणाहताः शशिमयूखाः।
मानिनीवदने सकज्जलाश्रुशङ्कया दयितेन॥'

'करनफूल के नीलम की किरणों से चन्द्रकिरणों को प्रिय ने मानिनी के चेहरे से यह समझ कर पोंछ दिया कि ये कज्जलमिश्रित आँसू हैं।']

—यहाँ सकज्जलत्व [अर्थात् कज्जल] तथा 'इन्द्रनीलकिरणाहतत्व' [अर्थात् इन्द्रनीलमणि-किरण] में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

इसकी सादृश्यनिमित्तकता को ही और अधिक दृढ़ता से सिद्ध करने के लिए विपरीत उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—गाढ इत्यादि अन्यांश द्वारा। 'सादृश्यनिमित्तक होने पर भी कविकल्पित भ्रान्ति ही भ्रान्तिमदलंकार का विषय बनती है, वास्तविक नहीं—इस तथ्य को स्पष्ट करते हैं—सादृश्य इत्यादि द्वारा। उदाहृत अर्थात् 'ओष्ठे बिम्बफलाशया' इत्यादि पद्य के रूप में। यही सिद्धान्त सन्देह में भी लागू करते हुए कहते हैं—एवम्०। संशय=अर्थात् आरोपगर्भित संशय ही। वहाँ जो संशय का कारण सादृश्य बन पाता है। संदेह को यदि अध्यवसायमूलक भी मान लिया जाए तो उसमें विषय तथा विषयी सादृश्य तथा तदितर अन्य संबन्ध से भी संदेह विषय बनने लगेंगे। जैसा कि पहले उदाहरण देकर बताया जा चुका है। इसी प्रकार यह भी जानना चाहिए कि आरोपगर्भित भी हो किन्तु यदि सादृश्यमूलक न हो तो संदेह नहीं बनता। अतः इसी प्रकार भ्रान्तिमान् को भी सादृश्य छोड़कर अन्य कारण से जनित होने पर अलंकार नहीं मानना चाहिए। सादृश्यमूलक होने पर भी कविकल्पित होने पर ही यह अलंकार अलंकार होता है, न कि वास्तविक, लौकिक या स्वारसिक होने से।

विमर्श :—अलंकाररत्नाकरकार ने भ्रान्ति को सादृश्यमूलक न होने पर भी अलंकार माना है, और 'प्रासादे सा०' 'देवमपि दर्पम्०' 'दातुं वाञ्छति०'—ये तीनों पद्य भी प्रस्तुत किए हैं। विमर्शिनीकार ने उन्हें एक एक कर उद्धृत किया है और उनका खण्डन किया है। खण्डन में विशेषता यह है अलंकाररत्नाकरकार की पदावली का किंचित् हेर फेर के साथ उसी प्रकार प्रयोग किया गया है जिस प्रकार व्यक्तिविवेक में ध्वन्यालोक की पदावली का विमर्शिनीकार 'प्रासादे सा०' पद्य में 'प्रासाद' आदि की प्रतीति वल्लभा के अधिकरण के रूप में मानते हैं और कहते हैं कि यदि प्रासाद आदि का प्रतीति वल्लभारूप मे होती तो भ्रान्ति संभव थी। रत्नाकर प्रासाद आदि में वल्लभारूपत्व ही मानते हैं। उनकी पंक्ति है—'प्रासादे सा०'-अत्र गाढरागानुभवहेतुक तन्मयतानुसन्धान प्रासादादेर्वल्लभारूपत्वेन प्रतीतौ निमित्तम्।' विमर्शिनीकार ने अनुभव की दुहाई देकर इसका खण्डन इसी पदावली में जिस प्रकार किया है वह—'इत्यत्रैकस्या एव परमिताया अपि योषितो गाढानुरागहेतुक विशेषालंकारस्य विषय'—इस पंक्ति से स्पष्ट है। इसी प्रकार रत्नाकरकारने 'देवमपि दर्पम्' में माना है कि यहाँ 'श्री'-आदि का ज्ञान कविनिष्ठ है और 'शाप' आदि का दर्पनिष्ठ। अतः प्रमातृभेद होने से यहाँ वे भ्रान्तिमान् स्वीकार करते हैं। उनकी पंक्ति है—'श्रियम् इत्यादि हि कवेरुक्ति शाप-इत्यादि भ्रान्तस्य श्रीदर्पस्य भ्रान्तिप्रतीत्यनुकरणमिति भिन्नप्रमातृस्वयविषयीकृतत्वेनारोपसंभवादध्यवसायमूल एव भ्रम।' पृ० ५१। विमर्शिनीकार इसके विरुद्ध यहाँ 'श्री और शाप' दोनों का ज्ञाता केवल दर्प को ही मानकर प्रमातृभेदाभाव के कारण भ्रान्तिमान् को असंभव बतलाते और विषमालंकार का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। पक्ष विमर्शिनीकार का ही दृढ़ है।

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों की पदावली भी विमर्शिनी पदावली से तुलनीय है—

१ = एकप्रमातृविषयीकृतत्वे विषयविषयिणोरारोपो मत। न चारोपगर्भो भ्रमः क्वचिदपि संभवति। शुक्तिकादीना शुक्तिकादिरूपतयाऽवगमे रजताद्यभिमानानुदयात्।

२ = "दातुं वाञ्छति०" = इत्यत्र मतनाम्याऽप्रवृद्धसंस्कारहेतुका भ्रान्तिरेव। संस्कारबोधं विना तत्र भ्रान्त्यभावात्। न च संस्कारस्य प्रवृद्धत्वे प्रबोधत्वे वा कश्चिद् विशेषो भ्रान्तौ। तेनैवमादौ भ्रान्तिरेव।

३ = यदि च "सादृश्याद् वस्त्वन्तरप्रतीतिः भ्रान्तिमान्" इत्यव्यापकं लक्षणं तर्हि लक्षणान्तरं विधेयम्।

अलंकाररत्नाकरकार का यह सिद्धान्त ध्यान देने योग्य है—

"प्रतीतिभेदे हि अलंकारभेदो युक्तो न निमित्तभेदे, अलंकारानन्त्यप्रसंगात्। तद्भेदे तु कविप्रतिभोत्थापितविच्छित्तिसद्भावे अन्तर्भाव एव न्याय्यः।"

—अर्थात् अलंकारों में भेद माना जाना चाहिए बोध में भेद न होने पर, न कि कारण में भेद होने पर, कारणभेद मे अलंकारभेद मानने पर तो अलंकार इतने मानने पड़ेगें कि उनकी गिनती तक संभव न होगी। अतः कारण भेद रहने पर भी उसमें यदि कविप्रतिभोत्थापित विच्छित्ति का सद्भाव हो तो उसको भी एक ही भेद में संगृहीत कर लेना चाहिए।

भ्रान्तिमान् के विषय में इनका कहना है—

'सादृश्यव्यतिरिक्तनिमित्तोत्थापितायां च भ्रान्तौ विच्छित्तिविशेषसंभवे कथं नाम अनलंकारता।'

जो भ्रान्ति सादृश्यातिरिक्त निमित्त से जनित हो यदि उसमें भी विच्छित्तिविशेष का सद्भाव हो तो उसे अलंकारत्वहीन कैसे कहा जा सकता है।

संपूर्ण विवेचन का संक्षेप अलंकाररत्नाकरकार ने इस प्रकार किया है—

'संदेहसंभावनयोर्यथास्ति प्रतीतिभेदः स्फुट एव, तद्वद्।

साद्दृश्यहेत्वन्तरयोर्भ्रमेषु न लेशतः कापि विशेषबुद्धिः ॥
प्रतीतिभेदेन विना न वाच्यः कुत्राप्यलंकारगतश्च भेदः ।
निमित्तभेदेन च भिन्नतायां प्रसज्यते सा खलु संशयादौ ॥'

अर्थात् जैसे सन्देह और संभावना में प्रतीतिगत भेद स्पष्ट रूप से लक्षित होता है सादृश्य तथा तद्भिन्न हेतु से होने वाली भ्रान्ति में वैसा लेशमात्र भी नहीं। जबतक प्रतीति में भेद न हो अलंकार में भेद नहीं मानना चाहिए। यदि निमित्त भेद से भी भेद माना जाने लगे तो फिर संशय आदि में भी अवान्तर भेदों को भिन्न भिन्न अलंकार मानने की नौबत आ खड़ी होगी।'

भ्रान्तिमान् का इतिहासः—

भामहः—	+	+	+
वामनः—	+	+	+
उद्भटः—	+	+	+

रुद्रटः—'अर्थविशेषं पश्यन्नवगच्छेदन्यमेव तत्सदृशम् ।
निःसन्देहं यस्मिन् प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति ॥' ८।८७।

ज्ञाता यदि [उपमेयरूप] पदार्थ विशेष को देखकर उसके सदृश किसी अन्य ही पदार्थ का निश्चय कर बैठे तो उसे भ्रान्तिमान् कहते हैं। उदाहरण—

'पाल्यति त्वयि वसुधां विविधाध्वरधूममालिनीः ककुभः ।
पश्यन्तो दूयन्ते घनसमयाशङ्कया हंसाः ॥' ८।८८

'आप के पृथ्वी की रक्षा करते रहते दिशाएँ विविध यज्ञ के धूम से युक्त रहती हैं। उन्हें देखकर हंसों का चित्त दुखता है क्योंकि वे उन्हें बादल समझकर बरसात आने के भ्रम में पड़ जाते हैं।'

मम्मटः—'भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ।'

प्राकरणिक (उपमेय) के समान [अप्राकरणिक = उपमानभूत] वस्तु के दिखाई देने से प्राकरणिक (उपमेय) में उसी समान वस्तु की प्रतीति भ्रान्तिमान् ।

उदाहरण—'कपाले मार्जारः पय इति करांल्लेढि शशिनः' । = कसोरे में पड़ रही चन्द्र-किरणों को बिल्ली दूध समझकर चाटने लगती है।'

इस विवरण से स्पष्ट है कि भ्रान्तिमान् के प्रवर्तक रुद्रट ही हैं। मम्मट ने भी कदाचित् भ्रान्तिमान् को अलंकारों में नहीं गिना, क्योंकि यह अलंकार परिकरालंकार के बाद के अलंकारों में है। ऐसी प्रसिद्धि है कि काव्यप्रकाश का निर्माण मम्मट ने परिकर तक ही किया है। शेषांश की पूर्ति हरविजय के टीकाकार अलक अथवा किसी अल्लटनामक विद्वान् ने की है। अन्तरंग प्रमाणों से यह तथ्य वास्तविक भी प्रतीत होता है। परिकर के बाद काव्यप्रकाश की पंक्तियों में वैसी कसावट नहीं हैं। दूसरा प्रमाण यह है कि काव्यप्रकाश में जैसा कि उद्धृत प्रमाण से स्पष्ट है, भ्रान्तिमान् को सादृश्यमूलक अलंकार माना गया है किन्तु उसकी गणना फुटकल अलंकारों में बहुत आगे जाकर की गई है।

आचार्य दण्डी ने भ्रान्तिमान् को उपमालंकार के अन्तर्गत मोहोपमा नाम से स्वीकार किया है—

'शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वङ्गि त्वन्मुखं, त्वन्मुखाशया ।
इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता ॥ २।२५

मैं तुम्हारे चेहरे को चन्द्रमा समझ बैठता हूँ, अतः तुम्हारे विरह में चन्द्र को तुम्हारा मुख समझ पकड़ने दौड़ता हूँ।

अग्निपुराण में मोहोपमा को भ्रान्तिमान् कहा भी है—

'प्रतियोगिनमारोप्य तदभेदेन कीर्तनम् ।
उपमेयस्य यन्मोहोपमासौ भ्रान्तिमद् वच ॥'

लगभग १२ वीं शती में हो हुए वाग्भट ने भ्रान्तिमान् स्वीकार किया है—

'वस्तुन्यन्यत्र कुत्रापि तत्तुल्यस्यान्यवस्तुन. ।
निश्चयो यत्र भावेन भ्रान्तिमान् स स्मृतो यथा' ॥ ४।७३॥
'हिमकमलमिति वदने नयने नीलोत्पलमिति प्रसृताक्षि ।
कुसुममिति तवहसिते निपतति भ्रमराणा श्रेणि ॥'

जहाँ अन्य वस्तु में तत्तुल्य अन्य किसी वस्तु का निश्चय हो जाय उसी को भ्रान्तिमान् कहा जाता है। यथा—'हे आयताक्षि ! भौरों की पाँत तुम्हारे चेहरे पर उसे हेमाम्भोज समझकर टूट पड़ती है, नेत्र पर नीलकमल समझ तथा हँसी पर पुष्प समझकर।' सञ्जीविनीकार ने इस अलंकार को संक्षिप्तरूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'सादृश्योत्थापिता भ्रान्तिर्यत्र स भ्रान्तिमान् मत. ।
अर्थात् भ्रान्ति जहाँ सादृश्यजनित हो वह भ्रान्तिमान् ।

[सर्वस्व]

[सू० २०] एकस्यापि निमित्तवशादनेकधा ग्रहणमुल्लेखः ।

यत्रैकं वस्त्वनेकधा गृह्यते स रूपबाहुल्योल्लेखनादुल्लेखः । न चेदं निर्निमित्तमुल्लेखमात्रम्, अपि तु नानाविधधर्मयोगित्वाख्यनिमित्तवशादेतत् क्रियते । तत्र रुच्यर्थित्वव्युत्पत्तयो यथायोगं प्रयोजिकाः । तदुक्तम्—

'यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते ।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसंधानसाधिते ॥' इति ॥

यथा—'यस्तपोवनमिति मुनिभिः कामायतनमिति वेश्याभिः संगीतशालेति लासकैः' इत्यादि हर्षचरिते श्रीकण्ठाख्यजनपदवर्णने । अत्र ह्येक एव श्रीकण्ठाख्यो जनपदस्तत्तद्गुणयोगात्तपोवनाद्यनेकरूपतया निरूपितः। रुच्यर्थित्वव्युत्पत्तयश्च प्रायशः समस्तव्यस्ता योजयितुं शक्यन्ते । नन्वेतन्मध्ये 'वज्रपञ्जरमिति शरणागतैरसुरविवरमिति वातिकैः' इत्यादौ रूपकालंकारयोग इति कथमयमुल्लेखालंकारविषयः। सत्यम् । अस्ति तावत् 'तपोवनम्' इत्यादौ रूपकविविक्तोऽस्य विषयः। यत्र वस्तुतस्तद्रूपतायाः संभवः। यत्र तु रूपकं व्यवस्थितं तत्र चेदियमपि भङ्गिः संभाविनी तत्संकरोऽस्तु। न त्वेतावतास्याभावः शक्यते वक्तुम्। ततश्च न दोषः कश्चित्। एवं हि तत्र विषये भ्रान्तिमदलंकारोऽस्तु अतद्रूपस्य तद्रूपताप्रतीतिनिबन्धनत्वात्। नैतत्। अनेकधाग्रहणाख्यस्यापूर्वस्यातिशयस्याभावात्, तद्धेतुकत्वाच्चास्यालंकारस्य। संकरप्रतीतिस्त्वङ्गीकृतैव। यद्येवम्, अभेदे भेद इत्येवंरूपातिशयोक्तिरत्रास्तु। नैष दोषः। ग्रहीतृभेदाख्येन विषयविभागेनानेकधात्वोट्टङ्कनाच्चास्य च

विच्छित्त्यन्तररूपत्वात् सर्वथा नास्यान्तर्भावः शक्यक्रिय इति निश्चयः।
यथा वा—

'णाराअणो त्ति परिणअवआहिँ सिरिवल्लहो त्ति तरुणीहिँ ।
बालाहि उण कोदूहलेण एमे अ सच्चविओ ॥'

एवम् 'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि अर्जुनो यशसि' इत्यादाववसेयम् । इयांस्तु विशेषः—पूर्वत्र ग्रहीतृभेदेनानेकधात्वोल्लेखः, इह तु विषयभेदेन । नन्वनेकधात्वोल्लेखने गुर्वादिरूपतया श्लेष इति कथमलंकारान्तरमत्र स्थाप्यते । सत्यम् । अनेकधात्वनिमित्तं तु विच्छित्त्यन्तरमत्र दृश्यते इति तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषोऽत्र स्यात् । न तु सर्वथा तदभावः । अतश्चालंकारान्तरं यदेवंविधे विषये श्लेषाभावेऽपि विच्छित्तिसद्भावः । तस्मादेवमादावुल्लेख एव श्रेयान् । एवमलंकारान्तरविच्छित्त्याश्रयेणाप्ययमलंकारो निदर्शनीयः ।

[सू० २०] कारणवशाद् एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से ज्ञान उल्लेख ।

[वृ०] जहाँ एक ही वस्तु अनेक प्रकार से जानी जाती है वह अलङ्कार उल्लेख कहलाता है। उल्लेख इसलिए कि उसमें रूपबाहुल्य का उल्लेखन [अवगम ज्ञान] रहता है। यह यूं ही हो जाने वाला सामान्य उल्लेखन नहीं होता, अपितु [यह अलंकाररूप होता है और] इसका [यत्नपूर्वक] निष्पादन किया जाता है जिसमें उपाय बनता है [पदार्थ की] विविधधर्मयुक्तता नामक तत्त्व। इस [विविधधर्मयुक्तता] में कारण बनते हैं (१) रुचि, (२) अर्थिता तथा (३) व्युत्पत्ति, किन्तु योग्यता के अनुसार। जैसा कि [श्रीमान् उत्पलदेवाचार्य ने] कहा है—'पदार्थ एक ही हो और उसका ज्ञान भी यत्न-पूर्वक ठीक ढँग से किया गया हो तथापि वह ज्ञान उसी रूप में बदल जाता है जैसी ज्ञाता की रुचि रहती है, जैसी उसकी गरज रहती है और जैसी व्युत्पत्ति।' जैसे—हर्षचरित के अन्तर्गत श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन में [निर्णयसागरीय पृष्ठ ९७ पर] 'जिसे मुनियों ने तपोवन, वेश्याओं ने कामायतन, नटों ने संगीतशाला [समझा]—' इत्यादि। यहाँ श्रीकण्ठ नामक एक ही जनपद तपोवन आदि अनेक रूप से निरूपित है, क्योंकि उस [जनपद] में उन [तपोवन आदि] के गुण थे। ये जो रुचि, अर्थित्व और व्युत्पत्ति हैं इनकी योजना एक साथ और पृथक्-पृथक् भी की जा सकती है। इस [श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन] में 'शरणागत व्यक्तियों ने वज्र का पिंजरा, वार्तिकों [भूगर्भ में छिपकर साधना करने वालों] ने असुरविवर [पाताल माना]' इत्यादि स्थलों में रूपकालङ्कार का पुट भी है तब यह उल्लेखालंकार का विषय कैसे हो सकता है ? [उत्तर] ठीक है [किन्तु] 'तपोवन' इत्यादि स्थलों में उल्लेख रूपक से पृथक् भी विद्यमान है, जहां वस्तुतः तद्रूपता है। हाँ ! जहां रूपक होता है वहां यदि इस अलंकार की भी छाया आ जाए तो उसे संकरालंकार माना जा सकता है। किन्तु इतने [सांकर्य] भर से इस [उल्लेख] का अभाव नहीं माना जा सकता। इसलिए यहाँ कोई दोष नहीं आता। शंका होती है—कि 'यहां [तपोवनम्० इत्यादि स्थल में यदि संकरालंकार नहीं है तो] भ्रान्तिमदलंकार क्यों न माना जाए, क्योंकि यहां अलंकारत्व का मूल है भिन्न में भिन्न वस्तु के अभेद का ज्ञान [जो भ्रान्तिमान् का जनक है], [उत्तर] ऐसा नहीं [अर्थात् भ्रान्तिमान् नहीं माना जा सकता] क्योंकि [उसमें] 'अनेक प्रकार से ग्रहण (ज्ञान)—' रूपी नवीन और विचित्र विशेषता नहीं रहती और यह [उल्लेख] अलंकार इसी विशेषता पर निर्भर रहता है। जहां तक सांकर्य की प्रतीति का प्रश्न है उसे तो स्वीकार कर ही लिया गया है।

[शंका] यदि ऐसा है [यहाँ भ्रान्तिमान् और संकर नहीं मानना है] तो यहाँ 'अभेद में भेद'—नामक अतिशयोक्ति यहाँ मान ली जाए [उल्लेख ही क्यों माना जा रहा है], [उत्तर] यह दोष भी नहीं ठहरता क्योंकि एक तो यहाँ [अनिवार्य रूप से] ज्ञाता अनेक होते हैं [जब कि अतिशयोक्ति में ज्ञाता की अनेकता अनिवार्य नहीं रहती। इसलिए इन दोनों के विषय भिन्न हो जाते हैं,] दूसरे यहाँ एक ही वस्तु का ज्ञान [नियमन] अनेक प्रकार से होता है [अतिशयोक्ति के समान केवल भिन्नरूपमात्र से नहीं] जो एक स्वतन्त्र ही विच्छित्ति है [अतः विच्छित्ति में भी भेद पड़ जाता है]।

सर्वथा, इस [उल्लेख] का अन्तर्भाव करना संभव नहीं है [हमारा] यही निश्चय है।

[उल्लेखका] अन्य उदाहरण यथा—

'नारायण इति परिणतवयोभिः श्रीवल्लभ इति तरुणीभिः।
बालाभिः पुनः कौतुहलेन एवमेव सत्यापितः॥'

—[श्रीकृष्ण भगवान् को] 'वृद्ध महिलाओं ने नारायण, युवतियों ने लक्ष्मीपति तथा बच्चियों ने कुतूहलपूर्वक ऐसा ही समझा' इसी प्रकार—वाणी में गुरु [बृहस्पति तथा गंभीर] वक्षःस्थल में पृथु, [पृथुनामक राजा तथा विस्तीर्ण], यश में अर्जुन [अर्जुननाम पाण्डव तथा धवल]' इत्यादि में भी जानना चाहिए। [इन दोनों में] भेद इतना ही है कि प्रथम में ज्ञातृगत अनेकता के कारण ज्ञेयगत अनेकता है और दूसरे में [पृथु तथा अर्जुन के आरोप के] विषय [वक्षःस्थल तथा यश] की अनेकता के कारण।

[शंका] यहाँ 'गुरु' [बृहस्पति तथा गम्भीरता] आदि रूप से [एक ही पुण्यभूति का] अनेक रूप से ज्ञान होने पर [यहाँ] श्लेष मानना चाहिए, यहाँ दूसरा अलंकार [उल्लेख] क्यों थोपा जा रहा है। [उत्तर] ठीक है [आप की शंका किन्तु] यहाँ जो [विषयगत] अनेकता का भाव है उससे एक नए चमत्कार को जन्म मिलता है, अतः [यहाँ एक नया उल्लेख नामक अलंकार है, अधिक से अधिक] श्लेष को यहाँ उस [उल्लेख] की झलक [प्रतिभा] भर शेष रहने देने वाला [उसे दबा देने वाला मात्र] माना जा सकता है, यहाँ उस [उल्लेख] का सर्वथा अभाव नहीं माना जा सकता। इसलिए भी यह एक भिन्न अलंकार है कि इस प्रकार के [उपरिदत्त] स्थलों में जहाँ श्लेष नहीं भी रहता वहाँ भी यह विशिष्ट चमत्कार अनुभव में आता है। इस कारण ऐसे स्थलों में [श्लेष रहने पर भी] उल्लेख ही मानना अधिक अच्छा है। इसी प्रकार अन्य अलंकारों की विच्छित्ति के सहारे भी इस अलंकार की निष्पत्ति दिखलाई जा सकती है।

विमर्शिनी

एकस्यापीति। अनेकधा ग्रहणमिति। न पुनरनेकधा कल्पनम्। ग्रहणं हि स्वारसिक्यामुत्पादितायां च प्रतिपत्तौ संभवति न तु स्वारसिक्यामेव। यदाहुः—

'अतः शब्दानुसंधानवन्ध्यं तदनुबन्धि वा।
जात्यादिविषयग्राहि सर्वं प्रत्यक्षमिष्यते॥' इति।

कल्पनं पुनरुत्पाद्य प्रतिपत्त्येकगामीति स्वारसिक्यां प्रतिपत्तौ न संभवतीत्युभयत्रापि व्यापकत्वाद्यथासूत्रितमेव युक्तम्। रूपबाहुल्येति। अत एवास्मिन् वस्त्वन्तरप्रतीतिरस्त्येव। अन्यथा ह्येकस्यानेकधाग्रहणमेव न स्यात्। अत एव चास्य भ्रान्तिमदनन्तरमेव लक्षणम्। एकस्य च न स्वातन्त्र्येणानेकधाग्रहणम्, अपि तु तत्तत्प्रयोजनवशादित्याह—न चेदमित्यादि। एतदिति। अनेकधा ग्रहणम् एकस्यैव नानाविधधर्मयोगित

आखण्डधेन प्रतीतिगोचरीभावात्कथमेकैकधर्मविषयमनेकधाग्रहणं युक्तमित्याशङ्क्याह—तत्रेत्यादि। तत्रैव्यनेकधाग्रहणे। स्वातन्त्र्येण विकल्पनं रुचिः। अर्थक्रियाभिलापपरत्वमर्थित्वम्। वृद्धव्यवहारशरणता व्युत्पत्तिः। उक्तमिति श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्। तत्तद्गुणयोगादिति विविक्तत्वादिनानाविधधर्मसंबन्धात्। मुनीनां तपोवनविषयमर्थित्वम्। वेश्यानां च कामायतनविषयमर्थित्वम्। एवं लासकानां तु संगीतशालाविषया व्युत्पत्तिरर्थित्वं च। प्रायश इति, अनेन रुचिरत्र नास्तीति सूचितम्। ननु योऽयं श्रीकण्ठाख्यजनपदवर्णनग्रन्थखण्ड उदाहरणत्वेनानीतस्तत्रालंकारान्तरसंबन्धोऽप्यस्तीति कथमेतद्विषय एवेत्याह—नन्वित्यादिना। एतदेवाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते—सत्यमित्यादिना। तावच्छब्दो रूपकाभावविप्रतिपत्तिद्योतनार्थम्। तद्रूपताया इति तपोवनादिरूपतायाः। अत्रापि यदन्यैरवयवावयविभावसंबन्धात्तारोपाया लक्षणायाः सत्त्वाद्रूपकालंकारमाशङ्क्य विविक्तत्वस्य चिन्त्यत्वमुक्तं तदयुक्तम्। अवयवावयविभावसंबन्धाभावाल्लक्षणाया एवासत्त्वात्। न हि श्रीकण्ठाख्ये जनपदे तपोवनमवयवन्यायेन कुत्राप्येकदेशेऽस्ति यत्तत्रावयविनि मुनिभिरारोपितम्। किं तु तत्तद्गुणयोगिनः श्रीकण्ठस्य विविक्तत्वादितपोवनादिगुणमुखेन निजनिजवासनानुसारेणार्थित्वादिना मुनिप्रभृतीनामीदृगाभासः। अथापि यद्यस्त्यवयवावयविभावविवक्षा तल्लक्षणमात्रं न रूपकम्। तस्य लक्षणापरमार्थत्वेऽपि विषयस्य रूपवतः करणादलंकारत्वम्। अन्यथा तु लक्षणामात्रमेव। नहि लक्षणापि रूपकपरमार्था। इह च तपोवनाद्यारोपेणारोपविषयस्य नातिशयः कश्चित्। वस्तुत एव तद्रूपतायाः संभवात्। अतश्च स्थित एवात्र रूपकविविक्तोऽस्य विषयः। न केवलमन्यालंकारविविक्तोऽयमेवास्य विषयो यावद् यत्रापि रूपकालंकारयोगोऽस्ति तत्राप्ययं संभवत्येवेति दर्शयितुमाह—यत्रेत्यादि। इयमपि भङ्गिरिति एकस्यानेकधाग्रहणरूपा। एतावतेति रूपकप्रयोगमात्रेण। तत्तश्चेति रूपकोल्लेखयोः संकरात्। ननु यत्र रूपकयोगो नास्ति तदलंकारान्तरयोगः संभवतीत्याह—एवं हीत्यादि। अतद्रूपस्येति। अतपोवनरूपस्यापि तपोवनरूपत्वोपनिबन्धनात्। अतस्मिंस्तद्ग्रहो भ्रम इत्येतदेव हि भ्रमस्तत्त्वम्। अपूर्वस्येति भ्रान्तिमदसंभविनः। तद्धेतुकत्वादिति अनेकधाग्रहणाख्यातिशयनिमित्तकत्वात्। यदि चात्र भ्रान्तिमानप्यस्ति तत्तेन सहास्य संकर एवास्त्वित्याह—संकरेत्यादि। यद्येवमिति। भ्रान्तिमतोऽस्य विशेषस्तेन सहास्य संकरो वेत्यर्थः। एष इति अतिशयोक्तिसद्भावः। तस्येति ग्रहीतृभेदाख्यस्य विभागस्य। विच्छित्त्यन्तरत्वमेव हि सर्वेषामलंकाराणां भेदहेतुः। तदेवं तत्तच्छङ्कानिरासपूर्वममुमेव सिद्धान्तीकृत्य पुनरप्युदाहरति—नारायणो रीति। अत्र च नारायणत्वाद्युल्लेखने वृद्धाप्रभृतीनां यथाक्रमं व्युत्पत्त्यर्थित्वरुचयः। एतदेवान्यत्रापि योजयति—एवमित्यादि। विशेष इति पूर्वस्मात्। विषयभेदेनेति वचनादिभिन्नत्वेन। अनेकधात्वोल्लेखे गुर्वादिरूपतया श्लेष इति गुर्वादीनामुभयार्थवाचित्वात्। तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुरिति। श्लेषमन्तरेणात्रोल्लेखानिष्पत्तेः। तदभाव इति, उल्लेखाभावः। यतश्चेति, श्लेषाभावेऽप्येतद्विच्छित्तिसंभवात्। एवंविध इति विषयभेदरूपे। तत्तु यथा—

> 'सव्रीडा दयितानने सकरुणा मातङ्गचर्माम्बरे
> सत्रासा भुजगे सविस्मयरसा चन्द्रेऽमृतस्यन्दिनि।
> सेर्ष्या जह्नुसुतावलोकनविधौ दीना कपालोदरे
> पार्वत्या नवसंगमप्रणयिनी दृष्टिः शिवायास्तु वः॥'

अत्रैकस्या एव दृष्टेस्तत्तद्विषयभेदेन नानात्वोल्लेखनम्।

एकस्यापि = एक का भी अनेकधा ग्रहण = अनेक प्रकार से ग्रहण न कि अनेक प्रकार से

कल्पना करना [जैसा कि रत्नाकरकार ने माना है]। ग्रहण जो है वह तभी संभव है जब प्रतीति स्वारसिक [= लौकिक सामान्य] भी हो और [केवल कविद्वारा] उत्पादित भी। प्रतीति केवल स्वारसिक = लौकिक हो तो वह संभव नहीं होता। जैसा कि कहा है—'सभी प्रकार का प्रत्यक्ष जाति आदि [गुण, क्रिया, संज्ञा] को विषय बनानेवाला माना जाता है, भले ही शब्दानुसंधान से रहित हो या मिश्रित।' कल्पना पौनरुक्त्य आदि रूप है और वह एकमात्र ज्ञानात्मक ही है। इसलिए स्वारसिक = लौकिक प्रतीति में वह संभव नहीं है। इसलिए [उल्लेख का] जैसा लक्षण मूल-[सर्वस्व] कार ने किया है वैसा ही ठीक है क्योंकि उसमें [ग्रहण शब्द के प्रयोग से स्वारसिक तथा कल्पना] दोनों प्रकार के ज्ञान का संग्रह हो जाता है। अतः 'एकस्यानेकधा कल्पनमुल्लेखः' इस प्रकार रत्नाकरकार द्वारा ग्रहण शब्द को बदल कर 'कल्पन'-शब्द का प्रयोग करना अनुचित है]।

[यहाँ यह ज्ञातव्य है कि रत्नाकरकार ने स्वारसिक तथा उत्पादित दोनों को परस्पर निरपेक्षभाव से उल्लेख का कारण बतलाया है। उन्होंने 'प्रथम का उदाहरण "नारायण इति०" यह पद्य माना है और द्वितीय का श्री कृष्ण को मल्लों ने पर्वतराज, दूसरों ने शिशु, सुन्दरियों ने काम० समझा'-यह]।

रूपबाहुल्य इसीलिए आरम्भ में अन्य वस्तुओं की प्रतीति रहता ही है। ऐसा न हो तो एक का अनेक प्रकार से ग्रहण हो न हो। इसीलिए इस अलंकार का लक्षण भ्रान्तिमान् अलंकार के तुरन्त पश्चात् किया गया है। 'एक वस्तु का अनेक प्रकार से ग्रहण ऐसे ही (स्वातन्त्र्येण) नहीं अपितु प्रयोजन के आधार पर होता है—इस तथ्य पर लिखा—'न चेदम्०' इत्यादि। एतद् अर्थात् अनेक प्रकार से ज्ञान। एक ही वस्तु में अनेक प्रकार के धर्म होंगे तो केवल एक एक धर्म लेकर अनेक प्रकार से ज्ञान होना संभव कैसे होगा—'क्योंकि उस वस्तु का ज्ञान तो अखण्डरूप से होगा-' इस शंका पर उत्तर देते हुए लिखते हैं = 'तत्र' इत्यादि। तत्र = अर्थात् अनेक प्रकार से ग्रहण में। रुचि नाम है स्वतन्त्रतापूर्वक विकल्प करने का, अभीष्ट काम की इच्छा का नाम है अर्थित्व तथा व्युत्पत्ति नाम है वृद्ध व्यवहार का आश्रय होना। उक्तम् = कहा है अर्थात् उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में [द्रष्टव्य = ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्तिविमर्शिनी २।३।१२ कारिका, यहाँ रुचि आदि के अर्थ अभिनवगुप्त की विमर्शिनी से ही लिए गए हैं। विमर्शिनी में इनका अर्थ है—'रुचिः स्वातन्त्र्यं वा, अर्थक्रियार्थित्वं वा वृद्धव्यवहारं वा, अनतिक्रम्य आभासा भिद्यन्त इति सूत्रार्थः।] तत्तद्गुणयोग विविक्तत्व = एकान्तत्व आदि नाना प्रकार के धर्मों के सम्बन्ध से। मुनियों में तपोवन विषयक अर्थित्व है, वेश्याओं को कामायतनविषयक अर्थित्व है और नटों को संगीतशालाविषयक व्युत्पत्ति भी है और अर्थित्व भी। प्रायशः इससे यह सूचित किया कि यहाँ रुचि नहीं है।

[शंका] यह जो श्रीकण्ठ जनपद के वर्णन का अंश यहाँ उद्धृत कर दिया है इसमें दूसरे अलंकार भी हो सकते हैं, केवल उल्लेख का ही विषय इसे क्यों माना जा रहा है'-इस पर [उत्तर देते हुए] कहते हैं—'ननु० इत्यादि। इसी का स्वीकार कर खण्डन करते हुए कहते हैं—'सत्यम्'-इत्यादि। 'तावद्'-शब्द रूपकाभावरूपी अनुपपत्ति का सूचक है। तद्रूपता का का अर्थात् तपोवनादिरूपता का। इस स्थल में भी अन्य विद्वानों ने [शोभाकर ने नहीं] जो अवयवावयविभावसम्बन्ध से सारोपा लक्षणा का अस्तित्व स्वीकार कर रूपकालंकार माना है। और कहा है कि 'यहाँ केवल उल्लेख का अस्तित्व मानना ठीक नहीं है—वह अमान्य है। न यहाँ अवयवावयविभावसम्बन्ध है और न लक्षणा ही। श्रीकण्ठजनपद में तपोवन का अस्तित्व किसी एक अंश या अवयव में थोड़े ही है। जिससे मुनियों ने उसे अवयवी मानकर उस पर तपोवन का आरोप किया हो। यहाँ तो उन-उन गुणों से युक्त श्रीकण्ठजनपद में तपोवन आदि के एकान्तता

[विविक्तत्व] आदिगुणों के द्वारा अपनी-अपनी वासना के अनुसार मुनि आदि को प्रयोजनवशात् ऐसा आभास हो रहा है। इतने पर भी यदि अवयवावयविभाव की विवक्षा हो भी तब भी यहाँ लक्षणा-मात्र हो सकती है, रूपक नहीं। क्योंकि यद्यपि रूपक लक्षणा के बिना नहीं होता; वह वहीं अलंकार होता है जहाँ विषयी के द्वारा विषय को अपने रूप से रूपित किया जाता है। जहाँ ऐसा नहीं होता वहाँ लक्षणा मर होकर रह जाती है। ऐसा नहीं है कि लक्षणा रूपकपरमार्था हो अर्थात् उसका स्वारस्य केवल रूपक में हो। फिर यहाँ तपोवन आदि के आरोप से आरोप के विषय (श्रीकण्ठजनपद) में कोई अतिशय नहीं आता। क्योंकि यहां तद्रूपता वस्तुतः ही विद्यमान है (रूपक तो कल्पित या आहार्य तद्रूपता में होता है।) इसलिए यहाँ रूपक से सर्वथा स्वतन्त्र ही है उल्लेख।

इस प्रकार 'इस (उल्लेख) का स्थल केवल वहीं नहीं होता जहाँ अन्य किसी अलंकार का स्पर्श नहीं रहता यथा यह तपोवनम्० इत्यादि, अपि तु उन स्थलों में भी यही अलंकार होता है जहाँ अन्य अलंकारों का स्पर्श भी रहता है' ।—इसी तथ्य के लिए लिखते हैं-'**पूर्व हि**' इत्यादि। **अतद्रूपस्य** = जो तद्रूप अर्थात् तपोवनरूप नहीं है उसे भी तपोवनरूप से बतलाया गया है।' भिन्न (अतद्) में भिन्न (तद्) रूप से बोध भ्रम होता है'-और यही भ्रम का सर्वमान्य रूप है। **अपूर्व** = नवीन अर्थात् जो भ्रान्तिमान् में नहीं होता। **तद्धेतुकत्वात्** = अनेकधा ग्रहण नामक जो अतिशय (विशेषता) तन्निमित्तक। 'यदि यहाँ भ्रान्तिमान् भी है तो उसके साथ हुए उल्लेख का संकर ही माना जाय'-इस शंका को मन में रखकर स्वीकारात्मक उत्तर देते हुए कहते हैं—'**संकर**' इत्यादि। **यद्येवम्** = यदि ऐसा है अर्थात् यदि भ्रान्तिमान् से इसका अन्तर है अथवा उसके साथ इसका संकर है तो। **एष** = यह अर्थात् अतिशयोक्ति का सद्भाव। **तस्य** = उसका अर्थात् ग्रहीता के भेद नामक विभाग का। सभी अलंकारों का भेदक विच्छित्तिगत भेद ही होता है। इस प्रकार विभिन्न शंकाओं का निराकरण करके फिर से उल्लेख का ही उदाहरण प्रस्तुत **करते हैं**—'णाराअणो = नारायण' इत्यादि। यहां जो 'नारायणत्व' आदि का उल्लेख है उसमें ब्रह्मा आदि का क्रम से व्युत्पत्ति, अर्थित्व और रुचि निहित हैं। इसी को दूसरे स्थलों में भी लागू करते हुए कहते हैं—'**एवम्**०'। **विशेष** = अन्तर अर्थात् पहले से। **विषयभेदेन** अर्थात् वाणी आदि की भिन्नता से। 'अनेकधात्वोल्लेख०० श्लेषः' गुरु आदि के रूप में अनेक प्रकार से उल्लेख होने पर श्लेष होगा = कारण कि गुरु आदि शब्द अर्थद्वय के वाचक हैं। **तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः** क्योंकि यहां श्लेष के बिना उल्लेख की निष्पत्ति नहीं होती। **तदभाव** = उल्लेख का अभाव। **अतश्च** अर्थात् श्लेष के न होने पर भी इस उल्लेख की विच्छित्ति की निष्पत्ति संभव होने से। **एवंविध** = ऐसे = विषय-भेदरूप स्थलों में। इसका उदाहरण—'पार्वती की शिवजी का नवीन समागम चाह रही (प्रणयः = याच्ञा) दृष्टि आप के शिव = कल्याण के लिए हो, जो (दृष्टि) प्रियमुख पर सलज्ज, गजचर्म पर सकरुण, सर्प पर सभय, अमृतवर्षी चन्द्र पर सविस्मय, गंगा पर ईर्ष्यायुक्त, कपाल पर दीन हो जाती है [अर्थात्—वह उन-उन भावों को व्यक्त करने वाली मुद्रा से युक्त हो जाती हैं] यहां एक ही दृष्टि का (प्रियमुख आदि) विषयों के भेद से अनेकत्व उल्लिखित है।

विमर्शः—'एवंविधे विषये 'इस प्रकार के विषय में' इस मूल का अर्थ जयरथ और श्रीविद्या-चक्रवर्ती इन दोनों टीकाकारों ने 'विषयभेदरूप विषय' किया है, किन्तु किया जाना चाहिए 'एक वस्तु के अनेक प्रकार से ज्ञान वाले स्थलों में'। इस पंक्ति के तुरन्त पूर्व 'विषयभेदरूप' उल्लेख भेद का ही निरूपण है किन्तु श्लेष का अभाव 'ग्रहीतृभेद से अनेक प्रकार का ज्ञान—' इस भेद में भी होता ही है। खण्डन श्लेषयुक्त विषयभेद वाले अंश का चल रहा है अतः 'एवंविध' का

परामर्शविषय उसी को मानना चाहिए'–यह तब मान्य होता जब 'तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतु'-००० अलश्चालंकारान्तरम्'–इनने ग्रन्थ को अलग मान कर इसमें साध्यसाधकभाव माना जाता अर्थात् 'क्योंकि श्लेष उल्लेख की झलक भर रहने देता है, उसका यहां अभाव नहीं हो जाता। इस अंश को हेतु मानकर 'इसलिए उल्लेख भिन्न ही अलंकार है'–इसे साध्य माना जाता। किन्तु ऐसा होना संभव नहीं है। 'अलंकारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुत्व को अन्य अलंकार के निराकरण का हेतु माना गया है न कि सिद्धि का। फिर 'अतश्च' में 'च' = 'और'–यह पदार्थ व्यर्थ हो जाता है। हमने इस ग्रन्थ की जैसी संगति लगाई है उसमें ऐसा कोई दोष नहीं रहता। हम 'तस्मादेवमादौ—श्रेयान्' को पूरे विवेचन का उपसंहारभूत सिद्धान्त वाक्य मानते हैं। इसके पश्चात् जो 'एवमलङ्कारा० निदर्शनीयः' कहा गया है वह इसलिए कि ऊपर केवल कुछ ही अलंकारों का निराकरण किया गया है।

एक यह तथ्य भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि उल्लेख में न केवल विषयगत अनेकत्व, अपितु ग्राहकगत अनेकत्व भी अपेक्षित होता है।

विमर्शिनी

तदयं द्विप्रकारोऽपि रूपकाद्याश्रयवदन्यालंकाराश्रयोऽपि संभवतीत्याह—एवमलङ्कारान्तरेत्यादि। तत्राद्यः प्रकारः संदेहाश्रयो यथा—

'किं भानुः किमु चित्रभानुरिति यं निश्चिन्वते वैरिणः
किं चिन्तामणिरेष कल्पविटपी किं वेति चाशागताः।
किं पुष्पाकर एष पुष्पविशिखः किं वेति रामाजनः
किं रामः किमु जामदग्न्य इति वा यं धन्विनो मन्वते॥'

अत्रैकस्यैव संदिह्यमानत्वेनानेकधात्वोल्लेखनम्। अतिशयोक्त्याश्रयश्चायमेव यथा—

'चक्रं सौराज्यसाक्षी परिकलितमहाः शक्तिमाद्यापराधो
दण्डं खड्गं रिपुस्त्रीप्रसभहरणविस्फूर्जदाप्याद्दिदृक्षा।
पाशं पार्श्वपरश्वध्वजमपि बलविस्फोपवेदी गदां च
स्वाच्छन्द्यत्रिशूलं लिखति करतले देव चित्राकृतेस्ते॥'

अत्र त्वमेवेन्द्र इत्याद्यतिशयोक्त्या लोकपालाभेदो राज्ञ उपलभ्यते इत्येकस्यानेकधात्वोल्लेखनम्। विषयभेदेन च रूपकाश्रयो यथा—

मूर्ध्न्यद्रेर्धातुरागस्तरुषु किसलयं विद्रुमौघः समुद्रे
दिङ्मातङ्गोत्तमाङ्गेष्वभिनवनिहितः सान्द्रसिन्दूररेणुः।
सीम्नि व्योम्नश्च हेम्नः सुरशिखरिभुवो जायते यः प्रकाशः
शोणिम्नासौ खराशोरुषसि दिशतु वः शर्म रश्मिप्रतानः॥'

अत्रैकस्यैव विषयभेदेन रूपकाश्रयं नानात्वम्। 'कारकान्तर' इत्यपपाठः। प्रकृते कारकविच्छित्त्याश्रयस्यैवानुक्तत्वात्। अयं स्वरूपहेतुफलोल्लेखनरूपत्वात्त्रिधा। तत्र स्वरूपोल्लेखः समनन्तरमेवोदाहृतः। हेतूल्लेखस्तु यथा—

'सर्गहेतोः सदा धर्मः स्थितिहेतोरपि प्रजाः।
द्विषः संहारहेतोश्च विदुस्त्वां जातमात्मनः॥'

अत्रैकस्यैव जन्मनो हेतूनामनेकधात्वोल्लेखनम्। फलोल्लेखस्तु यथा—

'धर्मायैव विदन्ति पार्थिव यथाशास्त्रं प्रजाः पालिताः
अर्थायैव च जानतेऽन्तरविदः कोपैकदेशस्य ये।

कामायैव कृतार्थतामुपगता नार्यश्च निश्चिन्वते
मोक्षायैव च वेद जन्म भवतः कश्चिद्विपश्चिज्जनः ॥

अत्रैकस्यैव जन्मनः फलानामनेकधात्वोल्लेखनम् ।

'दोनों ही प्रकार का यह उल्लेख जिस प्रकार रूपक आदि उक्त अलंकारों के स्थलों में होता है उसी प्रकार अन्य अलंकारों के स्थलों में'-यही बतलाते हैं—'एवमलंकारान्तर०' इत्यादि द्वारा दोनों प्रकारों में प्रथम प्रकार [गृहीतृगतानेकत्वजनित अनेकविध उल्लेख] संदेह के स्थल में होता है, यथा-'जिसके विषय में वैरी लोग सोचते हैं—'यह सूर्य है क्या और यह अग्नि है क्या? आस बाँध कर याद लोग जिसके बारे में देखते हैं—'क्या यह चिन्तामणि है और क्या यह कल्पवृक्ष है ? सुन्दरियाँ सोचती है—'क्या यह मधुमास है या कामदेव ? और जिसे धनुषधारी लोग समझते हैं कि क्या यह राम है या परशुराम ।' यहाँ एक ही का अनेक प्रकार से संदेह-विषयरूप से ग्रहण किया जा रहा है। यही भेद अतिशयोक्ति पर आश्रित इस उदाहरण में देखिए—

'हे राजन् ! जब आपका चित्र लिखा जाता है तो आपके राज्य में सुख समृद्धि देखने वाले आप के हाथ में वज्र की रेखा बना देते हैं; तेज देखने वाले शक्ति को रेखा; अपराधी दण्ड की रेखा; रिपुस्त्रियों का बलात् हरण देखने वाले खड्ग की रेखा; कूप, वापी आदि देखने वाले पाश की रेखा; बलको जानने वाले ध्वज की रेखा; कोष जानने वाले गदा की रेखा और स्वच्छन्दता जानने वाले त्रिशूल की रेखा ।'

—यहाँ 'तुम्हीं इन्द्र हो'—इत्यादि क्रम से लोकपालों का अभेद राजा पर प्रतीत होता है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति का अनेक प्रकार से उल्लेख है।

विषयभेद से होने वाला रूपकाश्रित उल्लेख यथा—

'भगवान् सूर्य की किरणों का समुदाय सवेरे की ललोई में आपको श्रेय प्रदान करे, यह अपनी ललोई से पर्वत शिखर पर धातुराग लगता है, वृक्षों पर किसलय, समुद्र में मूँगे का ढेर, दिग्गजों के माथे पर तुरत लगाई गई सिन्दूर की धूल और क्षितिज में सुवर्ण पर्वत [देवपर्वत सुमेरु] की स्थलियाँ ।'

—यहाँ एक ही रश्मिप्रतान रूपी वस्तु पर (पर्वत शृंग आदि) विषयभेद से रूपकाश्रित उल्लेख हैं।

यहाँ [अलंकारान्तरविच्छित्ति०' में आए अलंकारान्तर शब्द के स्थान पर] 'कारकान्तर' पाठ अशुद्ध पाठ है क्योंकि प्रकृत में कारककृत विच्छित्ति का कोई उल्लेख नहीं है।

यह उल्लेख स्वरूपोल्लेख, हेतूल्लेख तथा फलोल्लेख इस प्रकार से तीन प्रकार का होता है। इनमें स्वरूपोल्लेख तो अभी-अभी बतला ही दिया गया, हेतूल्लेख का उदाहरण इस प्रकार है—

'हे ब्रह्मन् , प्रजाएँ आपको सृष्टि तथा धर्मस्थिति के लिए स्वयं से उत्पन्न मानती हैं और शत्रुलोग संसार के लिए ।'

—यहाँ जन्म (उत्पत्ति) एक ही है किन्तु उसके हेतु अनेक बतलाए गए है [सृष्टि, धर्मरक्षा तथा संहार) ।

फलोल्लेख का उदाहरण यथा—

'हे राजन् शास्त्रानुसार पालित प्रजा आपका जन्म धर्म के लिए ही मानती है, कोश का एक अंश जानने वाले अर्थ के ही लिए, कृतार्थता को प्राप्त नारियाँ केवल काम के ही लिए तथा कुछ विद्वान् केवल मोक्ष के ही लिए ।'

—यहां जन्म एक ही है और उसके फल अनेक बतलाए गए हैं।

विमर्श—इतिहास —उल्लेख – 'भामह, वामन, दण्डी, उद्भट, रुद्रट, मम्मट'—इन पूर्ववर्ती सभी आलंकारिकों में नहीं मिलता। प्राप्त ग्रन्थों में अल्कारसर्वस्व में ही यह पहली बार मिलता है। कदाचित् इस अलंकार का इदंप्रथमता के साथ विवेचन अल्कार सर्वस्वकार ने ही किया है।

परवर्ती अप्पय्यदीक्षित ने चित्रमीमांसा में और पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में उल्लेख में ग्रहीतृगत अनेकत्व पर भी उतना ही बल दिया है जितना एक ही वस्तु की ग्रहणगत अनेकता पर। ऐसा करने का उद्देश्य उन्होंने मालारूपक से उल्लेख का अन्तर माना है। अप्पय्य-दीक्षित का लक्षण इस प्रकार है—

"निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा। उल्लेखनमनेकेन तमुल्लेखं प्रचक्षते॥"

यत्र नानाविधधर्मयोगि एकं वस्तु तत्तद्धर्मरूपनिमित्तभेदादनेकेन ग्रहीत्रा अनेकधा उल्लिख्यते स उल्लेखः।

'कीर्तिगंगा हिमक्ष्माभृदोजःसूर्योदयाचलः। शत्रुसेनाब्धिमन्थाद्रिगुणरत्नैकरोहणः॥'

—इति मालारूपके एकस्य राज्ञो यशस्वित्वादिधर्मयोगरूपनिमित्तभेदात् तुषारादित्वाद्यनेक-प्रकारेणोल्लेखनमस्तीति तत्रातिव्याप्तिनिरासायानेकेत्युक्तम्। तत्र ग्रहीतृभेदनिबन्धनं न भवत्यनेक-धोल्लेखनमिति नातिव्याप्तिः।' [चित्रमीमांसा काशी सं० पृ० २२५]

पण्डितराज जगन्नाथकृत उल्लेखलक्षण इस प्रकार है—

'एकस्य वस्तुनो निमित्तवशाद् यद् अनेकैर्ग्रहीतृभिरनेकप्रकारकं ग्रहणं तदुल्लेखः।' धर्मस्यात्मा भागधेयं क्षमायाः।' इत्यादिमालारूपकेऽतिप्रसङ्गवारणायानेकैर्ग्रहीतृभिरित्यविवक्षितबहुत्वकं ग्रहण-विशेषणम्।'

विषयभेदमूलक उल्लेख और मालारूपक में अन्तर भी विचारणीय है। इसी ग्रन्थ में माला-रूपक का उदाहरण दिया गया है "पीयूषप्रसृतिर्नवा मरभुजां दात्र तमोलूनये०" इत्यादि और विषयभेदमूलक उल्लेख का—"गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि०" इत्यादि। इन दोनों उदाहरणों में कोई अन्तर नहीं है। कारण कि उल्लेख के इस उदाहरण में क्रिया 'दिखाई देता था, प्रतीत होता था' ऐसी कुछ न होकर 'बभूव'-'था' यह अस्तित्वमात्रवाचक (क्रिया) ही है। ऐसी स्थिति में यहाँ भी 'वचनादि' को साधारणधर्म मानकर राजा पर 'गुरु' आदि का आरोप ही प्रतीत होता है और चमत्कार भी उसी आरोप में है, अनेक प्रकार से ज्ञान में नहीं। अर्थ यह कि यहाँ अभेद के ज्ञान में चमत्कार है अनेकत्व के ज्ञान में नहीं। अनेकत्व यहाँ केवल मालात्व का जनक है। यदि केवल इतना भी कह दिया जाता कि 'प्रत्यपद्यत पृथुर्हृदयेऽस्तावर्जुनो यशसि वाचि गुरुश्च' 'यह राजा वक्षःस्थल में पृथु, यश में अर्जुन, वाणी में गुरु प्रतीत होता था' तो यहाँ ज्ञानगत अनेकत्व द्वारा चमत्कार आ जाता और रूपक न होकर उल्लेख ही होता। यहाँ ज्ञाता की एकता या अनेकता का कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह शब्दतः कथित नहीं है। ज्ञानगत अनेकत्व से चमत्कार की प्रतीति ही उल्लेख का प्राण है। मालारूपक में आरोपकृत चमत्कार ही प्रधान होता है, अनेकत्व उसका सहायकमात्र रहता है। इस कारण ग्रन्थकार द्वारा 'ग्रहीतृगत अनेकत्व' का अनुपादान हानिकर नहीं है। पण्डितराज और अप्पय्यदीक्षितद्वारा उसका उपादान करना ही अनावश्यक है।

अलंकाररत्नाकरकार ने उल्लेख का लक्षण 'एकस्यानेकधा कल्पनमुल्लेखः'–इस प्रकार किया है। 'कल्पन' का अर्थ करते हुए उन्होंने लिखा है—'कल्पनं···वैकल्पिकः प्रत्ययः'–अर्थात् विकल्प पूर्ण ज्ञान का नाम 'कल्पन' है। इसे उन्होंने स्वारसिक=लौकिक तथा कल्पित दोनों प्रकार का

माना है किन्तु स्वारसिक को स्वतन्त्र मान कर कल्पित = उत्पाद्य को स्वारसिक मिश्रित मान लिया है।

विमर्शिनीकार केवल मिश्रित को ही उल्लेख-जनक मानते हैं। मूल के 'ग्रहण'-शब्द का वे यही अर्थ करते हैं। सोचना यह है कि क्या वे दोनों विकल्प उल्लेख के प्रत्येक स्थल में वस्तुतः मिश्रित ही रहते हैं। उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। 'नाराअगो०' उदाहरण में अलंकारसर्वस्वकार के ही समान अलंकाररत्नाकरकार को भी उल्लेख मान्य है विमर्शिनीकार को भी इस उदाहरण में कोई आपत्ति नहीं है। इसमें वृद्ध, जवान और नवेली स्त्रियाँ द्वारा एक ही कृष्ण का जिन जिन रूपों का ज्ञान किया गया है वे सब स्वारसिक ही हैं कल्पित नहीं। कृष्ण को किसने क्या माना इसे कविने सोचा तो स्वयं ही है, अतः इसमें कल्पना तो अवश्य है किन्तु यह कल्पना तो काव्यमात्र का असाधारण आधार है। देखना यह है कि कल्पित वस्तु लौकिक है या केवल कल्पनाप्रसूत। केवल कल्पनाप्रसूत वस्तु 'गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि०' है। यहाँ अंगभूत श्लेषद्वारा राजा में बृहस्पति आदि का बोध केवल काल्पनिक है, जिसका आधार वाणी आदि का लाभ है।

अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ दोनों ने उल्लेखालंकार के विषय में अलंकार-सर्वस्व, अलंकाररत्नाकर तथा विमर्शिनी तीनों की समस्त उपस्थापनायें अपना ली हैं। उन्होंने ज्ञातृगत अनेकत्व को महत्त्व देकर उसकी एकाङ्गिता का भी अनुभव किया है। इसीलिए विषय-भेदमूलक उल्लेख का लक्षण अलग करना पड़ा है—

'ग्रहीतृभेदाभावेऽपि विषयाश्रयभेदतः।

एकस्यानेकधोल्लेखमप्युल्लेखं प्रचक्षते ॥' चित्रमी० पृ० २३० काशी सं० १९६५

'प्रकारान्तरेणाप्युल्लेखो दृश्यते यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसामानाधिकरण्यादीनां सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम्।'

रसगं० पृ० ३६१ नि० सा० सं० ६, सं० १९४७

किन्तु अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डित उल्लेख को अतिशयोक्तिरूप ही मानते हैं, उसका अलग अस्तित्व नहीं। संजीविनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अलंकारसर्वस्व के उल्लेख सम्बन्धी संपूर्ण विवेचन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'नानाधर्मबलादेकं यदि नानैव गृह्यते।
नानारूपसमुल्लेखात् स उल्लेख इति स्मृतः ॥ १ ॥
यदेकं तद्धि नानेति गृह्यते रूपभेदतः।
रुच्यादिवशतो लोके नानात्वं चेदकृत्रिमम् ॥ २ ॥
अतद्रूपस्य ताद्रूप्यान्न ह्यसौ भ्रान्तिरिष्यते।
न चाप्यतिशयोक्तिः स्यादभेदे भेदरूपिणी ॥ ३ ॥
आद्ये नानेकधात्वं स्याज्ज्ञातृभेदो न चान्तिमे।
विषयज्ञातृभेदाभ्यां विना नोल्लेखसंभवः ॥ ४ ॥
यद्यपि श्लेषतो बाधो न तथाप्यस्य निह्नवः।
अनपेक्ष्यापि यच्छ्लेषं तत्रैव स्यातुमर्हसि ॥ ५ ॥

धर्मगत अनेकता के कारण एक ही वस्तु जो अनेक प्रकार से भासित होती है वही उल्लेख नामक अलंकार है। यद्यपि एकत्व और अनेकत्व परस्पर विरोधी हैं तथापि रूपगत भेद को लेकर वे एक ही वस्तु में संभव हैं। रूपभेद होता है रुचि आदि के कारण। यही अनेकत्व यदि लोक में होता है तो अकृत्रिम अनेकत्व कहलाता है।

इसमें भिन्न वस्तु को भिन्न वस्तु के साथ तादात्म्यप्रतीति रहने मात्र से इसे भ्रान्ति नहीं कहा जा सकता और न अभेद में भेद प्रतीति की शङ्का से अतिशयोक्ति ही। क्योंकि प्रथम (भ्रान्ति) में चमत्कार अनेकधात्व पर निर्भर नहीं रहता और द्वितीय में ज्ञातृगत अनेकता पर-जब कि उल्लेख में चमत्कार विषय या इच्छा दोनों में से किसी एक के अनेकत्व के बिना सम्भव नहीं होता।

यद्यपि यह अलङ्कार श्लेष से बाधित हो जाता है। तथापि इसका अभाव नहीं माना जा सकता क्योंकि बिना श्लेष के भी यह अलङ्कार तत् तत् स्थलों में अनुभवगोचर होता है।

सूचना—इस अलङ्कार के मूल और टीका दोनों को ही अनेक स्थलों में हमने ठीक किया है। मूल में 'विच्छित्त्यन्तररूपत्वात्। सर्वथा'—पंक्ति निर्णयसागरीय संस्करण के ही समान मोतीलाल बनारसीदास संस्करण में भी 'विच्छित्त्यन्तररूपत्वात्सर्वथा' इसी प्रकार छपी रह गई है।

इसी प्रकार उक्त दोनों संस्करणों में 'गुरुर्वचसि' नहीं है। डॉ० रा० च० द्विवेदी ने इस कमी पर ध्यान दिया है और 'पृथुरुरसि' के स्थान पर इसी पाठ को स्वीकार किया है तथापि छपा 'पृथुरुरसि' ही है 'गुरुर्वचसि' नहीं। हमने इन दोनों को स्वीकार कर लिया है कारण कि रत्नाकरकार ने और उनके अनुसरण पर अप्पय्यदीक्षित ने भी इन दोनों ही को अपनाया है। केवल दो की अपेक्षा तीन का उल्लेख अधिक चमत्कारक भी होता है।

[सर्वस्व]

[सू० २१] विषयस्यापह्नवेऽपह्नुतिः।

वस्त्वन्तरप्रतीतिरित्येव। प्रकान्तापह्नवधर्म्येणेदमुच्यते। आरोपप्रस्तावादारोपविषयापह्नुतावारोप्यमाणप्रतीतावपह्नुत्याख्योऽलंकारः। तस्य च त्रयी बन्धच्छाया, अपह्नवपूर्वक आरोपः, आरोपपूर्वकोऽपह्नवः। छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादकैर्वापह्नवनिर्देशः। पूर्वोक्तभेदद्वये वाक्यभेदः। तृतीयभेदे त्वेकवाक्यत्वम्। आद्यो यथा—

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां प्रकुरुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा।
अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम्॥'

अत्रेन्दवस्य शशस्यापह्नवे उपक्षिप्ते शशकप्रतिवस्तुकिणवत इन्दोरारोपो नान्वयघटनां पुष्यतीति न निरवद्यम्। तत्तु यथा—

'पूर्णेन्दोः परिपोषकान्तवपुषः स्फारप्रभाभास्वरं
नेदं मण्डलमभ्युदेति गगनाभोगे जिगीषोर्जगत्।
मारस्योच्छ्रितमातपत्रमधुना पाण्डुप्रदीपश्रिया
मानोन्नद्धजनाभिमानदलनोद्योगैकहेवाकिनः॥'

द्वितीयो यथा—

'विलसदमरनारीनेत्रनीलाब्जषण्डा-
न्यधिवसति सदा यः संयमाधःकृतानि।

न तु रुचिरकलापे वर्तते यो मयूरे
वितरतु स कुमारो ब्रह्मचर्यश्रियं वः ॥'

तृतीयो यथा—

'उद्भ्रान्तोज्झितगेहगूर्जरवधूकम्पाकुलोच्चैःकुच-
प्रेङ्खोलामलहारवल्लिविगलन्मुक्ताफलच्छद्मना ।
सार्धं त्वद्रिपुभिस्त्वदीययशसां शून्ये मरौ धावतां
भ्रष्टं राजमृगाङ्क ! कुन्दमुकुलस्थूलैः श्रमाम्भःकणैः ॥'

अत्र शून्य इत्यस्य स्थाने मन्येशब्दप्रयोगे सापह्नवोत्प्रेक्षा इत्यपि स्थापयिष्यते, 'अहं त्विन्दुं मन्ये' इति तु वाक्यभेदे मन्येशब्दप्रयोगेनोत्प्रेक्षेति च वक्ष्यते । एतस्मिन्नपि भेदोऽपह्नवारोपयोः पौर्वापर्यप्रयोगविपर्यये भेदद्वयं सदपि न पूर्ववच्चित्रतावहमिति न भेदत्वेन गणितम् । तत्रापह्नवपूर्वके आरोपे निरन्तरमुदाहृतम् । आरोपपूर्वके त्वपह्नवे यथा —

'ज्योत्स्नाभस्मच्छुरणधवला बिभ्रती तारकास्थी-
न्यन्तर्धानव्यसनरसिका रात्रिकापालिकीयम् ।
द्वीपाद्द्वीपं भ्रमति दधती चन्द्रमुद्राकपाले
न्यस्तं सिद्धाञ्जनपरिमलं लाञ्छनस्य च्छलेन ॥'

क्वचित्पुनरसत्यत्वं वस्त्वन्तररूपताभिधायि-वपुः—शब्दादिनिबन्धनं यथा—

'अमुष्मिँल्लावण्यामृतसरसि नूनं मृगदृशः
स्मरः शर्वप्लुष्टः पृथुजघनभागे निपतितः ।
यदङ्गाङ्गाराणां प्रशमपिशुना नाभिकुहरे
शिखा धूमस्येयं परिणमति रोमावलिवपुः ॥' इति ।

[सूत्र २१] विषय का अपह्नव हो तो [अलंकार] अपह्नुति [कहलाता है] ।

[वृत्ति] [सूत्र में-]-'भिन्न वस्तु की प्रतीति'-इतना [भ्रान्तिमान् के लक्षण से ही] चला आता है । प्रस्तुत का जो अपह्नव, तद्रूपी वैधर्म्य के कारण यह [अपह्नुतिलक्षण उल्लेख भ्रान्तिमान् आदि से पृथक्] बतलाया जा रहा है । प्रकरण आरोप का है, अतः 'विषय' का अर्थ है आरोप का विषय । उसका अपह्नव [तिरोधान] बतलाया जाय और आरोप्यमाण अर्थ का ज्ञान कराया जाय तो अलंकार का नाम अपह्नुति होता है । उस [अपह्नुति] का वाक्य विन्यास तीन प्रकार से होता है (।) जिसमें अपह्नव पूर्वक आरोप होता है, (।।) जिसमें आरोपपूर्वक अपह्नव होता है और (।।।) जिसमें असत्यत्वप्रतिपादक 'छल'-आदि शब्दों से अपह्नव का निर्देश रहता है । प्रथम दो भेदों में [से प्रत्येक में] वाक्य बदल जाते हैं [एक वाक्य नहीं रहता] किन्तु तृतीय भेद में वाक्य एक ही रहता है । प्रथम का उदाहरण यथा—

'यह जो चन्द्रमा के मध्य मेघखण्ड की लीला बिखेर रहा है इसे लोग खरगोश कहते हैं परन्तु मुझे वैसा नहीं लगता । मैं तो चन्द्रमा को आपकी शत्रुस्त्रियों के कटाक्ष की उल्का से दगा अतएव घाव की कालिख से युक्त मानता हूँ ।'

किन्तु यह उदाहरण सर्वथा निर्दोष नहीं है, क्योंकि इसमें अपह्नव तो हो रहा है चन्द्र के खरगोश का और आरोप किया जा रहा है खरगोश के समान कलंक से युक्त चन्द्रमा का [जब कि किया जाना चाहिए था केवल कलंक का ही] अतः इस वाक्य में अर्थसंगति बैठती नहीं है। निर्दोष उदाहरण यह है—

'आकाश मण्डल में पर्याप्त मात्रा से बिखरती प्रभा से चमचमाता वह परिपोष से कान्त शरीर के पूर्ण चन्द्र का बिम्ब उदित नहीं हो रहा, अपितु मान गर्वित व्यक्तियों का गर्व चूर्ण करने का उद्यम ही जिसकी प्रधान लीला है ऐसे सम्पूर्ण विश्व को जीतने के इच्छुक कामदेव का प्रदोषलक्ष्मी (सन्ध्याश्री) से पीला पड़ा आतपत्र [राजचिह्न = श्वेतछत्र] फैलाया जा रहा है।'

द्वितीय का उदाहरण यथा—

'जो सविलास अप्सराओं के नेत्ररूपी नीलकमलों को अपने संयम से नीचा कर सदैव उन्हीं पर बैठता है, न कि सुन्दर पिच्छ वाले मयूर पर वह कुमार [कार्त्तिकेय] आपको ब्रह्मचर्यश्री प्रदान करे।'

तृतीय का उदाहरण—

'हे राजेन्द्र ! घर छोड़कर भागे गुर्जरदेशाधिपति की घबराई हुई वधुओं के काँपते हुए तथा तद्गम तद्गम उन्नत पयोधरों पर झूलती विमल हारलताओं से टपकते मोतियों के बहाने आपके शत्रुओं के साथ शून्य मरुस्थल में भाग रहे आपके यशों से कुन्दकली सी स्थूल, पसीने की बूँदें टपक रही थी।'

—इसी पद्य में 'शून्य' शब्द के स्थान पर 'मन्ये'-शब्द प्रयोग हो तो 'सापह्नव उत्प्रेक्षा'-होती है ऐसा तय किया जावेगा, किन्तु यह भी बतलाया जावेगा कि भले ही 'मन्ये'-शब्द का प्रयोग हो किन्तु यदि 'मैं तो चन्द्र को मानता हूं'—इत्यादि [पूर्वोक्त क्रम से] वाक्य बदल जावे तो उत्प्रेक्षा नहीं होती। इस [तृतीय भेद] में भी दो भेद हो सकते हैं यदि अपह्नव और आरोप का पूर्वपश्चाद्भाव (आगे पीछे रखने) का जो प्रयोग होता है उसे उलट दिया जाए। किन्तु इन भेदों में पहले बतलाए भेदों के समान कोई चमत्कार नहीं रहता अतः इन्हें भेदरूप से नहीं गिना। उदाहरणार्थ इन [दोनों भेदों] में से अपह्नवपूर्वक आरोप का उदाहरण अभी यहीं दिया गया [उद्भ्रान्तो०] पद्य। आरोपपूर्वक अपह्नव का उदाहरण यह पद्य हो सकता है—

[काली कुरूप होने पर भी] 'चाँदनीरूपी भस्मी पोत सफेद झक बनी तारकरूपी अस्थियाँ लिए हुए [तथा] अन्तर्हित होने की आदत में डूबी, यह रात्रि रूपी कापालिकी चन्द्र-बिम्बरूपी मुण्डकपाल में सिद्धाञ्जन का आँजन लाञ्छन के बहाने धारण कर एक द्वीप से दूसरे द्वीप फिरा करती है।'

कहीं कहीं असत्यत्व 'वपु' 'शरीर' आदि शब्द के आधार पर प्रतिपादित किया जाता है, जो वस्त्वन्तर के वाचक होते हैं। यथा—

'शिवजी ने कामदेव के शरीर में आग लगाई तो निश्चित ही वह [मृगाक्षी] के इस विशाल जघन भाग [तटें]—रूपी लावण्यामृत सरोवर में आ कूदा है। नाभिकुहर में उसी के अंग रूपी अंगारों के बुझाने की सूचना देने वाली यह धूमशिखा है जो रोमावली के आकार में में परिणत होती जा रही है।'

विमर्शिनी

विषयस्येत्यादि । वस्त्वन्तरेति । भ्रान्तिमतोऽनुवर्तत इति शेषः । अत एव केचन मण्डूकप्लुतिन्यायेनानुवर्तनस्यानुचितत्वाद् भ्रान्तिमदनन्तरमपह्नुतिर्ग्रन्थकृता लक्षिता उल्लेखश्चातिशयोक्त्यनन्तरमिति ग्रन्थं विपर्यासितवन्तः । न चैतत् । यत उल्लेखस्तावदतिशयोक्त्यनन्तरं ग्रन्थकृता न लक्षितः । यद्वक्ष्यति—'एवमध्यवसायाश्रयेणालंकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलंकारा इदानीमुच्यन्ते । तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन तेषां द्वैविध्येऽपि पदार्थगतमलंकारद्वयं क्रमेणोच्यते' इति । तस्माद्वस्त्वन्तरप्रतीतेर्भावाद्भ्रान्तिमदनन्तरमेवास्य ग्रन्थकृता लक्षणं कृतम् । अत एव चोल्लेखेऽपि तत्संभवाद्वस्त्वन्तरप्रतीतेर्निरन्तरमेवानुवर्तनादिहैवास्या लक्षणमुचितमिति यथास्थित एव ग्रन्थः साधुः । यद्येवं तदुल्लेखापह्नुत्योरिहैव विपर्ययेण किं न लक्षणं कृतमित्याशङ्क्याह—प्रक्रान्तेत्यादि । इदमित्यपह्नुतिलक्षणम् । तदेव व्याचष्टे—आरोपेत्यादिना । विषयस्यापह्नवे विषयिणोऽन्यस्य विधिरित्यर्थः । तेन

> 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते ।
> विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं तु ससंततिम् ॥'

इत्यत्र विषस्य निषेधपूर्वं ब्रह्मस्वविषय आरोप्यमाणत्वाद् दृढारोपं रूपकमेव नापह्नुतिः । अपह्नुतेर्हि निषेध्यविषयभित्तितयैवान्यस्य विषयिणो विधानं लक्षणम् । अत्र तु निषेध्यस्यैव विषस्य ब्रह्मस्वविषये आरोप्यमाणत्वाद्विधानम् । अथ 'अत्र मुख्यस्य विषस्य निषेधे आरोप्यमाणत्वात् ब्रह्मस्वविषस्य गौणस्य विधानम्'—[अलंकाररत्नाकरे पृ० ४२] इति चेत्, तत्र ब्रह्मस्वविषस्य गौणस्य विधानमिति भणितेः कोऽर्थः । किं ब्रह्मस्वविषस्य विधानं, किं वा द्वन्द्वपदार्थवद्ब्रह्मस्वस्य च विषस्य च, ब्रह्मस्वे वा विषस्येति । तत्र नाद्यः पक्षः । विषादिन्यायेन ब्रह्मस्वविषात्मनः कस्यचिद्वस्तुनो बहिरसंभवात् । तत्राप्यस्य ब्रह्मस्वं विषं चेति न भेदेनोक्तिः स्यात् । नापि गौणता स्वार्थ एव प्रवृत्तेः । अन्यदन्यत्र वर्तमानं गौणमित्युच्यते । न चात्र ब्रह्मस्वविषमन्यत्र कुत्रचिद्वर्तते येनास्य गौणता स्यात् । एवं द्वितीयेऽपि पक्षे न गौणत्वं युक्तम् । नाप्यत्रोभयविधिः । ब्रह्मस्वविषये विषस्यैव विधीयमानत्वात् । तृतीयेऽपि न गौणस्य सतो विषस्य विधानम् । ब्रह्मस्ववृत्त्यभावान्मुख्यार्थबाधाद्गुणेषु वर्तनात् विहितस्य तस्य गौणत्वात् । एवं ब्रह्मस्वस्य दार्ढ्येन विषसाम्यप्रतीतिप्रतिपिपादयिषया तत्र निषेधपूर्वं विषमारोपितमिति दृढारोपमेव रूपकं युक्तम् । न ब्रह्मस्वं विषमिदमिति पुनरुच्यमानेऽपह्नुतिः स्यात् । तस्माद् 'मुख्यस्य येऽस्यपास्य विषयस्यापह्नवेऽन्यविधिरपह्नुतिरित्येव लक्षणं कार्यम् ।

'वस्त्वन्तर'— इसकी अनुवृत्ति होती है अर्थात् भ्रान्तिमान् अलंकार से । इस प्रकार यहाँ जो अनुवृत्ति है वह बीच के उल्लेख को छोड़कर हुई है जैसे ही जैसे मेंढक की कूद होती है । कुछ टीकाकार ऐसी अनुवृत्ति को अनुचित मान टीका करते हैं कि अपह्नुति को ग्रन्थकार ने भ्रान्तिमान् के बाद और उल्लेख को अतिशयोक्ति के बाद बतलाया है । और ऐसा मान उन्होंने ग्रन्थ में उलट फेर कर दिया है । किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि उल्लेख को ग्रन्थकार ने अतिशयोक्ति के पश्चात् नहीं बतलाया है । यह तथ्य उनकी अतिशयोक्ति के इस उपसंहार वाक्य से स्पष्ट है—
—'एवमध्यवसायाश्रयेण—क्रमेणोच्यते—' । इसलिए [उल्लेख में भी] वस्त्वन्तरप्रतीति के रहने से यही मानना ठीक है कि ग्रन्थकार ने इसका लक्षण भ्रान्तिमान् के ही बाद किया है । इस प्रकार उल्लेख में वस्त्वन्तरप्रतीति का सद्भाव सिद्ध हो जाने पर अनुवर्तन में कोई व्यवधान नहीं

आता, अतः इसका लक्षण यहाँ ठीक है और इसलिए ग्रन्थ जिस स्थिति में यहाँ है उसी स्थिति में उसका रहा आना ठीक है। (शंका) 'यदि ऐसा है तो यहाँ भी अपह्नुति को ही उल्लेख के बाद निरूपित क्यों किया, क्यों नहीं [इसके विपरीत] उल्लेख को अपह्नुति के बाद निरूपित किया गया'—इस पर [उत्तर देते हुए] कहते हैं—'प्रक्रान्त०' इत्यादि। इदम् = अर्थात् अपह्नुति का लक्षण। उसी की व्याख्या करते हैं—आरोप इत्यादि द्वारा। अर्थ यह कि 'विषय का अपह्नव होने पर तद्भिन्न विषयी का विधान' – [यह अपह्नुति का निष्कृष्ट लक्षण हुआ]। इसलिए—

'विष को विष नहीं कहा जाता, विष कहा जाता है ब्राह्मणधन को। विष केवल अकेले एक व्यक्ति को मारता है किन्तु ब्राह्मणधन व्यक्ति और उसकी सन्तान को भी।'

—यहाँ दृढारोप रूपक ही है क्योंकि यहाँ ब्रह्मस्व-[ब्राह्मणधन] पर विषका निषेधपूर्वक आरोप किया जा रहा है, अपह्नुति नहीं [जैसा कि अलङ्काररत्नाकर ने माना है]। अपह्नुति वहाँ होती है जहाँ विधान विषयी का होता है और वह भी उसी विषय पर जिसका निषेध किया गया हो। यहाँ जिस विष का निषेध किया जा रहा है उसीका ब्राह्मणधन पर आरोप किया गया है अतः उसीका विधान है [अर्थात् विष ही निषेध्य विषय है और विष ही ब्राह्मणधन पर आरोपित होने वाला विषयी]। यदि [आप = अलङ्काररत्नाकरकार शोभाकर] यह कहें कि—'यहाँ निषेध विषशब्द के मुख्य अर्थ का किया जा रहा है और विधान उसके गौण अर्थ ब्राह्मणविष का क्योंकि आरोप उसीका किया जा रहा है'—तो [बतलाइए कि आपके] 'विषशब्द के गौण अर्थ ब्रह्मस्वविष का विधान किया जा रहा है'। इस कथन का क्या अर्थ है—यहाँ 'ब्रह्मस्वविष' इस शब्द का अर्थ (१) 'ब्रह्मस्वरूपी विषका विधान' यह है या (२) ब्रह्मस्व का और विष का विधान जैसा कि द्वन्द्व समास होने पर होता है अथवा (३) ब्रह्मस्व पर विष का। इन तीनों में प्रथम पक्ष अमान्य है क्योंकि विषादि (?) न्याय से ब्रह्मस्वविषरूप किसी वस्तु की [कल्पना से] पृथक् उपलब्धि सम्भव नहीं। यदि ऐसा होता भी 'ब्रह्मस्व विष है' इस प्रकार [ब्रह्मस्व को विष से] भिन्न करके नहीं कहा जा सकता। यहाँ गौणता भी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मस्वशब्द और विषशब्द यहाँ अपने प्रथम अर्थ के ही वाचक बन रहे हैं। गौण तो अन्य अर्थ में प्रयुक्त अन्यार्थवाचक को कहते हैं।

ब्रह्मस्व-विष शब्द किसी भी अन्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जिससे उसे गौण माना जावे। इस प्रकार द्वितीय पक्ष में भी गौणता सम्भव नहीं है] यहाँ [ब्रह्मस्व = ब्राह्मण और] दोनों का ही विधान हो ऐसा भी नहीं, क्योंकि ब्रह्मस्व को विषय बनाकर विष का ही यहाँ विधान किया जा रहा है। तृतीय पक्ष में भी यदि विष गौण है तो उसका विधान संभव नहीं है [ब्रह्मस्व में विषशब्द की] वृत्ति [अभिधा] नहीं है, अतः [वहाँ विषशब्द का] मुख्य अर्थ बाधित हो जाता है फलतः वह [घातकत्व, मारकत्व आदि] गुणों का प्रतिपादक बन जाता है। और इसलिए उसका अर्थ विधेय होने पर भी गौण होता है। इस प्रकार ब्रह्मस्व को दृढतापूर्वक विष के समान प्रतिपादित करने की इच्छा से उस [विष] पर निषेधपूर्वक विषका ही आरोप किया गया है, इसलिए इसे दृढारोप रूपक ही मानना उचित है। अपह्नुति तब होती जब यह कहा जाता कि 'यह ब्रह्मस्व नहीं, विष है'। इस कारण 'मुख्यस्य वा' = अथवा मुख्य अर्थ का यह अंश हटाकर केवल 'विषयस्य = विषय का अपह्नव होने पर अर्थ का विधान अपह्नुति'—केवल इतना ही लक्षण बनाया जाना चाहिए [न कि अलंकाररत्नाकर के समान—'विषयस्य मुख्यस्य वा अपह्नवे अन्यविधिरपह्नुतिः'—इतना]।

विमर्श :—(१) पण्डितराज जगन्नाथ ने इस विषय में विमर्शिनीकार का अनुमोदन किया है और उनके मतको प्रमाणरूप से प्रस्तुत करते हुए यहाँ दृढारोपरूपक ही स्वीकार किया है।

(२) मूल में 'प्रक्रान्तापह्नववैधर्म्येण'—के स्थान पर निर्णयसागरीयसंस्करण के पाठान्तर में 'विषयानपह्नववै०' यह पाठान्तर दिया है। श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इसीको मूल पाठ माना है। तदनुसार डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने भी यही स्वीकार किया है। विमर्शिनी में इसपर कोई विवेचन नहीं है। हमें 'प्रक्रान्तापह्नव०' भी ठीक जँचता है। वैधर्म्य प्रकृत अलंकार में दिखाया जाना उचित है। अपह्नुति में अपह्नव से ही रूपक, उल्लेख और भ्रान्तिमदलंकार का वैधर्म्य आता है। अन्य अलंकारों में अनपह्नव रहता है, इसलिए उनमें अपह्नुति का अथवा अपह्नुति में उनका वैधर्म्य रहता है ऐसा कहना तब संभव है जब अपह्नव का ज्ञान हो जावे; अतः जब अपह्नव का आश्रय आवश्यक ही है तब उसी के आधार पर सीधे-सीधे वैधर्म्य का प्रतिपादन कहीं अधिक अच्छा है।

(३) 'इदमुच्यते'—का तात्पर्य टीकाकारों ने अलग-अलग बतलाया है। संजीविनीकार 'इदम्' को क्रियाविशेषण मानकर 'उच्यते' से अन्वित करते हैं और विमर्शिनीकार उसे 'लक्षण' के लिए प्रयुक्त मानते हैं। संजीविनीकार इस पंक्ति का अभिप्राय अपह्नुति का भ्रान्तिमान् से पार्थक्य बतलाना मानते हैं और विमर्शिनीकार उल्लेख तथा अपह्नुति में अपह्नुति का प्रतिपादन उल्लेख के पहिले न कर बाद में करने का कारण प्रतिपादन करना। वस्तुतः संजीविनीकार का ही पक्ष अधिक सारपूर्ण है। उल्लेख और अपह्नुति के पौर्वापर्यमात्र की अपेक्षा अन्य अलंकारों से अपह्नुति का स्वतन्त्र अस्तित्व बतलाना अधिक महत्त्व रखता है।

(४) **अलंकाररत्नाकरकार** ने अपह्नुति का विवेचन इस प्रकार किया है—

[सू०] 'विषयस्य मुख्यस्य वाऽपह्नवे अन्यविधिरपह्नुतिः।'

[वृ०] 'आरोपविषयस्य निषेधे विषयिणो विधानमेका, मुख्यस्य चन्द्रादेरन्यस्य मुखचन्द्रादेः गौणस्य विधिरपरापह्नुतिः।

—[सू०] विषयका अथवा मुख्य का अपह्नव हो और अन्य का विधान हो वहाँ अपह्नुति होती है। अर्थात्

[वृ०]—'आरोप विषय का निषेध हो और विषयी का विधान'—यह एक प्रकार की अपह्नुति होती है। इसके अतिरिक्त 'मुख्य [अभिधेयार्थ] चन्द्र आदि से भिन्न गौण मुख—चन्द्र आदि का विधान' दूसरी अपह्नुति। इनमें से प्रथम का उदाहरण तो काव्यप्रकाश आदि में प्रसिद्ध 'अवाप्तः प्रागल्भ्यं परिणत०' इत्यादि पद्य माना है किन्तु द्वितीय का 'न वयं विषम्'० इत्यादि पद्य ही। इसी पर इनकी पंक्ति है—'अत्र मुख्यस्य विषस्य निषेधे अप्रस्तुत-विषस्य विधानम्' जिसे विमर्शिनीकार ने उद्धृत किया है। यहाँ परिसंख्या सी प्रतीत होती है। वस्तुतः इस पद्य में दृढारोप, अपह्नव, परिसंख्या तथा व्यतिरेक का सन्निपात है।

(५) नि० सा० संस्करण में—अपह्नुतेर्हि निषेध्य०' के स्थान पर 'नापह्नुतेर्हि निषेध्य०' इस इस प्रकार उलटा पाठ छपा है। इसी प्रकार 'मुख्यस्य वेत्य०' के स्थान पर 'मुख्यस्येवेत्य०'।

विमर्शिनी

तस्येत्यपह्नुत्याख्यस्यालंकारस्य। वाक्यभेद इति एकवाक्यमिति चानेन यथासंभवं भेदत्रयस्य स्वरूपनिर्देशः कृतः। न निरवद्यमिति। यथोक्तक्रमनिर्वाहाभावात्। अत एवोदाहरणान्तरमाह—पूर्णेन्दोरित्यादि। मन्येशब्दस्य प्रयोग इति संभावनाद्योतकत्वात्। नोत्प्रेक्षेति। साध्यवसायाद्युत्प्रेक्षासामग्र्यभावात्। वक्ष्यत इति। उत्प्रेक्षायाम्। तथा चास्या इवादिशब्दवन्मन्येशब्दोऽपि प्रतिपादकः। किंतूत्प्रेक्षासामग्र्यभावे मन्येशब्दप्रयोगो वितर्कमेव प्रतिपादयतीति। अतश्चात्र 'अवाप्तः प्रागल्भ्यम्—इत्यादावपह्नुत्युदाहरणत्वमभिदधतः समानेऽपि न्याये 'नो मां प्रति तथा'

इत्यनेन शशकपक्षस्य निराकृतत्वादन्यस्यान्यरूपतया संभावनाया अभावात् मन्य'-इत्यनेन क्रियपक्षस्यैव निश्चितत्वादतिशयोक्तित्वमेवेति मन्यन्ते (अलंकाररत्नाकरकारादय)। तेषां पूर्वापरविचारकुशलानां किमिदघ्मः। एवमन्यैरत्रान्यत्र चोदाहरणादौ बहुप्रकारं स्खलितं तत् पुनर्ग्रन्थविस्तरभयाद्, अस्मद्दर्शनदत्तदूषणोद्धरणस्यैव प्रतिज्ञातत्वात्, अस्माभिः प्रतिपदेन न दूषितम्।

तस्य = उसका = अपह्नुति-अलंकार का वाक्यभेद तथा एकवाक्य ऐसा कहकर तीनों भेदों का स्वरूप यथासंभव बतलाया गया। 'न निरवद्यम्' = 'निर्दोष नहीं है' इसलिए कि यथोक्त क्रम का निर्वाह नहीं हुआ [निषेधविषय पर आरोपविषयमात्र का आरोप न कर उससे युक्त पदार्थ का आरोप करने से ऐसा हुआ] इसीलिए एक अन्य उदाहरण दिया—'पूर्णेन्दो'। 'मन्ये'-शब्दस्य प्रयोगे' = 'मन्येशब्द का प्रयोग होने पर' क्योंकि ['मन्ये'शब्द] संभावना का द्योतक होता है। नोत्प्रेक्षा = उत्प्रेक्षा नहीं होती क्योंकि 'साध्यवसायत्व' आदि उत्प्रेक्षा-सामग्री का अभाव रहता है। 'वक्ष्यते' = 'कहा जा रहा' अर्थात् उत्प्रेक्षा के प्रकरण में। अर्थ यह हुआ कि इव आदि शब्दों के समान उस [अपह्नुति] का वाचक 'मन्ये'-शब्द भी—होता है। किन्तु यदि उत्प्रेक्षासामग्री का अभाव हो तो 'मन्ये'-शब्द का ही प्रतिपादक होता है। इसलिए *'अवाप्त प्रागल्भ्यम्'-इत्यादि पद्यों को जो [अलंकाररत्नाकरकार आदि] समालक अपह्नुति का उदाहरण बतलाते हैं'* वे ही 'यदेतच्चन्द्रा०' पद्य में स्थिति समान रहने पर भी अतिशयोक्ति मानते हैं और कहते हैं कि यहां 'नो मा प्रति तथा' = 'मुझे ऐसा नहीं लगता'—यह कहकर 'शशक' का निराकरण कर दिया गया है और अन्यपदार्थ की अन्यपदार्थ के रूप से संभावना न होने के कारण 'मन्ये = मानता हू'—ऐसा कहकर किण-पक्ष को ही निश्चित किया गया है। [द्र० अलङ्कारसर्वस्व] उत्प्रेक्षा प्रकरण का अन्त ये समीक्षक सचमुच पूर्वापर विचार में बहुत कुशल हैं (व्यंग्योक्ति) इनने हम क्या कहें?

इसी प्रकार अन्य समीक्षकोंने भी यहां और अन्य अलंकारों में भी अनेक प्रकार की गलतियां की हैं किन्तु हम एक एक करके उन सब में दोष नहीं दिखला रहे हैं क्योंकि हमें ग्रन्थ विस्तार का भय है और हमने केवल उन्हीं पद्यों पर विचार करने की प्रतिज्ञा की है जो हमारे दर्शन [अलंकारसर्वस्व] में आए हैं।

विमर्श—अलंकाररत्नाकरकार ने 'यदेतच्चन्द्रान्तर्गत'० इस पद्य में अतिशयोक्ति मानते हुए जो विवेचन दिया है उसको विमर्शिनीकार ने-'नो मां प्रति तथा इत्यनेन—निश्चितत्वादतिशयोक्तित्वमेव'-इन शब्दों में जैसा का तैसा उतार दिया है। निर्णयसागरीय संस्करण में 'अतिशयोक्तित्वमेवेति'-के स्थान पर 'अतिशयोक्तिरेव' मूल में छापा गया है और पाठान्तर में 'अतिशयोक्तिम्' इस द्वितीयान्त पद का निर्देश कर दिया गया है। वस्तुतः वह 'अतिशयोक्तिरम्' का ही अशुद्ध लेख है, क्योंकि द्वितीयान्त पद मानने पर या तो आगे प्रयुक्त 'इति' हटानी पड़ती है क्योंकि उसके योग में कर्म में प्रथमा विभक्ति ही होती है या 'अतिशयोक्तिम्' को द्वितीया को प्रथमा बनाना पड़ता है, और निर्णयसागरीय संस्करण के संपादक उसे वैसा बना दिया हो—अलंकाररत्नाकर जिसके सामने न हो वह प्रत्येक विद्वान् ऐसा ही कर सकता है।

'अवाप्त॰ प्रागल्भ्यं परिणतरुचः शैलतनये कलङ्को नैवायं विलसति शशाङ्कस्य वपुषि।
अमुष्येयं मन्ये विगलदमृतस्यन्दशिशिरे रतिश्रान्ता शेते रजनिरमणी गाढमुरसि॥'

—हे पार्वति! परिपक्व कान्तिवाले [इस पूर्ण] चन्द्र के शरीर में यह कलङ्क नहीं है। मुझे लगता है कि इसके अमृतस्रावी अतएव शिशिर वक्ष पर इसकी रतिश्रान्त प्रिया रात्रि गहरी

नींद में सोई हुई है'।---इस स्थल में रत्नाकरकार ने अपह्नुति स्वीकार की है। विमर्शिनीकार का कथन है कि इस स्थल में भी अभिव्यक्ति वही है जो 'यदेतच्चन्द्रा०' स्थल में है। अर्थात् दोनों स्थलों में कलंक का निषेध किया गया है और उस पर तद्भिन्न [रात्रि तथा व्रणकिण] को 'मन्ये'--शब्द के प्रयोग के साथ प्रतिपादित किया गया है। रत्नाकरकार के अनुसार 'यदेतच्चन्द्रान्तर्गत' पद्य में संभावना का सर्वथा निराकरण कर दिया गया है 'यो मां प्रति तथा'-कहकर। [उनके अनुसार अपह्नुति में भी संभावना की पीठिका आवश्यक होती है] उनके इस कथन का अर्थ केवल इतना ही लगाया जा सकता है कि जहाँ संभावना का आत्यन्तिक निरास हो वहाँ उत्प्रेक्षा तो होती ही नहीं है अपह्नुति भी नहीं होती। 'यदेतच्चन्द्रान्तर्गत०' पद्य में विमर्शिनीकार के अनुसार यदि 'अवाप्तः प्रागल्भ्यम्' जैसी ही स्थिति हो तो वहां भी अपह्नुति ही माननी होगी। वस्तुतः संभावना की आवश्यकता अपह्नुति में रहती नहीं है। यहां निषेध द्वारा संभावना के बाध से ही चमत्कार होता है। निषेध भी संभावना का नहीं अपितु संभावना के विषय [मुख आदि] रहता है।

विमर्शिनी

एतस्मिन्निति छलादिशब्दप्रतिपाद्ये। संभवमात्रं पुनर्दर्शयितुमेतदुदाहृतम्। वस्त्वन्तररूपताभिधायीति। वपुःशब्दस्य शरीरार्थाभिधायित्वात्। अत्र पुनरुपमानस्योपमेयरूपतापरिणतौ परिणाम इति परिणामालंकारत्वं यदन्यैरुक्तं तदयुक्तम्। तत्त्वे हि धूमशिखान्यग्भावे तत्परिणतिरूपरोमावलीप्राधान्यं स्यात्। इह पुनः शर्वप्लुष्टमदननिपतनानुमापकत्वेन रोमावल्यपह्नवे धूमशिखाया एवं प्राधान्यं विवक्षितमिति न परिणामः नापि रूपकम्। व्याजार्थपर्यवसायिवपुःशब्दबलादारोपविषयापह्नुतावारोप्यमाणस्य प्रतीतेः। आरोपविषयानपह्नवे हि रूपकमिति पूर्वमेवोक्तम्। अथात्रापि भिन्नयोः सामानाधिकरण्यायोगादेकतरस्य निषेधप्राप्तावारोप्यमाणस्य च निषेधानुपपत्तेरारोपविषयस्यैव पर्यवसाने निषेधः प्रतीयत इति चेत्, नैतत्। अत्र हि मुखादौ चन्द्रादेर्वृत्त्यभावाद् बाधितः संश्चन्द्रार्थः स्वात्मसहचारिणो गुणांल्लक्षयति न तु मुखादेर्विषयस्य निषेधः प्रतीयते। मुखशब्दादेः स्वार्थं एव प्रवृत्तेः। पर्यवसाने ह्यत्र मुखादि चन्द्रादिगुणविशिष्टं प्रतीयते। न तु मुखादेर्बाधः। न मुखमित्येवमादेः प्रत्ययमर्गाभावात्। नापि निदर्शना। संबन्धविघटनाद्यभावात्।

एतस्मिन् = इसमें अर्थात् छलादिशब्द से प्रतिपाद्य [अपह्नव निर्देश] में। यह जो [यदेतच्चन्द्र०] उदाहरण दिया है वह केवल संभवमात्र दिखलाने के लिए। 'वस्त्वन्तररूपताभिधायी='अन्यवस्तुस्वरूप होने का अभिधायक'=इसलिए कि वपुःशब्द शरीरार्थ का अभिधायक है। [अपह्नुति प्रसंग में अलंकाररत्नाकरकार ने 'अमुष्मिँल्लावण्यामृत०' पद्य में अपह्नव नहीं माना है। उन्होंने यहाँ परिणाम रूपक या निदर्शना स्वीकार करने का संकेत दिया है। इस पर विमर्शिनीकार आपत्ति देते हुए लिखते हैं—] इस [अमुष्मिँल्लावण्यामृत० पद्य] में उपमान के उपमेयरूप से परिणत होने के कारण अन्य कुछ सज्जनों ने परिणाम माना है। यह युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि यदि वैसा होता [परिणाम होता] तो धूमशिखा अप्रधान हो जाती और तत्परिणति रूप रोमावली ही प्रधान रहती। किन्तु यहाँ रोमावली शिवदग्ध कामदेव के डूबने का अनुमापक बतलाई गई है। यह तभी संभव है जब रोमावली रूप से उसका अपह्नव हो और उसमें धूमशिखात्व स्वीकार किया जाय। इस प्रकार यहाँ धूमशिखा ही प्रधान है अतः यहाँ परिणाम नहीं है।

यहाँ रूपक भी नहीं है। यहाँ वपु शब्द व्याज-(बहाना) रूपी अर्थ का प्रतिपादक है। उसके आधार पर आरोप विषय [रोमावली] का अपह्नव [निषेध] हो जाता है और उसपर आरोप्यमाण [धूमशिखा] की प्रतीति होती है। जबकि रूपक आरोपविषय का अपह्नव न होने पर ही होता है जैसा कि पहिले बतलाया जा चुका है। [अलङ्काररत्नाकरकार ने रूपक के विषय में जो यह कहा है कि]—'यहाँ [रूपक में] भी भिन्न भिन्न दो वस्तुओं का ऐक्य प्रतिपादित तो रहता है परन्तु वास्तविकरूप से वह बनता नहीं है अत यहाँ भी किसी एक का निषेध आवश्यक होता है और क्योंकि आरोप्यमाण पदार्थ [विधेय होता है अत उस] का निषेध संभव नहीं होता फलत वह आरोपविषय विषयक ही अन्त में ठहरता है—[द्रष्टव्य अ र अपह्नुति प्रकरण पृ० ४१]—यह भी ऐसा नहीं है। यहाँ ['मुख चन्द्र है'—इत्यादि रूपक में] चन्द्र आदि शब्दों की वृत्ति [अभिधा] मुख आदि पदार्थों में नहीं रहती अत 'चन्द्र' आदि अर्थ बाधित हो जाते हैं। बाधित होकर वे अपने साथ के अन्य गुणों को लक्षित [लक्षणा द्वारा प्रतिपादित] करते हैं। यहाँ मुखादि विषयों का निषेध प्रतीत नहीं होता क्योंकि यहाँ के [विषय वाचक] मुख आदि शब्द अपने मुख्य अर्थों का ही बोध कराते हैं। अन्त में वाक्यार्थ बोध के समय प्रतीति होती है कि—'मुख आदि चन्द्रादि के गुणों से युक्त हैं'। इसमें मुखादि [भी प्रतीत होते रहते हैं, उन] का बाध प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ऐसी कोई प्रतीति उस समय नहीं होती कि—'यह मुख नहीं है'।

यहाँ निदर्शना भी नहीं है क्योंकि सम्बन्ध के अभाव आदि यहाँ नहीं हैं।

विमर्श.—इस पूरे प्रसग का आधार अलंकाररत्नाकर का निम्नलिखित विवेचन है –

'अस्या सर्गविधौ॰' इत्यादौ०० पुराणस्य प्रजापतेर००० निषेधपर्यवसानादार्थ एवापह्नव। न तु 'अमुष्मिन् लावण्यामृतसरसि॰' इत्यादौ वपुःशब्दमुखेन निषेधप्रतीते. आर्थोऽपह्नव इति वाच्यम्, वपुरादिशब्दतुल्यार्थ-मयादि (शब्द) प्रयोगे 'तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानातर नाविकाय—' इत्यादावपह्नवप्राप्तौ परिणामादावप्यपह्नुतिप्रसङ्गात्। तेनात्र रूपकं निदर्शना वा। रूपके च भिन्नरूपतया प्रसिद्धयो सामानाधिकरण्यायोगे एकतरस्य निषेधप्राप्तौ अर्थात् आरोपविषयस्य पार्यवसानिकः प्रतीयमानो निषेधोऽभ्युपगन्तव्य। आरोप्यमाणस्य निषेधे आरोपवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। तत् प्रतीयमाननिषेधनिमित्त एवमादावपह्नवभ्रमः। न च निषेधस्य शाब्दस्वार्थत्वकृत एवापह्नुतिरूपकयोर्भेदः, अपि त्वस्या निषेधगर्भत्वादध्यवसायतुल्यत्वम्। [अल० रत्ना० अपह्नुति पृ० ४१]

अर्थात्—'अस्या. सर्गविधौ॰' इत्यादि स्थलों में पुराण प्रजापति निषेध में पर्यवसित होता है। अत यहाँ अपह्नव आर्थ है। किन्तु 'अमुष्मिन् ला०' में अपह्नव आर्थ नहीं है क्योंकि यहाँ 'वपुःशब्द' के द्वारा निषेध का ज्ञान करा दिया जाता है [अतः यहाँ निषेध शाब्द हो जाता है]। यदि यहाँ भी आर्थ अपह्नव मान लिया गया तो 'तस्मै सौमित्रिमैत्रीमयमुपहृतवानातर नाविकाय'= 'उस नाविक को लक्ष्मणमैत्रीरूप उतराई दी—' इत्यादि स्थलों में भी अपह्नव माना जाने लगेगा क्योंकि यहाँ भी वपुःशब्द का समानार्थक 'मय'—शब्द प्रयुक्त है और तब परिणामालंकार के सभी स्थलों में अपह्नुति अलंकार मानने की बात उठ खड़ी होगी। इसलिए यहाँ [अमुष्मिन्० पद्य में] रूपक या निदर्शना माननी चाहिए। रूपक जो है वह भी आरोप विषय का पार्यवसानिक निषेध ही है क्योंकि उसमें जो भिन्न भिन्न दो पदार्थों का सामानाधिकरण्य-[अभेदात्मक] निर्देश रहता है वह वस्तुत बनता नहीं। फलत. [आरोपविषय और आरोप्यमाण दोनों में से] किसी एक का निषेध होना ही है। यह निषेध यदि आरोप्यमाण का हो तो आरोप ही व्यर्थ हो जाए। इस प्रकार प्रतीयमान निषेध को लेकर ही यहाँ [अमुष्मिंला० में] अपह्नव का भ्रम हो

गया है। ऐसा नहीं है कि अपह्नुति और रूपक में निषेध के शाब्दत्व और आर्थत्वमात्र का अन्तर हो। यहाँ अपह्नुति में निषेध गर्भित रहने से आरोप अध्यवसायतुल्य हो जाता है।

विमर्शिनीकार ने रूपक में आरोप विषय में निषेध प्रतीति स्वीकार नहीं की। उन्होंने वहाँ आरोपविषय को सर्वथा अविकृत स्वीकार किया है। साथ ही आरोप्यमाण को ही बदलता हुआ बतलाया। उन्होंने आरोप्यमाण चन्द्र आदि के शब्दों को लाक्षणिक माना और उन्हें समानगुणपर्यवसायी बतलाया। यहाँ एक अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व पर ध्यान देना आवश्यक है। विमर्शिनीकार ने लिखा है कि 'चन्द्र आदि आरोप्यमाण पदार्थ बाधित होकर अपने साथ रहने वाले गुणों को लक्षित करते हैं।' यहाँ 'लक्षित'—शब्द का अर्थ निश्चित ही लक्षणाद्वारा प्रतिपादित करना अभिप्रेत है। फलतः यह अर्थ निकलता है कि लक्षणा का आरम्भ शब्द से नहीं अर्थ से होता है। यह तथ्य मम्मटाचार्य को भी मान्य है। उन्होंने भी 'लक्षणारोपिता क्रिया'—कहकर लक्षणा को अर्थनिष्ठ ही स्वीकार किया है। कुमारिलभट्ट, मुकुलभट्ट तथा परवर्ती वैयाकरणों का भी यही सिद्धान्त है। किन्तु मुख्यार्थ के साथ रहने वाले गुणों में लक्षणा मानना विचारणीय है। असाधारण धर्म मुखत्व और चन्द्रत्व को छोड़ने पर—

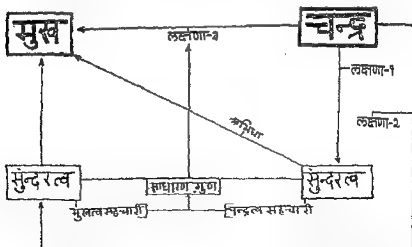
मुख	चन्द्र
सुन्दरत्व	सुन्दरत्व

—इस प्रकार आरोपविषय और आरोप्यमाण के पक्षों में जो दो दो घटक हैं उनमें से आरोप्यमाण चन्द्र को लक्षणा का विषय नहीं माना जा सकता, उससे तो लक्षणा का आरम्भ होता है। शेष तीन में से एक एक में लक्षणा मानने पर तीन ही पक्ष प्रस्तुत होते हैं। मम्मट के अनुसार इन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है—

१ = चन्द्र शब्द की लक्षणा अपने चन्द्रत्व के साथ रहने वाले सुन्दरत्व में अथवा—

२ = मुख के मुखत्व के साथ रहने वाले सुन्दरत्व में, अथवा—

३ = सुन्दरत्वादि साधारण धर्मों के आधार पर स्वयं मुख में। यह तथ्य निम्न चित्र से स्पष्ट है—



इनमें से प्रथम और द्वितीय को अमान्य और तृतीय को सिद्धान्त रूप में स्वीकार किया जाता है।

निदर्शना का अर्थ यहाँ पदार्थनिदर्शना हो सकता है। उसीमें दूसरे का धर्म दूसरे में स्थित बतलाया जाता है। उदाहरणार्थ—'रैवतक गिरि गजराज की शोभा धारण करता है'-यह

स्थल। इसमें गजराज की शोभा गजराज में ही रह सकती है और पर्वत की केवल पर्वत में। फलतः उक्त कथन का अर्थ निकलता है—'गिरि गज की शोभा जैसी शोभा को धारण करता है।' यहाँ पर्वतशोभा का गिरि के साथ संबन्ध संभव न होने पर सादृश्ययोजना द्वारा उसे संभव बनाया जाता है। इसीलिए निदर्शना का लक्षण है—'असंभवन् वस्तुसंबन्ध उपमापरिकल्पकः'। प्रस्तुत 'रोमावलिवपु धूमशिखा' में यह संभव नहीं कि धूमशिखा रोमावली का शरीर अपना ले। वह तत्सदृश शरीर ही अपना सकती है। अतः पदार्थनिदर्शना संभव है। विमर्शिनीकार यहाँ निदर्शना का अर्धांशमात्र स्वीकार करते हैं। वे सादृश्य तो मान लेते हैं किन्तु शेष अर्थात् 'संबन्धाभाव' स्वीकार नहीं करते। उन्हें 'अमुष्मिँल्लावण्यामृत०' में ऐसा अनुभव नहीं होता कि यहाँ एक के शरीर का दूसरे में अस्तित्व बतलाया जा रहा है। उनका पक्ष कुछ दूर तक ठीक भी है। 'किस अलंकार में किन किन तत्त्वों की प्रतीति संभव है'—यह न सोचकर अलंकार निर्णय के लिए सोचना यह चाहिए कि उन तत्त्वों में चमत्कार का जनक तत्त्व कौन-सा है। उसी के आधार पर अलंकार को नाम दिया जाना चाहिए। हमारी दृष्टि से 'अमुष्मिँल्लावण्यामृत०' पद्य में अपह्नव ही चमत्कारकारी है। अतः यहाँ अपह्नुति ही मानी जानी चाहिए।

विमर्शिनी

आदिशब्दाच्च तृतीययापि क्वचिदसत्यत्वं प्रतिपाद्यते। यथा—

> 'मद्बाह्वोर्म्यवहारसुस्तनु लता कण्ठस्थले तावकं
>
> मा कार्षीरतिसाहसं प्रियतमे दासस्तव प्राणिति।
>
> मीता वृद्धिममी त्वयैव कुसुमैर्योप्यायमाणा द्रुमा
>
> गृह्णन्ति छुरिकामिवालिपटलव्याजेन पाशच्छिदे॥'

अत्र कुसुमैरिति तृतीययापह्नवनिबन्धनम्। आरोपगर्भत्वाच्चेयं सादृश्याद्वा भवति संबन्धान्तराद्वा। सादृश्येऽप्यस्याः साधारणधर्मस्य त्रयी गतिः। तत्रानुगामिता यथा—

> 'तरुणतमालकोमलमलीमसमेतदयं कलयति चन्द्रमाः किल कलङ्कमिति ब्रुवते।
>
> तदनृतमेव निर्दयविधुन्तुददन्तपदव्रणविवरोपदर्शितमिदं हि विभाति नभः॥'

अत्र तमालमलीमसत्वमनुगामित्वेनोपात्तम्। शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

> 'अयं सुरेन्द्रोपवनाद्धरित्रीं स पारिजातो हरिणोपनीतः।
>
> न भावितोऽयं सुमनःप्रबर्हः कश्मीरदेशोद्भवतामिमानम्॥'

अत्रोपनयनप्रापणयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो यथा—

> 'न ज्योत्स्नाभरणं नभो न मिलितच्छायापयो वारुदो
>
> नो ताराप्रकरो न चेदममृतज्योतिष्मतो मण्डलम्।
>
> क्षीरक्षौमभयोऽप्यपांनिधिरसौ नेत्राह्निना मन्दरः
>
> पृक्तोऽयं मणिपूर एष कलशश्चायं सुधानिर्झरः॥'

अत्र ज्योत्स्नाभरणत्वस्य क्षीरक्षौमभयत्वं प्रतिबिम्बत्वेन निर्दिष्टम्। संबन्धान्तराद्यथा—

> 'हेलोदञ्चन्मलयपवनाडम्बरेणाकुलासु
>
> प्रेङ्खाकेलिं कमपि भजतो चूतशाखालतासु।
>
> वाचालत्वं ननु यदभवत् कानने कोकिलानां
>
> मौनित्वं तत्पथिकहरिणीलोचनानां वधूनाम्॥'

अत्र कोकिलवाचालत्वस्य कारणस्य निषेधे पथिकस्त्रीमौनित्वस्य कार्यस्य विधिः। एवमारोपगर्भेयं सप्रपञ्चं दर्शिता। अध्यवसायगर्भा पुनर्दश्यते यथा—

'न लक्ष्मीसौदर्यान्न च सुरशरण्यीकृतसुरा-
सुधादिव्येष्टत्वान्न मुकुटमणित्वाद्भगवतः ।
यदेवं बालेन्दोर्दिशि विदिशि वन्द्यत्वमुदितं
स्फुटं स्वेतत्कान्तामुखकमलदास्यादुपनतम् ॥'

अत्र वन्द्यत्वस्य प्रभावादिहेतुकत्वे निगीर्य हेत्वन्तरमध्यवसितम् । यथा वा—

'कलाभिस्तृप्त्यर्थं सुरपितृणां पञ्चदशभिः
सुधासूतिर्देवः प्रतिदिनमुदेतीत्यसदिदम् ।
परिभ्राम्यत्येष प्रतिफलनमासाद्य भवती-
कपोलान्तर्युक्त्या त्वदधरसुधासंग्रहपरः ॥'

अत्रोदयादौ सत्त्वाद्युपभोगलक्षणं निमित्तं निगीर्य तत्फलभूतं निमित्तान्तरमध्यवसितम् ।

['वस्त्वन्तररूपताभिधायिवपुःशब्दादिनिबन्धनम्-' पद में प्रयुक्त] आदि-शब्द से कहीं तृतीया के द्वारा भी असत्यता का प्रतिपादन होता है । यथा-[लतापाश से फाँसी लगाकर प्राणान्त का प्रयत्न कर रही नायिका से नायक कह रहा है—]

'हे प्रियतमे ! लता तुम्हारे कण्ठस्थल में वह कार्य न करे जो मेरी भुजाएँ करती हैं, अतिसाहस न करो, यह तुम्हारा दास जीवित है । पुष्पों से आँसू बहा रहे ये वृक्ष भी भ्रमरावली के बहाने तुम्हारी फांस काटने हेतु छुरी सी लिए हुए हैं । इन्हें तुम्हीं ने जो बढ़ाया है ।'

यहां 'कुसुमैः—पुष्पों से' इस तृतीया विभक्ति के द्वारा अपह्नव-[निषेध] का उपनिबन्धन किया गया है ।

यह अलंकार आरोपगर्भित अलंकार है इसलिए या तो यह सादृश्यमूलक होता है या सादृश्येतरसम्बन्धमूलक भी । सादृश्य में भी इसमें [पूर्ववर्चित] तीनों प्रकार की स्थिति रहती है । तीनों में से [सादृश्य की] अनुगामिता का उदाहरण यथा—

—'यह चन्द्रमा जरठ तमालपत्र के समान कोमल तथा कृष्णवर्ण की यह जो वस्तु लिए हुए है इसे लोग 'कलङ्क' कहते हैं । वह सर्वथा मिथ्या है । यह तो निर्दय विधुन्तुद [राहु] के दाँत के घाव से बने विवर में से दिखाई देता आकाश है ।'

—यहां तमालमलीमसत्व अनुगामी धर्म के रूप में उपयुक्त है । शुद्धसामान्य [वस्तुप्रतिवस्तुभावरूप] सादृश्य का उदाहरण यथा —

'इन्द्र के नन्दनवन से यह पारिजात श्रीकृष्ण द्वारा पृथ्वी पर नहीं लाया गया है, यह तो पुष्प का प्रवर्ह है जिसे कश्मीरदेश में उत्पन्न होने के अभिमान को प्राप्त करा दिया गया है ।'

—यहां लाना तथा प्राप्त कराना शुद्ध वस्तुप्रतिवस्तुभाव है । बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण यथा—

'न तो यह चाँदनी से अलंकृत आकाश है, न तो आकाशगंगा से संस्पृष्ट मेघखण्ड है, न नक्षत्रों का पुञ्ज है और न चन्द्रमा का मण्डल । यह तो तरंगित दूध वाला समुद्र है, और यह नेती बने सर्पराज ने मन्दर को लपेट रखा है, यह रत्नों का समुदाय है और यह अमृतशाली सुधाकलश है ।'

—यहां ज्योत्स्नाभरणत्व = चाँदनी से विभूषित होने के लिए क्षीरक्षोभमयत्व = तरंगित दूध वाला होना प्रतिबिम्बरूप से निर्दिष्ट है ।

दूसरे [सादृश्येतर] संबन्ध के आधार पर होने वाला-यथा—

'लीलापूर्वक गतिशील मलयपवन के आडम्बर से आकुलित आम्रशाखालताओं में अतिमनोज्ञ प्रेङ्खाकेलि [झूलाझूलना] कर रहे कोकिलों में जो वाचालता आई वह पथिक-[पुरुषों की] वनिताओं के लोचनों में मौन का जागना था।'

—यहाँ कोकिलवाचालता कारण है और पथिकवनिताओं का मौन कार्य। इनमें से कारण का निषेध कर कार्य का विधान किया गया है। यह आरोपगर्भा अपह्नुति दिखलाई गई।

अब अध्यवसायगर्भा अपह्नुति दिखलाते हैं -

'प्रत्येक दिशा और प्रत्येक विदिशा में जो यह बालेन्दु को प्रणाम किया जाता है यह इसलिए नहीं कि यह लक्ष्मीजी का सगा भाई (सोदर्य) है, न इसलिए कि देव तथा दानवों द्वारा अपनाई सुरा और सुधा आदि का बन्धु भाई है और न इसलिए कि यह भगवान् शंकर का मुकुटमणि है। स्पष्टरूप से यह वन्द्यत्व केवल इसलिए है कि यह कान्तामुखकमल की गुलामी करता है।'

—यहाँ वन्द्यता के वास्तविक हेतु प्रभाव [या प्रभा] आदि का निगरण [अनुक्ति] कर उस पर अन्य हेतु [तादृश दास्य] का अध्यवसाय किया गया है। दूसरा उदाहरण यथा—

'सुधानिधि देव [चन्द्र] प्रतिदिन इसलिए उदित होते हैं कि-'उन्हें देवों, पितरों और मनुष्यों को तृप्त करना होता है-' यह असत्य है। ये तो तुम्हारे अधर की सुधा बटोरने के लिए घूम रहे हैं और उसके लिए इन्होंने युक्ति सोची है तुम्हारे कपोल पर प्रतिबिम्बित होना।'

—यहाँ उदय आदि में हेतु है उन-उन [मेष वृष आदि] राशियों का जो उपभोग उसे निगल कर [शब्दत न कहकर] अन्य निमित्त अध्यवसित किया गया है जो वस्तुतः पूर्वोक्त कारण का फल है।

विमर्श—अपह्नुति का इतिहास =

भामह—'अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्याः क्रियते चाभिधा यथा॥
नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः॥' ३।२१,२२॥

—उपमा यदि कुछ-कुछ छिपाई जावे तो अपह्नुति अलङ्कार मानी जाती है। इसका अपह्नुतिनाम इसलिए रखा जाता है कि इसमें भूतार्थ = वास्तविक अर्थ का अपह्नव = छिपाव रहता है। उदाहरण = 'मद से मुखर यह भृङ्गाली नहीं बोल रही। यह तो काम के खींचे जा रहे धनुष की ध्वनि है।'

वामन—[सूत्र] समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिः ।४।३।५।

[वृत्ति] समेन तुल्येन वस्तुना वाक्यार्थेनान्यस्य वाक्यार्थस्यापलापो निह्नवो यस्तत्त्वाध्यारोपणाय असावपह्नुतिः। यथा—

'न केतकीनां विलसन्ति सूचयः प्रवासिनो हन्त हसत्ययं विधिः।
तडिल्लतेयं न चकास्ति चञ्चला पुरः स्मरज्योतिरिदं विवर्तते॥'
वाक्यार्थयोस्तात्पर्यात् ताद्रूप्यमिति न रूपकम्॥'

—समान वस्तु से अन्य का अपलाप—अपह्नुति। सम = तुल्य वस्तु = वाक्यार्थ से अन्य = वाक्यार्थ का जो अपलाप = निह्नव = छिपाव, जिसका उद्देश्य तत्त्व का आरोप हो अपह्नुति कहलाता है। उदाहरण यथा—'[वर्षा में] ये केवडे के पुष्प की नोक दिखाई नहीं दे रहीं यह तो विधाता प्रवासियों पर हँस रहा है। सामने यह चचल बिजली नहीं चमक रही यह तो

काम की ज्योति प्रतिफलित हो रही है। यहाँ रूपक नहीं क्योंकि यहाँ दो वाक्यार्थों में अभेद बतलाया गया है [रूपक पदार्थों के अभेद में होता है]।

उद्भट = अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवेनास्या निबन्धः क्रियते बुधैः ॥

—[प्रतीहारेन्दुराज कृत लघु विवृति—]—यत्र भूतं विद्यमानम् उपमेयलक्षणम् अर्थम् अपह्नुत्य उपमानरूपारोपेण उपमानोपमेयभावो [ऽवगम्यते सोपह्नुति–] रलंकारः। अत्र च००० अस्फुटेन रूपेणोपमानोपमेयभावश्चकास्ति।

—'जहाँ भूत = विद्यमान उपमेयस्वरूप वस्तु को छिपाकर उपमानस्वरूप का आरोप करने से उपमानोपमेयभाव प्रतिपादित हो उसे अपह्नुति अलंकार कहते हैं। इसमें······उपमानोपमेय-भाव अस्फुट रूप से प्रतीत होता है।'—यहाँ मूलकारिका भामह की है। वृत्ति में प्रतिहारेन्दुराज ने भूतार्थ-शब्द का अर्थ विद्यमान अर्थ किया है यही एक नवीन तथ्य है। 'भूतार्थव्याहृतिः सा तु न स्तुतिः परमेष्ठिनः [र॰ १०] कथयामि ते भूतार्थम्, इन प्रयोगों में भूतार्थ शब्द का अर्थ सत्यार्थ या वास्तविक अर्थ होता है। मीमांसा में जो तीन अर्थवाद माने जाते हैं उनमें से एक का नाम 'भूतार्थवाद' ही है। 'किंचिदन्तर्गतोपमा'-शब्द का अर्थ प्रतीहारेन्दुराज ने अपेक्षाकृत अच्छा बतलाया है।

रुद्रट—'अतिसाम्यादुपमेयं यस्यामसदेव कथ्यते सदपि।
उपमानमेव सदिति च विज्ञेयापह्नुतिः सेयम् ॥ ८।५७

—जिसमें अत्यन्त साम्य के कारण उपमेय का सद्भाव होने पर भी उसे असद्भावात्मक चित्रित किया जावे और उपमान को सद्भावात्मक उसे अपह्नुति कहते हैं। उदाहरण—

'नवबिसकिसलयकोमलसकलावयवा विलासिनी नैषा।
आनन्दयति जनानां नयनानि सितांशुलेखैव ॥ ८।५८ ॥

—नवीन बिसांकुर के समान संपूर्ण अवयवों में कोमल यह विलासिनी नहीं है जो जनों के नेत्रों को आनन्दित कर रही है, यह तो चन्द्रलेखा ही है। निर्णयसागरीय संस्करण में 'नैषा' का 'सैषा' तथा 'लेखैव' का 'लेखेव' छप गया है।

मम्मट—'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः।' उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत् स्थाप्यते सा तु अपह्नुतिः। उदाहरण—'अवाप्तः प्रागल्भ्यम्०।'

—उपमेय को असत्य बतलाकर उपमान का सत्यरूप से जो स्थापन उसी का नाम है अपह्नुति०। उदाहरण—अवाप्तः प्रागल्भ्यम्०।

इससे स्पष्ट है कि सभी आचार्यों ने अपह्नुति को सादृश्यमूलक अलंकार माना है और उसमें उपमेय का छिपाया जाना अनिवार्य स्वीकार किया है। वामन ने उसका रूपक से भेद भी बतलाना चाहा है। वस्तुतः भेदकतत्त्व चमत्कार है। अपह्नुति में अपह्नव का ही चमत्कार होता है।

संजीविनीकार श्री श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अपह्नुति के संपूर्ण निरूपण को इस प्रकार कारिकाबद्ध किया है—

'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः।
नञा छलादिशब्दैश्च सा शब्दान्तरतस्त्रिधा ॥
स्याद् भेदाभेदतुल्या विच्छित्तिरुपमादिका।
रूपकादिस्त्वभेदांशे मुख्ये त्वारोपसंश्रयात्।
उत्प्रेक्षादिरभेदेन वक्ष्यतेऽध्यवसायभाक् ॥'

—प्रकृत का निषेध कर अप्रकृत उपमान का विधान अपह्नुति कहलाता है। यह तीन प्रकार की होती है (१) 'नो नभ्–' द्वारा प्रतिपादित हो, (२) जो छलादि शब्दों से प्रतिपादित हो और (३) जो अन्य 'वपु' आदि शब्दों से प्रतिपादित हो।

—'उपमादि वहां होते हैं जहां भेद और अभेद दोनों बराबर होते हैं। रूपकादि वहां होते हैं जहां आरोप के आधार पर अभेदांश प्रधान हो। उत्प्रेक्षादि वहां होंगे जहाँ अभेद होगा किन्तु उसमें अध्यवसाय रहेगा।'

श्री श्रीविद्याचक्रवर्ती के इस संग्रह से विदित है कि उन्होंने मम्मट के अपह्नुतिलक्षण को अधिक महत्त्व दिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपह्नुति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'उपमेयतावच्छेदकनिषेधसामानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपह्नुतिः।

[मुखत्व आदि] उपमेय धर्म का निषेध दिखलाते हुए उपमान के तादात्म्य का आरोप अपह्नुति कहलाता है।

विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति। एवमित्यादि।

इस [अभेदप्रधान अलंकारों के] प्रकरण का उपसंहार करते हुए अन्य प्रकरण का आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

एवमभेदप्राधान्ये आरोपगर्भानलंकाराँल्लक्षयित्वा अध्यवसायगर्भां-ल्लक्षयति—

तत्र

[सू० २२] अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा।

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः।

[वृत्ति] इस प्रकार अभेद की प्रधानता होने पर होने वाले आरोपगर्भित अलंकारों के लक्षण किए, अब अध्यवसायगर्भित अलंकारों के लक्षण करते हैं। उनमें—

[सूत्र] अध्यवसाय में यदि व्यापार की प्रधानता हो तो उत्प्रेक्षा [अलंकार होता है]।

[वृत्ति] [विषय के] निगरण द्वारा विषय के साथ विषयी का अभेदबोध अध्यवसाय होता है।

विमर्शिनी

आरोपगर्भानिति। अत्राप्यध्यवसायगर्भत्वस्यापि विद्यमानत्वान्मल्लग्राम इत्यादि-वदारोपगर्भस्य प्राधान्यादेवं व्यपदेशः। तत्र तावदुत्प्रेक्षां लक्षयति—अध्यवसाय इत्यादि।

'आरोपगर्भ'—कथन प्रसिद्ध मल्ल के नाम पर गाँव को मल्लगाँव कहने के समान आरोप की प्रधानता पर निर्भर है, वस्तुतः अध्यवसाय भी इनमें रहता है।

अध्यवसायगर्भित अलंकारों में उत्प्रेक्षा का लक्षण करते हैं अध्यवसाय इति—

विमर्शः—अलंकारसर्वस्व के इस उत्प्रेक्षालक्षण को अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने

सदोप ठहराया है और विमर्शिनीकार जयरथ ने शोभाकर का खण्डन कर उसका समर्थन किया है। शोभाकर का विवेचन इस प्रकार है—

[सूत्र] विषयित्वेन संभावनमुत्प्रेक्षा।

[वृत्ति] विषयित्वेन अर्थात् विषयस्य सम्भावनं=‘भवितव्यमनेन स्थाणुना’ इत्यादि अनिश्चयात्मक-वितर्कादि-शब्दाभिधेय-संभावनाप्रत्ययविषयीकृतत्वम् उत्प्रेक्षा। अतश्चानिश्चयात्मकतया संभावनायाः संदेहमूलत्वम्, न त्वध्यवसायगर्भता। यत्रापि [धर्मोत्प्रेक्षायां धर्मरूपविषयस्य शब्दतोऽनुपादाने ‘लिम्पतीव तमोऽङ्गानि’-इत्यादौ] अंशेनाध्यवसायस्तत्रापि सन्देहानिवृत्तिः। तथाहि संदेहनिश्चयरूपत्वेन प्रत्ययानां द्वैविध्यम्। निश्चयश्च यथार्थोऽव्यभिचारी सम्यक्प्रत्ययः, व्यभिचारी त्वसम्यक्। तत्र तावदुत्प्रेक्षा न सम्यक्त्वम्, अर्थाव्यभिचाराभावात्। नाप्यसम्यक्प्रत्ययरूपो विपर्यासः, तस्य निश्चयरूपत्वात्। अस्यां च शाब्देनापि वृत्तेन भ्रान्तिमदतिशयोक्त्यादिवद् विषयिणो निश्चयाभावात्। अनिश्चिते च संदिग्धमेवेत्यविवादः। अत एव नाध्यवसायमूलत्वमस्याः। तस्य विषयनिगरणं विषयिनिश्चयश्च स्वरूपम्। न चात्रैकमपि संभवति विषयोपादानात् निश्चयाभावाच्च। तेन ‘अध्यवसाये व्यापार-प्राधान्ये उत्प्रेक्षा’-इति लक्षणमपर्यालोचिताभिधानमेव। [उत्प्रेक्षा पृ० ४७ पूना संस्करण-१९४२]।

[सूत्र] विषय विषयीरूप से संभावन उत्प्रेक्षा।

[वृत्ति] विषयीरूप से विषय का संभावन अर्थात् ‘इसे स्थाणु (ठूँठ) होना चाहिए’—इत्यादि अनिश्चयात्मक तथा वितर्क आदि शब्दों से पुकारा जाने वाला जो संभावनात्मक ज्ञान उसका विषय बनाया जाना उत्प्रेक्षा कहलाता है। और इसलिए अनिश्चयात्मक होने के कारण संभावना संदेह-मूलक होती है, अध्यवसायगर्भित नहीं। जहाँ [धर्मोत्प्रेक्षा में विषयभूत धर्म का शब्दतः कथन नहीं रहता जैसे ‘अन्धकार अंग-अंग को लीपता-सा जा रहा है’—यहाँ अन्धकार के फैलने का आंशिक अध्यवसाय भी होता है वहाँ ही संदेह हट नहीं जाता। क्योंकि ज्ञान दो प्रकार के होते हैं संदेहात्मक तथा निश्चयात्मक। इनमें से निश्चय सम्यग्ज्ञान = ठीक ज्ञान का नाम है जो यथार्थ अर्थात् पदार्थ के वास्तविक रूप के ही आकार का होता है, तद्विरुद्ध नहीं। जो वैसा नहीं होता उसे असम्यक् ज्ञान = अयथार्थ = गलत ज्ञान कहा जाता है। इनमें से उत्प्रेक्षा सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें ज्ञान-स्वरूप वैसा ही नहीं रहता जैसा पदार्थस्वरूप रहता है। न तो यह असम्यग्ज्ञानस्वरूप विपर्यय=विपरीतज्ञान ही है क्योंकि यह [विपरीतज्ञान या विपर्यय] निश्चयरूप होता है [रज्जु में सर्प का निश्चय ही भ्रान्ति है वही विपर्यय है] इस [उत्प्रेक्षा] में भ्रान्तिमान् अतिशयोक्ति आदि के समान विषयी का निश्चय शब्दतः भी नहीं होता [वाक्यार्थबोध में उसके निश्चय की बात तो बहुत दूर है] और यह सर्वमान्य है कि अनिश्चित पदार्थ संदिग्ध ही माना जाता है। इसीलिए इस [उत्प्रेक्षा] को अध्यवसायमूलक नहीं माना जा सकता। क्योंकि उस [अध्यवसाय] का स्वरूप है विषय का निगला जाना और विषयी का निश्चय होना। यहाँ [उत्प्रेक्षा में] इन दोनों में एक भी संभव नहीं है क्योंकि यहाँ विषय का शब्दतः कथन रहता है [शब्दतः अकथनरूप निगला जाना नहीं] तथा निश्चय नहीं रहता। इस कारण ‘अध्यवसाये व्यापारप्राधान्ये उत्प्रेक्षा’ = ‘अध्यवसाय में व्यापार की प्रधानता होने पर ‘उत्प्रेक्षा’ यह [अलङ्कारसर्वस्वकार द्वारा निर्मित] लक्षण निपट पर्यालोचनशून्य उक्ति है। विमर्शिनीकार इसका खण्डन करते हुए लिखते हैं—

विमर्शिनी

अध्यवसाय इति न पुनः संदेह इति। इह हि निश्चयानिश्चयरूपत्वेन प्रत्ययानां द्वैविध्यम्। निश्चयश्चार्थाव्यभिचारी सम्यक्, अन्यथा त्वसम्यगिति

भेदो न ग्राह्यः । प्रतीतिवृत्तिमात्रस्यैवेह विचारयितुमुपक्रान्तत्वात् । तस्य च प्रामाण्यविचारे उपयोगात्। अनिश्चयश्च संशयतर्करूपत्वेन द्विविधः। अतश्चानिश्चितं च संदिग्धमेवेति न वाच्यम्। तर्कात्मन' सभावनाप्रत्ययस्याप्यनिश्चयात्मकत्वे सदिग्धत्वाभावात्। उत्प्रेक्षा सभावनादिशब्दाभिधेयतर्कप्रतीतिमूलेति नास्याः सदेहमूलत्वम्। तस्य भिन्नलक्षणत्वात्। अथानवधारणज्ञान सशय इत्यनवधारणज्ञानत्वाविशेषात्संशयान्नार्थान्तराभावस्तर्कस्येत्यस्या. सशयमूलत्वमिति चेत्, नैतत्। अनवधारणज्ञानत्वाविशेषेऽपि सशयतर्कयोर्भिन्नरूपत्वात् । तथाहि—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति सामान्येन पक्षद्वयोल्लेखः संशय' । पुरुषेणानेन भवितव्यमित्येकतरपक्षानुकूलकारणदर्शनेन पक्षान्तरबाधनमिव तर्कः। पुरुष एवायमिति पक्षान्तरासस्पर्शेनैकतरपक्षनिर्णयो निश्चय इत्यस्ति महद्वयसायिक प्रत्ययानां त्रैविध्यम्।

यद्यमस्येव प्रत्ययानां त्रैविध्यम्, किं त्वनवधारणज्ञानत्वाविशेषात् सशयप्रकारस्तर्क इति चेत्, नैतत्। एवं ह्यसम्यग्ज्ञानत्वाविशेषाद् भ्रमोऽपि संशयप्रकारः स्यात्। अर्थमिश्रयानिश्चयस्वभावत्वादिमा अस्त्यनयोर्विशेष इति चेत्, इह पुनर्नास्त्यत्र किं प्रमाणम्। सशयो ह्यनियतोभयांशावलम्बित्वेनोदेति, तर्क पुनरंशान्तरबाधनेनैव वाहकेलिदर्शनाद्यनुकूलकारणौचित्यादंशान्तरावलम्बनेन चेत्यस्त्यनयोर्विशेष । देशान्तरे हि यथा स्पर्धमान एव स्थाणुपक्ष आस्ते न तथा वाहकेलिभूमौ, अपि तु शिथिलीभवति, सभयप्रमादत्वाच्च सर्वात्मना न निवर्तत इति अत एव निश्चयः साधकप्रमाणाभावेऽप्यस्योपपत्त.। नहि प्रतिपक्षबाधादेव निश्चयो भवति। साधकबाधकप्रमाणसद्भावेन तदुत्पादात्। तेनानियतोभयपक्षावलम्बी किंस्विदिति विमर्शः सदेहः। एकतरपक्षावलम्बी तु तर्क इति।

अथ 'काऽस्य फलस्योपायविशेष' इत्येकतरपक्षावलम्बेनापि सदेह सभवतीति चेत्, नैतत्। किमर्थनानियतपक्षान्तरस्वीकारादेकतरपक्षावलम्बनस्याप्रतिष्ठानात्। वाह्यालीदर्शनाच्च यथा पुरुषविशेषाः स्मरणपथं समवतरन्ति न तथा स्थाणुविशेषा इत्युभयविशेषस्मरणजन्मनः सन्देहादेकतरविशेषस्मरणजन्मा विशिष्यते तर्क इत्यायत्रान्तरमतिगहनमनयोरस्ति भेदसाधन तत्पुन. प्रकृतानुपयोगादिह नोक्तम्। तेन सदेहनिश्चयान्तरालवर्ती ताद्दलक्षण' सभावनाप्रत्ययस्त्रिशङ्कुरिव लम्बमानोऽवश्यमभ्युपगन्तव्य ।

अध्यवसाय न कि सदेह। यहा, जो है सो, समस्त ज्ञान दो वर्गो में बटि जाते हैं (१) निश्चय तथा (२) अनिश्चय। इनमें निश्चयज्ञान दो प्रकार का होता है (१) सम्यक् और (२) असम्यक्। इन दोनों का अन्तर यह है कि सम्यक् निश्चय अर्थाव्यभिचारी अर्थात् पदार्थ के स्वरूप के विरुद्ध नहीं होता और असम्यक् ठीक इसके विपरीत अर्थव्यभिचारी अर्थात् पदार्थस्वरूप के विरुद्ध। किन्तु यह अन्तर लौकिक अन्तर है। यहां [काव्यक्षेत्र की अलंकारमीमांसा में] इसे नहीं अपनाया जाना चाहिए। क्योंकि यहाँ तो केवल प्रतीतिवृत्ति [प्रतीति रूप वृत्ति = अन्त करण वृत्ति, जिसे कश्मीरीदर्शन संवित्ति कहते हैं] पर ही विचार किया जा रहा है। उपर्युक्त जो भेद बतलाया गया है उसका उपयोग केवल प्रामाण्यविचार में होता है [जहाँ वास्तविकता अथवा अवास्तविकता का न्याय किया जाता है]। जहाँ तक अनिश्चयज्ञान का सम्बन्ध है वह दो प्रकार का होता है सशयात्मक और तर्कात्मक। इसीलिए 'अनिश्चित जो है वह संदिग्ध ही होता है' ऐसा नहीं कहना चाहिए। तर्कात्मक जो सभावनाज्ञान होता है उसे भी अनिश्चयात्मक कहा जा सकता है, जब कि वह संदेहात्मक नहीं होता। उत्प्रेक्षा जो है यह सभावना-आदि शब्दों से कही जाने वाली तर्कात्मक प्रतीति पर निर्भर है, अत इसे सदेहमूलक नहीं कहा जा सकता। उस [संदेह] का स्वरूप और ही प्रकार का होता है।

और—'अनिश्चयात्मक ज्ञान संशय होता है, तथा यह अनिश्चयात्मकता तर्क में भी रहती है अतः वह संशय से भिन्न नहीं है, फलतः उत्प्रेक्षा संशयमूलक मानी जा सकती है'—यदि ऐसा कहें तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनिश्चयात्मकता से युक्त होने पर भी तर्क और संशय में अन्तर है। अन्तर इस प्रकार है कि 'ठूँठ है या पुरुष' इस प्रकार दोनों पक्षों का समानरूप से ज्ञान संशय कहलाता है जब कि तर्क कहलाता है—'यह पुरुष होना चाहिए'—यह, जिसमें किसी एक ही पक्ष की ओर झुकाव दिखलाकर दूसरे पक्ष का मौन निराकरण-सा रहता है। निश्चयज्ञान वह ज्ञान कहलाता है जिसमें 'यह पुरुष ही है'—इस प्रकार दूसरे पक्ष का स्पर्श भी नहीं रहता और केवल एक ही पक्ष का निर्णय कर लिया जाता है। इस प्रकार ज्ञानों के तीन वर्ग होते हैं। इसमें साक्षी हैं सहृदय जन।

यदि यह कहें कि—'ज्ञान के ये तीनों प्रकार, हैं तो अनुभवसिद्ध' किन्तु इनमें जो तर्क है वह संशय का ही एक भेद है, क्योंकि संशय और तर्क दोनों में ही ज्ञान की अनिश्चयात्मकता समान रूप से रहती है।'—तो यह भी ठीक नहीं, तब तो भ्रम को भी संशय का भेद कहा जा सकता है क्योंकि ज्ञान की असत्यता (अयथार्थता) संशय के ही समान भ्रम में भी रहती है। यदि कहें कि भ्रम में पदार्थ का निश्चय रहता है और संशय में अनिश्चय, इस प्रकार दोनों में अन्तर है तो इसमें क्या प्रमाण है कि ऐसा अन्तर संशय और तर्क में नहीं है। संशय जो है उसमें विषय बनते हैं ऐसे दो अंश जो दोनों ही अनिश्चित, रहते हैं जब कि तर्क में एक अंश का बाध-सा रहता है और वाहकेलि [संभवतः घुड़सवारी का क्षेत्र=Race ground] आदि के दिखाई देने आदिअनुकूल (साधक) कारणों के औचित्य से दूसरे अंश का साधन। इस प्रकार अन्तर इन दोनों में भी है ही। अन्य स्थानों में जिस प्रकार स्थाणुपक्ष का ज्ञान बराबरी के साथ होता रहता है उस प्रकार वाहकेलि भूमि [घुड़सवारी के मैदान] में नहीं, वहाँ वह शिथिल हो जाता है, किन्तु जब तक उसमें प्रमाद की संभावना रहती है वह सर्वात्मना दूर नहीं जाता। इसीलिए यह ज्ञान निश्चयस्वरूप है क्योंकि यह [निश्चय] साधक-प्रमाण के अभाव में भी माना जा सकता है। [वाहकेलि भूमि आदि एकतर पक्ष के समर्थक साधन तो हैं किन्तु उसे सर्वथा सिद्ध ही कर देने वाले नहीं हैं अतः वे साधक-प्रमाण नहीं हैं]। ऐसा नहीं कि प्रतिपक्ष (Counterpart) का सर्वथा बाध होने पर ही निश्चय माना जाता हो, वह साधक और बाधक दोनों प्रकार के प्रमाणों के रहने पर भी माना जा सकता है। इसलिए संदेह दो अनिश्चित पक्षों पर निर्भर ज्ञान का नाम है जिसमें 'ऐसा है या कि ऐसा'—इस प्रकार के विकल्प का बोध होता है, और तर्क किसी एक पक्ष पर निर्भर ज्ञान का, जिसे शिथिल निश्चयात्मक कहा जा सकता है। यद्यपि भ्रान्ति में निश्चय रहता है किन्तु उसमें निश्चय दृढ़ रहता है क्योंकि उसमें पक्षान्तर का ज्ञान नहीं रहता। संदेह में दृढ़ या शिथिल किसी भी प्रकार का निश्चय नहीं रहता इसलिए उसे संदेह ही माना जाता है और इसीलिए तर्क उससे प्रतीतितः भिन्न है।

यदि यह कहें कि—संदेह भी एकतरपक्ष पर निर्भर होता है जैसे [अनेक कारणों में से किसी एक कारण की विशिष्ट कारणता का निश्चय कर चुका व्यक्ति कहे—] 'आखिर इस कार्य का विशिष्ट कारण क्या है' [इस कथन में विशिष्ट कारणता पर प्रश्न है अतः है तो वह संदिग्ध किन्तु वक्ता किसी एक कारणभूत पदार्थ की विशिष्ट कारणता को मन में रख कर प्रश्न कर रहा है इसलिए उसका झुकाव उसी की ओर है यतः यह एकतरपक्षावलम्बी संशय है], तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस वाक्य में जो 'कः' इस प्रकार किमर्थक='कौन'-अर्थ का वाचक पद है उससे एकतरपक्ष का अपनाया जाना सिद्ध नहीं हो पाता। और वाह्याली [घुड़सवारी का

मैदान अथवा बाहरी राजपथ] देखने से जैसे पुरुषविशेष याद आते हैं वैसे स्थाणुविशेष नहीं, अतः दोनों विशिष्ट वस्तुओं के स्मरण से जो सदेह हुआ उसकी अपेक्षा किसी एक विशिष्ट के स्मरण से हुआ तर्क अवश्य ही भिन्न है'—इत्यादि और भी बहुत से तत्त्व इन दोनों में अन्तर सिद्ध करते हैं जो अत्यन्त गहन हैं। उन सबकी चर्चा प्रस्तुत प्रकरण में निरर्थक है अतः उन्हें यहां नहीं बतलाया जा रहा। निष्कर्ष यह कि उक्त हेतुओं से संदेह और निश्चय के बीच का किन्तु इन दोनों से भिन्न [इन दोनों के बीच] त्रिशङ्कु के समान लटका हुआ संभावनात्मक बोध अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए।

विमर्शिनी

एवमप्यनिश्चयात्मकसंभावनाप्रत्ययमूलत्वादुत्प्रेक्षायाः कथमध्यवसायमूलत्वम्। तस्य हि विषयनिगरणं विषयिनिश्चयश्च स्वरूपम्। न चात्रैकमपि संभवति। विषयोपादानान्निश्चयाभावाच्चेति। अत्रोच्यते—इह द्विधाऽध्यवसायः—स्वारसिक उत्पादितश्च। तत्र स्वारसिके विषयानवगम एव निमित्तम् तत्सामर्थ्यात्स्वरसत एव विषयिप्रतीतेरुल्लासात्। न ह्यवगतशुक्तिकास्वरूपस्य प्रमातुः कदाचिदपि रजतमिदमिति प्रत्ययोत्पादः स्यात्। इतरत्र तु विषयमवगम्यापि तदन्तःकारेण प्रतिपत्तौ स्वात्मपरतन्त्रविकल्पबलाद् विषयिप्रतिपत्तिमुत्पादयेत्। जानान एव हि विषयिविविक्तं विषयं तत्र प्रयोजनपरतया विषयिणमध्यवस्येत्। तत्राद्यो भ्रान्तिमदादिविषयः। तत्र हि प्रमात्रन्तरगता स्वारसिक्येव तथाविधा प्रतिपत्तिर्वक्त्रानूद्यते न तूत्पाद्यते। यदाहुः—'प्रमात्रन्तरधीर्भ्रान्तिरूपा यस्मिन्ननूद्यते। स भ्रान्तिमान्' इति। स्वारसिकत्वं पुनरत्र कविप्रतिभानिर्वर्तितमेवेष्टम्। अन्यथा हि भ्रान्तिमात्रं स्यादिति पूर्वमेवोक्तम्। इतरस्तूत्प्रेक्षाविषयः। स च द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च। सिद्धो यत्र विषयस्यानुपात्ततया निगीर्णत्वादध्यवसितप्राधान्यम्। साध्यो यत्रेवाद्युपादानात्संभावनाप्रत्ययात्मकत्वाद्विषयस्य निगीर्यमाणत्वादध्यवसायक्रियाया एव प्राधान्यम्। अत एवाह—'व्यापारप्राधान्य' इति। अत एव चात्र क्वचिद्विषयानुपादानम्। वाच्योपयोगित्वस्याध्यवसायस्य साध्यमानत्वेनोपक्रान्तत्वात्। क्वचिच्च विषयस्यानुपादानेऽपि न सिद्धत्वम्। इवाद्युपादानान्निगीर्यमाणतायाः प्राधान्यात्संभावनाप्रत्ययस्यैवोद्रेकात्। अत एव चात्र विषयस्य निगीर्यमाणत्वादारोपगर्भत्वं न वाच्यम्। तत्र विषयस्य विषयितया प्रतीतिः। इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणत्वेन विषयिण एव प्रतीतिः। ननु विषयनिगरणमध्यवसायस्य लक्षणम्। इह पुनर्विषयस्य निगीर्यमाणतेति कथमत्राध्यवसायतेति चेत्, नैतत्। 'विषयस्यान्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका' इत्याद्युक्त्याध्यवसायस्य विषयिणा विषयस्यान्तःकरणं लक्षणम्। तच्च विषयस्य निगरणेन निगीर्यमाणत्वेन वा भवतीति न कश्चिद्विशेषः। निगीर्यमाणत्वमपि पूर्वोक्तनीत्या विषयस्योपात्तस्यानुपात्तस्य वा भवतीत्यपि न कश्चिद्विशेषः। एवं सिद्धेऽध्यवसायेऽध्यवसितप्राधान्यं साध्ये च स्वरूपप्राधान्यमिति सिद्धम्। एतच्च ग्रन्थकृदेव विभज्याग्रे वक्ष्यतीति तत एवावधार्यम्। यदेव साध्यवसायस्य साध्यत्वं तदेव संभावनात्मकत्वम्। संभावना ह्येकतरपक्षशिथिलीकारेण पक्षान्तरदार्ढ्येन च प्रादुर्भवतीत्यस्याः साध्याध्यवसायतुल्यकक्षत्वम्। तस्यापि विषयशिथिलीकारेण विषयिदार्ढ्येन चोत्पत्तेः। अत एव विषयिणोऽपि दार्ढ्येन वृत्तेन सत्यत्वम्। विषयिदार्ढ्येनैव साध्याध्यवसायस्वरूपप्रादुर्भावात्। यदुक्तं मरुद्भिरेव 'संभावनायां च संभाव्यमानस्य दार्ढ्यादपरस्य च शैथिल्यात्' इति। इह संभाव्यमानस्य विषयिणो दार्ढ्यादत्र संशया-

द्वैलक्षण्यम् । तस्य ह्यनियतोभयांशावलम्बी किंस्विदिति विमर्शो लक्षणम् संभावना-विषयस्य च शैथिल्यान्निश्चयादपि भेदः। विषये हि बाधकसद्भावादेकस्य शैथिल्येन वा साधकसद्भावाच्च पक्षान्तरस्य सिद्धिः स्यात्। अतिशयोक्तिश्च निश्चयात्मिकेति ततोऽस्या भेदः। यत्तु 'साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः' इत्यादि ग्रन्थकृद्वक्ष्यति तद् वस्तु-वृत्ताभिप्रायेणावगन्तव्यम्। तदेवं विषयस्य निगीर्यमाणत्वाद्विषयिणश्च निश्चयात्सिद्धमध्य-वसायमूलत्वमस्या इति यथोक्तमेव लक्षणं पर्यालोचिताभिधानम्। तस्मात्

'इवादौ निश्चयाभावाद्विषयस्य परिग्रहात्।
क्वचिदध्यवसायेन नोत्प्रेक्षापि तु संशयात् ॥'

इत्याद्युक्तमयुक्तमेवेत्यलं बहुना।

[शंका] 'ऐसा होने पर भी [संभावना को संदेह से भिन्न मान लेने पर भी] उत्प्रेक्षा होती तो अनिश्चयात्मक संभावना-प्रतीति पर ही निर्भर, उसे अध्यवसायमूलक [अध्यवसाय पर निर्भर] क्यों बतलाया जा रहा है'। उस [अध्यवसाय] का स्वरूप तो 'विषय का निगरण = निगला जाना [शब्दतः अकथन] तथा [उसका] विषयीरूप से निश्चय' होता है। यहाँ [उत्प्रेक्षा में] इन दोनों में से एक भी नहीं है। यहाँ तो उलटे विषय का उपादान ही है और [विषयीरूप से उसके] निश्चय का अभाव।'—[समाधान] इस पर हमारा कहना है—'यहाँ अध्यवसाय दो प्रकार का होता है (१) स्वारसिक तथा (२) उत्पादित। इनमें से स्वारसिक अध्यवसाय में कारण रहता है विषय का अज्ञान ही क्योंकि उस [अज्ञान] के आधार पर विषयी की प्रतीति स्वाभा-विकरूप से ही हो जाती है। [यथा शुक्ति में रजत की प्रतीति]। ऐसा नहीं देखा जाता कि जिस व्यक्ति को शुक्ति [सीप, छिपनी] का शुक्तिरूप से ज्ञान होता रहता हो उसे उसमें कभी भी यह प्रतीति होती हो कि 'यह रजत है'। किन्तु द्वितीय [उत्पादित] अध्यवसाय में व्यक्ति विषय को जानता ही रहता है तब भी उसे छिपा देना चाहता है [= अन्तःकार] और उस पर [बाह्य कारण के बिना भी] केवल अपनी इच्छा से जनित विकल्प के द्वारा विषयी की प्रतीति पैदा करता है। वह विषय को विषयी से भिन्न समझता रहता है तथापि प्रयोजनविशेष से उस पर विषयी को अध्यवसित कर देता है।

इनमें से प्रथम अध्यवसाय भ्रान्तिमान् आदि में होता है। उनमें [पशु-पक्षी आदि] अन्य प्रमाता व्यक्तियों में स्वभावतः हो रही वैसी [भ्रमपूर्ण] प्रतीति का वक्ता अनुवादमात्र करता है उसे उत्पन्न नहीं करता। जैसा कि कहा है—'अन्य प्रमाता का भ्रान्तिरूप ज्ञान जहाँ अनूदित किया जाता है वह है भ्रान्तिमान्' [ ]। किन्तु यहाँ जो स्वारसिकत्व है वह भी कवि-प्रतिभासंपादितस्वरूप ही है क्योंकि ऐसा न मानने पर [अर्थात् स्वारसिकत्व को शुक्तिरजत दृष्टान्त के समान केवल लौकिक मानने पर] भ्रान्ति केवल भ्रान्ति ही हो सकेगी भ्रान्तिमान् अलंकार नहीं। यह तथ्य पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

दूसरा जो [उत्पादित] अध्यवसाय है वह उत्प्रेक्षा में होता है। वह भी दो प्रकार का होता है (१) सिद्ध तथा (२) साध्य। सिद्ध वह होता है जिसमें विषय उपात्त नहीं रहता, निगीर्ण (Under-stood) रहता है फलतः जिसमें अध्यवसित अर्थ (विषयी) ही प्रधान रहता है। इसके अतिरिक्त साध्य वहाँ होता है जहाँ 'इव' 'यथा' [अथवा मानो] आदि शब्द रहते हैं अतः ज्ञान संभावनात्मक रहता है अतः विषय [शब्दतः उपात्त रहने पर भी] निगीर्ण ही रहता है और इसलिए वहाँ अध्यवसाय क्रिया की प्रधानता रहती है। इसीलिए लक्षण में ग्रन्थकार ने भी कहा - 'व्यापार की प्रधानता रहने पर'। [अभिप्राय यह कि जहाँ विषय का उपादान रहता है इसलिए 'इव' आदि

शब्दों के प्रयोग के कारण बुद्धिधारा वहाँ अध्यवसायात्मक ज्ञान की ओर बढ़ती तो है किन्तु वह अध्यवसायात्मक ज्ञान में परिणत नहीं हो पाती। अध्यवसायप्रयत्नमात्र तक सीमित रह जाती है।] और इसीलिए कहीं कहीं विषय का उपादान नहीं भी रहता। यह इसलिए कि यहाँ उसी अध्यवसाय को साध्यरूप से प्रस्तुत किया जाता है जो वाच्योपयोगी होता है। किन्तु जहाँ कहीं विषय का उपादान नहीं भी रहता वहाँ अध्यवसाय सिद्ध अध्यवसाय नहीं होता क्योंकि वहाँ 'इव'-'मानो' आदि शब्दों का उपादान रहता है इसलिए निगीर्यमाणता प्रधान हो जाती है और सम्भावनात्मक ज्ञान ही उद्रिक्त हो जाता है। और इसीलिए क्योंकि यहाँ विषय निगीर्यमाण रहता है उत्प्रेक्षा आरोपगर्भित नहीं होती [अलङ्काररत्ना० ने आरोपगर्भा ही माना है द्र० पृ० ४८]। आरोप में विषय की प्रतीति विषयी रूप से होती है। अध्यवसाय में विषय निगीर्यमाण होता है इसलिए केवल विषयी की ही प्रतीति होती है।

यहाँ यह शंका की जा सकती है कि 'अध्यवसाय का स्वरूप है विषय का निगरण [अर्थात् इसमें निगरण की ही प्रधानता रहती है] और यहाँ बतलायी जा रही है विषय की निगीर्यमाणता [जिसमें निगरण अप्रधान है प्रधानता विषय की है] अतः इसे अध्यवसाय रूप कैसे माना जाय।' किन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अध्यवसाय का स्वरूप है विषयी के द्वारा विषय का अपने भीतर छिपा लेना जैसा कि [मम्मटभट्ट ने काव्यप्रकाश द्वितीय प्रकाश में] कहा है 'साध्यवसाना लक्षणा वह होती है जिसमें विषय विषयी के द्वारा अन्तःकृत [= अपने भीतर छिपा हुआ] रहता है।' यह अन्तःकृति चाहे विषय के निगरण से हो या विषय की निगीर्यमाणता से उसमें कोई अन्तर नहीं आता। निगीर्यमाणता भी उपात्त विषय की भी होती है और अनुपात्त विषय की भी। इसलिए इसमें भी कोई फरक नहीं पड़ता।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि सिद्ध अध्यवसाय में प्रधानता अध्यवसित (विषय) की रहती है और साध्य अध्यवसाय में स्वयं अध्यवसाय की ही। इसे स्वयं ग्रन्थकार ही अलग-अलग करके आगे भलीभाँति बतलायेंगे। अतः इसे वहीं से समझ लेना चाहिए। हाँ! यहाँ जो अध्यवसाय की साध्यता है वही सम्भावनात्मकता होती है। संभावना जो है वह किसी एक पक्ष को शिथिल करके और अन्य पक्ष को दृढ करके ही होती है अतः यह साध्य अध्यवसाय के बराबर होती है। क्योंकि साध्य अध्यवसाय भी विषय को शिथिल कर विषयी की दृढता से निष्पन्न होता है। इसलिए विषयी भी शाब्दबोध में सत्य ही रहता है क्योंकि साध्य अध्यवसाय विषयी की दृढता से ही निष्पन्न होता है। जैसा कि आपने भी [अलङ्काररत्नाकर के पृ० ४८ पर उत्प्रेक्षा प्रकरण में ही] कहा है—'संभावना में सम्भाव्यमान [विषयी] की दृढता रहती है और विषय की शिथिलता।' यहाँ सम्भाव्यमान विषयी की दृढता रहती है अतः यहाँ संशय से भिन्नता रहती है। क्योंकि संशय दो अनिश्चित अंश पर निर्भर रहता है जिसका स्वरूप 'क्या'-'अथवा' इस प्रकार का विमर्श होता है। इसी प्रकार सम्भावना-विषय की शिथिलता के कारण यह निश्चय से भी भिन्न रहता है।

जहाँ निश्चय होता है वहाँ एक ओर तो एक पक्ष हट जाता या शिथिल हो जाता है क्योंकि बाधक उपस्थित रहता है और दूसरी ओर दूसरे पक्ष की सिद्धि हो जाती है क्योंकि साधक भी उपस्थित रहा करता है। अतिशयोक्ति निश्चयात्मिका होती है इसलिए उससे भी यह [उत्प्रेक्षा] भिन्न है। ग्रन्थकार जो यह कहेंगे कि 'वह साध्य होता है जिसमें विषयी की प्रतीति असत्य रूप से होती है' वह वास्तविक स्थिति को मन में रखकर [न कि काल्पनिक अथवा आनिम स्थिति को] ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार विषय के निगीर्यमाण होने तथा विषयी का निश्चय होने से यही सिद्ध होता है कि यह = उत्प्रेक्षा अध्यवसायमूलक है, इसलिए ग्रन्थकारोक्त लक्षण ही सोच-समझकर बनाया गया लक्षण है—[पर्यालोचिताभिधान]। इस कारण अधिक क्या इतना कहना पर्याप्त है कि—

'उत्प्रेक्षा सर्वत्र संशय से ही होती है, अध्यवसाय से कहीं भी नहीं, क्योंकि इसमें 'इव'-आदि का प्रयोग रहता है, अतः निश्चय नहीं रहता तथा विषय का उपादान शब्दतः रहता है'—[अलंकाररत्ना० पृ० ५१]

—इत्यादि कथन सर्वथा युक्तिशून्य है।

विमर्शः—विमर्शिनी के अनुपदोक्त विवेचन का आधार अलंकाररत्नाकर का पूर्वोद्धृत विवेचन से लगातार आगे का यह विवेचन है—

'न च 'एषा स्थली०' इत्यादावशब्दत्वादेः मौनित्वादिना अध्यवसितत्वाद् निमित्तविषयोऽध्यवसाय' इति वाच्यम्। सर्वत्र निमित्तविषये अध्यवसायस्य सिद्धत्वेन साध्यत्वाभावान्निमित्तापेक्षया चाध्यवसायाङ्गीकारे उपमादीनामध्यवसाय एव लक्षणं स्यात्, तेन आरोपगर्भैवेयम्। क्वचित्तु विषयानुपादान आरोपगर्भत्वाभावान्निश्चयरूपांशभावे अध्यवसायगर्भोत्प्रेक्षेति वाचोयुक्तिरुचितैव तद्गर्भसन्देहवत्। विषयनिगरणाख्यस्य मुख्यस्य तदंशस्य सिद्धत्वात्। संभावनायां च संभाव्यमानस्य दार्ढ्यात् अपरस्य च शैथिल्याद् इह संभाव्यमानस्य विषयिणः शाब्देन वृत्तेन सत्यत्वं न त्वितरस्य। वस्तुतस्तु विषयिणः सत्यतातिशयोक्तौ अपि नास्तीति तत्रापि विषयिणः सत्यतेति न वाच्यं स्यात्। अत एव सापह्नवायां विषयस्यैवासत्यत्वात् अपह्नवः अन्यथेतरस्यैव स्यात्। इयं च धर्मी वा धर्म्यन्तरत्वेनोत्प्रेक्ष्यते धर्मो वा धर्मान्तरत्वेनेति प्रथमं द्विभेदा। आद्या शाब्दत्वार्थत्वभेदाद् आरोपस्य द्विविधैव। द्वितीयापि धर्मरूपविषयोपादाने आरोपगर्भा। अत्र च प्रधानभूतधर्म्युपसर्जनात्मकविशेषणीभूतानां धर्माणां परस्परं विशेष्यविशेषणभावानुपपत्तौ सामानाधिकरण्याभावादार्थ एवारोपः। अनुपादाने तु अध्यवसायगर्भा। आरोपगर्भे तु भेदत्रये विषयापह्नवानपह्नवाभ्यां द्वैविध्यम्'।

'इवादौ निश्चयाभावाद् विषयस्य परिग्रहात्। क्वचिदध्यवसायेन नोत्प्रेक्षापि तु संशयात् ॥'

— इति संग्रहः।

—ऐसा नहीं कह सकते कि 'एषा स्थली' पद्य में अशब्दत्व आदि मौनित्व आदि के द्वारा अध्यवसित हैं अतः यहाँ निमित्तविषयक अध्यवसाय है, क्योंकि एक तो जहाँ-जहाँ निमित्त के ऊपर अध्यवसाय होता है वहाँ अध्यवसाय सदा सिद्ध ही होता है, साध्य नहीं; दूसरे यदि निमित्त को लेकर अध्यवसाय मान लिया जावे तो उपमा आदि में भी अध्यवसाय को ही लक्षण मानना होगा। इस कारण उत्प्रेक्षा को आरोप से ही युक्त मानना चाहिए। हाँ, कहीं-कहीं जब विषय का कथन नहीं रहता वहाँ उत्प्रेक्षा को आरोप से युक्त नहीं माना जा सकता, साथ ही वहाँ निश्चयांश भी रहता है अतः वहाँ उत्प्रेक्षा को अध्यवसाय से युक्त माना जा सकता है, जैसे कि उसे संदेह से युक्त माना जाता है। यह इसलिए कि ऐसे स्थल में 'विषयनिगरण'-रूप उस [अध्यवसाय] का मुख्य अंश सिद्धरूप से विद्यमान रहता है। किन्तु संभावना में संभाव्यमान ही दृढ़ बनाया जाता है और दूसरे को शिथिल कर दिया जाता है फलतः इसमें संभाव्यमान विषयी ही शब्दतः सत्य प्रतीत होता है, न कि दूसरा [विषय]। परमार्थतः तो सच यह है कि विषयी की सत्यता स्वयं अतिशयोक्ति में ही नहीं रहती [जिसका प्राण ही है अध्यवसाय] इसलिए उत्प्रेक्षा में भी विषयी की सत्यता रहती है ऐसा नहीं कहना चाहिए। इसीलिए सापह्नवा उत्प्रेक्षा में विषय ही असत्य माना जाता है और उसी का अपह्नव स्वीकार किया जाता है। ऐसा न हो तो दूसरे [विषयी] का ही अपह्नव स्वीकार किया जाने लगे।

यह [उत्प्रेक्षा] प्रधानरूप से दो प्रकार की होती है। एक तो वह जिसमें धर्मी किसी अन्य धर्मी के रूप में उत्प्रेक्षित रहता है और दूसरी वह जिसमें धर्म किसी अन्य धर्म के रूप में। इनमें से प्रथम दो प्रकार की होती है शाब्द और आर्थ, क्योंकि आरोप भी दो ही प्रकार का होता है। दूसरी जो है वह भी धर्म का उपादान होने पर तो आरोपयुक्त होती है और यह आरोप आर्थ ही होता है क्योंकि इसमें प्रधान रहता है धर्मी और धर्मी में से सत्र उसी धर्मी के विशेषण के रूप में प्रयुक्त रहते हैं फलतः उनका परस्पर में ऐक्य नहीं हो पाता। और यदि विषय का उपादान नहीं रहता तो यही उत्प्रेक्षा अध्यवसाय से युक्त मान ली जाती है। जो भेद आरोप से युक्त होते हैं वे भी दो प्रकार के होते हैं सापह्नव तथा निरपह्नव। इस सम्पूर्ण विवेचन का सार यह है कि –

'उत्प्रेक्षा सर्वत्र सभ्य से ही होती है, अध्यवसाय से कहीं भी नहीं, क्योंकि इसमें 'इव'—'मानो' आदि का प्रयोग रहता है। अतः निश्चय नहीं रह पाता और विषय का उपादान शब्दतः रहा करता है।' [अल० रत्ना० पृ० ४८, ५१]।

[सर्वस्व]

स च द्विविध.—साध्यः सिद्धश्च। साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीतिः। असत्यत्वं च विषयिगतस्य धर्मस्य विषय उपनिबन्धे विषयिसंभवित्वेन विषयासंभवित्वेन च प्रतीतेः। धर्मो, गुणक्रियारूपः तस्य संभवासंभवप्रतीतौ संभवाश्रयस्य तत्रापरमार्थतया असत्यत्वं प्रतीयते, इतरस्य तु परमार्थतया सत्यत्वम्। यस्यासत्यत्वं, तस्य सत्यत्वप्रतीतावध्यवसायः साध्यः। अतश्च व्यापारप्राधान्यम्। सिद्धो यत्र विषयिणो वस्तुतोऽसत्यस्यापि सत्यताप्रतीतिः। सत्यत्वं च पूर्वकस्यासत्यत्वनिमित्तस्याभावात्। अतश्चाध्यवसितप्राधान्यम्। तत्र साध्यत्वप्रतीतौ व्यापारप्राधान्येऽध्यवसायः संभावनमभिमानस्तर्क ऊह उत्प्रेक्षेत्यादिशब्दैरुच्यते। तदेवमप्रकृतगतगुणक्रियाभिसंबन्धादप्रकृतत्वेन प्रकृतस्य संभावनमुत्प्रेक्षा। सा च वाच्या इवादिभिः प्रदर्श्यते। प्रतीयमानायां पुनरिवाद्यप्रयोगः। सा च जातिक्रियागुणद्रव्याणामप्रकृतानामध्यवसेयत्वेन चतुर्धा। प्रकृतस्यैतद्भेदयोगेऽपि न वैचित्र्यमिति न ते गणिताः। प्रत्येकं च भावाभावाभिमानरूपतया द्वैविध्येऽष्टविधत्वम्। भेदाष्टकस्य च प्रत्येकं निमित्तस्य गुणक्रियारूपत्वे षोडश भेदाः। तेषां च प्रत्येकं निमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद्भेदाः, तेषु च प्रत्येकं हेतुस्वरूपफलोत्प्रेक्षणरूपत्वेन षण्णवतिर्भेदाः। एषा गतिर्वाच्योत्प्रेक्षायाः। तत्रापि द्रव्यस्य प्रायः स्वरूपोत्प्रेक्षणमेवेति हेतुफलोत्प्रेक्षाभेदास्तत्र पातनीयाः। प्रतीयमानायास्तु यद्यप्युद्देशत एतावन्तो भेदाः, तथापि निमित्तस्यानुपादानं तस्यां न संभवतीति तैर्भेदैर्न्यूनोऽयं प्रकारः। इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकीर्तने उत्प्रेक्षणस्य निष्प्रमाणत्वात्। प्रायश्च स्वरूपोत्प्रेक्षाया यथासंभवं भेदनिर्देशः।

एषा चार्थाश्रयापि धर्मविषये श्लिष्टशब्दहेतुका क्वचित्पदार्थान्वयवेलायां सादृश्याभिधानादुपक्रान्ताप्युपमावाक्यार्थतात्पर्यसामर्थ्याभिमन्तृव्यापारोपारोहक्रमेणोत्प्रेक्षायां पर्यवस्यति। क्वचिच्छलादिशब्दप्रयोगे सापह्नवोत्प्रेक्षा भवति। अतश्चोक्तवक्ष्यमाणप्रकारवैचित्र्येणानन्त्यमस्याः।

[वृ०] वह [अध्यवसाय] दो प्रकार का होता है (१) सिद्ध और (२) साध्य। साध्य वह जिसमें विषयी असत्यरूप से मासित होता है। असत्यता इसलिए कि विषय में अस्तित्व दिखलाने पर विषयिगत धर्म की ऐसी प्रतीति होती है जिसमें वह विषयी में तो संभव प्रतीत होता है किन्तु विषय में असंभव। धर्म होता है गुणरूप और क्रियारूप। इसकी जो संभवात्मक और असंभवात्मक प्रतीति होती है। उसमें संभवात्मक में धर्म अपारमार्थिक अर्थात् काल्पनिक और इसीलिए असत्य प्रतीत होता है। ठीक इसी प्रकार दूसरा पारमार्थिक = वास्तविक और सत्य। अब जो असत्य होता है उसकी सत्यरूप से प्रतीति हो तो अध्यवसाय साध्य होता है। इसीलिए उसमें प्रधानता व्यापार की मानी जाती है। सिद्ध अध्यवसाय वह होता है जिसमें विषयी होता तो वस्तुतः असत्य है किन्तु उसमें प्रतीति होती है सत्यता की। यहाँ सत्यता का अर्थ है पूर्वप्रतीत असत्यत्व प्रतिपादक हेतु का अभाव। इसीलिए इसमें प्रधानता अध्यवसित [विषयी] की रहती है। इनमें जिस अध्यवसाय में साध्यता और व्यापारप्रधानता रहती है उसमें संभावनातत्त्व का कथन तर्क, ऊह, उत्प्रेक्षा आदि शब्दों से होता है। इस प्रकार **अप्रकृतगत गुण और क्रिया के संबन्ध से अप्रकृतरूप से प्रकृत की संभावना उत्प्रेक्षा** कहलाती है। यह जब वाच्य रहती है तब इवादि शब्दों का प्रयोग रहता है और जब प्रतीयमान तब इवादि का प्रयोग नहीं रहता।

यह उत्प्रेक्षा चार प्रकार की होती है क्योंकि इसमें जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य ये चार अप्रकृत अर्थ अध्यवसेय [संभाव्य] होते हैं। ये चारों भेद प्रकृत पदार्थ में भी हो सकते हैं किन्तु उनमें कोई चमत्कार नहीं होता इसलिए उन्हें छोड़ दिया गया है।

उत्प्रेक्षा के ये चारों भेद भावरूप होते हैं और अभावरूप भी। अतः इनकी संख्या आठ हो जाती है। इन आठों भेदों में निमित्त गुणरूप होता है या क्रियारूप अतः सोलह हो जाते है। इन सभी भेदों में निमित्त दो प्रकार का होता है (१) उपात्त और (२) अनुपात्त। अतः ये ही १६ भेद ३२ हो जाते हैं। इन बत्तीसों भेदों में उत्प्रेक्षणीय पदार्थ के हेतुरूप, स्वरूप रूप तथा फलरूप होने से भेदों की संख्या छियान्नवे हो जाती है। यह संपूर्ण प्रपंच वाच्य उत्प्रेक्षा का है। इन भेदों में भी जो द्रव्योत्प्रेक्षा हैं उसमें उत्प्रेक्षा केवल स्वरूप की ही होती है, अतः उसमें से शेष दो हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा पर आश्रित भेद घटा दिए जाने चाहिए। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा में भी इतने भेद होते हैं किन्तु केवल नामतः क्योंकि उसमें निमित्त का उपादान नहीं रहता। अतः उत्प्रेक्षा के इस प्रकार में उतने भेदों की कमी आ जाती है क्योंकि 'इव' आदि का उपादान न होने तथा निमित्त का भी उल्लेख न रहने से उत्प्रेक्षा माननेका कोई आधार शेष नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त प्रायः इस उत्प्रेक्षा में स्वरूपोत्प्रेक्षा संभव नहीं होती। इस प्रकार प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के वे ही भेद बतलाए जाने चाहिए जो संभव हों। [आगे उपसंहार विमर्श में ये सब भेद स्पष्ट कर दिए गए हैं]।

यह [उत्प्रेक्षा] है तो अर्थालंकार अतः होना तो चाहिए इसका आधार केवल अर्थ ही तथापि इसमें जब कभी धर्म विषय बनता है तब इसका आधार श्लिष्ट शब्द भी बन जाता है।

कहीं-कहीं सादृश्य का शब्दतः कथन रहता है अतः आरम्भ में जहाँ पदार्थों का परस्पर में संबन्ध होता है वहाँ उपमा की ही प्रतीति होती है तथापि पर्यवसान उत्प्रेक्षा में ही होता है,

कारण कि वाक्यार्थ का तात्पर्य उसी में रहता है और इसका बोध होता है वक्ता [अभिमन्ता] की मानस प्रवृत्ति [व्यापार] की अन्तिम सीढ़ी पर [बोद्धा के चित्त द्वारा] चढ़ने पर [उपारोह करने पर]।

कहीं यही उत्प्रेक्षा अपह्नव से भी युक्त होती है जहाँ छल आदि शब्दों का प्रयोग रहता है। इन कारणों से पूर्वोक्त तथा आगे कहे जाने वाले भेदों के आधार पर इस [उत्प्रेक्षा] के भेदों की सख्या अनन्त हो जाती है।

विमर्शिनी

एतदेव व्याचष्टे—विषयेत्यादिना। अभेदप्रतिपत्तिरिति विषयान्तःकरणात्। संभावनाप्रत्ययात्मकत्वेऽपि साध्याध्यवसायस्य वस्तवभिप्रायेण तद्विलक्षण्यं प्रदर्शयितुमाह—साध्य इत्यादि। विषयपरिशोधनद्वारेण प्रमाणानुग्राहकत्वात्संभावनाप्रत्ययस्य पुरुषेणानेन भवितव्यमित्यत्र वस्तुवृत्तेन पुरुषस्य सत्यत्वम्। इह पुनस्तत्र तस्य प्रयोजनपरतयाध्यवसीयमानत्वात्संभावनाविषये समाध्यमानस्य वस्तुतो न सत्यत्वमित्याह—असत्यतया प्रतीतिरिति। अत्रैव निमित्तमाह—असत्यत्वं चेत्यादि। विषय उपनिबन्ध इति। तद्गतधर्माभेदेनाध्यवसित इत्यर्थः। अनेन सप्रयोजनत्वमेवोपोद्बलितम्। धर्म इति विषयिगतः। स एव चोत्प्रेक्षणे निमित्तम्। तस्येति धर्मस्य। संभावनाश्रयस्येति विषयिणः। तत्रेति संभावनाश्रये विषये। इतरस्येति असंभवाश्रयस्य विषयस्य। यस्येति विषयिणः। अतश्चेति। अध्यवसायस्य साध्यमानत्वात्। असत्यस्यापीति। वस्तुतो विषयिणस्तत्रासंभवात्। सत्यताप्रतीतिरिति। निश्चयस्वभावत्वादतिशयोक्तेः। असत्यत्वनिमित्तत्वं तु धर्मसंचारात्। अतश्चेति धर्मसंचारान्निगीर्यमाणतायाः प्राधान्याभावात्। अध्यवसितप्राधान्यमिति। विषयस्य निगीर्णत्वाद्विषयिण एव प्राधान्यमित्यर्थः। साध्यत्वसिद्धत्वयोश्च समनन्तरमेव स्वरूपमुपपादितमितीह न पुनरायस्तम्। तत्रेति द्वयनिर्धारणे। अध्यवसाय इत्यादिशब्दैरुच्यत इति संबन्धः। एतदेवोपसंहरति—तदेवमित्यादि। यदाहुः—'विषयित्वेन संभावनमुत्प्रेक्षा' इति। प्रतीयमानायामिति। इवाद्यप्रयोगाच्छब्दानुपात्तत्वाद्व्यायां न व्यङ्ग्यायाम्, अलंकारप्रभेदानां प्रतिपिपादयिषितत्वाद् व्यङ्ग्यभेदाभिधानस्याप्रस्तुतत्वात्। एवं वाच्या प्रतीयमाना चोत्प्रेक्षा भवतीत्यनुवादद्वारेण विधिः। सा चेति। वैचित्र्यमिति। तस्य निगीर्यमाणत्वेनाप्राधान्यात्। प्रत्येकमिति जात्यादीनाम्। निमित्तस्येति धर्मस्य। तद्वशादेव हि प्रकृतगतत्वेनाप्रकृतोपनिबन्धः। हेतुस्वरूपफललक्षणमेवास्या भेदत्रयं जीवितभूतमिति तदेव विश्रान्तिधामतया पश्चादुद्दिष्टम्। जात्यादिभेदगणनं पुनर्वैचित्र्यावहमपि चिरंतनानुरोधात्कृतम्। अत एव ग्रन्थकृता प्रातिपद्येन नोदाहृतम्। अस्माभिश्च नोदाहरिष्यते। एषेति। समनन्तरोक्ता। तत्रापीति। सत्यामपि समनन्तरोद्दिष्टाया भेदगणनायाम्। प्रायःशब्देन च हेतुफलयोः कुत्रापि संभवोऽस्तीति दर्शितम्। अत एवालंकारानुसारिण्यां ग्रन्थकृतानयोरपि संभवो दर्शितः। तदेव द्वयस्य हेतुफलयोः संभवे प्रागुक्तैव संख्या ज्यायसी। अन्यथा त्वेतद्भेदषोडशकस्याभावादशीतिर्भेदाः। अस्याश्च वक्ष्यमाणनीत्या हेतुफलयोर्निमित्तानुपादानासंभवाच्चतुःषष्टिरेव भेदाः संभवन्ति। एतावन्त इति पण्णवतिः। अयं प्रकार इति। प्रतीयमानोत्प्रेक्षालक्षणः। प्राय इति। वाच्या यथा स्वरूपोत्प्रेक्षा लक्ष्येषु प्रचुरा तथेयं न भवतीत्यर्थः। न पुनरत्यन्तमेवास्या अभावो व्याख्येयः। क्वचिदपि लक्ष्येऽस्या दृष्टेः। यथासंभवमिति लक्ष्ये भेदनिर्देशः कार्यः। तस्याश्चाष्टचत्वारिंशद्भेदाः संभवन्ति। यदुक्तमलंकारानुसारिण्याम्—'प्रतीयमानोत्प्रेक्षाभेदाः

अष्टचत्वारिंशत्' इति । अर्थाश्रयापीति । अर्थाश्रयस्य यद्यपि शब्दहेतुकत्वं न क्वाप्युपयुक्तं तथापि श्लिष्टशब्दहेतुकत्वमस्याः क्वचिद्वैचित्र्यमावहतीत्यर्थः । उपमा उत्प्रेक्षायां पर्यवस्यतीति संबन्धः । आनन्त्यमिति बहुप्रकारत्वम् ।

इसी [उत्प्रेक्षासूत्र] की व्याख्या करते हैं—**विषय**—[निगरणेन] इत्यादि के द्वारा । **अभेदप्रतिपत्ति** = अभेदप्रतीति क्योंकि विषय [विषयी के] भीतर छिप जाता है। (सिद्ध अध्यवसाय के ही समान) साध्य अध्यवसाय भी संभावनाज्ञानात्मक होता है तथापि वस्तु = ज्ञान के विषय की दृष्टि से उस [सिद्ध अध्यवसाय] से इस [साध्यअध्य०] का भेद बतलाने के लिए लिखा—'**साध्य**' इत्यादि । जो संभावनाज्ञान प्रमाण = यथार्थज्ञान के कारण को [यथार्थज्ञान कराने में] सहायता देता है उसमें [संभावना के] विषय का विवेक निहित रहता है। विवेक का स्वरूप रहता है—[पुरोवर्त्ती] इस पदार्थ को [स्थाणु नहीं] पुरुष होना चाहिए यह । इसमें पुरुष की सत्यता वास्तविक होती है। [जहाँ तक साध्य अध्यवसाय का सम्बन्ध है] इसमें उस [पुरोवर्त्ती पदार्थ] पर इस [पुरुष] का अध्यवसाय प्रयोजनवशात् प्रतिपादित किया जाता है इसलिए संभावना के विषय पर संभाव्यमान वस्तु की वस्तुतः सत्यता नहीं रहती। इसी का प्रतिपादन करते हुए लिखा—'**असत्यतया**' प्रतीतिः = 'असत्यरूप से प्रतीति' इत्यादि । असत्यता में कारण बतलाते हुए लिखा—'**असत्यत्वं च**' = 'और असत्यत्व'—इत्यादि । '**विषय उपनिबन्धः**' = 'विषय में उपनिबन्ध' = अस्तित्व दिखलाना = अर्थात् विषयगत धर्म का अभेद कर अध्यवसित करना । इससे सप्रयोजनत्व की पुष्टि की गई । धर्म अर्थात् विषयिगत धर्म । उत्प्रेक्षा में निमित्त वही बनता है। '**तस्य** = उसका' अर्थात् धर्म का । संभावनाश्रयत्व = संभावना के आश्रय अर्थात् विषयी का । **तत्र** = उसमें अर्थात् संभावनाश्रय विषय में । **इतरस्य** = अन्य का अर्थात् असंभवाश्रय विषय का । **यस्य** = जिसका अर्थात् विषयी का । **अतश्च** = और इसलिए = क्योंकि अध्यवसाय साध्य है इसलिए । **असत्यस्यापि** **वस्तुनः** = वस्तु के असत्य होने पर भी—क्योंकि विषयी का अस्तित्व वहाँ वास्तविक नहीं केवल काल्पनिक होता है। **सत्यताप्रतीतिः** = क्योंकि अतिशयोक्ति निश्चय पर निर्भर रहती है। **असत्यत्वनिमित्तस्य** = असत्यत्व पर निर्भर = इसलिए कि इसमें [अन्य के] धर्म का [अन्य में] संचार रहता है। **अतश्च** = और इसलिए = धर्मसंचार के कारण निगीर्यमाणता की प्रधानता न रहने के कारण '**अध्यवसितप्राधान्यम्** = अध्यवसित की प्रधानता' = अर्थ यह कि विषय के निगीर्यमाण रहने से प्राधान्य विषयी का ही रहता है। साध्यत्व और सिद्धत्व का भेद अभी-अभी बतला आए हैं, इसलिए ग्रन्थकार ने उसके लिए पुनः यहाँ आयास नहीं किया । '**तत्र** = उनमें' यह दोनों के क्षेत्र अलग-अलग करने के लिए लिखा । इसका संबन्ध है 'अध्यवसा०००० इत्यादि शब्दों से कहा जाता है' इस अंश से । इसी का उपसंहार करते हुए लिखा—'तदेवम्=तो इस प्रकार' । जैसा कि कहा है 'विपयित्वरूप से संभावन उत्प्रेक्षा—[अलंकाररत्नाकर०] । '**प्रतीयमानायाम्** = प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में' इवादि का प्रयोग न रहने से शब्दतः कथन न रहने के कारण ऊह्य = [ऊहा = तर्क = तद्विषय] में, न कि व्यंग्य में, क्योंकि यहां प्रतिपादन अभीष्ट है अलंकारों के भेदों का, अतः यदि प्रतीयमान का अर्थ व्यंग्य किया गया तो वह अप्रस्तुत होगा । इस प्रकार 'उत्प्रेक्षा वाच्य और प्रतीयमान होती है'-इस प्रकार उत्प्रेक्षा के वाच्यत्व और प्रतीयमानत्व का विधान इवादि के प्रयोगाप्रयोग के विधान के द्वारा किया गया । '**सा च** = और वह' । '**न वैचित्र्यम्**' = 'कोई वैचित्र्य = चमत्कार नहीं होता' क्योंकि वह [विषय] निगीर्यमाण होने से अप्रधान रहता है। 'प्रत्येकम् = प्रत्येक का' = जाति आदि में से प्रत्येक का । '**निमित्तस्य** = निमित्त का' = धर्म का क्योंकि उसी के आधार

पर प्रकृत पर अप्रकृत का उपनिबन्ध रहता है। 'हेतु, स्वरूप तथा फल' ये ही तीन भेद इस [उत्प्रेक्षा] के प्रधान भेद हैं इसलिए वे ही विश्रान्तिस्थान = वाक्यार्थपर्यवसान विषय हैं, अतः पुनः जो भेद किए उनमें इन्हीं तीन भेदों को दोहराया गया। चमत्कार तो जात्यादि भेदों की गणना में भी नहीं है तथापि प्राचीन आलंकारिकों ने इनकी गणना की है इसलिए इन्हें यहाँ बतलाया गया है। इसीलिए ग्रन्थकार ने उनमें से प्रत्येक का उदाहरण नहीं दिया, और हम भी प्रत्येक का उदाहरण नहीं देंगे। 'एषा = यह' = अभी अभी कथित उत्प्रेक्षा। 'तत्रापि = उतने पर भी'—अर्थात् उपरोक्त भेदगणना के रहने पर भी। प्रायः शब्द के प्रयोग से यह बतलाया कि उत्प्रेक्षा के इस प्रकार में हेतूत्प्रेक्षा तथा फलोत्प्रेक्षा भी कहीं सम्भव होती हैं। इसीलिए 'अलंकारानुसारिणी' में ग्रन्थकार ने इन दोनों भेदों का भी सम्भव दिखलाया है। तो इस प्रकार द्रव्योत्प्रेक्षा में भी हेतु और फल के सम्भव होने से वही संख्या अधिक उपयुक्त है जो अभी-अभी बतलाई गई है। नहीं तो इन सोलह भेदों की कमी हो जाने से उत्प्रेक्षा की कुल भेदगणना केवल अस्सी तक पहुँच सकेगी। इस उत्प्रेक्षा के केवल चौंसठ भेद होते हैं क्योंकि इसमें होने वाली हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में, जैसा कि आगे बतलाया जाने वाला है, निमित्तानुपादान सम्भव नहीं होता। 'एतावन्त एव = इतने ही' छियानवे हो। 'अयं प्रकार = यह प्रकार' = प्रतीयमानोत्प्रेक्षारूप प्रकार। 'प्रायः' = अर्थ यह कि जिस प्रकार वाच्य स्वरूपोत्प्रेक्षा के स्थल अधिक मिलते हैं उतने इस [प्रतीयमाना] के नहीं। यह नहीं कि इसके स्थल बिलकुल ही नहीं मिलते। क्योंकि कहीं-कहीं यह भी दिखाई देती है। 'यथा-संभवम् = यथासम्भव' = अर्थात् लक्ष्य में जितने भेद हो सकें उतने ही भेदों का निर्देश किया जाना चाहिए। ऐसा करने पर इसके केवल ४८ भेद ही होते हैं। जैसा कि 'अलंकारानुसारिणी'— में कहा है—'प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के भेद ४८ ही होते हैं।' 'अर्थाश्रयापि = अर्थ पर आश्रित होने पर भी' = जो अर्थ पर आश्रित या निर्भर रहता है उसमें शब्दहेतुकता कहीं भी उपयुक्त नहीं तथापि इसमें श्लिष्टशब्दहेतुकता भी कहीं कहीं चमत्कारकारिणी होती है। 'उपमा उत्प्रेक्षा में पर्यवसित हो जाती है'—इस प्रकार की पदार्थयोजना यहाँ [क्वचित् पदार्थान्वय ०० वाक्य में] विवक्षित है। 'आनन्त्यम् = अनन्तता' = प्रकारों की बहुतायत।

[सर्वस्व]

साम्प्रतं विषयं दिङ्मात्रेणोदाह्रियते। तत्र जात्युत्प्रेक्षा यथा—

'स वः पायादिन्दुर्नवबिसलताकोटिकुटिलः
स्मरारेर्यो मूर्ध्नि ज्वलनकपिशो भाति निहितः।
स्रवन्मन्दाकिन्याः प्रतिदिवससिक्तेन पयसा
कपालेनोन्मुक्तः स्फटिकधवलेनाङ्कुर इव ॥'

अत्राङ्कुरशब्दस्य जातिशब्दत्वाज्जातिरुत्प्रेक्ष्यते।

[सू०] अब इस [उत्प्रेक्षा] के दिग्दर्शन के लिए कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं। पहिले उक्त भेदों में से जात्युत्प्रेक्षा का उदाहरण, यथा—

'आपकी रक्षा वह चन्द्र करे, नवीन कमलककड़ी [बिसलता] की नोंक सा कुटिल, कामारि [शिव] के माथे पर निहित, अत एव [तृतीय-नेत्र की] अग्नि से पीला होने से जो ऐसा लगता है जैसे [शिव के ही] निरन्तर बहती मन्दाकिनी से प्रतिदिन सिक्त स्फटिकधवल ललाट [कपाल, न कि खप्पर] से फूट पड़ा कोई अंकुर हो।'

—यहाँ अंकुरशब्द जातिवाचक शब्द है इसलिए उत्प्रेक्षा जाति की ही हो रही है।

विमर्शः—संजीविनी के अनुसार यहाँ कुटिलतारूपी गुण कारण है। अंकुरशब्द जाति का वाचक है। इसलिए यह उत्प्रेक्षा उपात्तगुणनिमित्ता भावाभिमानरूपिणी जात्युत्प्रेक्षा हुई। यहाँ स्वरूपमात्र की उत्प्रेक्षा है, न हेतु की और न फल की, जब कि भेद प्रतिपादन में पहले हेतु की उत्प्रेक्षा बतलाई गई है उसके बाद स्वरूप की। इस प्रकार यहाँ गणनाक्रम का विरोध है। इससे यह सिद्ध होता है कि अन्य दो भेदों के उदाहरण देना ग्रन्थकार को अभीष्ट नहीं है।

यहाँ 'ज्वलनकपिशो' के स्थान पर नि० सा० संस्करण और मोतीलाल बना० संस्करण में 'ज्वलनकपिशे' छपा है। वामन की काव्यालंकारसूत्रवृत्ति तथा चित्रमीमांसा में भी यही पाठ मिलता है। इस पाठ में इस विशेषण को 'मूर्धा' का विशेषण माना गया है। किन्तु 'चन्द्रकला' को अंकुररूप से प्रतिपादित करने के लिए उसी में पीलापन बतलाया जाना उचित है। भाल के पीलेपन का यहाँ कोई उपयोग नहीं है। अतः हमने इसे 'ज्वलनकपिशो' बना दिया है। इसी प्रकार 'कपाल' का अर्थ शिव के गले की मुण्डमाला का कपाल या खप्पर करना भी गलत है क्योंकि गंगा द्वारा अभिषेक शिव के ललाट का ही प्रसिद्ध है, अन्य कपाल का नहीं। फिर सिर पर स्थित चन्द्रमा पर अंकुर की कल्पना करने के लिए उसका उत्पत्तिस्थान सिर के पास का ललाट ही माना जा सकता है गले में पड़ा मुण्ड अथवा हाथ में रखा खप्पर नहीं। यहाँ अंकुर के तीन धर्म, चन्द्रकला में बतलाए गए हैं—सफेदी, पीलापन तथा टेढ़ापन। इसमें से सफेदी और टेढ़ेपन के लिए उसे कमलिनी की जड़ से मिलाया गया है और पीलेपन के लिए ज्वलनकपिश बतलाया गया है। अंकुर भी सफेदी, पीलेपन तथा टेढ़ेपन से युक्त रहता है।

यहाँ निहित का अर्थ गड़ा हुआ करना व्यर्थ है। यद्यपि निहित, निधान, निधि आदि शब्द मूलतः गड़े हुए पदार्थ के ही प्रतिपादक शब्द हैं। यहाँ निहित के स्थान पर विधृत भी कहा जा सकता है। बिस का अर्थ कमल की नाल नहीं कमल की जड़ होता है। डॉ वासुदेवशरणजी ने 'कादम्बरी : एक संस्कृतिक अध्ययन' में कमलककड़ी सर्वथा उचित कहा है। नाल तो हरी होती है। इसी प्रकार अंकुर शब्द फल और पुष्प के ही उद्भेद के लिए प्रयुक्त होता है, न कि नवीन पत्ते के लिए। तदर्थ 'किसलय' शब्द का प्रयोग होता है। फिर चन्द्रमा की सोलहवीं कला कोंपल के समान हो भी नहीं सकती। किसलय भी ललाई के लिए प्रसिद्ध होता है पीलेपन के लिए नहीं। इसमें वक्रता भी नहीं रहती। अंकुर सामान्यतः पीलेपन के लिए ही प्रसिद्ध होता है। ललाई के लिए बहुत कम। उसमें वक्रता भी अप्रसिद्ध नहीं।

[सर्वस्व]

क्रियोत्प्रेक्षा यथा—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।'

अत्र लेपनवर्षणक्रिये तमोनभोगतत्वेनोत्प्रेक्ष्येते। उत्तरार्धे तु

असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता॥'

इत्यत्रोपमैव नोत्प्रेक्षा।

गुणोत्प्रेक्षा यथा—

'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्॥'

अत्र दुःखं गुणः।

द्रव्योत्प्रेक्षा यथा—

पातालमेतन्नयनोत्सवेन विलोक्य शून्यं मृगलाञ्छनेन।
इहाङ्गनाभिः स्वमुखच्छलेन कृताम्बरे चन्द्रमयीव सृष्टिः॥'

अत्र चन्द्रस्यैकत्वाद् द्रव्यत्वम्। एतानि भावाभिमाने उदाहरणानि।

[वृत्ति] क्रियोत्प्रेक्षा यथा—

'अन्धकार अंग अंग को लीप सा रहा है।
[आकाश कज्जलवृष्टि सी कर रहा है।'—मृच्छकटिक]

—यहाँ तम और नभ [रूपी धर्मी] में क्रमशः लेपनक्रिया तथा वर्षणक्रिया [रूपी धर्म] की उत्प्रेक्षा की जा रही है। [इस पद्य के]—

'दृष्टि असत् पुरुष की सेवा की नाईं विफल हो गई है।'—

—इस उत्तरार्ध में उपमा ही है, उत्प्रेक्षा नहीं। [सामान्यतः क्रियापद के साथ प्रयुक्त 'इव' पद उत्प्रेक्षावाचक होता है। उत्तरार्ध में वैसा नहीं है। वस्तुतः 'वर्षतीवाञ्जनं नभः'—में भी द्रव्योत्प्रेक्षा ही है क्योंकि यहाँ कज्जल की ही उत्प्रेक्षा में कविसंरम्भ है]।

गुणोत्प्रेक्षा यथा—

'[हे वैदेहि!] यह वह स्थल है जहाँ तुम्हें खोजते हुए मुझे भूमि पर पड़ा [तुम्हारा] एक नूपुर दिखा था जो मानों तुम्हारे चरणारविन्द के वियोग के दुःख से चुप्पी साधे था।' [रघुवंश-१३]

—यहाँ [जिसकी उत्प्रेक्षा हो रही है वह] दुःख गुण है।

द्रव्योत्प्रेक्षा यथा—

'इस पाताल को नेत्रोत्सव मृगाङ्क से शून्य देख सुन्दर वनिताओं ने यहाँ अपने मुखों के बहाने आकाश में मानों चन्द्र ही चन्द्र की सृष्टि कर डाली है।' [श्रीरामचन्द्र द्विवेदी ने इसके अनुवाद में एक तो आकाश को छोड़ दिया है दूसरे उनके अनुवाद में सम्भावना का विषय सृष्टि सिद्ध होती है, चन्द्र नहीं फलतः वह क्रियोत्प्रेक्षा सिद्ध होती है द्रव्योत्प्रेक्षा नहीं।]

—'यहाँ चन्द्रशब्द द्रव्यवाचक है क्योंकि चन्द्रमा केवल एक ही होता है।'

ये सब उदाहरण हैं भावात्मक [Positive पदार्थों की] उत्प्रेक्षा के।

विमर्शिनी

सांप्रतमिति प्राप्तावसरम्। दिङ्मात्रेणेति। अनेन जात्यादिभेदानामनवक्लृप्तिर्व्यञ्जिता। तमोगतत्वेनेति। तमोगतव्यापनादिधर्मनिगरणेनेत्यर्थः। अत्र हि तमसो धर्मिणोऽन्यधर्मधर्मित्वं निगीर्यान्यधर्मधर्मित्वमत्रस्थापितमित्यग्र एव वक्ष्याम। द्रव्योत्प्रेक्षेति। द्रव्यस्य स्वरूपेणोत्प्रेक्षणम्। तस्यैव हि हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'जयति शिशिरतायाः कारणं सा हिमाद्रेः
त्रिपुरहरकिरीटादापतन्ती द्युसिन्धुः।
सततसहनिवासी क्षीरसिन्धोः प्रसूतो
हिमकर इव हेतुः शैत्यशैत्यस्य यस्याः॥'

अत्रेन्दोर्द्रव्यस्य हेतुत्वेनोत्प्रेक्षणम्। फलोत्प्रेक्षा यथा—

'मध्येसलिलमादित्यसंमुखं धूलिधूसराः।
कुमुदिन्यस्तपस्यन्ति चन्द्रायेव दिने दिने॥'

अत्र चन्द्रस्य द्रव्यत्वम्। एषामेव भावाभिमानोदाहरणत्वमतिदिशति—एतानीत्यादिना।

साम्प्रतम्=अब अवसर आ जाने पर। दिङ्मात्रेण=दिग्दर्शनमात्र, इससे यह संकेत दे दिया गया कि जाति आदि भेदों के अवान्तर भेदों के उदाहरण नहीं दिए जावेंगे। तमोगतत्वेन=तम में=अर्थ यह कि तमोगत व्याप्त आदि धर्म के निगरण के द्वारा। हम यह अभी आगे चलकर बतलावेंगे कि तमरूपी धर्मी में अन्य धर्म से युक्त होना छिपाकर [निगीर्ण कर] अन्य धर्म से युक्त होना ठहराया गया है। द्रव्योत्प्रेक्षा द्रव्य की अपने रूप से उत्प्रेक्षा [स्वरूपोत्प्रेक्षा]। द्रव्य की ही हेतुरूप से उत्प्रेक्षा का उदाहरण—

'हिमाद्रि में जो शिशिरता है उसका कारण है शिव के शिर से गिरती गंगा, जो [गंगा] मानों चन्द्रमा की सफेदी और शीतलता से सफेद और शीतल है क्योंकि वह चन्द्र सदा गंगा के समीप ही [हरजटाजूट में] रहता है। वह [स्वयं सफेद इसलिए है कि वह] क्षीरसागर से उत्पन्न हुआ है, उसकी किरणें शीतल होती हैं।

—यहाँ जो द्रव्यरूप चन्द्रमा है उसको हेतुरूप से उत्प्रेक्षा की जा रही है। द्रव्य की ही फलरूप से उत्प्रेक्षा का उदाहरण यथा—

'कुमुदिनियाँ जो प्रतिदिन सूर्य की ओर मुँह करके और धूलि [-पराग-] धूसर होकर पानी के बीच तप करती हैं वह मानों चन्द्रमा के ही लिए।'

—यह चन्द्रमा द्रव्य है [और उसे फलरूप से बतलाया गया है]।

इन्हीं उदाहरणों को भावाभिमान के उदाहरण बतलाते हुए लिखते हैं—एतानि।

[सर्वस्व]

अभावाभिमाने यथा—

'कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ॥'

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावाभिमानः। एवं जात्यादावप्यूह्यम्।

गुणस्य निमित्तत्वं यथा—'नवबिसलताकोटिकुटिलः' इत्यत्रोदाहृते कुटिलत्वस्य। क्रियाया यथा—'ईदृक्षां क्षामतां गतौ' इत्यत्र क्षामतागमनस्य। निमित्तोपादानस्यैते उदाहरणे। अनुपादाने 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्याद्युदाहरणम्।

हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' इत्यादौ।

स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

'कुबेरजुष्टां दिशमुष्णरश्मौ गन्तुं प्रवृत्ते समयं विलङ्घ्य।
दिग् दक्षिणा गन्धवहं मुखेन व्यलीकनिःश्वासमिवोत्ससर्ज॥'

फलोत्प्रेक्षा यथा—

'चोलस्य यद्भीतिपलायितस्य भालत्वचं कण्टकिनो वनान्ताः ।
अद्यापि किं वानुभविष्यतीति व्यपाटयन्द्रष्टुमिवाक्षराणि ॥'

एवं वाच्योत्प्रेक्षाया उदाहरणदिग् दत्ता । प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

'महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमाअंती ।
अणुदिणमणण्णअम्मा अंगं तणुअंपि तणुएइ ॥'

अत्र—अमाअंतीत्यवर्तमानेवेति तनूकरणहेतुत्वेनोत्प्रेक्षितम् ।

एवं भेदान्तरेष्वपि ज्ञेयम् ।

[वृत्ति] अभाव [Negative पदार्थों की] उत्प्रेक्षा यथा—'बड़े खेद की बात है कि इस [पार्वती] के वे, वैसे कपोल इस, ऐसी क्षामता [दुर्बलता] को प्राप्त हो गए। ऐसा कदाचित् इस लिए हुआ कि वे एक दूसरे को देख नहीं पा रहे हैं [जैसे दो सहोदर भाई परस्पर के आत्यन्तिक वियोग से प्रेमवश सूख जाते हैं]।

—यहाँ 'अपश्यन्ती = न देख पाने'-इस प्रकार [दर्शन =] क्रिया के अभाव की उत्प्रेक्षा है।

इसी प्रकार जाति आदि [की उत्प्रेक्षाओं] में भी [अभाव के उदाहरण] समझे जा सकते हैं।

[उत्प्रेक्षा का] निमित्त जहाँ गुणरूप होता है ऐसा स्थल यथा—['स व पाया-दिन्दु:०' पद्य में—] 'नवबिसलताकोटिकुटिल = नवीन कमलककड़ी की नोंक सा कुटिल'— इस [अंश] में [कही गयी] निर्दिष्ट कुटिलता।

निमित्त जहाँ क्रियारूप होता है यथा—'ईदृक्षां क्षामतां गतौ = ऐसी कृशता को प्राप्त'—इस अंश में कृशता को प्राप्त होना।

उक्त दोनों ऐसे उदाहरण हैं जिनमें निमित्त का उपादान [शब्दतः कथन] है। [निमित्त के] अनुपादान के उदाहरण हैं 'तम अंग-अंग को लीप सा रहा है'—इत्यादि।

हेतूत्प्रेक्षा यथा—['सैषा स्थली यत्र०'-पद्य में-]

'मानों वियोगदुःख से चुप्पी साधे'-इत्यादि में।

स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—[शिव के तपोवन में सहसा वसन्त ऋतु के आरम्भ होने लगने पर]

सूर्य, जब समय [दक्षिणायन काल तथा निश्चित मिलनकाल] का उल्लंघन कर कुबेरसेवित [उत्तर] दिशा की ओर चलने लगा तो दक्षिणदिशा ने अपने मुख [दिग्भाग तथा मुँह] से मलयमारुत छोड़ना शुरू किया, मानों वह उसकी विप्रियजनित उसाँस हो। [कुमार-संभव सर्ग-३]

फलोत्प्रेक्षा यथा—

'जिसके भय से भागे चोलदेशाधिप के भाल की त्वचा को काँटेदार जंगल मानों यह देखने के लिए फाड़ रहे थे कि 'अब इसे और क्या भोगना है'।

इस प्रकार वाच्य उत्प्रेक्षा के उदाहरणों का दिग्दर्शन किया।

प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के उदाहरण ये हैं—

'महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनयति ॥'

—'हे सुभग [सुन्दरियों के प्रेमपात्र] ! वह बेचारी सहस्रों महिलाओं से भरे तुम्हारे हृदय में जगह नहीं पा सक रही है, अतः वह और कुछ नहीं करती, केवल अपनी स्वभावतः दुबली काया को और भी दुबली बनाती जा रही है ।'

—यहाँ 'जगह नहीं पा सक रही है' इसे काया को दुबली बनाने में हेतुरूप से उत्प्रेक्षित किया जा रहा है अर्थात् 'मानों तुम्हारे हृदय में स्थान न पा सकने से वह अपनी स्वतः दुबली काया को और भी दुबली करती जा रही है ।'

इसी प्रकार अन्य भेदों में भी समझ लेना चाहिए ।

विमर्शिनी

अभ्यूह्यमिति अभावाभिमानोदाहरणम् । निमित्तोपादानस्येति । कुटिलत्वस्य श्यामतागमनस्य च साक्षान्निर्देशात् । अनुपादान इति । तिरोधायकत्वादेर्निमित्तस्य गम्यमानत्वात् । भेदान्तरेष्विति स्वरूपफलादिकेषु । ज्ञेयमिति प्रतीयमानत्वात् । तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

'मलअसमीरसमागमसंतोसपणिच्चाराभिसन्नत्तो ।
विध्याहइ चलकिसलअकराहि साहाहि महुलच्छी ॥'

अत्र मधुलक्ष्मीनतत्वेन चलकिसलयकरत्वादि निगीर्य व्याहरणक्रिया स्वरूपेणोत्प्रेक्षिता । तदौन्मुख्योत्पादकत्वादि च निमित्तमनुपात्तम् । यत्पुनरुद्देशे प्रतीयमानोत्प्रेक्षायां निमित्तानुपादानं न संभवतीत्युक्तं तत्र प्रायस्तस्याः स्वरूपोत्प्रेक्षणस्यासंभवो निमित्तम् । ग्रन्थकृतो हि प्रतीयमानोत्प्रेक्षा हेतुफलरूपैव भवतीत्यभिप्रायः । हेतुफलोत्प्रेक्षणयोश्च वक्ष्यमाणनीत्या निमित्तानुपादानं न संभवतीत्याशयेनैतदुक्तम् । तेन प्रतीयमानापि स्वरूपोत्प्रेक्षा निमित्तोपादानानुपादानाभ्यामेव भवति । तत्र निमित्तानुपादाने उदाहृता । उपादाने तु यथा—

'प्रसारि सर्वतो विश्वं तिरोदधदिदं तमः ।
सर्वाङ्गं लिम्पति जनं सान्द्रैरमृतकूर्चकैः ॥'

अत्र प्रसारित्वादि निगीर्य तमोगतत्वेन लेपनक्रिया स्वरूपेणोत्प्रेक्षिता तिरोधायकत्वादि च निमित्तम् ।

'तुरीयो ह्येष मेध्योऽग्निराम्नायः पञ्चमोऽपि वा ।
अपि वा जङ्गमं तीर्थं धर्मो वा मूर्तिसंचरः ॥'

इत्यादौ तु वामनमते विशेषोक्तिः—'भूतलकार्तिकेयः' इतिवत् । ग्रन्थकृन्मते तु दृढारोपं रूपकम् । यद्वक्ष्यति—धा त्वेकहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिरिति विशेषोक्तिर्लक्षिता सास्मद्दर्शने रूपकभेद एवेति । अत एवात्र तत्सामग्र्यभावादुत्प्रेक्षोदाहरणत्वं न वाच्यम् । एवम् 'अपरः पाकशासनो राजा' इत्यत्रापि दृढारोपमेव रूपकम् । एतच्चालंकारानुसारिण्यामुत्प्रेक्षाविचारे ग्रन्थकृतैव दर्शितम् । फलोत्प्रेक्षा यथा—

'दिज्जंते मंगलगाहिआहि वरगोत्तदत्तकण्णाए ।
सोत्तुं विणिग्गओ उअह होंतवहुआहि रोमंचो ॥'

अत्र श्रोतुमिवेति फलमुत्प्रेक्षितम् ।

'अभ्यूह्यम् = समझ लेना कल्पना कर लेना चाहिए'—अर्थात् अभावात्मक उत्प्रेक्षा को। 'निमित्तोपादानस्य = निमित्त के उपादान के' [उदाहरण, इसलिए कि = उक्त उदाहरणों में] कुटिलता और क्षामता को प्राप्त होना इन दोनों का साक्षात् शब्दत निर्देश है, 'अनुपादान = निमित्त का उपादान न रहने पर' क्योंकि [लिम्पतीव तमोऽङ्गानि० आदि में] निमित्तभूत जो तिरोधायकत्वादि धर्म हैं वे प्रतीयमान हैं। 'भेदान्तरेषु = अन्य भेदों में' = स्वरूपोत्प्रेक्षा फलोत्प्रेक्षा आदि भेदों में। 'ज्ञेयम् = जानना चाहिए'—क्योंकि उनमें भी उत्प्रेक्षा प्रतीयमान ही होती है। इनमें स्वरूपोत्प्रेक्षा यथा—

'मलयसमीर समागम-सन्तोष-पाटच्चराभि सर्वत्र।
विव्याहरति चलकिसलयकराभि शाखाभिर्मधुलक्ष्मी ॥'

—'मधुलक्ष्मी मलयपवन के समागम के सन्तोष को चुरा लेने वाली किसलयों से चञ्चल हाथों वाली शाखाओं से जहाँ तहाँ, सब कहीं बोल रही है।'

—यहाँ मधुलक्ष्मी में चलकिसलयकरत्व का निगरण कर व्याहरण = बोलना = क्रिया के स्वरूप की उत्प्रेक्षा है। इसमें कारण है उसकी ओर अनुराग उत्पन्न करना आदि। वह अनुपात्त है। उत्प्रेक्षा गिनाते समय यह जो कहा है कि 'प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान संभव नहीं होता' इसका कारण यह है कि इस प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में प्राय॰ स्वरूप की उत्प्रेक्षा संभव नहीं होती। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि प्रतीयमान उत्प्रेक्षा केवल हेतूत्प्रेक्षारूप और फलोत्प्रेक्षारूप ही होती है। अर्थात् उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में आगे बतलाए क्रम से निमित्त का अनुपादान संभव नहीं होता। इसका निष्कर्ष यह निकला कि स्वरूपोत्प्रेक्षा प्रतीयमान होने पर भी दो प्रकार की होती है। एक वह जिसमें निमित्त का उपादान रहता है और दूसरी वह जिसमें नहीं रहता। दोनों में से निमित्त के अनुपादान से होने वाली स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण दे दिया गया है। उपादान में होने वाली स्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण यह है—

'यह अन्धकार सब ओर फैल रहा है और विश्व भर को छिपाता आ रहा है। यह प्रत्येक व्यक्ति के अंग अंग को अमृत की घनी कूचियों से लीपता जा रहा है।

—यहाँ प्रसारित्व = फैलने वाला होना निगरण कर लेपन क्रिया के स्वरूप की अन्धकार के ऊपर उत्प्रेक्षा की जा रही है। उसमें निमित्त है तिरोधायकत्वादि [जो कि शब्दतः कथित = उपात्त है]।

'यह [आवहनीय, दीक्षणीय तथा गार्हपत्य इन तीन यज्ञाग्नियों से भिन्न] चतुर्थ यज्ञाग्नि है अथवा पाँचवा वेद है, अथवा चलता फिरता तीर्थ है या तो मूर्तिमान् होकर घूमता फिरता धर्म है।'

—इत्यादि में [काव्यालंकार सूत्रकार] वामन के अनुसार विशेषोक्ति अलंकार है जैसे 'भूतस्कार्त्तिकेय = पृथिवी पर उतरा स्कन्द या कार्तिकमास अथवा कार्तिक पूर्णिमा का चन्द्र—' इस स्थल में माना जाता है। ग्रन्थकार के मत में यहाँ दृढारोप रूपक ही है। जैसा कि आगे चलकर कहेंगे— 'विशेषोक्ति का 'एक [गुण की] हानि कल्पित कर साम्य की दृढता विशेषोक्ति होती है'—यह जो लक्षण [वामन ने] किया है, यह हमारे अनुसार रूपक का ही एक भेद है। इसीलिए इसे उत्प्रेक्षा का उदाहरण नहीं माना जा सकता क्योंकि यहाँ उत्प्रेक्षा की सामग्री नहीं है। इसी प्रकार 'यह राजा दूसरा इन्द्र है'—यहाँ भी दृढारोप रूपक ही मान्य है। यह सब अलंकारानुसारिणी में उत्प्रेक्षा पर विचार करने समय स्वयं ग्रन्थकार ने ही प्रतिपादित किया है।

फलोत्प्रेक्षा यथा—

गृहान्ते मङ्गलग्राहिकाभिर्वरगोत्रदत्तकर्णायाः ।
श्रोतुं विनिर्गतः पश्यत भविष्यद्वध्वा हि रोमांचः ॥

गृहकर्म के बाद मंगलग्राहिकाओं द्वारा लिए गये वर के नाम पर दत्तकर्णा भविष्य वधू का रोमांच देखो जो मानों [उसी नाम को] सुनने के लिए निकली है।

—यहाँ 'मानों सुनने के लिए' इस प्रकार फल की उत्प्रेक्षा की गई है।

[सर्वस्व]

श्लिष्टशब्दहेतुर्यथा—

'अनन्यसामान्यतया प्रसिद्धस्त्यागीति गीतो जगतीतले यः ।
अभूदहंपूर्विकया गतानामतीव भूमिः स्मरमार्गणानाम् ॥'

अत्र धर्मविषये मार्गणशब्दः श्लिष्टः ।

[वृत्ति] श्लिष्टशब्दहेतुक [उत्प्रेक्षा] यथा—

"अन्य [त्यागियों] जैसा [क्षुद्र] न होने से 'प्रसिद्ध त्यागी, प्रसिद्ध त्यागी' इस प्रकार गाया जाने वाला जो काम के होड़ लगाकर पहुँचने वाले मार्गणों [बाण तथा याचकों] का बहुत ही अधिक लक्ष्य बना हुआ था।"

—यहाँ [वर्णनीय व्यक्ति में मार्गण अर्थात् याचकस्वरूप कामबाणों का विषय बनना] धर्म उत्प्रेक्षित किया जा रहा है तद्वाचकशब्द 'मार्गण' यहाँ [याचक तथा बाण इन दो अर्थों का प्रतिपादक होने से] श्लिष्ट है।

विमर्शिनी

श्लिष्ट इत्यर्थद्वयवाचकत्वात् ।

श्लिष्ट इसलिए कि वह [मार्गण शब्द] याचक तथा बाण दोनों अर्थों का वाचक है।

[सर्वस्व]

उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

'कस्तूरीतिलकन्ति भालफलके देव्या मुखाम्भोरुहे
रोलम्बन्ति तमालबालमुकुलोत्तंसन्ति मौलावपि ।
याः कर्णे विकचोत्पलन्ति कुचयोरङ्के च कालागुरु-
स्थासन्ति प्रथयन्तु तास्तव शिवं श्रीकण्ठकण्ठत्विषः ॥'

अत्र यद्यपि 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विप्' इत्युपमानात्क्विब्विधानमुखे उपमाप्रतीतिस्तथाप्युपमानस्य प्रकृते संभवौचित्यात्संभावनोत्थाने उत्प्रेक्षायां पर्यवसानम् । यथा वा विरहवर्णने 'केयूरायितमङ्गदैः' इत्यादौ । एषापि समस्तोपमाप्रतिपादकविषयेऽपि हर्षचरितवार्तिके साहित्यमीमांसायां च तेषु तेषु प्रदेशेषूदाहृता, इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न प्रपञ्चिता ।

[वृ०] ऐसी उत्प्रेक्षा का उदाहरण जिसके आरम्भ में उपमा प्रतीत हो—"नीलकण्ठ भगवान् शिव के कण्ठ की वे किरणें आपकी कल्याणवृद्धि करें जो भगवती पार्वती के ललाट पट्ट पर कस्तूरी

तिलक का काम करती हैं, उनके मुख कमल पर भ्रमर का, सिर पर तमाल की नन्हीं नन्हीं कलियों के उत्तंस का, कान में खिले हुए नीलकमल का और आँचर के ऊपर काले अगर के थापे का।'

—यहाँ यद्यपि आरम्भिक वाक्यार्थप्रतीति में प्रतीत होती है उपमा; क्योंकि कस्तूरीतिलकन्ति आदि नामधातु पदों में प्रकृतिरूप से प्रयुक्त 'कस्तूरीतिलक' आदि नामशब्द तभी क्रियाशब्द बनते हैं जब वे उपमानार्थक होते हैं, एतदर्थ पाणिनिव्याकरण के नियम 'सभी प्रातिपदिकों से क्विप्' [वार्तिक ३।१।११] के अनुसार उनमें क्विप् प्रत्यय लगता है और वह लगता है केवल उपमानार्थक शब्द के साथ ही, तथापि अन्तिम वाक्यार्थ प्रतीति में प्रतीत होती है उत्प्रेक्षा ही, क्योंकि [इस वाक्यार्थ में आए] कस्तूरीतिलक आदि उपमानों का इसी प्रसंग में वर्णित ललाट आदि में होना भी संभव है, अत यहाँ [उत्प्रेक्षा का बीज] संभावना उठ खड़ी होती है। [अलङ्काररत्नाकरकारने यहाँ परिणामगर्भोपमा मानी है] और जैसे विरहवर्णन में 'अंगदों ने केयूर का काम किया' इत्यादि स्थलों में [देखा जाता है]।

[उत्प्रेक्षा के आरम्भ में प्रतीत होने वाली] यह उपमोपक्रमोत्प्रेक्षा वहाँ भी होती है जहाँ उपमा का प्रतिपादक शब्द भी विद्यमान रहता है किन्तु समास में। इसके उदाहरण हर्षचरित वार्तिक और साहित्यमीमांसा में तो उन उन स्थलों में अनेक बार प्रस्तुत किए हैं, किन्तु यहाँ विस्तारपूर्वक विवेचन नहीं किया केवल ग्रन्थविस्तार के भय से [टीकाकार ने उदाहरण दे दिया है]।

विमर्शिनी

आमुख इति न पुनः पर्यवसाने। उपमाप्रतीतिरिति। तदर्थमेव क्विपः प्रवृत्तेः। अत एवात्र वाचकाभावादनोत्प्रेक्षात्वमिति न वाच्यम्। नहि वाचकसद्भावासद्भावमात्रमेवालंकाराणां भावाभावप्रयोजकम्। एवं हि व्याजस्तुतौ निन्दादेर्वाच्यत्वेऽप्यवाच्यस्य स्तुत्यादेः प्रतीतिरलंकारत्वपर्यवसायिनी न स्यात्। तस्माद्वाक्यार्थ एव प्ररूढोऽलंकाराणां स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणम्। वाक्यार्थस्य च पदार्थान्वयवेलातोऽन्यैव प्रतिपत्तिः। समवौचित्यादिति। कस्तूरीतिलकादेर्विषयिणो भालफलकादौ संभवे यथौचित्यं न तथा कण्ठविवरादेर्विषयस्येत्यर्थः। अत एवात्रोपमाया प्रकृतस्याप्रकृतकस्तूरीतिलकादिरूपतया परिणामात्परिणामगर्भत्वं यदन्यैरुक्तं तत्तेषां परिणामस्वरूपानभिज्ञत्वम्। न ह्यौचित्यमेव तस्य स्वरूपं किं [illegible] यथोक्तं प्रकृतोपयोगित्वम्। औचित्यं च नोत्प्रेक्षाया विरुद्धम्। तस्य सर्वत्रैव भावात्। उत्प्रेक्षायां पर्यवसानमिति। कण्ठविवरादेव कस्तूरीतिलकत्वादिप्रतीतेर्विषयिणो विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तेः सादृश्यावगमाभावात्। सादृश्यं ह्युभयनिष्ठम्। न चात्र प्रकृताप्रकृतयोः संस्पर्शितया प्रतीतिः। यथा वेश्यनेनास्या उभयं प्राचुर्यं दर्शितम्। समस्तोपमाप्रतिपादकविषये दृश्यमाना। सा तु यथा—

'[illegible] दण्डपादो भवदण्डपादमुत्खण्डयन्रचतु चण्डिकायाः।
यस्येन्दुलेखा पुरतः स्फुरन्ती त्रुट्यत्तुलाकोटितुलामुपैति॥'

अत्र सत्यपि तुलाशब्दे चन्द्रलेखाया एव तुलाकोटित्वप्रतीतेरुत्प्रेक्षात्वम्।

आमुख = आरम्भ में अर्थात् पर्यवसान = अन्त में नहीं। उपमाप्रतीति क्योंकि क्विप् प्रत्यय होता है उसी अर्थ में है। इसलिए यह कथन कि 'यहाँ वाचक नहीं है अतः उत्प्रेक्षा नहीं हो सकती,' ठीक नहीं। वाचक का होना या न होना मात्र अलङ्कारों के होने या न होने में कारण

नहीं माना जाता। यदि ऐसा माना जाय तो व्याजस्तुति में निन्दा या स्तुति के किसी एक पक्ष के वाच्य रहने पर भी तद्विरुद्ध स्तुति या निन्दा का द्वितीय पक्ष अवाच्य रहता है और उस [द्वितीय पक्ष] का ज्ञान ही वहाँ अलंकाररूप में पर्यवसित होता हुआ माना जाता है, वह संभव न होगा। इसलिए निष्पन्न वाक्यार्थ को ही अलंकारों के स्वरूप का प्रतिष्ठापक प्रमाण मानना उचित है। जहाँ तक वाक्यार्थज्ञान का सम्बन्ध है उसका स्वरूप पदार्थों के सम्बन्ध के समय होने वाले ज्ञान से भिन्न ही होता है।

संभवौचित्यात् अर्थ यह कि जितना औचित्य कस्तूरीतिलक आदि विषयी के ललाटपट्ट आदि में संभव होने में है उतना कण्ठकान्ति आदि विषय के संभव होने में नहीं। और इसीलिए [अलंकाररत्नाकरकार आदि] अन्य आलंकारिकों ने जो इस पद्य में उपमा मानी है और उसे भी जो प्रकृत कण्ठकान्ति को अप्रकृत कस्तूरीतिलक आदि रूप से परिणत मान परिणामगर्भित उपमा बतलाई है वह उनने अपना परिणाम के स्वरूप का अज्ञान ही जाहिर किया है। केवल औचित्य से ही परिणामालंकार निष्पन्न नहीं होता, उसकी निष्पत्ति प्रकृतोपयोग से होती है। और केवल औचित्य उत्प्रेक्षा में विरोधी नहीं होता, क्योंकि वह तो सर्वत्र ही रहता है।

उत्प्रेक्षायां पर्यवसानम्=उत्प्रेक्षा में पर्यवसान अर्थात् यहाँ कण्ठकान्ति कस्तूरीतिलक आदि के अभिन्न प्रतीत होती है; इसलिए क्योंकि यहां विषयी विषय से अभिन्नरूप से प्रतीत होता है अर्थात् वह विषय को अपने आप में निगले रहता है फलतः [उपमा का बीज] सादृश्य यहाँ पर्यवसान में प्रतीत नहीं होता। सादृश्य जो है वह सदा दो में रहता है और इस पद्य में प्रकृत और अप्रकृत अलग अलग बराबरी के साथ प्रतीत नहीं हो रहे हैं। [दोनों में अभेद प्रतीत हो रहा है। दोनों अलग प्रतीत होते तो उनमें सादृश्य बनता]।

[यहां अलंकाररत्नाकरकार ने परिणाममुखी उपमा की सिद्धि कर खण्डन 'रूपकमुखी उत्प्रेक्षा' का किया है, उपमामुखी उत्प्रेक्षा का नहीं। कदाचित् अ० रत्नाकरकार को सर्वस्व की कोई ऐसी प्रति मिली होगी जिसमें उपमा की जगह रूपक पाठ होगा।]

'यथा वा=और जैसे' इस प्रकार एक और उदाहरण देकर यह बतलाया कि यह उपमामुखी उत्प्रेक्षा काव्यों में पर्याप्त मात्रा में मिलती है।

एषा=यह अर्थात् समस्तोपमाप्रतिपादक विषय में अर्थात् ऐसे स्थलों में जहां उपमा का प्रतिपादक शब्द रहता है और समास में रहता है, दिखाई देने वाली। उदाहरण—

उसका उदाहरण—'भगवान् शंकर के दण्डपाद [नृत्य में पीछे पीठ की ओर से जाकर सिर की ओर ऊपर उठाए गए पैर] से बाजी मार ले जाने वाला भगवती पार्वती का दण्डपाद [हम सबकी] रक्षा करे जिसके सामने चमकती [भगवती पार्वती के जूड़े पर बँधी] चन्द्रलेखा टूटते नुपुर की तुलना प्राप्त कर लेती है'। इस पद्य में [उपमा के प्रतिपादक] 'तुला'—शब्द का [समास के भीतर] प्रयोग है तब भी चन्द्रलेखा में नूपुरत्व की संभावनामूलक प्रतीति होने के कारण यहाँ उत्प्रेक्षा है।

[सर्वस्व]

सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा—

'गतासु तीरं तिमिघट्टनेन ससंभ्रमं पौरविलासिनीषु।
यत्रोल्लसत्फेनततिच्छलेन मुक्ताट्टहासेव विभाति सिप्रा॥'

अत्रेवशब्दमाहात्म्यात्संभावनं छलशब्दप्रयोगाच्चापह्नवो गम्यते। एवं

छद्मादिशब्दप्रयोगेऽपि ज्ञेयम्। 'अपर इव पाकशासनः' इत्यादावपरशब्दाप्रयोगे उपमैवेयम्। तत्प्रयोगे तु प्रकृतस्य राज्ञः पाकशासनत्वप्रतीतावध्यवसायसंभवादिवशब्देन च तस्य साध्यत्वप्रतीतेरुत्प्रेक्षैवेयम्। इवशब्दाप्रयोगे सिद्धत्वादध्यवसायस्यातिशयोक्तिः। इवापरशब्दयोरप्रयोगे तु रूपकम्। तदेवं प्रकारवैचित्र्येणावस्थिताया उत्प्रेक्षाया हेतूत्प्रेक्षायां यस्य प्रकृतसंबन्धिनो धर्मस्य हेतुरुत्प्रेक्ष्यते स धर्मोऽध्यवसायवशादभिन्न उत्प्रेक्षायां निमित्तत्वेनाश्रीयते। स च वाच्य एव नियमेन भवति। अन्यथा कं प्रति हेतुः स्यात्। यथा—'अपश्यन्ताविवान्योन्यम्' इत्यादौ। अत्र कपोलयोः प्रकृतयोः संबन्धित्वेनोपात्तस्य क्षामतागमनस्य हेतुरदर्शनमुत्प्रेक्षितम्। हेतुफलं च क्षामतागमनं तत्र निमित्तम्। एवम् 'अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' इत्यत्र नूपुरगतस्य मौनित्वस्य हेतुर्दुःखित्वम्। तदुत्प्रेक्षणे मौनित्वमेव निमित्तं ज्ञेयम्। एवं सर्वत्र।

'अपह्नव से युक्त उत्प्रेक्षा यथा—

'जहाँ उछलती फेनराजि के बहाने सिप्रा अट्टहास बिखेरती-सी प्रतीत होती है जब नगर-वनिताएँ [स्नान के समय] मछली के टकरा जाने से घबराकर किनारे पर पहुँचती हैं।'

यहाँ 'इव = सी' शब्द का प्रयोग है इसलिए संभावना और 'छल' शब्द का प्रयोग है इसलिए अपह्नुति की प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'छद्म' आदि शब्दों के प्रयोग रहने पर भी [उत्प्रेक्षा होती है ऐसा] जानना चाहिए।

'दूसरा सा इन्द्र' इत्यादि स्थलों में यदि 'अपर = दूसरा' शब्द का प्रयोग न होता तो यहाँ उपमा ही होती, उसका प्रयोग हो जाने से प्रकृत राजा में इन्द्रत्व की प्रतीति होने लगी फलतः यहाँ अध्यवसाय होना संभव हो गया और 'इव = सा' शब्द द्वारा उस [अध्यवसाय] में साध्यत्व की प्रतीति करा दी, इसलिए यहाँ उत्प्रेक्षा ही हुई। यदि इव शब्द का प्रयोग न होता तो यहाँ सिद्ध अध्यवसाय प्रतीत होता और तब अतिशयोक्ति होती। और यदि, न इव शब्द का प्रयोग होता और न अपर शब्द का तो यहाँ रूपक होता।

इस प्रकार उत्प्रेक्षा के भेदों में अनेक विचित्रताएँ मिलती हैं, अब इसका जो हेतूत्प्रेक्षाभेद है इसमें प्रकृत के जिस धर्म का हेतु उत्प्रेक्षित किया जाता है वह धर्म [अप्रकृत के धर्म से] अध्यवसाय के आधार पर अभिन्न प्रतीत होता है और वहाँ उत्प्रेक्षा का निमित्त स्वीकार किया जाता है। और वह सदैव केवल वाच्य ही रहता है। ऐसा [वाच्य] न हो तो उत्प्रेक्षित हेतु किसके प्रति हेतु सिद्ध होगा ? यथा—'मानों एक दूसरे को न देखते हुए' इत्यादि [पूर्वोद्धृत] स्थल में। यहाँ प्रकृत हैं कपोल। उनमें धर्मरूप से दुर्बलता बतलाई जा रही है और उस [दुर्बलता] में हेतु बतलाया जा रहा है अदर्शन—न दिखाई देना। इस प्रकार इस [उत्प्रेक्षा] में निमित्त है [न दिखाई देने रूप] हेतु का फल = दुर्बल होना। इसी प्रकार—[राम की सीता के प्रति उक्ति—तुम्हारा नूपुर] 'मानों तुम्हारे चरणारविन्द से बिछुड़ने से चुप्पी साधे दिखाई दिया था'—इत्यादि स्थलों में नूपुरगत मौनित्व = चुप्पी का हेतु है दुःखित्व। उसकी उत्प्रेक्षा में निमित्त माना जाना चाहिए मौनित्व ही और इसी प्रकार [हेतूत्प्रेक्षा के] सभी स्थलों में जानना चाहिए।

विमर्शिनी

छद्मशब्दप्रयोगेण यथा—

> स्वेदोदविन्दुसंदोहच्छद्मना तव राजते।
> स्मरेणार्घ्यमनर्घापि दत्तार्घेव कुचस्थली॥'

अस्याश्च तत्तच्छब्दप्रयोगाप्रयोगाभ्यां प्रतीतिभेदादलंकारैः सह विभागं दर्शयितुमाह—अपर इत्यादि। तत्प्रयोग इत्यपरशब्दप्रयोगे। इवशब्दस्य संभावनाद्योतकस्याप्रयोगात् सिद्धत्वम्। अत एव चात्र विषयस्यानुपादानमेव। तदुपादाने हि दृढारोपं रूपकमिति समनन्तरमेवोक्तम्। अन्यत्र पुनः सर्वत्र विषयोपादानमेव न्याय्यम्।

तदित्थं भेदवैचित्र्येणावस्थिताया उत्प्रेक्षाया हेतुस्वरूपफलानां यथासंभवं स्वरूपं दर्शयति—तदेवमित्यादिना। स धर्म इति यं प्रत्येव हेतुरुत्प्रेक्ष्यते। अध्यवसायवशादिति भेदेऽप्यभेदाश्रयणात्। अभिन्न इत्यप्रकृतसंबन्धिना धर्मेण। स इति निमित्तत्वेनाश्रितो धर्मः। नियमेनेति। अवाच्यः पुनर्न कदाचिद्भवतीत्यर्थः। अन्यथेति अवाच्यत्वे। कं प्रति-हेतुरिति। तस्यैव फलरूपत्वात्। नहि यं प्रत्येव हेतुरुत्प्रेक्ष्यते तस्यैवावाच्यत्वं युक्तम्। साध्यमन्तरेण साधनस्य निर्विषयत्वापत्तेः। यदि चास्य निमित्तमात्रत्वमेव स्यात्तद्वाच्यत्वमवाच्यत्वं स्यात्। एवमेक एव धर्मो हेतोरुत्प्रेक्ष्यमाणस्य निमित्तं फलं चेति सिद्धम्। एतदेव दर्शयति—अपह्नुन्तावित्यादिना। तत्रेति हेतूत्प्रेक्षणे। निमित्तमिति तद्विनोत्प्रेक्षणस्यानिष्पत्तेः। द्विविधमत्र कामतागमनं तपोजनितमदर्शनजनितं च। तयोरध्यवसायवशादभिन्नत्वेनाश्रयणम्। अतश्च हेतोरेक एव धर्मो निमित्तं फलं च। वस्तुतस्तु तपोजनितस्य निमित्तत्वमन्यस्य तु हेतुफलरूपत्वम्। अत एव नेतरेतराश्रयदोषः। द्वयोरपि भिन्नत्वात्। मौनित्वमेवेति। न पुनरन्यत्किंचिदित्यर्थः। अतश्च निश्चलत्वादिजनितस्य दुःखजनितस्य च मौनित्वस्याभेदेनाश्रयणम्। सर्वत्रेत्यनेन समस्तलक्ष्याविरुद्धत्वं हेतूत्प्रेक्षास्वरूपकथनस्योक्तम्।

एवं हेतूत्प्रेक्षाया यथासंभवं स्वरूपं प्रदर्श्य स्वरूपोत्प्रेक्षाया अपि दर्शयति—स्वरूपोत्प्रेक्षायामित्यादिना।

छद्म शब्द का प्रयोग होने पर यथा—'तुम्हारी कुचस्थली है तो अनर्घ [अमूल्य] तथापि मैं सोचता हूँ कि कामदेव ने पसीने की पुँजीभूत बूँदों के बहाने इसे अर्घयुक्त [अर्घ = पूजा में जलार्घ तथा मूल्य से युक्त] सा बना दिया है।' इस उत्प्रेक्षा में उन-उन शब्दों के प्रयोग रहने और न रहने के कारण अन्य अलंकारों का भ्रम होने लगता है, अतः अन्य अलंकारों से भेद दिखलाने के लिये ग्रन्थकार लिखते हैं—

तत्प्रयोग—उस अपरशब्द का प्रयोग [अध्यवसाय की] सिद्धता इसलिए कि संभावनाद्योतक इव शब्द का प्रयोग नहीं रहता, और इसीलिए वहाँ सर्वदा विषय का अनुपादान ही रहता है। उपादान हो जाने पर दृढारोप रूपक हो जाता है जैसा कि यहीं कुछ आगे कहा गया है। अन्य सभी स्थलों में विषय का उपादान ही उचित है।

इस प्रकार अनेक प्रकार के भेदों से युक्त इस उत्प्रेक्षा के हेतु, स्वरूप तथा फल नामक मुख्य वर्गों में संभावित भेदों के स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—**तदेवम्** इत्यादि। **स धर्मः** = वह धर्म अर्थात् जिसके लिए हेतु की उत्प्रेक्षा की जाती है। **अध्यवसायवशात्** = अध्यवसाय के कारण अर्थात् भेद रहने पर भी अभेद मानने से। अभिन्न अर्थात् अप्रकृत से संबन्धित धर्म से। **स** = वह अर्थात् निमित्तरूप से आश्रित धर्म। **नियमेन** = नियमतः सदा ही = अर्थात् वह अवाच्य

कभी भी नहीं होता। अन्यथा वाच्य न होने पर। कं प्रति हेतुः = हेतु किसका होगा क्योंकि वही फलरूप रहता है। ऐसा ठीक नहीं कि जिसके लिए हेतु की उत्प्रेक्षा की जा रही है वही अवाच्य हो क्योंकि तब साध्य के अभाव में साधन निरर्थक हो जाएगा। यदि यह केवल निमित्त ही होता तो यह वाच्य और अवाच्य दोनों हो सकता था। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि एक ही धर्म उत्प्रेक्ष्यमाण हेतु का निमित्त भी होगा और फल भी। इसी तथ्य को उदाहरण द्वारा समझाते हैं—अदृश्यन्तौ० न देखते हुए। तत्र हेतूत्प्रेक्षा में। निमित्त क्योंकि उसके बिना उत्प्रेक्षा की निष्पत्ति नहीं होती। यहाँ दुर्बलता दो प्रकार से आती है तपस्या से और अदर्शन से। इन दोनों को अध्यवसाय के आधार पर अभिन्नरूप से अपनाए गए हैं। इसीलिए एक ही धर्म हेतु का निमित्त भी है और फल भी। वस्तुतः तपोजनित दुर्बलता निमित्त है और दूसरी दुर्बलता हेतुफलरूप। इसलिए यहाँ अन्योन्याश्रय दोष नहीं है क्योंकि दोनों ही भिन्न हैं।

मौनित्वम्—अन्य कुछ नहीं। इसीलिए यहाँ निश्चलता आदि से अनित तथा दुःख से अनित मौनित्व अभिन्न मान लिए गए हैं। सर्वत्र ऐसा कहकर हेतूत्प्रेक्षा के कथित स्वरूप का समस्त लक्ष्यों में अविरोध बतलाया।

इस प्रकार हेतूत्प्रेक्षा का स्वरूप यथासम्भव दिखलाया। अब स्वरूपोत्प्रेक्षा का स्वरूप भी बतलाते हैं—

[सर्वस्व]

स्वरूपोत्प्रेक्षायां यत्र धर्मी धर्म्यन्तरगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यते तत्रापि निमित्तभूतो धर्मः क्वचिन्निर्दिश्यते। यथा—'स वः पायादिन्दुः' इत्यादौ। अत्र कुटिलत्वादि निर्दिष्टमेव। 'वेलेव रागसागरस्य' इत्यादौ संक्षोभकारित्वादि गम्यमानम्। यत्र च धर्म एव धर्मिगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यते तत्रापि निमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वैविध्यम्। उपादाने यथा—

'प्राप्याभिषेकमेतस्मिन्प्रतितिष्ठासति द्विषाम्।
चकम्पे लोप्यमानाशा भयविह्वलितेव भूः॥'

अत्र भूगतत्वेन भयविह्वलितत्वाख्यधर्मोत्प्रेक्षायां कम्पादिनिमित्तमुपात्तम्। अनुपादाने यथा—'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इत्यादौ। अत्र तमोगतत्वेन लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षायां व्यापनादि निमित्तं गम्यमानम्। व्यापनादौ तूत्प्रेक्षाविषये निमित्तमन्यदन्वेष्यं स्यात्। न च विषयस्य गम्यमानत्वं युक्तम्। तस्योत्प्रेक्षिताधारत्वेन प्रस्तुतस्याभिधातुमुचितत्वात्। तस्माद् यथोक्तमेव साधु।

स्वरूपोत्प्रेक्षा में जहाँ धर्मी दूसरे धर्मी के भीतर उत्प्रेक्षित होता है वहाँ भी निमित्तभूत धर्म कहीं निर्दिष्ट रहता है; यथा—'वह चन्द्र आप की रक्षा करे० इत्यादि में, यहाँ कुटिलत्वादि निर्दिष्ट ही है। 'रागसमुद्र की वेला = तटभूमि सी'—में वह गम्यमान अर्थात् अनिर्दिष्ट है।

जहाँ कहीं धर्म ही धर्मी के भीतर उत्प्रेक्षित होता है वहाँ भी दो विधाएँ रहती हैं क्योंकि वहाँ निमित्त का कहीं उपादान रहता है और कहीं अनुपादान। उपादान यथा—

अभिषेक प्राप्त कर जब यह अपनी प्रतिष्ठा चाहने लगा तो शत्रुओं की भूमि जिस पर [शत्रुओं की] आशा लुप्त होने वाली थी मानों भयविह्वल होकर काँप उठी।'

--यहाँ भूमिरूपी धर्मी के भीतर भयविह्वलतारूपी धर्म की उत्प्रेक्षा की जा रही है और उसमें कम्प आदि का निमित्तरूप से उपादान किया गया है। अनुपादान यथा--'अन्धकार अंगों को मानों लीप रहा है'-इत्यादि में। यहाँ जो तम के भीतर लेपन-क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा है उसका निमित्त है व्यापन और वह गम्यमान=अनुपात्त है। यदि व्यापनादि को उत्प्रेक्षा का विषय माना जाय तो उसमें निमित्त कोई और ही खोजना होगा [यह एक दोष होगा और दूसरा दोष यह होगा कि यहाँ] विषय [व्यापन] गम्यमान है जो अनुचित है क्योंकि विषय ही तो प्रस्तुत होकर उत्प्रेक्षा का आधार होता है अतः उसका शब्दतः कथन आवश्यक होता है। इसलिए पहले जो [तम में लेपन] की उत्प्रेक्षा की जा रही है वही ठीक है।

विमर्शिनी

यद्यप्युद्देशत एवैतत्स्वरूपोत्प्रेक्षायां निमित्तोपादानस्यानुपादानत्वमवगम्यते तथापि हेतूत्प्रेक्षायां यथा निमित्तोपादानमेव संभवति तथात्रापि न संभाव्यमित्याशयेन पुनरिहै-तदुक्तम्।

यदा चात्र धर्मो धर्म्यन्तरगतत्वेनोत्प्रेक्ष्यते तदा तत्र निमित्तस्य कीदृग्रूपत्वं भवतीत्या-शङ्क्याह—यत्रेत्यादि। धर्म एवेति। न पुनर्धर्मी धर्मिगतत्वेनेति। धर्मिभित्तित्येत्यर्थः। अत्र हि धर्मिणोऽन्यधर्मधर्मित्वं निगीर्यान्यधर्मधर्मित्वमवस्थाप्यते। अत एवात्र धर्मी भित्तिभूततया विषयः। धर्मिणं विना केवलस्यैव धर्मस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वाद्व्यव-स्थाप्यमानत्वे वा धर्मित्वमेव स्यात्। वस्तुतस्तु धर्म एवोत्प्रेक्षाविषयः। धर्मिनिगरणे-नाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽवसीयते। स च निगीर्यमाणो धर्मः क्वचिदुपात्तो भवति क्वचि-च्चानुपात्तः।

'प्राप्याभिषेकम्' इत्यादावन्ये हेतूत्प्रेक्षात्वं-मन्यन्ते इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते—

नवरोसदलिअ-घणनिरवलंब-संघडिअ-तडिकडप्पस्व।
मरहरिणो जअइ कडारकेसरे कंधरावंधो॥'

अत्र कन्धरावंधधर्मिणि सकेसरत्वं निगीर्य सतडित्कटप्रत्वमुत्प्रेक्षितम्। कडारत्वं च निमित्तमुपात्तम्। निगीर्यमाणश्च धर्मो धर्मिगतत्वेनोपात्तः। लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षाया-मिति, अर्थादाशङ्कितायाम्। एवं हि तमोलेपनमिवेति प्रतीतिः स्यात्। न चात्र तथेत्या-शङ्क्याह—व्यापनादावित्यादि। निमित्तमन्यदिति तिरोधायकत्वादि। तेन तमसि धर्मिणि व्यापनादिधर्मं निगीर्य लेपनक्रियाकर्तृत्वरूपो धर्म उत्प्रेक्षित इत्यर्थः। यदाह श्रीमम्मटः—'व्यापनादि लेपनादिरूपतया संभावितम्' इति। यत्र च धर्मान्तरनिगरणेन धर्म एव धर्मिभित्तित्वोत्प्रेक्ष्यते तत्र भित्तिभूतत्वाद्विषयरूपस्य धर्मिणः समनन्तरोक्तनीत्या गम्य-मानत्वं न युज्यत इत्याह—न चेत्यादि। विषयस्येति। निगीर्यमाणोत्प्रेक्ष्यमाणयोर्धर्मयो-र्भित्तिभूतस्य धर्मिण इत्यर्थः। न तु निगीर्यमाणस्येति व्याख्येयम्। तस्य ह्युपादानानु-पादानाभ्यां द्वैविध्यं भवतीति समनन्तरमेवोक्तम्। तच्चोदाहृतम्। यथा वा—

यत्पुण्डरीक इव पार्वण एव चेन्दाविन्दीवरद्वयमिवोदितमेकनालम्।
तत्पद्मरागनिधिमूलमिवाधिगम्य सम्यग्जितं नयनयोर्मम भाग्यशक्त्या॥'

अत्र मुखादीनामुत्प्रेक्षाविषयाणामनुपादानाद्गम्यमानत्वम्। तस्येति धर्मिरूपस्य विषयस्य। उत्प्रेक्षिताधारत्वेनेति। उत्प्रेक्षितस्य लेपनादेर्धर्मस्य व्यापनादिधर्मनिगरणे-नोत्प्रेक्षाविषयीकृतस्याधारत्वेन भित्तिभूततयेत्यर्थः। धर्मिणमन्तरेण धर्मस्याविश्रान्तेः। प्रस्तुतस्येति। अवश्याभिधेयस्येत्यर्थः।

एवं हेतुफलोत्प्रेक्षयोरपि धर्मिगतत्वेनैवान्यधर्महेतुकत्वं निगीर्यान्यधर्महेतुत्वमन्यधर्मफलत्वं चाध्यवसीयते। अतश्च स धर्मो वाच्य एव भवति। यथोक्तोपपत्तेः। निगीर्यमाणः पुनर्धर्म एवोपादानानुपादानाभ्यां द्विधा। तत्र यथा—एषा स्थलीत्यादि। अत्र नूपुरस्य धर्मिणो बद्धमौनत्वे निश्चलत्वादि धर्महेतुकत्वं निगीर्यमाणश्चानुपात्तो धर्मः। उपात्तस्तु यथा—

> मृणालसूत्रं निजवल्लभाया' समुत्सुकश्चाटुषु चक्रवाकः।
> अन्योन्यविश्लेषणयन्त्रसूत्रभ्रान्त्येव चञ्चुस्थितमाचकर्ष ॥'

अत्र चक्रवाकर्षणे चाटुसमुत्सुकहेतुत्वं निगीर्य भ्रान्तिहेतुत्वमध्यवसितम्। निगीर्यमाणश्च धर्म उपात्तः। अनुपात्तस्तु यथा—

> 'कुमुदिन्य प्रमोदिन्यस्तदानीमुद्‌न्मीमिलन्।
> नलिन्या मर्मविरहान्म्लानिमानमिवेक्षितुम् ॥'

अत्र कुमुदिनीनामुन्मीलने चन्द्रोदयहेतुकत्वं निगीर्य दर्शनं फलत्वेनोत्प्रेक्षितम्। निगीर्यमाणश्च धर्मोऽनुपात्तः।

तदेव हेतुस्वरूपयोर्यथासंभवं स्वरूपं दर्शयित्वा फलोत्प्रेक्षाया अपि दर्शयति—फलोत्प्रेक्षायामित्यादिना।

यद्यपि स्वरूपोत्प्रेक्षा में निमित्त के उपादान और अनुपादान दोनों ही स्वतः प्रतिपादित हो जाते हैं क्योंकि जहाँ ये भेद गिनाए गए हैं वहाँ निमित्त के उपादान अनुपादान की चर्चा की जा चुकी है तथापि यहाँ इस विषय का उल्लेख जो पुनः किया गया उसका तात्पर्य यह है कि जैसे हेतूत्प्रेक्षा में सर्वत्र निमित्त का उपादान ही रहता है अनुपादान नहीं वैसे स्वरूपोत्प्रेक्षा में नहीं रहता [अर्थात् यहाँ निमित्त का अनुपादान भी संभव होता है]।

शङ्का होती है कि जब कोई धर्म किसी अन्य धर्मी के भीतर उत्प्रेक्षित होता है तब निमित्त कैसा होता है [उपात्त अथवा अनुपात्त]। इस पर उत्तर देते हैं—यत्र इत्यादि। धर्म एव = धर्म ही न कि धर्मी भी धर्मी के भीतर। धर्मिगत अर्थात् धर्मी को भित्ति बनाकर। यहाँ धर्मी में अन्य धर्म से आने वाला धर्मित्व छिपाकर अन्य ही धर्म से आने वाला धर्मित्व स्थापित किया जाता है। इसलिए यहाँ धर्मी भित्ति के रूप में उपस्थित रहता है इसलिए वही विषय होता है, क्योंकि धर्मी के बिना केवल धर्म की स्थापना संभव नहीं होती, और यदि उसकी स्थापना की भी जाय तो वहाँ धर्मित्व ही सिद्ध होता है, जबकि उत्प्रेक्षा का विषय वस्तुतः धर्म ही होता है। जिस [धर्म] के निगरण [छिपाने] से विषयी में अभेद प्रतीति होती है। वह जो निगीर्यमाण [छिपाया जाने वाला] धर्म है वह कहीं उपात्त होता है और कहीं अनुपात्त।

'प्राप्याभिषेक०' इत्यादि पद्य में कुछ लोग हेतूत्प्रेक्षा मानते हैं इसलिए हम इसके लिए दूसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

> "नखरोत्कदलित-घननिरवलम्ब-सुघटित-तडित्कटप्र ।
> नरहरेर्जयति कडारकेसरः कन्धराबन्ध ॥"

यहाँ कन्धराबन्ध है धर्मी। इसमें सकेसरत्व को छिपाकर सुघटितनडित्कटप्रत्व की उत्प्रेक्षा की गई है। इसमें निमित्त है कडारत्व, जो उपात्त है। और निगीर्यमाण (छिपाया जा रहा) धर्म धर्मी के भीतर प्रतिपादित किया गया है।

लेपनक्रियाकर्तृत्वोत्प्रेक्षायाम् = 'लेपनरूप क्रिया के कर्तृत्व की उत्प्रेक्षा भी यहाँ मानी जा सकती है। तब 'तम का लेपन सा' ऐसी प्रतीति होगी। किन्तु यहाँ ऐसा नहीं है'-ऐसी शङ्का

कर समाधान प्रस्तुत करते हैं---**व्यापनादौ । निमित्तमन्यत्** = अन्य निमित्त अर्थात् तिरोधायकत्व आदि । इस पक्ष में तम को धर्मी माना गया और उसमें व्यापनादि धर्म को छिपाकर लेपन-क्रियाकर्तृत्वरूप धर्म की उत्प्रेक्षा की गई । जैसा कि श्री मम्मट ने कहा है---'व्यापन आदि लेपन आदि रूप से उत्प्रेक्षित किया गया ।'

'जहाँ कहीं दूसरे धर्म को छिपाकर किसी दूसरे धर्म की ही धर्मी के ऊपर उत्प्रेक्षा की जाती है वहाँ आधारभूत धर्मी का गम्यमान होना = शब्दतः न कहा जाना उक्त रीति से ठीक नहीं होता'--इस अभिप्राय से लिखते हैं---'**न च**' इत्यादि । **विषयस्य** = विषय का अर्थात् निगीर्यमाण [छिपाया जाता] तथा उत्प्रेक्ष्यमाण [जिसकी उत्प्रेक्षा की जा रही है] इन दोनों धर्मों की भित्ति बने हुए धर्मी का । न कि निगीर्यमाण का । क्योंकि निगीर्यमाण के विषय में कहा जा चुका है कि कहीं उसका उपादान रहता है और कहीं अनुपादान । इस प्रकार वह दो प्रकार का होता है । और उसके उदाहरण भी दिए जा चुके हैं । यह भी उसका एक उदाहरण है--'पुण्डरीक [श्वेतपद्म] अथवा पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल (चेहरे) के बीच मानों पद्मरागमणि की निधि (अधर) से निकल कर जो एक ही नाल (नासिका) में दो नीलकमल (नेत्र) निकले हुए हैं उन्हें पाकर मेरे नेत्रों की भाग्यशक्ति सब से बढ़ गई' । यहाँ मुख आदि उत्प्रेक्षा के विषय हैं किन्तु वे गम्यमान अर्थात् शब्दतः अनुपात्त हैं ।

तस्य = उसके अर्थात् धर्मिरूप विषय के । **उत्प्रेक्षाधारत्वेन** = उत्प्रेक्षा के आधार के रूप से अर्थात् व्यापनादि धर्म को छिपाकर उत्प्रेक्षा की वस्तु बनाए गए लेपनादि धर्म के आधार के रूप से अर्थात् भित्तिरूप से । ऐसा इसलिए कि धर्मी के बिना धर्म की विश्रान्ति नहीं होती । **प्रस्तुतस्य** = प्रस्तुत अर्थात् अवश्य अभिधेय का ।

इस प्रकार हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा में भी अन्यधर्महेतुकता को छिपाकर अन्य-धर्महेतुकता का अध्यवसाय धर्मी के भीतर किया जाता है । इसी कारण वह धर्मी नियमतः वाच्य ही होता है । कारण ऊपर बतलाया जा चुका है । निगीर्यमाण अर्थात् छिपाया जाने वाला होता है केवल धर्म, और वह भी उपादान तथा अनुपादान के आधार पर दो प्रकार का होता है । यथा---'**रुपा स्थली**' इत्यादि । इस पद्य में नूपुररूपी धर्मी में जो बद्ध-मौनत्वरूपी धर्म है उसका वास्तविक कारण है निश्चलत्व किन्तु उसे छिपा दिया गया है और उसके स्थान पर कारणरूप से दुःखहेतुकत्व की उत्प्रेक्षा की गई है । इस प्रकार यहाँ जो निगीर्यमाण है वह अनुपात्त है और वह धर्म ही है [धर्मी नहीं] । उपात्तधर्म यथा---'चाटु में समुत्सुक चक्रवाक ने अपनी प्रिया की चोंच में रखे मृणालसूत्र को मानों एक दूसरे के वियोग के जनक यन्त्र के सूत्र के भ्रम से खींच लिया [विक्रमांकदेवचरित ।]' यहाँ चक्रवाक द्वारा किए गए मृणालसूत्र के खींचनेरूपी कार्य में, है तो हेतु चाटुसमुत्सुकता, किन्तु उसे उस रूप से प्रस्तुत न कर यहाँ भ्रान्ति को हेतुरूप से उत्प्रेक्षित किया गया । और जो धर्म निगीर्यमाण है अर्थात् कारण होने पर भी कारणरूप से प्रस्तुत नहीं किया जा रहा वह [चाटुसमुत्सुकता] यहां उपात्त ही है । अनुपात्त धर्म यथा---

'उस (चन्द्रोदय के) समय प्रसन्न कुमुदिनी मानों कमलिनी की प्रिय (सूर्य) के विरह से उत्पन्न म्लानि को देखने के लिए खिल उठी ।'

---यहाँ कुमुदिनी के खिलने में चन्द्रोदय हेतु है किन्तु उसे हेतुरूप से प्रस्तुत न कर दर्शन-क्रिया को हेतुरूप से प्रस्तुत किया गया है । इस प्रकार कुमुदिनी के विकास में चन्द्रोदयहेतुकत्व-रूपी वास्तविक धर्म को छिपा दिया गया है और उसे शब्दतः कहा भी नहीं गया है ।

इस प्रकार (उत्प्रेक्षा के दो भेद) हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा के स्वरूप यथासंभव बतला दिए गए। अब फलोत्प्रेक्षा का स्वरूप 'फलोत्प्रेक्षायाम्' इत्यादि अगले ग्रन्थ द्वारा बतलाते हैं—

[सर्वस्व]

फलोत्प्रेक्षायां यदेव तस्य कारणं तदेव निमित्तम्। तस्यानुपादाने कस्य तत्फलत्वेनोक्तं स्यात्। तस्मात्तत्र तस्य निमित्तस्योपादानमेव न प्रकारान्तरम्। यथा—

'रथस्थितानां परिवर्तनाय पुरातनानामिव वाहनानाम्।
उत्पत्तिभूमौ तुरगोत्तमानां दिशि प्रतस्थे रविरुत्तरस्याम्॥'

अत्राश्वपरिवर्तनस्य फलस्योत्तरदिग्गमनं कारणमेव निमित्तमुपात्तम्।

फलोत्प्रेक्षा में उस (फल) का जो कारण होता है वही उसका निमित्त होता है। यदि उस (निमित्त) का उपादान न किया जाय तो वह (फल) किसका फल सिद्ध होगा ? इस कारण फलोत्प्रेक्षा में फल के निमित्त का उपादान ही होता है, अन्य अनुपादान नहीं। यथा—

'[वसन्त के समय] सूर्य, मानों रथ में जुते पुराने घोड़ों को बदलने के लिए उत्तरदिशा की ओर चला जहाँ उत्तम घोड़े उत्पन्न होते हैं ['विक्रमांकदेवचरित']।

—यहाँ घोड़ों का बदलना फल है और उसका कारण है उत्तरदिशा में जाना। यही यहाँ निमित्तरूप से उपात्त है।

विमर्शिनी

तस्येति फलस्य। एतच्च हेतूत्प्रेक्षाविचारग्रन्थविवृतेरवगतार्थमिति ग्रन्थविस्तरभयान्न पुनरायस्यते। तदेवं ग्रन्थकृदात्मनः श्लाघां कटाक्षयन्नेतदुपसंहरति—

तस्य = उसका अर्थात् फल का। यह सब विचार हमारी टीका में हेतूत्प्रेक्षा पर किए गए विचार से गतार्थ हो जाता है अतः ग्रन्थविस्तार के भय से अब पुनः विचार नहीं करते।

इस प्रकार विवेचन कर ग्रन्थकार अपनी प्रशंसा व्यक्त करते हुए उत्प्रेक्षा प्रकरण का उपसंहार करते हैं।

[सर्वस्व]

तदस्यास्तूत्प्रेक्षायाः कक्ष्याविभागः प्रचुरतया स्थितोऽपि लक्ष्ये दुरवधारत्वादिह न प्रपञ्चितः। तस्याश्चेवादिशब्दवन्मन्येशब्दोऽपि प्रतिपादकः। किं तूत्प्रेक्षासामग्र्यभावे मन्येशब्दप्रयोगो वितर्कमेव प्रतिपादयति। यथोदाहृतं प्राक् 'अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरह' इत्यादि।

तो इस प्रकार उत्प्रेक्षा का वर्गीकरण प्रचुररूप से किया जा सकता है, तथापि (उदाहरणरूप) लक्ष्यों में इनका समझा जाना कठिन है फलतः [हमने वर्गीकरण को] समग्ररूप से प्रस्तुत नहीं किया।

इस [उत्प्रेक्षा] का प्रतिपादन जैसे इवादि शब्दों द्वारा होता है उसी प्रकार 'मन्ये'-शब्द द्वारा भी, किन्तु यदि उत्प्रेक्षा की सामग्री नहीं रहती तो 'मन्ये'-शब्द का प्रयोग केवल वितर्कमात्र का ही प्रतिपादन कर पाता है। जैसा कि पहले (अपह्नुति प्रकरण में) उदाहरण दिया जा चुका है-'मैं तो चन्द्रमा को मानता हूँ तुम्हारे शत्रुओं के विरह०'-इत्यादि।

विमर्शिनी

सदसावित्यादि। अस्याश्च वाचकव्यवस्थां दर्शयति—तस्याश्चेत्यादि। उत्प्रेक्षासामग्र्यभाव इति संभावनाप्रत्ययात्मकत्वाभावात्। प्रागिति, अपह्नुतौ।

एवमिवशब्दोऽपि क्वचिद्वितर्कमेव प्रतिपादयति। यथा—

'वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्य उत्पाद्य इवास यत्नः॥'

इयं च भेदेऽभेद इत्याद्यतिशयोक्तिभेदमप्यपि दृश्यते। तत्र भेदेऽभेदो यथा—पृथ्वीराजविजये—

शुद्धैः परया भक्त्या वागलिङ्गपरम्पराः।
अनर्मदेव यत्सैन्यैर्निरमीयत नर्मदा॥'

अत्र नर्मदाया अभेदेऽपि भेदः। संबन्धेऽसंबन्धो यथा—

अद्वैतं तत्रवस्तु भवतां संविदद्वैतपुष्ट्यै यत्राश्रुत्पुत्रीपरिवृढरमाक्रान्तदेहद्वयस्य।
यत्राकार्ण्यं निजं इव विदन्दक्षिणार्धप्रभाभिर्देहेऽन्येषामपि पुररिपुः कार्ण्यमन्तः प्रमार्ष्टि॥'

अत्र कार्ण्यसंबन्धेऽप्यसंबन्धः। असंबन्धे संबन्धो यथा—

क्षीरक्षालितचन्द्रेव नीलीधौताम्बरेव च।
उत्कीर्णलिखितसूर्येव वसन्तश्रीरजृम्भत॥'

अत्र क्षीरक्षालितत्वाद्यसंबन्धेऽपि संबन्धः। कार्यकारणयोस्तुल्यकालत्वे यथा—

यशसेव सहोद्भूतः श्रियेव सह वर्धितः।
तेजसेव सहोद्भूतस्त्यागेनेव सहोत्थितः॥'

पौर्वापर्यविपर्यये यथा—

शराः पुरस्तादिव निष्पतन्ति कोदण्डमारोपयतीव पश्चात्।
अन्यत्प्रहारा इव संघटन्ते प्राणान्द्विषः पूर्वमिव त्यजन्ति॥'

कार्यकारणयोर्विपर्ययेऽपीयं दृश्यते यथा—

'सेयं संततवर्तमानभगवद्ब्रह्मार्चनैकाग्रताव्यग्रोपान्तलताविमुक्तकुसुमा चन्द्रप्रसूतिर्नदी।
यस्याः पाण्डुरपुण्डरीकपटलव्याजेन तीरद्वये शश्वत्पावनचन्द्रमण्डलशतानीव प्रसूते जलम्॥'

अत्र नर्मदातश्चन्द्रस्योत्पत्तिप्रतीतेः कार्यकारणविपर्ययः। क्रमिकविपर्ययेणापीयं दृश्यते यथा—

अखर्वगर्वस्मितदन्तुरेण विराजमानोऽधरपल्लवेन।
समुत्थितः क्षीरविपाण्डुराणि पीत्वेव सद्यो द्विषतो यशांसि॥'

अत्र समुत्थानानन्तरभाविनो यशःपानस्य पूर्वनिर्देशात्क्रमिकविपर्ययः। अत्रैव 'पिबन्निवोच्चैः' इति पाठे तु क्रमिकयोः समकालभावित्वम्।

इस [उत्प्रेक्षा] के वाचक पदों की व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं—'तस्याश्च' = इसका। उत्प्रेक्षासामग्र्यभाव = अर्थात् ज्ञान का संभावनात्मक न होना। प्राक्—पहले अर्थात् अपह्नुति प्रकरण में।

[जिस प्रकार मन्ये शब्द वितर्कमात्र का प्रतिपादन करता है] इसी प्रकार इव शब्द भी वितर्कमात्र का प्रतिपादक होकर रह जाता है। यथा—

'उस [भगवती पार्वती] की शुभ, ऊपर से नीचे तक वर्तुलाकार तथा अनधिक लम्बी पिंड़रियाँ बना लेने पर अन्य अंगों का निर्माण विधाता ने कदाचित् नवीन लावण्य इकट्ठा कर किया होगा [कुमार–१]।'

[यहाँ नवीन लावण्य की कल्पना मात्र की गई है। उसका किसी पर संभावनात्मक आरोप नहीं किया जैसे 'मेरी समझ में तो मुख चन्द्र है'—इत्यादि उक्तियों में किया जाता है]।

यह उत्प्रेक्षा भेद और अभेद इत्यादि अतिशयोक्ति के जो भेद हैं उनसे भी युक्त रहती है। यथा भेद में अभेद का उदाहरण पृथ्वीराजविजय काव्य में—

जिसके अत्यन्त भक्ति के साथ बाण–लिङ्गों [भगवान् शंकर के लिङ्गों कदाचित् बाणासुर द्वारा स्थापित *शिवलिंगों*] का स्पर्श कर रहे सैनिकों ने *नर्मदा को अनर्मदा सा बना दिया*।'

—यहाँ नर्मदा एक ही है तथापि उसमें भेद की कल्पना की गई है।

संबन्ध में असम्बन्ध का उदाहरण यथा—

भगवान् शिव तथा भगवान् विष्णु के दो (क्रमश गौर तथा श्याम) शरीरों का अद्वैत हमारी अद्वैत बुद्धि का पोषक हो, जिस (देहद्वयाद्वैत) में (विष्णुरूप) दाहिने देहार्ध की (श्याम) कान्ति को अपने शरीर में कालौंच समझ भगवान् शंकर (न केवल उसे ही पोंछते हैं अपितु) अन्य लोगों (भक्तों) की मानस कालौंच भी पोंछ देते हैं।'

—यहाँ कालौंच का शिव से सबन्ध न होने पर भी सबन्ध प्रतिपादित किया गया है। असबन्ध में सम्बन्ध का उदाहरण यथा—

'वसन्त श्री अगडाई ले रही थी, उसका चन्द्रमण्डल मानों दूध से धो दिया गया था, आकाश मानों नील से नहला दिया गया था और सूर्यमण्डल मानों टक (छेनी) से सुडौल बना दिया गया था।'

—यहाँ दूध से धोना आदि चन्द्रमण्डल आदि में नहीं था तथापि उसकी वहाँ कल्पना कर ली गई है।'

कार्यकारण का एक साथ उत्पन्न होना यथा—

'मानों यश के साथ उत्पन्न हुआ, मानों श्री के साथ वृद्धिगत हुआ, मानों तेज के साथ जनमा, मानों त्याग के साथ उठा।'

—[यहाँ वक्तव्य यह है कि वर्ण्यमान व्यक्ति के जन्म, वृद्धि, उत्थान यश आदि के कारण हुए, किन्तु वे इतने शीघ्र हो गए कि कारण और कार्य में कालक्रम प्रतीत नहीं हुआ]

कार्यकारण के पौर्वापर्य में वैपरीत्य यथा—

'बाण पहिले ही निकल पड़ते हैं [यह वीर] मानों धनुष बाद में चढ़ाता है, [और बाणों के] प्रहार बाद में होते हैं शत्रु प्राण पहिले ही छोड़ देते हैं।'

कारण का कार्य और कार्य का कारण बनना यथा—

'—यह है वह चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाली नदी [नर्मदाजी] जो तीर लताओं से पुष्प बरसा बरसा कर सदा ही भगवान् शिव के लिंग की पूजा में एकाग्रचित्त रहे आने में व्यग्र है और जिसका जल दोनों तटों पर निकले श्वेत पद्मों के बहाने मानों सदा ही पूर्णिमा के सैकड़ों चन्द्रमण्डल पैदा किया करता है।'

—यहाँ नर्मदा से चन्द्रमा की उत्पत्ति प्रतीत होती है इसलिए कार्य कारण में विपर्यय हुआ [क्योंकि कार्य = नर्मदाजी से उनके कारण = चन्द्र की उत्पत्ति बतलाई गई।]

क्रमिक वस्तुओं में क्रम का वैपरीत्य होने पर भी यह [उत्प्रेक्षा] होती है,

'[विक्रमांकदेवचरित, १।५० में विधाता की चुल्लू से एक अद्भुत पुरुष उत्पन्न हुआ] जो अत्यन्त गर्वीले स्मित से उल्लसित अधर से विराजमान था अत- मानो तत्काल शत्रुओं का दुग्धधवल यश पीकर पैदा हुआ था।'

--यहाँ यश का पान उत्पन्न होने के बाद संभव है किन्तु उसका वर्णन उत्पन्न होने के पूर्व कर दिया गया। इसलिए यहाँ [क्रमिक वस्तुओं में विद्यमान स्वाभाविक] क्रम का विपर्यय हुआ। यदि इसी पद्य में 'पीत्वेव सद्यः' के स्थान पर 'पिबन्निवोच्चैः'--'पीता हुआ सा' पाठ कर दिया जाय तो यही उदाहरण क्रमिक पदार्थों की एक साथ उत्पत्ति का उदाहरण बन सकता है।

विमर्श--उत्प्रेक्षा का पूर्वेतिहास--

भामह --'अविवक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया सह।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ २।९१ काव्यालं०।
किंशुकव्यपदेशेन तरुमारुह्य सर्वतः।
दग्धादग्धमरण्यान्याः पश्यतीव विभावसुः ॥' २।९२ ॥

--'जिसमें सादृश्य बतलाना अभीष्ट न हो तथापि उपमा की आंशिक सामग्री हो साथ ही अतिशय द्वारा भिन्न वस्तु के गुण और क्रिया रूप धर्मों का संबन्ध भिन्न वस्तु में बतलाया वह उत्प्रेक्षा होती है। यथा--फूले टेसू के बहाने मानों अग्नि वृक्ष पर चढ़ कर जंगल के जले-अनजले स्थान देख रहा है।'

वामन--[सूत्र] "अतद्रूपस्यान्यथाध्यवसानमतिशयार्थमुत्प्रेक्षा।"

[वृत्ति] अतद्रूपस्य अतत्स्वभावस्य, अन्यथा तत्स्वभावतया अध्यवसानमध्यवसायः, न पुनरध्यारोपो लक्षणा वा, अतिशयार्थमिति भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम्। सादृश्यादियमुत्प्रेक्षेति।

--जिस वस्तु का [गुण क्रियादि रूप जो स्वभाव है उसे छिपाकर उसमें] जैसा नहीं है उसमें वैसे स्वभाव का अध्यवसाय = ज्ञान कराना है उत्प्रेक्षा। इसमें आरोप या लक्षणा नहीं होती। इसमें अतिशय रहता है भ्रान्ति नहीं। यह अलंकार सादृश्यमूलक होता है। उदाहरण-'स वः पायादिन्दुर्नवबिसलताकोटिकुटिलः।'

उद्भट = 'साम्यरूपाविवक्षायां वाच्येवाद्यात्मभिः पदैः।
अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ ३।३ ॥
लोकातिक्रान्तविषया भावाभावाभिमानतः।
संभावनेयमुत्प्रेक्षा वाच्येवादिभिरिष्यते ॥३।४॥ --अलंकारसारसंग्रह।

--'यत्रेवादिपदनिबन्धः साम्यस्य च रूपं न विवक्ष्यते तत्रोत्प्रेक्षाख्योलङ्कारः। ०००० । अत्र अतः अप्रकृतो योऽर्थस्तस्य ये गुणक्रियाः तद्योगाद साम्यरूपाविवक्षायामपि इवादिशब्दप्रवृत्तिरविरुद्धा। ०००० । तेन अतद्गुणक्रियायोगादस्या इवादिवाच्यत्वम्। ०००० । पुराणप्रजापतिविहितरूपविपर्यासेन कविवेधसा पदार्थस्य गुणातिशयविवक्षया रूपान्तरमप्यासक्तुं शक्यते। इयं चोत्प्रेक्षा बहिरसंभवतः पदार्थस्य संभवद्रूपत्वोपवर्णनाल्लोकातिक्रान्तविषया संभावना।' --लघुवृत्तिः।

--जहाँ इवादि शब्द तो प्रयुक्त रहते हैं। परन्तु उपमा की विवक्षा नहीं रहती अर्थात् प्रकृत से भिन्न जो अप्रकृत अर्थ उसके धर्म गुण क्रिया का प्रकृत में अस्तित्व बतलाए जाने से इवादि उपमा वाचक पदों का प्रयोग तो होता है किन्तु उपमा तात्पर्यविषयीभूत नहीं रहती। इस लिए यह इवादि पदों से वाच्य होती है। भिन्न वस्तु के गुण भिन्न वस्तु में भले ही विधाता की सृष्टि में न जा सकें किन्तु कवि की सृष्टि में यह असंभव नहीं है। इसलिए यह उत्प्रेक्षा जिन विषयों को लेकर चलती है वह प्रायः अलौकिक = लोकभूमिका से ऊपर उठे हुए होते हैं अत एव वे संभावनाश्रित होते हैं। यह सम्भावना भावात्मक पदार्थों की भी होती है और अभावात्मक पदार्थों की भी। इसी प्रकार जब 'इव' आदि शब्दों का प्रयोग रहता है तो, यह वाच्य होती है।'

उदाहरण यथा भावात्मक विषय की संभावना—

"अस्याः सदार्कबिम्बस्थदृष्टिपीतातपैर्जपैः ।
श्यामिकाङ्केन पतितं मुखे चन्द्रभ्रमादिव ॥ १ ॥

—'पार्वती जी ने जो जप किया उसमें वे सदा ही सूर्यबिम्ब पर दृष्टि लगाए रहीं और नेत्रों द्वारा सूर्यातप का पान करती रहीं, [और चन्द्रमण्डल भी ऐसा ही करता है] इसलिए उनके मुखमण्डल पर जो साँवलापन आया है सो चन्द्र के भ्रम से मानों [चन्द्रमण्डल गत] कलङ्क यहाँ आ पहुँचा है ।' अभावात्मक विषय की संभावना—

'कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ ॥ २ ॥

तद्वद=(१) अतिसारूप्यादैक्यं विधाय सिद्धोपमानसद्भावम् ।
आरोप्यते च तस्मिन्नतद्गुणादीति सोत्प्रेक्षा ॥
'चम्पकतरुशिखरमिदं कुसुमसमूहच्छलेन मदनशिखी ।
अयमुच्चैरारूढः पश्यति पथिकान् दिधक्षुरिव ॥ ८।३३ ॥

(२) साम्येऽप्युपमेयगतं यस्यां समाश्रयेत्स्यदुपमेयम् ।
उपमानप्रतिबद्धापरोपमानस्य सत्त्वेन ॥ ८।३४ ॥
आपाण्डुगण्डपालीविरचितमृगनाभिपत्ररूपेण ।
शशिशङ्कयेव पतितं लाञ्छनमस्या मुखे सुतनोः ॥ ८।३५ ॥

(३) यत्र विशिष्टे वस्तुनि सत्यसदारोप्यते समं तस्य ।
वस्त्वन्तरमुपपत्त्या सम्भाव्य सापरोत्प्रेक्षा ॥ ८।३६ ॥
अतिघनकुङ्कुमरागा पुरः पताकेव दृश्यते सन्ध्या ।
उदयतटान्तरितस्य प्रथयत्यासन्नतां भानोः' ॥' ८।३७ ॥

—(१)'जहाँ पहले तो उपमान तथा उपमेय का अत्यन्त सादृश्य के आधार पर अभेद बतलाया जाय फिर उपमान का सद्भाव सिद्ध बतला कर उपमेय में उपमान [गुणक्रिया रूप] धर्मों का आरोप किया जाए—वहाँ उत्प्रेक्षा होती है ।' यथा—

'कामरूपी अग्नि फूलों के बहाने चम्पक तरु की चोटी पर चढकर पथिकों को देख रहा है मानों वह उन्हें जलाना चाहता है ।'

—(२) दूसरी उत्प्रेक्षा वह होती है जहाँ प्रसिद्ध उपमेय में एक अन्य उपमेय की कल्पना की जाय और इस कल्पित उपमेय में प्रसिद्ध उपमान पर आरोपित एक अन्य उपमान के अभेद की संभावना की जाय । यथा—

'पीले कपोलों पर बनी कस्तूरी की पत्रलेखा के रूप से इस सुतनु के मुखमण्डल के भीतर चन्द्रमा की शंका से मानों लाञ्छन आ पड़ा है ।'

[—स्पष्ट ही दोनों लक्षण और दोनों उदाहरण भामह तथा उद्भट के लक्षण और उदाहरण के भावानुवादमात्र हैं ।]

—(३) एक उत्प्रेक्षा वह भी होती है जिसमें शोभनत्व अशोभनत्व आदिगुणों से युक्त वास्तविक पदार्थ में उसी जैसे किसी अवास्तविक पदार्थ की युक्ति के आधार पर संभावना की जाती है । यथा—

मेरों पर घना कुङ्कुमराग लिए हुए यह प्रात-सन्ध्या दूर से दिखाई दे रही मानों पताका है, जो बतला रही है कि सूर्य [का रथ] उदयगिरि के पीछे छिपा है और उसका उदय आसन्न है ।

[—यहाँ रागविशिष्ट संध्यारूपी वास्तविक पदार्थ पर पताकारूपी एक अत्यन्त कल्पित पदार्थ ललोई की समानता पर संभावित किया गया। पताका की संभावना युक्तियुक्त है क्योंकि रवि यदि आ रहा है तो उसके साथ रथ का होना आवश्यक है और रथ है तो उसके ऊपर पताका। नमिसाधु ने भी उत्प्रेक्षा के कुछ भेद प्रस्तुत किए हैं]

रुद्रट ने अतिशयनामक वर्ग में भी एक उत्प्रेक्षा स्वीकार की है। उसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

यत्रातितथाभूते संभाव्येत क्रियाद्यसंभाव्यम्।
संभूतमतद्वति वा विज्ञेया सेयमुत्प्रेक्षा ॥ ९।११ ॥
अन्यनिमित्तवशाद् यद् यथा भवेद् वस्तु तस्य तु तथात्वे।
हेत्वन्तरमतदीयं यत्रारोप्येत सान्येयम् ॥ ९।१४ ॥

अर्थात्—किसी पदार्थ में असंभाव्य क्रिया आदि की संभावना करना अथवा किसी पदार्थ में असंभूत क्रियादि को संभूत बतलाना। यथा चाँदनी अंग अंग को लीप सी रही है और राजप्रासाद नीलमणि के फर्श पर पड़ती चाँदनी से पल्लवित और प्रतिबिम्बित तारों से पुष्पित था।

—अर्थात् वस्तु की निष्पत्ति में प्रसिद्ध कारण को छोड़ अन्य ही कोई कारण बतलाया जाना। यथा—बरसा में जब तालाब पानी से खूब भर गया तब मानों नील हंस के बिछोह से दुःखी होकर कमलिनी पानी में डूब गई।

मम्मट = 'संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्'।

—उपमेय का उपमानरूप से संभावन उत्प्रेक्षा है। यहाँ मम्मट ने संभावन-शब्द आलंकारिक-परम्परा से अपनाया है किन्तु टीकाकारों ने उसे अपने मन से इस प्रकार स्पष्ट किया है—'उत्कटोपमानैककोटिकः संशयः संभावनम्' अर्थात् उस संशय को संभावन कहते हैं जिसमें उपमान की ओर बुद्धि का झुकाव अधिक हो। 'दिव्यया धूमाकुलितदृष्टेरपि यजमानस्याहुतिरग्नावेव पतिता ॥'

शोभाकर = अलंकाररत्नाकरकार शोभाकर मिश्र का उत्प्रेक्षा लक्षण पहले ही उद्धृत किया जा चुका है।

परवर्ती अप्पय्यदीक्षित = 'यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम्।
प्रकृतं हि भवेत् प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥

—जहाँ प्रकृत (उपमेय) अपने से भिन्न पदार्थ (उपमान) के धर्मों के संबन्ध से तद्रूप से तर्कित किया जाय वहाँ उत्प्रेक्षा होती है। [यहाँ संभावन के स्थान पर उपतर्कित शब्द महत्त्वपूर्ण है] इसी प्रकार—

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ='तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्त्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य रमणीयतद्वृत्ति-तत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तकं तत्त्वेन तद्वत्त्वेन वा संभावनमुत्प्रेक्षा'।

इस लक्षण में धर्मी तथा धर्म इन दोनों की उत्प्रेक्षा के लक्षण मिला दिए गए हैं। उनके पृथक् रूप ये हैं—

धर्मी = 'सुन्दर साधारण धर्म के आधार पर भिन्न पदार्थ की अभेदसंभावना उत्प्रेक्षा होती है।

धर्म = 'अपने साथ रहने वाले सुन्दर साधारण धर्म के आधार किसी ऐसे धर्म की किसी पदार्थ में संभावना उत्प्रेक्षा होती है जो धर्म उस पदार्थ में वस्तुतः न रहता हो।'

इस प्रकार उत्प्रेक्षा प्रत्येक आलंकारिक को अलंकाररूप से तो मान्य है किन्तु उसके स्वरूप में उनकी मान्यताएँ भिन्न हैं। भामह और वामन इसे अतिशय और अध्यवसाय पर निर्भर मानते हैं। उद्भट इसमें पहिली बार अतिशय के साथ संभावना को भी स्थान देते हैं। रुद्रट

अतिशय को छोड़ सम्भावना के साथ आरोप को अपनाते हैं। यद्यपि उनका आरोप अतिशय से भिन्न प्रतीत नहीं होता किन्तु वे ऐतिहासिक अतिशय शब्द को छोड़ देते हैं। मम्मट अतिशय और आरोप दोनों को छोड़ एकमात्र सम्भावना को उत्प्रेक्षा मानते हैं। अलङ्कारसर्वस्वकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में से भामह और वामन को मान्यता प्रदान करने और अध्यवसाय को उत्प्रेक्षाबीज मानते हैं। शोभाकर मित्र इसके विरुद्ध उद्भट द्वारा प्रवर्तित, रुद्रट द्वारा अनुमोदित तथा मम्मट द्वारा सिद्धान्तित एकमात्र सम्भावना को उत्प्रेक्षाबीज मानते हैं। विशेषता यह है कि सर्वस्वकार सम्भावना पक्ष का खण्डन नहीं करते जब कि रत्नाकरकार शोभाकर अतिशय अथवा अध्यवसायपक्ष का स्पष्ट खण्डन करते हैं। विमर्शिनीकार जयरथ रत्नाकरकार को उत्तर देते और सर्वस्व का समर्थन करते हैं। अप्पय्यदीक्षित लक्षण में तो सम्भावना या अध्यवसाय शब्द को छोड़ उपतर्क शब्द को स्थान देते हैं किन्तु वे वृत्ति में 'तर्कं सम्भावनामात्रम्, न स्वरूपावधारणम्, तदीयधर्मो हि तत्तादात्म्यसम्भावनामात्रहेतु, न व्याप्तिपक्षधर्मतावद्धिङ्गवद् अवधारणहेतु''— अर्थात्—'तर्क का अर्थ यहाँ केवल सम्भावनामात्र है, निश्चय नहीं। एक में दूसरे के धर्म का अस्तित्व दोनों की अभिन्नता की सम्भावनामात्र कराता है, व्याप्ति और पक्षधर्मतायुक्त हेतु के समान निश्चय नहीं।'—इस प्रकार तर्क को सम्भावनारूप मान सम्भावनापक्ष के अनुयायी हैं। रुद्रट के आरोपपक्ष का समर्थन कोई नहीं करता, अतः प्रथम और अन्तिमरूप से यह पक्ष रुद्रट तक ही सीमित है। इस प्रकार उत्प्रेक्षालक्षण में दो ही प्रधान पक्ष ठहरते हैं एक अध्यवसाय या अतिशय का और दूसरा सम्भावना का। पण्डितराज जगन्नाथ के उत्प्रेक्षाविवेचन से इन दोनों पक्षों का ठीक से समन्वय हो जाता है। इन्होंने ठीक उसी प्रकार उत्प्रेक्षा में विषयभूत धर्म का अध्यवसाय माना है जिस प्रकार विमर्शिनीकार तथा मूल सर्वस्वकार ने। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' इसका उत्तम उदाहरण है। यहाँ 'व्यापन'-अनुक्त है अतः निगीर्ण है। यही दूसरे शब्दों में व्यापन का अध्यवसाय है। विमर्शिनीकार ने उक्त धर्म को भी अध्यवसित माना है और अध्यवसाय का अर्थ केवल इतना ही किया है कि उस धर्म पर अन्य धर्म की सम्भावना न कर उस धर्म से युक्त धर्मी पर उस धर्म की सम्भावना करना। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मृणालसूत्र निभवल्लभाभा'—इत्यादि पद्य प्रस्तुत किया है। यह अध्यवसाय सम्भावना का अंग बन जाता है, अतः दोनों में कोई विरोध नहीं होता। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रसगङ्गाधर में—"तनयमैनाक-गवेषण-लम्बीकृत-जलधिजठर-प्रविष्ट-हिमगिरिभुजायमानाया भगवत्या भागीरथ्या सखी"—'पुत्र मैनाक की खोज के लिए फैलाई अत एव समुद्र में प्रविष्ट हिमाचल की भुजा सी जो भगवती भागीरथी उसकी सखी यमुना'—इस उदाहरण में विषयी भुजा की लम्बाई और समुद्रप्रवेश के द्वारा गङ्गारूपी विषय की स्वाभाविक लम्बाई और समुद्र प्रवेश को 'अभेदाध्यवसानातिशयोक्ति' द्वारा अभिन्न मानकर उभय साधारण बतलाया है।—'एवं च विषयि-गततादृशगवेषणफलक—लम्बत्वजलधिजठरप्रविष्टत्वाभ्यां विषयगतयोः स्वाभाविकलम्बत्व-जलधिजठरप्रविष्टत्वयो अभेदाध्यवसानातिशयोक्त्या साधारण्यसम्पत्तौ निमित्तता'—[पृ० २७७ निर्णयसागरीय संस्करण-९]। इनके उत्प्रेक्षा-प्रकरण से ऐसे अनेक उद्धरण चुने जा सकते हैं।

प्रश्न यह है कि उत्प्रेक्षाबोध में वस्तुतः प्रधानता किस तत्त्व की है अतिशयतत्त्व की अथवा सम्भावनतत्त्व की। अतिशयतत्त्व बुद्धिधारा को अभेद की ओर ले जाता है और सम्भावनतत्त्व संशय की ओर। मैं तो मुख को चन्द्र मानता हूँ'—यह बोध वक्ता के"—मुख और चन्द्र' दोनों भिन्न हैं अथवा अभिन्न"—इस भेदाभेदविषयक संशय पर भी निर्भर माना जा सकता है और "यह मुख है अथवा चन्द्र" इस संशय पर भी। इसी प्रकार 'चन्द्रमा कौन सा है यह (मुख) अथवा यह (चन्द्र)'—इस संशय पर भी। इन सब संशयों में मूल प्रश्न एक

ही है अभेद का। किन्तु चमत्कार अभेद प्रतीति में नहीं है। चमत्कार अभेद के संशय में मुख पक्ष को प्रबल बताने में है। इसलिए प्रश्न अभेद से उठता और संशय में पर्यवसित हो संशय को ही प्रधान बना देता है। यदि अभेद ही प्रधान हो चमत्कार का कारण बन जाता तो यहाँ अलंकार रूपक होता है। संशय चमत्कारकारी है इसलिए यहाँ ससन्देहालंकार की भी शंका की जा सकती है, किन्तु वह भी यहाँ नहीं हो सकता क्योंकि ससंदेहालंकार के संदेह बोध में दोनों पक्ष बराबर रहते हैं अर्थात् वहाँ चमत्कार संदेह या संदेहविषयीभूत पदार्थों के बोध की बराबरी पर निर्भर रहता है, जब कि उत्प्रेक्षा में उपमानपक्ष की प्रबलता पर। अध्यवसाय, अतिशय या निगरण का अर्थ है साध्यवसाना गौणी लक्षणा द्वारा और रत्नाकरकार के अनुसार केवल साध्यवसाना लक्षणा द्वारा किसी पदार्थ का अन्य पदार्थ के रूप में प्रतिपादन। अर्थ यह कि उस पदार्थ में अपना असाधारण धर्म भासित न कराकर अन्य पदार्थ का असाधारण धर्म भासित कराना। ऐसा करने के लिए उस पदार्थ को उसके अपने वाचक शब्द से न कहकर जिस पदार्थ का असाधारण धर्म उसमें भासित कराना होता है उसके वाचक शब्द से कह देना। यथा 'चन्द्रः'। बतलाया जा रहा है मुख, किन्तु शब्द बोला जा रहा है चन्द्र। परिणाम यह कि व्यक्तिरूप से भासित हो रहा है मुख, किन्तु उसमें धर्म प्रतिपादित हो रहा है 'चन्द्रत्व', मुखत्व नहीं। मुखत्व तब भासित होता जब मुख के लिए मुख शब्द का ही प्रयोग होता। इस प्रकार मुख का चन्द्रत्व-धर्म के साथ ज्ञान ही अध्यवसाय या अतिशय है। क्योंकि यहाँ मुखत्व को चन्द्रत्व ने दबा दिया है इसलिए उसे चन्द्रत्व के द्वारा निगला हुआ = निगीर्ण कह दिया जाता है। यही है निगरण। उत्प्रेक्षाबोध में 'मुख' आदि का मुखत्व आदि भी भासित होता रहता है क्योंकि यहाँ मुख आदि का 'मुख' आदि शब्दों से भी बोध होता रहता है। उनमें चन्द्रत्व के विधान से मुखत्व छोड़ा जाता सा प्रतीत होता है। इतने भर से उसे पूरी तरह अध्यवसित नहीं कहा जा सकता। ऐसा आंशिक अध्यवसाय तो अपह्नुति आदि में भी रहता है। किन्तु उनका अर्थबोध अतिशयोक्ति सा नहीं रहता।

ग्रन्थकार ने अध्यवसाय को साध्य और सिद्ध इन दो भागों में विभक्त कर उत्प्रेक्षा को साध्य अध्यवसाय पर निर्भर बतला उसे अतिशयोक्ति से भिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। किन्तु यदि उनके अनुसार उत्प्रेक्षा में भी चमत्कार अतिशय पर ही आश्रित है तो साध्यत्व या सिद्धत्व केवल अवान्तरतामात्र के साधक होंगे अलंकारान्तरता के नहीं। अलंकार में भिन्नता चमत्कारक-तत्त्व के भेद से आती है। वह तो साध्य तथा सिद्ध दोनों ही स्थितियों में एक ही है अतिशय।

वस्तुतः उपतर्क या वितर्क की ओर ले जाकर अप्पय्यदीक्षित ने अधिक स्पष्टता से काम लिया है।

उत्प्रेक्षा के जो भेद सर्वस्वकार ने प्रस्तुत किए हैं उन्हें चित्रमीमांसा में अप्पय्यदीक्षित ने अधिक स्पष्ट किया है। उनके अनुसार वाच्य उत्प्रेक्षा के संभावित भेद ये हैं—

१ जाति, २ जात्यभाव, ३ गुण, ४ गुणाभाव, ५ क्रिया, ६ क्रियाभाव, ७ द्रव्य, ८ द्रव्याभाव—इन आठ की

८ उपात्तगुणनिमित्तक, १६ अनुपात्तगुणनिमित्तक, २४ उपात्तक्रियानिमित्तक, ३२ अनुपात्तक्रियानिमित्तक—इन चार से

३२ स्वरूप, ६४ हेतु, ९६ फल—इन तीन रूपों में ९६ उत्प्रेक्षा।

इनके नाम 'उपात्तगुणनिमित्तकजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा, उपात्तगुणनिमित्तकजात्यभावस्वरूपोत्प्रेक्षा'—इत्यादि बनाए जा सकते हैं। इन ९६ समाविन भेदों का एक सूत्र संस्कृत में इस प्रकार बनाया जा सकता है—'उपात्तानुपात्तान्यतर-गुणक्रियान्तर-निमित्तक-जातिगुणक्रियाद्रव्य-तद्भावान्यतर-स्वरूपहेतुफलान्यतमोत्प्रेक्षा।' इन समावित भेदों में से सम्भवता के आधार पर कुछ भेद कम हो जाते हैं। यथा द्रव्योत्प्रेक्षा और द्रव्याभावोत्प्रेक्षा स्वरूपात्मक ही होती हैं, हेतुफलात्मक नहीं। इस प्रकार उसके २४ भेदों में से १६ भेद कम हो जाते हैं, केवल आठ ही भेद शेष रहते हैं। जात्यादि ६ तत्त्वों की उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान सम्भव नहीं होता। फलत: उनके केवल २४ ही भेद शेष रहेंगे। इस प्रकार स्वरूपोत्प्रेक्षा में तो ३२ के ३२ ही प्रकार रहेंगे किन्तु हेतु और फल की उत्प्रेक्षा में केवल १२, १२ भेद होंगे। फलत: उन दोनों के प्रकार मिलकर २४ होंगे। और इस प्रकार स्वरूप, हेतु तथा फल तीनों की उत्प्रेक्षाओं के कुल मिलाकर ५६ प्रकार होंगे। किन्तु ये प्रकार केवल वाच्य उत्प्रेक्षा में ही होंगे। प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान स्वरूपोत्प्रेक्षा में भी नहीं होगा। फलत: स्वरूपोत्प्रेक्षा ३२ भेदों में से केवल १६ भेद ही बचेंगे। इस प्रकार १६ स्वरूपोत्प्रेक्षा, १२ हेतूत्प्रेक्षा और १२ फलोत्प्रेक्षा मिलकर प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के कुल ४० ही भेद होंगे। वाच्य उत्प्रेक्षा के ५६ भेदों में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा के ४० भेद मिला देने पर पुन: उत्प्रेक्षासामान्य के भेद ९६ ही हो जाते हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने एक ऐसा उदाहरण भी बना दिया जिसमें द्रव्य को भी हेतुरूप से उत्प्रेक्षा निकल आती है। वह उदाहरण है—

'वराका यं राकारमण इति बलान्ति सहसा सरः स्वच्छं मन्ये मिलदमृतमेतन्मखभुजाम्।
अमुष्मिन् या कापि द्युतिरतिघना भाति मिपतामिय नीलच्छायादुपरि निरपायाद् गगनतः॥'

—जिसे नासमझ लोग चन्द्र कहते हैं मैं इसे देवताओं का अमृतपूर्ण सरोवर मानता हूँ, और इसके बीच में जो अत्यन्त घनी नीली छाया दिखाई दे रही है इसे ऊपर के आकाश की छाया।'

—यहाँ अमृत सरोवर रूप से उत्प्रेक्षित चन्द्रमा में विद्यमान किन्तु यहाँ शब्दत: अकथित जो कलंक है उसका कारण आकाश बतलाया जा रहा है। आकाश एक द्रव्य ही है, जाति, गुण, क्रिया नहीं। अत: उसकी हेतुरूप से उत्प्रेक्षा द्रव्यहेतूत्प्रेक्षा का अस्तित्व सिद्ध कर देती है। किन्तु यह पण्डितराज जगन्नाथ ने अपना सामर्थ्य मात्र दिखलाया है। वे स्वयं मानते हैं कि ऐसे उदाहरण सामान्यत: मिलते नहीं हैं। इसीलिए उन्होंने स्वयं फलोत्प्रेक्षा के प्रसंग में द्रव्यफलोत्प्रेक्षा नहीं दिखलाई। और यह कह दिया कि जात्यादि भेद में कोई चमत्कार नहीं है। चमत्कार केवल स्वरूप, हेतु तथा फल भेद में ही है। मम्मट ने तो इन भेदों को भी छोड़ दिया। स्वरूपादि भेदों की कल्पना पहिली बार अलङ्कारसर्वस्व में ही मिलती है।

वामन ने एक उत्प्रेक्षावयव नामक अलङ्कार भी माना है और उसका लक्षण-'उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयव'-ऐसा किया है, किन्तु इसका हेतूत्प्रेक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं है। सञ्जीविनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती ने उत्प्रेक्षा के सम्पूर्ण विवेचन का संग्रह इस प्रकार किया है—

'गुणक्रियाभिसम्बन्धात् प्रकृतेऽप्रकृतात्मना। सम्भावनं स्यादुत्प्रेक्षा वाच्येवाद्यैः परान्यथा॥
जातिक्रियागुणद्रव्योत्प्रेक्षणात् सा चतुर्विधा। भावाभावाभिमानत्वे जात्यादेः साष्टधा पुनः॥
गुणक्रियानिमित्तत्वे ज्ञेया षोडशधा तथा। द्वात्रिंशच्च निमित्तस्योपादानादन्यथा स्थिते॥
हेतौ स्वरूपे चोत्प्रेक्ष्ये फले षण्णवतिः पुनः। द्रव्ये हेतुफलात्मत्वासम्भवात् तद्भिदां च्युतिः॥
तथा प्रतीयमानाया निमित्तस्यानुपग्रहः। नापि स्वरूपं तेर्भेदैस्ततसाम्न्यूना भवेदियम्॥
कश्चिच्छ्लेषेण धर्मोक्षिप्तेनैषा न बाध्यते। उपमोपक्रमाप्येषा भवेत् सापह्नवापि च॥

—गुण या क्रिया के सम्बन्ध से प्रकृत में अप्रकृत की संभावना उत्प्रेक्षा होती है। यह तब वाच्य होती है जब इव आदि का प्रयोग रहता है जब नहीं रहता तब प्रतीयमान। उत्प्रेक्षा जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य की होती है अतः उसके चार भेद हो जाते हैं। ये चारों भावात्मक तथा अभावात्मक होते हैं, अतः उक्त चार भेद आठ हो जाते हैं। ये आठों भेद गुण को निमित्त बनाकर होते हैं अथवा क्रिया को अतः सोलह हो जाते हैं। ये सोलह भेद निमित्त के उपादान और अनुपादान के आधार पर बत्तीस हो जाते हैं। ये बत्तीसों भेद स्वरूप, हेतु और फल रूप होते हैं अतः ९६ हो जाते हैं। किन्तु द्रव्योत्प्रेक्षा हेतु तथा फल रूप नहीं होती अतः उनके भेदों की कमी हो जाती है। इसी प्रकार प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा में निमित्त का अनुपादान नहीं रहता न स्वरूपोत्प्रेक्षा ही, अतः उसके भेद और कम हो जाते हैं। उत्प्रेक्षा में कहीं कहीं धर्मांश में श्लेष रहता है किन्तु उससे वह बाधित नहीं होती। यह उपमोपक्रमा तथा अपह्नवोपक्रमा भी होती है।'

—इस प्रकार स्पष्ट है कि संजीविनीकार ने उत्प्रेक्षा को संभावनस्वरूप माना अध्यवसायस्वरूप नहीं, जो मम्मटादि के अनुरूप होने पर भी मूलग्रन्थ सर्वस्व के विरुद्ध है।

स्वरूप हेतु और फल तीनों में ठीक वैसा अन्तर है जैसा गौणी लक्षणा और शुद्ध लक्षणा में होता है। संस्कृत के आलंकारिक आचार्यों की विशेषता है कि वे भेद करते समय किसी विशिष्ट भेद को एक नाम दे देते हैं। और शेष बचे सामान्य भेदों को शुद्ध भेद कह देते हैं। उत्प्रेक्षा में भी हेतु और फल की उत्प्रेक्षाओं को हेतुत्व और फलत्व के आधार पर विशिष्ट नाम दे दिया और जिस भेद में कोई असाधारण विशेषता नहीं देखी उसे अलग गिना दिया। किन्तु यहाँ उसे शुद्धोत्प्रेक्षा न कहकर स्वरूपोत्प्रेक्षा कह दिया। कुछ आचार्यों ने इसी को वस्तूत्प्रेक्षा कहा है। जो 'वस्तु, अलंकार और रस' इस प्रकार प्रसिद्ध भेदप्रक्रिया के अनुसार ठीक है। स्वरूपोत्प्रेक्षा जहाँ द्रव्यगत होती है वहाँ वह धर्म्युत्प्रेक्षा कहलाती है क्योंकि द्रव्य धर्म से युक्त होता है, इसीलिए रसगंगाधरकार ने उसका लक्षण स्वतन्त्र रूप से दरसाया है। किन्तु वह सदैव धर्मिगत ही नहीं होती धर्मगत भी होती है और रसगंगाधरकार ने 'धर्मस्वरूपोत्प्रेक्षा' शीर्षक से उसका उदाहरण स्वतन्त्र रूप से अलग दिया है। इस प्रकार कुछ लोग स्वरूपोत्प्रेक्षा को केवल धर्म्युत्प्रेक्षा मान बैठते हैं वह भ्रम है।

उत्प्रेक्षा के विकास में जो जो अंग जिस क्रम से जुड़े हैं वह क्रम ऊपर उद्धृत सभी आचार्यों के उत्प्रेक्षा लक्षणों से स्पष्ट है।

[सर्वस्व]

एवमध्यवसायस्य साध्यतायामुत्प्रेक्षां निर्णीय सिद्धत्वेऽतिशयोक्तिं लक्षयति—

[सू० २३] अध्यवसितप्राधान्ये त्वतिशयोक्तिः।

अध्यवसाने त्र्यं संभवति—स्वरूपं विषयो विषयी च। विषयस्य हि विषयिणान्तर्निगीर्णत्वेऽध्यवसायस्य स्वरूपोत्थानम्। तत्र साध्यत्वे स्वरूपप्राधान्यम्। सिद्धत्वे त्वध्यवसितप्राधान्यम्। विषयप्राधान्यमध्यवसाये नैव संभवति। अध्यवसितप्राधान्ये चातिशयोक्तिः। अस्याश्च पञ्च प्रकाराः। भेदेऽभेदः। अभेदे भेदः। संबन्धेऽसंबन्धः। असंबन्धे संबन्धः। कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसश्च।

[वृत्ति] इस प्रकार [उपर्युक्त क्रम से] अध्यवसाय के साध्य होने पर संभव उत्प्रेक्षा का निर्णय किया अब [उस अध्यवसाय के] साध्य होने पर सम्भव अतिशयोक्ति का लक्षण करते हैं—

[सूत्र] किन्तु [अध्यवसाय में] अध्यवसित की प्रधानता हो तो अतिशयोक्ति [नाम अलंकार होता है] ॥ २३ ॥

[वृत्ति] अध्यवसान में तीन पदार्थ रहते हैं, स्वरूप, विषय और विषयी। अध्यवसाय के स्वरूप की निष्पत्ति होती है तब जब विषय विषयी के द्वारा उसके अपने भीतर निगल लिया जाता है। इस [निगलने] में यदि साध्यता रहती है तो प्रधान रहता है स्वरूप [निगलना = अध्यवसाय ही] और यदि सिद्धता तो प्रधान होता है अध्यवसित [विषयी]। विषय की प्रधानता अध्यवसाय में हो ही नहीं सकती। यहाँ अध्यवसित [विषयी] की प्रधानता तो वह अतिशयोक्ति रूप से मान्य ही है। इस [अतिशयोक्ति] के पाँच भेद होते हैं। (१) भेद में अभेद (२) अभेद में भेद (३) सम्बन्ध में असम्बन्ध (४) असम्बन्ध में सम्बन्ध तथा (५) कारण तथा कार्य के पूर्वापरत्व रूप क्रम का उलटना।

विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

एवमित्यादि। तामेव लक्षयितुमाह—अध्यवसितेत्यादि। एतदेव व्याख्यातुमध्यवसायस्य तावद्यथामर्मं स्वरूपं दर्शयति—अध्यवसान इति। परस्परमिद्ध्यानुपपत्तेरध्यवसायस्य किं विषयविषयिभ्यामित्याशङ्क्याह—विषयस्य हीत्यादि। विषयविषयिभ्यामन्तरेणाध्यवसाय एव न भवतीत्यर्थः। एषामेव विषयविभागं दर्शयति—तत्रेत्यादिना। तत्रेति त्रयनिर्धारणे। स्वरूपप्राधान्यमिति अध्यवसायप्राधान्यम्। अध्यवसितप्राधान्यमिति विषयिप्राधान्यम्। साध्यत्वं सिद्धत्वं चोत्प्रेक्षायामेव निर्णीतम्। नैव संभवतीति—अध्यवसायस्वरूपानुदयात्। तदेवं विषयिणः प्राधान्यविवक्षायामलंकारो भवतीत्याह—अध्यवसितेत्यादि। उक्तं चान्यत्र—

> 'अध्यवसायसाध्यत्वप्रतीतावियमिष्यते।
>
> तत्सिद्धताप्रतीतौ तु भवेदतिशयोक्तिधीः ॥' इति।

पञ्चेति न्यूनाधिकसंख्यानिरासार्थम्। अत एव कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसस्य चतुर्थभेदान्तर्भावो न वाच्यः। एवं हि भेदान्तराणामपि तदन्तर्भाव एव स्यात्। अभेदाद्यसंबन्धेऽपि संबन्धोपनिबन्धनात्। अथ भवत्वेतदिति चेत्। न। 'अत्र च यद्यपि सर्वत्र भेदेऽभेदादौ वस्तुनोऽसम्बन्धे सम्बन्ध एव वर्णयितुं शक्यते तथाप्यवान्तरभेदविवक्षयान्यैर्लक्षितत्वाद्विविक्तस्यासंबन्धे संबन्धस्य दर्शितत्वाच्च विभागेन निर्देशः कृतः' इति भवद्भिरेवोक्तत्वात्। तत्समानन्यायत्वात्कथमस्यापि चतुर्थभेदान्तर्भावो न्याय्यः। अथ 'यदि कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंसात्समानकालतायामप्यवेऽपि तयोपनिबन्धे पञ्चमोऽत्र प्रकार इष्यते तद्देशकालयोः पदार्थसंबन्धे विशेषाभावाद्भिन्नदेशत्वाभावेऽपि तयोपनिबन्धे षष्ठोऽपि भेदः परिगणनीय इति निर्विषयत्वादसंगतेरभावः प्रसज्यत' इति चेत्। नैतत्। यस्माद्तिशयोक्त्यातिशयाख्यप्रयोजनप्रतिपिपादयिषया विषयनिगरणेन विषयिप्राधान्यं विवक्षितम्, असंगतौ तु विरुद्धत्वप्रत्यायनाय कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वमित्युभयत्राप्यस्ति तावन्निर्विवादो लक्षणभेदः। कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसे च वल्लभकर्तृकस्य हृदयाधिष्ठानस्य कारणस्य स्मरकर्तृकस्य च कार्यस्य पूर्वापरीभावं निर्णीय 'त्वद्दर्शनेनैव विषयान्तरवैमुख्येन त्वदभिलापपरैव जातेत्यतिशयप्रयोजनप्रतिपाद-

नार्थमन्यथात्वमध्यवसितमित्यतिशयोक्तिभेदत्वमेवास्य न्याय्यं न त्वसंगतिभेदत्वम् । तत्र हि—

'ववन्ध धम्मिल्लमधीरदृष्टेः क्षमानायकश्चम्पकमालिकाभिः ।
चित्तेषु मन्युः स्थिरतां जगाम विपक्षसारङ्गविलोचनानाम् ॥'

इत्यादौ धम्मिल्ले बन्धश्चित्तेषु च मन्युस्थैर्यमिति कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वम् । यत्रैव बन्धस्तत्रैव तत्कार्यस्य स्थैर्यस्योपपत्तेर्विरुद्धत्वप्रत्यायकम् । विरोधस्य चात्राभासमानत्वम् । धम्मिल्लबन्धमन्युस्थैर्ययोर्वस्तुतोऽपि कार्यकारणभावसद्भावाभावाख्यस्य बाधकप्रत्ययस्योल्लासात् । न च बाधोदयेऽपि विरोधाप्रतीतिः । द्विचन्द्रप्रतीतिवदनुपपद्यमानतया स्खलद्गतित्वेन तत्प्रतीतेरवस्थानात् । न चातिशयोक्तौ स्खलद्गतित्वम् । निश्चयस्वभावत्वादस्या अनुपपद्यमानत्वशङ्काया अप्यभावात् । नहि कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंस उपपद्यत इत्यत्र विवक्षितं किंत्वेवं फलमेतदिति । अत एवासंगतेरतिशयोक्तेश्च स्वरूपभेदोऽपीति कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंसेनासंगतिर्भिन्नदेशत्वेन चातिशयोक्तिरिति यथोक्तमेव युक्तम् । अत एव च

पौर्वापर्यविपर्याससमकालसमुद्भवौ ।
कार्यकारणयोर्यौ तौ विरोधाभासपल्लवौ ॥'

इत्याद्यपि यदन्यैरुक्तं तदयुक्तमेवेति न न्यूनप्रकारत्वम् ।

केचिच्च सर्वालंकाराणामप्यतिशयोक्तेरेव प्रभेदत्वादस्या बहुप्रकारतामाचक्षते । तथा ह्युपमायामप्यस्त्येतद्भेदत्वम् । न्यूनगुणस्य मुखादेरधिकगुणेन चन्द्रादिना साम्येऽतिशयानतिपातात्, अतिशयं विना च गौरिव गवय इत्यादावनलंकारत्वात् । अतश्चातिशयस्यैव सर्वालंकारबीजभूतत्वात् 'एकैवातिशयोक्तिश्च काव्यस्यालंकृतिर्मता' इत्युक्तम् । नैतत् । इह ह्यतिशयस्य द्वयी गतिः यदयं कविप्रतिभानिर्वर्तितः सामान्यात्मा भवति, भेदेऽप्यभेद इत्येवमादिरूपो विशेषात्मा वा । तत्राद्यः सर्वैरेवालंकारबीजतयाभ्युपगतः । अन्यथा हि गौरिव गवय इत्यादावलंकारत्वं स्यात् । तावता पुनरेतत्प्रभेदत्वं सर्वालंकाराणां न युक्तम् । तत्त्वे हि विशेषोक्त्युत्प्रेक्षादीनामपि तत्प्रसङ्गः । सर्वालंकाराणामपि विशेषोक्त्युत्प्रेक्षारूपत्वात् । अथ द्वितीयपक्षाश्रयेणैतदुच्यते तदप्ययुक्तम् । अस्या ह्यध्यवसितप्राधान्यं लक्षणम् । तच्चालंकाराणां न संभवति । तथात्वानवगमात् । अतश्चैषामसंभवत्सामान्यत्वात्कथं तद्विशेषत्वमिति बहुप्रकारत्वमस्या निरस्तम् ।

(१) इस [उत्प्रेक्षा-प्रकरण] का उपसंहार करते और अब दूसरे [प्रकरण] का आरम्भ करते हुए लिखते हैं—**'एवम्'**–आदि ।

(२) इसी [अतिशयोक्ति] का लक्षण करते हुए लिखते हैं—**'अध्यवसित'** आदि ।

(३) इस [लक्षण] की व्याख्या करने के लिए पहले अध्यवसाय का संभावित स्वरूप बतलाते हुए लिखते हैं—**'अध्यवसान'** आदि ।

(५) 'अध्यवसाय [एकमात्र विषयी के ही रहने पर होता है अतः उस] में 'परस्पर [विषय और विषयी दोनों] के बीच संभव ही नहीं होता, तब, विषयविषयी की चर्चा निरर्थक है'—ऐसी शंका की कल्पना कर उत्तर में लिखते हैं—**'विषयस्य हि'** । अर्थ यह कि विषय विषयिभाव के बिना अध्यवसाय ही निष्पन्न नहीं होता ।

(६) इन [स्वरूप, विषय तथा विषयी] का क्षेत्रविभाग दिखलाते हुए लिखा–**'तत्र'**–आदि । **'तत्र'** = इनमें–यह तीनों का रूप अलग अलग बतलाने के उद्देश्य से लिखा । **स्वरूपप्राधान्य** = अध्यवसाय की प्रधानता । **अध्यवसितप्राधान्य** = विषयी की प्रधानता । अध्यवसाय में साध्यत्व

और सिद्धत्व क्या है। इसका निर्णय ग्रन्थकार ने उत्प्रेक्षा के आरम्भ में ही कर दिया है। 'नैव संभवति = हो ही नहीं सकती इसलिए कि वैसा होने पर अध्यवसाय का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं हो सकेगा।

इस प्रकार जब विषयी की प्रधानता रहती है तभी यह [अतिशयोक्ति] अलंकार होता है; इस निष्कर्ष को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं—'अध्यवसित.' आदि। दूसरे ग्रन्थ में कहा भी गया है—'यह [उत्प्रेक्षा] वहाँ मानी जाती है जहाँ अध्यवसाय में साध्यता की प्रतीति रहती है। उसमें यदि प्रतीति सिद्धता की हो तो अतिशयोक्ति का बोध होता है।'

पाँच = पाँच ही कहकर संख्या में कमी या वृद्धि को असम्भावित ठहराया। इसीलिए 'कार्यकारणपूर्वापरत्वविपर्यय'—इस पाँचवें भेद का चतुर्थ भेद में अन्तर्भाव नहीं बतलाया जाना चाहिए—[जैसा कि अलंकाररत्नाकरकार ने बतलाया है पृ० ५८,५९] क्योंकि वैसे तो अन्य भेद भी उसी भेद के भीतर अन्तभूत बतलाए जा सकते हैं, क्योंकि उन भेदों में भी अभेद आदि का कोई सम्बन्ध न रहने पर भी सम्बन्ध जोड़ा जाता है। यदि कहें कि 'उन भेदों का भी अन्तर्भाव चतुर्थ भेद में ही हो जाय—'तो यह ठीक नहीं, क्योंकि आपने ही कहा है— " 'भेद में अभेद आदि अन्य भेदों में भी यद्यपि 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध बतलाया जा सकता है तथापि [इस 'असम्बन्ध' में सम्बन्ध'-नामक भेद में 'भेद में अभेद सम्बन्ध' आदि] अवान्तर भेद मानने ही पड़ेंगे इसलिए अन्य आचार्यों [अलंकारसर्वस्वकारादि] ने ये [भेद में अभेद आदि] भेद [उत्सर्गापवादन्याय से] अलग गिना दिए हैं और अन्त में [जब अन्य अवान्तर भेद संभव न हुआ तब] 'असम्बन्ध में सम्बन्ध नामक भेद [स्वतन्त्ररूप से] गिना दिया है, और हम [अलंकाररत्नाकरकार] ने भी उन्हीं के अनुकरण पर यहाँ अन्य भेदों को 'असम्बन्ध में सम्बन्ध नामक चतुर्थ भेद से अलग करके गिना दिया है—'' [अलं० रत्ना० अतिशयोक्ति की अन्तिम पंक्ति-पृ० ६१] इस प्रकार उक्त हेतु से यदि आप प्रथम तीन भेदों का चतुर्थ भेद में अन्तर्भाव नहीं मानते तो उसी हेतु के रहते हुए केवल पंचम भेद का अन्तर्भाव कैसे मान सकते हैं, और यदि मान भी लें तो उसे उचित सिद्ध कैसे कर सकते हैं।

और यदि [आप अलंकाररत्नाकार] यहाँ यह आपत्ति प्रस्तुत करें कि-'कारण और कार्य में [उपपत्तिगत] समानकालता [एकसाथ उत्पन्न होना] आदि [धर्म] वस्तुतः नहीं रहते तथापि यदि [कालगत] पौर्वापर्य क्रम को तोड़ उन्हें समानकालिक आदि रूपमें चित्रित कर अतिशयोक्ति का यह पाँचवा भेद माना जाता है तो [कार्य कारण के] देशगत अभेद [जहाँ कार्य रहता है वहीं कारण के रहने] का नियम तोड़कर अतिशयोक्ति का एक छठा भेद भी माना जाना आवश्यक होगा, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ के साथ जिस प्रकार काल का सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार देश का भी। दोनों में कोई अन्तर नहीं है। और वह छठा भेद मान लेने पर असंगति अलंकार का एक भी स्थल शेष नहीं रह पाएगा, वह उच्छिन्न हो जाएगी [अलं० रत्ना० पृ० ५९] तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अतिशयोक्ति और असंगति दोनों के लक्षण अत्यन्त भिन्न हैं। अतिशयोक्ति में विषय को छिपाकर विषयी की प्रधानता प्रतिपादित की जाती है और उसका प्रयोजन रहता है *अतिशय का प्रतिपादन*, क्योंकि *अतिशयोक्ति में प्रयोजनीभूत अतिशय* ही रहता है, जब कि असंगति में प्रतिपादित किया जाता है कार्य और कारण में देश भेद [दोनों का एक स्थान में न रहकर अलग अलग रहना] और इसका प्रयोजन रहता है [प्रातिभासिक] विरोध की प्रतीति। कार्यकारण के कालगत पौर्वापर्य क्रम के तोड़ने से जो पाँचवीं अतिशयोक्ति निष्पन्न होती है उस [—'हृदयमधिष्ठितम्' इत्यादि जो उदाहरण

आगे दिया गया है उस] में कारण है मालती के हृदय में 'वल्लभ का अधिष्ठित होना' और कार्य है 'काम का अधिष्ठित होना'। उनका जो स्वाभाविक कालगत पौर्वापर्य क्रम है उसे छिपा दिया गया है और उस पर उससे उल्टा पौर्वापर्यक्रम अध्यवसित किया गया है और इसका प्रयोजन है [नायक के समक्ष दूती द्वारा] इस अतिशय का प्रतिपादन कि 'तुम्हारे देखनेमात्र से मालती ने अन्य सब बातें छोड़ एकमात्र तुम्हें ही चाहते रहना शुरु कर रखा है'। इस कारण इस स्थल को अतिशयोक्ति का ही भेद मानना उचित है, न कि असंगति का। असंगति का जो उदाहरण आप [अलं० रत्ना० कार] ने दिया है उसका तात्पर्य है विरोध की ही प्रतीति में। उदाहरण है—'विक्रमदेव ने चम्पक मालाओं से बाँधा तो चन्दलदेवी के जूड़े को किन्तु निश्चलता को प्राप्त हुआ सौतों के चित्तों में कोप' [विक्रमांकदेव चरित–१०।५६]। इसमें 'बन्ध जूड़े में और कोप को स्थिरता चित्तों में'—इस प्रकार कार्य और कारण को अलग अलग स्थान पर चित्रित किया गया। इससे विरोध की प्रतीति हुई, क्योंकि सामान्यतः वहीं स्थिरतारूपी कार्य को वहीं बतलाया जाना चाहिए था जहाँ उसका कारण बन्ध बतलाया गया था। विरोध का भी यहाँ आभास-मात्र होता है, [वह प्ररूढ नहीं हो पाता] क्योंकि यहां विरोध का बाधक ज्ञान भी उदित होता है। यह ज्ञान है 'जूड़े के बन्धन और कोपकी स्थिरता के बीच वास्तविक कार्यकारणभाव के अभाव का ज्ञान'। किन्तु ऐसा नहीं होता कि बाधकज्ञान के होने पर विरोध ज्ञान न होता हो, क्योंकि उसकी प्रतीति उसी प्रकार बाधित रूप में अन्त तक बनी रहती है जिस प्रकार एक चन्द्र में दो चन्द्रों की प्रतीति। ज्ञान के बाधित होने की यह बात अतिशयोक्ति में नहीं रहती। क्योंकि यह होती है निश्चयरूप ज्ञान पर निर्भर। फलतः इसमें ज्ञानके बाधित होने का सन्देह होना भी संभव है। अतिशयोक्ति में यह बतलाना थोड़े ही अभीष्ट रहता है कि 'कारण और कार्य का काल-गत पौर्वापर्य का ध्वंस संभव होता है'। यहां तो केवल इतना बतलाना अभीष्ट रहता है कि 'इस पौर्वापर्य ध्वंस का फल यह है'। और इसी कारण [न केवल प्रयोजनों में अपितु] अतिशयोक्ति तथा असंगति के स्वरूपों में भी भिन्नता है। इसलिए यही मानना उचित है कि; अतिशयोक्ति वहां होती है जहाँ कार्यकारण के कालगत पौर्वापर्य क्रम का अभाव बतलाया जाता है और असंगति वहाँ जहाँ कार्यकारण के देशगत एकत्व का अभाव।' और इसी कारण किन्हीं अन्य आचार्य का यह कथन भी अमान्य है कि—

'कार्य तथा कारण के (१) पौर्वापर्य का विपर्यास' तथा (२) 'उनकी एकसाथ उत्पत्ति'—ये जो दो तथ्य हैं ये ही हैं विरोधाभास तथा पञ्चम (?)'।

इस प्रतिपादन से सिद्ध हुआ कि अतिशयोक्ति के [पाँच] भेदों में कमी नहीं की जा सकती।

कुछ आचार्य [भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट] सभी अलंकारों को अतिशयोक्ति का ही भेद मानते हैं और कहते हैं कि अतिशयोक्ति के भेद [केवल पाँच नहीं] बहुत अधिक संभव हैं। जैसे उपमा भी अतिशयोक्ति का भेद है, क्योंकि उसमें भी कम गुणवाले मुख आदि का अधिक गुण वाले चन्द्र आदि से जो साम्य बतलाया जाता है उसमें अतिशय टूटता नहीं है। इसी अतिशय के अभाव में 'गवय गौ के समान'—इत्यादि उपमिति नामक प्रमाण के वाक्य में [साम्य रहने पर भी उपमान] अलंकारत्व नहीं रहता। इसीलिए यही देखकर कि अतिशय ही सभी अलंकारों का बीज है कहा गया है—'एक अकेली अतिशयोक्ति ही काव्य का अलंकार मान्य है'। किन्तु यह ठीक नहीं है। अतिशय जो हैं वह दो प्रकार का होता है (१) सामान्य (२) विशेष। विशेष यथा भेद में अभेद। ये दोनों ही भेद कविप्रतिभा प्रसूत होते हैं। इनमें से प्रथम ही भेद सभी आचार्यों द्वारा अलंकारों का बीज स्वीकार किया गया है। इसे नहीं मानें तो

'गवय गौ सा'—आदि वाक्य में भी अलङ्कारत्व माना जाने लगेगा। केवल इतने से सभी अलंकारों को इसी अतिशयोक्ति का प्रभेद मानना ठीक नहीं, क्योंकि सर्वालंकार बीजत्व की यह बात विशेषोक्ति, उल्लेख आदि में भी लागू होगी, क्योंकि सभी अलंकार विशेषोक्तिरूप और उल्लेख रूप होते हैं। दूसरा जो विशेषरूप है उसके आधार पर सभी अलंकारों की निष्पत्ति मानने का द्वितीय पक्ष भी अमान्य है, क्योंकि अतिशयोक्ति में मूलभूत विशेषता है अध्यवसित की प्रधानता। वह अन्य अलंकारों में नहीं मिलती न मिल ही सकती। क्योंकि उनमें अध्यवसित के प्राधान्य का ज्ञान नहीं होता, इसलिए इन अलंकारों में जब अतिशयोक्ति का सामान्य लक्षण लागू नहीं होता तो इन्हें अतिशयोक्ति के भेद मानना सम्भव ही कैसे है। इस प्रकार अतिशयोक्ति के भेदों की संख्या बहुत अधिक मानने की बात ठीक नहीं पाती।

विमर्श—विमर्शिनीकार ने यहाँ अलङ्काररत्नाकर के जिन अंशों का खण्डन किया है वे ये हैं—

१=[सू०] अध्यवसानमतिशयोक्तिः [वृ०]=इयं च भेदेऽभेदः, अभेदे भेदः, सम्बन्धेऽसम्बन्धः, असम्बन्धे सम्बन्ध इति चतुर्धा। कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययस्य चतुर्थभेदान्तर्भावात् पञ्चधेति न वाच्यम्, तत्रापि समानकालतायामसम्बन्धेऽपि (१) विपर्ययपौर्वापर्यसम्बन्धस्य तत्सम्बन्धोपनिबन्धात्, अन्यथा देशान्तरेणासम्बन्धेऽपि तयोपनिबन्धे षष्ठस्यापि भेदस्य परिगणनीयतायाम् असङ्कीर्णविषयत्वप्रसङ्गात्, न हि देशकालयोः पदार्थसम्बन्धे कश्चिद् विशेषः, येनैकस्य भेदत्वेन कथनमन्यत्र तदभाव इति स्यात्। [अलङ्काररत्नाकर पृ० ५८–५९]।

२ = 'अत्र च यद्यपि—निर्देश कुरु' यह अंश विमर्शिनीकार ने अक्षरशः उद्धृत कर ही दिया है। इन दोनों अंशों के अर्थ विमर्शिनी से ही स्पष्ट हैं। विमर्शिनी में प्रथम 'समानकालताभाव' के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में 'समानन्यायताभाव' छापा है।

[सर्वस्व]

तत्र भेदेऽभेदो यथा—

'कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥'
अत्र मुखादीनां कमलादिभिर्भेदेऽभेदः॥

इन [भेदों] में [से प्रथम] 'भेद में अभेद' [नामक भेद का उदाहरण] यथा—[सुन्दरी को लक्ष्य कर]—

'अरे कमल [चेहरा], सो भी पानी के बिना और कमल के बीच दो नील कमल [आँखें] और ये तीनों सोने की छड़ी में, [सुन्दरी की गोरी अङ्गलतिका में] और वह [छड़ी] भी सुकुमार तथा सुन्दर। अरे ये उत्पात पर उत्पात कैसा।'

—यहाँ मुख आदि का कमल आदि से है तो भेद, किन्तु बतलाया जा रहा है अभेद।

विमर्शिनी

मुखादीनामिति। न तु वास्तवस्य सौन्दर्यस्य कमलादेरिति। न तु कविसमर्पितेन सौन्दर्येण। अत एव च, 'अत्रातिशयाख्यमित्यादि'-'तदभिप्रायेणैवाध्यवसितप्राधान्यम्'—इत्यन्तश्चोत्तरकालिको ग्रन्थः स्वमतिजाड्यात्तकैरन्यथा लिखित इति निश्चिनुमः। अयं हि ग्रन्थकृतः पश्चात्कैश्चिद्विपश्चिद्भिः पत्रिकाभिर्लिखित इत्यवगीता प्रसिद्धिः। ततश्च तैरनवधानेन ग्रन्थान्तरप्रसङ्गत्वादनुपयुक्तत्वाद्वा पत्रिकान्तरादयमसमञ्जसप्रायो ग्रन्थखण्डो लिखित

इति। न पुनरेकत्रैव तदैव मुखादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽप्यभेद इत्युक्त्वापि 'न तु वदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीय' इत्यादि वचनं पूर्वापरपराहतमस्य वैदुष्यशालिनो ग्रन्थकारस्य संभाव्यम्।

[यहाँ अभेद] मुखादीनाम् = मुख आदि का [प्रतिपाद्य है] न कि वास्तविक सौन्दर्य का, कमलाद्यैः = कमल आदि से, न कि कविकल्पित सौन्दर्य से। [इन दोनों प्रतीकों को मिलाकर यह अर्थ निकाला जाना अभीष्ट है—'अभेद मुख और कमलरूपी दो धर्मियों का अभीष्ट है न कि उनके भीतर रहने वाले सौन्दर्यरूपी धर्मों का, मुख में सौन्दर्य वास्तविक है और कमल में कवि-कल्पित]। ग्रन्थकार के ऐसा कहने से हमारा निश्चय है कि ग्रन्थ की प्रतिलिपि करने वालों ने आगे का 'अत्र अतिशयाख्यम्' यहाँ से आरम्भ होने वाला और 'तदभिप्रायेणैवाध्यवसितप्राधान्यम्'-यहाँ समाप्त होने वाला ग्रन्थांश यहाँ नासमझी से लिख दिया है। यह प्रसिद्धि भी है कि यह अंश ग्रन्थकार के बाद कुछ विद्वानों ने 'पत्रिकाओं' में लिखा था। इसलिए निश्चित ही यहाँ असंगत यह ग्रन्थखण्ड [मूलकार की प्रति से नहीं, अपितु] अन्य की पत्रावली से यहाँ लिख लिया है। ऐसा इसलिए कि इस ग्रन्थांश का प्रसङ्ग यहाँ नहीं, अन्यत्र है, यहाँ यह अनुपयुक्त है। इस ग्रन्थ का विद्वान् रचयिता एक ही स्थान पर उसी समय तो यह कहे कि 'मुखादि का कमलादि से भेद रहने पर भी अभेद है' और उसी समय इसके विरुद्ध यह भी कहे कि 'मुखादि के साथ कमलादि का अभेदाध्यवसाय नहीं जोड़ना चाहिए'-ऐसा संभव नहीं।

[सर्वस्व]

अभेदे भेदो यथा—

'अण्णं लडहत्तणअं अण्णाविअ कावि वत्तणच्छाआ।
सामा सामण्णपआवइणो रेहच्चिअ ण होइ॥'

अत्र लडहत्वादीनामभेदेऽप्यन्यत्वेन भेदः। यथा वा—

'मणिअलङ्कम्मि वलामोडिअचुंविएँ अप्पणा अ उवणमिए।
एक्कम्मि पिआहरए अण्णोण्णा होंति रसभेआ।'

अत्राभिन्नस्यापि प्रियाधररसस्य विषयविभागेन भेदेनोपनिबन्धः।

संबन्धेऽसंबन्धो यथा—

'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान्स्वीकृतः
स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ताज्वरो निर्मितः।
एषापि स्वगुणानुरूपरमणाभावाद् वराकी हता
कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता॥'

अत्र लावण्यद्रविणस्य व्ययसंबन्धेऽप्यसंबन्धस्तन्वीलावण्यप्रकर्षप्रतिपादनार्थं निबद्धः। यथा वा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
श्रृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥'

अत्र पुराणप्रजापतिनिर्माणसंबन्धेऽप्यसंबन्ध उक्तः।

असंबन्धे संबन्धो यथा—

'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥'

अत्र संभावनया संबन्धः। यथा वा—

'दाहोऽम्भःप्रसृतिंपचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितदीप्रदीपकलिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः।
किं चान्यत्कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिरुद्धचन्द्रमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते॥'

अत्र दाहादीनामम्भःप्रसृत्यादेरसंबन्धेऽपि संबन्धः सिद्धत्वेनोक्तः।

'अन्यत् सौन्दर्यमन्यापि च कापि वर्तनच्छाया।
श्यामा सामान्यप्रजापते रेखैव न संभवति॥'

—[इस सुन्दरी का] सौन्दर्य कुछ और ही है और चेहरे की शोभा भी कुछ और ही। यह षोडशी सामान्य प्रजापति की रेखा भी नहीं हो सकती।'

—यहाँ अभाव अर्थात् सौन्दर्य आदि में कोई भेद नहीं है तथापि 'कुछ और ही' कहकर उसमें भेद बतलाया गया है। इसी भेद का दूसरा उदाहरण यथा—

'मार्गितलब्धे बलात्कारचुम्बिते आत्मना चोपनीते।
एकस्मिन्नपि प्रियाधरेऽन्येऽन्ये भवन्ति रसभेदाः॥'

—'खोजने या माँगने से प्राप्त, बलात् चुम्बित अथवा स्वयं उपहृत एक ही प्रियाधर में और और ही रस आता है।'

—यहाँ प्रिया के अधर का एक ही रस विषयभेद से भिन्नरूप में चित्रित किया गया। संबन्ध में असम्बन्ध यथा—

'लावण्य की संपत्ति का व्यय भी नहीं गिना, महान् क्लेश भी उठाया, और स्वेच्छाचारी प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में चिन्ता की आग सुलगा दी। इधर इस बेचारी को भी अपनी सुन्दरता के अनुरूप वर न देकर नष्ट कर दिया। अन्ततः विधाता का ध्येय क्या था इस सुन्दरी की सुन्दर काया गढ़ने में।'

—यहाँ लावण्य की संपत्ति के व्यय [की गणना] के साथ संबन्ध के रहने पर भी उसका अभाव तन्वी के लावण्य के प्रकर्ष प्रतिपादन के लिए बतलाया गया। इसी का दूसरा उदाहरण यथा—

'इस [उर्वशी] के निर्माण में प्रजापति तो कान्तिप्रद चन्द्र रहा होगा, या एकमात्र शृंगार ही जिसका रस है ऐसा स्वयं काम ही अथवा पुष्पों का आकर मास चैत्र अर्थात् वसन्त ऋतु। वेद को रटते रटते जिसकी मति जड़ हो गई जिसका कुतूहल विषयों से हट चुका है ऐसा बूढ़ा [नारायण] मुनि [न कि ब्रह्मा] इसका निर्माण कैसे कर सकता है।'

—यहाँ निर्माण के साथ पुराण प्रजापति [नारायण ऋषि न कि ब्रह्मा] का सम्बन्ध है तब भी उसका अभाव बतलाया गया।

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने यहाँ पुराण मुनि का अर्थ ब्रह्मा किया है जब कि स्वयं संजीविनीकार ने उसका अर्थ 'पुराणो मुनिर्नरसख'. ऐसा किया है। द्विवेदी ने पाठ भी 'पुराणो विधि' ऐसा

मान लिया है जो निर्णयसागर की प्रति में भी पाठान्तर में दिया हुआ है। 'पुराण प्रजापति' = इस इति का अर्थ भी उन्होंने बुड्ढा ब्रह्मा किया है।'

असंबन्ध में संबन्ध का उदाहरण यथा—

[कोई सफेद] पुष्प यदि कोपलों के बीच खिले या मोती निखरे मूँगों के बीच रखा जाय तो कदाचित् वह उस [पार्वती] के लाल ओठों पर बिखरी उज्ज्वल स्मिति का अनुकरण कर सकता है। [कुमारसंभव–१]।

-- यहाँ [यदि शब्द पाद का] संभावना द्वारा [पुष्प और प्रवाल आदि का] संबन्ध प्रतिपादित किया गया है। [क्योंकि वृक्ष में जब फूल आते हैं तब उसके पत्ते कोंपल नहीं रह जाते। वे हरे होकर जरठ पल्लव बन जाते हैं (संजीविनी) शोभाकर ने यहाँ क्रियातिपत्ति नामक अलंकार माना है]।

इसी भेद का दूसरा उदाहरण यथा—

'दाह इतना है कि पसो [प्रसृति, अंजलि] भर पानी तक सुखा देता है। आँसू इतने उमड़ रहे हैं कि यदि कोई भारी नाली = (प्रणाल) हो तो उसमें ठीक से बह सकते हैं। साँस इतनी लम्बी हैं कि उनसे जलते दीपक की लौ हिल उठती है। सारा शरीर पीलेपन में डूब गया है। और क्या कहूँ, आजकल उस [मालती] की बैठक तुम्हारे मार्ग की ओर का झरोखा ही बना हुआ है। वहाँ वह पूरी पूरी रातें हाथ के छत्ते से चाँदनी का प्रकाश रोकती और बैठी रह जाती है।

—यहाँ पानी की पसो आदि से दाह आदि का सम्बन्ध नहीं है असंबन्ध ही है, तथापि संबन्ध सिद्ध रूप में बतलाया गया है।

विमर्शिनी

कहहस्त्वादीनामिति, आदिशब्दाद् वर्तनच्छायाया एव ग्रहणम्। तत्रैवाभेदेऽपि भेदविवक्षणात्। उत्तरार्धे हि संबन्धेऽप्यसंबन्धः। 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यस्य पादत्रयी तन्वीलावण्यप्रकर्षप्रतिपादनार्थमित्येतत्प्रयोजनदर्शनं सर्वोदाहरणोपलक्षणपरम्। संभावनयेति। ननु वस्तुतः। अत एव संबन्धस्यावास्तवत्वादुदाहरणान्तरमाह—दाहोऽम्भ इत्यादि। वाशब्दः समुच्चयार्थः।

कहहस्त्वादीनाम् = यहाँ आदि शब्द के द्वारा वर्तनच्छाया = मुखकान्ति का ही ग्रहण करना अभीष्ट है। क्योंकि अभेद होने पर भी भेद की विवक्षा वहीं में है। इस पद्य के उत्तरार्ध में तो 'सम्बन्ध में असम्बन्ध' है।

'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः'—इस पद्य के तीनों चरण का 'नायिका के लावण्य का उत्कर्ष बतलाने के लिए है'—यह जो प्रयोजन दिखलाया गया है। वह सभी उदाहरणों पर लागू होता है। इसलिए यहाँ अन्य पद्यों में प्रयोजन की कल्पना स्वयं ही कर लेनी चाहिए। **संभावनया** = संभावना द्वारा अर्थात् वस्तुतः नहीं। संबन्ध के अवास्तविक होने से ही एक दूसरा भी उदाहरण दिया—'दाहोऽम्भः' इत्यादि। यहाँ ['यथा वा-का] 'वा'–शब्द समुच्चयार्थक है।

[सर्वस्व]

कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंसः पौर्वापर्यविपर्ययात्तुल्यकालत्वाद्वा। विपर्ययो यथा—

'हृदयमधिष्ठितमादौ मालत्याः कुसुमचापबाणेन।
चरमं रमणीवल्लभ ! लोचनविषयं त्वया भजता॥'

तुल्यकालत्वं यथा—

'अविरलविलोलजलदः कुटजार्जुननीपसुरभिवनवातः ।
अयमायातः कालो हन्त हताः पथिकगेहिन्यः ॥'

कार्य और कारण के [कालगत] पौर्वापर्य का मिटना दो प्रकार से सम्भव है (१) पौर्वापर्य में विपरीतता आने [कार्य के कारण से पहले होने] से और (२) [कार्य और कारण की उत्पत्तिगत] समानकालिकता से। दोनों में से विपरीतता का उदाहरण यथा—

'तुम जब नेत्रों के विषय बने तो हे रमणीवल्लभ ! मालती के हृदय में पुष्प के ही धनुष और पुष्प के ही बाण वाले [कामदेव] ने पहिले ही घर कर लिया, तुमने बाद में।' समानकालिकता का उदाहरण यथा—

हन्त ! यह काल [समय = वर्षा ऋतु और मृत्यु] जिसमें घने मेघ उमड़ते आ रहे हैं और कुरैया [कुटज] कोहा [= अर्जुन], तथा कदम्ब [= नीप] से वनवात सुरभित है, इधर आया है और [उसी के साथ] इधर पथिकों की घरवाली प्राण छोड़ रही हैं।'

विमर्शिनी

अत्र च कार्यकारणपौर्वापर्यविध्वंस इत्यनेन प्रसिद्धयोः कार्यकारणयोर्विध्वंसो विपर्ययस्तथा पौर्वापर्यस्यापि पश्चात्कालभावित्वेन प्रसिद्धस्य क्रमस्य विध्वंसो व्यत्ययः सहभावो वेत्यपि भेदत्रयं तन्त्रेणोक्तम्। एवं च कार्यकारणविध्वंसस्यापि पञ्च प्रकाराः। अवान्तरप्रकारत्वात्पुनरेषां पञ्चप्रकारत्वं नियमगर्भीकारेण पूर्वं व्याख्यातम्। तत्र कार्यकारणयोर्विपर्ययो यथा—

एअत्तं अवअत्तं सकोअअरं मिअंककंतीहिं।
सहस्सपं अरइंदस्स कारणं भणइ सरस्स ॥

अत्रेन्दुकान्तेः संकोचे विपर्ययेण शतपत्रस्य कारणत्वमध्यवसितम्। अत्र भेदेऽभेद इत्येवंरूपातिशयोक्तिर्हेतुत्वेन स्थिता। उत्तरे त्वर्थे सैव श्लिष्टशब्दनिबन्धना हेतुः। तथाभावोपनिबन्धश्चात्र वक्त्रस्य लावण्यप्रकर्षप्रतिपादनार्थम्। क्रमविपर्ययो यथा—'कुपितस्य प्रथममन्धकारी भवति विधा ततो भ्रुकुटिः, आदाविन्द्रियाणि रागः समास्कन्दति, चरमं चक्षुः', आरम्भे तपो गलति पश्चात्स्वेदसलिलम्, पूर्वमयशः स्फुरत्यनन्तरमधर' इति। अत्र कोपकार्ये विधाभ्रुकुट्यादीनामन्धकारीभवनादौ क्रमं निगीर्य तद्विपर्ययोऽध्यवसितः। तस्यैव सहभावो यथा—

'रइभवणाहि परिअणो मसणं मणिमेहलाणिअंबाहिं।
लज्जा हिअआहि समोसरति सम ससिमुहीणम् ॥'

अत्र परिजनादीनामपसरणे क्रमिकत्वेऽपि समकालत्वमध्यवसितम्। एवमेषां सर्वेषामेव भेदानां लोकासम्भवद्विषयत्वं दर्शयितुमाह—

यहाँ 'कार्यकारण-पौर्वापर्य-विध्वंस'—इसी एक ही शब्द से—

(१) कार्य और कारणरूप से प्रसिद्ध पदार्थों में [कार्यकारणभाव का] विध्वंस अर्थात् उलटाव = कार्य का कारण बनना और कारण का कार्य, [= अर्थात् कार्यकारणविध्वंस]।

(२) कार्य और कारण क्रमशः बाद में और पहले होने का जो प्रसिद्ध पौर्वापर्य [कारण की उत्पत्ति पहले होने और कार्य की बाद में का] क्रम है उसका विध्वंस = उलटा दिया जाना अथवा—

(३) दोनों की सहोत्पत्ति—

—ये तीनों भेद बतला दिए गए हैं।

इसके अतिरिक्त यह जो कार्यकारण के पौर्वापर्य के विपर्यय का भेद है इसमें [अतिशयोक्ति के भेद में अभेद आदि] पाँचों भेद भी आ जाते हैं किन्तु ये भेद अवान्तर भेद हैं [अर्थात् प्रभेद हैं] इसलिए [अतिशयोक्ति के] इन सब [भेदों] के पाँच पाँच भेद अतिशयोक्ति के नियम को चित्त में रखकर [उत्प्रेक्षाप्रकरण के अन्त में] पहिले ही [हमने] स्पष्ट कर दिए हैं। इन [तीनों] भेदों में से [प्रथम भेद] कार्यकारण के विपर्यय = उलटाव का उदाहरण, यथा—

'एतावदवदातं संकोचकरं मृगाङ्ककान्तीनाम्।
सहस्रपत्त्रकमरविन्दस्य कारणं भवति सरसः ॥ १ ॥

—'तालाब से निकले अरविन्द की इतनी उज्ज्वल हजार पँखुड़ियें चन्द्रमा की कान्ति में संकोच का कारण कही जा रही हैं।'

—यहाँ चन्द्रमा की कान्ति के प्रति उलटे कमल को संकोच का कारण बतला दिया गया है [जब कि चन्द्रकान्ति ही कमलसंकोच का कारण मानी जाती है]। उसमें कारण है अतिशयोक्ति का प्रथम भेद 'भेद में अभेद'। उत्तरार्ध में भी वही शब्द श्लेष-द्वारा निष्पन्न होकर कारण बना है। इस प्रकार के वर्णन का उद्देश्य है नायिका के चेहरे की लुनाई में प्रकर्ष जतलाना।

क्रम के उलटने का उदाहरण यथा—

'जो क्रुद्ध होता है उसकी विधा पहिले मलिन होती है भ्रुकुटी बाद में, राग उसकी इन्द्रियों को पहिले दबोचता है नेत्रों को बाद में, उसका तप पहिले गिरता है पसीना बाद में, अपयश पहले फरफराता है अधर बाद में।'

—यहाँ विधाभ्रुकुटि आदि का मलिन होना कोपजन्य कार्य है तथापि उनके [उत्पत्ति-] क्रम में विपरीतता अध्यवसित की गई है।

कार्य-कारण-पौर्वापर्य-ध्वंस में सहभाव यथा—

'रतिभवनेभ्यः परिजनो मसृणं मणिमेखला नितम्बेभ्यः।
लज्जा हृदयेभ्यः सममपसरन्ति समं शशिमुखीनाम् ॥'

—'चन्द्रमुखी सुन्दरियों के रतिभवनों से परिजन, नितम्बों से मणिमेखला और हृदयों से लज्जा एकसाथ चुपके से खिसक रही हैं।'

—यहाँ परिजन आदि का निःसरण = खिसकना होता तो एक के बाद एक करके है किन्तु उसमें अध्यवसित किया गया है समकालत्व।

अब इन सब भेदों के विषय में बतलाते हैं कि ये लोकभूमिका पर संभव नहीं हैं, [केवल काव्य या कविकर्म की भूमिका पर ही संभव हैं]—

[सर्वस्व]

एषु पञ्चसु भेदेषु भेदेऽभेदादिवचनं लोकातिक्रान्तगोचरम्। अतश्चात्रातिशयाख्यं यत्फलं प्रयोजकत्वान्निमित्तं तत्राभेदाध्यवसायः। तथा हि 'कमलमनम्भसि' इत्यादौ वदनादीनां कमलाद्यैर्भेदेऽपि वास्तवं सौन्दर्यं कविसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदेनाध्यवसितं भेदेऽभेदवचनस्य निमित्तम्। तत्र च सिद्धोऽध्यवसाय इत्यध्यवसितप्राधान्यम्। न तु वदनादीनां कमलादिभिरभेदाध्यवसायो योजनीयः, अभेदे भेद इत्यादिषु प्रकारेष्वव्याप्तेः। तत्र

हि 'अण्णं लडहत्तणअं' इत्यादौ सातिशयं लडहत्वं निमित्तभूतमभेदेनाध्यवसितम्। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। तदभिप्रायेणैवाध्यवसितप्राधान्यम्। प्रकारपञ्चकमध्यात्कार्यकारणभावेन यः प्रकारः स कार्यकारणताश्रयालंकारप्रस्तावे प्रपञ्चार्थं लक्षयिष्यते।

इन पाँचों भेदों में 'भेद में अभेद' आदि कथन लोकोत्तर [कविप्रतिभा की] भूमिका पर निर्भर रहता है। और इसी कारण इनमें जो—'अतिशय' नामक फल है जो [अतिशयोक्ति का] निष्पादक होने से निमित्त भी है उसमें अभेदाध्यवसाय का प्रतिष्ठा मानो गई। उदाहरणार्थ—'कमल बिना पानी के'—आदि स्थलों में [नायिका]—मुख आदि का कमल आदि से भेद रहने पर भी वास्तविक सौन्दर्य को जो कविसमर्पित सौन्दर्य से अभिन्न प्रतिपादित किया गया वह निमित्त बना [इस विधा को] 'भेद में अभेद' [—विधा] नाम देने का। और यहाँ जो अध्यवसाय हुआ वह सिद्ध अध्यवसाय है। इसलिए प्रधानता हुई अध्यवसित [विषयी, कमलादि] की। यहाँ 'मुख आदि से कमल आदि का अभेदाध्यवसाय है' ऐसी योजना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वैसा करने पर 'अभेद में भेद—आदि प्रकारों में लक्षण नहीं जाएगा। क्योंकि उनमें 'कुछ और ही है सौन्दर्य' इत्यादि में अतिशययुक्त सौन्दर्य ही निमित्त होकर अध्यवसित हुआ है और इसी प्रकार अन्य भेदों में भी। इसीके अभिप्राय से कहा कि 'प्रधानता अध्यवसित का रहती है'।

पाँचों भेदों में जो भेद कार्यकारणभावमूलक है कार्यकारणभावमूलक अलङ्कारों के प्रकरण में उसका लक्षण एक बार और बतलाया जाएगा किन्तु वह केवल विस्तार या स्पष्टीकरण की दृष्टि से।

विमर्शिनी

एष्वित्यादि। एष्विति विषयसप्तमी। एष चावयवनिर्देशः। लोकातिक्रान्तेति। कविप्रतिभानिर्मितमेव सातिशयं वस्त्वेषां विषय इत्यर्थः। अत्रेति भेदपञ्चके। चशब्दः प्रमेयान्तरसमुच्चयार्थः। फलमिति। तस्यैव प्रतिपिपादयिषितत्वात्। तत्रेति। वास्तवस्य सौन्दर्यस्य कविसमर्पितेन सौन्दर्येणाभेदवचने। ननु चात्र वदनादीनां कमलाद्यध्यवसायः प्रतीयत इति कथमेतदुक्तमित्याशङ्क्याह—न त्वित्यादि। कुतश्च तेष्वव्याप्तिरित्याशङ्क्याह—तत्र हीत्यादि। कमलमनम्भसीत्यत्र हि यदि वदनादीनां धर्मिणामभेदाध्यवसाययोजनं क्रियते तदस्य धर्मिगतत्वेनैवेष्टेरिह धर्माणां न स्यादव्याप्तिः। अतश्च पूर्वत्र धर्माणामेवाध्यवसायो योजनीयो येन सर्वत्रैक एव पक्षः स्यादिति तात्पर्यार्थः। उपलक्षणं चैतत्। यावता ह्यध्यवसितप्राधान्यमस्या लक्षणम्। तच्च धर्मिणामस्तु धर्माणां वेति को विशेषो येनाव्याप्तिः स्यात्। प्रत्युत धर्मयोरभेदाध्यवसायाभ्युपगमे उपमादीनामप्यतिशयोक्तिप्रसङ्गः स्यात्। तत्रापि धर्माणामेव भेदेऽभेदविवक्षणात्। एवं च विजातीयत्वेन भेदे धर्मयोरप्यव्याप्तिः प्रसज्यत इत्यलमसङ्गतग्रन्थार्थोद्घाटनेन। प्रपञ्चार्थमिति। न तु निर्णयार्थम्। इहैव तस्य निश्चितत्वात्। प्रपञ्चश्च तत्रैव दर्शयिष्यते।

एषु = इनमें यहाँ सप्तमी विषय अर्थ में है। और [इनमें के] 'इन' का अर्थ है अवयव। लोकातिक्रान्त = कविप्रतिभानिर्मित एतएव अतिशय से युक्त वस्तु ही इन भेदों का विषय है। अत्र = इनमें अर्थात् पाँचों भेदों में। 'च = और प्रयोजन है—अन्य प्रमेय [अर्थ] का संग्रह। फलम्—क्योंकि फल ही का प्रतिपादन अभीष्ट रहता है। 'तत्र—यहाँ' अर्थात् वास्तविक सौन्दर्य के कविसमर्पित सौन्दर्य के साथ अभेद के कथन में। शंका होती है कि "यहाँ प्रतीति होती है

मुख आदि पर कमल आदि के अध्यवसाय की ओर कहा जा रहा है कि 'प्रतीत होता है अध्यवसित', यह कैसे''—इसके उत्तर में लिखते हैं—तत्र हि। तात्पर्य यह कि 'कमल बिना पानी के'—यहाँ यदि मुखादि धर्मी का अभेदाध्यवसाय किया जाय तो वह केवल धर्मियों में ही रहेगा, धर्मों में नहीं होगा इसलिए अव्याप्ति होगी ? इस कारण पहिले अभेदाध्यवसाय धर्मों में ही मान लिया जाना उचित है जिससे सभी भेदों में एक ही योजना रहे।

[कुछ लोगों का कहना है कि] यह तो उपलक्ष्यमात्र है क्योंकि इस अतिशयोक्ति का लक्षण है 'अध्यवसित की प्रधानता, वह अध्यवसान धर्मी का हो अथवा धर्म का, कोई अन्तर नहीं पड़ता इसलिए अव्याप्ति की बात नहीं बनती। बल्कि धर्मों में अभेदाध्यवसाय मानने पर उपमा में अतिशयोक्तित्व जाने का भय रहेगा, क्योंकि वहां भी धर्मों में भेद के रहते हुए भी अभेद की विवक्षा रहती है।' [किन्तु] ऐसे तो धर्मों में लक्षण लागू न होगा क्योंकि उनमें भी भेद रहता है क्योंकि वे परस्पर में विजातीय होते हैं। इसलिए उक्त क्रम से ['उपलक्ष्य' कहकर] जो मूल ग्रन्थ की व्याख्या की गई है वह असङ्गत है, उसकी चर्चा से विराम लेना ही अच्छा। [यह कदाचित् अलंकाररत्नाकरकार के 'अध्यवसाने च सर्वत्र'-से लेकर 'निर्विषयत्वप्रसंगादित्यलं बहुना', यहाँ तक पृष्ठ ५९ [U. B. A. Poona १९४२] पर विद्यमान विवेचन का सांकेतिक खण्डन है।

प्रपञ्चार्थं न कि निर्णयार्थं। क्योंकि निर्णय तो यहीं किया जा चुका है। प्रपंच [विस्तार मात्र शेष है सो वह आगे [विशेषोक्ति और असंगति के बीच] बतला दिया जायेगा।

विमर्शः—अतिशयोक्ति का पूर्वेतिहास =

भामह = 'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया यथा ॥
स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः।
अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः ॥
अपां यदि त्वक् शिथिला च्युता स्यात् फणिनामिव।
तदा शुक्लांशुकानि स्युरङ्गेष्वम्भसि योषिताम् ॥
इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।
सर्वैवातिशयोक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ॥
सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥' [२।८१–८५]

—किसी निमित्त से कथित जो लोकोत्तर [२।८१–८५] उक्ति वही अतिशयोक्ति और उसी को अलंकार मानते हैं [८१] उदाहरण [१] = अपने पुष्पों की कान्ति चुराने वाली चाँदनी में छिपे सप्तपर्ण [छितवन] वृक्ष भौरों की गूँज से अनुमानित किए गए [८२] और [२] यदि पानी से कोई झीनी त्वचा निकले जैसे सापों से निकलती है [केंचुल] तो उससे जलक्रीडा निरत सुन्दरियों के अंग पर [पारदर्शी] आवरण वस्त्र बनाया जा सकता [८३] [जिससे अंग छिपें नहीं, स्मरणीय कालिदास का 'संदष्टवस्त्रेष्वबलानितम्बेषु०' १६ सर्ग]।

—इन और ऐसे ही अन्य स्थलों में अतिशयोक्ति मानी जाती है। यहाँ गुणों में अतिशय जो ला दिया जाता है [८४]। वह जो अतिशयोक्ति है यही पूरी की पूरी वक्रोक्ति है। सामान्य अर्थ में इसी के द्वारा विभावन—[रसनीयता, चमत्कार]—शक्ति आती है। प्रत्येक कवि को इस दिशा में सचेष्ट रहना चाहिए। इसके बिना कोई भी अलंकार निष्पन्न नहीं होता [८५]॥ अलंकारसर्वस्वकारने 'लोकातिक्रान्तगोचर'-शब्द और निमित्त शब्द भामह से ही लिए हैं।

भामह का प्रथम उदाहरण मीलित या सामान्य का उदाहरण हो सकता और द्वितीय उत्तरालंकार का। किन्तु द्वितीय में 'यदि'-से निष्पन्न होनेवाली अतिशयोक्ति भी हो सकती है।

वामन = उत्प्रेक्षैवातिशयोक्तिरिति केचित्, तन्निरासार्थमाह—

[सू०] 'संभाव्य-धर्म-तदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्ति ।

[वृ०] संभाव्यस्य धर्मस्य तदुत्कर्षस्य च कल्पनातिशयोक्तिः । यथा—

'उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥ माघ० ॥

यथा वा—

'मलयजरसविलिप्ततनवो०' ।

—कुछ आचार्यो का कहना है कि 'उत्प्रेक्षा ही अतिशयोक्ति है।' इसका निराकरण करने के लिए [उत्प्रेक्षानिरूपण के तुरन्त पश्चात् अतिशयोक्ति का लक्षण दिया—]

[सूत्र] संभाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना अतिशयोक्ति।

[वृत्ति] यथा = 'मौक्तिक की माला की दो लड़ियों से विभूषित भगवान् कृष्ण के तमाल नील वक्ष की तुलना आकाश से की जा सकती है, यदि उसमें आकाशगंगा के जल के दो पृथक् प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर बहने लगें।' और—

'श्वेत प्रसाधनों से युक्त श्वेताभिसारिकाएँ चाँदनी में अलग समझ नहीं पड़ती अत निर्भय होकर वे अपने प्रिय के स्थान तक पहुँच जाती हैं।

निश्चित ही दोनों उदाहरण भामह के उदाहरणों के समानार्थक उदाहरण हैं।

उद्भट = 'निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम् ।
मन्यन्तेऽतिशयोक्तिं तामलङ्कारतया बुधाः ॥ २।११ ॥
भेदेऽनन्यत्वमन्यत्र नानात्वं यत्र बध्यते ।
तथा संभाव्यमानार्थनिबन्धेऽतिशयोक्तिगीः ॥ २।१२ ॥
कार्यकारणयोर्यत्र पौर्वापर्यविपर्ययात् ।
आशुभावं समालम्ब्य बध्यते सोऽपि पूर्ववत् ॥ २।१३ ॥

उदाहरणानि—

तपस्तेजःस्फुरितया निजलावण्यसंपदा ।
कृशाप्यकृशेव दृश्यमानाभवत्तया ॥
अचिन्तयच्च भगवानहो नु रमणीयता ।
तपसास्याः कृतान्यत्वं कौमाराद् येन लक्ष्यते ॥
पतेद् यदि शशिद्योतश्छटा पद्मे विकासिनि ।
मुक्ताक्षमालायाः करेऽस्याः स्यात् तदोपमा ॥
मन्ये ■ निपतन्त्यस्याः कटाक्षा दिक्षु पृष्ठतः ।
प्रायेणाग्रे तु गच्छन्ति स्मरबाणपरम्पराः ॥

—[भगवती पार्वती] तप से उत्पन्न तेज से चमचमाती अपनी लावण्यसंपत्ति से कृश होने पर भी निश्चित अकृश लगती थीं।

—[पार्वतीजी को देखकर] भगवान् ने सोचा थोड़ी कितनी अद्भुत है इसका सौन्दर्य। तप ने इसे कुमारी से भिन्न [युवती] बना दिया है।

—[पार्वतीजी के] हाथ में रखी मुक्तानिर्मित जपमाला की उपमा तब हो सकती है जब चन्द्रमा की कान्ति कमल में पड़े।

—[कदाचित् पार्वती जी का ही वर्णन] और मुझे कुछ ऐसा लगता है कि इसके कटाक्ष बाद में गिरते हैं काम के बाणों का ताँता प्रायः पहिले ही लग जाता है।

इनमें प्रथम उदाहरण भेद में अभेद का, द्वितीय अभेद में भेद का, तीसरा असम्बन्ध में संबन्ध का तथा चौथा कार्यकारण के पौर्वापर्य के उलटने का उदाहरण है।

इससे स्पष्ट है उद्भट ने 'संबन्ध में असम्बन्ध' नामक भेद नहीं माना है। किन्तु कार्यकारण-पौर्वापर्य-विपर्यय को अवश्य स्वतन्त्रभेद बतलाया है। यह भी स्पष्ट ही है उद्भट का आधार भामह का ही अतिशयोक्ति विवेचन है।

रुद्रट=रुद्रट ने अतिशयोक्ति नाम से एक कोई स्वतन्त्र अलंकार नहीं बतलाया। अलंकारों के एक वर्ग को अतिशय नाम दिया है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक वर्ग को वास्तव और एक वर्ग को औपम्य। अतिशयवर्ग में उन्होंने (१) पूर्व (२) विशेष (३) उत्प्रेक्षा (४) विभावना (५) तद्गुण (६) अधिक (७) विरोध (८) विषम (९) असंगति (१०) पिहित (११) व्याघात तथा (१२) अहेतु ये १२ अलंकार माने हैं। इनमें प्रथम 'पूर्व' अलंकार कारण-कार्य-विपर्यय नामक भेद का ही दूसरा नाम है।

उसका लक्षण—

'यत्रातिप्रबलतया विवक्ष्यते पूर्वमेव जन्यस्य।
प्रादुर्भावः पश्चाज्जनकस्य तु तद् भवेत् पूर्वम्॥'

—जहाँ अतिप्रबलता अर्थात् कारण के द्वारा बिना व्यापार के ही कार्योत्पत्ति बतलाने की इच्छा से कार्य की उत्पत्ति कारण की उत्पत्ति से पहिले ही बतला दी जाती है वह है पूर्वम्। यथा—

'जनमसुलभमभिलषतामादौ दन्दह्यते मनो यूनाम्।
गुरुरनिवारप्रसरः पश्चान्मदनानलो ज्वलति॥'

—असुलभ व्यक्ति को चाहने वाले युवकों का मन पहले ही जलता है भयंकर और अप्रशमनीय मदनानल बाद में सुलगता है। **अतिशयसामान्य** का लक्षण रुद्रट ने इस प्रकार दिया है—

"यत्रार्थधर्मनियमः प्रतिद्धिबाधाद् विपर्ययं याति।
कश्चित् क्वचिदतिलोकं स स्यादित्यतिशयस्तस्य॥ ९१॥"

—भाव यह कि जहाँ पदार्थ और उसके धर्म की प्राकृतिक व्यवस्था प्रसिद्धि के विरुद्ध उलटी प्रतिपादित की जाती है वहाँ उसकी यही अतिलोकता अर्थात् लोकातीतता अतिशय कहलाने लगती है।

ठीक वैसा ही एक अन्य 'पूर्व' नामक अलंकार रुद्रट ने औपम्यवर्ग में भी गिनाया है—

'यत्रैकविधावर्थौ जायेते यौ तयोरपूर्वस्य।
अभिधानं प्राग्भवतः सतोऽभिधीयेत तत् पूर्वम्॥ ८।९७॥

—अर्थात् उपमानोपमेय किसी एक कार्य से युक्त हो रहे हैं उनमें से उपमेयभूत पदार्थ भले ही उपमानसदृश वर्णित कार्य से युक्त साथ साथ या बाद में हो रहा हो परन्तु यदि उसे उपमान की अपेक्षा पहिले ही वैसे कार्य से युक्त बतला दिया जाए तो वहाँ पूर्व नामक अलंकार होता है। यथा—

'काले जलदकुलाकुलदशदिशि पूर्वं वियोगिनीवदनम्।
गलदविरलसलिलमरं पश्चादुपजायते गगनम्॥ ८।९७॥'

—मेघकुलों से दसों दिशाओं को आकुल करने वाला समय अर्थात् वर्षाऋतु जब आती है तो वियोगिनीवदन अविरलजलस्रावी पहले हो जाता है, आकाश बाद में॥'

—उपर्युक्त उदाहरण तथा इस लक्षण से यह तो स्पष्ट होता है कि रुद्रट के मन में अतिशयोक्ति का पूर्वाचार्य प्रतिपादित रूप है किन्तु वे भामह या उद्भट के अनुसार इसको स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानते।

यहाँ एक यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि वामनाचार्य ने उत्प्रेक्षा को अतिशयोक्ति से अभिन्न मानने वालों का स्पष्ट खण्डन किया है और उनके परवर्ती रुद्रट स्पष्ट रूप से वैसा मानते हैं। निश्चित ही वामन के पूर्व अलंकार-संप्रदाय की कोई और भी कड़ी रही होगी जो अब अनुपलब्ध है किन्तु रुद्रट को उपलब्ध थी।

मम्मट='निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयातिशयोक्तिः सा।'

—(१) उपमान द्वारा उपमेय का निगरण, (२) प्रस्तुत की अन्यरूपता, (३) यदि शब्द के अर्थ की उक्ति द्वारा असम्भावितार्थ की कल्पना तथा (४) कार्य और कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय यह सब अतिशयोक्ति अलंकार है। इसमें से मम्मट ने प्रथम का उदाहरण 'कमलमनम्भसि', द्वितीय का 'अण्ण लडहत्तणअम्' तथा चतुर्थ का 'हृदयमधिष्ठितम्' ही दिया है। तृतीय का अवश्य—

'राकायाममृतांशोश्चेदकलङ्कं भवेद् वपुः।
तस्या मुखं तदा साम्यपराभवमवाप्नुयात्॥'

—पूर्णिमा में चन्द्रबिम्ब यदि कलंकरहित हो तो उसका मुख साम्य का तिरस्कार उठा सकता है, यह नया उदाहरण दिया है।

इस प्रकार मम्मट ने भी अतिशयोक्ति के चार ही भेद माने हैं। सबन्ध में असबन्ध नामक भेद उद्भट के ही समान उनके विवेचन में नहीं मिलता।

शोभाकर=ने अतिशयोक्ति के चतुर्थ अर्थात् असबन्ध में सबन्ध भेद के लिए-'यद्यर्थोक्तावसंभाव्यमानस्य क्रियातिपत्तिः'='यदि' आदि शब्दों के अर्थ के द्वारा जहाँ असंभाव्यमान पदार्थ की कल्पना की जाय वह क्रियातिपत्ति',—इस प्रकार क्रियातिपत्ति नामक एक स्वतन्त्र अलकार माना है और उसका उदाहरण 'पुष्पं प्रवालोपहितम्' पद्य ही दिया है। उनका अतिशयोक्ति सम्बन्धी शेष विवेचन पहले आ ही चुका है। इन्होंने एक अतिशयनामक अलंकार और माना है, किन्तु उसका अतिशयोक्ति से कोई संबन्ध नहीं है।

अप्पय्यदीक्षित=परवर्ती अप्पय्यदीक्षित कुवलयानन्द में तो (१) रूपकातिशयोक्ति (२) सापह्नवातिशयोक्ति (३) भेदकातिशयोक्ति (४) सम्बन्धातिशयोक्ति (५) असम्बन्धातिशयोक्ति (६) अक्रमातिशयोक्ति (७) चपलातिशयोक्ति तथा अत्यन्तातिशयोक्ति नामक सात भेद मानते और अन्तिम तीन भेदों में कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति भी स्वीकार करते हैं, साथ ही अपनी ओर से स्वतन्त्र उत्तम उदाहरण भी देते हैं, किन्तु चित्रमीमांसा में वे केवल चार भेद ही प्रतिपादित करते हैं भेदेऽभेद, अभेदेऽभेद, सम्बन्धेऽसम्बन्ध और असम्बन्धे सम्बन्ध। कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्यय को वे छोड़ देते हैं। चित्रमीमांसा में उनने अतिशयोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'विषयस्यानुपादानाद् विषय्युपनिबध्यते।
यत्र सातिशयोक्तिः स्यात् कविप्रौढोक्तिनिर्मिता॥'

पण्डितराज जगन्नाथः—

लक्षण—'विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशयः, तस्योक्तिः। अर्थात्—विषयी द्वारा विषयका निगरण होता है अतिशय और उसको उक्ति = अतिशयोक्ति।

पण्डितराज ने जो उदाहरण दिए हैं उन में उन्होंने सर्वस्वकार द्वारा प्रतिपादित पाँचों भेद नामोल्लेखपूर्वक घटाए हैं। और अन्त में उन्होंने इन सभी भेदों के उक्त लक्षण के समन्वय का प्रयत्न किया है। एतदर्थ उन्होंने प्राचीनों के अनुसार 'एतद्भेदपञ्चकान्यतमत्वम्' = 'इन पाँचों भेदों में से कोई'—यह सामान्य लक्षण किया है। किन्तु उन्होंने नव्यों के अनुसार केवल प्रथम = निगरण मूलक भेद को ही अतिशयोक्ति बतलाया है और अन्य भेदों को अन्य कोई अलंकार, किन्तु उन अलंकारों का नाम नहीं बतलाया। 'भेद में अभेद का, अभेद में भेदका, सम्बन्ध में असम्बन्धका, असम्बन्ध में सम्बन्ध का और कार्यकारण के क्रमविपर्यय में वास्तविक क्रम का निगरण' माना जा सकता है, किन्तु यह निगरण वैसा निगरण नहीं होगा जैसा 'कमलमनम्भसि' आदि में विषयी द्वारा विषय के निगरण में होता है जहाँ विषय का ज्ञान उसके अपने धर्म के साथ नहीं होता। [उसमें विषयी के धर्म का ही ज्ञान होता है] क्योंकि प्रथम भेद के अतिरिक्त अन्य सब भेदों में विषय का ज्ञान भी होता ही रहता है। इसी अभिप्राय से पण्डितराज ने यह पंक्ति लिखी है—'ननु प्रस्तुतान्यत्वभेदे भेदेनाभेदस्य, असम्बन्धे सम्बन्ध इति भेदे संबन्धेना-सम्बन्धस्य, सम्बन्धेऽसम्बन्ध इति भेदे असंबन्धेन सम्बन्धस्य कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्यये च तेनै-वानुपूर्व्यस्य च निगरणं रत्नाकर-विमर्शिनीकाराद्युक्तक्रमेण संभवतीति चेत् न, अन्यत्वादिभिः [सार्धम्] अनन्यवस्तु-प्रतीतेरेव चमत्कारित्वम्, न त्वनन्यत्वादिभिः [केवलैः], तेषाम-नुभवासक्तेः।

पूर्वोक्त 'अन्यतमत्व' द्वारा संभव निर्वाह पर भी वे कटाक्ष करते हुए नव्यों की ओर से लिखते हैं—'न चान्यतमत्वमनुगतमिति शक्यते वक्तुम्, विच्छित्तिवैलक्षण्ये सति अन्यतमत्वस्या-प्रयोजकत्वात्।'—'अन्यतमत्व पाँचों भेदों में लागू तो हो जाता है किन्तु वह पाँचों भेदों को एक अलंकार सिद्ध नहीं करा पाता, क्योंकि पाँचों में जो चमत्कार है उस में अन्तर है।

पण्डितराज के इस विवेचन की जड़ में जो दुर्बलता है वह वहीं पकड़ में आ जाती है जहाँ वे द्वितीय से लेकर पाँचवे भेद तक के चार भेदों को अलंकारान्तर तो करार देते हैं किन्तु उनका नाम नहीं ले पाते। सच यह है कि इन सब भेदों में सामान्य धर्म है 'लोकातिक्रान्तगोचरता'। और इसे पूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। यहाँ इसी से चमत्कार होता है इसलिए अन्य अलंकारों में इसके रहने पर भी उन्हें अतिशयोक्ति नहीं कहा जाता, क्योंकि वहाँ चमत्कार के दूसरे दूसरे कारण रहते हैं।

पण्डितराज ने 'सम्बन्ध में असंबन्ध और 'असम्बन्ध में सबन्ध' दोनों भेदों को कुछ आचार्यों द्वारा अनभिमत बतलाया है। ये आचार्य कौन हैं यह एक गवेषणीय तथ्य है। संजीविनीकार ने अतिशयोक्ति विवेचन का सारसंग्रह इस प्रकार किया है—

'अभेदाध्यवसायो हि फलेऽतिशयनामनि। न पुनः फलिनोस्तत्राभेदे भेदो न सिद्ध्यति॥'

'अभेदाध्यवसाय अतिशयनामक फल में होता है, फलवानों में नहीं क्योंकि इस पक्ष में 'अभेद में भेद' की सिद्धि नहीं हो पाती।'

विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

अब इस [प्रकरण] का उपसंहार करते हुए अन्य [प्रकरण] का आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

एवमध्यवसायाश्रयमलंकारद्वयमुक्त्वा गम्यमानौपम्याश्रया अलंकारा इदानीमुच्यन्ते । तत्रापि पदार्थवाक्यार्थगतत्वेन तेषां द्वैविध्ये पदार्थगतमलंकारद्वयं क्रमेणोच्यते—

[सू० २४] औपम्यस्य गम्यत्वे पदार्थगतत्वेन प्रस्तुतानामप्रस्तुतानां वा समानधर्माभिसंबन्धे तुल्ययोगिता ।

इवाद्यप्रयोगे ह्यौपम्यस्य गम्यत्वम् । तत्र प्राकरणिकानामप्राकरणिकानां वार्थानां समानगुणक्रियासंबन्धे अन्वितार्था तुल्ययोगिता । यथा—

'सञ्जातपत्त्रप्रकराञ्चितानि समुद्वहन्ति स्फुटपाटलत्वम् ।
विकस्वराण्यर्ककरप्रभावाद्दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयुः ॥'

अत्र ऋतुवर्णनस्य प्रक्रान्तत्वाद्दिनानां पद्मानां च प्रकृतत्वाद् वृद्धिगमनं क्रिया । एवं गुणेऽपि । यथा—

'योगपट्टो जटाजालं तारवी त्वङ्मृगाजिनम् ।
उचितानि तवाङ्गेषु यद्यमूनि तदुच्यताम् ॥

उचितत्वं गुणः । अप्राकरणिकानां यथा—

'धावत्त्वदश्वपृतनापतितं मुखेऽस्य
निर्निद्रनीलनलिनच्छदकोमलाङ्ग्या ।
भग्नस्य गूर्जरनृपस्य रजः कयापि
तन्व्या तथासिलतया च यशः प्रमृष्टम् ॥'

अत्र गूर्जरं प्रति नायिकासिलतयोरप्राकरणिकत्वे मार्जनं क्रिया । गुणो यथा—

'त्वदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥

कठोरत्वं गुण. । एवमेषा चतुर्विधा व्याख्याता ।

[वृ०] इस प्रकार अध्यवसाय पर निर्भर दो अलंकारों का निर्वचन किया । अब ऐसे अलंकारों का निर्वचन किया जाता है जिनमें सादृश्य गम्यमान रहता है । उनमें भी दो विधाएँ रहती हैं (१) पदार्थगत और (२) वाक्यार्थगत । इनमें से क्रम से पदार्थगत दो अलंकारों का निर्वचन [पहले] करते हैं—[विमर्शिनीकार ने अपह्नुति के आरम्भ में यहाँ के 'एवमध्य० क्रमेणोच्यते'-इस ग्रन्थांश को उद्धृत किया है । वहाँ 'क्रमेणोच्यते' पाठ है, अतः यहाँ भी हमने वैसा ही पाठ बना दिया है]—

विमर्शिनी

[सू०] 'सादृश्य यदि गम्य [शब्दतः अकथित] हो और [केवल] प्रस्तुतों अथवा [केवल] अप्रस्तुतों का पदार्थस्तर पर समानधर्म-सम्बन्ध हो तो तुल्ययोगिता [होती है] ॥ २४ ॥

[वृ०] सादृश्य गम्य होता है जब इवादि [सादृश्यवाचक पदों] का प्रयोग नहीं रहता। इस स्थिति में केवल प्राकरणिक अथवा केवल अप्राकरणिक अर्थों का ही गुण क्रिया आदि रूप समान धर्मों से संबन्ध हो तो उसे अर्थानुरूप तुल्ययोगिताशब्द से पुकारा जाता है। यथा—

[ग्रीष्म में] दिन और पद्म दोनों वृद्धि को प्राप्त हुए। दोनों सज्जातिपत्रप्रकरांचित थे, दोनों पाटलता [ललाई] धारण किए हुए थे और दोनों ही विकस्वर [विकासशील] थे। [दिन पक्ष में = सज्ज = सन्नद्ध जो आतपत्र = छाते उनके प्रकर = समुदाय से अंचित = युक्त, पद्म पक्ष में = सत् = अच्छे जात = उत्पन्न हुए जो पत्र = पत्ते उनके प्रकर = समुदाय से अंचित = सुशोभित]।

—यहाँ प्रस्तुत है ऋतुवर्णन, अतः उसमें दिन और पद्म दोनों ही प्रस्तुत हैं और दोनों में 'वृद्धि को प्राप्त होना' = क्रिया अन्वित होती है। इसी प्रकार गुण के भी उभयान्वयी होने पर भी यथा—

'योगपट्ट, जटाएँ, वृक्ष की छाल, मृगचर्म, ये सब तुम्हीं बतलाओ यदि तुम्हारे शरीर के लिए उचित हों।'

—यहाँ उचितत्व गुण है। [अलंकाररत्नाकरकार के अनुसार उचित शब्द नपुंसकलिंग बहुवचनान्त होने से योगपट्ट आदि प्रत्येक में अन्वित नहीं होता, यह एक दोष है] अप्राकरणिकों का [एक धर्म में अन्वय] यथा—

—'नष्ट गुर्जरेश के चेहरे पर आपकी दौड़ती हुई अश्वसेना की पड़ी हुई धूल को उसकी खिले हुए नीलकमल के समान कोमल अंग वाली प्रिया ने पोंछा और उसकी कीर्ति को आपकी [वैसी ही] असिलता ने।'

—यहाँ वर्णन है गुर्जरेश का अतः उसकी स्त्री और असिलता दोनों ही अप्रस्तुत हैं। और उनमें मार्जन = पोंछना-रूपी क्रिया का अन्वय हो रहा है।

[अप्रकरणिकों में] गुण का अन्वय यथा—

'तुम्हारे शरीर की मृदुता को देखने वाले किस व्यक्ति के चित्त में मालती, शशिकला और कदली की कठोरता का भास नहीं हो जाता।'

—यहाँ कठोरता गुण है। इस प्रकार यह चार प्रकार की होती है और उसकी व्याख्या की गई।

विमर्शिनी

एवमित्यादिना। गम्यमानौपम्याश्रया इति इवाद्यप्रयोगात्। पदार्थमिति। वाक्यार्थापेक्षया पदार्थप्रतीतेरन्तरङ्गत्वात्। तत्र प्रथमं तुल्ययोगितामाह—औपम्येत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—इवेत्यादिना। तत्रेत्यौपम्यस्य गम्यत्वे सति। प्राकरणिकानामिति द्वयोः समानधर्मसंबन्धस्य संभवादेव ग्रहणसिद्धेर्बहुवचननिर्देशो बहूनां ग्रहणार्थम्। अत एव च बहूनामौपम्यग्रहणायेति न वाच्यम्। वक्ष्यमाणोदाहरणेषु द्वयोरौपम्यस्योल्लासमानत्वात्। एवं दीपकेऽपि ज्ञेयम्। अन्वितार्थेति। समानधर्मसंबन्धिनामत्र भावात्। अनेनैव चास्याः प्रकृतानामप्रकृतानां च गुणक्रियात्मकधर्मयोगाद् द्वैविध्येन चतुःप्रकारत्वमभ्युक्तम्। न चास्यातिशयोक्तिरनुप्राणकतया वाच्या। तां विनापि वक्ष्यमाणोदाहरणेष्वस्याः संभवात्। औपम्याभावेऽपि गुणसाम्योदाहरणद्वयं प्राच्योदाहृतत्वाद्ग्रन्थकृतोदाहृतम्। यत्र पुनरौपम्यं प्रतीयते तदुदाह्रियते यथा—

> ईर्ष्याविकारावसरे तवोचितमिदं प्रिये।
> स्खलद्गतित्वं वचसां लीलाचङ्क्रमणस्य च॥

अत्रोचितत्वं गुणः । अप्रकृतयोस्तु यथा—

> भूभारोद्वहनव्यग्रे सुचिरं त्वयि तिष्ठति ।
> देवाद्य फणिनामग्रयः कूर्मश्च सुखिनौ परम् ॥'

अत्र सुखित्वं गुणः ।

केचिच्च नायिकाभिलषितयोः प्राकरणिकत्वं मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते यथा—'शंभोर्यन्नखरश्मिभिः प्रणमतश्चूडामणित्वे स्थिता

> गङ्गा चन्द्रकला च सर्वजगता वन्द्यत्वमापादिता ।
> युक्तायाः परतापदावविपदः कन्यापितॄणामसौ
> दूरीकार्यहिमालया कथमुमापादद्वयी प्राप्यते ॥'

अत्र भगवतीपादद्वयस्यैव वर्णनीयत्वाद् गङ्गाचन्द्रकलयोरप्रकृतत्वम् । आपादनं च क्रिया ।

बिम्बप्रतिबिम्बभावेनापीयं भवति । यथा—

> 'क्षिपन्त्य चिन्त्यानि पदानि हेलया स्वराजहंसानधिरुह्य च स्थिता ।
> कवीन्द्रवक्त्रेषु च यत्र शारदा सहस्रपत्रेषु रमा च रज्यति ॥'

अत्र वक्त्रपद्मयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः । अनेनैव चाशयेनात्रालंकारवार्तिके ग्रन्थकृता वैशिष्ट्यमस्या दर्शितम् । शुद्धसामान्यरूपत्वेन यथा—

> आस्तां बालस्य स भद्रे द्वे धात्र्यौ तस्य वृद्धये ।
> एका पयःप्रस्रविणी सर्वसंपत्प्रसूः परा ॥'

अत्र प्रस्रवणस्य शुद्धसामान्यरूपत्वम् ।

एवम् इत्यादिना । गम्यमानौपम्याश्रया = गम्यमान सादृश्य पर आश्रित अर्थात् इवादि का प्रयोग न होने से । पदार्थम् क्योंकि पदार्थ की प्रतीति वाक्यार्थ की प्रतीति की अपेक्षा अन्तरंग [पूर्ववर्ती] होती है । पदार्थगत इस वर्ग के अलंकार में पहले तुल्ययोगिता का लक्षण करते हैं—'औपम्य०' । इसी की व्याख्या करते हैं—इव । अत्र = प्राकरणिकानाम् = प्राकरणिकों का । यहाँ बहुवचन का प्रयोग दो से अधिक अप्राकरणिकों के संग्रह के लिए किया गया है, वैसे तुल्ययोगिता केवल दो अप्राकरणिकों में हुए समानधर्म सम्बन्ध से भी संभव है । इसीलिए यह कहा जाना ठीक नहीं कि 'बहुतों का औपम्य अपनाने के लिए—' [यह अलंकाररत्नाकरने नहीं कहा है] । क्योंकि आगे कहे जाने वाले उदाहरणों में केवल दो दो के भी सादृश्य उपनिबद्ध है । यही स्थिति दीपक में भी मान्य है ।

अन्वितार्थं = क्योंकि इस [तुल्ययोगिता] में समानधर्म से सम्बन्धित पदार्थों का अस्तित्व है । इसीसे यह चार प्रकार की होती है क्योंकि इसमें प्राकरणिक और अप्राकरणिक का गुण और क्रिया रूप दो धर्मों से अन्वय होता है । अतिशयोक्ति को इसका साधक नहीं मानना चाहिए—क्योंकि यह अतिशयोक्ति के बिना भी आगे प्रदर्शित उदाहरणों में पाई जाती है । ग्रन्थकारने यहाँ जो गुणसाम्य के दो ऐसे उदाहरण दिए हैं जिनमें औपम्य = सादृश्य नहीं है वह केवल इसलिए कि उन्हें प्राचीन आलंकारिकों के उदाहरण रूप से प्रस्तुत किया था । औपम्ययुक्त स्थल ये हैं—

'हे प्रिये ! ईर्ष्याविकार के समय तुम्हारे लिए यह उचित है कि तुम्हारी वाणी और लीलापूर्ण गतिमें स्खलन आए ।'—यहाँ उचितत्व गुण है । [यहां दोनों प्रकृत हैं] । दोनों के अप्रकृत होने पर—

'हे देव [राजन्] आप पृथिवी का भार ढोने में निरत हैं इसलिए आजकल शेषनाग और आदि कूर्म दोनों बड़े सुखी हैं ।'—यहाँ सुखित्व गुण है [और वर्णन राजा का है अतः शेष औ

कूर्म दोनों अप्रकृत हैं]। कुछ लोग दो नायिकायुक्त पदार्थों में प्राकरणिकता मानते हैं अतः हम दूसरा उदाहरण देते हैं—

'भगवती पार्वती की ऐसी चरणारविन्दद्वयी कैसे प्राप्त की जा सकती है जिसने प्रणाम कर रहे भगवान् शिव के सिर पर विद्यमान गंगा और चन्द्रकला दोनों को अपनी नखरश्मियों से संसार भर के लिए वन्द्य बना दिया है तथा जिसने [अपने पिता] हिमालय को कन्या के पिताओं के हृदय में लगी अत्यन्त ताप रूपी दवाग्नि की विपत्ति से दूर कर दिया है।'

—यहाँ भगवती पार्वती के चरण ही वर्णनीय हैं अतः 'गंगा' और 'चन्द्रकला' ये दोनों अप्राकरणिक हैं। उनमें एक [जगद्वन्द्यता विषयक] 'आपादन = प्राप्ति' क्रिया का अन्वय है।

यह तुल्ययोगिता बिम्बप्रतिबिम्बभाव से भी निष्पन्न होती है। यथा—

'जहाँ कवीन्द्रवक्त्रों में शारदा और कमलों में लक्ष्मी प्रेमपूर्वक रहती हैं, जो दोनों कभी तो अचिन्त्य पदों [सरस्वतीपक्ष में = काव्यघटनानुरूप पदावली, लक्ष्मीपक्षमें = पदचाप] को लीलापूर्वक बिखेरती और धरती रहती हैं और कभी अपने राजहंसों [सरस्वतीपक्ष में हंसविशेष तथा लक्ष्मीपक्ष में राजारूपी हंस या हंसतुल्य विवेकी राजा] पर सवारी किए हुए रहती हैं।'

—यहाँ वक्त्र और कमल इन दोनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। इसी आशय से ग्रन्थकार ने अपने अलंकारवार्तिक नामक ग्रन्थ में [तुल्ययोगिता के] इस भेदको एक विशिष्ट भेद बतलाया है।

शुद्ध सामान्यरूप से निष्पन्न तुल्ययोगिता, यथा—

'इस बालक की वृद्धि के लिए दो धात्री [धाई और पृथिवी] सदा तत्पर थीं एक धात्री जो दुग्धदात्री [धाई] थी और दूसरी धात्री सर्वसम्पत्ति उत्पन्न करनेवाली [पृथिवी]।'

—यहाँ [पयः]—'प्रस्रवण = [दूध] देना शुद्ध सामान्यरूप क्रिया है।

विमर्शः—तुल्ययोगिता का पूर्वेतिहास—

भामह = 'न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया-

तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता ॥' यथा—

'शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः।

यदलङ्घितमर्यादां चलन्तीं बिभृथ क्षितिम् ॥' [३।२७–२८]

—कम गुणवाले पदार्थ का विशिष्टगुण वाले पदार्थ से गुणगत साम्य बतलाने के लिए समान कार्य करना प्रतिपादित किया जाय तो तुल्ययोगिता होती है। यथा—शेषनाग, हिमाचल, और हे राजन् आप अत्यन्त गरिमामय हैं जो मर्यादा की रक्षा कर डोलती पृथिवी को धारण करते रहते हैं।

वामन = 'विशिष्टेन साम्यार्थमेककालक्रियायोगस्तुल्ययोगिता।

विशिष्ट से न्यून की समता बतलाने के लिए एककालिक क्रिया में दोनों का अन्वय तुल्ययोगिता कहलाता है [अतः यह व्याजोक्ति से भिन्न है]।

यथा—'जलनिधिरशनामिमां धरित्रीं वहति भुजंगविभुर्भवद्भुजश्च।'

इस समुद्रमेखला पृथिवी को शेषनाग या आपका भुजदण्ड धारण करता है। 'वहन = धारण' क्रिया में शेष और भुजदण्ड का अन्वय है।

उद्भट = 'उपमानोपमेयोक्तिशून्यैरप्रस्तुतैर्वचः।

साम्याभिधायि प्रस्तावभाग्भिर्वा तुल्ययोगिता ॥ ५।७ ॥

जिनमें उपमानोपमेयभाव कथित न हो ऐसे केवल अप्रस्तुतों अथवा केवल प्रस्तुतों का साम्य-प्रत्यायक कथन तुल्ययोगिता।

यथा = त्वदङ्गमार्दवम्० इत्यादि तथा 'योगपट्टो जटाजालम्' इत्यादि।

रुद्रट = + + + + + +

मम्मट = 'नियतानां सकृद् धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥

नियतानां प्राकरणिकानामेवाप्राकरणिकानामेव वा ।

यथा = पाण्डुक्षामम्,'—केवल प्राकरणिकों या केवल अप्राकरणिकों में किसी एक धर्म का अस्तित्व तुल्ययोगिता । यथा = 'इत्यादि,

'पाण्डु क्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।

आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥'

—हे सखि, तुम्हारा पीला और दुर्बल चेहरा, आर्द्र हृदय तथा आलस्ययुक्त शरीर किसी हृदयस्थ प्रधान रोग की सूचना देते हैं । यहाँ सभी प्राकरणिक हैं ।

'कुमुदकमलनीलनीरजालिर्ललितविलासजुषोर्दृशोः पुरः का ।

अमृतममृतरश्मिरम्बुजन्म प्रतिहतमेकपदे तवाननस्य ॥'

—कुमुद, कमल, नीलोत्पल तुम्हारी ललितविलास युक्त आँखों के सामने हैं ही क्या, और अमृत, चन्द्र, कमल तुम्हारे मुखबिम्ब के समक्ष एक साथ ध्वस्त हैं ।' यहाँ केवल नायिका वर्ण्यमान अतः प्रस्तुत हैं । शेष सब अप्रस्तुत हैं और उन में 'हैं ही क्या' और 'ध्वस्त' पदों द्वारा व्यक्त तुच्छत्व रूपी एकधर्म का अन्वय हो रहा है ।

—इस संदर्भ से स्पष्ट है कि रुद्रट तुल्ययोगिता को दीपक से भिन्न नहीं मानते । भामह ने दीपक को आदि, मध्य तथा अन्त में स्थित किसी एक धर्म के साथ अनेक पदार्थों के अन्वय के आधार पर तीन भागों में बाँटा है आदि दीपक, मध्यदीपक तथा अन्त दीपक । उन्हीं के अनुकरण पर रुद्रट ने भी दीपक के ये तीनों भेद किए हैं । किन्तु उन्होंने दीपकगत अनेक पदार्थों के प्रस्तुतत्व या अप्रस्तुतत्व पर ध्यान नहीं दिया है, अतः उनके यहाँ तुल्ययोगिता के दीपक से भिन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता । भामह और उनके अनुकरण पर वामन ने तुल्ययोगिता को दीपक से अलग अवश्य प्रस्तुत किया है किन्तु इस में प्रस्तुत या अप्रस्तुत की ऐकान्तिकता अथवा समष्टि का उन्होंने कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया । उनके उदाहरण से स्पष्ट है कि वे तुल्ययोगिता में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का ही अन्वय मानते हैं क्योंकि उनके उदाहरण में स्तूयमान राजा की भुजा प्रस्तुत है और शेषनाग अप्रस्तुत । इन दोनों का एक वहन = धारण' क्रिया में अन्वय बतलाया गया है । भामह और वामन ने यहाँ उपमानोपमेय में हीनाधिकगुणत्व पर ध्यान दिया जिसमें तुल्ययोगिता उपमा से भिन्न सिद्ध नहीं होती । आगे दीपक के प्रकाश में उद्धृत उनके लक्षण तथा उदाहरणों से इस दिशा में और अधिक प्रकाश पड़ेगा कदाचित् इसी लिए रुद्रट ने तुल्ययोगिता को स्वतन्त्र अलंकार की मान्यता नहीं दी ।

निश्चित ही सर्वस्वकार ने मम्मट के ही समान तुल्ययोगिता के लिए उद्भट को प्रमाण माना है । उन्होंने तो उदाहरण भी उद्भट के ही प्रस्तुत किए हैं । परवर्ती आलंकारिकों में—

अलंकाररत्नाकरकारने तुल्ययोगिता का लक्षण—'सकृद् धर्मस्य निर्देशोऽप्रस्तुतानां प्रस्तुतानां वा तुल्ययोगिता'—अर्थात् अप्रस्तुत या प्रस्तुतों के धर्म का एक ही बार निर्देश तुल्ययोगिता कहलाता है—इस प्रकार का 'त्वदङ्गमार्दवं' पद्यको उदाहरण-स्वरूप प्रस्तुत किया है । उन्होंने यहाँ एक धर्मान्वयी पदार्थों में से किसी एक में उपमानता या उपमेयता मानना असम्भव बतला कर परस्पर में उपमानोपमेयभाव बतलाया है ।

अप्पय्यदीक्षित की—चित्रमीमांसा में दीपक और तुल्ययोगिता दोनों ही अलंकार छूट गए हैं किन्तु उनके कुवलयानन्द में उन्होंने चन्द्रालोक से भिन्न—

'वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता'

—अर्थात् वर्णनीय = प्रस्तुत अथवा अप्रस्तुत का धर्मैक्य तुल्ययोगिता'—यह लक्षण कर उदाहरण रूप से सर्वस्वकार द्वारा प्रदत्त 'त्वदङ्गमार्दवम्' तथा 'संजातपत्रप्रकरान्वितानि'० पद्य प्रस्तुत किए हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ = 'प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा गुणक्रियादिरूपैकधर्मान्वयस्तुल्ययोगिता।' —'अर्थात् केवल प्रकृतों अथवा केवल अप्रकृतों का गुण क्रिया आदि रूप किसी एक धर्म में अन्वय तुल्योगिता—इस प्रकार तुल्ययोगिता के लक्षण में गुण और क्रिया के अतिरिक्त अन्य अभाव आदि तत्त्वों को भी अनेकान्वयी वस्तु के रूप में स्वीकार कर सर्वस्वकार और कुवलयानन्दकार के 'गुणक्रियमात्र' तक सीमित पक्ष को उपलक्षणमात्र बतलाया है। उन्होंने तुल्ययोगिता के उदाहरण पूर्वाचार्यों से प्रायः मिलते-जुलते ही गढ़े हैं।

कारकतुल्ययोगिताः पण्डितराज जगन्नाथ ने एक कारकतुल्ययोगिता भी स्वीकार की है। उसका लक्षण—

'यत्र च प्रकृतानामेवाप्रकृतानामेव वा क्रियाणामेककारकान्वयः सा कारकतुल्ययोगिता'— अर्थात्—'जहाँ केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत ही क्रियाओं का किसी एक कारक में अन्वय हो तो वह कारकतुल्ययोगिता कहलाती है'—इस प्रकार किया है और उदाहरण के रूप में—

'वसु दातुं यशो धातुं विधातुमरिमर्दनम्।
त्रातुं च सकलां पृथ्वीमतीव निपुणो भवान्॥'

—'धन देने, यश लेने, शत्रुओं को मसलने और सारी पृथिवी की रक्षा करने में आप बहुत ही निपुण हैं।'—यह पद्य प्रस्तुत किया है। इसमें दान, धान, विधान और त्राण ये सभी क्रियाएँ प्रस्तुत हैं और उन सब का एक स्तूयमान राजा रूपी कारक के साथ अन्वय है। पण्डित-राज ने इसे अर्थान्तरन्यास से भी अन्वित बतलाया है।

संजीविनीकार ने तुल्ययोगितासंग्रह इस प्रकार किया है—

'प्रकृतेष्वथवान्येषु ज्ञातव्या तुल्ययोगिता।
गुणक्रियाभिसम्बन्धात् समानादन्वितार्थिका॥'

—प्रकृत अथवा अप्रकृतों में गुण अथवा क्रिया के समान सम्बन्ध से तुल्ययोगिता यह अन्वर्थ-नामक अलंकार होता है।

उद्भट, वामन और मम्मट ने तुल्ययोगिता को दीपक के बाद रखा है जब कि, अलंकारसर्वस्वकार, अलंकाररत्नाकरकार, कुवलयानन्दकार तथा रसगंगाधरकार ने दीपक के पहिले। परवर्ती आचार्यों ने यह क्रम प्रकृत और अप्रकृत के शुद्ध स्थल और दोनों के मिश्रित स्थल को दृष्टि में रखकर स्वीकार किया किन्तु तुल्ययोगिता और दीपक दोनों में एक वस्तु के अनेक वस्तु के साथ अन्वय की ही कला चमत्कारभूमि है, साथ ही आदि मुनि भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने दीपक को अलंकार माना है इसलिए वस्तुतः दीपक को ही प्रथम स्थान दिया जाना चाहिए। दीपक का ही सूक्ष्मरूप तुल्ययोगिता है। इसके विरुद्ध पण्डितराज ने दीपक-प्रकरण में तुल्ययोगिता से दीपक के पृथक्करण पर आपत्ति उठाई है और कहा है—'अत्रेदं बोध्यम्—तुल्ययोगितातो दीपकं न पृथग्भावमर्हति धर्मसकृद्वृत्तिमूलाया विच्छित्तेरविशेषात् विच्छित्तिवैलक्षण्यस्य चालंकारविभागहेतुत्वात्।००००। तस्मात् तुल्ययोगिताया एव त्रैविध्यमुचितम्, प्रकृतानामेव धर्मस्य सकृत् वृत्तिः, अप्रकृतानामेव, प्रकृताप्रकृतानां चेति। एवं च प्राचीनानां तुल्ययोगितातो दीपकस्य पृथगलङ्कारतामाचक्षाणानां दुराग्रहमात्रमिति नव्याः।'—'यहाँ यह समझ लेना

आवश्य है कि दीपक को तुल्ययोगिता से अलग नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि एक धर्म के अनेक से सम्बन्ध पर निर्भर चमत्कार दोनों में बराबर या एक-सा ही है, और अलंकारों में भेद केवल चमत्कार में भेद के आधार पर ही किया जाता है। ०००० । इसलिए तुल्ययोगिता के ही तीन भेद मान लेना उचित है (१) प्रकृतों का ही किसी एक धर्म से सम्बन्ध, (२) अप्रकृतों का ही और (३) प्रकृत तथा अप्रकृत दोनों का। इस प्रकार नव्यों के अनुसार प्राचीनों ने जो दीपक को तुल्ययोगिता से पृथक् एक स्वतन्त्र अलङ्कार बतलाया है वह उनका दुराग्रहमात्र है।' आगे दीपक के प्रकरण में विमर्शिनीकार भी यही बात कहते दिखाई देते हैं [द्रष्टव्य—'न चैनाव-स्थैवानयोः पृथक् लक्षणं युक्तम्—चिरन्तनानुरोधात् कृतम्' दीपक पर आरम्भिक विमर्शिनी]। किन्तु सच यह है कि दुराग्रह नवीनों का ही है। सामान्य भाषा में नवीनों का जो एकधर्मान्वय है वही प्राचीनों की आलंकारिक भाषा में दीपक है। नवीनों ने स्वयं कहा है कि जैसे दीपक उद्देश्यभूत वस्तु को तो दिखलाता ही है अन्य वस्तु को भी दिखला दिया करता है, उसी प्रकार कोई एक धर्म किसी एक प्राकरणिक में तो अन्वित होता ही है अप्राकरणिक में भी अन्वित हो जाता है और इस प्रकार वह धर्म पूरे वाक्यार्थ की शोभा बढ़ा देता है। फलतः दीपक के समान होने से उसे दीपक कहा जाता है।

' द्रष्टव्य—(१) 'सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्' ... 'एकस्यस्यैव समस्तवाक्यदीपनाद् दीपकम्'—मम्मट । (२) प्रस्तुतैकनिष्ठः समानो धर्मः प्रसङ्गादन्यत्रोपकरोति प्रासादार्थमारोपितो दीप इव रथ्यायाम् इति दीपसाम्याद् दीपकम्, 'संज्ञायां च' [वा० २४५८] इतीवार्थे कन्प्रत्ययः।—अप्पय्यदीक्षित, कुवलयानन्द ।

(३) दीपयति प्रकाशयति सुन्दरीकरोति दीपकम्, यद्वा दीप इव दीपकम्, संज्ञायां कन्, दीपसादृश्यं च प्रकृताप्रकृतप्रकाशकत्वेन बोध्यम्—प० जगन्नाथ, दीपकालंकार ।

(४) दीप इव दीपकम्, संज्ञायां कन्, दीपस्यैकस्यैव सकलप्रकाशकत्ववदेकस्यैव सर्वे. समन्वय-बोधजनकत्वेन तत्साधर्म्यात्। दीपयतीति दीपकमित्यन्ये।—अलंकारकौस्तुभ दीपकप्रकरण।

इस प्रकार यदि नव्य तुल्ययोगिता में दीपक को अन्तर्भूत करना चाहते हैं तो प्राचीन दीपक में तुल्ययोगिता का अन्तर्भाव बतला सकते हैं। भरतमुनि ने भी दीपक का जो उदाहरण दिया है [आगे दीपक के प्रकरण में उद्धृत] उसमें सभी पदार्थ प्राकरणिक हैं। दीपक को संज्ञदीपक कह उन्होंने दीपक शब्द के प्रयोग के मूल में दीप के सादृश्य को मूल माना है। प्राकरणिकत्वा-प्राकरणिकत्व को नहीं। अतः हृदयसाम्य, प्रस्तुत, दीपक के ही पक्ष में अधिक है, क्योंकि चमत्कार की अतिभूमि प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुतविधान में ही अनुभव में आती है, केवल प्रस्तुतों अथवा केवल अप्रस्तुतों के उपनिबन्ध में नहीं। उसमें प्रतिभा का कोई चमत्कार नहीं रहता। केवल एक धर्मान्वय की कलामात्र का अभिव्यक्तिगत क्षीण प्रकाश वहाँ रहता है। फलतः हृदयसाम्य अप्रस्तुत विधान की प्रतिमा और ऐतिहासिक मान्यता के आधार पर तुल्ययोगिता का ही दीपक में अन्तर्भाव अधिक समुचित है। अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डित ने भी पण्डितराज के उक्त आक्षेप को उद्धृत कर उस पर यही उत्तर दिया है कि क्योंकि दीपक भरतमुनि से माना जाता आ रहा है अतः उसी में तुल्ययोगिता का अन्तर्भाव अधिक उचित है। [द्र० दीपकप्रकरणान्त] और यदि दोनों को दो स्वतन्त्र अलङ्कार भी मानना हो तो प्रथमतः दीपक का निर्वचन ही उचित है।

विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

अब इस [प्रकरण] का उपसंहार करते और दूसरा [प्रकरण] आरम्भ करने के लिए कहते हैं—

[सर्वस्व]

प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्व्यस्तत्वे तुल्ययोगितां प्रतिपाद्य समस्तत्वे दीपकमुच्यते—

[सू० २५] प्रस्तुताप्रस्तुतानां तु दीपकम् ।

औपम्यस्य गम्यत्व इत्याद्यनुवर्तते। प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्मध्यादेकत्र निर्दिष्टः समानो धर्मः प्रसङ्गेनान्यत्रोपकाराद्दीपनाद्दीपसादृश्येन दीपकाख्यालंकारोत्थापकः। तत्रेवाद्यप्रयोगादुपमानोपमेयभावो गम्यमानः। स च वास्तव एव। पूर्वत्र शुद्धप्राकरणिकत्वे शुद्धाप्राकरणिकत्वे वा वैवक्षिकः, प्राकरणिकत्वनिर्वर्तितत्वादुपमानोपमेयभावस्य। अनेकस्यैकक्रियाभिसंबन्धाचौचित्यात्पदार्थत्वोक्तिः। वस्तुतस्तु वाक्यार्थत्वे आदिमध्यान्तवाक्यगतत्वेन धर्मस्य वृत्त्वादिमध्यान्तदीपकाख्यास्त्रयोऽस्य भेदाः।

[हृ०] प्रस्तुत और अप्रस्तुत के अलग अलग रहने पर संभव तुल्ययोगिता का प्रतिपादन किया। अब दोनों की मिलित स्थिति में संभव दीपक का प्रतिपादन करते हैं—

[सू० २५] [सादृश्य यदि गम्य = शब्दतः अकथित हो और समान धर्म में] प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों का [एक साथ पदार्थान्तर पर संबन्ध] हो तो दीपक [नामक अलंकार होता है] ॥ २५ ॥

[हृ०] यहाँ 'सादृश्य यदि गम्य हो' इत्यादि दोषांश की अनुवृत्ति [तुल्ययोगिता से] होती है। प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोनों में से किसी एक के साथ निर्दिष्ट समान धर्म प्रसंग के आधार पर दूसरे का भी उपकार करता है [तथा उसमें] दीप्ति लाता है [अतः] दीप का सादृश्य होने से वह दीपक नामक अलंकार का जन्मदाता बनता है। उसमें 'इव' आदि का प्रयोग नहीं रहता इसलिए वहाँ उपमानोपमेयभाव गम्यमान रहता है। किन्तु वह रहता वास्तविक ही है जब कि पूर्वोक्त अलंकार में केवल प्राकरणिक अथवा केवल अप्राकरणिक के रहने पर वह [उपमानोपमेयभाव] विवक्षाधीन = ऐच्छिक होता है, [क्योंकि वहाँ जहाँ केवल प्राकरणिकत्व रहता है वहाँ उपमानत्व अवास्तविक होता है। अतः उसे विवक्षा द्वारा निष्पन्न करना पड़ता है और जहाँ केवल अप्राकरणिकत्व रहता है वहाँ उपमेयत्व अवास्तविक रहता है क्योंकि उसे भी वहाँ विवक्षा द्वारा निष्पन्न करना होता है। इस प्रकार उपमानोपमेयभाव आंशिकरूप से ही रहता है] क्योंकि उसकी निष्पत्ति प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व पर निर्भर रहती है [प्राकरणिकत्व पर उपमेयत्व की और अप्राकरणिकत्व पर उपमानत्व की]। अनेक का एक क्रिया से संबन्ध रहता है इसलिए औचित्यतः [दीपक में] पदार्थगतत्व बतलाया गया है [तुल्ययोगिता की अवतरणिका में] वस्तुतः तो यह वाक्यार्थगत ही रहता है, तभी इसके आदि-दीपक, मध्यदीपक और अन्तदीपक नामक भेद होते हैं, क्योंकि इसका धर्म जिसके आदि, मध्य तथा में अन्त में रहता है वह वाक्य ही है।

विमर्शिनी

प्रस्तुताप्रस्तुतानामिति। एकत्रेति प्राकरणिकेऽप्राकरणिके वा। अन्यत्रेति प्राकरणिकादौ दीपकेति 'संज्ञायाम्' इत्यनेन कन्। सादृश्येन समुदायगम्यायाः संज्ञाया अभावात्।

तत्रेति दीपके। वास्तव इति। प्रकृताप्रकृतयोरुपमानोपमेयरूपत्वात्। पूर्वत्रेति तुल्ययोगितायाम्। इयानेव च दीपकतुल्ययोगितयोर्विशेषोऽस्तीत्यप्यनेन दर्शितम्। न चैतावतैवानयोः पृथग्लक्षणं युक्तम्। औपम्यगर्भत्वाख्यस्य सामान्यस्य द्वयोरप्यनुगमात्। एवं च समुच्चितोपमादेरपि पृथग्लक्षणं स्यात्। ग्रन्थकृता पुनश्चिरन्तनानुरोधात्कृतम्। वैवक्षिक इति। यत्रैव वक्तुरुपमानत्वमुपमेयत्वं वा वक्तुमिष्टं तत्रैव प्रकरणादिबलादाश्रयणीयमित्यर्थः। अतश्च 'प्रस्तुतस्य तु नान्येन व्यभिचारस्य दर्शनात्' इति नीत्या प्रस्तुताप्रस्तुतत्वमात्रनिबन्धन एवोपमानोपमेयभावो न भवतीति भावः। एवं 'प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य सादृश्यमुपमा मता' इत्यादिदृशा प्रसिद्धाप्रसिद्धत्वमात्रनिबन्धनोऽप्युपमानोपमेयभावो न वाच्यः। 'खमिव जलं जलमिव खम्' इत्यादौ द्वयोरपि तुल्यत्वात् प्रसिद्धगुणत्वाद्यभावेऽप्युपमानोपमेयभावस्येष्टेर्व्यभिचारस्य दर्शनात्। ननु चात्र साधर्म्यं वाक्यार्थगतत्वेनैव प्रतीयत इति कथं तस्य पदार्थगतत्वमुक्तमित्याशङ्क्याह—अनेकस्येत्यादि। एवं पूर्वत्रापि ज्ञेयम्।

प्रस्तुताप्रस्तुतयोः इति। इसी का लक्षण बतलाते हैं—प्रस्तुताप्रस्तुतानाम् इति। एकत्र = एक में, प्राकरणिक अथवा अप्राकरणिक में। अन्यत्र = प्राकरणिक आदि में। दीपक = 'संज्ञायां [च' वार्तिक] द्वारा [सादृश्यार्थ में] कन् प्रत्यय, क्योंकि सादृश्य के आधार पर संज्ञा समुदायगम्या नहीं हो सकती। तत्र = वहां दीपक में। वास्तव = वास्तविक, क्योंकि प्रकृत और अप्रकृत क्रमशः उपमेयरूप तथा उपमानरूप होते हैं। पूर्वत्र = पूर्वोक्त तुल्ययोगिता में। इससे यह भी बतला दिया कि दीपक और तुल्ययोगिता में इतना ही भेद है। इसलिए केवल इतने से अन्तर के आधार पर इन दोनों का लक्षण अलग-अलग बतलाना ठीक नहीं है। क्योंकि सादृश्यघटित होना दोनों का साधारण धर्म है और वह दोनों में ही अनुगत है। इसी प्रकार समुच्चितोपमा आदि का लक्षण भी अलग नहीं किया जाना चाहिए। ग्रन्थकार ने जो इन्हें पृथक्-पृथक् बतलाया है वह केवल प्राचीन आलङ्कारिकों के अनुरोध पर।

वैवक्षिक—तुल्ययोगिता में प्रसंग के आधार पर केवल वहीं उपमानोपमेयभाव स्वीकार किया जा सकता है जहाँ वह वक्ता को अभीष्ट हो। इससे तात्पर्य यह निकला कि 'उपमानोपमेयभाव केवल प्रस्तुतत्वाप्रस्तुतत्वमात्र पर निर्भर नहीं रहता है' जैसा कि [अलंकाररत्नाकर में] कहा गया है—'[सादृश्य] प्रस्तुत का अप्रस्तुत से नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि अनेक स्थलों में उसको उल्टा भी देखा जाता है।' और इसलिए उपमानोपमेयभाव को केवल प्रसिद्धत्व और अप्रसिद्धत्व मात्र पर आश्रित नहीं माना जा सकता जैसा कि ['अलंकाररत्नाकरकार ने] कहा है—'प्रसिद्ध से अप्रसिद्ध का सादृश्य उपमा मानी जाती है।' [अलंकाररत्नाकर में ये दोनों अर्धोक्तियां एक ही श्लोक की हैं। इस प्रकार—

> 'प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य　　सादृश्यमुपमामता।
> प्रस्तुतस्य तु नान्येन, व्यभिचारस्य दर्शनात्।'

अर्थात् प्रसिद्ध का अप्रसिद्ध से सादृश्य उपमा मानी जाती है न कि प्रकृत का अप्रकृत से, क्योंकि अनेक स्थानों पर ऐसा नहीं देखा जाता यथा] 'आकाश के समान जल और जल के समान आकाश'-इत्यादि स्थलों में दोनों ही एक से हैं अतः व्यभिचार दिखलाई देता है इसलिए कि प्रसिद्ध गुणत्व और अप्रसिद्धगुणत्व के अभाव में भी उपमानोपमेयभाव देखा जाता है।

शंका होती है कि 'दीपक में साधर्म्य वाक्यार्थगतरूप से ही प्रतीत होता है तो इसे पदार्थगत क्यों बतलाया जा रहा है-'इस पर उत्तर देते हैं—अनेकस्य। इसी प्रकार पूर्ववर्ती [तुल्ययोगिता] अलंकार में भी [वाक्यार्थगतता] समझनी चाहिए।

[सर्वस्व]

क्रमेणोदाहरणम्—

'रेहइ मिहिरेण णहं रसेण कव्वं सरेण जोव्वणअं।
अमएण धुणीधवओ तुमए णरणाह भुवणमिणं॥'

'संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः॥'

'किवणाण धणं णाआणँ फणमणी केसराइँ सीहाणं।
कुलबालिआणं थणआ कुत्तो छेप्पंति अमुआणं॥'

एवमेकक्रियं दीपकत्रयं निर्णीतम्। अत्र च यथानेककारकगतत्वेनैकक्रिया दीपकं तथानेकक्रियागतत्वेनैककारकमपि दीपकम्।

यथा—

'साधूनामुपकर्तुं लक्ष्मीं धर्तुं विहायसा गन्तुम्।
न कुतूहलि कस्य मनश्चरितं च महात्मनां श्रोतुम्॥'

अत्रोपकरणाद्यनेकक्रियाकर्तृत्वेन कुतूहलविशिष्टं मनो निर्दिष्टम्। छायान्तरेण तु मालादीपकं प्रस्तावान्तरे लक्षयिष्यते।

क्रम से उदाहरण—[आदिदीपक]

'राजते मिहिरेण नभो रसेन काव्यं सरेण [स्मरेण] यौवनम्।
अमृतेन धुनीधवस्त्वया नरनाथ! भुवनमिदम्॥'

—शोभित होता है सूर्य से आकाश, रस से काव्य, सर=हार से अथवा स्मर=काम से यौवन=स्तन, अमृत से समुद्र और हे नरनाथ तुमसे यह भुवन।' [यहाँ 'शोभित होना' यह क्रियापद वाक्यारम्भ में प्रयुक्त है और प्रकृत भूतल तथा अप्रकृत आकाश आदि से अन्वित होता है]।

[मध्यदीपक]—

'दिगन्तरालों को अपने संचार से पवित्र कर दिनान्त होने पर निलय को जाना आरम्भ किया, पल्लवराग सी ताम्रिया, सूर्य की प्रभा ने और मुनि की धेनु [नन्दिनी] ने॥' [यहाँ 'आरम्भ करना' क्रिया वाक्य के मध्य में प्रयुक्त है और उसका अन्वय प्रकृत प्रभा तथा अप्रकृत धेनु से है]

[अन्तदीपक]—

'कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम्॥'

—'कृपणों का धन, सर्पों की फणामणि, सिंह के शिरःकेश (अयाल) और कुलबालिकाओं के स्तन कैसे छुए जा सकते हैं यदि ये मृत न हों।' [यहाँ 'स्पर्श' क्रिया अन्त में प्रयुक्त है और उसका अन्वय यदि कृपण पदार्थ प्रकृत हो तो उससे और कुलबाला प्रकृत हो तो उससे होने के साथ ही शेष सभी अप्रकृतों से भी हो रहा है]।

इस प्रकार एक क्रिया के [प्रकृताप्रकृतों में अन्वय से निष्पन्न] तीनों दीपक निश्चित हुए। जैसे [उपर्युक्त] इन दीपकों में अनेक कारक में अन्वित होने वाली एक क्रिया को दीपक होता है वैसे ही अनेक क्रियाओं से अन्वित होने वाले एक कारक को भी दीपक होता है। यथा—

—'साधु पुरुषों का उपकार करने, दौलत समेटने, आकाश से उड़ने और महात्माओं के चरित्र सुनने में किस का मन कुतूहलयुक्त नहीं होता।'

—यहाँ 'उपकार' आदि अनेक क्रियाओं के कर्ता के रूप में एक अकेले कुतूहलयुक्त मन का निर्देश किया गया है।

इसी प्रकार एक मालादीपक भी होता है। उसका सौन्दर्य निराला ही होता है अतः उसे दूसरे प्रसंग में बतलाया जाएगा।

विमर्शिनी

धेनुसंध्ययोः प्रकृतत्वादन्यान्ये तुल्ययोगितां मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते—

'धम्मज्जणेण काण वि काणवि अत्थज्जणेण वोलेई।
कामज्जणेण काण वि काण वि एमेअ संसारो॥'

एकक्रियमित्यनेनैकगुणमपि दीपकं स्वयमेवोदाहार्यमिति सूचितम्। तत् यथा—

'फणासहस्रभृदधो दिवि नेत्रसहस्रभृत्।
अद्वितीयः पृथिव्यां च भवान्नामसहस्रभृत्॥'

अद्वितीयत्वं गुणः। एवमेकां क्रियां गुणं वानेककारकगतत्वेनाभिधाय तदेव च दृष्टान्तीकृत्यैककारकमन्यनेकक्रियागतत्वेन दीपकं भवतीत्याह—अत्रेत्यादि। अत्र चोच्छ्वासवर्णनीयं भैरवाचार्यादिसक्तमुपकारकरणादिविशेषरूपं प्रस्तुतं श्रोतॄनवबोधयितुं कविकर्तृकमिदं साधूपकारकरणादीनां सामान्यानामप्रस्तुतानां प्रशंसनम्। तेषां च सामान्यानां परस्परमौपम्यप्रतीतेरेककारकगतत्वेनेयं कारकतुल्ययोगिता। अतश्च नेदं कारकदीपकस्योदाहरणम्। तत् यथा—

आलिङ्गितुं दाशिमुखीं च सुधां च पातुं कीर्तिं च साधयितुमर्जयितुं च लक्ष्मीम्।
स्वत्पक्ति(?)मनुवरसा हृदये च कर्तुं मन्दादरं जनमहं पशुमेव जाने॥'

अत्रालिङ्गनाद्यनेकक्रियाकर्तृत्वेनैक एव जनो निर्दिष्टः। प्रस्तुताप्रस्तुतं स्फुटमेव।

['संचारपूतानि'-पद्य में] कुछ लोगों [अलंकाररत्नाकरकार] के अनुसार धेनु और सन्ध्या दोनों ही प्रकृत हैं अतः तुल्ययोगिता है इसलिए हम इसका एक दूसरा उदाहरण दिए देते हैं—

'धर्मार्जनेन केषामपि केषामप्यर्थार्जनेन व्रजतीति।
कामार्जनेन केषामपि केषामप्येवमेव संसारः॥'

'किन्हीं का संसार धर्मार्जन में बीतता है, किसी का अर्थार्जन में, किसी का कामार्जन में और किसी का ऐसे ही।'

'एकक्रिय = एक क्रिया का', अर्थ यह कि एक गुण का भी दीपक हो सकता है, उसे स्वयं खोज लेना चाहिए। उसका स्थल, यथा—

'नीचे [पाताल में] हजार फन धारण करने वाला [शेषनाग] अद्वितीय है, स्वर्ग में हजार नेत्र धारण करने वाला [इन्द्र] और पृथिवी पर सहस्र नाम धारण करने वाले आप।'

—यहाँ अद्वितीयत्व गुण है। इस प्रकार एक क्रिया या एक गुण को अनेक कारकों में अन्वित होता बतलाया, अब उसी के दृष्टान्त पर एक कारक में अनेक क्रियाओं के अन्वय से निष्पन्न होने वाला दीपक भी सम्भव बतलाते हुए लिखते हैं—'अत्र'। [हर्षचरित के] इस ['साधूनामुपकर्तुम्'-पद्य] में आगे पूरे उच्छ्वास द्वारा वर्णनीय भैरवाचार्य का एक विशिष्ट उपकार करना आदि प्रस्तुत है। उसे श्रोताओं [अथवा पाठकों] को सूचित करने के लिए कवि ने सामान्यरूप से साधुओं का उपकार करना आदि जिन पदार्थों को प्रस्तुत किया है वे सब अप्रस्तुत हैं। इस सामान्यरूप

[अप्रस्तुत] पदार्थों में परस्पर में सादृश्य की प्रतीति होती है तथा इन सबका एक [मन-रूपी] कारक में अन्वय है, अतः यहाँ कारकतुल्ययोगिता है। इस कारण यह [पद्य] कारकदीपक का उदाहरण नहीं हो सकता। कारक दीपक का उदाहरण यह होगा—

'चन्द्रमुखी का आलिङ्गन करने सुधा का पान करने कीर्ति की प्राप्ति करने, लक्ष्मी का अर्जन करने और आपकी अद्‌भुत आनन्द देने वाली भक्ति को हृदय में लाने में जो जन मंदादर [उत्सुक नहीं] होता है उसे मैं पशु ही समझता हूं।'

—यहां आलिङ्गन आदि अनेक क्रियाओं के रूप में 'जन' शब्द से एक ही निर्दिष्ट है साथ ही यहां जो प्रस्तुत है [भगवद्‌भक्ति] और जो-जो अप्रस्तुत [चंद्रमुखी आदि] वह स्पष्ट ही है।

विमर्श—(१) 'साधूनामुपकर्तुम्'—पद्य हर्षचरित के तृतीय उच्छ्‌वास के आरम्भ में आता है। तृतीय उच्छ्‌वास में हर्षवर्धन के पूर्वपुरुष पुष्यभूति का वर्णन है। वह भैरवाचार्य नामक योगी की सहायता करता है जिससे वह योगी यक्षदेह धारण कर आकाश में उड़ जाता है। संस्कृत साहित्य में महात्मा शब्द महासत्त्व व्यक्ति के लिए चलता है अतः पुष्यभूति और भैरवाचार्य दोनों ही महात्मा हैं। उनका चरित्र तृतीय उच्छ्‌वास की कथावस्तु है। इस पद्य द्वारा उसकी पूर्वसूचना दी जा रही है। यहाँ ग्रन्थकार ने कारकदीपक माना है और टीकाकार ने कारकतुल्ययोगिता। कदाचित् ग्रन्थकार की दृष्टि ग्रन्थ के प्रसंग पर है और टीकाकार की तृतीय उच्छ्‌वास की भावी कथावस्तु पर। हर्ष स्वयं महासत्त्व और महात्मा है उसका चरित ग्रंथविषय होने से प्राकरणिक है, इसलिए उक्त पद्य को 'चरितं च महात्मनां श्रोतुम्' यह चतुर्थचरणगत 'श्रवण'-क्रिया प्रस्तुत है, शेष—'उपकार, धारण, गमन' क्रियायें आगामी कथावस्तु के अंत में ही प्रस्तुत हो सकती हैं आरम्भ में वे अप्रस्तुत ही हैं। फलतः प्रस्तुत और अप्रस्तुत क्रियाओं का एक 'मन' के साथ अन्वय होने से ग्रन्थकार के अनुसार यहाँ कारकदीपक है। टीकाकार के अनुसार आगामी भैरवाचार्यरूपी महात्मा के चरित का श्रवण, आरम्भ में अप्रस्तुत ही है अतः सभी क्रियायें एक-सी हो जाने से कारकतुल्ययोगिता है। वस्तुतः, प्रथम दो उच्छ्‌वासों में हर्ष का चरित न कहकर बाण ने अपने पूर्वपुरुषों का वर्णन किया है। अतः तृतीय उच्छ्‌वास के आरम्भ में वे श्रोताओं अथवा पाठकों का ध्यान काव्य के प्रधान वर्ण्य 'हर्ष के चरित' की ओर आकृष्ट रखने हेतु 'चरितं च महात्मनां श्रोतुम्' कह रहे हैं। यह अलग बात है कि उनके इस कथन का लक्ष्य परवर्त्ती कथापुरुषों का चरित भी बना रहा है। उनमें केवल भैरवाचार्य ही नहीं, प्रभाकरवर्धन, यशोवती, राज्यवर्धन, दिवाकरमित्र, राज्यश्री और स्वयं हर्षवर्धन भी आते हैं। अतः 'चरित-श्रवण' को प्रस्तुत मानना ही अधिक उचित है।

टीकाकार के अनुसार यदि सभी क्रियायों को अप्रस्तुत मान लें तो उनका यह कथन असंगत होगा कि भैरवाचार्य का वर्णन प्रस्तुत है, क्योंकि वह तो आगामी है। यदि कवि के चित्त में उपस्थित होने से उसे प्रस्तुत माना जाए तो सारी क्रियाएं प्रस्तुत हो कही जानी चाहिए। फिर विचार तो सहृदय की अनुभूति को लेकर किया जाता है। तृतीय उच्छ्‌वास की कथावस्तु से अपरिचित सहृदय के लिए सारी क्रियायें अप्रस्तुत ही हैं। यदि सारी क्रियायें अप्रस्तुत हैं तो टीकाकार के अनुसार यहाँ प्रस्तुत भैरवाचार्य आदि विशेष व्यक्तियों के लिए अप्रस्तुत सामान्य का कथन होने से अप्रस्तुतप्रशंसा होनी चाहिये और यदि एक-सी अनेक क्रिया के एक कारक में अन्वय होने का शिल्प भी यहां है तो उन्हें यहां अप्रस्तुतप्रशंसा के साथ तुल्ययोगिता का संकर मानना चाहिए।

(२) टीकाकार ने ग्रन्थकार के उक्त उदाहरण को अमान्य ठहरा, कारकदीपक का, जो

उदाहरण ['आलिङ्गितुम्'०] अपनी ओर से प्रस्तुत किया है उस पर पण्डितराज जगन्नाथ ने निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

(१) उक्त पद्य में किसी एक व्यक्ति को पशु कहने की अपेक्षा एकाधिक व्यक्तियों को पशु कहना अधिक चमत्कारी है अत: 'जन'-शब्द को यहाँ जात्यर्थक एकवचन में प्रयुक्त मान अनेक व्यक्तिपरक मानना चाहिए। तब विमर्शिनीकार का यह कथन असंगत होगा कि 'आलिङ्गन आदि अनेक क्रियाओं का कर्ता केवल एक 'जन' ही है।'

(२) यहाँ चमत्कार का कारण शशिमुखी, सुधा, कीर्ति, लक्ष्मी तथा भगवद्भक्ति का बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है अत: *विमर्शिनीकार का यह कथन अमान्य है कि यहाँ अनेक क्रिया का, एक-*कारकान्वयित्वरूपी साधारण धर्म के आधार पर निष्पन्न सादृश्य चमत्कारी है।

(३) उक्त पद्य में कारकदीपकत्व केवल 'मन्दादरत्व' को लेकर माना जा सकता है, क्योंकि उसका अन्वय प्रत्येक तुमुन्नन्त क्रिया के साथ अन्वित कर्ता के धर्म के रूप में होता है। किन्तु पण्डितराज यदि मन्दादर के मन्दादरत्व को लेकर कारकदीपक सिद्ध करना चाहते हैं तो *'जन'-के जनत्व को लेकर वैसा क्यों नहीं करते। तब उनको कारकतुल्य की काल्पनिक आपत्ति* कट जायगी।

अलङ्काररत्नाकरकार ने प्रस्तुत पद्य देकर कारकदीपक में यह एक दोष बतलाया है कि कारक क्रिया का धर्म नहीं होता जब कि समान धर्मसम्बन्ध को दीपक का जनक माना गया है— इसका परिहार भी करते हुए उन्होंने कहा है कि कम से कम इस पद्य में मन्दादरत्वविशिष्ट कारक की योजना है जो अपने आप में चमत्कारकारी है, अत: चमत्कार होने से यहाँ दीपक अलङ्कार मान लिया जायगा। उक्त दोषनिवारण के लिए उद्भट की पदावली में थोड़ा अन्तर किया जा सकता है।

विमर्शिनी

स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक्।
अन्तर्नन्दति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणीता वधूः शयने' ॥

इत्यत्र तु स्वेदनादिक्रियाणां प्रस्तुतानामेकाधारगतत्वेन समुच्चीयमानत्वात् समुच्चया-लंकारो न तु कारकदीपकम्। तद्धि प्रस्तुताप्रस्तुतानां क्रियाणामौपम्यसद्भावे भवति। एवं सर्वक्रियाणां प्रस्तुतत्वेऽपि समुच्चयस्यौपम्याभावादेव तुल्ययोगितातोऽपि भेदः। औपम्य-सद्भावेऽपि तुल्ययोगितैव। यथा—

चकार दुर्घटानां यः क्षमामागसिनामपि।
जह्रे निरपराधानामपि यश्च बलीयसाम् ॥'

अत्र करणहरणयोः प्रकृतत्वम्। द्वयोरपि राजगतत्वेन वर्णनीयत्वात्।

'नवोढा वधू [प्रथम रात्रि में पति के साथ] शय्या पर पसीना-पसीना होती, सिकुड़ती, करवट लेती, चितपुट होती, आँख मींचती, कनखी से देखती, मन ही मन हरसाती और चूमना चाहती है।' यहाँ [काव्यप्रकाशकार ने कारकदीपक माना है किन्तु] स्वेदन आदि सभी क्रियाएँ एक तो प्रस्तुत हैं और दूसरे इन्हें एक ही आधार में इकट्ठा स्थित बतलाया गया है, अत: यहाँ समुच्चयालङ्कार है, न कि कारकदीपक। वह [कारकदीपक] तो तब होता है जब क्रियाएँ अनेक हों, उनमें कोई प्रस्तुत और कोई अप्रस्तुत हों, साथ ही उनमें सादृश्य प्रतीत हो। इसी प्रकार सभी क्रियाओं के प्रस्तुत होने पर भी यहाँ तुल्ययोगिता नहीं है, क्योंकि यहाँ उन क्रियाओं में परस्पर सादृश्य नहीं है। फलत: यहाँ समुच्चयालङ्कार ही है। यदि सादृश्य होता तो यहाँ तुल्ययोगिता ही होती। जैसे—

'जिसने अपराधी होने पर भी जो दुर्बल थे उन्हें क्षमा किया और जो अपराधी नहीं थे किन्तु सबल थे उनकी क्षमा [पृथिवी] को हर लिया' ।

—यहाँ करना और हरना दोनों क्रियाएं प्रकृत हैं क्योंकि दोनों ही प्रस्तुत राजा के भीतर प्रतिपादित की जा रही हैं ।

विमर्शः—टीकाकारमहोदय यहाँ क्रियाओं का सादृश्य बतलाते समय चुप्पी साध गए हैं । वस्तुतः औपम्य या सादृश्य की बात तुल्ययोगिता या दीपक के क्रियागत भेद में परम अवैज्ञानिक है ।

अलंकाररत्नाकरकार ने भी तुल्ययोगिता तथा समुच्चय को औपम्य के आधार पर ही पृथक् किया है—

'प्रकृतानां क्रियाणामेककारकसंबन्धे यद्यौपम्य-
प्रतीतिस्तत्तुल्ययोगिता, तदभावे तु समुच्चयालंकारः ।' —[दीपकप्रकरणान्त] ।

रसगंगाधरकार ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है—

(१) औपम्यम्०० अत्र गम्यम् = [तुल्ययोगितालक्षणवृत्तिः]

(२) अत्रौपम्यस्य गम्यत्वम् = [दीपकलक्षणवृत्तिः]

(३) दीपकतुल्ययोगितादौ गम्यमानमौपम्यं जीवातुरिति सर्वेषां संमतम्—[दीपकप्रकरण—पृ० ४३४ नि० सा० सं० ६]

रसगंगाधरकार ने भी काव्यप्रकाशकार के उपर्युक्त 'स्विद्यति०' आदि उदाहरण पर विमर्शिनीकार के ही समान आपत्ति प्रस्तुत करते हुए कहा है—

इस पद्य में सभी क्रिया प्राकरणिक हैं । ००० । और उनके भी परस्पर सादृश्य में कवि का कोई संरम्भ नहीं है । इसलिए इसमें समुच्चयालंकार की ही छाया मानना ठीक है । यदि स्वेदन आदि क्रियाओं के बीच परस्पर में सादृश्य की प्रतीति मानी जा सके तो यहाँ कारकतुल्ययोगिता मानी जा सकती है, कारकदीपक नहीं, क्योंकि सभी क्रियाएं प्रस्तुत हैं । [रसगंगाधर दीपकप्रकरण पृ० ४३४–५, नि० सा० ६]

वस्तुतः काव्यप्रकाशकार ने कारकदीपक का जो लक्षण किया है उसमें क्रियागत साम्य की प्रतीति की कोई बात नहीं है । उनका लक्षण है—

'सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥'

—अर्थात् एक दीपक वह होता है जिसमें अनेक प्रकृत और अप्रकृत पदार्थों में किसी एक धर्म का अस्तित्व रहता है और दूसरा वह जिसमें किसी एक कारक का अनेक क्रियाओं में [अस्तित्व रहता है]' । उन्होंने—

'मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम् ।'

—इस प्रकार एक मालादीपक भी माना है जिसका उदाहरण 'संग्रामाङ्गणमागतेन०' इत्यादि पदार्थ है, जिसमें कहा गया है 'राजन् ! आपके संग्राम में आते ही जिस जिसने जो-जो वस्तु अपनाई उसे सुनिए—धनुष ने बाण अपनाए, बाणों ने शत्रुओं के सिर, उनने भूमण्डल, भूमण्डल ने आपको, आपने कीर्ति को और कीर्ति ने तीनों लोकों को ।' यहाँ प्रस्तुत है राजा का वर्णन । उसके प्रसंग में तत्सम्बद्ध सभी पदार्थ प्रकृत ही हैं । अतः यहां भी तुल्ययोगिता मानी जानी चाहिए । किन्तु काव्यप्रकाशकार के अनुसार यहां केवल मालात्व और आसादनरूपी धर्मगत एकता के आधार पर यहां मालादीपक है । इतने पर भी 'धनुष, बाण, शत्रुसिर, भूमण्डल, राजा,

कीर्ति और त्रैलोक्य में परस्पर किसी हृदयहारी सादृश्य की प्रतीति नहीं होती। आसादन-कर्तृत्व को साधारण धर्म मानकर यदि धनुष आदि में साम्य सिद्ध भी किया जाय तो यह सिद्ध नहीं होता कि कवि को किसी साम्य के आधार पर इन सबका स्मरण आया है, जैसा कि 'सचार-पूतानि' = आदि स्थलों में देखा जाता है। यहां तो केवल सम्बद्धत्वमात्र के आधार पर धनुष आदि को प्रस्तुत किया गया है। उतने में ही चमत्कार है और इसीलिए यहां दीपकत्व है।

इस प्रकार कारकदीपक और मालादीपक में कवि को साम्य की विवक्षा रहती है ऐसा काव्य-प्रकाशकार का आग्रह नहीं है। पण्डितराज भी इस तथ्य को समझते हैं। उन्होंने स्वकल्पित कारकतुल्ययोगिता के समर्थन में इस तथ्य को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और लिखा है— 'न च क्रियाणा प्रकृताप्रकृतात्मताविरहेऽपि शुद्धप्रकृतत्वे शुद्धाप्रकृतत्वेऽपि वा कारकस्य सकृद्वृत्तेर्दीपकत्वम्, क्रियाभिन्नाना तु प्रकृताप्रकृतात्मतायामेव क्रियादेर्धर्मस्येति वैलक्षण्यात्—

['सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्। सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् इति] लक्षणद्वयमुक्तम्—इति वाच्यम् कारकतुल्ययोगिनोच्छेदापत्तेः।'

—अर्थात् 'दीपक के दो लक्षण हुए अन्तर के आधार पर किए हैं कि प्रथम में कारकों के बीच प्रकृताप्रकृतत्व अपेक्षित है, किन्तु द्वितीय में क्रियाओं के बीच नहीं, किन्तु ऐसा मानने पर कारकतुल्ययोगिता का उच्छेद होने लगता है।' पण्डितराज की इस आपत्ति का उत्तर हम तुल्ययोगिता के प्रकरण में यह कह कर दे चुके हैं कि—'तुल्ययोगिता का दीपक में अन्तर्भाव होना दोष नहीं है। नव्यों के अनुसार उन्होंने तुल्ययोगिता में दीपक का अन्तर्भाव माना है। प्राचीनों के अनुसार तुल्ययोगिता का दीपक में अन्तर्भाव माना जा सकता है। और वही अधिक वैज्ञानिक है।'

निष्कर्ष यह कि कारकदीपक में न तो प्रकृताप्रकृतत्व में कोई चमत्कार रहता और न साम्य में। उसमें चमत्कार रहता है केवल एक कारक में अनेक क्रियाओं के अन्वय का। समुच्चयालङ्कार में एक कारक में अनेक क्रियाओं के अन्वय का चमत्कार नहीं रहता। वहाँ चमत्कार रहता है किसी भी प्रकार के ऐसे अनेक पदार्थों की आकस्मिक एकत्र उपस्थिति में जिनमें किसी एक कार्य की सिद्धि के प्रति साधकता हो। अतः 'स्विद्यति॰ आदि पद्य में रत्नाकर-कार, विमर्शिनीकार तथा रसगंगाधरकार का समुच्चय मानना अनुभूतिविरुद्ध है।

विमर्शिनी

इदं बिम्बप्रतिबिम्बभावेनापि भवति। यथा—

मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिनिहतः कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बाललवना।
मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः॥

अत्र शाणोल्लीढत्वादीनां बिम्बप्रतिबिम्बभावः। शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

फणरअणराइअंगो भुअंगणाहो घरं समुद्दस्स।
णहदप्पणोवसोहिअसिहो अ तुह णाह भुअदंडो॥

अत्र राजितत्वशोभितत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्। नन्वेतदनन्तरमेव मालादीपक-मप्युद्देश्यं तदिहापि किं न लक्ष्यत इत्याशङ्क्याह—छायेत्यादि। छायान्तरेणेति शृङ्खला-रूपेण। प्रस्तावान्तर इति। शृङ्खलाबन्धोपचितरूपत्वात्।

यह [दीपक] बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक भी होता है। यथा—

'शाणचढ़ी मणि, शस्त्रक्षत समरविजेता, कलाशेष चन्द्र, सुरतमृदित बालवधू, मदक्षीण हाथी,

शरत्कालीन सूखीवाली-वाली नदी तथा याचकों को बाँट-बाँट कर धनहीन बने दाता तनुता [दुबलेपन] से शोभित होते हैं ।'

—यहाँ शाणोल्लीढत्व = शान पर चढ़ना आदि में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है ।

शुद्ध सामान्यरूप [दीपक] का उदाहरण यथा—

'फणरत्नराजिताङ्गो भुजङ्गमायो धरां समुद्वहति ।
नखदर्पणोपशोभितशिखश्च तव नाथ भुजदण्डः ॥'

—'स्वामिन् ! पृथिवी को धारण करता है फणरत्न से विराजित अंग वाला नागराज शेष, और नखरूपी दर्पण से शोभित शिखा वाला आप का भुजदण्ड ।'

—यहाँ राजितत्व और शोभितत्व शुद्ध सामान्यरूप हैं । [इनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव है, यद्यपि, फण तथा उँगली, मणि तथा नख में यहाँ भी बिम्बप्रतिबिम्बभाव है ।]

प्रश्न—'दीपक के ही तुरन्त पश्चात् [मम्मट आदि] अन्य आचार्यों ने एक मालादीपक भी बतलाया है, उसे यहाँ क्यों नहीं बतलाया जा रहा है?' उत्तर देते हैं—'छाया' आदि । छायान्तर = शृङ्खलास्वरूप भिन्न शिल्प के द्वारा । प्रस्तावान्तर दूसरे प्रसंग में [अर्थात् शृङ्खलामूलक अलंकारों के प्रसंग में] क्योंकि वह [मालादीपक] भी शृङ्खला द्वारा निष्पन्न होता है ।

दीपक का पूर्वेतिहास—

भरतमुनिः—'नानाधिकरणस्थानां शब्दानां संप्रदीपकम् ।
एकवाक्येन संयोगं तद् दीपकमिहोच्यते ॥' १६।५३ नाट्यशा०

यथा—

'सरांसि हंसैः कुसुमैश्च वृक्षा मत्तैर्द्विरेफैश्च सरोरुहाणि ।
गोष्ठीभिरुद्यानवनानि चैव तस्मिन्नशून्यानि सदा क्रियन्ते ॥

'तालाब हंसों से, वृक्ष पुष्पों से, कमल मत्त भौंरों से तथा वन-उपवन गोष्ठियों से वहाँ सदा ही भरे रहते हैं ।'

यहाँ कारिका का अर्थ उदाहरण के आधार पर मनचाहा लगाया जा सकता है । उदाहरण में अनेक कारकों का एक 'अशून्यीकरण' क्रिया में अन्वय है । किन्तु यहाँ दीपक का प्राणभूत तत्त्व प्राकरणिकाप्राकरणिकत्वमिश्रण नहीं है, तालाब आदि सभी पदार्थ प्राकरणिक हैं ।

भामह—आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते ।
एकस्यैव त्र्यवस्थत्वादिति तद् भिद्यते त्रिधा ॥
अमूनि कुर्वतेऽन्वर्थामस्याख्यामर्थदीपनात् ।

(१) मदो जनयति प्रीतिं साऽनङ्गं मानभङ्गुरम् ।
स प्रियासङ्गमोत्कण्ठां साऽसह्यां मनसः शुचम् ॥

(२) मालिनीरंशुभृतः स्त्रियोऽलङ्कुरुते मधुः ।
हारीतशुकवाचश्च भूधराणामुपत्यकाः ॥

(३) चीरीमतीररण्यानीः सरितः शुष्यदम्भसः ।
प्रवासिनां च चेतांसि शुचिरन्तं निनीषति ॥

—दीपक तीन प्रकार का माना जाता है आदिदीपक, मध्यदीपक तथा अन्तदीपक, क्योंकि इसमें एक ही वस्तु तीन [आदि मध्य अन्त] स्थानों में रहती है । एक ही के [आदि मध्य अन्त में] अवस्थित होकर वाक्यार्थ में प्रकाश लाने के कारण इसकी संज्ञा सार्थक हो जाती है ।

[भामह के इस लक्षण में 'एक'-शब्द का अर्थ अस्पष्ट है। परवर्ती आचार्यों ने उसका क्रमशः स्पष्टीकरण किया है] एक-एक का क्रमशः उदाहरण—

(१) मद [नशा] प्रीति को उत्पन्न करता है, प्रीति मानभङ्गपटु काम को, काम प्रिया के सगम की उत्कण्ठा को और वह [उत्कण्ठा] असह्य मानस वेदना को।' [यहाँ वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त 'उत्पन्न करना' मद, प्रीति, काम उत्कण्ठा के साथ अन्वित होता है। इसलिए यहाँ आदिदीपक है। साथ ही यहाँ शृङ्खलाक्रम भी है जिससे परवर्ती आचार्यों ने माला-दीपक माना है]।

(२) मालिनी, और क्षीणांशुकपङ्क्तिनी स्त्रियों को वसन्त अलंकृत करता है और हारीत तथा शुक की वाणी एवं पर्वतों की उपत्यकाओं को भी।' [यहाँ 'अलङ्कृत करना' वाक्य के मध्य में प्रयुक्त है और मालिनी आदि अनेक कर्मों से अन्वित हो रहा है, अतः यह मध्य-दीपक हुआ]।

(३) झींगुर झंकार वाले घोर जंगल, सूख रहे पानी वाली नदियों और प्रवासियों के चित्तों को ग्रीष्म समाप्त करना चाहता है। [यहाँ ग्रीष्म वाक्य के अन्त में प्रयुक्त है और उसका जंगल आदि अनेक कर्मों से अन्वय है अतः यह अन्तदीपक हुआ]।

वामन = [सू०] 'उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम्।'

तत्त्रिविधम्, आदिमध्यान्तवाक्यवृत्तिभेदात् ॥'

—उपमानवाक्य और उपमेयवाक्यों में प्रसङ्गवशात् या सामर्थ्यवशात् लागू होने वाली एक क्रिया दीपक कहलाती है। दीपक तीन प्रकार का होता है, उस क्रियापद के वाक्य के आदि, मध्य और अन्त में रहने के कारण। उदाहरण—

'भूष्यन्ते प्रमदवनानि बालपुष्पैः कामिन्यो मधुमदमांसलैर्विलासैः।
ब्रह्माणः श्रुतिगदितैः क्रियाकलापै राजानो विरलितवैरिभिः प्रतापैः ॥'

—प्रमदवन बालपुष्पों (कलियों) से भूषित होते हैं, कामिनियाँ आसवजनित मदों से मांसल विलासों से, ब्राह्मण श्रुतियों द्वारा प्रोक्त क्रियाकलापों से और राजा लोग शत्रुओं को नष्ट कर चुके अपने प्रतापों से।'

यहाँ एक ही 'भूष्यन्ते = भूषित होते हैं' क्रिया का प्रमदवनादि कारकों से अन्वय हो रहा है और वह वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त है अतः यह आदिदीपक हुआ। इसी प्रकार अन्य दो उदाहरणों में वामन ने केवल क्रिया को अनेक कारकगत बतलाया है और उसे वाक्य के मध्य तथा अन्त से प्रयुक्त दिखलाकर वहाँ मध्यदीपक तथा अन्तदीपक की स्थापना की है। किन्तु वामन कारकों की प्राकरणिकता या अप्राकरणिकता का उल्लेख नहीं करते। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दीपक में उपमानोपमेयभाव का निवेश वामन ही पहिले-पहल कर रहे हैं। इन्होंने भामह के अस्पष्टार्थ 'एक'-शब्द का अर्थ क्रिया कर दिया है।

उद्भट—'आदिमध्यान्तविषयाः प्राधान्येतरयोगिनः।
अन्तर्गतोपमा धर्मा यत्र तद् दीपकं विदुः ॥'

'जहाँ धर्म प्राधान्य तथा अप्राधान्य से युक्त वा वैसे पदार्थों से संबद्ध वाक्य के आदि, मध्य तथा अन्त में स्थित तथा उपमागर्भित हों वह दीपक माना गया है।' यहाँ प्राधान्याप्राधान्य का अर्थ प्रतीहारेन्दुराज ने उपमेयत्व और उपमानत्व किया है। उदाहरण—

'संहार शरत्कालः कदम्बकुसुमश्रियः।
प्रेयोवियोगिनीनां च निःशेषसुखसम्पदः ॥'

—'शरत्काल ने कदम्बों की कुसुम-शोभा तथा प्रियवियुक्त वनिताओं की समस्त सुखसम्पत्ति समाप्त कर दी।'—यहाँ मूल श्लोक में 'समाप्त करना' क्रिया वाक्यारम्भ में प्रयुक्त है अतः आदि-दीपक हुआ। इसी प्रकार मध्यदीपक तथा अन्तदीपक के भी उदाहरण उद्भट ने दिए हैं। उद्भट भामह के ही समान केवल क्रिया को अनेकान्वयी नहीं बतलाते। भामह के अस्पष्ट 'एक'-शब्द के स्थान पर वे स्पष्टतः धर्म का उल्लेख करते हैं। साथ ही वे उपमानोपमेयभावमात्र पर जोर देते हैं प्राकरणिकाप्राकरणिकत्व पर नहीं। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि इन तीनों आचार्यों का मालादीपक पर कोई ध्यान नहीं है।

रुद्रट—यत्रैकमनेकेषां वाक्यार्थानां क्रियापदं भवति।
तद्वत् कारकपदमपि तदेतदिति दीपकं द्वेधा ॥७।६४॥
आदौ मध्येऽन्ते वा वाक्ये तत्संस्थितं च दीपयति।
वाक्यार्थानिति भूयस्त्रिभेदैवं भवेत् षोढा ॥७।६५॥

—जहाँ अनेक वाक्यार्थों में एक क्रियापद होता है और इसी प्रकार अनेक क्रियात्मक वाक्यार्थों में एक ही कारकपद वह दो प्रकार का दीपक माना जाता है।

यह [क्रियापद अथवा कारकपद] वाक्य के आदि, मध्य और अन्त में स्थित होकर वाक्यार्थों को दीप्त करता है अतः छ प्रकार का होता है। उदाहरण—

'कान्ता ददाति मदनं मदनः संतापमसममनुपशमम्।
संतापो मरणमहो तथापि शरणं नृणां सैव॥'

—कान्ता काम प्रदान करती है, काम अतुल्य और अनुपशमनीय संताप और संताप मरण, किन्तु आश्चर्य यह है कि इतना होने पर भी मनुष्यों के लिए शरण = रक्षा करने वाली वह कान्ता ही है। यहाँ 'दान क्रिया' वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त है अतः आदि क्रिया दीपक है।

'निद्राऽपहरति जागरमुपशमयति मदनदहनसंतापम्।
जनयति कान्तासंगमसुखं न कोऽन्यस्ततो बन्धुः॥

—'निद्रा से बढ़ा बन्धु कौन है, वह जागर [उन्निद्रता के रोग] को दूर कर देती है, मदनाग्नि के संताप को शान्त कर देती है और प्रियामिलन का सुख भी दे देती है।'—यहाँ एक निद्रा में अनेक क्रियाओं का अन्वय बतलाया गया। निद्रा वाक्य के आरम्भ में प्रयुक्त है अतः यह आदि-कारकदीपक हुआ। रुद्रट ने क्रिया और कारक के शेष चार अन्य दीपकों के भी उदाहरण दिए हैं। किन्तु उन्होंने भामह द्वारा प्रस्तुत उदाहरण में विद्यमान उस विशेषता पर भी ध्यान दिया है जिससे मालादीपक को विकास मिला है। यद्यपि उन्होंने मालादीपक नाम से किसी नवीन दीपक को प्रस्तुत नहीं किया है। इसके अतिरिक्त कारकदीपक की कल्पना भी पहिली बार रुद्रट में ही दिखाई देती है। किन्तु रुद्रट ने वामन के समान केवल क्रिया को ही अनेक-कारकान्वयी धर्म बतलाया। वस्तुतः यह धारणा भामह से ही चल पड़ी थी क्योंकि भामह के सभी उदाहरणों में एक ही एक क्रिया का प्रयोग है।

मम्मट—'सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥
मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम्॥

इनका अर्थ अभी-अभी स्पष्ट किया जा चुका है। इनके लक्षण में दीपक की आदि, मध्य तथा अन्त में धर्मादि के प्रयोग को लेकर होने वाली विशेषताएँ छोड़ दी गई हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका कारण चमत्कार का अभाव बतलाया है अर्थात् वाक्य के आरम्भ आदि में किसी पद

के उपयुक्त होने से चमत्कार में कोई अतिशय नहीं आता। 'धर्मस्यादिमध्यान्तगतत्वेऽपि चमत्कार-वैलक्षण्याभावात् त्रैविध्योक्तिरापातमात्रम्।' अन्वित होने वाला पदार्थ भी यहाँ धर्मरूप बतलाया गया है केवल क्रियारूप नहीं। अनेक क्रियाओं में एक कारक के अन्वय का भी स्वतन्त्र स्थान है और मालादीपक का भी। प्राकरणिकत्व और अप्राकरणिकत्व का भी स्पष्ट उल्लेख है। सादृश्य का महत्त्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार नहीं किया गया है। इस प्रकार मम्मट का दीपकलक्षण प्राचीन लक्षणों के आधार पर निर्मित एक सुविचारित लक्षण है।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने अलङ्काररत्नाकर में दीपक का लक्षण इस प्रकार किया है—'[सकृद् धर्मस्य निर्देशेऽप्रस्तुतानां प्रस्तुतानां वा आर्थमौपम्यं तुल्ययोगिता—]' 'मिश्राणां दीपकम्।' अर्थात् [धर्म का एक बार निर्देश होने पर केवल अप्रकृत अथवा केवल प्रकृत पदार्थों का आर्थ औपम्य तुल्ययोगिता होती है और] 'मिश्रित पदार्थों का दीपक।' यथा—

'दूरे परिच्छेदकथा हि सत्यमेतद्गुणानामुदधेरपां च।'

'इस [साहसांक] के गुणों और समुद्र के जलों की इयत्ता पाना बहुत दूर की बात है।' शोभाकर ने 'सचारपूतानि०' पद्य में प्रभा और धेनु दोनों को प्रस्तुत मान तुल्ययोगिता स्वीकार की है, दीपक नहीं, जब कि व्यक्तिविवेककार आदि ने दीपक स्वीकार किया है।

अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में दीपक का निरूपण इस प्रकार किया है—

'वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः।
मदेन भाति कलभः प्रतापेन महीपतिः' ॥५१४८॥

—वर्ण्य = प्रस्तुत = प्राकरणिक और अवर्ण्य = अप्रस्तुत = अप्राकरणिक का धर्मैक्य दीपक, यथा हाथी मद से सुशोभित होता है और राजा प्रताप से। तथा—'मणि: शाणोल्लीढ ०'–पद्य।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी का निरूपण इस प्रकार किया है—

'प्रकृतानामप्रकृतानां चैकसाधारणधर्मान्वयो दीपकम्।'

प्रकृत तथा अप्रकृतों का एक साधारण धर्म में अन्वय दीपक होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ दीपक के मालादीपक भेद को दीपक का भेद न मान शृंखलामूलक अलंकार एकावली का भेद मानना उचित मानते हैं। उनका कहना है कि मालादीपक में सादृश्य का अभाव रहता है। वस्तुतः कारकदीपक में भी कविप्रतिभा-सादृश्य से प्रवृत्त नहीं होती, अतः सादृश्य दीपक का अनिवार्य हेतु नहीं है। एकावली में एकान्वयित्व का अभाव रहता है जो दीपक का प्राण है। अलंकारसर्वस्वकार ने दीपक के इस भेद को गिनाया तो शृंखलामूलक भेदों में है किन्तु नाम मालादीपक ही रखा है।

विश्वेश्वर पण्डित ने दीपक का निरूपण इस प्रकार किया है—

१. '[सूत्र] प्रकृताप्रकृतानां यत्रैकान्वयितास्ति दीपकं तत् स्यात्।'

[वृ०] यत्रोपमानोपमेयभूतानां प्राकरणिकाप्राकरणिकानामेकपदोपात्तेन गुणक्रियादिना धर्मेणान्वयस्तद्दीपकम्'।

—जहाँ उपमानोपमेयरूप प्राकरणिकों तथा अप्राकरणिकों का एक शब्द से कथित गुणक्रिया आदि धर्म के साथ अन्वय हो वह दीपक।

२. [सू०] यत्रैकमेव कारकमन्वयमेति क्रियासु बह्वीषु।

[वृ०] यत्रैकमेव कारकमनेकक्रियास्वन्वितं तदपि दीपकम्।

—जहां एक ही कारक अनेक क्रियाओं में अन्वित हो वह भी एक दीपक होता है। विश्वेश्वर पण्डित ने कर्ता से लेकर अधिकरण तक के सभी कारकों के अनेक क्रिया में अन्वय के उदाहरण दिए हैं।

३. [सू०] माला तु पूर्वपूर्वे विध्यन्तरेणोत्तरान्वयिनि ॥

[वृ०] तस्यां क्रियाणां रूपान्तरेणान्वितस्य पुनस्तस्यामेव रूपान्तरेणान्वये मालादीपकम्।

—एक ही कारक एक ही क्रिया में भिन्न-भिन्न रूप से अन्वित हो तो मालादीपक।

उदाहरण पूर्वाचार्यप्रदत्त उदाहरण जैसे ही दिए हैं। किन्तु उन्होंने मालादीपक को एकावली मानने के सुझाव पर पण्डितराज का खण्डन नहीं किया, न तो उसमें स्वयं सादृश्य की सिद्धि की।

संजीविनीकार विद्याचक्रवर्ती ने दीपकविवेचन का सार-संग्रह इस प्रकार किया है—

'दीपकं वास्तवौपम्यं प्रकृताप्रकृतावयम्।
आदिमध्यान्तवाक्येषु क्रियाकारकभेदतः ॥'

प्रस्तुत और अप्रस्तुत का परस्पर वास्तविक किन्तु [वस्तुरूप वाच्य से] गम्य [= वास्तव] सादृश्य दीपक होता है। क्रियादीपक और कारकदीपक दो प्रकारों का वह [अनेकान्वयी धर्म के] वाक्य के आरम्भ, मध्य और अन्त में प्रयुक्त होने से पुनः तीन प्रकार का हो छ प्रकार का माना जाता है। वस्तुतः संजीविनीकार की यह संग्रहकारिका अलंकारसर्वस्वकार के दीपकनिरूपण का आकलन समग्ररूप से नहीं करती।

[सर्वस्व]

[सू० २६] वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा।

पदार्थारब्धो वाक्यार्थं इति पदार्थगतालंकारानन्तरं वाक्यार्थगतालंकार-प्रस्तावः। तत्र सामान्यधर्मस्येवाद्युपादाने सकृन्निर्देशे उपमा। वस्तुप्रति-वस्तुभावेनासकृन्निर्देशेऽपि सैव। इवाद्यनुपादाने सकृन्निर्देशे उपमा। वस्तु-प्रतिवस्तुभावेनासकृन्निर्देशे तु शुद्धसामान्यरूपत्वं बिम्बप्रतिबिम्बभावो वा। आद्यः प्रकारः प्रतिवस्तूपमा। वस्तु-शब्दस्य वाक्यार्थवाचित्वे प्रतिवा-क्यार्थमुपमा साम्यमित्यन्वर्थाश्रयणात्। केवलं काव्यसमयात्पर्यायान्त-रेण पृथङ्निर्देशः। द्वितीयप्रकाराश्रयेण दृष्टान्तो वक्ष्यते। तदेवमौपम्याश्रये-णैव प्रतिवस्तूपमा। यथा—

'चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि।
आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि ॥'

अत्र चतुरत्वं साधारणो धर्म उपमानवाक्ये, उपमेयवाक्ये तु निपुण-पदेन निर्दिष्टः। न केवलमियं साधर्म्येण यावद् वैधर्म्येणापि। यथात्रैवोत्तर-स्थाने 'विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि' इति पाठे।

[सू०] [यदि उपमा] वाक्यार्थों में [हो और तदर्थ] साधारण धर्म का दो वाक्यों में भिन्न-भिन्न शब्दों से निर्देश किया गया हो तो [वह उपमा] प्रतिवस्तूपमा [कहलाती है] ॥ २६ ॥

[वृ०] वाक्यार्थ पदार्थ से निष्पन्न होता है, इस कारण वाक्यार्थगत अलंकारों का प्रकरण पदार्थगत अलंकारों के बाद प्रस्तुत किया जा रहा है। यहां जो यह सामान्य या साधारण धर्म है इसका निर्देश यदि केवल एक बार किया जाय तो वहां तो उपमालङ्कार होता ही है, वहां भी उपमालंकार ही होता है, जहां साधारण धर्म का निर्देश एकाधिक बार वस्तुप्रतिवस्तुभाव से किया जाता है, किन्तु यदि 'इव'-आदि शब्दों का उपादान नहीं रहता वहां यदि साधारणधर्म का निर्देश केवल एकबार हो तो दीपक या तुल्ययोगिता होते हैं, और यदि उसका निर्देश एकाधिक बार हो तो वहां या तो वह [साधारणधर्म] शुद्ध सामान्यरूप ही रहता है या वहां बिम्बप्रतिबिम्बभाव रहता है। इन्हीं दो स्थितियों में से जो प्रथम स्थिति है उसमें उपमा को [उपमा न कहकर] प्रतिवस्तूपमा कहा जाता है, इसलिए कि ऐसा कहने से उसका अर्थ अपने समग्ररूप में स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि 'वस्तु-' शब्द का अर्थ है 'वाक्यार्थ', अतः 'प्रतिवस्तु'-शब्द का अर्थ हुआ 'वाक्यार्थ वाक्यार्थ में' और 'उपमा' शब्द का अर्थ तो साम्य है ही। [इस प्रकार प्रतिवस्तूपमा का अर्थ हुआ वाक्यार्थ का वाक्यार्थ से साम्य] यहां साधारण धर्म को भिन्न भिन्न शब्दों से कहे जाने की जो प्रतिज्ञा है वह केवल इसलिए कि काव्यकला में सौन्दर्य की रक्षा वैसा ही करने से होती है [शब्द न बदलने से अभिव्यक्ति में हृदयहारिता कम हो जाती है। इसीलिए काव्यशास्त्र = काव्य समय में एक ही शब्द के पुनः प्रयोग में 'कथितपदत्व' दोष माना गया है]।

उक्त दो स्थितियों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव की जो द्वितीय स्थिति है उससे जो अलंकार निष्पन्न होता है उसे दृष्टांत कहा जाता है, उसका निरूपण इस अलंकार के बाद किया जाएगा।

इस प्रकार प्रतिवस्तूपमा सादृश्य पर ही निर्भर रहने वाला अलंकार है। यथा—

'चन्द्रिका के आचमन की कला में चकोरियां ही चतुर होती हैं [और] सुरतकेलि में निपुण अवन्तीजनपद की सुन्दरियां = मालविकायें ही हुआ करती हैं।'

—यहां साधारण धर्म है चतुरता, उसे उपमानवाक्य में चतुरशब्द और उपमेयवाक्य में निपुण शब्द से निर्दिष्ट किया गया है।

यह प्रतिवस्तूपमा केवल साधर्म्य के आधार पर नहीं, वैधर्म्य के आधार पर भी होती है। यथा इसी पद्य के उत्तरार्ध में 'अवन्तीजनपद की सुन्दरियों को छोड़ अन्य सुन्दरियां सुरतकेलि में निपुण नहीं होती।' ऐसा पाठ मान लेने पर।

विमर्शिनी

वाक्यार्थेत्यादि। एतदेव व्याख्यातुमलंकारान्तरैः सहास्या विभागं दर्शयति—तत्रेत्यादिना। 'तया स पूतश्च विभूषितश्च' इत्यत्रोपमायां सकृन्निर्देशः। 'पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः' इत्यादावपि चासकृन्निर्देशः। तदेवमिवाद्युपादाने साधारणधर्मस्य यथासंभवं स्वरूपं निरूप्येवाद्यनुपादानेऽपि निरूपयति—इवादीत्यादिना। यद्यपि दीपकतुल्ययोगितयोः सामान्यस्यासकृन्निर्देशोऽपि संभवति, तथापि सकृन्निर्देशं विना तयोरनुत्थानात्तदेवेह प्राधान्येनोक्तम्। असकृन्निर्देशश्च द्विधा भवतीत्याह—असकृदित्यादि। आद्य प्रकार इति शुद्धसामान्यरूपत्वम्। यदि चात्र सामान्यस्यैकरूपत्वमेवास्ति तत्किं पर्यायान्तरेण पृथङ्निर्देशः क्रियत इत्याशङ्क्याह—केवलमित्यादि। यदुक्तम्—'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' इति। बिम्बप्रतिबिम्बभावो द्वितीय प्रकार।

एवमेतदुपसंहरन् प्रकृतमेव सिद्धान्तयति—तदेवमित्यादिना। औपम्याश्रयेति। एतदभिदधता ग्रन्थकृता प्रतिवस्तूपमाया दृष्टान्ताद्भेदो दर्शितः। यतोऽस्याः प्रकृतार्थस्य विशेषाभिधित्सया सादृश्यार्थमप्रकृतमर्थान्तरमुपादीयते, अत एव चात्र प्रकृताप्रकृतयो-

रुपमानोपमेयभावः । दृष्टान्ते पुनरेतादृशो वृत्तान्तोऽन्यत्रापि स्थित इति प्रकृतस्यार्थस्याविस्पष्टा प्रतीतिर्मा भूदिति प्रतीतिविशदीकरणार्थमर्थान्तरमुपादीयते । अत एवात्रार्थान्तरोपादानं प्रकृतस्य न काप्युपयुक्तमपि तु प्रतिपत्तुः प्रकृतार्थप्रतीतेरविस्पष्टतानिरासात् । केचिच्च दृष्टान्ते द्वयोः समर्थ्यसमर्थकभावेनानयोर्भेदमाहुः । तदसत् । यतः सरूपयोर्विशेषयोः समर्थ्यसमर्थकभावो न भवति । वस्त्वन्तरेण वस्त्वन्तरसिद्ध्यनुपपत्तेः । स हि सामान्यविशेषयोरेव भवति । सामान्यस्य नियमेन विशेषनिष्ठत्वाद्विशेषस्य च नियमेन सामान्याश्रयत्वात् । यदि चात्र समर्थ्यसमर्थकभावः स्यादर्थान्तरन्यासादस्य पृथगलंकारता न स्यात् । समर्थ्यसमर्थकभावात्मनः सामान्यस्योभयत्राप्यनुगमात् । अन्ये पुनरुभयत्राप्यार्थमौपम्यमाश्रित्य सामान्यस्य शुद्धसामान्यरूपत्वबिम्बप्रतिबिम्बभावाभ्यां व्यवस्थितेरनयोर्भेदमाहुः । तदप्यसत् । एतावतैवौपम्याख्यस्य सामान्यलक्षणस्यानुगतत्वादुपमाभेदवदनयोः पृथगलंकारत्वानुपपत्तेः । तदेवं वाक्यनैरपेक्ष्येऽपि वक्तृप्रतिपत्त्रोरेव विशेषादनयोर्भेदः सिद्धः । वैधर्म्येणापीति । भवतीति शेषः ।

वाक्यार्थ इत्यादि, इसी की व्याख्या करने के लिए अन्य अलंकारों से इसका विषयविभाग करते हुए लिखते हैं—तत्र । 'प्रभामहत्या—तया स पूतश्च विभूषितश्च' [कुमारसं० १]—पद्य में आई उपमा में साधारणधर्म का निर्देश केवल एक बार किया गया है और 'पाण्ड्योऽयमंसार्पित०' [रघु० ६] पद्य में साधारण धर्म [बिम्बप्रतिबिम्बभाव से हार आदि] का निर्देश एकाधिक बार किया गया है। इस प्रकार 'इव' आदि का उपादान रहने पर साधारणधर्म का जैसा कुछ रूप संभव था उसका निरूपण किया । अब इवादि का उपादान न रहने पर संभव स्वरूप पर विचार करते हैं—**'इवादि'** इत्यादि ग्रन्थ द्वारा । यद्यपि दीपक और तुल्ययोगिता में साधारणधर्म का एकाधिक बार भी निर्देश रह सकता है तथापि ये दोनों, बिना केवल एक बार निर्देश के निष्पन्न नहीं हो सकते इस कारण एक बार निर्देश ही प्रधान है अतः उसीका उल्लेख किया गया । 'एकाधिक बार निर्देश दो प्रकार से संभव है'—यह बतलाते हुए लिखते हैं—**असकृत्** इत्यादि । **आद्यः प्रकारः**—प्रथम प्रकार जिसमें साधारणधर्म शुद्ध सामान्यरूप रहता है। [साधारणधर्म के भिन्न-भिन्न शब्दों से निर्देश पर] प्रश्न उठ सकता है कि 'यदि प्रतिवस्तूपमा में भिन्न-भिन्न वाक्यों में केवल एक ही साधारणधर्म बतलाना होता है तो उसका भिन्न-भिन्न पर्यायों से ही बतलाया जाना क्यों आवश्यक है' । इस पर उत्तर देते हैं **'केवलं काव्यसमयः'** इत्यादि । जैसा कि [वामनाचार्य ने 'काव्यसमय' नामक प्रकरण में] कहा है—'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण' [का० सू० ५।१।१]—'प्रायः एक ही पद एक ही श्लोक में दो बार प्रयुक्त नहीं किया जाना चाहिए' । **द्वितीयः प्रकारः** = द्वितीय प्रकार अर्थात् बिम्बप्रतिबिम्बभावात्मक ।

इस प्रकार इस विस्तार का उपसंहार करते हुए प्रकृत प्रतिवस्तूपमा पर निष्कृष्ट सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—**'तदेवम्'** इत्यादि द्वारा । **औपम्याश्रयेण** = सादृश्य पर आश्रित कहकर ग्रन्थकार ने प्रतिवस्तूपमा का दृष्टान्त से भेद दिखला दिया । इस [प्रतिवस्तूपमा] में अप्रकृत अर्थ इसलिए अपनाया जाता है कि उसके साथ सादृश्य सिद्ध हो जाने से प्रकृत अर्थ और अधिक सुन्दर हो सके इस कारण इसमें प्रकृत और अप्रकृत अर्थों के बीच उपमानोपमेयभाव रहता है। दृष्टान्त में अप्रकृत अर्थ का उपादान दूसरे उद्देश्य से किया जाता है। वह है प्रकृत अर्थ की विशदतया प्रतीति क्योंकि दृष्टान्त-वाक्यार्थ में प्रकृतरूप से उपात्त अर्थ के विषय में दृष्टांत देने के पूर्व ऐसा भाव नहीं होता है कि उस जैसी स्थिति अन्यत्र सम्भव नहीं है, अतः उसके विषय में कही गई बात चित्तमें ठीक जम नहीं पाती । दृष्टांतरूप से अन्य वाक्यार्थ प्रस्तुत कर देने पर वह जम जाती है। इसलिए दृष्टांत में दूसरे अर्थ का उपादान प्रकृत अर्थ के लिए उपयोगी न

होकर प्रतिपत्ता = बोद्धा = सहृदय पाठक के लिए उपयोगी होता है, क्योंकि वह प्रकृत अर्थ के विषय में बनी धूमिल, अप्ररूढ प्रतीति को उसके चित्त में विस्पष्ट और प्ररूढ बना देता है।

[इस पर पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि जब प्रकृत और अप्रकृत अर्थ प्रतिवस्तूपमा के ही समान दृष्टान्त में भी रहते हैं तो यह कहना युक्तिहीन है कि प्रतिवस्तूपमा में सादृश्य की प्रतीति होती है और दृष्टान्त में नहीं। किसी एक में सादृश्य मानने पर उलटे, दृष्टान्त में ही सादृश्य मान कर प्रतिवस्तूपमा में उसका अभाव बतलाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अप्रकृतार्थ द्वारा प्रकृतार्थ का विशदीकरण सादृश्य से भिन्न कुछ नहीं हो सकता। द्रष्टव्य रसगंगाधर दृष्टान्तप्रकरण।]

कुछ विद्वान् इन दोनों को [दृष्टान्त में] समर्थ्यसमर्थकभाव [मान कर] के आधार पर भिन्न बतलाते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि समर्थ्यसमर्थकभाव एक से ही एक से दो विशेषों में नहीं होता। क्योंकि भिन्न वस्तु से भिन्नवस्तु का समर्थन संभव नहीं होता [विशेष-विशेष परस्पर भिन्न ही रहते हैं]। वह केवल सामान्य और विशेष के ही बीच होता है, क्योंकि सामान्य नियमतः विशेष से अभिन्न रहता है और विशेष भी नियमतः सामान्य से। यदि दृष्टान्त में समर्थ्यसमर्थकभाव होता तो इसे अर्थान्तरन्यास से अलग अलङ्कार मानना संभव न होता। क्योंकि समर्थ्यसमर्थकभाव-रूपी विशेषता दोनों में ही समानरूप से रहती है।

कुछ विद्वान् इन दोनों में विद्यमान आर्थ सादृश्य के धरातल पर इनका भेद करते हैं क्योंकि प्रतिवस्तूपमा में साधारणधर्म वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्न शुद्ध सामान्यरूप साधारणधर्म रहता है और दृष्टान्त में बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न। किन्तु वह भी ठीक नहीं, क्योंकि इस आधार पर ये दोनों दो विशेष प्रकार की उपमा ही सिद्ध होंगे क्योंकि सादृश्यतत्त्व दोनों में उपमा जैसा ही रहेगा। [यह स्वयं सर्वस्वकार का ही खण्डन है]।

इस प्रकार इनका भेद वाक्य से संभव नहीं होता। वक्ता और बोद्धा की मानस संवित्ति को ही लेकर इनका भेद ठीक ठहरता है।

वैधर्म्येणापि = वैधर्म्य से भी इसमें होता है—इतना जोड़ना शेष है।

विमर्श—प्रतिवस्तूपमा का पूर्वेतिहास—

भामह और वामन ने प्रतिवस्तूपमा को उपमा का ही भेद माना है। यथा—

भामह—

'समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते। यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतितः॥
कियन्तः सन्ति गुणिनः साधुसाधारणश्रियः। स्वादुपाकफलानम्राः कियन्तो वाऽध्वशाखिनः॥
साधुसाधारणत्वादिर्गुणोऽत्र व्यतिरिच्यते। स साम्यमापादयति विरोधेऽपि तयोर्यथा॥

—२।३४-३६॥

—यथा इव आदि का शब्दतः कथन न रहने पर भी समान वस्तुओं [वाक्यार्थों] को उपस्थित करने से [उपमा ही] प्रतिवस्तूपमा कही जाती है क्योंकि वहाँ गुणसाम्य की प्रतीति होती है। यथा—'ऐसे गुणी कितने होते हैं जिनकी संपत्ति साधुजनों के लिए सुलभ रहती है, या परिपक्व फलों से झुके ऐसे कितने वृक्ष होते हैं जो रास्ते पर लगे रहते हैं।'

यहाँ पूर्वार्द्ध और उत्तरार्ध की वस्तुएं भिन्न भिन्न हैं तथापि साधुसाधारणत्व आदि गुण यहाँ दोनों अर्थ के वाक्यार्थों में साम्य की प्रतीति करा देता है यद्यपि वह पूर्वार्द्ध में साधुसाधारण शब्द से कथित है और उत्तरार्ध में उससे भिन्न मार्गस्थित शब्द से [क्योंकि 'मार्गस्थित' शब्द से ठीक रास्ते चलने वाला अर्थ भी निकलता है जिसका विरोधार्थी शब्द 'उन्मार्गप्रवृत्त' है]।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भामह प्रतिवस्तूपमा की प्रायः संपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर देते हैं।

वामनः—संप्रत्युपमाप्रपञ्चो विचार्यते।

[सू०] प्रतिवस्तुप्रभृतिः उपमाप्रपञ्चः ॥ ४।३।१ ॥

वाक्यार्थोपमायाः प्रतिवस्तुनो भेदं दर्शयितुमाह—

[सू०] उपमेयस्योक्तौ समानवस्तुन्यासः प्रतिवस्तु ॥

[वृ०] समानं वस्तु वाक्यार्थः, तस्य न्यासः समानवस्तुन्यासः—

उपमेयस्यार्थाद् वाक्यार्थस्योक्तौ सत्यामिति।

अत्र द्वौ वाक्यार्थौ, एको वाक्यार्थोपमायामिति भेदः। यथा—

'देवीभावं गमिता परिवारपदं कथं भजत्येषा।

न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपांकितं रत्नम् ॥'

—अब उपमा के प्रपंच पर विचार करते हैं—

[सू०] प्रतिवस्तूपमा आदि उपमा का प्रपंच है। वाक्यार्थोपमा ['पाण्डयोऽयमंसार्पित०' आदि पद्यों के पूरे वाक्यार्थ में रहने वाली उपमा] से प्रतिवस्तु की उपमा का भेद बतलाने के लिए लिखा—

[सू०] उपमेय को कहकर समान वस्तु प्रस्तुत करना [है] प्रतिवस्तूपमा।

[वृ०] समान जो वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ, उसका न्यास = अर्थात् प्रस्तुतीकरण हुआ समान-वस्तुन्यास, किन्तु तब, जब उपमेय अर्थात् वाक्यार्थरूप ही उपमेय पहिले प्रस्तुत किया जा चुका है। इस प्रकार इस [प्रतिवस्तूपमा] में दो वाक्यार्थ रहते हैं जब कि ['पाण्डयोऽयम्०'—इत्यादि पद्य के पूरे वाक्यार्थ में रहने से] वाक्यार्थोपमा [कही जाने वाली उपमा] में केवल एक ही वाक्यार्थ रहता है। यथा—

'यह रत्नावली अब जब महारानी हो गई तो यह परिवार [नौकर चाकर जो आसपास घिरे रहते हैं] पद पर कैसे रह सकती है। जिस रत्न पर देवप्रतिमा उकेर दी जाय वह परिभोग के योग्य हो ऐसा नहीं होता ॥'

वामन के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वे प्रतिवस्तूपमा को उपमा ही मानते हैं। यह भी स्पष्ट है कि प्रतिवस्तूपमालक्षण की समग्रता यहीं निष्पन्न हो जाती है।

उद्भट=उद्भट ने भी प्रतिवस्तूपमा को उपमा के ही प्रसङ्ग में प्रस्तुत किया है—

'उपमानसन्निधाने च साम्यवाच्युच्यते बुधैर्यत्र। उपमेयस्य च कविभिः सा प्रतिवस्तूपमा गदिता ॥

प्राकरणिकत्वस्थित्यैकस्योपमेयतां लभते। उपमानत्वं चापर इत्युपमावाचिशून्यत्वम् ॥

—कविजन, जहाँ साम्य [साधारणधर्म] वाची शब्द का प्रयोग उपमान के साथ भी करते हैं और उपमेय के साथ भी उसे प्रतिवस्तूपमा कहा गया है।

—यहाँ एक अर्थ प्राकरणिकत्व के आधार पर उपमेय सिद्ध हो जाता है और दूसरा उपमान इसलिए उपमावाचक शब्द का प्रयोग नहीं रहता। यथा—

उस [पार्वती] जैसी सौन्दर्य और शील दोनों से समृद्ध युवतियाँ कम ही होती हैं। ऐसी रातें कितनी होती हैं जिनमें वर्षा भी हो और पूर्ण चन्द्रबिम्ब भी।

—स्पष्ट ही यहाँ उद्भट ने भामह तथा वामन से आगे बढ़कर उपमावाचक शब्द के अभाव तथा साधारण धर्म के उपमान और उपमेय के साथ अलग-अलग प्रयोग पर बल दिया। किन्तु उनका 'साम्यवाची' शब्द भ्रामक है।

रुद्रटः—रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा को उभयन्यास नामक औपम्यमूलक अलंकार माना है—

'सामान्यावप्यर्थौ स्फुटमुपमायाः स्वरूपतोऽपेतौ।

निर्दिश्येते यस्मिन्नुभयन्यासः स विज्ञेयः ॥

—जहाँ दो सामान्य प्रतीत होने वाले अर्थ कहे तो स्पष्ट रूप से जायें किन्तु वे उपमा के स्वरूप से रहित हों उसे उभयन्यास समझना चाहिये।' स्पष्ट ही रुद्रट की यह कारिका अर्थ की समग्रता का वहन नहीं कर पाती। उपमा के स्वरूप से रहित कहने का अर्थ उपमावाचक इवादि के प्रयोग का अभाव ही हो सकता है। भामह और वामन ने 'समानवस्तुन्यास' शब्द का प्रयोग किया था और एक अर्थान्तरन्यास नाम का अलंकार भी माना था। रुद्रट ने उसी 'अर्थान्तरन्यास' शब्द का अनुकरण कर प्रतिवस्तूपमा के लिए 'उभयन्यास' शब्द बना लिया। अधिक अच्छा होता यदि वे समानन्यास शब्द चलाते क्योंकि उभय शब्द 'वस्तु' या 'प्रतिवस्तु' शब्द के ही समान असमानद्वय तक व्याप्त है। सर्वथा रुद्रट ने प्रतिवस्तूपमा को उपमा से अभिन्न या उपमा का ही एक भेद न मानकर उसे कुछ दूर खींचना चाहा है जिसका अनुकरण मम्मट में देखा जाता है और कदाचित् प्रथमतः सर्वस्वकार ने ही इनका क्रम ठीक किया है। रुद्रट ने उभयन्यास नाम से प्रतिवस्तूपमा का लक्षण कर जो उदाहरण दिया है वह ठीक भामह के उदाहरण का भावार्थ है—

'सकलजगत्साधारणविभवा भुवि साधवोऽधुना विरलाः।
सन्ति कियन्तस्तरवः सुस्वादुसुगन्धिचारुफलाः॥'

—'इस समय ऐसे साधुपुरुष विरल ही हैं जिनका वैभव सारे संसार के लिए उपयोगी हो। वैसे वृक्ष कितने होते हैं जो उत्तम स्वाद से युक्त, सुगन्धी तथा सुन्दर होते हैं।' यहाँ भामह के उदाहरण में उपलब्ध 'मार्गस्थता' को छोड़ रुद्रट उपमानवाक्यार्थ में साधारणधर्म की स्थापना नहीं कर सके। कदाचित् वे साधारण धर्म के दो बार भिन्नशब्द के निर्देश को अनावश्यक मानते हों और कदाचित् उनके मनमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव का अभिप्राय वही जमा हो जो परवर्ती टीकाकारों में मिलता है। वे 'एकस्यैव धर्मस्य पृथक्छब्दाभ्यामुपादानं वस्तुप्रतिवस्तुभावः'—'एक ही धर्म का भिन्न भिन्न शब्दों से उपादान वस्तुप्रतिवस्तुभाव है'—[नागेश-रसगंगाधर प्रतिवस्तूपमा] इस प्रकार वस्तुप्रतिभाव को वाक्यार्थपरक न बनाकर साधारणधर्मपरक बनाते हैं। रसगंगाधरकार के आगे उद्धृत किए जाने वाले लक्षण से यह तथ्य स्पष्ट है। इसीलिए रुद्रट ने कदाचित् प्रतिवस्तूपमा शब्द को भी हटा दिया है। यहाँ तक कि टीकाकार नमिसाधु ने भी यहाँ इस शब्द को स्मरण नहीं किया।

मम्मट :—[सू०] प्रतिवस्तूपमा तु सा, सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः।

[वृ०] साधारणो धर्म उपमेयवाक्य उपमानवाक्ये च कथितपदस्य दुष्टतयाभिहितत्वात् शब्दभेदेन यदुपादीयते सा वस्तुनो वाक्यार्थस्योपमानत्वात् प्रतिवस्तूपमा।—यथा 'देवीभाव०'।

[सू०] प्रतिवस्तूपमा वह जहाँ एक सामान्य दो वाक्यों में दो बार स्थित हो।

[वृ०] [सामान्य =] साधारण धर्मको उपमेयवाक्य और उपमानवाक्य में, कथितपदत्वदोष के परिहार के हेतु जो भिन्न भिन्न शब्दों से कहा जाता है उसीको वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ के उपमान होने से प्रतिवस्तूपमा कहा जाता है।

—मम्मट की पदावली वृत्ति में स्पष्ट रूप से साधारण धर्म के भिन्न शब्द से असकृत् कथन की ओर अधिक उन्मुख है, कदाचित् वे प्रतिवस्तूपमा में चमत्कार का बीज इसी को मानते हों। उन्होंने वस्तु का अर्थ वाक्यार्थ तो किया है किन्तु उसमें जुड़े 'प्रति'-शब्द की ओर ध्यान नहीं दिया। वामन ने उसे ठीक से पकड़ा है। संभव है मम्मट ने साधारण धर्म की द्विरुक्ति पर इस लिए अधिक बल दिया हो, कि रुद्रट ने उसकी सर्वथा उपेक्षा कर दी थी। किन्तु उनके इस क्रम से प्रतिवस्तूपमा की तुला में साधारणधर्म द्विरुक्ति का पलड़ा वाक्यार्थगत साम्यप्रतिपत्ति के

पलड़े से भारी पड़ गया। वस्तुतः प्रतिवस्तूपमा का प्राण उपमा है और उसमें यहाँ प्राण है उसकी वाक्यार्थवृत्तिता तथा गम्यता। साधारणधर्म की भिन्नशब्दा द्विरुक्ति और इवादि उपमावाचकों की अनुक्ति तो इनमें साधन है।

भामह, वामन, उद्भट और रुद्रट ने मालाप्रतिवस्तूपमा का उल्लेख नहीं किया न तो वैधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा का ही। अलंकारसर्वस्वकार ने यद्यपि वैधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा को जोड़ा किन्तु मालाप्रतिवस्तूपमा उनसे भी छूट गई। परन्तु वस्तुतः प्रतिवस्तूपमा में मालात्व से उतना अतिशय नहीं आता जितना वैधर्म्य से आता है। फिर मालात्व उपमा आदि में प्रतिपादित भी किया जा चुका है। उसे यहाँ स्वयं भी जाना जा सकता है। वैधर्म्यमूलकता अवश्य ही एक उल्लेखनीय विशेषता थी।

शोभाकरः—[सूत्र] वाक्यद्वयेऽसकृद् [धर्मस्य निर्देशेऽप्रस्तुतानां प्रस्तुतानां चार्थमौपम्यं] प्रतिवस्तूपमा ॥ २६ ॥

[वृत्त] वाक्यार्थयोरुपमानोपमेयभावस्यार्थत्वे साधारणधर्मस्यासकृदुपादाने प्रतिवस्तूपमा। कथितपदस्य दुष्टत्वाद् वाक्यद्वये शब्दभेदेन पृथक् निर्देशः।

—[सूत्र] 'दो वाक्यों में साधारण धर्म का यदि एकाधिक बार निर्देश हो और प्रस्तुताप्रस्तुतों में आर्थ औपम्य हो तो प्रतिवस्तूपमा।' [वृ०]-'दो वाक्यार्थों का सादृश्य आर्थ हो और साधारणधर्म का उपादान एकाधिक बार किया गया हो तो प्रतिवस्तूपमा होती है। कथितपदत्व = अर्थात् एक ही वाक्य या पद्य में एक बार आए शब्द को दूसरी बार प्रयुक्त करना दोष है अतः दोनों वाक्यों में साधारण धर्म का वाचक शब्द भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए।'

रत्नाकरकार शोभाकर ने वाक्यार्थों के (१) शुद्ध प्रकृत, (२) शुद्ध अप्रकृत और (३) मिश्र ये तीन वर्ग बनाकर प्रतिवस्तूपमा को तीन प्रकार का बतलाया है। यह उनका अलंकारसर्वस्वकार से आगे बढ़कर प्रतिवस्तूपमा में किया गया योगदान है।

रत्नाकरकार ने इसे वैधर्म्यमूलक भी माना है और उदाहरण के रूप में अलंकारसर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत 'चकोर्य०० विनावन्तीर्न०' पद्य ही दिया है। किन्तु उन्होंने यहाँ एक मार्मिक विचार भी प्रस्तुत किया है।—

'अत्र यद्यपि चातुर्यस्य न निपुणा इत्यनेनाभावप्रतिपादनाद् एकस्य धर्मस्यासकृन्निर्देशाभावस्तथापि वैधर्म्यस्य साधर्म्याक्षेपकत्वाद् अवन्तीनां रते निपुणत्वेन प्रतीतेरर्थाच्चातुर्यस्यासकृन्निर्देशः।'

'चकोर्य एव०' पद्य में उपमानवाक्य में 'चातुर्य'–शब्द से जिस साधारण धर्म का निर्देश किया गया है उपमेयवाक्य में 'न निपुणाः' = 'निपुण नहीं हैं'—इस प्रकार उसी साधारण धर्म का अभाव बतलाया गया है, फलतः साधारण धर्म का असकृत् निर्देश यहाँ नहीं हुआ तथापि यह दोष नहीं है क्योंकि 'अवन्ती की स्त्रियों को छोड़कर अन्य कोई निपुण नहीं हैं' ऐसा कहने से 'केवल अवन्ती की ही स्त्रियाँ निपुण हैं'–यह तथ्य निकल आता है और इसमें साधारणधर्म का दूसरी बार वैसे ही निर्देश हो जाता है जैसे सीधे साधर्म्य वाक्य के प्रयोग से साधर्म्यमूलक प्रतिवस्तूपमा में होता है। रत्नाकरकार ने वैधर्म्य शब्द के विषय में लिखा है—"अभिहितविपरीतो ह्यर्थो विधर्मा, तस्य भावो वैधर्म्यम्। यथा—'चकोर्य' इत्यत्र चकोरीणां प्रतिपादितस्य चातुर्यस्य विपरीतोऽर्थः तदभाव उपमानवाक्ये चकोरीतुल्यावन्तीव्यतिरिक्ता अन्या युवतयो न निपुणाः इत्यभिहितः। न चात्र नञादिप्रयोगमात्राद् वैधर्म्यमिति वक्तव्यम्, 'स्थितो देवदत्तो न गतः' इत्यत्र पर्यायप्रयोगेऽपि वैधर्म्यप्रसङ्गात्।'

—'जो अर्थ कथित अर्थ के विपरीत हो वह अर्थ कहलाएगा विधर्मा और उसका भाव होगा वैधर्म्य। यथा 'चकोर्य०' पद्य में पूर्वार्द्ध में जो चकोरियों की चतुरता बतलाई गई है उत्तरार्ध के उपमान में उससे उलटा 'चकोरीतुल्य अवन्ती युवतियों से भिन्न युवतियाँ निपुण नहीं होतीं'—यह अर्थ कहा गया है। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्रतिवस्तूपमा में केवल 'न' के प्रयोग मात्र से वैधर्म्य की प्रतीति हो जाती है, क्योंकि 'देवदत्त अभी बैठा है, गया नहीं है' इस वाक्य में भी, जहां केवल पर्याय मात्र का प्रयोग होता है, वैधर्म्य मानने की विवशता उठ पड़ेगी।

'वैधर्म्य' पर सूक्ष्म विवेचन करने पर भी अलङ्काररत्नाकरकार मालाप्रतिवस्तूपमा पर सर्वस्वकार के ही समान चुप हैं।

अप्पयदीक्षित की चित्रमीमांसा में प्रतिवस्तूपमा का विवेचन रह गया है किन्तु कुवलयानन्द में वह इस प्रकार है—

'वाक्ययोरेकसामान्ये प्रतिवस्तूपमा मता।
तापेन भ्राजते सूरः शूरश्चापेन राजते॥'

—'दो वाक्यों में यदि एक ही साधारण धर्म हो तो प्रतिवस्तूपमा होती है यथा—'सूर्य ताप से सुशोभित होता है, शूर चाप से विराजता है।' [वृत्ति] = 'यत्रोपमानोपमेयपरवाक्ययोरेकः समानो धर्मः पृथक् निर्दिश्यते सा प्रतिवस्तूपमा। प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थम् उपमा समानधर्मोऽस्यामिति व्युत्पत्तेः।'

—जहां उपमान और उपमेय के वाक्यों में एक ही समान धर्म पृथक् निर्दिष्ट हो वह होगी प्रतिवस्तूपमा क्योंकि प्रतिवस्तूपमा शब्द की व्युत्पत्ति है—'प्रतिवस्तु प्रतिवाक्यार्थं उपमा = समान धर्म हो जिसमें।'

अप्पयदीक्षित ने प्रस्तुताप्रस्तुतत्व का मिश्रण और वैधर्म्यमूलकता इन दोनों पर ध्यान दिया है किन्तु मालाप्रतिवस्तूपमा के विषय में वे भी मौन हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिवस्तूपमा पर पर्याप्त सूक्ष्मता से विचार किया है और इस प्रकार लक्षण स्थिर किया है—

'वस्तुप्रतिवस्तुभावापन्नसाधारणधर्मकवाक्यार्थयोरार्थमौपम्यं प्रतिवस्तूपमा।'

—'जिसमें साधारणधर्म वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त हो ऐसे दो वाक्यार्थों का अर्थ सादृश्य प्रतिवस्तूपमा।'

पण्डितराज ने वस्तुप्रतिवस्तुभाव को धर्म से जोड़कर 'प्रतिवस्तूपमा' शब्द के परम्परागत अर्थ को बदल दिया है। मालाप्रतिवस्तूपमा पण्डितराज ने भी छोड़ दी है। विश्वेश्वर पण्डित ने उसे भी अपना लिया है।

दृष्टान्त से प्रतिवस्तूपमा का भेद विमर्शिनीकार ने जिस बिन्दु पर किया है उसमें स्वयं सर्वस्वकार का मत कट गया है। सर्वस्वकार ने वस्तुप्रतिवस्तूपमा को बिम्ब प्रतिबिम्बभावमूलक दृष्टान्त से भिन्न किया है। विमर्शिनीकार इन दोनों भावों को प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को परस्पर में भेदक तो मान लेते हैं किन्तु वे कहते हैं कि इनके आधार पर इन दोनों का उपमा से भेद सिद्ध नहीं होता अतः उनका तर्क ही मानना उचित है। किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि सर्वस्वकार प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्त को उपमा से भिन्न मानते ही नहीं, तब इसे विमर्शिनीकार उनके मत के विरोध में आपत्तिरूप से प्रस्तुत कैसे कर रहे हैं। अथापि इस विषय में तर्क विमर्शिनीकार के ही मान्य है।

संजीविनीकार श्री विद्याचक्रवर्ती ने प्रतिवस्तूपमा का सार सक्षेप इस प्रकार किया है—

'असकृद्धर्मनिर्देशः इवादेरनुपग्रहे। प्रतिवस्तूपमा ज्ञेया प्रतिवाक्यार्थसाम्यतः॥

—यदि साधारण धर्म का निर्देश अनेक वार हो और इवादि-उपमावाचकों का उपादान न रहे तो वाक्यार्थ के साथ होने वाली वाक्यार्थ को उपमा प्रतिवस्तूपमा होती है।

[सर्वस्व]

[सू० २७] तस्यापि विम्बप्रतिविम्बभावतया निर्देशे दृष्टान्तः।

तस्यापीति न केवलमुपमानोपमेययोः। तच्छब्देन सामान्यधर्मः प्रत्यवमृष्टः। अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विविधः। आद्यो यथा—

'अब्धिर्लङ्घित एव वानरभटैः किं त्वस्य गम्भीरता-
मापातालनिमग्नपीवरतनुर्जानाति मन्थाचलः।
देवीं वाचमुपासते हि बहवः सारं तु सारस्वतं
जानीते नितरामसौ गुरुकुलक्लिष्टो मुरारिः कविः॥'

अत्र यद्यपि ज्ञानाख्य एको धर्मो निर्दिष्टस्तथापि न तन्निबन्धनमौपम्यं विवक्षितम्। यन्निबन्धनं च विवक्षितं तत्राब्धिलङ्घनादावस्त्येव दिव्यवागुपासनादिना प्रतिबिम्बनम्। द्वितीयो यथा—

'कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया किमन्यदेवं निहताश्च नोऽरयः।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम्॥'

अत्र निहतत्वादेः स्थानादिना वैधर्म्येण प्रतिबिम्बनम्।

[सूत्र] यदि उस [साधारण धर्म] का भी निर्देश विम्बप्रतिविम्बभाव से हो तो [वही उपमा] दृष्टान्त [कहलाती है] ॥ २७ ॥

[वृत्ति०] 'उसका भी'—का अर्थ यह हुआ कि केवल उपमान और उपमेय का ही नहीं। यहाँ 'उस'–शब्द का प्रयोग सामान्य धर्म के लिए है। यह [दृष्टान्त] भी साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें से प्रथम यथा—

'वानरवीरों ने समुद्र लाँघ तो लिया किन्तु इसकी जो गम्भीरता है उसे केवल मन्थाचल ही जानता है जिसका विशाल शरीर उसमें पाताल-पर्यन्त निमग्न है। वैसे बहुत लोग हैं जो वाग्देवी की उपासना करते हैं किन्तु इसमें जो सारभूत तत्त्व है उसे केवल मुरारि कवि ही जानता है—जिसने गुरुकुल में कठोर तप किया है।'

[इस पद्य में 'देवीं वाचम्' के स्थान पर 'दैवीं वाचम्' पाठ छपा हुआ मिलता है उसके आधार पर इस शब्द का अर्थ 'सुरभारती = संस्कृत भाषा कर लिया जाता है किन्तु 'सारं तु सारस्वतं' के 'सारस्वत'–पदार्थ से अभिन्न सिद्ध करने के लिए यहाँ 'वाग्देवी'–का अर्थ देने वाला 'देवीं वाचं' पाठ ही माना जाना चाहिए। 'संस्कृत भाषा' को तो बहुत लोग पढ़ते हैं किन्तु सरस्वती का सार मुरारि ही जानता है यह कथन उसी प्रकार असंगत है जिस प्रकार 'काव्यप्रकाश तो बहुत लोग पढ़ते हैं पर साहित्य का सार मैं ही जानता हूँ—' यह कहना। क्योंकि वक्ता को काव्यप्रकाश के ज्ञान में अन्यों से भिन्न का अतिरेक दिखलाना है अतः 'किन्तु इसका सार मैं ही जानता हूँ' यह कहना है।]

—यहाँ यद्यपि [पूर्वार्द्ध के उपमान वाक्य तथा उत्तरार्ध के उपमेय वाक्य में ज्ञानार्थक एक ही 'ज्ञा' धातु के जानाति = जानता है और 'जानीते' = जानता है—इन दो रूपों द्वारा] साधारण

धर्म तो एक ही [अर्थात् एक ही शब्द द्वारा] दिखलाया गया है और वह है ज्ञान, तथापि [यहाँ प्रतिवस्तूपमा नहीं है क्योंकि] सादृश्य को उस पर निर्भर नहीं रखा गया है, और सादृश्य को जिस पर निर्भर रखा गया है वह है समुद्रलङ्घन आदि, और उसमें [बिम्बभूत] वाग्देवी की उपासना का प्रतिबिम्बन है ही।'

[इस पद्य में बिम्बभूत मुरारि कवि का प्रतिबिम्ब है—मन्थाचल और बहुत शब्द से कथित विद्वानों का प्रतिबिम्ब है वानरवीरों का समुदाय। ये दोनों धर्मी-धर्मी के बिम्बप्रतिबिम्बभाव हैं। इनके अतिरिक्त यहाँ बिम्बभूत संस्कृत की उपासना का समुद्रलङ्घन और वैसे ही गुरुकुलक्लेश का पातालपर्यन्त डूबना प्रतिबिम्ब है। ये दोनों हैं धर्मगत। बिम्बप्रतिबिम्बभाव का अर्थ है भिन्न पदार्थों का सादृश्यमूलक ऐक्य। उक्त पदार्थों में वह औचित्यसिद्ध है, अतः यहाँ दृष्टान्त की ही अलङ्कारता मान्य है]। दूसरा [वैधर्म्यमूलक] यथा—

'आपने ज्यों ही आपका चित्त गर्व की ओर घुमाया कि, और क्या, हमारे सारे शत्रु नष्ट हो गए। अंधकार तभी तक ठहरता है जब तक भगवान् सूर्य उदयाचल के शृङ्ग पर नहीं पहुँचते।

—यहाँ 'नष्ट होना' इसका प्रतिबिम्ब है 'पहुँचना' किन्तु वैधर्म्य से। [अर्थात् 'पहुँचना' आक्षेप द्वारा 'भागने' को खींच लाता है और तब उसके साथ नष्ट होने का बिम्बप्रतिबिम्बभाव बन जाता है]।

विमर्शिनी

तस्यापीति [सामान्यधर्मस्यापीत्यर्थः] उपमानोपमेययोरिति। प्रकृताप्रकृतयोर्धर्मिणो-रित्यर्थः। अतश्च धर्माणां धर्मिणां च बिम्बप्रतिबिम्बभावेन निर्देशोऽयमलंकारः। यदुक्त-मन्यत्रापि—'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्' इति। उपमानोपमेययोरिति तु स्वार्थ एव न व्याख्येयम्, अर्थान्तरस्य प्रकृततदार्थ्योपादानात्सादृश्याविवक्षणात्। आद्य इति साधर्म्येण। यथा वा—

'स्थानेषु शिष्यनिवहैः प्रतिपाद्यमाना विद्या गुरुं हि गुणवत्तरमातनोति।
आदाय शुक्तिषु बलाहकविप्रकीर्णैः रत्नाकरो भवति वारिभिरम्बुराशिः॥

अत्र स्थानादीनां शुक्त्यादिभिः प्रतिबिम्बनम्। यन्निबन्धन चेति। अर्थालंकारत्वं न पुनरौपम्यम्। तस्य च समनन्तरोक्तयुक्त्यासंभवात्।

तस्यापि = इसका (अर्थात् साधारण धर्म का) भी। उपमानोपमेययोः = उपमान और और उपमेय का' अर्थात् के प्रकृत और अप्रकृत धर्मीका। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि धर्म और धर्मी दोनों के बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश ही यह अलंकार है। जैसा कि अन्यत्र [काव्यप्रकाश में] कहा गया है—'इन सभी का प्रतिबिम्बन दृष्टान्त 'होता है'। उपमानोपमेययो = उपमान-उपमेय का', इसमें जो उपमान और उपमेय शब्द हैं इन्हें इन्हीं के अर्थ तक सीमित नहीं समझना चाहिए क्योंकि यहाँ जो दूसरा अर्थ अपनाया जाता है उसका उद्देश्य केवल प्रकृत अर्थ की पुष्टि करना रहता है, सादृश्य की सिद्धि करना नहीं। आद्य = प्रथम साधर्म्यमूलक। [रत्नाकरकार ने इस पद्य में प्रतिवस्तूपमा का संकर बतलाया है अतः इसका दूसरा उदाहरण यह हो सकता है—

'शिष्यगण जब स्थानों पर [ठीक शिष्यों में] विद्या प्रदान करने लगते हैं तो उससे गुरु और अधिक गुणी सिद्ध होते हैं। [समुद्र से] जल लेकर मेघ जब उसे सीपों में बरसाते हैं तो उससे जलराशि समुद्र रत्नाकर कहलाने लगता है।'—यहाँ 'स्थान' आदि का 'सीप' आदि से प्रतिबिम्बन किया गया है। [आदि पद से शिष्य के प्रतिबिम्ब मेघ, गुरु का प्रतिबिम्ब समुद्र, विद्या का

प्रतिबिम्ब जल, गुणवत्तरता का प्रतिबिम्ब रत्नाकर] 'यन्निबन्धनं च = जिसके आधार पर,' यह औपम्य के लिए नहीं, अर्थालङ्कारत्व के लिए कहा गया है। क्योंकि औपम्य तो अभी अभी प्रतिपादित युक्ति से यहाँ संभव ही नहीं होता। [युक्ति है—'प्रकृत अर्थ की पुष्टिमात्र के लिए अप्रकृत अर्थ का प्रस्तुतीकरण, न कि सादृश्य या औपम्य को तात्पर्य रूप से प्रतिपादित करने के लिए, इसी तथ्य को प्रतिवस्तूपमा प्रकरण में अप्रकृतार्थ द्वारा प्रकृतार्थ का विशदीकरण कहा है]।

विमर्शः—(१) टीकाकार का कथन है कि यहाँ प्रकृत-अप्रकृत केवल प्रकृत-अप्रकृत ही रहते हैं उपमेय और उपमान नहीं बन पाते क्योंकि दृष्टान्त में अप्रकृत अर्थ केवल प्रकृत अर्थ की पुष्टि के लिए आता है, सादृश्य-सिद्धि के लिए नहीं, अतः सर्वस्वकार ने जो 'उपमानोपमेय'—शब्द दिया है उसका अर्थ केवल प्रकृताप्रकृत ही किया जाना चाहिए। किन्तु यहाँ प्रकृताप्रकृत उपमानोपमेय नहीं बन पाते यह कथन अनुभव विरुद्ध है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव एक साधन है साधारण धर्म की निष्पत्ति का, और साधारण धर्म की निष्पत्ति का एक फल यदि प्रकृतार्थ की पुष्टि है तो दूसरा उपमानोपमेयभाव की निष्पत्ति भी है। यह अलग बात है कि उपमानोपमेयभाव यहाँ प्रकृतार्थ पुष्टि के पीछे रहता है, स्वयं प्रधान नहीं बनता। सच तो यह है कि उपमालंकार में भी प्रकृत अर्थ की पुष्टि के अतिरिक्त और कुछ प्रयोजन नहीं रहता अप्रकृत अर्थ की उपस्थिति का।

जैसा कि प्रतिवस्तूपमाप्रकरण में बतलाया जा चुका है विमर्शिनीकार की इस मान्यता का खण्डन दृष्टान्त के ही प्रकरण में पण्डितराज जगन्नाथ ने भी प्रायः इन्हीं तर्कों द्वारा बहुत ही संरम्भ के साथ किया है और विश्वेश्वर पण्डित ने उनके खण्डन का समर्थन किया है। [द्र० दृष्टान्तालंकारान्त, अलं० कौस्तुभ]।

(२) टीकाकार ने 'यन्निबन्धनं' का अर्थ 'अर्थालंकारत्वनिबन्धनं' करना चाहा है किन्तु यह भी मूल के विरुद्ध है। मूल में 'औपम्यं, विवक्षितम्, यन्निबन्धनं च विवक्षितम्' इस आनुपूर्वी से उपस्थित वाक्य के 'यद्' शब्द का अर्थ औपम्य को छोड़ और कुछ किया ही क्या जा सकता है। फिर प्रतिवस्तूपमा की भूमिका से ही ग्रन्थकार दृष्टान्त को उपमा बतलाता आ रहा है। यहाँ आकर वह उसमें उपमा का अभाव सिद्ध करना चाहता है यह कैसे मान्य। टीकाकार यदि दृष्टान्त और प्रतिवस्तूपमा में अन्तर सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त में प्रकृतार्थपुष्टि बतलाना चाहते हैं तो उसमें उपमानोपमेयभाव बाधक नहीं है, अतः उसका निराकरण भी आवश्यक नहीं है। यदि निराकरण भी करना हो तो उन्हें अपनी ओर से करना चाहिए। उसे ग्रन्थकार या उसके ग्रन्थ पर नहीं थोपना चाहिए। विमर्शिनीकार की सर्वनाम के अर्थ पर इस मनमानी का उत्तर पण्डितराज ने और भी समर्थ शब्दों में दिया है। उन्होंने कहा है—

'न चैत्रार्थम् ओदनः पक्वः, यदर्थं च पक्वः स मैत्रः' इत्यादौ द्वितीयपक्वादिशब्दानाम् अध्याहृतशाकादिपरत्वे असंगतेः स्फुटत्वात्।'

—'भात चैत्र के लिए नहीं पकाया गया है, जिसके लिए पकाया गया है वह है मैत्र'—इस उक्ति में जो द्वितीय वाक्य का 'पकाया गया' शब्द है वह पूर्वोक्त भात को छोड़ ऊपर से लाए गए शाकादि के लिए नहीं माना जा सकता। द्रष्टव्य = दृष्टान्तप्रकरण, रसगंगाधर।

(३) विमर्शिनी की 'उपमानोपमेययोरिति तु स्वार्थ एव न व्याख्येयम्' यह पंक्ति कदाचित् 'उप००० रिति त्वार्थयोरेवेति व्याख्येयम्' ऐसी होगी। 'न' निर्णयसागरीय संस्करण में (न) इस प्रकार जोड़ा गया है।

दृष्टान्त का पूर्वेतिहास :—

भामह और वामन में दृष्टान्त नहीं मिलता।

उद्भटः—'इष्टस्यार्थस्य विस्पष्ट-प्रतिबिम्बनिदर्शनम्।

यथेवादिपदैः शून्यं बुधैर्दृष्टान्त उच्यते ॥ ६८ ॥

यथा—'किं चात्र बहुनोक्तेन व्रज भर्तारमाप्नुहि ।
उद्‌न्वन्तमनासाद्य महानद्यः किमासते ॥ ६।९ ॥

—प्रतिपाद्य अर्थ का बिलकुल स्पष्ट प्रतिबिम्ब अर्थात् सदृश अर्थ सादृश्यवाचक इव आदि शब्दों के प्रयोग के बिना उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना दृष्टान्त नामक विद्वन्मान्य अलंकार है। यथा—

—[पार्वतीजी के प्रति उसके पिता हिमाचल की उक्ति] अधिक कहने से क्या ? जाओ और अपना पति प्राप्त कर लो। महानदियाँ क्या बिना समुद्र को पाए रुकती हैं ?

रुद्रट—'अर्थविशेषं पूर्वं यादृङ् न्यस्तो विवक्षितेतरयोः ।
तादृशमन्यं न्यस्येद् यत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः ॥ ८।९४ ॥

यथा—'त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम् ।
आलोके हि सितांशोर्विकसति कुमुदं कुमुद्वत्याः ॥ ८।९५ ॥

—विवक्षित-अर्थात् प्रस्तुत और उससे भिन्न अर्थों में से पहिले जैसा अर्थात् जिस प्रकार के गुणधर्म से युक्त अर्थ पहले प्रस्तुत किया गया हो बाद में उसी जैसा अन्य अर्थ यदि प्रस्तुत किया जाय तो वह काव्यकला का दृष्टान्त माना जाता है। यथा—'तुम्हारे दिखाई देते ही उसका कामदग्ध चित्त शान्त हो जाता है। ठीक ही है, कुमुद्वती का पुष्प कुमुदवज्ज्वल किरणों वाले चन्द्रमा के प्रकाश से ही न खिलता है !'

[यहाँ नायिकाचित्तरूपी जो पदार्थ पूर्वार्द्ध में प्रतिपादित किया गया उसमें प्रियदर्शनजन्य निर्वृति = शान्ति relief रूपी धर्म बतलाया गया। उत्तरार्ध में ठीक वैसा ही दूसरा अर्थ प्रतिपादित किया गया = चन्द्र के दर्शन से कुमुद का विकसित होना] इन दोनों वाक्यार्थों में नायिका और कुमुद्वती, मन और कुमुद, दर्शन और प्रकाश तथा निर्वाण और विकास के बीच परस्पर बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है अर्थात् दोनों निहित साम्य द्वारा अभिन्न से प्रतीत होते हैं]।

मम्मट—'दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ।'
यथा—'त्वयि दृष्ट ००००० सुधाशो००० कुसुमं कुमुद्वत्या ।'
कारिका का अर्थ विमर्शिनी में अभी अभी स्पष्ट हो चुका है और उदाहरण का ऊपर प्रदत्त रुद्रट के उदाहरण में।

परवर्त्ती आचार्यों में—
शोभाकर—[सू०]-'प्रतिबिम्बेन दृष्टान्तः' ॥ १७ ॥'
[वृ०]-'वाक्यद्वये धर्मस्य प्रतिबिम्बने = बिम्बप्रतिबिम्बभावेनावस्थाने आर्थमौपम्यं दृष्टान्तः ।— दो वाक्यों में धर्म के बिम्बप्रतिबिम्बभाव से स्थित होने पर जो आर्थ औपम्य होता है उसे दृष्टान्त कहा जाता है।

शोभाकर ने अलंकारसर्वस्वकार द्वारा उदाहृत 'अबिरलविलि एव'-इस पद्य में आपत्ति उठाते हुए कहा है कि इसमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव भी है क्योंकि इस पद्य में ज्ञानरूपी धर्म 'जानाति' और 'जानीते' इस प्रकार दो अभिन्नधातुक क्रियापदों से ही कथित है, दोनों क्रियापदों की प्रकृति एक ही है ज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातु। कदाचित् इसीलिए विमर्शिनीकार ने इसका दूसरा भी उदाहरण प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु वह भी कोई अच्छा उदाहरण नहीं है।

अप्पयदीक्षितः—'स्याद् बिम्बप्रतिबिम्बत्वं दृष्टान्तस्तदलङ्कृतिः ।
त्वमेव कीर्तिमान् राजन् विधुरेव हि कान्तिमान् ॥ ५२ ॥

– यदि बिम्बप्रतिबिम्बत्व हो तो दृष्टान्तालंकार होता है। यथा हे राजन्! कीर्तिमान् केवलः तुम ही हो। कान्तिमान् केवल चन्द्र होता है।

द्वितीय उदाहरण—'देवीं वाचमुपासते०।

इस पद्य में शोभाकर द्वारा दर्शित प्रतिवस्तूपमा के संस्पर्श का अप्पयदीक्षित प्रतिवाद करते और अलंकारसर्वस्वकार के दृष्टान्तपक्ष का समर्थन करते हुए लिखते हैं—

नन्वत्र उपमानोपमेयवाक्ययोर्ज्ञानमेक एव धर्म इति प्रतिवस्तूपमा युक्ता, मैवम्, अचेतने मन्थाचले ज्ञानस्य बाधितत्वेन तत्र जानातीत्यनेन सागरावत्तलावधिसंस्पर्शमात्रस्य विवक्षितत्वात्।'

—'यहाँ उपमानवाक्य और उपमेय वाक्य दोनों में 'ज्ञान'-रूपी एक ही धर्म [एक ही शब्द से कथित] है अतः यहाँ प्रतिवस्तूपमा माना जाना उचित है [यह जो अलंकाररत्नाकर-कार का पक्ष है वह आपाततः तो ठीक लगता है] किन्तु तथ्य वैसा नहीं है। मन्थाचल अचेतन है, अतः उसमें ज्ञान अपने वास्तविक अर्थ में बाधित है, अतः उसके साथ ज्ञान का विवक्षित अर्थ यहाँ समुद्र का तलस्पर्शमात्र है।'

वस्तुतः अलंकाररत्नाकर द्वारा प्रस्तुत आपत्ति अपरिहार्य है अतः इसका कोई प्रतिवाद नहीं किया जाना चाहिये। स्थिति यह है कि दृष्टान्तलंकार का ऐसा उदाहरण जिसमें वस्तुप्रतिवस्तुभाव का संस्पर्श सर्वथा न हो, मिलना कठिन है। शोभाकर ने भी आपत्ति प्रतिवस्तूपमा के संस्पर्श पर नहीं की है। उन्होंने आपत्ति की है प्रतिवस्तूपमा के 'प्रचुरतर' संस्पर्श पर। उनकी पंक्ति है—'देवीं वाचम्०' इत्यादौ प्रतिवस्तूपमया सहास्य प्रचुरतरः सङ्करः।' प्रतिवस्तूपमा के सामान्य स्पर्श से तो न शोभाकर के ही दृष्टान्तोदाहरण मुक्त हैं और न स्वयं अप्पयदीक्षित के। स्वयं विमर्शिनी-कार ने जो नवीन उदाहरण 'स्थानेषु शिष्य०' आदि दिया है उसमें भी 'प्रतिपाद्यमानत्व' और विप्रकीर्णन अर्थतः एक ही धर्म हैं। अप्पयदीक्षित भी 'जानाति'-को लाक्षणिक भले ही बतला दें किन्तु लक्षणा द्वारा 'तलस्पर्श' अर्थ लाकर भी वे 'ज्ञानरूपी' अर्थ को सर्वथा दूर नहीं रख सकते, तट को गंगाशब्द से कहने पर तट में गंगात्व प्रतीत होता ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ—[सूत्र] 'प्रकृतवाक्यार्थघटकानामुपमानादीनां साधारणधर्मस्य च बिम्ब-प्रतिबिम्बभावे दृष्टान्तः'।

[वृत्ति] 'अस्य चालंकारस्य प्रतिवस्तूपमया भेदकमेतदेव यद् तस्यां धर्मो न प्रतिबिम्बितः, किं तु शुद्धसामान्यात्मनैव स्थितः, इह तु प्रतिबिम्बितः।'

[सू०] प्रकृत वाक्यार्थ के [उपमेय आदि] सभी अङ्ग उपमान आदि साधारण धर्म इन सबका बिम्बप्रतिबिम्बभाव हो तो दृष्टान्त होता है।

[वृत्ति] इस अलंकार का प्रतिवस्तूपमा से भेद केवल यही है कि उसमें धर्म प्रतिबिम्ब नहीं बनता, वह शुद्ध सामान्यरूप ही रहता है जब कि इस [दृष्टान्त] में वह [धर्म] भी प्रतिबिम्बित होता है।

विश्वेश्वरपण्डित—[का०] साधारणस्य साम्यप्रतियोग्यनुयोगिनोर्यत्र।
निर्देशः स्याद् बिम्बप्रतिबिम्बतया स दृष्टान्तः॥

[वृत्ति] बिम्बप्रतिबिम्बभावेनैव यत्र साधारणधर्मस्योपमानोपमेयदिशि उपादानम्, न त्वेकत्वम्, स दृष्टान्तः। प्रतिवस्तूपमायां तु एकस्यैव वारद्वयं प्रयोगान्नातिव्याप्तिः।

[का०]—साधारण धर्म और सादृश्य के प्रतियोगी [उपमान] तथा अनुयोगी [उपमेय] इन सबका बिम्बप्रतिबिम्बभाव से निर्देश हो वह दृष्टान्त।

[वृत्ति] जहाँ साधारणधर्म का उपादान भी उपमान और उपमेय के समान बिम्बप्रति-बिम्बभाव से हो, न कि वह एक ही हो, वह दृष्टान्त। प्रतिवस्तूपमा में एक ही साधारण धर्म का दो बार प्रयोग होता है अतः दृष्टान्त का लक्षण उसमें लागू होने से बच जाता है।

विश्वेश्वरपण्डित ने दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति भी इस प्रकार दे दी है—

—'दृष्टो ज्ञानप्रामाण्यक अन्तो दार्ष्टान्तिकवाक्यार्थनिश्चयो यत्रेति व्युत्पत्त्या प्रकृतवाक्यार्थ-प्रतिपाद्यकार्यकारणभावे ग्राह्ये तद्ग्राहकीभूतान्वयव्यतिरेकयोर्यत्रोत्तरवाक्यार्थो दृष्टान्तत्वेन पर्यव-स्यति स इत्यर्थः॥

—जहाँ दृष्ट हो अर्थात् जिसका प्रामाण्य जाना जा चुका हो ऐसा अन्त = अन्तिम दार्ष्टा-न्तिक = प्रस्तुत = उपमेयभूत वाक्यार्थ हो जिसमें वह दृष्टान्त। इस व्युत्पत्ति के आधार पर अर्थ यह निकला कि दृष्टान्त में प्रकृत वाक्यार्थ में विवक्षित कार्य-कारणभाव साध्य रहता है और उसके साधक जो अन्वय-व्यतिरेक होते हैं उनकी पुष्टि दृष्टान्तरूप उत्तरवाक्यार्थ से होती है।

काव्यप्रदीपकार महामहोपाध्याय गोविन्द ठक्कुर ने दृष्टान्त शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी है -

'दृष्टोऽन्तो निश्चय उपमानिर्वाहकोऽलङ्कार इति।

—'देखा गया अन्त अर्थात् निश्चय अर्थात् उपमानिर्वाहक ही यहाँ अलंकार है।'

काव्यप्रदीप के टीकाकार नागेश ने अपने उद्योत में प्रदीप की उक्त पंक्ति का जो स्पष्टीकरण दिया है उसे व्यवस्थित रूप वामन झलकीकर ने इस प्रकार दिया है—

'यत्र दृष्टान्तवाक्येन दार्ष्टान्तिकवाक्यार्थनिश्चयस्य प्रामाण्यग्रहो भवति स दृष्टान्तनामालङ्कार'।'

—'जहाँ दृष्टान्त वाक्य के द्वारा दार्ष्टान्तिक वाक्यार्थ के ज्ञान में प्रामाण्य बुद्धि जागती है वह होता है दृष्टान्त नामक अलङ्कार।'

काव्यप्रकाश की एक अन्य टीका विवरण के रचयिता ने भी—दृष्टान्त शब्दपर यह निरुक्ति दी है—

'निश्चयः प्रस्तुतस्यार्थस्य निःसंदेहा प्रतीतिः, सोदाहरणवाक्येन प्रतिपाद्यमानो ह्यर्थो हेत्वा-काङ्क्षानिवृत्त्या असंशयमेव प्रतीयते। तदियं संज्ञा योगरूढिः।

—[काव्यप्रकाशकार ने दृष्टान्त को 'दृष्टोऽन्तो निश्चयो यत्र स दृष्टान्तः'—यह जो व्युत्पत्ति दी है इसके] निश्चय शब्द का अर्थ है प्रस्तुत अर्थ की सन्देह रहित अर्थात् प्रामाण्यपूर्ण प्रतीति। बात यह है कि जो विषय सोदाहरण वाक्य द्वारा प्रतिपादित किया जाता है उसकी प्रतीति में कोई संशय नहीं रहता, क्योंकि उदाहरण देने से हेतु [क्यों] की जिज्ञासा शान्त हो जाती है।

इस प्रकार अलंकार अर्थ में 'दृष्टान्त'—संज्ञा योगरूढ है। हमें कुछ ऐसा लगता है कि दृष्टान्त-शब्द में अन्त शब्द ठीक वैसे सौन्दर्य का वाचक है जैसे वनान्त में और दृष्ट शब्द का अर्थ है अनुभूत वस्तु। किसी अनुभूत वस्तु में साम्य के कारण सौन्दर्य आ जाता है। इस प्रकार दृष्टान्त का सीधा अर्थ प्रस्तुत अर्थ जैसा होने से सुन्दर कोई अन्य वस्तु। इस प्रकार एक स्थापना जहाँ बिलकुल उसी जैसी किसी अन्य अनुभूत घटना के विशिष्ट प्रस्तुतीकरण द्वारा पुष्ट की जाती है, तो वहाँ अलंकार को 'दृष्टान्त'—शब्द द्वारा अभिहित करना उचित ही है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इसका सारसंक्षेप इस प्रकार किया है—

'बिम्बानुबिम्बन्यायेन निर्देशे धर्मधर्मिणाम्।
दृष्टान्तालङ्कृतिर्ज्ञेया भिन्नवाक्यार्थसंश्रया॥'

—धर्म और धर्मी दोनों का निर्देश यदि बिम्बप्रतिबिम्बन्याय से हो तो अलंकार दृष्टान्त कहा जाता है। यह दो भिन्न भिन्न वाक्यार्थों पर निर्भर रहता है।

बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों भिन्न होते हैं क्योंकि उनके अधिकरण भिन्न होते हैं जैसे शरीरगत मुख और उसका दर्पणगत प्रतिबिम्ब। एक का अधिकरण है शरीर और दूसरे का दर्पण। अभिन्न वस्तु एक साथ दो भिन्न भिन्न अधिकरणों में नहीं रह सकती। किन्तु भिन्न होने पर भी बिम्ब का प्रतिबिम्ब में इतना सादृश्य रहता है कि उन्हें आपाततः अभिन्न ही कहा जाता है। मुख के प्रतिबिम्ब को प्रत्येक व्यक्ति 'मेरा मुख' ही कहता है। वस्तुतः बिम्बप्रतिबिम्बभाव समानधर्मसंबन्ध, या सादृश्य का ही एक विशिष्ट रूप है जिसमें एक सादृश्य दूसरे सादृश्य का निष्पादक होता है, और निष्पादक सादृश्य निष्पाद्य सादृश्य की निष्पत्ति साक्षात् न कर अपने से विशिष्ट पदार्थों में प्रातीतिक अभेद निष्पन्न करा परम्परया कराता है। इस प्रकार निष्पाद्य सादृश्य में साधारण धर्म बने पदार्थ भी निष्पादक सादृश्यरूपी धर्म से युक्त होकर तो धर्मी बन ही जाते हैं, उनमें स्वगत अन्य असाधारण विशेषताओं का भी अस्तित्व प्रतीत होता रहता है अतः उनकी दृष्टि से भी वे धर्मी ही होते हैं। यदि यह कहा जाय तो कदाचित् दृष्टान्त का रहस्यभूत तत्त्व अधिक निकट से परखा जा सकेगा कि दृष्टान्त में साधारण धर्म भी धर्मीरूप ही रहता है। इसमें उपमावाचक पद का प्रयोग नहीं रहता साथ ही उपमानोपमेयभाव के अनुयोगी-प्रतियोगी वाक्यार्थ ही रहते हैं।

[सर्वस्व]

[सू० २८] संभवताऽसंभवता वा वस्तुसंबन्धेन गम्यमानं प्रतिबिम्बकरणं निदर्शना।

प्रतिबिम्बकरणप्रस्तावेनास्या लक्षणम्। तत्र कश्चित्संभवन्नेव वस्तुसंबन्धः स्वसामर्थ्याद्बिम्बप्रतिबिम्बभावं कल्पयति। कश्चित्पुनरन्वयबाधादसंभवता वस्तुसंबन्धेन प्रतिबिम्बनमाक्षिप्यते। तत्र संभवद्वस्तुसंबन्धा यथा—

'चूडामणिपदे धत्ते यो देवं रविमागतम्।
सतां कार्यातिथेयीति बोधयन् गृहमेधिनः॥'

अत्र बोधयन्निति णिचस्तत्समर्थाचरणे प्रयोगात्संभवति वस्तुसंबन्धः। असंभवद्वस्तुसंबन्धा यथा—

'अन्यात्स वो यस्य निसर्गवक्रः स्पृशत्यधिज्यस्मरचापलीलाम्।
जटापिनद्धोरगराजरत्नमरीचिलीढोभयकोटिरिन्दुः॥'

अत्र स्मरचापसंबन्धिन्या लीलाया वस्त्वन्तरभूतेनेन्दुना स्पर्शनमसंभवल्लीलासदृशीं लीलामवगमयतीत्यदूरविप्रकर्षात्प्रतिबिम्बकल्पनमुक्तम्।

[सूत्र] वस्तुओं [पदार्थों अथवा वाक्यार्थों] के [बीच उनके] संभव अथवा असंभव संबन्ध से प्रतीयमान प्रतिबिम्बन निदर्शना [नामक अलंकार कहलाता है] ॥ २८ ॥

[वृत्ति] इसका लक्षण यहाँ इसलिए किया गया क्योंकि यहाँ प्रतिबिम्ब का प्रकरण चला हुआ है। यहाँ कहीं तो पदार्थों का संबन्ध संभव रहता है और वह अपनी शक्ति से बिम्ब-प्रतिबिम्ब-

भाव को निष्पन्न करता है। किन्तु कहीं कहीं अन्वय बाधित हो जाने से वह वस्तुसम्बन्ध असंभव होता हुआ प्रतिबिम्बन का आक्षेप करता है। दोनों में से प्रथम का उदाहरण जिसमें वस्तुसम्बन्ध संभव होता है—'जो [पर्वत] अतिथि के समान आए हुए भगवान् सूर्य को चूडामणि के स्थान पर धारण करता है, गृहस्थों को यह बतलाते हुए कि सत्पुरुषों का आतिथ्य करना ही चाहिए।'

—'यहाँ बोधयन् = बतलाता हुआ' यह जो णिच् = हेत्वर्थक प्रत्यय है इसका प्रयोग वैसा करने में सहायक होने अर्थ में हुआ है, अत वस्तुसम्बन्ध संभव है।' [कुवलयानन्दचन्द्रिकाकार के अनुसार समर्थाचरण = सामर्थ्योत्पादन, पर्वत गृहस्थों में आतिथ्य धर्म के बोध के सामर्थ्य की उत्पत्ति में सहायक हो ही सकता है, अत 'बोधयन्' द्वारा ज्ञापित बोध सामर्थ्योत्पादन में सहायकता पर्वत में संभव ही है।

दूसरी का उदाहरण जिसमें वस्तुसम्बन्ध असंभव रहता है—'वे भगवान् शकर आप की रक्षा करें जिनका निसर्गवक्र [स्वभावत टेढा] तथा जटाजूट में बधे नागराज की फणामणि की किरणों से स्पृष्ट दोनों नोंक वाला चन्द्र कामदेव के प्रत्यंचा चढे धनुष की शोभा को किंचित् धारण करता है।' [कल्पना कीजिए कि टेढी चन्द्रकला और नागराज का फण दोनों जटाजूट के बीच बराबरी बराबरी पर स्थित हैं और नागराज की फणामणि से निकलती और टेढी होकर सीधी फैलती किरणें चन्द्रकला की दोनों नोंकें छूती हैं। इस प्रकार चन्द्रकला का बाँस के समान गोलाकार नँवा बिम्बवृत्त धनुष बन जाता है। बडा ही बिम्बग्राही चित्रण है।]

—इस पद्यार्थ में उक्त कामचाप की शोभा का कामचाप से भिन्न [वस्त्वन्तर] चन्द्रमा द्वारा किंचिद् भी धारण किया जाना संभव नहीं है। [जिसका धर्म उसी के ही पास रहेगा, उसे उससे भिन्न व्यक्ति नहीं अपना सकता] अत. यहाँ यह अर्थ निकलता है कि चन्द्रमा कामचाप की शोभा के समान शोभा को धारण करता है। इन दोनों की शोभाओं में अधिक दूरी नहीं है अत [निदर्शन लक्षण में] प्रतिबिम्ब कल्पना की बात कही गई है।

विमर्शिनी

समवेत्यादि। बिम्बप्रतिबिम्बभावमिति उपमानोपमेयत्वमित्यर्थः। धर्मधर्मिणोरभेदो- पचारात्। एवं चात्र निदर्शनाया सादृश्याविनाभावः। तेन—

प्रभाते पृच्छन्तीरनुरहसवृत्तं सहचरीर्नवोढा न व्रीडामुकुलितमुखीयं कथयति।
लिखन्तीनां पश्चाङ्कुरमनिशमस्यास्तु कुचयोश्चमत्कारो गूढं करजपदमासां प्रथयति॥'

इत्यादौ संभवत्यपि वस्तुसंबन्धे प्रथनस्यौपम्याभावान्न निदर्शनालंकारत्वम्। अनेनैव वस्तुसंबन्धस्य संभवासंभवाभ्यामस्या भेदद्वयमप्युक्तम्। तदेवोदाहरति—चूडामणी- त्यादिना। तत्समर्थाचरणे प्रयोगाद्धि 'कारीषोऽध्यापयति' इत्यादिवत्। अभ्यागतस्य रवेर्गिरिणा शिरसा धारणं तत्समर्थाचरणम्। अत एवात्र बोधयन्निति णिचस्तत्समर्था- चरणे प्रयोगान्मयेव भवद्भिरप्यतिथिसपर्या कार्येति संभवत्संबन्धमूलमत्रार्थसौपम्यम्। एवं च पर्वतस्य बोधनक्रियाकर्तृत्वासंभवादेवाभिमन्तृव्यापारोपारोहाभावान्नात्र प्रतीय- मानोत्प्रेक्षा। नापि स्मृत्यलङ्कारः। गृहमेधिना पर्वतकर्तृकस्य सद्विषयातिथ्यबोधस्यवस्य वाक्यार्थत्वात्। तत्र हि सदृशादर्शनाद्वस्त्वन्तरस्य स्मृतिर्भवति। नचात्र गृहमेधिनां रवि- दर्शनादतिथिस्मृतौ कर्तृत्वम्। तेषां सदातिथ्यकर्तव्यताया बोध्यत्वात्। नाप्यत्र रविणा- तिथेरतिथिना वा रवेः साम्यं विवक्षितम्। अपि तु मयेव गृहमेधिभिरपि सतामातिथ्यं कार्यमिति। अत एव नात्र वस्त्वन्तरकरणमपि विशेषालंकारः। तपनावगमेऽतिथ्या- देरसंभाव्यस्यावगमो जात इत्येवमात्मिकायाः प्रतिपत्तेरभावात्। अतश्च सत्यप्यति वा

संबन्धे निदर्शनेति वाच्यम्। तेन यथोक्तमेव भेदद्वयं स्यात्। असंभवदिति। धर्म्यन्तरसंबन्धिनो धर्मस्य धर्म्यन्तरेऽन्वयायोगात्। अदूरविप्रकर्षादिति। धर्ममुखेन साहश्यस्य किंचित्प्रत्यासन्नत्वात्। यथा वा-

> अङ्गे पुलअं अहरं सवेपिअं जंपिअं ससिक्कारं।
> सव्वं सिसिरेण कअं जं काअव्वं पिअअमेण॥

अत्र वल्लभकार्यस्य पुलकादेर्धर्मस्य वस्त्वन्तरभूतेन शिशिरेण करणमसंभवत्तस्य साम्यमवगमयतीति शिशिरस्य वल्लभतुल्यताप्रतीतेरौपम्यम्। अतश्चात्र धर्माणामसंबन्धात् निदर्शनेत्युक्त्वा प्रतिमालंकारत्वं न वाच्यम्। प्रतिमायाश्चान्योदाहरणेष्वलंकारान्तरावियोगः स्फुट एवेति न पृथगलंकारत्वं वाच्यम्। एवमन्येषामपि समग्राणामभिनवालंकाराणां चान्यैरन्यालंकारयोगो योजयितुं शक्य एवेति ग्रन्थविस्तरभयादस्मद्दर्शने तद्दूषणोद्धारस्यैव च प्रतिज्ञातत्वादस्माभिः प्रतिपद्येन न दूषितम्। न पुनरेतावतैव परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमेवेति दृशा एषामपि पृथगलंकारत्वं युक्तं मन्तव्यम्।

संभवता—इत्यादि। बिम्बप्रतिबिम्बभावम् = बिम्बप्रतिबिम्बभाव को अर्थात् उपमानोपमेयभाव को ऐसा इसलिए कि धर्म और धर्मों में औपचारिक अभेद माना जाता है। और इस प्रकार सिद्ध हुआ कि निदर्शन में सादृश्य रहता ही है। इसलिए [अलंकाररत्नाकरकार का यह कथन मान्य है कि—]

— [प्रथम मधुयामिनी बीतने पर] सवेरे जब सहचरियाँ = सखियाँ एकान्त [शयनागार] की बातें पूछती हैं तो नवोढा का चेहरा = मुखमण्डल लाज से मुकुलित हो जाता है और वह कुछ भी कह नहीं पाती किन्तु प्रतिदिन पत्रावली बनाने के कारण इसके उरोजों से परिचित वे सखियाँ आज इसके उन्हीं उरोजों में चमत्कार [फूलापन] देखती हैं तो उससे उन्हें विदित हो जाता है आज प्रिय ने उन पर नखक्षत किए हैं जो चोली में दबे हैं।'

—यहाँ और ऐसे अन्य स्थलों में भले ही 'प्रथन'='विदित कराना' = [चमत्कार आदि] संभव हो तथापि, जैसा कि अलंकाररत्नाकरकार ने भी कहा है यहाँ सादृश्य नहीं है अतः निदर्शनालंकार नहीं है। इसी वक्तव्य से इस अलंकार के वे दो भेद भी ग्रन्थकार ने बतला दिए जिनमें से एक में वस्तुसम्बन्ध संभव होता है और दूसरे में नहीं। इन्हीं को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं—**चूडामणि०** इत्यादि। 'तत्समर्थाचरणे प्रयोगात् = वैसा कर सकने अथवा वैसा करने में समर्थ आचरण अर्थ में प्रयोग'। यह ठीक वैसे होगा जैसे 'कण्डे की आग पढ़ा रही हैं'—प्रयोग में होता है [अर्थात् दोनों स्थलों में पर्वत तथा अग्नि इन दोनों अचेतन कर्ताओं में बोधन तथा अध्यापन का कार्य लक्षणया उपपन्न होता है]। पर्वत में समर्थ आचरण है अभ्यागत रवि का सिर पर धारण करना। [समर्थाचरण' की व्याख्या आगे दिए उद्भट के निदर्शना-निरूपण में देखिए] इसीलिए अर्थात् 'बोधयन् = बतलाता हुआ'—इसमें आए णिच् = प्रयोजकार्थक प्रत्यय का प्रयोग होने से यहाँ यह एक आर्थ सादृश्य निकलता है कि 'मेरे ही समान आप सबको भी अतिथि-सत्कार करना चाहिए, इसमें वस्तुसम्बन्ध संभव है अर्थात् बन सकता है, असंभव या बाधित नहीं है। और इसीलिए यहाँ प्रतीयमान उत्प्रेक्षा नहीं है क्योंकि वह तब होती जब पर्वत स्वयं बोधन क्रिया का कर्ता बन न सकता और तदर्थ उस पर उसकी अधिष्ठात्री देवता का आरोप किया जाता [जैसे वेद में 'नदियाँ बोलीं' कहे जाने पर जड़ नदियों की देवियों का आरोप कर लिया जाता है जिन्हें नद्यधिष्ठात्री देवता कहा जाता है]। क्योंकि पर्वत बोधन-क्रिया का कर्ता बन सकता है अतः उस पर उसकी अधिष्ठात्री देवता का आरोप नहीं हो पाता यहाँ

[अलंकाररत्नाकरकार ने प्रतीयमान स्मरणालंकार का स्पर्श बतलाया है और कहा है क्योंकि यह श्लोक सुनते ही जीवन में कभी अतिथि-सत्कार कर चुके व्यक्ति को अपने किये हुए अतिथि-सत्कार का स्मरण आ जाता है किन्तु वह] स्मरणालंकार भी नहीं है क्योंकि यहाँ पदवाक्य का मुख्य प्रतिपाद्य है 'पर्वत द्वारा गृहमेधियों' को गृहागत सत्पुरुष के आतिथ्य का बोध कराना, जब कि स्मरणालंकार में जो स्मृति होती है वह समान वस्तु के दिखाई पड़ने से याद आई किसी अन्य की वस्तु की होती है। [आप बतला रहे हैं कि गृहस्थों को उनके द्वारा किए गए आतिथ्य का स्मरण आ रहा है किन्तु] यहाँ गृहस्थों को सूर्यदर्शन में संभव अतिथि सत्कार का कर्त्ता नहीं बतलाया जा रहा यहाँ तो उन्हें सत्पुरुष के आतिथ्य का बोद्धव्य बतलाया जा रहा है। न तो यहाँ सूर्य के साथ अतिथि का या अतिथि के साथ सूर्य का कोई साम्य ही विवक्षित है। जो विवक्षित है वह केवल इतना ही कि 'मेरे समान गृहस्थों को भी सत्पुरुषों का आतिथ्य करना चाहिए।' इसीलिए यहाँ [एक वस्तु का निर्माण करते-करते] 'दूसरी वस्तु का भी निर्माण-' एतद्रूप जो विशेषालङ्कार है वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ यह बोध नहीं होता कि सूर्य का ज्ञान होते ही अतिथि आदि असमाप्य व्यक्ति का भी ज्ञान हो गया'। इस लिए यही कहना उचित है कि सम्बन्ध के सभव या असभव होने से निदर्शना ही है। इसलिए निदर्शना के केवल दो ही भेद होंगे जैसा कि कहा गया है।

'असंभवद् = वस्तु के साथ सम्बन्ध के न बनने में'। इसलिए कि दूसरे धर्मी के धर्म का सबन्ध दूसरे धर्मी से बन ही नहीं सकता।

अदूरविप्रकर्षात् = दूरी कम होने से-'धर्म के द्वारा सभव सादृश्य के कुछ पास रहने से। अथवा दूसरा उदाहरण :—

> 'अङ्गे पुलकम् अधरः सवेपितो जल्पिते समीत्कारम्।
> सर्वं शिशिरेण कृतं यत् कर्त्तव्यं प्रियजनेन ॥'

—'शरीर में रोमाच है, अधर में कम्पन है, और बोलने में सीत्कार है। इस प्रकार शिशिर ने वह सब कार्य कर दिया है जो प्रिय के द्वारा किया जाना चाहिए।'

—यहाँ पुलक आदि धर्म प्रिय के कार्य हैं उन्हें निष्पन्न होता हुआ बतलाया जा रहा है प्रिय से भिन्न शिशिर के द्वारा वह असभव है अतः वह प्रियकार्य जैसे कार्य का ज्ञान कराता है और तब प्रतीति होती है कि 'शिशिर प्रिय के समान है'। इसलिए यहाँ वाक्यार्थ सादृश्य में पर्यवसित होता है। [इस गाथा = अङ्गे पुलकम्' में अलंकाररत्नाकरकार ने प्रतिमानामक एक नवीन अलंकार माना है। उसका लक्षण है 'अन्यधर्मयोगाद् आर्थम् औपम्यं प्रतिमा' = एक वस्तु का दूसरी वस्तु से आर्थ-साम्य हो उस वस्तु के धर्म के इस वस्तु में सबन्ध होने से, तो वह साम्य प्रतिमा होता है'। इस गाथा के वाक्यार्थ की स्थिति ऐसी ही है अत. यहाँ प्रतिमालंकार सभव है। विमर्शिनीकार इसका प्रतिवाद करते और कहते हैं] क्योंकि उक्त क्रम से इस गाथा में निदर्शना है इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि 'यहाँ प्रतिमालङ्कार है निदर्शना नहीं और निदर्शना का अभाव बतलाने के लिये यह हेतु नहीं दिया जा सकता कि 'निदर्शना में एक केन्द्र धर्म का [दूसरे में] सबन्ध नहीं रहता जब कि यहाँ [प्रिय के धर्म का शिशिर में सबन्ध] है-' ['धर्मागामसम्बन्धाभावान्न निदर्शना-' अलंकाररत्नाकर, प्रतिमालंकार की आरम्भिक वृत्ति] कारण कि प्रतिमा कोई स्वतन्त्र अलंकार नहीं है। उसके [आपने] जो और दूसरे उदाहरण दिए हैं उनमें भी स्पष्ट ही अन्यान्य अलंकारों का अभाव नहीं है। अब हमारे द्वारा प्रस्तुत इस क्रम से दूसरे समीक्षक [अलंकाररत्नाकरकार द्वारा स्थापित] अन्य सभी नवीन अलंकारों में भी दूसरे प्राचीन

अलंकारों का अस्तित्व बतला सकते हैं इसलिए हम एक-एक कर, उन सब पर अपनी ओर से दोष नहीं दिखला रहे हैं। ऐसा करने में ग्रन्थ के विस्तार का भय है और हमने प्रतिज्ञा भी केवल यही की है कि हम उनके हमारी सीमा में आए दोषों का ही निराकरण करेंगे। किन्तु हम दोष नहीं दे रहे हैं इसलिए 'दूसरे का दूसरे को मत मान्य है यदि उसने उसका खण्डन नहीं किया है' इस सामान्य धारणा के आधार पर [अलंकाररत्नाकरकार द्वारा प्रतिपादित] प्रतिभातिरिक्त अन्य नवीन अलंकार हमें स्वतंत्र अलंकार के रूप में मान्य है ऐसा मान बैठना ठीक नहीं होगा।

[सर्वस्व]

एषापि पदार्थवाक्यार्थवृत्तिभेदाद् द्विविधा पदार्थवृत्तिः समनन्तरमुदाहृता। वाक्यार्थवृत्तिर्यथा—

'त्वत्पादनखरत्नानां यदलक्तकमार्जनम्।
इदं श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरणं विधोः॥'

केचित्तु दृष्टान्तालंकारोऽयमित्याहुस्तदसत्। निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्हि बिम्बप्रतिबिम्बभावो दृष्टान्तः। यत्र च प्रकृते वाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरमारोप्यते सामानाधिकरण्येन तत्र संबन्धानुपपत्तिमूला निदर्शनैव युक्ता, न दृष्टान्तः। एवं च—

'शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः॥'

इत्यत्र दृष्टान्तबुद्धिर्न कार्या। उक्तन्यायेन निदर्शनाप्राप्तेः।

'यह [असंभवद्वस्तुसंबन्धा निदर्शना] भी दो प्रकार की होती है पदार्थगता तथा वाक्यार्थगता। दोनों में से पदार्थगता का उदाहरण अभी दिया। [अभ्यात् स वः०] वाक्यार्थगता का उदाहरण यह है—

'तुम्हारे पैर के [पद्मराग या पुष्पराग] मणियों के समान [लाल लाल] नाखूनों का अलते से जो रँगा जाना है यह सफेद चन्दन का लेप कर चन्द्रमा का सफेद किया जाना है।'

कुछ विद्वानों ने कहा है कि यहाँ दृष्टान्तालंकार है। किन्तु वह ठीक नहीं है। दृष्टान्त वहाँ होता है जहाँ दो निरपेक्ष वाक्यार्थों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव रहता है। जहाँ प्रकृत वाक्यार्थ पर अन्य वाक्यार्थ [सोऽहम् आदि के समान] सामानाधिकरण्य [नखमार्जन विधुलेपन है—इस प्रकार अभिन्नरूपता] द्वारा आरोपित किया जाता है वहाँ संबन्ध संभव नहीं होता। अतः तन्मूलक [सादृश्य में पर्यवसित होने वाली] निदर्शना ही यहाँ मान्य है दृष्टान्त नहीं। इसी प्रकार—

[शकुन्तला को देख दुष्यन्त की स्वगत उक्ति] 'हमारे अन्तःपुर में दुर्लभ यह शरीर यदि आश्रमवासी जन का प्राप्त है तब तो उद्यानलताओं को वनलताओं ने अपने गुणों से ओझल कर दिया।' [शाकुन्तल]

—यहाँ दृष्टान्त नहीं समझ बैठना चाहिए क्योंकि उक्त हेतु से यहाँ भी निदर्शना ही प्राप्त है।

विमर्शिनी

एषेत्यसंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धना। न केवलं निदर्शना यावत्तद्भेदोऽप्ययं द्विविध इत्यपिशब्दार्थः। उदाहृतेति 'अभ्यात्स वः' इत्यादिना। केचिदिति श्रीमम्मटादयः।

तदिति दृष्टान्तालंकारवचनम्। एतदन्यत्रापि योजयति—एवमित्यादिना। उक्तन्यायेनेति, प्रकृतवाक्यार्थे वाक्यार्थान्तरस्य सामानाधिकरण्येनाध्यारोप्यमाणत्वात्। अतश्चान्यैर्वाक्यार्थयोः सामानाधिकरण्यनिर्देशाच्छ्रौतारोपसद्भावेन वाक्यार्थरूपकं यदुक्तं तत्तावदास्ताम्, यत्पुनः प्रतिवस्तूपमोदाहरणत्वमुक्तं तदयुक्तमेव। निरपेक्षयोर्वाक्यार्थयोर्धर्मस्य शुद्धसामान्यरूपत्वे प्रतिवस्तूपमा। न चात्रैकमपि संभवति। वाक्यार्थयोः सापेक्षत्वाच्छुद्धसामान्यरूपत्वाभावाच्च अर्थापत्युदाहरणत्वमप्यत्रायुक्तम्।

'जाग्रतः कमलाल्लक्ष्मीं यज्जग्राह तदद्भुतम्।
पादद्वन्द्वस्य मत्तेभगतिस्तेये तु का स्तुतिः॥'

इत्यत्र तु प्रतिवस्तूपमोदाहरणत्वं पापात्पापीयः। अत्र हि वाक्यार्थयोः परस्परं सादृश्यमात्रमपि नास्तीति का कथा प्रतिवस्तूपमायाः। एवंविधमेव चान्यत्र सर्वालंकारोदाहरणेष्वसमञ्जसत्वं संभवदपि समनन्तरोक्तहेतुद्वयाच्च दर्शितम्। तथा च—

'आशाचरं पञ्चशरः पुरस्तात्सुधा पुनः कर्मकरी मुखस्य।
स चापि सौन्दर्यविशेषवन्ध्यो यत्रेभ्रुरिन्दीवरलोचनानाम्॥'

इत्यत्र विषयविषयिणोर्द्वयोरप्युपादानात्स्फुटेऽपि रूपकत्वेऽतिशयोक्त्युदाहरणत्वमुक्तं तत्र चातिशयोक्तित्वमेव नास्तीति किं कार्यकारणभावपूर्वकत्वनिदर्शनेनेत्यलं बहुना। असंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धनायां यद्यपि वस्तुसंबन्धस्याविशेषेण समन्वय उक्तस्तथापि समनन्तरोक्तोदाहरणेषु यथोपमानसंबन्धी धर्म उपमेयगतत्वेनैव संभवति तथैवोपमेयसंबन्धी धर्मः क्वचिदुपमानेऽपीत्याह—एवमित्यादि।

'एषा = यह' = असंभवद्वस्तुसंबन्धमूला निदर्शना। 'भी' का अर्थ यह है कि केवल निदर्शना-सामान्य ही दो प्रकार की नहीं होती, उसका यह एक भेद भी दो प्रकार का होता है। 'उदाहृता = जिसका उदाहरण दिया जा चुका है' = 'अव्यात् स वः' इत्यादि। 'केचित्—कुछ' श्रीमम्मट आदि [मम्मट के काव्यप्रकाश में 'मुग्धान्तदुर्लभ' पद्य कहीं भी उदाहृत नहीं है]। 'तत् = वह' अर्थात् यह कथन कि यहाँ दृष्टान्तालंकार है [अमान्य है]। इसी तथ्य को दूसरे पद्य में भी प्रतिपादित करते हैं और कहते हैं—'एवं च'। उक्तन्यायेन उक्त हेतु से = प्रकृत वाक्यार्थ में अप्रकृत वाक्यार्थ के सामानाधिकरण्य द्वारा अध्यारोपित किए जाने से। इसलिए दो वाक्यार्थों के सामानाधिकरण्य का निर्देश देख एक अन्य सज्जन ने श्रौत = शब्दतः कथित आरोप के आधार पर निष्पन्न जो वाक्यार्थरूपक माना है वह तो बहुत दूर है, कुछ लोगों [अलंकाररत्नाकरकार] ने जो इसे प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण मान रखा है वह भी बेतुका है। क्योंकि प्रतिवस्तूपमा वहाँ होती है जहाँ दो निरपेक्ष वाक्यार्थों में कोई एक शुद्ध सामान्यरूप साधारण धर्म रहता है। यहाँ इनमें से एक भी नहीं है। यहाँ दोनों वाक्यार्थ सापेक्ष हैं और धर्म भी शुद्धसामान्यरूप नहीं है। [अलंकाररत्नाकरकार ने—'दण्डापूपिकयार्थस्यापतनमर्थापत्तिः = अर्थात् जैसे यदि चूहे दण्ड को कुतर दें तो उससे उस पर टंगे मालपूओं का चूहों द्वारा खाया जाना भी सिद्ध हो जाता है तो उसे अर्थापत्ति कहते हैं वैसे ही किसी एक अर्थ के सिद्ध हो जाने पर जब कोई दूसरा अर्थ सिद्ध हो जाए तो उसे भी अर्थापत्ति अलंकार कहेंगे'—इस प्रकार अर्थापत्ति का लक्षण कर उसके ४८ भेद किए थे और उदाहरण के रूप में 'मुग्धान्तदुर्लभ०' पद्य प्रस्तुतकर लिखा था कि यहाँ शरीर के वृत्तान्त से इसी जैसी लता का वृत्तान्त लाया गया है अतः शरीर में लोकोत्तरता सिद्ध करने पर लताओं में भी वह अपने आप सिद्ध हो जाती है अतः यहाँ अर्थापत्ति है। विमर्शिनीकार इसका खण्डन करते हुए कहते हैं—] इस पद्य को अर्थापत्ति का उदाहरण भी नहीं माना जा सकता। [क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ द्वयगत सापेक्षता होने और शुद्ध सामान्य धर्म का प्रयोग

न होने से निदर्शना है, अथवा अर्थापत्ति एक नवीन और कल्पित अलंकार है जो अमान्य है अथवा आप जब इसमें प्रतिवस्तूपमा मानते हैं तो अर्थापत्ति कैसे मान सकते हैं।] फिर—

[उसके] दोनों पैरों ने जागते हुए [अतएव सावधान] कमल से [उसकी] श्री छीन ली इसमें है आश्चर्य, मदमत्त [अतएव असावधान] हाथी की गति चुरा लेने में उसकी कोई बड़ाई नहीं।

—इस पद्य में [अलंकाररत्नाकरकार ने] जो प्रतिवस्तूपमा मानी है [और कहा है कि यहाँ 'ग्रहण करना' 'छीन लेना' साधारण धर्म है, उसे उत्तर वाक्य में 'स्तेय = चुराना' शब्द से कहा गया है, इधर केवल कान्ता प्रकृत है, पद्म और मत्तगज दोनों अप्रस्तुत'–द्रष्टव्य प्रतिवस्तूपमा-प्रकरण] वह तो बद से बदतर है। यहाँ जो वाक्यार्थ हैं उनमें सादृश्य तक तो है नहीं, [अलंकार-रत्नाकरकारके] प्रतिवस्तूपमा की कथा ही क्या ? अन्य सभी अलंकारों के उदाहरणों में भी ऐसा ही असामञ्जस्य है किन्तु [ग्रन्थविस्तारभय तथा केवल अपने ऊपर दिए गए दोषों के निवारण की प्रतिज्ञा इन अभी अभी] कथित दो कारणों से उसे हम नहीं दिखला रहे हैं। जैसे एक स्थल और लीजिए—

—'यहाँ कामदेव उत्पलाक्षियों = नीलकमलसी आँखोंवाली बालाओं के मुखमण्डल का आज्ञाकारी है जो अपने पाँचों बाणों के साथ सदा सामने खड़ा रहता है, सुधा कमकरनी = चेटी है और चन्द्रमा उस [मुख-मण्डल] के अनोखे सौन्दर्य का वैतालिक है।'

—यहाँ विषय और विषयी दोनों का उपादान है अतः स्पष्ट ही यहाँ रूपकालंकार है तथापि [अलंकाररत्नाकरकार ने] इस पद्य को अतिशयोक्ति का उदाहरण माना है [और कहा है कि 'यहाँ अतिशयोक्ति कार्यकारणभावमूला है। यहाँ 'एककार्यकारित्व'–रूपी संबन्ध के आधार पर पहले कामदेव से सर्वथा असंबद्ध आज्ञाकारित्व का कामदेव से संबन्ध हो जाता है अर्थात् असंबन्ध पर संबन्ध का अध्यवसायबोध हो जाता है, फिर कारणरूप आज्ञाधरत्व का उसकी कार्यभूत काम-विकारोत्पत्ति से अभेद बोध हो जाता है] किन्तु यहाँ अतिशयोक्ति ही नहीं, उसके कार्य-कारणमूलकत्व की और तदर्थ इस पद्य को उदाहरणरूप से प्रस्तुत करने की तो बात ही क्या। इस प्रकार यह उदाहरण असंगत है। अब हम और अधिक उदाहरण देते बैठें यह ठीक नहीं।

'असंभवद्वस्तुसम्बन्धमूलक निदर्शना के जिस वस्तु-संबन्ध का अभी ['अभ्यात् सः'–पद्य में] संभव प्रतिपादित किया गया है उसमें कोई विशेषता प्रतिपादित नहीं की गई थी, [वहाँ प्रतिपादित वस्तुसम्बन्ध सामान्यरूप से प्रतिपादित किया गया था] तथापि [उसमें विशेषताएँ भी ढूँढी जा सकती हैं—जैसे] अभी दिए उदाहरणों में जिस प्रकार एकमात्र उपमानगत धर्म का उपमेय में पहुँचना संभव प्रतिपादित किया उसी प्रकार उपमेयगत धर्म का उपमान में पहुँचना भी संभव प्रतिपादित किया जा सकता है'—इस तथ्य का प्रतिपादन करने हेतु लिखते हैं—

[सर्वस्व]

इयं चोपमेय उपमानवृत्तस्यासंभवात्प्रतिपादिता पूर्वैः वस्तुतस्तूपमेय-वृत्तस्योपमानेऽसंभवादपि भवति। उभयत्रापि संबन्धविघटनस्य विद्यमान-त्वात्। तद्यथा—

'वियोगे गौडनारीणां यो गण्डतलपाण्डिमा।
अलक्ष्यत स खर्जूरीमञ्जरीगर्भरेणुषु॥'

अत्र गण्डतलं प्रकृतम्। तद्धर्मस्य पाण्डिम्नः खर्जूरीरेणुष्वसंभवादौपम्यप्रतीतिः। एष च प्रकारः शृङ्खलान्यायेनापि भवति। यथा —

'मुण्डसिरे बोरफलं बोरोवरि बोरअं थिरं धरसि।
विग्गुच्छाअइ अप्पा णालिअछेआ छलिज्जन्ति।'

[यह जो असंभवद्वस्तुसम्बन्धमूला निदर्शना है] इसका प्रतिपादन [मम्मट आदि] प्राचीन आचार्यों ने केवल ऐसा किया था जिसमें केवल उपमेय में उपमान के धर्म का असम्भव प्रतिपादित होता था, किन्तु सत्य यह है कि [निदर्शना की] यह [विधा] ऐसी भी होती है जिसमें उपमेय के धर्म उपमान में असम्भव प्रतिपादित रहता है, क्योंकि सबन्ध का अभाव इन दोनों में ही समान रूप से विद्यमान रहता है। इस [द्वितीय विधा] का उदाहरण—[जिसमें उपमेय धर्म उपमान में असंभव प्रतिपादित रहता है, यह है—]

'गौड देश की वियुक्त वनिताओं के कपोलतलों की पीतिमा [वसन्त ऋतु में] खर्जूरमंजरी के पराग में दिखाई पड़ी।'

—यहाँ कपोलतल प्रकृत [वर्णनीय] है [अतः उपमेय है और] उसका धर्म पीतिमा [पीलेपन में कपोलतल के उपमानभूत] खर्जूरपराग में असंभव है अतः [वाक्यार्थ का पर्यवसान उपमानोपमेयभाव में होता है और अन्त में] औपम्य की प्रतीति होती है—[कि कपोलपीतिमा सदृश-पीतिमायुक्त खर्जूरपराग, खर्जूरपरागगत न कि पीतिमा के समान पीतिमा से युक्त कपोलतल]।

यह [उपमेय धर्म का उपमान में असंभवरूप अथवा असंभवद्वस्तुसम्बन्धमूलक] जो प्रकार है यह शृंखला क्रम से भी होता है। यथा—

'मुण्डशिरसि बदरफलं बदरोपरि बदरं स्थिरं धारयसि।
विजिगुप्सयस्यात्मानं नागरिकच्छेकाश्छलयन्ते॥'

'तुम जो चतुर नागरिकों को छलना चाह रहे हो, यह एक प्रकार से मुँडे सिर पर बेर (बदरीफल) और इस बेर पर एक और बेर [टिकाना] चाह रहे हो, अपने आपको घृणास्पद बना रहे हो।

विमर्शिनी

उभयत्रेत्युपमेये उपमाने वा। वसन्तवर्णनस्य प्रक्रान्तत्वाद् द्वयोः प्रकृतत्वेऽपि गण्डतलस्योपमेयत्वम्। तद्गतत्वेनैव पाण्डिम्नः सिसाधयिषितत्वात्। सिद्धसाध्यधर्मत्वमेव चोपमानोपमेयत्वम्। यथा वा—

'त्वद्वक्त्रलावण्यमिदं मृगाक्षि संलक्ष्यते पत्युरपि प्रपायाः।
कथ त्वनेनाहृतमेतदद्य कलावतां वा किमसाध्यमस्ति॥'

अत्र यद्यपि नायिकायाः प्रस्तुतत्वाद्वक्त्रमुपमेयम्। तद्धर्मस्य च लावण्यस्योपमाने शशिन्यसंभवः। एष इति असंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धनो वा वाच्यः।

उभयत्र = दोनों में = उपमेय में और उपमान में। [वियोगेषु पद्य में] वसन्त का वर्णन किया जा रहा है अतः उसमें दोनों ही प्रकृत हैं [वियोगिनीकपोल भी और खर्जूरमंजरी भी] तथापि उपमेय है कपोलतल ही, क्योंकि पीतिमा उसी के भीतर सिद्ध करना अभीष्ट है, क्योंकि सिद्ध धर्मवाला ही पदार्थ उपमान बनता है और साध्य धर्मवाला उपमेय। अथवा दूसरा उदाहरण लीजिए—

'हे मृगाक्षि ! तुम्हारे चेहरे की लुनाई चन्द्र में भी दिखाई दे रही है। इसने इसे कैसे हड़पा होगा ? अथवा जो कलावान् होते हैं उनके लिए असाध्य ही क्या रहता है।'

—यहां नायक नायिका का चाटु कर रहा है अतः यहां नायिका का चेहरा प्रस्तुत है और इसीलिए उपमेय भी। उसका जो लावण्यरूपी धर्म है उसका चन्द्रमा में असंभव है।

'एष = यह' = प्रकार [संभव है], इसका दूसरा अर्थ असंभवद्वस्तु संबन्धमूलक निदर्शना भी किया जा सकता है।

[सर्वस्व]

इयमपि क्वचिन्मालयापि भवन्ती दृश्यते। यथा—

'अरण्यरुदितं कृतं शवशरीरमुद्वर्तितं
स्थलेऽब्जमवरोपितं सुचिरमूषरे वर्षितम्।
श्वपुच्छमवनामितं बधिरकर्णजापः कृतः
धृतोऽन्धमुखदर्पणो यदबुधो जनः सेवितः॥'

क्वचित्पुनर्निषेधसामर्थ्यादाक्षिप्तायाः प्राप्तेः संबन्धानुपपत्त्यापि भवति। यथा—

'उत्कोपे त्वयि किंचिदेव चलति द्राग्गूर्जरक्ष्माभृता
मुक्ता भूर्न परं भयान्मरुजुषां यावत्तदेणीदृशाम्।
पद्भ्यां हंसगतिर्मुखेन शशिनः कान्तिः कुचाभ्यामपि
क्षामाभ्यां सहसैव वन्यकरिणां गण्डस्थलीविभ्रमः॥'

अत्र मुक्तेति निषेधपदं तदन्यथानुपपत्त्या पादयोर्हंसगतिप्राप्तिराक्षिप्यते। सा च तयोरनुपपन्ना सादृश्यं गमयतीति असंभवद्वस्तुसंबन्धनिबन्धना निदर्शना।

यह [निदर्शना सामान्य] कहीं मालारूप में भी मिलती है। यथा—

'मूर्ख व्यक्ति की चाकरी जो कि वह निर्जन जंगल में रोया गया, मृत शरीर में उबटन लगाया गया, मिट्टी पत्थर पर कमल रोपा गया, काफी देर तक ऊसर में बरसा गया, कुत्ते की पूंछ सीधी की गई, बहिरे के कान में जप किया गया और [दोनों आँखों के] अन्धे के सामने दर्पण रखा गया।

[निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है इस कारण] कहीं-कहीं निषेध से आक्षिप्त प्राप्ति का संबन्ध न बनने से भी [यह निदर्शना] होती है। यथा—

आपके क्रुद्ध होकर [युद्धार्थ] थोड़े से चलते ही भय से गुर्जर के राजा ने पृथिवी ही नहीं छोड़ी, अपितु मरुस्थल में भटकती उसकी सुन्दरियों के पैरों ने हंसगति, मुखों ने चन्द्रकान्ति, दुर्बल स्तनों ने जंगली हाथियों के गण्डस्थली का विभ्रम भी एकाएक छोड़ दिया।

—यहाँ 'मुक्ता = छोड़ दिया' यह निषेधवाचक पद पहिले पैरों द्वारा हंसगति की प्राप्ति करने का आक्षेप करता है, क्योंकि बिना उस [प्राप्ति] के वह निषेध बनता ही नहीं है। और वह [हंस गति की] उन [पैरों] में संभव नहीं है अतः 'उस जैसी गति' का ज्ञान कराती है। इसलिए यहाँ असंभवद्वस्तुसम्बन्धमूला निदर्शना हुई।

विमर्शिनी

आक्षिप्ताया इति। प्राप्तिपूर्वकत्वान्निषेधस्य। सेति प्राप्तिः। सादृश्यमिति पादयोर्हंसगतितुल्याया गतेः प्रतीतेः।

इयं च सामान्यस्यानुगामितया। यथा—अव्यात्स व इत्यादि। अत्र निसर्गवक्रता-ख्यधर्मस्यानुगामित्वम्। शुद्धसामान्यरूपत्वेन यथा—

हारेणामलकस्थूलमुक्तेनामुक्तकुन्तलः।
फणीन्द्रबद्धजूटस्य श्रियमाप स धूर्जटेः॥

अत्रामुक्तबद्धयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावेन यथा—

'दह सरसदंतमंडलकपोलपडिमागओ मअच्छीए।
अंते सिंदूरिअसंखवत्तकरणिं वहइ चंदो॥'

अत्र दन्तमण्डलसिन्दूरितत्वयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः।

'आक्षिप्तायाः = आक्षिप्त' इसलिए कि निषेध प्राप्तिपूर्वक होता है। 'मा = वद' = प्राप्ति। 'सादृश्यम्' = क्योंकि पैरों में हंसगति तुल्य गति की प्रतीति होती है।

यह [निदर्शना] साधारण धर्म के अनुगामी होने पर भी होती है यथा—'अव्यात् स व' इत्यादि में। यहाँ 'निसर्गवक्रता'—नामक धर्म अनुगामी है। इसमें धर्म कहीं शुद्धसामान्यस्वरूप भी होता है। यथा—

—'आँवले जैसे स्थूल मोतियों के हार से उसके केश कसे हुए थे। अतः वह भगवान् शिव की शोभा प्राप्त कर रहा था जिनका जटाजूट शेषनाग [जो अपने धवल वर्ण के लिए प्रसिद्ध हैं] से बँधा रहता है।

यहाँ 'आमुक्तत्व' और 'आबद्धत्व' दोनों शुद्ध सामान्यरूप हैं।

बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक, यथा—

'पश्य सरसदन्तमण्डलकपोलप्रतिमागतो मृगाक्ष्याः।
अन्ते सिन्दूरितशङ्खावर्त्तकरणीं [क्रियां] वहति चन्द्रः॥'

—देखो, [ताम्बूलरस से] सरस दंतमंडल [ऊपर नीचे की दोनों पंक्ति] वाले कपोलों पर प्रतिबिम्बित यह चन्द्रमा नीचे [मुखभाग में] सिन्दूर से रँगे हुए शंख के आवर्त्त [अंजलि, कटोरी धोते समय जिसमें पानी भरा जाता है, या जिसमें उँगलियों के अग्रपर्व फँसाकर शंख को पकड़ा जाता है और यदि यह शंख के दाहिनी ओर होता है तो शंख को दक्षिणावर्त्त कहा जाता है, सामान्यतः यह शंख के बाँई ओर ही होता। वस्तुतः केले कुण्डलित पत्ते जैसी एक परत होती है जो भीतर ही भीतर कुण्डलित होती जाती है इसलिए इसे आवर्त्त = भँवर कहा जाता है।] की करनी [क्रिया] धारण कर रहा है।'

यहाँ 'दन्तमण्डल' और 'सिन्दूरितत्व' इन दोनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।'

विमर्श—निदर्शना का पूर्व इतिहास—

भामहः = 'क्रिययैव विशिष्टस्य तदर्थस्योपदर्शनात्।
ज्ञेया निदर्शना नाम यथेववतिभिर्विना॥ ३।३३॥

यथा = अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति।
उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन् नरान्॥ ३।३४॥

—'निदर्शना इसलिए कहलाती है कि इसमें क्रिया के द्वारा ही विशिष्ट अर्थ प्रदर्शित किया जाता है और यथा, इव, वति आदि उपमावाचकों का प्रयोग नहीं रहता।'

यथा = 'यह प्रकाशराशि सूर्य तेजोहीन होकर अस्त की ओर जाना चाह रहा है, श्रीमान् लोगों को यह बतलाता हुआ सा कि 'उदय का अन्त पतन होना है।'

स्पष्ट है कि भामह में समवद्वस्तुसंबन्धा निदर्शना का ही निरूपण हुआ है। इन्हीं के अनुकरण पर वामन भी केवल निदर्शना का निरूपण करते हैं—

वामन = '[सू०] क्रिययैव स्वतदर्थान्वयख्यापनं निदर्शनम् ।'

[वृ०] क्रिययैव शुद्धया स्वस्यात्मनः तदर्थस्य चान्वयस्य संबन्धस्य ख्यापनम्, संतुलित—हेतुदृष्टान्तविभागदर्शनात् निदर्शनम् ।

[सू०] स्वयं और उसके प्रयोजन के अन्वय का कथन ही निदर्शन ।

[वृ०] 'शुद्ध [अन्य निरपेक्ष] क्रिया के द्वारा अपना और अपने प्रयोजन के संबन्ध का प्रतिपादन निदर्शना कहलाता है, क्योंकि इसमें हेतु और दृष्टान्त का अन्तर तिरोहित रहता है ।'

उदाहरण—'अत्युच्चपदाध्यासः पतनायेत्यर्थशालिनां शंसत् ।
आपाण्डु पतति पत्रं तरोरिदं बन्धनग्रन्थेः ॥'

—'वृक्ष का यह पीला पत्ता श्रीमन्त लोगों से यह कहता हुआ बन्धनग्रन्थि से गिर रहा है कि अत्यन्त ऊँचे पद पर पहुँच जाना पतनकारी ही होता है ।'

—यहाँ 'गिर रहा है'—यह क्रिया है, उसका प्रयोजन है 'अति उच्च पद पर पहुँचना पतनकारी होता है' यह, और इसका कथन हुआ है 'श्रीमन्त लोगों से कहता हुआ' इस प्रकार ।

उद्भटः—उद्भटाचार्यने निदर्शना को विदर्शना कह नाम में भी परिवर्तन कर दिया है और लक्षण में भी इस प्रकार परिष्कार किया है—

'अभवन् वस्तुसम्बन्धो भवन् वा यत्र कल्पयेत् ।
उपमानोपमेयत्वं कथ्यते सा विदर्शना ॥ ५।१० ॥

उदाहरण—विनोचितेन पत्या च रूपवत्यपि कामिनी ।
विधुवन्ध्यविभावर्याः प्रबिभर्ति विशोभताम् ॥

—असंभव या संभव वस्तुसंबन्ध जहाँ उपमानोपमेय भाव की कल्पना कराए उसे विदर्शना कहा जाता है ।

विदर्शना शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा है—'वि = विशिष्ट अर्थ = उपमानोपमेयभाव, उसका दर्शन = प्रतिपादन = उससे युक्त 'विदर्शना' । निदर्शन शब्द उपमा से कुछ दूर हो दृष्टान्तपरक हो जाता है ।

उदाहरण 'उचित पति के बिना कोई भी सुन्दरी चन्द्रहीन रात्रि की शोभाशून्यता धारण करती है ।'

इस उदाहरण में रात्रि की शोभाशून्यता का सुन्दरी से संबन्ध संभव नहीं होता अतः उसका अर्थ तत्तुल्य अन्य शोभाशून्यता में परिणत हो जाता है । इस प्रकार यह उदाहरण असंभवद्वस्तु—संबन्धमूला निदर्शना का है ।

द्वितीय का उदाहरण उद्भट ने नहीं दिया । अतः उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका लघुविवृति के रचयिता प्रतीहारेन्दुराज ने अपनी ओर से भामह का 'अयं मन्दद्युति' पद्य उद्धृत कर उसका विश्लेषण इस प्रकार किया है—

—'यहाँ उदित होकर अस्त होता सूर्य प्रयोजककर्ता है और प्रयोज्यकर्ता है उदयशाली श्रीमन्त जन । सूर्य उन्हें यह बोध करा रहा है कि 'उदय का अन्त पतन होता है' इसलिए इस 'बोधन'-क्रिया में वह हेतु है । किन्तु सूर्य जड़ है अतः उसमें प्रयोजक-हेतुत्व केवल 'बोध में समर्थ आचरण करने' तक सीमित है जैसे [ठंढ में आग जलाकर पढ़ते छात्र की—] 'कारीष = कंडों की अग्नि अध्ययन करवा रही है' इस उक्ति में । इस प्रकार श्रीमन्तों और सूर्य के बीच यह जो प्रयोज्यप्रयोजक-भाव है यह वस्तुतः संभव नहीं होता । फलतः यह उपमानोपमेयभाव का आक्षेप कराता है, अर्थात्, इस प्रयोज्यप्रयोजकभाव का पर्यवसान 'हे श्रीमन्त सज्जनो ! जिस प्रकार मेरा उदय पतन में

परिणत हो रहा है उसी प्रकार आप का भी उदय पतन में परिणत होगा–ऐसा आप लोग समझ लें' इस प्रकार के उपमानोपमेयभाव में होता है।

यहाँ 'समर्पाचरण' शब्द का प्रयोग स्वयं अलङ्कारसर्वस्वकार, प्रतीहारेन्दुराज, विमर्शिनीकार रत्नाकरकार, अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज–इन सबने किया है किन्तु इसका अर्थ कुवलयानन्द के टीकाकार वैद्यनाथ तत्सत् तो बड़ी ही सफाई के साथ संक्षेप में इस प्रकार किया है—'समर्थाचरणे समर्थकरणे सामर्थ्योत्पादन इति यावत् भावप्राधान्यात्।' समर्थाचरण अर्थात् समर्थ बनाना अर्थात् सामर्थ्य उत्पन्न करना।' इस प्रकार प्रयोजकत्व भले ही जड हो वह चेतन के भीतर होने वाली ज्ञानोत्पत्ति में आलम्बन तो बन ही सकता है। जड की यह आलम्बनता न्यायशास्त्र की भाषा में विषय या ज्ञान के प्रति कारण होना माना जा सकता है। व्याकरण की भाषा में इसे ही ज्ञानोत्पत्त्यनुकूलता कहा जा सकता है। और यह तो जड में सम्भव ही है। प्रस्तुत पदार्थ में सूर्य भले ही जड है, वह श्रीमान् व्यक्ति अर्थात् चेतन व्यक्तियों में उत्पन्न होने वाले 'उदय पतन में बदलता है'—इस ज्ञान के प्रति सहायक तो हो ही सकता है। यही सहायकता उसकी प्रयोजकता है और यह सूर्य में सम्भव ही है। 'चूडामणिपदे०' इस ग्रन्थकार के उदाहरण में इसी प्रकार यह प्रयोजकता पर्वत में सम्भव है। वस्तुतः यह भी एक औपचारिक प्रयोजकता ही है वास्तविक नहीं। इसीलिए रसगङ्गाधरकार ने यहाँ न्यायशास्त्र के अनुसार व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षा स्वीकार की है। सत्य यह है कि इस निदर्शना का ठीक निरूपण वामन ने ही किया है। वस्तुसम्बन्ध के सम्भव होने की बात डालकर रुद्रट ने उसमें एक विचार–संघर्ष पैदा कर दिया।

रुद्रटः = रुद्रट के काव्यालङ्कार में निदर्शना नहीं मिलती।

मम्मटः = 'अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ।
स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रियैव च सापरा ॥

—वस्तु सम्बन्ध न सम्भव होकर यदि उपमा की कल्पना कराए तो निदर्शना, अथवा कोई कार्य स्वय का स्वय के कारण के साथ सम्बन्ध बतलाता हुआ प्रतिपादित हो तो निदर्शना।

मम्मट ने प्रथम के दो उदाहरण दिए हैं—उनमें से प्रथम की अभिव्यक्ति सर्वस्वकार के 'त्वत्पाद-नख०' और 'शुद्धान्तदुर्लभ०' की अभिव्यक्ति से और दूसरे की अभिव्यक्ति 'अन्यास्त सत्वो' की अभिव्यक्ति से संधा मिलती है। द्वितीय निदर्शना का उदाहरण उन्होंने ठीक वैसा ही दिया है जैसा—सर्वस्वकार ने 'चूडामणिपदे०'। किन्तु विशेषता यह है कि काव्यप्रकाशकार ने इस भेद में वस्तुसम्बन्ध के सम्भव होने की बात नहीं कही है।

शोभाकर = अलङ्काररत्नाकरकार ने भी निदर्शनालक्षण में वस्तुसम्बन्ध के सम्भव होने की बात छोड़ दी है—

[सूत्र] 'असति सम्बन्धे निदर्शना ॥ ८ ॥

[वृ०] असति अर्थसङ्गति सम्बन्धे आर्थमौपम्यं निदर्शना।

—सम्बन्ध सम्भव न हो तो निदर्शना होती है यदि उपमानोपमेयभाव की प्रतीति अर्थतः हो। इसी तथ्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

'सम्बन्धबाधे सति लक्षणानो यत्रोपमाया प्रतिपत्तिरस्ति।
निदर्शना तत्र यदा तु किञ्चिद् वस्त्वेव लक्ष्येत तदा परे स्युः ॥'

—जहाँ सम्बन्ध का बाध हो जाने पर लक्षणा के द्वारा उपमा का ज्ञान हो वहाँ निदर्शना, और जहाँ किसी वस्तु का ही लक्षणा द्वारा ज्ञान हो वहाँ दूसरे अलङ्कार होते हैं।

उदाहरण के रूप में उन्होंने 'अशिव शिव की महिमा धारण करता है'—यह वाक्यार्थ प्रस्तुत किया है।

संभवद्वस्तुसम्बन्धमूला निदर्शना तो अलंकाररत्नाकरकार ने मानी नहीं है तथापि उन्होंने उसके उदाहरण देने की अस्पष्ट और असफल चेष्टा की है।

'त्वत्पादनखरत्नानाम्' पद्य में रत्नाकरकार ने वाक्यार्थरूपक मानते हुए कहा है कि 'नखों को अलते से लाल करना चन्द्रमा को सफेद चन्दन से सफेद करना है' वहां प्रथम वाक्यार्थ पर द्वितीय वाक्यार्थ का आरोप उसी प्रकार है जिस प्रकार 'मुख चन्द्र है'—यहाँ प्रथम पदार्थ पर द्वितीय पदार्थ का। रूपक से निदर्शना का विषयभेद बतलाते हुए उन्होंने लिखा है कि 'जहाँ आरोप श्रौत=शब्दतः कथित नहीं हो और अर्थ संबन्ध न बनता हो वहाँ निदर्शना होती है और जहाँ ऐसा न हो वहाँ रूपक होता है। अलंकाररत्नाकर के इस प्रतिपादन का पण्डितराज ने अनुकरण किया है। और अलंकाररत्नाकर की ही पदावली का प्रयोग करते हुए उन्होंने इस उदाहरण में रूपक ही माना है। निदर्शना मानने के लिए इस पद्य में उन्होंने इस प्रकार परिवर्तन आवश्यक बतलाया है—

> 'त्वत्पादनखरत्नानि यो रञ्जयति यावकैः।
> इन्दुं चन्दनलेपेन पाण्डुरीकुरुते हि सः॥'

—जो तुम्हारे पैर के नखों को अलते से रंगता है वह चन्द्रमा को चन्दन के लेप द्वारा सफेद करता है। यहां 'यद् इदम्' इस प्रकार उद्देश्यविधेय वाक्यार्थों को अभिन्न बतलाने वाले सर्वनामपदों का प्रयोग नहीं है। पण्डितराज ने रूपक और निदर्शना में अन्तर अभेद के उद्देश्य-विधेयभाव पर निर्भर माना है। रूपक में वह उद्देश्यविधेयभाव से युक्त रहता है और निदर्शना में नहीं। दोनों के उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट भी है।

अप्पयदीक्षित=अप्पयदीक्षित की चित्रमीमांसा में निदर्शना नहीं है किन्तु इसका निरूपण उन्होंने कुवलयानन्द में बड़ी ही सफाई से इस प्रकार किया है—

> 'वाक्यार्थयोः सदृशयोरैक्यारोपो निदर्शना।
> यः दातुः सौम्यता सेयं पूर्णेन्दोरकलंकता॥

—दो सदृशवाक्यार्थों में ऐक्य का आरोप निदर्शना होती है। यथा 'दाता की जो सौम्यता है वह पूर्णेन्दु की अकलंकता है 'जो'-'वह'—इन दो सर्वनामों से यहाँ दो वाक्यार्थों में ऐक्य बतला जा रहा है [रत्नाकरकार के अनुसार यह रूपक है, अतः दीक्षितजी ने उदाहरण के रूप में सर्वस्वकारद्वारा उद्धृत 'अरण्यरुदितं कृतम्' पद्य भी प्रस्तुत किया है]।

पदार्थनिदर्शना के सर्वस्वकारद्वारा प्रतिपादित दोनों भेद भी उन्होंने बतलाए हैं। उपमान-धर्म के उपमेय में संबन्ध के लिए 'त्वन्नेत्रयुगलं धत्ते लीलां नीलाम्बुजन्मनोः' = तुम्हारे नैत्र नील-कमल की शोभा धारण करते हैं—यह उदाहरण और 'उपमेयधर्म' के उपमान में संबन्ध के लिए सर्वस्वकार द्वारा प्रदत्त 'वियोगे गौड०' पद्य ही प्रस्तुत किया है। इस द्वितीय उदाहरण में उन्होंने पदार्थनिदर्शना हो मानी है, सर्वस्वकार के अनुसार वाक्यार्थ निदर्शना नहीं, और वाक्यार्थ निदर्शना से पदार्थ निदर्शना का भेद यह कहते हुए किया है कि जहाँ उपमानोपमेय में से एक के धर्म का दूसरे में आरोप हो वहाँ पदार्थनिदर्शना तथा जहाँ दोनों के धर्मों में से एक धर्म का दूसरे पर आरोप हो वहाँ वाक्यार्थनिदर्शना माननी चाहिए।

तीसरी 'संभवद्वस्तुसम्बन्धा' नाम से सर्वस्वकारद्वारा प्रतिपादित निदर्शना को कुवलया-नन्दकार ने 'बोधननिदर्शना' नाम दिया है।

> 'अपरां बोधनं प्राहुः क्रियया सदसदर्थयोः।'

क्रिया के द्वारा अच्छे या बुरे अर्थ का बोधन तीसरी निदर्शना। उदाहरण के रूप में अन्य उदाहरणों के अतिरिक्त 'चूडामणिपदे०' पद्य भी दिया है। इसके स्पष्टीकरण में उन्होंने लिखा है—

'बोधयन् गृहमेधिन' इत्यादौ हि 'कारीषोऽग्निरध्यापयती'तिवद् समर्थाचरणे णिच् प्रयोगः। ततश्च यथा कारीषोऽग्निः शीतापनयनेन बटून् अध्ययनसमर्थान् करोति एवं वर्ण्यमानः पर्वतः स्वयमुपमानभावेन गृहमेधिन उक्तबोधनसमर्थान् कर्तुं क्षमते।'

—'बोधयन्' = बतलाता हुआ इत्यादि स्थलों में 'णिच्' = प्रयोजक प्रत्यय का प्रयोग ठीक उसी प्रकार समर्थाचरण अर्थ में है जिस प्रकार 'कण्डों की आग पढ़वा रही है' इत्यादि प्रयोगों में। जैसे कण्डे की आग ठंड दूर कर बटुओं को अध्ययनसमर्थ बनाती है वैसे ही पर्वत स्वयं उपमान बनकर गृहस्थों को आतिथ्य के उक्त बोध में समर्थ करने में सक्षम है।

चन्द्रिकाकार ने समर्थाचरण का अर्थ 'समर्थ करना' किया है जैसा कि पीछे बतलाया जा चुका है।

अप्पय्यदीक्षित ने 'सम्भवद्वस्तुसंबन्ध' और 'असम्भवद्वस्तुसंबन्ध' नामों से निदर्शना का वर्गीकरण नहीं किया। केवल अन्त में अन्यों के नाम से इनका निर्देशमात्र कर दिया है।

पण्डितराज जगन्नाथ—

सामान्य = 'बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्नयोरुपात्तयोरर्थयोराभेद औपम्यपर्यवसायी निदर्शना।'

विशिष्ट (१) व्यवहारद्वयवद्धर्म्यभेदप्रतिपादनाक्षिप्तो व्यवहारद्वयाभेदो वाक्यार्थनिदर्शना। [ललितालंकारप्रकरणे]।

(२) उपमानोपमेयधर्मयोरभेदाध्यवसायमूल उपमेय उपमानधर्मसम्बन्धः पदार्थनिदर्शना। [ललितालंकारप्रकरणे]

—'बिम्बप्रतिबिम्बभाव से रहित और शब्दतः कथित अर्थों का सादृश्य में पर्यवसित होने वाला अभेद निदर्शना कहलाता है।' अत्रापि—

—'दो व्यवहारों से युक्त दो व्यवहारियों का अभेद बतलाने से व्यवहारों का जो अभेद फलित होता है वह वाक्यार्थनिदर्शना कहलाता है' और—

—'उपमान तथा उपमेय के धर्मों के अभेदाध्यवसाय के आधार पर उपमेय में उपमान के धर्म का सम्बन्ध पदार्थ निदर्शना।'

इससे स्पष्ट है कि पण्डितराज ने उपमान में उपमेय के धर्म का संबन्ध स्वीकार नहीं किया है फलतः उनके मत में 'वियोगे गौड०' पद्य में सर्वस्वकारद्वारा दर्शित यह प्रकार अमान्य है।

पण्डितराज ने अलंकारसर्वस्वकार के निदर्शनालक्षण को अपर्याप्त ठहराते हुए कहा है कि वह रूपक तथा अतिशयोक्ति में भी लागू हो जाता है। 'मुख चन्द्र है' इत्यादि रूपक में औपम्य गम्यमान है ही और मुख को केवल 'चन्द्र' कहने से निश्चय अतिशयोक्ति में भी दोनों का उपमानोपमेयभाव गम्य रहता है। स्वयं पण्डितराज ने 'उपात्तत्व' तथा आर्थत्व का निवेशकर अतिशयोक्ति तथा रूपक से इसे पृथक् करने का प्रयत्न किया है। अतिशयोक्ति में विषय उपात्त नहीं रहता जबकि निदर्शना में रहता है। पदार्थनिदर्शना में भी वे एक 'शोभा' आदि शब्द का उपमान तथा उपमेय दोनों की शोभा का वाचक मानते हैं क्योंकि 'शोभात्व' धर्म उन दोनों में एक ही रहता है। रूपक में दोनों ही अर्थ उपात्त रहते हैं और अभेद भी रहता है किन्तु वह अभेद वाक्यार्थ की प्राथमिक प्रतीति में ही भासित हो जाता है जब कि निदर्शना में पहले दोनों वाक्यों अथवा पदों से अपने स्वतन्त्र अर्थ निकलते हैं, फिर असम्बद्धता हटाने के लिए उन में अभेद

लाया जाता है अतः वह बाद में प्रतीत होता है। रूपक और अतिशयोक्ति से निदर्शना का दूसरा भेदक अभेदगत अन्य वैशिष्ट्य भी है। रूपक तथा अतिशयोक्ति में उपमान का अभेद उपमेय में प्रतीत होता है जब कि निदर्शना में किसी एक का किसी दूसरे में अर्थात् दोनों का परस्पर में अभेद।

—'किं चास्याः शरीरं तादृशपदार्थयोः परस्पराभेदमात्रम् उभयत्र विश्रान्तम्, रूपकस्य तु उपमेयगत उपमानाभेदः अतिशयोक्तेश्च।' [नि० सं० पृ० ४६०]

विश्वेश्वर पण्डित ने निदर्शना का विवेचन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट किया है—

[का०] उपमापर्यवसन्नो यत्रार्थोऽन्योन्यमन्वयानर्हः।

यच्च क्रियया कारणकार्यान्वयधीर्निदर्शना सोक्ता ॥

[वृ०] (१) यत्र पदार्थयोर्वाक्यार्थयोर्वा अन्योन्यमेकवाक्यतयान्वयबोधाजनकयोरुपमानो-पमेयभावं कल्पयित्वैवान्वयबोधपर्यवसानं सा निदर्शना।

(२) यत्र च कार्यकारणयोः क्रियया हेतुहेतुमद्भावे प्रतिपादिते उत्तरवाक्यार्थः पूर्ववाक्यार्थं प्रतिपाद्य सामान्यकार्यकारणभावे दृष्टान्ततया पर्यवस्यति सा द्वितीया निदर्शना।

—जहाँ परस्पर में अर्थ परस्पर में अन्वययोग्य न होने से उपमानोपमेय रूप ठहरते हैं वह, और जहाँ क्रिया द्वारा कारण तथा उसके कार्य का सम्बन्ध ज्ञात हो वह निदर्शना। प्रथम निदर्शना का स्पष्ट रूप होगा—

—जहाँ विभिन्न पदार्थ या विभिन्न वाक्यार्थ अपने आप अपना बोध परस्पर में मिश्रित रूप से न करा रहे हों फलतः जहाँ उनका वैसा ज्ञान उनमें उपमानोपमेयभाव की कल्पना करने से बन पाता हो वह एक प्रकार की निदर्शना होगी।

—द्वितीय निदर्शना वह होगी जिसमें पूर्ववाक्यार्थ में क्रिया द्वारा प्रतिपादित सामान्य कार्यकारणभाव के लिए उत्तरवाक्यार्थ [में प्रतिपादित कोई विशिष्ट कार्यकारणभाव] दृष्टान्त बने।

द्वितीय निदर्शना के उदाहरण के रूप में इन्होंने मम्मटभट्ट द्वारा प्रदत्त और—

'उन्नतं पदमवाप्य यो लघुर्हेलयैव स पतेदिति ध्रुवम्।

शैलशेखरगतो दृषत्कणश्चारुमारुतधुतः पतत्यधः ॥'

—जो क्षुद्र हो और उन्नत पद पा जाय तो यह निश्चित है कि वह गिरता ही है।

पर्वत की चोटी पर रखी कंकरी हवा के हल्के झोंके से भी नीचे आ पड़ती है।

विश्वेश्वर ने इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

'अत्र लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तित्वं कारणतावच्छेदकम्। पतनं कार्यतावच्छेदकम्' इति कार्यकारणभावः पूर्वार्धप्रतिपाद्यः। तत्र दृष्टान्ततयोत्तरार्धोपादानम्। तेन 'लाघवे सत्युन्नतपदप्राप्तिः पातहेतुः, यथा दृषत्कणस्येति दृष्टान्तपर्यवसानान्निदर्शनात्वम्।'

—इस पद्यार्थ में 'जो जो क्षुद्र होते हुए उन्नत पद पाता है वह प्रत्येक गिरता है' इस प्रकार पूर्वार्द्ध के द्वारा 'क्षुद्रता के साथ उन्नत पद की प्राप्ति' कारण रूप से प्रस्तुत की गई है और 'पतन' कार्यरूप से। इस कार्यकारणभाव में उत्तरार्ध का वाक्यार्थ दृष्टान्तरूप से प्रस्तुत किया गया है। इसलिए पूर्ववाक्यार्थ-'क्षुद्रता के साथ उन्नत पद की प्राप्ति पतन का कारण होती है जैसे दृषत्कण = कंकरी की'-[क्षुद्रता के साथ उन्नत पद की प्राप्ति] इस प्रकार दृष्टान्त में परिणत होता है अतः यहाँ निदर्शना है।

मम्मट ने इस पद्य में 'ध्रुवम्' के स्थान पर 'बुवन्' पाठ माना था, जो पूर्व आचार्यों की परम्परा की रक्षा के लिए आवश्यक था। वामनाचार्य ने क्रिया के द्वारा कार्यकारणभाव के 'ख्यापन' को आवश्यक बतलाया था। मम्मट ने भी उस 'ख्यापन' के लिए अपने लक्षण में

'उक्ति' शब्द दिया है। इसी प्रकार प्राचीन आचार्यों के 'अन्वय'-शब्द को भी उन्होंने अपनाया है। 'भुवन्' पाठ होने पर पतन क्रिया का कर्ता दृषत्कण 'क्षुद्रता के साथ उन्नतपदप्राप्ति पतनकारक होती है' यह तथ्य कहता हुआ चित्रित होता है अतः वहाँ स्थापन की अभिसन्धि पूर्ण होती है। पण्डितराज यहाँ 'भवन्' पाठ है ऐसा भ्रमवश समझ बैठे हैं। 'भुवन्' पाठ होने पर जड दृषत्कण में पूर्वोक्त 'समर्थाचरण' की कठिनाई उपस्थित होती। धारणामात्र पर हुए इस गंभीर पाठभेद पर विश्वेश्वर पण्डित और रसगंगाधर के नागेश, मञ्जुनाथ तथा पुरुषोत्तमशर्मा-इन टीकाकारों का भी ध्यान नहीं गया है। आश्चर्य की बात यह है कुवलयानन्द में 'भुवन्' पाठ ही है और उसका अर्थ 'बोधयन्' भी किया गया है। पण्डितराज का उधर भी ध्यान नहीं है। अथवा उन्होंने यह पाठ अपनी ओर से स्वयं गढ़ लिया होगा। निदर्शना का अर्थान्तरन्यास से भेद समर्थ्यसमर्थक वाक्यार्थों के धर्म में रहने वाले अभेद और भेद को लेकर होता है। निदर्शना में अभेद रहता है और अर्थान्तरन्यास में भेद। इसी तथ्य को विश्वेश्वर ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—'समर्थनीयवाक्यार्थप्रतिपादककार्यकारणभावान्तर्गतकार्यतावच्छेदककारणतावच्छेदकधर्मयोः समर्थकवाक्यान्तर्गतकार्यकारणभावघटककार्यतावच्छेदककारणतावच्छेदकधर्माभिन्नत्वे निदर्शना, भेदे त्वर्थान्तरन्यासः।'

निदर्शना का दृष्टान्त से भेद है इनके वाक्यार्थों में स्वसिद्धि के लिए अन्योन्यनिरपेक्षता तथा सापेक्षता को लेकर। दृष्टान्त में पूर्ववाक्यार्थ उत्तर वाक्यार्थ के बिना भी सिद्ध रहता है जबकि निदर्शना में पूर्ववाक्यार्थ अपनी सिद्धि के लिए उत्तर वाक्यार्थ की अपेक्षा रखता है। विश्वेश्वर पण्डित ने इसे भी इस प्रकार स्पष्ट किया है 'पूर्ववाक्यार्थप्रतिपादककार्यकारणभावे उत्तरवाक्यार्थप्रतिपादककार्यकारणभावस्य यत्र ग्राहकत्वं तत्र निदर्शना। 'त्वयि दृष्ट' इत्यादौ [दृष्टान्तस्थले] तु उत्तरार्धीयकार्यकारणभावो न पूर्वार्धीयकार्यकारणभावस्य आहत्य ग्राहकः।' [निदर्शना प्रकरण]। इसी प्रकार—

(२) यत्र पूर्वकार्यकारणभावे साक्षादेवोत्तरकार्यकारणभावोऽनुकूलस्तत्र निदर्शना, यत्र तु पूर्वकार्यकारणभावग्राहक एवोत्तरकार्यकारणभावोऽनुकूलस्तत्र दृष्टान्तः।' [निदर्शनाप्रकरण]।

सञ्जीविनीकार विद्याचक्रवर्ती ने इस अलंकार पर हुए अलंकारसर्वस्वकार के विवेचन को इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

> 'सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽवबोधयेत्।
> प्रतिबिम्बं यदि तदा निर्दोषाख्या निदर्शना॥
> बिम्बानुबिम्बार्थतया वाक्ययोः प्रकृतान्ययोः।
> स्यान्नैरपेक्ष्ये दृष्टान्तः सापेक्षत्वे निदर्शना॥'

—सम्भव अथवा असम्भव वस्तुसम्बन्ध यदि प्रतिबिम्ब का बोधन कराए तो निदर्शना होता है।

—प्रकृत और अप्रकृत वाक्य में बिम्बप्रतिबिम्बता हो और दोनों निरपेक्ष हों तो दृष्टान्त, किन्तु यदि सापेक्ष हों तो निदर्शना।

वस्तुतः निदर्शना और दृष्टान्त दोनों का भेदक तत्त्व साधारण धर्म का बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। दृष्टान्त में चमत्कार का अस्तित्व उसी पर निर्भर रहता है जब कि निदर्शना में असम्बद्ध वाक्यार्थों के आर्थ उपमानोपमेयभाव में। अर्थ यह कि निदर्शना में चमत्कृति फलाश्रित है और दृष्टान्त में कलाश्रित।

ललितालङ्कार—

अप्पय्यदीक्षित ने कुवलयानन्द में ललितालङ्कार नामक एक नवीन अलंकार की उद्भावना की है। इसका लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिया है—'वर्ण्ये स्याद् वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्

ललितम् ।'—अर्थात् वर्णनीय = प्रस्तुत पदार्थ के वृत्तान्त = धर्म का वर्णन न कर उस वृत्तान्त के प्रतिबिम्बभूत किसी वृत्तान्त का वर्णन करना ललित कहलाता है। अलंकारकौस्तुभ में यही लक्षण इस प्रकार उद्धृत है—'प्रस्तुते वर्ण्यवृत्तान्ते प्रतिबिम्बस्य वर्णनम् ।' अधिक उपयुक्त यही पाठ है। उदाहरण दिया है—'निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति'—'पानी निकल जाने पर यह बाँध बनाना चाह रही है।' यह किसी एक ऐसी सखी के प्रति किसी सखी की उक्ति है जिसका प्रिय आकर लौट गया हो और उसके बाद वह उसे पाने का यत्न कर रही हो। इस उक्ति में नायिका के व्यापार का नहीं अपितु उस जैसे गत-जल-सेतु-बन्धरूपी व्यापार का वर्णन है। यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं है क्योंकि इसमें प्रस्तुत पदार्थ = नायिका का ही वर्णन है। समासोक्ति भी नहीं क्योंकि उसमें प्रस्तुत व्यवहार ही कथित होता है। निदर्शना भी नहीं मानी जा सकती क्योंकि उसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के धर्म शब्दतः कथित रहते हैं और उनमें ऐक्य फलित होता है। इस प्रकार मम्मट का 'क सूर्यप्रभवो०' यह निदर्शना का उदाहरण ललित का उदाहरण सिद्ध होता है, क्योंकि इसमें 'मैं तुच्छ मति से सूर्यवंश का वर्णन करना चाहता हूँ'। इस प्रस्तुतवृत्तान्त का उल्लेख नहीं है। उल्लेख केवल उस जैसे 'डोंगे से समुद्र को पार कराने' का है।

अप्पयदीक्षित के अनुकरण पर पण्डितराज जगन्नाथ ने भी ललितालंकार का लक्षण इस प्रकार किया है—'प्रकृतधर्मिणि प्रकृतव्यवहारानुल्लेखेन निरूप्यमाणोऽप्रकृतव्यवहारसंबन्धो ललितालंकारः ।

—प्रकृत धर्मी में प्रकृत व्यवहार का उल्लेख न कर उसमें अप्रकृत व्यवहार के संबन्ध का निरूपण ललित अलंकार'।

यह सत्य है कि ललित के स्थलों में निदर्शना के स्थलों के समान प्रकृत व्यवहार का उल्लेख नहीं रहता तथापि उपमा में जैसे लुप्तोपमा वर्ग के अन्तर्गत किसी किसी धर्म का अभाव रहता है तब भी उसे उपमा से भिन्न नहीं कहा जाता क्योंकि वहाँ सब भेदों में चमत्कार का एक ही कारण रहता है सादृश्य, वैसे ही प्रकृत धर्म के रहने और न रहने दोनों स्थलों में चमत्कार यदि असंबद्ध अर्थों के सादृश्य पर्यवसान में है तो अलंकार भी एक ही मानना होगा निदर्शना या ललित। निदर्शना पूर्वाचार्यों को मान्य है अतः ललित का ही उसमें अन्तर्भाव करना उचित है। इसी अभिप्राय से विश्वेश्वर पण्डित ने ललित का निदर्शनाप्रकरण में खण्डन किया है। स्वयं पण्डितराज ने भी ललित के प्रकरण में ललित को न मानने वालों की ओर से भी तर्क प्रस्तुत कर उसका निदर्शना में अन्तर्भाव दिखलाया है।

[सर्वस्व]

[सू० २९] भेदप्राधान्ये उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः ।

अधुना भेदप्राधान्येनालंकारकथनम् । भेदो वैलक्षण्यम् । स च द्विधा भवति, उपमानादुपमेयस्याधिकगुणत्वे विपर्यये वा भावात् । विपर्ययो न्यूनगुणत्वम् ।

[सूत्र २९] [सादृश्य में] प्रधानता भेद की हो और यदि उपमान की अपेक्षा उपमेय में [गुणों की] अधिकता अथवा न्यूनता प्रतिपादित हो तो [अलंकार] व्यतिरेक [कहलाता है]।

[वृ०] अब भेद की प्रधानता वाले अलङ्कारों का निर्वचन हो रहा है। भेद का अर्थ है विलक्षणता = भिन्नता। और यह दो प्रकार का होता है उपमान की अपेक्षा उपमेय में गुणों की अधिकता होने से अथवा इसके विपरीत। विपरीतता यानी गुणों की कमी।

विमर्शिनी

भेदप्राधान्य इत्यादि। अधुनेति प्रस्तावसरम्। भेदस्य चात्र प्राधान्यादभेदस्य वस्तुतः सद्भावः। सादृश्य एव पर्यवसानात्। अत एव सादृश्यव्यतिरेकेण संभवन्नपि भेदो नास्य विषयः। यथा—

'दिव्योत्तरीयभृति कौस्तुभरत्नभाजि देवे परे दधतु लुब्धधियोऽनुबन्धम्।
रूपं दिगम्बरमखण्डनृमुण्डचूडं भावत्कमेव ॥ यतेश मम स्पृहायै ॥'

अत्र वैष्णवेभ्यः स्वात्मनि विष्णोर्वा परमेश्वरे भेदमात्रं विवक्षितं न तु केनापि कस्यचिद्वैलक्षण्यम्। ॥ इति भेदः। तस्याधिक्यविपर्ययाभ्यां वैविध्याद्व्यतिरेकोऽपि द्विविधः। तदाश्रयत्वादस्य।

भेदप्राधान्य इत्यादि। अधुना = अब अर्थात् अभेदप्रधान अलंकारों का निरूपण हो जाने पर भेदप्रधान अलंकारों का अवसर आने पर। भेद की प्रधानता का अर्थ यह कि यहाँ [अप्रधान रूप से] अभेद भी रहता ही है क्योंकि इस अलंकार का पर्यवसान सादृश्य में हो जाता है। इसीलिए जहाँ भेद सादृश्यमूलक नहीं होता वहाँ यह अलंकार नहीं माना जाता। जैसे इस पद्यार्थ में—

'हे भगवन् [शिव] जिन्हें कुछ चाहिए वे उस देवता के पीछे पड़ें जो दिव्य उत्तरीय [पीताम्बर] धारण किए हुए है और कौस्तुभमणि से अलंकृत है, क्योंकि वह भी उत्कृष्ट है। मुझे तो केवल आप के ही इस दिगम्बर [विवस्त्र, नग्न] और सिर पर अखण्डित नरकपाल से सुशोभित रूप की स्पृहा है।'

—यहाँ शिव भक्त में विष्णु भक्त से अथवा भगवान् शिव में विष्णु भगवान् से भेद मात्र बतलाया जाना अभीष्ट है। किसी का किसी से सादृश्य नहीं।

स = वह = भेद।

[सर्वस्व]

क्रमेणोदाहरणम्—

'दिदृक्षवः पक्ष्मलताविलासमक्ष्णां सहस्रस्य मनोहरं ते।
वापीषु नीलोत्पलिनी-विकासरम्यासु नन्दन्ति न षट्पदौघाः ॥'

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयो विवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि यौवनमनिवर्ति यातं तु ॥'

अत्र विकस्वरनीलोत्पलिन्यपेक्षया अक्षिसहस्रस्य पक्ष्मलतया अधिकगुणत्वम्। चन्द्रापेक्षया च यौवनस्य न्यूनगुणत्वम्। शशिवैलक्षण्येन तस्यापुनरागमात्।

क्रम से एक एक का उदाहरण—[उपमान से उपमेय में गुणाधिक्य का—] भौंरे आप के सहस्र नेत्रों की पक्ष्मलता की छवि देखना चाहते हैं, अतः वे नीले कमलों के विकास से रम्य बावड़ियों में नहीं रमते।' [उपमान से उपमेय में न्यूनगुणता का—]

'चन्द्रमा, सचमुच, घट घट कर फिर भी बढ़ जाता है, परन्तु सुन्दरि, मान जा, अधिक न रूठ, यह यौवन है, बीत गया तो फिर नहीं लौटने का।'

—इन [दोनों उदाहरणों में से प्रथम] में खिले नील कमल की अपेक्षा नेत्रों में 'पक्ष्मलता' रूपी गुण को लेकर अधिकता है [द्वितीय में] चन्द्र की अपेक्षा यौवन में न्यूनगुणता है क्योंकि उसमें पुनः न लौटना बतलाया गया है, जो चन्द्रमा में नहीं रहता।

विमर्शिनी

चन्द्रापेक्षयेति। शशियौवनयोर्हि समानेऽपि गत्वरत्वे शशिनः पुनरागमनमपि संभवति न तु यौवनस्येति ततोऽस्य न्यूनगुणत्वम्।

नन्वत्र विपर्ययमेवेति सूत्रितं भेदान्तरमयुक्तम्। उपमानादुपमेयस्य न्यूनगुणत्वे वास्तवत्वात्, तत्त्वे चालंकारत्वानुपपत्तेः। यौवनस्य चात्रास्थिरत्वे प्रतिपाद्ये चन्द्रापेक्षयाधिकगुणत्वमेव विवक्षितम्। यदेतच्चन्द्रवद्यातं सन्न पुनरायातीति। असदेतत्। यतोऽत्र चन्द्रवद् गतं सद् यौवनं यदि पुनरप्यागच्छेत् तत् प्रियं प्रति चिरमीर्ष्यानुबन्धो युज्येत। कालान्तरेऽपि ह्यस्य तदवलोकनादिना सफलीकारः स्यात्। इदं पुनर्हतयौवनं यातं सत्पुनर्नागच्छतीतीर्ष्याद्यन्तरायपरिहारेण निरन्तरतयैव प्रियेण सह सफलयितव्यमिति खिन्नीर्ष्याम्, त्यज प्रियं प्रति मन्युम्, कुरु प्रसादमित्यस्मिन् प्रियवयस्योपदेशे प्रियं प्रति कोपोपशमाय चन्द्रापेक्षया यौवनस्यापुनरागमनं न्यूनगुणत्वेनैव विवक्षितमिति वाक्यार्थविद एव प्रमाणम्। न चैतद् वास्तवमुपमेयस्य न्यूनगुणत्वम्। तस्यैव सातिशयत्वेन प्रतिपाद्यत्वात्। प्रकृतार्थोपरञ्जकत्वे हि सर्वथा कवेः संरम्भः। तच्चाधिकगुणमुखेन भवतु, इतरथा वा को विशेषः। तस्माद्युक्तमेव विपर्यये वेति सूत्रितम्। प्रत्युत प्रतिकूलत्वं वेति सूत्रितमयुक्तम्। उपमानादुपमेयस्याधिक्ये इत्येतावतैव लक्षणेनास्य व्याप्तत्वात्। यतः 'स्वरेण तस्या अमृतस्रुतेव' इत्यादावन्यपुष्टालापस्य प्रतिकूलत्वोक्तेः कर्णकटुत्वादिना न्यूनत्वावगतेरुपमेयभूताया भगवत्याः संबन्धिनः स्वरस्यामृतस्रुतेवेत्यभिधानादानन्दातिशयदायित्वादेश्चाधिक्यमेवावगम्यत इत्यलं बहुना। अस्यापि सादृश्याश्रयत्वात्सामान्यस्य त्रयी गतिः। तत्रानुगामिता यथा—

> नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वादेकान्तशैत्यात्कदलीविशेषाः।
> लब्ध्वापि लोके परिणाहि रूपं जातास्तदूर्वोरुपमानबाह्याः॥

अत्र परिणाहिरूपत्वस्यानुगामित्वम्। वस्तुप्रतिवस्तुभावे पुनर्ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्—दिदृक्षव इत्यादि। अत्र मनोहरस्वरम्यत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्। पक्ष्मलताविलासविकस्वरयोश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावः।

चन्द्रापेक्षया = चन्द्रमा की अपेक्षा। अर्थ यह कि क्षीण होना या जाना चन्द्रमा और यौवन दोनों का ही स्वभाव है, किन्तु चन्द्रमा का पुनः पुष्ट होना या लौट आना भी संभव रहता है, यौवन में नहीं। इसलिए यौवन में चन्द्रमा की अपेक्षा गुण की कमी है।

[अलंकाररत्नाकरकार ने उपमान की अपेक्षा उपमेय के न्यूनगुणत्व के आधार पर व्यतिरेक मानना असंभव बतलाते हुए कहा है—

> 'उपमानस्यान्यस्मादाधिक्यं हि स्वभावतः सिद्धम्।
> तत्त्वे तेन न युक्तो व्यतिरेकश्चारुताविरहात्॥'

—अर्थात् 'उपमान उपमेय की अपेक्षा अपने आप अधिक गुणशाली होता है अतः उसकी अपेक्षा उपमेय में न्यूनगुणता दिखलाने में कोई चमत्कार नहीं रहता। फलतः वहाँ व्यतिरेक तो हो सकता है, परन्तु व्यतिरेकनामक अलंकार नहीं हो सकता। वहाँ अधिक से अधिक उपमा-

ष्कार ही माना जा सकता है।' इसीलिए अलंकारसर्वस्वकार के 'विपर्यय' को छोड़ अलंकार रत्नाकरकार ने उसके स्थान पर 'प्रतिकूलता' को सूत्र में स्थान दिया है—'उपमेयादन्यस्य न्यूनत्व प्रतिकूलत्व वा व्यतिरेक।' 'क्षीणः क्षीणोऽपि०' पद्य में उन्होंने उपमान से उपमेय की अधिकगुणता ही मानी है न्यूनगुणता नहीं। उनका कहना है कि इस पद्य में न्यूनाधिकभाव की विवक्षा चन्द्र और यौवन में नहीं अपितु उनकी अस्थिरता में है। उपमेय = यौवन की अस्थिरता उपमान = चन्द्र की अस्थिरता से बढ़ी है अत यहाँ उपमेय ही अधिकगुणशाली है। फलतः यह पद्य प्रथम व्यतिरेक का ही उदाहरण है। इस प्रकार रत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के 'विपर्यय'-पक्ष को अमान्य ठहराया है। विमर्शिनीकार इसका खण्डन और सर्वस्वकार के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं] शंका = 'विपर्यय' कहकर सूत्र में जो द्वितीय [उपमान से उपमेय की न्यून-गुणता का] भेद प्रस्तुत किया गया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपमान की अपेक्षा उपमेय में न्यूनगुणता [स्वभाव सिद्ध अर्थात्] वास्तविक ही होती है [कविकल्पित नहीं] अत उपमेय के न्यूनगुण होने से कोई अलंकार सिद्ध नहीं हो सकता। [क्षीण क्षीणोऽपि पद्य में तो] 'यह यौवन चन्द्र के समान चला तो जाता है परन्तु जैसे चन्द्र पुन लौट आता है वैसे लौटता नहीं।' उपमेय = यौवन में ही उपमान = चन्द्र की अपेक्षा अधिकगुणत्व है क्योंकि इस पद्य में प्रतिपाद्य है यौवनगत अस्थिरता ही।

समाधान = यह कथन अमान्य है। क्योंकि यह [प्रिय से रूठी नायिका के प्रति उसकी] प्रियसखी का उपदेश है। इसका उद्देश्य है रूठी सखी के रोष की शान्ति। यह तभी संभव है जब चन्द्र की अपेक्षा यौवन में 'पुनः न लौटना' कमी के रूप में ही प्रतिपाद्य माना जाय। सखी इसी कमी को इस प्रकार प्रतिपादित कर रही है—'चन्द्रमा जैसे जाकर पुनः लौट आता है वैसे ही यदि यौवन भी लौटने वाला होता तो प्रिय के प्रति देर तक रूठे रहना ठीक होता, क्योंकि तब प्रिय को ओर कभी भी देख लिया जाता और इस यौवन को सफल बना लिया जाता। किन्तु यह हत [मुआ] यौवन, ऐसा है कि एक बार निकल जाने पर लौटता ही नहीं, इसलिए प्रिय से एक भी क्षण अलग न होना चाहिए और इसे सफल बना लेना चाहिए, ईर्ष्या आदि सब इसमें विघ्न हैं, इन्हें ताक में रख देना चाहिए। अत' मार इस ईर्ष्या को छोड़ इस प्रियके प्रति अपनाए कोप को और अपना अपने प्रिय को खुशी से।' हमारा यह कथन कहाँ तक संगत है इसे वाक्यार्थवेत्ता ही बतला सकते हैं। इसके अतिरिक्त अस्थिरता को लेकर यह जो उपमेयभूत यौवन में कमी बतलायी गई है वह वास्तविक = लौकिक कमी जैसी भी नहीं है, क्योंकि उसमें अतिशय प्रतिपाद्य है। कवि जो है वह सदा ही प्रकृत पदार्थ को शोभाशाली बनाने में प्रयत्नशील रहता है। वह चाहे किसी प्रकार हो, गुणाधिक्य के प्रतिपादन से या गुणगतन्यूनता के प्रतिपादन से। उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसलिए ग्रन्थकार ने सूत्र में जो 'विपर्यये वा' कहकर उपमान से उपमेय की गुणन्यूनता का जो पक्ष प्रस्तुत किया है वह ठीक ही है। बल्कि [अलंकाररत्नाकरकार ने ही] सूत्र में 'प्रतिकूलत्व वा' इस प्रकार प्रतिकूलता को स्थान दिया है वही अमान्य है। क्योंकि प्रतिकूलता की बात तो सूत्र के 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये' = 'उपमान से उपमेय की अधिकता' इतने ही अंश से गतार्थ हो जाती है और इतना ही लक्षण अलंकाररत्नाकरद्वारा प्रदत्त प्रतिकूलत्व के उदाहरण में भी लागू हो जाता है, क्योंकि प्रतिकूलता के लिए अलंकाररत्नाकरकार ने जो—

'स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितन्त्रीरिव ताड्यमाना ॥

कुमार स०।

—'भगवती पार्वती की वाणी अत्यन्त अभिजात थी और स्वर अमृत-सा बरसाता था। वे जब कभी बोलती थीं तो कोयल की कूक श्रोता को वीणा के विरुद्ध तार की झनकार प्रतीत होती थी।' [कु. १।४५]

—यह उदाहरण दिया है [और कहा है कि 'यहाँ केवल यह प्रतीति होती है कि कोयल का स्वर पार्वती जी के स्वर के प्रतिकूल है। फलतः यहाँ उपमेय उपमान के केवल विरुद्ध है, उससे न्यूनगुण नहीं', किन्तु] इसमें कोयल की बोली को प्रतिकूल कहने से उसमें कर्णकटुत्व की प्रतीति होती है और इस प्रकार उसमें उपमेय पार्वतीस्वर की अपेक्षा न्यूनगुणता की प्रतीति होती है, इसी प्रकार उपमेयभूत जो भगवती पार्वती जी हैं उनके स्वर को अमृतस्रावी-सा कहने से उसमें अत्यन्त आनन्ददायित्व आदि अधिक गुणों की प्रतीति होती है। फलतः यहाँ भी उपमेय में उपमान की अपेक्षा गुणाधिक्य ही प्रतीत होता है। इस विषय में और अधिक क्या कहें इतना ही पर्याप्त है।

यह [व्यतिरेक] भी सादृश्य पर आश्रित अलंकार है। अतः इसमें भी धर्म = साधारणधर्म तीन प्रकार का रहता है। तीनों में से अनुगामी साधारणधर्म का उदाहरण होगा—[अलंकाररत्नाकरकार द्वारा उद्धृत कुमारसम्भव का 'नागेन्द्रहस्ता०' इत्यादि पद्य का यह अर्थ—]

—'हाथी की सूँड़ की चमड़ी कठोर होती है और कदलीस्तम्भ एकदम शीतल होते हैं। इस कारण ये दोनों संसार में पर्याप्त प्रसिद्ध और सुन्दर आकार पाकर भी पार्वती के करुद्वय के उपमान नहीं हो सके।' [कु० १।३६]

—यहाँ 'आकार की सुन्दरता या प्रसिद्धि' [उपमान तथा उपमेय दोनों में समानरूप से अन्वित होने वाला धर्म है अतः] अनुगामी धर्म है। वस्तुप्रतिवस्तुभाव से युक्त साधारण धर्म का उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार का ही 'दिङ्क्षणः' यह उदाहरण है। यहाँ मनोहरत्व और रम्यत्व शुद्ध सामान्यरूप हैं अर्थात् वस्तुतः ये दोनों एक हैं, केवल शब्दों में भेद है। इसी पद्य में जो पक्ष्मलता विलास और विकस्वरता = विकास हैं इनमें बिम्बप्रतिबिम्बभाव [भिन्न होने पर भी सादृश्य] मूलक अभेद है।

विमर्श—व्यतिरेक का पूर्व इतिहास—

भामह—उपमानवतोऽर्थस्य यद् विशेषनिदर्शनम्।
व्यतिरेकं तमिच्छन्ति विशेषापादनाद् यथा ॥ २।७५ ॥
सितासिते पक्ष्मवती नेत्रे ते ताम्रराजिनी।
एकान्तशुभ्रश्यामे तु पुण्डरीकासितोत्पले ॥ २।७६ ॥

—उपमान के साथ उपमेय का उल्लेख हो और उसमें उपमान की अपेक्षा वैशिष्ट्य दिखलाया जाए उसे व्यतिरेक कहते हैं क्योंकि इसमें वैशिष्ट्य का संपादन किया जाता है। यथा—

—तुम्हारे नेत्र श्वेत भी हैं और श्याम भी, इनमें पक्ष्म भी हैं और ताम्रवर्ण की रेखाएँ भी [इस प्रकार ये श्वेत, श्याम और रक्त इन तीनों रंगों से शबलित हैं जबकि] पुण्डरीक [सफेद कमल] केवल श्वेत ही होता है और नीलोत्पल केवल नील। स्पष्ट ही यहां उपमानभूत श्वेत कमल और नीलोत्पल की अपेक्षा, उपमेयभूत नेत्र में अधिक रंगों और उनसे जनित अधिक वैचित्र्य का प्रतिपादन है। इस प्रकार भामह केवल एक ही प्रकार का व्यतिरेक मानते हैं जिसमें उपमान से उपमेय का आधिक्य रहता है।

वामन = [सू०] उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं व्यतिरेकः। ४।३।२२।

[वृ०] उपमेयस्य गुणातिरेकित्वं गुणाधिक्यं यद्, अर्थाद् उपमानाद् स व्यतिरेकः।

—'उपमेय' के गुणों का अतिरेक व्यतिरेक।' उपमेय के गुणों का जो अतिरेक अर्थात् आधिक्य अर्थात् उपमान की अपेक्षा वही व्यतिरेक।' [स्पष्ट ही भामह ने व्यतिरेक शब्द के 'वि' उपसर्ग पर ध्यान दिया था और उसकी सार्थकता बतलाई थी जब कि वामन उसके 'अतिरेक'-शब्द पर ध्यान दे रहे हैं।] उदाहरण :—

'सत्यं हरिणशावाक्ष्याः प्रसन्नसुभगं मुखम्।
समानं शशिनः किन्तु स कलङ्कविडम्बितः॥

—यह सच है कि मृगछौने की आँखों-सी आँखों वाली इस सुन्दरी का मुख प्रसन्न भी है और सुन्दर भी इसलिए यह चन्द्रमा के समान है किन्तु चन्द्रमा कलंक से दूषित है।'

वामन ने व्यतिरेक में उत्कर्षापकर्षहेतु गुणों को प्रतीयमान भी माना है। 'तुम्हारी चतुर और ललित चितवन ने नीलोत्पल का कोई स्थान नहीं रहने दिया' = 'चतुरललितैस्तवार्धविलोकितैः कुवलयवनं प्रत्याख्यातम्'—यहाँ उपमेयभूत चितवन में तो उत्कर्षहेतु गुण चतुरता ललितता हैं, किन्तु उपमान में उनका अस्तित्व शब्दतः कथित नहीं है अतः वहाँ वे गम्य या प्रतीयमान हैं।

वामन ने उपमेय के न्यूनगुणत्व को व्यतिरेकजनक नहीं बतलाया है।

उद्भट ने भी केवल उपमान से उपमेय के गुणाधिक्य में ही व्यतिरेक माना न्यूनगुणता में नहीं। किन्तु उन्होंने व्यतिरेक में वामन के गम्यमान गुण नामक अभिनव भेद को भी अपनाया है और उपमानोपमेयभाव के गम्यत्व तथा वाच्यत्व के आधार पर व्यतिरेक के दो वर्ग बना उनमें श्लिष्ट तथा शुद्ध शब्दों पर आश्रित [उत्कर्षापकर्ष के] निमित्तों के उपादान तथा अनुपादान के अनुच्छेदों द्वारा कुल मिलाकर आठ भेद प्रतिपादित किए हैं। यथा गम्य उपमानोपमेयभाव में :—

(१) अनुपात्तनिमित्तक शुद्ध शब्दमूलक व्यतिरेक—

'तप से कृश पार्वती ने राहु से निपीत प्रभा वाले चन्द्र को जीत रखा था'।

यहाँ उपमेय पार्वती है, उपमान चन्द्र है, साधारण धर्म है 'सुन्दर होने पर भी कारणवश आया फीकापन' जो शब्दतः कथित नहीं है और न उपमावाचक 'इव' आदि ही यहाँ उपलब्ध है। 'जीत'-शब्द से उपमानभूत चन्द्र की अपेक्षा उपमेयभूत पार्वती में उत्कर्ष प्रतिपादित हुआ। इस उत्कर्ष का कारण है पार्वती जी का अधिक कृश होना और इसका कारण है तप में राहु की अपेक्षा अधिक तीक्ष्णता। ये दोनों ही कारण यहाँ शब्दतः कथित नहीं हैं। [illegible] प्रकार यहाँ उपमेय के वैशिष्ट्य के निमित्त अनुपात्त होने से यह व्यतिरेक अनुपात्तनिमित्तक हुआ। श्लेष भी किसी भी शब्द में नहीं है अतः यह व्यतिरेक शुद्धशब्दमूलक हुआ।

(२) उपात्तनिमित्तक शुद्धशब्द मूलक व्यतिरेक

'पार्वती का मुखमण्डल रात्रिंदिव कान्तिमान रहता था अतः वह रात में श्रीविहीन हो जाने वाले पद्म को नीचा दिखला रहा था और दिन में वैसे ही हो जाने वाले चन्द्र को भी।'

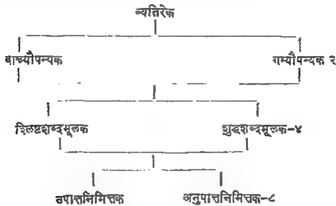
—यहाँ उपमान हैं चन्द्र और पद्म, उपमेय है पार्वतीमुख। साधारण धर्म है कान्तिमत्त्व, वह कथित नहीं है और 'इव' आदि उपमावाचकों का भी यहाँ उपादान नहीं है। 'मुख ने चन्द्र और पद्म को नीचा दिखलाया' इस कथन से मुख का उत्कर्ष और चन्द्र तथा पद्म का अपकर्ष व्यक्त हुआ। उत्कर्ष तथा अपकर्ष के निमित्त भी यहाँ उपात्त हैं। वे हैं मुख में रात्रिंदिव 'कान्तिमान् रहना' और चन्द्र तथा पद्म का 'केवल रात्रि या केवल दिन में।' शब्द सभी श्लेषरहित हैं। इसलिए यह उपात्त निमित्तक, शुद्धशब्दमूलक व्यतिरेक हुआ।

इन दोनों ही उदाहरणों में उपमा के वाचक 'इव' आदि शब्दों का अभाव है अतः ये दोनों भेद गम्यौपम्य वर्ग के हुए। यदि इन्हीं में इवादि का प्रयोग कर दिया जाय तो ये ही वाच्यौपम्य वर्ग में आ सकते हैं। यद्यपि उद्भट ने उनके उदाहरण पृथक् दिए हैं। इस प्रकार चार भेद शुद्ध-शब्दमूलक गम्य-औपम्य वर्ग के हुए। इन्हीं में यदि श्लेष का उपयोग कर दिया जाए तो ये ही चार श्लेषमूलक हो सकते हैं। श्लेषमूलक व्यतिरेक वाले मम्मट ने भी माना है, किन्तु उद्भट के समान नहीं। उद्भट ने व्यतिरेक में एक ही द्व्यर्थक शब्द का उपमान तथा उपमेय दोनों के साथ दो बार पृथक्-पृथक् प्रयोग करना आवश्यक माना है। उदाहरण दिया है संस्कृत के 'तपस्' शब्द को लेकर। तपस् का एक तो तपश्चर्या अर्थ प्रसिद्ध है दूसरा अर्थ माघमास भी है। माघ शिशिर ऋतु का महीना होता है। उद्भट ने अपने स्वनिर्मित कुमारसंभव में इस शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा—

'या शैशिरी श्रीस्तपसा मासेनैकेन विश्रुता।
तपसा तां सुदीर्घेण दूराद् विदधतीमधः॥

—'शिशिर की जो श्री केवल एक महिने के तप से प्रसिद्ध थी उसे जगदम्बा पार्वती अपने सुदीर्घ अनेक वर्षव्यापी तप से बहुत ही निम्न सिद्ध कर रही थीं।'—इस पद्य में 'तपः'-शब्द की योजना द्वारा व्यतिरेक साधा गया है अतः वह श्लिष्टशब्दमूलक है।

इन आठों भेदों का वृक्ष इस प्रकार बनाया जा सकता है।



यहां ध्यान देने की बात यह है कि वामन ने निमित्त के अनुपादान में मम्मट के समान तीन भेद न मानकर केवल एक भेद माना है। मम्मट ने (१) उपमानापकर्षनिमित्तानुपादान, (२) उपमेयोत्कर्षनिमित्तानुपादान तथा (३) 'उभयानुपादान' इस प्रकार निमित्तानुपादान के तीन भेद किए हैं। निमित्त के उपादान का अर्थ दोनों में एक ही है अर्थात् उपमानापकर्ष तथा उपमेयोत्कर्ष इन दोनों के दोनों निमित्तों का उपादान।

उद्भट का मूलविवेचन इस प्रकार है—

'विशेषापादनं यत् स्यादुपमानोपमेययोः।
निमित्तादृष्टिदृष्टिभ्यां व्यतिरेको द्विधा तु सः॥
यो वैधर्म्येण दृष्टान्तो यथेवादिसमन्वितः।
व्यतिरेकोऽत्र सोऽभीष्टो विशेषापादनान्वयात्॥
श्लिष्टोक्तियोग्यशब्दस्य पृथक् पृथगुदाहृतौ।
विशेषापादनं यत् स्याद् व्यतिरेकः स च स्मृतः॥२।७, ८॥

रुद्रट—सर्वस्वकार के व्यतिरेक का आधार वस्तुतः रुद्रट का व्यतिरेक-निरूपण है। रुद्रट ने व्यतिरेक के—

[क]—[१] उपमेय में गुणोक्ति तथा उपमान में दोषोक्ति।
[२] केवल उपमेय में गुणोक्ति तथा
[३] केवल उपमान में दोषोक्ति।
[ख]—[१] उपमेय में दोषोक्ति तथा उपमान में गुणोक्ति।

—इस प्रकार केवल चार भेद माने हैं। दोष गुणों की उक्ति और अनुक्ति रुद्रट की भाषा में निमित्त उपादान और अनुपादान हैं। रुद्रट न रुद्रट से आगे बढ़कर निमित्तानुपादान के दो भेद तो किए किन्तु परवर्ती मम्मट द्वारा लक्षित उभयानुपादान पर उनकी दृष्टि नहीं गई। वाच्यता और गम्यता, शुद्धता या श्लिष्टता पर भी वे ध्यान नहीं देते। उनका मूल विवेचन इस प्रकार है—

(१) यो गुण उपमेये स्यात् तत्प्रतिपन्थी च दोष उपमाने।
व्यस्तसमस्तन्यस्तौ तौ व्यतिरेकं त्रिधा कुरुतः॥
(२) यो गुण उपमाने स्यात् तत्प्रतिपक्षी च दोष उपमेये।
भवतो यत्र समस्तौ स व्यतिरेकोऽयमन्यस्तु॥

—उपमेय में गुण बतलाया जाय और उपमान में उसके विरुद्ध दोष तो अलङ्कार व्यतिरेक होता है। कहीं गुण और दोष दोनों कथित रहते हैं और कहीं दोनों में से कोई एक। इस प्रकार तन्मूलक व्यतिरेक तीन प्रकार का हो जाता है।

—इसके विरुद्ध जब उपमान में गुण बतलाया जाता है और उपमेय में दोष तो वह भी एक व्यतिरेक होता है। [जिसे भामह, वामन और रुद्रट ने छोड़ दिया है]। इसमें विशेषता यह है कि उसमें गुण और दोष दोनों में से केवल किसी एक का उल्लेख नहीं होता। नियमतः दोनों का ही उल्लेख रहता है, अतः इसका एक ही भेद होता है। क्रम से उदाहरण—

(१) तुम्हारी उपमा हर (नायक शिव) से कैसे दी सकती है तुम अभुजग ['भुजगो विटसर्पयो.' के अनुसार भुजग = विट अभुजग = अविट या विटरहित, संयमी] हो [जब कि शिव भुजग = सर्प से युक्त सभुजंग हैं] और समनयन [सबको बराबर मानने वाले] जो हो [जब कि शिव विषमनयन = त्रिनयन हैं]—'अभुजगः समनयनः कथमुपमेयो हरेणासि।'

(२) दोषाकर [दोषा = रात्रि का कर = निर्माता और दोषों का आकर] = चन्द्र तुम्हारा उपमान कैसे बन सकता है। वह तो कलङ्की [काले धब्बे-पृथ्वी की छाया से युक्त] और जड़ [= जल, जलरूप] जो है [जब कि तुम निष्कलंक और चेतन हो]।

—'सकलङ्केन जडेन च साम्यं दोषाकरेण कीदृक् ते।'

(३) तुम्हारे नेत्र तरल हैं और नीलकमल निश्चल। भला इनकी उपमा कैसे हो सकती है। इसी प्रकार तुम्हारा चेहरा विमल है और चन्द्रमा कलंक-मलिन। वह तुम्हारे चेहरे का उपमान कैसे बन सकता है।

—'तरलं लोचनयुगलं कुवलयमचलं किमेतयोः साम्यम्।
विमलं मलिनेन मुखं शशिना कथमेतदुपमेयम्॥'

(४) 'क्षीणः क्षीणोऽपि०'।

मम्मट ने व्यतिरेक के भेदों की संख्या चौबीस तक पहुँचा दी है। उन्हें व्यतिरेक का एक ही पक्ष मान्य है जिसमें उपमेय का उत्कर्ष बतलाया जाता है। उपमेय के अपकर्ष के व्यतिरेक की

संभावना का उन्होंने खण्डन किया है। उनका व्यतिरेकलक्षण इस प्रकार है—

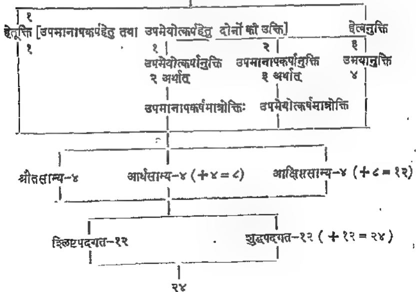
'उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः।'

—अन्यस्योपमेयस्य व्यतिरेक आधिक्यम्।

—'उपमान की अपेक्षा उपमेय का आधिक्यरूप व्यतिरेक ही व्यतिरेकालंकार कहलाता है।' इस लक्षण में मम्मट ने व्यतिरेक शब्द के अंश अतिरेकमात्र पर ध्यान दिया। 'वि' उपसर्ग की पूर्वाचार्य-प्रतिपादित सार्थकता को उन्होंने स्थान नहीं दिया। रुद्रट के उपमेयगत अपकर्ष से संभावित व्यतिरेक पक्ष का खण्डन करते हुए उन्होंने कहा 'क्षीणः क्षीणोऽपि~' "इत्यादि में एक किसी ने उपमेय से उपमान की अधिकता बतलाई है किन्तु वह गलत है, क्योंकि यहाँ यौवन में अस्थैर्य की अधिकता ही बतलाना कवि को अभीष्ट है।" यहाँ मम्मट ने रुद्रट का नाम नहीं लिया इसलिए काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारों ने इस मत को उद्भट और अलंकारसर्वस्वकार का मत बतला दिया है। वामन झलकीकर ने इसे अलंकारसर्वस्वकार का ही बतलाया है जब कि अलंकारसर्वस्वकार मम्मट से बाद के हैं।

भेदों की गणना में मम्मट ने उद्भट की सभी विधाएँ अपना ली हैं केवल प्रतीयमान सादृश्यमूलक भेद के साथ ही उन्होंने आक्षिप्त-सादृश्यमूलक भेद की भी कल्पना कर ली है। इसके अतिरिक्त उन्होंने निमित्त के अनुपादान को केवल एक भेद न मानकर तीन भेदों में विभक्त किया है। उनका भेदक्रम इस प्रकार है—

'हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते।
शब्दार्थाभ्यामथाक्षिप्ते श्लिष्टे तद्वत् त्रिरष्ट तत्॥' अर्थात्—



आक्षिप्तसाम्य का उदाहरण मम्मट ने यह दिया है—

'इयं सुनयना दासीकृततामरसश्रिया।
आननेनाकलङ्केन जयतीन्दुं कलङ्किनम्॥'

—यह सुन्दराक्षी कमलश्री को दासी बना देने वाले अपने अकलङ्क मुख से कलंकी चन्द्र को जीत रही है।' यहाँ 'जयति = जीत रही है' इस कथन से साम्य का आक्षेप होता है। ऐसे उदाहरण उद्भट ने भी दिए हैं किन्तु उन्हें गम्यौपम्य में गिना दिया है। मम्मट ने उसके भी आर्थ तथा आक्षिप्त ये दो भेद कर दिए हैं।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—के व्यतिरेक का निरूपण सामान्यत. पूर्वपक्ष के रूप में विमर्शिनी के अनुवाद में दिया जा चुका है।

अप्पयदीक्षित—ने कुवलयानन्द में व्यतिरेक का विवेचन अति संक्षेप में किया है। उन्होंने उपमेयापकर्ष को भी व्यतिरेक का एक भेद मानकर सर्वस्वकार के ही समान रुद्रट की परम्परा का अनुमोदन किया है। उनका विवेचन इस प्रकार है—'व्यतिरेको विशेषश्चेदुपमानोपमेययो.।

—यदि उपमान तथा उपमेय में से किसी एक की अपेक्षा दूसरे में विशेषता दिखलाई जाए तो व्यतिरेक। स्पष्ट ही यहाँ व्यतिरेक शब्द की व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

उदाहरण—

[१] उपमान से उत्कर्ष का उदाहरण यथा—'शैला इवोन्नता. सन्त किन्तु प्रकृतिकोमला।'
सन्त लोग पर्वतों के समान उन्नत तो होते हैं परन्तु स्वभाव से कोमल रहते हैं।
यहाँ उपमेयभूत सन्त प्रकृतिकोमलता में उपमानभूत कठोर पर्वतों से उत्कृष्ट प्रतिपादित हैं।

[२] उपमेय के अपकर्ष का उदाहरण—'सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृत.'।
—हे अशोक, तुम्हारी और मेरी और सब बातें तो समान हैं, केवल इतना ही अन्तर है कि दैववश तुम अशोक हो और मैं सशोक।

दीक्षित जी के अनुसार यहाँ वक्ता ने अर्थात् उपमानभूत अशोक ने स्वय को शोकाभाव में छोटा प्रतिपादित किया है। ध्वनिकार तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने यहाँ उपमादूरीकरण को तात्पर्यविषयीभूत माना है। जो जँचता है।

(३) अनुभयपर्यवसायी [न तो किसी के अपकर्ष में पर्यवसित होने वाला और न किसी के उत्कर्ष में] यथा—

> 'दृढतरनिबद्धमुष्टेः कोशनिषण्णस्य सहजमलिनस्य।
> कृपणस्य कृपाणस्य च केवलमाकारतो भेद.॥

—कृपण और कृपाण में भेद केवल 'आकार' ['आ' अक्षर तथा आकृति] को लेकर है। वैसे दोनों ही बद्धमुष्टि होते हैं [कृपाण में मुष्टि = मूठ = त्सरु, कृपण में खर्च न करना] दोनों ही कोश स्थित [कोश = म्यान, खजाना] रहते हैं और दोनों ही स्वभावत. मलिन [मलिनता = गंदगी, श्यामता] होते हैं।' यहाँ कृपण और कृपाण में भेदमात्र प्रतिपादित किया गया है किसी का किसी से उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं। व्यक्तिविवेककार ने इस पद्य के वाक्यार्थ पर आपत्ति दी है। उनका तर्क है कि 'आकार' का अर्थ है 'आ' अक्षर। इसे लेकर दोनों अर्थों का अन्तर प्रतिपादित नहीं किया जा सकता किन्तु उन्होंने माना यहाँ व्यतिरेक ही है। यद्यपि इस संदर्भ में ऐकान्तिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उनका व्यतिरेक शब्द अलंकार के लिए ही प्रयुक्त है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी इसे दूषित ठहराया है और इसमें केवल श्लेषमूलक उपमा ही स्वीकार की है। उनका कथन है कि यहाँ केवल दीर्घाक्षर मात्र में अन्तर प्रतिपादित करने का तात्पर्य है सर्वथा साम्य। क्योंकि अक्षरमात्र के अन्तर से अर्थगत कोई वास्तविक अन्तर सिद्ध नहीं होता। उनका कहना ठीक भी है, किन्तु कुवलयानन्द की टीका चन्द्रिका के रचयिता वैद्यनाथ ने

पण्डितराज की इस मीमांसा को अत्यन्त तुच्छ बतलाया है और यहाँ तक कहा है कि 'यह इतनी तुच्छ है कि इसे उद्धृत भी करना अनुचित है।' यह उनकी मूलभक्ति ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ—'उपमानाद् उपमेयस्य गुणविशेषवत्त्वेनोत्कर्षो व्यतिरेकः।'

—उपमान से उपमेय का गुणविशेष के आधार पर उत्कर्ष व्यतिरेक। इस लक्षण के अनुसार पण्डितराज उपमेयापकर्ष से व्यतिरेक की निष्पत्ति स्वीकार नहीं करते। वे उसका खण्डन भी करते हैं। उद्भट की व्यतिरेककारिका में वैधर्म्य शब्द आया है। उससे भ्रम होता है कि कदाचित् व्यतिरेक साधर्म्य के साथ ही वैधर्म्य से भी निष्पन्न होता है। पण्डितराज जगन्नाथ उसका स्पष्टीकरण कर देते हैं। वे वैधर्म्य को व्यतिरेकानुभूति में विघ्न प्रतिपादित करते हैं। सच भी है। व्यतिरेकबोध के लिए अपेक्षित साधर्म्य यदि दृष्टान्त आदि जैसे वैधर्म्य द्वारा प्रस्तुत हो तो काव्य पहेली बन जाएगा। आक्षिप्त अथवा आर्थ सादृश्य में मानस बोध सीधे सादृश्य से टकराता है, जब कि वैधर्म्य में सादृश्य के अभाव से। इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक बोध की भूमिका तिमँजली बन बैठती है। उद्भट के वैधर्म्य शब्द का अर्थ विपरीत धर्म नहीं, 'भिन्न धर्म' है, और इस अर्थ में स्वयं पण्डितराज ने भी वैधर्म्य शब्द का प्रयोग इस प्रकरण में किया है। पण्डितराज ने व्यतिरेक शब्द के दोनों अवयवों पर भी ध्यान दिया है—'वि'–उपसर्ग पर भी और 'अतिरेक' शब्द पर भी। 'वि' उपसर्ग को उन्होंने विशेषार्थक मानकर उसका अर्थ गुणविशेष किया तथा अतिरेक का उत्कर्ष। यह केवल इसलिए कि यह शब्द चल चुका है, परम्परागत है। अन्यथा 'अतिरेक'–शब्दमात्र पर्याप्त था। अतिरेक बिना विशेषता के संभव नहीं, अतः विशेषता का अपने आप आक्षेप संभव था।

पण्डितराज ने व्यतिरेक के चौबीस भेद मम्मट के ही अनुसार स्वीकार कर लिए हैं किन्तु श्लेषमूलक व्यतिरेक में कहीं उभयानुपादान को असंभव प्रतिपादित किया है। यथा—

'भवान् सहस्रैः समुपास्यमानः कथं समानस्त्रिदशाधिपेन'।

—'आपकी तुलना इन्द्र से कैसे की जा सकती है। आप की सेवा सहस्रों करते हैं अतः आप सहस्राधिप हैं जब कि इन्द्र केवल त्रिदशाधिप।' यहाँ 'त्रिदशाधिप' शब्द के दो अर्थ हैं (१) त्रिदश = देवता तथा (२) तीन गुणा दश तीस अथवा तीन और दश = तेरह। इस प्रकार व्यतिरेकी अर्थ यह निकला कि जो त्रिदशाधिप अर्थात् केवल तीस अथवा तेरह का स्वामी है वह सहस्रों के स्वामी का उपमान कैसे बन सकता है। यहाँ यदि त्रिदशाधिपत्व तथा सहस्राधिपत्व ये विभिन्न धर्म हटा दिए जाएँ तो वाक्यार्थ ही निष्पन्न नहीं होगा, क्योंकि व्यतिरेकसिद्धि तो दूर की वस्तु है 'इन्द्र से राजा की तुलना अनुचित है' यह स्थापना निर्मूल रही आएगी। पण्डितराज के इस तर्क को नागेश ने भी प्रदीपोद्योत में स्वीकार किया है। किन्तु यह तर्क वहीं तक सीमित है जहाँ श्लेष व्यतिरेकसाधक विशेषणों में ही हो। श्लेष जहाँ केवल साम्यसाधक विशेषणों में रहता है और व्यतिरेक की सिद्धि अन्य विशेषणों से होती है वहाँ तीनों अनुपादान संभव हैं और अलंकारकौस्तुभकार विश्वेश्वर पण्डित ने भी मम्मट के ही समान श्लेष में भी इस प्रकार के तीनों अनुपादानों के यथावत् उदाहरण दिए हैं। आगे अलंकारकौस्तुभकार के प्रकरण में इन्हें देखा जा सकता है। संख्यानियम पर दूसरी बात पण्डितराज ने यह भी कही है कि व्यतिरेक सादृश्यमूलक होता है अतः सादृश्य के जो २५ भेद उपमा में हुए हैं वे सब यहाँ भी संभव हैं जिससे व्यतिरेक की भेदसंख्या बढ़ भी सकती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वस्वकार द्वारा 'क्षीणः क्षीणोऽपि०' पद्य में प्रतिपादित उपमेयापकर्षमूलक व्यतिरेक का मम्मट तथा शोभाकर के ही तर्कों में खण्डन किया है। विशेषता यह है कि

उन्होंने विमर्शिनीकार द्वारा किए गए इसके मण्डन का अक्षरशः अनुवाद किया और उसपर भी निम्नलिखित आपत्तियाँ दी हैं—भले ही यह उक्ति नायिका की हितेच्छु किसी प्रियसखी की हो तब भी इसमें उपमेयभूत यौवन में उपमानभूत चन्द्र की अपेक्षा गुणाधिक्य ही विवक्षित है, गुणरव नहीं। इससे विवक्षितार्थ की पुष्टि अधिक होती है क्योंकि इस उक्ति से सिद्ध होता है कि चन्द्र पुनः पुनः लौट आता है अतः सुलभ है अतः उसका उतना माहात्म्य नहीं है। यौवन कदापि नहीं लौटता इसलिए दुर्लभ है और इसीलिए वह अधिक उत्कृष्ट है। उसे मान आदि विघ्नभूत कार्यों से असफल नहीं होने देना चाहिए जहाँ कहीं उपमेयगत अपकर्ष भी प्रतिपादित रहता है वहाँ भी वह अपकर्ष वस्तुतः उत्कर्ष में ही परिणत होने वाला होता है। जैसे 'चन्द्र ही भला है जो क्षीण होकर पुनः पुष्ट हो जाता है, इस यौवन को धिक्कार है जो क्षीण होकर पुनः नहीं लौटता।' यहाँ धिक्कार द्वारा मान के प्रति आक्रोश व्यक्त किया गया है और वह आक्रोश यौवन के लाभ के प्रति क्षणभर भी उदासीन न रहने का संकेत देता है।

विश्वेश्वर पण्डित ने अलंकारकौस्तुभ में केवल उपमेयोत्कर्ष में ही व्यतिरेक स्वीकार किया है, उपमेयापकर्ष में नहीं—'उभयोः साम्यप्रोक्तौ विशेष उपमेयगो व्यतिरेकः।'

—दोनों के साम्य प्रतिपादित हों तब यदि उपमेय में वैशिष्ट्य बतलाया जाय तो व्यतिरेक होता है। व्यतिरेक शब्द की व्युत्पत्ति में विश्वेश्वर ने परम्परा को तोड़ दिया है। उन्होंने व्यतिरेक का अर्थ व्यावर्तन = अलगाव किया है—'व्यतिरिच्यते उपमानाद् व्यावर्त्यतेऽनेन उपमेयमिति व्युत्पत्तेः [व्यतिरेकः]' = उपमान से उपमेय जिसके द्वारा हटा लिया जाय।'

व्यतिरेक में 'क्षीणः क्षीण'—पद्य द्वारा प्रथमतः रुद्रट द्वारा प्रतिपादित और प्रथम सर्वस्वकार द्वारा अनुमोदित उपमेयापकर्षजनितत्व का जैसा खण्डन प्रथमतः मम्मट ने किया है और उस खण्डन का पण्डितराज ने जैसा अनुमोदन किया है विश्वेश्वर ने भी उसे उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। वे लिखते हैं—

'न चन्द्रयौवनयोरुपमानोपमेयभावो विवक्षितः, किन्तु चन्द्रयौवनक्षययोरेव, तत्र चन्द्रक्षयस्य वृद्धिप्रागभावसमकालीनत्वेन न्यूनत्वम्, यौवनक्षयस्य चाग्रे तच्छरीरावच्छेदेन यौवनाभावात् समानाधिकरणयौवनप्रागभावसमानकालीनत्वं नास्तीत्याधिक्यम्। एवं च विवक्षितस्य मानत्याग-स्यावश्यकत्वसिद्धिः।'

—यहाँ उपमानोपमेयभाव चन्द्र और यौवन का नहीं अपितु उनके क्षयों का प्रतिपाद्य है। दोनों क्षयों में चन्द्र का क्षय तब तक ही रहता है जब तक चन्द्र की वृद्धि शुरू नहीं होती अतः वह क्षय क्षणिक है अतएव न्यून है, यौवन का क्षय किसी अन्य यौवन के पहले तक रहने वाला नहीं क्योंकि एक शरीर में दूसरा यौवन नहीं आता, इसलिए वह स्थायी है और इसीलिए अधिक है। इस प्रकार मानत्याग की आवश्यकता सिद्ध होती है।'

व्यतिरेक के भेद भी विश्वेश्वर ने मम्मट के ही अनुसार चौबीस माने हैं—

'हानिप्रकर्षयोरुक्तौ त्रेधा च तदनुक्तौ।
शब्दार्थाक्षेपोत्थे साम्ये श्लेषे च दिग्युगमितः सः॥'

—'उत्कर्ष और अपकर्ष' इन दोनों की उक्ति, एक-एक और एक साथ दोनों की तीन अनुक्ति जहाँ शब्द, आर्थ और आक्षेपलभ्य साम्य होने पर अथवा श्लेष होने पर हों तो व्यतिरेक युग = दो तथा उस पर दिक्—चार अर्थात् २४ भेद होते हैं। पण्डितराज ने श्लेष में त्रिविध अनुपादान की जो अशक्यता ध्वनित की थी, उसका मौन उत्तर देते हुए विश्वेश्वर ने श्लेषमूलक तीनों अनुपादानों के तीन उदाहरण दे दिए हैं। वे ये हैं—

दोनों हेतुओं की अनुक्ति—

'अतिनिबिडस्य तवाखिलदर्शनशक्तेस्तमोव्रजस्येव ।
धम्मिल्लस्य न तेऽसिद्यामलता तेजसा नाश्या ॥'

—तुम्हारा केशपाश ध्वान्तसंघात के ही समान अत्यन्त घना और प्रत्येक की समग्र दर्शनशक्ति नष्ट करने वाला है। किन्तु इसकी असितुल्य श्यामता प्रकाशनाश्य नहीं है। यहाँ व्यतिरेक है 'श्यामता' के प्रकाशनाश्यत्व में और श्लेष है अतिघनत्व आदि विशेषण-वाचक शब्दों में।

उत्कर्षहेत्वनुक्ति—

'सकललोचनमानसहारिणोऽनिशयितां दधतः सुकुमारताम् ।
तव मुखस्य रुचिर्न परिच्छिदा भजति भास्वदधीनसरोजवत् ॥'

—'तुम्हारा चेहरा प्रत्येक व्यक्ति के नेत्र और चित्त दोनों को आकृष्ट कर लेता है और अत्यन्त सुकुमारता लिए है। इसकी छवि सूर्य के अधीन कमल की छवि-सी परिच्छिन्न नहीं है।' यहाँ कमल की छवि की परिच्छिन्नता में हेतु है सूर्याधीनता, वह कथित है। मुख की छवि की अपरिच्छिन्नता का हेतु कथित नहीं है। इस प्रकार अपरिच्छिन्नतारूपी उत्कर्ष के हेतु की यहाँ अनुक्ति है। श्लेष है 'सकल०' इत्यादि विशेषणार्थों में।

अपकर्षहेत्वनुक्ति—

'वैशद्यं भावयतो निखिलजनोल्लासनाहेतोः ।
अपचयरहितस्य तवाननस्य नेन्दोरिव द्युतेर्हानिः ॥'

—'तुम्हारा चेहरा और चन्द्र दोनों ही उज्ज्वल वर्ण के हैं और दोनों ही प्रत्येक व्यक्ति को उल्लसित कर देते हैं, किन्तु तुम्हारा चेहरा चन्द्र की भाँति घटता-बढ़ता नहीं है अतः इसकी छवि में चन्द्र की छवि-सी हानि नहीं है।' यहाँ चन्द्र की छवि में अपकर्ष का हेतु हानियुक्तत्व कथित नहीं है।

विश्वेश्वर के उदाहरणों की अपेक्षा मम्मट के उदाहरण अधिक अच्छे हैं। मम्मट का उदाहरण है—

'जितेन्द्रियतया सम्यग् विद्यावृद्धनिषेविणः ।
अतिगाढगुणस्यास्य नाब्जवद् भङ्गुरा गुणाः ॥'

—यह जितेन्द्रिय है, विद्यावृद्धों की सेवा करता रहता है और इसके गुण अत्यन्त गाढ़ हैं इसलिए इसके गुण कमल के समान भङ्गुर नहीं हैं।' यहाँ गुण शब्द में उसी प्रकार श्लेष है जिस प्रकार उद्भट के उदाहरण में 'तपस्' शब्द में। कमल के गुण भङ्गुर हैं और वर्णनीय पुरुष के गाढ़। इस प्रकार उपमानभूत कमल के गुणों में अपकर्ष का हेतु भङ्गुरत्व शब्दतः कथित है और उपमेयभूत पुरुष के गुणों में उत्कर्ष का हेतु गाढत्व। यदि इनमें से एक बार एक एक का उपादान किया जाय और दूसरी बार दोनों को छोड़ दिया जाय तब भी गुण शब्द में श्लेष रहेगा और तीनों अनुपादान बन जाएँगे।

वस्तुतः साम्य की वाच्यता और अवाच्यता से चमत्कार में कोई अधिक अन्तर नहीं आता फलतः प्राचीन आलंकारिकों द्वारा प्रतिपादित भेदक्रम ही अधिक उपयुक्त है।

इस प्रकार प्रायः सभी आचार्यों में केवल रुद्रट, सर्वस्वकार तथा अप्पय्यदीक्षित ही ऐसे आचार्य हैं जो उपमेयगत अपकर्ष में भी व्यतिरेक मानते हैं। भामह, वामन, उद्भट, मम्मट, शोभाकर, पण्डितराज तथा विश्वेश्वर केवल उपमेयगत उत्कर्ष में ही व्यतिरेक प्रतिपादित करते हैं।

सञ्जीविनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती ने व्यतिरेक के सर्वस्वकारकृत सपूर्ण प्रतिपादन का सक्षेप इस प्रकार किया है—

'भेदप्रधाने साधर्म्ये व्यतिरेको विधीयते।
आधिक्याद्ुपमेयस्य न्यूनत्वाद् वोपमानत ॥'

—साधर्म्य में यदि भेद की प्रधानता हो तो उपमान की अपेक्षा उपमेय के उत्कर्ष अथवा अपकर्ष से व्यतिरेक होता है।

[सर्वस्व]

[सू० ३०] उपमानोपमेययोरेकस्य प्राधान्यनिर्देशेऽपरस्य सहार्थसंबन्धे सहोक्तिः।

भेदप्राधान्य इत्येव। गुणप्रधानभावनिमित्तकमत्र भेदप्राधान्यम्। सहार्थप्रयुक्तश्च गुणप्रधानभावः। उपमानोपमेयत्वं चात्र वैवक्षिकम्, द्वयोरपि प्राकरणिकत्वादप्राकरणिकत्वाद्वा। सहार्थसामर्थ्याद्धि तयोः तुल्यकक्षत्वम्। तत्र तृतीयान्तस्य नियमेन गुणत्वादुपमानत्वम्। अर्थाच्च परिशिष्टस्य प्रधानत्वादुपमेयत्वम्। शाब्दश्चात्र गुणप्रधानभावः। वस्तुतस्तु विपर्ययोऽपि स्यात्। तत्र नियमेनातिशयोक्तिमूलत्वमस्याः। सा च कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा अभेदाध्यवसायरूपा च। अभेदाध्यवसायश्च श्लेषभित्तिकोऽन्यथा वा। साहित्यं चात्र कर्त्रादिनानाभेदं ज्ञेयम्। तत्र च

कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा यथा—

'भवदपराधैः सार्धं संतापो वर्धतेतरामस्याः।'

अत्रापराधानां संतापं प्रति हेतुत्वेऽपि तुल्यकालत्वेनोपनिबन्ध।

श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायरूपा यथा—

'अस्तं भास्वान्प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि।'

अत्रास्तं गमनं श्लिष्टम्। अस्तमित्यस्योभयार्थत्वात्॥

[सू० ३०] [भेद की प्रधानता रहने पर] यदि उपमान और उपमेय में से एक की प्रधानता बतलाई गई हो और दूसरे में 'साथ'—वाचक किसी शब्द से प्रतिपादित अर्थ का [अप्रधानताद्योतक] सबन्ध हो तो [अलंकार] सहोक्ति [कहलाता है]।

[वृ०] [यहाँ] 'भेद की प्रधानता' इतना पहले से ही प्राप्त है। [किन्तु] यहाँ भेद की प्रधानता निर्भर रहती है अप्रधानता तथा प्रधानता पर और अप्रधानता तथा प्रधानता निष्पन्न होता है 'सह = साथ' शब्द के अर्थ के कारण। यहाँ जो उपमानत्व और उपमेयत्व है वे विवक्षाधीन रहते हैं। यह इसलिए कि या तो दोनों अर्थ प्राकरणिक ही रहते हैं या अप्राकरणिक ही। [उपमानोपमेयभाव के लिए अपेक्षित] साम्य उनमें 'सह = साथ' शब्द के अर्थ से आता है। उनमें भी जिसको तृतीयाविभक्ति [संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'सह' शब्द के प्रयोग होने पर अप्रधान अर्थ के वाचक शब्द के साथ प्रयुक्त होने वाली विभक्ति] जिसके साथ लगती है उस

शब्द का अर्थ नियमतः अप्रधान रहता है अतः वही उपमान माना जाता है, शेष बचा प्रथमा-विभक्ति से युक्त शब्द का अर्थ तो वह प्रधान होता है अतः वह अपने ही उपमेय सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार यहाँ प्रधानता अप्रधानता का निर्धारण केवल शब्दस्थिति [और तज्जनित बोध] पर निर्भर रहता है, अर्थस्थिति तो विपरीत भी हो सकती है।

इसका आधार सदा ही अतिशयोक्ति बनती है। अतिशयोक्ति भी दो प्रकार की (१) कार्य-कारणभाव के पौर्वापर्य के विपर्यय से होने वाली और (२) अभेदाध्यवसानमूलक। इनमें से अभेदाध्यवसाय यहाँ दोनों ही प्रकार का हो सकता है (१) श्लेषमूलक भी और (२) शुद्ध [श्लेषरहित] भी।

यहाँ जो साहित्य = सहार्थक शब्दों से प्रतिपादित सम्बन्ध रहता है वह कर्ता, कर्म आदि कारकों में होता है, अतः वह अनेक प्रकार का होता है। इनमें से—

कार्यकारणभाव के विपर्यय से निष्पन्न अतिशयोक्ति पर निर्भर सहोक्ति यथा—'आपके अपराधों के साथ इसका संताप बढ़ता ही चला जा रहा है।'

—यहाँ [नायक के द्वारा किए गए] अपराध संताप के प्रति कारण हैं तथापि उनको एक साथ उत्पन्न होता बतलाया गया है। श्लेषमूलक अभेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति से निष्पन्न सहोक्ति यथा—

'यह सूर्य शत्रुओं के ही साथ अस्त को प्राप्त हो गया है। अब सेनाएँ बटोर लो और।'

—यहाँ 'अस्त को प्राप्त होना' श्लिष्ट है क्योंकि 'अस्त'-शब्द उभयार्थक [डूबना, नष्ट होना इन दो अर्थों में प्रयुक्त] है।

विमर्शिनी

उपमानेत्यादि। किंहेतुकं चात्र भेदप्राधान्यमित्याशङ्क्याह—गुणेत्यादि। गुणप्रधान-भावोऽपि किंहेतुक इत्याह—सहार्थेत्यादि। एकस्य प्रधानभूतविभक्तिनिर्देशादन्यस्य च विधिविभक्तिनिर्देशात। वैवक्षिकमिति न पुनर्वास्तवम्। उपमानोपमेयात्वं हि द्वयोस्तु-ल्यकक्षत्वे भवति तच्चात्र किंनिमित्तकमित्याशङ्क्याह—सहार्थेत्यादि। परिशिष्टस्येति प्रथ-मान्तस्य। शाब्द इति न पुनरार्थः, वस्तुतो विपर्ययस्यापि संभवात्। एवं गुणप्रधान-भावनिमित्तकं भेदप्राधान्यमपि शाब्दमेवात्र ज्ञेयम्। वस्तुतो हि साहश्यस्यैव पर्यवसा-नाद्भेदाभेदयोस्तुल्यत्वेनैव प्रतीतिः। तस्माच्छाब्दमेव भेदप्राधान्यमाश्रित्येहास्या वचनम्। विपर्यय इति। प्रधानविभक्त्या निर्दिष्टस्याप्राधान्यं गुणविभक्त्या च निर्दिष्टस्य प्राधान्यम्। नियमेनेति। अनेनातिशयोक्त्यनुप्राणनमन्तरेणालंकारत्वमेवास्या न भवतीति ध्वनितम्। सेत्यतिशयोक्तिः। कार्यकारणयोः प्रतिनियमस्य क्रमस्य विपर्ययस्तुल्यकालत्वादित्योक्तेः। अन्ययेति अश्लेषरूपः। सदेवमस्या अतिशयोक्तिभेदचतुष्टयमनुप्राणकम्। कर्त्रादीति आदि-शब्दात् कर्मादयः। तत्रेति निर्धारणे। [कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपेति]। अस्या-मनुप्राणकत्वेन स्थितेति शेषः। अत्रापराधानां शाब्दो गुणभावः। वस्तुतस्तु प्राधान्यं तेषामेव, प्रतिपाद्यत्वात्। एवमन्यत्र ज्ञेयम्। 'पयमेति सा वराकी स्नेहेन समं त्वदीयेन' इत्यस्यार्धम्। 'कुर्वन्त्वाशा हतानां रणशिरसि जना वह्निसाद् देहभारानश्रून्मिश्रं कथंचिद् ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः। मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनरगहने खण्डितान्गृध्र-कङ्कैः' इत्यस्याद्यं पादत्रयम्।

उपमान इत्यादि। 'यहाँ भेद की प्रधानता का आधार क्या है' इस शंका पर उत्तर देते हैं—'गुण०' अप्रधानता। 'गुणप्रधानभाव = अप्रधानता और प्रधानता किस पर निर्भर है' इस शंका पर उत्तर है—'सहार्थ०।' ऐसा इसलिए कि एक में रहती है प्रधानभूत विभक्ति और

दूसरे में विधि [अप्रधानभूत] विभक्ति का निर्देश रहता है। **वैवक्षिक** = विवक्षाधीन अर्थात् वास्तविक नहीं। 'उपमानोपमेयभाव होना' है तब जब दो पदार्थों में समानता रहती है। यह समानता यहाँ कैसे निष्पन्न होती है'—इस शङ्का पर उत्तर देते हैं—'सहार्थस्य०'। **परिशिष्ट** = शेष अर्थात् प्रथमा विभक्ति से युक्त पद का अर्थ। **शाब्द** = शब्दजनित बोध पर निर्भर, न कि अर्थ पर निर्भर। क्योंकि वास्तविक स्थिति विपरीत भी हो सकती है। इस कथन से निष्कर्ष यह निकला कि प्राधान्याप्राधान्य से जनित भेद की प्रधानता भी सहोक्ति में शब्दजनित बोध पर निर्भर रहती। और, सत्य तो यह है कि यहाँ अन्त में प्रतीत होता है सादृश्य ही, अतः यहाँ 'भेद और अभेद' इन दोनों की प्रतीति समान रूप से ही होती है। इसलिए शब्द-जनित बोध पर निर्भर भेदप्रधानता को ही लेकर यहाँ इस भेदप्रधान अलङ्कारों के प्रकरण में सहोक्ति को रखा गया है। **विपर्यय** = विपरीतस्थिति' = प्रधान विभक्ति [प्रथमा] से निर्दिष्ट भी अप्रधान हो सकता है और अप्रधान विभक्ति [तृतीया] से निर्दिष्ट भी प्रधान। **नियमेन** = नियमतः सदा ही। ऐसा कहकर यह संकेत किया कि सहोक्ति अतिशयोक्ति की सहायता के बिना अलङ्कार ही नहीं बनती। *सा = वह - अतिशयोक्ति।* **कार्य और कारण का प्रतिनियम** = क्रम = नियमतः बाद में और पहले उत्पन्न होना, इसका उलट जाना अर्थात् दोनों का एक साथ उत्पन्न होता हुआ बतलाया जाना या कार्य को पहले तथा कारण को बाद में। **अन्यथा** = दूसरे प्रकार का = श्लेषरहित। तो इस प्रकार चार प्रकार की अतिशयोक्ति से यहाँ सहोक्ति को सहायता मिलती है। कर्त्ता आदि, आदि पद से कर्म आदि भी। **तत्र** = उनमें यह परस्पर में अन्तर बतलाने के लिए कहा जा रहा है। [**कार्यकारणप्रतिनियमविपर्ययरूपा** =] अर्थात् यह अतिशयोक्ति जहाँ **अनुप्राणक** = सहायक रूप से स्थित रहती है वह भेद। यहाँ ['भवदपराधैः०' में] अपराधों की अप्रधानता केवल इसलिए है कि यहाँ उसके वाचक पद = अपराध में तृतीया विभक्ति जोड़ी गई है, वस्तुतः प्रधान वे ही हैं क्योंकि यहाँ प्रतिपाद्य वे ही हैं। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानते रहना चाहिए। इस ['भवदपराधैः' पद्य०] का उत्तरार्ध यह है—'क्षयमेति सा वराकी स्नेहेन सम त्वदीयेन' = वह बेचारी तुम्हारी प्रीति के ही साथ क्षय को प्राप्त होती जा रही है। इस ['अस्तु भास्वान्०' पद्य] के प्रथम तीन चरण ये हैं—

'कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरसि जना वह्निसाद् देहभागा-
नश्रून्मिश्रं कथञ्चिद् ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः।
मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनरगहने खण्डितान् गृध्रकङ्कैः'

—अब जो आप्त हैं वे लोग युद्धस्थल में मृत लोगों की अन्त्येष्टि करें, ये लगे हैं उनकी लाशों को ढेर, ये [चारों ओर रोते बिलखते] भाई बन्धु अपने भाई बन्धों को अश्रून्मिश्र [आँसुओं से मिश्रित] पानी जैसे तैसे दे लें, [जिन्हें अभी तक अपने भाई बन्धुओं की लाशें नहीं मिली हैं वे] अपने भाई बन्धुओं की लाशें फिर से खोजें, वहाँ खोजें जहाँ आदमियों की लाशों के पुराने ढेर लगे हैं, उन्हें काले और सफेद गिद्धों ने विकृत कर दिया होगा—[उनके नाक कान आँख नोंच खाई होंगी]।—वेणीसंहार ५।३६।

[सर्वस्व]

तदन्यथारूपा यथा—

'कुमुदवनैः सह संप्रति विघटन्ते चक्रवाकमिथुनानि।'

अत्र विघटनं संबन्धिभेदाद्भिन्नं न तु श्लिष्टम्।

एतद्विशेषपरिहारेण सहोक्तिमात्रं नालंकारः। यथा—

'अनेन सार्धं विहराम्बुराशेस्तीरेषु तालीवनमर्मरेषु' इत्यादौ। एतान्येव कर्तृसाहित्ये उदाहरणानि।

कर्मसाहित्ये यथा—

> भुजगो मृत्युना सार्धं यस्याजौ तारकामये।
> चक्रे चक्राभिधानेन प्रेष्येणाप्तमनोरथः॥'

अत्र करोतिक्रियापेक्षया भुजगस्य मृत्योश्च कर्मत्वम्।

एषा च मालयापि भवन्ती दृश्यते। यथा—

> 'उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितं
> भूपानां जनकस्य संशयधिया सार्कं समास्फालितम्।
> वैदेह्या मनसा समं च सहसाकृष्टं ततो भार्गव-
> प्रौढाहंकृतिकन्दलेन च समं तद् भग्नमैशं धनुः॥'

शुद्ध अतिशयोक्ति पर निर्भर सहोक्ति यथा—

—'कुमुदवनों के साथ इस समय चकवाकों के जोड़े भी अलग-अलग हो रहे हैं।'

—यहाँ 'अलगाव' में श्लेष नहीं है [क्योंकि वह मूलतः अनेकार्थक नहीं है] वह सम्बन्धी [कुमुद, चकवाक] के भेद से भिन्नरूप बन जाता है [कुमुद के साथ खिलने = पंखुड़ियों के अलग-अलग होने रूप में, चकवाक के साथ बिछुड़ने रूप में]।

विशेषता [अतिशयोक्ति की सहायता] के बिना केवल 'सह = साथ' शब्द या इसके समानार्थक शब्द का प्रयोग करने पर [सहोक्ति वस्तुमात्र होती है उसमें] अलंकारत्व नहीं आता। यथा—

—'इसके साथ समुद्र के तटों पर विहार करो, जहाँ तालीवन लगा होगा और उसमें मर्मर-ध्वनि हो रही होगी।' [इन्दुमती स्वयंवर-रघुवंश]।—इत्यादि में। [अतिशयोक्ति से निष्पन्न सहोक्ति की सहायता के लिए दिए गए] ये जो उदाहरण हैं, [इनमें भिन्न-भिन्न अर्थों का 'साथ' प्रतिपादित है वे = अपराध और संताप, सूर्य और सेनाएँ, कुमुदवन और चकवाक-सभी कर्ता के रूप प्रस्तुत हैं अतः] ये सभी [उदाहरण] कर्तृसाहित्य के उदाहरण हैं।

कर्म—[के साथ कर्म के]-साहित्य का उदाहरण। यथा—

'जिसके चक्र नामक प्रेष्य = [भेजने योग्य सेवक] ने युद्ध के बीच, मृत्यु के ही साथ देवताओं को भी तारकासुररूपी बीमारी के विषय में पूर्णेच्छ कर दिया।'

[यहाँ 'तारकक्षये' पाठ अधिक अच्छा रहता]।—यहाँ 'करना'-क्रिया में देवता और मृत्यु दोनों कर्म हैं।

यह [सहोक्ति] माला रूप में भी दिखाई देती है। यथा—

—'भगवान् राम ने भगवान् शिव का धनुष विश्वामित्र के रोमांच के साथ खड़ा किया, राजाओं के मुखों के साथ नँवाया, जनक जी की संदेहबुद्धि के साथ आस्फालित किया [प्रत्यंचा चढ़ाकर दो-चार बार उसे अंगूठा और तर्जनी से कुछ कुछ खींचकर छोड़ा, बुद्धिपक्ष में आस्फालन उभाड़ना, उछालना = द्र० 'आस्फालितं यदं प्रमदाकराग्रै०' रघुवंश-१६] जानकीजी के हृदय के साथ खींचा और परशुराम के प्रौढ अहंकार के साथ टूक-टूक कर डाला।'

विमर्शः—यहाँ 'अस्त'-शब्द में शत्रुपक्ष में लक्षणा थी और सूर्य पक्ष में अभिधा। 'अलगाव' में दोनों पक्षों में अभिधा ही है"—यह भी एक भेदक तथ्य दिखाई देता है। किन्तु यहाँ अर्थश्लेष, जिसे उपमा आदि में साधारण धर्मों के बीच माना जाता है, अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न पर सञ्जीविनीकार के ही साथ विमर्शिनीकार और विश्वेश्वर पण्डित भी चुप हैं। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थि को खोलने और सुलझाने का असफल प्रयत्न किया है। उन्होंने कहा है—श्लेष वहाँ होता है जहाँ प्रतिपाद्य अर्थों को भिन्न-भिन्न धर्म भासित होते हों। जैसे 'शत्रुवधुओं के नेत्र दिनों के ही साथ वर्षिम हो रहे हैं'। यहाँ दिवसपक्ष में वर्ष का अर्थ है संवत्सर और नेत्रपक्ष में है बरसना, आँसू बहाना। 'पद्मपत्रों के साथ उन्मीलित होती सूर्यरश्मियाँ' = इस स्थल में उन्मीलनरूपी अर्थ दोनों पक्षों में एक ही है अतः वहाँ श्लेष नहीं है। वस्तुतः यह पक्ष पण्डितराज की ही मान्यता के विरुद्ध है। पण्डितराज ने भी रूपक में 'विद्वन्मानसहंस' इस स्थल में प्रयुक्त 'मानस' शब्द में श्लेष माना है जब कि उससे प्रतीत 'सरोवर तथा चित्त' इन दो भिन्न अर्थों में एक ही 'मानसत्व' धर्म भासित होता है। संस्कृत में खण्डित करने और देने अर्थ में कर्मवाच्य में एक ही शब्द निष्पन्न होता = 'दीयते'। पण्डितराज ने 'विपद्भिः सह दीयन्ते सम्पदः' इस प्रयोग द्वारा उस पद में श्लेष स्वीकार किया है। वहाँ प्रतिपादित अर्थों में एक ही धर्म भासित होता है 'दान' अथवा 'दानाश्रयत्व'। सत्य यह है कि यदि यहाँ श्लेष नहीं माना जाता तो अर्थश्लेष उच्छिन्न हो जायगा। कहा केवल इतना जा सकता था कि अतिशयोक्ति में कहीं भङ्गश्लेष होता है और कहीं अभङ्गश्लेष। श्लेष के ये सब उदाहरण इन्हीं दो कोटियों में आते हैं। इन दोनों उदाहरणों में एक के अस्त पर दूसरे के अस्त और एक के अलगाव पर दूसरे के अलगाव का अभेदाध्यवसान है क्योंकि दोनों अर्थों के वाचक के रूप में एक-एक शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

विमर्शिनी

'सह कमलैर्ललनानां मानः संकोचमायाति' इत्यस्यार्धम्। एतद्विशेषपरिहारेणेति अतिशयोक्त्यनुप्राणनमन्तरेण। 'द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः' इति द्वितीयमर्धम्। एतानीति समनन्तरोक्तानि। यथापेक्षया गुञ्जनस्यानन्तरमासमनोरथत्वमिति आदिवाक्यभावेन क्रमिकयोस्तुल्यकालत्वेनोक्तिः। यथा वा—

> 'भाग्यैः सम समुत्पन्नं प्रजाभिः सह लालितम्।
> वर्धितं सुकृतैः सार्धमस्मोराजमभूत् सा ॥'

अत्र समुत्पत्त्यनन्तरं तदाश्रयानामुत्पत्तिरिति क्रमिकयोः समकालत्वम्। अस्याश्च शुद्धसामान्यरूपत्वं यथा—

> मलआणिलेण सह सोरहवासिएण दहआणं।
> वड्ढन्ति वहलसोमालपरिमला सासणिउरंवा ॥

अत्र सौरभपरिमलयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो यथा—

> दिनअरअरणिउरंवा कणआअलकडअरेणुविच्छुरिआ।
> विअसन्ति परिमलभरोब्भडेहिं कमलकिरर्हि समं ॥

अत्र कनकाचलकटकरेणुविच्छुरितत्वस्य परिमलभरोद्भटत्वं बिम्बप्रतिबिम्बत्वेन निर्दिष्टम्।

'कुमुदवनं०' का उत्तरार्ध है 'सह कमलैर्ललनानां मानः संकोचमायाति' = 'कमलवनों के साथ [दिन भर की रूठी] ललनाओं का मान संकुचित हो रहा है'। एतद्विशेषपरिहारेण = इस विशेषता के बिना अर्थात् अतिशयोक्ति की सहायता के बिना। 'अनेन०' का उत्तरार्ध है—

'द्वीपान्तरानीतलवङ्गपुष्पैरपाकृतस्वेदलवा मरुद्भिः' = "वहाँ तुम्हारे [श्रमजनित] स्वेदकण हवा के झोंके दूर करते रहेंगे, जो पार के द्वीप से लवंग पुष्प उड़ा-उड़ाकर आ रहे होंगे।" [रघुवंश–६]। एतानि = ये = अभी-अभी कथित। [कर्म साहित्य के उदाहरण 'घुननो०' में] यम की अपेक्षा देवताओं की मनोरथसिद्धि बाद में होती है [क्योंकि उनमें कार्यकारणभाव है] इस प्रकार में पूर्ववर्त्तित्व और परवर्त्तित्व [आदिपश्चाद्भाव] होने के कारण क्रम है, क्योंकि यहाँ क्रमिक होने पर दोनों मनोरथ सिद्धियों की निष्पत्ति एक साथ बतला दी गई इसलिए यहाँ कार्यकारण-पौर्वापर्य विपर्ययात्मिका अतिशयोक्ति है। दूसरा उदाहरण यथा—

'उसने भाग्यों के साथ उत्पन्न, प्रजाओं के साथ लालित, पुण्यों के साथ वर्धित अर्णोराज को जन्म दिया।'

—भाग्यों की उत्पत्ति व्यक्ति की उत्पत्ति के बाद होती है किन्तु दोनों की उत्पत्ति एक साथ बतला दी गई है इसलिए यहाँ क्रमिक वस्तुओं में समकालिकता [से निष्पन्न अतिशयोक्ति] हुई।

यह शुद्धसामान्यरूप भी होती है। यथा—

'मलयानिलेन सह सौरभवासितेन दयितानाम्।
वर्धन्ते बहलसुकुमारपरिमला श्वासनिकुरम्बाः॥'

—सौरभ से वासित मलयानिल के साथ प्रियाजनों के पर्याप्त सुकुमार सुगन्ध से युक्त श्वासपुंज बढ़ते जा रहे हैं।'

—यहाँ सौरभ और परिमल = सुगन्ध शुद्धसामान्यस्वरूप हैं। बिम्बप्रतिबिम्बभाव का उदाहरण यह है—

'दिनकर-कर-निकुरम्बाः कनकाचल-कटक-रेणु-विस्फुरिताः।
विकसन्ति परिमलभरोद्भटैः कमलाकरैः सार्धम्॥'

—सुवर्ण गिरि सुमेरु के शृङ्गों की धूल में सनी सूर्य की सहस्र-सहस्र किरणें परागपुंज से उद्भट कमलों के साथ विकसित हो रही हैं।'

—यहाँ सुवर्णगिरि के शृंगों की धूल में सनना [कनकाचलकटकरेणुविस्फुरितत्व] और परागपुंज से उद्भट होना [परिमलभरोद्भटत्व] इनका निर्देश बिम्बप्रतिबिम्बभाव के साथ है [क्योंकि इन में वर्णगत सादृश्य है]।

विमर्शः—सहोक्ति का पूर्व इतिहास :—

भामह = 'तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रये।
पदेनैकेन कथ्येते सा सहोक्तिर्मता सताम्॥

—जहाँ एक पद के द्वारा ऐसी दो क्रियाएँ कही जाँय जो दो भिन्न वस्तुओं में रहती हों और समानकालिक हों वहाँ सहोक्ति होती है।

उदाहरण = वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह॥

—[ठंड में] रात्रियां कामियों की प्रीति के साथ बढ़ती जा रही हैं।' यहां रात्रि और प्रीति दोनों की वृद्धि एक साथ होती है और उसे एक ही क्रियापद से कहा जा रहा है।

वामन—[सूत्र] वस्तुद्वयक्रिययोस्तुल्यकालयोरेकपदाभिधानं सहोक्तिः।

[वृत्ति] वस्तुद्वयस्य क्रिययोस्तुल्यकालयोरेकेन पदेनाभिधानं सहार्थसामर्थ्यात् सहोक्तिः।

—दो पदार्थों की समानकालिक क्रियाओं का यदि एक ही शब्द के द्वारा 'सह' शब्द के अर्थ के बल पर हो तो सहोक्ति।

उदाहरण—'अस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयम्०।'

इस प्रकार वामन ने भामह की ही सहोक्तिकारिका को सूत्र रूप दे दिया है इतना अवश्य है कि वृत्ति में उन्होंने सहोक्तिशब्द की सार्थकता बतलाने के लिए 'सहोक्तिसामर्थ्य' का भी उल्लेख कर दिया है। अलङ्कारसर्वस्वकार ने श्लेषमूलक अभेदाध्यवसाय से निष्पन्न सहोक्ति के लिए वामन के ही इस उदाहरण को प्रस्तुत किया है।

उद्भट—उद्भट ने भी वामन के ही समान भामह की ही सहोक्तिकारिका को—

'तुल्यकाले क्रिये यत्र वस्तुद्वयसमाश्रिते।
पदेनैकेन कथ्येते सा सहोक्तिर्मता सताम्॥

—इस प्रकार प्रायः ज्यों का त्यों अपना लिया है। उदाहरण के रूप में उन्होंने अलङ्कार-सर्वस्वकार द्वारा कर्म साहित्य के उदाहरण के रूप में अपनाया गया पद्य 'कुजतो०' ही दिया है।

रुद्रट—भामह से उद्भट तक सहोक्ति उपमानोपमेयभाव की चर्चा नहीं थी। न तो उसमें भेद ही किए गए थे। रुद्रट ने उसमें अधिक सरम्भ दिखलाया, और सहोक्ति को निम्नलिखित रूपों में प्रस्तुत किया—

वास्तववर्गीय—

[१]—'भवति यथारूपोऽर्थः कुर्वन्नेवापरं तथाभूतम्।
उक्तिस्तस्य समाना तेन समं या सहोक्तिः सा॥ ७।१३

—एक अर्थ अपने जैसे किसी दूसरे अर्थ का वस्तुतः हो तो निर्माता [कारण] किन्तु उन दोनों की उत्पत्ति समान रूप से एक साथ बतला दी जाय तो सहोक्ति।' यथा

'कष्टं सखे ! क्व यामः सकलजगन्मन्मथेन सह तस्याः।
प्रतिदिनमुपैति वृद्धिं कुचकलशनितम्बभित्तिभरः॥'

—मित्र ! बड़ा कष्ट है। आखिर कहाँ जाय ? उसके कुचकुम्भ और नितम्बभित्ति रोज रोज बढ़ते जा रहे हैं और अकेले नहीं सारे ससार को मथ डालने वाले मन्मथ के साथ।'

—यहाँ नायिका के अंगों की वृद्धि कामवृद्धि का कारण है किन्तु उनकी उत्पत्ति साथ होती हुई बतलाई गई है।

[२] 'यो वा येन क्रियते तथैव भवता च तेन तस्यापि।
अभिधानं यत्र क्रियते समानमन्या सहोक्तिः सा॥ ७।१५।

—साधारणधर्मयुक्त कार्यकारण की सहोत्पत्ति बतलाना भी एक अन्य सहोक्ति होती है। यथा—'भवदपराधैः सार्धम्'—पूर्वपद्य—

[३] 'अन्योन्यं निरपेक्षौ यावर्थावेककालमेकविधौ।
भवतस्तत्कथनं यत् सापि सहोक्तिः किलेत्यपरे॥'

—अन्य आचार्य [भामह, वामन, उद्भट] उसे भी सहोक्ति मानते हैं जिसमें दो ऐसे अर्थ जो [पूर्व उदाहरणों में आए अर्थों के समान परस्पर कार्यकारणभाव आदि से सबद्ध न होकर सर्वथा] निरपेक्ष होते और एक ही समय में किसी एक क्रिया में अन्वित होते हैं। उदाहरण—'कुमुददलैः०' पूर्वपद्य।

इन्हीं तीन भेदों में से प्रथम दो भेदों में सर्वस्वकार ने कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययात्मिका अतिशयोक्ति पर निर्भर सहोक्ति मानी है और तृतीय में शुद्धाभेदाध्यवसानात्मिका अतिशयोक्ति पर निर्भर सहोक्ति। प्रथम और द्वितीय पद्य में उन्हें कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई दिया—कदाचित् इसीलिए उन्होंने उसे छोड़ शेष दोनों भेदों के उदाहरण भी रुद्रट से अपना लिए।

यह सच है कि रुद्रट ने जो लक्षणकारिकाएँ बनाई हैं वे पहले जैसी अव्यक्तार्थ और दुरूह हो गई हैं।

[२] औपम्यवर्गीय —

[१] 'सा हि सहोक्तिर्यस्यां प्रसिद्धदूराधिकक्रियो योऽर्थः।

तस्य समानक्रिय इति कथ्येतान्यः समं तेन॥' ८।९९

'—जहाँ अधिक सामर्थ्यवान् वस्तु को उससे कम सामर्थ्य वाली वस्तु के साथ-साथ समान बतलाया जाय वह सहोक्ति।' यथा—

'सपदि मधौ निजसदनं मनसा सह यान्त्यमी पथिकाः॥'

—वसन्त में ये पथिक मनके साथ अपने घर की ओर चल पड़े हैं। यहां गमनक्रिया में मन और पथिकों का साथ-साथ सम्बन्ध बतलाया जा रहा है जब कि मन तीव्रगति के लिए अनुपम होता है।

[२] 'यत्रैककर्तृका स्यादनेककर्माश्रिता क्रिया तत्र।

कथ्येतापरसहितं कर्मैकं सेयमन्या स्यात्॥ ८।१०१।

—जहाँ किसी क्रिया का कर्ता एक हो किन्तु कर्म अनेक, और अनेक कर्मों में भी अन्य कर्मों को किसी एक प्रधान कर्म के साथ बतलाया जाय वह भी एक सहोक्ति होती है।' यथा—

'स त्वां बिभर्ति हृदये गुरुभिरसंख्यैर्मनोरथैः सार्धम्॥'

—'सखि! वह तुझे अनेक बड़े-बड़े मनोरथों के साथ हृदय में धारण किये हुए है।' यहाँ 'धारण करना' क्रिया में कर्ता तो एक ही है किन्तु कर्म नायिका और मनोरथ है। उनमें भी मनोरथों को नायिका के साथ लगाकर प्रस्तुत किया है।

नमिसाधु ने वास्तववर्गीय सहोक्ति का औपम्यवर्गीय सहोक्ति से भेद करते हुए कहा है कि वास्तववर्गीय में सादृश्य नहीं रहता और औपम्यवर्गीय में कार्यकारणभाव। सर्वस्वकार ने सब के सब भेदों को औपम्यमूलक मान लिया है। स्पष्ट है कि सर्वस्वकार का सहोक्तिविवेचन शतशः रुद्रट के अतिशयोक्तिविवेचन पर निर्भर है। मम्मट रुद्रट का यह विश्लेषण ठीक से नहीं अपना सके।

मम्मट :—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्।'

—'सहोक्ति वह जहाँ सहार्थ = सह शब्द के अर्थ के बल पर एक पद दो पदार्थों का प्रतिपादक हो।' यथा—

'सह दिवसनिशीथैर्दीर्घाः श्वासदण्डाः।'

—श्वासदण्ड दिन और रात के साथ लम्बे बनते जा रहे हैं। मम्मट के सहोक्ति लक्षण में रुद्रट की विविधता तो नहीं है किन्तु उसमें पूर्ववर्त्ती सभी आचार्यों की-सी कमी भी नहीं है। प्राचीन आचार्यों ने लक्षण में 'सह'-'साथ' शब्द नहीं दिए थे। उसके बिना वे सहोक्ति को दीपक आदि से भिन्न सिद्ध नहीं कर सकते। 'सह' = 'साथ' शब्द के अर्थ के द्वारा जो अर्थों में प्रधानता और अप्रधानता आती है वही वस्तुतः सहोक्ति का अन्य तत्सदृश अलंकारों से भेदक है। यह एक ध्यान देने की बात है कि मम्मट ने सहोक्ति को सादृश्यमूलक नहीं बतलाया है।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने—'सहार्थबलादेकस्यानेकसंबन्धे सहोक्तिः।'—यह लक्षण कर मम्मट का ठीक अनुसरण किया है। इन्होंने सहोक्ति को न केवल अतिशयोक्तिपर ही अपितु तुल्ययोगिता पर भी निर्भर बतलाया है। मम्मट के सहोक्ति उदाहरण में उन्होंने विनोक्ति का संस्पर्श बतलाया है।

अप्पयदीक्षित—ने चित्रमीमांसा में तो सहोक्ति पर विचार नहीं ही किया, कुवलयानन्द में भी उस पर अत्यन्त ही थोड़ा विचार किया है—

'सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरञ्जनः।
दिगन्तमगमत् तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह॥

—सहोक्ति वह जिसमें सुन्दर सहभाव भासित हो। यथा—आपकी कीर्ति आपके शत्रुओं के साथ दिगन्त चली गई है।

पण्डितराज ने अवश्य रुद्रट और सर्वस्वकार के पश्चात् पहिली बार सहोक्ति पर संरम्भ दिखलाया है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

गुणप्रधानभावावच्छिन्नसहार्थसम्बन्धः सहोक्तिः।

—प्रधानता तथा अप्रधानता से युक्त सह शब्द के अर्थ से सम्बन्ध का नाम सहोक्ति।

यह एक प्रकार से सर्वस्व के ही लक्षण का परिष्कार है। पण्डितराज ने सहोक्ति को सर्वस्वकार के ही समान अतिशयोक्तिमूलक माना है। उसमें कर्तृसाहित्य और कर्मसाहित्य का भी प्रतिपादन किया है। सहोक्ति को शाब्द भी माना है किन्तु आर्थ भी बतलाया है। किन्तु आर्थ कहकर उन्हें वैयाकरणों से झगड़ना पड़ा है जिसमें उन्होंने अपनी सहज स्वच्छन्दता दिखलाई है और इसीलिए उन्हें अपने वैयाकरण टीकाकार नागेश के दंश सहने पड़े हैं।

पण्डितराज ने एक नवीन प्रश्न उठाया है और कहा है कि सहोक्ति अतिशयोक्ति में ही अन्तर्भूत कर दी जानी चाहिए। उन्होंने कारणकार्यविपर्ययमूलक अतिशयोक्ति से युक्त गुणप्रधानभाव में चमत्कार का कारण अतिशयोक्ति को ही माना है। इसका प्रामाण्य सहृदय की अनुभूति पर निर्भर है। कदाचित् इसीलिए विश्वेश्वर ने ऐसा कोई प्रश्न नहीं उठाया है।

सर्वस्वकार ने सहोक्तिलक्षण में उपमानोपमेयभाव को स्थान देकर उसमें सादृश्य को अनावश्यक रूप से खींचना चाहा है। वह वस्तुतः अमान्य है।

संजीविनीकार ने सहोक्ति का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'गुणप्रधानभावो यः शाब्दस्तेन भिदोत्कटा।
सश्रितातिशयोक्तिं च सहोक्तिः समयोर्मता॥'

—यदि प्रधानता और अप्रधानता का द्योतन शब्द द्वारा हो फलतः उसमें जिसमें भेद की प्रधानता सिद्ध हो, ऐसी अतिशयोक्ति पर आश्रित वह दो समान पदार्थों की सह-शब्दार्थ द्वारा की गई उक्ति सहोक्ति कहलाती है।

[सर्वस्व]

सहोक्तिप्रतिभटभूतां विनोक्तिं लक्षयति—

[सू० २८] विना किंचिदन्यस्य सदसत्त्वाभावो विनोक्तिः।

सत्त्वस्य शोभनत्वस्याभावोऽशोभनत्वम्। एवमसत्त्वस्याशोभनत्वस्याभावः शोभनत्वम्। ते द्वे सत्त्वासत्त्वे यत्र कस्यचिदसंनिधानान्निबध्येते सा द्विधा विनोक्तिः। अत्र च शोभनत्वाशोभनत्वसत्तायामेव वक्तव्यायामसत्तामुखेनाभिधानमन्यनिवृत्तिप्रयुक्ता तन्निवृत्तिरिति ख्यापनार्थम्। एवं चान्यानिवृत्तौ विधिरेव प्रकाशितो भवति। आद्या यथा—

'विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता॥'

अत्र विनयाद्यसंनिधिप्रयुक्तश्रीविरहाद्यभिधानमुखेनाशोभनत्वमुक्तम् ।

[वृत्ति] अब सहोक्ति से उल्टी विनोक्ति का लक्षण करते हैं—

[सू० ३१] 'किसी [अन्य] के बिना [किसी] अन्य में सत्त्व या असत्त्व का अभाव [बतलाया जाना चमत्कारी हो तो] विनोक्ति।

[वृत्ति] सत्त्व = शोभनता, उसका अभाव = अशोभनता। इसी प्रकार असत्त्व = अशोभनता [उसका] अभाव = शोभनता। [विनोक्ति में] ये दोनों सत्त्व और असत्त्व किसी [अन्य] के असन्निधान से उत्पन्न बतलाए जाते हैं अतः यह विनोक्ति दो प्रकार की होती है। यहां प्रतिपाद्य तो रहता है शोभनत्व और अशोभनत्व का सद्भाव ही तथापि उसका प्रतिपादन अभाव के माध्यम से किया जाता है, यह इसलिए कि यह प्रतीति हो सके कि उसका अभाव किसी अन्य के कारण है, स्वतः नहीं। और इस प्रकार यदि किसी अन्य का अभाव प्रतीत न हो तो अन्य का सद्भाव भी प्रतिपादित हो जाता है। इनमें से प्रथम विनोक्ति यथा—

'नम्रता के बिना श्री कैसी? चन्द्रमा के बिना रात्रि कैसी? सत्कवित्व के बिना वाणी की विदग्धता कैसी?।'

—यहाँ विनय आदि के अभाव के कारण श्री आदि का अभाव बतलाया गया और इस प्रकार [श्री आदि में] अशोभनता का प्रतिपादन किया गया।

विमर्शिनी

प्रतिभटभूतामिति प्रतिपक्षभूताम् । अत एवैतदनन्तरमेतल्लक्षणम् । तदेवाह—विना किंचिदित्यादि । एतदेव व्याचष्टे—सत्त्वस्येत्यादिना ।

कस्यचिदिति यत्र यादृशो विवक्षितस्तस्येति । ननु चात्र सत्त्वासत्त्वयोर्विधिमुखेनैव वाच्यत्वे किमिति प्रतीतिवैपरीत्यदायिना निषेधमुखेन निर्देशः कृत इत्याशङ्कयाह—अत्र चेत्यादि ।

तच्छब्देन सत्त्वासत्त्वयोः प्रत्यवमर्शः । अन्यनिवृत्तिप्रयुक्तेन तन्निवृत्तिव्यापनेनापि किं भवतीत्याशङ्कयाह – एवं चेत्यादिना ।

अन्यस्य कस्यचिदनिवृत्तौ सत्त्वमसत्त्वमेव वा भवतीत्यर्थः । आद्येति असत्त्वनिबन्धनोक्तिः । का श्रीर्न काचिच्छ्रीरिति श्रियो विरहोऽसद्भावः । विनयासद्भावेऽपि श्रियोऽसद्भावोऽस्तीत्येतदभिधानं श्रियोऽसत्त्वे पर्यवस्यतीति विनयनिवृत्तिप्रयुक्तं श्रियोऽसत्त्वमुक्तम् । एवं विनयस्यानिवृत्तौ श्रियः सत्त्व एव विधिः प्रकाशितो भवतीति विनय एव सम्बन्धः कार्यः । एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् । अन्ये चात्र वास्तवत्वं मन्यमानाः—

'तस्याः शैत्यं विना ज्योत्स्ना पुष्पर्द्धिः सौरभं विना ।
विनोष्णत्वं च हुतभुक्त्वां विना प्रतिभासते ॥'

इत्यत्र विनोक्त्यलंकारत्वमाहुः । अत्र हि ज्योत्स्नादीनां शैत्यादिना नियमविनाभावेऽपि विनाभाव उपनिबद्धः । यदाहालंकारभाष्यकारः—"नित्यसंबद्धानामसंबन्धवचनं विनोक्तिः' इति विनोक्तिरुपसंख्यास्यते" इति । ग्रन्थकृता पुनरियं चिरंतनलक्षितत्वाल्लक्षिता ।

प्रतिभटभूता = उल्टी = विरुद्ध । इसी कारण इस [सहोक्ति] के लक्षण के बाद इस [विनोक्ति] का लक्षण रखा जा रहा है। यह लक्षण बतलाते हैं—'विना किंचित्०' । इसी की व्याख्या करते हैं सत्त्वस्य इत्यादि के द्वारा। कस्यचित् = किसी के = जो अर्थ जहाँ जिस प्रकार का विवक्षित हो उसके। यहां प्रश्न उठता है—यदि यहां सत्त्व और असत्त्व का प्रतिपादन सद्भा-

त्मक रूप से ही विवक्षित है तो फिर प्रतीति में विपरीतता लाने वाले निषेध के द्वारा इसकी प्रतीति क्यों कराई जाती है, इसके उत्तर में कहते हैं—'अत्र च'-इत्यादि। 'तत् = तन्निवृत्ति-' में आया तत् शब्द सत्त्वासत्त्व के लिए है। शङ्का होती है कि भले ही किसी वस्तु का अभाव अन्य किसी वस्तु के अभाव के माध्यम से प्रतिपादित किया जाय, उसमें लाभ क्या है। इस पर उत्तर देते हैं—'एवं च = इस प्रकार।' अन्य की निवृत्ति न होने पर शोभनता या अशोभनता जो जैसी रहती है उसकी उसी रूप में प्रतीति होती है। आद्या = प्रथम = ऐसी विनोक्ति जिसमें अशोभनता प्रतीत होती हो। ['विनयेन विना'-पद्य में] 'का श्रीः = श्री कैसी'-का अर्थ निकलता है 'किसी भी प्रकार की श्री नहीं'। इस प्रकार श्री का अभाव प्रतीत हुआ जो अशोभन है। 'विनय न होने पर भी श्री का अभाव ही रहता है' ऐसा कहने से 'श्री' की अशोभनता निकलती है। इस प्रकार श्री की अशोभनता विनय के अभाव में प्रतिपादित की गई। यदि विनय का अभाव न हो तो श्री में निषेधात्मक अशोभनता से उल्टी विध्यात्मक शोभनता ही प्रतीत होती है। इस प्रकार श्री की शोभनता अशोभनता का सारा भार विनय के अस्तित्व अनस्तित्व पर निर्भर है। अन्य स्थलों में भी ऐसी ही योजना करनी चाहिए।

[अलंकाररत्नाकरकार आदि] कुछ आचार्य विनोक्ति को वास्तविकता पर भी निर्भर मानते हैं और वे—

'तुम्हारे बिना उस [बेचारी] को चाँदनी बिना शीतलता की प्रतीति होती है, पुष्पसमुदाय [अथवा वसन्त] बिना सुगन्ध का, और अग्नि बिना ऊष्मा की।'

—ऐसे स्थलों में विनोक्ति को अलंकार मानते हैं। चाँदनी आदि शीतलता आदि से कभी भी अलग नहीं रहती तथापि यहाँ उन्हें उनसे अलग बतलाया गया है। जैसा कि अलङ्कार-भाष्यकार ने [भी] कहा है—'नित्यसम्बद्धानामसम्बन्धवचनं विनोक्तिः' = 'नित्य सम्बद्ध पदार्थों में सम्बन्ध का अभाव बतलाना विनोक्ति कहलाता है'। यह विनोक्ति भी आगे बतलावेंगे। ग्रन्थकार ने जो यह ['विनयेन०' आदि पद्य में ऊपर निर्दिष्ट] विनोक्ति भर यहाँ बतलाई है वह इसलिए कि प्राचीन आचार्य [मम्मट] ने इसी भेद को विनोक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।

[सर्वस्व]

अत्र विनाशब्दमन्तरेणापि विनार्थविवक्षा यथाकथंचिन्निमित्तीभवति यथा सहोक्तौ सहार्थविवक्षा। एवं च—

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव न येन दृष्टा नलिनी प्रबुद्धा॥'

इत्यादौ विनोक्तिरेव। तुहिनांशुदर्शने नलिनीजन्मनोऽशोभनत्वप्रतीतेः।
इयं च परस्परविनोक्तिभङ्ग्या चमत्कारातिशयकृत्। यथोदाहृते विषये।

यहाँ विना शब्द के अभाव में भी विना शब्द के अर्थ की विवक्षा भी ठीक उसी प्रकार जिस किसी प्रकार कारण बन जाती है जिस प्रकार सहोक्ति में [सह शब्द के अभाव में भी] सहशब्द के अर्थ की विवक्षा। और इस प्रकार—

'उस कमलिनी का जन्म निष्फल ही बीत गया जिसने चन्द्रमा का बिम्ब नहीं देखा। और चन्द्रमा का जन्म भी निष्फल ही रहा जिसने प्रबुद्ध कमलिनी को नहीं देखा।'

—इत्यादि स्थलों में विनोक्ति ही अलङ्कार माना जाएगा।

विनोक्ति तब अधिक चमत्कारक होती है जब उसमें दो पदार्थों में एक दूसरे के अभाव से परस्पर में शोभनत्व और अशोभनत्व बतलाया जाता है। जैसे उदाहृत ['निरर्थकं०'] पद्य के स्थल में।

विमर्शिनी

यथाकथंचिदिति। यद्यपि यथा सहशब्दं विनापि सहार्थे तृतीयास्ति तथा विनाशब्दं विनापि द्वितीयादीनां विनार्थे सद्भावोऽस्ति, तथापि वाक्यार्थपर्यालोचनसामर्थ्यात्तदर्थः पर्यवस्यतीत्यस्य भावः। सहशब्दं विनापि सहार्थविवक्षा यथा—

'विवृण्वता सौरभरोरदोषं वन्दित्वं वर्णगुणैः स्पृशन्त्या।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे घ्राणेन दृष्टेर्वृधे विवादः॥'

अत्र घ्राणेन सहेति तत्प्रयोगं विना तत्प्रतीतावेव विश्रान्ते। एवं चेति। यस्माद् विनाशब्दं विनापि तदर्थविवक्षा भवतीत्यर्थः। यथोदाहृत इति निरर्थकमित्यादौ। यथा वा—

हंसाण सरेहिँ विणा सराण सोहा विणा ण हंसेहिं।
अण्णोण्णं चिअ एए अप्पाणं णवरं गरुएंति॥'

यथाकथंचित् = जिस किसी प्रकार अर्थात् यद्यपि जैसे सहशब्द के विना भी सह अर्थ में तृतीया हो जाती है वैसे ही विना शब्द के विना भी विना के अर्थ में द्वितीया आदि होती हैं तथापि उसका अर्थ वाक्यार्थ के पर्यालोचन के बल पर निकलता है।

सहशब्द के विना भी सहशब्द के अर्थ की विवक्षा का उदाहरण यथा—

'कर्णिकार [अमलतास] के फूल उठने पर ऐसा कौन व्यक्ति था जिसकी दृष्टि का उसकी नासिका से विवाद न हो रहा हो। दृष्टि उसके सुवर्णोपम वर्ण की वन्दी बनी हुई थी और नासिका उसमें गन्ध का दारिद्र्य बतला रही थी।' [मंखकृत श्रीकण्ठचरित, इसी पद्य पर मङ्ख को 'कर्णिकार मंख' नाम दिया गया था]

—यहाँ यद्यपि 'सह' शब्द का प्रयोग नहीं है तथापि घ्राणपद में प्रयुक्त तृतीया विभक्ति उसी अर्थ में पर्यवसित होती है।

एवंच = और इस प्रकार अर्थात् जब कि विना शब्द के अर्थ की विवक्षा विना शब्द के विना भी संभव होती है तब। यथा उदाहृत = 'निरर्थकं' पद्यार्थ में। दूसरा उदाहरण यह हो सकता है—

'हंसानां सरोभिर्विना सरसां शोभा विना च हंसैः।
अन्योन्यं चैवेते आत्मानं केवलं गरयन्ति॥'

—हंसों की शोभा सरोवरों के विना नहीं होती और न तो सरोवरों को ही शोभा हंसों के विना। ये दोनों केवल आपस में एक दूसरे को समृद्ध बनाते हैं।

[सर्वस्व]

द्वितीया यथा—

'मृगलोचनया विना विचित्रव्यवहारप्रतिभाप्रभाप्रगल्भः।
अमृतद्युतिसुन्दराशयोऽयं सुहृदा तेन विना नरेन्द्रसूनुः॥'

अत्राशोभनत्वाभावः शोभनपदार्थप्रक्षेपभङ्ग्योक्तः। सैषा द्विधा विनोक्तिः।

द्वितीय [विनोक्ति] यथा—

'यह राजकुमार उस सुन्दरी के विना भाँति भाँति के व्यवहार की प्रतिभा की प्रभा से प्रगल्भ रहता है। इसी प्रकार उस मित्र के विना यह हृदय से चन्द्रमा के समान उज्ज्वल रहा आता है।'—यहाँ अशोभनत्व का अभाव शोभन पदार्थ की उक्ति के द्वारा बतलाया गया है।

इस प्रकार यह विनोक्ति दो प्रकार की हुई।

विमर्शिनी

द्वितीयेति शोभनत्वनिबन्धनोक्तिः ।

द्वितीय विनोक्ति = शोभनता में पर्यवसित होने वाली विनोक्ति ।

विमर्श.—विनोक्ति का पूर्व इतिहास.—विनोक्ति का प्रतिपादन प्रथम बार मम्मट ने ही किया है । भामह, वामन, उद्भट, रुद्रट तथा भोज के ग्रन्थों में यह नहीं मिलती । मम्मट ने इसका निरूपण इस प्रकार किया है—

'विनोक्तिः सा विनान्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।

—जहाँ अन्य के बिना अन्य शोभन न हो अथवा अशोभन न हो वह विनोक्ति । अशोभनत्व का उदाहरण—

'अरुचिर्निशया विना शशी शशिना सापि विना महत्तमः ।
उभयेन विना मनोभवस्फुरितं नैव चकास्ति कामिनोः ॥'

—रात्रि के बिना चन्द्रमा में कोई सौन्दर्य नहीं रहता और रात्रि भी चन्द्रमा के बिना घोर तम सिद्ध होती है । इन दोनों के बिना कामिजनों में काम का स्फुरण नहीं रुचता । मम्मट का यह उदाहरण अन्योन्य विनोक्ति का स्थल माना जा सकता है ।

दूसरा शोभनत्व का उदाहरण—'मृगलोचनया०' पद्य । परवर्ती आचार्यों में अलंकाररत्नाकरकार ने विनोक्ति को सहोक्ति के पहिले रखा है और उसका लक्षण यह किया है—

[सूत्र] 'विना कश्चित् सदसत्त्वे विनोक्तिः' ॥ ४१ ॥

[वृत्ति] केनचिद् विना कस्यचिद् असन्निधानेऽर्थान्तरस्य सत्त्वं शोभनत्वम् असत्त्वमशोभनत्वं वा विनोक्तिः ।

—किसी के बिना अर्थात् किसी के असन्निधान में अन्य किसी अर्थ का सत्त्व = शोभनत्व या असत्त्व = अशोभनत्व विनोक्ति ।

रत्नाकरकार ने विनोक्ति को शाब्द और आर्थ दो भागों बाँटा है । प्रथम के उदाहरण के रूप में शोभनत्व के लिए तो रत्नाकरकार ने भी 'मृगलोचनया०' पद्य ही प्रस्तुत किया है किन्तु द्वितीय के लिए—

'स्वामी पिशुनविमुक्तो मात्सर्यरहितः कविस्तथा लोके ।
विषधररहितोऽपि निधिः प्राप्यते पूर्णपुण्यैः ॥'

—चुगलखोरों से रहित स्वामी, मात्सर्य से रहित कवि और सर्प से रहित निधि पूरे पुण्यों से प्राप्त होते हैं ।'—यह उदाहरण दिया है जिसमें विनोक्ति का आधार ठीक उसी प्रकार वास्तविकता है जिस प्रकार 'तस्याः शैत्यं विना ज्योत्स्ना' इस स्थल में ।

विक्रमाङ्कदेवचरित का ४।१२०—'प्रत्यक्षं मधुनेव०' पद्य रत्नाकरकार ने विना शब्द के अभाव के उदाहरण के रूप में दिया है । यह पद्य सर्वस्व की भी कुछ पाण्डुप्रतियों में मिलता है किन्तु जयरथ और विद्या चक्रवर्ती इसका कोई उल्लेख नहीं करते । कदाचित् रत्नाकर के तुलनात्मक अध्ययन में लगे किसी विद्वान् ने अपनी हस्तलिखित प्रति में उसे जोड लिया होगा ।

रत्नाकरकार ने विनोक्ति को सम, विषम और प्रतिवस्तूपमा अलङ्कारों पर निर्भर माना है । विनोक्ति को अप्पयदीक्षित ने केवल कुवलयानन्द में ही बतलाया है किन्तु व्याख्या नहीं । पण्डितराज ने विनोक्ति का लक्षण 'विनार्थसम्बन्ध'-मात्र किया है, अर्थात् उसमें विनाङ्कित वस्तु की रमणीयता या अरमणीयता का निवेश नहीं किया और दीपक, प्रतिवस्तूपमा तथा श्लेषमूलक

उपमा को सहायक बतलाते हुए, 'निरर्थकं जन्म' पद्य में विनोक्ति की ध्वनि मानी है। इस पद्य का चतुर्थ चरण इनके रसगंगाधर में ऐसा है–'कृता विनिद्रा नलिनीन येन'।

कौस्तुभकार विश्वेश्वर ने विनोक्ति का लक्षण पूर्ववर्ती आचार्यों के ही अनुसार इस प्रकार किया है—

'यत्रान्येन विनान्योऽसाधुः सन् वा विनोक्तिः सा।'

—जहाँ अन्य के बिना अन्य शोभन या अशोभन हो वहाँ विनोक्ति।

अलंकारभाष्य का जो वचन विमर्शिनीकार ने उद्धृत किया है उसको पण्डितराज तथा विश्वेश्वर पण्डित ने भी उद्धृत किया है और वही अरुचि व्यक्त की है जो स्वयं विमर्शिनीकार ने की है। इन तीनों ने वास्तविकता पर निर्भर विनोक्ति को अलंकार मानना अवैज्ञानिक बतलाया है।

प्राचीन आलंकारिकों द्वारा विनोक्ति को अलंकाररूप से न गिनने में हेतु सोचते हुए रत्नाकर-कार ने कहा था कि—'इसमें चमत्कार स्वतः का नहीं अन्य अलंकारों का रहता है'–ऐसा मानकर ही कदाचित् अन्य आचार्य इसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं मानते। वस्तुतः इसमें चमत्कार 'विनाभाव' से निष्पन्न होता है इसलिए इसे अन्य अलंकारों में अन्तर्भूत मानना अनुभवविरुद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी कदाचित् इन्हीं तर्कों पर विनोक्ति की स्वतन्त्रता का मौन समर्थन किया है। उन्होंने लिखा है—

'अलङ्कारान्तरसमालिङ्गनाविर्भूतमेवास्या हृद्यत्वम्, न स्वतः, तेनालङ्कारान्तरत्वमपि शिथिल-मेवेत्यपि वदन्ति।' - अर्थात्—

'इसमें चमत्कार दूसरे अलंकारों के योग से ही आता है, स्वतः नहीं, इस कारण इसे स्वतन्त्र अलंकार मानना भी शिथिल ही है—ऐसा भी कुछ लोग कहते हैं।' स्पष्ट ही उन्होंने—'कुछ लोग' कहकर अपनी असंमति व्यक्त कर दी है। विनोक्ति पर हुए इस आक्षेप के प्रति उनकी असंमति इससे भी स्पष्ट है कि यह पक्ष उन्होंने विनोक्ति के उपसंहार में सूचित किया है वह भी अलंकार-भाष्य के उपर्युक्त मत के पश्चात्। अलंकारकौस्तुभकार ने भी इस पक्ष को अमान्य बतलाया है। स्पष्ट ही विनोक्ति में 'विनाभाव'–का एक स्वतन्त्र चमत्कार रहता है इसलिए इसे सम, विषम, दीपक, प्रतिवस्तूपमा, उपमा या पर्यायोक्त आदि में अन्तर्भूत करना उचित नहीं है।

इस प्रकार सर्वस्वकार ने भेद की प्रधानता पर निर्भर व्यतिरेक, सहोक्ति और विनोक्ति इन तीन अलंकारों का निरूपण किया। वस्तुतः इनमें प्रथम दो ही भेद प्रधान माने हैं। विनोक्ति तो केवल इसलिए बतला दी गई है कि वह सहोक्ति से ठीक उलटी किन्तु चमत्कारक अभिव्यक्ति है। संजीविनीकार ने विनोक्ति के सर्वस्वकारकृत इस संपूर्ण विवेचन का सारसंक्षेप इस प्रकार किया है—

'सदसत्त्वनिवृत्तिश्चेन्निवृत्त्यान्यस्य वर्ण्यते।
तदा द्विधा विनोक्तिः स्याद् विधिरत्र फलं भवेत्॥'

'—अन्य की निवृत्ति से यदि अन्य के शोभनत्व और अशोभनत्व की निवृत्ति बतलाई जाए तो यह दो प्रकार की विनोक्ति होती है। इसमें फल रहता है विधि।'

[सर्वस्व]

अधुना विशेषणविच्छित्त्याश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते। तत्रादौ विशेषण-साम्यावष्टम्भेन समासोक्तिमाह—

[सू० ३२] विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः।

इह प्रस्तुताप्रस्तुतानां क्वचिद् वाच्यत्वं क्वचिद् गम्यत्वमिति द्वैविध्यम्। वाच्यत्वं च श्लेषनिर्देशभङ्ग्या पृथगुपादानेन चेत्यपि द्वैविध्यम्। एतद् द्विभेदमपि श्लेषालंकारस्य विषयः। गम्यत्वं तु प्रस्तुतनिष्ठमप्रस्तुतप्रशंसा-विषयः अप्रस्तुतनिष्ठं तु समासोक्तिविषयः। तत्र च निमित्तं विशेषण-साम्यम्। विशेष्यस्यापि साम्ये श्लेषप्राप्तेः। विशेषणसाम्याद्धि प्रतीय-मानमप्रस्तुतं प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन प्रतीयते। अवच्छेदकत्वं च व्यवहारसमा-रोपः। रूपसमारोपे त्ववच्छादितत्वेन प्रकृतस्य तद्रूपरूपित्वाद् रूपकमेव।

[भेदप्रधान अलंकारों का निरूपण करने के पश्चात्] अब ['समासोक्ति और परिकर' इन] दो अलंकारों का विवेचन करते हैं जिनमें चमत्कार [समास और साभिप्राय] विशेषणों पर निर्भर रहता है। इन दोनों में विशेषणगत समानता [दोनों पक्षों में अन्वित होने की क्षमता अतः श्लिष्टता] को लेकर निष्पन्न होने वाले [और इसीलिए परिकर की अपेक्षा अधिक चमत्कारक] समासोक्ति का निरूपण पहले करते हैं—

[सूत्र ३२] [केवल] विशेषणों के साम्य [=श्लेष] से यदि अप्रस्तुत गम्य हो तो समासोक्ति ॥

[वृत्ति] यहां [अलंकारों में] प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्देश दो प्रकार से किया जाता है (१) वाच्यरूप से और (२) गम्यरूप से। जो निर्देश वाच्यरूप से किया जाता है वह भी दो प्रकार का होता है (१) श्लेष द्वारा और (२) अलग अलग शब्दों द्वारा। ये दोनों ही प्रकार के वाच्य निर्देशों में अलंकार श्लेष ही माना जाता है। किन्तु जहाँ निर्देश गम्यरूप से रहता है वहाँ यदि वह प्रस्तुत विषयक हो [अर्थात् प्रस्तुत अर्थ गम्यरूप से प्रतीत हो] तो अलंकार होता है—अप्रस्तुतप्रशंसा। और यदि अप्रस्तुतविषयक हो [अर्थात् अप्रस्तुत अर्थ गम्यरूप से प्रतीत हो] तो अलंकार को समासोक्ति कहा जाता है। इसका निमित्त होती है केवल विशेषणों की समानता क्योंकि यदि विशेष्य भी [प्रकृताप्रकृतोभय—] समान हो तो वहाँ श्लेष हो जाता है। अप्रस्तुत अर्थ जब विशेषण की समानता से गम्यरूप में प्रतीत होता है तब वह प्रस्तुत का अवच्छेदक होकर प्रतीत होता है। अवच्छेदक होने का अर्थ है व्यवहार का आरोप, रूप का आरोप नहीं। रूप का आरोप मानने पर तो प्रकृत अर्थ अप्रकृत अर्थ से अवच्छादित हो जाएगा और तब वहाँ रूपक होगा। क्योंकि [अप्रकृतरूप से अवच्छादित] प्रकृत वहाँ वस्तुतः अप्रकृत के रूप से रूपित ही होगा।

विमर्शिनी

तत्रेत्यलंकारद्वयमध्यात्। आदाविति प्रधानतया। अस्या हि विशेषणमात्रावष्टम्भा-त्परिकराद्विशेषणसाम्यावष्टम्भत्वेन विशिष्टत्वम्। विशेषणेत्यादि। अस्याश्चालंकारान्त-रेभ्यो विभागं दर्शयितुमुपक्रमते—इहेत्यादिना। वाच्यत्वं चात्र द्वयोः प्रस्तुतयोरप्रस्तुतयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोश्च भवति। गम्यत्वं पुनः क्वचित्प्रस्तुतस्य क्वचिच्चाप्रस्तुतस्य। प्रस्तुताप्रस्तु-तयोस्तु न भवति। ताद्रूप्येण वस्तुसद्भावाभावात्। श्लेषनिर्देशभङ्ग्येति। प्रस्तुतयोरप्रस्तुत-योश्च। पृथगुपादानेनेति। प्रस्तुतयोरप्रस्तुतयोः प्रस्तुताप्रस्तुतयोश्चैतदिति वाच्यम्। अत्र चाप्रस्तुतस्य किंहेतुकं गम्यत्वमित्याह—तत्र चेत्यादि। तत्रेति अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे। विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितमिति न वाच्यम्।

'श्वसनविषमा रात्रिर्ज्योत्स्ना तरङ्गितविभ्रमा शशिमणिभुवो वाष्पायन्ते निमीलति पद्मिनी।
उपचिततमोमोहा भूमिर्व्यनक्ति विवर्णतां तदिति गहने दर्शं दर्शं कथं सखि जीव्यते ॥'

इत्यत्र विशेषणबहुत्वाभावेऽपि समासोक्तेः सद्भावात्। अतश्च विशेषणानां साम्यादीति न सूत्रणीयम्। अबहुत्वे तस्याव्याप्तेः। विशेषणसाम्यमपि कस्मादत्र हेतुत्वं भजत इत्याशङ्कयाह—विशेषणेत्यादि। अप्रस्तुतमिति न पुनरप्रस्तुतधर्मा एव। नह्यन्यधर्मिसंबन्धिनो धर्माः स्वधर्मिणमन्तरेणान्यत्रावतिष्ठन्ते। नह्यनायके नायकधर्माणामन्वयो युज्यते। अन्यधर्माणामन्यत्रान्वयासंभवात्। अत एवान्यारोप्यमाणोऽन्यव्यवहारोऽन्यत्र न संभवतीति तदविनाभावात्तद्व्यवहारिणमाक्षिपतीत्याक्षिप्यमाणेनाप्रस्तुतेन धर्मिणैव प्रस्तुतो धर्म्यवच्छिद्यते न पुनराच्छाद्यते। तथात्वे ह्यप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य रूपरूपितत्वाद्रूपसमारोपः स्यान्न व्यवहारसमारोपः। अत एवाह—प्रस्तुतावच्छेदकत्वेनेति। अत एवाप्रस्तुतस्य गम्यत्वे इति सूचितम्। एवं समासोक्तौ व्यवहारसमारोपादप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य वैशिष्ट्यलक्षणमवच्छेदकत्वं विधीयते। रूपके तु रूपसमारोपाद्रूपरूपितत्वाख्यमाच्छादकत्वमित्यनयोर्भेदः। तेन 'विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्मावच्छेद' इत्यपास्यास्मल्लक्षणानुगुण्येनैव विशेषणसाम्यादप्रस्तुतावच्छेदः समासोक्तिरित्येव सूत्रणीयम्। अतिशयोक्त्याशङ्का पुनरत्र निष्प्रमाणिकैव। विषयस्योपादानाद्विषयिणश्चानुपादानात्।

तत्र = उन दोनों अलंकारों में से। आद्यौ = पहले, पहले इसलिए कि दोनों में यही प्रधान है। समासोक्ति जो है, वह परिकर से अधिक महत्त्व की है क्योंकि परिकर में विशेषण केवल साभिप्राय रहते हैं जब कि समासोक्ति में प्रस्तुत के समान अप्रस्तुत अर्थ में भी अन्वित होने योग्य। 'विशेषण'-इत्यादि [सूत्र है]। अब इसका अन्य अलंकारों से अन्तर दिखलाने के लिये कहते हैं—'इह = यहाँ = अलंकारों में' इत्यादि। यहाँ वाच्यता तो ऐसे भी दो पदार्थों की होती है जो केवल प्रस्तुत हैं, ऐसे भी दो की होती है जो दो केवल अप्रस्तुत हों और ऐसों की भी जिनमें एक प्रस्तुत हो और दूसरा अप्रस्तुत। किन्तु गम्यता कहीं केवल प्रस्तुत की होती है और कहीं केवल अप्रस्तुत की। प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों एक साथ गम्य नहीं होते। इसलिए ऐसा होना कहीं संभव ही नहीं।

श्लेषनिर्देशभङ्ग्या = श्लेष द्वारा निर्देश अर्थात् केवल प्रस्तुतों का ही या केवल अप्रस्तुतों का ही। **पृथगुपादान** = अलग अलग कथन अर्थात् केवल प्रस्तुतों का, केवल अप्रस्तुतों का या प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का। 'इस समासोक्ति में जो अप्रस्तुत गम्य रहता है इसका कारण क्या होता है'—इस पर उत्तर देते हैं—'तत्र च'। तत्र = उसमें = अप्रस्तुत के गम्य होने में। यहाँ यह कोई बाध्यता नहीं है कि विशेषण बहुत ही हों क्योंकि—

'रात समीर से विषम है, चाँदनी तरंग के विभ्रम से युक्त है। चन्द्रकान्तमणि की भूमियाँ आँसू बहा रही हैं, कमलिनी मुँद रही है, तम की अँधियारी बढ़ जाने से भूमि भी अब विवर्ण होती जा रही है—यह सब जंगल में देख देखकर, हे सखि जिस किसी प्रकार जिया जा रहा है।'

—यहाँ आदि में एक एक ही विशेषण है तथापि उसमें [नायिकात्व आदि प्रतीत होने से] समासोक्ति है। इसलिए [सर्वस्वकार और रत्नाकरकार दोनोंको] 'विशेषणों की की समानता' इस प्रकार सूत्र में विशेषण शब्द के साथ बहुवचन नहीं जोड़ना चाहिए। उसे जोड़ने से उस समासोक्ति में लक्षण लागू नहीं होगा जिसमें विशेषण अनेक नहीं होते।

विशेषणसाम्य भी यहाँ हेतु किस कारण बन जाता है—इस शंका पर उत्तर देते हैं—'विशेषण-' इत्यादि। अप्रस्तुत = अप्रस्तुत भी, न कि अप्रस्तुत के धर्म ही। क्योंकि जो धर्म किसी अन्य धर्मी में रहते हैं वे अपने धर्मी को छोड़कर अन्य किसी धर्मी में नहीं

पहुँचते। अनायक में नायक के धर्मों का सम्बन्ध ठीक होता भी नहीं। फिर वस्तुस्थिति यह है कि अन्य के धर्मों का अन्य में सम्बन्ध सभव भी नहीं है। इस कारण सिद्धान्त यह मानना होता है कि जब अन्य का व्यवहार अन्य में सभव नहीं होता तब यदि वह अन्य पर आरोपित किया जाता है तो वह अपने व्यवहारी=धर्मी अर्थात् जिससे वह कभी भी अलग नहीं होता, का आक्षेप कर लेता है और ■■ आक्षेप द्वारा प्राप्त यह अप्रस्तुत व्यवहारी=धर्मी प्रस्तुत व्यवहारी=धर्मी में निविष्ट होता है; ऐसा नहीं कि प्रस्तुत धर्मी अप्रस्तुत धर्मी से अवच्छादित किया जाता है। क्योंकि अवच्छादित किए जाने पर तो प्रस्तुत अप्रस्तुत के स्वरूप से रूपित हो जाएगा फलतः वह रूपका आरोप मानना होगा व्यवहार का नहीं। इसी विषय को मनमें रखकर कहते हैं—'प्रस्तुतावच्छेदकत्वेन'०। इसीलिए सूत्र में 'अप्रस्तुत गम्य हो तो' ऐसा कहा गया है। इस प्रकार समासोक्ति में व्यवहार का समारोप हो जाने पर प्रस्तुत धर्मी अप्रस्तुत धर्मी से विशिष्ट बन जाता है, इसे ही अप्रस्तुत के प्रति अवच्छेदक बनना कहा जाता है।

रूपक में समारोप होता है रूपका, अत: वहाँ प्रकृत को अप्रकृत से अवच्छादित माना जाता है क्योंकि अवच्छादितत्व रूपरूपितत्व का ही दूसरा नाम है। यह है अवच्छेदकत्व और अवच्छादितत्व का परस्पर में अन्तर [इसलिए अप्रस्तुत धर्मी के प्रस्तुत धर्मी में अवच्छेदक बनने में अलंकाररत्नाकरकारने जो रूपक की शंका प्रस्तुत की है वह निर्मूल हो जाती है] और इसीलिए [अलंकाररत्नाकरकार को भी] समासोक्ति लक्षण के लिए—'विशेषणों की समानता के कारण अप्रस्तुत के धर्म से [प्रस्तुत का] अवच्छेद' ऐसा सूत्र न बनाकर हमारे लक्षण के अनुरूप केवल 'विशेषणों की समानता रहने से अप्रस्तुत का अवच्छेद' ऐसा ही सूत्र बनाना चाहिए। और [अलंकाररत्नाकरकार ने प्रस्तुत धर्मी पर अप्रस्तुत धर्मी के अवच्छेद का खण्डन करते हुए] जो अतिशयोक्ति होने की शंका प्रस्तुत की है वह भी बिलकुल निर्मूल है क्योंकि यहां उपादान विषय का ही रहता है और अनुपादान विषयी का ही [जब कि अतिशयोक्ति होती है विषय के अनुपादान तथा विषयी के उपादान होने पर]।

विमर्श:—अलंकाररत्नाकरकार ने समासोक्तिका लक्षण अलंकारसर्वस्वकार से भिन्न किया था और उसका कारण सर्वस्वकार के लक्षण में रूपक या अतिशयोक्ति की संभावना बतलाया था। विमर्शिनीकार ने उसी का खण्डन ऊपर के विवेचन द्वारा किया है। अलंकाररत्नाकर का सम्बन्धित विवेचन इस प्रकार है—

[सूत्र] 'विशेषणानां साम्यादप्रस्तुतधर्मावच्छेदः समासोक्तिः'।

[वृत्ति] (क) समानविशेषणमहिम्ना यत्र प्रस्तुतस्यार्थस्याप्रस्तुतगतगुणक्रियादिरूपधर्मावच्छेदः प्रतीयते सा समासोक्तिः। ततश्चाप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः, न रूपसमारोपः। पृ. ७१

(ख) अत्र विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतवस्तुसम्बन्धिनो धर्मा एव प्रतीयन्ते, न ■ धर्म्यपि; धर्मिणोऽपि प्रतीतौ रूपसमारोपाद् रूपकम् अतिशयोक्तिर्वा स्यात्, न तु समासोक्तिः, अत एव नाप्रस्तुतस्य गम्यत्वम्, अपितु तद्धर्माणामेव। तेन 'अप्रस्तुतस्य गम्यत्व' इत्यादिलक्षणमेव।

[सू०] विशेषणों की समानता के कारण अप्रस्तुत के धर्म का [प्रस्तुत में] अवच्छेद समासोक्ति।

[वृत्ति] (क) समान विशेषणों के बल पर जहाँ प्रस्तुत अर्थ में अप्रस्तुत अर्थ के गुण क्रिया आदि रूप धर्मों का अवच्छेद प्रतीत हो वह समासोक्ति। इस प्रकार यहाँ अप्रस्तुत के व्यवहार का ही आरोप होता है रूपका नहीं।

(ख) यहाँ विशेषणमात्र का साम्य रहता है अत: यहाँ अप्रस्तुत वस्तु के धर्मों की ही प्रतीति होती है, धर्मी की नहीं। धर्मी की भी प्रतीति हो तो आरोप रूप का होगा। तब या तो

रूपक होगा या अतिशयोक्ति; समासोक्ति नहीं। इसीलिए गम्यता अप्रस्तुत की मानना ठीक नहीं है, अप्रस्तुत के धर्मों की ही गम्यता मानना ठीक है। इस कारण [सर्वस्वकार का] 'अप्रस्तुत गम्य हो तो'—इत्यादि समासोक्ति लक्षण ठीक लक्षण नहीं है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी सर्वस्वकार के 'विशेषणसाम्याद्धि-प्रकृतरूपरूपित्वाद् रूपकमेव स्यात्'—इस अंश को उद्धृत किया है और 'तदेतदुक्तिमात्ररमणीयम्'—कहकर इसका खण्डन किया है और तदर्थं प्रायः रत्नाकरकार द्वारा प्रस्तुत तर्क ही उपस्थित किए हैं। किन्तु विमर्शिनीकार द्वारा प्रस्तुत समाधान से वे सहमत हैं। पण्डितराज ने प्रस्तुत धर्मी पर अप्रस्तुत धर्मी का आरोप तो स्वीकार नहीं किया, किन्तु वे उन दोनों धर्मियों के अभेद को अस्वीकार नहीं कर सके। उनकी पंक्ति है—

(क) विशेषणसाम्यमहिम्ना प्रतीतोऽप्रकृतवाक्यार्थः स्वानुगुणं नायिकादिमर्धमाक्षिप्य तेन परिपूर्णविशिष्टशरीरः सन् प्रकृतवाक्यार्थे स्वावयवतादात्म्यापन्नतदवयवोऽभेदेनावतिष्ठते। स च परिणाम इव प्रकृतात्मनैव कार्योपयोगी, स्वात्मना च रसाद्युपयोगी।

(ख) अप्रकृताभिन्नतया व्यवसितः प्रकृतव्यवहारः स्वविशेष्ये तद्विशेष्याभिन्नतयाऽवस्थिते भासते।

—[क] विशेषणसाम्य के बल पर प्रतीत हुआ वाक्यार्थ अपने अनुरूप नायिका आदि धर्मी का आक्षेप कर लेता है, और उसके द्वारा उस अप्रस्तुत वाक्यार्थ का शरीर पूर्ण हो जाता है। तब वह प्रकृतवाक्यार्थ में अभेद सम्बन्ध से सम्बन्धितप्रतीत होता है, इस अभेद में कारण होता है दोनों वाक्यार्थों के अवयवों का परस्पर में अभेद। अप्रकृत अर्थ कार्योपयोगी होता है प्रकृतरूप से ही। अपने आप के रूप में वह रसोपयोगी बनता है।

[ख] प्रकृत व्यवहार अपने अप्रकृत धर्मी से अभिन्नरूप से प्रतीत हो रहे—धर्मी में अप्रकृत व्यवहार से अभिन्नरूप से भासित होता है। पण्डितराज ने कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित को सर्वस्वकार की आद्या का अनुवर्ती कहा है और उनका विभिन्न सात तर्कों द्वारा खण्डन किया है।

[सर्वस्व]

तच्च विशेषणसाम्यं श्लिष्टतया साधारण्येनौपम्यगर्भत्वेन च भवत् त्रिधा भवति तत्र श्लिष्टतया यथा—

'उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद्गलितं न लक्षितम्॥'

अत्र निशाशशिनोः श्लिष्टविशेषणमहिम्ना नायकव्यवहारप्रतिपत्तिः। अपरित्यक्तस्वरूपयोर्निशाशशिनोर्नायकताख्यधर्मविशिष्टयोः प्रतीतेः। साधारण्येन यथा—

'तन्वी मनोरमा बाला लोलाक्षी पुष्पहासिनी।
विकासमेति सुभग भवद्दर्शनमात्रतः॥'

अत्र तन्वीत्यादिविशेषणसाम्याल्लोलाक्ष्या लताव्यवहारप्रतीतिः। तत्र च लतैकगामिविकासाख्यधर्मसमारोपः कारणम्। अन्यथा विशेषणसाम्यमात्रेण नियतलताव्यवहारस्याप्रतीतेः। विकासश्च प्रकृते उपचरितो ज्ञेयः। एवं च कार्यसमारोपेऽपि ज्ञेया। इयं च समासोक्तिः पूर्वापेक्षयाऽस्पष्टा।

यह जो विशेषणसाम्य है यह (१) श्लिष्ट रूप से (२) साधारणरूप से और (३) उपमागर्भितरूप से होता है, अतः तीन प्रकार का होता है। इन तीनों में से प्रथम श्लिष्ट विशेषणसाम्य का उदाहरण है।

'राग लिए चन्द्र ने निशा का चंचल ताराओं वाला मुख इस प्रकार पकड़ा कि उसने राग के कारण सामने से ही सारे के सारे जिसके अन्धकाररूपी अंशुक को भी नहीं जाना।'

—यहाँ जो निशा और शशी के विशेषण हैं वे श्लिष्ट हैं। उनके आधार पर यहाँ नायक तथा नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है, क्योंकि यहाँ निशा और शशी अपना स्वरूप बिना छोड़े नायकता [नायिकात्व तथा नायकत्व] नामक धर्म से युक्त प्रतीत होते हैं।

साधारणधर्मरूप से (विशेषणसाम्य), यथा—'हे सुभग! तुम्हें देखने भर से वह तन्वी, मनोरमा, बाला और पुष्पहासिनी चचलाक्षी खिल उठती है।'

—यहाँ 'तन्वी' आदि विशेषणों के साम्य से चचलाक्षी शब्द से कथित नायिका में लता के व्यवहार की प्रतीति होती है। इसमें कारण है विकास नामक धर्म का समारोप जो एकमात्र लता का ही धर्म है। इसके बिना अन्य विशेषणों के समान होने पर भी उतने भर से लता के व्यवहार की प्रतीति निश्चितरूप से न होती। प्रस्तुत अर्थ [नायिका] में विकास को लाक्षणिक समझना चाहिए। [इस उदाहरण से] यह भी जान लेना चाहिए कि [न केवल व्यवहार या धर्म के ही समारोप से अपितु] कार्य के समारोप से भी समासोक्ति होती है [क्योंकि इस पद्य में 'विकसित होना' = 'खिलना' एक क्रिया है]। यह जो [क्रिया के समारोप से सभव] समासोक्ति है पूर्ववर्ती समासोक्ति की अपेक्षा कुछ कम स्पष्ट है।

विमर्शिनी

तदिति अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे निमित्तम्। तत्रेति निर्धारणे। नायकेति सरूपयोरेकशेषः। अपरित्यक्तस्वरूपयोरिति। रूपरूपितत्वे हि परित्यक्तं स्वस्वरूपं स्यात्। तत्रेति। लताव्यवहारप्रतीतौ। ननु यदि लतैकगाम्येव विकासाख्यो धर्मस्तत्कथं प्रकृते संगच्छत इत्याशङ्क्याह—विकास इत्यादि। एतदेवान्यत्रापि योजयति—एवमित्यादिना। तदेवं साधारण्येन समासोक्तेर्विशेषणसाम्ये सत्यप्यप्रकृतसम्बन्धि धर्मकार्यसमारोपमन्तरेण तद्व्यवहारप्रतीतिर्न भवतीति सिद्धम्।

तत् = वह विशेषणसाम्य अर्थात् वह विशेषणसाम्य जो अप्रस्तुत की गम्यता में कारण बनता है। **तत्र** = इनमें, यह निर्धारणार्थक है। **नायक** = शब्द में एकशेष समास है क्योंकि नायक और नायिका ये दोनों शब्द समान रूप वाले हैं। **'अपरित्यक्तस्वरूपयोः'** = 'अपना स्वरूप बिना छोड़े' = इस रूप का आरोप होता है तब [आरोप के विषय निशा शशी आदि का] अपना स्वरूप छूट जाता है। **तत्र** = इसमें अर्थात् लताव्यवहारप्रतीति में। 'यदि विकास धर्म केवल लतामात्र में अन्वित होने वाला है तो फिर वह प्रकृत नायिका में अन्वित कैसे होगा' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'विकास०' इत्यादि। इसी विषय में से एक नवीन तथ्य का निर्देश करते हुए कहते हैं—'एवम्'। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि साधारण्य से निष्पन्न समासोक्ति में विशेषणों का साम्य रहता है तथापि अप्रकृत से सम्बन्धित धर्म अथवा कार्य के समारोप के बिना उस [अप्रकृत] के व्यवहार की प्रतीति नहीं होती। [नीचे दिए विवेचन में पण्डितराज ने मूल का खण्डन करते हुए विमर्शिनी के इस अंश को निरस्त कर दिया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'तन्वी मनोहरा'—इस पद्य में व्यस्तरूपक मानना उचित बतलाया है, और अलङ्कारसर्वस्वकार का खण्डन करते हुए समासोक्ति को अमान्य ठहराया है। उनका प्रधान तर्क यह है कि इस पद्य में

अन्य अर्थ की प्रतीति एक मात्र साधारण धर्म के आधार पर न होकर 'विकास'-रूपी असाधारण धर्म के आधार पर हो रही है। समासोक्ति केवल वहीं मानी जा सकती है जहाँ सभी विशेषण साधारण हों। उन्होंने सर्वस्वकार पर यह भी दोष लगाया है कि उनकी यह मान्यता उन्हीं के सूत्र के विरुद्ध है। सूत्र में विशेषणों की साधारणता को अन्यार्थ की प्रतीति में कारण बतलाया गया है जब कि यहाँ असाधारणता को। पण्डितराज का कथन अधिक संगत प्रतीत होता है। [द्र० रसगंगाधर पृ० ५०९-१०, नि. सा. सं. ६]

[सर्वस्व]

औपम्यगर्भत्वेन यथा—

'दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा॥'

अत्र दन्तप्रभा पुष्पाणीवेति सुवेषत्ववशादुपमागर्भत्वेन कृते समासे पश्चाद्दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेति समासान्तराश्रयणेन समानविशेषणमाहात्म्याल्लताव्यवहारप्रतीतिः। अत्रैव 'परीता हरिणेक्षणा' इति पाठे उपमारूपसाधकबाधकाभावात् संकरसमाश्रयेण कृते योजने पश्चात् पूर्ववत् समासान्तरमहिम्ना लताप्रतीतिर्ज्ञेया। रूपकगर्भत्वेन तु समासान्तराश्रयणात् समानविशेषणत्वं भवदपि न समासोक्तेः प्रयोजकम्। एकदेशविवर्तिरूपकमुखेनैवार्थान्तरप्रतीतेस्तस्या वैयर्थ्यात्। स च पूर्वदर्शितोपमासंकरविषये एव न्यायः। उपमासंकरयोरेकदेशविवर्तिनोरभावात्। तच्चैकदेशविवर्तिरूपकमश्लेषेण श्लेषेण च भवतीति द्विविधम्। अश्लिष्टं यथा—

'निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किं नु वान्तश्चन्द्रोऽयमित्यार्ततरं ररास॥'

अत्र निरीक्षणानुगुण्याद्विद्युन्नयनैरिति रूपके पयोदस्य द्रष्टृपुरुषनिरूपणमार्ततरं ररासेत्यत्र प्रतीयमानोत्प्रेक्षाया निमित्तत्वं भजते। श्लिष्टं यथा—

'मदनगणनास्थाने लेख्यप्रपञ्चमुदञ्चयन्
विचकिल-बृहत्पत्रन्यस्तद्विरेफमषीलवैः।
कुटिललिपिभिः कं कायस्थं न नाम विसूत्रयन्
व्यधित विरहिप्राणेष्वायव्ययावधिकं मधुः॥'

[श्री० च० ६।७०]

अत्र हि पत्त्रलिपिकायस्थशब्देषु श्लेषगर्भं रूपकं द्विरेफमषीलवैरित्येतद्रूपकनिमित्तम्। अस्य च प्रचुरः प्रयोगविषय इति न समासोक्तिबुद्धिः कार्या।

उपमागर्भित विशेषणसाम्य का उदाहरण यथा—'दन्तप्रभापुष्प से खचित, पाणिपल्लव से सुशोभित और केशपाशभ्रमराली से सुवेष है यह मृगाक्षी।'

—यहाँ [नायिका में लताव्यवहार की प्रतीति होती है किन्तु] सुवेषत्व [केवल नायिका का धर्म है अतः उस] के कारण [सभी विशेषणों को नायिकापक्ष में अन्वित करने हेतु] पहिले 'दन्तप्रभा पुष्प के समान' ऐसा उपमागर्भित [उपमित-] समास करना होता है, तत्पश्चात् [उन्हीं विशेषणों को लतापक्ष में अन्वित करने हेतु] 'दन्तप्रभासदृश पुष्प' इस प्रकार एक दूसरा [मध्यमपदलोपी या विशेषण] समास अपनाना पड़ता है तब कहीं विशेषणों की समानता बनती और लताव्यवहार की प्रतीति होती है। यहीं यदि 'परीता = घिरी हुई है मृगाक्षी' ऐसा पाठ होता [अर्थात् केवल नायिका में ही अन्वित होने वाला सुवेषत्व जैसा कोई विशेषण न रहता] तो न तो यहाँ उपमा का साधक प्रमाण रहता और न रूपक का बाधक। तब [विग्रहवाक्य में] दोनों का संकर मानकर पदार्थ योजना की जाती [किन्तु तब भी नायिका पक्ष प्रथम पक्ष है अतः उसके अनुरूप विशेषणयोजना में सहायक उपमितिसमासमूलक विग्रह पहले किया जाता और] तत्पश्चात् पूर्ववत् अन्य समास [मध्यमपदलोपी या विशेषण समास] के आधार पर लता प्रतीति होती हुई मानी जाती। यदि [यहाँ विशेषण में सीधे सीधे] रूपक ही माना जाय और तदर्थ अन्य समास [मध्यमपदलोपी या विशेषण] ही यहाँ [प्रथमतः] अपनाया जाय तो यहाँ विशेषणों में समानता [उभयपक्ष में अन्वय की योग्यता] तो आ जाएगी, किन्तु उसमें समासोक्ति की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि तब दूसरे अर्थ [लता] का बोध एकदेशविवर्ती रूपक से ही हो जायगा फलतः उस [इस समासोक्ति का कोई प्रयोजन नहीं रहेगा] वह व्यर्थ पड़ जाएगी। यह स्थिति पूर्वदर्शित उपमा तथा संकर के विषय में लागू न होगी क्योंकि उपमा और संकर एकदेशविवर्ती नहीं होते।

[सर्वस्व के 'औपम्यगर्भत्वेन' इस अंश से लेकर 'उपमासङ्करयोरेकदेशविवर्त्तिनोरभावात्'— इस अंश तक स्पष्टीकरण पण्डितराज जगन्नाथ ने अपनी भाषा में इस प्रकार किया है—'औपम्यगर्भत्वेनापि विशेषणसाम्ये समवति। यथा - 'दन्त-प्रभा' अत्र हरिणेक्षणामात्रवृत्ते सुवेषत्वस्य महिम्ना दन्तप्रभासदृशानि पुष्पाणीत्यादि योजनां विहाय दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्याद्युपमितसमासाश्रयेण कृते योजने प्रकृतार्थसिद्धौ सत्यां वृत्त्यन्तरेण त्यक्ताया अपि योजनाया पुनरुज्जीवने पुष्पपल्लवालिवृन्दैरूपमेयैराक्षिप्ताया लतायाः प्रत्ययादत्र तद्व्यवहारारोपः। एवं सुवेषेत्यपहाय परीतेति कृते उपमारूपकसाधकबाधकप्रमाणाभावात् तदुभयसंशयरूपसंकराश्रयेण कृते योजने पश्चात् पूर्वोक्तरीत्या लताप्रतीतेः समासोक्तिरेव। समासभेदनार्थं भेदेऽपि शब्दैक्यमादाय श्लिष्टमूलायामिव विशेषणसाम्य बोध्यम्। आदावन्ते वा रूपकाश्रयेण दन्तप्रभा एव पुष्पाणीति योजने कृते] हरिणेक्षणादौ आक्षिप्तलतातादात्म्यकेनैकदेशविवर्त्तिरूपकेणैवाप्रकृतार्थप्रत्ययोपपत्तेर्नात्र समासोक्तेरत्र।'

—विशेषणसाम्य औपम्यगर्भित भी होता है। यथा—'दन्त प्रभा०' पद्यार्थ में। हरिणेक्षणामात्र के विशेषण के सुवेषत्व के बल पर 'दन्तप्रभासदृश पुष्प' इत्यादि योजना को छोड़कर दन्तप्रभा पुष्पों के समान इत्यादि उपमित समास की योजना करनी पड़ती है। तब प्रकृत (हरिणेक्षणापक्षीय) अर्थ की सिद्धि होती है। इसके पश्चात् व्यंजना द्वारा छोड़ी हुई समासयोजना को पुनः जिलाया जाता है। तब पुष्प, पल्लव और अलिवृन्द रूपी उपमेयों से लतारूपी उपमेय की प्रतीति आक्षेप से होती है फलतः उसके व्यवहार का आरोप नहीं हो पाता [जिससे यहां रूपक हो सके] किन्तु 'सुवेष' इस पद को छोड़कर 'परीता' यह पद अपना लिया जाए तो न तो यहां उपमा का साधक कोई प्रमाण रहेगा और न रूपक का बाधक। इसलिए इन दोनों का संदेह संकर होगा। इस संकर की प्रतीति पहले होगी, तब पूर्वोक्तरीति से लता की प्रतीति होने पर यहां समासोक्ति ही होगी। यद्यपि समास बदलने से अर्थ बदल जाएगा तथापि शब्द नहीं बदलेंगे इसलिए जैसे श्लेषमूला समासोक्ति में विशेषणसाम्य होता वैसे ही यहाँ भी हो जायगा। किन्तु

यदि आरम्भ या अन्त में रूपक के अनुरूप 'दन्तप्रभा की पुष्प' ऐसी योजना की गई तो हरिणेक्षणा रूपी अर्थ पर आक्षिप्त लता रूपी अर्थ का तादात्म्य भासित होगा फलतः यहाँ एकदेशवर्त्ती रूपक हो जाएगा। और तब अप्रकृत अर्थ की प्रतीति उसीसे ही जाएगी, निदान यहाँ समासोक्ति का कोई प्रयोजन ही न रहेगा।]

यह एकदेशविवर्त्ती रूपक कहीं श्लेषरहित होता है और कहीं श्लेषसहित। दोनों में से [प्रथम] श्लेषरहित का उदाहरण यथा—

'मेघ विद्युन्नयनों से रात में अभिसारिका का मुख देखकर कदाचित् यह सोचकर अधिक आर्त्तता के साथ नाद करता है कि क्या गिरती धाराओं के साथ यह चन्द्र गिर पड़ा है?'

—यहाँ निरीक्षण [रूपोकार्य नयनों में संभव है और उसका अन्वय नयनों के साथ तब संभव है जब समास में उन्हीं की प्रधानता हो और ऐसा समास वही समास होगा जिससे रूपक की निष्पत्ति होती है, इस प्रकार निरीक्षण रूपक का] साधक है फलतः 'विद्युन्नयन'शब्द में ['विद्युद्रूपी नयन' इस प्रकार] रूपक सिद्ध हो जाता है। उससे मेघ में द्रष्टा पुरुष का निरूपण होता है। वह 'अधिक आर्त्तता के साथ नाद करना है'—इस प्रकार की प्रतीयमान उत्प्रेक्षा में कारण बनता है।

श्लेषसहित का उदाहरण यथा—

'मदन [रूपी राजा] के गणनास्थान में विचकिलवृक्षों के विशाल पत्तों [रूपी पत्रों] पर न्यस्त भ्रमररूपी मसीबिन्दुओं से लेखा जोखा का प्रपंच फैलाते हुए मधु ने विरहियोंके प्राणों का आयव्यय अधिक बढ़ा दिया। इस प्रकार उसने कुटिल [और कूट] लिपि के लिए प्रसिद्ध [उपलक्षण में तृतीया] किस कायस्थ [काय = शरीर में स्थ = स्थित = आत्मा तथा काय = राज्याधिकरण में स्थ = स्थित = लेखपाल आदि अधिकारी] को व्यथित नहीं किया।

यहाँ जो है सो, पत्र, लिपि और कायस्थ शब्दों में श्लेषमूलक रूपक है। यह रूपक द्विरेफ मषीलव शब्द से प्रतिपादित [भौरों पर स्याही की बूँदों के] रूपक का निष्पादक है।

इस एकदेशविवर्त्ती रूपक का प्रयोग बहुत अधिक होता है। यह समझे रहना चाहिए और वहाँ समासोक्ति नहीं समझ बैठना चाहिए।

विमर्शिनी

सुखेपर्वं प्रकृतार्थ एवानुगुणमित्युपमायाः साधकम् अतश्च तत्समासाश्रयः। समासान्तराश्रयणेनेति। यद्यप्यत्रोपमासमास एव स्थितस्तथाप्युपमानोपमेययोर्ध्वययादेव समासान्तरत्वमुक्तम्। पूर्वापेक्षयास्यान्यथात्वात्। अत्रैवेति दन्तप्रभेत्यादौ। उपमारूपकसाधकबाधकाभावादिति। परीतत्वस्य हि प्रकृताप्रकृतयोस्तथा नानुगुण्यमिति साधकत्वाभावः। तथा च न विगुणत्वमिति बाधकत्वाभावः। अतश्चैकपक्षाश्रयाभावादुपमारूपकयोः संदेहसंकरः। तस्य समाश्रय ·उभयसमासग्रहणम्। तच्चैकस्मिन्नेव वाक्ये न संभवतीति कामचारेण तयोर्ग्रहणम्।

संकरसमाश्रयेणाप्युपमासमासयोजने कृते यद्वदयमेवालंकारस्तद्वद्रूपकसमासयोजनेऽपि किमयमेव किमुतालंकारान्तरमित्याशङ्क्याह—रूपकेत्यादि। एतच्च सादादपि रूपकगर्भे समासे योज्यम्, समानन्यायत्वात्। यद्येवं तर्ह्युपमासमाश्रयेऽप्येकदेशविवर्त्युपमामुखेनैवार्थान्तरप्रतीतेः किं नैतदवतीत्याशङ्क्याह—न चेत्यादि। एष इति रूपकोक्तः। अभावादिति उद्भटमतेन। यदाहुः—'न च रुद्रटस्येवोद्भटस्यैकदेशविवर्ति-

रूपकवदुपमासङ्करावेकदेशिनौ स्तः।' अतश्चैतत्तन्मताभिप्रायेणोक्तम् । ग्रन्थकृन्मते हि वक्ष्यमाणनीत्या तयोः सम्भवः । ननु यदि तयोर्ग्रन्थकृन्मते सम्भवस्तदौपम्यगर्भविशेषणोत्थापितः समासोक्तिप्रकारस्तर्हि न सम्भवति । तस्यैकदेशविवर्तिरूपकवदेकदेशविवर्तिन्या-मुपमासङ्कराभ्यामेवार्थान्तरप्रतीतिसिद्धेर्वैयर्थ्यात् । नैतत् । यतोऽस्त्येव तावदौपम्यगर्भ-विशेषणहेतुकत्वं समासोक्तेः । किंत्वेतदन्यभेदसहचरितमेवाग्रया निमित्ततां भजते न पुनः केवलम् । तथात्वे हि विशेषणानामौपम्यगर्भत्वे एकदेशविवर्तिन्या उपमायाः प्राप्तिः । तत्र श्लिष्टत्वसहचरितमेतद्यथा—

'परिपिञ्जरितासिताम्बरैर्निबिडैः कं न हरन्ति हारिभिः ।
अयि सायमिमाः पयोधरैः स्फुटरागाश्चलतारका दिशः ॥'

अत्र 'स्फुटसंध्यातपकुङ्कुमैः' इति पाठे सन्ध्यातपकुङ्कुमैरित्यौपम्यगर्भं विशेषणम् । साधारण्यसहचरितं यथा—

'तन्वी मनोरमा बाला लोलाक्षी स्तबकस्तनी ।
विकासमेति सुभग भवद्दर्शनमात्रतः ॥'

अत्र स्तबकस्तनीत्यौपम्यगर्भं विशेषणम् । शुद्धकार्यसमारोपसहचरितं यथा—

'समारुरोहोपरिपादपानां लुलोठ पुष्पोत्कररेणुपुञ्जे ।
लताप्रसूनांशुकमाचकर्ष क्रीडन्वने किं न चकार चैत्रः ॥'

अत्र प्रसूनांशुकमित्यौपम्यगर्भविशेषणम् । केवलत्वे पुनरेतेषामेकदेशविवर्तिन्युपमैव यथा—

'यत्नो लीलाधरदलस्फुरद्दशनकेसरम् ।
भ्रूविलासालिवलयं ललितं ललनामुखम् ॥'

अत्र ललितत्वमुपमासाधकम् । समासान्तराश्रयात् समानविशेषणत्वं भवदपि नात्र समासोक्तेः प्रयोजकम् । एकदेशविवर्त्युपमामुखेनैवार्थान्तरप्रतीतेरस्तस्या वैयर्थ्यात् । एवं दन्तप्रभेत्यादावपि ज्ञेयम् । दन्तप्रभाः पुष्पाणीत्येव समासे कृते उपमानभूताया लतायाः प्रतीतिसिद्धेः समासान्तराश्रयेणागतायास्तत्प्रतीतेर्वैयर्थ्यात् । अप्रकृतागूरणे हि कवेः संरम्भः तच्चानयैव सिद्धमिति किं समासोक्त्या । चिरंतनानुरोधात् पुनरत्र ग्रन्थकृता समासोक्तिरुक्ता । यत्तु 'यत्र समासोक्तायामुपमायां समासान्तरेण विशेषणसाम्यं योजयितुं शक्यं तत्रौपम्यगर्भविशेषणप्रभाविता समासोक्तिरुक्ता' इति वक्ष्यति तदपि चिरंतनानुरोधपरमेव । अन्यथा हि समानन्यायत्वादेकदेशविवर्तिनि रूपकेऽपि यत्र समानविशेषणत्वं योजयितुं शक्यं तत्रापि समासोक्तिरिति किं नोक्तम् । यत्तु नोक्तं तद्युक्तम् । रूपकमाहात्म्यात् प्रथममेव तत्प्रतीतिसिद्धेरनन्तरं समासोक्तिमुखेनाप्रकृतप्रतीतेर्वैयर्थ्यात् ।

'आह्लादिचन्द्रवदना स्फुरत्तारकमौक्तिका ।
घनान्धकारधम्मिल्ला राजते गगनस्थली ॥'

इत्यादौ पुनरुपमायाः साधकाभावादेकदेशविवर्ति रूपकमेवेति न समासोक्तिभ्रमः कार्यः । न चैवमादावुपमारूपकयोः संदेहसंकरो न्याय्यः । तस्यालङ्कारसारकारादिभिर्निराकृतत्वात् । समासोक्तिलक्षणावसरे किं रूपकनिरूपणेनेत्याशङ्क्याह—अस्या इत्यादि ।

'सुवेषत्व' के प्रकृत अर्थ [नायिका पक्ष] में ही अन्वित होता है इसलिए वह उपमा का ही साधक है, अतः उस पक्ष में [विशेषणों के लिए] उसी [उपमा] का समास अपनाया जाता है।

—[शिवपरक अर्थ]—'जिन्होंने काम को ध्वस्त किया है, जिन्होंने एक बार (त्रिपुरवध के समय) विष्णु के शरीर को अस्त्र बनाया था, जो फनफनाते सर्पों के हार और कंकण पहने रहते हैं, जिन्होंने (स्वर्ग से गिरती) गंगा को धारण किया था, देवगण जिनके सिर को चन्द्रमा से युक्त कहते, तथा जिनका 'हर' यह स्तुत्य नाम पुकारते हैं ऐसे अन्धकासुर के निहन्ता पार्वती प्रिय स्वयं भगवान् शंकर आपकी रक्षा करें।'

[विष्णुपरक] 'जो अजन्मा हैं और जिन्होंने शकटासुर को ध्वस्त किया है, जिन्होंने अपना बलि को जीतने वाला शरीर [अमृत बांटते समय मोहिनी अवतार में] स्त्री शरीर बना दिया था, जिन्होंने फनफनाते [कालिय] सर्प का दमन किया, जो चक्र को धारण किए हैं, जिन्होंने [गोवर्धन] पर्वत और [पाताल गई] पृथिवी को धारण किया, देवलोग जिसका 'राहुशिरोभंजक' यह स्तुत्य नाम लेते हैं वे अन्धकवंश को [द्वारकामें] बसाने वाले और उसके विनाश करने वाले, सर्वस्वदाता स्वयं भगवान् विष्णु आपकी रक्षा करें।

[ये दोनों अर्थ इस पद्य के शब्दों को तोड़ने से निकलते हैं। यथा शिवपक्ष में ध्वस्तमनोभव = ध्वस्त किया मनोभव कामको जिसने, विष्णुपक्ष में ध्वस्तम् अनः अभवेन = जिसने अन = शकट = शकटासुर को ध्वस्त किया है तथा जो अजन्मा है। बलिजित्काय = बलिजित् = विष्णु, बलिको जीतने वाला शरीर, पुरास्त्रीकृत = शिवपक्ष में पुरा अस्त्रीकृत, वि० प० में पुरा स्त्रीकृत, उद्वृत्त भुजंगहारवलयः = शि० प० में—उद्वृत्त भुजंगों के हार और वलयवाले अथवा अ = विष्णु उनका रव = नाम उसमें लय है जिनका, वि० प० में = उद्वृत्त भुजंग के हा—'मारक', अरवलय = चक्र तद्वान्, शिवपक्ष में = गंगां = गंगाको विष्णुपक्ष में = अगं गां = पर्वत तथा पृथिवी को, शशिमच्छिरोहर = शि० प० में—शशिमान् शिर वाले, तथा हर इस नाम वाले, वि० प० में—शशी को मथने = मसलनेवाले राहु का शिर हरने वाले, अन्धकक्षयकर = शि० प० में—अन्धकासुर का क्षय विनाश करने वाले, वि० प० में—अन्धकवंश के लिए क्षय = निवासस्थान उसका बनाने वाले तथा उसका क्षय = विनाश करने वाले, सर्वदोमाधव = शि० प० में सर्वदा उमाधव = उमा के पति शिव, वि० प० में—सर्वदः = सबकुछ देने वाला, माधव मा = लक्ष्मी के धव = पति = विष्णु।]

[दोनों अप्राकरणिक अर्थ यथा]—

'नीलानामाकुलीभावम्' यह पद्य। [इसमें दो अर्थ निकलते हैं १–पद्मपरक, २–हरिणपरक। प्रथम के पक्ष में श्लोक अर्थ होगा—]

'उसके नेत्र अनेक लुब्ध भौरों से आकुल और पानी में उग कर बढ़े कमलों के समान हैं।'

दूसरा पक्ष—उसके नेत्र अनेक बाण वाले बहेलियों द्वारा आकुल हुए जंगली हिरणों [के नेत्रों] के समान हैं।

[कमल पक्ष = लुब्ध = लोभी, शिलीमुख = भ्रमर, वन = जल, कमल = पद्म। हरिणपक्ष = लुब्ध = बहेलिया, शिलीमुख = बाण, वन = जंगल, कमल = हिरन—]

[एक प्राकरणिक और एक अप्राकरणिक अर्थ, तथा विशेषण और विशेष्य दोनों का शब्दतः कथन—यथा]—'स्वेच्छोप०' पद्य का यह अर्थ—

'खेद की बात है कि नासमझ स्वामी काम के समान होता है जो स्वेच्छोपजातविषय [प्रभु = अपनी इच्छा भर विषय = धनधान्यादि, काम = अपनी इच्छा के अनुसार विषय = स्त्री आदि] पाकर भी मार्गणशत के द्वारा [प्रभु = सैकड़ों याचकों द्वारा] 'देहीति' [प्रभु = देहि = दीजिए, इति ऐसा] कहा नहीं जाता, और दुःख देता है [काम भी मार्गणशत = सैकड़ों बाणों के द्वारा दुःख देता है और देहीति = देही = शरीरी आत्मा नहीं कहा जाता] और मोह से [प्रभु नासमझी से,

काम = मूर्च्छा से] जीवित को [प्रभु-जीविका को, काम = प्राणों को] भी एकाएक नष्ट कर देता है।'

—इन [तीनों पद्यों में से प्रथम पद्य] में शिव और विष्णु दोनों प्राकरणिक हैं, [द्वितीय पद्य में] पद्म और मृग दोनों उपमान हैं इसलिए अप्राकरणिक हैं [और तीसरे पद्य में] स्वामी प्राकरणिक है और काम अप्राकरणिक।

यह शब्द, अर्थ और दोनों में रहता है, इसलिए तीन प्रकार का होता है। इनमें शब्द का श्लेष वह होता है जिसमें उदात्त आदि स्वर का अन्तर पड़ जाता है फलतः [उच्चारण के] प्रयत्न में अन्तर आ जाता है अतः शब्द भी बदल जाता है। यहाँ प्रायः शब्द टूटता है। अर्थ श्लेष वहाँ होता है जहाँ स्वर आदि का भेद नहीं होता। इसीलिए इसमें शब्दों में भङ्ग (टूट) नहीं रहता। उभयश्लेष होता है इन दोनों के एकत्रीकरण से।

यथा—

पद्म ठीक वैसे ही सुशोभित हो रहे थे जैसे श्रमण। क्योंकि वे लाल वर्ण के छद (पखुड़ी) धारण किये हुए थे [श्रमण भी लाल वर्ण का छद = कन्था धारण करते हैं], वे विकच [खिले हुए थे, श्रमण भी कच = केशों से रहित = विकच = मुण्डित सिर होते हैं], जलों में सगत = डूबी नाल को धारण किए हुए थे और श्रमण भी जड़ व्यक्तियों का अधिक साथ नहीं करते = [अलेषु = जडेषु अलम् = अधिक, सगतम् = साहचर्यं न आदधाना.] [अन्य] पुष्पों की सपूर्ण रुचि निरस्त कर चुके थे। [श्रमण भी पुष्प = स्त्री या पुष्पधन्वा काम की सपूर्ण रुचि = चाह समाप्त कर देते हैं]।

—यहाँ 'रक्तच्छदत्व' आदि [आदि पद से विकचत्व, पुष्परुचिनिरसन] में अर्थश्लेष है और 'नाल' आदि [आदि शब्द] में [नाल तथा न अलम्; जल तथा जड इस शब्दभेद होने से] शब्दश्लेष है। क्योंकि यहाँ दोनों एक ही वाक्य में मिलित हैं इसलिए यहाँ उभयश्लेष हुआ। तीनों के उदाहरण अलग-अलग नहीं दिए ग्रन्थ कलेवर बढ़ने के भय से।

विमर्शिनी

एष इति त्रिविधोऽपि श्लेषः। तत्रेति त्रयनिर्धारणे। यत्रेति शब्दश्लेषे। अत एवेति स्वरादिभेदाभावात्। सकलनयेति सभङ्गाभङ्गपदसंमेलनया। पृथगिति भेदेन। तत्र शब्दश्लेषो यथा—

> 'ते गच्छन्ति महापदं भुवि, पराभूतिः समुत्पद्यते
> तेषां, तैः समलङ्कृतं निजकुलं, तैरेव लब्धा स्थितिः।
> तेषां द्वारि नदन्ति वाजिनिवहास्ते भूषिताः प्रत्यहं
> ये दृष्टाः परमेश्वरेण भवता तुष्टेन रुष्टेन वा॥'

अत्र पदानां सभङ्गत्वं स्पष्टम्। अर्थश्लेषो यथा—

> 'इच्छन्तौ चिरकालचुम्बनमयो दौःस्थित्यशङ्कोज्झितौ
> नैविद्येन परस्परस्य न मनाक् केनापि लब्धान्तरौ।
> धन्यौ तौ तरुणीस्तनाविव न यौ स्वप्नेऽपि विश्लिष्यतो
> विश्लेषं विषमं विपद्य भवतो नाधोमुखौ जातु वा॥'

अत्र पदानामसभङ्गत्वं स्पष्टम्। संकलनया तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्। अस्य च शब्दार्थाश्रितत्वादुभयालंकारतां दर्शयति—अलंकार्येत्यादिना।

एष = यह अर्थात् तीनों प्रकार का श्लेष। तत्र = तीनों में। यत्र = जहाँ अर्थात् शब्दश्लेष में। अत एव = इसीलिए अर्थात् स्वरादि का भेद न होने से। संकलनया = एकत्रीकरण अर्थात् सभङ्ग

पद एवं अभङ्ग पद के मिश्रण से। पृथक् = अलग-अलग = अर्थात् प्रत्येक का उदाहरण भिन्न करके। भिन्न उदाहरण इस प्रकार है—

'आप परमेश्वर हैं। आप जिस पर प्रसन्न या रुष्ट होते हैं वे महापद [महान् उच्च पद, महा आपद् आपत्ति] को प्राप्त होते हैं, पृथिवीमण्डल पर उनकी पराभूति [परा = उत्कृष्ट भूति = वैभव, पराभूति = पराभव] होती है, वे अपने कुल को समलंकृत [सन् = सब प्रकार से अलंकृत = शोभित, समलं = मलसहित कलंकित] कर देते हैं, वे ही क्षिति [पृथिवी, क्षय] को पा लेते हैं, उनके दरवाजे वाजिनिवह [वाजि = घोड़ों के निवह समुदाय, वा = या आजि = युद्ध = निवह] गरजते हैं, और वे ही प्रतिदिन भूषित [अलंकृत, भू = पृथ्वी पर सित = पड़े हुए] रहते हैं।' यहाँ पदों में भङ्ग है।

अर्थश्लेष यथा

'वे [दम्पती] धन्य हैं तरुणीस्तनों के समान जो सदा ही चिबुकाग्र [ठुड्ढी के अग्रभाग] का चुम्बन करना चाहते हैं, जिनमें शिथिलता की शंका नहीं रहती, परस्पर में इतने घने [सटे] रहते हैं कि अन्य किसी को बीच में जगह नहीं मिलती, जो स्वप्न में भी अलग नहीं होते और अलग होते भी हैं तब भी कभी अधोमुख नहीं होते।' —यहाँ पदों में भङ्ग नहीं है यह स्पष्ट है। दोनों का मिश्रित उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ही ['रक्तच्छदत्वं' यह] दे चुके हैं।

यह शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित हैं, इसलिये इसको दोनों का अलंकार बतलाते हुए कहते हैं—

[सर्वस्व]

अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादावर्थद्वयाश्रितत्वादयमर्थालंकारः 'नालम्' इत्यादौ तु शब्दद्वयाश्रितत्वाच्छब्दालंकारोऽयम्। यद्यप्यर्थभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादावपि शब्दाश्रितोऽयं तथाप्यौपपत्तिकत्वादत्र शब्दभेदस्य प्रतीतेरेकतासत्तायान्नास्ति शब्दभेदः। 'नालम्' इत्यादौ तु प्रयत्नादिभेदात् प्रातीतिक एव शब्दभेदः। अतश्च पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लिष्टत्वम्, अपरत्र जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव श्लिष्टत्वम्। पूर्वत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दहेतुकत्वाच्छब्दालंकारत्वमिति चेत्, न आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्।

अलंकार्यालंकरणभाव [काव्य में भी] आश्रयाश्रयिभाव के आधार ही ठीक उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार लोक में, अतः 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादि पद्य में यह [श्लेष] दो अर्थों पर आश्रित रहने से अर्थ का अलंकार है। इसके विपरीत 'नालं' इत्यादि स्थल में दो शब्दों पर आश्रित रहने से यही शब्द का अलंकार है। यद्यपि 'अर्थ भिन्न हो तो शब्द भी भिन्न होता है' इस सिद्धांत के अनुसार 'रक्तच्छदत्वम' इत्यादि में भी यह [श्लेष] शब्दाश्रित ही माना जा सकता है तथापि यह शब्दभेद सिद्ध करने पर सिद्ध होता है, प्रतीति तो होती है एक रूप से ही। इस कारण यहाँ [काव्य में प्रतीति का सारा खेल है अतः इसकी दृष्टि से] शब्दभेद नहीं है। और इसीलिए प्रथम श्लेष में दो अर्थों का [एक] शब्द में श्लेष = जोड़ उसी प्रकार है जिस प्रकार एक वृन्त में दो फलों का होता है, जब कि दूसरे श्लेष में स्वयं शब्दों का ही श्लेष = जोड़ रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जतु = लाक्षा और काष्ठ = लकड़ी का। [मम्मट का] यह कहना ठीक नहीं है कि 'प्रथम

[सभग] भेद में भी [श्लेष] शब्द का ही अलंकार है क्योंकि उसका रहना न रहना शब्द के रहने न रहने पर निर्भर है इसलिए उसके प्रति शब्द ही हेतु है, और अलंकार की शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्था हेतुहेतुमद्भाव के आधार पर होनी चाहिए, क्योंकि वस्तुतः काव्यालंकार भी लौकिक अलंकारों के समान ही आश्रयाश्रयिभाव को लेकर ठहराए जा सकते हैं [हेतुहेतुमद्भाव को लेकर नहीं]।

विमर्शिनी

ननु च 'यावन्त एवमर्थाः स्युः शब्दास्तावन्त एव हि' इत्याद्युक्त्या रक्तच्छदत्वमित्यादावपि शब्दद्वयाश्रयात्च्छब्दालंकार एवायं तत्कथमन्यथोक्तमित्याशङ्क्याह—यद्यपीत्यादि। एकतावसायादिति। रक्तच्छदत्वादेः प्रयत्नादिभेदं विना सादृश्यमार्थद्वयाभिधानात्। अत एवेति। अर्थद्वयस्य शब्दद्वयस्य च श्लिष्टत्वात्। पूर्वत्रेति। रक्तच्छदत्वमित्यादौ शब्दस्य जतुस्थानीयत्वात्। अपरत्रेति नालमित्यादौ। जतुकाष्ठन्यायेनेति परस्परं संश्लिष्टत्वात्। पूर्वत्रेति रक्तच्छदत्वमित्यादौ। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति। रक्तच्छदत्वमित्येव शब्दे स्थिते श्लेषः शब्दपरिवर्तने तु कृते न श्लेष इत्यत्रापि शब्दहेतुकत्वात्तदलंकारत्वमेवेत्यर्थः। आश्रयाश्रयिभावेनेति। न पुनरन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। ताभ्यां हि यस्य यद्धेतुकत्वं तस्य तत्कार्यत्वं स्यान्न पुनस्तदलंकारत्वम्। लोकवदिति। लोके हि यथा कर्णाश्रितः कुण्डलादिः कर्णालंकार उच्यते न पुनः सुवर्णकारणहेतुकत्वात्तदलंकारः।

'शब्द उतने ही होते हैं जितने अर्थ' इत्यादि वाक्यों के अनुसार 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादि में भी यह श्लेष शब्द का ही अलंकार है क्योंकि यहाँ भी यह दो शब्दों पर आश्रित है। फिर आप इसके विपरीत इसे [अर्थाश्रित] क्यों बतला रहे हैं'—इस शंका पर उत्तर देते हैं—'यद्यपि–' इत्यादि। 'एकतावसायात्' = 'प्रतीति में एकता का ज्ञान'—इसलिए कि 'रक्तच्छदत्व' आदि शब्दों में प्रयत्न आदि के भेद के बिना एकरूपता (सादृश्य) के आधार पर दो अर्थों का कथन होता है। 'अतएव = और इसीलिए' = अर्थात् दो अर्थ और दो शब्दों के श्लिष्ट = जुड़े हुए होने से। पूर्वत्र = प्रथम में —रक्तच्छदत्व इत्यादि में क्योंकि यहाँ शब्द रहता है जतुतुल्य। अपरत्र दूसरे में = 'नालम्' इत्यादि में। 'जतुकाष्ठन्यायेन' = लाख और काष्ठ के समान एक दूसरे में चिपके रहने से। पूर्वत्र = प्रथम में = 'रक्तच्छदत्व' इत्यादि में। अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् = 'एक के रहने पर दूसरे का रहना और न रहने पर न रहना' = 'रक्तच्छदत्व' इसी शब्द के रहने पर श्लेष रहता है, इस शब्द के बदल देने पर श्लेष नहीं रहता। इस प्रकार यहाँ पर भी श्लेष शब्दमूलक है अतः उसे शब्दालंकार ही मानना पड़ेगा। आश्रयाश्रयिभावेन = आश्रयाश्रयिभाव से, न कि अन्वयव्यतिरेक से। इन [अन्वयव्यतिरेक] के द्वारा यह सिद्ध हो सकता है कि जो जिससे पैदा होता है वह उसका कार्य है, यह नहीं कि वह उसका अलंकार है। लोकवत् = लोक के समान—' लोक में जिस प्रकार कान में पहना कुण्डल आदि अलंकार कान का ही अलंकार [शोभावर्धक] कहा जाता है न कि सुवर्ण रूपी कारण से उत्पन्न होने के कारण सुवर्ण का अलंकार [शोभावर्धक]।

विमर्श—श्लेष शब्द का प्रमुख अर्थ है जुड़ना, चिपकना, और अलंकार शब्द का अर्थ है शोभावर्धक तत्त्व अथवा अप्रधान रूप से चमत्कारजनक तत्त्व। प्रश्न उठता है श्लेष में अलंकार्य कौन है। श्लेष स्वयं हुआ अलंकार, अतः अलंकार्य शब्द या अर्थ इन दो में से कोई एक हो सकता है।

उद्भट और सर्वस्वकार सभंग और अभंग इन दोनों श्लेषों को अर्थालंकारों के प्रकरण में रखते हैं अतः सामान्यतः यही सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार का श्लेष अर्थालंकार ही है। उधर उद्भट ने सभंग श्लेष को शब्दालंकार कहा है अतः मम्मट ने उसके अर्थालंकारों के बीच रखे जाने पर आपत्ति उठाई है—'शब्दालंकार इति चोच्यते, अर्थालंकारमध्ये च गण्यत इति कोयं नयः' [नवम उल्लास] रुद्रट के अनुकरण पर मम्मट ने स्वयं शब्दश्लेष को नवम उल्लास में शब्दालंकारों के बीच रखा है और अर्थश्लेष को अर्थालंकारों के बीच दशम उल्लास में। सर्वस्वकार ने अतिशयोक्ति को तो दो अलग-अलग प्रकरणों में रखकर वर्गीकरण को महत्त्व दिया, किन्तु यहाँ इन्होंने वैसा नहीं किया और सभंग श्लेष को शब्दालंकार कहकर भी उसे अर्थालंकारों के बीच रखा। विचित्रता यह है कि मम्मट द्वारा श्लेष पर उठाई गई अन्य आपत्तियों का उत्तर देते हुए भी वे इस आपत्ति पर मौन हैं। वस्तुतः यह उनकी शिथिलता ही है। इस प्रकार सभंग श्लेष में अलंकार्य शब्द ही मान्य है। अर्थ यह कि सभंग श्लेष शब्दालंकार ही है।

अभंग श्लेष में अलंकार्य के निर्णय की समस्या जटिल है। जटिलता इसलिए है कि निर्णायक बिन्दु पर आचार्यों का मत एक नहीं है। उद्भट के अनुसार निर्णायक है आश्रयाश्रयिभाव। इस मत में श्लेष का आश्रय ही श्लेष का अलंकार्य है। सभंग श्लेष में दो शब्दों का जोड़ रहता है और वह लाख और लकड़ी के जोड़ के समान स्पष्ट दिखाई देता है। अतः वहाँ शब्द ही श्लेष का आश्रय और अलंकार्य मान लिया जाता है। किन्तु अभंगश्लेष में आश्रय का निर्णय करना कठिन है। अभंग श्लेष में अर्थ दो होते हैं इसलिए अर्थ के जोड़ में कोई मतभेद नहीं उठता। जहाँ तक शब्द का संबन्ध है इसके विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार अभंग श्लेष में यद्यपि शब्दों में भेद नहीं रहता अतः उनका वैसा जोड़ नहीं रहता जैसा सभंग श्लेष में रहता है, तथापि एक दूसरे प्रकार का जोड़ अवश्य रहता है। वह है गाय और भैंस के दो भिन्न दूधों के मिश्रण जैसा जोड़। फलतः उसमें जोड़ की प्रतीति नहीं हो पाती। प्रतीति न होने पर भी शब्दों में जोड़ इसलिए माना जाता है कि अर्थ बदलते ही शब्द भी बदल जाता है। जैसे मानस शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक मानसरोवर तालाब और दूसरा चित्त। यद्यपि 'म्, आ, न्, अ, स्, अ' ये वर्ण उसी क्रम से तालाववाचक मानस शब्द में आते हैं जिस क्रम से चित्तवाचक मानस शब्द में, जिससे दोनों मानस शब्दों के उच्चारण में प्रयत्नभेद नहीं होता, अतः दोनों शब्दों में एकता की प्रतीति होती है तथापि ये दो भिन्न शब्द हैं क्योंकि अर्थों में भेद है। जैसा कि कहा जाता है—'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते।' इस सिद्धान्त के अनुसार जोड़ या श्लेष का आश्रय शब्द है इसलिए श्लेषरूपी अलंकार का अलंकार्य शब्द ही है। इस मत के प्रवर्तक आचार्य हैं मम्मट। उनकी पंक्ति है—

[का०] 'वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसौ········ ॥'

[वृ०] 'अर्थभेदेन शब्दभेद' इति दर्शने वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति = भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः। [काव्यप्रकाश उ० ९]।

—'अर्थभेद में शब्दभेद' इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थभेद से भिन्न हुए भी शब्द एक साथ उच्चारण के कारण अपना भिन्न रूप छिपा लेते हैं तो उसे शब्दश्लेष कहा जाता है।'

अर्थभेद से शब्दभेद का सिद्धान्त मम्मट के पूर्व उद्भट ने भी माना था और कहा था—

'एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टम् ।' ४।९ ॥ अर्थात्

—एक ही प्रयत्न से उच्चार्य अत एव समान प्रतीत होते शब्दों का बन्ध श्लिष्ट = जुड़ा हुआ = जोड़ से युक्त कहलाता है। 'समान प्रतीत होने' इस कथन का आधार 'अर्थभेद में शब्दभेद' सिद्धान्त ही है। उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका लघुवृत्ति में प्रतीहारेन्दुराज ने भी लिखा है—

'अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्त इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः।'

किन्तु रुद्रट ने ऐसे शब्दों के श्लेष का अलंकार्य शब्द को न मान अर्थ को मान लिया—

'पदैः द्विविधैरर्थश्लेषोऽविशिष्ट तत'

—पद दो प्रकार के होते हैं—(१) एकोच्चारण वाले और (२) भिन्न उच्चारण वाले। इन दो प्रकार के पदों से श्लेष भी दो प्रकार का होना है अर्थश्लेष और शब्दश्लेष एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दश्लेष दूसरे शब्दों में अभगश्लेष ही है। इस पर मम्मट ने आपत्ति उठाई और कहा जब श्लेष शब्द में माना [अर्थात् श्लेष का आश्रय शब्द को माना] तब अलंकार्य अर्थ कैसे माना जा सकता है। रहे श्लेष किसी में और अलङ्कृत करे किसी को यह बात तर्कशुद्ध नहीं कही जा सकती। और इसीलिए अभग श्लेष को अर्थालंकार नहीं माना जा सकता। वह शब्दालंकार ही है।

एक प्रश्न और उपस्थित हुआ। यह कि अभंग श्लेष में अर्थभेद से शब्दभेद मानना और फिर शब्द में ही श्लेष स्वीकार करना कहाँ तक वास्तविक है। यह केवल शास्त्रभक्ति ही है, या इसमें कोई यथार्थ भी है। इसका उत्तर मम्मट ने तर्कशास्त्र की दुहाई देकर दिया। उन्होंने कहा अभंगश्लेष में श्लेष का आश्रय कौन है यह तथ्य अन्वय और व्यतिरेक की कसौटी से परखा जा सकता है। यदि शब्द के हटा दिए जाने से श्लेष न हटे तो वह अवश्य ही शब्द का श्लेष न होगा, अर्थ का ही श्लेष होगा। 'रक्तच्छदत्व'-आदि अभग श्लेष के स्थलों में स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ यदि 'रक्तच्छद' शब्द के स्थान पर 'रक्तपत्र' शब्द दे दिया जाय तो इस शब्द का अर्थ अमण पक्ष में लागू नहीं होगा, फलतः श्लेष नष्ट हो जाएगा। विकच शब्द भी नहीं हटाया जा सकता। 'विकेश' या 'विकसित' कहने पर एकान्वयी अर्थ ही निकलता है अतः श्लेष नष्ट हो जाता है। इस प्रकार श्लेष का आश्रय अभग श्लेष में भी शब्द ही होता है।

अलंकारसर्वस्वकार और जयरथ ने मम्मट की इस तार्किकता को सहृदयता से काटने की कोशिश की। अन्वयव्यतिरेक को इन दोनों ने कार्यकारणभाव का नियामक माना, अलंकार का नहीं। अलंकार को इन्होंने आश्रयाश्रयिभाव पर ही निर्भर मानने का पक्ष प्रस्तुत किया है। यह इनके अभी आए ग्रन्थांश से ही स्पष्ट है। लोक में जैसे केयूर का कारण सुवर्ण होता है किन्तु वह अलंकार होता है भुजा का, इसलिए केयूर के अन्वयव्यतिरेक सुवर्ण के साथ रहते हैं, सुवर्ण के न रहने पर केयूर नहीं रहता और रहने पर रहता है, जब कि अलंकार्यालंकारभाव भुजा के साथ, जो केयूर का आश्रय है। फलतः अलंकार्यालंकारभाव आश्रयाश्रयिभाव पर निर्भर माना जाना चाहिए। अभंगश्लेष में जहाँ तक आश्रय का सम्बन्ध है इसका निर्णय कल्पित शास्त्रसिद्धान्त पर नहीं, अनुभव और संवित्ति पर किया जाना चाहिए, क्योंकि यह क्षेत्र काव्य का क्षेत्र है। संवित्ति में अभगश्लेषस्थल में द्वैत अर्थगत ही भासित होता है, शब्दगत नहीं। फलतः शब्द एक वृन्त = डंठल है, जिसमें दो अर्थ के दो फल लगे हुए हैं।

फल दो हों तो वृन्त को भी दो मानने की नासमझी कोई नहीं करता। वृन्त के एक होने से उसमें श्लेष या जोड़ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न फल में ही उठ सकता है क्योंकि द्वैत वहीं है। फलतः श्लेष अर्थों में ही है। अर्थ ही श्लेष के आश्रय हैं। अर्थ ही श्लेष के अलंकार्य हैं।

श्लेष अर्थ का ही अलंकार है। और सच भी है। बहू और बेटे यदि आश्लेष करें तो उसे अलंकार सास ससुर का नहीं माना जा सकता।

निश्चित ही इन आचार्यों के तर्क सुन्दर और समर्थ हैं। प्रातीतिक भेद मानकर शब्द में श्लेष की सिद्धि अवश्य ही शास्त्रभक्ति है।

मम्मट के अन्वयव्यतिरेक पक्ष का पुनर्वीक्षण करने पर कुछ और भी विवशताएँ सामने आती हैं। अन्वयव्यतिरेक अलंकार्यालंकारभाव के लिए भी अत्यन्त उपेक्षणीय नहीं है। यह अवश्य ही एक विचारणीय तथ्य है कि शब्द के बदल देने पर अभंगश्लेष क्यों समाप्त हो जाता है। आश्रयाश्रयिभाववादी उक्त दोनों आचार्य इसका उत्तर यह देंगे कि शब्द के साथ श्लेष का कारणकार्यभाव संबन्ध है। अर्थों का श्लेष संभव नहीं होता जब तक रक्तच्छदत्व आदि उभयान्वयी शब्द का प्रयोग नहीं होता। फलतः द्वयर्थक शब्द ही विभिन्न अर्थों के श्लेष का कारण है। अर्थ यह कि श्लेष अर्थों में ही रहता है तथापि वह तब तक संभव नहीं होता जब तक विशिष्ट शब्द का प्रयोग न हो। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से अभंग श्लेष में कारण तो शब्द ही सिद्ध होता है तथापि श्लेष रहता अर्थों में ही है। सुमित्रा के गर्भ में लक्ष्मण और शत्रुघ्न जुड़े हुए थे। सुमित्रा एक ही थी। शत्रुघ्न के लिए दूसरी और लक्ष्मण के लिए दूसरी नहीं। इसीलिए श्लेष—जोड़ केवल लक्ष्मण और शत्रुघ्न में ही था, कारणभूत सुमित्रा में नहीं। अन्वयव्यतिरेकवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि दो विभिन्न अर्थों में श्लेष उत्पन्न करने की जो क्षमता 'रक्तच्छदत्व' आदि द्वयर्थक शब्दों में रहती है वह क्षमता अपने आप में कोई विशिष्ट धर्म है या नहीं। उससे कोई चमत्कार काव्य में आता है या नहीं। अवश्य ही वह चमत्कार में अंशतः प्रयोजक है। इसके अतिरिक्त अभिन्नानुपूर्वीक अतएव एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दों में यदि वास्तविक भेद नहीं रहता और उनका श्लेष एक प्रातिभासिक या कल्पित श्लेष है तो ऐसे शब्द से प्रतीत दो अर्थों का श्लेष वास्तविक है इसमें भी क्या प्रमाण। एकशब्दवाच्य होने से उनमें सहसा भेद लक्षित नहीं होता केवल इतना ही अनुभवसिद्ध है। दोनों शब्द जुड़े रहते हैं यह नहीं। और यदि ऐसा कोई श्लेष अभंगश्लेष के अर्थों में रहता है तो वह सभंग श्लेष के अर्थों में भी रहता ही है। तब सभंग श्लेषको उभयालंकार क्यों नहीं माना जाता। यदि यह कहा जाय कि सभंग श्लेष में शब्दों के जतुकाष्ठवद् जोड़ के कारण अर्थों में जोड़ रहता, अर्थों का जोड़ वहां स्वाधीन नहीं होता तो यही बात अभंग श्लेष में कही जा सकती है। वहाँ भी अर्थश्लेष शब्दश्लेष पर निर्भर है केवल जतुकाष्ठवत् शब्दों में श्लेष ही वहाँ लक्षित नहीं होता। तब यदि शब्द के कारण होने से सभंगश्लेष में श्लेष शब्द का अलंकार है तो अभंगश्लेष में भी कारण होने से श्लेष को शब्द का ही अलंकार क्यों नहीं माना जा सकता। एक बात और। यह कि अलंकार्य अलंकार का आश्रय ही हो यह आवश्यक नहीं है। यदि वाच्यार्थ में भावादि सामग्री नहीं हो तो उसमें श्लेष रूपक आदि अलंकार नहीं माने जाते। भावादि सामग्री अलंकाराश्रय नहीं होती। अलंकाराश्रय अर्थ होता है और वह उससे व्यक्त होती है। इस प्रकार जब अलंकार्य अलंकाराश्रय से भिन्न सिद्ध होता है तब जिसमें श्लेष हो उसी को श्लेष का अलंकार्य और उसी के प्रति श्लेष को अलंकार मानना ठीक नहीं है। फलतः अभंग श्लेष में भले ही श्लेष अर्थों में हो तथापि अर्थ ही श्लेष का अलंकार्य हो यह नहीं माना जा सकता। अलंकार्य वह होता है जिसमें शोभा का आधान हो। और अभंग श्लेष में भी शोभा का आधान सभंग श्लेष के ही समान शब्द में ही होता है। वहाँ अर्थद्वयवाचकता से शोभा आती है अतः वह शब्द में ही रहती है। दूसरे शब्दों में श्लेषप्रतिपादकता शब्द में होने से शब्द ही अलंकार्य माना जा सकता है, अर्थ नहीं, इसे शास्त्रकारों ने 'तन्त्र' शब्द से पुकारा है। तन्त्र का अर्थ एकाधिक अर्थों का प्रतिपादक शब्द माना जाता है।

फलत अधिक अच्छा हो कि मम्मट और अलंकारसर्वस्वकार अपने पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट और अर्थभेद ▮ शब्दभेद मानने वाले अन्य दार्शनिकों का मुलाहिजा न कर अभंग श्लेष के स्थान पर 'तन्त्रालंकार' नामक एक स्वतन्त्र अलंकार को स्वीकार करें।

पण्डितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर ने इन मतभेदों का उन उन आचार्यों के नाम के साथ अनुवादमात्र कर दिया है। इन पर अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं है।

विमर्शिनी

तत्, एव रूपस्यास्य 'निरवकाशा हि विधयः सावकाशान्विधीन्बाधन्ते' इति नीत्या निरवकाशत्वात्सर्वालंकारापवादकत्वं केचिदाहुरित्याह—एष चेत्यादि।

'जो विधि निरवकाश होती हैं वे सावकाश विधियों को बाधित कर उनके स्थान पर चरितार्थ मानी जाती हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त प्रकार के इस श्लेष को निरवकाश मानकर कुछ [उद्भट आदि] आचार्य अन्य सब अलंकारों का अपवाद या बाधक मानते हैं। ग्रन्थकार इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

एष च नाभातेष्वलंकारान्तरेष्वारभ्यमाणस्तद्बाधकत्वेन तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुरिति केचित्। 'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतः' इत्यादौ विविक्तोऽस्य विषय इति निरवकाशत्वाभावात्तान्यबाधकत्वमित्यन्यैः सह संकरः, दुर्बलत्वाद्वा बाध्यत्वमित्यन्ये। तत्र पूर्वेषामयमभिप्रायः। इह प्राकरणिकाप्राकरणिकोभयरूपानेकार्थगोचरत्वेन तावत्प्रतिष्ठितोऽयमलंकारः। तत्राद्यं प्रकारद्वयं तुल्ययोगिताया विषयः। तृतीये तु प्रकारे दीपकं भवतीति तावदलंकारद्वयमिदं श्लेषविषयं व्याप्यव्य व्यवतिष्ठते। तत्पृष्ठे चालंकारान्तराणामुत्थानमिति नास्ति विविक्तोऽस्य विषयः। अत एवालंकारान्तराणां बाधितत्वात्प्रतिभानमात्रेणावस्थानम्। 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादौ च प्राकरणिकत्वादर्थद्वयस्य तुल्ययोगितायाः प्रतिभानम्। एवं च 'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादौ न गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यमुपमाप्रयोजकम् अपि तूपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एवात्र श्रेयः। श्लेषगर्भे तु रूपके रूपकहेतुकस्य श्लेषस्य तृतीयकक्षायां रूपक एव विश्रान्तिरिति रूपकेण श्लेषो बाध्यते। श्लिष्टविशेषणनिबन्धनायां च समासोक्तौ विशेष्यस्यापि गम्यत्वाच्छ्लेषस्य बाधिका समासोक्तिः।

[उद्भट आदि] कुछ आचार्यों की मान्यता है कि यह [श्लेष] जहाँ-जहाँ होता है वहाँ अन्य कोई अलंकार अवश्य ही उपस्थित रहता है [न अभात = इसमें आए दो निषेध आवश्यकत्व के वाचक हैं] इसलिए यह अन्य अलंकार का बाधक होता है, फलतः वहाँ श्लेष के कारण अन्य अलंकारों का आभासमात्र [प्रतिभा] हो पाता है [अन्य अलंकार अलंकारत्वेन प्ररूढ नहीं हो पाते]।

इसके विरुद्ध [मम्मट आदि] अन्य आचार्यों का मत है कि 'श्लेष 'येन ध्वस्त.' आदि स्थलों में अन्य अलंकारों की बाधा से रहित है, अतः श्लेष निरवकाश नहीं है फलतः यह अन्य अलंकारों का बाधक नहीं है। निदान अन्य अलंकारों के साथ इसका संकर = मिश्रण हो सकता है अथवा दुर्बल होने के कारण अन्य अलंकारों के द्वारा यही बाधित माना जा सकता है।'

इनमें से प्रथम आचार्यों का अभिप्राय यह है—'यह तो सर्वमान्य है कि यह (श्लेष) अलंकार प्राकरणिक, अप्राकरणिक अथवा उभयरूप जो अनेक अर्थ होते हैं उनको लेकर प्रतिष्ठित होता है। इनमें से प्रथम दो प्रकार के अर्थ तुल्ययोगिता का विषय हैं और तीसरा प्रकार दीपक का। इस प्रकार ये दो अलंकार श्लेष के संपूर्ण क्षेत्र को व्याप्त किए रहते हैं। इनके पीछे [उपमा आदि] अन्य अलंकार भी उठते दिखाई देते हैं। इसलिए इस [श्लेष] का ऐसा कोई स्थल नहीं है जिसमें केवल श्लेष माना जा सके। इसीलिए अन्य अलंकारों को श्लेष से बाधित मानना पड़ता है और श्लेषस्थल में उनके अस्तित्व का आभासमात्र स्वीकार करना पड़ता है। [विविक्त विषय के रूप में जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है उस] 'येन ध्वस्तमनोभवेन०' में भी दोनों अर्थ प्राकरणिक हैं अतः तुल्ययोगिता का आभास होता ही है। इस प्रकार गुण और क्रिया के साम्य के ही समान सकलकल [कलकल शब्द-सहित] यह नगर इस समय चन्द्रबिम्ब सा [सकलकल = सकल कला से युक्त] हो गया है' इस स्थल में [मम्मट ने जो] शब्द के साम्य को भी उपमा का प्रयोजक [माना है वह] नहीं माना जा सकता, अपितु यहाँ [उस अंश में] श्लेष माना जाना चाहिए जिससे उपमा का तो आभासमात्र रह जाता है। ['विद्वन्मानस' आदि परम्परित रूपक में] रूपक जहाँ श्लेष से युक्त माना गया है वहाँ रूपक श्लेष से इसलिए बाधित नहीं होता कि वहाँ [पहले राजा पर हंस के रूपक की प्रतीति होती है तब वह] रूपक [मानस में] श्लेष को जन्म देता है तदनन्तर [वाक्यार्थ की] तीसरी कक्षा में रूपक की प्रतीति में [वाक्यार्थ की] विश्रान्ति होती है। किन्तु समासोक्ति जहाँ श्लेषयुक्त विशेषणों से युक्त होती है वहाँ विशेष्य के [शब्दतः कथित न होकर] गम्य होने से समासोक्ति ही श्लेष की बाधिका होती है। और—

विमर्शिनी

केचिदिति, उद्भटादयः। केचित्पुनर्विषयवैविक्त्यस्य संभवान्निरवकाशत्वाभावान्नास्य सर्वालंकारापवादकत्वमभ्युपयन्तीत्याह—येनेत्यादि। अन्यथा इति मादृशाः। विविक्तोऽस्य विषय इति तुल्ययोगिताया अत्राभावात्। सा हि द्वयोरपि प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः पृथगुपादाने औपम्यस्य च गम्यत्वे भवति। इह तु तदभावः। विशेष्ययोः पृथगनुपादानाद् औपम्यस्य च गम्यत्वाभावात्। न ह्यत्रोमाधवस्य माधवेन तेन वा तस्य सादृश्यं विवक्षितम्। एकेनैव शब्देन श्लिष्टतयार्थद्वयस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्। अत्र हि परस्परनैरपेक्ष्यात् तयोरुमाधववाक्यार्थपरामर्शवेलायां माधववाक्यार्थपरामर्शमात्रमपि नास्तीति को नामौपम्यस्यावसरः। तस्मादेवमादावलंकारान्तरविविक्तविषयत्वाच्छ्लिष्टतायाश्चोद्धुरकंधरीभावेन प्रतीतेर्न निरवकाशः श्लेषः। अन्यैः सह संकर इति द्वयोरपि तुल्यकक्षताप्रतीतेः। बाध्यत्वमिति। श्लेषस्य दुर्बलत्वादलंकारान्तराणां च बलवत्त्वात्। एतच्च ग्रन्थकृदेवाग्रे दर्शयिष्यतीति नेहायस्तम्। तदेवमस्य सर्वालंकारापवादकत्वं न युक्तम्। अन्यालंकारवदेव बाध्यबाधकभावादिदर्शनात्। एतच्चालंकारसारकृता सप्रपञ्चमुक्तमितीह ग्रन्थविस्तरभयात् तथा नोक्तम्। पूर्वेषामिति, उद्भटादीनाम्। अविप्रतिपत्ति-द्योतकस्तावच्छब्दः। व्याप्त्येति। सर्वलक्ष्यव्यापकत्वेन, सर्वत्रैवास्य त्रिरूपत्वात्। तत्रेह इति तुल्ययोगितादीपकोपरि। अलंकारान्तराणामिति उपमादीनाम् उत्थानमिति। तुल्ययोगितादीपकाभ्यामपि तत्प्रतीतेरुद्रेकात्। अत एवेति। तस्य विविक्तविषयत्वासंभवात्। प्रतिभानमिति आभासमात्रम्। न पुनस्तत्रैव विश्रान्तिरित्यर्थः। एतच्च यथा नोपपद्यते तथा समनन्तरमेवोक्तम्। तदेवं स्वमतोपोद्बलनाय पूर्वमन्यान्यैः सह संकरो दुर्बलत्वादाबाध्य·

त्वमिति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयितुमेतत्कर्तृकं तावदन्यालंकारबाध्यत्वं दर्शयति—श्लेषेत्यादिना। तृतीयकक्षायामिति। प्रथमकक्षायां हि रूपकप्रतीतिरेव। द्वितीयकक्षायां तु श्लेषप्रतीतिः। श्लेषस्य सर्वालंकारापवादत्वमिच्छद्भिरप्यौद्भटैर्यदन्यालंकारबाध्यत्वमेतयोक्तं तत् स्ववचनविरुद्धप्रायमेतेषामिति ध्वनयितु तदुक्तमेव रूपकसमासोक्तिबाध्यत्वमेनस्य ग्रन्थकृतेह दर्शितम्। बाध्यत इति विद्वन्मानसहमेत्यादौ। बाधकेति उपोढरागेणेत्यादौ।

केचित् = कुछ उद्भटादि आचार्य। किन्तु [मम्मट आदि] कुछ [आचार्य] इसे अन्य सब अलङ्कारों का अपवादक नहीं मानते क्योंकि वे इसे निरवकाश नहीं मानते, प्रत्युत वे इसका स्वतन्त्र [सर्वालंकार रहित] विषय बतलाते हैं। इस तथ्य को दिखाते हुए कहते हैं—'येन ध्वस्त०' इत्यादि। अन्ये = अन्य मुझ जैसे [अर्थात् स्वयं ग्रन्थकार जैसे]। 'विविक्तोऽस्य विषयः = 'इस श्लेष का अलङ्कारान्तरशून्य विषय' क्योंकि यहाँ ['येन ध्वस्त'-पद्य में] तुल्ययोगिता नहीं है। वह तब होती है जब केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत विशेष्यों का पृथक् पृथक् उपादान हो तथा सादृश्य गम्य हो। इस [येन ध्वस्त] पद्य में उस [तुल्ययोगिता] का अभाव है क्योंकि यहाँ विशेष्यों का उपादान पृथक् नहीं हुआ है तथा सादृश्य गम्य नहीं है। ऐसा नहीं है कि इस पद्य में उमाधव [शंकर] का माधव से या माधव का उमाधव से सादृश्य विवक्षित हो। यहाँ तो दोनों अर्थों का एक ही शब्द के द्वारा श्लिष्टरूप से प्रतिपादन अभीष्ट है। यहाँ तो उन [दोनों पक्षों] में परस्पर निरपेक्षता होने से जब उमाधव-सम्बन्धित वाक्यार्थ की प्रतीति होती है तब माधववाक्यार्थ का परामर्शमात्र तक नहीं रहता। तब यहाँ सादृश्य का अवसर ही क्या हो सकता है। इस कारण ऐसे स्थलों में श्लेष अन्य अलङ्कारों के स्पर्श से रहित रहकर विद्यमान है, तथा यहाँ श्लिष्टता प्रमुख रूप से परिलक्षित दिखाई दे रही है फलतः इसे निरवकाश नहीं कहा जा सकता। अन्यैः सह संकर —'अन्यों के साथ संकर'—क्योंकि दोनों समानरूप से प्रतीत होते हैं। बाध्यत्वम् = बाध्य होना' = क्योंकि श्लेष दुर्बल होता है और अन्य अलंकार प्रबल। इसे स्वयं ग्रन्थकार ही आगे दिखलायेंगे इसलिए इसके विवेचन पर यहाँ श्रम नहीं किया जा रहा। तो इस प्रकार इस [श्लेष] का सभी अलङ्कारों को बाधित कर उनका अपवाद माना जाना ठीक नहीं है। क्योंकि [उपमा और रूपक आदि] अन्य [स्वतन्त्र] अलङ्कारों के ही समान बाध्यबाधकभाव [तथा स्वतन्त्र विषयता] आदि दिखाई देते हैं। इसका विस्तृत विवेचन अलङ्कारसारकार ने कर रखा है। इसलिए उतने विस्तार के साथ यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा। इससे ग्रन्थ विस्तार का भी भय था [इससे स्पष्ट है कि विमर्शिनीकार मूल के विरुद्ध मम्मट के समर्थक हैं] पूर्वेषाम् = प्राचीन = उद्भट आदि। तावत्—शब्द इस बात का द्योतक है कि इस विषय में विपक्षी को भी आपत्ति नहीं है। व्याप्त्या = व्याप्त कर = लक्ष्य के सर्वदेश में व्याप्त होने से क्योंकि तीन रूपका यह [श्लेष या अर्थ] सर्वत्र किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। तत्पृष्ठे = उसके पीछे अर्थात् तुल्ययोगिता और दीपक के ऊपर। अलङ्कारान्तराणाम् = अन्य अलङ्कारों का अर्थात् उपमा आदि का। उत्थानमिति = क्योंकि उन [अन्य अलङ्कारों] की प्रतीति तुल्ययोगिता और दीपक से ही उठती है। अतएव = इसीलिए अर्थात् विविक्तविषयता = स्वतन्त्रक्षेत्र न होने से। प्रतिभानम् = आभासमात्र। अर्थ यह कि विश्रान्ति उसी में नहीं होती। किन्तु यह तथ्य जिस प्रकार सिद्ध नहीं होता वह अभी अभी कहा जा चुका है। इस प्रकार अपने मत के समर्थन के लिए पहले जो कहा है कि—'इसका अन्य अलङ्कारों के साथ या तो संकर रहता है या फिर दुर्बल रहने पर अन्य अलंकारों से बाधित, इसी को और अधिक विस्तार में प्रतिपादित करने के लिए अब यह बतलाते हैं कि यह अलंकार अन्य अलंकारों को बाध देता है—श्लेष-

इत्यादि के द्वारा। **'तृतीयकक्षायाम्**—तृतीय कक्षा में' = प्रथम कक्षा में रूपक की ही प्रतीति होती है। श्लेष की प्रतीति होती है द्वितीय कक्षा में। 'उद्भटानुयायी आचार्य एक ओर तो श्लेष को सभी अलंकारों का बाधक बतलाते हैं और दूसरी ओर वे ही कुछ अलंकारों से उसे बाधित होता हुआ भी बतलाते हैं, यह उनके द्वारा अपनी मान्यता का ही विरोध है'—इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए उन्हीं [उद्भट आदि] के द्वारा प्रतिपादित श्लेष का रूपक और समासोक्ति से बाधित होना ग्रन्थकार ने यहाँ दिखलाया। बाध्यते = बाधित होता है – 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि [श्लिष्ट परम्परित रूपक] में। बाधिका = 'उपोढरागेण' इत्यादि पद्यों में।

विमर्श—'नाप्राप्ते' = का मूल 'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः'—यह है। इसमें येन की तृतीया का अर्थ है कर्तृत्व, प्रतिषेधद्वय का अर्थ है आवश्यकत्व, क्त प्रत्यय का अर्थ है भाव। इस प्रकार न्याय की भाषा में इस वाक्य का अर्थ निकलेगा—

'यत्कर्तृकावश्यप्राप्तौ य आरभ्यते स तस्य बाधकः'। पुनः येन के 'यत्'-शब्द का अर्थ है व्यापकत्व और यः इसके यत् शब्द का अर्थ है व्याप्यत्व। अतः न्याय की भाषा में अर्थ होगा—

'व्यापकस्यैव सर्वत्र प्राप्तौ निरवकाशो व्याप्यस्तं [व्यापकं] बाधते।'—

इन्हीं तथ्यों को ग्रन्थकार ने 'नाप्राप्तेषु आरभ्यमाणः' तथा 'व्याप्त्या'—इन अंशों द्वारा सूचित किया था। पण्डितराज ने श्लेष पर उद्भट का मत इसी प्रकार स्पष्ट किया है—अत्राहुरुद्भटाचार्याः—'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः' इति न्यायेनालंकारान्तरविषय एवायमारभ्यमाणोऽलंकारान्तरं बाधते।' यह उद्भट के मत का अलंकारसर्वस्व पर आश्रित भावानुवाद मात्र है। उद्भट की उक्ति इस विषय पर ऐसी है—

'श्लिष्टम्, अलंकारान्तरगतां प्रतिमां जनयत्०' ।४।९, १०।

—श्लिष्ट अलंकारान्तर की प्रतिभा उत्पन्न करता है। उद्भट ने इस विषय में इससे अधिक कुछ नहीं लिखा। केवल उदाहरणमात्र प्रस्तुत कर दिए हैं—

'प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा'—

—पार्वती प्रभात सन्ध्या के समान थीं—अस्वापफललुब्धेहितप्रदा = [पार्वती–न, सु आप फल = दुर्लभ फल पर लुब्धको ईहित = अभीष्ट फल देने वाली तथा प्रभात 'सन्ध्यास्वापफल = निद्राफल श्रमपरिहार पर लुब्धस्वाप फल लुब्ध, तद्भिन्न अस्वापफललुब्ध उसमें हित = हितकारी अदृष्ट उत्पन्न करने वाली] इसी प्रकार—

'अविन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यविन्दुका'

— पार्वती अविन्दुसुन्दरी भी थीं और उनसे लावण्यविन्दु झरते रहते थे [विरोध], [परिहारार्थ–] अप् = जल उसमें प्रतिबिम्बित जो इन्दु = चन्द्र उससी सुन्दरी।

प्रथम में उपमा और द्वितीय में विरोधालंकार है। उद्भट के अनुसार उनका अस्तित्व प्रातिभासिक मात्र है। वास्तविक सत्ता श्लेष की ही है। परन्तु उद्भट ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि में कोई हेतु नहीं दिया। आनन्दवर्धनाचार्य ने इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में श्लेष को उपमा व्यतिरेक, विरोध आदि अलंकारों से पुष्ट होता हुआ कहा है और वहीं 'येन ध्वस्त०' पद्य प्रस्तुत कर यह भी कह दिया है कि श्लेष वहाँ होता है जहाँ दोनों अर्थ अभिधा द्वारा कथित होते हैं साथ ही वहाँ यदि अन्य कोई अलंकार भी वाच्य होता हो तो वहाँ श्लेष ही माना जाना चाहिए—'वस्तुद्वये शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः, तथा—यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलंकारान्तरं वाच्यं सत् प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः'। [पृ० २३५-३६

चौ० सं० १९९७]। आनन्दवर्धनाचार्य के ही समान महिमभट्ट ने भी उद्भट के मत को स्वीकार कर लिया। उन्होंने व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में अलङ्कारों की सीमा निर्धारित करते हुए और अनेक अलङ्कारों में वाच्यावचन दोष बतलाते हुए लिखा है—

'यत्र हि यदलंकारप्रतिभानुगुणशब्दोपरचितः श्लेषः तत्र तदलंकारनिबन्ध तमेव श्लेषमभिव्यनक्ति, न तु तस्य विषयमतिक्रामति।' [पृ० ३९५ चौ० सं० २०२५]

'जहाँ जिस अलङ्कार का आभास मात्र कराने के लिए की गई पदरचना से श्लेष बनता है, वहाँ वह अलंकार उसी श्लेष को अभिव्यक्त करता है, उस [श्लेष] के क्षेत्र में वह स्वयं नहीं चमकता।' इसी तथ्य को कारिकारूप में उपनिबद्ध करते हुए उन्होंने लिखा—

'यदलङ्कारव्यक्त्यै ये शब्दास्तदितरोऽपि तैरेव।
व्यज्येताप्यत्तरैर्यदि तदसौ गृह्येत बाधवान्नान्यः॥'

व्यक्तिविवेक की टीका में भी अलङ्कारसर्वस्वकार ने श्लेष को निरवकाश मानकर अन्य अलंकारों का बाधक ही माना है—'उपमोत्थापिते श्लेषे ओपमा श्लेषं बाधते, तस्य विविक्तविषयत्वाभावात्, श्लेषस्तु तां बाधते इति युक्तम्।' [द्रष्टव्य–पृ० ३९६ चौ० सं० नवीन संस्करण]।

आनन्दवर्धनाचार्य ने श्लेष के विचार के पूर्व अस्पष्ट स्वर में श्लेष को अलङ्कारान्तर से पृथक् बतलाया था। मम्मट ने उसे पकड़ लिया। और उद्भट के मत के विरुद्ध श्लेष को अन्य अलंकारों द्वारा बाध्य बतलाने हेतु अपेक्षित अलंकारान्तर से श्लेष का पार्थक्य बतलाते हुए उन्होंने—

'देव! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम्।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः॥'

—यह पद्य उद्धृत किया। इसका अर्थ है—हे राजन्! आप लोकत्रयात्मक हैं, आप ही 'पातालम्' [पाताल = नागलोक तथा पाता अलम् = पर्याप्त रक्षक] हैं, आप ही आशानिबन्धन [= आशा = दिशा उनके आधार पृथ्वीलोक, आशा = इच्छाएँ उनके आधार] हैं, आप ही 'चामरमरुद्भूमि' [च = और अमरमरुत = देवगण तथा पवन की भूमि = स्वर्ग तथा चामर—चँवर की मरुत्=हवा की भूमि=आस्पद = जिस जिसपर चँवर डुले जाते हैं]।' परन्तु यहाँ राजा पर तीनों लोकों का आरोप है तथा 'अन्य राजा जहाँ कोई एक कार्य करने तक सीमित हैं वहाँ यह राजा अन्य सब कार्य भी करता है अतः यह उनसे उत्कृष्ट है,' इस व्यतिरेक का भी अस्तित्व है। अतः यह स्थल शुद्ध श्लेष का स्थल नहीं माना जा सकता। पण्डितराज ने भी रसगंगाधर में इस पद्य में रूपकप्रतीति मान मम्मट का खण्डन किया है। वस्तुतः स्वयं मम्मट ने भी इस स्थल में रूपक व्यतिरेक का स्पर्श अनुभव किया था। यह तथ्य उन्हीं के इस पद्य के बाद के ग्रन्थांश से झलकता है। श्लेष की अलङ्कारान्तररहितता के लिए अलङ्कारसर्वस्वकार ने आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रस्तुत 'येन ध्वस्त०' पद्य चुना। इससे मम्मट की स्थापना को बल मिला।

मम्मट ने उद्भट के मत का खण्डन करते हुए अन्य तर्क भी दिए थे। उन्होंने कहा था 'पूर्णोपमा' में साधारण धर्म की निष्पत्ति नियमतः श्लेष से ही होगी, वहाँ यदि श्लेष को ही अलङ्कार माना जायगा तो पूर्णोपमा कहीं होगी ही नहीं—'पूर्णोपमाया विषयापहार एव स्यात्'। इसी प्रकार उन्होंने व्यतिरेक, विरोध, रूपक आदि अन्य अलङ्कारों में भी श्लेष को निष्पादक और व्यतिरेक आदि को ही निष्पाद्यरूप से प्रधान अलंकार माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इन दोनों पक्षों को अपनी भाषा में स्पष्टीकरण के साथ उद्धृतमात्र कर दिया है। उनका संपूर्ण विवेचन सर्वस्वकार तथा विमर्शिनीकार के मतों पर आधृत है। सर्वस्वकार उद्भट और ध्वनिकार के अनुयायी हैं और विमर्शिनीकार मम्मट के। उन्होंने 'येन ध्वस्त'

पद्य में तुल्ययोगिता का अभाव बड़ी बारीकी से सिद्ध किया है। पण्डितराज ने उसे स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः 'येन ध्वस्त' पद्य में तुल्ययोगिता के अभाव की बात अलंकाररत्नाकर से ली गई है। अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के—'इह प्राकरणिका—तुल्ययोगितायाः प्रतिभानम्'—इस कथन का भावार्थ स्पष्ट कर उसका निराकरण करते हुए कहा है—

—'येन ध्वस्तमनोभवेने'—त्यादौ यत्र प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः सकृदुपादानं तत्र तुल्ययोगितायाः अभावात्।

—[सर्वस्वकार का उक्त कथन अमान्य है] क्योंकि तुल्ययोगिता में प्रकृत या अप्रकृत विशेष्यों का अनेक बार कथन रहता है, एक बार कथन रहने पर तुल्ययोगिता नहीं होती। *'येन ध्वस्त०'* पद्य में विशेष्यों का कथन एक बार ही है अतः यहाँ तुल्ययोगिता नहीं है।' आगे कोटि प्रकोटि चलाते हुए उन्होंने लिखा कि यदि आवृत्ति के द्वारा विशेष्यों का असकृद् उपादान मान लिया जाय तो धर्मों का उपादान भी उसी प्रकार आवृत्ति के द्वारा एकाधिक बार मानना पड़ेगा। उससे धर्मों में अनेकता चली आएगी। तुल्ययोगिता या दीपक केवल धर्म की एकता में ही होते हैं। अतः आवृत्ति द्वारा विशेष्य की अनेकता मानने पर भी तुल्ययोगिता सिद्ध न होगी। इस प्रकार मम्मट, शोभाकर और जयरथ श्लेष की बाध्यता स्वीकार करते हैं जबकि उद्भट आनन्दवर्धन तथा अलंकारसर्वस्वकार अलंकारान्तर की। एकतर पक्ष के निर्णय के लिए एकमात्र चमत्कारप्रयोजकता को कसौटी माना जा सकता है। सहृदयों के अनुभव से चमत्कारनिष्पत्ति श्लेष या श्लेषेतर जिससे सिद्ध होती हो उसीको अलंकार माना जाएगा। तब निरवकाशत्व और सावकाशत्व के शास्त्रीय जल्प अकिंचित्कर सिद्ध होंगे। जहाँ एकाध श्लिष्ट विशेषण से उपमादि निष्पन्न होते हों वहाँ उपमादि का ही चमत्कार माना जा सकता है और जहाँ 'उद्दामोत्कलिका' आदि स्थलों में अनेक विशेषणों में श्लेष हो वहां निश्चित ही चमत्कार श्लेषयोजना से होगा। फलतः वहां श्लेष ही मानना उचित होगा। अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमिश्र ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और श्लेष को पांच स्थिति में मिलता बतलाया है—

'प्रधानभूतालंकारवियोगात् सावकाशता।
कुत्रचित् प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वं क्वचिदङ्गता॥
क्वचित् प्ररोहविरहात् प्रातिभत्वं परत्र च।
अनुप्राणकतास्येति श्लेषोऽयं पञ्चभूमिकः॥'

श्लेष पांच भूमिकाओं में निष्पन्न होता है—

(१) स्वतन्त्र भूमिका, जहां अन्य किसी अलंकार का इसके साथ मिश्रण नहीं होता। [यथा—'येन ध्वस्त०'—पद्य में]।

(२) अन्य अलंकारों की सत्ता प्रातिभासिक सिद्ध कर रहने की भूमिका। [यथा—'सकलकलम्' इत्यादि पद्य में]।

(३) अप्रधानता की भूमिका, [यथा—'विष्णुका वक्षस्थल समुद्रतट के समान वनमालाभरण है' इस वाक्य में 'वनमालाभरण' शब्द में वनमाला एक माला, वनमाला = तटवर्ती जंगल की पांत यहां श्लेष उपमा का अंग है]।

(४) आभासात्मकता की भूमिका [यथा—'अविन्दुसुन्दरी०' स्थल में विरोध की प्रधानता होने से श्लेष की आभासात्मकता]।

(५) अनुप्राणकता की भूमिका, [यथा—समासोक्ति में]।

विमर्शिनी

एवं श्लेषस्यालंकाराणां च परस्परं बाध्यबाधकभावं प्रकाश्यान्यैः सहास्य संकीर्णत्वं दर्शयति—इह त्वित्यादिना।

इस प्रकार [उपर्युक्त ग्रन्थ द्वारा] श्लेष और अन्य अलंकारों का परस्पर में बाध्यबाधकभाव दिखलाया। अब श्लेष का अन्य अलंकारों के साथ साङ्कर्य दिखलाते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

इह तु—

'त्रयीमयोऽपि प्रथितो जगत्सु यद्वारुणीं प्रत्यगमद् विवस्वान्।
मन्येऽस्तशैलात् पतितोऽत एव विवेश शुद्ध्यै वडवाग्निमध्यम्॥'

इति श्लोके विवस्वतो वस्तुवृत्तसंभवि अधःप्रदेशसंयोगलक्षणं यत्पतितत्वं यश्च वडवाग्निमध्यप्रवेशस्ते द्वे अपि त्रयीमयत्वसंबन्धिवारुणीगमनरूपविरुद्धाचरणहेतुकाभ्यां पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्यामतिशयोक्त्या श्लेषमूलया अभेदेनाध्यवसिते। सोऽयमेकक्रियायोगः। तद्धेतुका च मन्ये 'अत एव शुद्ध्यै' इत्युत्प्रेक्षा। अत्रात एवेति परामृष्टो विरोधालंकारालंकृतोऽर्थो हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते। शुद्ध्यै इति च फलत्वेन। ततश्च हेतुफलयोर्द्वयोरप्युत्प्रेक्षा। विरोधालंकारस्य च विरोधाभासत्वं लक्षणम्। अतो विरोधाभासनसमय एव हेतुफलोत्प्रेक्षयोरुत्थानम्। उत्तरकाले तु विरोधसमाधिः। श्लेषस्य च सर्वालंकारापवादत्वाद् विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुरयं श्लेषः।

'[वेद-] त्रयीमय रूप से त्रैलोक्य में प्रसिद्ध होने पर भी सूर्य वारुणी [पश्चिम दिशा तथा मदिरा] की ओर जो गया मैं सोचता हूँ कदाचित् इसी से [पतित होकर और] अस्ताचल से गिरकर शुद्धि के लिए वडवाग्नि में प्रवेश कर रहा है।

इस पद्यार्थ में अधः प्रदेश से संयुक्त होना रूपी जो वास्तविक पतितत्व = गिरना है और जो वडवाग्नि में प्रवेश करना है ये दोनों वेदत्रयीमय होने पर भी वारुणीगमन करने रूपी विरुद्ध आचरण से प्रेरित जो पतितत्व तथा अग्निप्रवेश हैं उनके द्वारा श्लेषमूलक अतिशयोक्ति के आधार पर अभिन्न रूप से अध्यवसित हैं और यह हुआ [समासोक्ति का जनक सूर्य तथा धार्मिक पुरुषरूपी दो विभिन्न व्यक्तियों का अग्निप्रवेश रूपी] एक क्रिया में अन्वित होना। इसके आधार पर निष्पन्न होती है 'मैं समझता हूँ कि इसीसे शुद्धि के लिए'—यह [हेतु-फलोत्प्रेक्षारूपी] उत्प्रेक्षा। इस [उत्प्रेक्षांश] में इसीसे [अर्थात् विरुद्ध आचरण करने से] इस प्रकार परामृष्ट जो विरोधालंकार है उससे अलङ्कृत अर्थ हेतुरूप से उत्प्रेक्षित हो रहा है और [उसीमें] 'शुद्धि के लिए' यह अंश फलरूप से। इस प्रकार यहाँ हेतु और फल दोनों की उत्प्रेक्षा हो रही है। और जो विरोधालंकार है उसका लक्षण है विरोधाभासत्व, अतः हेतु और फल की उत्प्रेक्षाओं का उत्थान उसी समय होता है जब विरोध का आभासात्मक ज्ञान होता रहता है। बाद में तो विरोध का समाधान (परिहार) हो जाता है। इधर श्लेष जो है वह सभी अलंकारों का अपवादक है अतः इस पद्य में श्लेष विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतु होकर स्वयं प्रधान अलङ्कार है।

विमर्शिनी

वडवाग्निमध्यप्रवेशोऽपि वस्तुवृत्तसंभवीति विशेषणं लिङ्गविपरिणामाद् योज्यम् । ते द्वे इति, वडवाग्निमध्यप्रवेशपतितत्वे । पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्यामिति, ब्राह्मण्यपरिच्यावप्रायश्चित्तात्मकाभ्याम् । सोऽयमिति । यत् पतितत्वाग्निप्रवेशयोर्वस्तुतोऽन्यथास्थितयोरन्यान्यथाभूताभ्यां ताभ्यामभेदेनाध्यवसायः । तद्धेतुकेति तच्छब्देन तक्रियायोगपरामर्शः । फलत्वेनेति उत्प्रेक्ष्यत इत्यत्रापि संबन्धः । ततश्चेति हेतुफलयोर्द्वयोरुत्प्रेक्ष्यमाणत्वात् ।

'वस्तुवृत्तसंभवि' = 'वास्तविक' यह जो विशेषण है इसे लिंगपरिणाम [नपुंसकलिंग को पुंलिङ्ग में 'वस्तुवृत्तसंभवी' इस प्रकार बदल] कर अन्वित करना चाहिए । ते द्वे = वे दोनों अर्थात् वडवाग्नि में प्रवेश और पतितत्व । 'पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्याम्' = 'पतितत्व और अग्निप्रवेश' जो ब्राह्मण्य = ब्रह्मवृत्ति से च्युत होने का प्रायश्चित्त हैं । 'सोऽयम्' = यह अर्थात् मूलतः भिन्न रूप के पतितत्व और अग्निप्रवेश भिन्न रूप के उन्हीं पतितत्व और अग्निप्रवेश द्वारा अभिन्न रूप से अध्यवसाय तद्धेतुका = इसमें तद् शब्द से उपर्युक्त [प्रवेश] क्रिया में [दो भिन्न व्यक्तियों के] अन्वय का परामर्श है । फलत्वेन = फल रूप से = इसमें भी उत्प्रेक्ष्यते = उत्प्रेक्षा की जाती है = इसका संबन्ध है । ततश्च = इस प्रकार = हेतु और फल इन दोनों की उत्प्रेक्षा हो रही है इस कारण ।

विमर्शिनी

ननु विरोधालंकारस्य विरोध एव रूपं तस्य दुष्टत्वात् कृते च समाधाने विरोध एव नास्तीति विरोधालंकृतोऽर्थः कथमन्त्रोत्प्रेक्षायां हेतुत्वं भजत इत्याशङ्क्याह—विरोधेत्यादि । वक्ष्यति—'विरोधाभासत्वं विरोधः' इति । अत एव च विरोधस्याभासमात्रसारत्वाद् यथावभासं विश्रान्त्यभावान्न प्ररोहो नापि बाधोत्पत्तिः, अपितु पैत्तिकधवलस्तम्भतैमिरिकचन्द्रद्वयावभासवदस्ति प्रत्यय इति मात्र पूर्वं विरोधबोधः पश्चादविरोधधीरिति वाक्यस्यावस्थाद्वयम् । ननु बाध्यनिषेधपरो नैतदेवमिति प्रत्ययरूपो बाधो बाध्यं च तथैव प्रतीयते चेत् किं तेन कृतं स्यादिति चेत्, स्खलद्गतित्वमिति ब्रूमः । तथाहि शुक्तिकारजतमरीचिकासलिलादिविभ्रान्तिष्विव मात्र प्रथमप्रवृत्तविरुद्धप्रतिभासस्वभावबाध्यविज्ञानसमुद्धुंसनेन बाधकत्वमुदेति, बाधोदयेपि पैत्तिकधवलस्तम्भतैमिरिकचन्द्रद्वयावभासवद् विरुद्धप्रतिभासानिवृत्तेः । केवलमत्र तद्वशादेवानुपपद्यमानताकारा स्खलद्गतितैवावगम्यते । स्खलद्गतित्वे च प्रतिपत्तृव्यवहारं प्रति निमित्तत्वानुपपत्तिः । न हि पैत्तिकः श्वपित्तविकारात्धवलस्तम्भदर्शनं मन्यमानस्तत्र दाहपाकाद्यर्थितया प्रवर्तते । तिमिरदोषं वा जानानस्तैमिरिकोऽपि वहिश्चन्द्रद्वयास्तित्वव्यवहारं विधत्ते । एवं बाधोत्पत्तेरनुपपद्यमानत्वात् स्खलद्गतित्वेन प्रतीयमानोऽपि विरोधो न प्रतिपत्तृपेक्षोत्प्रेक्षणलक्षणव्यवहारनिमित्तभावमुपगन्तुमुत्सहते । यतोऽनुपपद्यमानत्वेन स्खलद्गतित्वमुपपद्यमानत्वेन च व्यवहारनिमित्तत्वमिति परस्परविरुद्धत्वादनुभवविरोधाच्च तयोः कथमेकत्र समावेशो घटते । अतश्चानेनैवाभिप्रायेणाह—अत इत्यादि । विरोधाभासनसमय एवेति, न तु बाधकोदयसमय इत्यर्थः । बाधोदयानन्तरं विरोधस्योत्प्रेक्षाहेतुत्वं न युज्यते इत्युपपादितं स्थितं चोत्प्रेक्षाहेतुत्वं विरोधस्येति बाधोदयात्प्रागेवान्यथानुपपत्त्या निश्चीयते । बाधस्य च स्वारसिकत्ववस्तुवृत्तेः पर्यालोचनालभ्यत्वेन द्विविधस्यापि सर्वत्रोत्तरकालमेवोल्लासः संभवति । तस्य च बाध्यनिष्ठत्वाद्बाध्यस्य च पूर्वकालभावित्वात् । अन्यथा हि निर्विषयो बाधः स्यात् । अतश्चोत्तरकालं तु विरोधसमाधिरिति भणितेरर्थमजानानेनायमर्थोऽन्वेषणीयः । यदि हि

बाधः प्रागप्युत्प्रेक्षायाः स्वाधिकारवशेन स्वरसत एवोल्लसेत् तदुक्तनीत्या उत्प्रेक्षोत्थानमेव न स्यादित्यबाधित एव विरोध उत्प्रेक्षाया निमित्तमित्युक्तमुत्तरकालं विरोधसमाधिरिति। स च समाधिरत्र दिगाद्यर्थाधिगमादवबुध्यत इति विरोधस्य श्लेषोऽङ्गम्। तद्वशादेवास्योत्थानात्। तथा चात्रानयोः संकीर्णत्वमात्रमेव न पुनः संकरालंकारः। स तु यथा—

'सजातपत्रप्रकराञ्चितानि समुद्वहन्ति स्फुटपाटलत्वम्।
विकस्वराण्यर्ककरप्रभावाद् दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयुः॥'

अत्र श्लेषतुल्ययोगितयोरेकवाचकानुप्रवेशेन संकरः। प्राच्यानां मते पुनरेतत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषोऽयमित्याह—श्लेषस्येत्यादि। तेनात्र पद्यः स्वाभिप्रायेण ग्रन्थकृतोक्तः। यद्वत्वयमेतच्छ्लोकविचार एव संकरालङ्कारे। अत्र प्रथमेऽर्थे विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः। दर्शनान्तरे तु विरोधश्लेषौ द्वावलङ्काराविति।

प्रश्न = विरोधालङ्कार का स्वरूप विरोध ही है और वह अपने आप में दोष रूप है, फलतः उसका समाधान [परिहार] किया जाता है, और जब परिहार हो जाता है तब विरोध का अस्तित्व ही नहीं रहता। इस प्रकार विरोध से कोई अर्थ अलंकृत ही कैसे होगा जो उत्प्रेक्षा में हेतु बनेगा।' इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—'विरोध०' इत्यादि। जैसा कि आगे कहेंगे 'विरोधाभासत्व विरोध' है। [अलंकाररत्नाकरकार ने 'त्रयीमयोऽपि' पद्य और उसपर अलंकारसर्वस्वकार का मत उद्धृत कर उसका खण्डन करते हुए लिखा था—विरोध में समाधान शब्दलभ्य न होकर, सामाजिक की मानस अनुभूति से लभ्य होता है जो पर्यालोचनरूपा होती है। विरोध का बाध हो जाने पर भी शब्द से तो विरुद्ध अर्थ का ही ज्ञान होता रहता है। इसलिए विरोध का परिहार वाक्यार्थ का अंग कभी भी नहीं बनता, इसलिए यहां उत्प्रेक्षाप्रतीति के बाद परिहार का वाक्यार्थ में मानना ठीक नहीं। अन्त में विरोधपरिहार का अर्थ केवल इतना ही है कि विरोध प्रातीतिक है, वास्तविक नहीं। अन्त में परिहार का अर्थ यह नहीं है कि आरम्भ में विरोध वस्तुतः रहता है और अन्त में उसका परिहार हो जाता है (द्र० पृ० ९२, ९३ पूना संस्करण)। इसीको स्वीकार करते हुए किन्तु अलंकारसर्वस्वकार के मत का समर्थन (खण्डन नहीं) करते हुए विमर्शिनीकार कहते हैं—] और इसीलिए [ग्रन्थकार के मत में] विरोध के आभासमात्ररूप होने से उसकी प्रतीति पर्यवसान में आरम्भ जैसी नहीं होती, फलतः न तो वह प्ररूढ ही हो पाता और न उसका परिहार ही होता अपितु यहाँ पित्तरोग से पीड़ित को जैसे जलते अग्निस्तम्भ दिखाई देते हैं अथवा तिमिररोग से पीड़ित को दो चन्द्र, वैसे ही दो अर्थों की प्रतीति मात्र होती है। इसलिए न तो यहां पहले विरोध का [आभास रूप में ज्ञान न होकर विरोध रूप में ही] ज्ञान होता और न बाद में अविरोध का ज्ञान होता, जिससे वाक्यार्थ को दो भागों में विभक्त किया जा सके [प्रश्न] बाध 'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार के ज्ञान का नाम है। इससे बाध्य अर्थ का निषेध हुआ करता है। यदि यहाँ बाध और बाध्य दोनों की ही वैसी [द्विचन्द्र आदि जैसी] प्रतीति मान ली जाय तो उससे क्या होगा ? [उत्तर =] इससे विरोध का ज्ञान केवल आभासात्मकमात्र सिद्ध होगा। [विरोध पूर्णतः कट नहीं जाएगा] विरोधालंकार के विरोध के परिहार में जो बाधकता होती है वह पहले से हो रहे आभासात्मक विरुद्ध ज्ञान रूपी बाध्य को उखाड़ कर नहीं होती जैसी कि शुक्ति में हो रही है या मरुमरीचिका में होती जल की भ्रान्ति में। यहां तो बाध की प्रतीति हो जाने पर भी विरोधाभासरूपी बाध्य अर्थ हटता नहीं है जैसे पित्तव्याधिवाले के सामने से असत्य रूप से विदित होने पर भी अग्निस्तम्भ नहीं हटता या तिमिररोग वाले के सामने से चन्द्रद्वैत। यहां केवल इतना होता है विरोध में अनुपपद्यमानता [प्ररूढ न हो

—इस अर्थ में सरःश्री में नायिकात्व की प्रतीति का जहाँ तक संबन्ध है वह समासोक्ति से नहीं होती क्योंकि यहाँ विशेषणों का साम्य [उभयान्वयित्व] नहीं है। इसलिए यहाँ नायिका उपमानरूप से ही प्रतीत होती है न कि नायिकात्व की प्रतीति सरःश्री के धर्म के रूप में, इसलिए यहाँ एकदेशविवर्ती उपमा ही स्वीकार की जानी चाहिए। दूसरी कोई गति [अलंकार] है भी नहीं। एकदेशविवर्त्ती उपमा का जिन्होंने लक्षण नहीं किया है उन्हें भी इसका संग्रह करना ही चाहिए। जहाँ कहीं 'केशपाशालि०' आदि पद्यों में उपमा [उपमित] समास के द्वारा कथित रहती है, साथ ही अन्य समास के द्वारा विशेषणसाम्य की योजना भी संभव रहती है वहाँ 'औपम्यगर्भ विशेषण' से निष्पन्न समासोक्ति ही रहती है। इस प्रकार [इन दोनों का परस्पर में] कोई विरोध नहीं है।

विमर्शिनी

अविप्रतिपत्तिद्योतनार्थस्तावच्छब्दः। कुतस्त्येति। किमस्या निमित्तमिति भावः। तदानुगुण्यादिति। शरदो नायिकात्वप्रतीत्यनुगुणत्वात्। तयोरिति रविशशिनोः। कथमिति। अप्रकृतार्थानुगुणत्वात् साम्यायोगात्। कथमत्र व्यवस्थेति। विशेषणसाम्यायोगात् समासोक्तेरभावेऽपि एकदेशविवर्तिन्या उपमाया अनुक्तत्वात्। सामान्यलक्षणेति। उपमानोपमेययोः साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमेति। एवमेकदेशविवर्त्युपमासामर्थ्यादेवात्र नायकत्वप्रतीतिरिति भावः। अथेति पक्षान्तरे। यदि चात्र पूर्वोक्तयुक्त्यैवानुगुण्याद् रविशशिनोः समासोक्तिमुखेन नायकत्वप्रतीतिस्तदार्द्रनखक्षताभमिति विशेषणं कथं साम्येन योजयितुं शक्यमित्याशङ्क्याह—तदत्रेत्यादि। एतदेव शास्त्रान्तरप्रसिद्धदृष्टान्तमुखेन हृदयंगमीकरोति—यथेत्यादिना। अग्निहोत्रं जुहुयादित्यनेनोत्पत्तिविधिवाक्येन हि होमो विहितः। तस्य च पुनर्विधानमदग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद् विधेर्विषय इत्यभ्युपगमात् युज्यत इति तत्रायुक्तत्वादुपपदे दध्नि संक्रामति इत्यर्थः। उपमानुप्राणितेति। औपम्यगर्भविशेषणोत्थापितेत्यर्थः। समासोक्तिरेवेति। न पुनरेकदेशविवर्तिन्युपमा। गत्यन्तरमलंकारान्तरम्। यैरित्युद्भटादिभिः। यत्र स्थित्यादेर्ग्रन्थस्य पूर्वमेवास्माभिरभिप्राय उक्तः।

'तावद्'–'तो'—शब्द सूचना देता है अविप्रतिपत्ति की [अर्थात् 'ऐन्द्रं धनुः' पद्य में नायकत्व की प्रतीति रविशशी में होती है इसमें किसी को आपत्ति नहीं है]। 'कुतस्त्या' = '[रविशशी में नायकत्व की प्रतीति] हो कैसे रही है' = अर्थात् इस प्रतीति का मूल क्या है। तदानुगुण्यात् = उसके अनुरूप होने से = शरद् में हो रही नायिकात्व की प्रतीति के अनुरूप होने से। कथम् = कैसे ['आर्द्रनखक्षताभम्०' यह विशेषण] [नायिकारूपी] अप्रकृत अर्थ के अनुरूप नहीं है [क्योंकि नायिका में नखक्षत के समान इन्द्रचाप नहीं अपितु इन्द्रचाप के समान नखक्षत ही संभव है, अतः उक्त विशेषण में] साम्य [उभयान्वयित्व] बन नहीं पाता। 'कथमत्र व्यवस्था' = 'यहाँ व्यवस्था कैसे दी जाए' = क्योंकि विशेषणसाम्य न होने से समासोक्ति हो नहीं सकती और एकदेशविवर्त्ती उपमा कहीं नहीं गई है। 'सामान्यलक्षणा०'—[उपमा का] सामान्य लक्षण = 'उपमान और उपमेय का समान धर्म के साथ ऐसा संबन्ध जिसमें भेद और अभेद [प्रधान या अप्रधान न होकर] समान हों उपमा [नामक अलंकार] कहलाता है, यह। इस प्रकार यहाँ नायकत्व की प्रतीति एकदेशविवर्त्ती उपमा से ही हो जाती है। 'अथ = इसके अतिरिक्त'—इस प्रकार दूसरा पक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है। 'यहाँ यदि पूर्वोक्त युक्ति से ही अर्थात् [शरद् के प्रति] अनुरूप होने से ही रवि और शशी में समासोक्ति के द्वारा नायकत्व की प्रतीति मान ली जाए तो 'आर्द्रनखक्षताभम्' यह विशेषण [दोनों पक्षों में] समानरूप से कैसे अन्वित किया जा सकेगा ऐसी शंका कर

उत्तर देते हैं—तदत्र इत्यादि। इसी तथ्य को दूसरे शास्त्र [मीमांसा] में प्रसिद्ध दृष्टान्त द्वारा हृदयंगम कराते हुए कहते हैं—'यथा'—इत्यादि। 'अग्निहोत्र जुहुयात्' = 'अग्निहोत्र के लिए हवन करे' यह एक विधि वाक्य है। इससे हवन की उत्पत्ति का विधान होता है। फलतः इससे हवन का भी विधान हो जाता है। उसी हवन का विधान पुनः ['दध्ना जुहोति = दही से हवन करता है' इस वाक्य के द्वारा] किया जाय यह ठीक नहीं क्योंकि नियम यह है कि विधान उतने का ही होता है जितना पूर्वतः प्राप्त नहीं रहता जैसे [अभ्रक आदि की भस्म बनाने में जो द्वितीय तृतीय पुट दिए जाते हैं उनमें] आग उसी को जलाती है जो पहले से दग्ध नहीं रहता। इसलिए उस [हवन] में [विधान के] अयुक्त होने से उसका जो उपपद दही है उसमें विधान का संक्रमण माना जाता है। उपमानुप्राणिता = अर्थात् [यहाँ] औपम्यगर्भ विशेषण से निष्पन्न समासोक्ति [मानना उचित है] 'समासोक्तिरेव' = 'समासोक्ति ही' = अर्थात् एकदेशविवर्ती उपमा नहीं। 'गत्यन्तर'= 'अन्य गति' अर्थात् अन्य अलङ्कार नहीं है। यैः = जिनने अर्थात् उद्भट आदि ने। यत्र तु इत्यादि की पंक्ति है इसका अभिप्राय हम पहले ही [इस अलङ्कार के आरम्भ में] बतला चुके हैं।

विमर्श—[क] 'अथात्र—नायकत्वप्रतीतिः' इस पंक्ति के कुछ अंशों में पाठान्तर हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१ अथात्र = यत्रप्यत्र—निर्णयसागर पाठान्तर।
२ नोपमानत्वेन = उपमानत्वेन—निर्णयसागर पाठान्तर।
३ नायकः स्वस्वरूपेण = नायकत्व स्वरूपेण—निर्णयसागर,
  नायकत्वम्—अनन्तशयन, मेहरचन्द
४ नायकत्वप्रतीतिः = नायकव्यवहारप्रतीति —निर्णयसागर मूल
  नायकत्वप्रतीति' – निर्णयसागर पाठान्तर, मोतीलाल शारदाप्रति,
  नायकत्वव्यवहारप्रतीति मोतीलाल, अनन्तशयन, मेहरचन्द

समासोक्ति में अप्रकृतार्थ की प्रतीति प्रकृतार्थ से निरपेक्ष अर्थात् स्वतन्त्र रूप से नहीं होती, उपमा में अप्रकृतार्थ प्रकृतार्थनिरपेक्ष होकर ही प्रतीत होता है भले ही वह वाच्य हो या अवाच्य। इस स्थिति में 'पेन्द्रं धनु.०' पद्य में अप्रकृत नायक और उसके व्यवहार की प्रतीति को प्रकृत रवि-शशी तथा उनके व्यवहार की प्रतीति से निरपेक्ष नहीं माना जा सकता, फलतः 'नायकः स्वस्वरूपेण' और 'नायकत्वप्रतीति' पाठ ही ठीक बैठता है। नायकत्व और नायकव्यवहार तत्वतः एक हैं इसलिए 'नायकत्वव्यवहार' पाठ में एक ही तत्त्व का कथन भाववाचक 'त्व'-प्रत्यय से तथा 'व्यवहार' शब्द से होने के कारण पुनरुक्ति दोष है। सञ्जीविनीकार ने 'रविशशिनोरेव नायकत्व-व्यवहारे प्रतीति' ऐसा कह 'नायकत्वव्यवहारप्रतीति' को ही मूल माना है। इनकी इस पंक्ति का अर्थ 'नायकत्वरूपी व्यवहार किया जाय या 'नायकत्वानुरूप व्यवहार', 'त्व' और 'व्यवहार' दोनों में से कोई एक व्यर्थ ठहरता है। नायकत्वानुरूप व्यवहार के स्थान पर 'नायकानुरूप' व्यवहार भी कहा जा सकता है।

[ख] ग्रन्थकार ने जो धनुष को उपमान बनाकर नखक्षत को उपमेय बनाने का विकल्प प्रस्तुत किया है यह केवल नायिकापक्ष की दृष्टि से संगत है। नायिका नखक्षत ही धारण कर सकती है जिस प्रकार शरद् इन्द्रधनुष हो। इस विशेषण को नायिकैकगामी बनाने पर 'तन्वी' इत्यादि पद्य के 'विकास'—धर्म के समान इस विशेषण को एकमात्र अप्रकृतपक्षीय विशेषण मानना होगा। किन्तु यह सब अत्यन्त अवैज्ञानिक है। कहा जाए 'नखक्षत के समान धनुष' और अर्थ निकाला जाए 'धनुष के समान नखक्षत' यह संभव ही कैसे है। जहाँ तक 'दध्ना जुहोति' का संबन्ध

है उसमें 'विधान' जुहोति से हटाकर दधि में संक्रान्त कर किया जा सकता है। उद्देश्यविधेयभाव व्याकरण पर निर्भर नहीं रहता अतः उसे विवक्षा के अनुरूप खींचा-ताना जा सकता है। यहाँ नखक्षत का उपमानत्व 'आर्द्रनखक्षताभ' इस प्रकार समास में आए आभा शब्द पर निर्भर है। यह श्लोक में धनुष के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। इस प्रकार वह केवल शरद् का ही विशेषण बनता है और इससे धनुष उपमेय ही प्रतीत होता है उपमान नहीं। निदान इस विशेषण में उपमा ही मान्य है। शरद् में नायिकात्व और रवि तथा शशी में नायकत्व स्वतन्त्ररूप से प्रतीत नहीं होते, इसलिए उतने अंश में समासोक्ति मानी जा सकती है। पूर्ण वाक्यार्थ में चमत्कार उपमानुप्राणित समासोक्ति से ही माना जा सकता है किन्तु अनुग्राह्यानुग्राहकभावमूलक संकर की रीति से, न कि औपम्यगर्भित समासोक्ति की रीति से।

यहाँ ग्रन्थकार सर्पच्छुन्दरन्याय का शिकार हो गया है। पहले तो उसने उद्भट आदि के अनुकरण पर अथवा समासोक्ति पर अधिक मोह के कारण एकदेशविवर्ती उपमा नहीं मानी। जब यहाँ समासोक्ति का निर्वाह कठिन दिखाई दिया तो उसे राजनीतिक चाल चलकर मान लिया, किन्तु उसे समासोक्ति की निर्बाध स्थिति का मोह सताने लगा और उसने उपमानत्व का भवन ! धनुष में करना शुरू कर दिया। इसीलिए इनकी इस व्यवस्था का अनुमोदन न पण्डितराज ने किया है और न विश्वेश्वर ने ही। अप्पय्यदीक्षित के ही समान ये दोनों आचार्य भी इस विषय पर चुप हैं।

[सर्वस्व]

सा च समासोक्तिरर्थान्तरन्यासे क्वचित्समर्थ्यगतत्वेन क्वचित्समर्थकगतत्वेन च भवति। क्रमेण यथा—

'अथोपगूढे शरदा शशाङ्के प्रावृड् ययौ शान्ततडित्कटाक्षा।
कासां न सौभाग्यगुणोऽङ्गनानां नष्टः परिभ्रष्टपयोधराणाम्॥'

'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत् सर्वं नो संध्यां भजते रविः॥'

अत्रोपगूढत्वेन शान्ततडित्कटाक्षत्वेन च शशाङ्कशरदोर्नायकव्यवहार-प्रतीतौ समासोऽस्यालिङ्गित पदार्थो विशेषरूपः सामान्याश्रयेणार्थान्तरन्यासेन समर्थ्यते। सामान्यस्य चात्र श्लेषवशादुत्थानम्। शान्ततडित्कटाक्षेत्यौपम्यगर्भं विशेषणं समासान्तराश्रयेणात्र समानम्। असमाप्तेत्यादौ तु स्त्रीशब्दस्य सामान्येन स्त्रीत्वमात्राभिधानात् सामान्यरूपोऽर्थो लिङ्गविशेषनिर्देशगर्भेण कार्योपनिबन्धनेनोत्थापितया समासोक्त्या समारोपितनायकव्यवहारेण रविसंध्यावृत्तान्तेन विशेषरूपेण समर्थ्यते।

'आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोगनिर्मोकपट्टपरिवेषतयाम्बुराशेः।
मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले॥'

अत्र निर्मोकपट्टापह्नवेन समारोपितताया मन्दाकिन्या यद्वस्तुवृत्तेन पादमूले वेष्टनं तच्चरणमूले वेष्टनत्वेन श्लेषमूलयातिशयोक्त्याध्यवसीयते। तत्

तथाध्यवसितं मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवेत्युत्प्रेक्षामुत्थापयति। सोऽथाप्यमानैवाम्बुराशिमन्दाकिन्योः पतिपत्नीव्यवहाराश्रयां समासोक्तिं गर्भीकरोति। एवं चोत्प्रेक्षासमासोक्त्योरेकः कालः।

एवं 'नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्' इत्यत्रापि वनस्थलीनां नायिकाव्यवहार उत्प्रेक्षान्तरानुप्रविष्टसमासोक्तिमूल एव।

एवमियं समासोक्तिरनन्तप्रपञ्चेत्यनया दिशा स्वयमुत्प्रेक्ष्या।

यह समासोक्ति अर्थान्तरन्यास में भी होती है, कभी समर्थ्य अंश में और कभी समर्थक अंश में। [दोनों के] क्रम से उदाहरण यथा—

'जब, जब चन्द्र का आलिङ्गन शरद् ने कर लिया तो वर्षा अपना तडित्कटाक्ष शान्त कर चली गई। पयोधर नष्ट हो जाने पर किन स्त्रियों का सौभाग्यगुण नष्ट नहीं हो जाता।'

'जब तक विजयेच्छा समाप्त नहीं हो जाती किसी भी मनस्वी को स्त्री की चिन्ता कैसे हो सकती है। सपूर्ण जगत् पर आक्रमण कर लेने के पूर्व सूर्य सन्ध्या को नहीं भजता।'

इनमें [से प्रथम में] आलिङ्गन और तडित्कटाक्ष की शान्ति [इन दो विशेषणों] से चन्द्रमा और शरद् में नायक तथा नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है। इस प्रकार यहाँ जो विशेषरूप अर्थ है वह समासोक्ति से युक्त है और उसी रूप में उसका सामान्यरूप [अगनादशब्द से कथित] अन्य अर्थ के उपन्यास से उत्पन्न अर्थान्तरन्यासालंकार से समर्थन होता है। [अतः प्रथम पद्य में समासोक्ति समर्थ्य अंश में है]। यहाँ [समर्थक] सामान्यांश की निष्पत्ति श्लेष से हुई है [क्योंकि पयोधर शब्द में मेघ तथा स्तन अर्थ का श्लेष है इसी प्रकार समर्थ्य विशेषांश में] 'शान्ततडित्कटाक्षा—'— यह विशेषण ['तडिद्रूपी कटाक्ष' इस समास के अतिरिक्त 'तडित् के के समान कटाक्ष'—इस] एक अन्य समास के मानने पर [उभयपक्ष में] समान बनता है। 'असमाप्त०' इत्यादि पद्य में [समर्थ्य वाक्य में आया] स्त्रीशब्द [स्त्री-]-सामान्य का वाचक है। इसलिए [उससे उपस्थित] सामान्यरूपी अर्थ [समर्थ्य है उस] का रविसन्ध्यावृत्तान्तरूपी विशेष अर्थ से समर्थन हो रहा है, जिस पर समासोक्ति के द्वारा नायक तथा नायिका के वृत्तान्त का आरोप हो रहा है। यह समासोक्ति निष्पन्न हो रही है [समान] कार्य के निर्देश से, जिसमें विशिष्ट लिंगों [स्त्रीलिंग तथा पुंल्लिङ्ग] का योग है। [इस प्रकार इस पद्य में समासोक्ति समर्थक अंश में है]।

'[समुद्रमन्थन के समय] खिंचाव के जोर से शेषनाग के [धवल] शरीर का [धवल] निर्मोकपट्ट [केंचुल की पट्टी] निकल कर गोल गोल लिपट जाने के कारण जिस [मन्दराचल] के पाद—[प्रत्यन्तपर्वत और चरण] मूल को मानों समुद्र के मन्थन की व्यथा शीघ्र शान्त करने के हेतु बहुत देर तक मन्दाकिनी लपेटे रहती थी।' [हरविजय ५।७]

—यहाँ ['यह निर्मोकपट्ट नहीं है अपि तु मन्दाकिनी है' इस विवक्षा द्वारा] निर्मोकपट्ट का अपह्नव कर उस पर मन्दाकिनी का आरोप किया गया है और उस [मन्दाकिनी] का जो पर्वतकटक के मूल में वास्तविकरूप से लिपटना है उसे उसके चरण के मूल में लिपटने के रूप में श्लेषमूलक अतिशयोक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। [यह हुआ चरणमूल में लिपटनेरूपी अर्थ के द्वारा कटकमूल में लिपटनेरूपी अर्थ का अध्यवसाय]। इस प्रकार प्रस्तुत [अध्यवसित] वह 'मानों मन्थन की व्यथा शान्त करने के हेतु' [किया गया] इस प्रकार उत्प्रेक्षा को निष्पन्न करता है। वह [उत्प्रेक्षा] निष्पन्न होने लगती है तो समुद्र तथा मन्दाकिनी के पति पत्नी व्यवहार से जनित

समासोक्ति को अपने भीतर ले लेती है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा और समासोक्ति दोनों ही एक साथ निष्पन्न होती हैं।

इसी प्रकार [कुमारसंभव के तृतीयसर्ग के बालेन्दुवक्राणि० इस पद्य के] 'वनस्थली के नखक्षतों से' इस अंश में भी जो नायिका के व्यवहार की प्रतीति होती है वह उत्प्रेक्षा के भीतर निविष्ट समासोक्ति से ही होती है।

इस प्रकार यह सोचकर कि इस समासोक्ति के फैलाव का अन्त नहीं है उपरिनिर्दिष्ट पद्धति से इसके अन्य भेदों की कल्पना स्वयमेव कर लेनी चाहिए।

विमर्शिनी

सेत्युक्तप्रपञ्चा । सामान्यस्येत्यङ्गनाशब्दस्य स्त्रीत्वमात्राभिधानात् । श्लेषवशादिति, पयोधराणां हि श्लिष्टत्वम् । लिङ्गविशेषेति, रविसंध्ययोः पुंस्त्रीरूपेण कार्यं भजनाख्यम् । एवमन्यालंकारसंमिश्रत्वमप्यस्या दर्शयति—आकुष्टीत्यादिना । सेत्युत्प्रेक्षा । एकः काल इति । इहो समासोक्तिगर्भीकारेणैवोत्प्रेक्षाया उत्थानात् । एवमिति । यथोक्तनयेनेत्यर्थः ।

'सा = वह अर्थात् यह अर्थात् यह समासोक्ति जिसका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है। सामान्यस्य = सामान्य का अभिधायक इसलिए कि अंगनाशब्द स्त्रीत्वमात्र का अभिधान करता है। श्लेषवशात् = श्लेषद्वारा अर्थात् पयोधरों के अनेकार्थक होने से। लिंगविशेष = रवि और संध्या में पुंलिंग तथा स्त्रीलिंग और उनका कार्य भजनक्रिया कथित भजन = सेवन। इसी प्रकार इसका अन्य अलंकारों के साथ भी मिश्रण रहता है, उसे दिखलाते हैं—'आकृष्टि' इत्यादि उदरणों द्वारा। सा = वह = उत्प्रेक्षा। एकः कालः = एक ही समय में प्रतीति होती है अर्थात् बोध में उत्प्रेक्षा समासोक्ति को अपने भीतर लेकर ही निष्पन्न प्रतीत होती है। एवम् = उक्त क्रम से।

विमर्श—(१) कुमारसंभव का 'बालेन्दुवक्राणि०' पद्य पूरा इस प्रकार है—

'बालेन्दुवक्राण्यविकासभावाद् बभुः पलाशान्यतिलोहितानि ।
सद्यो वसन्तेन समागतानां नखक्षतानीव वनस्थलीनाम्' ॥३।२९॥

'पलाश [टेसू] के अनखिले पुष्प [प्रतिपद् के] बालेन्दु के समान टेढ़े और लालचट्ट थे इसलिए वे ऐसे लग रहे थे मानों वसन्त से तत्काल मिली वनस्थलियों के नखक्षत हों।'

(२) मन्दाकिनी का अर्थ ग्रन्थकार के अनुसार भागीरथी गंगा प्रतीत होती है। इस अर्थ में पद्य का अभिप्राय यह माना जाएगा कि जैसे कोई सपत्नी अपने पति की रक्षा के लिए आक्रान्ता के चरण से लिपट जाती है उसी प्रकार मन्दाकिनी भी अपने पति समुद्र को मन्थन व्यथा से बचाने के लिए मन्दर के कटकों में लिपट गई।

(३) समासोक्ति का इतिहास—

भामह = 'यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषणः ।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥
स्कन्धवानृजुरव्यालः स्थिरोऽनेकमहाफलः ।
जातस्तरुरयं चोच्चैः पातितश्च नमस्वता ॥२।७९, ८०॥

—जहाँ एक के कहने पर उसी जैसा समान विशेषण वाला दूसरा अर्थ प्रतीत हो तो उसे समासोक्ति कहा जाता है क्योंकि इसमें अधिक अर्थ थोड़े में कह दिया जाता है। यथा—

—इस स्कन्धों से युक्त, सीधे, सांपों से रहित, और दृढ वृक्ष में ज्यों ही बड़े बड़े फल लगे, इसे आँधी ने गिरा दिया।'

वामन = [सूत्र] 'अनुक्तौ समासोक्तिः ४।३।३

[वृत्ति] उपमेयस्यानुक्तौ समानवस्तुन्यासः समासोक्तिः, संक्षेपवचनात् समासोक्तिरित्याख्या।

—उपमेय को बिना कहे समान वस्तु का विन्यास समासोक्ति कहलाता है। [समास का अर्थ है संक्षेप] संक्षेप में कथन रहने से समासोक्ति यह नाम पड़ा। यथा—

'श्लाघ्या ध्वस्ताध्वगग्लाने करीरस्य मरौ स्थितिः।
धिङ् मेरौ कल्पवृक्षाणामप्युत्पन्नार्थिनां श्रियः॥'

—पेड़ करील का ही हो और भले ही वह मरुभूमि में ही जमा हो तब भी वह श्लाघ्य है क्योंकि वह राहगीरों की ग्लानि (थकावट) दूर करता रहता है। इसके विरुद्ध याचकों की इच्छा पूर्ण न करने वाला कल्पवृक्ष ही क्यों न हो और सुवर्ण के पर्वत सुमेरु पर ही क्यों न उगा हो, उसे धिक्कार है।

स्पष्ट ही समासोक्ति के नाम से वामन ने जिस अलंकार को प्रस्तुत किया परवर्ती आचार्यों के अनुसार वह अप्रस्तुतप्रशंसा ही है।

उद्भट = 'प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानैर्विशेषणैः।
अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिरुदाहृता॥२।१०॥

—वाक्य प्रकृतार्थक हो किन्तु उसके विशेषण इस प्रकार समान हों कि उनसे अप्रस्तुत अर्थ का कथन होता हो तो उसे समासोक्ति कहा जाता है। उदाहरण—पूर्वोद्धृत 'दन्तप्रभापुष्पचिता' = पद्य।

—स्पष्ट ही उद्भट भी एक देशविवर्ति रूपक में समासोक्ति समझ बैठे।

रुद्रट = रुद्रट ने समासोक्ति का निर्वचन भामह के अनुकरण पर इस प्रकार किया है—

'सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत्।
उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः॥८।६७॥

यथा—'फलमविकलमलघीयो लघुपरिणति चायतेऽप्य सुस्वादु।
प्रीणितसकलप्रणयिप्रणतस्य सदुन्नते सुतरोः॥८।६८॥

—जहाँ केवल उपमेय ही कहा जाय और वह सभी विशेषणों की समानता के आधार पर उपमान की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा कराए तो वहाँ समासोक्ति होती है। यथा—

—'सभी याचक और प्रणत व्यक्तियों को प्रसन्न करने वाले अच्छे बढ़े हुए इस सुन्दर वृक्ष का फल कभी चूकता नहीं, आकार में बहुत बड़ा होता है, शीघ्र परिणत (पक) हो जाता है और बड़ा ही स्वादु रहता है।' [यहाँ वृक्ष ही प्रस्तुत है अतः उपमेय है। उससे उस जैसे सत्पुरुष की प्रतीति समान विशेषणों के आधार पर होती है।] अतः यहाँ समासोक्ति है।

नमिसाधु ने वामन के अनुसार यहाँ 'उपमान से उपमेय की प्रतीति' ऐसा अर्थ कर दिया है, किन्तु यह उदाहरण से मेल नहीं खाता। उदाहरण में वृक्ष का 'इस' = इस प्रकार ऐसे सर्वनाम द्वारा निर्देश किया जा रहा है जिससे यह प्रतीत होता है कि वृक्ष सामने लगा है। फलतः वह प्रस्तुत है। यूँ तो खींचतान कर दूसरा अर्थ भी लगाया जा सकता है किन्तु जब उपयुक्त अर्थ निकाला जा सकता है तब अनुपयुक्त अर्थ का आग्रह करना उचित नहीं कहा जा सकता। कदाचित् मम्मट को रुद्रट के इस द्वितीय अर्थ से ही समासोक्ति का निम्नलिखित लक्षण बनाने की प्रेरणा मिली होगी।

मम्मट = 'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।'

श्लिष्ट विशेषणों द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति समासोक्ति कहलाती है।

—पूर्ववर्ती आचार्यों ने विशेषण के उभयार्थक होने की बात तो कही थी किन्तु विशेष्य के उभयार्थक होने का प्रतिषेध नहीं किया था। मम्मट ने उक्त लक्षण की वृत्ति द्वारा उसे भी स्पष्ट

कहा—'प्रकृतार्थप्रतिपादकवाक्येन श्लिष्टविशेषणमाहात्म्यात्, न तु विशेष्यस्य सामर्थ्यादपि यद् अप्रकृतस्यार्थस्याभिधानं सा समासेन संक्षेपेणार्थद्वयकथनात् समासोक्तिः'—प्रकृत अर्थ का प्रतिपादक वाक्य यदि केवल श्लिष्ट विशेषणों के बल पर, न कि विशेष्य के भी बल पर अप्रकृत अर्थ का प्रतिपादन करे तो वह समासोक्ति कहलाती है, समास अर्थात् संक्षेप के द्वारा दो अर्थों का प्रतिपादन करने से।'

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने अलंकारसर्वस्वकार के समासोक्ति-लक्षण पर जो आपत्तियाँ उठाई हैं उन्हें पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है।

अप्पयदीक्षित—ने उनके कुवलयानन्द में चन्द्रालोक के 'समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत्।' —इस समासोक्ति लक्षण की वृत्ति लिखते हुए कहा है—

'यत्र प्रस्तुतवृत्तान्ते वर्ण्यमाने विशेषणसाम्यबलाद् अप्रस्तुतवृत्तान्तस्यापि परिस्फूर्तिः तत्र समासोक्तिरलंकारः।'

—जहाँ वर्णन किया जा रहा हो प्रस्तुतवृत्तान्त का किन्तु विशेषणसाम्य के बल पर अप्रस्तुत-वृत्तान्त भी निकल रहा हो तो अलंकार का नाम समासोक्ति होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने समासोक्ति का लक्षण और भी अधिक संरम्भ के साथ इस प्रकार किया है—

'यत्र प्रस्तुतधर्मिको व्यवहारः साधारणविशेषणमात्रोपस्थापिताप्रस्तुतधर्मिकव्यवहाराभेदेन भासते सा समासोक्तिः।'

—जहाँ प्रस्तुत धर्मी का व्यवहार साधारणविशेषणमात्र के द्वारा उपस्थापित अप्रस्तुत धर्मी के व्यवहार से अभिन्न भासित होता हो वह समासोक्ति है।

विश्वेश्वर ने समासोक्ति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'यत्र प्रकारवाचकपदमात्रं व्यङ्ग्यवाच्यसामान्यम्।
तच्छक्तेरप्रकृतार्थोक्तिः सोक्ता समासोक्तिः॥'

—जहाँ केवल विशेषणवाचक पद ही वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थों में समान हों और उनकी शक्ति से अप्रकृतार्थ का कथन हो तो उसे समासोक्ति कहा जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि केवल वामन को छोड़ समासोक्ति के विषय में सभी आलंकारिक एकमत हैं और समासोक्ति के भेद-प्रभेदों की कल्पना का श्रेय अलंकारसर्वस्वकार को ही है।

अलंकाररत्नाकरकार ने यहाँ समासोक्ति, श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का अन्तर भी स्पष्ट किया है। हम इसे श्लेषप्रकरण के पश्चात् प्रस्तुत करेंगे।

संजीविनीकार ने समासोक्ति के संपूर्ण विवेचन का सारसंक्षेप इन कारिकाओं में किया है—

[१] 'अप्रस्तुतं प्रतीतं चेद् भेदकांशैकसाम्यतः।
व्यवहारं समारोप्य प्रस्तुते न्यग्भवत्यथ॥
[२] तेनाप्रस्तुतवृत्तान्तारोपेण प्रस्तुतं स्वयम्।
संक्षेपेणोच्यते तस्मात् समासोक्तिरियं मता॥
[३] स्याद् विशेष्यांशसाम्यं चेत् प्रस्तुताकाररूपितम्।
भवेदप्रस्तुतं भेदं रूपकालङ्कृतिस्तदा॥

[४] विशेषणांशसाम्येनाप्रस्तुतार्थस्य गम्यता ।
समासोक्तिर्मता येन संक्षिप्यार्थोऽभिधीयते ॥
[५] शुद्धकार्यसमारोपे साम्यं स्यादौपचारिकम् ।
व्यवहारसमारोपः साक्षादस्याः प्रयोजकः ॥
[६] स्याद् विशेषणसाम्यं चेत् समासान्तरसंश्रयात् ।
उपमा बाधते नैनामेकदेशविवर्त्तिनी ॥
[७] दृश्यतेऽर्थान्तरन्यासे समर्थ्ये च समर्थके ।
उत्प्रेक्षायोगिनी चैषा क्वचित् स्यादेकवाक्यता ॥

[१] अप्रस्तुत यदि केवल विशेषणों के साम्य के आधार पर प्रतीत हो और वह प्रस्तुत पर अपना व्यवहार आरोपित कर अप्रधान रहा आए

[२] तो यह समासोक्ति अलङ्कार माना जाता है क्योंकि यहाँ अप्रस्तुत वृत्तान्त के आरोप के साथ प्रस्तुत संक्षेप में कहा जाता है।

[३] यदि विशेष्यांश का साम्य भी हो और अप्रस्तुत विशेष्य प्रस्तुत के रूप में रूपित हो तो वहाँ रूपकालंकार होता है।

[४] यदि विशेषणांश का साम्य हो और उससे अप्रस्तुत अर्थ गम्य हो तो समासोक्ति मानी जाती है। समासोक्ति नाम इसलिए कि इसमें संक्षिप्त रूप से अर्थों का कथन रहता है।

[५] इसमें जहाँ केवल कार्य का समारोप रहता है तो साम्य औपचारिक माना जाता है, वस्तुतः इसका साक्षात् प्रयोजक व्यवहार का समारोप रहता है।

[६] विशेषण का साम्य यदि अन्य समास के सहारे हो तो समासोक्ति को एकदेशविवर्त्तिनी उपमा नहीं बाधती।

[७] यह अर्थान्तरन्यास में भी कभी समर्थ्यगत और कभी समर्थकगत रहती है। कहीं यह उत्प्रेक्षा में मिली रहती है, और कहीं उत्प्रेक्षा के साथ साथ प्रतीत होती है।

[सर्वस्व]

[सू० २३] विशेषणसाभिप्रायत्वं परिकरः ।

विशेषणवैचित्र्यप्रस्तावादस्येह निर्देशः । विशेषणानां साभिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थगर्भीकारः। अत एव प्रसन्नगम्भीरपदत्वान्नायं ध्वनेर्विषयः। एवं च प्रतीयमानांशस्य वाच्योन्मुखत्वात्परिकर इति सार्थकं नाम।

'राज्ञो मानधनस्य कार्मुकभृतो दुर्योधनस्याग्रतः
प्रत्यक्षं कुरुबान्धवस्य मिषतः कर्णस्य शल्यस्य च ।
पीतं तस्य मयाद्य पाण्डववधूकेशाम्बराकर्षिणः
कोष्णं जीवत एव तीक्ष्णकरजक्षुण्णादसृग्वक्षसः ॥'

अत्र राज्ञ इत्यादौ सोत्प्रासत्वपरं प्रसन्नगम्भीरपदत्वम् ।

एवम्—

'अङ्गराज सेनापते राजवल्लभ द्रोणोपहासिन् कर्ण, सांप्रतं रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम्' इत्यादौ ज्ञेयम्।

[सू० ३३] विशेषणों की साभिप्रायता परिकर [कहलाती है] ॥

[वृ०] प्रकरण विशेषण के वैचित्र्य का है इसलिए इसे यहाँ रखा जा रहा है। विशेषणों की साभिप्रायता अर्थात् उनका प्रतीयमानार्थ से गर्भित रहना [इसका अर्थ केवल इतना ही है कि] यहाँ विशेषण प्रसन्न के साथ गम्भीर भी रहते हैं [अर्थात् प्रधानता उन्हीं की रहती है] अतः इसे ध्वनि का विषय नहीं माना जा सकता। इसीलिए इसका परिकर नाम भी सार्थक है क्योंकि इसमें प्रतीयमान अर्थ वाच्य अर्थ के प्रति [परिकर = सामग्री, दास की नाईं] उन्मुख रहता है। यथा—

'इस राजा, मानधनी और [छिहते नहीं, हाथ में] धनुष लिए दुर्योधन के सामने, इसी प्रकार कौरवों के बन्धु बने कर्ण और शल्य के अपनी आँखों से देखते-देखते मैंने आज उस, पाण्डवों की वधू [द्रौपदी] के केश और वस्त्र खींचने वाले [दुश्शासन] के तीखे नाखूनों से विदारित वक्ष से निकला खून उसके जीते जी पी लिया। [वेणीसंहार]

—यहाँ 'राजा' आदि [विशेषण] में उपहास-[सोत्प्रासत्व]-परक प्रसन्नगंभीरपदत्व है। इसी प्रकार 'अरे अङ्गदेश के राजा' अरे [कौरव] सेना के पति, अरे राजा के प्रिय, अरे द्रोण का उपहास करने वाले कर्ण, अब बचा इस दुश्शासन को भीम से, [वेणीसंहार] इत्यादि स्थलों में भी जानना चाहिए।

विमर्शिनी

विशेषणेत्यादि। इहेति समासोक्त्यनन्तरम्। विशेषणानां चात्र बहुत्वमेव विवक्षितम्। अन्यथा ह्यपुष्टार्थस्य दोषत्वाभिधानात् तन्निराकरणेन स्वीकृतस्य पुष्टार्थस्यायं विषयः स्यात्। एवमेवंविधानेकविशेषणोपन्यासद्वारेण वैचित्र्यातिशयः संभवतीत्यस्यालंकारत्वम्। प्रतीयमानार्थस्य वाच्योन्मुखत्वेन प्राधान्याभावाद्गर्भीकारस्तदन्तःकृतत्वम्। अत एवेति प्रतीयमानार्थस्य प्राधान्याभावात्। प्रसन्नत्वं वाच्यस्यैव प्राधान्येन निर्देशात्। गम्भीरत्वं प्रतीयमानस्याप्यर्थस्य गुणीभावेन गर्भीकारात्। यत्र च प्रतीयमानं प्रति उपसर्जनीकृतस्वार्थयोः शब्दार्थयोरवस्थानं स ध्वनेर्विषय इति ध्वनिविदः। यदाहुः—'तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ। ध्वनेः स एव विषयः' इति। अत्र च न तथात्वमित्युक्तं नायं ध्वनेर्विषय इति। अत एव नामाप्यस्य यौगिकमित्याह—एवं चेत्यादि। सोत्प्रासत्वपरमिति। तथा च राज्ञो जगद् रक्षितव्यमस्य पुनरनुजमात्ररक्षणासिद्धेरन्यदेव नाममात्रेण राजत्वमित्युपहासपरत्वम्। एवमन्येषामपि स्वयमेवैतदवगन्तव्यम्। आदिशब्देन

> 'यस्यैकस्यैव दोष्णा जयति दशशती सान्वयो द्वारि रुद्रः
> कारागारे सुराणां पतिरपि च शची चामरव्यग्रहस्ता।
> कन्या तस्येयमेका रजनिचरपतेरेष शुद्धान्तमेको
> बालो निःशङ्कमस्याः प्रविशति च नमस्तेऽभसे वैष्णवाय ॥'

इत्यादावपि विशेषणानां प्रसन्नगम्भीरत्वं ज्ञेयम्।

विशेषण इत्यादि। इह = यहाँ अर्थात् समासोक्तिवाद। यहाँ विशेषणों का अनेक ही होना अपेक्षित है। नहीं तो, 'अपुष्टार्थक [विशेषण पद] को दोष कहा गया है, उसके निराकरण से आई पुष्टार्थकता का यह विषय होगा। इसके विरुद्ध ऐसे ही [पुष्टार्थक] विशेषणों की संख्या अधिक रहती है तो उससे [वाक्यार्थ में] अतिशय विचित्रता निष्पन्न होने लगती है, अतः यह अलंकार का विषय बन जाता है। प्रतीयमान अर्थ वाच्य के प्रति उन्मुख रहता है, अतः उसका प्राधान्य नहीं रहता, अतः उसका जो गर्भीकार है वह वाच्य के भीतर दबा रहता है। 'अतएव = इसीलिए' अर्थात् प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता न रहने से। प्रसन्नत्व इसलिए कि वाच्य का

ही निर्देश प्रधान रूप से रहता है। गम्भीरत्व इसलिए कि प्रतीयमान अर्थ भी [वाच्य में] अप्रधान होकर छिपा रहता है। इसके विपरीत जहाँ प्रतीयमान अर्थ के प्रति शब्द और अर्थ अप्रधान बनकर रहें वहाँ ध्वनि मानी जाती है—ऐसा ध्वनिवादी आचार्यों का मत है। जैसा कि [आनन्दवर्धनाचार्य ने] कहा है—

'ध्वनि का विषय वही माना जाना चाहिए जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यार्थ के प्रति तत्पर होकर ही स्थित हों।'

'इसी कारण इस [अलंकार] का नाम भी यौगिक है'—यह कहते हुए लिखते हैं—'एवं च' इत्यादि। सोत्प्रासत्वपरम = [शारदालिपि की प्रति में यही पाठ है]—उपहासपरक = 'जो राजा हो उसे तो रक्षा पूरे जगत् की करनी चाहिए, यह तुच्छ ऐसा है कि अपने ही छोटे भाई की रक्षा करने में असफल है, इसका राजत्व तो और ही कुछ है, केवल नाममात्र का राजत्व है'—इस प्रकार उपहासपरक है यह। इसी प्रकार अन्य विशेषण भी उपहासपरक हैं। उनकी उपहासपरकता स्वयं जान लेनी चाहिए। आदि शब्द से—

'जिस [सहस्रबाहु] की अपनी ही हजार भुजाएँ उत्कृष्टतम पराक्रम से युक्त हैं, जिसके द्वार पर भगवान् रुद्र अपने पूरे परिवार के साथ खड़े रहते हैं, जिसके कारागार में देवों का पति इन्द्र पिटा है और [उसकी पत्नी] शची हाथ में चमर लेकर जिसके ऊपर डुलाती है, उसी राक्षसराज की यह एक ही कन्या है और उसके शुद्धान्त (रनिवास) में यह एक अकेला बालक निःशङ्क प्रवेश करता जा रहा है। सचमुच भगवान् विष्णु के तेज को नमन है।'

—इत्यादि में विशेषणों की प्रसन्नता और गम्भीरता जाननी चाहिए।

विमर्श—परिकर का निरूपण पहिली बार रुद्रट के काव्यालङ्कार में मिलता है। भामह, दण्डी, वामन और उद्भट में इसकी कोई चर्चा नहीं है। रुद्रट ने परिकर का लक्षण इस प्रकार किया है—

'साभिप्रायैः सम्यग्विशेषणैर्वस्तु यद् विशिष्येत।
द्रव्यादिभेदभिन्नं चतुर्विधः परिकरः स इति॥ ७।७२

—द्रव्य, गुण, क्रिया तथा जाति रूप चार वस्तु जब साभिप्राय विशेषणों से ठीक-ठीक विशिष्ट की जाए तो [चार वस्तुओं में से एक-एक वस्तु के आधार पर] चार प्रकार के परिकर होते हैं। उदाहरण—

द्रव्यपरिकर—'उचितपरिणामरम्यं स्वादु सुगन्धि स्वयं करे पतितम्।
फलमुत्सृज्य तदानीं ताम्यसि मुग्धे मुधेदानीम्॥

—उचित परिणाम (पाक) से रम्य, स्वादु, सुगन्धि अपने आप हाथ में आ गिरे फल को छोड़कर हे मुग्धे! तू वृथा ही व्यथित हो रही है।' (यहाँ फल के विशेषण अनेक हैं और साभिप्राय हैं। फल द्रव्य है अतः यह द्रव्यपरिकर हुआ)। नमिसाधु ने फल को जातिवाचक मान वेणीसंहार का 'कर्ता द्यूतच्छलानां' पद्य उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। सर्वस्वकार का 'राज्ञो मानधनस्य' पद्य उसका ठीक समानार्थी पद्य है। इसमें दुर्योधन एक व्यक्ति है अतः उसका वाचक शब्द द्रव्यवाचक शब्द है। उसके विशेषण द्रव्य के विशेषण होने से यहाँ द्रव्यपरिकर हुआ।

गुणपरिकर—'कार्येषु विघ्नितेच्छं विहितमहीयोऽपराधसंवरणम्।
अस्माकमपन्यानामार्जवमपि दुर्लभं जातम्॥

—कार्यों में इच्छा विघ्नित करने वाला, बड़े से बड़े अपराध का भी संवरण करने वाला आर्जव (सीधापन) भी हमारे दुर्भाग्य से दुर्लभ हो गया।' यहाँ आर्जव गुण है और उसमें अनेक साभिप्राय विशेषण जोड़े गए हैं।

क्रियापरिकर—'सततमनिर्वृतमानसमायाससहस्रसंकटक्लिष्टम्।
गतनिद्रमविश्वासं जीवति राजा जिगीषुरयम्॥

—यह विजयेच्छु राजा सदा ही अशान्त चित्त हो सहस्रों आयासों के संकट से क्लेश में पड़ा प्रजागरव्यथित हो, बिना किसी का विश्वास किए जीता है।' यहाँ 'जीना' क्रिया के अशान्त-चित्तता आदि अनेक साभिप्राय विशेषण हैं अतः यहाँ परिकर क्रियापरिकर हुआ।

जातिपरिकर—'अत्यन्तमसहनानामुरुशक्तीनामनिम्नवृत्तीनाम्।
एकं सकले जगति स्पृहणीयं जन्म केसरिणाम्॥

—केवल सिंहों का ही जन्म एक ऐसा जन्म है जो स्पृहणीय है, जो अत्यन्त असहनशक्ति, अत्यन्त बलशाली और अपराधीन रहते हैं।' यहाँ सिंह जातिवाचक शब्द है अतः यहाँ जाति-परिकर हुआ।

नमिसाधु ने यहाँ भर्तृहरि का 'कृशः काणः खञ्जः' पद्य भी उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जो अत्यन्त उपयुक्त है। रुद्रट के इतने महत्त्वपूर्ण और विशद विवेचन को मम्मट ने संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया—

मम्मट='विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः।'

—अनेक साभिप्राय विशेषणों के साथ विशेष्य का कथन परिकर कहलाता है। उदाहरण के रूप में दिया है किरातार्जुनीय का—

'महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य न भिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्॥'— यह पद्य

यहाँ धनुर्धर वीरों को महान् ओजस्वी आदि अनेक विशेषणों से युक्त बतलाया गया है। अन्त में मम्मट ने अपुष्टार्थत्व दोष के अभाव में परिकर के अन्तर्भाव की संभावना कर उसका परिहार इस प्रकार किया है—

'यद्यप्यपुष्टार्थस्य दोषताभिधानात् तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्वीकारः कृतः तथाप्येकनिष्ठत्वेन बहूनां विशेषणानामेवमुपन्यासे वैचित्र्यमित्यलंकारमध्ये गणितः।'

विमर्शिनीकार ने इन्हीं पंक्तियों को तनिक से रूपान्तर के साथ परिकर-विमर्शिनी के प्रारम्भ में उद्धृत कर मम्मट के इस सिद्धान्त को मान लिया है कि साभिप्राय विशेषणों की अनेकता दोषाभाव से आगे आलंकारिक चमत्कार तक व्याप्त वस्तु है।

निश्चित ही अलंकारसर्वस्वकार ने रुद्रट और मम्मट के केवल साभिप्रायत्व का व्यंग्यार्थ से संबन्ध जोड़ और परिकर शब्द की अन्वर्थता की सिद्धि कर परिकर-विचार को पर्याप्त पुष्टि दी है।

शोभाकर अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार का मत ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

[सूत्र = विशेषणानां] साभिप्रायत्वं परिकरः।

[वृत्ति =] साभिप्रायत्वं प्रतीयमानार्थगर्भता। तस्य च प्रतीयमानस्य वाच्यं प्रत्युपस्कारकत्वाद् गुणीभूतत्वेनालङ्कार्यत्वाभावाद् अलंकारता। वाच्यस्यैवोपस्कार्यत्वेन प्राधान्यादलंकार्यता। यत्र तु वाच्यस्य व्यङ्ग्यार्थपर्यवसायितया व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं न व्यङ्ग्यगर्भता स ध्वनेर्विषयः।

—विशेषणों की साभिप्रायता परिकर। साभिप्रायता अर्थात् प्रतीयमानार्थ से गर्भित होना। यह प्रतीयमान अर्थ वाच्य के प्रति गुणीभूत होता है क्योंकि वह वाच्य का उपस्कारक होता है, और इसीलिए अलंकार्य नहीं होता फलतः अलंकार कहलाता है। उपस्कार्य वाच्यार्थ ही होता है

इसलिए वह अलङ्कार्य होता है। जहाँ वाच्य व्यङ्ग्य के प्रति समर्पित रहता है वहाँ व्यंग्य प्रधान रहता है न कि वाच्य में गर्भित, वहाँ ध्वनि होती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने शोभाकरकृत परिकर ही परिकर के लक्षण के रूप में अपना लिया है 'विशेषणानां साभिप्रायत्वं परिकरः।' साभिप्रायत्व का अर्थ भी उन्होंने-'प्रकृतार्थोपपादकचमत्कारिव्यङ्ग्यकत्व' किया है।

अप्पय्यदीक्षित ने परिकर का कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया है। चन्द्रालोक का 'अलङ्कारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे' यह पूर्वाचार्यों के परिकर-लक्षण का समानार्थी लक्षण ही उन्होंने स्वीकार कर लिया है। किन्तु दीक्षित जी ने एक नवीन प्रश्न उठाया है। वह यह कि जहाँ मम्मट और विमर्शिनीकार ने स्पष्टरूप से तथा रुद्रट, सर्वस्वकार तथा शोभाकर ने अस्पष्ट रूप परिकर में विशेषणों की अनेकता पर बल दिया था वहाँ अप्पय्यदीक्षित ने इसके विरुद्ध केवल एक विशेषण की साभिप्रायता में भी परिकर को अलङ्कार मानने की पहल की है। उनका आधार चन्द्रालोक के उक्त लक्षण में आया विशेषण शब्द का एकवचन है। इस पक्ष का प्रतिपादन करते हुए दीक्षित जी ने कुवलयानन्द में लिखा है—

'अनेकविशेषणोपन्यास एव परिकर इति न नियमः। श्लेषयमकादिषु ००० एकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्य विन्यासे विच्छित्तिविशेषसद्भावात् परिकरत्वोपपत्तेः।' 'अपि च एकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कार इति सर्वसम्मतम्, तद्वदेकस्यापि विशेषणस्य साभिप्रायस्यालङ्कारत्वं युक्तमेव'।

—यह आवश्यक नहीं कि अनेक विशेषणों के आने पर ही परिकर अलङ्कार माना जाय। साभिप्राय विशेषण केवल एक भी हो किन्तु उसमें चमत्कार प्रतीति हो रही हो तो वहाँ भी परिकरालङ्कार माना जा सकता है। श्लेष, यमक आदि में वैसी प्रतीति होती भी है। एक तथ्य यह भी ध्यान देने योग्य है कि केवल एक पदार्थ के हेतु होने पर काव्यलिंग को सर्वसम्मति से अलंकार माना जाता है। इसी प्रकार एक साभिप्राय विशेषण से परिकर को भी अलंकार मानना ठीक ही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अप्पय्यदीक्षित के इस मत को मान लिया है। उन्होंने लिखा है—

'विशेषणानेकत्वं हि व्यङ्ग्याधिक्याधायकत्वाद् वैचित्र्यविशेषाधायकमस्तु नाम, न तु प्रकृतालङ्कारशरीरं तदेवेति शक्यं वक्तुम्, एकस्यापि विशेषणस्य चमत्कारितायाः अनपह्नवनीयत्वात्।'

—'विशेषण की अनेकता से व्यङ्ग्य की मात्रा बढ़ जाती है अतः वह वैचित्र्य में अधिकता भले ही ला दे, यह नहीं कि वह परिकर का शरीर मानी जाने लगे। क्योंकि केवल एक विशेषण में भी चमत्कार रहता है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।' ऐसा मानने पर पुष्टार्थतारूप दोषाभाव से परिकर को पृथक् करना कठिन हो जाता है। पण्डितराज ने इस पर ये युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं—

['पुष्टार्थतारूपेण दोषाभावेन परिकरालङ्कारस्य विषयविभागो दुःशक इति प्राप्ते ब्रूमः]—'सुन्दरत्वे सत्युपस्कारकत्वमलङ्कारत्वम्, चमत्कारापकर्षकाभावत्वं च दोषाभावत्वम्। तदेतद् धर्मद्वयं निविक्तविषयं यदि दैवादेकस्मिन् विषयविशेषे समाविशेत् तदा का हानिः स्यात्, उपधेयसंकरेऽप्युपाध्यसंकरात्। यथा ब्राह्मणस्य मूर्खत्वं दोषः, विद्या तु दोषाभावश्च भवति गुणश्च तथेहाप्युपपत्तिः'। न च दोषाभावतया प्राप्तस्यापि परिकरस्य किमित्यलङ्कारेषु गणनागौरवमिति वाच्यम्, उभयात्मकत्वेनेतरवैलक्षण्यज्ञापनार्थतया गणनोपपत्तेः, यथा गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदतया स्वीकृतानामपि समासोक्तिरलङ्कारगणनायां पुनर्गण्यने, यथा वा प्रासादवासिषु गणितोऽप्युभयवासी भूवासिगणनायां पुनर्गण्यते तथेहापीति न कश्चिद् दोषः। अन्यथा प्राचां काव्यलिङ्गमप्यलङ्कारो न स्यात्, तस्यापि निर्हेतुरूपदोषाभावात्मकत्वात्।

—अलंकारत्व है सुन्दरता के साथ उपस्कारकता और दोषाभाव है चमत्कार के अपकर्षकतत्त्वों का अभाव। अलग अलग क्षेत्र के ये दोनों तत्त्व यदि एक ही क्षेत्र में आ जाएँ तो कोई हानि नहीं। क्योंकि इनके मिलने पर भी इनकी विशेषताएँ भिन्न ही होंगी। उदाहरण के रूप में जैसे ब्राह्मण के लिए मूर्खता दोष है और विद्या मूर्खतादोष का अभाव भी और गुण भी। वैसा ही यहाँ भी माना जा सकता है। परिकर दोषाभाव के साथ ही अलंकारस्वरूप उसी प्रकार है जिस प्रकार समासोक्ति गुणीभूतव्यंग्य भी और अलंकार भी, अथवा जैसे भवन और भूमि दोनों में रहने वाला भवन निवासी भी माना जाता है और भूमि निवासी भी। ऐसा न मानने पर प्राचीन आलंकारिकों द्वारा अलंकाररूप से मान्य काव्यलिंग भी अलंकार नहीं होगा, क्योंकि उसका भी अन्तर्भाव निर्हेतुत्वदोष के अभाव में कर लिया जावेगा।

विश्वेश्वर ने अलंकारकौस्तुभ में मम्मट और जयरथ, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ सब के उक्त मतों को प्रस्तुत किया है।

पदार्थहेतुक काव्यलिंग से परिकर को पण्डितराज ने व्यंग्यांश को लेकर भिन्न किया है। काव्यलिंग में चमत्कार, वस्तु के हेतुत्वेन प्रस्तुतीकरण पर निर्भर रहता है जब कि परिकर में उसके व्यंग्यगर्भितत्व पर।

केवल एक साभिप्राय विशेषण से निष्पन्न परिकर का उदाहरण चन्द्रालोककार ने यह दिया है—

'सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः।'

—'चन्द्रचूड शिव आपका संताप दूर करें।' यहाँ चन्द्रचूडत्व से शीतता व्यक्त होती है जो तापहरण में सहायक है।

संजीविनीकार ने परिकर-विवेचना का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'विशेषणानां व्यंग्यार्थगर्भीकरणलक्षणा।
सोत्प्रासता परिकरो व्यङ्ग्यः परिकरो मतः॥'

—अनेक विशेषणों की व्यंग्यार्थ को अपने गर्भ में लिए रहने रूप सोत्प्रासता परिकर कहलाती है क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ परिकर [सेवक, सामग्री] के रूप में विद्यमान रहता है।

परिकरांकुर—चन्द्रालोककार जयदेव तथा कुवलयानन्दकार अप्पय्यदीक्षित ने विशेष्य के साभिप्राय होनेपर एक परिकराङ्कुर नामक अलंकार भी माना है।—

'साभिप्राये विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः'

इसका उदाहरण माना है—'चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः।' चतुर्भुज देव चार पुरुषार्थों का दाता है।

यहां पुरुषार्थ चार हैं और भुजाएँ भी चार इसलिए एक एक हाथ से एक एक पुरुषार्थ देने का तथ्य व्यक्त होता है। विश्वेश्वर पण्डित के कथनानुसार उनके सबसे छोटे भाई उमापति पण्डित इसे परिकर में ही अन्तर्भूत मानते हैं। उनके कथनानुसार—'चतुर्भुज' शब्द भगवान् विष्णु के अर्थ में रूढ है अतः 'चार भुजाएँ' यह अर्थ यहां विष्णु का विशेषण होकर ही भासित होता है और चमत्कार उसी में है इसलिए यहां परिकरालंकार ही है।

'क्वचिद् विशेषणं साक्षादेव प्रकृतोपकारकम्, क्वचित्तु प्रकृतोपकारकमर्थान्तरमाक्षिप्येति०० विशेष्यविशेषणोभयसाभिप्रायत्वेऽपि परिकर एवेति लस्माकं यविष्ठभ्रातुरुमापतेः पक्षः।'

—विशेषण कहीं साक्षात् ही प्रकृतार्थ का उपकारक होता है और कहीं प्रकृतोपकारक्षम किसी अन्य अर्थ का आक्षेप कर, इसलिए दोनों ही स्थलों पर परिकर ही होता है जहां विशेषण साभिप्राय रहता है वहां और जहां विशेष्य साभिप्राय रहता है वहां भी।

[सर्वस्व]

[सू० ३४] विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वोपादाने श्लेषः ।

केवलविशेषणसाम्यं समासोक्तावुक्तम् । विशेष्ययुक्तविशेषणसाम्यं त्वधिकृत्येदमुच्यते । तत्र द्वयोः प्राकरणिकयोरप्राकरणिकयोः प्राकरणिकाप्राकरणिकयोर्वा श्लिष्टपदोपनिबन्धे श्लेषः । तत्राद्यं प्रकारद्वयं विशेषणविशेष्यसाम्य एव भवति । तृतीयस्तु प्रकारो विशेषणसाम्य एव भवति । विशेष्यसाम्ये त्वर्थप्रकरणादिना वाच्यार्थनियमेऽर्थान्तरस्यतद्ध्वनेर्विषयः स्यात् । आद्ये तु प्रकारद्वये द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वम् । अत एवात्र—'द्वयोर्वोपादाने' इति तृतीयप्रकारविषयत्वेनोक्तम् । 'विशेष्यस्यापि साम्ये' इति तु शिष्टप्रकारद्वयविषयम् ।

[सूत्र ३४] विशेषणों के साथ] यदि विशेष्य का भी साम्य हो अथवा [समान विशेषण वाले दोनों [विशेष्यों] का शब्दतः कथन हो तो [अलंकार को] श्लेष [कहा जाता है] ॥

[वृत्ति] केवल विशेषणों का साम्य समासोक्ति में बतलाया गया, उससे भिन्न विशेष्य से युक्त विशेषणों के साम्य को लेकर बतलाया जा रहा है यह । ऐसे दो अर्थों का श्लिष्ट पदों द्वारा कथन श्लेष कहलाता है जिनमें से दोनों ही अर्थ प्राकरणिक हों अथवा दोनों ही अप्राकरणिक और एक प्राकरणिक तथा एक अप्राकरणिक । इन तीनों प्रकारों में से जो प्रथम दो प्रकार हैं वे तभी होते हैं जब विशेषण और विशेष्य इन दोनों का ही साम्य [द्व्यर्थकता] हो इसके विरुद्ध जो तीसरा प्रकार है वह केवल विशेषण के ही साम्य में होता है । यदि विशेष्य का भी साम्य हो तो वह अन्य अर्थ का बोध कराने वाली ध्वनि का विषय बन जाएगा क्योंकि वहाँ अर्थगत वाच्यता प्रयोजन, प्रकरण आदि से नियमित हो जाएगी [फलतः वाच्यरहित अन्य अर्थ का ज्ञान ध्वनि से होगा] ।

प्रथम दो प्रकारों में दोनों ही अर्थ वाच्य होते हैं । इसीलिए यहाँ 'द्वयोर्वोपादाने'—'अथवा दोनों का शब्दतः कथन यह तृतीय प्रकार के लिए कहा गया है और 'विशेष्य में भी साम्य हो'—यह तो शेष बचे [प्रथम] दो प्रकारों के लिए ।

विमर्शिनी

विशेष्यस्यापीत्यादि । इदमिति श्लेषलक्षणम् । आद्यमिति । प्राकरणिकत्वतत्त्वेनाप्राकरणिकत्वतत्त्वेन च । एवकारस्यात्र भिन्नक्रमो द्रष्टव्यः । तेन प्रकारद्वयमेवेति व्याख्येयम् । अतश्च तृतीयः प्रकारो विशेषणसाम्य एव भवतीति व्यवच्छेदफलम् । अन्यथा हि प्रकारद्वयस्यास्य विशेष्यसाम्याभावेऽपि दर्शनादव्याप्तिः स्यात् । तद्यथा 'संचारपूतानि दिगन्तराणि' इत्यादि । अत्र धमाधेन्वोर्द्वयोः प्रकृतयोर्विशेष्ययोः साम्याभावः ।

'आबाहूद्गतमण्डलाग्रत्वचयः संनद्धवक्षःस्थलाः
सोष्माणो व्रणिनो विपक्षहृदयोन्माथिनः कर्कशाः ।
उत्सृष्टाम्बरदृष्टविग्रहभरा यस्य स्मराग्रेसरा
योधा देववधूस्तनाश्च न दधुः क्षोभं स वोऽव्याज्जिनः ॥'

अत्र स्तनयोधयोरप्रकृतयोर्विशेष्ययोः साम्याभावः । विशेषणसाम्य एवेति न पुनः विशेष्यसाम्ये। एतदपि विशेष्यसाम्ये किं न भवतीत्याशङ्क्याह—विशेष्यसाम्ये त्वित्यादि। यथा—

'लंकालआणँ पुत्तअ वसंतमासम्मि लद्धपसराणम् ।
आपीअलोहिआणं बीहेइ जणो पलासाणम् ॥'

अत्र पलाशानामिति विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वम् । प्रकरणवशाच्च वृक्षविशेषणमेव वाच्यत्वनियमात्प्रस्तुतत्वेन निशाचराणामप्रस्तुतानां व्यङ्ग्यत्वम् । अत्र चोपमाया एव व्यङ्ग्यत्वं युक्तं नातिशयोक्तेरिति प्रकृतानुपयोगादिह नोक्तम् । ननु च यथैवायं ध्वनेर्विषयस्तथैवाच्यमपि भेदद्वयं किं न भवतीत्याशङ्क्याह—आद्य इत्यादि । वाच्यत्वमिति, अत एव न ध्वनेर्विषयः । तस्य वाच्यातिरिक्तस्वरूपत्वात् । तृतीयप्रकारविषयत्वेनेति प्राधान्यादुक्तम् । आद्यस्यापि प्रकारद्वयस्य द्वयोरुपादानसंभवात् ।

विशेष्यस्यापि । इदम् = यह अर्थात् श्लेष का लक्षण । आद्यम् प्राकरणिक गत तथा अप्राकरणिकगत । 'एव = ही' कहा गया है साम्य के बाद किन्तु इसे प्रकारद्वय के साथ लगाना चाहिए ['ये दो प्रकार ही' इस प्रकार] ऐसा करने पर ही तृतीय प्रकार विशेषण के ही साम्य में होता है यह व्यवच्छेद सार्थक सिद्ध होगा । 'एव-ही' को 'साम्य' से अलग कर यदि 'प्रकारद्वय' के साथ नहीं रखा गया तो प्रथम दो उन स्थलों में नहीं माने जा सकेंगे जिनमें विशेष्य का साम्य नहीं रहता यथा—'संचारपूतानि दिगन्तराणि' यह [दीपक प्रकरण में आया रघुवंश का पद्य] यहां प्रभा और धेनु दोनों विशेष्य प्राकरणिक और इन्हें श्लिष्ट शब्द से न कहकर स्ववाचक पृथक् शब्द से कहा गया है ।

'वह जिन आपकी रक्षा करे, काम के अग्रगामी वीर और अप्सराओं के स्तम्भ जिसमें क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सके, जो दोनों भुजाओं तथा फैले मण्डल [घेरा वीर पक्ष में धनुष का घेरा] से सुशोभित थे, जिन्हें वक्षःस्थल को सन्नद्ध [कवचादि से बद्ध, परिपूर्ण] कर रखा था, जो गरम [वीर पक्ष में ओज, गर्व] से भरे थे जिन पर व्रण [घाव, स्तनपक्ष में नखक्षत] बने थे, जो विपक्ष [वीरपक्ष = शत्रुपक्ष, स्तनपक्ष में—सपत्नी] के हृदय के दहलने वाले थे जो कर्कश थे, और जो वस्त्रप्राम्बर दृढविग्रह भी [वीर पक्ष में-खुले आकाश में दिखाई दे रहा है विग्रह = युद्ध जिनका या मरने पर वीर गति प्राप्त होने के कारण आकाश में दिखाई दे रहें, विग्रह = शरीर जिनके, स्तनपक्ष में—उत्तरीय छोड़ अपना पूरा शरीर दिखला रहे] थे ।' [का० अ० सू० वृ० में वामन के द्वारा उद्धृत] ।

—यहां [प्रकृत हैं जिन अतः] वीर और स्तन दोनों अप्रकृत हैं और इन्हें किसी श्लिष्टशब्दद्वारा नहीं कहा गया है । [वस्तुतः इन स्थलों में श्लेष नहीं है । अलंकार है तुल्ययोगिता या दीपक] ।

विशेषणसाम्य एव = केवल विशेषणों के ही साम्य में यह प्रकार क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न पर उत्तर देते हैं —'विशेष्यसाम्ये तु'—'यदि विशेष्य का भी साम्य हो तो' इत्यादि । जैसे—

'लंकालयानां पुत्रक ! वसन्तमासे लब्धप्रसराणाम् ।
आपीतलोहितानां बिभेति जनः पलाशानाम् ॥

—'हे पुत्र ! लंका के वसन्त में लब्धप्रसर तथा लाल-पीले पलाशों से लोग डर रहे हैं ।'

यहां पलाश'—यह विशेष्य भी श्लिष्ट है परन्तु प्रकरण के आधार पर वाच्यता केवल वृक्षविशेष (टेसू) में ही नियमित हो जाती है, क्योंकि वही प्रस्तुत है, अतः अप्रस्तुत निशाचर (पल=

मांस, अश्व-खाने वाले) यहां व्यञ्जना द्वारा प्रतीत होते हैं। फलतः यह ध्वनि का उदाहरण है यहां उपमा को ही व्यंग्य मानना उचित है, अतिशयोक्ति को नहीं, यह विचार प्रकृतोपयोगी नहीं है इसलिए इसका प्रतिपादन नहीं किया गया।

प्रश्न- जिस प्रकार यह (तृतीय भेद विशेष्य के साम्य में) ध्वनि का विषय मान लिया जाता है उसी प्रकार प्रथम दो भेदों को ध्वनि का विषय क्यों नहीं मान लिया जाता। इस पर उत्तर देते हुए लिखा—'आद्य' । इत्यादि । वाच्यत्व इसीलिये यह ध्वनि का विषय नहीं होता। क्योंकि उसका स्वरूप वाच्य से भिन्न होता है। तृतीयप्रकारविषयत्वेन = (दोनों का शब्दन कथन' यह केवल) तृतीय प्रकार के लिये ही कहा गया है' यह केवल प्राधान्य को लेकर कहा गया है क्योंकि प्रथम दोनों प्रकारों में भी दोनों का पृथक् उपादान सम्भव है।

[सर्वस्व]

क्रमेण यथा—

'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजंगहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥'

'नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥'

'स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति वक्तुं
देहीति मार्गणशतैश्च ददाति दुःखम्।
मोहात्समाक्षिपति जीवितमप्यकाण्डे
कष्टं मनोभव इवेश्वरदुर्विदग्धः ॥'

अत्र हरिहरयोर्द्वयोरपि प्राकरणिकत्वम्। पद्मानां मृगाणां चोपमानत्वाद् प्राकरणिकत्वम्। ईश्वरमनोभवयोः प्राकरणिकाप्राकरणिकत्वम्। एवं च शब्दार्थोभयगतत्वेन वर्तमानत्वात्त्रिविधः। तत्रोदात्तादिस्वरभेदात्प्रयत्नभेदाच्च शब्दान्यत्वे शब्दश्लेषः। यत्र प्रायेण पदभङ्गो भवति। अर्थश्लेषस्तु यत्र स्वरादिभेदो नास्ति। अत एव न तत्र सभङ्गपदत्वम्। संकलनया तूभयश्लेषः। यथा—

'रक्तच्छदत्वं विकचा वहन्तो नालं जलैः संगतमादधानाः।
निरस्य पुष्पेषु रुचिं समग्रां पद्मा विरेजुः श्रमणा यथैव ॥'

अत्र रक्तच्छदत्वमित्यादावर्थश्लेषः। नालमित्यादौ शब्दश्लेषः। उभयघटनायामुभयश्लेषः। ग्रन्थगौरवभयात्तु पृथङ्नोदाहृतम्।

क्रम से [एक एक के उदाहरण] यथा—(दोनों प्राकरणिक अर्थ)—

संस्कृत का 'येन ध्वस्त०' यह पद्य। (इसमें दो समानान्तर अर्थ निकलते हैं, एक शिवपरक और दूसरा विष्णुपरक। दोनों में से प्रथम शिवपरक अर्थ इस प्रकार है—

—[शिवपरक अर्थ]—'जिन्होंने काम को ध्वस्त किया है, जिन्होंने एक बार (त्रिपुरवध के समय) विष्णु के शरीर को अस्त्र बनाया था, जो फनफनाते सर्पों के हार और कंकण पहने रहते हैं, जिन्होंने (स्वर्ग से गिरती) गंगा को धारण किया था, देवगण जिनके सिर को चन्द्रमा से युक्त कहते, तथा जिनका 'हर' यह स्तुत्य नाम पुकारते हैं ऐसे अन्धकासुर के निहन्ता पार्वती प्रिय स्वयं भगवान् शंकर आपकी रक्षा करें।'

[विष्णुपरक] 'जो अजन्मा हैं और जिन्होंने शकटासुर को ध्वस्त किया है, जिन्होंने अपना बलि को जीतने वाला शरीर [अमृत बाँटते समय मोहिनी अवतार में] स्त्री शरीर बना दिया था, जिन्होंने फनफनाते [कालिय] सर्प का दमन किया, जो चक्र को धारण किए हैं, जिन्होंने [गोवर्धन] पर्वत और [पाताल गई] पृथिवी को धारण किया, देवलोग जिसका 'राहुशिरोभंजक' यह स्तुत्य नाम लेते हैं वे अन्धकवंश को [द्वारकामें] बसाने वाले और उसके विनाश करने वाले, सर्वस्वदाता स्वयं भगवान् विष्णु आपकी रक्षा करें।

[ये दोनों अर्थ इस पद्य के शब्दों को तोड़ने से निकलते हैं। यथा शिवपक्ष में ध्वस्तमनोभव = ध्वस्त किया मनोभव कामको जिसने, विष्णुपक्ष में ध्वस्तम् अनः अभवेन = जिसने अन = शकट = शकटासुर को ध्वस्त किया है तथा जो अजन्मा है। बलिजित्काय = बलिजित = विष्णु, बलिको जीतने वाला शरीर, पुरास्त्रीकृत = शिवपक्ष में पुरा अस्त्रीकृत, वि० प० में पुरा स्त्रीकृत, उद्वृत्त भुजंगहारवलयः = शि० प० में—उद्वृत्त भुजंगों के हार और वलयवाले अथवा अ = विष्णु उनका रव = नाम उसमें लय है जिनका, वि० प० में = उद्वृत्त भुजंग के हा—'मारक', अरवलय = चक्र तद्वान्, शिवपक्ष में = गंगां = गंगाको विष्णुपक्ष में = अगं गां = पर्वत तथा पृथिवी को, शशिमच्छिरोहर = शि० प० में—शशिमान् शिर वाले, तथा हर इस नाम वाले, वि० प० में—शशी को मथने = ग्रसनेवाले राहु का शिर हरने वाले, अन्धकक्षयकर = शि० प० में—अन्धकासुर का क्षय विनाश करने वाले, वि० प्र० में—अन्धकवंश के लिए क्षय = निवासस्थान उसका बनाने वाले तथा उसका क्षय = विनाश करने वाले, सर्वदोमाधव = शि० प० में सर्वदा उमाधव = उमा के पति शिव, वि० प० में—सर्वदः = सबकुछ देने वाला, माधव मा = लक्ष्मी के धव = पति = विष्णु।]

[दोनों अप्राकरणिक अर्थ यथा]—

'नीतानामाकुलीभावम्' यह पद्य। [इसमें दो अर्थ निकलते हैं १—पद्मपरक, २—हरिणपरक। प्रथम के पक्ष में श्लोक अर्थ होगा—]

'उसके नेत्र अनेक लुब्ध भौंरों से आकुल और पानी में उग कर बढ़े कमलों के समान हैं।'

दूसरा पक्ष—उसके नेत्र अनेक बाण वाले बहेलियों द्वारा आकुल हुए जंगली हिरणों [के नेत्रों] के समान हैं।

[कमल पक्ष = लुब्ध = लोभी, शिलीमुख = भ्रमर, वन = जल, कमल=पद्म। हरिणपक्ष = लुब्ध= बहेलिया, शिलीमुख = बाण, वन = जंगल, कमल = हिरन—]

[एक प्राकरणिक और एक अप्राकरणिक अर्थ, तथा विशेषण और विशेष्य दोनों का शब्दतः कथन—यथा]—'स्वेच्छोप०' पद्य का यह अर्थ—

'खेद की बात है कि नासमझ स्वामी काम के समान होता है जो स्वेच्छोपजातविषय [प्रभु = अपनी इच्छा भर विषय = धनधान्यादि, काम = अपनी इच्छा के अनुसार विषय = स्त्री आदि] पाकर भी मार्गणशत के द्वारा [प्रभु = सैकड़ों याचकों द्वारा] 'देहीति' [प्रभु = देहि = दीजिए, इति ऐसा] कहा नहीं जाता, और दुःख देता है [काम भी मार्गणशत=सैकड़ों बाणों के द्वारा दुःख देता है और देहीति = देही = शरीरी आत्मा नहीं कहा जाता] और मोह से [प्रभु नासमझी से,

काम = मूर्च्छा से] जीवित को [प्रभु-जीविका को, काम = प्राणों को] भी एकाएक नष्ट कर देता है।'

—इन [तीनों पद्यों में से प्रथम पद्य] में शिव और विष्णु दोनों प्राकरणिक हैं, [द्वितीय पद्य में] पद्म और मृग दोनों उपमान हैं इसलिए अप्राकरणिक हैं [और तीसरे पद्य में] स्वामी प्राकरणिक है और काम अप्राकरणिक।

यह शब्द, अर्थ और दोनों में रहता है, इसलिए तीन प्रकार का होता है। इनमें शब्द का श्लेष वह होता है जिसमें उदात्त आदि स्वर का अन्तर पड़ जाता है फलतः [उच्चारण के] प्रयत्न में अन्तर आ जाता है अतः शब्द भी बदल जाता है। यहां प्रायः शब्द टूटता है। अर्थ श्लेष वहां होता है जहां स्वर आदि का भेद नहीं होता। इसीलिए इसमें शब्दों में भङ्ग (टूट) नहीं रहता। उभयश्लेष होता है इन दोनों के एकत्रीकरण से।

यथा—

पद्य ठीक वैसे ही सुशोभित हो रहे थे जैसे श्रमण। क्योंकि वे लाल वर्ण के छद (पंखुड़ी) धारण किये हुए थे [श्रमण भी लाल वर्ण का छद = कन्था धारण करते हैं], वे विकच [खिले हुए थे, श्रमण भी कच = केशों से रहित = विकच = मुण्डित सिर होते हैं], जलों में सगन = डूबी नाल को धारण किए हुए थे और श्रमण भी जड़ व्यक्तियों का अधिक साथ नहीं करते = [जलेषु = जडेषु अलम् = अधिक, सगतम् = साहचर्यं न आदधाना] [अन्य] पुष्पों की सपूर्ण रुचि निरस्त कर चुके थे। [श्रमण भी पुष्प = स्त्री या पुष्पधन्वा काम की सपूर्ण रुचि = चाह समाप्त कर देते हैं]।

—यहाँ 'रक्तच्छदत्व' आदि [आदि पद से विकचत्व, पुष्परुचिनिरसन] में अर्थश्लेष है और 'नालं' आदि [आदि शब्द] में [नाल तथा न अलम्; जल तथा जड़ इस शब्दभेद होने से] शब्दश्लेष है। क्योंकि यहाँ दोनों एक ही वाक्य में मिलित हैं इसलिए यहाँ उभयश्लेष हुआ। तीनों के उदाहरण अलग-अलग नहीं दिए ग्रन्थ कलेवर बढ़ने के भय से।

विमर्शिनी

एष इति त्रिविधोऽपि श्लेषः। तत्रेति त्रयनिर्धारणे। यत्रेति शब्दश्लेषे। अत एवेति स्वरादिभेदाभावात्। संकलनयेति समङ्गासभङ्गपदसंमेलनया। पृथगिति भेदेन। तत्र शब्दश्लेषो यथा—

> 'ते गच्छन्ति महापदं भुवि, पराभूतिः समुत्पद्यते
> तेषां, तैः समलंकृतं निजकुलं, तैरेव लब्धा क्षितिः।
> तेषां द्वारि नदन्ति वाजिनिवहास्ते भूषिताः प्रत्यहं
> ये दृष्टाः परमेश्वरेण भवता तुष्टेन रुष्टेन वा॥'

अत्र पदानां सभङ्गत्वं स्पष्टम्। अर्थश्लेषो यथा—

> 'इच्छन्तौ चिबुकाग्रचुम्बनमयो दीर्घिच्यमाक्षोज्झितौ
> नैबिड्येन परस्परस्य न मनाक् केनापि लब्धान्तरौ।
> धन्यौ तौ तरुणीस्तनाविव न यौ स्वप्नेऽपि विश्लिष्यतो
> विश्लेषं विषमं विषह्य भवतो नाधोमुखौ जातु वा॥'

अत्र पदानामसभङ्गत्वं स्पष्टम्। संकलनया तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्। अस्य च शब्दार्थाश्रितत्वादुभयालंकारतां दर्शयति—अलंकार्येत्यादिना।

एष = यह अर्थात् तीनों प्रकार का श्लेष। तत्र = तीनों में। यत्र = जहाँ अर्थात् शब्दश्लेष में। अत एव = इसीलिए अर्थात् स्वरादि का भेद न होने से। संकलनया = एकत्रीकरण अर्थात् सभङ्ग

पद एवं अभङ्ग पद के मिश्रण से। पृथक् = अलग-अलग = अर्थात् प्रत्येक का उदाहरण भिन्न करके। भिन्न उदाहरण इस प्रकार है—

'आप परमेश्वर हैं। आप जिस पर प्रसन्न या रुष्ट होते हैं वे महापद [महान् उच्च पद, महा आपद् आपत्ति] को प्राप्त होते हैं, पृथिवीमण्डल पर उनकी पराभूति [परा = उत्कृष्ट भूति = वैभव, पराभूति = पराभव] होती है, वे अपने कुल को समलंकृत [सम् = सब प्रकार से अलंकृत = शोभित, समलं = मलसहित कलंकित] कर देते हैं, वे ही क्षिति [पृथिवी, क्षय] को पा लेते हैं, उनके दरवाजे वाजिनिवह [वाजि = घोड़ों के निवह समुदाय, वा = या आजि = युद्ध = निवह] गरजते हैं, और वे ही प्रतिदिन भूषित [अलंकृत, भू = पृथ्वी पर सित = पड़े हुए] रहते हैं।' यहाँ पदों में भङ्ग है।

अर्थश्लेष यथा -

'वे [दन्तती] धन्य हैं तरुणीस्तनों के समान जो सदा ही चिबुकाग्र [ठुड्डी के अग्रभाग] का चुम्बन करना चाहते हैं, जिनमें शिथिलता की शंका नहीं रहती, परस्पर में इतने घने [सटे] रहते हैं कि अन्य किसी को बीच में जगह नहीं मिलती, जो स्वप्न में भी अलग नहीं होते और अलग होते भी हैं तब भी कभी अधोमुख नहीं होते।' —यहाँ पदों में भङ्ग नहीं है यह स्पष्ट है। दोनों का मिलित उदाहरण स्वयं ग्रन्थकार ही ['रक्तच्छदत्वं' यह] दे चुके हैं।

यह शब्द और अर्थ दोनों पर आश्रित है, इसलिये इसको दोनों का अलंकार बतलाते हुए कहते हैं—

[सर्वस्व]

अलंकार्यालंकरणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तेः 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादावर्थद्वयाश्रितत्वादयमर्थालंकारः 'नालम्' इत्यादौ तु शब्दद्वयाश्रितत्वाच्छब्दालंकारोऽयम्। यद्यप्यर्थभेदाच्छब्दभेद इति दर्शने 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादावपि शब्दाश्रितोऽयं तथाप्यौपपत्तिकत्वादत्र शब्दभेदस्य प्रतीतेरेकतावसायान्नास्ति शब्दभेदः। 'नालम्' इत्यादौ तु प्रयत्नादिभेदात् प्रातीतिक एव शब्दभेदः। अतश्च पूर्वत्रैकवृन्तगतफलद्वयन्यायेनार्थद्वयस्य शब्दश्लिष्टत्वम्, अपरत्र जतुकाष्ठन्यायेन स्वयमेव श्लिष्टत्वम्। पूर्वत्रान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्दहेतुकत्वाच्छब्दालंकारत्वमिति चेद्, न आश्रयाश्रयिभावेनालंकारत्वस्य लोकवद् व्यवस्थानात्।

अलंकार्यालंकरणभाव [काव्य में भी] आश्रयाश्रयिभाव के आधार ही ठीक उसी प्रकार संभव होता है जिस प्रकार लोक में, अतः 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादि पद्य में यह [श्लेष] दो अर्थों पर आश्रित रहने से अर्थ का अलंकार है। इसके विपरीत 'नालं' इत्यादि स्थल में दो शब्दों पर आश्रित रहने से यही शब्द का अलंकार है। यद्यपि 'अर्थ भिन्न हो तो शब्द भी भिन्न होता है' इस सिद्धांत के अनुसार 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादि में भी यह [श्लेष] शब्दाश्रित ही माना जा सकता है तथापि यह शब्दभेद सिद्ध करने पर सिद्ध होता है, प्रतीति तो होती है एक रूप से ही। इस कारण यहाँ [काव्य में प्रतीति का सारा खेल है अतः इसकी दृष्टि से] शब्दभेद नहीं है। और इसीलिए प्रथम श्लेष में दो अर्थों का [एक] शब्द में श्लेष = जोड़ उसी प्रकार है जिस प्रकार एक वृन्त में दो फलों का होता है, जब कि दूसरे श्लेष में स्वयं शब्दों का ही श्लेष = जोड़ रहता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार जतु = लाक्षा और काष्ठ = लकड़ी का। [मम्मट का] यह कहना ठीक नहीं है कि 'प्रथम

[अभंग] भेद में भी [श्लेष] शब्द का ही अलंकार है क्योंकि उसका रहना न रहना शब्द के रहने न रहने पर निर्भर है इसलिए उसके प्रति शब्द ही हेतु है, और अलंकार की शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्था हेतुहेतुमद्भाव के आधार पर होनी चाहिए, क्योंकि वस्तुतः काव्यालंकार भी लौकिक अलंकारों के समान ही आश्रयाश्रयिभाव को लेकर ठहराए जा सकते हैं [हेतुहेतुमद्भाव को लेकर नहीं]।

विमर्शिनी

ननु च 'यावन्त एवमर्थाः स्युः शब्दास्तावन्त एव हि' इत्याद्युक्त्या रक्तच्छदत्वमित्यादावपि शब्दद्वयाश्रयाच्छ्लेषालंकार एवायं तत्कथमन्यथोक्तमित्याशङ्क्याह—यद्यपीत्यादि। एकतावसायादिति। रक्तच्छदत्वादेः प्रयत्नादिभेदं विना सादृश्येनार्थद्वयाभिधानात्। अतश्चेति। अर्थद्वयस्य शब्दद्वयस्य च श्लिष्टत्वात्। पूर्वत्रेति। रक्तच्छदत्वमित्यादौ शब्दस्य वृन्तद्वयाभिप्रायात्। अपरत्रेति नालमित्यादौ। जतुकाष्ठन्यायेनेति परस्परं संवलितत्वात्। पूर्वत्रेति रक्तच्छदत्वमित्यादौ। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति। रक्तच्छदत्वमित्येव शब्दे स्थिते श्लेषः शब्दपरिवर्तने तु कृते न श्लेष इत्यत्रापि शब्दहेतुकत्वात्तदलंकारत्वमेवेत्यर्थः। आश्रयाश्रयिभावेनेति। न पुनरन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। ताभ्यां हि यस्य यद्धेतुकत्वं तस्य तत्कार्यत्वं स्यान्न पुनस्तदलंकारत्वम्। लोकवदिति। लोके हि यथा कर्णाश्रितः कुण्डलादिः कर्णालंकार उच्यते न पुनः सुवर्णकारणहेतुकत्वात्तदलंकारः।

'शब्द उतने ही होते हैं जितने अर्थ' इत्यादि वाक्यों के अनुसार 'रक्तच्छदत्वम्' इत्यादि में भी यह श्लेष शब्द का ही अलंकार है क्योंकि वहाँ भी यह दो शब्दों पर आश्रित है। फिर आप इसके विपरीत इसे [अर्थाश्रित] क्यों बतला रहे हैं'—इस शंका पर उत्तर देते हैं—'यद्यपि–' इत्यादि। 'एकतावसायात्' = 'प्रतीति में एकता का ज्ञान'–इसलिए कि 'रक्तच्छदत्व' आदि शब्दों में प्रयत्न आदि के भेद के बिना एकरूपता (सादृश्य) के आधार पर दो अर्थों का कथन होता है। 'अतश्च = और इसीलिए' = अर्थात् दो अर्थ और दो शब्दों के श्लिष्ट = जुड़े हुए होने से। पूर्वत्र = प्रथम में —रक्तच्छदत्व इत्यादि में क्योंकि वहाँ शब्द रहता है वृन्ततुल्य। अपरत्र दूसरे में = 'नालम्' इत्यादि में। 'जतुकाष्ठन्यायेन' = लाख और काठ के समान एक दूसरे में चिपके रहने से। पूर्वत्र = प्रथम में = 'रक्तच्छदत्व' इत्यादि में। अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् = 'एक के रहने पर दूसरे का रहना और न रहने पर न रहना' = 'रक्तच्छदत्व' इसी शब्द के रहने पर श्लेष रहता है, इस शब्द के बदल देने पर श्लेष नहीं रहता। इस प्रकार यहाँ पर भी श्लेष शब्दमूलक है अतः उसे शब्दालंकार ही मानना पड़ेगा। आश्रयाश्रयिभावेन = आश्रयाश्रयिभाव से, न कि अन्वयव्यतिरेक से। इन [अन्वयव्यतिरेक] के द्वारा यह सिद्ध हो सकता है कि जो जिससे पैदा होता है वह उसका कार्य है, यह नहीं कि वह उसका अलंकार है। लोकवद् = लोक के समान–' लोक में जिस प्रकार कान में पहना कुण्डल आदि अलंकार कान का ही अलंकार [शोभावर्धक] कहा जाता है न कि सुवर्ण रूपी कारण से उत्पन्न होने के कारण सुवर्ण का अलंकार [शोभावर्धक]।

विमर्श:—श्लेष शब्द का प्रमुख अर्थ है जुड़ना, चिपकना, और अलंकार शब्द का अर्थ है शोभावर्धक तत्त्व अथवा अप्रधान रूप से चमत्कारजनक तत्त्व। प्रश्न उठता है श्लेष में अलंकार्य कौन है। श्लेष स्वयं हुआ अलंकार, अतः अलंकार्य शब्द या अर्थ इन दो में से कोई एक हो सकता है।

उद्भट और सर्वस्वकार सभंग और अभंग इन दोनों श्लेषों को अर्थालंकारों के प्रकरण में रखते हैं अतः सामान्यतः यही सिद्ध होता है कि दोनों ही प्रकार का श्लेष अर्थालंकार ही है। उधर उद्भट ने सभंग श्लेष को शब्दालंकार कहा है अतः मम्मट ने उसके अर्थालंकारों के बीच रखे जाने पर आपत्ति उठाई है—'शब्दालंकार इति चोच्यते, अर्थालंकारमध्ये च गण्यत इति कोऽयं नयः' [नवम उल्लास] रुद्रट के अनुकरण पर मम्मट ने स्वयं शब्दश्लेष को नवम उल्लास में शब्दालंकारों के बीच रखा है और अर्थश्लेष को अर्थालंकारों के बीच दशम उल्लास में। सर्वस्वकार ने अतिशयोक्ति को तो दो अलग-अलग प्रकरणों में रखकर वर्गीकरण को महत्त्व दिया, किन्तु यहाँ उन्होंने वैसा नहीं किया और सभंग श्लेष को शब्दालंकार कहकर भी उसे अर्थालंकारों के बीच रखा। विचित्रता यह है कि मम्मट द्वारा श्लेष पर उठाई गई अन्य आपत्तियों का उत्तर देते हुए भी वे इस आपत्ति पर मौन हैं। वस्तुतः यह उनकी शिथिलता ही है। इस प्रकार सभंग श्लेष में अलंकार्य शब्द ही मान्य है। अर्थ यह कि सभंग श्लेष शब्दालंकार ही है।

अभंग श्लेष में अलंकार्य के निर्णय की समस्या जटिल है। जटिलता इसलिए है कि निर्णायक बिन्दु पर आचार्यों का मत एक नहीं है। उद्भट के अनुसार निर्णायक है आश्रयाश्रयिभाव। इस मत में श्लेष का आश्रय ही श्लेष का अलंकार्य है। सभंग श्लेष में दो शब्दों का जोड़ रहता है और वह लाख और लकड़ी के जोड़ के समान स्पष्ट दिखाई देता है। अतः वहाँ शब्द ही श्लेष का आश्रय और अलंकार्य मान लिया जाता है। किन्तु अभंगश्लेष में आश्रय का निर्णय करना कठिन है। अभंग श्लेष में अर्थ दो होते हैं इसलिए अर्थ के जोड़ में कोई मतभेद नहीं उठता। जहाँ तक शब्द का संबन्ध है इसके विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार अभंग श्लेष में यद्यपि शब्दों में भेद नहीं रहता अतः उनका वैसा जोड़ नहीं रहता जैसा सभंग श्लेष में रहता है, तथापि एक दूसरे प्रकार का जोड़ अवश्य रहता है। वह है गाय और भैंस के दो भिन्न दूधों के मिश्रण जैसा जोड़। फलतः उसमें जोड़ की प्रतीति नहीं हो पाती। प्रतीति न होने पर भी शब्दों में जोड़ इसलिए माना जाता है कि अर्थ बदलते ही शब्द भी बदल जाता है। जैसे मानस शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक मानसरोवर तालाब और दूसरा चित्त। यद्यपि 'म्, आ, न्, अ, स्, अ' ये वर्ण उसी क्रम से तालाववाचक मानस शब्द में आते हैं जिस क्रम से चित्तवाचक मानस शब्द में, जिससे दोनों मानस शब्दों के उच्चारण में प्रयत्नभेद नहीं होता, अतः दोनों शब्दों में एकता की प्रतीति होती है तथापि वे दो भिन्न शब्द हैं क्योंकि अर्थों में भेद है। जैसा कि कहा जाता है—'प्रत्यर्थं शब्दा भिद्यन्ते।' इस सिद्धान्त के अनुसार जोड़ या श्लेष का आश्रय शब्द है इसलिए श्लेषरूपी अलंकार का अलंकार्य शब्द ही है। इस मत के प्रवर्त्तक आचार्य हैं मम्मट। उनकी पंक्ति है—

[का०] 'वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसौ········ ॥'

[वृ०] 'अर्थभेदेन शब्दभेद' इति दर्शने वाच्यभेदेन भिन्ना अपि शब्दा यद् युगपदुच्चारणेन श्लिष्यन्ति = भिन्नं स्वरूपमपह्नुवते स श्लेषः। [काव्यप्रकाश उ० ९]।

—'अर्थभेद में शब्दभेद' इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थभेद से भिन्न हुए भी शब्द एक साथ उच्चारण के कारण अपना भिन्न रूप छिपा लेते हैं तो उसे शब्दश्लेष कहा जाता है।'

अर्थभेद से शब्दभेद का सिद्धान्त मम्मट के पूर्व उद्भट ने भी माना था और कहा था—
'एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टम्।' ४।९ ॥ अर्थात्

—एक ही प्रयत्न से उच्चार्य अत एव समान प्रतीत होते शब्दों का बन्ध श्लिष्ट = जुड़ा हुआ = जोड़ से युक्त कहलाता है। 'समान प्रतीत होने' इस कथन का आधार 'अर्थभेद में शब्दभेद' सिद्धान्त ही है। उद्भट के काव्यालंकारसारसंग्रह की टीका लघुवृत्ति में प्रतीहारेन्दुराज ने भी लिखा है—

'अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्त इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः।'

किन्तु उद्भट ने ऐसे शब्दों के श्लेष का अलंकार्य शब्द को न मान अर्थ को मान लिया—
'पदैः, द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत्'

—पद दो प्रकार के होते हैं—(१) एकोच्चारण वाले और (२) भिन्न उच्चारण वाले। इन दो प्रकार के पदों से श्लेष भी दो प्रकार का होता है अर्थश्लेष और शब्दश्लेष एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दश्लेष दूसरे शब्दों में अभङ्गश्लेष ही है। इस पर मम्मट ने आपत्ति उठाई और कहा जब श्लेष शब्द में माना [अर्थात् श्लेष का आश्रय शब्द को माना] तब अलंकार्य अर्थ कैसे माना जा सकता है। रहे श्लेष किसी में और अलंकृत करे किसी को यह बात तर्कशुद्ध नहीं कही जा सकती। और इसीलिए अभंग श्लेष को अर्थालंकार नहीं माना जा सकता। वह शब्दालंकार ही है।

एक प्रश्न और उपस्थित हुआ। यह कि अभंग श्लेष में अर्थभेद से शब्दभेद मानना और फिर शब्द में ही श्लेष स्वीकार करना कहाँ तक वास्तविक है। यह केवल शास्त्रभक्ति ही है, या इसमें कोई यथार्थ भी है। इसका उत्तर मम्मट ने तर्कशास्त्र की दुहाई देकर दिया। उन्होंने कहा अभंगश्लेष में श्लेष का आश्रय कौन है यह तथ्य अन्वय और व्यतिरेक की कसौटी से परखा जा सकता है। यदि शब्द के हटा दिए जाने से श्लेष न हटे तो वह अवश्य ही शब्द का श्लेष न होगा, अर्थ का ही श्लेष होगा। 'रक्तच्छदत्व'-आदि अभंग श्लेष के स्थलों में स्थिति ऐसी नहीं है। यहाँ यदि 'रक्तच्छद' शब्द के स्थान पर 'रक्तपत्र' शब्द दे दिया जाय तो इस शब्द का अर्थ अमण पक्ष में लागू नहीं होगा, फलतः श्लेष नष्ट हो जाएगा। विकच शब्द भी नहीं हटाया जा सकता। 'विकेश' या 'विकसित' कहने पर एकान्वयी अर्थ ही निकलता है अतः श्लेष नष्ट हो जाता है। इस प्रकार श्लेष का आश्रय अभग श्लेष में भी शब्द ही होता है।

अलंकारसर्वस्वकार और जयरथ ने मम्मट की इस तार्किकता को सहृदयता से काटने की कोशिश की। अन्वयव्यतिरेक को इन दोनों ने कार्यकारणभाव का नियामक माना, अलंकार का नहीं। अलंकार को इन्होंने आश्रयाश्रयिभाव पर ही निर्भर मानने का पक्ष प्रस्तुत किया है। यह इनके अभी आए ग्रन्थांश से ही स्पष्ट है। लोक में जैसे केयूर का कारण सुवर्ण होता है किन्तु वह अलंकार होता है भुजा का, इसलिए केयूर के अन्वयव्यतिरेक सुवर्ण के साथ रहते हैं, सुवर्ण के न रहने पर केयूर नहीं रहता और रहने पर रहता है, जब कि अलंकार्यालंकारभाव भुजा के साथ, जो केयूर का आश्रय है। फलतः अलंकार्यालंकारभाव आश्रयाश्रयिभाव पर निर्भर माना जाना चाहिए। अभंगश्लेष में जहाँ तक आश्रय का सम्बन्ध है इसका निर्णय कल्पित शास्त्रसिद्धान्त पर नहीं, अनुभव और संवित्ति पर किया जाना चाहिए, क्योंकि यह क्षेत्र काव्य का क्षेत्र है। संवित्ति में अभंगश्लेषस्थल में द्वैत अर्थगत ही भासित होता है, शब्दगत नहीं। फलतः शब्द एक वृन्त = ढंठल है, जिसमें दो अर्थ के दो फल लगे हुए हैं।

फल दो ही तो वृन्त को भी दो मानने की नासमझी कोई नहीं करता। वृन्त के एक होने से उसमें श्लेष या जोड़ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न फल में ही उठ सकता है क्योंकि द्वैत वहीं है। फलतः श्लेष अर्थों में ही है। अर्थ ही श्लेष के आश्रय हैं। अर्थ ही श्लेष के अलंकार्य हैं।

श्लेष अर्थ का ही अलंकार है। और सच भी है। बहू और बेटे यदि आश्लेष करें तो उसे अलंकार सास ससुर का नहीं माना जा सकता।

निश्चित ही इन आचार्यों के तर्क सुन्दर और समर्थ हैं। प्रातीतिक भेद मानकर शब्द में श्लेष की सिद्धि अवश्य ही शास्त्रभक्ति है।

मम्मट के अन्वयव्यतिरेक पक्ष का पुनर्वीक्षण करने पर कुछ और भी विवशताएँ सामने आती हैं। अन्वयव्यतिरेक अलंकार्यालंकारभाव के लिए भी अत्यन्त उपेक्षणीय नहीं है। यह अवश्य ही एक विचारणीय तथ्य है कि शब्द को बदल देने पर अभंगश्लेष क्यों समाप्त हो जाता है। आश्रया- श्रयिभाववादी उक्त दोनों आचार्य इसका उत्तर यह देंगे कि शब्द के साथ श्लेष का कारणकार्य- भाव संबन्ध है। अर्थों का श्लेष संभव नहीं होता जब तक रक्तच्छदत्व आदि उभयान्वयी शब्द का प्रयोग नहीं होता। फलतः द्व्यर्थक शब्द ही विभिन्न अर्थों के श्लेष का कारण है। अर्थ यह कि श्लेष अर्थों में ही रहता है तथापि वह तब तक संभव नहीं होता जब तक विशिष्ट शब्द का प्रयोग न हो। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेक से अभंग श्लेष में कारण तो शब्द ही सिद्ध होता है तथापि श्लेष रहता अर्थों में ही है। सुमित्रा के गर्भ में लक्ष्मण और शत्रुघ्न जुड़े हुए थे। सुमित्रा एक ही थी। शत्रुघ्न के लिए दूसरी और लक्ष्मण के लिए दूसरी नहीं। इसीलिए श्लेष—जोड़ केवल लक्ष्मण और शत्रुघ्न में ही था, कारणभूत सुमित्रा में नहीं। अन्वयव्यतिरेकवादी की ओर से यह कहा जा सकता है कि दो विभिन्न अर्थों में श्लेष उत्पन्न करने की जो क्षमता 'रक्तच्छदत्व' आदि द्व्यर्थक शब्दों में रहती है वह क्षमता अपने आप में कोई विशिष्ट धर्म है या नहीं। उससे कोई चमत्कार काव्य में आता है या नहीं। अवश्य ही वह चमत्कार में अंशतः प्रयोजक है। इसके अतिरिक्त अभिन्नानुपूर्वीक अतएव एकप्रयत्नोच्चार्य शब्दों में यदि वास्तविक भेद नहीं रहता और उनका श्लेष एक प्रातिभासिक या कल्पित श्लेष है तो ऐसे शब्द से प्रतीत दो अर्थों का श्लेष वास्तविक है इसमें भी क्या प्रमाण। एकशब्दवाच्य होने से उनमें सहसा भेद लक्षित नहीं होता केवल इतना ही अनुभवसिद्ध है। दोनों शब्द जुड़े रहते हैं यह नहीं। और यदि ऐसा कोई श्लेष असंगश्लेष के अर्थों में रहता है तो वह सभंग श्लेष के अर्थों में भी रहता ही है। तब सभंग श्लेषको उभयालंकार क्यों नहीं माना जाता। यदि यह कहा जाय कि सभंग श्लेष में शब्दों के जतुकाष्ठवत् जोड़ के कारण अर्थों में जोड़ रहता, अर्थों का जोड़ वहाँ स्वाधीन नहीं होता तो यही बात अभंग श्लेष में कही जा सकती है। वहाँ भी अर्थश्लेष शब्दश्लेष पर निर्भर है केवल जतुकाष्ठवत शब्दों में श्लेष ही वहाँ लक्षित नहीं होता। तब यदि शब्द के कारण होने से सभंगश्लेष में श्लेष शब्द का अलंकार है तो अभंगश्लेष में भी कारण होने से श्लेष को शब्द का ही अलंकार क्यों नहीं माना जा सकता। एक बात और। यह कि अलंकार्य अलंकार का आश्रय ही हो यह आवश्यक नहीं है। यदि वाक्यार्थ में भावादि सामग्री नहीं हो तो उसमें भाए रूपक आदि अलंकार नहीं माने जाते। भावादि सामग्री अलंकाराश्रय नहीं होती। अलंकारा- श्रय अर्थ होता है और वह उससे व्यक्त होती है। इस प्रकार जब अलंकार्य अलंकाराश्रय से भिन्न सिद्ध होता है तब जिसमें श्लेष हो उसी को श्लेष का अलंकार्य और उसी के प्रति श्लेष को अलंकार मानना ठीक नहीं है। फलतः अभंग श्लेष में भले ही श्लेष अर्थों में हो तथापि अर्थ ही श्लेष का अलंकार्य हो यह नहीं माना जा सकता। अलंकार्य वह होता है जिसमें शोभा का आधान हो। और अभंग श्लेष में भी शोभा का आधान सभंग श्लेष के ही समान शब्द में ही होता है। वहाँ अर्थद्वयवाचकता से शोभा आती है अतः वह शब्द में ही रहती है। दूसरे शब्दों में श्लेष- प्रतिपादकता शब्द में होने से शब्द ही अलंकार्य माना जा सकता है, अर्थ नहीं, इसे शास्त्रकारों ने 'तन्त्र' शब्द से पुकारा है। तन्त्र का अर्थ एकाधिक अर्थों का प्रतिपादक शब्द माना जाता है।

फलत अधिक अच्छा हो कि मम्मट और अलकारसर्वस्वकार अपने पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट और अर्थभेद से शब्दभेद मानने वाले अन्य दार्शनिकों का मुलाहिजा न कर अमत श्लेष के स्थान पर 'तन्त्रालंकार' नामक एक स्वतन्त्र अलकार को स्वीकार करें।

पण्डितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर ने इन मतभेदों का उन उन आचार्यों के नाम के साथ अनुवादमात्र कर दिया है। इन पर अपनी ओर से कोई टिप्पणी नहीं है।

विमर्शिनी

तद, एव रूपस्यास्य 'निरवकाशा हि विधय. सावकाशान्विधीन्बाधन्ते' इति नीत्या निरवकाशत्वात्सर्वालंकारापवादकत्वं केचिदाहुरित्याह—एव चेत्यादि।

'जो विधि निरवकाश होती हैं वे सावकाश विधियों को बाधित कर उनके स्थान पर चरितार्थ मानी जाती हैं' इस सिद्धान्त के अनुसार उक्त प्रकार के इस श्लेष को निरवकाश मानकर कुछ [उद्भट आदि] आचार्य अन्य सब अलकारों का अपवाद या बाधक मानते हैं। ग्रन्थकार इसी तथ्य को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

एव च नामातेष्वलंकारान्तरेष्वारस्यमाणस्तद्बाधकत्वेन तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुरिति केचित्। 'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्त्रीकृतः' इत्यादौ विविक्तोऽस्य विषय इति निरवकाशत्वाभावाद्नान्यबाधकत्वमित्यन्यैः सह संकरः, दुर्बलत्वाद्वा बाध्यत्वमित्यन्ये। तत्र पूर्वेषामयमभिप्रायः। इह प्राकरणिकाप्राकरणिकोभयरूपानेकार्थगोचरत्वेन तावत्प्रतिष्ठितोऽयमलंकारः। तत्राद्यं प्रकारद्वयं तुल्ययोगितायाः विषयः। तृतीये तु प्रकारे दीपकं भवतीति तावदलंकारद्वयमिदं श्लेषविषयं व्याप्त्या व्यवतिष्ठते। तत्पृष्ठे चालंकारान्तराणामुत्थानमिति नास्ति विविक्तोऽस्य विषयः। अत एवालंकारान्तराणां बाधितत्वात्प्रतिभानमात्रेणावस्थानम्। 'येन ध्वस्तमनोभवेन' इत्यादौ च प्राकरणिकत्वादर्थद्वयस्य तुल्ययोगितायाः प्रतिभानम्। एवं च 'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव' इत्यादौ न गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यमुपमाप्रयोजकम् अपि तूपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष एवायमेयः। श्लेषगर्भे तु रूपके रूपकहेतुकस्य श्लेषस्य तृतीयकक्षायां रूपक एव विश्रान्तिरिति रूपकेण श्लेषो बाध्यते। श्लिष्टविशेषणनिबन्धनायां च समासोक्तौ विशेष्यस्यापि गम्यत्वाच्छ्लेषस्य बाधिका समासोक्तिः।

[उद्भट आदि] कुछ आचार्यों की मान्यता है कि यह [श्लेष] जहाँ-जहाँ होता है वहाँ अन्य कोई अलकार अवश्य ही उपस्थित रहता है [न अप्राप्त = इसमें आए दो निषेध आवश्यकत्व के वाचक हैं] इसलिए यह अन्य अलंकार का बाधक होता है, फलतः वहाँ श्लेष के कारण अन्य अलकारों का आभासमात्र [प्रतिभा] हो पाता है [अन्य अलकार अलकारत्वेन प्ररूढ नहीं हो पाते]।

इसके विरुद्ध [मम्मट आदि] अन्य आचार्यों का मत है कि 'श्लेष 'येन ध्वस्त' आदि स्थलों में अन्य अलकारों की बाधा से रहित है, अत. श्लेष निरवकाश नहीं है फलतः यह अन्य अलकारों का बाधक नहीं है। निदान अन्य अलकारों के साथ इसका संकर = मिश्रण हो सकता है अथवा दुर्बल होने के कारण अन्य अलंकारों के द्वारा यही बाधित माना जा सकता है।'

इनमें से प्रथम आचार्यों का अभिप्राय यह है—'यह तो सर्वमान्य है कि यह (श्लेष) अलंकार प्राकरणिक, अप्राकरणिक अथवा उभयरूप जो अनेक अर्थ होते हैं उनको लेकर प्रतिष्ठित होता है।, इनमें से प्रथम दो प्रकार के अर्थ तुल्ययोगिता का विषय हैं और तीसरा प्रकार दीपक का। इस प्रकार मे दो अलंकार श्लेष के संपूर्ण क्षेत्र को व्याप्त किए रहते हैं। इनके पीछे [उपमा आदि] अन्य अलंकार भी उठते दिखाई देते हैं। इसलिए इस [श्लेष] का ऐसा कोई स्थल नहीं है जिसमें केवल श्लेष माना जा सके। इसीलिए अन्य अलंकारों को श्लेष से बाधित मानना पड़ता है और श्लेषस्थल में इनके अस्तित्व का आभासमात्र स्वीकार करना पड़ता है। [विविक्त विषय के रूप में जो उदाहरण प्रस्तुत किया गया है उस] 'येन ध्वस्तमनोभवेन०' में भी दोनों अर्थ प्राकरणिक हैं अतः तुल्ययोगिता का आभास होता ही है। इस प्रकार गुण और क्रिया के साम्य के ही समान सकलकल [कलकल शब्द-सहित] यह नगर इस समय चन्द्रबिम्ब सा [सकलकल = सकल कला से युक्त] हो गया है' इस स्थल में [मम्मट ने जो] शब्द के साम्य को भी उपमा का प्रयोजक [माना है वह] नहीं माना जा सकता, अपितु यहाँ [उस अंश में] श्लेष माना जाना चाहिए जिससे उपमा का तो आभासमात्र रह जाता है। ['विद्वन्मानस' आदि परम्परित रूपक में] रूपक जहाँ श्लेष से युक्त माना गया है वहाँ रूपक श्लेष से इसलिए बाधित नहीं होता कि वहाँ [पहले राजा पर हंस के रूपक की प्रतीति होती है तब वह] रूपक [मानस में] श्लेष को जन्म देता है तदनन्तर [वाक्यार्थ की] तीसरी कक्षा में रूपक की प्रतीति में [वाक्यार्थ की] विश्रान्ति होती है। किन्तु समासोक्ति जहाँ श्लेषयुक्त विशेषणों से युक्त होती है वहाँ विशेष्य के [शब्दतः कथित न होकर] गम्य होने से समासोक्ति ही श्लेष की बाधिका होती है। और—

विमर्शिनी

केचिदिति, उद्भटादयः। केचित्पुनर्विषयवैविक्त्यस्य संभवाभिरवकाशत्वाभावान्नास्य सर्वालंकारापवादकत्वमभ्युपयन्तीत्याह—येनेत्यादि। अन्यथा इति भामहाः। विविक्तोऽस्य विषय इति तुल्ययोगितायाः अत्राभावात्। सा हि द्वयोरपि प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः पृथगुपादाने औपम्यस्य च गम्यत्वे भवति। इह तु तदभावः। विशेष्ययोः पृथगनुपादानात् औपम्यस्य च गम्यत्वाभावात्। न ह्यत्रोमाधवस्य माधवेन तेन वा तस्य सादृश्यं विव- क्षितम्। एकेनैव शब्देन श्लिष्टतयार्थद्वयस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्। अत्र हि परस्परनैर- पेक्ष्यात् तयोरुमाधववाक्यार्थपरामर्शवेलायां माधववाक्यार्थपरामर्शमात्रमपि नास्तीति को नामौपम्यस्यावसरः। तस्मादेवमादावलंकारान्तरविविक्तविषयत्वाच्छ्लिष्टतायाश्चोद्धुरकं- धरीभावेन प्रतीतेर्न निरवकाशः श्लेषः। अन्यैः सह संकर इति द्वयोरपि पृथक्कक्षता- प्रतीतेः। बाध्यत्वमिति। श्लेषस्य दुर्बलत्वादलंकारान्तराणां च बलवत्त्वात्। एतच्च ग्रन्थ- कृदेवाग्रे दर्शयिष्यतीति नेहायस्तम्। तदेवमस्य सर्वालंकारापवादकत्वं न युक्तम्। अन्या- लंकारवदेव बाध्यबाधकभावादिदर्शनात्। एतच्चालंकारसारकृता सप्रपञ्चमुक्तमितीह ग्रन्थ- विस्तरभयात् तथा नोक्तम्। पूर्वेषामिति, उद्भटादीनाम्। अविप्रतिपत्ति-द्योतकस्तात- च्छब्दः। व्याप्त्येति। सर्वलक्ष्यव्यापकत्वेन, सर्वत्रैवास्य त्रिरूपत्वात्। तत्रेति तुल्य- योगितादीपकोपरि। अलंकारान्तराणामिति उपमादीनाम् उत्थानमिति। तुल्ययोगितादी- पकाभ्यामपि तत्प्रतीतेरुद्रेकात्। अत एवेति। तस्य विविक्तविषयत्वासंभवात्। प्रतिभान- मिति आभासमात्रम्। न पुनस्तत्रैव विश्रान्तिरित्यर्थः। एतच्च यथा नोपपद्यते तथा सम- नन्तरमेवोक्तम्। तदेवं स्वमतोपोद्बलनाय पूर्वसन्यान्यैः सह संकरो दुर्बलत्वादाबाध्य-

त्वमिति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयितुमेतत्कर्तृकं तावदन्यालंकारबाध्यत्वं दर्शयति—श्लेषेत्यादिना। तृतीयकक्षायामिति। प्रथमकक्षायां हि रूपकप्रतीतिरेव। द्वितीयकक्षायां तु श्लेषप्रतीतिः। श्लेषस्य सर्वालंकारापवादत्वमिच्छद्भिरप्यौद्भटैर्यदन्यालंकारबाध्यत्वमेतस्योक्तं तत् स्वरूपनिरुद्धप्रायमेतेषामिति ध्वनयितुं तदुक्तमेव रूपकसमासोक्तिबाध्यत्वमेतस्य ग्रन्थकृतेह दर्शितम्। बाध्यत इति विद्वन्मानसहंसेत्यादौ। बाधकेति उपोढरागेणेत्यादौ।

केचित् = कुछ उद्भटादि आचार्य। किन्तु [मम्मट आदि] कुछ [आचार्य] इसे अन्य सब अलङ्कारों का अपवादक नहीं मानते क्योंकि वे इसे निरवकाश नहीं मानते, फलतः वे इसका स्वतन्त्र [सर्वालंकार रहित] विषय बतलाते हैं। इस तथ्य को दिखाते हुए कहते हैं—'येन ध्वस्त०' इत्यादि। अन्ये = अन्य कुछ जैसे [अर्थात् स्वयं ग्रन्थकार जैसे]। 'विविक्तोऽस्य विषयः = 'इस श्लेष का अलङ्कारान्तरशून्य विषय' क्योंकि यहाँ ['येन ध्वस्त'-पद्य में] तुल्ययोगिता नहीं है। यह तब होती है जब केवल प्रकृत या केवल अप्रकृत विशेष्यों का पृथक् पृथक् उपादान हो तथा सादृश्य गम्य हो। इस [येन ध्वस्त] पद्य में उस [तुल्ययोगिता] का अभाव है क्योंकि यहाँ विशेष्यों का उपादान पृथक् नहीं हुआ है तथा सादृश्य गम्य नहीं है। ऐसा नहीं है कि , पद्य में उमाधव [शंकर] का माधव से या माधव का उमाधव से सादृश्य विवक्षित हो। यहाँ तो दोनों अर्थों का एक ही शब्द के द्वारा श्लिष्टरूप से प्रतिपादन अभीष्ट है। यहाँ तो उन [दोनों पक्षों] में परस्पर निरपेक्षता होने से जब उमाधव-सम्बन्धित वाक्यार्थ की प्रतीति होती है तब माधववाक्यार्थ का परामर्शमात्र तक नहीं रहता। तब यहाँ सादृश्य का अवसर ही क्या हो सकता है। इस कारण ऐसे स्थलों में श्लेष अन्य अलङ्कारों के स्पर्श से रहित रहकर विद्यमान है, तथा यहाँ श्लिष्टता प्रमुख रूप से परिलक्षित दिखाई दे रही है फलतः इसे निरवकाश नहीं कहा जा सकता। अन्यैः सह संकरः—'अन्यों के साथ संकर'—क्योंकि दोनों समानरूप से प्रतीत होते हैं। बाध्यत्वम् = बाध्य होना' = क्योंकि श्लेष दुर्बल होता है और अन्य अलङ्कार प्रबल। इसे स्वयं ग्रन्थकार ही आगे दिखलायेंगे इसलिए इसके विवेचन पर यहाँ श्रम नहीं किया जा रहा। तो इस प्रकार इस [श्लेष] का सभी अलंकारों को बाधित कर उनका अपवाद माना जाना ठीक नहीं है। क्योंकि [उपमा और रूपक आदि] अन्य [स्वतन्त्र] अलंकारों के ही समान बाध्यबाधक भाव [तथा स्वतन्त्र विषयता] आदि दिखाई देते हैं। इसका विस्तृत विवेचन अलंकारसारकार ने कर रखा है। इसलिए उतने विस्तार के साथ यहाँ विवेचन नहीं किया जा रहा। इससे ग्रन्थ विस्तार का भी भय था [इससे स्पष्ट है कि विमर्शिनीकार मूल के विरुद्ध मम्मट के समर्थक हैं] पूर्वेषाम् = प्राचीन = उद्भट आदि। तावत्—शब्द इस बात का द्योतक है कि इस विषय में विपक्षी को भी आपत्ति नहीं है। व्याप्य = व्याप्त कर = लक्ष्य के सर्वदेश में व्याप्त होने से क्योंकि तीन रूपका यह [श्लेष या अर्थ] सर्वत्र किसी न किसी रूप में दिखाई देता है। तत्पृष्ठे = उसके पीछे अर्थात् तुल्ययोगिता और दीपक के ऊपर। अलंकारान्तराणाम् = अन्य अलंकारों का अर्थात् उपमा आदि का। तदुत्थानमिति = क्योंकि उन [अन्य अलंकारों] की प्रतीति तुल्ययोगिता और दीपक से ही उठती है। अतएव = इसीलिए अर्थात् विविक्तविषयता = स्वतन्त्र क्षेत्र न होने से। प्रतिभानम् = आभासमात्र। अर्थ यह कि विश्रान्ति उसी में नहीं होती। किन्तु यह तथ्य जिस प्रकार सिद्ध नहीं होता वह अभी अभी कहा जा चुका है। इस प्रकार अपने म के समर्थन के लिए पहले जो कहा है कि—'इसका अन्य अलङ्कारों के साथ या तो संकर रहना या फिर दुर्बल रहने पर अन्य अलंकारों से बाधित, इसी को और अधिक विस्तार में प्रतिपादि करने के लिए अब यह बतलाते हैं कि यह अलंकार अन्य अलङ्कारों को बाध देता है—श्लेष-

इत्यादि के द्वारा। 'तृतीयकक्षायाम्—तृतीय कक्षा में' = प्रथम कक्षा में रूपक की ही प्रतीति होती है। श्लेष की प्रतीति होती है द्वितीय कक्षा में। 'उद्भटानुयायी आचार्य एक ओर तो श्लेष को सभी अलंकारों का बाधक बतलाते हैं और दूसरी ओर वे ही कुछ अलंकारों से उसे बाधित होता हुआ भी बतलाते हैं, यह उनके द्वारा अपनी मान्यता का ही विरोध है'—इस तथ्य को ध्वनित करने के लिए उन्हीं [उद्भट आदि] के द्वारा प्रतिपादित श्लेष का रूपक और समासोक्ति से बाधित होना ग्रन्थकार ने यहाँ दिखलाया। बाध्यते = बाधित होता है – 'विद्वन्मानसहंस' इत्यादि [श्लिष्ट परम्परित रूपक] में। बाधिका = 'उपोढरागेण' इत्यादि पद्यों में।

विमर्श—'नाप्राप्ते' = का मूल 'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः'—यह है। इसमें येन की तृतीया का अर्थ है कर्तृत्व, प्रतिषेधद्वय का अर्थ है आवश्यकत्व, क्त प्रत्यय का अर्थ है भाव। इस प्रकार न्याय की भाषा में इस वाक्य का अर्थ निकलेगा—

'यत्कर्तृकावश्यप्राप्तौ य आरभ्यते स तस्य बाधकः'। पुनः येन के 'यद्'-शब्द का अर्थ है व्यापकत्व और यः इसके यत् शब्द का अर्थ है व्याप्यत्व। अतः न्याय की भाषा में अर्थ होगा—

'व्यापकस्यैव सर्वत्र प्राप्तौ निरवकाशो व्याप्यस्तं [व्यापकं] बाधते।'—

इन्हीं तथ्यों को ग्रन्थकार ने 'नाप्राप्तेषु आरभ्यमाणः' तथा 'व्याप्त्या'—इन अंशों द्वारा सूचित किया था। पण्डितराज ने श्लेष पर उद्भट का मत इसी प्रकार स्पष्ट किया है—'अत्राहुरुद्भटाचार्याः–'येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधकः' इति न्यायेनालंकारान्तरविषय एवायमारभ्यमाणोऽलंकारान्तरं बाधते।' यह उद्भट के मत का अलंकारसर्वस्व पर आश्रित भावानुवाद मात्र है। उद्भट की उक्ति इस विषय पर ऐसी है—

'श्लिष्टम्, अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्०' ।४।९, १०।

—श्लिष्ट अलंकारान्तर की प्रतिमा उत्पन्न करता है। उद्भट ने इस विषय में इससे अधिक कुछ नहीं लिखा। केवल उदाहरणमात्र प्रस्तुत कर दिए हैं—

'प्रभातसन्ध्येवास्वापफललुब्धेहितप्रदा'—

—पार्वती प्रभात सन्ध्या के समान थीं—अस्वापफललुब्धेहितप्रदा = [पार्वती–न, सु आप फल = दुर्लभ फल पर लुब्धको ईहित = अभीष्ट फल देने वाली तथा प्रभात 'सन्ध्यास्वापफल = निद्राफल श्रमपरिहार पर लुब्धस्वाप फल लुब्ध, तद्भिन्न अस्वापफललुब्ध उसमें हित = हितकारी अदृष्ट उत्पन्न करने वाली] इसी प्रकार—

'अविन्दुसुन्दरी नित्यं गलल्लावण्यबिन्दुका'

—पार्वती अविन्दुसुन्दरी भी थी और उनसे लावण्यबिन्दु झरते रहते थे [विरोध], [परिहारार्थ–] अप् = जल उसमें प्रतिबिम्बित जो इन्दु = चन्द्र उससी सुन्दरी।

प्रथम में उपमा और द्वितीय में विरोधालंकार है। उद्भट के अनुसार उनका अस्तित्व प्रातिभासिक मात्र है। वास्तविक सत्ता श्लेष की ही है। परन्तु उद्भट ने अपनी इस मान्यता की पुष्टि में कोई हेतु नहीं दिया। आनन्दवर्धनाचार्य ने इसे इसी रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में श्लेष को उपमा व्यतिरेक, विरोध आदि अलंकारों से पुष्ट होता हुआ कहा है और वहीं 'येन ध्वस्त०' पद्य प्रस्तुत कर यह भी कह दिया है कि श्लेष वहाँ होता है जहाँ दोनों अर्थ अभिधा द्वारा कथित होते हैं साथ ही वहाँ यदि अन्य कोई अलंकार भी वाच्य होता हो तो वहाँ श्लेष ही माना जाना चाहिए—'वस्तुद्वये शब्दशक्त्या प्रकाशमाने श्लेषः, तथा – यत्र शब्दशक्त्या साक्षादलंकारान्तरं वाच्यं सत् प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः'। [पृ० २३५–३६

चौ० स० १९९७]। आनन्दवर्धनाचार्य के ही समान महिममट्ट ने भी उद्भट के मत को स्वीकार कर लिया। उन्होंने व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श में अलङ्कारों की सीमा निर्धारित करते हुए और अनेक अलङ्कारों में वाच्यावचन दोष बतलाते हुए लिखा है—

'यत्र हि यदलंकारप्रतिभानुगुणशब्दोपरचितः श्लेषः तत्र तदलंकारनिबन्धः तमेव श्लेषमभिव्यनक्ति, न तु तस्य विषयमतिक्रामति।' [पृ० ३९५ चौ० स० २०२५]

'जहाँ जिस अलङ्कार का आभास मात्र कराने के लिए की गई पदरचना से श्लेष बनता है, वहाँ वह अलङ्कार उसी श्लेष को अभिव्यक्त करता है, उस [श्लेष] के क्षेत्र में वह स्वयं नहीं धमकता।' इसी तथ्य को कारिकारूप में उपनिबद्ध करते हुए उन्होंने लिखा—

'यदलङ्कारव्यक्त्यै ये शब्दास्तद्विरोऽपि तैरेव।
व्यज्येतान्यतरैर्यदि तदसौ गृह्येत लाघवान्नान्यः॥'

व्यक्तिविवेक की टीका में भी अलङ्कारसर्वस्वकार ने श्लेष को निरवकाश मानकर अन्य अलङ्कारों का बाधक ही माना है—'उपमोत्थापिते श्लेषे नोपमा श्लेषं बाधते, तस्य विविक्तविषयत्वाभावात्, श्लेषस्तु तां बाधते इति युक्तम्।' [द्रष्टव्य—पृ० ३९६ च० स० नवीन संस्करण]।

आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वनि के विचार के पूर्व अस्पष्ट स्वर में श्लेष को अलंकारान्तर से पृथक् बतलाया था। मम्मट ने उसे पकड़ लिया। और उद्भट के मत के विरुद्ध श्लेष को अन्य अलंकारों द्वारा बाध्य बतलाने हेतु अपेक्षित अलंकारान्तर से श्लेष का पार्थक्य बतलाते हुए उन्होंने—

'देव! त्वमेव पातालमाशानां त्वं निबन्धनम्।
त्वं चामरमरुद्भूमिरेको लोकत्रयात्मकः॥'

—यह पद्य उद्धृत किया। इसका अर्थ है—हे राजन्! आप लोकत्रयात्मक हैं, आप ही 'पातालम्' [पाताल = नागलोक तथा पाता अलम् = पर्याप्त रक्षक] हैं, आप ही आशानिबन्धन [= आशा = दिशा उनके आधार पृथ्वीलोक, आशा = इच्छाएँ उनके आधार] हैं, आप ही 'चामरमरुद्भूमि' [च = और अमरमरुत् = देवगण तथा पवन की भूमि = स्वर्ग तथा चामर—चँवर की मरुत्—हवा की भूमि=आस्पद = जिनके जिनपर चँवर डुले जाते हैं]।' परन्तु यहाँ राजा पर तीनों लोकों का आरोप है तथा 'अन्य राजा जहाँ कोई एक कार्य करने तक सीमित हैं वहाँ यह राजा अन्य सब कार्य भी करता है अतः यह उनसे उत्कृष्ट है,' इस व्यतिरेक का भी अस्तित्व है। अतः यह स्थल शुद्ध श्लेष का स्थल नहीं माना जा सकता। पण्डितराज ने भी रसगङ्गाधर में इस पद्य में रूपकप्रतीति मान मम्मट का खण्डन किया है। वस्तुतः स्वयं मम्मट ने भी इस स्थल में रूपक व्यतिरेक का स्पर्श अनुभव किया था। यह तथ्य उन्हीं के इस पद्य के बाद के ग्रन्थांश से झलकता है। श्लेष की अलंकारान्तररहितता के लिए अलंकारसर्वस्वकार ने आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रस्तुत 'येन ध्वस्त०' पद्य चुना। इसमें मम्मट को स्थापना को बल मिला।

मम्मट ने उद्भट के मत का खण्डन करते हुए अन्य तर्क भी दिए थे। उन्होंने कहा था 'पूर्णोपमा' में साधारण धर्म की निष्पत्ति नियमतः श्लेष से ही होगी, वहाँ यदि श्लेष को ही अलंकार माना जायगा तो पूर्णोपमा कहीं होगी ही नहीं—'पूर्णोपमाया विषयापहार एव स्यात्'। इसी प्रकार उन्होंने व्यतिरेक, विरोध, रूपक आदि अन्य अलङ्कारों में भी श्लेष को निष्पादक और व्यतिरेक आदि को ही निष्पाद्यरूप से प्रधान अलङ्कार माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इन दोनों पक्षों को अपनी भाषा में स्पष्टीकरण के साथ उद्धृतमात्र कर दिया है। उनका संपूर्ण विवेचन सर्वस्वकार तथा विमर्शिनीकार के मतों पर आधृत है। सर्वस्वकार उद्भट और ध्वनिकार के अनुयायी हैं और विमर्शिनीकार मम्मट के। उन्होंने 'येन ध्वस्त'

पद्य में तुल्ययोगिता का अभाव बड़ी बारीकी से सिद्ध किया है। पण्डितराज ने उसे स्वीकार कर लिया है। वस्तुतः 'येन ध्वस्त' पद्य में तुल्ययोगिता के अभाव की बात अलंकाररत्नाकर से ली गई है। अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के—'इह प्राकरणिका—तुल्ययोगितायाः प्रतिभानम्'—इस कथन का भावार्थ स्पष्ट कर उसका निराकरण करते हुए कहा है—

—'येन ध्वस्तमनोभवेने'—त्यादौ यत्र प्रकृतयोरप्रकृतयोर्वा विशेष्ययोः सकृदुपादानं तत्र तुल्ययोगितायाः अभावात्।

—[सर्वस्वकार का उक्त कथन अमान्य है] क्योंकि तुल्ययोगिता में प्रकृत या अप्रकृत विशेष्यों का अनेक बार कथन रहता है, एक बार कथन रहने पर तुल्ययोगिता नहीं होती। 'येन ध्वस्त०' पद्य में विशेष्यों का कथन एक बार ही है अतः यहाँ तुल्ययोगिता नहीं है।' आगे कोटि प्रकोटि चलाते हुए उन्होंने लिखा कि यदि आवृत्ति के द्वारा विशेष्यों का असकृद् उपादान मान लिया जाय तो धर्मों का उपादान भी उसी प्रकार आवृत्ति के द्वारा एकाधिक बार मानना पड़ेगा। उससे धर्मों में अनेकता चली आएगी। तुल्ययोगिता या दीपक केवल धर्म की एकता में ही होते हैं। अतः आवृत्ति द्वारा विशेष्य की अनेकता मानने पर भी तुल्ययोगिता सिद्ध न होगी। इस प्रकार मम्मट, शोभाकर और जयरथ श्लेष की वाच्यता स्वीकार करते हैं जबकि उद्भट आनन्दवर्धन तथा अलंकारसर्वस्वकार अलंकारान्तर की। एकतर पक्ष के निर्णय के लिए एकमात्र चमत्कारप्रयोजकता को कसौटी माना जा सकता है। सहृदयों के अनुभव से चमत्कारनिष्पत्ति श्लेष या श्लेषेतर जिससे सिद्ध होती हो उसीको अलंकार माना जाएगा। तब निरवकाशत्व और सावकाशत्व के शास्त्रीय तर्क अकिंचित्कर सिद्ध होंगे। जहाँ एकाध श्लिष्ट विशेषण से उपमादि निष्पन्न होते हों वहाँ उपमादि का ही चमत्कार माना जा सकता है और जहाँ 'उद्दामोत्कलिका' आदि स्थलों में अनेक विशेषणों में श्लेष हो वहां निश्चित ही चमत्कार श्लेषयोजना से होगा। फलतः वहां श्लेष ही मानना उचित होगा। अलंकाररत्नाकरकार शोभाकरमित्र ने इस तथ्य को स्वीकार किया है और श्लेष की पाँच स्थिति में मिलता बतलाया है—

'प्रधानभूतालंकारवियोगात् सावकाशता।
क्वचित् प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वं क्वचिदङ्गता॥
क्वचित् प्ररोहविरहात् प्रातिभत्वं परत्र च।
अनुप्राणकतास्येति श्लेषोऽयं पञ्चभूमिकः॥'

श्लेष पांच भूमिकाओं में निष्पन्न होता है—

(१) स्वतन्त्र भूमिका, जहां अन्य किसी अलंकार का इसके साथ मिश्रण नहीं होता। [यथा—'येन ध्वस्त०'–पद्य में]।

(२) अन्य अलंकारों की सत्ता प्रातिभासिक सिद्ध कर रहने की भूमिका। [यथा—'सकलकलम्' इत्यादि पद्य में]।

(३) अप्रधानता की भूमिका, [यथा—'विष्णुका वक्षस्थल समुद्रतट के समान वनमालाभरण है' इस वाक्य में 'वनमालाभरण' शब्द में वनमाला एक माला, वनमाला = तटवर्ती जंगल की पांत यहां श्लेष उपमा का अंग है]।

(४) आभासात्मकता की भूमिका [यथा—'अविन्दुसुन्दरी०' स्थल में विरोध की प्रधानता होने से श्लेष की आभासात्मकता]।

(५) अनुप्राणकता की भूमिका, [यथा—समासोक्ति में]।

विमर्शिनी

एवं श्लेषस्यालंकाराणां च परस्परं बाध्यबाधकभावं प्रकाश्यान्यैः सहास्य संकीर्णत्वं दर्शयति—इह त्वित्यादिना।

इस प्रकार [उपर्युक्त ग्रन्थ द्वारा] श्लेष और अन्य अलंकारों का परस्पर में बाध्यबाधक-भाव दिखलाया। अब श्लेष का अन्य अलंकारों के साथ सांकर्य दिखलाते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

इह तु—

'त्रयीमयोऽपि प्रथितो जगत्सु यद्वारुणीं प्रत्यगमद् विवस्वान्।
मन्येऽस्तशैलात् पतितोऽत एव विवेश शुद्ध्यै वडवाग्निमध्यम्॥'

इति श्लोके विवस्वतो वस्तुवृत्तसंभवि अधःप्रदेशसंयोगलक्षणं यत्पतितत्वं यच्च वडवाग्निमध्यप्रवेशस्ते द्वे अपि त्रयीमयस्यसंबन्धिवारुणीगमनरूपविरुद्धाचरणहेतुकाभ्यां पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्यामतिशयोक्त्या श्लेषमूलया अभेदेनाध्यवसिते। सोऽयमेकक्रियायोगः। तद्धेतुका च मन्ये 'अत एव शुद्ध्यै' इत्युत्प्रेक्षा। अत्रात एवेति परामृष्टो विरोधालंकारालंकृतोऽर्थो हेतुत्वेनोत्प्रेक्ष्यते। शुद्ध्यै इति च फलत्वेन। ततश्च हेतुफलयोर्द्वयोरप्युत्प्रेक्षा। विरोधालंकारस्य च विरोधाभासत्वं लक्षणम्। अतो विरोधाभासनसमय एव हेतुफलोत्प्रेक्षयोरुत्थानम्। उत्तरकालं तु विरोधसमाधिः। श्लेषस्य च सर्वालंकारापवादत्वाद् विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुरयं श्लेषः।

'[वेद-] त्रयीमय रूप से त्रैलोक्य में प्रसिद्ध होने पर भी सूर्य वारुणी [पश्चिम दिशा तथा मदिरा] की ओर जो गया मैं सोचता हूँ कदाचित् इसी से [पतित होकर और] अस्ताचल से गिरकर शुद्धि के लिए वडवाग्नि में प्रवेश कर रहा है।

इस पद्य में अधः प्रदेश से संयुक्त होना रूपी जो वास्तविक पतितत्व = गिरना है और जो वडवाग्नि में प्रवेश करना है ये-दोनों वेदत्रयीमय होने पर भी वारुणीगमन करने रूपी विरुद्ध आचरण से जनित जो पतितत्व तथा अग्निप्रवेश हैं उनके द्वारा श्लेषमूलक अतिशयोक्ति के आधार पर अभिन्न रूप से अध्यवसित हैं और यह हुआ [समासोक्ति का जनक सूर्य तथा धार्मिक पुरुषरूपी दो विभिन्न व्यक्तियों का अग्निप्रवेश रूपी] एक क्रिया में अन्वित होना। इसके आधार पर निष्पन्न होती है 'मैं समझता हूँ कि इसीसे शुद्धि के लिए' - यह [हेतु फलोत्प्रेक्षारूपी] उत्प्रेक्षा। इस [उत्प्रेक्षा] में इसीसे [अर्थात् विरुद्ध आचरण करने से] इस प्रकार परामृष्ट जो विरोधालंकार है उससे अलङ्कृत अर्थ हेतुरूप से उत्प्रेक्षित हो रहा है और [इसीसे] 'शुद्धि के लिए' यह अर्थ फलरूप से। इस प्रकार यहाँ हेतु और फल दोनों की उत्प्रेक्षा हो रही है। और जो विरोधालंकार है उसका लक्षण है विरोधाभासत्व, अतः हेतु और फल की उत्प्रेक्षाओं का उत्थान उसी समय होता है जब विरोध का आभासात्मक ज्ञान होता रहता है। बाद में तो विरोध का समाधान (परिहार) हो जाता है। इधर श्लेष जो है वह सभी अलंकारों का अपवादक है अतः इस पद्य में श्लेष विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतु होकर स्वयं प्रधान अलङ्कार है।

विमर्शिनी

वडवाग्निमध्यप्रवेशोऽपि वस्तुवृत्तसंभवीति विशेषणं लिङ्गविपरिणामाद् योऽयम्। ते द्वे इति, वडवाग्निमध्यप्रवेशपतितत्त्वे। पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्यामिति, ब्राह्मण्यपरिच्याव-प्रायश्चित्तात्मकाभ्याम्। सोऽयमिति। यत् पतितत्वाग्निप्रवेशयोर्वस्तुतोऽन्यथा स्थितयोरप्य-न्यथाभूताभ्यां ताभ्यामभेदेनाध्यवसायः। तद्धेतुकेति तच्छब्देन तत्क्रियायोगपरामर्शः। फलत्वेनेति उत्प्रेक्ष्यत इत्यत्रापि संबन्धः। ततश्चेति हेतुफलयोर्द्वयोरुत्प्रेक्ष्यमाणत्वात्।

'वस्तुवृत्तसंभवि' = 'वास्तविक' यह जो विशेषण है इसे लिंगपरिणाम [नपुंसकलिंग को पुंल्लिङ्ग में 'वस्तुवृत्तसंभवी' इस प्रकार बदल] कर अन्वित करना चाहिए। ते द्वे = वे दोनों अर्थात् वडवाग्नि में प्रवेश और पतितत्व। 'पतितत्वाग्निप्रवेशाभ्याम्' = 'पतितत्व और अग्निप्रवेश' जो ब्राह्मण्य = ब्रह्मवृत्ति से च्युत होने का प्रायश्चित्त हैं। 'सोऽयम्' = यह अर्थात् मूलतः भिन्न रूप के पतितत्व और अग्निप्रवेश भिन्न रूप के उन्हीं पतितत्व और अग्निप्रवेश द्वारा अभिन्न रूप से अध्यवसाय तद्धेतुका = इसमें तद् शब्द से उपर्युक्त [प्रवेश] क्रिया में [दो भिन्न व्यक्तियों के] अन्वय का परामर्श है। फलत्वेन = फल रूप से = इसमें भी उत्प्रेक्ष्यते = उत्प्रेक्षा की जाती है = इसका संबन्ध है। ततश्च = इस प्रकार = हेतु और फल इन दोनों की उत्प्रेक्षा हो रही है इस कारण।

विमर्शिनी

ननु विरोधालंकारस्य विरोध एव रूपं तस्य दुष्टत्वात् कृते च समाधाने विरोध एव नास्तीति विरोधालंकृतोऽर्थः कथमत्रोत्प्रेक्षायां हेतुत्वं भजत इत्याशङ्क्याह—विरोधेत्यादि। वक्ष्यति—'विरोधाभासत्वं विरोधः' इति। अत एव च विरोधस्याभासमात्रसारत्वाद् यथावभासं विश्रान्त्यभावात् प्ररोहो नापि बाधोत्पत्तिः, अपितु पैत्तिकज्वलत्स्तम्भतैमिरिक-चन्द्रद्वयावभासवदस्ति प्रत्यय इति नात्र पूर्वं विरोधबोधः पश्चादविरोधधीरिति बाध्य-बाधकव्यवस्थाद्वयम्। ननु बाध्यनिषेधपरो नैतदेवमिति प्रत्ययरूपो बाधो बाध्यं च तथैव प्रतीयते चेत् किं तेन कृतं स्यादिति चेत्, स्खलद्गतित्वमिति ब्रूमः। तथाहि शुक्तिकारजतमरीचिका-सलिलादिविभ्रान्तिष्विव नात्र प्रथमप्रवृत्तविरुद्धप्रतिभासस्य भावबाध्यविज्ञानसमुत्पुंस-नेन बाधकत्वमुदेति, बाधोदयेपि पैत्तिकज्वलत्स्तम्भतैमिरिकचन्द्रद्वयावभासवद् विरुद्ध-प्रतिभासानिवृत्तेः। केवलमत्र तद्वशादेवानुपपद्यमानताकारा स्खलद्गतितैवावगम्यते। स्खलद्गतित्वे च प्रतिपत्तृव्यवहारं प्रति निमित्तत्वानुपपत्तिः। न हि पैत्तिकः स्वपित्तविका-राज्ज्वलत्स्तम्भदर्शनं मन्यमानस्तत्र दाहपाकाद्यर्थितया प्रवर्तते। तिमिरदोषं वा जानान-स्तैमिरिकोऽपि बहिश्चन्द्रद्वयास्तित्वव्यवहारं विधत्ते। एवं बाधोत्पत्तेरनुपपद्यमानत्वात् स्खलद्गतित्वेन प्रतीयमानोऽपि विरोधो न प्रतिपत्त्रपेक्षोत्प्रेक्षणलक्षणव्यवहारनिमित्तभाव-मुपगन्तुमुत्सहते। यतोऽनुपपद्यमानत्वेन स्खलद्गतित्वमुपपद्यमानत्वेन च व्यवहारनिमित्त-त्वमिति परस्परविरुद्धत्वादनुभवविरोधाच्च तयोः कथमेकत्र समावेशो घटते। अतश्चाने-नैवाभिप्रायेणाह—मत इत्यादि। विरोधाभासनसमय एवेति, न तु बाधकोदयसमय इत्यर्थः। बाधोदयानन्तरं विरोधस्योत्प्रेक्षाहेतुत्वं न युज्यते इत्युपपादितं स्थितं चोत्प्रेक्षा-हेतुत्वं विरोधस्येति बाधोदयात्प्रागेवान्यथानुपपत्त्या निश्चीयते। बाधस्य च स्वारसिकत्व-वस्तुवृत्तेः पर्यालोचनालभ्यत्वेन द्विविधस्यापि सर्वत्रोत्तरकालमेवोल्लासः संभवति। तस्य च बाध्यनिष्ठत्वाद्बाध्यस्य च पूर्वकालभावित्वात्। अन्यथा हि निर्विषयो बाधः स्यात्। अतश्चोत्तरकालं तु विरोधसमाधिरिति भणितेरर्थमजानानेनायमर्थोऽन्वेषणीयः। यदि हि

बाधः प्रागप्युत्प्रेक्षाया स्वाधिकारवशेन स्वरसत एवोल्लसेत् तदुक्तनीत्या उत्प्रेक्षोत्थानमेव न स्यादित्यबाधित एव विरोध उत्प्रेक्षायां निमित्तमित्युक्तमुत्तरकालं विरोधसमाधिरिति। स च समाधिरत्र दिगाद्यर्थाधिगमादवबुध्यत इति विरोधस्य श्लेषोऽङ्गम्। तद्वद्देवा- स्योत्थानात्। तथा चात्रानयोः सङ्कीर्णत्वमात्रमेव न पुनः संकरालंकारः। स [|] यथा—

'सञ्जातपत्रप्रकराञ्चितानि समुद्वहन्ति स्फुटपाटलत्वम्।
विकस्वराण्यर्ककरप्रभावाद् दिनानि पद्मानि च वृद्धिमीयुः॥'

अत्र श्लेषतुल्ययोगितयोरेकवाचकानुप्रवेशेन संकरः। प्राच्यानां मते पुनरेतत्प्रति- भोत्पत्तिहेतुः श्लेषोऽयमित्याह—श्लेषस्येत्यादि। तेनाद्यः पक्षः स्वाभिप्रायेण ग्रन्थकृतोक्तः। यद्वद्वयस्यैतच्छ्लोकविचार एव संकरालकारे। अत्र प्रथमेऽर्थे विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः। दर्शनान्तरे तु विरोधश्लेषौ द्वावलकाराविति।

प्रश्न=विरोधालकार का स्वरूप विरोध ही है और वह अपने आप में दोष रूप है, फलतः उसका समाधान [परिहार] किया जाता है, और जब परिहार हो जाता है तब विरोध का अस्तित्व ही नहीं रहता। इस प्रकार विरोध से कोई अर्थ अलङ्कृत ही कैसे होगा जो उत्प्रेक्षा में हेतु बनेगा।' इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—'विरोध०' इत्यादि। जैसा कि आगे कहेंगे 'विरोधा- भासत्व विरोध' है। [अलंकाररत्नाकरकार ने 'अयोमयोऽपि' पद्य और उसपर अलकारसर्वस्वकार का मत उद्धृत कर उसका खण्डन करते हुए लिखा था—विरोध में समाधान शब्दलभ्य न होकर, सामाजिक की मानस अनुभूति से लभ्य होता है जो पर्यालोचनरूपा होती है। विरोध का बाध हो जाने पर भी शब्द से तो विरुद्ध अर्थ का ही ज्ञान होता रहता है। इसलिए विरोध का परिहार वाक्यार्थ का अंग कभी भी नहीं बनता, इसलिए यहां उत्प्रेक्षाप्रतीति के बाद परिहार का वाक्यार्थ में मानना ठीक नहीं। अन्त में विरोधपरिहार का अर्थ केवल इतना ही है कि विरोध प्रातीतिक है, *वास्तविक नहीं। अन्त में परिहार का अर्थ यह नहीं है कि आरम्भ में विरोध वस्तुतः रहता है* और अन्त में उसका परिहार हो जाता है (द्र० पृ० ९२, ९३ पूना संस्करण)। इसीको स्वीकार करते हुए किन्तु अलंकारसर्वस्वकार के मत का समर्थन (खण्डन नहीं) करते हुए विमर्शिनीकार कहते हैं—] और इसीलिए [ग्रन्थकार के मत में] विरोध के अभासमात्ररूप होने से उसकी प्रतीति पर्यवसान में आरम्भ जैसी नहीं होती, फलतः न तो वह प्ररूढ ही हो पाता और न उसका परिहार ही होता अपितु यहाँ पित्तरोग से पीड़ित को जैसे जकते अग्निस्तम्भ दिखाई देते हैं अथवा तिमिररोग से पीड़ित को दो चन्द्र, वैसे ही दो अर्थों की प्रतीति मात्र होती है। इसलिए न तो यहां पहले विरोध का [आभास रूप में ज्ञान न होकर विरोध रूप में ही] ज्ञान होता और न बाद में अविरोध का ज्ञान होता, जिससे वाक्यार्थ को दो भागों में विभक्त किया जा सके [प्रश्न] बाध 'यह ऐसा नहीं है' इस प्रकार के ज्ञान का नाम है। इससे बाध्य अर्थ का निषेध हुआ करता है। यदि यहाँ बाध और बाध्य दोनों की ही वैसी [द्विचन्द्र आदि जैसी] प्रतीति मान ली जाय तो उससे क्या होगा? [उत्तर=] इससे विरोध का ज्ञान केवल अभासा- त्मकमात्र सिद्ध होगा। [विरोध पूर्णतः कट नहीं जाएगा] विरोधालंकार के विरोध के परिहार में जो बाधकता होती है वह पहले से हो रहे आभासात्मक विरुद्ध ज्ञान रूपी बाध्य को उखाड़ कर नहीं होती जैसी कि शुक्ति में हो रही है या मरुमरीचिका में होती जल की भ्रान्ति में। यहां तो बाध की प्रतीति हो जाने पर भी *विरोधाभासरूपी बाध्य अर्थ हटता नहीं है जैसे पित्तव्याधिवाले* के सामने से असत्य रूप से विदित होने पर भी अग्निस्तम्भ नहीं हटता या तिमिररोग वाले के सामने [?] चन्द्रद्वैत। यहां केवल इतना होता है विरोध में अनुपपद्यमानता [प्ररूढ न हो

पाता] आ जाती है वह भी इसलिए कि केवल [परिहार, समाधान] की उपस्थिति के कारण ही। इस आभासात्मकता, स्खलद्गतिता या अनुपपद्यमानता से लाभ यह है कि विरोधज्ञान बोद्धा की प्रवृत्ति का कारण नहीं बन पाता। ऐसा थोड़े ही है कि पित्त का रोगी यह जानते हुए कि उसे जो अग्निस्तम्भ दिखाई दे रहा है वह विकार के कारण दिखाई भर दे रहा है इसका वास्तविक अस्तित्व नहीं है, उस अग्निस्तम्भ में कुछ जलाने या कुछ पकाने पहुँच जाता हो अथवा तिमिर रोग का रोगी तिमिर-विकार को जानते हुए भी [अपनी भ्रमात्मक द्विचन्द्र प्रतीति से] बाहर भी दो चन्द्रों का अस्तित्व जतलाता फिरता हो। इस प्रकार बाध [परिहार] उत्पन्न हो जाने के कारण विरोध वास्तविक सिद्ध नहीं हो पाता। वह भ्रमात्मकमात्र सिद्ध होता है। और इस रूप में प्रतीत होता रहने पर भी विरोध बोद्धा के मानस में उत्प्रेक्षारूप व्यवहार का कारण नहीं बन सकता। बात यह है कि अवास्तविकता सिद्ध हो जाने पर भ्रमात्मकता, उत्पन्न होती है व्यवहारनिमित्तता [नहीं, वह] सिद्ध होती है वास्तविकता सिद्ध होने पर। इस प्रकार [भ्रमात्मकता तथा व्यवहारनिमित्तता] ये दोनों धर्म परस्पर में विरुद्ध हैं और अनुभव में भी ये विरुद्ध ही प्रतीत होते हैं, अतः इन दोनों का एक ही स्थान पर समावेश कैसे हो सकता है। इसी आपत्ति के कारण इस सब अभिप्राय से ग्रन्थकार ने लिखा—अतः [विरोधाभासनसमय] इत्यादि। 'विरोधाभासनसमय एव = विरोध के भ्रमात्मक ज्ञान के समय तक ही' न कि बाधक [परिहार] के ज्ञान के समय तक। बाधोदय के पश्चात् विरोध उत्प्रेक्षा को जन्म नहीं दे सकेगा और अनुभव में आ रहा है कि विरोध उत्प्रेक्षा को जन्म दे रहा है, अतः अन्यथा-नुपपत्ति रूप अर्थापत्ति के आधार पर यहां बाधोदय के पहले ही विरोध को उत्प्रेक्षाहेतु मान लेना होगा। और [अलंकाररत्नाकरकार के द्वारा प्रतिपादित] जो दो प्रकार का बाध है (१) वास्तविक और (२) बोद्धा की पर्यालोचना से प्राप्य, दोनों ही प्रकार का वह [बाध] प्रत्येक स्थल में विरोध की प्रतीति के बाद ही हो सकता है क्योंकि वह निर्भर है बाध्य पर, फलतः बाध्य को पहले से विद्यमान होना चाहिए। और वह पहले से रहा भी आता है। ऐसा न हो तो बाध हो ही किसका ? इसलिए [अलंकाररत्नाकरकार ने सर्वस्वकार के] 'बाद में तो विरोध का परिहार ही हो जाता है'—इस कथन का [हमारे द्वारा प्रतिपादित] उक्त अर्थ नहीं समझा। [अतः इसका खण्डन किया है] अतः उन्हें [उनके अनुयायियों को] यहां ऐसा ही अर्थ निकलना चाहिए। 'यदि परिहार अपने आप उत्प्रेक्षा के पहले हो जाए तो उक्त क्रम से उत्प्रेक्षा का उत्थान ही न हो, अतः विरोध परिहार के पूर्व ही उत्प्रेक्षा का निमित्त बनता हुआ माना जाना चाहिए'—यह है अभिप्राय 'बाद में तो विरोध का परिहार हो जाता है'—इस कथन का। वह जो परिहार है वह [वारुणी का] दिशा आदि रूप अर्थ समझने पर विदित होता है इसलिए श्लेष विरोध का अंग है। क्योंकि उस [श्लेष] के ही आधार पर इस [विरोध] की निष्पत्ति होती है। तो इस प्रकार [त्रयीमयोऽपि] इस पद्य में इन दोनों [विरोध और श्लेष] में संकरमात्र है, संकरालंकार नहीं। वह [संकरालंकार] तो [यहीं तुल्ययोगिता के प्रकरण में उद्धृत] 'सञ्जातपत्रप्रकरा०' इस पद्य के अर्थ में है। क्योंकि इस पद्यार्थ में श्लेष और तुल्ययोगिता का एकवाचकानुप्रवेश संकर है। प्राचीन आचार्यों ने श्लेष को विरोध का बाधक [प्रतिभोत्पत्तिहेतु] माना है, इस तथ्य को बतलाते हुए लिखते हैं—श्लेषस्य इत्यादि। ग्रन्थकार ने अपने मत के रूप में प्रथम पक्ष ही प्रस्तुत किया है, जैसा कि संकरालंकार पर विचार करते समय आगे कहेंगे। इस [त्रयीमयो पद्य] में पूर्वार्द्ध में विरोध को दबाकर श्लेष ही अलंकार है। दूसरे सिद्धान्तों के अनुसार यहाँ विरोध और श्लेष दोनों ही अलंकार हैं।

विमर्शिनी

तदेवं स्वमताभिप्रायेणास्यालङ्कारान्तरवदन्यालंकारैः सह बाध्यबाधकभावं संकीर्णत्वं च प्रकाश्य शब्दशक्त्युद्भवाद् ध्वनेर्विशेषं प्रतिपादयति—यत्र त्वित्यादिना।

इस प्रकार अन्य अलङ्कारों के समान इस अलङ्कार का बाध्यबाधकभाव तथा सांकर्य अपने मत के अनुसार प्रकाशित किया। अब शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से इस [श्लेष] का अन्तर बतलाने के लिए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

यत्र तु प्रस्तुताभिधेयपरत्वेऽपि वाक्यस्य श्लिष्टपदमहिम्ना वक्ष्यमाणार्थनिष्ठमुपक्षेपाभिधानं सूचकार्थं तत्र किं श्लेष उत शब्दशक्तिमूलध्वनिरिति विचार्यते - तत्र न तावच्छ्लेषः, अर्थद्वयस्यानन्वितत्वेनाभिधेयतया वक्तुमनिष्टेः। नापि ध्वनिः, उपक्षेप्यस्यार्थस्य संबद्धत्वाभावात् तेन सहोपमानोपमेयत्वस्याविचक्षणात्। न चान्या गतिरस्ति। तदत्र किं कर्तव्यम्। उच्यते—श्लेषस्योक्तनयेनाप्रवृत्तेर्ध्वनेरेवायं विषय इति निश्चिनुमः। तथाहि शब्दशक्तिमूले ध्वनावर्थान्तरस्यासंबद्धत्वात् संबन्धार्थमौपम्यं कल्प्यते। स च संबन्धः प्रकारान्तरेणौपम्यपरिहारेण यद्युपपादयितुं शक्यः स्यात् तत् कोऽयमभिनिवेशस्तत्र ? उपमाध्वनौ वस्तुध्वनिरपि संबन्धान्तरेण समीचीनः स्यात्। अत एव—

> 'अलंकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते।
> प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा॥'

इति न्यायमयनयन्वेन द्विधा शब्दशक्त्युद्भव उक्तः। एवं प्रकृतेऽपि यत्र सूचनाव्यापारोऽस्ति तत्र शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिर्वोद्धव्यः। यथा—

> 'सद्यः कौशिकदिग्विजृम्भणवशादाकाशराष्ट्रं रसात्
> त्यक्त्वा धूसरकान्तिवल्कलधरो राजास्तशैलं ययौ।
> तत्कान्ताप्यथ सान्वयस्यलिकुलध्वानैः समुल्लासिभिः
> क्रन्दन्तं कुमुदाकरं सुतमिव क्षिप्रं प्रतस्थे निशा॥' इति।

हरिश्चन्द्रचरितेऽत्र प्रभातवर्णनानुगुण्येन राजशब्दाभिधेयेऽस्तमुपेयुषि चन्द्रे रोहिताख्यतनयसहितया उशीनर्या वध्वा युक्तस्य हरिश्चन्द्रस्य राज्ञो विश्वामित्रसंपादितोपद्रववशात् प्रातः स्वराष्ट्रं त्यक्त्वा वाराणसीं प्रति गमनं सूचितं स्यात्। तथा च कौशिकशब्दः प्रकृते इन्द्रोलूकयोर्वर्तते। सूचनीयार्थविषयत्वेन तु विश्वामित्रवृत्तिः। वल्कलसुताभ्यां त्वौपम्यं सूचनीयार्थनैरपेक्ष्येण सादृश्यसंभवमात्रेण विश्रमणीयम्। अतश्च प्रकृतेन सूचनीयस्य संबन्धाच्छब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरयम्।

'जहां [नाटक आदि में] वाक्य, प्रस्तुत होने के कारण केवल अभिधावृत्ति से प्रतिपाद्य अर्थ ही प्रधानतया बतलाता रहता है तथापि शब्दों में श्लेष [अनेकार्थकता] होने के कारण आगे कहे जाने वाले अर्थ की भी सूचना दे देता है जिसे [नाट्यशास्त्र की भाषा में 'बीजन्यास उपक्षेपः' इस सूत्र के अनुसार] उपक्षेप भी कहा जाता है वहां श्लेष होता है कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि इस पर विचार करते हैं—

वहां श्लेष तो होता ही नहीं, क्योंकि वहां दोनों अर्थ परस्पर में असम्बद्ध रूप में बतलाना अभीष्ट नहीं रहता, ध्वनि भी नहीं होती क्योंकि [वहां भी] उपक्षेप्य [सूच्य] अर्थ प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध नहीं रहता अतः उसके साथ उपमानोपमेयभाव की विवक्षा नहीं रहती। तीसरी कोई गति है नहीं। अतः यहां क्या करना चाहिए। इस पर हमारा कहना है—

वहां श्लेष उक्त [अर्थों में असंबद्धता न होने रूप] हेतु से पहुँच नहीं सकता इसलिए इसे हम ध्वनि का ही विषय निश्चित करते हैं। यह इसलिए कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में तो दूसरा अर्थ असम्बद्ध ही रहता है, फलतः संबन्ध के लिए उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी पड़ती है। इतना अवश्य है कि यदि वह सम्बन्ध उपमानोपमेयभावसम्बन्ध को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से उपपन्न किया जा सके तब उस [उपमानोपमेयभावसंबन्ध] पर ही यह अभिनिवेश कैसा ? [यहां] उपमाध्वनि के स्थान पर वस्तुध्वनि भी किसी अन्य सम्बन्ध से समीचीन होगी।

इसीलिए (काव्यप्रकाशकार ने)—'अलंकार या वस्तु जहां प्रधानरूप से शब्द के द्वारा भासित हो रही हो तो उसे दो प्रकार की शब्दशक्तिमूलक ध्वनि माना जाता है।'

—[काव्यप्रकाश ४।३८, ३९]

—इस प्रकार शब्दशक्तिमूलक ध्वनि को दो प्रकार का कहा है क्योंकि वहाँ [शब्दों का] बन्ध [जमाव ऐसा रहता है जिस] में दोनों अर्थों के सूचक हेतु [न्याय] रहते हैं [भवन = स्थान]। प्रकृत में भी इसी प्रकार जहाँ सूचनाव्यापार हो वहाँ शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि जानना चाहिए। यथा हरिश्चन्द्रचरित [नामक नाटक] के—

'कौशिकदिग्विजृम्भण [कौशिक = इन्द्र, उसकी दिक् = दिशा = पूर्वदिशा, उसका विजृम्भण = प्रभात तथा कौशिक = उल्लू, उनका दिशाओं में विजृम्भण = भागदौड़ उस] के कारण आकाश-राष्ट्र [आकाशरूपी राष्ट्र तथा आकाश राष्ट्र के समान] को [रसात् =] स्वेच्छया छोड़कर मलिन-कान्तिवल्कल [मलिनकान्तिरूपी मलिन वल्कल तथा मलिनकान्ति वल्कल के समान] धारण किए हुए राजा [राजा तथा चन्द्रमा] अतिशीघ्र अस्तशैल [अस्त वैभवहीनता शैल के समान तथा अस्तगिरि] को प्राप्त हो गया तो उठते भ्रमरझंकार से रो रहे कुमुदाकर को पुत्र जैसे सान्त्वना देती हुई उसकी कान्ता [राजमहिषीरूपी] निशा ने भी [वहाँ से] प्रस्थान कर दिया।'

—इस पद्यार्थ में प्रकरण प्रभातवर्णन का है इस कारण 'राजा'-शब्द से पहले तो अभिधा द्वारा अर्थ निकलता है चन्द्रमा, जो अस्त हो रहा है, फिर उसी 'राजा'-शब्द से महाराज हरिश्चन्द्र [का ज्ञान होता है और उन] के रोहिताश्व पुत्र को लेकर पत्नी उशीनरी के साथ प्रातःकाल अपना देश छोड़कर वाराणसी की ओर प्रस्थान की सूचना मिलती है। यह इसलिए कि 'कौशिक'-शब्द का अर्थ [प्रभात के] इस प्रसंग में इन्द्र हो सकता है या उल्लू, किन्तु [नाटक के भावी] सूचनीय [कथावस्तु—] पक्ष में उसका अर्थ होगा विश्वामित्र। जहाँ तक वल्कल और पुत्र का संबन्ध है उनके साथ [प्रकृत मलिनकान्ति तथा कुमुदसमूह की] उपमा मान लेनी चाहिए क्योंकि [यहाँ] सादृश्य बन जाता है किन्तु उस उपमा को सूचनीय अर्थ से असंबद्ध रखना होगा [क्योंकि उस पक्ष में धूसरकान्तिवल्कल का अर्थ मटमैला वल्कल करना होगा और 'कुमुदाकर'

सुतमिव' को 'सुत कुमुदाकरमिव' के रूप में लाकर 'कुमुदसमूह के जैसे पुत्र को' यह अर्थ करना होगा फलतः, प्रथम में तो उपमा बनेगी ही नहीं, दूसरे में बनेगी भी तो उसमें चन्द्रपक्ष का उपमान उपमेय बन जाएगा और उपमेय उपमान] इसी [शब्दों की आंशिक द्व्यर्थकता तथा आंशिक साम्ययोजना के] कारण [तथा दोनों अर्थों के केवल प्रकृत अथवा केवल अप्रकृत न होकर एक के प्रकृत तथा दूसरे के अप्रकृत होने साथ ही दोनों के परस्पर में असम्बद्ध न होकर] प्रकृत के साथ सूचनीय [अप्रकृत] अर्थ के सम्बद्ध होने से यहाँ [श्लेष न होकर] यह शब्दशक्तिमूलक वस्तु-ध्वनि हुई।

विमर्शिनी

संबद्धत्वाभावादिति उपक्षेप्यस्यार्थस्यावर्णनीयत्वात्। अन्येति श्लेषध्वनिव्यतिरिक्ता। उक्तनयेनेति अर्थद्वयस्यान्वितत्वेनाभिधेयतया वक्तुमनिष्टेरित्यनेन। संबन्धार्थमिति संगत्यर्थम्। यथा—

> 'अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा।
> तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम्॥'

अत्र प्रकृताप्रकृतयोरसंबद्धार्थत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति नायिकानिशयोरौपम्यं कल्पनीयम्। संबन्धान्तरेणेति यत्र यादृशेन विवक्षितेन। तत्रेति शब्दशक्तिमूले ध्वनौ। अत एवेति। औपम्यं विनापि प्रकृताप्रकृतयोः प्रकारान्तरेण संबन्धस्योपपादयितुं शक्यत्वात्। उक्त इति काव्यप्रकाशकृता। चन्द्र इति वर्ण्यमान इति शेषः। सूचितमिति शब्दशक्त्या। तामेव विभज्य दर्शयति—तथा चेत्यादिना। अतश्चेति, इत्येव शब्दशक्तेर्भावात्। अत्र च यद्यपि सुतादिरूपार्थशक्तिरप्यस्तीति वस्तुध्वनेरुभयशक्तिमूलत्वमेव तथापि शब्दशक्तिरत्र स्फुटा स्थितेति तन्मूलत्वमेव ग्रन्थकृतास्योक्तम्। शुद्धस्तु शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिर्यथा—

> 'न महानय न च बिभर्ति गुणसमतया प्रधानताम्।
> स्वस्य कथयति चिराय पृथग्जनतां जगत्यनभिमानतां वपुः॥'

अत्र केवलयैव शब्दशक्त्या सांख्यपुरुषरूपं वस्त्वभिव्यक्तम्। यत्तु काव्यप्रकाशसङ्केते ग्रन्थकृता वस्तुध्वनेः शब्दशक्तिमूलत्वं विरुद्धमुक्तं तदुदाहरणाभिप्रायेणैवोन्नेयम्। तत्र हि 'पन्थिअ ण इअ सत्थरं' इत्याद्युदाहरणमुभयशक्तिमूलं शब्दशक्तिमूलस्य वस्तुध्वनेः श्रीमम्मटेनोपात्तम्। इह [illegible] यथासंभवमेव विचारितम्।

एवं स्वमतेन श्लेषस्य यथोपपत्ति स्वरूपं प्रतिपाद्यापि प्राच्यानुरोधात् पुनरपि तदीय-मेव मतं दर्शयितुमाह—इह चेत्यादि।

सम्बद्धत्वाभावाद् = (उपक्षेप्य अर्थ प्रकृत से) सम्बद्ध नहीं रहता क्योंकि उपक्षेप्य अर्थ वहाँ वर्णनीय [अत॰ प्रकृत] नहीं रहता [विमर्शिनी के निर्णय सा॰ संस्करण में यह पंक्ति असम्बद्धार्थस्य वर्ण॰ इस प्रकार छपी है]। अन्या = अन्य [तीसरी] गति = श्लेष और ध्वनि को छोड़। उक्त-नयेन = उक्त हेतु से = दोनों अर्थों के परस्पर में सम्बद्ध होने तथा दोनों को अभिधेयरूप से कहना अभीष्ट न होने से। सम्बन्धार्थम् = सगति के लिए। यथा—

'अतन्द्र चन्द्र [चन्द्रमा, कर्पूर] से अलंकृत, समुद्दीप्त मन्मथवाली, और चंचल तारका [तारे और आँख की पुतली] वाली श्यामा [रात्रि, षोडशी] किसे आनन्दित नहीं कर देती।'

—यहाँ प्रकृत [रात्रि] और अप्रकृत [नायिका] में असम्बद्धता न आ जाए इस हेतु नायिका और निशा में उपमानोपमेयभाव की कल्पना करनी होती है।

सम्बन्धान्तरेण = अन्य सम्बन्ध = वहाँ जो विवक्षित हो। **तत्र** = वहाँ अर्थात् शब्दशक्तिमूलक ध्वनि में [अभिनिवेश कैसा]। **अत एव** = इसीलिए, अर्थात् उपमानोपमेयभाव के बिना भी प्रकृत और अप्रकृत का संबन्ध दूसरे प्रकार से भी सिद्ध किया जा सकता है इस कारण। '**उक्तः** = कहा है' = अर्थात् काव्यप्रकाशकार ने। **चन्द्रे** = चन्द्र अर्थात् जो प्रस्तुत प्रसंग में वर्णन का विषय बना हुआ है। **सूचित** = शब्दशक्ति के द्वारा। उसी शब्दशक्ति को [अर्थशक्ति से] अलग कर बतलाते हुए लिखते हैं—**तथा च**-इत्यादि **अतश्च** = इसी कारण अर्थात् उपर्युक्त इस शब्दशक्ति के रहने से। यहां यद्यपि सुतादिरूप अर्थों की भी शक्ति [अन्यार्थ की सूचक] है इस कारण वस्तुध्वनि उभयशक्तिमूलक ही है तथापि यहाँ शब्दशक्ति अधिक स्पष्टरूप से स्थित है इसलिए ग्रन्थकार ने इसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि नाम ही दिया। केवल शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि यह है—

'न तो यह [श्रीकृष्ण] महान् [उच्च, बुद्धितत्त्व] है और न गुण [शीलसौन्दर्यादि, सत्त्व-रजस्तम]-गत समता के अभाव में यह प्रधानता [प्रमुखता, प्रकृतिरूपता] ही धारण करता। यह तो संसार में निरभिमान होकर पृथग्जन [तुच्छ व्यक्ति, प्रकृति और बुद्धितत्त्व के नीचे की विकृतियों से पृथक् पुरुषरूप] सिद्ध होता है। [शिशुपालवध १५।२ प्रक्षिप्त]

—यहाँ केवल शब्दशक्ति के ही द्वारा सांख्यपुरुषरूपी वस्तु व्यक्त होती है। ग्रन्थकार ने काव्य-प्रकाश-[पर स्वरचित]-संकेत-[नामक टीका] में [काव्यप्रकाशकार द्वारा 'पन्थिअ ण इत्थ०' पद्य में प्रतिपादित शब्दशक्तिमूलक] वस्तुध्वनि का शब्दशक्तिमूलकत्व अमान्य बतलाया था वह केवल उन्हीं के [उक्त] उदाहरण को लेकर बतलाया गया मानना चाहिए। वहां [शब्दशक्ति-मूलक वस्तुध्वनि के] उदाहरण रूप में प्रस्तुत 'पंथिअण इत्थ सत्थरम्'—इस पद्य में उभयशक्ति-मूलकता है तथापि वस्तुध्वनि को श्रीमम्मट ने केवल शब्दशक्तिमूलक बतलाया है। यहां ['सद्यः कौशिक' पद्य में] जो विचार किया गया है वह केवल आंशिक संभावना को लेकर [इस पद्य में आंशिकरूप से शब्दशक्ति है और आंशिकरूप से ही अर्थशक्ति भी]।

इस प्रकार अपने मत के अनुसार श्लेष का स्वरूप तर्क और युक्तियों द्वारा प्रतिपादित कर दिया तब भी प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं के अनुसार श्लेष पर फिर से विचार करते और अब केवल उन्हीं प्राचीनों का मत प्रस्तुत करने के लिए लिखना आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

इह च—

'आकृष्यादावमन्दग्रहमलकचयं वक्त्रमासज्य वक्त्रे
कण्ठे लग्नः सुकण्ठः प्रभवति कुचयोर्दत्तगाढाङ्गसङ्गः।
बद्धासक्तिर्नितम्बे पतति चरणयोर्यः स तादृक् प्रियो मे
बाले! लज्जा निरस्ता, नहि नहि सरले! चोलकः किं त्रपाकृत् ॥'

इत्यलंकारान्तरविविक्तोऽयं श्लेषस्य विषय इति नाशङ्कनीयम्, अपह्नुतेरत्र विद्यमानत्वात्। वस्तुतोऽपह्नवस्य सादृश्यार्थमत्र प्रवृत्तेर्नायमपह्नुत्य-लंकार इति चेत्, न। उभयथाप्यपह्नुतिसंभवात्, सादृश्यपर्यवसा-यिना वापह्नवेनापह्नवपर्यवसायिना वा सादृश्येन, भूतार्थापह्नवस्योभयत्र विद्यमानत्वात्।

'सादृश्यव्यक्तये यत्रापह्नवोऽसावपह्नुतिः।
अपह्नवाय सादृश्यं यत्राप्येषाऽप्यपह्नुतिः ॥'

इति संक्षेपः। आद्या स्वप्रस्ताव एवोदाहृता, द्वितीया तु संप्रति दर्शिता। तेनालंकारान्तरविविक्तो नास्य विषयोऽस्तीति सर्वालंकारापवादोऽयमिति स्थितम्।

और यह—

'जो पहले तो केशों को जोरों से पकड़कर खींचता है, [फिर] मुँह से मुँह सटा देता है, जिसका स्वयं का कण्ठ बड़ा ही अच्छा होता है और जो कण्ठ से चिपक जाता है, जो अंग अंग का गाढ आलिंगन कर कुचों पर प्रभुत्व जमा लेता है, इसी प्रकार जो नितम्बों से सटकर पैरों पर पड़ा रहता है वैसा वह मेरा प्रिय है। [सुनकर दूसरी सखी कहती है—वह इतना सब कर डालता है तो क्या] बाले ! तुझे अब लाज नहीं आती ? [प्रत्युत्तर में पूर्वसखी कहती है] नहीं, नहीं। तू बड़ी भोली है, [मेरा अभिप्राय समझी नहीं] अरे वही चोलक [चोली, चोल देश के युवक] से भी लाज आती है।'

—इस पद्यार्थ में ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि यह श्लेष का स्थल है जिसमें अन्य कोई अलंकार नहीं है, क्योंकि यहाँ अपह्नुति विद्यमान है। 'यहाँ वास्तविक स्थिति यह है कि यहाँ जो अपह्नव [छिपाव] अपनाया गया है उसका उद्देश्य है सादृश्य की निष्पत्ति, अतः यहां अपह्नुति [साधनमात्र है वह] अलंकार नहीं हो सकती' यदि ऐसा कहें तो वह ठीक नहीं, क्योंकि अपह्नुति दोनों ही प्रकार से हो सकती है, क्योंकि जहां अपह्नव [छिपाव] सादृश्य में पर्यवसित होता है या जहां सादृश्य अपह्नव [छिपाव] में पर्यवसित होता है वहां दोनों ही जगह वास्तविक वस्तु का अपह्नव रहता ही है। संक्षेप में—

'सादृश्य को व्यंजित करने के लिए जहां अपह्नव होता है अर्थात् किसी वस्तु को छिपाया जाता है वह तो अपह्नुति होती ही है, अपह्नुति वह भी होती है जहां अपह्नव को व्यक्त करने के लिए सादृश्यविधान किया जाता है।'

[इनमें से] प्रथम का उदाहरण तो [अपह्नुति के] अपने प्रकरण में ही दे दिया है, द्वितीय का उदाहरण यही [आकृष्या०] पद्य है।

इस प्रकार सिद्धान्त यह निकला कि इस [श्लेष] का ऐसा कोई स्थल नहीं है जिसमें अन्य अलंकार न हो, फलतः यह सभी अलंकारों का अपवाद है।

विमर्शिनी

भूतार्थो वास्तवः। संक्षेप इति प्रमेयसंचयात्। आद्येत्यादि सादृश्यपर्यवसाय्यपह्नवस्वरूपा। स्वप्रस्ताव इत्यपह्नुतिलक्षणे। उदाहृतेति पूर्णेन्दोरित्यादिना। द्वितीयेति अपह्नुतिपर्यवसायिसादृश्यरूपा। प्रदर्शितेति आकृष्यादावित्यादिना। अत्र च ग्रन्थकृता *श्लेषः सर्वालंकारापवादक इति न केवलं प्राच्यमतानुसारमुक्तम् यावदपह्नवपर्यवसायि*सादृश्यरूपोऽपह्नुतिभेदोऽपि तन्मतानुसारमेवोक्तं। यद्वक्ष्यति—व्याजोक्तौ चोत्तरः प्रकारो विद्यत इत्युपक्रम्योद्भटसिद्धान्ताश्रयेण तत्रोक्तमिति। अतश्चात्र ग्रन्थकृन्मते वक्ष्यमाणसादृश्या श्लेषमूला व्याजोक्तिः। तस्या एव वाक्यार्थीभूतत्वेन विश्रान्तेः।

भूतार्थ = वास्तविक। संक्षेप = प्रतिपाद्य का एकत्र संयोजन होने से संक्षेप कहा [न कि प्रतिपाद्य को सूत्ररूप में प्रस्तुत करने से] क्योंकि कारिका भी अपने आपमें काफी बड़ी है]। आद्या = प्रथम अर्थात् सादृश्य में पर्यवसित होने वाले अपह्नव की अपह्नुति। 'स्वप्रस्ताव एव

अपने प्रकरण में ही' अर्थात् अपह्नुति के प्रकरण में ही। उदाहृता = उदाहरण दिया जा चुका है—'पूर्णेन्दो:०' इत्यादि पद्य। द्वितीया = दूसरी अपह्नुति अर्थात् अपह्नव में पर्यवसित होने वाले सादृश्य से बनी। प्रदर्शिता = 'आकृष्यादौ०' इत्यादि पद्य के द्वारा।

यहां ग्रन्थकार ने केवल श्लेष को ही प्राचीन आलंकारिकों के मत के अनुसार प्रस्तुत नहीं किया अपितु अपह्नुति के द्वितीय भेद 'अपह्नव में पर्यवसित होने वाले सादृश्य से बनने वाली अपह्नुति' को भी प्राचीनों के मत के अनुसार प्रस्तुत किया है। जैसा कि आगे [व्याजोक्ति प्रकरण में] कहेंगे—'व्याजोक्ति में [अपह्नुति का] दूसरा प्रकार विद्यमान है' यहां से आरम्भ कर 'यहां वह उद्भट के मत के अनुसार कहा है' यहाँ तक के ग्रन्थांश द्वारा। इसलिए उक्त [आकृष्या०] पद्य में अपने मत में तो वक्ष्यमाणसादृश्या श्लेषमूला व्याजोक्ति ही अलंकार है। क्योंकि वही यहां प्रधान वाक्यार्थ के रूप में पर्यवसित होती है।

श्लेष का पूर्वेतिहास—

भामह—भामह ने श्लेष को श्लिष्ट कहा है और श्लेष का वही एक भेद बतलाया है जिसे 'दोनों का उपादान' कहकर सर्वस्वकार ने तृतीय भेद के रूप में लक्षित किया है। भामह के अनुसार केवल विशेषणों की ही उभयान्वयिता मात्र श्लेष है। भामह ने दोनों का उपादान सहभाव और उपमानोपमेयभाव के द्वारा होता हुआ बतलाया है। इस प्रकार उनका श्लेष अलंकारान्तरशून्य नहीं ठहरता। भामह श्लेष का लक्षण रूपक के लक्षण से भिन्न नहीं बना सके हैं। रूपक का लक्षण ही श्लेष में संगत मानकर भामह ने रूपक से श्लेष का भेद भी बतलाते हुए कहा है—रूपक में उपमान तथा उपमेय के विशेषण अलग-अलग रहते हैं जैसे 'जलद-दन्ती शीकराम्भोमद चुआ रहे हैं।' श्लेष में ऐसा न कहकर कहा जाएगा 'मार्गद्रुमाः महान्तश्च छायावन्तः' = मार्गद्रुम और बड़े लोग छाया [छांह और कान्ति] वाले होते हैं। इसी प्रकार—'अच्छे राजा मेघों के समान उन्नत होते हैं, और आप रत्नशाली और अगाध होने से समुद्र के सदृश हैं'। इन तीनों स्थलों में प्रथम 'द्रुम और महाजन' दोनों का छायाशीलता साहचर्य होने से भामह के अनुसार श्लेष सहोक्ति से अनुप्राणित है, द्वितीय में उसी प्रकार उपमा से और तृतीय में भी उपमा से ही अनुप्राणित है किन्तु उसमें हेतुहेतुमद्भाव कथित है जो द्वितीय में नहीं है। इस प्रकार भामह के अनुसार श्लेष के तीन भेद हुए सहोक्तियुक्त, उपमायुक्त, हेतुयुक्त। भामह की यह भेदकल्पना अत्यन्त स्थूल है। ऐसे तो 'रत्नवाले होने से आप समुद्र हैं' ऐसा कह दिया जाए तो तृतीय भेद रूपकानुप्राणित श्लेष कहा जा सकता है और इसी प्रकार उक्तिभेद से श्लेष के अनेक भेद किए जा सकते हैं।

श्लेष में श्लेष = जोड़ किसका होता है यह प्रश्न भी भामह के मस्तिष्क से टकराया था। इस पर भी उन्होंने उत्तर दिया है किन्तु वह भी अस्पष्ट है। उन्होंने कहा है—'श्लेषादेवार्थवचसो:०' इस श्लेष में श्लेष दोनों में रहता है अर्थ में भी और शब्द में भी।

इस प्रकार भामह का श्लेषविवेचन ही परवर्त्ती आचार्यों में तीन प्रश्नों को जन्म देता है। शब्दश्लेष और अर्थश्लेष का परस्पर भेद, दोनों के अलंकार्य और अन्य अलंकारों से श्लेष की मिश्रित स्थिति में अन्य अलंकारों का श्लेष द्वारा अपवाद।

भामह का विवेचन अपने मूलरूप में इस प्रकार है—

'उपमानेन यत् तत्त्वमुपमेयस्य साध्यते।
गुणक्रियाभ्यां नाम्ना च श्लिष्टं तदभिधीयते॥

लक्षणं रूपकेऽपीदं लक्ष्यते काममत्र तु।
इष्टः प्रयोगो युगपदुपमानोपमेययोः॥
शीकराम्भोमदसृजस्तुङ्गा जलददन्तिनः।
इत्यत्र मेघकरिणां निर्देशः क्रियते समम्॥
श्लेषादेवार्थवचसोरस्य च क्रियते भिदा।
तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशात् त्रिविधं यथा॥
छायावन्तो गतव्यालाः स्वारोहाः फलदायिनः।
मार्गद्रुमा महान्तश्च परेषामेव भूतये॥
उन्नता लोकदयिता महान्तः प्राज्यवर्षिणः।
शमयन्ति क्षितेस्तापं सुराजानो घना इव॥
रत्नवत्त्वादगाधत्वात् स्वमर्यादाविलङ्घनात्।
बहुसत्त्वाश्रयत्वाच्च सदृशस्त्वमुदन्वता॥ ३।१४-४०॥

भामह के तीनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि उपमा आदि अन्य अलकारों में भी अनेक श्लिष्ट विशेषणों का एक स्वतन्त्र महत्त्व है, उनमें कविकर्म की एक नवीन विधा और वैचित्र्य की असाधारण उद्‌भता अवश्य ही निहित है।

वामन—श्लेष का रूपक से जो अन्तर भामह ने बतलाया था उसी का अनुवाद करते हुए वामन ने लिखा—

[सूत्र] 'स धर्मेषु तन्त्रप्रयोगे श्लेषः' [४।३।७]

[वृत्ति] उपमानेनोपमेयस्य धर्मेषु गुणक्रियाशब्दरूपेषु स तत्त्वाध्यारोपस्तन्त्रप्रयोगे तन्त्रेणोच्चारणे सति श्लेषः। यथा—'आकृष्टामलमण्डलाग्र'०।

[रूपक के ही समान] उपमान का उपमेय पर समान गुणक्रिया आदि धर्मों के आधार पर तत्त्वारोप हो और यदि तन्त्र [अनेकार्थशब्द] प्रयोग हो तो [रूपक ही] श्लेष कहलाने लगता है। उदाहरण यथा—

[विमर्शिनी में उद्धृत] 'आकृष्टा०' यह [पूर्ण] पद्य। वामन ने भामह में प्राप्त अन्य अलकारों से श्लेष के पार्थक्य या ऐक्य का विवाद नहीं अपनाया। उस पर पहिले बार काव्यालंकारसारसंग्रह में उद्भट ने विचार किया जिसका अधिकांश पूर्वप्रकरणों में उद्धृत किया जा चुका है।

उद्भट—उद्भट का पूर्ण श्लेषविवेचन इस प्रकार है—

'एकप्रयत्नोच्चार्याणां तच्छायां चैव बिभ्रताम्।
स्वरितादिगुणैर्भिन्नैर्बन्धः श्लिष्टमिहोच्यते॥
अलंकारान्तरगतां प्रतिभां जनयत् पदैः।
द्विविधैरर्थशब्दोक्तिविशिष्टं तत् प्रतीयताम्॥ ४।९, १०॥

इस विवेचन में 'एकप्रयत्नोच्चार्य' पद अन्य कुछ नहीं वामनाचार्य 'तन्त्र'-शब्द की व्याख्या है। लघुविवृतिकार प्रतीहारेन्दुराज ने लिखा भी—'ये तन्त्रेणोच्चारयितुं शक्यन्ते ते एकप्रयत्नोच्चार्याः।' तन्त्र का अर्थ करते हुए उन्होंने सूत्र भी 'साधारण भवेत् तन्त्रम्' यह उद्धृत किया है। उद्भट की उक्त प्रथम कारिका अपना पूरा अर्थ देने में असमर्थ है, अतः इसका भावार्थ मम्मटाचार्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'स्वरितादिगुणभेदाद् भिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां तदभावादभिन्नप्रयत्नोच्चार्याणां च शब्दानां बन्धे।'

—स्वरित आदि गुणों के भिन्न होने से भिन्न प्रयत्नों के द्वारा उच्चारण करने योग्य तथा उसके अभाव [स्वरितादि गुणों में भेद न होने] के कारण अभिन्न प्रयत्न के द्वारा उच्चारण योग्य जो शब्द उनका बन्ध०।' [काव्यप्रकाश उल्लास–९]।

रुद्रट ने जो पूर्वोद्धृत उदाहरण दिए हैं उनमें प्रतीहारेन्दुराज ने स्वरितादि स्वरों का अन्तर भी दिखलाया और तदनुसार अर्थभेद भी उसी प्रकार स्पष्ट किया है जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रु' आदि वैदिक शब्दों में किया जाता है। किन्तु उनका यह विश्लेषण छान्दससंस्कृत से भिन्न लौकिक संस्कृत की प्रवृत्ति से मेल नहीं खाता। अतः मम्मट ने 'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते = काव्य में स्वर की गणना नहीं की जाती' कहकर उसे छोड़ दिया। हम भी उसका विवेचन आवश्यक नहीं समझते।

रुद्रट—भामह, वामन और उद्भट ने श्लेष को शब्दगत मानते हुए उसे अर्थालंकारों में गिनाया था। रुद्रट ने उसे अलग-अलग भागों में विभक्त किया और शब्दश्लेष के वे आठों भेद काव्यालंकार के चतुर्थ अध्याय में उन्होंने बतलाए जो मम्मट ने काव्यप्रकाश के नवम उल्लास में दिखलाए हैं। इस विषय में मम्मट ने रुद्रट के ही विवेचन का सारसंक्षेप कर दिया है। केवल उदाहरण नवीन दिए हैं। उन्होंने एक नवम श्लेष भी माना है जिसे अभङ्गश्लेष कहा जा सकता है। पूर्ववर्ती आठ भेद की गणना में मम्मट ने रुद्रट को—

'वर्णपदलिङ्गभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानाम्।
अष्टार्य मतिमद्भिर्विधीयमानोऽष्टधा भवति॥'

इस कारिका को इसी रूप में—'स च वर्णपदलिंगभाषाप्रकृतिप्रत्ययविभक्तिवचनानां भेदादष्टधा' इस प्रकार उद्धृत कर दिया है। रुद्रट ने अर्थश्लेष को स्वतन्त्ररूप से दशम अध्याय में रखा है और उसमें श्लेष को एक अलंकार नहीं अपितु एक वर्ग माना है जिसके अन्तर्गत इन दस भेदों के नाम गिनाए हैं—अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असंभव, अवयव, तत्त्व तथा विरोधाभास। इनमें से प्रत्येक के उदाहरण देकर अन्त में इन भेदों के संकर तथा संसृष्टि से निष्पन्न भेदों का संकेत भी किया। संकर और संसृष्टि में भी व्यक्तत्व और अव्यक्तत्व दो-दो भेद किए हैं। स्पष्ट ही वे श्लेष को स्वतन्त्र अलंकार नहीं बतला सके और कदाचित् वे भी उद्भट के ही समान श्लेष को अन्य अलंकारों का अपवाद मानते हैं।

इन दसों भेदों में एक खटकने वाला तथ्य यह है कि रुद्रट ने जो उदाहरण दिए हैं उनमें से अनेक ऐसे हैं जिन्हें मम्मट के अनुसार शब्दश्लेष का उदाहरण ही माना जा सकता है यथा 'दुर्योधनोऽपि युधिष्ठिरः' यहाँ न तो दुर्योधन शब्द ही बदला जा सकता और न युधिष्ठिर शब्द ही, अतः उन्हीं के साथ अन्वयव्यतिरेक होने से श्लेष शब्दगत ही माना जाना चाहिए। [द्रष्टव्यः—रुद्रटप्रणीत काव्यालंकार, चौखंभा संस्करण तथा दिल्ली से छपा चौधरी संस्करण]।

मम्मट—मम्मटाचार्य ने श्लेष की तीनों समस्याओं की ठीक व्यवस्था कर सिद्धान्त स्थिर किया कि सभंग और अभंग दोनों ही श्लेष शब्द के ही अलंकार हैं और उन्हें शब्दालंकारों में ही गिनाया। साथ ही भामह, उद्भट और रुद्रट की नाईं श्लेष को अन्य अलंकारों का अपवाद मानने की भूल उन्होंने नहीं की। उन्होंने श्लेष की स्वतन्त्रता का अनुभव किया, भले ही वे उसका उदाहरण ठीक नहीं दे सके। उनका विवेचन तत् तत् प्रसङ्गों में यथास्थान उद्धृत किया जा चुका है।

सर्वस्वकार ने श्लेष का जो विवेचन किया है उसका झुकाव उद्भट की ओर अधिक है। यद्यपि विमर्शिनीकार यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं कि सर्वस्वकार ने उद्भट का मत युक्तियों द्वारा स्पष्ट कर उद्धृतमात्र किया है, उसे अपना स्वयं का मत नहीं माना है; तथापि ग्रन्थकार की प्रवृत्ति वैसी नहीं दिखाई देती। अन्वयव्यतिरेक को काटकर आश्रयाश्रयिभाव को निर्णायक मान अभङ्गश्लेष को अर्थश्लेष सिद्ध करते समय सर्वस्वकार ने उद्भट का अनुसरण किया ही देखा नहीं लगता। 'येन ध्वस्त०' पद्य में तुल्ययोगिता सिद्ध करने में सर्वस्वकार उसी प्रकार विफल हैं जिस प्रकार काव्यप्रकाशकार मम्मट 'देव त्वमेव०' पद्य में शुद्ध श्लेष। इसलिए मम्मट द्वारा प्रस्थापित श्लेष की स्वतन्त्रता भले ही उनके स्वयं के उदाहरण से सिद्ध न होती हो, उनके विरोधी आचार्य सर्वस्वकार के उदाहरण से अवश्य ही सिद्ध हो जाती है। फलतः श्लेष निरवकाश नहीं रह पाता। किन्तु अन्य अलङ्कारों में जहाँ श्लेष की मात्रा अधिक रहेगी वहाँ भी श्लेष को ही बाध्य मानने की ऐकान्तिकता भी अनुभवविरुद्ध होगी। फलतः 'उद्दामोत्कलिकाम्०' आदि पद्यों में मम्मट को पुनर्विचार करना होगा।

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्य महिमभट्ट ने भी श्लेष का विश्लेषण विस्तारपूर्वक किया है। वह भी उद्धृत किया जा चुका है। महिमभट्ट ने स्पष्टरूप से उद्भट का मत स्वीकार कर लिया है।

सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों में से शोभाकर, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज के मत उद्धृत किए जा चुके हैं। इनके सामान्यलक्षण ये हैं—

शोभाकर—'विशेष्यस्यापि साम्ये द्वयोर्वाच्यत्वे श्लेषः।'

—विशेषण के साथ विशेष्य भी यदि उभयार्थक हो और यदि उससे निकलने दोनों अर्थ वाच्य होते हों तो अलङ्कार श्लेष होता है।

अप्पयदीक्षित—'अनेकार्थशब्दविन्यासः श्लेषः। स त्रिविधः प्रकृतानेकविषयः, अप्रकृतानेकविषयः, प्रकृताप्रकृतानेकविषयश्च।

—'अनेकार्थक शब्दों का विन्यास श्लेष कहलाता है। वह तीन प्रकार का होता है, प्रथम—जिसमें अनेक अर्थों में से सभी प्रकृत होते हैं, द्वितीय—जिसमें सभी अप्रकृत और तृतीय—जिसमें दोनों होते हैं।' दीक्षितजी ने इनके उदाहरण भी अलग अलग दिए हैं। हम 'येन ध्वस्त०' पद्य को प्रथम दो का तथा तृतीय का उदाहरण विमर्शिनीकार द्वारा उद्धृत 'अतन्द्रचन्द्राभरणा—सानन्द न करोति कम्' पद्य माना जा सकता है। तृतीय में शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का अस्तित्व दीक्षितजी ने दूसरे प्रकार से साधा है। उसे आगे स्पष्ट करेंगे।

पण्डितराज—[सू०] 'श्रुत्यैकयानेकार्थप्रतिपादनं श्लेषः।'

[वृ०] 'तच्च द्वेधा, अनेकधर्मपुरस्कारेण, एकधर्मपुरस्कारेण च। आद्यं द्वेधा अनेकशब्दप्रतिभानद्वारा एकशब्दप्रतिभानद्वारा चेति त्रिविधः। तत्राद्यः सभङ्ग द्वितीयो ह्यभङ्ग ' इति वदन्ति। तृतीयस्तु शुद्धः। एवं त्रिविधोऽप्ययं प्रकृतमात्राप्रकृतमात्रप्रकृताप्रकृतोभयाश्रितत्वेन पुनस्त्रिविधः। तत्राद्ये भेदे द्वितीये च विशेष्यस्य श्लिष्टतायां कामचारः, तृतीयभेदे तु विशेषणवाचकस्यैव श्लिष्टत्वम्, न विशेष्यवाचकस्य, तथात्वे तु शब्दशक्तिमूलकध्वनेरुच्छेद एव स्यात्'।

—'एक शब्द के द्वारा अनेक अर्थों का प्रतिपादन श्लेष। वह दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें अनेक धर्मों का ज्ञान होता है और दूसरा वह जिसमें एक धर्म का। इनमें से प्रथम दो प्रकार का होता है (१) जिसमें अनेक शब्दों का भान होता है और (२) जिसमें केवल एक शब्द का। कुछ आचार्य दोनों में प्रथम को सभङ्ग और द्वितीय को अभंग नाम से पुकारते हैं। तृतीय शुद्ध [अर्थात् अर्थगत] होता है। ये तीनों श्लेष पुनः तीन प्रकार के होते हैं प्रकृताश्रित, अप्रकृताश्रित

और उभयाश्रित। इनमें से प्रथम और द्वितीय भेद में विशेष्यवाचक पद द्व्यर्थक हो या न हो किन्तु तृतीय में केवल विशेषणवाचक पदों में ही द्व्यर्थकता होती है विशेष्यवाचक पदों में नहीं। यदि विशेष्यवाचक में भी द्व्यर्थक हो तो शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का कोई स्थान ही नहीं रहेगा।'

विश्वेश्वर—'उभयविशेष्यान्वितयोरेकेन प्रोक्तिरर्थयोः श्लेषः।'

दोनों विशेष्यों में अन्वित अर्थों की एक शब्द के द्वारा उक्ति श्लेष कहलाती है।

समासोक्ति, श्लेष और शब्दशक्तिमूलक ध्वनि इन तीनों अनेकार्थक शब्दों द्वारा अनेक अर्थों की योजना रहती हैं, किन्तु समासोक्ति में अनेकार्थकता केवल विशेषणवाचक शब्दों में ही रहती है जब कि श्लेष और ध्वनि में विशेष्यवाचक शब्दों में भी। इस कारण समासोक्ति का द्वितीय अर्थ विशेष्यांश में पंगु रहता है। इसी प्रकार समासोक्ति और श० श० ध्वनि में एक अर्थ प्रस्तुत और अभिधा द्वारा कथित रहता है तथा द्वितीय अर्थ अप्रस्तुत और व्यंजना द्वारा प्रतीत, इसमें भी प्रस्तुत अभिधेय अर्थ ही नियमतः पहले प्रतीत होता है, अप्रस्तुत व्यंग्य अर्थ नियमतः पश्चात्, साथ ही द्वितीय अर्थ प्रथम अर्थ पर निर्भर रहता है। अतः दोनों में असम्बद्धता न रहकर संबन्ध ही रहता है। श्लेष में विशेष्य और विशेषण दोनों के वाचक शब्दों में द्व्यर्थकता या अनेकार्थकता रहने पर भी दोनों ही या सभी अर्थ श्लेष के प्रथम दो भेदों में या तो केवल प्रस्तुत होते हैं या केवल अप्रस्तुत, फलतः दोनों ही अर्थों का ज्ञान केवल एक ही वृत्ति से होता है, अभिधा से। इसके अतिरिक्त दोनों या सभी अर्थों की प्रतीति अभंग पदों का प्रयोग होने पर एक साथ हो जाती है और सभंग पदों का प्रयोग होने पर क्रम से, किन्तु इस क्रम से किसी भी अर्थ की प्रतीति पहले और किसी की भी बाद में मानी जा सकती है क्योंकि इन अर्थों में संबन्ध या सापेक्षता का अभाव रहता है। गाय के सिर पर निकले शृङ्गों के समान ये अर्थ परस्पर में निरपेक्ष रहते हैं। तृतीय भेद में एक अर्थ प्रकृत और दूसरा अप्रकृत माना जाता हैं तथापि उसमें समासोक्ति के समान विशेष्यांश में श्लेष नहीं रहता, उपमा रूपक आदि के समान विशेष्यों का कथन पृथक्-पृथक् शब्दों से होता है। अन्तर केवल श्लिष्ट विशेषणों की अनेकता या अधिकता और एकता या न्यूनता का रहता है। उपमादि में श्लिष्ट विशेषण केवल कुछ ही रहते हैं जब कि श्लेष में उन्हीं की भरमार रहती है। फलतः चमत्कार, उन्हीं का प्रधान हो जाता है। यद्यपि सर्वस्वकार एक भी श्लिष्टविशेषण हो तो श्लेष ही मान लेते हैं। अलंकाररत्नाकरकार ने समासोक्ति प्रकरण में यही भेद इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

'प्रकृतस्याथवान्यस्य विशेष्यस्याभिधायकम्।
समानं यत्र नो तत्र समासोक्तिर्, ध्वनिर्हि सः॥
विशेषणानां तुल्यत्वे विशेष्याणामपि क्वचित्।
अनेकार्थाभिधायित्वे श्लेषः स्यादिति निर्णयः॥'

अलंकाररत्नाकरकार ने विशेष्य की श्लिष्टता में भी जो श्लेषालंकार माना है वह श्लेष का वही तीसरा भेद है जिसमें सर्वस्वकार ने पूर्वाचार्यों के अनुकरण पर दोनों विशेष्यों का पृथक् उपादान आवश्यक माना है। अप्पयदीक्षित ने एक डग और भरी और इस तीसरे भेद में भी श्लेषप्रसिद्धि के लिए दोनों का पृथक् पृथक् उपादान आवश्यक मान, इस भेद में भी विशेष्य को श्लिष्ट स्वीकार कर लिया। तब शब्दशक्तिमूलक ध्वनि से श्लेष का अन्तर करने का प्रश्न उठा तो उत्तर में लिखा—

'यदत्र प्रकृताप्रकृतश्लेषोदाहरणे शब्दशक्तिमूलध्वनिमिच्छन्ति प्राञ्चः तत् प्रकृताप्रकृताभिधान-मूलकस्योपमादेरलंकारस्य व्यङ्ग्यत्वाभिप्रायकम्, न तु अप्रकृतार्थस्यैव व्यङ्ग्यत्वाभिप्रायकम्,

अप्रकृतार्थस्यापि शब्दशक्त्या प्रतिपाद्यस्याभिधेयत्वावश्यंभावेन व्यञ्जनानपेक्षणात्। यद्यपि प्रकृतेऽर्थे प्रकरणबलाज्झटिति बुद्धिस्थे सत्येव पश्चात् तत्तद्विषयकशक्त्यन्तरोन्मेषपूर्वकमप्रस्तुतार्थः स्फुरेत्, न चैतावता तस्य व्यङ्ग्यत्वम्, शक्त्या प्रतिपाद्यमाने सर्वथैव व्यञ्जनानपेक्षणात्।'

—प्राचीन आलंकारिक प्रकृताप्रकृतोभयाश्रित श्लेष के उदाहरण में जो शब्दशक्तिमूलक ध्वनि मानते हैं वह अभिधा द्वारा कथित प्रकृत और अप्रकृत दोनों की व्यङ्ग्य उपमादि [अलंकारों] के अभिप्राय से, न कि अप्रकृत अर्थ को व्यङ्ग्य मानकर; क्योंकि अप्रकृत अर्थ अभिधा द्वारा प्रतिपादित होता है अत उसे अभिधेय मानना आवश्यक है, फलतः उसको व्यञ्जना की कोई अपेक्षा नहीं है। यद्यपि प्रकृत अर्थ के साथ प्रकरण रहता है इस कारण उसका ज्ञान अविलम्ब हो जाता है और अप्रकृत का ज्ञान उसके पश्चात् होता है जब उसके विषय की दूसरी अभिधा का उत्थान होता है तथापि इतने भर से उसे व्यङ्ग्य नहीं कहा जा सकता। जहाँ प्रतीति अभिधा से होती है वहाँ व्यञ्जना की कोई अपेक्षा नहीं रहती।'

रसगंगाधर के द्वितीय आनन के आरम्भ में द्वितीय अर्थ की प्रतीति में प्रत्यायक शक्ति का निर्णय करते समय पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पयदीक्षित के इस मत को अपने शब्दों में अनेक विकल्पों और विविध ऊहापोहों द्वारा प्रस्तुत किया है। उनके उस लम्बे विवेचन का निष्कर्ष इतना ही है कि—'(१) नानार्थक शब्द के सुनाई देते ही सभी अर्थों का ज्ञान तत्काल अभिधाशक्ति के द्वारा ही हो जाता है, क्योंकि संकेत सभी अर्थों में गृहीत रहता है, (२) इसके पश्चात् यह संदेह होता है कि इस शब्द का तात्पर्य किस अर्थ में है, अर्थात् इन सभी अर्थों में से वाक्यार्थ के लिए उपयुक्त अर्थ कौन है, (३) जिसका निर्णय प्रकरणादि से हो जाता है, तदनन्तर (४) दो में कोई एक बोध होता है या तो एकार्थमात्रविषयक पुनर्बोध या उसके बिना ही सीधे-सीधे वाक्यार्थबोध। इस प्रकार दोनों ही अर्थों का ज्ञान पहले से ही अभिधा द्वारा हुआ रहता है, दूसरे अर्थ में व्यञ्जना मानना ठीक नहीं है।'

पुनर्बोध मानने का संकेत अप्पयदीक्षित ने भी किया है जहाँ उन्होंने [यहीं उद्धृत अंश में] दूसरी शक्ति के उन्मेष की बात कही है। वस्तुतः जब सभी अर्थों का बोध पहले ही हो चुका है तब किसी एक अर्थ का पुनर्बोध न होकर पहले से ज्ञात उस एक अर्थ के भीतर वाक्यार्थोपयोगित्व-मात्र का नवीन बोध होता है, इसलिए पण्डितराज ने द्वितीय पक्ष को प्रथम पक्ष के संशोधन के रूप में प्रस्तुत किया है। मम्मट आदि सभी आचार्य पुनर्बोधवादी हैं। अप्पयदीक्षित और पण्डित-राज का कहना है कि पुनर्बोध हो या सीधा वाक्यार्थबोध, ये दोनों प्रश्न अनेक अर्थों में से किसी एक अर्थ से संबन्धित हैं। जहाँ तक द्वितीय अर्थ का संबन्ध है उसका ज्ञान अभिधा द्वारा पहले ही हो चुका रहता है अत उसमें व्यंजना मानना आवश्यक नहीं है। हाँ अभिधा द्वारा विदित दोनों अर्थों के संबन्ध में अवश्य व्यंजना मानी जा सकती है। मम्मट आदि द्वितीय अर्थ का ज्ञान भी व्यञ्जना द्वारा मानते हैं। तदर्थं वे ऐसा उदाहरण देते हैं जिसमें प्रकरण का ज्ञान पहले से रहता है। उनका कहना है कि वहाँ अभिधा प्रकरणोपयोगी अर्थ की ही ओर प्रवृत्त हो पाती है। वाक्यार्थ-बोध होने के पश्चात् अप्राकरणिक अर्थ का ज्ञान भी होने लगता है किन्तु उसमें अभिधा क्रियान्वित नहीं होती क्योंकि वह प्रकरण द्वारा नियन्त्रित हो जाती है। सर्वस्वकार भी ऐसा ही उदाहरण देते हैं। 'सद्य कौशिक०' पद्य का हरिश्चन्द्रपरक अर्थ पूरा नाटक पढ लेने के पश्चात् पद्य को पुन पढने अथवा नाटक की कथावस्तु प्रसिद्ध होती है इसलिए उसका पहले से ध्यान रहने के कारण होता है। पण्डितराज का कथन है कि प्रकरण ज्ञान रहने पर भी यदि द्व्यर्थक शब्द उपस्थित है तो उससे दूसरा अर्थ अलग शक्ति से निकलना माना जाना ठीक नहीं है। प्रकरण या इससे उत्पन्न तात्पर्यनिर्णय अभिधा का नियन्त्रण नहीं करते, वे किसी एक अर्थ का निर्णय करा-

कर वाक्यार्थबोध में सहायकमात्र बनते हैं। इस विषय पर हमारा अपना मत हमने हमारे हिन्दी व्यक्तिविवेक की भूमिका में स्पष्ट कर दिया है। इस विषय में हमें व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का सिद्धान्त ही स्वीकार है। व्यंजना का शब्दवृत्तित्व तत्त्वचिन्तन से परे एक निरी भावुकता है। व्यंजना के शब्दवृत्तित्व का खण्डन हमने अपने एक अन्य लेख 'साहित्य-संप्रदाये तात्पर्यस्वरूपम्' में भी किया है। देखिए सारस्वती सुषमा २४।३ अंक।

संजीविनीकार श्री विद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्वकार के संपूर्ण विवेचन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'शब्दसाम्यं भवेच्छ्लेषो विशेषणविशेष्ययोः।
यद्येकोऽप्रकृतोऽर्थस्तेद् भेदांशे भिन्नशब्दता॥
शब्दार्थोभयनिष्ठोऽयं सर्वालङ्कारबाधकः।
पूर्वसिद्धस्य चेदङ्गं तदा न्यायेन बाध्यते॥'

—'शब्दसाम्य [शब्दों की अनेक पक्षों में समानार्थकता] श्लेष कहलाता है, किन्तु यह साम्य विशेषण और विशेष्य दोनों में रहता है। अनेक अर्थों में से यदि कोई अर्थ प्राकरणिक हो तो विशेष्यांश अलग-अलग शब्दों से कथित रहते हैं।

—यह [श्लेष] शब्द में रहता है और अर्थों में भी तथा यह [अन्य] सभी अलंकारों का बाधक है। [हां, यदि कोई अलंकार पहले से सिद्ध हो तो श्लेष उस] से बाधित हो जाता है यदि [श्लेष] उस [पूर्वसिद्ध अलंकार] का अंग हो।'

संजीविनीकार ने सारसंक्षेप की इन कारिकाओं के तुरन्त बाद अपना विरोध भी प्रकट कर दिया है और अपना मत मम्मट के पक्ष में दे दिया है।

भाषाशास्त्र भी श्लेष पर विचार करता है किन्तु उसकी विचारभूमिका अर्थपरिवर्तन के कारणों से संबन्धित है, अलंकारशास्त्र उससे भिन्न परिवर्तित अर्थों अथवा विकसित अर्थों की चमत्कार-भूमिका से विचार आरम्भ करता है। इस प्रकार भाषा एक सुन्दरी है। भाषाशास्त्र उसके वंश पर विचार करता है और अलंकारशास्त्र उसके सौन्दर्य पर। कविता एक लता है और भाषाशास्त्र वनस्पतिशास्त्र जो लता के निष्पादक तत्त्वों की गवेषणा करता है। अलंकारशास्त्र मनःशास्त्र है जो यह खोजता है कि लता अपने किस अंग के सौन्दर्य से दर्शक को आकृष्ट और आनन्द-विभोर कर रही है।

[सर्वस्व]

प्रस्तुतादप्रस्तुतप्रतीतौ समासोक्तिरुक्ता। अधुना तद्वैपरीत्येनाप्रस्तुतात् प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसोच्यते—

[सू० ३५] अप्रस्तुतात् सामान्यविशेषभावे कार्यकारणभावे सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा।

इहाप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तम्, अप्रस्तुतत्वात्। प्रस्तुतपरत्वे तु कदाचित् तद् युक्तं स्यात्। न चाप्रस्तुतादसंबन्धे प्रस्तुतप्रतीतिः, अतिप्रसङ्गात्। संबन्धे तु भवन्ती त्रिविधं संबन्धमतिवर्तते, तस्यैवार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वोपपत्तेः। त्रिविधश्च संबन्धः—सामान्यविशेषभावः कार्यकारणभावः सारूप्यं चेति। सामान्यविशेषभावे सामान्याद् विशेषस्य विशेषाद् वा सामान्यस्य प्रतीतौ द्वैविध्यम्, कार्यकारणभावेऽप्यनयैव भङ्ग्या

द्विधात्वम्, सारूप्ये त्वेको भेद इत्यस्याः पञ्च प्रकाराः। तत्रापि सारूप्यहेतुके भेदे साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्वैविध्यम्। वाच्यस्य संभवासंभवोभयरूपताभिस्त्रयः प्रकाराः। श्लिष्टशब्दप्रयोगे त्वर्थान्तरस्यावाच्यत्वाच्छ्लेषाद् विशेषः। श्लेषे ह्यनेकस्यार्थस्य वाच्यत्वमित्युक्तम्।

प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति होने पर समासोक्ति होती है और उसके [ठीक] विपरीत अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा। समासोक्ति का निर्वचन किया जा चुका है। अप्रस्तुतप्रशंसा का निर्वचन अब आरम्भ करते हैं—

[सूत्र ३५] अप्रस्तुत से सामान्य विशेषभाव, कार्यकारणभाव अथवा सादृश्य सम्बन्ध होने पर प्रस्तुत की प्रतीति हो तो [अलङ्कार की संज्ञा] अप्रस्तुतप्रशंसा [होती है]॥

[वृत्ति] यहाँ [अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति की जो यह बात है इसमें] अप्रस्तुत का वर्णन [सामान्यतः] अनुचित ही होता है। यदि वह [अप्रस्तुत] प्रस्तुतपरक हो तो कदाचित् [उसका वर्णन] उचित हो सकता है। इधर अप्रस्तुत से प्रस्तुत की प्रतीति तब तक सम्भव नहीं जब तक [उनका] कोई सम्बन्ध न हो क्योंकि बिना संबन्ध के प्रतीति मानने पर किसी से भी किसी की भी प्रतीति सम्भव होगी। सम्बन्ध से होने पर भी [उक्त] तीन प्रकार के सम्बन्ध को छोड़ अन्य किसी सम्बन्ध से वह संभव नहीं होगी, क्योंकि वही [तीन प्रकार का ही सम्बन्ध] अन्य अर्थ की प्रतीति कराने में समर्थ [हेतु] बन पाता है। तीन प्रकार का सम्बन्ध है [१] सामान्यविशेषभाव [२] कार्यकारणभाव तथा [३] सादृश्य। सामान्यविशेषभाव संबन्ध में या तो सामान्य से विशेष की प्रतीति होती है या विशेष से सामान्य की, इसलिए यह दो प्रकार का हो जाता है। कार्यकारणभाव में भी इसी प्रकार दो प्रकार होते हैं [कारण से कार्य की प्रतीति या कार्य से कारण की प्रतीति]। सादृश्य में केवल एक ही प्रकार होता है। इस प्रकार इस [अप्रस्तुतप्रशंसा] के [मूल] भेद [केवल] पाँच होते हैं। इनमें भी जो भेद सादृश्यमूलक होता है उसमें भी दो भेद होते हैं साधर्म्यमूलक और वैधर्म्यमूलक। [इनमें] वाच्य अर्थ भी तीन प्रकार का होता है [१] संभव, [२] असम्भव और [३] उभयरूप। [इसमें जहाँ कहीं] श्लिष्ट शब्दों का प्रयोग होता है वहाँ दूसरा अर्थ वाच्य नहीं होता अतः यह श्लेष से भिन्न है। श्लेष में, जो है सो, पूरा का पूरा अर्थ वाच्य ही होता है जैसा कि [श्लेषप्रकरण में अभी-अभी] कहा जा चुका है।

विमर्शिनी

प्रस्तुतेति समनन्तरम्। यत्तु समासोक्त्यनन्तरं परिकरश्लेषयोर्वचनं तद् विशेषणसाम्यादिना प्रसङ्गागतम्। तामेवाह—अप्रस्तुतादित्यादि। नन्विहाप्रस्तुतस्य वर्णनमेवायुक्तमिति कथं तस्मादपि प्रस्तुतस्य प्रतीतिर्भवतीत्याशङ्क्याह—इहेत्यादि। तदिति, अप्रस्तुतवर्णनम्। अतिप्रसङ्गादिति सर्वस्मात् सर्वप्रतिपत्त्यापत्तेः। तस्यैवेति त्रिविधस्य संबन्धस्य। सामान्यस्य विशेषाश्रयत्वाद् विशेषस्य च सामान्यनिष्ठत्वात् सामान्यविशेषयोः परस्परमागूरणे संबन्धः। एवं च कार्यस्य कारणपरतन्त्रत्वादन्यथासिद्धस्य कारणस्य कार्योन्मुखत्वात् कार्यकारणयोरपि संबन्धः। इत्थमेतत् संबन्धद्वयं वास्तवम्। सारूप्यं पुनः प्रातीतिकमेव। प्रतीतावेव सदृशेन वस्त्वन्तरेण सदृशस्य वस्त्वन्तरस्य प्रतीतिसिद्धेः। वस्तुत्वे हि वस्त्वन्तरप्रतीत्या वस्त्वन्तरप्रतीतिर्न स्यात्। अनयैव भङ्ग्येति कारणात्

कार्यस्य कार्याद् वा कारणस्य प्रतीतौ। तत्रापीति सत्यपि पञ्चप्रकारत्वे। श्लिष्टशब्दप्रयोग इति। श्लिष्टशब्दनिबन्धनाप्यप्रस्तुतप्रशंसा भवतीत्यनुवादाद् विधिः। अत एवास्य बहुप्रकारत्वमुक्तम्।

उक्ता—समासोक्ति का निर्वचन किया जा चुका है अर्थात् अभी-अभी। समासोक्ति के बाद [तुरन्त पश्चात् अप्रस्तुतप्रशंसा का निर्वचन न कर बीच में] परिकर और श्लेष का जो निर्वचन किया गया है वह विशेषणसाम्य आदि के कारण आनुषङ्गिक रूप से किया गया है। उसी [अप्रस्तुतप्रशंसा] का लक्षण सूत्ररूप में प्रस्तुत करते हैं—अप्रस्तुतात् इत्यादि।

[प्रश्न]—जब यहाँ [काव्य में] अप्रस्तुत का वर्णन संभव ही नहीं है तब उससे प्रस्तुत की भी प्रतीति कैसे होगी इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं इह इत्यादि। तत् = वह अर्थात् अप्रस्तुत का वर्णन। अतिप्रसङ्ग = सभी से सभी अर्थों की जो प्रतीति तत्स्वरूप। तदयैव = वही = त्रिविध सम्बन्ध। सामान्य और विशेष का परस्पर की व्यंजना में सम्बन्ध रहता है क्योंकि सामान्य विशेष पर आश्रित रहता है और विशेष सामान्य पर। इसी प्रकार कार्य भी कारण के बिना निष्पन्न नहीं होता और कारण भी अपनी अन्तिम [परिणति की] अवस्था में कार्यरूप में परिणत होने वाला होता है अतः इनका भी परस्पर में सम्बन्ध है। इस प्रकार ये जो दो सम्बन्ध हैं ये दोनों वास्तविक हैं। किन्तु सारूप्य = सादृश्य काल्पनिक ही होता है, क्योंकि समानवस्तु की प्रतीति होने पर ही तत्समान अन्य वस्तु की प्रतीति होती है। यदि यह वास्तविक हो तो अन्य वस्तु की प्रतीति से अन्य वस्तु की प्रतीति न हो। 'अनयैव भङ्ग्या = इसी प्रकार' अर्थात् कारण से कार्य की और कार्य से कारण की प्रतीति होने से। 'तत्रापि = इनमें भी' अर्थात् ये पाँच मूल भेद होने पर भी। 'श्लिष्टशब्दप्रयोगे = श्लिष्टशब्द का प्रयोग होने पर' इस अनुवादात्मक [अनुद्देश्यभावपूर्ण] कथन से यह विधि निकलती है कि अप्रस्तुतप्रशंसा श्लेषमूलक भी होती है। और इस कारण इसके और भी अनेक प्रकार संभव बतलाए हैं।

[सर्वस्व]

तत्र सामान्याद् विशेषस्य प्रतीतौ यथा—

> 'तण्णत्थि किंपि पइणो पकप्पिअं जं ण णिअइघरणीए।
> अणवरअगमणसीलस्स कालपहिअस्स पाहिज्जं॥'

अत्र प्रहस्तवधे विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम्।

उक्त भेदों में से सामान्य से विशेष की प्रतीति का उदाहरण—

> 'तन्नास्ति किमपि पत्युः प्रकल्पितं यन्न नियतिगेहिन्या।
> अनवरतगमनशीलस्य कालपथिकस्य पाथेयम्॥

'ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे नियतिरूपी गेहिनी ने अपने अनवरत गतिशील कालपथिकरूपी पति के लिए पाथेय (रास्ते का कलेवा) न बना दिया हो।'

यहाँ प्रहस्तवधरूपी विशेष अर्थ प्रस्तुत है और कहा गया है सामान्य अर्थ।

विमर्शिनी

प्रस्तुत इति। प्रहस्तवधवर्णनस्यैव प्रक्रान्तत्वात्। अत्र वाक्यान्तरोपात्ते विशेषात्मनि प्रस्तुते प्रहस्तवधे नियतिकर्तृकत्वं सामान्याभिधानमर्थान्तरन्यास इत्यन्ये मन्यन्त इत्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते। यथा—

> 'दुर्जनदूषितमनसां पुंसां सुजनेऽपि नास्ति विश्वासः।
> बालः पायसदग्धो दध्यपि फूत्कृत्य भक्षयति॥'

अत्र केनापि दुर्जनेन विप्रलब्धस्य कस्यचित् सुजनविशेषे विस्रम्भो न जायते तस्य सुजनस्येयं विशेषे प्रस्तुते सामान्योक्तिः।

प्रस्तुत क्योंकि प्रकरण प्रहस्त के वध का ही चल रहा है। इस पद्य में अन्य आचार्य [अलंकाररत्नाकरकार] यह मानते हैं कि 'यहाँ विशेषरूप और प्रस्तुत प्रहस्तवध अन्य वाक्यों से कथित है इस कारण नियतिकर्मरूप सामान्य अर्थ का कथन अर्थान्तरन्यास ही है'। इसी कारण वे अप्रस्तुतप्रशंसा के इस भेद पर यह एक दूसरा उदाहरण देते हैं—

'जिन पुरुषों का मन दुर्जनों से दूषित हो जाता है वे सुजनों का भी विश्वास नहीं करते। दूध से जला बालक दही को भी फूँककर खाता है।'

यहाँ विशेष प्रस्तुत है और तदर्थ यह अप्रस्तुत सामान्य की उक्ति है क्योंकि यह किसी दुर्जन द्वारा ठगे गए अतएव किसी सुजन पर भी विश्वास न कर रहे व्यक्ति के प्रति उसी सुजन की उक्ति है।

[वस्तुतः अप्रस्तुतप्रशंसा इसी पद्य में नहीं है, इसमें रूपकानुप्राणित दृष्टान्तालङ्कार है दुर्जन, सुजन और साधारण व्यक्ति का गरम दूध, दही और बालक के साथ सामान्यविशेषभाव नहीं है। बिम्बप्रतिबिम्बभाव ही हो सकता है। अतः यहाँ अर्थान्तरन्यास भी नहीं है। 'तत्रास्ति' पद्य अपने आपमें अप्रस्तुतप्रशंसा हो सकती है। विशेष अर्थ का ज्ञान इस वाक्य से नहीं होता, अन्य वाक्यों से होने पर भी उसका प्रभाव इस पर नहीं पड़ता क्योंकि विशेष का ज्ञान जिस किसी प्रकार तो पहले से रहना अपेक्षित ही है वह चाहे वाक्यान्तर से हो या प्रत्यक्ष, प्रकरण आदि से।]

[सर्वस्व]

विशेषात् सामान्यप्रतीतौ यथा—

'एतत् तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनै
स्तत्रोड्डीय गतो हहेत्यनुदिनं निद्राति नान्तःशुचा॥'

अत्र जडानामस्थाने प्रयोगम इति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः।

कारणात् कार्यप्रतीतौ यथा—

'पश्यामः किमियं प्रपद्यत इति स्थैर्यं मयालम्बितं
किं मां नालपतीत्ययं खलु शठः कोपस्तयाप्याश्रितः।
इत्यन्योन्यविलक्षदृष्टिचतुरे तस्मिन्नवस्थान्तरे
सव्याजं हसितं मया धृतिहरो बाष्पस्तु मुक्तस्तया॥'

अत्र धाराधिरूढो मानः कथं निवृत्त इति कार्ये प्रस्तुते निवृत्तिकारणमभिहितम्।

कार्यात् कारणप्रतीतौ यथा—

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमरुचिः श्यामेव हेमप्रभा।
कार्कश्यं कलयामि कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव॥'

अत्र संभाव्यमानैरिन्द्वादिगतैरञ्जनलिप्तत्वादिभिः कार्यरूपैरप्रस्तुतैर्लोकोत्तरो वदनादिगतः सौन्दर्यातिशयः कारणरूपः प्रस्तुतः प्रतीयते। तेनेयमप्रस्तुतप्रशंसा।

[अप्रस्तुत] विशेष से [प्रस्तुत] सामान्य की प्रतीति यथा—

'उसके मुख से इतना जो तुमने सुना है कि वह जड़ [मूर्खव्यक्ति] कमलपत्र पर पड़ी पानी की बूँद को मुक्तामणि मान बैठा' यह कौन बड़ी बात है, इससे भी बड़ी बात [एक और है उसे] सुनो कि [एक दूसरा जड़] उसे उठाने लगा किन्तु ज्योंही [उसने] उंगली के अग्रभाग से भी और बड़ी ही बारीकी के साथ भी उसे छुआ वह [बूँद पत्ते पर से लुढ़क कर पानी में मिल गई और इस प्रकार] लुप्त हो गई। इसका उसे इतना शोक है कि कितने ही दिनों से उसे नींद नहीं आ रही है। वह मन ही मन हाय हाय कर रहा है कि मेरा मोती उड़ गया।'

—इस पद्यार्थ में वक्तव्य तो है यह सामान्य वस्तु कि जो जड़ या नासमझ होते हैं वे कहीं भी कुछ भी करने लगते हैं किन्तु कथन [किसी व्यक्ति] विशेष का किया गया है। [यही पद्य काव्यप्रकाशकार ने भी दिया है किन्तु वहाँ 'तत्र' के स्थान पर 'कुत्र = कहाँ उड़ गया' यह पाठ है। 'शृण्वन्यदस्मादपि' का पदच्छेद 'शृणु अन्यत् अस्मादपि' भी किया जा सकता है और 'शृण्वन् यद् अस्मादपि = कि इससे सुनते हुए भी' द्वितीय पदच्छेद में 'भी—अपि' व्यर्थ होगा और भी अनेक दोष आ जाएँगे।]

[अप्रस्तुत] कारण से [प्रस्तुत] कार्य की प्रतीति होने पर यथा—

'मैं तो यह सोचकर झूठे ही गम्भीर हो गया कि देखूं यह क्या करती है, और वह भी यह सोचकर कुपित हो गई कि एक तो यह छिपकर दूसरी से मिला और ऊपर से बातचीत भी बन्द किए बैठा है। इस विपरीत स्थिति में हम दोनों [कुछ देर तक तो] झुकी निगाहों से [एक दूसरे को] बड़ी ही सफाई के साथ देखते रहे, बाद में, मैं, किसी बहाने हंस पड़ा और उसका भी धीरज टूट गया और आँसू बह निकले।'

—यहाँ [जिज्ञासा तो थी] 'देर तक प्रवृत्त मान हट गया ?' इस प्रकार कार्य [के विषय में अतः] कार्य [ही] प्रस्तुत था किन्तु कहा गया है 'हट जाने' का कारण।

[अप्रस्तुत] कार्य से [प्रस्तुत] कारण की प्रतीति, यथा—

'सीता के समक्ष चन्द्रमा मानों काजल से पुता हुआ है, मृगियों की दृष्टि मानों स्तब्ध है, मूंगे की कान्ति की अरुणता मानों कुम्हला गई है, सुवर्ण की कान्ति मानों काली पड़ गई है, कोयल की कूक में कर्कशता दिखाई देती है, क्या कहें, अब मोरों [मयूरपिच्छ] निन्दास्पद प्रतीत हो रहे हैं।'

यहाँ चन्द्रमा आदि में जिन कज्जललिप्तत्व आदि की संभावना की जा रही है वे कार्यरूप हैं और अप्रस्तुत हैं। इनसे इनका कारण सीताजी के मुख आदि का लोकोत्तर और अतिशायी सौन्दर्य जो वर्णनीय होने से प्रस्तुत है, प्रतीत होता है। इस कारण यहाँ अप्रस्तुत प्रशंसा है [उत्प्रेक्षा नहीं]।

विमर्शिनी

तेनेति। अप्रस्तुतात् कार्यात् प्रस्तुतस्य कारणस्य प्रतीतेः। यथा वा—

अनेन सार्धं सरयूवनान्ते कूजन्मयूरीमुखरे विहृत्य।
विलासवातायनसेवनेन श्लाघ्यामयोध्यां नगरीं विधेहि॥

अत्र स्वयंवराख्ये कारणे प्रस्तुते कार्यस्याभिधानम्।

ननु चात्र कार्यात् कारणस्य प्रतीतौ यदि अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात् तद् वक्ष्यमाणस्य पर्यायोक्तालंकारस्य को विषय इत्याह—नन्वित्यादि।

'तेन = इस कारण' क्योंकि यहाँ अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कारण की प्रतीति हो रही है। अथवा दूसरा उदाहरण—

'सखि! तुम मोरनियों की बोली से मुखर सरयू तट के वन उपवनों में [स्वयंवर में आए] इस [राम के बराबर कुमार] के साथ विहार करने के पश्चात् विलास वातायन [विलासार्थ निर्मित भवन की खिड़की] का सेवन करके अयोध्यापुरी को श्लाघ्य बनाओ।' [विक्रमाङ्कदेव चरित ९।९१]।

यहाँ स्वयंवररूपी कारण प्रस्तुत है किन्तु कथन किया गया है [उससे होने वाले विहारादि] कार्य का [यह उदाहरण विमर्शिनीकार ने अलङ्काररत्नाकर से लिया है 'अत्र स्वय - कार्यस्याभिधानम्' यह पूरी पंक्ति अलङ्काररत्नाकर से उद्धृत पंक्ति है निर्णय सागर संस्करण में इस पद्य के पहले और 'नन्विति' के बाद आई पंक्ति तथा इस पंक्ति में कारण शब्द के स्थान कार्य शब्द छपा है, तथा कार्यशब्द के स्थान पर कारण शब्द जो सर्वथा असंगत है।]

यदि 'इस कार्य से कारण की प्रतीति' भेद में [अलङ्कार] होगी अप्रस्तुतप्रशंसा तो आगे कहे जाने वाला पर्यायोक्तालङ्कार कहाँ होगा'—इस शंका पर उत्तर देते हुए कहते हैं

[सर्वस्व]

ननु कार्यात् कारणे गम्यमानेऽप्रस्तुतप्रशंसायामिष्यमाणायाम्—

> 'येन लम्बालकाः सास्राः कराघातारुणस्तनाः।
> अकारि भग्नवलयो गजासुरवधूजनः॥' इति,

तथा—

> 'चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य।
> आलिङ्गनोद्दामविलासशून्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम्॥'

इत्यादौ सुप्रसिद्धे पर्यायोक्तविषयेऽप्रस्तुतप्रशंसायोगः। अत्र हि गजासुरवधूगतेन लम्बालकत्वादिना कार्येण कारणभूतो गजासुरवधः प्रतीयते। तथा राहुवधूगतेन विशिष्टेन रतोत्सवेन राहुशिरश्छेदः कारणरूपो गम्यते। एवमन्यत्रापि पर्यायोक्तविषये ज्ञेयम्। तस्मादप्रस्तुतप्रशंसाविषयत्वात् पर्यायोक्तस्य निर्विषयत्वप्रसङ्ग। नैष दोषः। इह यत्र कार्यात् कारणं प्रतीयते। तत्र कार्यं प्रस्तुतमप्रस्तुतं चेति द्वयी गतिः। तत्र यत्र प्रस्तुतत्वं कार्यस्य कारणवत् तस्यापि वर्णनीयत्वात् तत्र कार्यमुखेन कारणं पर्यायोक्तमिति पर्यायोक्तालंकारः। तत्र हि कारणापेक्षया कार्यस्यातिशयेन सौन्दर्यमिति तदेव वर्णितम्। यथोक्तोदाहरणद्वये। गजासुरवधूवृत्तान्तोऽपि भगवत्प्रभावजन्यत्वात् प्रस्तुत एव। एवं राहुवधूवृत्तान्तेऽपि ज्ञेयम्। ततश्च नायमप्रस्तुतप्रशंसाविषयः। यत्र पुनः कारणस्य प्रस्तुतत्वे कार्यमप्रस्तुतं वर्ण्यते

तत्र स्पष्टैवाप्रस्तुतप्रशंसा। यथा—'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन' इत्यादौ। अत्र हि इन्द्वादयः स्फुटमेवाप्राकरणिकाः। तत्प्रतिच्छन्दभूतानां मुखादीनां प्राकरणिकत्वात्। तेनात्रेन्द्वादिगतेनाञ्जनलिप्तत्वादिना अप्रस्तुतेन कार्येण प्रस्तुतं मुखादिगतं सौन्दर्यं सहृदयाह्लादकारि गम्यते इत्यत्राप्रस्तुतप्रशंसा। एवं च यत्र वाच्योऽर्थोऽर्थान्तरं तादृशमेव स्वोपस्कारकत्वेनागूरयति तत्र पर्यायोक्तम्, यत्र पुनः स्वात्मानमेवाप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतमर्थान्तरं प्रति समर्पयति तत्राप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः। ततश्चानया प्रक्रियया

'राजन् राजसुता न पाठयति मां देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे भोजय मां कुमार सचिवैर्नाद्यापि संभुज्यते।
इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते॥'

इत्यत्र पर्यायोक्तमेव बोध्यम्। अन्ये तु 'दण्डयात्रोद्यतं त्वां बुद्ध्वा त्वदरयः पलाय्य गता इति कारणरूपस्यैवार्थस्य प्रस्तुतत्वात् कार्यरूपोऽर्थोऽप्रस्तुत एव राजशुकवृत्तान्तस्याप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतार्थं प्रति स्वात्मानं समर्पयतीत्यप्रस्तुतप्रशंसैवात्र न्याय्येति वर्णयन्ति। सर्वथा पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसयोर्विषयविभागः सुनिरूपित एवेति स्थितम्। एतानि साधर्म्योदाहरणानि।

शंका—यदि कार्य से कारण की [व्यञ्जना द्वारा] प्रतीति होने पर अप्रस्तुतप्रशंसा अभीष्ट है तो

—जिस [शिव] ने गजासुर की स्त्रियों के केश लटका दिए, आँसू बहा दिए, स्तन हथेलियों के आघातों से लाल कर दिए और चूड़ियाँ तुड़वा दीं।' इस तथा—

—जिस [विष्णु] ने [अपने] चक्र [सुदर्शन] को आघात की एकाएक आज्ञा देकर ही राहु की स्त्रियों के रतोत्सव को आलिंगन के उद्दाम विलास से शून्य और केवल चुम्बनमात्र तक सीमित कर दिया।'

इन जैसे पर्यायोक्तालंकार के सुप्रसिद्ध स्थलों में भी अप्रस्तुतप्रशंसा का व्यवहार होने लगेगा। यहाँ भी गजासुर-अंगना केश लटकने आदि कार्य से उसके कारण गजासुर-वध की प्रतीति होती है। इसी प्रकार राहुवधूगत विशिष्ट रतोत्सव [रूपी कार्य] से कारणरूप राहुशिरश्छेद की प्रतीति होती है। यही स्थिति पर्यायोक्त अलंकार के अन्य उदाहरणों में भी मानी जा सकती है। इस प्रकार [कार्य से कारण की प्रतीति वाले स्थलों को] अप्रस्तुतप्रशंसा का विषय मानने पर पर्यायोक्तालंकार का कोई स्थल ही नहीं रह पायगा।

उत्तर—यह दोष नहीं आता। यहाँ [इन दोनों अलंकारों में] जहाँ कार्य से कारण की प्रतीति होती है वहाँ कार्य दो प्रकार का होता है प्रस्तुत या अप्रस्तुत। उन [दोनों] में से जहाँ कारण के समान कार्य भी वर्णनीय होता है अतः कार्य प्रस्तुत रहता है वहाँ पर्यायोक्तालंकार होता है क्योंकि वहाँ कारण का प्रकारान्तर से अर्थात् कार्य के द्वारा कथन रहता है, साथ ही वहाँ कारण की अपेक्षा कार्य का सौन्दर्य सातिशय होता है इसलिए उसी का वर्णन किया जाता है, जैसे [पर्यायोक्त के] उक्त दोनों उदाहरणों में। इन [उदाहरणों में से प्रथम उदाहरण]

में गजासुर की स्त्रियों की दशा भी [वर्णनीय अत एव] प्रस्तुत ही है, क्योंकि वह भी भगवान् [शिव] के ही प्रभाव से जनित है। इसी प्रकार राहु स्त्रियों की दशा भी [प्रस्तुत ही] समझी जानी चाहिए। इसी कारण ये स्पष्ट अप्रस्तुतप्रशंसा के नहीं माने जा सकते। जहाँ कहीं कारण प्रस्तुत रहता है और कार्य अप्रस्तुत, साथ ही वर्णन अप्रस्तुत कार्य का किया जाता है वहाँ स्पष्ट ही अप्रस्तुतप्रशंसा रहती है [उसमें पर्यायोक्त की संभावना कथमपि नहीं रहती] जैसे 'इन्दु' इत्यादि पद्य में। इस पद्य में स्पष्ट ही इन्दु आदि अप्रस्तुत हैं क्योंकि उनके प्रतिपक्षी मुख आदि ही यहाँ प्रस्तुत [वर्णनीय] हैं। इसलिए यहाँ इन्दु आदि में वर्णित अञ्जन-लिप्तत्व [काजल से लिपा हुआ होना] आदि जो अप्रस्तुत कार्य हैं उनमें मुखादि के भीतर [कारणरूप] सौन्दर्य प्रतीत होता है। और वही सहृदय-हृदय में आनन्दानुभूति जगाता है। इसलिए यहां अप्रस्तुतप्रशंसा है। इस प्रकार निर्णय यह हुआ कि पर्यायोक्त वहाँ होता है जहाँ वाच्य अर्थ अपने ही जैसे [वाच्यरूप से प्रतीत] अन्य अर्थ को अपनी शोभा बढ़ाने वाले अर्थ के रूप में व्यञ्जित करता है, किन्तु जहाँ वह [वाच्य अर्थ] अप्रस्तुत होने के कारण स्वयं को ही [व्यञ्जना से प्रतीत] प्रस्तुत अर्थ के प्रति समर्पित कर देता है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। और इस प्रक्रिया के अनुसार—

राहगीरों द्वारा पिंजरे से उड़ाया रायसुआ आपके शत्रुओं के भवनों में शून्य छज्जे पर लिखित एक एक के पास आकर कहा करता है—'राजन्, राजकुमारी मुझे पढ़ा नहीं रही, रानियाँ भी चुप हैं, अरी कुब्जी ! खिला मुझे, कुमार ! मित्रों के साथ अभी तक भोजन नहीं हो रहा'।

—'इस वाक्यार्थ में पर्यायोक्त ही समझना चाहिए। [काव्यप्रकाशकार आदि] अन्य [आलंकारिक] इसके विरुद्ध यह कहते हैं कि यहाँ प्रस्तुत है—'आपको युद्ध यात्रा के लिए उद्यत जान आपके शत्रु भाग गए हैं' यह कारण रूप अर्थ [वक्त राजशुकवृत्तान्तात्मक] कार्य रूपी अर्थ अप्रस्तुत है, क्योंकि रायसुए की स्थिति का जो वर्णन है वह अप्रस्तुत है [वर्ण्य या मुख्य प्रतिपाद्य नहीं है], अतः वह प्रस्तुत अर्थ के प्रति अपना समर्पण कर देता है, फलतः यहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानना उचित है।' जो हो उक्त निरूपण से यह भलीभांति निश्चित हो चुका है कि पर्यायोक्त और अप्रस्तुतप्रशंसा के विषय भिन्न हैं।

अभी जो उदाहरण दिए गए हैं वे सब साधर्म्य के उदाहरण हैं।

विमर्शिनी

सुप्रसिद्ध इति सर्वालंकारकाराभिमते। तत्रेति द्वयनिर्धारणे। तदेव वर्णितमिति कार्यमेवोक्तम्, कारणस्य गम्यमानत्वात्। तत्रश्चेति द्वयोरपि कार्यकारणयोः प्रस्तुतत्वात्। स्पष्टैवेति। अप्रस्तुतस्यैव कार्यस्य प्रशंसितत्वात्। अतश्च द्वयोरपि प्रस्तुतत्वे पर्यायोक्तम्, प्रस्तुताप्रस्तुतत्वे त्वप्रस्तुतप्रशंसेति विषयविभागः। अतश्च सामान्यविशेषयोः प्रस्तुतत्वासंभवात् कार्यकारणयोः प्रस्तुतत्वेऽपि कार्यात् कारणप्रतीतिवत् कारणात् कार्यप्रतीतेर्वैचित्र्याभावाच्च।

'पर्यायत्वे कार्यहेत्वोर्भेदसामान्ययोस्तथा।
अप्रस्तुतप्रशंसायां सरूपस्यैव गम्यता॥'

इत्याद्युक्तमयुक्तम्।

यद्येवं तदत्र पर्यायोक्ताप्रस्तुतप्रशंसयोः प्रस्तुताप्रस्तुतरूपं कार्यं प्रस्तुतं कारणं कथमागूरयतीत्याशङ्क्याह—एवं चेत्यादि। तादृशमेवेति वाच्यम्। स्वोपस्कारकत्वेनेति, स्वसिद्ध्यर्थं परस्याक्षेपात्। समर्पयतीति वाच्योऽर्थः। इदं च 'स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम्। उपादानं लक्षणं च' इत्युक्त्या लक्षणाद्वयाश्रितत्वादनयोरवान्तरोऽपि विषयभेदोऽस्तीत्यत्र

तात्पर्यम् । ततश्चेति अनयोर्भिन्नविषयत्वात् । अन्य इति काव्यप्रकाशकारादयः । सर्वेति, तत्र पर्यायोक्तमप्रस्तुतप्रशंसा वास्त्वित्यभिप्रायः ।

इह च साधर्म्येण सारूप्योदाहरणानां पूर्वमनुद्दिष्टानामपि 'एतानि साधर्म्योदाहरणानी'त्यनेनातिदेशवाक्येन [अतिदेश] इति निश्चिनुमः । अयं हि ग्रन्थो ग्रन्थकृतः पश्चाद्-कैरपि पत्रिकाभिर्लिखित इति प्रसिद्धिः । तैश्चानवधानादुदाहरणपत्रिका न लिखिता । अतिदेशवाक्यं च पत्रिकान्तराल्लिखितमिति ग्रन्थस्यासंगतत्वम् । बहूनि पुनरुदाहरणानि सारूप्यहेतुकस्य भेदस्य, छाये प्राचुर्यदर्शनार्थम् । एवं 'वाच्यस्य संभवे उक्तान्येवोदाहरणानी'त्यप्राप्यमेवाभिप्रायो योज्यः । अतश्च—

'परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न संप्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ॥'

तथा—

'पातः पूष्णो भवति महते नोपतापाय यस्माद्
कालेनास्तं क इव न गता यान्ति यास्यन्ति चान्ये ।
एतावत्तु व्यथयति यदालोकबाह्यैस्तमोभि-
स्तस्मिन्नेव प्रकृतिमहति व्योम्नि लब्धोऽवकाशः ॥' तथा—

'पथि निपतितां शून्ये लब्ध्वा निरावरणाननां ननु दधिघटीं गर्वोन्नद्धः समुद्धुरकंधरः ।
निजसमुचितास्तास्ताश्चेष्टा विकारशताकुलो यदि न कुरुते काणः काकः कदा नु करिष्यसि ॥'

इत्युदाहरणान्यत्र मध्ये लेखितव्यानि येन ग्रन्थस्य संगतत्वं स्यात् । अत्र च सारूप्यं साधर्म्यं वाच्यसंभवश्च स्फुट एव ।

सुप्रसिद्ध = [आनन्दवर्धन आदि] सभी आलङ्कारिकों को मान्य । **तत्र** = इनमें से अर्थात् इन दोनों में से । **तदेव वर्णितम्** = उसी का वर्णन किया जाता है = उसी का अर्थात् कार्य का, वर्णन = शब्दतः कथन, क्योंकि कारण [शब्दतः कथित न होकर] प्रतीयमान रहता है । **ततश्च** = इसी कारण = अर्थात् कार्य और कारण इन दोनों के ही प्रस्तुत होने के कारण । **स्पष्टैव** = क्योंकि यहाँ अप्रस्तुत कार्य ही शब्दतः कथित है । इस प्रकार 'दोनों ही प्रस्तुत हों तो पर्यायोक्त होता है, एक प्रस्तुत और एक अप्रस्तुत तो अप्रस्तुतप्रशंसा' यह हुआ [इन दोनों का] विषयविभाग । इसलिए 'कार्य और कारण तथा सामान्य और विशेष ये दोनों भेद पर्यायोक्त के अन्तर्गत आ जाते हैं अतः अप्रस्तुतप्रशंसा में केवल सारूप्य ही गम्य होता है ।'

—इत्यादि जो [किसी आचार्य ने, अलंकाररत्नाकरकार ने नहीं] कहा है वह ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्य और विशेष [दोनों एक साथ] प्रस्तुत बन नहीं पाते, जो बन पाते हैं उन कार्यकारण में भी [प्रस्तुत] कारण से [प्रस्तुत] कार्य की प्रतीति में वैसा कोई चमत्कार नहीं होता जैसा [प्रस्तुत] कार्य से [प्रस्तुत] कारण की प्रतीति में होता है ।

यदि ऐसा है तो बतलाइए कि पर्यायोक्त में प्रस्तुत और अप्रस्तुत-प्रशंसा में अप्रस्तुत कार्य [दोनों में ही] प्रस्तुत कारण को किस रूप में व्यंजित करते हैं [अर्थात् इन दोनों के कारणांश में भी कोई भेद है अथवा नहीं] इस [प्रश्न] पर [उत्तर] देते हुए लिखते हैं—**एवं च** । **तादृशमेव** = वैसे ही अर्थात् वाच्य ही । **स्वोपस्कारकत्वेन** = अपनी शोभा बढ़ाने वाले अर्थ के रूप में इसलिए कि इसमें दूसरे अर्थ का आक्षेप अपनी सिद्धि के लिए होता है । **समर्पयति** = समर्पित कर देता है अर्थात् वाच्य अर्थ समर्पित कर देता है । इस प्रकार तात्पर्य यह कि [काव्यप्रकाशकार द्वारा कथित] 'अपनी सिद्धि के लिए दूसरे का आक्षेप उपादान कहलाता है और दूसरे अर्थ

को अपना समर्पण [अर्थात् स्वस्वरूप का सर्वथा त्याग] लक्षणा'—ये जो दो लक्षणाएँ हैं, उक्त दोनों अलङ्कार इन पर निर्भर रहते हैं [पर्यायोक्त उपादान पर और अप्रस्तुतप्रशंसा लक्षण पर] और इनका यह भी एक नवीन विभाजक तत्त्व है। ततश्च = और [इस कारण] = इन दोनों में विषय विभाग हो जाने से। अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि। सर्वथा = जो हो, अर्थात् 'राजन् राजसुता न' पद्य में पर्यायोक्त हो या अप्रस्तुतप्रशंसा।

यहाँ हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि 'ये सब साधर्म्य के उदाहरण हैं' इस अतिदेशवाक्य द्वारा साधर्म्यमूलक सारूप्यनिबन्धन अप्रस्तुतप्रशंसा के भेदों का अतिदेश भी हो जाता है यद्यपि ये भेद अभी तक बतलाए नहीं गए हैं। बात यह है कि यह ग्रन्थ ग्रन्थकार के पश्चात् अन्य कुछ व्यक्तियों ने [ताड़ आदि की] पत्तियों पर लिखा था, [प्रतिलिपि की थी] ऐसी प्रसिद्धि है। उन व्यक्तियों ने भूल से उदाहरणांश की पपड़ी तैयार नहीं की। और उक्त अतिदेशवाक्य अन्य पत्तियों पर से उतार लिया। इसलिए ग्रन्थ की सगति टूट गई। जहाँ तक अप्रस्तुतप्रशंसा के सारूप्यमूलक भेद के उदाहरणों का सम्बन्ध है इसके उदाहरण [ग्रन्थकार ने या मम्मटादि अन्य आचार्यों ने] जो अनेक पद्यों द्वारा प्रस्तुत किए वह केवल यह दिखलाने के लिए कि काव्य में यही भेद प्रचुर मात्रा में मिलता है। उक्त [लेखक-प्रमाद की] बात [अभी यहीं आगे आने वाले] 'वाच्य जहाँ सभव होता है उसके उदाहरण भी ये ही हैं'—इस ग्रन्थांश के विषय में भी लागू होती माननी चाहिए। इसलिए यहाँ बीच में—

'जो दूसरों के लिए पीड़ा का अनुभव करता है [पेरा जाता है], तोड़ा जाने पर भी जो मधुर ही रहता है, जिसका विकार [गुड़-शर्करा आदि] भी सबको प्रिय होता है, ऐसा इक्षु [ईख, गन्ना, सोंटा] यदि विपरीत भूमि में रोप दिया जाय और पनप न पाए तो क्या यह उस इक्षु का दोष होगा ? ऊसर मरुभूमि का नहीं ?

तथा—

'सूर्य नारायण डूब जाते हैं इसका तो अधिक दुःख नहीं होता, क्योंकि समय आने पर कौन व्यक्ति नहीं डूबा, कौन नहीं डूबता और कौन नहीं डूबेगा, व्यथा इसकी है कि उसी प्रकृति-महान् आकाश में आलोकविरोधी अन्धकार ने घर कर लिया।'

तथा—

'शून्य पथ में खुले मुँह पड़ी दही की मटकी पाकर यदि काना कौआ गर्व से फूल्कर गरदन उठा उठाकर और सैकड़ों विकारों से भरकर अपने अनुरूप तरह तरह चेष्टाएँ न करे तो फिर कब करेगा।'

—ये उदाहरण लिख दिए जाने चाहिए, जिससे ग्रन्थ [में विषय] की संगति बन सके। इनमें सारूप्य, साधर्म्य और वाच्यार्थ की सम्भवना स्पष्ट रूप से विद्यमान है।

विमर्श—मूल ग्रन्थ की 'प्रतिरूपित एवेति स्थितम्' पंक्ति के पश्चात् डॉ॰ राघवन् ने अपने संस्करण में 'सारूप्ये यथा' यह अंश और दे दिया है। इसके आगे उदाहरण उन्होंने भी नहीं दिए हैं। इस प्रकार सारूप्यमूलक भेद के उदाहरण की कमी सर्वस्व के सभी संस्करणों में विद्यमान है। यह कमी विमर्शिनीकार के समय से ही है जैसा कि उनके उक्त विवेचन से स्पष्ट है। समुद्रबन्ध ने भी इस कमी को परखा है और अपनी ओर से उदाहरण जोड़कर ग्रन्थ पूरा कर दिया है। किन्तु संजीविनीकार का ध्यान इस ओर नहीं गया है। वस्तुतः इन दोनों संस्करणों में यहाँ की संजीविनी अव्यवस्थित है। दोनों ही संस्करणों में यहाँ यह पंक्ति दी हुई है—'एतानि साधर्म्ये इति, वैधर्म्ये तून्नेयानि। सारूप्यहेतुकं तु भेदमनया नीत्या साधर्म्येण सुज्ञानत्वाद् वैधर्म्येणोदाहरति धन्या इति।' इस अंश में 'सारूप्ये यथा' पंक्ति का कोई प्रतीक नहीं मिलता। उसकी

आवश्यकता भी नहीं है। यदि प्रतिलिपिकार ने यह लिखा होता तो वह उदाहरण लिखना न भूलता। इस अंश पर विमर्शिनी भी धूमिल है। उसमें 'वाक्येनातिदेश इति' के स्थान पर 'वाक्येनेति'—इतना ही लिखा मिलता है। 'वाक्येनातिदेशः' योजना हमने अपने मन से की है। इसी प्रकार 'बहूनि पुनरुदा—प्राचुर्यदर्शनार्थम्' पंक्तिका स्वारस्य हमने खींचतान कर निकाला है। स्पष्ट ही अलंकारसर्वस्व की प्रतियां उसके निर्माण के कुछ ही वर्षों बाद अव्यवस्थित हो गई थीं और मूल प्रति नष्ट हो गई थी।

[सर्वस्व]

वैधर्म्येण यथा—

'धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः॥'

अत्र वाता धन्या इत्यप्रस्तुतादर्थादहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतोऽर्थः प्रतीयते।

वाच्यस्य संभवे उक्तान्येवोदाहरणानि।

असंभवे यथा—

'कस्त्वं भोः कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायापि परोपकारकृतये मार्गस्थितस्यापि मे॥'

अत्राचेतनेन सह प्रश्नोत्तरिका नोपपद्यत इति वाच्यस्यासंभव एव। प्रस्तुतं प्रति तात्पर्यात् प्रमुख एव तदध्यारोपेण प्रतीतिरिति युज्यत एवैतत्।

उभयरूपत्वे यथा—

'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः।
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः॥'

अत्र वाच्येऽर्थे कण्टकानां भंगुरीकरणे हेतुत्वं संभवि छिद्राणां त्वसंभवीत्युभयरूपत्वम्। प्रस्तुतस्य तात्पर्येण प्रतीतेस्तदध्यारोपात् तत्र संगतमेवैतदिति नासमीचीनं किंचित्। एतदेव च श्लेषगर्भायामस्यामुदाहरणम्।

वैधर्म्यमूलक यथा—

'रक्तकमल के स्पर्श से शीतल वनवायु वही ही धन्य है जो नीलकमल के समान श्याम भगवान् राम को निर्बाधरूप से छून रहती है।'

—यहाँ 'वायु धन्य है' इस प्रकार के अप्रस्तुत अर्थ से 'मैं अधन्य हूँ' यह प्रस्तुत अर्थ वैधर्म्य के द्वारा प्रतीत होता है।

जहाँ वाच्यार्थ संभव होता है उसके उदाहरण पूर्वोक्त उदाहरण ही हैं।

वाच्य जहाँ असंभव होता है उसका उदाहरण यह है—

'तुम कौन हो, भाई! बतलाता हूँ, मुझे भाग्य का मारा शाखोटक समझो। तुम तो ऐसे बोल रहे हो जैसे विरक्त हो। आपने ठीक समझा। ऐसा क्यों! बतलाता हूँ। यहाँ जो बाँयें ओर बड़

का पेड़ है, रास्तागीर इसका सेवन सब प्रकार से करते हैं, मैं तो रास्ते पर ही लगा हूँ किन्तु मेरी छाया तक दूसरों का लाभ नहीं कर पाती।'

—यहाँ अचेतन के साथ प्रश्नोत्तर नहीं हो सकते इसलिए वाच्यार्थ असंभव ही है। वह प्रस्तुत के प्रति तत्पर है, अतः पहले उस [प्रस्तुत] का आरोप हो जाता है तब [वाच्यार्थ की] प्रतीति होती है, फलतः यह [प्रश्नोत्तर] संभव हो जाता है।

उभयरूप [संभव और असंभव वाच्य] का उदाहरण यथा—

भीतर बहुत से छिद्र हैं और बाहर बहुत से काँटे। भला कमल नाल के गुण [तन्तु] भंगुर कैसे न हों।'

—यहाँ [तन्तुओं के] भंगुरत्व में काँटों की कारणता संभव है [काँटों में उलझ कर धागे, सूत, कपड़े फट ही जाते हैं] किन्तु छिद्रों की कारणता संभव नहीं है [तन्तुनिर्मित वस्त्रादि में छिद्र तो रहते ही हैं, उनसे वस्त्र नष्ट नहीं होता] इसलिए [यहाँ वाच्यार्थ] उभयरूप है [संभव भी है और असंभव भी]। प्रस्तुत की प्रतीति तात्पर्यविषयीभूत अर्थ के रूप में होती है अतः उस [प्रस्तुत] का [अप्रस्तुत पर] आरोप हो जाता है। फलतः वह [अप्रस्तुत भी] यहाँ संगत हो है। फलतः यहाँ कोई दोष नहीं आता। श्लेषगर्भित इस [अप्रस्तुतप्रशंसा] का उदाहरण भी यही है।

विमर्शिनी

तदध्यारोपेणेति प्रस्तुतारोपेण। एतदिति अचेतनेन सह प्रश्नोत्तरकरणम्। एतच्च सामान्यादिभेदपञ्चकं वाच्यं सदर्थान्तरन्यासदृष्टान्तयोर्विषयो भवति। अन्यथा पुनरस्या एवेति दर्शयितुमाह—तत्रेत्यादिना।

तदध्यारोपेण = उसके अध्यारोप के द्वारा = प्रस्तुत के आध्यारोप के द्वारा। एतत् = यह अर्थात् अचेतन के साथ प्रश्नोत्तर। 'ये जो सामान्यादि पांच भेद हैं ये यदि वाच्य [मात्र] होते हैं तो अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त के विषय बनते हैं, नहीं तो इसी [अप्रस्तुतप्रशंसा] के'—यह दिखलाने के लिए कहते हैं—

[सर्वस्व]

तदत्र सामान्यविशेषत्वेन कार्यकारणत्वेन सारूप्येण च यद् भेदपञ्चकमुद्दिष्टं तत्र द्वयोः सामान्यविशेषयोः कार्यकारणयोश्च यदा वाच्यत्वं भवति तदार्थान्तरन्यासाविर्भावः। सरूपयोस्तु वाच्यत्वे दृष्टान्तः। अप्रस्तुतस्य वाच्यत्वेऽप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सर्वप्रस्तुतप्रशंसेति निर्णयः।

यहाँ यह निष्कर्ष निकलता है कि ये जो सामान्यविशेषमूलक कार्यकारणभावमूलक तथा सादृश्यमूलक पांच भेद बतलाए गए हैं इनमें जब [आदिम] दो [भेदों] में सामान्य और विशेष तथा कार्य और कारण [ये दोनों ही अर्थ] वाच्य होते हैं तो [अलंकार] निष्पन्न होता है अर्थान्तरन्यास, और जब [सादृश्यमूलक भेद के] दोनों समान अर्थ वाच्य होते हैं तो दृष्टान्त। किन्तु वहाँ सर्वथा अप्रस्तुतप्रशंसा ही होती है जहाँ अप्रस्तुत वाच्य होता है और प्रस्तुत गम्य।

विमर्शिनी

सर्वथेत्यनेनैतल्लक्षणस्याव्यभिचार उक्तः।

सर्वथा कह कर यह संकेत किया कि अप्रस्तुतप्रशंसा का जो लक्षण बनाया गया है वह दूसरे अलंकारों में संक्रान्त नहीं होता।

विमर्श—यहाँ एक ध्यान देने की बात यह है कि कार्य से कारण की प्रतीति वाले भेद में अप्रस्तुतप्रशंसा से पर्यायोक्त का अन्तर ग्रन्थकार ने वही कहकर किया है जो कहकर अप्रस्तुतप्रशंसा से अर्थान्तर न्यास का अन्तर कर रहे हैं। उन्होंने पर्यायोक्त में भी कार्य को प्रस्तुत ही बतलाया है जैसा कि यहाँ अर्थान्तरन्यास में भी बतला रहे हैं। फलतः पर्यायोक्त और अर्थान्तरन्यास के बीच भेदक तत्त्व का विचार करना है। ग्रन्थकार ने इस विषय पर यहां और इन दोनों अलंकारों के प्रकरण में भी कुछ नहीं लिखा। विमर्शिनीकार भी चुप हैं। इसलिए कि अन्तर स्पष्ट है। यह कि अर्थान्तरन्यास में कारण दोनों वाच्य रहते हैं जब कि पर्यायोक्त में केवल कार्य ही वाच्य होता है। इसीलिए अर्थान्तरन्यास में समर्थ्यसमर्थकभाव बन जाता है, पर्यायोक्त में नहीं।

अप्रस्तुतप्रशंसा का पूर्वेतिहास—

भामह—भामह में अप्रस्तुतप्रशंसा के भेद नहीं मिलते। सामान्य लक्षणमात्र इस प्रकार मिलता है—

'अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेति सा चैव कथ्यते यथा॥ ३।२९॥
प्रीणितप्रणयि स्वादु काले परिणतं बहु।
विना पुरुषकारेण फलं पश्यत शाखिनाम्॥ ३।३०॥

—अधिकार = [प्रकरण] से अलग [अप्राकरणिक] किसी अन्य पदार्थ की जो स्तुति उसे 'अप्रस्तुतप्रशंसा' इस नाम से कहा जाता है। यथा—

—याचकों को संतुष्ट करने वाले, स्वादु, समय पर फले तथा विशाल फल, देखो तो, वृक्षों में बिना ही पुरुषार्थ के लग गए हैं।'

यहाँ भामह ने प्रशंसा शब्द का अर्थ स्तुति किया है। वस्तुतः प्रशंसा का अर्थ केवल कथनमात्र है। परवर्ती आचार्यों ने यही अर्थ माना है।

वामन :—वामन के यहां अप्रस्तुतप्रशंसा का स्वरूप अत्यन्त धूमिल और अस्पष्ट है। उसका अन्तर्भाव अतिशयोक्ति के निगीर्याध्यवसान भेद में हो जाता है। वामन का अप्रशंसाविवेचन यह है—

[सूत्र] [उपमेयस्य] किंचिदुक्तावप्रस्तुतप्रशंसा।

[वृत्ति] उपमेयस्य किंचिल्लिङ्गमात्रेणोक्तौ समानवस्तुन्यासोऽप्रस्तुतप्रशंसा। यथा—

'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह संप्लवन्ते।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः॥'
अप्रस्तुतस्यार्थस्य प्रशंसनमप्रस्तुतप्रशंसा।

—उपमेय का सांकेतिकरूपमात्र से ही उल्लेख हो और प्रधानरूप से उल्लेख हो तत्समान पदार्थ का तो अप्रस्तुतप्रशंसा होती है। जैसे [किसी युवती के वर्णन में कथित यह उक्ति]— 'यह तो कोई एक भिन्न ही लावण्यसिन्धु है जिसमें कमल [नेत्र] चन्द्रमा [मुखमण्डल] के साथ तैर रहे हैं। साथ ही जहाँ हाथी के कुम्भ [स्तन] उभर रहे हैं और जहाँ कोई दूसरे ही कदली के काण्ड तथा मृणाल के दण्ड भी विद्यमान हैं।' अप्रस्तुत की प्रशंसा होने से यह अप्रस्तुतप्रशंसा नाम से पुकारी जाती है।'

स्पष्ट ही भामह और वामन केवल सारूप्यमूलक भेद को ही अप्रस्तुतप्रशंसा बतला रहे हैं। वामन इसीलिए इसे उपमा का अवान्तररूप बतलाते हैं उनका उदाहरण स्पष्टरूप से अतिशयोक्ति का ही उदाहरण है।

उद्भट = उद्भट ने भामह के लक्षण को प्रायः ज्यों का त्यों अपना लिया है—

'अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसेयं प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी॥'

—अधिकार [प्रकरण] से दूर किसी अन्य अर्थ की ऐसी स्तुति जो प्रकृत अर्थ से सम्बन्ध रखती है *अप्रस्तुतप्रशंसा* कहलाती है। स्पष्ट ही उद्भट ने भामह से आगे बढ़कर एक ही बात कही। वह है अप्रस्तुत का प्रस्तुत से सम्बद्ध रहना। उन्होंने उदाहरण दिया—

'यान्ति स्वदेहेषु जरामसंप्राप्तोपभोक्तृकाः।
फलपुष्पर्द्धिभाजोऽपि दुर्गदेशवनश्रियः॥'

—*दुर्गम स्थान की वनश्री फल और फूल की समृद्धि से युक्त होने पर भी उपभोक्ता न मिलने से अपने देह में ही जरा को प्राप्त हो जाती है।'* यह वाक्य अविवाहित और अस्पृश्य या अभ्युच्च वंश की सुन्दरी को लक्ष्य कर कहा गया है। अतः यह अप्रस्तुतप्रशंसा का सारूप्य-मूलक भेद है। इसके अतिरिक्त अन्य भेद उद्भट में भामह और वामन के ही समान नहीं मिलते। अप्रस्तुतप्रशंसा नाम के विषय में भामह और उद्भट का मत एक ही है।

रुद्रट = रुद्रट के काव्यालंकार में अप्रस्तुतप्रशंसानाम से कोई अलंकार नहीं मिलता। अन्योक्ति नाम से जो अलंकार मिलता है उसे सारूप्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा माना जा सकता है। अन्योक्ति का निरूपण रुद्रट ने इस प्रकार किया है—

'असमानविशेषणमपि यत्र समानेतिवृत्तमुपमेयम्।
उक्तेन गम्यते परमुपमानेनेति सान्योक्तिः॥ ८।७४॥

यथा—

'मुक्त्वा सलीलहंसं विकसितकमलोज्ज्वलं सरः सरसम्।
बकलुलितजलं पल्वलमभिलषसि सखे! न हंसोऽसि॥'

—जहाँ केवल उपमान ही कहा जाए और उपमेय विशेषणों की समानार्थकता न रहने पर भी केवल इतिवृत्त की समानतामात्र से आक्षिप्त हो वह [अलंकार] अन्योक्ति कहलाता है। यथा—

—'मित्र! हंसों की लीला से युक्त, खिले कमलों से उद्भासित तथा सरस जलवाले सरोवर को छोड़कर बगुलों से भरे गड्ढे को चाह रहे हो, तुम हंस नहीं हो।' यहाँ विदग्धगोष्ठी को छोड़ रचकों के गिरोह में जा रहे किसी शिष्ट मित्र ने उपालम्भ किया है। सारूप्यमूलक अप्रस्तुत-प्रशंसा का यह एक उत्तम उदाहरण है। भामह, वामन और उद्भट के उदाहरणों की अपेक्षा यही इसका वास्तविक उदाहरण माना जा सकता है।

मम्मट = अप्रस्तुतप्रशंसा का जो निरूपण अलंकारसर्वस्वकार ने किया है उसका आधार मम्मट का अप्रस्तुतप्रशंसाविवेचन है। मम्मट ने उक्त पाँचों भेद स्वीकार किए हैं, और सारूप्यमूलक भेद के अनेक उदाहरण दिए हैं। 'कस्त्वं भोः०' पद्य मम्मट ने भी उद्धृत किया है और उस पर चेतनारोप की बात आनन्दवर्धन के ही समान कही है। 'एतत्तस्य' पद्य भी मम्मट ने उद्धृत किया है। 'राजन् राजसुता०' पद्य में उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानी है जिसपर सर्वस्वकार ने अपनी विमति व्यक्त की है। मम्मट का अप्रस्तुतप्रशंसा निरूपण इस प्रकार है—

[लक्षण =] 'अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ।
[भेद =] कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥

लक्षण पर वृत्ति लिखते हुए मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा नाम पर अपना भामह तथा रुद्रट के मत से भिन्न मत संकेतित किया है—'अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा ।' अर्थात्—

[अप्रस्तुत =] अप्राकरणिक [अर्थ] की [प्रशंसा =] अभिधा० द्वारा उक्ति से प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप होने के कारण अलंकार का नाम अप्रस्तुतप्रशंसा पड़ता है। लक्षण में भी मम्मट ने अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द को यौगिक शब्द के रूप में अपनाया है और रुद्रट के 'प्रस्तुतार्थानुबन्धिनी' पद का अर्थ अपनाकर 'प्रस्तुताश्रया' कहते हुए उन्होंने लक्षण के रूप में अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द को ही पर्याप्त बतला दिया है। उनकी लक्षणकारिका का अनुवाद होता—

'प्रस्तुताश्रित जो अप्रस्तुतप्रशंसा वही अप्रस्तुतप्रशंसा'। विमर्शिनीकार ने सादृश्यमूलक भेद के जो अनेक भेदों का संकेत दिया है उसका मूल मम्मट का विवेचन ही है। मम्मट ने लिखा है—

'तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने त्रयः प्रकाराः, श्लेषः, समासोक्तिः, सादृश्यमात्रं वा तुल्यात् तुल्यस्याक्षेपे हेतुः ।'—

—अर्थात् प्रस्तुत तुल्य के अप्रस्तुत तुल्य से आक्षेप में तीन भेद होते हैं, क्योंकि तुल्य से तुल्य के आक्षेप में श्लेष, समासोक्ति और सादृश्यमात्र ये तीन हेतु होते हैं।

यहाँ श्लेष का अर्थ द्वयर्थतामात्र है। इसी प्रकार समासोक्ति का अर्थ भी संक्षेप में अनेकार्थानुरूप शब्दयोजना है। श्लेषालंकार या समासोक्तिअलंकार नहीं। इन तीनों के एक एक उदाहरण देने के पश्चात् मम्मट ने यह भी स्पष्ट किया है कि अप्रस्तुतप्रशंसा में कहीं चेतन का अध्यारोप अपेक्षित नहीं होता, कहीं अपेक्षित भी होता है सो या तो सर्वात्मना या फिर अंशतः। 'कस्त्वं भोः' पद्य को उन्होंने सर्वात्मना अध्यारोप का उदाहरण माना है।

मम्मट ने साधर्म्य-वैधर्म्य की चर्चा नहीं की है, न तो पर्यायोक्त, दृष्टान्त तथा अर्थान्तरन्यास के साथ साम्यवैषम्य ही उन्होंने बतलाए। सर्वस्वकार का अप्रस्तुतप्रशंसा में यही ऐसा योगदान है जिसे मम्मट से आगे बढ़ा हुआ कहा जा सकता है।

शोभाकर—परवर्ती शोभाकर ने अप्रस्तुत में एक नवीन विचार छेड़ा है। वह है द्वितीय अर्थ की प्रतीति करानेवाली शब्दवृत्ति का। आनन्दवर्धनाचार्य ने अप्रस्तुतप्रशंसा में द्वितीय अर्थ की प्रतीति व्यंजना द्वारा मानी थी। मम्मट ने उसका विरोध नहीं किया। शोभाकर का कहना है कि यहां द्वितीयार्थ की प्रतीति व्यंजना से न होकर लक्षणा से होती है। उनका कहना है कि— 'अप्रस्तुत अर्थ प्रस्ताव अर्थात् प्रकरण के द्वारा बाधित हो जाता है, अतः उसकी सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर प्रकरणानुरूप अर्थ में लक्षणा हो जाती है। इसका प्रयोजन होता है प्रस्तुत अर्थ का प्रतिपादन छिपाकर करना। इस प्रकार इसमें लक्षणा के मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थसम्बन्ध तथा प्रयोजन ये तीनों हेतु विद्यमान रहते हैं। व्यंजना वहां होती है जहां वाच्यार्थ बाधित नहीं रहता।' शोभाकर ने इस विषय में किसी अज्ञात आचार्य की एक कारिका भी उद्धृत की है—

'मुख्यार्थबाधादिसमस्तहेतुयोगादसौ लक्षणयैव युक्ता ।' विमर्शिनीकार ने कदाचित् इसी धारणा पर उपादान और लक्षणलक्षणा की चर्चा चलाई है। रत्नाकरकार ने यहां जिन लक्षणाभेदों का नाम लिया है वे इनसे भिन्न हैं।

रत्नाकरकार यहाँ लक्षणा के कौन से भेद मानना चाहते हैं यह उनके लेख से स्पष्ट नहीं होता। यद्यपि पर्यायोक्तालंकार में आए इसी प्रकार से लगता है कि वे अप्रस्तुतप्रशंसा में भी उपादानलक्षणा ही मानते हैं। यद्यपि सर्वस्वकार ने भी 'यत्र वाच्योऽर्थोऽर्थान्तरं स्वोपस्कारकत्वेनागूरयति तत्र पर्यायोक्तम्' तथा 'यत्र पुनः स्वात्मानमेवाप्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतमर्थान्तरं प्रति समर्पयति तत्राप्रस्तुतप्रशंसा' इन पंक्तियों के द्वारा मम्मट की 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' तथा 'परार्थे स्वसमर्पणम्' इस लक्षणानिरूपक कारिका की पदावली से मिलती जुलती पदावली में पर्यायोक्त से अप्रस्तुतप्रशंसा का भेद दिखलाया है तथापि उनमें उनका प्रतिपाद्य लक्षणा नहीं है। उनके उक्त कथन का अर्थ केवल इतना ही है कि पर्यायोक्त में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की शोभा बढ़ाता है और अप्रस्तुतप्रशंसा में उससे उल्टे वाच्यार्थ ही व्यंग्यार्थ की भी। आगूरण शब्द को मम्मट ने व्यंजना का पर्याय माना है [द्वितीय उल्लास]। पण्डितराज ने भी 'अप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुतं व्यङ्ग्यमिति निर्विवादम्' [अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण का अंत] इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा में प्रस्तुतार्थ को व्यंजनागम्य ही माना है। वहां अतिशयोक्ति से अन्तर करते हुए उन्होंने अप्रस्तुतप्रशंसा में लक्षणा का खण्डन भी किया है। लक्षणा मानने से अप्रस्तुतप्रशंसा के सादृश्यमूलक भेद का अतिशयोक्ति से अन्तर नहीं किया जा सकेगा। अन्य भेदों में कार्य की कारण में अथवा कारण की कार्य में लक्षणा माननी होगी, जो असंगत होगी क्योंकि कार्यकारण के बीच हुई लक्षणा का प्रयोजन कार्य और कारण के बीच अभेद सिद्ध करना ही होता है जैसा कि 'घृत आयु है' आदि प्रयोगों में देखा जाता है। अप्रस्तुतप्रशंसा में अभेद की विवक्षा नहीं रहती। केवल छिपाकर कहने की विवक्षा रहती है। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अप्रस्तुतप्रशंसा में दोनों अर्थों में भेद ही माना है और इसी तर्क पर लक्षणा का खण्डन किया है। द्रष्टव्य—'वाच्यार्थतादरूप्येणैव व्यङ्ग्यप्रतीतिः सर्वसहृदयसम्मतत्वात्' [अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरणान्त] फलतः विमर्शिनीकार के द्वारा भी इस प्रकरण में लक्षणा का अस्तित्व मानना रत्नाकरकार आदि की सर्वस्व की इन पंक्तियों के विषय में बनी अन्यथा धारणा का प्रभाव मानना होगा।

शोभाकर का अप्रस्तुतप्रशंसालक्षण इस प्रकार है—

'अप्रस्तुतादन्यप्रतीतिरप्रस्तुतप्रशंसा।'

—अप्रस्तुत से अन्य की प्रतीति अप्रस्तुतप्रशंसा।'

अप्रस्तुतप्रशंसा का प्रवाह अप्पयदीक्षित तक आकर समुद्र में गिरती गंगा के प्रवाह के समान बहुमुखी हो गयी। समासोक्ति में प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना होती थी और अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत से प्रस्तुत की। एक स्थल ऐसा मिला जिसमें प्रतीत होने वाला द्वितीय अर्थ भी प्रस्तुत ही रहता है और प्रतीति कराने वाला प्रथम अर्थ भी। अप्पयदीक्षित ने उसे एक पृथक् अलंकार बतलाया और उसे परिकरांकुर के समान प्रस्तुतांकुर नाम दिया। उसका निरूपण इस प्रकार किया—

'प्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य द्योतने प्रस्तुताङ्कुरः।

[यथा—] किं भृङ्ग ! सत्यां मालत्यां केतक्या कण्टकेद्धया ॥

—प्रस्तुत से प्रस्तुत का [ही] द्योतन हो तो अलंकार प्रस्तुतांकुर होगा। यथा—

—अरे भृङ्ग ! मालती के रहते हुए कटीली केतकी से क्या।

अप्पयदीक्षित के अनुसार यह उक्ति नायक के साथ उद्यानविहार कर रही नायिका की है, फलतः यहां भृङ्गपक्ष भी प्रस्तुत ही है और सुन्दर कुलवधू को छोड़ कर वेश्या के प्रति आकृष्ट होने वाले नायक का पक्ष भी प्रस्तुत ही है। इसी प्रकार 'कस्त्वं भोः कथयामि॰' पद्य में भी अप्पयदीक्षित ने प्रस्तुतांकुर ही माना है। उनका कहना है कि अचेतन के साथ भी बातचीत संभव है

असंभव नहीं, भोलेपन में या अधिक भावुकता में ऊपर भृङ्ग के प्रति नायिका की उक्ति के समान शाखोटक के साथ भी पथिक की उक्ति बन सकती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने ऐसे स्थलों में अप्रस्तुतप्रशंसा ही मानी है। उनका कहना है कि 'अप्रस्तुतप्रशंसा में अप्रस्तुत शब्द का अर्थ है वह अर्थ जो मुख्यतात्पर्यविषय न हो।'—'अप्रस्तुत शब्देन हि मुख्यतात्पर्यविषयीभूतार्थातिरिक्तोऽर्थो विवक्षितः' [द्रष्टव्य र०गंगाधर ५४२ निर्णय० संस्क० ६] भृंग के प्रति नायिका की उपर्युक्त उक्ति में नायिका का मुख्य तात्पर्य नायक की चपलता की ओर इंगित करना है। भृङ्गचेष्टा तो वहां माध्यम मात्र है।

आगे चलकर पण्डितराज भी बहक गए हैं। उन्होंने एक प्रश्न उठाया कि यदि ऐसा कोई स्थल हो जिसमें विशेषणगत श्लेष न हो किन्तु प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति हो रही हो वहां समासोक्ति मानी नहीं जा सकेगी क्योंकि समासोक्ति विशेषण श्लेष पर निर्भर रहती है। अप्रस्तुत-प्रशंसा इसलिए नहीं होगी कि वहां प्रस्तुत से अप्रस्तुत की व्यंजना रहती है। तब वहां कौन सा अलंकार माना जाएगा। उदाहरण के रूप में उन्होंने निम्नलिखित पद्य बनाया—

'आपेदिरेऽम्बरपथं परितो विहङ्गा

भृङ्गा रसालमुकुलानि समाश्रयन्त।

संकोचमञ्चति सरस्त्वयि दीनदीनो

मीनो नु हन्त कतमां गतिमभ्युपैतु॥

—हे सरोवर! तुम बिलकुल सूखने लगे तो पंख वाले पखेरू आकाश में उड़ गए, भौंरे आम्रमंजरी पर जा बैठे। परन्तु यह अत्यन्त दीन मीन कहां जाए।'

—यहां सरोवृत्तान्त ही प्रस्तुत हो और राज्यनाशोन्मुख राजा अथवा संपत्तिनाशोन्मुख आश्रयदाता अप्रस्तुत तो सामान्यतः न तो समासोक्ति मानी जा सकेगी क्योंकि विशेषणों में द्व्यर्थकता नहीं है, और अप्रस्तुतप्रशंसा भी नहीं मानी जा सकेगी क्योंकि यहां वाच्यार्थ प्रस्तुत है अप्रस्तुत नहीं।

पण्डितराज इसका उत्तर न दे सके। उन्होंने यहां अप्रस्तुतप्रशंसा को ही मान्य ठहरादिया। उन्होंने कहा कि अप्रस्तुतप्रशंसाशब्द का अर्थ अप्रस्तुत की प्रशंसा करने के साथ ही अप्रस्तुत से प्रशंसा भी किया जा सकता है। अर्थात् अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द में षष्ठीतत्पुरुष के साथ तृतीया तत्पुरुष भी माना जा सकता है। द्वितीय अर्थ के अनुसार उक्त पद्यार्थ में भी अप्रस्तुतप्रशंसा मानी जा सकेगी। पण्डितराज की पंक्तियां हैं—

'अप्रस्तुतप्रशंसैवात्रालंकारः। अप्रस्तुतस्य प्रशंसेति न तदर्थः किं त्वप्रस्तुतेनेति। सा चार्थात् प्रस्तुतस्यैव। एवं च वाच्येन व्यंग्येन वा अप्रस्तुतेन वाच्यं व्यंग्यं वा प्रस्तुतं यत्र सादृश्यान्यतम-प्रकारेण प्रशस्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसेति, न तु वाच्येनैव व्यङ्ग्यस्यैवेति।

—उक्त स्थिति में भी अलंकार अप्रस्तुतप्रशंसा ही होगी। वहाँ उसका अर्थ अप्रस्तुत की प्रशंसा न होगा अपि 'अप्रस्तुत से प्रशंसा' होगा। अर्थात् प्रस्तुत की प्रशंसा। इस प्रकार अप्रस्तुत-प्रशंसा का लक्षण होगा कि 'वाच्य या व्यङ्ग्य अप्रस्तुत के द्वारा वाच्य या व्यंग्य प्रस्तुत की प्रशंसा जहाँ सादृश्यादि पांच प्रकारों में से किसी एक प्रकार से हो वह अप्रस्तुतप्रशंसा' न कि वाच्य के ही द्वारा व्यंग्य की ही प्रशंसा हो तो।'

पण्डितराज ने अप्रस्तुतप्रशंसा का लक्षण इस संशोधन के पहले इस प्रकार किया था—

'अप्रस्तुतेन व्यवहारेण सादृश्यादिवक्ष्यमाणप्रकारान्यतमप्रकारेण प्रस्तुतव्यवहारो यत्र प्रशस्यते-साऽप्रस्तुतप्रशंसा।'

—जहाँ अप्रस्तुत व्यवहार से सादृश्यादि [पाँच] प्रकारों में से किसी प्रकार के द्वारा प्रस्तुत व्यवहार का प्रशस्तीकरण हो वह अप्रस्तुतप्रशंसा' प्रशंसा का अर्थ करते हुए उन्होंने स्पष्ट लिखा—'प्रशंसनं च वर्णनमात्रं, न तु स्तुतिः, धिक् तान्स्योऽन्नतां यस्य च्छायापि नोपकाराय'—इत्यादावव्याप्त्यापत्तेः।' अर्थात् 'प्रशंसा का अर्थ यहाँ केवल वर्णन है, स्तुति नहीं, क्योंकि 'ताल की उच्चता को धिक्कार है जिसकी छाया तक उपकार में नहीं आती'—इत्यादि अप्रस्तुतप्रशंसाओं में लक्षण संगत न होगा। इस लक्षण में पण्डितराज ने प्राचीन आचार्यों का मुलाहिजा तोड़कर नवीन व्यवस्था प्रस्तुत की थी। प्राचीनों ने अप्रस्तुत का शब्दतः कथन चमत्कारहेतु माना था और अप्रस्तुतप्रशंसा शब्द की वैसी ही व्याख्या की थी। पण्डितराज ने यहाँ चमत्कारहेतु माना अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के वर्णन को। वर्णन शब्द का अर्थ उन्होंने ज्ञान मात्र माना है क्योंकि भेद करते हुए लिखा है 'इयं च पञ्चधा अप्रस्तुतेन प्रस्तुतं गम्यते यस्यामित्येका'। परवर्ती संशोधित लक्षण में उन्होंने 'प्रशस्यते = प्रशस्तीकरण' का अर्थ स्पष्ट नहीं किया। किन्तु वे यहाँ प्रशंसा का अर्थ प्रस्तुत की शोभावृद्धि को छोड़कर और कुछ कर ही नहीं सकते। क्योंकि अन्य कोई अर्थ 'आपेदिरे' पद्यार्थ जैसे पद्यार्थ में लागू नहीं होगा। और शोभावृद्धि अर्थ का वे समासोक्ति से अप्रस्तुतप्रशंसा को भिन्न नहीं कर सकते। समासोक्ति में अप्रस्तुत के द्वारा प्रस्तुत की शोभा बढ़ाई ही जाती है। नागेश ने यह आपत्ति उठाई थी और 'आपेदिरे०' पद्य में इसी कारण समासोक्ति ही मानी। शोभा बढ़ाने की बात कार्यकारणभाव और सामान्यविशेषभाव में कट जाएगी। वहाँ आपस में किसी की किसी से शोभा नहीं बढ़ती, केवल 'छिपाव' की कला द्वारा वाक्यार्थ की शोभा बढ़ाई जाती है। जहाँ तक समासोक्ति शब्द के अर्थ का सम्बन्ध है उसका जो अर्थ विशेषणश्लेष द्वारा संक्षेप में दो भिन्न भिन्न पदार्थों की उक्ति किया जाता है वह 'आपेदिरे०' पद्यार्थ में अवश्य नहीं है क्योंकि वहाँ श्लेष नहीं है तथापि समासोक्ति शब्द को श्लेष से न बाँध कर उसका अर्थ किसी भी प्रकार 'संक्षेप में अधिक अर्थ की उक्ति' कर लिया जाय तो वैसी कोई आपत्ति नहीं उठती। वस्तुतः प्रस्तुत के स्थान पर अप्रस्तुत के कथन को ही अप्रस्तुतप्रशंसा का चमत्कारकेन्द्र मान कर इस अलङ्कार को अन्य अलङ्कारों से भिन्न किया जा सकता है। पण्डितराज ने प्रश्न तो मार्मिक उठाया किन्तु समासोक्ति को केवल विशेषणश्लेष से जकड़कर वे समाधान ठीक नहीं दे पाए। पण्डितराज की इस पलायनवृत्ति पर विश्वेश्वर चुप रह गए यह आश्चर्य का विषय है। उन्होंने उक्त अन्य सब विषयों पर विचार किया किन्तु पण्डितराज द्वारा 'आपेदिरे' पद्य पर अपनाए मद पथ की ओर देखा तक नहीं।

विद्याचक्रवर्ती ने अप्रस्तुतप्रशंसा का सारसंक्षेप इस प्रकार किया है—

> अप्रस्तुतप्रशंसा तु प्रस्तुतावगमोऽन्यतः।
> सा सामान्यविशेषादिविच्छित्त्या पञ्चधा मता ॥
> भवेत् साधर्म्यवैधर्म्ययोगात् सा पुनर्द्विधा।
> सम्भवेऽसम्भवे द्वेधे वाच्यस्याथ पुनस्त्रिधा ॥
> प्रस्तुतस्यावगम्यत्वात् पर्यायोक्ताद् विभिद्यते।
> इयमर्थान्तरन्यासाद् दृष्टान्तालङ्कृतेरपि ॥

—अप्रस्तुतप्रशंसा वह है जिसमें प्रस्तुत का ज्ञान अन्य [अप्रस्तुत] से हो। वह सामान्य विशेष आदि प्रकारों से पाँच प्रकार की मानी गई है।

—वह साधर्म्य तथा वैधर्म्य के द्वारा पुनः दो प्रकार की होती है। इसी प्रकार वाच्य के सम्भव, असम्भव तथा दोनों प्रकार के होने से यही तीन प्रकार की भी हो जाती है।

—यहाँ प्रस्तुत अर्थ प्रतीयमान होता है इस कारण यह पर्यायोक्त से भिन्न सिद्ध होती है और इसी कारण अर्थान्तरन्यास तथा दृष्टान्त से भी।

[सर्वस्व]

उक्तन्यायेन प्राप्तावसरमर्थान्तरन्यासमाह—

[सू० ३६] सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृत-समर्थनमर्थान्तरन्यासः।

निर्दिष्टस्याभिहितस्य समर्थनार्हस्य प्रकृतस्य समर्थकात् पूर्वं पश्चाद्वा निर्दिष्टस्य यत् समर्थनमुपपादनम्, न त्वपूर्वत्वेन प्रतीतिरनुमानरूपा सोऽर्थान्तरन्यासः। तत्र सामान्यं विशेषस्य विशेषो वा सामान्यस्य समर्थक इति द्वौ भेदौ। तथा कार्यं कारणस्य कारणं वा कार्यस्य समर्थकमित्यपि द्वौ भेदौ। तत्र भेदचतुष्टये प्रत्येकं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां भेदद्वयेऽष्टौ भेदाः। हिशब्दाभिधानानभिधानाभ्यां समर्थकपूर्वोपन्यासोत्तरोपन्यासाभ्यां च भेदान्तरसंभवेऽपि न तद्गणना सहृदयहृदयहारिणी, वैचित्र्यस्याभावात्। तस्माद्भेदाष्टकमेवेहोट्टङ्कितम्।

उक्त हेतु [सामान्य विशेष तथा कार्यकारण दोनों के वाच्य होने] से [अर्थान्तरन्यास निष्पन्न होता है अतः अप्रस्तुतप्रशंसा के पश्चात् उसका] अवसर प्राप्त है फलतः अब अर्थान्तरन्यास का विचार करते हैं—

[सू० ३६] किसी निर्दिष्ट [शब्दतः कथित] प्रकृत अर्थ का समर्थन सामान्यविशेषभाव या कार्यकारणभाव सम्बन्ध के द्वारा हो तो [अलंकार का नाम] अर्थान्तरन्यास [होगा]॥

[वृत्ति] निर्दिष्ट अर्थात् अभिधावृत्ति के द्वारा कथित। समर्थन की अपेक्षा रखने वाले प्रकृत [वर्णनीय] अर्थ का समर्थन करने वाले अर्थ के पहले या उसके पश्चात् शब्दतः निर्देश करके जो समर्थन अर्थात् उपपादन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास कहलाता है, बिना निर्देश के पहले से अज्ञात प्रस्तुत का समर्थन अर्थान्तरन्यास नहीं कहला सकता क्योंकि इस प्रकार का ज्ञान अनुमान का विषय बनता है क्योंकि वहां सामान्य से विशेष या विशेष से सामान्य का अनुमान आ पहुँचता है, इसी प्रकार कार्य से कारण का भी। इसके दो भेद होते हैं—एक वह जिसमें सामान्य विशेष का समर्थक बनता है और दूसरा वह जिसमें विशेष सामान्य का। इसी प्रकार जहां कार्य से कारण का तथा कारण से कार्य का समर्थन होता है, इसके वे भी दो भेद होते हैं। इन चारों भेदों में से प्रत्येक भेद साधर्म्यमूलक तथा वैधर्म्यमूलक होकर दो प्रकार के होते हैं। फलतः इसके आठ भेद हो जाते हैं। [उद्भट के अनुसार] इसके और भी भेद संभव हैं। जैसे कहीं इसका 'हि'—क्योंकि [आदि] शब्दों के द्वारा अभिधान रहता है और कहीं नहीं। कहीं इसमें समर्थनीय अर्थ का समर्थक अर्थ के पहले निर्देश रहता है और कहीं बाद में, किन्तु ये भेद सहृदयों के चित्त आकृष्ट नहीं कर पाते क्योंकि इनमें कोई चमत्कार नहीं रहता, इस कारण यहां आठ ही भेदों का उल्लेख किया गया है।

विमर्शिनी

उक्तन्यायेनेति अप्रस्तुतप्रशंसाभेदानामेव वाच्यत्वकथनात्। आहेति सामान्येत्यादिना। समर्थनार्हस्येति, साकाङ्क्षत्वादुपपादनापेक्षत्वात्। उपपादनमिति,एवमेवैतदिति नैराकाङ्क्षयोत्पादनलक्षणम्।

'उक्तन्यायेन' = उक्त हेतु से अर्थात् [अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण के अन्त में] 'अप्रस्तुतप्रशंसा के रूप में परिणत होने वाले वाक्यार्थ ही अर्थान्तरन्यास रूप में परिणत होते बतलाए गए हैं यदि उनमें दोनों ही अर्थ वाच्य हो जाएँ' इस हेतु से। 'आह = विचार करते हैं—सामान्य इत्यादि सूत्र-वाक्य से आरम्भ कर लिखे गए ग्रन्थ द्वारा। समर्थनार्ह—साकांक्ष होने के कारण उपपादन की अपेक्षा करने के कारण। उपपादनम् 'ऐसा ही है यह' इस प्रकार की निराकाङ्क्ष प्रतीति को जो उत्पन्न करना तत्स्वरूप।

[सर्वस्व]

क्रमेण यथा—

'अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥'

'लोकोत्तरं चरितमर्पयति प्रतिष्ठां
पुंसां कुलं नहि निमित्तमुदात्ततायाः।
वातापितापनमुनेः कलशात्प्रसूति-
र्लीलायितं पुनरमुद्रसमुद्रपानम्।

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः॥'

अत्र सहसाविधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य चकारणस्य संपद्वरणं कार्यं साधर्म्येण समर्थकम्। तस्यैवैतत्कार्यविरुद्धमापत्पदत्वम् सहसावि-धानाभावविरुद्धाविवेककार्यं वैधर्म्येण समर्थकम्।

'पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम्॥'

अत्र हरकार्मुकाततज्यीकरणं पृथ्व्यादिस्थैर्यादिप्रवर्तकत्वे कारणं समर्थकत्वेनोक्तम्।

क्रम से उदाहरण यथा—

'जो [हिमालय] अनन्त रत्नों को उत्पन्न करता रहता है, इसलिए एक अकेला हिम उसके महत्त्व का नाशक नहीं बन सका। ऐसा इसलिए कि जहाँ गुणों का जमघट रहता है वहाँ एक आध दोष डूब जाया करता है, जैसे चन्द्रमा की किरणों में कलङ्क [कुमार० १] [यहाँ उत्तरार्ध की गुण और दोष रूपी सामान्य पदार्थों की उक्ति से पूर्वार्ध की रत्न तथा हिमरूपी विशेष पदार्थों की उक्ति का समर्थन है]।

'प्रतिष्ठा दिलाता है लोकोत्तर चरित, कुल व्यक्तियों की उदात्तता का कारण नहीं बनता। वातापी राक्षस को नष्ट करने वाले मुनि अगस्त्य की उत्पत्ति घड़े से हुई थी, किन्तु महत्त्व मिला निःसीम समुद्र के पान का।'

[यहाँ पूर्वार्ध में कथित व्यक्तिसामान्य तथा चरितसामान्य का उत्तरार्ध में कथित अगस्त्यरूपी व्यक्तिविशेष तथा समुद्रपानरूपी चरितविशेष के द्वारा समर्थन किया गया है]।

—कोई कार्य एकाएक न करे, अविवेक भारी विपत्ति का आस्पद होता है। विचारपूर्वक कार्य करने वाले व्यक्ति को गुणों पर लुब्ध संपत्तियाँ स्वयं ही वरण कर लेती हैं। [किरातार्जुनीय-२]

यहाँ सहसा कार्य न करना तथा विचार कर कार्य करना ये दो कारण हैं, इनका समर्थन हो रहा है संपत्तिओं द्वारा वरण करने रूपी कार्य से। यह समर्थन साधर्म्यमूलक है। [इसी प्रकार] उसी [कारण] का समर्थन इस [संपद्वरणरूप] कार्य से विरुद्ध विपत्ति का आस्पद होने से भी हो रहा है, जो एकाएक कार्य न करने के विरुद्ध बिना विचारे कार्य करने का कार्य है। किन्तु यह समर्थन वैधर्म्यमूलक है।

—पृथ्वि! स्थिर हो जा, नागराज! तुम इसे सम्हाले रहो, कूर्मराज! तुम इन दोनों को सम्हाले रहो, और दिग्गजो तुम लोग इन तीनों को धारण किए रहने में लगे रहो [क्योंकि] देव [राम] शिव धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने जा रहे हैं।

—यहाँ पृथ्वी आदि से स्थिर होने आदि की बात कहने में कारण है शिवधनुष पर प्रत्यंचा का चढ़ाया जाना। यह यहाँ समर्थक रूप से कहा गया है।

विमर्शिनी

कार्यकारणभावाश्रयस्य भेदद्वयस्य काव्यलिङ्गत्वं ग्रन्थकृन्नेव वक्ष्यतीति सामान्य-विशेषभावाश्रयमेव भेदद्वयमाश्रयणीयम्। विशेषेणापि सामान्यसमर्थने यत्र सामान्यवाक्य-स्योपपादनापेक्षत्वं तत्रायमेवालंकारः। नहि विशेषात्मकागस्त्यवृत्तान्तोपादानं विना पुंसां कुलवैलक्षण्येन चरितमात्रमेव प्रतिष्ठानिमित्तमिति सामान्यात्मा प्रकृतोऽर्थः सिद्ध्येत्। यत्र पुनः स्वतःसिद्धस्यैव प्रतीतिविशदीकरणार्थं तदेकदेशभूतो विशेष उपादीयते तत्रोदा-हरणालंकारः। गुणसंनिपाते दोषनिमज्जनात्मनः सामान्यस्य नैराकाङ्क्ष्येण सिद्धस्येन्दोः किरणेष्विवाङ्क इति तदेकदेशभूतो विशेषस्तत्र प्रतीतिविशदीकरणार्थमुपात्तः। अतश्च 'विशेषस्यान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यास' इत्यत्र विशेषेणापि सामान्यस्य समर्थनमिति सूत्र-णीयम्। अन्यथा ह्यव्याप्तिः स्यात्। तस्यैवेति सहसाविधानाभावस्य। एतत्कार्यविरुद्ध-मिति संपद्वरणकार्यविरुद्धम्।

कार्यकारणभावमूलक जो दो भेद हैं वे काव्यलिंग के भेद सिद्ध होते हैं यह स्वयं ग्रन्थकार ही आगे बतलाने वाले हैं, इसलिए यहाँ सामान्यविशेषभावमूलक दो भेदों को ही गिना जाना चाहिए। इन दो भेदों में भी विशेष से सामान्य के समर्थन का जो भेद है उसमें भी जब सामान्यार्थ-प्रति-पादक वाक्य समर्थन की अपेक्षा रखता है तब तो यहाँ [अर्थान्तरन्यास] अलंकार होता है, ऐसा नहीं है कि अगस्त्यवृत्तान्तरूपी विशेष अर्थ के उपादान के बिना, 'कुलनिरपेक्ष चरितमात्र ही व्यक्तियों की प्रतिष्ठा का निमित्त होता है' यह सामान्य अर्थ सिद्ध हो जाए। किन्तु जहाँ वह [सामान्य अर्थ] स्वतःसिद्ध रहता है और उसके एक अंशविशेष का उपादान केवल इसलिए किया जाता है कि उस सामान्य अर्थ की प्रतीति और स्पष्ट हो जाए वहाँ अलंकार उदाहरण होता है। गुणों के समुदाय में दोष के डूबने रूपी सामान्य अर्थ की प्रतीति अन्य किसी [समर्थक] अर्थ की अपेक्षा के बिना अपने आप भी सिद्ध हो जाती है इसलिए 'चन्द्रमा की किरणों में कलंक' यह जो उसी का

विशेषरूप एक अंश है इसका उपादान उस [सामान्य] अर्थ की प्रतीति में स्पष्टता लाने मात्र के लिए है। [इस कारण 'अनन्तरत्न०' पद्य में उदाहरणत्वकार ही मान्य है] इसीलिए [अलंकार-रत्नाकरकार को चाहिए कि वे] 'विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन अर्थान्तरन्यास'—इस सूत्र में 'विशेष के द्वारा भी सामान्य का समर्थन' इतना अंश और जोड़ें। नहीं तो उनका लक्षण अर्थान्तरन्यास के एक [विशेष से विशेषणसापेक्ष सामान्य के समर्थन से निष्पन्न] भेद में लागू नहीं हो पाएगा।

तस्यैव = उसी का = एकाएक कार्य न करने का। एतत्कार्यविरुद्धम् इस कार्य के विरुद्ध = सपत्नि द्वारा वरण किए जानेरूपी कार्य के विरुद्ध।

[सर्वस्व]

वैधर्म्येण सामान्यविशेषभावो यथा—

'अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम्।
त एव धन्याः सुहृदां पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः॥'

अत्रायुःकर्तृकापराद्धत्वाक्षिप्तस्याधन्यत्वस्यायुर्विरुद्धक्षयगतिप्रयुक्तं धन्यत्वं विरुद्धं सामान्यरूपतया समर्थकत्वेनोक्तम्। कार्यकारणतायां वैधर्म्येणोदाहृतम्। हिशब्दाभिहितत्वानभिहितत्वादिभेदाः स्वयमेव योद्धव्याः, चारुत्वातिशयाभावान्नेह प्रदर्शिताः।

वैधर्म्यमूलक सामान्यविशेषभाव का उदाहरण यथा—

'ओ हो हो! मेरी इस आयु ने बहुत बड़ा अपराध किया कि मुझे ऐसी अप्रिय बात कहनी पड़ रही है। वे ही जन धन्य हैं जो संसार में मित्रों का पराभव देखे बिना ही चल बसते हैं।'

यहाँ 'आयु के द्वारा अपराध किए जाने की बात से आक्षिप्त अधन्यता' के प्रति इसके विरुद्ध 'आयु की उलटे, चल बसने रूपी कार्य से अनित जो सामान्यरूप धन्यता' है उसे समर्थकरूप से कहा गया है।

कार्य कारणभाव में जो वैधर्म्यमूलकता होती है उसका उदाहरण [सहसा विदधीत०] द्वारा दे ही दिया है। इसके अतिरिक्त 'हि = क्योंकि' शब्द के द्वारा अर्थान्तरन्यास के अभिधा द्वारा कथित होने और कथित न होने से जो भेद होते हैं उनका अनुसंधान स्वयं ही कर लेना चाहिए। उनमें कोई विशिष्ट चमत्कार नहीं रहता अतः उन्हें यहाँ नहीं दिखलाया गया।

विमर्शिनी

विरुद्धं सामान्यरूपतयेत्यनेन वैधर्म्येण विशेषः सामान्येन समर्थित इत्युक्तम्। सामान्यं तु विशेषेण समर्थ्यते यथा—

'गुणानामेव दौरात्म्याद्धुरि धुर्यो नियुज्यते।
असंजातकिणस्कन्धः सुखं स्वपिति गौर्गडी॥'

अत्रापि समर्थ्यसमर्थकभावसमर्थनादुदाहरणत्वं वाच्यम्। उदाहृतमिति 'सहसा विदधीत—' इत्यादिना॥

'विरुद्धं सामान्यरूपतया' इत्यादि द्वारा यह बतलाया कि यहाँ वैधर्म्य के द्वारा सामान्य से विशेष का समर्थन हुआ। जहाँ तक विशेष से सामान्य के समर्थन का सम्बन्ध है उसका उदाहरण यह है—

'यह गुणों की ही दुरात्मता है कि धुर्य [बोझा ढोने में अधिक सक्षम बैल] बोझ ढोने के लिए जोता जाता है। गलियार बैल के गले में पट्ठा तक नहीं पड़ता और मजे में सोता रहता है।' समर्थ्यसमर्थकभाव इसमें भी है इसलिए इसे भी [अर्थान्तरन्यास का] उदाहरण कहा जा सकता है [अलंकाररत्नाकरकार के अनुसार आर्थ उदाहरणालंकार नहीं]। उदाहृतम् = 'सहसा विदधीत'—पद्य द्वारा।

विमर्श—अर्थान्तरन्यास का पूर्वेतिहास—

भामह, वामन तथा उद्भट में अर्थान्तरन्यास के सामान्यविशेषभाव की चर्चा नहीं मिलती। इसकी चर्चा रुद्रट से आरम्भ होती है। मम्मट उसका अनुसरण करते हैं। किन्तु कार्यकारणभाव की योजना प्रथम और अन्तिम बार केवल सर्वस्वकार करते हैं। रत्नाकर, विमर्शिनी, कुवलयानन्द तथा रसगंगाधर में उसको मान्यता नहीं मिली है। भामह ने 'हि'-शब्द के उपादान से आने वाली स्पष्टता को अर्थान्तरन्यास में प्रकट किया था। उद्भट ने उसके आगे समर्थ्य वस्तु के समर्थक वस्तु के पहले तथा पश्चात् उपादान की भी चर्चा की। रुद्रट ने पहिली बार साधर्म्य तथा वैधर्म्य की भी चर्चा की। इसके पहले के आचार्य इस विषय में भी चुप थे। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास का जो सर्वसंमत स्वरूप मान्य है उसे स्थिर करने का श्रेय रुद्रट को है। पूर्वाचार्यों के अर्थान्तरन्यास विवेचन इस प्रकार हैं—

भामह—

'उपन्यसनमन्यस्य यदर्थस्योदिताद‍ृते।
ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासः पूर्वार्थानुगतो यथा॥
परानीकानि सौमानि विविक्षोर्न च ते व्यथा।
साधु वासाधु वागामि पुंसामात्मैव शंसति॥
हिशब्देनापि हेत्वर्थप्रथनादुक्तसिद्धये।
अयमर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यज्यते यथा॥
वहन्ति गिरयो मेघानभ्युपेतान् गुरूनपि।
गरीयानेव हि गुरून् बिभर्ति प्रणयागतान्॥ २।७१-४॥

—जब कोई एक बात कही जाय और फिर उससे मिलती-जुलती दूसरी बात तो उसी का नाम अर्थान्तरन्यास हो जाता है। [अर्थान्तर = अन्य अर्थ का न्यास उपस्थिति]। यथा—

—शत्रु की भयंकर सेना में आप प्रवेश करना चाह रहे हैं और आपको तनिक भी व्यथा नहीं हो रही। होने वाले भले या बुरे की सूचना व्यक्ति को उसकी आत्मा ही दे देती है।

हेत्वर्थ का स्पष्टीकरण करने के लिए जब हि = क्योंकि शब्द का प्रयोग रहता है तब यह अर्थान्तरन्यास अधिक स्पष्ट हो जाता है। जैसे—

—पर्वत अपने पास आए बड़े से बड़े मेघों को भी अपना लेते हैं। इच्छा लेकर आए बड़ों को बड़े लोग ही वहन करते हैं॥

वामन = [सू०] उक्तसिद्ध्यै वस्तुनोऽर्थान्तरस्यैव न्यसनमर्थान्तरन्यासः॥—कथित वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए अन्य वाक्यार्थ की उपस्थिति अर्थान्तरन्यास।' यथा—

'प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसन्निधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचित् विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुषु॥

—'प्रिय ने स्वयं गूंथकर सौतों के सामने पीवरस्तन वक्ष पर पहनाई माला को किसी सुन्दरी ने त्यागा नहीं यद्यपि वह माला पानी से भीगी हुई थी। बात यह है कि महत्त्व प्रेम का होता है वस्तु का नहीं।'

स्पष्ट ही वामन अर्थान्तरन्यास के आर्थ भेद से शाब्द भेद के अन्तर पर भामह के समान ध्यान नहीं देते। इतना अवश्य है कि वे समर्थक अर्थ का वाक्यार्थरूप होना आवश्यक मानते हैं। पदार्थ रूप होने पर वे अर्थान्तरन्यास की निष्पत्ति स्वीकार नहीं करते। स्पष्ट ही वामन का लक्षण भामह के लक्षण की छाया है।

रुद्रट = 'समर्थकस्य पूर्वं यद् वचोऽन्यस्य च पृष्ठत ।
विपर्ययेण वा यत् स्याद्धिशब्दोक्त्याऽन्यथापि वा ॥
ज्ञेय· सोऽर्थान्तरन्यास· प्रकृतार्थसमर्थनात् ।
अप्रस्तुतप्रशंसाया दृष्टान्ताच्च पृथक् स्थिति ॥ २।४५ ॥

—समर्थक का कथन पहले हो और समर्थनीय बाद में, अथवा इससे उलटा हो, और यह 'हि = क्योंकि, शब्द के साथ हो अथवा उससे रहित तो इसे अर्थान्तरन्यास समझना चाहिए। इसमें प्रकृत अर्थ का समर्थन रहता है। इसलिए यह अप्रस्तुतप्रशंसा और दृष्टान्त से भिन्न हो जाता है।

रुद्रट के अनुसार अर्थान्तरन्यास के चार भेद हुए। उनके नाम इस प्रकार रखे जा सकते हैं (१) हेतुवाचकपदोक्तिपूर्वकसमर्थकपूर्वोपन्यासात्मक अर्थान्तरन्यास। (२) हेतुवाचकपदोक्ति-रहितसमर्थकपूर्वोपन्यासात्मक अर्थान्तरन्यास। (३) हेतुवाचकपदोक्तिपूर्वकसमर्थनीयपूर्वो-पन्यासात्मक अर्थान्तरन्यास तथा (४) हेतुवाचकपदोक्तिरहितसमर्थनीयपूर्वोपन्यासात्मक अर्थान्तरन्यास। 'समर्थकपश्चादुपन्यासात्मक'—इत्यादि योजना के द्वारा भी ये चारों नाम बनाए जा सकते हैं। इन चारों के उदाहरण रुद्रट ने दिए हैं किन्तु वे स्वतः सोचे जा सकते हैं।

भामह ने जिसे 'पूर्वार्थानुगति' कहा था और वामन ने 'उक्तसाधन', उसी सम्बन्धतत्त्व को रुद्रट ने पहली बार 'समर्थन'-शब्द से कहा। आगे यही शब्द अपना लिया गया।

रुद्रट—'धर्मिणमर्थविशेषं सामान्यं वाभिधाय तत्सिद्ध्यै ।
यत्र सधर्मिकमितर न्यस्येत् सोऽर्थान्तरन्यास· ॥
पूर्ववदभिधायैक विशेषसामान्ययोर्द्वितीय तु ।
तत्सिद्धयेऽभिदध्याद् विपरीतं यत्र सोऽन्योन्यम् ॥

साधर्म्यमूलक—'जहाँ विशेष या सामान्य रूप किसी धर्मी को कहकर उसकी सिद्धि के लिए उसी से मिलते-जुलते किसी अन्य धर्मी को उपस्थित किया जाय वह अर्थान्तरन्यास कहलाता है।

वैधर्म्यमूलक—इसी प्रकार विशेष या सामान्य में से किसी एक को कहकर उसकी सिद्धि के लिए उनके विपरीत किसी अन्य वस्तु का कथन दूसरा अर्थान्तरन्यास होता है।

विशेष के सामान्य द्वारा साधर्म्यमूलक समर्थन का उदाहरण इनके अनुसार यह है—

'तुङ्गानामपि मेघा शैलानामुपरि विदधते छायाम् ।
उपकर्तुं हि समर्था भवन्ति महता महीयाम· ॥

—मेघ ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर भी छाया कर देते हैं। ठीक है बड़ों का उपकार बड़े ही कर पाते हैं। रुद्रट का यह उदाहरण सर्वस्व और काव्यप्रकाश के उदाहरणों से इस भेद के लिए अच्छा है।

रुद्रट ने अन्य तीनों के भेदों के उदाहरण भी अच्छे दिए हैं। इन चारों में 'हि तथाहि' आदि हेतुवाचक पदों का उपयोग है, अत· आर्थ अर्थान्तरन्यास का उदाहरण उनमें नहीं है।

रुद्रट के लक्षण में 'धर्मी' शब्द का प्रयोग विशेषतः विचार्य है। इसका अर्थ नामिसाधु ने उपमेय किया है। विशेष और सामान्य समान गुणों से युक्त होते हुए भी उपमानोपमेयभाव से युक्त नहीं होते। उपमानोपमेय वे बनते हैं जो परस्पर में भिन्न भी होते हैं और समान भी, इसीलिए अनन्वय को उपमाभिन्न माना जाता है। सामान्य और विशेष समान तो है, भिन्न नहीं होते। वस्तुतः वामन ने वस्तु शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया था रुद्रट उसी अर्थ में धर्मी शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। साध्यसाधकभाव यदि पदार्थगत हुआ तो उसे अर्थान्तरन्यास मानना संभव न होगा। वामन ने इसका उदाहरण देकर निराकरण भी किया है—'वस्तुग्रहणात् पदार्थस्य हेतोर्न्यसनं नार्थान्तरन्यासः, यथा इह नातिदूरगोचरमस्ति सरः कमलसौगन्ध्यात्—' इति—यदि हेतु पदार्थरूप हुआ तो वहां अर्थान्तरन्यास न होगा यथा—'यहां से तालाब अधिक दूर नहीं दिखाई देता है, कमल सुगन्ध से'—यहां।

मम्मट—'सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा॥'
[वृत्ति] साधर्म्येण वैधर्म्येण वा सामान्यं विशेषेण यत्
समर्थ्यते विशेषो वा सामान्येन सोऽर्थान्तरन्यासः।'

—साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा सामान्य अर्थ से विशेष का समर्थन किया जाय या विशेष अर्थ से सामान्य अर्थ का तो वह अर्थान्तरन्यास होता है।

सामान्य से विशेष के साधर्म्यमूलक समर्थन का उदाहरण मम्मट ने यह दिया है—

'निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम्।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतम्॥

—स्वयं सदोष व्यक्ति को सर्वथा अदोष वस्तु भी विपरीत दिखलाई देती है। पीलिया का रोगी चन्द्र से शुभ्र शंख को भी पीला ही देखता है।

मम्मट ने विशेष के सामान्य द्वारा साधर्म्यमूलक समर्थन का जो उदाहरण दिया है वह रुद्रट के ऊपर उद्धृत उदाहरण द्वारा तथा सर्वस्वकार के 'लोकोत्तरं चरितम्०' पद्य के द्वारा गतार्थ है। वैधर्म्य का एक उदाहरण मम्मट ने 'गुणानामेव०' यह पद्य दिया है जिसे विमर्शिनीकार ने उद्धृत किया है और दूसरा 'अहो हि०' यह पद्य जो स्वयं मूल में ही उद्धृत है।

अर्थान्तरन्यास और काव्यलिंगः—

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सर्वस्वकार के पहले तक अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव का समावेश नहीं हुआ था। परवर्ती आलंकारिकों ने इसका खण्डन किया। शोभाकर ने इसे हेत्वलंकार का विषय माना। हेत्वलंकार शब्द शोभाकर ने काव्यलिंगालंकार के लिए अपनाया है मम्मट ने भी हेत्वलंकार को काव्यलिंग से अभिन्न बतलाया था। इस प्रकार विमर्शिनीकार ने जो कार्यकारणभावमूलक भेदों को काव्यलिङ्ग में अन्तर्भूत बतलाया उसका मूल रत्नाकर ही है। रत्नाकरकार ने हेत्वलङ्कार के उदाहरण के रूप में विल्हण कवि की—

'वक्षःस्थली रक्षतु सा जगन्ति जगत्प्रसूतेर्गरुडध्वजस्य।'

—'जगत् के पिता विष्णु भगवान् की वक्षःस्थली जगत् की रक्षा करे' यह उक्ति दी है। इसमें जगद् रक्षा के लिए जगत्पितृत्व कारण है। पिता अपने वक्ष पर संतान की रक्षा करता है। यहाँ हेतु पदार्थात्मक है अतः यह निश्चित ही पदार्थकाव्यलिङ्गालङ्कार है। सर्वस्वकार द्वारा अर्थान्तरन्यास के लिए उद्धृत कार्यकारणभावमूलक भेदों में जो हेतु हैं वे वाक्यार्थात्मक हैं, इसलिए

इनका पदार्थकाव्यलिंग या पदार्थहेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग का उदाहरण मम्मट ने यह दिया है—

'वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे ! न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान् ।'

—'हे भगवान् शंकर ! इस शरीर में पुनर्जन्म से यह अनुमान है कि गतजन्म में मैंने आप को कभी भी प्रणाम नहीं करने का अपराध किया है।' इस स्थल में प्रणाम न करना अपराध के प्रति हेतु है। यह हेतु वाक्य के द्वारा प्रतिपादित है, अतः यह वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग हुआ। अब यह सोचना है कि सर्वस्वकार द्वारा दिए उदाहरणों की स्थिति इस उदाहरण की स्थिति से भिन्न है अथवा अभिन्न। 'पृथ्वि स्थिरा भव' पद्य में तो स्थिति सर्वथा अभिन्न है। 'भगवान् राम के द्वारा शिवधनुर्भंग चढ़ाया जाना' वाक्यार्थ कारण है पृथिवी आदि को स्थिर आदि होने की हिदायत करने में। यहाँ अवश्य ही कारण अर्थान्तर है और उसका उपस्थापन न्यास, अतः अर्थान्तरन्यासत्व यहाँ है, किन्तु सोचना यह है अलङ्कार भी यही है अथवा अन्य कोई। स्पष्ट ही यहाँ चमत्कार हेतुकथन में है, या तो उससे हो रही भगवान् राम के शौर्यातिशय की व्यंजना में। इस कारण यहाँ अलंकारत्व हेतूक्ति में है, हेतुगत अर्थान्तरत्व में नहीं। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार 'वपुःप्रादुर्भावात्०' पद्य में अपराध की सिद्धि बिना नमनाभाव के नहीं होती उसी प्रकार 'पृथ्वि ! स्थिरा०' पद्य में भी पृथिवी आदि को आदेश देने या सावधान करने की बात शिवधनुष के चढ़ाए जाने रूप कारण के बिना सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार इन दोनों पद्यों के अर्थ अधिकांश में समान हैं। जहाँ तक 'सहसा विदधीत०' पद्य का प्रश्न है, इस पद्य में पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध में एक ही बात कही गई है कि 'बिना विचारे काम न करे' और इसकी पुष्टि अनुरूप और प्रतिरूप दो फलश्रुतियों द्वारा की गई है बिना विचारे काम करने से सिर पर आफत आती है और विचार के काम करने से सम्पत्ति मिलती है। इस प्रकार यहाँ सामान्यविशेषभाव नहीं है क्योंकि दो विशेष ही विशेष वक्तव्य यहाँ दिए गए हैं। कार्यकारणभाव अवश्य है। इसलिए यहाँ वस्तुतः एक ही अर्थ का न्यास है–अर्थान्तर का नहीं। इसी प्रकार चमत्कार भी हेतु कथन में है फलतः इसे भी काव्यलिंग का स्थल मानना ही उचित है। इतना अवश्य है कि रत्नाकरकार ने 'प्रजानां विनयाधानाद् सपिता, प्रजा के पिता दिलीप ही थे क्योंकि वे उन्हें शिक्षा देते थे' इस स्थल में हेतु का कथन स्पष्ट होने से उसमें चमत्कार का अभाव माना है और उसे काव्यलिंगालंकार या हेत्वलंकार मानना उचित नहीं माना है। ठीक वैसी ही स्थिति 'सहसा' पद्य की है। किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ कोई अलंकार नहीं है क्योंकि इस पद्य में चमत्कारकला का स्पष्ट ही अस्तित्व है। इस प्रकार कार्यकारणभावमूलक अर्थान्तरन्यास के स्थल काव्यलिंग या हेतु के स्थलों से अभिव्यक्तिगत आंशिक भेद रखने पर भी सौन्दर्यबोधगत भेद नहीं रखते अतः भिन्न नहीं कहे जा सकते। सर्वस्वकार को इन भेदों के ममत्व ने इसलिए सताया होगा कि भामह ने 'हेतुहेतुमद्भाव' का अस्तित्व अर्थान्तरन्यास में बतलाया था। और सामान्यविशेष के समर्थ्यसमर्थकभाव में भी हेतुहेतुमद्भाव रहता ही है। वस्तुतः अर्थान्तरन्यास का प्राणतत्त्व समर्थ्यसमर्थकों की मौलिक एकता है। वैधर्म्यमूलक अर्थान्तर में भी अनुरूप अर्थान्तर का आक्षेप होने के पश्चात् ही समर्थ्यसमर्थकभाव चरितार्थ होता है। शुद्ध कार्यकारणभाव में यह एकता नहीं रहती। फलतः एकतापन्न अर्थान्तर का न्यास ही अर्थान्तरन्यास की स्वतन्त्र अलङ्कारता का बीज है। वैसे तो अर्थान्तर का न्यास उपमा में भी उपमानरूप से रहता ही है।

अर्थान्तरन्यास और उदाहरणलंकारः—

जिस प्रकार कार्यकारणभावमूलक अर्थान्तरन्यास पर विवाद था उसी प्रकार 'विशेष से सामान्य के समर्थन वाले भेद में भी विवाद है। रत्नाकरकार ने इस भेद को भी अर्थान्तरन्यास से हटा दिया है। उन्होंने अर्थान्तरन्यास का लक्षण केवल इतना ही किया है—

'विशेषत्यान्येन समर्थनमर्थान्तरन्यासः'।

—विशेष का अन्य [सामान्य] से समर्थन अर्थान्तरन्यास होता है। विमर्शिनीकार ने इसी का खण्डन करते हुए 'विशेष के द्वारा भी सामान्य का समर्थन' सूत्र में संनिविष्ट करने की बात कही है। रत्नाकरकार ने सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन में उदाहरणालंकार माना है। उनका तर्क यह है कि इस भेद को भी अर्थान्तरन्यास का भेद मानने पर अर्थान्तरन्यास के लक्षण में एकरूपता नहीं आती। कारण यह दिया है कि सामान्य के द्वारा विशेष के समर्थन में व्याप्यव्यापकभाव का अनुभव होता है। विशेष व्याप्य रहता है और सामान्य व्यापक। यदि विशेष से सामान्य का समर्थन माना जाय तो यह व्याप्यव्यापकभाव अनुभव में नहीं आता। इस प्रकार सामान्य द्वारा विशेष के समर्थन में व्याप्यव्यापकभाव दर्शित रहेगा और विशेष द्वारा सामान्य के समर्थन में हेतुहेतुमद्भावमात्र। कोई सामान्य सम्बन्ध नहीं बन पायगा। विमर्शिनीकार ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि विशेष से सामान्य का समर्थन दो स्थितियों में होता है एक तो तब जब समर्थनीय सामान्य वाक्यार्थ समर्थकरूप से प्रस्तुत विशेष वाक्यार्थ के समर्थन के बिना प्रतिष्ठित नहीं हो पाता अतः उसकी अपेक्षा रखता है, इस प्रकार जहाँ समर्थनीय अर्थ की सिद्धि समर्थन पर निर्भर रहती है। दूसरी स्थिति वह होती है जिसमें समर्थनीय अर्थ समर्थन की अपेक्षा नहीं रखता, स्वतः ही सिद्ध हो जाता है। इनमें से समर्थनसापेक्ष सामान्य अर्थान्तरन्यास के अन्तर्गत आता है और समर्थननिरपेक्ष सामान्य उदाहरणालंकार के अन्तर्गत। ऐसा अन्तर कर विमर्शिनीकार ने 'लोकोत्तरं चरितम्' पद्य को अर्थान्तरन्यास का उदाहरण माना था, किन्तु 'अनन्त रत्न०' पद्य को उदाहरणालङ्कार का ही उदाहरण स्वीकार किया था। रत्नाकरकार द्वारा उठाई आपत्ति का उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। वस्तुतः अर्थान्तरन्यास में प्राणभूत तत्त्व सामान्य विशेष का परस्पर समर्थ्यसमर्थकभाव है, व्याप्यव्यापकभाव नहीं। जहाँ तक समर्थ्यसमर्थकभाव का सम्बन्ध है यह विशेष द्वारा सामान्य के समर्थन में भी रहता है। इसके अतिरिक्त व्याप्यव्यापकभाव भी नहीं रहता ऐसी बात नहीं। सामान्य से विशेष के समर्थन में वह व्याप्याभिमुखी है और विशेष से सामान्य के समर्थन में व्यापकाभिमुखी इतना ही अन्तर रहता है। हाथी देखकर उसके पदचिह्न का भी अनुमान किया जा सकता है और पदचिह्न देखकर हाथी का भी। व्याप्यव्यापकभाव दोनों ही ओर बन जाता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने विमर्शिनीकार द्वारा प्रस्तुत समर्थनसापेक्षता और समर्थननिरपेक्षता के तर्कों द्वारा अर्थान्तरन्यास और उदाहरणलंकार का भेद न मान अन्य प्रकार से माना है। विमर्शिनीकार का इस विषय में उल्लेखपूर्वक खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—'मम्मट द्वारा दिए गए 'निजदोषावृत०' पद्य में समर्थनीय वाक्यार्थ की सिद्धि समर्थन पर निर्भर नहीं है। वह स्वतः निष्पन्न हो जाती है। 'दोष से भ्रम होता है इस तथ्य में गँवार भी संदेह नहीं करता।' [द्र० रसगंगाधर-निर्णयसागर संस्करण-६ पृ० ६३९] उक्त अलंकारों के भेद के विषय में उन्होंने जो तर्क दिए हैं वे ये हैं—'सामान्यार्थसमर्थक विशेष अर्थ दो प्रकार का होता है। एक वह जिसमें अपना स्वतन्त्र विधेय नहीं रहता और दूसरा वह जिसमें रहता है। इनमें से प्रथम में उदाहरणालंकार होता है और द्वितीय में अर्थान्तरन्यास। उदाहरण—

'उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सज्जनो नितराम्।
मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः॥'

—सत्पुरुष अत्यन्त विपद्ग्रस्त हो जाने पर भी एकमात्र उपकार ही करता है, इसमें दृष्टान्त है मूर्च्छित हुआ अथवा मरा हुआ पारा।

अर्थान्तरन्यास—

'उपकारमेव कुरुते विपद्गतः सज्जनो नितराम्।
मूर्च्छां गतो मृतो वा रोगानपहरति पारदः सकलान्॥'

—सत्पुरुष अत्यन्त विपद्ग्रस्त हो जाने पर भी उपकार ही करते हैं। मूर्च्छित या मृत हुआ पारा सभी रोगों को दूर करता है।

स्पष्ट ही प्रथम पद्यार्ध में विधेयभूत क्रिया एक ही है 'उपकार करना' जब कि द्वितीय पद्यार्ध में उत्तरार्ध की क्रिया स्वतन्त्र है 'दूर करना'। इनमें से प्रथम पद्यार्ध में जो दो वाक्यार्थ कहे हैं उनमें से प्रथम अर्थ अवयवी है और दूसरा उसी का अवयव। इस प्रकार यहाँ अवयवावयविभाव का निरूपण है। उदाहरणालङ्कार का प्राण अवयवावयविभाव का निरूपण ही होता है। पण्डितराज ने इसका लक्षण इसी प्रकार का बनाया है—

—'सामान्येन निरूपितस्यार्थस्य सुखप्रतिपत्तये तदेकदेशं निरूप्य तयोरवयवावयविभाव उच्यमानं उदाहरणम्।'

—सामान्यरूप से निरूपित वाक्यार्थ की प्रतीति सुखपूर्वक हो सके एतदर्थ उसी वाक्यार्थ के किसी एक अंश का निरूपण कर उन दोनों का अवयवावयविभाव शब्द से कहना उदाहरण नामक अलंकार कहलाता है।

अर्थान्तरन्यास में सामान्य और विशेष भी परस्पर में अवयवावयविभाव से युक्त रहते हैं। उनमें सामान्य अवयवी होता है और विशेष अवयव। किन्तु इनका यह अवयवावयविभाव शब्द से कहा नहीं जाता। उदाहरणालंकार में इस भाव के वाचक शब्द होते हैं 'इव, यथा, निदर्शन, दृष्टान्त' आदि। उपर्युक्त पद्य में निदर्शन शब्द प्रयुक्त है। अर्थान्तरन्यास वाले पद्य में ऐसे किसी भी शब्द का स्पष्ट ही अभाव है। इस प्रकार उदाहरणालङ्कार में चमत्कार का कारण अवयवावयविभाव रहता है। इसी भाव को लेकर यह उपमा से भिन्न रहता है। उपमा में उपमान तथा उपमेय के बीच अवयवावयविभाव की विवक्षा नहीं रहती। इस प्रकार उदाहरणालंकार पण्डितराज के अनुसार नियमतः शाब्द या वाच्य ही होता है। रत्नाकरकार ने इसे आर्थ भी माना है। पण्डितराज ने इसका उत्तर उदाहरणालङ्कार के प्रकरण में देते हुए लिखा है कि अवयवावयविभाव आर्थ होगा इसका अर्थ इतना ही है कि उसके वाचक शब्द का प्रयोग न होकर उसके प्रतिपादक शब्द का प्रयोग होगा। अर्थ यह कि जहाँ आर्थ होगा वहाँ भी उसका शब्दतः प्रतिपादन रहेगा ही साक्षात् कथनमात्र नहीं रहेगा। इस प्रकार यह आर्थी उपमा के समान ही आर्थ कहा जा सकेगा। अर्थान्तरन्यासालङ्कार के प्रसंग में भी रत्नाकर के इस पक्ष को पण्डितराज ने उठाया है। वहाँ उन्होंने इसका खण्डन तो नहीं किया किन्तु इसके उत्तर में समर्थ्यसमर्थक वाक्यों में विधेयगत उपर्युक्त एकता का एक स्वतन्त्र तर्क प्रस्तुत कर अर्थान्तरन्यास से उदाहरण का भेद स्पष्ट कर दिया। इस तर्क में अवयवावयविभाव की सिद्धि ही प्रमुख है। उसका तात्पर्य यह निकालना चाहिए कि जहाँ चमत्कार का कारण अवयवावयविभाव या उसके द्वारा किया गया समर्थन हो वहाँ उदाहरणालङ्कार होता है। अर्थान्तरन्यास में चमत्कार का कारण सामान्यविशेषभाव या तद्गत समर्थन रहता है इसलिए इससे उदाहरणालङ्कार भिन्न ठहरता है।

इस प्रकार अवयवावयविभाव का वाच्य या वाच्येतर रूप से प्रतिपादन तथा उसका ही चमत्कारजनक होना उदाहरणालंकार का प्रधान भेदक तत्त्व ठहरता है।

पण्डितराज ने यह भी कहा है कि मम्मट आदि प्राचीन आलंकारिक उदाहरणालंकार को उपमा से अभिन्न मानते हैं। उनके अनुसार जब उदाहरण नाम का कोई स्वतन्त्र अलंकार होता ही नहीं है तब 'विशेष से सामान्य के समर्थन' से निष्पन्न भेद को अर्थान्तर के अतिरिक्त अन्य किस में अन्तर्भूत किया जा सकेगा अलंकारसर्वस्वकार ने भी उदाहरण को स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना है। अतः उन्होंने 'अनन्तरत्न०' पद्य को अर्थान्तरन्यास का ही अंग माना है।

इस प्रकार जैसे सर्वस्वकार का यह मत अमान्य ठहरता है कि अर्थान्तरन्यास में कार्य-कारणभावमूलक भेद भी होते हैं उसी प्रकार अलंकाररत्नाकरकार का यह मत भी अमान्य ही ठहरता है कि विशेष से सामान्य का समर्थन' अर्थान्तरन्यास न होकर उदाहरणालंकार होता है। फलतः अर्थान्तरन्यास के केवल एक या चार भेद मान्य न होकर केवल दो भेद ही मान्य ठहरते हैं। और इस प्रकार अर्थान्तरन्यास पर रुद्रट का सिद्धान्त ही मान्य सिद्धान्त ठहरता है।

कार्यकारणभावमूलक भेदों की गणना में हिचकिचाहट तो सर्वस्वकार को भी थी क्योंकि इन्होंने भेदों की गणना दो-दो करके ही है। एक साथ चार करके नहीं।

विकस्वरालंकार—

जयदेव ने चन्द्रालोक में समर्थ्यसमर्थकभाव को लेकर एक नवीन कल्पना की है। उन्होंने एक ऐसा समर्थक खोज निकला है जिसमें तीन अंश रहते हैं—आरम्भ में (१) विशेषांश, मध्य में (२) सामान्यांश, अन्त में पुनः (३) विशेषांश। इसका निरूपण उन्होंने इस प्रकार किया है—

'यस्मिन् विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः।
स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः सागरा इव॥'

—जिसमें पहले विशेष फिर सामान्य तथा तत्पश्चात् पुनः विशेष का उल्लेख हो वह विकस्वर नामक अलंकार माना जाना चाहिए। उदाहरण—'उसे [उस राजा को] जीता नहीं जा सका क्योंकि जो महान् होते हैं वे बड़े दुर्धर्ष होते हैं। जैसे सागर।'

यहाँ व्यक्तिविशेष के अपराभव का महान् व्यक्तियों की दुर्धर्षता से समर्थन किया गया पुनः उसकी पुष्टि के लिए सागररूपी विशेष पदार्थ की उपमा प्रस्तुत कर दी गई। इस प्रकार यहाँ विशेष का सामान्य से और सामान्य का पुनः विशेष से समर्थन किया गया। ठीक यही स्थिति 'अनन्तररत्नप्रभव'० पद्य में है। अप्पयदीक्षित ने स्पष्ट उदाहरण के रूप में इसी पद्य को प्रस्तुत किया है। इस पद्य में हिमाचल के सौभाग्यलोप के अभाव का समर्थन गुणसन्निपात में एक दोष के छिप जाने की उक्ति के द्वारा और इस समर्थक वाक्यार्थ का समर्थन चन्द्रकिरणों में छिपे कलंक के द्वारा किया गया है। पण्डितराज जगन्नाथ और उन्हीं के अनुयायी विश्वेश्वर पण्डित ने यहाँ अप्पयदीक्षित का खण्डन करते हुए लिखा है कि यहाँ उदाहरणालंकार और अर्थान्तरन्यास अथवा अर्थान्तरन्यास के ही भेदों की संसृष्टि मान लेना अधिक उपयुक्त है।

पाठान्तर :—

'सहसा विदधीत०' पद्य के तुरन्त बाद की जो पंक्ति है उसका निर्णयसागरीय रूप ही हमने स्वीकार्य माना है। त्रिवेन्द्रमसंस्करण में उसमें 'च' नहीं है। डॉ० राघवन् तथा डॉ द्विवेदी ने अपने संस्करणों में त्रिवेन्द्रम् वाला पाठ ही अपनाया है। 'सोचे बिना काम न करना' तथा 'सोच-समझ कर काम करना' दो भिन्न तत्त्व हैं, अभिन्न नहीं। एक अभावात्मक है और दूसरा

भावात्मक। यह आवश्यक नहीं कि जो व्यक्ति 'बिना विचारे काम नहीं करता' वह विचार कर काम करे ही। सम्भव है कोई ऐसा व्यक्ति हो जो चाहता तो हो बिना विचारे काम न करना, किन्तु सोच विचार न कर पाता हो अतः निष्क्रिय बैठा रहता हो। इस प्रकार 'सहसा विधानाभाव' तथा 'विमृश्यकारित्व' को अभिन्न मानकर मूल पंक्ति से समुच्चायक 'च' को हटाना ठीक नहीं है। मूल की परवर्ती पंक्ति की स्थिति से भी यह तथ्य प्रमाणित होता है। उसमें 'सहसाविधानाभावविरुद्धाविवेककार्यम्' पद से अर्थ निकलता है कि अविवेक सहसा कार्य करने का विरोधी तत्त्व है। अविवेक विरोधी है तो विवेक को अविरोधी या अनुकूल ही कहा जा सकता है। यदि विवेक सहसाविधानाभाव से अभिन्न होता तो अविवेक को उससे भिन्न कहा जाना विरुद्ध नहीं। निर्णयसागर संस्करण में इन पंक्तियों में कोई पाठान्तर भी नहीं है। दर्शन का सिद्धान्त भी यह नहीं है कि अभावाभाव नियमतः भावस्वरूप हो ही। इसीलिए काव्यप्रकाशकार ने 'यः कौमारहरः०' पद्य में विभावना और विशेषोक्ति को अस्पष्ट माना है क्योंकि उनमें अपेक्षित कारणाभाव तथा कार्याभाव अभावाभावमुखेन कथित हैं स्वरूप से नहीं। उत्कण्ठा का कारण उद्दीपक मन अवश्य होता है। उसका अभाव यहाँ नवत्वाभावरूप से न कहा जाकर तत्पद द्वारा परामृष्ट प्राचीनत्व रूप से कहा गया है। इसी प्रकार प्राचीनत्व का कार्य उत्कण्ठा का अभाव यहाँ उत्कंठारूप से कहा गया है जो अनुत्कंठाभाव या उत्कण्ठाभावाभाव के गर्भ से निष्पन्न होने वाला अर्थ है। अभावाभाव यदि सर्वात्मना भावरूप होता तो अस्पष्टता का यह दोष यहाँ न आता। फलतः सहसाविधानाभाव और विमृश्यकारित्व को भिन्न मानना और तदनुसार पंक्ति में परिवर्तन न करना ही ठीक है। संजीविनीकार विद्याचक्रवर्ती ने अर्थान्तरन्यास का संग्रह कारिका में इस प्रकार किया है—

> 'समर्थकत्वेन निर्दिष्टः प्रकृतो यत्र समर्थ्यते।
> सोऽयमर्थान्तरन्यासः सामान्यादिभिरष्टधा ॥'

—समर्थनीय रूप से निर्दिष्ट प्रकृत अर्थ का जो समर्थन वह अर्थान्तरन्यास सामान्यादि प्रकारों से आठ प्रकार का होता है।

विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—एवमित्यादिना।

इस [अर्थान्तरन्यास प्रकरण] का उपसंहार करते और अन्य प्रकरण का आरम्भ करते हुए कहते हैं—

[सर्वस्व]

एवमप्रस्तुतप्रशंसानुपङ्गायातमर्थान्तरन्यासमुक्त्वा गम्यमानप्रस्तावागतं पर्यायोक्तमुच्यते—

[सू० ३७] गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्।

यदेव गम्यते तस्यैवाभिधाने पर्यायोक्तम्। गम्यस्य सतः कथमभिधानमिति चेत्, गम्यापेक्षया प्रकारान्तरेणाभिधानस्य भावात्। नहि तस्यैव तदैव तथैव विच्छित्त्या गम्यत्वं वाच्यत्वं च संभवति, अतः कार्यादिद्वारेणाभिधानम्, कार्यादेरपि तत्र प्रस्तुतत्वेन वर्णनार्हत्वात्। अत एवाप्रस्तुत-

प्रशंसातो भेदः। एतच्च विस्तरयाप्रस्तुतप्रशंसाप्रस्तावे निर्णीतमिति तत एवावधार्यम्। उदाहरणम्—

'स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसंभोगलालिताः।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः।।'

अत्र हयग्रीवस्य कार्यमुखेन स्वर्गविजयो वर्णितः। प्रभावातिशयप्रतिपादनं च कारणादिव कार्यादपीति कार्यमपि वर्णनीयमेवेति पर्यायोक्तस्यायं विषयः।

इस प्रकार [समासोक्ति लक्षण से प्राप्त अर्थान्तर और उसी गम्यता, इन दो तत्त्वों में से प्रथम अर्थान्तर का निरूपण] अप्रस्तुतप्रशंसा [में किया और उसी] से लगे-लगे अर्थान्तरन्यास का [भी] निरूपण किया, अब गम्यता के प्रसंग से प्राप्त पर्यायोक्त का निरूपण करते हैं –

[सूत्र ३७] गम्य [अर्थ] का भी प्रकारान्तर से अभिधान पर्यायोक्त [नामक अलंकार कहलाता है]॥

[वृत्ति] जिसकी प्रतीति व्यंजना से हो रही हो उसी को यदि अभिधा से भी कहा जा रहा हो तो [अलंकार] पर्यायोक्त [कहलाता है]। जो अर्थ व्यंजना से प्रतीत हो रहा होगा उसका अभिधान [अभिधा से कथन] संभव हो कैसे ? [जिस रूप से व्यंग्य होगा उस] से भिन्न रूप से अभिधान होने से। ऐसा नहीं कि वही [अर्थ] उसी समय उसी रूप में व्यंग्य और वाच्य दोनों हो, अतः अभिधान [जो होता है वह] कार्य आदि के द्वारा होता है क्योंकि कार्य आदि भी प्रस्तुत ही होते हैं अतः वर्णनयोग्य होते हैं। इसीलिए [इस अलंकार का] अप्रस्तुतप्रशंसा से भेद है। यह [भेद] विस्तारपूर्वक अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण में तय कर दिया है अतः इसे वहीं से जान लेना चाहिए।

उदाहरण—

'शची के केशसंभोग से लालित वे पारिजातमंजरियाँ नन्दनवन में जिसके सैनिकों ने अवज्ञापूर्वक छुईं।'

यहाँ कार्य के द्वारा हयग्रीव का स्वर्गजय बतलाया गया। प्रभावातिशय का प्रतिपादन कारण के समान कार्य से भी संभव होता है अतः कार्य भी वर्णित किया जा सकता है, अतः यह स्थल पर्यायोक्त का विषय है।

विमर्शिनी

तदेवाह-गम्यस्यापीत्यादि। ननु कथमेकस्यैवैकस्मिन् काले गम्यत्वं वाच्यत्वं च संभवतीत्याह-तिम्यस्यैवेत्यादि। प्रकारान्तरेणे कार्यादिद्वारेण। अत इति। एकस्यैवैकस्मिन् काले गम्यत्ववाच्यत्वासंभवात्। कार्यादिद्वारेणेति, आदिशब्दः प्रकारे। अभिधीयमानं हि कार्यं तदविनाभावित्वात् स्वसिद्धये कारणमाक्षिपतीति गम्यमपि तद् वाच्यायमानमिति यदेव गम्यते तस्यैव भङ्ग्यन्तरेणाभिधानम्। अतश्च

'स्वभ्यस्तदुर्नयजयस्तनयस्तदीयः चमासारच जयवाहननामधेयः।
दुर्वारवैरिवरवीरविलासिनीनां स्वप्नावशेषमकरोत्प्रियदर्शनं यः॥

इत्यादावलंकारप्रकारत्वं न वाच्यम्, बहुधाजयत् इति हि क्रियमाणे 'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः' इत्यादिवदेतदकाव्यमेव स्यात्। न च दोषाभावमात्रमलंकारत्वमिति बहुशः प्रागुक्तम्। यत्तु स्वप्नावशेषप्रियदर्शनात्मककार्यरूपेणार्थेन स्वसिद्ध्यर्थं कारणरूपस्तद्वध

आक्षिप्यते तदितरप्रकारान्तरं पृथग्वक्तु न युक्तमिति निर्बीजैव पर्यायोक्तान्तरवाचोयुक्तिः। अत एवेति। द्वयोरपि कार्यकारणयोः प्रस्तुतत्वात्। कार्यमुखेनेति। पारिजातमञ्जरीस्पर्श-द्वारेणेत्यर्थः। स्वर्गविजय इति कारणरूपः। वर्णनीयमिति, प्रस्तुतमेवेत्यर्थः।

उसी को कहते हैं 'गम्यस्यापि'– इत्यादि के द्वारा। 'एक ही वस्तु एक ही समय में गम्य और वाच्य दोनों कैसे हो सकती है'—इस शंका पर समाधान देते हुए कहते हैं गम्यस्यैव। 'प्रकारा-न्तरेण = दूसरे प्रकार, दूसरे रूप से' = कार्य आदि रूप से। 'अतः = इसलिए' अर्थात् एक ही का एक ही समय में गम्य और वाच्य दोनों होना संभव नहीं होता इसलिए। कार्यादि द्वारेण = इसमें आया आदि शब्द प्रकारवाचक है, अर्थात् कार्य आदि के रूप से। कार्य को अभिधा से कहा जाता है तो वह अपनी सिद्धि के लिए कारण का आक्षेप कर लेता है क्योंकि यह कारण से अलग नहीं रहता। इस प्रकार कारण गम्य होने पर भी [वाच्यसिद्धि का कारण होने से] वाच्य जैसा ही हो जाता है। इस प्रकार जो अर्थ व्यञ्जना से प्रतीत होता है, दूसरे रूप में अभिधा द्वारा कथन भी उसी का होता रहता है। और इसी कारण [अलङ्काररत्नाकरकार ने जो—'सापेक्षत्वा-दुपादानेनान्यप्रतीति, महदन्तरेण वाभिधानं पर्यायोक्तम्'—'सापेक्ष होने के कारण उपादान लक्षणा द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति अथवा दूसरे रूप से अभिधान पर्यायोक्त होता है'—इस प्रकार पर्यायोक्त के दो अलग-अलग भेद माने और—]

'भयवाहन नाम का उसका दुर्नीति को जीतने में खूब अभ्यस्त पुत्र पृथ्वी की रक्षा करने लगा, जिसने दुर्जय शत्रुओं की सुन्दर वनिताओं के लिए उनके प्रिय का दर्शन केवल स्वप्न तक सीमित कर दिया।'

—इस पद्यार्थ को द्वितीय पर्यायोक्त का उदाहरण माना है, वह नहीं मानना चाहिए। यदि यहाँ केवल इतना ही कहा जाय कि 'भयवाहन ने बहुत सी विजयों को प्राप्त किया' तो यह कथन 'सूर्य अस्त हो गया है, चन्द्र चमक रहा है'—इत्यादि कथनों के समान अकाव्य ही सिद्ध होगा और हम पीछे यह कई बार कह चुके हैं कि दोषाभावमात्र अलङ्कार नहीं होता, और क्योंकि यहाँ भी 'प्रियदर्शन का स्वप्नाधीन होना' यह जो कार्यरूप अर्थ है वह अपनी सिद्धि के लिए अपने कारण शत्रुवध का आक्षेप करता है [अतः यहाँ भी कारणरूप अर्थ वाच्य सिद्धि का कारण है] फलतः इसे पर्यायोक्त का [ऐसा एक] दूसरा प्रकार मानना ठीक नहीं है [जिसमें वाच्यार्थ की सिद्धि व्यंग्यार्थ की अपेक्षा नहीं रखती]। अतएव = कार्य और कारण दोनों के ही प्रस्तुत होने से। कार्यमुखेन = कार्य के द्वारा अर्थात् पारिजातमञ्जरी के स्पर्श के द्वारा। स्वर्ग-जय अर्थात् कारणरूप स्वर्गजय। वर्णनीय = अर्थात् प्रस्तुत।

विमर्श—पर्यायोक्त का पूर्वेतिहास—

भामहः—

> 'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
> उवाच रत्नाहरणे चैद्यं शार्ङ्गधनुर्यथा॥
> गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः।
> न भुञ्जते द्विजास्तच्च रसदाननिवृत्तये'॥ ३।८९॥

—पर्यायोक्त वह जिसमें अन्य प्रकार से अभिधान होता है। जैसे रत्नाहरण नामक [अनुप-लब्ध] काव्य में श्रीकृष्ण ने शिशुपाल से कहा—

'हम रास्ते में भोजन नहीं करते और घरों में भी वह भोजन नहीं करते जिसे वेदपाठी ब्राह्मणों ने न किया हो'—

यह जो कहा है यह केवल विषदान का परिहार करने के लिए।

यहां मन की बात न कहकर बातें बनाने का नाम ही पर्यायोक्त है।

वामन में पर्यायोक्त का निरूपण नहीं मिलता।

उद्भट—उद्भट ने पर्यायोक्त का निरूपण भामह से ले लिया है किन्तु उसमें 'अन्य प्रकार' का अर्थ भी जोड़ दिया है—

'पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

'वाच्यवृत्ति = लक्षणा तथा वाचकवृत्ति अभिधा से भिन्न व्यञ्जनावृत्ति के द्वारा अन्य प्रकार से कथन पर्यायोक्त कहलाता है।'

अभिनवगुप्त ने लोचन में इसे उद्धृत किया है और इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

'पर्यायेण प्रकारान्तरेण अवगमात्मना व्यङ्ग्येनोपलक्षितं सद् यद् अभिधीयते तदभिधीयमानमुक्तमेव सत् पर्यायोक्तमित्यभिधीयते।'

—पर्याय का अर्थ है प्रकारान्तर, प्रकृत में उसका अर्थ होगा व्यंजना, अतः पर्यायोक्त का अर्थ होगा व्यङ्ग्यत्व से युक्त होकर कथित। [ध्वन्यालोक १।१३ वृत्ति]

आनन्दवर्धनाचार्य के लेख से ऐसा विदित होता है कि वे उद्भट का मत ही स्वीकार करते हैं। **एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यहाँ यह है कि उद्भट की इस कारिका में व्यंजनावृत्ति का अस्तित्व स्वीकार कर लिया गया है।** इस प्रकार व्यंजनावृत्ति का अस्तित्व आनन्दवर्धन के पूर्व ही आचार्यों के अनुभव में आ चुका था।

अभिनवगुप्त ने इस कारिका को उद्धृत कर उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया था—

'शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना'॥—

—अर्थात् शत्रुच्छेद की दृढ़ इच्छा वाले अतएव विपरीत पक्ष में लगे मुनि परशुराम को [भीष्म के] इस धनुष ने धर्मशिक्षा दे दी है।' यहां कहना तो है परशुराम के प्रभाव को दबा देने वाले भीष्म के प्रभाव को, किन्तु कहा गया है धनुष द्वारा धर्मोपदेश की बात को।

रुद्रट—रुद्रट ने पर्यायोक्त तथा पर्यायालंकार को 'पर्याय' नामक एक ही शीर्षक में प्रतिपादित किया है उनका लक्षण इस प्रकार है—

'वस्तु विवक्षितवस्तुप्रतिपादनशक्तमसदृशं तस्य।
यदजनकमजन्यं वा तत्कथनं यत् स पर्यायः॥ ७।४२॥

—ऐसी वस्तु जो विवक्षित वस्तु का प्रतिपादन करने में समर्थ तो हो किन्तु न उसके समान हो, न उसकी कारण हो और न कार्य, तो उसका जो कथन वह होता है पर्याय नामक अलङ्कार।' उदाहरण—

'राजन्! जहासि निद्रां रिपुवन्दीनिबद्धनिगडशब्देन।
तेनैव यदन्तरितः स कलकलो वन्दिवृन्दस्य॥

—राजन्! आपकी नींद बन्दी बनाए शत्रुओं की बेड़ियों के तुमुल शब्द से खुलती है। नींद खुलाने के लिए वैतालिकों का जो कलकल होता था वह उसी में छिप गया है।

नमिसाधु का कहना है कि—'यह उक्ति राजा की चापलूसी में कही गई है। इसमें वन्दियों की बेड़ियों के शब्द से नींद खुलना ही तात्पर्य नहीं है, अपितु यह भी तात्पर्य है कि

आपने शत्रुओं को जीत लिया है और इनकी स्त्रियों को बन्दी बना लिया है। इस प्रकार सभी शत्रुओं को जीत लेना भी यहां प्रकारान्तर से व्यक्त होना है।'

रुद्रट ने जो व्यग्यार्थ में सादृश्य का व्यवच्छेद करने के ही साथ कार्यकारणभाव का भी व्यवच्छेद किया वह दिए उदाहरण की वस्तुस्थिति के विपरीत है। इस उदाहरण में शत्रुजय कारण है उनके या उनकी स्त्रियों के बन्दी बनाए जाने का। अतः यहां कार्यकारणभाव का अभाव नहीं है।

मम्मट—मम्मट ने पर्यायोक्त का जो लक्षण बनाया है वह अपने आप में पर्यायोक्त का उदाहरण बन गया है। वे जो कहना चाहते हैं वह अर्थ उनकी कारिका से बड़ी कठिनाई से निकलता है—

'पर्यायोक्त विना वाच्यवाचकत्वेन यद् वच ।

इसका अर्थ मम्मट ने ही वृत्ति में ठीक वही किया है—जो उद्भट ने अपनी कारिका द्वारा स्पष्ट किया था। वह है—

'वाच्यवाचकभावव्यतिरिक्तेनावगमनव्यापारेण यत् प्रतिपादनं तत् पर्यायेण भङ्ग्यन्तरेण कथनात् पर्यायोक्तम्।

अर्थात् वाच्यवाचकभाव से भिन्न व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव के द्वारा जो प्रतिपादन वही पर्याय अर्थात् भिन्न प्रकार से कथन होने के कारण पर्यायोक्त।'

यहाँ इतना अवश्य है कि उद्भट ने जो 'वृत्त्यन्तर्' कहा था और द्विवचन का प्रयोग किया था उसकी सार्थकता सिद्ध करने के अनावश्यक प्रयास से मम्मट ने पाठक को बचा लिया है। इस अलंकारपर मम्मट का उदाहरण ध्वन्यालोककार के 'चक्राभिघात०' पद्य के समान ही सटीक उतरा है—

'यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवासप्रीतिरुज्झिता।
मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः॥'

—जिस [हयग्रीव] को देखकर मद ने ऐरावत के मुख में और मान ने इन्द्र के हृदय में चिररूढ निवासप्रीति को छोड दिया।'

इस पर मम्मट ने लिखा है—

'अत्र ऐरावणशक्रौ मदमानमुक्तौ जाताविति व्यङ्ग्यमपि शब्देनोच्यते। तेन यदेवोच्यते तदेव व्यङ्ग्यम्, यथातु व्यङ्ग्यं न तथोच्यते।

—यहां व्यङ्ग्य निकलता है कि 'ऐरावत और इन्द्र मद तथा मान से रहित हो गए' किन्तु इसे शब्द से भी कहा जा रहा है। इस प्रकार यह तय हुआ कि जो बात अभिधा से कही जा रही है वही बात व्यङ्ग्य भी हो रही है, किन्तु जिस प्रकार से व्यंग्य हो रही है शब्दतः कथन इस प्रकार से नहीं हो रहा।'

मम्मट के अनुसार प्रकार का अर्थ विशेष्यविशेषणभाव भी है। उक्त पद्य में विशेष्यविशेषण का क्रम वाच्यरूप में इस प्रकार का है—'मदमानकर्तृकैरावणमुखेन्द्रहृदयाधिकरणकचिररूढनिवासप्रीतिकर्मकं यत्पदवाच्यहयग्रीवप्रेक्षणप्रयोज्यमुज्झनम्' अर्थात् उक्त वाक्य में छोडना क्रिया में मद और मान का अन्वय कर्ता के रूप में हो रहा है, ऐरावत के मुख तथा इन्द्र के हृदय का अधिकरण के रूप में तथा चिररूढ निवासप्रीति का अन्वय कर्मरूप में।' व्यग्यार्थ यदि 'ऐरावत तथा इन्द्र तथा इन्द्र मद तथा मान से मुक्त हो गए' यह हो तो इसका विशेष्य विशेषण भाव होगा—'ऐरावतशक्रौ मदमानकर्मकमुक्त्याश्रयौ' अर्थात् इसमें छोडना क्रिया में ऐरावत तथा इन्द्र का अन्वय कर्ता के रूप में तथा मद तथा मान का अन्वय कर्म के रूप में

हो रहा है। व्यंग्य का कोई अन्य रूप हो सकता है। वह निश्चित नहीं इस प्रकार विशेष्यविशेषणभाव दोनों ही अर्थों में भिन्न हैं किन्तु वक्तव्यार्थ एक ही है। मम्मट ने इसे समझाने के लिए सविकल्पकज्ञान तथा निर्विकल्पकज्ञान का उदाहरण दिया है। निर्विकल्पक ज्ञान में व्यक्ति तथा जाति, अलग-अलग भासित होते हैं। निर्विकल्पक ज्ञान यदि घट का हो रहा है तो उसमें ज्ञान तो घट और घटत्व दोनों का होगा किन्तु यह ज्ञान न होगा कि घटत्व घट में रह रहा है। सविकल्पक ज्ञान में घटत्व घट में रहता हुआ विदित होता है। इस प्रकार ज्ञान दोनों ज्ञानों में अभिन्न या एक ही विषय का होता है किन्तु एक में विषय अलग-अलग भासित होते हैं, अन्य में संसृष्ट, सम्बद्ध और अन्वित रूप में। वह केवल विशेषणविशेष्यभाव मात्र का भेद हुआ। इस प्रकार मम्मट के अनुसार पर्याय का अर्थ प्रकार हुआ और प्रकार का अर्थ हुआ विशेषण-विशेष्यभाव, भामहाभिमत 'उक्ति का ढंग' नहीं। इसी प्रकार मम्मट के अनुसार पर्यायोक्त में वाच्य के समान व्यंग्य भी दोनों ही होते हैं, धर्म भी और धर्मी भी।

अप्पयदीक्षित—जयदेव ने सर्वस्वकार के ही आधार पर पर्यायोक्त का लक्षण यह किया था—'कार्याद्यैः प्रस्तुतैरुक्ते पर्यायोक्तिं प्रचक्षते'-प्रस्तुत कार्यादि उक्ति से वक्तव्य अर्थ का कथन पर्यायोक्ति कहलाता है। अप्पयदीक्षित ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने मम्मट के लक्षण को आधार माना है। उन्होंने मम्मट के उक्त मत को जैसा का तैसा मान लिया है। उन्होंने चन्द्रालोक के लक्षण के स्थान पर—

> 'पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम्।
> नमस्तस्मै कृतौ येन मुधा राहुवधूकुचौ॥'

—दूसरे प्रकार से गम्यार्थ का अभिधान पर्यायोक्त। यथा उसको नमस्कार है जिसने राहुवधुओं के कुचों को व्यर्थ किया।'—यह लक्षण बना कर लिखा कि यहाँ भगवान् विष्णु अपने असाधारण रूप से गम्य हैं (व्यंग्य नहीं) और वे ही राहुवधूकुचवैयर्थ्यकारित्व रूप से वाच्य भी हैं।

पण्डितराज ने मम्मट की इस मान्यता का खण्डन किया है और धर्मी को व्यंग्य न मानकर केवल वाच्य माना है। वाच्यता और व्यंग्यता दोनों को एक साथ केवल धर्म में स्वीकार किया है।

'यो व्यंग्यांशः स न कदापि रूपान्तरपुरस्कारेणाभिधीयते, यश्चाभिधीयते धर्मी स तु तदानीमभिधाश्रयत्वाद् व्यञ्जनव्यापारानाश्रय एवेति व्यङ्ग्यस्य प्रकारान्तरेणाभिधानमसंगतमेव [पृ० ५४९ रस०]।

अन्ततः पण्डितराज ने अलंकारसर्वस्वकार के मत को ही सिद्धान्तित करते हुए इन्हीं पंक्तियों के तुरन्त बाद लिखा है—

> 'तस्मात् कार्यादिमुखेनोक्तमिव पर्यायोक्तम्। तेनाक्षिप्तमित्येवार्थः।' [पृ० ५४९ रस०]।

—इसलिए पर्यायोक्त का अर्थ होना चाहिए कार्य आदि के द्वारा कहा हुआ सा अर्थात् आक्षिप्त।

अलंकारसर्वस्वकार का मत उन्हीं के शब्दों में पण्डितराज ने इस प्रकार उद्धृत किया है—'अलंकारसर्वस्वकारस्तु—'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्। गम्यस्यैव ततः कथमभिधानमिति चेत् कार्यादिद्वारेण' इत्याह। [पृ० ५४८ रस०]।

इसका तात्पर्य भी उन्होंने यही तय किया है कि 'चक्राभिघात०' पद्य में 'यः=जो' पद के द्वारा विष्णुभगवान् कथित हैं, अतः व्यंजना के द्वारा उनके भीतर 'राहुशिरश्छेत्तृत्व'—रूपी धर्म ही

भासित होता है। इसी राहुशिरश्छेतृत्व को वाच्यरूप में कवि ने 'राहुवधूजनसम्बन्धिचुम्बनमात्रा-विशिष्टरतोत्सवनिर्मातृत्व' रूप से कहा है।

इस प्रकार पण्डितराज के अनुसार मम्मट व्यंग्यांश में धर्मी या विशेष्य को भी सन्निविष्ट मानते हैं और अलंकारसर्वस्वकार केवल धर्म को। इन दोनों में से पण्डितराज सर्वस्वकार का मत स्वीकार करते हैं।

वस्तुत अलङ्कारसर्वस्वकार व्यंग्यांश को न तो धर्मी-अंश में वाच्य मानते और धर्म-अंश में। उनके मत में वाच्य होते हैं कार्य आदि और व्यंग्य होते हैं कारण आदि। इस प्रकार वे भामह द्वारा प्रतिपादित पर्यायोक्त को मान्यता देते हैं। यद्यपि 'आदि' शब्द से विमर्शिनीकारने 'विशेषण' को भी सर्वस्व के मत में लाने का यत्न किया है तथापि यह उनकी मम्मटभक्ति ही है। कारण कि सर्वस्वकार ने वैसा कोई उदाहरण नहीं दिया।

पण्डितराज—पण्डितराज ने स्वयं पर्यायोक्त का लक्षण इस प्रकार बनाया है—

[सू०] विवक्षितस्यार्थस्य भङ्ग्यन्तरेण प्रतिपादनं पर्यायोक्तम्।

[वृ०] येन रूपेण विवक्षितोऽर्थस्तदतिरिक्तः प्रकारो भङ्ग्यन्तरम्। आक्षेपो वा।

—विवक्षित अर्थ का दूसरी भङ्गिमा से प्रतिपादन पर्यायोक्त। भङ्ग्यन्तर = दूसरी भंगिमा का अर्थ है जिस रूप से अर्थ की विवक्षा हो उससे भिन्न प्रकार 'या तो आक्षेप।'

यहां अन्तर इतना ही है कि प्रकारान्तर का अस्तित्व अन्य आचार्यों ने व्यंग्यांश में बतलाया था। पण्डितराज उसे वाच्यांश में बतला रहे हैं। मत पण्डितराज का ही मान्य है, क्योंकि प्रथम अर्थ वही अर्थ रहता है, जिसे बाद में कवि दूसरा रूप देकर अभिधा में संजोता है।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर पण्डित ने पण्डितराज जगन्नाथ के विरुद्ध मम्मट के मत का समर्थन किया है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

[कारिका]—'पर्यायोक्तं कथितं वाच्यस्यैवान्यभङ्ग्योक्तिः।'

[वृत्ति] वाच्य पदार्थो यत्र व्यङ्ग्यतयोच्यते तत् पर्यवस्यति।

एवं च व्यङ्ग्यप्रकारसमानाधिकरणप्रकारान्तरेणाभिधानं तदिति पर्यवस्यति।

—वाच्यार्थ की ही अन्य प्रकार से उक्ति को पर्यायोक्त कहा गया है। अर्थात् पर्यायोक्त वह है जहाँ वाच्य अर्थ ही व्यङ्ग्यरूप से कहा जाता है। निष्कर्ष यह कि किसी वस्तु का एक साथ व्यंग्य और वाच्य दो प्रकारों के साथ कथन।

विश्वेश्वर ने वक्ता की मनस्थिति के विपरीत व्यवस्था दी है। वक्ता कहना जो चाहता है उसे अपने मूलरूप में न कहकर भिन्न रूप में कहता है, किन्तु इस प्रकार कहता है कि मूलभूत अर्थ बिना निकले नहीं रहता। इसी उक्तिप्रक्रिया को पर्यायोक्त कहा जाता है। इसके अनुसार व्यंग्यार्थ का वाच्य बनना मान्य है, वाच्य का व्यंग्य बनना नहीं। इस प्रकार भामह, उद्भट, रुद्रट, मम्मट, सर्वस्वकार, शोभाकर, जयदेव, अप्पयदीक्षित तथा पण्डितराज का ही क्रम वैधानिक क्रम है।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष यह निकलता है कि सभी आचार्यों ने पर्यायोक्त के विषय में मूलस्थापना तो भामह की ही मान रखी है, अर्थात् भामह ने जो 'अन्य प्रकार से अभिधान' को पर्यायोक्त कहा था, परवर्ती प्रत्येक आचार्य ने इस 'अन्य-प्रकार से अभिधान' की बात को अपना रखा है, किन्तु 'अन्य प्रकार' का स्वरूप निर्धारित करने में आचार्यों में तीन मत हैं। एक उनका जो प्रकार का अर्थ शब्दवृत्ति करते हैं, इसके प्रवर्त्तक हैं उद्भट। दूसरा उनका जो प्रकार का अर्थ शब्दवृत्ति के साथ ही विशेषण भी करते हैं। इसके प्रवर्त्तक हैं मम्मट।

और तीसरा उनका जो प्रकार का अर्थ शब्दवृत्ति तो करते हैं किन्तु उसका अर्थ विशेषण न कर कार्य आदि सम्बन्धित वस्तु अर्थ करते हैं। इसके प्रवर्त्तक हैं सर्वस्वकार। इस प्रकार यदि प्रथम मत को द्वितीय-तृतीय मत में अन्तर्लीन मान लिया जाय अथवा द्वितीय और तृतीय मत को उक्त प्रथम मत का परिवर्धन या विकास मान लिया जाय तो केवल दो ही मत शेष बचेंगे। एक मम्मट का और दूसरा सर्वस्वकार का। दोनों के अनुसार विवक्षित अर्थ व्यंजना से ही प्रतीत होगा किन्तु वाच्य अर्थ मम्मट के अनुसार व्यंग्य धर्मी का कोई अन्य धर्म या घटक होगा और सर्वस्वकार के अनुसार व्यंग्य धर्मी का धर्म या घटक न होकर उससे संबन्धित कार्य आदि होगा।

अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में 'व्याज से इष्टसिद्धि' को भी पर्यायोक्तभेद माना है—

पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद्व्याजेनेष्टसाधनम्।
यामि चूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्यतामिह॥

—उसे भी पर्यायोक्त ही कहा गया है जिसमें व्याज द्वारा इष्ट साधन कथित हो। यथा—

मैं आम्र की टहनियां देखने जा रही हूँ आप दोनों यहीं रहें। यहाँ दूती नायक-नायिका को मिलाकर हट रही है, वस्तुतः यह भामह के उदाहरण जैसा ही उदाहरण है। इसमें अलंकारत्व की मनौती मनःपूत नहीं है।

लक्षणा = पर्यायोक्त में द्वितीय अर्थ की प्रतीति उद्भट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, पण्डितराज और विश्वेश्वर स्पष्टरूप से व्यंजना द्वारा मानते हैं। सर्वस्वकार ने व्यंजना शब्द का तो किसी भी रूप में प्रयोग नहीं किया है किन्तु वे व्यंजना का खण्डन नहीं करते अतः उन्हें भी पर्यायोक्त में अपरार्थ की प्रतीति व्यंजना द्वारा मानने वाला माना जा सकता है। रत्नाकरकार जिनका पर्यायोक्तलक्षण पहले दिया जा चुका है [शोभाकर—] की इस पर आपत्ति है। जैसा कि अप्रस्तुतप्रशंसाप्रकरण में पहले बतलाया गया है कि रत्नाकरकार ने पर्यायोक्त में वाच्यार्थ को अपरार्थसापेक्ष माना है और अपरार्थनिरपेक्ष भी। इनमें से अपरार्थनिरपेक्ष को उन्होंने ध्वनिरूप माना है, किन्तु अपरार्थसापेक्ष वाच्य वाले भेद में वे अपरार्थ की प्रतीति में व्यंजना न मानकर लक्षणा ही मानते हैं। उनका तर्क यह है कि यदि यहाँ भी व्यंजना ही मान ली गई तो उपादान-लक्षणा के सभी स्थलों में व्यंजना ही मानी जाने लगेगी। फलतः उपादानलक्षणा का विलोप हो जाएगा। उनकी पंक्ति है—

'सापेक्षत्वे तु कुन्ताः प्रविशन्तीतिवद् अर्थप्रतीतिर्लक्षणया, न तु व्यञ्जनेन, उपादानलक्षणाया अस्तमयप्रसङ्गात्। तेनैवमादौ लक्ष्यत्वेनार्थान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वाभावात् गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वभेदत्वं न वाच्यम्। [अतः]—

मुख्यार्थसाकाङ्क्षतया प्रतीतिराक्षेपतोऽर्थस्य हि लक्षणैव।
व्यङ्ग्यत्वदन्योऽपि न विवतिऽत्र ध्वनित्वशङ्कापि न तेन कार्या॥'

इस प्रकार रत्नाकरकार अप्रस्तुतप्रशंसा के ही समान पर्यायोक्त में भी अवाच्यार्थ की प्रतीति लक्षणा द्वारा मानते हैं। व्यंजना द्वारा नहीं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका स्पष्ट विरोध किया है। उनका कथन है—

'न हि 'चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव' इति पद्ये चुम्बनमात्रशेषरतोत्सवांशे वाधोऽस्ति, येन लक्षणा स्यात्। एवमप्रस्तुतप्रशंसायामप्यप्रस्तुतस्य प्रस्तुते न लक्षणा किं तु व्यंजनेति सर्वसम्मतम्। अन्यथा पर्यायोक्ते वाच्यस्य प्राधान्यम्, अप्रस्तुतप्रशंसायां तु गम्यस्येति सिद्धान्तस्य भङ्गः स्यात्। लक्षणायां हि लक्ष्यस्यैव प्राधान्यं स्यात्, न वाच्यस्य।' [पृ० ५५५]।

[पर्यायोक्त के प्रसिद्ध उदाहरण] 'चक्राभिघात' पद्य में चुम्बनमात्रशेषरतोत्सवरूपी अर्थ में कोई बाध नहीं है जिससे यहाँ लक्षणा माना जा सके। इसी प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा में भी अप्रस्तुत का प्रस्तुत में लक्षणा नहीं अपितु व्यञ्जना ही होता है यही सभी को मान्य है। ऐसा न होता तो पर्यायोक्त में वाच्य की और अप्रस्तुतप्रशंसा में गम्य अर्थ की प्रधानता रहती है यह सिद्धान्त कट जाएगा। क्योंकि लक्षणा मानने पर प्रधानता लक्ष्य की ही होगी वाच्य की नहीं।'

पण्डितराज का यह मत हमें भी मान्य है जैसा कि हम शोभाकर के मत के निरूपण में अप्रस्तुतप्रशंसा प्रकरण में बतला आए हैं।

पाठान्तर—(१) सर्वस्व के पर्यायोक्तसूत्र में निर्णयसागर प्रति में भङ्ग्यन्तर शब्द के स्थान पर 'पर्यायान्तर' शब्द पाठान्तर के रूप में दिखलाया गया है। डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने उसी को मूल मान लिया है और भङ्ग्यन्तर शब्द को पाठान्तर में डाल दिया है। डॉ० जानकी ने इनके विपरीत भङ्ग्यन्तर को ही मूल माना है। त्रिवेन्द्रम संस्करण में भी भङ्ग्यन्तर को मूल माना गया है। वस्तुतः 'भङ्ग्यन्तर'-पाठ ही मूल पाठ है। विमर्शिनी में इसी पद का प्रयोग मिलता है यद्यपि यह प्रयोग प्रतीकभूत पद के रूप में नहीं किया गया है। सञ्जीविनी में प्रतीकरूप से भङ्ग्यन्तर को ही उद्धृत किया गया है। सूत्र भी उसमें भङ्ग्यन्तर-पदघटित ही बतलाया गया है—'तत्र सूत्रम्—गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तमिति'। इसके अतिरिक्त सर्वस्वकार का पर्यायोक्त सूत्र अप्पयदीक्षित, पण्डितराज तथा विश्वेश्वर ने भी उद्धृत किया है। उनके उद्धरणों में 'भङ्ग्यन्तर'-पाठ ही मिलता है।

अप्पयदीक्षित—'अलङ्कारसर्वस्वकृतापि पर्यायोक्तस्य सम्प्रदायागतमिदमेव लक्षणमङ्गीकृतम्—'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तमिति'। [द्र० कुवलयानन्द पर्यायोक्त]

पण्डितराज—का उद्धरण पहले दिया जा चुका है।

विश्वेश्वर—'सर्वस्वकारस्तु-'गम्यस्यैव भङ्ग्यन्तरेणाभिधानं पर्यायोक्तम्' इति [कौस्तुभ, पर्यायोक्त प्रकरण]।

इन दोनों के अपने पर्यायोक्तसूत्रों में भी भङ्गी और भङ्ग्यन्तर शब्द का उपयोग किया गया है। रत्नाकरकार ने भी अपने पर्यायोक्तसूत्र में भङ्ग्यन्तर शब्द ही अपनाया है। उद्धृत वचन से स्पष्ट है कि मम्मट ने भी वृत्ति में भङ्ग्यन्तर शब्द का प्रयोग किया है। पर्यायशब्द को मूल मानने का उद्देश्य पर्यायोक्त शब्द की व्युत्पत्ति हो सकती है। किन्तु पर्यायशब्द का कुछ ऐसा दुर्भाग्य रहा है कि अभिनवगुप्त को छोड़ उसका उल्लेखपूर्वक स्पष्टीकरण किसी ने नहीं किया। पण्डितराज ने तो उलटे भङ्ग्यन्तर शब्द की ही व्याख्या करना उचित समझा। इस प्रकार पर्याय का ही अर्थ है प्रकारान्तर और भङ्ग्यन्तर। किन्तु भङ्ग्यन्तर शब्द का प्रयोग ही पूर्व और पर के आलङ्कारिकों में सर्वस्व के नाम से प्रसिद्ध है अतः उसे हटाकर वास्तविक हकदार पर्याय शब्द को मूल सूत्र में स्थान देना सम्भव नहीं हो पा रहा है। यद्यपि सर्वस्वकार ने भङ्ग्यन्तर शब्द का वृत्ति में एक बार भी प्रयोग नहीं किया है।

(२) सूत्र के पश्चात् की प्रथम पङ्क्ति में भी पाठान्तर की समस्या टकराती है। वहाँ निर्णयसागर संस्करण में 'यदेव गम्यत्वं तस्यैवाभिधाने०' छपा है और इस पर पाठान्तर के रूप में कुछ नहीं दरसाया गया है। डॉ० जानकी ने निर्णयसागर की इस पङ्क्ति में 'अभिधाने' के स्थान पर 'अभिधान' भर बदला है। पाठान्तर में उन्होंने भी कोई अन्य पाठ नहीं दिखलाया है। विमर्शिनी और संजीविनी में इस पङ्क्ति के प्रत्येक शब्द को प्रतीकरूप में उद्धृत नहीं किया गया है। अतः उनके आधार पर भी मूलभूत पाठ की योजना नहीं की जा सकती। सञ्जीविनी में इस पङ्क्ति का

प्रथम 'यदेव' पद प्रतीक के रूप में दिया हुआ है। उधर विमर्शिनी में 'गम्यमपि तद् वाच्यायमानमिति यदेव गम्यते तस्यैव भङ्ग्यन्तरेणाभिधानम्' इस पंक्ति में 'यदेव गम्यते' पद से लगता है कि मूल पंक्ति में गम्यत्वं के स्थान पर 'गम्यते' रहा होगा। इस कारण हमने यही पाठ मान लिया है। यद्यपि डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी ने 'यदेव गम्यं तस्यैवाभिधानं पर्यायोक्तम् गम्यस्य सतः' इस प्रकार जो पंक्ति बनाई है, वह 'गम्यस्य सतः' इस पंक्ति से मिलती-जुलती पंक्ति है अतः अधिक साफ है तथापि इसके अनुसार 'गम्यत्वं'–का सर्वत्र अव्यभिचारी प्रयोग लिपिदोष न सिद्ध होकर विषयदोष सिद्ध हो जाता है। 'गम्यते'–रूप मानने पर विषयदोष हट जाता है। 'गम्यस्य० सतः' के साथ इस पाठ का भी कोई अधिक वैषम्य नहीं रहता।

पर्यायोक्त के संपूर्ण विवेचन को संजीविनीकार ने इस प्रकार कारिकाबद्ध किया है—

'पर्यायोक्ते तु कार्यादिद्वारा गम्यस्य वर्णनम्।
अप्रस्तुतप्रशंसातो वाच्यस्य प्रस्तुते भिदा॥'

—कार्यादि के द्वारा गम्य अर्थ का वर्णन पर्यायोक्त कहलाता है। इसमें वाच्य प्रस्तुत रहता है इसलिए इसका अप्रस्तुतप्रशंसा से भेद रहता है।

[सर्वस्व]

गम्यत्वविच्छित्तिप्रस्तावाद् व्याजस्तुतिमाह—

[सू० ३८] स्तुतिनिन्दाभ्यां निन्दास्तुत्योर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिः।

यत्र स्तुतिरभिधीयमानापि प्रमाणान्तराद् बाधितस्वरूपा निन्दायां पर्यवस्यति तत्रासत्यत्वाद् व्याजरूपा स्तुतिरित्यनुगमेन तावदेका व्याजस्तुतिः। यत्रापि निन्दाशब्देन प्रतिपाद्यमाना पूर्ववद् बाधितरूपा स्तुतौ पर्यवसिता भवति सा द्वितीया व्याजस्तुतिः। व्याजेन निन्दामुखेन स्तुतिरिति कृत्वा। स्तुतिनिन्दारूपत्वस्य विच्छित्तिविशेषस्य भावादप्रस्तुतप्रशंसातो भेदः।

गम्यत्वजनित चमत्कार के प्रसंग में अब व्याजस्तुति का निरूपण करते हैं—

[सूत्र ३८] स्तुति और निन्दा से निन्दा और स्तुति गम्य हो तो [अलंकार की संज्ञा] व्याजस्तुति [होती है]॥

[वृत्ति] जहाँ अभिधा द्वारा स्तुति ही प्रस्तुत की जा रही है किन्तु अन्य प्रमाण से उसका स्तुतिरूप बाधित हो रहा हो फलतः वह निन्दा में परिणत हो रही हो वहाँ, असत्य होने से 'व्याजरूप स्तुति' इस प्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा एक प्रकार की व्याजस्तुति होती है। इसी प्रकार जहाँ शब्द से निन्दा कही जाती हो किन्तु पूर्ववत् उसका स्वरूप बाधित हो रहा हो और वह स्तुति में परिणत हो रही हो तो वह दूसरी व्याजस्तुति होती है—'व्याज अर्थात् निन्दा के बहाने स्तुति' इस व्युत्पत्ति के आधार पर। इसमें स्तुति और निन्दारूप विशिष्ट प्रकार की उक्ति रहती है इसलिए इसका अप्रस्तुतप्रशंसा से भेद है।

विमर्शिनी

आहेति स्तुतिनिन्दाभ्यामित्यादिना। प्रमाणान्तरादिति वक्तृवाच्यप्रकरणादिपर्यालोचनात्मनः। बाधितस्वरूपेति। आमुख एव प्रस्खलद्रूपेत्यर्थः। अत एवास्या ध्वनेर्भेदः। स हि विश्रान्ते वाक्यार्थे वक्तृवाच्यौचित्यपर्यालोचनाबलादवगम्यते। इह पुनः प्रमा-

णान्तराद्बाधितः सन् वाक्यार्थः स्वयमनुपपद्यमानत्वात् परत्र निन्दादौ स्वं समर्पयति। तत्रैव प्रकृतवाक्यार्थस्य विश्रान्तेः। एवम्—

'अह सज्जणाण मग्गो सुहअ सए च्चेअ णवरँ णिव्वूढो।
इण्हि अण्णं हिअए अण्णं वाआइ लोअस्स॥'

इत्यादौ विश्रान्ते वाक्यार्थे वक्तृवाच्यौचित्यपर्यालोचनायत्ता निन्दायाः प्रतीतिरिति ध्वनिविषयत्वमेव युक्तम्। पूर्ववदिति प्रमाणान्तरात्। एका द्वितीया चेत्यभिदधता द्वे एवात्र व्याजस्तुती न पुनरेकैव द्विविधा व्याजस्तुतिरिति सूचितम्। प्रकारप्रकारिभावो हि सामान्यलक्षणासद्भावे न भवति। असमवत्सामान्यस्य तद्विशेषत्वाभावात्। शब्दनिबन्धनं तु सामान्यमाश्रित्य द्वयोरत्राभिधानम्। एवं स्तुतिनिन्दाभ्यामप्रस्तुताभ्यां निन्दास्तुत्योः प्रस्तुतयोर्गम्यत्वमित्यत्र सिद्धम्। यद्येवं तत्किमियमप्रस्तुतप्रशंसैव न भवतीत्याशङ्क्याह—स्तुतीत्यादि। तत्र हि सामान्यविशेषादीनां गम्यत्वमुक्तम्।

आह = निरूपण करते हैं 'स्तुतिनिन्दाभ्याम्' इत्यादि अगले ग्रन्थ के द्वारा। प्रमाणान्तराद् = अन्य प्रमाण से वक्ता, वाच्य, प्रकरण आदि के पर्यालोचनरूपी प्रमाण से। बाधितस्वरूप = आरम्भ में ही उसका अपना रूप प्रस्खलित होने लगता है। इसीलिए इसका ध्वनि से भेद है। ध्वनि वहाँ होती है जहाँ वाक्यार्थ में कोई आपत्ति नहीं रही अर्थात् वह विश्रान्त हो जाता है। तदनन्तर वक्ता, वाच्य और औचित्य आदि के पर्यालोचन से अन्य अर्थ विदित होता है। इसके विपरीत यहाँ वाक्यार्थ प्रमाणान्तर से बाधित हो जाता है। अतः अपने आप में वह अनुपपन्न रहता है अतः स्व को निन्दा आदि अन्य अर्थों में परिणत कर देता है। क्योंकि प्रकृत वाक्यार्थ की विश्रान्ति उन्हीं अर्थों में होती है। इस प्रकार—

'इह सज्जनानां मार्गः सुहृत्तया चैव केवलं निर्व्यूढः।
इदानीमन्यद्धृदयमन्यद् वचनानि लोकस्य॥'

—'अभी तक तो सज्जनों का मार्ग केवल सौहार्द के कारण निभता रहा है। अब तो लोगों के हृदय भिन्न और वचन भिन्न हो गए हैं।'

—इत्यादि स्थलों में वाक्यार्थ ठीक उतर जाता है, तब वक्ता, वाच्य और औचित्य पर ध्यान देने से निन्दा की प्रतीति होती है, इसलिए यहाँ ध्वनि ही मानना ठीक है। [वस्तुतः यहाँ निन्दा भी उत्तरार्ध से स्फुट है अतः हो तो, यहाँ केवल गुणीभूतव्यंग्यता हो सकती है, किन्तु यह तय है कि यहाँ व्याजस्तुति नहीं है]। पूर्ववत् = अन्य प्रमाणों से। एक और दूसरी ऐसा कहने से यह सूचित किया है दोनों व्याजस्तुति दो अलग-अलग अर्थात् स्वतन्त्र व्याजस्तुति हैं, एक व्याजस्तुति के दो भेद नहीं हैं। किसी का कोई भेद सिद्ध नहीं होता यदि कोई सामान्य लक्षण न हो। क्योंकि भेद का अर्थ होता है विशेष और किसी का सामान्य धर्म किसी में नहीं रहे तो वह उसका विशेष नहीं माना जाता। यहाँ जो दोनों व्याजस्तुतियों को एक साथ कहा गया है वह नाम-साम्यमात्र के आधार पर। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यहां शब्दतः कथित स्तुति और निन्दा अप्रकृत रहती हैं और उनसे गम्य निन्दा स्तुति प्रकृत। 'यदि ऐसा है तो यह अप्रस्तुतप्रशंसा ही क्यों नहीं मान ली जाय'—इस शङ्का पर उत्तर देते हैं—'स्तुति०' इत्यादि। वहां अप्रस्तुतप्रशंसा में जो है सो गम्य होते हैं सामान्य विशेष, [न कि स्तुति निन्दा]।

[सर्वस्व]

क्रमेण यथा—

'हे हेलाजितबोधिसत्त्व वचसां किं विस्तरैस्तोयधे
नास्ति त्वत्सदृशः परः परहिताधाने गृहीतव्रतः।

तृष्यत्पान्थजनोपकारघटनावैमुख्यलब्धायशो-
भारप्रोद्वहने करोषि कृपया साहायकं यन्मरोः ॥'

अत्र विपरीतलक्षणया वाच्यवैपरीत्यप्रतीतिः ।

'इन्दोर्लक्ष्म त्रिपुरजयिनः कण्ठपीठी मुरारि-
र्दिङ्नागानां मदजलमपीमाञ्जि गण्डस्थलानि ।
अद्याप्युर्वीवलयतिलक श्यामलिम्नानुलिप्ता-
न्युद्भासन्ते वद धवलितं किं यशोभिस्त्वदीयैः ॥'

अत्र धवलताहेतुयशोविषयानवक्लृप्तिप्रतिपादनेन 'विशेषप्रतिषेधे शेषाभ्यनुज्ञानम्' इति न्यायात्कतिपयपदार्थवर्जं समस्तवस्तुधवलताकारित्वं नृपयशसः प्रतीयते ।

किं वृत्तान्तैः परगृहगतैः किं तु नाहं समर्थ-
स्तूष्णीं स्थातुं प्रकृतिमुखरो दाक्षिणात्यस्वभावः ।
गेहे गेहे विपणिषु तथा चत्वरे पानगोष्ठ्या-
मुन्मत्तेव भ्रमति भवतो वल्लभा हन्त कीर्तिः ॥

इत्यत्र प्रक्रान्तापि स्तुतिपर्यवसायिनी निन्दा हन्त कीर्तिरिति भणित्या उन्मूलितेति न प्ररोहं गमितेति श्लिष्टमेतदुदाहरणम् ।

क्रम से [उदाहरण] यथा—[स्तुति से निन्दा]—

'हे जलनिधे, हे [गंभीरता की] मुद्रा में बोधिसत्त्व को जीत लेने वाले ! अधिक क्या कहें, दूसरों का हित करने का व्रत धारण करने वाला तुम्हारे जैसा कोई दूसरा नहीं है । प्यासे पथिकों के उपकार से विमुख होने की अपकीर्ति के भार को ढोने में मरुस्थल की जो तुम सहायता करते हो ।'

—यहाँ विपरीत लक्षणा के द्वारा वाच्य के विपरीत अर्थ की प्रतीति होती है ।

[निन्दा से स्तुति यथा—]

'हे पृथ्वीमण्डल के तिलक ! चन्द्रमा का कलंक, शिवजी का कण्ठ, विष्णु भगवान्, दिग्गजों के मदजल की स्याही से लिप्त गण्डस्थल अभी तक सांवलेपन से लिप्त दिखाई दे रहे हैं [तब] बतलाइए आपके यशों ने किसे धवल बनाया ।'

—यहाँ धवलता के जनक यश की विषयों में अपर्याप्ति का प्रतिपादन करने के कारण 'विशेष [किसी एक] के निषेध से शेष का विधान' इस नीति से कुछ पदार्थों को छोड़ शेष सब पदार्थों को धवल करने का गुण राजा के यश में प्रतीत होता है । [किन्तु—]

'दूसरे की घरेलू बातों से करना ही क्या है, परन्तु चुप बैठ नहीं पा रहा हूँ, बोलने की आदत पड़ गई है, दक्षिणियों जैसा स्वभाव हो गया है । घर-घर में, बाजार-बाजार में, चौरास्तों पर, आसवगोष्ठियों में उन्मत्त जैसी घूमती फिर रही है । [कौन] आपकी वल्लभा । [कौन] हन्त कीर्ति ।

—यहाँ स्तुति में पर्यवसित होने वाली निन्दा आरम्भ तो की गई किन्तु 'हन्त कीर्ति' इस कथन से वह उखाड़-सी दी गई, जमने नहीं दी गई, अतः [अभिनवगुप्त द्वारा लोचन के प्रथम उद्योत में व्याजस्तुति के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत] यह उदाहरण [एक प्रकार से] श्लेष का

ही उदाहरण है [जैसे दोनों अर्थ श्लेष में अभिधा द्वारा साफ साफ कह दिए जाते हैं वैसे ही वे यहाँ भी कथित ही हैं]।

विमर्शिनी

विपरीतलक्षणयेति। सनिमित्तात्र वाच्यवैपरीत्यप्रतीतिरिति भावः। अन्यथा हि सर्वस्मात् सर्वप्रतिपत्तिः स्यात्। लक्षणा च मुख्यार्थबाधपूर्विकैव भवतीत्यभिधीयमानायाः स्तुतेर्बाधितस्वरूपत्वमुक्तम्।

अस्याश्च निन्दास्तुत्योर्वाच्यत्वे स्तुतिनिन्दयोर्यदा गम्यत्वमेव भवति तदैवालंकारत्वं मान्यदेति दर्शयितुमाह—किं वृत्तान्तैरित्यादि। उन्मूलितेति। स्तुतिरेव वाच्यत्वेनोक्तेत्यर्थः। श्लिष्टमिति। अनुदाहरणमेवैतदिति तात्पर्यम्। अतश्चास्य लोचनकारेण यद्व्याजस्तुत्युदाहरणत्वमुक्तं तदयुक्तमेवेति भावः।

विपरीतलक्षणा विपरीतलक्षणा के द्वारा, भाव यह कि यहाँ वाच्य के विपरीत अर्थ की जो प्रतीति होती है वह सहेतुक है। ऐसा न होता तो सभी से सभी अर्थों की प्रतीति होने लगती। और लक्षणा सदा मुख्य अर्थ का बाध होने पर ही होती है, इसलिए अभिधा द्वारा कही जा रही [अतएव मुख्यार्थभूत] स्तुति का अपना स्वरूप यहाँ बाधित ही बतलाया गया है।

'यह [व्याजस्तुति] तभी अलङ्कार होती है जब वाच्य निन्दा और वाच्य स्तुति से [उनकी उल्टी] स्तुति और निन्दा गम्य ही हों। नहीं तो नहीं।'—इस तथ्य को बतलाने के लिए कहते हैं = 'किं वृत्तान्तै०'। उन्मूलिता = उखाड सी दी गई = अर्थ यह कि स्तुति को ही वाच्यरूप से कह दिया। श्लिष्टम् = इसका तात्पर्य यह कि यह पद्य व्याजस्तुति के पद्य के रूप में उदाहरणीय नहीं है। और इसलिए लोचनकार ने इसे जो व्याजस्तुति का उदाहरण कहा है वह गलत ही है [पण्डितराज जगन्नाथ ने इस पद्य में समासोक्तिगर्भित व्याजस्तुति मानी है और सर्वस्वकार तथा विमर्शिनीकार का उद्धरणपूर्वक खण्डन कर लोचनकार का समर्थन किया है [द्र० रस० पृ० ५६०]

व्याजस्तुति का पूर्वेतिहास—

व्याजस्तुति के जो रूप यहाँ सर्वस्वकार ने प्रस्तुत किये हैं इसकी स्थापना पहली बार रुद्रट ने की थी। मम्मट ने उन्हें सर्वस्वकार के ही समान ज्यों का त्यों अपना लिया है। भामह और वामन में व्याजस्तुति की झलक तो पाई जाती है परन्तु उनकी दृष्टि इस विषय में स्फीत नहीं है। रुद्रट की दृष्टि स्फीत अवश्य है किन्तु वह एकाङ्गी है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह तथ्य स्पष्ट है—

भामह—'दूराधिकगुणस्तोत्रव्यपदेशेन तुल्यताम्।
किंचिद् विधित्सोर्या निन्दा व्याजस्तुतिरसौ यथा॥
रामः सप्ताभिनत् सालान् गिरिं क्रौञ्चं भृगूत्तमः।
शताशेनापि भवता किं तयोः सदृशं कृतम्॥ ३।३२,३३

—अत्यधिक गुणशाली व्यक्ति की स्तुति के बहाने उसकी समानता बतलाना चाहने वाले के द्वारा [अन्य किसी व्यक्ति की] जो निन्दा की जाती है वह व्याजस्तुति होती है। यथा—

—'राम ने सात वृक्षों को वेधा, परशुराम ने क्रौंच पर्वत को। उनके समान आपने शतांश भी क्या किया ?' इसका अर्थ यह निकलता है कि मनुष्य जो कर सकता है वह आप कर चुके, केवल देवों का पौरुष ही आप में शेष है।

वामन—वामन ने भामह के अनुकरण पर ही व्याजस्तुति का निरूपण किया है। वामन का व्याजस्तुतिनिरूपण भामह का स्पष्टीकरण है। उनका निरूपण इस प्रकार है—

[सू०] 'संभाव्यविशिष्टकर्माकरणान्निन्दा स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः।

[वृ०] अत्यन्तगुणाधिको विशिष्टः, तस्य च कर्म विशिष्टकर्म, तस्य संभाव्यस्य कर्त्तुं शक्यस्याकरणान्निन्दा विशिष्टसाम्यसंपादनेन स्तोत्रार्था व्याजस्तुतिः। यथा—

'बबन्ध सेतुं गिरिचक्रवालैर्बिभेद सप्तैकशरेण तालान्।
एवंविधं कर्म ततान रामस्त्वया कृतं तन्न मुधैव गर्वः॥'

'गुणों में अत्यन्त बड़े अतएव किसी विशिष्ट व्यक्ति का किया कार्य किया तो जा सकता हो किन्तु उसे किसी ने किया न हो तो उसकी निन्दा व्याजस्तुति कहलाती है क्योंकि उससे विशिष्ट व्यक्ति के साथ निन्दा वाले व्यक्ति की समानता झलकने लगती है फलतः वह निन्दा स्तुति में पर्यवसित हो जाती है। यथा—

'पहाड़ों का पुल बाँध डाला, एक बाण से सात तालों को बेध दिया। राम ने ऐसा कार्य किया। तुमने वैसा कार्य नहीं किया है, अतः गर्व व्यर्थ है।'

स्पष्ट ही वामन का लक्षण उसका स्पष्टीकरण और उदाहरण अक्षरशः भामह के व्याजस्तुति-निरूपण का स्पष्ट अनुवाद है। हमें तो इन दोनों आचार्यों के उक्त विवेचन में पर्यायोक्त की छाया दीखती है। आचार्यों के अनुसार यहां कवि को कहना यह है कि 'तुम राम के समान हो'। इसी को वह निन्दामुखेन प्रतिपादित कर रहा है। साम्य का प्रतिपादन यहां अत्यन्त क्षीण है अतः स्तुति का कोई स्पष्ट भाव जागता नहीं। एकमात्र साम्य तक सीमित रख कर भी उक्त आचार्यों ने व्याजस्तुति की व्यापक अभिव्यक्ति का अधिकांश छोड़ दिया है।

उद्भट—उद्भट की धारणा भामह और वामन से मिलती-जुलती ही है किन्तु उनका निरूपण अत्यन्त प्रांजल है—

'शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्देव गम्यते।
वस्तुतस्तु स्तुतिः श्रेष्ठा व्याजस्तुतिरसौ मता॥'

यथा—धिगनन्योपमामेतां तावकीं रूपसम्पदम्।
त्रैलोक्येऽप्यनुरूपो यद् वरस्तव न लभ्यते॥

—शब्दशक्ति के स्वभाव से [अभिधा द्वारा] जहां विदित तो होती है निन्दा-सी किन्तु वास्तविकरूप में रहती हो उत्कृष्टतम स्तुति तो उसे व्याजस्तुति कहेंगे। यथा—[तप कर रही पार्वती के प्रति उनकी सखी की उक्ति]—

—तुम्हारी इस अतुलनीय रूपसंपत्ति को धिक्कार है, जिसके अनुरूप वर तीनों लोकों में नहीं मिल रहा है।'

यहां भगवती पार्वती को अतुलनीय रूप से युक्त बतलाकर उनकी प्रशंसा की जा रही है।

व्याजपूर्ण स्तुति से निंदा की प्रतीति का दूसरा व्याजोक्तिभेद भामह और वामन के समान उद्भट की दृष्टि में नहीं आया। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपने व्याजस्तुतिभेद का जो उदाहरण दिया उसमें स्तुतिपक्ष एकमात्र गम्य न होकर वाच्य भी हो गया है। 'अनन्योपमा' विशेषण द्वारा पार्वती-रूपसम्पत्ति की अतुलनीयता को शब्दतः भी कह दिया गया है। सर्वस्वकार के अनुसार यह उदाहरण भी 'किं वृत्तान्तैः' प्र पद्य के समान ही व्याजस्तुति का उदाहरण नहीं माना जा सकता।

रुद्रट—रुद्रट ने व्याजस्तुति को व्याजश्लेष नाम दिया गया है और इसे अर्थश्लेष के प्रकरण में रखा है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्तुति से निन्दा की व्यंजना वाले भेद को भी इसके अन्तर्गत गिना है। उनका निरूपण भी सर्वथा स्पष्ट है—

'यस्मिन्निन्दा स्तुतितो निन्दाया वा स्तुतिः प्रतीयेत ।
अन्या विवक्षिताया व्याजश्लेषः स विज्ञेयः ॥ १०।११ ॥

—'जहां शब्दत कही जा रही स्तुति या निन्दा से तद्भिन्न [निन्दा या स्तुति] की प्रतीति हो रही हो उसे व्याजश्लेष समझना चाहिए।'

यहां यह एक विशेष रूप से ध्यान देने योग्य तथ्य है कि रुद्रट ने स्तुति से व्यक्त होने वाली निन्दा को प्रथम स्थान दिया है। निश्चित ही यह उनका पूर्वाचार्यों में इसके अभाव और अपने द्वारा इसके इदंप्रथमतया प्रतिपादन की ओर सकेत है।

रुद्रट ने दोनों के जो उदाहरण दिए हैं उनमें शब्दगत श्लेष भी है और उनमें शुद्ध व्याजस्तुति नहीं है, अन्य आलंकारिक विधाओं का भी स्पर्श है, अतः मम्मट ने रुद्रट का लक्षणमात्र अपनाकर व्याजस्तुति का निरूपण इस प्रकार किया है—

मम्मट—'व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा।'

—'व्याजस्तुति वह जिसमें आरम्भ में भासित हो निन्दा या स्तुति और अन्त में सिद्ध हो उससे उलटी स्तुति या निन्दा।'

स्तुति से निन्दा का उदाहरण उन्होंने 'हे हेला०' पद्य ही दिया है।

व्याजस्तुति शब्द की संगति उन्होंने 'व्याजरूपा व्याजेन वा स्तुतिः' 'व्याजरूप स्तुति या व्याज से स्तुति' यही दी थी।

इस प्रकार व्याजस्तुति का स्वरूप तो मम्मट तथा सर्वस्वकार ने रुद्रट से ही अपनाया, किन्तु उसका नाम उन्होंने परम्परा से ही लिया। रुद्रट ने व्याजस्तुति में जो श्लेष का अस्तित्व माना था उससे उसे अलग करने का श्रेय मम्मट को जाता है। सर्वस्वकार ने जो 'किं वृत्तान्तै०' पद्य के पश्चात् 'श्लिष्टमेवैतत्' कहा है इसका स्रोत कदाचित् रुद्रट द्वारा व्याजोक्ति में श्लेष का अस्तित्व मानना ही है। इस कारण सञ्जीविनीकार द्वारा श्लिष्ट शब्द के लिए क्लिष्ट शब्द की पाठान्तर-कल्पना उचित प्रतीत नहीं होती। सञ्जीविनी तथा विमर्शिनी द्वारा इस शब्द पर चुप्पी साधना भी वैसा ही है।

शोभाकर—परवर्ती शोभाकर ने भी व्याजस्तुति के ये दोनों भेद माने हैं। उनका सूत्र है—

[सू०] स्तुतिनिन्दाभ्याम् [अन्यप्रतीतिः] व्याजस्तुतिः।

[वृ०] स्तुत्या निन्दा, निन्दया वा स्तुतिर्यत्र भवति सा व्याजस्तुतिः।

—स्तुति और निन्दा से अन्य [निन्दा और स्तुति] की प्रतीति व्याजस्तुति कहलाती है।

सर्वस्वकार के ही समान रत्नाकरकार ने भी व्याजस्तुति में अन्य अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा मानी है।

विमर्शिनीकार ने व्याजस्तुति के विषय में एक महत्त्व की बात यह कही थी कि व्याजस्तुति नाम से जिन दो भेदों की गणना की गई है ये दोनों भेद वस्तुतः दो स्वतन्त्र व्याजस्तुतियाँ हैं किसी एक व्याजस्तुति के भेद नहीं। परवर्ती सञ्जीविनीकार ने भी यह तथ्य स्वीकार किया है इस दिशा में स्वयं सर्वस्वकार तथा रत्नाकरकार का भी ध्यान नहीं गया था न तो उनके पूर्ववर्ती मम्मट आदि आचार्यों का ही। परवर्ती आचार्यों में कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित पण्डितराज जगन्नाथ तथा विश्वेश्वर से भी यह तथ्य छूट रह गया है। जयदेव का 'उक्तिर्व्याजस्तुतिर्निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः'—'निन्दा और स्तुति के द्वारा स्तुति और निन्दा की उक्ति का नाम है व्याजस्तुति'। यह लक्षण मानकर अप्पयदीक्षित ने व्याजोक्ति के चार भेद बतलाए हैं। दो भेद तो उपर्युक्त भेद

ही हैं। दो अन्य भेद वे हैं जिनमें जिसकी निन्दा या स्तुति कथित होती है अन्य स्तुति या निन्दा उससे भिन्न की प्रतीत होती है। अन्य की निन्दा से अन्य की स्तुति का उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

अप्पयदीक्षित = 'कस्त्वं वानर ! रामराजभवने लेखार्थसंवाहको
यातः कुत्र पुरागतः स हनुमान् निर्दग्धलङ्कापुरः ।
बद्धो राक्षससूनुनेति कपिभिः संताडितस्तर्जितः
स व्रीडात्तपराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते ॥

[लंका में अंगद से किसी राक्षस की उक्ति] 'अरे वानर तू कौन-सा वानर है, [उत्तर] राम के राजभवन में डाकिया का काम करने वाला। [प्रश्न] वह जो एक हनुमान् नामक वानर पहले यहाँ आया था और लंका को जला गया था वह कहाँ गया। [उत्तर] यह जानकर कि उसे राक्षस के लड़के ने बाँध लिया था, उसे वानरों ने मारा पीटा और दुत्कारा, तो लाज के मारे वह जंगली वानर कहाँ चला गया पता नहीं'।

—यहाँ निन्दा हनुमान्जी की की गई है और स्तुति व्यक्त हो रही है उनसे भिन्न वानरों की। इसी प्रकार अप्पयदीक्षित ने स्तुति से निन्दा की प्रतीति का भी ऐसा ही उदाहरण भी दिया है।

इन दो भेदों की कल्पना रत्नाकरकार के मस्तिष्क में भी आई थी, किन्तु उन्होंने इन्हें अतिशयोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा में गतार्थ बतलाया था। अतिशयोक्ति में तब जब पर्यवसित होने वाली निन्दा या स्तुति में अतिशय की विवक्षा हो यथा 'इन्दुर्लिप्त' इत्यादि उद्धृत पद्य में। यदि अतिशय की विवक्षा नहीं रहती तो इन भेदों का अन्तर्भाव अप्रस्तुतप्रशंसा में ही होता है। यथा पूर्वोद्धृत 'धन्याः खलु वने वाताः' पद्य में। अन्त में रत्नाकरकार ने कहा है कि 'यस्यैव स्तुतिनिन्दे तस्यैव निन्दास्तुतिप्रतीतौ सातिशयविवक्षायां व्याजस्तुतिः' व्याजस्तुति वहाँ होती है जहाँ जिसकी निन्दा और स्तुति कही जाय पर्यवसान भी उसी स्तुति या निन्दा में हो और उस पर्यवसित में अतिशय की विवक्षा हो।

पण्डितराज—पण्डितराज ने भी इन दो नवीन भेदों को अमान्य ठहराते हुए तर्क दिया है कि अन्य की निन्दा से अन्य की स्तुति व्यक्त होने पर निन्दा का स्तुति में पर्यवसान होने की बात नहीं बनेगी। व्याजोक्ति में निन्दा या स्तुति ही स्तुति या निन्दा में परिणत होती हैं। अन्य की स्तुति या निन्दा स्तुति या निन्दा रूप ही रही आयेगी। इस प्रकार यहाँ 'व्याजत्व' ही उच्छिन्न हो जाएगा। पण्डितराज का कथन है—

'इयं व्याजस्तुतिर्यस्यैव वस्तुनः स्तुतिनिन्दे प्रथमनुपक्रान्ते तस्यैव चेन्निन्दास्तुत्योः पर्यवसानं भवेत् तदा भवति। वैयधिकरण्ये तु न।' [पृ० ५६१]

इन भेदों का खण्डन करते हुए पण्डितराज रत्नाकर का उल्लेख नहीं करते। पण्डितराज ने स्वयं व्याजस्तुति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'आमुखप्रतीताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां स्तुतिनिन्दयोः क्रमेण पर्यवसानं व्याजस्तुतिः।

—आरम्भ में प्रतीत या निन्दा स्तुति के द्वारा पर्यवसान में क्रम से स्तुति या निन्दा का बोध व्याजस्तुति।

पंडितराज ने भी व्याजस्तुति में अपरार्थ की प्रतीति में लक्षणा को ही कारण माना है।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर ने भी व्याजस्तुति के रुद्रटाभिमत भेद ही माने हैं। अप्पयदीक्षित के चार भेदों का विवेचन भी उन्होंने किया है और उनका अपनी ओर से कोई खण्डन नहीं किया

किन्तु प्राचीनों की ओर से नवीन दो भेदों को अप्रस्तुतप्रशंसा में गतार्थ बतलाया है। विश्वेश्वर का व्याजस्तुत लक्षण इस प्रकार है—

'व्याजस्तुतिविपर्ययपर्यवसानेऽस्तुतिस्तुत्यो ।'

—अस्तुति [निन्दा] और स्तुति का उल्टा पर्यवसान व्याजस्तुति कहलाता है।' निन्दा और अस्तुति अभिन्न नहीं कही जा सकतीं। अस्तुति स्तुति का अभाव होती है। निन्दा अभावात्मक नहीं होकर भावात्मक होती है। इस प्रकार तो स्तुति को भी निन्दा का अभाव कहा जा सकता है।

पाठान्तर = व्याजस्तुति की अन्तिम पंक्ति में डॉ० जानकी ने उन्मूलिता के स्थान पर 'उन्मीलिता' पाठ माना है और श्लिष्ट के स्थान पर 'क्लिष्ट'। 'उन्मीलिता' पाठ के अनुसार 'निन्दा उन्मीलिता' यह अन्वय होगा और अर्थ निकलेगा—'निन्दा को उद्घाटित कर दिया गया' जब कि निन्दा 'किं वृत्तान्तै:०' पद्य में वाच्य है अतः उद्घाटित ही है। दूसरा अर्थ निकाला जाएगा 'उसका रहस्य खोल दिया गया'। यह दूरगामी कल्पना होगी। वस्तुतः पण्डितराज ने इस पंक्ति को 'गमिता' तक उद्धृत किया है। उसमें 'उन्मूलिता' पाठ ही है—[द्रष्टव्य—व्याजस्तुति प्रकरण पृ० ५६०] श्लिष्ट और क्लिष्ट का विचार हम यहीं रुद्रट के प्रसंग में कर आए हैं।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने अपनी सञ्जीविनी में व्याजस्तुति का सग्रह कारिका द्वारा इस प्रकार किया है—

'व्याजेन व्याजरूपा वा स्तुतिर्व्याजस्तुतिर्द्वयम् ।
अप्रस्तुतप्रशंसातः स्तुतिनिन्दात्मिका भिदा ॥'

—'व्याज से स्तुति और व्याजरूप स्तुति ये दो व्याजस्तुति होती हैं। स्तुतिनिन्दा होने से ये अप्रस्तुतप्रशंसा से भिन्न हो जाती है।'

[सर्वस्व]

गम्यत्वमेव प्रकृतं विशेषविषयत्वेनोररीकृत्याक्षेपालंकार उच्यते—

[सू० ३९] उक्तवक्ष्यमाणयोः प्राकरणिकयोर्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं निषेधाभास आक्षेपः ।

इह प्राकरणिकोऽर्थः प्राकरणिकत्वादेव वक्तुमिष्यते तथाविधस्य विधानार्हस्य निषेधः कर्तुं न युज्यते। स कृतोऽपि बाधितस्वरूपत्वान्निषेधायत इति निषेधाभासः संपन्नः। तस्यैतस्य करणं प्रकृतगतत्वेन विशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। अन्यथा गजस्नानतुल्यं स्यात्। स चाभासमानोऽपि निषेधस्तत्रोक्तस्य वा स्यात् आसूत्रिताभिधत्वेन वक्ष्यमाणस्य वा स्यादित्याक्षेपस्य द्वयी गतिः। तत्रोक्तविषयत्वेन कैमर्थक्यपरमालोचनमाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषयत्वेनानयनरूपमागूरणमाक्षेपः। एवं चार्थभेदादाक्षेपशब्दस्य द्वावाक्षेपाविति वदन्ति। तत्रोक्तविषये यस्यैवेष्टस्य विशेषस्तस्यैवाक्षेपः। वक्ष्यमाणविषये त्विष्टस्य विशेषः, इष्टसंबन्धिनस्त्वन्यस्य सामान्यरूपस्य निषेधः। तेनात्र लक्षणभेदः। विशेषस्य चात्र शब्दानुपात्तत्वाद् गम्यत्वम्। तत्रोक्त-

विषय आक्षेपे क्वचिद्वस्तु निषिध्यते क्वचिद्वस्तुकथनमिति द्वौ भेदौ। वक्ष्यमाण-विषये तु वस्तुकथनमेव निषिध्यते। तच्च सामान्यप्रतिज्ञायां क्वचिद्विशेष-निष्ठत्वेन निषिध्यते क्वचित् पुनरंशोक्तावंशान्तरगतत्वेनेत्यत्रापि द्वौ भेदौ। तदेवमस्य चत्वारो भेदाः। शब्दसाम्यनिबन्धनं सामान्यविशेषभावमवलम्ब्य चात्र प्रकारिप्रकारभावप्रकल्पनम्।

गम्यता का प्रकरण चला आ रहा है और आक्षेप में 'विशेष' की गम्यता रहती है इस कारण इसी को लेकर अब आक्षेपालंकार का निरूपण करते हैं—

[सूत्र २९] विशेषता की प्रतीति कराने के लिए उक्त [कहे जा चुके] अथवा वक्ष्य-माण [कहे जाने वाले] प्राकरणिक के निषेध का आभास आक्षेप [नामक अलंकार कहलाता है]

[वृत्ति] यहाँ [प्रत्येक वाङ्मय में] जो अर्थ प्राकरणिक होता है प्राकरणिक होने के कारण ही उसका कथन अभीष्ट होता है। ऐसा अर्थ विधानार्ह होता है अतः उसका निषेध करना उचित नहीं होता। यदि वह [निषेध] किया भी जाता है तो उसका स्वरूप बाधित हो जाता है, अतः वह निषेध जैसा रहता है फलतः वह निषेधाभास बन जाता है। इस प्रकार के इस [निषेध] का जो विधान होता है उसका उद्देश्य [वक्तव्यार्थ] में वैशिष्ट्य [जोर] लाना होता है। ऐसा न हो तो वह गजस्नान के समान [किया न किया बराबर] हो जाए। यह जो आभासमान निषेध है वह भी या तो ऐसे अर्थ का होता है जिसे कह चुका जाता है या फिर ऐसे अर्थ का जिसके कथन की भूमिकामात्र बनी रहती है; और जिसे स्पष्टरूप से आगे कहना शेष रहता है, इस कारण आक्षेप भी [उक्तविषयक और वक्ष्यमाणविषयक, इस प्रकार] दो प्रकार का हो जाता है। इन [दोनों] में [प्रथम में] विषय उक्त रहता है तो [निषेधरूप] आक्षेप ऐसा ज्ञान सिद्ध होता है जिसमें अन्ततः [कथित अर्थ के विषय में] किमर्थकता = 'इस सब के कहने से क्या' इस अभिप्राय की प्रतीति होती है, [और द्वितीय आक्षेप में] विषय वक्ष्यमाण रहता है तो [यही निषेधरूप] आक्षेप [अकथित अर्थ को अर्थबलात्] 'ले आने'-रूप व्यंजना सिद्ध होता है। इस प्रकार आक्षेप शब्द का अर्थ बदल जाने से [भामह आदि] कुछ आचार्य यह कहते हैं कि आक्षेपा-लंकार [अलग-अलग] दो होते हैं।

इन [दोनों आक्षेपों] में से [प्रथम] उक्तविषय [नामक आक्षेप] में उसी का आक्षेप [निषेधाभास] रहता है जिसमें विशेषता का प्रतिपादन अभीष्ट रहता है जब कि [द्वितीय] वक्ष्यमाणविषय [नामक आक्षेप] में विशेषता अभीष्ट अर्थ में ही प्रतीत होती है, किन्तु निषेध उस अभीष्ट अर्थ से सम्बन्धित अन्य रूप का होता है जो सामान्यात्मक रहता है। इस कारण इन दोनों भेदों में लक्षण बदल जाता है।

विशेषता यहाँ गम्य होती है क्योंकि उसके वाचक शब्द का प्रयोग नहीं रहता। उक्तविषय (नामक) आक्षेप में कहीं तो निषेध रहता है स्वयं वस्तु का, और कहीं वस्तु के कथन का; इस प्रकार उसके दो भेद हो जाते हैं, परन्तु वक्ष्यमाणविषय (नामक) आक्षेप में केवल वस्तुकथन का ही निषेध रहता है। उस [कथन] में भी यदि सामान्य का कथन रहता है तो निषेध विशेष का हुआ करता है और कथन आंशिकरूप से होता है तो [निषेध] अन्य अंश का [हुआ करता है] इस प्रकार इस भेद में भी दो भेद हो जाते हैं। इस प्रकार आक्षेप के चार भेद होते हैं। [सभी आक्षेपों का वाचक आक्षेप] शब्द एक ही है इस कारण सामान्यविशेषभाव मानकर और प्रकारप्रकारिभाव [प्रकार = विशेष, प्रकारी = सामान्य] की कल्पना की है।

विमर्शिनी

उररीकृत्येति आश्रित्य । तमेवाह—उक्तवक्ष्यमाणयोरित्यादि । तथाविधस्येति वक्तुमिष्टस्य । अत एव विधानार्हस्येत्युक्तम् । स इति निषेधः । बाधितस्वरूपत्वादिति । प्राकरणिके विधानार्हे तस्यासम्भवात् । यद्येव तर्ह्यसावकार्य एवेत्याशङ्क्याह—तस्येत्यादि । अन्यथेति, विशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात् । तस्य च विषयं दर्शयति—स चेत्यादिना । उक्तस्येति वस्तुत कथनरूपस्य । आसूत्रिताभिधस्येनेति सामान्यमुखेनांशोक्तिमुखेन वा । अन्यथा हि सर्वत्र विवक्षितार्थस्य निषेधमात्रादेव प्रतीतिप्रसङ्ग । कैमर्थ्यस्येति, किमर्थमेतदिति पर्यनुयोगरूप इत्यर्थ. । एवमिति । कैमर्थ्यपर्यालोचनानयनरूपागूरणरूपत्वात् । वदन्तीनि प्राच्याः । यदाह भामह —

> 'वक्ष्यमाणोक्तविषयस्तत्राक्षेपो द्विधा मतः ।
> एकरूपतया शेषा निर्दिश्यन्ते यथाक्रमम् ॥' इति ।

तेनास्माकमेतन्न मतमिति भावः । वक्ष्यमाणविषये हि कथनस्यैव निषेध्यत्वात् कथ्यत इति कैमर्थ्यपरमालोचनमेव प्रतीयते इत्येक एवाक्षेपशब्दस्यार्थ इति भेदाभावाद् द्वावाक्षेपाविति न युक्तम् । तत्किमेक एवाक्षेपो भवन्मते युक्त इत्याशङ्क्याह—तस्येत्यादि । आक्षेप इति विशेष' । कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । इष्टस्येति विशेषात्मन. । अभ्यस्येति विशेषान् । एवं निषेधविशेषयोर्भेदेनावस्थितेर्नात्र सामान्यलक्षणसमयोऽस्तीति तात्पर्यम् । ननु सर्वविशेषाणां सामान्यानुप्राणितत्वादेकत्रापि कृतो निषेधादिरपरत्रावश्यमेव पर्यवस्यतीति कथमत्र निषेधविशेषयोर्भिन्नविषयत्वमुक्तम् । सत्यम् । यद्यप्येवं तथाप्येतस्य शब्दार्थम् । अर्थवशेन तत्र तथात्वावगते' । इह च शब्दस्यैवैतदाक्षेपाङ्गं नार्थवशायातम् । तथात्वे हि रूपकादीनामप्युपमात्व स्यात् । तेषामप्यर्थस्य सादृश्यस्य भावात् । एतच्चोद्भटविचारे राजानकतिलकेनैव सप्रपञ्चमुक्तमिति न तयास्माभिराविष्कृतम् । तेनेति । निषेधविशेषयोरेव भिन्नविषयत्वादाक्षेपत्वमित्यर्थं भेदात् । यस्त्वत्र विशेष. ■ किं वाच्य' किमुत गम्य इत्याशङ्क्याह—विशेषस्येत्यादि । कथनमेवेति, न पुन. साक्षाद् वस्तु । तदिति कथनम् । सामान्यप्रतिज्ञयेति । सामान्यमेवाश्रित्येत्यर्थ । विशेषनिष्ठत्वेनेति । सामान्यस्य विशेषाविमाभावित्वाद् । निषिध्यत इति, अत्र, उत्तरत्र च सबन्धनीयम् । अंशान्तरगतत्वेनेति । सामान्यप्रतिज्ञयेत्यत्रापि संबन्धः । अत्रापि ह्यपरांशोक्ति सामान्यमुखेनैव निषिध्यते । विशेषस्य हि साक्षादत्र निषेधो न भवति । निषेधानन्तर तत्प्रतीतेर्भाविनो निषेधासम्भवात् । ■ उक्तो निषेध. शब्दोपात्ततया तत्कालमप्रतीयमाने च विषये सम्भवति । अस्येत्याक्षेपस्य । ननु द्वयोराक्षेपयोश्चत्वारो भेदा. संभवन्तीति कथमेकरूप्येणोक्ता इत्याशङ्क्याह—शब्देत्यादि । प्रकल्पनमिति । न पुनर्वस्तुतः सद्भाव इत्यर्थ. ।

उररीकृत्य = लेकर = उसी को आधार बनाकर । उसी को कहते हैं—उक्त-वक्ष्यमाणयोः इत्यादि द्वारा तथाविधस्य = ऐसा अर्थ = विवक्षित, वक्तव्य । इसीलिए विधानार्ह । सः = वह = निषेध । बाधितस्वरूपत्वात = उसका स्वरूप बाधित रहता है इसलिए = अर्थात् जो अर्थ प्राकरणिक होता वह विधानार्ह होता है अत उसका संभव नहीं होता इसलिए । 'यदि यह सभव नहीं होता तो फिर इसका विधान ही नहीं किया जाना चाहिए'—इस शंका पर उत्तर देते हैं—तस्य इत्यादि । अन्यथा = यदि ऐसा न हो अर्थात् विशेष अर्थ का ज्ञान न हो । उस [निषेध] का विषय [प्रतियोगी, जिसका निषेध होता है वह विषय] बतलाते हैं—'स च' इत्यादि के द्वारा । उक्तस्य = कथित का = किन्तु वस्तुतः कथनरूप का । आसूत्रिताभिधस्य=जिसके कथन की भूमिका-

मात्र बनी रहती है। अर्थात् या तो सामान्यात्मक रूप से या फिर अंशमात्र के कथन के रूप से। यदि ऐसा न हो तो फिर विवक्षित अर्थ की प्रतीति सभी स्थलों में निषेध के द्वारा ही होने लगे। कैमर्थक्य = 'इससे क्या' इस प्रकार का अर्थात् पर्यनुयोगरूप। एवम् = इस प्रकार अर्थात् कैमर्थक्यपर्यालोचन और 'आनयन = ले आना'-रूप जो आगूरण तद्रूप। वदन्ति = कहते हैं अर्थात् प्राचीन आचार्य। जैसा कि भामह ने कहा है—

'उन [आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति और अतिशयोक्तिः—इन अलंकारों] में से केवल आक्षेप 'वक्ष्यमाणविषय और उक्तविषय' इस प्रकार दो प्रकार का, और शेष सब एक ही एक प्रकार के क्रमशः बतलाए जाएँगे। [काव्यालंकार २।६६-६७]।'

इसका अर्थ यह कि हमें [सर्वस्वकार का] यह मान्य नहीं है। वस्तुतः वक्ष्यमाणविषय नामक आक्षेप में भी निषेध किया जाता है कथन का ही। अतः वहाँ भी ज्ञान में 'ऐसा किस लिए [अर्थात् निरर्थक]' इस प्रकार का बोध होता है इसलिए [दोनों ही भेदों में] आक्षेप शब्द का अर्थ एक ही रहता है। इस प्रकार [दोनों भेदों में] भेद नहीं रहता, फलतः 'आक्षेप दो हैं' ऐसा कहना ठीक नहीं है। 'तो क्या आपके मत में आक्षेप एक ही प्रकार का मान्य है'—इस प्रश्न पर उत्तर देते हुए कहते हैं—तत्र इत्यादि। आक्षेप अर्थात् विक्षेप, कार्य और कारण में औपचारिक अभेद मानकर। इष्टस्य = अभीष्ट अर्थ अर्थात् विशेषरूप। अन्यस्य = अन्य भिन्न अर्थात् विशेषात्मक अर्थ से भिन्न [सामान्य अर्थ]। इस प्रकार तात्पर्य यह निकला कि निषेध और विक्षेप ये दोनों अलग-अलग रहते हैं, इस कारण इनमें सामान्य लक्षण का होना संभव नहीं है। [शङ्का] 'सभी विशेष सामान्य से अनुप्राणित रहते हैं इसलिए एक का निषेध अपने आप अवश्य ही अन्य का निषेध बन जाता है, तब यहाँ निषेध और विक्षेप को अलग-अलग कैसे कहा गया'। [उत्तर] ठीक है। यद्यपि होता ऐसा ही है तथापि यह अर्थ शब्द से नहीं निकलता। ऐसा प्रतीत होता है अर्थसंगति से। प्रकृत में जिस आक्षेप का विचार चल रहा है वह शाब्द आक्षेप का ही अंग है, अर्थवशाद् आया हुआ नहीं है। वैसा मानने पर तो रूपकादि भी उपमादि-स्वरूप सिद्ध होंगे। क्योंकि अर्थवशात् सादृश्य तो उनमें भी रहता ही है। यह सब बहुत विचार में राजानक तिलक ने ही विस्तारपूर्वक कह दिया है इस कारण उतने विस्तार में हमने इसका विचार नहीं किया। तेन = इस कारण = निषेध और विक्षेप दोनों के भिन्नविषयक हो जाने से आक्षेप शब्द के अर्थ में भेद हो जाने के कारण। अब 'जो यहाँ विशेष रहता है वह वाच्य होता है या गम्य' ऐसी शङ्का का उत्तर देते हैं—विशेषस्य इत्यादि। कथनमेव = कथन ही, न कि स्वयं वस्तु। तत् = वह = कथन। सामान्यप्रतिज्ञया = सामान्य का ही आश्रय लेकर [कथन होने से]। विशेषनिष्ठत्वेन = विशेषपरक होने से = सामान्य विशेष से पृथक् नहीं रहता इसलिए। निषिध्यते = निषेध किया जाता है इसका संबन्ध यहाँ और आगे भी जोड़ना चाहिए। 'अंशान्तरगतत्वेन=अन्य किसी अंश का [निषेध]' इसका संबन्ध 'सामान्यप्रतिज्ञया = सामान्यमात्र का कथन रहता है'—इससे भी करना चाहिए क्योंकि यहां भी अन्य अंश का निषेध सामान्यरूप के ही माध्यम से हुआ करता है। सीधे-सीधे विशेष का निषेध नहीं होता। क्योंकि उसकी प्रतीति निषेध के बाद होती है, तब [वक्ष्यमाण] भावी का निषेध नहीं हो पाएगा। जो निषेध कहा जाता है वह शब्दतः अकथित या प्रतीयमान विषय का नहीं हो सकता। अस्य = इसके = आक्षेप के। 'चार भेद दो आक्षेपों के होते हैं, तब एक ही आक्षेप के चार भेद कैसे बतलाए जा रहे हैं' इस शंका पर कहते हैं—शब्द इत्यादि। प्रकल्पनम् = कल्पना की है = अर्थ यह कि इसका वास्तविक सद्भाव नहीं है।

[सर्वस्व]

क्रमेण यथा—

'बालअ णाहं दूई तीए पिओ सि त्ति णम्हवावारो।
सा मरइ तुज्झ अयसो एअं धम्मक्खरं भणिमो॥'

प्रसीदेति ब्रूयामिदमसति कोपे न घटते
करिष्याम्येवं नो पुनरिति भवेदभ्युपगमः।
न मे दोषोऽस्तीति त्वमिदमपि हि ज्ञास्यसि मृषा
किमेतस्मिन्वक्तु क्षममिति न वेद्मि प्रियतमे॥'

'सुहअ विलंबसु थोअं जाव इमं विरहकाअरं हिअअं।
संठविऊण भणिस्सं अहवा वोलेसु किं भणिमो॥'

'ज्योत्स्ना तम पिकवचः क्रकचस्तुषारः
क्षारो मृणालवलयानि कृतान्तदन्ताः।
सर्वं दुरन्तमिदमद्य शिरीषमृद्वी
सा नूनमाः किमथवा हतजल्पितेन॥'

आद्ये उदाहरणद्वये यथाक्रमं वस्तुनिषेधेन भणितिनिषेधेन चोक्तविषय आक्षेपः। तत्र चोक्तस्य दूतीत्वस्य वस्तुनो निषेधमुखेनैव वास्तवत्वादिविशेषः। तथा भण्यमानस्य प्रसादस्य निषेधमुखेनैव कोपोपरागनिवर्तनेनावश्यस्वीकार्यत्वं विशेषः। उत्तरस्मिन् पुनरुदाहरणद्वये यथाक्रमं सामान्यद्वारेणेष्टस्यांशोक्तावंशान्तरस्य स्वरूपेण च भणितिनिषेधे वक्ष्यमाणविषय आक्षेपः। तत्र च वक्ष्यमाणस्येष्टस्य भणिस्समितिप्रतिज्ञातस्य सातिशयो मरणशङ्कोपजननत्वादिर्विशेषः। तथा चांशोक्तावंशान्तरस्य म्रियत इति प्रतिपाद्यस्याशक्यवचनीयत्वादिर्विशेषः। एवं च आक्षेपे इष्टोऽर्थः तस्यैव निषेधः, निषेधस्यानुपपद्यमानत्वादसत्यत्वम्, विशेषप्रतिपादनं चेति चतुष्टयमुपयुज्यते। नेन न निषेधविधिः न विहितनिषेधः। किं तु निषेधेन विधेराक्षेपः। निषेधस्यासत्यत्वाद् विधिपर्यवसानात्। विधिना तु निषेधोऽस्य भेदत्वेन वक्ष्यते। ततश्च हर्षचरिते—'अनुरूपो देव इत्यात्मसंभावना—' इत्यादौ, तथा 'यामीति न स्नेहसदृशम्' इत्यादावुक्तविषय आक्षेपः।

क्रम से उदाहरण यथा—

'बालक ! नाहं दूती तस्याः प्रियोऽसीति नास्मद्व्यापारः।
सा म्रियते तवायशः एतद् धर्माक्षरं भणामः॥'

[१]—[दूती की नायक के प्रति उक्ति] 'बालक ! तुम उस [मेरी सखी] के प्रिय हो इस लिए मुझे दूती न समझ बैठना, हम लोग यह काम नहीं करतीं। हम तो 'वह मर जायगी और तुम्हारा अयश होगा' यह धरम की बात भर कहने आई हैं।'

[२]—'यदि कहूँ कि प्रसन्न हो जाओ' तो यह जमता नहीं, क्योंकि तुम गुस्सा [तो] हो नहीं, 'ऐसा पुनः न करूँगा' यह कहूँ तो यह अपना दोष स्वीकार करना है, कहूँ कि 'दोष मेरा नहीं है' तो इसे तुम झूठ समझोगी। हे प्रियतमे ! मैं नहीं समझ पा रहा कि इस विषम स्थिति में क्या कहना उचित है।'

'सुभग विलम्बस्व स्तोकं यावदिदं विरहकातरं हृदयम्।
संस्थाप्य भणिष्याम्यथवापक्राम किं भणामः ॥

[३]—'सुभग ! थोड़ा ठहरो। अपने विरहकातर हृदय को स्थिर तक कहूँगी, या जाओ चले जाओ। कहें ही क्या ?'

[४]—चाँदनी अंधियारी हो गई है, कोकिल की कूक आरा बन गई है, ओस की बूँदें क्षार और मृणालपुंज यम की दँतोर्ही प्रतीत हो रहे हैं। इस प्रकार इस समय ये सभी दुखदायी बन बैठे हैं। शिरीषकोमल अकेली वह निश्चित ही, किन्तु आः इस सब बेकाम भाषण से क्या लाभ।

[इन चार स्थलों में से] प्रथम दो स्थलों में क्रम से (प्रथम में) वस्तुनिषेधात्मक तथा [द्वितीय में] कथननिषेधात्मक आक्षेप है। यह आक्षेप उक्तविषय आक्षेप है। इनमें से [प्रथम में] दूतीत्वरूपी वस्तु कही जा चुकी है। उसका निषेध किया गया है। उसी से उसमें वास्तविकता आदि रूप विशेषता का ज्ञान होता है। इसी प्रकार [द्वितीय में] प्रसन्न होने की जो बात कही जा रही है उसमें 'कोप [रूपी शत्रु] का ग्रहण हटाकर अवश्य स्वीकार किये जाने योग्य होने' की विशेषता विदित होती है। यह विशेषता निषेध के द्वारा ही निकलती है।

परवर्ती जो दो उदाहरण हैं। उनमें क्रमशः [प्रथम में] विवक्षित अर्थ सामान्य रूप से कह दिया गया है अतः उसका आंशिक कथन हो चुका है तदनन्तर अन्य अंश और स्वयं कथन का भी निषेध होता है। अतः यहां वक्ष्यमाणविषय [ज्ञापक] आक्षेप है। इसमें 'कहूँगी'-शब्द के द्वारा जिस वस्तु के कहने की बात कही गई है' उस अभीष्ट-वस्तु में जो वैशिष्ट्य प्रतीत होता है वह है—'अत्यधिक मात्रा में मरणशंका उत्पन्न करना'। इसी प्रकार [अन्तिम स्थल में] प्रतिपाद्य वस्तु का कुछ अंश कह दिया गया है और कुछ अंश जिसका प्रतिपादन 'मरने वाली है' इस प्रकार किया जाना शेष है उसमें [निषेध के द्वारा] 'उसका कहा जाना संभव नहीं है' आदि विशेषताएँ प्रतीत होती हैं।

इस प्रकार आक्षेप में (१) अभीष्ट अर्थ, (२) उसी अर्थ का निषेध, (३) निषेध का सिद्ध न होना और (४) विशेषता का प्रतिपादन इन चार तत्वों का उपयोग होता है। इस लिए न तो यहाँ निषेध का विधान होता और न विहित का निषेध ही। यहां तो निषेध से विधि का आक्षेप होता है। यह इसलिए कि निषेध असत्य होता है अतः उसका विधि में ही पर्यवसान हो जाता है। विधि से जो निषेध प्रतीत होता है उसे तो हम इसी [आक्षेप] का एक भेद बतलाने वाले हैं।

इसलिए हर्षचरित में आई [प्रथम उच्छ्वास में दाधीच की दूती मालती द्वारा सरस्वती के प्रति कथित हमारे] मालिक आपके अनुरूप हैं यह स्वयं की बड़ाई करना है'-[३६ पृ० नि० सा० सं० ७] इत्यादि उक्ति में, तथा-[तृतीय उच्छ्वास में दक्षरूप में परिणत भैरवाचार्य के राजा पुष्पभूति के प्रति कथित] 'जाता हूँ' यह कहना स्नेह के अनुरूप न होगा [पृ० ११६ वही] इत्यादि वाक्यों में उक्तविषय आक्षेप है।

विमर्शिनी

वस्तुनो निषेधमुखेन विशेष इत्यनेन यस्यैव निषेधस्तस्यैव विशेष इत्युक्तं निर्वाहितम्।

'दूरपवासे सँमुहो सि सुहअ आलिंगणं खण कुरुसु ।
अहवा ला हि इमिणा गमणम्मि विलंबआरेण ॥'

इत्यत्र पुनरक्षणालिङ्गनस्य निषेधो विधौ तात्पर्याभावाच्च निषेधाभासतामियादि-त्येतदुदाहरणं न वाच्यम् । यतोऽत्र विलम्बनकारिण आलिङ्गनस्यैव निषेधेन गमनविधि-रद्वेचित । स च विधिरनुपपद्यमानत्वादप्रस्थानलक्षणं निषेधं लक्षयति । अत्र च गमन-स्यावश्यपरिहार्यत्वादिर्विशेष- प्रयोजनम् । क्षणालिङ्गनमात्रस्यैव चेष्टत्वे गमनस्य विधिरेव पर्यवस्येद्य निषेध इति विवक्षितवाक्यार्थविप्रलोप एव स्यात् । अतश्चोक्तविषयं विहितनिषेधेऽप्याक्षेपत्वमन्यत्र निषेधोऽन्यत्र विशेषप्रतीति न वाच्यम् ।

'वस्तुनो निषेधमुखेन विशेष —वस्तु के निषेध से उसकी विशेषता' इस कथन का तात्पर्य यह निकला कि 'विशेषता उसी में प्रतीत होगी जिसका निषेध होगा ।' [अतः अलङ्काररत्नाकरकार को उक्तविषय आक्षेप के लिए]

'दूर-प्रवासे समुखोऽसि सुभग ! आलिंगनं क्षण कुरुष्व ।
अथवा अलमेनेन गमने विलम्बकारिणा ॥'

—'सुभग ! दूर देश जाने को उद्यत हो । आओ, एक क्षण छाती से लग लो [आलिंगन कर लो] अथवा रहने दो । इससे जाने में विलम्ब हो जाएगा ।'

इसे उदाहरण नहीं बनाना चाहिए । क्योंकि इसमें उक्त [कह दिए गए] आलिंगन का जो निषेध किया गया है उसका तात्पर्य [अपने] विधान में नहीं है अत यह निषेधाभास नहीं बन पाता । ऐसा इसलिए होता है कि इस पद्य में [पूर्वविहित] 'अलिंगन करो' शब्द के द्वारा विलम्ब-कारी आलिंगन का ही [पश्चात् 'रहने दो इसे' इस प्रकार] निषेध कर गमनविधि का समर्थन किया गया है । यह विधि अपने आप में बाधित है [क्योंकि वक्ता को अनभीष्ट है] अत इसकी 'अप्रस्थान'–[गमनाभाव, गमन निषेध]-रूपी निषेध में लक्षणा हो जाती है और इस लक्षणा का प्रयोजन ठहरता है गमन में इस वैशिष्ट्य की प्रतीति कि वह अवश्यमेव परिहार्य है । [इस प्रकार निषेध किया गया आलिंगनरूपी अन्य अर्थ का और विशेषता प्रतीति हुई, गमनरूपी अन्य अर्थ में] । [वस्तुत इस पद्यार्थ में गमनविधि के द्वारा प्रतिपादित गमननिषेध ही अभीष्ट अर्थ है] यदि यहाँ क्षणालिंगनमात्र अभीष्ट होता तो गमन का विधान [बाधित न होकर विधान रूप में] ही अन्त तक प्रतीत = [पर्यवसित] होता, निषेध नहीं, और इस प्रकार वाक्य से जो अर्थ विवक्षित [= अभीष्ट] है वही अर्थ सर्वथा छूट जाएगा । और इसी कारण [अलङ्काररत्नाकरकार को] यह भी नहीं कहना चाहिए कि 'उक्तविषय आक्षेप वहाँ भी होता है जहाँ विहित का निषेध होता है और वहाँ भी जहाँ निषेध अन्यत्र होता है और विशेषता की प्रतीति अन्यत्र ।

विमर्श—विमर्शिनी का यह अंश रत्नाकर की सर्वस्वविरोधी मान्यताओं का उत्तर है । रत्नाकर में शोभाकरमित्र ने 'दूरप्रवासे०' पद्य में उक्तविषय नामक आक्षेप का वस्तुनिषेध नामक भेद माना है । उनके अनुसार इस पद्य में क्षणालिंगन ही वक्ता का अभीष्ट अर्थ है । उसके निषेध से वे गमन में 'आवश्यकत्व' और 'अपरिहार्यत्व' इन विशेषताओं की प्रतीति मानते हैं । इस प्रकार शोभाकर के अनुसार निषेध आलिंगन का होने पर भी विशेषता की प्रतीति गमन में होती है । सर्वस्वकार का सिद्धान्त है कि निषेध और विशेष दोनों एक ही वस्तु के होते हैं । रत्नाकर इसका उल्लेखपूर्वक खण्डन करते और इस पद्यार्थ के आधार पर कहते हैं—'एव चैवमादावालिंगनादिनिषेधे-प्यन्यविशेषप्रतीते-' 'यस्यैव निषेधस्तस्यैव विशेष' इत्याद्यसङ्गतम् , अव्यापकत्वात्' ।—'उक्त पद्य के अर्थ में निषेध आलिंगन का हो रहा है, और विशेषता गमन में प्रतीत हो रही है इस कारण

[सर्वस्वकार का] 'जिसका निषेध हो विशेषता भी उसी में प्रतीत हो' यह कथन असंगत है। यह आक्षेप के सभी भेदों को व्याप्त नहीं करता।'

सर्वस्वकार ने कहा है 'विहित का निषेध नहीं होता'। रत्नाकरकार इसके भी विरोध में स्पष्टरूप से कहते हैं—'अत्रालिंगनस्य विहितस्यापि निषेधे आक्षेपसंभवाद् 'विहितस्य निषेधो नाक्षेप' इति न वाच्यम्' = अर्थात् इस पद्य में जो आलिंगन विहित है उसी का निषेध हुआ है। यहां आक्षेप संभव है तो [सर्वस्वकार को] 'विहित का निषेध आक्षेप नहीं होता' यह नहीं कहना चाहिए।

विमर्शिनीकार इस पद्य में गमन का निषेध विवक्षित [या वक्ता को अभीष्ट] मानते हैं और उसी में अवश्यपरिहार्यत्व रूपी विशेषता की प्रतीति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उनके अनुसार यहां निषेध और विशेषता दोनों का आधार एक ही ठहरता है। इतने पर भी वे इस पद्य को आक्षेप का उदाहरण नहीं मानते, क्योंकि यहां न तो गमन का विधान ही कथित है और न उसका निषेध ही। दोनों विमर्शिनीकार के अनुसार शब्दशक्ति से भासित न होकर अर्थशक्ति से भासित होते हैं। गमन का विधान भासित होता है उसमें विलम्ब करने वाले आलिंगन के निषेध से व्यंजना द्वारा, और उसका निषेध भासित होता है लक्षणा द्वारा। रत्नाकरकार के अनुसार यदि गमन में प्रतीत होने वाली विशेषता थी अवश्य अपरिहार्यता तो विमर्शिनीकार के अनुसार उसके निषेध में प्रतीत होने वाली विशेषता हुई अवश्य परिहार्यता। फलतः निर्णयसागर संस्करण में रत्नाकर की ही पंक्ति के समान विमर्शिनी में भी जो 'अवश्यापरिहार्यत्व' छपा है वह सर्वथा विपरीत है।

वस्तुतः 'दूरप्रवासे'० पद्य वाच्य आक्षेप का उदाहरण न होकर व्यंग्य आक्षेप का उदाहरण है। निषेध और विशेष दोनों जो यहां शब्द वाच्य न होकर व्यंग्य हैं। व्यंग्य होने पर भी यह ध्वनिरूप न होकर गुणीभूतव्यंग्यरूप है क्योंकि इसमें गमन शब्दतः कथित है। ध्वनित्व उसी व्यंग्य में संभव होता है जो किसी भी अंश में वाच्य न हो।

विमर्शिनीकार के मत में एक विचित्र तथ्य यह है कि वे आक्षिप्त या व्यंग्य अर्थ में भी लक्षणा का उत्थान मानते हैं। गमन शब्द से गमनविधि का आक्षेप होता है, वह वक्ता को अभीष्ट नहीं है अतः उसका पर्यवसान निषेध में हो जाता है। विमर्शिनीकार इस पर्यवसान में कारण मानते हैं विपरीत लक्षणा। लक्षणा तो शब्द से कथित अतएव मुख्य या वाच्य अर्थ के बाध से उत्थान पाती है, वाच्य या मुख्य अर्थ से आने वाले अर्थ के बाध से नहीं।

विमर्शिनी

प्रसाऽस्येति वस्तुतो न, प्रथामिति तत्कथनस्यैव निषेधः। सामान्यद्वारेणेति। भणिष्यामीति भणनसामान्यमाश्रित्येत्यर्थः। तच्च तत्तदपराधोदीरणपरमेवेति तस्य विशेषापूरकत्वम्। दृष्टस्येति काकाक्षिन्यायेन योज्यम्। अंशोक्ताविति सर्वं दुरन्तमित्यादिना। अंशान्तरस्येति म्रियते इत्यादेः। किमथवा हतजल्पितेनेति सामान्यरूपस्यैव निषेधः। एकमप्यस्य विभज्य स्वरूपं प्रतिपादयति—एवं चेत्यादिना। उपयुक्त इति। एतच्चतुष्टयमन्तरेणाक्षेप एव न भवतीत्यर्थः। तदेवाह—तेनेत्यादिना। निषेधविधिर्नाक्षेप इति संबन्धः। एतदुत्तरत्रापि योज्यम्। यदाहुः—

> 'विहितस्य निषेधेन न निषेधविधौ भवेत्।
> निषेधेन विधिर्यत्र तत्राक्षेपः प्रकीर्तितः॥' इति।

तत्र निषेधविधिर्यथा—

> 'एष क्षीरोदजन्मा कुमुदकुलपतिः सेयमाकाशगङ्गा
> ब्राह्मं शीर्षं तदेतत्तदिदमनिमिषं नेत्रमग्नेरगारम्।

सैषा हालाहलश्रीर्वलयिततनवो नागराजास्त एते
कङ्काल कालियारेरिदमपि तदलं भावितैर्नो नमस्ते ॥'

अत्रालमिति निषेधस्यैव विधिः। अतश्च न तस्यासत्यत्वम्। तदभावाच्च न विधिपर्यवसानमित्याक्षेपोपयोगिन्याः सामग्र्या अभाव इति नायमत्रालंकारः। स हि चतुष्टयसंनिधावेव भवति। विहितनिषेधस्तु यथा—

'ब्रह्मण्यः शिवमस्तु वस्तु विततं किंचिद् वयं ब्रूमहे
हे सन्तः शृणुतावधत्त च यतो युष्मासु सेवाञ्जलिः।
धृष्टा किं विनयोक्तिभिर्मम गिरां यद्यस्ति सूक्तामृतं
माद्यन्ति स्वयमेव तत्सुमनसो याच्ञा परं दैन्यभूः ॥'

अत्र विहितानां विनयोक्तीनां निषेध इति विहितनिषेधः। पूर्ववच्चात्र नाक्षेपालंकारः। निषेधेन विधिस्तु ग्रन्थकृतैवोदाहृतः।

प्रसादस्य = प्रसाद का निषेध, वस्तुतः प्रसादरूपी वस्तु का नहीं, अपितु उसके ब्रूयाम् = कहूँ इस प्रकार शब्द से कथित कथन का ही निषेध किया गया है। 'सामान्यद्वारेण = सामान्य द्वारा, सामान्यरूप से अर्थात् 'अभिधास्यामि = कहूँगी' इस प्रकार शब्द से कथित कथन सामान्य को लेकर। और यह [कथनसामान्य] नायक के उन-उन अपराधों की ओर संकेत करने के लिए ही है, इसलिए वह विशेषता का व्यञ्जक है। इष्टस्य = अभीष्ट इसका अन्वय कौए की [एक] आँख का [दोनों] गोलकों के समान दोनों [अंश और अंशान्तर] में करना चाहिए। अंशोक्ती = अंशतः उक्ति = आंशिक कथन, अर्थात् 'सर्वं दुरन्तम् = सभी दुखदायी' इत्यादि के द्वारा। 'अंशान्तरस्य = अन्य अंश का' 'म्रियते = मर रहा है' इत्यादि का। 'किमथवा इतजल्पितेन = अथवा इस व्यर्थ भाषण से क्या' इस प्रकार सामान्यरूप से कथित का ही निषेध किया जा रहा है।

इस प्रकार आक्षेप का विवेचन अलग-अलग भेदों में किया तब भी भेदों का प्रतिपादन पुनः करते हुए कहते हैं—'एवं च' इत्यादि। उपयुज्यते = उपयोग होता है = अर्थ यह कि इन चार भेदों के बिना आक्षेप की निष्पत्ति ही नहीं हो पाती। इसी तथ्य को पुनः कहते हैं—'तेन = अतः इसलिए'—इत्यादि के द्वारा यहाँ इस प्रकार अन्वय करना चाहिए—'निषेधविधि आक्षेप नहीं है' इसी प्रकार परवर्ती वाक्य में भी—'विहितनिषेध आक्षेप नहीं है'। जैसा कि कहा गया है—'आक्षेप न तो विहित के निषेध में होता और न निषेध के विधान में, अपितु जहाँ निषेध से विधि का आक्षेप होता है वहाँ आक्षेप माना गया है।'

इनमें से निषेध का विधान यथा—

'यह तो क्षीरसागर से उत्पन्न चन्द्रमा, यह आकाशगंगा, यह ब्रह्मा का सिर, यह अग्नि का निवासगृह निर्निमेष तीसरा नेत्र, यह वह हालाहल की नील छटा, शरीर को घेरे हुए ये वे नागराज, यह वह कालियारि का कंकाल, अधिक कहने से क्या, भगवन् आपको 'ओं नमः'।

यहाँ 'अलम् = अधिक कहने से क्या' इस प्रकार निषेध का ही विधान विवक्षित है। इसीलिए इस निषेध में असत्यता नहीं है। असत्यता न होने से उसका पर्यवसान विधि में नहीं होता। इस प्रकार यहाँ आक्षेपोपयोगी सामग्री ही नहीं है। फलतः यहाँ यह [आक्षेप] अलंकार नहीं है। वह तो चारों अंगों के रहने पर ही होता है।

विहित का निषेध यथा—

'ब्राह्मणों का कल्याण हो। हम अत्यन्त विस्तीर्ण वस्तु को संक्षेप में कहने जा रहे हैं। हे सत्पुरुषो! आप सब इसे सुनें और समझें। आप की सेवा में हमारी यह अंजलि है [हम हाथ

जोड़ते हैं]। अथवा ये विनयपूर्ण वचन कहने से क्या। यदि मेरी वाणी में थोड़ा-बहुत सुभाषितरूपी अमृत होगा तो सुनेता जन स्वयं ही प्रसन्न होंगे। याचना में तो दीनता रहती है।

यहां विनयोक्ति का विधान हो चुका है। तदनन्तर उनका निषेध किया गया है इस कारण यह विहितनिषेध हुआ। प्रथम उदाहरण के समान यहां भी आक्षेपालंकार नहीं है। निषेध से विधि का जो उदाहरण हो सकता है वह स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है।

विमर्शिनी

अत्र च निषेधः स्वयमनुपपद्यमानत्वादविश्राम्यन् स्वात्मानं विध्यर्थं समर्पयतीति 'परार्थं स्वसमर्पणम्' इत्येवंरूपलक्षणामूलत्वमस्य सिद्धम्। यदुक्तमन्यत्र—

'यत्र स्वयमविश्रान्तेः परार्थं स्वसमर्पणम्।
कुरुतेऽसौ स आक्षेपो निषेधस्यावभासनात्॥ इति।

निषेधविधौ विहितनिषेधे च पुनरभिधेयः। न पुनः 'स्वसिद्धये पराक्षेप' इत्येवं लक्षणामूलत्वमत्र वाच्यम्। मुख्यार्थस्यैव विश्रान्तेर्मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। अतश्चान्यैः

'स्वसिद्धये पराक्षेपः प्रतिषेधस्य यत्र हि।
आक्षेपस्तत्र नैवेष्टः प्रतिषेधस्य भासनात्॥'

इत्याद्ययुक्तमेवोक्तम्। यद्यपि लक्षणायां 'स्वसिद्धये पराक्षेपस्य प्रागभाव एव प्रागुक्तस्तथाप्येतत्पक्षाश्रयेऽपि प्राच्यानामपर्यालोचिताभिधानमित्येवंपरमेतदुक्तम्। ननु च यद्येवं निषेधस्यात्रत्यत्वाद् विधिपर्यवसाने आक्षेप उक्तस्तद्वदेव विधेर्निषेधपर्यवसाने को नामालंकार इत्याशङ्क्याह—विधिनेत्यादिना। अस्येति आक्षेपस्य। शाब्दसाम्यनिबन्धनं सामान्यभावमाश्रित्य चात्र प्रकारप्रकारिभावः कल्पितो न तु वास्तवः। विधिनिषेधयोर्निषेधविध्यागूरकत्वादनयोः सामान्यलक्षणायोगात्। ततश्चेति निषेधस्य विधिपर्यवसानात्।

अस्य चालंकारान्तराश्रयाद् वैलक्षण्यं दर्शयति—केवलमित्यादिना।

इसमें निषेध अपने आप में बनता नहीं है बाधित हो जाता है अतः अपने आप को विधि अर्थ में समर्पित कर देता है। इस कारण यह 'दूसरे अर्थ के लिए अपना समर्पण' इस प्रकार की जो [लक्षणलक्षणा या जहत्स्वार्था नामक] लक्षणा होती है तन्मूलक सिद्ध होता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है—'जहां स्वयं में असिद्ध रहने से वाच्यार्थ अपना समर्पण दूसरे अर्थ को कर देता है उसे आक्षेप कहा जाता है क्योंकि उसमें निषेध का आभासमात्र होता है।' निषेधविधि या विहितनिषेध में आक्षेप अभिधेय होता है। इन स्थलों में उक्त 'अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप'—इस प्रकार की [उपादान] लक्षणा से उसका ज्ञान नहीं होता। वहां [उपादान लक्षणा में] तो मुख्य अर्थ अन्त तक बना ही रहता है, अतः लक्षणा के लिए अपेक्षित मुख्यार्थ बाधादि सामग्री का अभाव रहता है। इसीलिए किन्हीं अन्य आचार्य ने —

—'जहां निषेध अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप करता है, वहां आक्षेप नहीं होता, क्योंकि वहां तो निषेध का भान ही होता रहता है।'

—इत्यादि अमान्य बातें ही कही हैं। यद्यपि हमने [उपादान लक्षणा नाम से केवल लक्षण का खण्डन करते हुए] वाक्यार्थ द्वारा अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप हुआ करता ही नहीं यह अभी-अभी कहा है तथापि [उपादान लक्षणा को न मानने वाले अतः हमारे ही पक्ष के ही होने पर भी] एक आचार्य के मत का हमने अभी-अभी जो यह खण्डन किया है वह यह बतलाने के लिए कि यदि प्राचीन आचार्य यह [उपादान लक्षणा का] पक्ष भी अपनाएँ तब भी

उनका [विहितनिषेध और निषेधविधि से संभव आक्षेपालंकार के पक्ष का] प्रतिपादन प्रज्ञा-पूर्ण नहीं होगा।'

'यदि ऐसा है तो [यह बतलाइए कि] निषेध के असत्य हो जाने से उसके विधि में पर्यवसित होने पर जैसे आक्षेप बतलाया गया, वैसे ही विधि के निषेध में पर्यवसित होने पर कौन सा अलंकार होगा' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'विधिना' इत्यादि के द्वारा। अस्य—इसका आक्षेप का। [आक्षेप शब्द दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। इस] शब्दसाम्य के आधार पर निष्पन्न सामान्य भाव को लेकर यहां प्रकारप्रकारिभाव की कल्पना की गई है, यह प्रकारप्रकारिभाव वास्तविक नहीं है। यह इसलिए कि विधि और निषेध से [उनसे उलटे] निषेध और विधि का ज्ञान होता है, फलत दोनों भेदों में कोई सामान्य लक्षण संभव नहीं हो सकता। ततश्च—इसलिए अर्थात् निषेध का विधि में पर्यवसान होने से।

यह [निषेध का विधि में पर्यवसान] अन्य अलंकारों में भी रहता है अत. इनसे अन्तर बतलाते हैं—

[सर्वस्व]

'केवलं बाल इति पुनरहमपरित्याज्योऽस्मि, रक्षणीय इति भयङ्करमेव रक्षास्थानम्' इत्यादावाक्षेपबुद्धिर्न कार्या, बालत्वादेरुक्तस्य निषेध्यत्वेनाविवक्षितत्वात्। प्रत्युताभ बाल्यादिः परित्यागनिषेधकत्वेन प्रतीयते। तेन नायमाक्षेपः। कस्तर्ह्ययं विच्छित्तिप्रकारोऽलंकार इति चेत्, व्याघाताख्यस्यालंकारस्यायं द्वितीयो भेदो वक्ष्यते।

'वक्ष्यस्य निषेध्यत्वमाक्षेपोक्तेर्निबन्धनम्।
सौकर्येणान्यकृतये न निषेधकृता पुनः॥'

इति पिण्डार्थः।

इह तु—

'साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचौराः प्रगुणीभवन्ति॥
गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेच्छं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः॥' इति।

तथा—

देया शिलापट्टकवाटमुद्रा श्रीखण्डशैलस्य दरीगृहेषु।
वियोगिनीकण्टक एष वायुः कारागृहस्यास्तु चिरादभिज्ञः॥
वाणेन हत्वा मृगमस्य यात्रा निवार्यतां दक्षिणमारुतस्य।
इत्यर्थनीयः शबराधिराजः श्रीखण्डपृथ्वीधरकन्दरस्थः॥
यद्वा कृपा तिष्ठतु दैन्यमेतत्चेच्छन्ति वैरं मरुता किराताः।
केलिप्रसङ्गे शबराङ्गनानां स हि स्मरग्लानिमपाकरोति॥' इति

नाक्षेपबुद्धिः कार्या । विहितनिषेधो ह्ययम् । न चासावाक्षेपः । निषेधविधौ तस्य भावादित्युक्तत्वात् । चमत्कारोऽप्यत्र निषेधहेतुक एवेति न तद्भावमात्रेणाक्षेपबुद्धिः कार्या ।

[मालवराज पर आक्रमण करने जाते समय राज्यवर्धन से स्वयं को भी ले जाने के लिए हर्षवर्धन की उक्ति—]

'केवल बालक हूँ' [ऐसा समझकर न ले जा रहे हों] तब तो और भी अपरित्याज्य [साथ ले चलने योग्य] हूँ, रक्षणीय हूँ [ऐसा समझकर न ले जा रहे हों] तब भी रक्षास्थान आपका भुजपंजर है ।' [—हर्षचरित उच्छ्वास-६, नि.सा. पृ० १८४]

इत्यादि स्थलों में आक्षेप नहीं समझ लेना चाहिए, क्योंकि यहाँ कथित बालत्वादि निषेध्यरूप से विवक्षित नहीं है । बालत्वादि तो उलटे, छोड़ जाने के निषेधक प्रतीत होते हैं । इसलिए [यहाँ] यह आक्षेप नहीं है [प्रश्न] तब कौन सा अलंकार है क्योंकि उक्ति तो वैचित्र्यपूर्ण है ? [उत्तर] आगे बतलाया जाएगा कि यह व्याघात नामक अलंकार का दूसरा भेद है । इस प्रकार सार यह है कि—

[अलंकार को] आक्षेप कहने में कारण अभीष्ट अर्थ की निषेध्यता [बतलाना] है, न कि अन्य [अप्रस्तुत] कार्य के प्रति सौकर्य से अन्य [प्रस्तुत] कार्य के प्रति [अन्य अप्रस्तुत कार्य में] निषेधकता [बतलाना] । [आगे कहे जा रहे] इन पद्यों में भी आक्षेप नहीं समझ बैठना चाहिए—

'हे कवीन्द्रो ! [श्रव्यदृश्यात्मक काव्यरूपी] साहित्य-समुद्र के मन्थन से निकले कर्णामृत [इस महाकाव्यरूपी श्रव्यकाव्यविधा] की रखवाली रखो क्योंकि काव्यार्थचौर लोग इसे लूटने के लिये दैत्यों के समान समुद्यत रहते हैं ।' 'अथवा ऐसे जितने लोग हैं वे सब [इसे] यथेच्छ चुराते चलें [इससे] जो कवीश्वर हैं उनकी कोई क्षति संभव नहीं है । देवताओं ने बहुत से रत्न निकाल लिए तथापि समुद्र अभी तक रत्नाकर ही है ।'

इसी प्रकार—

'मलयगिरि की गुफागृहों में चट्टानों के किवाड़ बन्द कर देने चाहिए [जिससे] वियोगिनियों के लिए काँटा बना यह [मलय]-पवन काफी देर तक कारागृह का मजा चखे ।'

'मलयगिरि के शबरपति से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि इस दक्षिणापवन के [वाहन] मृग को बाण से मार डालो और इसे इधर आने से रोक दो ।'

'अथवा यह फिजूल की [याचनागत] दीनता रहे, किरात लोग वायु से वैर नहीं करना चाहते । केलिप्रसंग में शबराङ्गनाओं की स्मरग्लानि को यही वायु जो दूर करता है ।'

यह तो विहितनिषेध है । यह आक्षेप नहीं है । क्योंकि यह कहा जा चुका है कि यह वहाँ होता है । जहाँ निषेध की विधि होती है । यहाँ चमत्कार भी निषेध से ही हो रहा है [न कि निषेधजनित विधि से] । इसलिए केवल आक्षेप से मिलती-जुलती स्थितिमात्र को देखकर [जहां-कहीं भी] आक्षेप नहीं समझ बैठना चाहिए ।

विमर्शिनी

अत्र राज्यवर्धनोक्तौ बालत्वादेरुक्तत्वम् । श्रीहर्षदेवोक्तौ तु निषेधाविवक्षा । प्रत्युतेति । न केवलं बालत्वाद्यत्रानिषेध्यत्वेन विवक्षितम्, यावदेतदेवान्यनिषेधकत्वेनापीत्यर्थः । तेनेति, बालत्वादेर्निषेध्यत्वेनाविवक्षितत्वात् । वक्ष्यत इति, सौकर्येण कार्यविरुद्धा क्रिया चेत्यादिना ।

एतदेव सारार्थतया पिण्डीकृत्यापि प्रतिपादयति—तदिदमस्येत्यादिना। अन्यकृतये इति निषेधार्थम्। अस्य च यथा विधिमुखेन प्रतीतिस्तथा निषेधमुखेनेति सौकर्यम्। एवं च निषेधकतैवाक्षेपोक्तेर्न निबन्धनमिति विहितनिषेधादावेतद्भ्रमो न विधेय इत्याह—इह त्वित्यादि। तस्येत्याक्षेपस्य। तद्भावमात्रेणेति। केवलेनैव चमत्कारसद्भावेनेत्यर्थः।

यहाँ राज्यवर्धन की उक्ति [बाल, रक्षणीय इति] में बालत्वादि उक्त है और श्री हर्षदेव की उक्ति [सुतरामपरित्याज्योऽस्मि०] में [उनके] निषेध की विवक्षा नहीं है।

प्रत्युत = उलटे = अर्थ यह कि यहाँ बालत्वादि न केवल अविधेयरूप से विवक्षित हैं, अपि तु ये ही अन्य के निषेधक के रूप में भी विवक्षित हैं। तेन इस कारण - अर्थात् बालत्वादि के निषेध्यरूप से विवक्षित न होने के कारण। वक्ष्यते = कहा जाएगा। 'सौकर्येण कार्यविरहश्च क्रिया च' इत्यादि के द्वारा इसी तथ्य को साररूप से बटोर कर प्रतिपादित करते हुए लिखते हैं—'तदिदमस्य' इत्यादि कारिका द्वारा। अन्यकृतये = अर्थात् निषेध के लिए। इसकी प्रतीति जैसे विधि के द्वारा होती है वैसे ही निषेध के द्वारा भी यही है सौकर्य। 'इस कारण केवल निषेधकता ही आक्षेप संज्ञा में कारण नहीं बनती, इसलिए विहितनिषेधादि में इसका भ्रम नहीं करना चाहिए—' इस तथ्य को बताते हुए लिखते है—'इह तु' इत्यादि। तस्य उसका = आक्षेप का। तद्भावमात्रेण = उसके भावमात्र से = चमत्कार के सद्भावमात्र से [इसकी अपेक्षा हमारा अर्थ अधिक अच्छा है]।

[सर्वस्व]

अयं चाक्षेपो ध्वन्यमानोऽपि भवति। यथा—

'गणिकासु विधेयो न विश्वासो वल्लभ त्वया।
किं किं न कुर्वतेऽनर्थमिमा धनपरायणाः॥'

अत्र हि गणिकाया उक्तौ तद्दोषोक्तिप्रस्तावे नाहं गणिकेति प्रतीयते। न चासौ निषेध एव। गणिकात्वेनावस्थितयैव गणिकात्वस्य निषेधात्। सोऽयं प्रच्छन्नरूपो निषेधाभासरूपो वक्त्र्या गणिकायाः शुद्धस्नेहनिबन्धनत्वेन धनविमुखत्वादौ विशेषे पर्यवस्यतीत्युक्तविषय आक्षेपध्वनिरयम्। न तु—

'स वक्तुमखिलाञ्शक्तो हयग्रीवाश्रितान् गुणान्।
योऽम्बुकुम्भैः परिच्छेदं ज्ञातुं शक्तो महोदधेः॥'

इत्याक्षेपध्वनावुदाहार्यम्। निषेधस्यैवात्र गम्यमानत्वात्। न निषेधाभासस्य। गुणानां वक्तुमशक्यत्व एवात्र तात्पर्यम्। तन्निमित्तक एवात्र चमत्कारो न निषेधाभासहेतुक इति नाक्षेपध्वनिधीरत्र कार्या। सर्वथेष्ट निषेधाभासस्य विध्युन्मुखस्याक्षेपत्वमिति स्थितम्।

यह आक्षेप ध्वन्यमान भी होता है। यथा—

'प्रिय! तुम्हें गणिकाओं पर विश्वास नहीं करना चाहिए। धनपरायण ये क्या-क्या अनर्थ नहीं करतीं।

—यह उक्ति गणिका है। इसमें स्वयं के दोष की बात कही जा रही है अतः प्रतीत होता है कि [बोलनेवाली गणिका यह बतलाना चाहती है कि] मैं गणिका नहीं हूँ। किन्तु यह निषेध ही हो ऐसा नहीं, क्योंकि यहाँ [गणिका ने] गणिकात्व को गणिकात्वरूप से रखते हुए ही उसका निषेध किया है, अतः इस निषेध का स्वरूप बाधित हो जाता है। इसलिए यह निषेधाभासरूप सिद्ध होता है और बोलने वाली जो गणिका है उसके शुद्धश्लेषमूलक धनविमुखता-रूपी वैशिष्ट्य में पर्यवसित हो जाता है। इसलिए यह उक्त विषय [नामक] आक्षेप की ध्वनि हुई। [आनन्दवर्धनाचार्य की—]

'हयग्रीव के पूरे गुणों को गिनने में समर्थ वही हो सकता है जो महोदधि की इयत्ता पानी के घड़ों से जान सकता हो।'

—इस पद्यार्थ को आक्षेप का उदाहरण नहीं बतलाना चाहिए क्योंकि यहाँ निषेध ही गम्य है, निषेधाभास नहीं। गुणों की अवचनीयता में ही यहाँ तात्पर्य है। उसी को लेकर यहाँ चमत्कार है न कि निषेधाभास को लेकर। इस कारण यहाँ आक्षेपध्वनि नहीं समझनी चाहिए।

इस प्रकार तय यह रहा कि 'विधानोन्मुख इष्टनिषेधाभास ही सर्वथा आक्षेपरूप सिद्ध होता है।'

[पण्डितराज ने इस पद्य में ध्वनिकार का समर्थन और सर्वस्वकार का नामोल्लेखपूर्वक खण्डन किया है। उनका कहना है कि 'निषेध का आभास ही आक्षेप नहीं है। इसलिए इस पद्य में निषेध-मात्र भी आक्षेप हो सकता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने ध्वनिकार के आप्तत्व की भी दुहाई देकर सर्वस्वकार का खण्डन करना चाहा है [द्र० रसगंगाधर आक्षेप प्रकरण] वस्तुतः स्वयं ध्वनिकार ने आक्षेप का वही लक्षण स्वीकार किया है जो भामह और उद्भट ने प्रस्तुत किया है 'विशेषणाभिधानेच्छया प्रतिषेधः आक्षेपः' ['उद्योत० १] फलतः उन्हें निषेध की आभासात्मकता ही मान्य है। इस कारण पण्डितराज का सर्वस्वकार पर आक्रोश व्यक्त करना भ्रान्तिमात्र है ध्वनिकार के प्रति।

विमर्शिनी

प्रतीयत इति गम्यते, नाहं गणिकेति निषेधस्य शब्दानुपात्तत्वात् विशेषमात्रस्य गम्यत्वे आक्षेपालंकारो वाच्य एव, निषेधाभासस्यापि गम्यत्वे ध्वन्य इत्यनेन दर्शितम्। अन्यथा ह्यस्य ध्वन्यमानोदाहरणत्वमयुक्तं स्यात्। तस्येहानुपक्रान्तत्वात्। इत्थं च निषेधाभासस्यैव गम्यत्वेऽयं ध्वन्यमानो भवति न निषेधमात्रस्यैवेति दर्शयितुमाह—नतिल्यादि। अतश्च ध्वनिकृता यदेतदाक्षेपध्वनावुदाहृतं तदयुक्तमेवेति भावः। एवं चास्य यथोपपादितं स्वरूपमुपसंहारभङ्ग्यापि प्रतिपादयति—सर्वथेत्यादिना। सर्वथेत्यनेन कुत्राप्यस्य व्यभिचारो नास्तीति दर्शितम्। एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—एवमित्यादिना।

प्रतीयते = प्रतीत होता है = गम्य = व्यंग्य होता है क्योंकि 'मैं गणिका नहीं हूँ' यह निषेध शब्दतः कथित नहीं है। ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने यह सिद्धान्त बतलाया कि 'विशेषमात्र के गम्य होने पर आक्षेपालंकार वाच्य होता है और विशेष के साथ-साथ निषेधाभास भी गम्य हो तो [गम्य और प्रधानरूप से गम्य अर्थात्] ध्वन्य। यदि ऐसा सिद्धान्त न निकाला जाय तो इस [आक्षेप] की ध्वन्यमानता का उदाहरण देना ही ठीक नहीं होगा क्योंकि [वाच्यालंकारों के लिए रचे जा रहे] इस ग्रंथ में ध्वन्यमानता का कोई प्रसंग नहीं है। इसी प्रकार यह बतलाने

के लिए कि यह [आक्षेप] वहीं गम्य होता है जहाँ निषेधाभास ही व्यंग्य हो, केवल निषेध नहीं' लिखते हैं—न तु इत्यादि। इसका भाव यह हुआ कि ग्रन्थकार यह कहना चाहते हैं कि उक्त कारणों से ध्वनिकार ने [स वक्तु] इस पद्य को जो आक्षेपध्वनि का उदाहरण माना वह अमान्य ही है। इस प्रकार इस आक्षेप का अभी तक जो [एक] भेद प्रतिपादित किया उसका उपसंहार करते हुए भी अपना एक सिद्धान्त बतला देते हैं—'सर्वथा' इत्यादि लिखकर। सर्वथा कहकर यह दिखलाया कि इस सिद्धान्त या लक्षण का व्यभिचार कहीं नहीं होता।

अब इस भेद के विवेचन का उपसंहार करते हैं और अन्य भेद का उपक्रम करते हुए कहते हैं—

[सर्वस्व]

एवमिष्टनिषेधेनाक्षेपमुक्त्वा समानन्यायत्वादनिष्टविधिनाक्षेपमाह—

[सू० ४०] अनिष्टविध्याभासश्च।

यथेष्टस्येष्टत्वादेव निषेधोऽनुपपन्न एवमनिष्टस्याप्यनिष्टत्वादेव विधानं नोपपद्यते। तत् क्रियमाणं प्रस्खलद्रूपत्वान्निषेधे पर्यवस्यति। ततश्च विधिरुपकरणीभूतो निषेधे, इति विधिनायं निषेधोऽनिष्टविशेषपर्यवसायी निषेधागूरणादाक्षेपः। यथा—

'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान्॥'

अत्र कयाचित् कान्तस्य प्रस्थानमात्मनोऽनिष्टमप्यनिराकरणमुखेन विधीयते। न चास्य विधिर्युक्तः। अनिष्टत्वात्। सोऽयं प्रस्खलद्रूपत्वेन निषेधमागूरयति। फलं चात्रानिष्टस्य प्रस्थानस्यासंविहानपदनियन्धनमत्यन्तपरिहार्यत्वप्रतिपादनम्। इदं च ममापि जन्म तत्रैवेत्याशीःप्रतिपादनेनानिष्टपर्यवसायिना व्यञ्जितम्। यथा वा—

'नो किंचित् कथनीयमस्ति सुभग प्रौढाः परं त्वादृशाः
पन्थानः कुशला भवन्तु भवतः को मादृशामाग्रहः।
किं त्वेतत् कथयामि संततरतक्रान्तिच्छिदस्तास्त्वया
स्मर्तव्याः शिशिराः सहंसरुचयो गोदावरीवीचयः॥'

अत्रानभिमतमपि कान्तप्रस्थानं यदा प्रमुख एवाभ्युपगम्यमानं प्रतीयते, तदायमनिष्टविधिराभासमानमाक्षेपाङ्गम्। स्मर्तव्या इत्यनेन गमननिवृत्तिरेवोपोद्बलिता। तस्मादयमपि प्रकार आक्षेपस्य समानन्यायतयाभिन्नत्वेनोक्तः।

इस प्रकार इष्ट के निषेध के द्वारा निष्पन्न आक्षेप का निर्वचन किया अब उसी प्रकार अनिष्ट की विधि से निष्पन्न आक्षेप का निर्वचन करते हैं—

[सू० ४०] तथा अनभीष्ट [अप्राकरणिक] के विधान का आभास [भी]।

[वृ०] जिस प्रकार इष्ट पदार्थ के इष्ट होने से ही उसका निषेध नहीं बनता इसी प्रकार अनभीष्ट पदार्थ के अनभीष्ट होने से ही उसका विधान भी नहीं बन पाता। वह यदि किया जाता है तो बाधित होकर निषेध में परिणत हो जाता है।

फलतः यहाँ विधि-निषेध का साधन [ज्ञापक हेतु] है। इस प्रकार क्योंकि निषेध का ज्ञान विधि से होता है अतः इस [निषेध] का फल होता है अनभीष्ट पदार्थ में वैशिष्ट्य का ज्ञान कराना। [इस प्रकार क्योंकि इस भेद में] निषेध को ऊपर से लाया जाता है [जिसे प्रथम दो भेदों के निर्वचन में आनयनरूप आगूरण कहा गया है] फलतः [यह] आक्षेप कहलाता है [और इसीलिए यह केवल वक्ष्यमाणविषय तथा आगूरणात्मक ही होता है]। उदाहरण यथा—

'कान्त ! यदि जा ही रहे हो तो जाओ। तुम्हारे पथ मंगलमय हों। मेरा भी जन्म वहीं हो जाए जहाँ आप पहुँचे हुए हों।'

यहाँ किसी नायिका द्वारा अपने प्रिय के प्रस्थान का जो उसे अभीष्ट नहीं है, निराकरण न कर विधान किया जा रहा है। किन्तु उसका विधान संभव नहीं है, क्योंकि वह अनभीष्ट है। ऐसा यह विधान बाधित हो जाता है और [लक्षणा द्वारा] निषेध का ज्ञान कराता है। इस [लक्षणा] का फल [प्रयोजन] है यहाँ इस अनभीष्ट प्रस्थान की असंविधान-[अनभिधायक तथा वक्ता की विवशता और तन्मूलक तटस्थता के द्योतक]-पद [चेत् = यदि] के प्रयोग से प्रतीत अत्यन्त अपरिहार्यता का ज्ञापन। यह [फल] व्यंजनावृत्ति से प्रतीत होता है जिसमें [उपर्युक्त तटस्थता द्योतक असंविधान पदप्रयोग के अतिरिक्त] अमंगल [मृत्यु] रूपी अर्थ देने वाली 'मेरा भी जन्म वहीं हो जाए' इत्यादि इच्छा [भी एक] कारण है।

एक उदाहरण और—

'कुछ कहना नहीं है सुभग ! तुम जैसे तो स्वयं ही काफी समझदार होते हैं। [तुम्हारे] पथ मंगलमय हों। तुमसे मुझ जैसी का आग्रह ही क्या हो सकता है ? तब भी इतना कहती हूँ कि तुम गोदावरी की वे निरन्तर सुरत से उत्पन्न थकावट हटाने वाली, पर्याप्त शीतल और हंस-संचार से सुन्दर तरंगें याद करते रहना।'

—यहाँ आरम्भ में ही सही किन्तु जब प्रिय का प्रस्थान अनभीष्ट होने पर भी स्वीकार किया जा रहा प्रतीत होता है तब तक तो यह अनभीष्ट विधान ठहरता है, किन्तु बाद में कारण [अंग] बन जाता है आक्षेप का, क्योंकि [तब यह वास्तविक न ठहर कर] अभासात्मक ठहरता है। [ऐसा इसलिए भी कि यहाँ] 'स्मर्तव्याः = याद किया करना' इस कथन के द्वारा गमननिवृत्ति पर ही बल दिया गया है। इसी कारण [अभिव्यक्ति के] इस प्रकार को भी स्थितिसाम्य के आधार पर आक्षेप का एक नया प्रकार बतलाया है।

विमर्शिनी

समानन्यायत्वादिति। यथात्रेष्टस्य निषेधो बाधितत्वाद् विधौ पर्यवस्यति तथैवेहाप्यनिष्टस्य विधिर्निषेधे इत्येवंरूपात्। एवमेतावन्मात्रमस्यास्य चाक्षेपस्य साजात्यम्, न पुनः सामान्यलक्षणसंभव इति भावः। तदेवाह—अनिष्टेत्यादि। एतदेव दृष्टान्तद्वारकं व्याचष्टे—यथेत्यादिना। तदिति विधानम्। प्रस्खलद्रूपत्वादिति स्वार्थबाधात्। पर्यवस्यतीति। स्वात्मसमर्पणेन निषेधं लक्षयतीत्यर्थः। ततश्चेति। विधेर्निषेधलक्षणात्। उपकरणीभूत इति। स्वार्थबाधादुपसर्जनीभूत इत्यर्थः। अनिष्टविशेषेति, अनेन प्रयोजनमत्रोक्तम्। अन्यथा हि गजस्नानतुल्यत्वं स्यात्। निषेधागूरणादिति निषेधस्यात्र लक्ष्यमाणत्वात्। सर्वत्रैव हि लक्षणायां लाक्षणिकेनैव लक्ष्योऽर्थ आगूर्यते। तस्मात्तत्प्रतिपत्तेः।

समानन्यायत्वात्—उसी प्रकार अर्थात् जिस प्रकार अभीष्ट पदार्थ का निषेध बाधित होकर विधि में पर्यवसित होता है उसी प्रकार इस भेद में भी अनभीष्ट की विधि निषेध में पर्यवसित होती है। भाव यह कि इस और इसके पूर्व प्रतिपादित आक्षेप में इतनी सजातीयता भर है, इनमें कोई सामान्य लक्षण सम्भव नहीं है। उसी को [सूत्र के द्वारा] कहते हैं—अनिष्ट इत्यादि। इसी को दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—'यथा'-इत्यादि के द्वारा। तत्-वह अर्थात् विधान। प्रस्खलद्‌रूपत्वात्। अर्थात् स्वार्थ का बाध हो जाने से। पर्यवस्यति = पर्यवसित होता है अर्थात् अपना समर्पण करके निषेध को लक्षणा द्वारा बतलाया है। ततश्च = इस कारण = विधि से निषेध की लक्षणा द्वारा प्रतीत होने के कारण। उपकरणीभूतः = उपकरण = हेतु बना हुआ अर्थात् स्वार्थ का बाध हो जाने से अप्रधान बना हुआ। अनिष्ट विशेष = इसके द्वारा लक्षणा का प्रयोजन बतलाया गया। अन्यथा गजस्नान के समान लक्षणा का होना न होना बराबर हो जाता [हाथी नहाने के बाद अपने ऊपर धूल उछाल लेता है अतः उसका नहाना न नहाना बराबर हो जाता है] निषेधागूरणात् = निषेध को लक्षणा के द्वारा लाया जाता है। लक्षणा में सर्वत्र लाक्षणिक शब्द के द्वारा ही लक्ष्य अर्थ लाया जाता है क्योंकि उस [लक्ष्य] की प्रतीति उसी [लाक्षणिक] से होती है।

विमर्श—अलंकाररत्नाकरकार ने आक्षेप के इस भेद को विध्याभास नाम दिया है और सर्वस्वकार के खण्डन में लिखा है—

[सू०] अनिष्टविधानं विध्याभासः, [वृ०] ०००००। न चायमाक्षेपस्य भेद इति वाच्यम् आक्षेपपदार्थस्य पर्यनुयोगस्याभावात्। विधिना निषेधस्योपादानरूपादाक्षेपत्वे कथ्यमाने व्याजस्तुत्यादावपि आक्षेपभेदत्वप्रसङ्गः, तत्रापि निन्दादिना स्तुत्याद्याक्षेपसंभवात्। ०००। तेनालङ्कारान्तरमेव। 'आक्षिप्यतेऽत्र विधिना न यतो निषेधः स्वार्थे विधावपि न पर्यनुयोगबुद्धिः'।

तस्मादनिष्टविधिरेष विलक्षणत्वादाक्षेपमप्यपतितोऽपि स भिन्न एव॥ इति संग्रहः।

—अनभीष्ट का विधान विध्याभास [कहलाता है], ०००। यह आक्षेप का [ही एक] भेद है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि यहां आक्षेप शब्द का जो अर्थ है—पर्यनुयोग [इससे क्या लाभ, किमर्थकता रूप], वह नहीं है। यदि विधि से निषेध के उपादान आदि को आक्षेप कहा दी जाए तो व्याजस्तुति आदि भी आक्षेप के ही भेद कहे जाने लगेंगे क्योंकि उनमें भी निन्दा आदि के द्वारा स्तुति आदि का आक्षेप [उपादान] होता है। ०००००। इसलिए यह एक भिन्न ही अलङ्कार है। संक्षेप में 'इस [अनिष्टविधानरूपी विध्याभास नामक अलङ्कार] में न तो विधि से निषेध का आक्षेप होता और न विधि में ही स्वार्थ के प्रति पर्यनुयोग [किमर्थकता] की बुद्धि होती। इस कारण अनभीष्ट का यह विधान विलक्षण होने से आक्षेप में अन्तर्भूत नहीं होता। यह सर्वथा भिन्न है।'

विमर्शिनीकार इस खण्डन का खण्डन करते और कहते हैं—

विमर्शिनी

तत्रार्थान्तरागूरणं 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' इत्येवं लक्षणाप्रकारस्य पूर्वं निरस्तत्वात् स्वात्मसमर्पणेनैव भवतीति यथोक्तमेव युक्तम्। अत एवास्यान्वर्थाभिधानम्। पर्यनुयोगवशादागूरणमपि ह्याक्षेपशब्दस्यार्थः। व्याजस्तुत्यादौ तु व्याजेन स्तुतेर्विवक्षितत्वात् तत्र तत्त्वमेव युक्तं नापेक्षत्वम्। 'इह हि प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायाद् यदेव यत्र

प्रधानतया विवक्ष्यते तदेव तत्र व्यपदेशनिमित्तम्। न तु प्रज्ञातिशयवतां 'प्राज्ञा वस्तुनि युध्यन्ति न तु सामयिके ध्वनौ' इति नीत्या नाम्नि विवादो युक्तः। तस्मात्

'आक्षिप्यतेऽत्र विधिना न यतो निषेधः स्वार्थो विधावपि न पर्यनुयोगबुद्धिः।
तस्मादनिष्टविधिरेष विलक्षणत्वादाक्षेपमध्यपतितोऽपि तु भिन्न एव॥'

इत्यादि न वाच्यम्। अनिराकरणमुखेनेति। प्रवृत्तक्रियत्वात् कान्तस्यानुमोदनात्। ननु विधिमुखेनास्य किमागूरणं स्वयं निषेध एव क्रियतामित्याशङ्क्याह—फलमित्यादि। एतच्चेति विधेर्निषेधागूरकत्वम्। यथा वेत्यनेनास्य लक्ष्ये प्राचुर्यं दर्शितम्। प्रमुख एवेति। न पुनः पर्यवसान इत्यर्थः। एतदेवोपसंहरति-तस्मादित्यादिना। अभिनवत्वेनेति दण्डयाद्यपेक्षया। तेन ह्यसौ

'इत्याशीर्वचनाक्षेपो यदाशीर्वादवर्त्मना।
स्वावस्थां सूचयन्त्यैव प्रिययात्रा निषिध्यते॥'

इत्युक्तेरसंभवतापि लक्षणेन लक्षितः। न पुनर्ग्रन्थकृदुपज्ञत्वेनैतद्व्याख्येयम्। 'विधि-निषेधाभ्यां प्रतिषेधविध्युक्तिराक्षेपः' इत्येवमेव हि श्रीभोजदेवेनाप्यस्य लक्षणं कृतम्।

और जो यह अन्य अर्थ का लक्षणा द्वारा लाया जाना है वह वाक्यार्थ के समर्पण से [अर्थात् लक्षणलक्षणा से] द्वारा ही संभव होता है, न कि 'अपनी सिद्धि के लिए दूसरे के आक्षेप [अर्थात् उपादानलक्षणा]' के द्वारा, क्योंकि लक्षणा के इस [उपादान नामक] भेद का निराकरण किया जा चुका है, अतः [सर्वस्वकार ने] जो कहा है वही ठीक है इसीलिए [अलंकार का आक्षेप यह] नाम भी सार्थक ठहरता है क्योंकि आक्षेप शब्द का अर्थ [पूर्वोक्त] पर्यनुयोग के कारण आगूरण [अन्य अर्थ का लक्षणा द्वारा लाया जाना] भी है। व्याजस्तुति आदि में व्याज से स्तुति का किया जाना अभीष्ट रहता है अतः उसमें भी तद्रूपता [लक्षणलक्षणाजन्य ऐक्य] ही मानना ठीक है [भिन्न रहकर अन्य अर्थ की] अपेक्षा करना नहीं। जहां तक नाम का सम्बन्ध है वह जहां जो भेद प्रधान होता है उसी के नाम पर पड़ता है। कहा भी जाता है 'नाम प्रधान का लिया जाता है'। सच यह है कि समझ के धनी लोगों को नाम पर विवाद नहीं करना चाहिए, जैसा कि कहा जाता है—'प्राज्ञ जन पदार्थ पर लड़ते हैं [समय = शास्त्र, सामयिक =] शास्त्रीय [ध्वनि] शब्द [नाम] पर नहीं। इसलिए [पूर्वोक्त] 'आक्षिप्यते' इत्यादि कहना ठीक नहीं है।

अनिराकरणमुखेन = निराकरण न कर अर्थात् कान्त जा ही रहा था अतः उसका अनुमोदन कर। **प्रस्खलद्रूपत्वेन** = स्वार्थ के बाधित हो जाने से। **आगूरयति** = दूसरे अर्थ को लाता है अर्थात् अपने अर्थ का उसे समर्पण [सर्वथा त्याग] कर। [शंका] 'इस प्रकार विधान के द्वारा निषेध का आगूरण क्यों, स्वयं निषेध ही कर दिया जाना चाहिए'—ऐसी आशंका कर कहते हैं = फलम् इत्यादि। **एतच्च** = विधान में निषेध का जो आगूरकत्व है वह। यथा वा इस उदाहरणां-न्तर के द्वारा यह बतलाया कि यह द्वितीय भेद भी काव्यों में खूब मिलता है। **प्रमुख एव** = आरम्भ में ही अर्थात् अन्त में नहीं। अब इस भेद का उपसंहार करते हैं—तस्मात्० इत्यादि के द्वारा। **अभिनवत्वेन** = नवीन प्रकार अर्थात् दण्डी आदि के मत में। दण्डी ने [काव्यादर्श में २।१४१ पद्य के रूप में गच्छ गच्छसि० पद्य देकर] इस आक्षेप का—'यह आक्षेप आशीर्वचनाक्षेप है क्योंकि इसमें आशीर्वाद के माध्यम से अपनी अवस्था की सूचना दे रही प्रिया द्वारा प्रिययात्रा का निषेध किया जा रहा है' - [काव्यादर्श २।१४२] इस प्रकार लक्षण बनाया था जो वस्तुतः संभव नहीं है। इस [अभिनवत्व] की व्याख्या यह नहीं करनी चाहिए कि इस आक्षेप को पहले-पहल ग्रन्थकार [सर्वस्वकार] ने ही प्रस्तुत किया है। ठीक ऐसा ही लक्षण भोजदेव ने भी विधि या निषेध से निषेध या विधि की उक्ति आक्षेप'—इस प्रकार बनाया है। [भोज की मूलकारिका इस प्रकार है—

'विधिनाथ निषेधेन प्रतिषेधोक्तिरत्र या।
शुद्धा मिश्रा च साक्षेपः ॥ सरस्वतीकण्ठाभरण, ४।६४ ॥

इसमें विधि और निषेध दोनों से केवल निषेध की ही उक्ति को आक्षेप कहा गया है, विधि की उक्ति को नहीं। भोज ने भी उदाहरण के रूप में 'गच्छ०' पद्य दिया है।]

विमर्श—इतिहास—[१] प्रथम आक्षेपालङ्कार एक स्पष्ट अलङ्कार है। इसका स्वरूप भामह—पहले पहल भामह ने ही स्पष्ट कर दिया है। उनका आक्षेप लक्षण इस प्रकार है—

'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्त शंसन्ति द्विविधम्०० ॥ २।६८

—वैशिष्ट्यप्रतिपादन के लिए अभीष्टपदार्थ का जो निषेध जैसा किया जाता है उसे विद्वज्जन आक्षेप कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है। भामह ने इन दोनों प्रकारों के जो नाम दिए थे परवर्ती आचार्य उन्हें ही दुहराते गए हैं। ये नाम हैं वक्ष्यमाणविषय तथा उक्तविषय। इन पर भामह की कारिका विमर्शिनीकार ने इस अलङ्कार के विवेचन के आरम्भ में ही उद्धृत कर दी है—'वक्ष्यमाणोक्तविषयस्त्वाक्षेपो द्विधा मत । २।६७।

दण्डी—दण्डी ने आक्षेप को प्रतिषेधोक्ति कहा है—

'प्रतिषेधोक्तिराक्षेपः।' २।१२० ।

प्रतिषेधोक्ति का अर्थ उनके उदाहरणों से 'किसी भी वस्तु का निषेध कथन' निकलता है। इस निषेध का न तो आभासात्मक ही होना आवश्यक है और न निषेध्य वस्तु में विशेषता का ज्ञान। यह तथ्य निम्नलिखित एक उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है—

'कुतः कुवलयं कर्णे करोषि कलभाषिणि !
किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मन्यसे ॥ २।१-३ ॥

कलभाषिणि ! कान में नीलकमल [का कर्णपूर] क्यों पहन रही हो ? क्या अपने अपाङ्ग [नेत्र] को इस कार्य में अपर्याप्त मानती हो।' इस पर स्पष्टीकरण देते हुए दण्डी ने स्वयं लिखा—

'स वर्तमानाक्षेपोऽयं कुर्वत्येवासितोत्पलम्।
कर्णे काचित् प्रियेणैव चाटुकारेण रुध्यते ॥ २।१२४ ।

—इसमें, कान में नीलोत्पल पहन रही कोई उसके चाटुकार प्रिय के द्वारा रोकी जा रही है, अतः यह आक्षेप है।'

स्पष्ट है कि इस आक्षेप में न तो निषेध आभासात्मक है और निषेध्य नीलोत्पल में ही कोई विशेषता का ज्ञान होता। हाँ नीलोत्पल की अपेक्षा सुन्दरी के नेत्रों में अवश्य विशेषता प्रतीत होती है।

भामह में आक्षेप की कालजनित विशेषताएँ दो ही थीं, वक्ष्यमाणविषय में भविष्यद्विषयकता और उक्तविषय में भूतविषयकता दण्डी ने इन दोनों के अतिरिक्त वर्तमानविषयता को भी स्वीकार किया है। इसका उदाहरण ऊपर दिया पद्य ही दिया है। उसमें पहने जारहे नीलोत्पल का निषेध है, अत उसे वर्तमानाक्षेप कहा है।

दण्डी ने इस प्रकार के चौबीस आक्षेप गिनाए हैं और इसकी संख्या आक्षेप्य वस्तु की संख्या पर निर्भर बतलाकर अनन्त बतला दी है। किन्तु जो चौबीस उदाहरण दिए हैं उनमें ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है जिसमें भामहोक्त आक्षेप के समान किसी कही हुई अथवा कहने के लिए उपक्रान्त वस्तु को न कहने की भङ्गिमा आई हो।

इस प्रकार दण्डी का आक्षेप केवल निषेधोक्तिमात्र है। फलतः इसका अन्तर्भाव प्रतीप, व्यतिरेक आदि अन्य अलंकारों में हो जाता है।

वामन—वामन ने आक्षेप को उपमानोपमेयभाव तक सीमित रखा है। उन्होंने इसके भी दो भेद किए हैं एक उपमान की निरर्थकता से जनित प्रतिषेधरूप आक्षेप और दूसरा उपमान की *आर्थी प्रतीति* से जनित आक्षेप। इनमें से प्रथम भेद में आक्षेप शब्द का अर्थ होगा अधिक्षेप। यह तथ्य दिये उदाहरण से स्पष्ट है। उदाहरण है—

'तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना'।

—यदि उस सुन्दरी का सौम्य सुभग मुख है तो फिर पूर्णिमा के चन्द्र से क्या?

दूसरे का उदाहरण समासोक्ति में सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'ऐन्द्रं धनुः'० पद्य है। इसमें शरद् ऋतु, चन्द्रमा और रवि के उपमान क्रमशः वेश्या, नायक तथा प्रतिनायक का ज्ञान ऊपर से होता है।

स्पष्ट ही वामन का प्रथम आक्षेप प्रतीप में तथा द्वितीय समासोक्ति में अन्तर्भूत हो जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दण्डी का उपर्युक्त वर्तमानाक्षेप तथा वामन का उपमानाधिक्षेपरूप प्रथम आक्षेप सर्वथा अभिन्न हैं। द्वितीय आक्षेप में भी बहुचर्चित आगूरण की स्थिति है यद्यपि यहाँ आगूरण का विमर्शिनीकाराभिमत लक्षणारूपी अर्थ नहीं हो सकता।

वामन का मूलभूत सूत्र है—'उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः।' उन्हीं की वृत्ति में इसके अर्थ हैं—(१) उपमानस्याक्षेपः प्रतिषेधः। तुल्यकार्यार्थस्य नैरर्थक्यविवक्षायामाक्षेपः। (२) उपमानस्याक्षेपः, आक्षेपतः प्रतिपत्तिरित्यपि सूत्रार्थः।

उद्भट—उद्भट ने आक्षेप का पूरा लक्षण भामह से ले लिया है। उन्होंने भेद भी भामह के शब्दों में ही प्रस्तुत किए हैं—

'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
आक्षेप इति तं सन्तः शंसन्ति कवयः सदा॥ २।२॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स च द्विविध इष्यते।
निषेधेनेव तद्बन्धो विधेयस्य च कीर्तितः॥ २।३॥

—'विशेषता बतलाने के लिए अभीष्ट अर्थ का जो निषेधाभास उसे विद्वान् कवि आक्षेप कहते हैं। वह दो प्रकार का माना जाता है वक्ष्यमाणविषय तथा उक्तविषय। दूसरे शब्दों में उस [आक्षेप] का निर्माण विधेय के निषेधाभास से भी बतलाया गया है॥ २।२, ३॥

रुद्रट—रुद्रट का आक्षेप कथनाक्षेप है। इसे दूसरे शब्दों में उक्तविषय भी कह सकते हैं। आक्षेप का अर्थ निषेध ही है। रुद्रट ने इसके कारण दो बतलाए हैं प्रसिद्धि और विपरीतता। रुद्रट के अनुसार आक्षेप केवल प्रतिषेध तक सीमित नहीं है। उसमें निषेध का दृष्टान्त द्वारा प्रमाणित किया जाना भी अपेक्षित है। इस प्रकार रुद्रट के अनुसार आक्षेप के दो भाग हैं एक कथननिषेध और दूसरा उसकी पुष्टि में तत्समान पदार्थ का उपन्यास। लक्षण है—

'वस्तु प्रसिद्धमिति यद् विरुद्धमिति वास्य वचनमाक्षिप्य।
अन्यत् तथात्वसिद्ध्यै यत्र ब्रूयात् स आक्षेपः॥ ८।८९॥

—वस्तु के प्रसिद्ध होने या विरुद्ध होने के कारण उसका कथन रोककर, उसकी प्रसिद्धता या विरुद्धता की सिद्धि लिए के अन्य किसी पदार्थ का कथन आक्षेप, उदाहरण—

(१) 'जनयति संतापमसौ चन्द्रकला कोमलापि मे चित्रम्।
अथवा किमत्र चित्रं दहति हिमानी हि भूमिरुहः॥ ८।९०॥

—कोमल होते हुए भी यह चन्द्रकला मुझे सन्ताप दे रही है, यह आश्चर्य की बात है। अथवा इसमें क्या आश्चर्य। पाला पेड़ों को जला देता है।'

(२) 'तव गणयामि गुणानहमलमथवासत्प्रलापिनीं धिङ्माम्।
क खलु कुम्भैरम्भो मातुमलं जलनिधेरखिलम्॥ ८१९२॥

—मैं तुम्हारे गुण गिनती रहती हूँ। नहीं, नहीं मैं उल्टा बोल बैठी, मुझे धिक्कार है। ऐसा कौन होगा जो घड़े भर-भरकर समुद्र का पूरा पानी नाप सके।'

इन दोनों में से प्रथम में पाले और पेड़ का उदाहरण देकर आश्चर्य में प्रसिद्धता सिद्ध की गई है और तत्प्रयुक्त अकथनीयता की। द्वितीय में गुणगणना में अनुचितत्व या विपरीतता प्रतिपादित कर उसकी अकथनीयता बतलाई गई है।

उक्त प्रतिपादन से स्पष्ट है कि कथनाक्षेप को आक्षेप का रूप पहले पहल रुद्रट से मिला है। सर्वस्वकार ने इसकी प्रेरणा रुद्रट से ही पाई होगी। रुद्रट के प्रतिपादन में दोष यह है कि उन्होंने आक्षेप शब्द का अर्थ नहीं दिया। किन्तु प्राचीन आचार्यों ने आक्षेप का प्रतिषेध या निषेध नाम से जो अर्थ किया था रुद्रट को वही मान्य है। वामन ने जो अधिक्षेप अर्थ किया था रुद्रट के उक्त विवेचन से वह उन्हें मान्य प्रतीत नहीं होता।

रुद्रट ने आक्षेप के वक्ष्यमाणविषय तथा उक्तविषय नाम से भेद नहीं किए, किन्तु लगता है कि उन्हें वक्ष्यमाणविषय भेद सर्वथा अमान्य है यद्यपि उसका उन्होंने खण्डन नहीं किया है। इसी प्रकार उक्तविषय उन्हें मान्य है यद्यपि उसका भी उन्होंने नामोल्लेख नहीं किया है।

सर्वथा रुद्रट का आक्षेप पूर्ववर्ती आचार्यों से गृहीत न होकर स्वतःकल्पित प्रतीत होता है।

मम्मट—मम्मट का आक्षेप भामह के आक्षेप से उद्भट के ही आक्षेप के समान सर्वथा अभिन्न है। उन्होंने उद्भट के समान भामह की कारिका उद्धृत कर दी है किन्तु उसका अनावश्यक अंश हटा दिया है—

'प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः॥'

अर्थ स्पष्ट है। इस कारिका का यही रूप भामह के नाम से लोचन में उद्धृत आक्षेपकारिका में भी मिलता है। यदि इस कारिका को काव्यप्रकाश के संस्कार पर परवर्ती पण्डितों ने सुधारा नहीं है तो कारिका के परिष्कार का श्रेय मम्मट को नहीं अभिनवगुप्त को ही है [द्रष्टव्य लोचन प्रथम उद्योत]।

[२] द्वितीय आक्षेप की उद्भावना प्रथमतः दण्डी में ही मिलती है। भोज में दण्डी का ही अनुकरण है। दोनों आचार्यों के मत ऊपर दिए जा चुके हैं।

उपर्युक्त इतिहास से स्पष्ट है कि प्रथम आक्षेप के विषय में सर्वस्वकार के पहले तक निम्नलिखित तीन मत बन चुके थे—

१—विशेषाभिधान के लिए इष्टप्रतिषेधाभास। इसके प्रवर्तक हैं भामह और अनुयायी हैं उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट।

२—केवल प्रतिषेधोक्ति। इसके प्रवर्तक हैं दण्डी और अनुयायी भोजदेव। तथा—

३—उपमानाक्षेप। इसके प्रवर्तक हैं वामन और अनुयायी कोई नहीं।

इन मतों में से तृतीय मत के आक्षेप का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। इसका प्रथम भेद प्रतीप और द्वितीय भेद समासोक्ति में अन्तर्भूत हो जाता है। अभिनवगुप्त ने वामन का मत उद्धृत

कर 'ऐन्द्रं धनुः' पद्य में आक्षेप को समासोक्ति से अभिन्न ही बतलाया है। कहा है 'एषा तु समासोक्तिरेव' [ध्वन्यालोकलोचन उद्योत—१] प्रथम भेद का उदाहरण उन्होंने बदल दिया है और उसका प्रतीप में अन्तर्भाव नहीं दिखलाया है तथापि यह अन्तर्भाव तर्कशुद्ध है। आगे होने वाले प्रतीप के विवेचन से यह तथ्य स्वयं ही स्पष्ट हो जाएगा। पण्डितराज जगन्नाथ ने सर्वस्वकार का मत स्पष्ट करते हुए उपमान के अधिक्षेप को प्रतीप का भेद बतलाया भी है। अलंकारकौस्तुभकार ने भी इसे काव्यप्रकाशकारादि के अनुसार प्रतीप ही बतलाया है। इस प्रकार वामन का आक्षेपमत निरस्त हो जाने पर दो ही मत शेष बचते हैं।

प्रथम दो मतों में से द्वितीय मत में आक्षेप का लक्षण अपूर्ण है। एक तो उसमें विशेषाभिधानेच्छा को स्थान देना आवश्यक है। क्योंकि 'गच्छ गच्छसि'-पद्य में भी विशेष का अस्तित्व है ही। दण्डी ने इसमें भी आशीर्वचनाक्षेप माना है। दूसरे आशीर्वचनाक्षेप में आक्षेप का अर्थ यदि निषेध हो तो लक्षण में एकमात्र व्यंग्यदशा का ही समावेश रहता है, वाच्यदशा के लिए पुनः कोई निर्वचन अपेक्षित रहता है। इसीलिए सर्वस्वकार ने 'अनिष्टविध्याभास' को लक्षण माना है। उक्त आशीर्वचनाक्षेप में वाच्य विध्याभास ही है।

दण्डी के लक्षण के ही अनुसार भामह के लक्षण में भी एकाङ्गिता चली आती है। यदि रत्नाकर के अनुसार द्वितीय आक्षेप को स्वतन्त्र अलंकार मान लिया जाय तो भामह का आक्षेपलक्षण निर्दोष अवश्य रह सकता है किन्तु यदि सर्वस्वकार और विमर्शिनीकार के अनुसार उसे आक्षेप का ही एक अन्य रूप मान लिया जाता है तो इस द्वितीय रूप के समावेश के लिए भामह के लक्षण में संशोधन या संवर्धन की आवश्यकता आ पड़ती है। उन्होंने तो केवल प्रतिषेधाभास को ही लक्षण में स्थान दिया है।

सर्वस्वकार ने इन दोनों मतों को आदर देना चाहा किन्तु वे दोनों में अन्वित होने योग्य कोई एक लक्षण नहीं बना सके। दोनों को अलग-अलग ही रखना हो तो रत्नाकर का दोनों को दो स्वतन्त्र अलंकार मान लेना क्या बुरा है। परवर्ती अप्पयदीक्षित और पण्डितराज ने भी इन दोनों मतों का कोई समन्वित लक्षण नहीं दिया है। पण्डितराज ने जहाँ प्रत्येक अलंकार का एक स्वाभिमत स्वतन्त्र लक्षण दिया है वहाँ वे आक्षेप के लिए विभिन्न मतों को उपस्थित कर संतुष्ट हो गए हैं। पण्डितराज का निषेधमात्रमाक्षेपः' कथन सामान्य लक्षण के लिए पर्याप्त है। हमारी दृष्टि में—

'विशेषप्रतिपत्त्यर्थमिष्टविधिनिषेधान्यतराभास आक्षेपः'—

—अर्थात् 'विशेषता के प्रतिपादन के लिए इष्टपदार्थ के विधान और निषेध में से किसी एक का आभास आक्षेप।' यहाँ यह कहना अधिक आवश्यक नहीं कि विशेषता का ज्ञान निषेध्य वस्तु अथवा निषेध में ही होना चाहिए।

शोभाकर—सर्वस्वकार के बाद के आचार्यों में शोभाकर का मत आक्षेप के विषय में इस प्रकार है—

[सूत्र] 'विशेषावगमायेष्टनिषेध आक्षेपः'

[वृत्ति] इष्टस्योक्तस्य वक्ष्यमाणस्य वा विशेषावगमाय निषेधाभास आक्षेपः।

—विशेषता के ज्ञान के लिए इष्टनिषेध आक्षेप। इष्ट पदार्थ जो उक्त होगा या वक्ष्यमाण, का निषेधाभास आक्षेप कहलाता है।

इसी विषय को रत्नाकरकार ने कारिका द्वारा भी विशद किया है—

'विहितेऽर्थे निषेधस्य स्याच्चेदाभासमानता। आक्षेपोऽसौ।

—विहित अर्थ का निषेध हो अतः वह आभासमात्र सिद्ध हो रहा हो तो वह आक्षेप कहलाता है।

इस प्रकार प्रथम आक्षेप ही रत्नाकरकार को आक्षेपरूप में मान्य है। द्वितीय को उन्होंने जिस प्रकार विध्याभास नामक स्वतन्त्र अलंकार बतलाया है वह स्पष्ट हो ही चुका है।

अप्पयदीक्षित—अप्पयदीक्षित ने उक्त तीनों मतों का पृथक् पृथक् उल्लेख मात्र किया है। कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया। सर्वस्वकार ने विहितनिषेध के लिए उद्धृत 'साहित्यपाथोनिधि०' आदि जिन पद्यों में आक्षेप नहीं माना था अप्पयदीक्षित ने उनमें भी आक्षेप स्वीकार किया। एतदर्थ उन्होंने यह लक्षण बनाया है—

आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।

स्वय के द्वारा कथित अर्थ का, विचार करने पर प्रतिषेध आक्षेप कहलाता है। उक्त पद्यों में काव्यार्थचौरों से रखवाली की प्रार्थना की गई है किन्तु बाद में अपने सूक्तिरत्नों की अक्षय्यता का ध्यान आते ही रखवाली का निषेध कर दिया गया है। उन्होंने सर्वस्वकार का मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

(२) निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्यते।

—'कुछ विद्वान् निषेधाभास को आक्षेप मानते हैं।' वृत्ति में 'कुछ'-शब्द के स्पष्टीकरण में उन्होंने अलङ्कारसर्वस्वकार का ही उल्लेख किया है—केचिदलंकारसर्वस्वकारादयः। स्पष्टतः वे भामह से प्रवृत्त इस परम्परा की अन्तिम कड़ी सर्वस्वकार पर अधिक आस्थावान् हैं। इसके उदाहरण में उन्होंने 'बालक नाहं दूती०' पद्य का रूपान्तर रख दिया है।

(३) 'आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते।'

तीसरा आक्षेप वह होता है जिसमें विधान होता है वाच्य किन्तु उससे व्यक्त होता है प्रतिषेध। इसके उदाहरण के लिए उन्होंने 'गच्छ गच्छसि०' पद्य का ही संक्षेप कर दिया है।

पण्डितराज—पण्डितराज जगन्नाथ ने आक्षेप पर विविध मत इस प्रकार प्रस्तुत किए हैं—

(१) 'उपमेयस्योपमानसम्बन्धिसकलप्रयोजननिष्पादनक्षमत्वादुपमानकैमर्थ्यमुपमानाधिक्षेपरूपमाक्षेपः' इति केचिदाहु।

कुछ कहते हैं कि उपमेय में उपमान से होने वाले सभी कार्यों को निष्पन्न करने की क्षमता होने से उपमान की निरर्थकता आक्षेप कहलाती है जिसका अर्थ उपमान का अनादर होता है। स्पष्ट ही वह वामन का मत है उदाहरण के लिए 'तस्यास्तन्मुखमस्ति०' पद्य के भाव पर एक दूसरा पद्य पण्डितराज ने बना दिया है।

(२) अपरे तु—पूर्वोपन्यस्तस्यार्थस्य पक्षान्तरावलम्बनप्रयुक्तो निषेध आक्षेप = इत्याहु'।

दूसरे आचार्य—'पूर्वकथित पदार्थ का अन्य पक्ष के आधार पर किया गया निषेध आक्षेप है, ऐसा कहते हैं।' स्पष्ट ही ये 'साहित्यपाथोनिधि०' आदि पद्यसमुदाय में आक्षेप मानने वाले अप्पयदीक्षित हैं। कुछ ऐसे ही विचार रुद्रट के भी प्रतीत होते हैं।

(३) तीसरे मत के लिए पण्डितराज ने मम्मट की 'निषेधो वक्तुमिष्टस्य' कारिका उद्धृत की है। किन्तु उन्होंने मम्मट का नाम नहीं लिया है। कदाचित् वे भी इस कारिका का मूल अभिनवगुप्त के पूर्व उद्धृत लोचन में पाते हैं और इसके सिद्धान्त का मूल भामह में। इसी प्रसंग में वे सर्वस्वकार के संपूर्ण आक्षेप विवेचन का सार भी अत्यन्त सुलझी भाषा में (अप्पयदीक्षित की नाई संकोच के साथ नहीं) सर्वांगीणता के साथ प्रस्तुत करते हैं। इसमें उन्होंने आक्षेप के दोनों

ही पक्ष उपस्थित किए हैं निषेधाभासात्मक तथा विध्याभासात्मक। किन्तु वे विध्याभासात्मक आक्षेप के लिए उसके मूल प्रवर्तक दण्डी का उल्लेख नहीं करते।

(४) चतुर्थमत में पण्डितराज ने उक्त सभी मतों का समाहार करने का यत्न किया है। इसके लिए उन्होंने लिखा है—

'चमत्कारिनिषेधमात्रमाक्षेपः। वे सभी निषेध आक्षेप हैं जिनमें चमत्कार निषेधगत रहता है।' पण्डितराज का कहना है कि उक्त सभी पक्षों में निषेध का चमत्कार रहता है, अतः उनका इस चतुर्थ मत में समाहार हो जाता है। ऐसा लगता है कि यह उनका अपना पक्ष है किन्तु वे इसमें अपना नाम जोड़ने का साहस नहीं कर सके कारण यह है कि इतनी उदारता बरतने पर उन्हें प्रतीपालंकार से हाथ धो लेना पड़ता। एक बार वे प्रतीप और उपमेयोपमा का उपमा में भी अन्तर्भाव मान बैठे थे [द्र० रसगं० उपमा विवेचन का आरम्भ]।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर पण्डित ने आक्षेप पर उक्त सभी मत पण्डितराज के ही समान उपस्थित किए हैं किन्तु उन्होंने अपनी मूल कारिका 'निषेधाभास' पक्ष पर ही बनाई है अतः उन्होंने अपना मत मामहादि के पक्ष में खुलकर दे दिया है। पण्डितराज के समान अपने मत को छिपाए रखने का प्रयत्न उन्होंने नहीं किया है। उन्होंने कदाचित् पण्डितराज के समाहारपक्ष का खण्डन भी किया था, किन्तु उनके अलंकारकौस्तुभ का यह अंश खण्डित हो गया है।

विश्वेश्वर की आक्षेपकारिका इस प्रकार है—

'इष्टस्याप्यभिधातुं योऽर्थस्य विशेषबोधाय।
स्वयमेव प्रतिषेधः स वक्ष्यमाणोक्तविषय आक्षेपः॥'

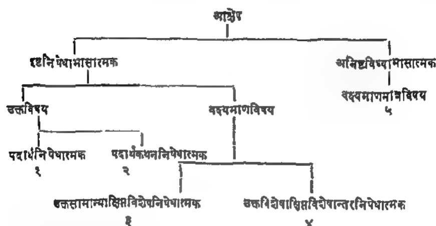
इससे अच्छी कारिका तो स्वयं मम्मट की ही थी। उसी को दे देना उचित था। सिद्धान्त तो उनका है ही। सर्वस्वकार का मत भी विश्वेश्वर उतनी सफाई के साथ नहीं दे सके जितनी सफाई के साथ उसे पण्डितराज ने दिया था।

इस प्रकार पूर्व और पश्चात् के आचार्यों के मतपरीक्षण से सिद्ध यह होता है कि आक्षेप पर जो सिद्धान्त सर्वस्वकार ने दिया है वही सर्वमान्य है।

लक्षणा—आक्षेप में वाच्य निषेध या विधि में विमर्शिनीकार ने विपरीतलक्षणा स्वीकार की है और रत्नाकरकार ने उपादानलक्षणा, किन्तु सर्वस्वकार ने संपूर्ण आक्षेपविवेचन में लक्षणा का नाम एक बार भी नहीं लिया है। उन्होंने विधि और निषेध को वाच्यरूप में केवल बाधित होता हुआ कहा है। उनका शब्द है 'निषेधस्यानुपपद्यमानत्वादसत्यत्वम्'। यहाँ असत्यता का अर्थ यह नहीं है कि निषेध की लक्षणा असत्यता में हो जाती है। असत्यता का ज्ञान यहाँ ठीक वैसे ही होता है जैसे 'धार्मिक! गोदावरीतट पर रह रहे शेर ने उस कुत्ते को मार डाला है जो तुम्हें वहाँ सताता रहता था, अब प्रेम से वहाँ घूमना' इस वाक्य में भ्रमणनिषेध का ज्ञान होता है। यहाँ निश्चित ही भ्रमणनिषेध का ज्ञान लक्षणा से न होकर व्यंजना या अनुमान से होता है। यह इसलिए कि यहाँ भ्रमण की विधि सर्वथा अशक्य नहीं है। एक कठिनाई, लक्षणा मानने पर, यह भी आती है कि आक्षेप में निषेध की लक्षणा निषेधाभाव में ही की जा सकती है। यह निषेधाभास अभावात्मकमात्र सिद्ध होता है फलतः यहाँ ऐसा कोई अर्थ नहीं आता जैसा व्याजस्तुति में स्तुति की लक्षणा से निन्दा या निन्दा की लक्षणा से स्तुतिरूपी विपरीत अर्थ आता था। निन्दा या स्तुति या निन्दा का एकमात्र अभाव नहीं है वे अपने आपमें अस्तित्वशाली भावात्मक तत्त्व भी हैं। आक्षेप में ऐसा कोई अतिरिक्त अर्थ भासित नहीं होता। यह

निषेध तो ठीक वैसा ही आभासात्मक निषेध है जैसा आभासात्मक स्त्रीत्व कपड़ों की दूकानों पर खड़ी स्त्रीमूर्त्ति में रहता है। उसमें स्त्रीत्व का विधान तो रहता है किन्तु वह एकमात्र आभासात्मक ही रहता है। सच यह है कि इष्ट के निषेध से या अनिष्ट के विधान से इष्ट में अनिष्टत्व और अनिष्टत्व में इष्टत्व का ज्ञान होता है, तत्पश्चात् तात्पर्य जिज्ञासा द्वारा अनिष्टरूप से प्रतिपादित इष्ट या इष्टरूप से प्रतिपादित अनिष्ट में विशेषता का ज्ञान होता है। इस प्रकार निषेध या विधि अनात्पर्यविषयीभूतमात्र सिद्ध होते हैं, इनका बाध नहीं होता। इष्ट या अनिष्ट में अनिष्टत्व या इष्टत्व का प्रतिपादन उनमें बाध उत्पन्न नहीं करता। फलतः आक्षेप के इस अंश में भी लक्षणा का मानना अवैज्ञानिक है।

सर्वस्वकार के अनुसार आक्षेप वृक्ष इस प्रकार का होगा—



इस प्रकार आक्षेप के पाँच भेद सिद्ध होते हैं।

सञ्जीविनीकार ने सर्वस्वकार के संपूर्ण आक्षेपविवेचन का संक्षेप कारिकाओं में इस प्रकार किया है—

प्रथम आक्षेप—'निषेधाभास आक्षेपः प्रकृतस्येष्टसिद्धये।
स उक्तविषये वस्तुतदुक्त्योर्वारणात्मकः॥
वक्ष्यमाणे पुनरसावन्यो ज्ञेय आगूरणात्मकः।
सामान्यतो विशेषोऽस्यार्दर्दावेत्येष च द्विधा॥
इष्टोऽर्थोऽस्य निषेधोऽस्य बाधोऽस्यातिशयध्वनिः।
चतुष्टयमिदं ज्ञेयं संभूयाक्षेपकारणम्॥

द्वितीय आक्षेप—'अनुक्तस्य निषेधस्य विध्याभासेन सूचनम्।
आक्षेपो वक्ष्यमाणैकविषयस्त्वेष समः॥'

पाठान्तर—आक्षेप विवेचन का सर्वस्व और विमर्शिनी दोनों में अभी तक छपे संस्करणों में काफी पाठभेद है। मूल में ये पाठभेद प्रधान हैं—

(१) 'सुदम०' पद्य की वृत्ति में 'सातिशयो मरणशङ्कोपजनकत्वादिः' के स्थान पर निर्णयसागर संस्करण में 'सातिशयात् कोपजनकत्वादिः' छपा है। डॉ० द्विवेदी ने इसके स्थान पर 'सातिशयोत्कोपजनकत्वादिः' पाठ बना लिया है। डॉ० राघवन् ने यहाँ मूल में तो 'सातिशयको-

पजनकत्वादिः' पाठ बनाया है। परन्तु पाठान्तर में 'सातिशयकोपजनकत्वम्' पाठ रख छोड़ा है। अनन्तशयन (त्रिवेन्द्रम्) संस्करण तथा काशी के शारदा ग्रन्थमाला संस्करण में क्रमशः 'सातिशयो मरणशङ्कोपजनकत्वादिः' तथा 'सातिशयान्मरणशङ्कोपजनकत्वादिः' पाठ को मूल पाठ माना गया है। इनमें प्रधान समस्या 'मरणशङ्कोपजनकत्वादि' और 'कोपजनकत्वादिः' की है। इसके नीचे आई पंक्ति में 'म्रियते' इस प्रकार मरण की बात को प्रतिपाद्य बतलाया गया है। अतः हम अधिक पाण्डुप्रतियों में अन्य पाठ मिलने पर भी मूल पाठ में 'मरण'-शब्द को आवश्यक समझते हैं। 'शङ्कोपजनकत्व' और 'कोपजनकत्व' के विषय में औचित्य से निर्णय किया जा सकता है। यहाँ गुस्से की बात ही भला क्या है? प्रिय के प्रवास का दुःखपूर्ण अवसर है। यहाँ कोप नहीं, विषाद या दैन्य ही अधिक संभव है। कोप तो लौटने में विलम्ब करने पर संभव है।

(२) 'अनुरूपो देव इत्यात्मसंभावना'—इस पंक्ति में सभी संस्करणों में देव की जगह 'दैव्याः' छपा है। प्रसंग है हर्षचरित में दाधीच की दूती मालती के द्वारा शोणतट पर रुकी सरस्वती के प्रति उसके अनुराग की व्यंजना का। मालती ने पहले दाधीच की दशा का वर्णन किया है। तदनन्तर उसके विषय में अपनी इच्छा व्यक्त की है। इसमें उसका यही प्रथम वाक्य है। इसमें कुमार का परामर्श किया जाना अत्यन्त आवश्यक और वक्ता की वाक्प्रवृत्ति के अनुरूप है। निर्णयसागर संस्करण में छपा भी 'देव' ही है। राघवन् सा० ने इसका संदर्भ तो ढूँढ निकाला है परन्तु संशोधन नहीं किया। इसी प्रकार 'केवलम्' को सभी ने उद्धरण का अंग मान रखा है। वह न तो वाक्यार्थ के अनुरूप है और न मूल में ही प्राप्त है।

(३) 'चमत्कारोऽप्यत्र निषेधहेतुक एवेति न तद्भावमात्रेण०' पंक्ति के 'न तद्भाव' के स्थान पर डॉ० द्विवेदी और डॉ० राघवन् ने 'न तत्सद्भाव' पाठ को महत्त्व दिया है। हमारी दृष्टि में यह पंक्ति 'ततश्च हर्षचरिते' से आरम्भ होने वाले पूरे प्रघट्टक के उपसंहार के लिए आई पंक्ति है। अतः हमने 'तद्भाव' का अर्थ 'आक्षेप जैसा आशय' या आक्षेप से मिलता-जुलता करना उचित समझा है। 'तत्सद्भाव'—पाठ मानने पर अर्थ होता है चमत्कार का अस्तित्व। इससे पंक्ति का महत्त्व केवल 'सादित्यपाथो०' से आरम्भ होने वाले प्रकरण तक सीमित रह जाता है। क्योंकि निषेधमूलक चमत्कार इन्हीं पद्यों में है। हर्षचरित के वाक्यों में चमत्कार सौकर्यमूलक है। विमर्शिनीकार ने भी यहाँ 'तत्' शब्द को चमत्कार का ही परामर्शक माना है। उन्होंने 'तद्भाव' का 'चमत्कारसद्भाव' शब्द के द्वारा स्पष्टीकरण किया है। इससे सद्भाव शब्द से उनके मस्तिष्क में भी 'तत्सद्भाव' पाठ ही मान्य होने की संभावना झलकती है किन्तु वह अत्यन्त ठीक है। फिर उन्हें मूल की प्रतियाँ बहुत अशुद्ध मिली थीं। समुद्रबन्ध ने यहाँ 'तत्सद्भाव' पाठ ही माना है किन्तु उसका अर्थ उन्होंने 'तत्सद्भावो निषेधसद्भावः' इस प्रकार निषेधपरक किया है।

विमर्शिनी में भी अशुद्धियों की भरमार है। उसमें जैसे अवश्यपरिहार्यत्व के स्थान पर अवस्थापरिहार्यत्व छपा है वैसे ही 'विहितस्य निषेधे न' के स्थान पर 'विहितस्य निषेधेन', 'निषेधस्यावभासनाद' के स्थान पर 'निषेधस्यैव भासनात्', 'शब्दानुपात्तत्वात् । विशेष०' के स्थान पर 'शब्दानुपात्तत्वाद्विशेष०' तथा 'अनिराकरणमुखेनेति' के स्थान पर 'निराकरणमुखेनेति'।

विमर्शिनी

इदानीं विरोधस्य लक्षणमुपक्रमते—आक्षेप इत्यादिना।

अब विरोध का लक्षण आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

आक्षेपे दृष्टनिषेधेऽनिष्टविधौ चानुपपद्यमानत्वाद् विरुद्धत्वमप्रविष्टम्।

एतत्प्रस्तावेन विरोधगर्भोऽलंकारवर्गः प्रक्रियते। तत्रापि विरोधालंकार-स्तावल्लक्ष्यते—

[सूत्र ४१] विरुद्धाभासत्वं विरोधः।

इह जात्यादीनां चतुर्णां पदार्थानां प्रत्येकं तन्मध्य एव सजातीयविजातीयाभ्यां विरोधिभ्यां संबन्धे विरोधः। स च समाधानं विना प्ररूढो दोषः। सति तु समाधाने प्रमुख एवाभासमानत्वाद्विरोधाभासः। तत्र जातिविरोधस्य जात्यादिभिः सह चत्वारो भेदाः। गुणस्य गुणादिभिः सह त्रयः। क्रियायाः क्रियाद्रव्याभ्यां सह द्वौ भेदौ। द्रव्यस्य द्रव्येण सहैकः। तदेवं दश विरोधभेदाः।

आक्षेप में, इष्टनिषेध और अनिष्टविधि के बाधित होने के कारण [इनके] बीच विरोध आ गया है। इसी [विरोध] के प्रसंग से अब विरोधमूलक अलंकार आरम्भ किए जा रहे हैं। उनमें [मूलभूत] विरोधालंकार का लक्षण पहले दिया जा रहा है—

[सूत्र ४१] विरुद्धता का आभास विरोध [नामक अलंकार कहलाता है]॥

यहाँ जाति आदि [गुण, क्रिया और यदृच्छा = द्रव्य] चार पदार्थों में से प्रत्येक के उन्हीं के बीच के सजातीय और विजातीय विरोधियों के साथ सम्बन्ध का नाम है विरोध। वह, यदि समाधान न हो और अन्त तक बना रहे तो दोष होता है, और यदि समाधान हो जाय तो [होता है] विरोधाभास [नामक अलंकार] क्योंकि तब वह केवल आरम्भ में ही भासित हुआ करता है। इसमें भी जाति विरोध जाति आदि चारों के साथ होता है, इसलिए उसके चार भेद होते हैं। गुण का विरोध गुणादि तीन के साथ होता है अतः उसके भेद केवल तीन होते हैं। क्रिया का विरोध क्रिया और द्रव्य इन दो के ही साथ होता है इसलिए इसके दो भेद होते हैं। द्रव्य का विरोध केवल द्रव्य के साथ होता है, अतः वह केवल एक ही प्रकार का होता है। इस प्रकार विरोध के दस भेद होते हैं।

विमर्शिनी

एतत्प्रस्तावेनेति। विरुद्धात्वानुप्रवेशानुगुण्येनेत्यर्थः। तत्रापीति। विरोधगर्भालंकारोपक्रमेऽपीत्यर्थः। तावदित्युपक्रमे। तत्र हि विरुद्धगर्भत्वस्य प्राधान्यम्। तदेवाह—विरुद्धेत्यादि। तन्मध्य एवेति। जात्यादीनां गुणादय एव विजातीया, गुणादीनामपि जात्यादय एव विजातीया ग्राह्याः, न पुनरन्ये यदृच्छाशब्द इत्यर्थः। ननु विरोधस्य दोषत्वं वाच्यं प्रत्युत, अस्य कथनमलंकारत्वमुच्यत इत्याशङ्क्याह—स चेत्यादि। समाधानमिति। वस्तुवृत्तपर्यालोचनात्मको विरोधप्रतीत्यनन्तरभावी नैतदेवमिति प्रत्ययरूपो बाधः। प्रमुख एवेति न पुनः पर्यवसाने। तेनामुखावगतो विरोधः पर्यवसाने न तथा प्ररोहमेतीति भावः। एतच्च श्लेष एव विजत्य प्रतिपादितमितीह न पुनरायस्तम्। एवं च सत्यपि समाधाने दोषाभावमात्रमेवास्य स्वरूपं नाशङ्कनीयम्। अलंकारत्वपर्यवसायिनो विच्छित्तिविशेषस्यापि सम्भवात्। जातेर्गुणेन सह विरोधे उक्ते 'विरोधोऽन्योन्यबाधनम्' इति दशा तेनैव गुणस्यापि जात्या सह विरोधः सिद्धः। अत एव गुणस्य जातिवर्जं त्रयो भेदाः। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्।

'एतत्प्रस्तावेनेति—इसी प्रसंग से' = अर्थात् विरोध का प्रवेश दोनों अलंकारों में समानरूप से रहता है इस अनुकूलता के कारण। तत्रापि = विरोधमूलक अलंकारों के निरूपण के आरम्भ में भी। तावत् = आरम्भ में। इसलिए कि इसमें विरोध ही प्रधानरूप से चमत्कारकारी होता है। यही [विरोध का लक्षण सूत्र द्वारा] प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'विरुद्ध'इत्यादि 'तन्मध्य एव = उन्हीं के बीच' अर्थात् जाति आदि के प्रति [स्वयं सजातीय और शेष बचे] गुण आदि [तीन] ही विजातीय मानने होंगे, इसी प्रकार गुण आदि के प्रति भी [स्वयं सजातीय और शेष बचे] जाति आदि [तीन] ही विजातीय होंगे। न कि इन [चारों से] भिन्न नामशब्द आदि, [अर्थात् जाति गुण और क्रिया ये तीनों द्रव्य के वास्तविक धर्म माने जाते हैं और नामशब्द काल्पनिक। इस प्रकार वास्तविक होने से जाति आदि को परस्पर में सजातीय मानकर नामशब्द को काल्पनिक होने से विजातीय माना जा सकता है, किन्तु यह उक्त चारों से भिन्न पाँचवा तत्त्व है। 'तन्मध्य एव' कहकर ग्रन्थकार सजातीय विजतीय का निर्णय इसको लेकर नहीं मानते]। [शंका]—विरोध को तो उलटा दोष कहा जाना चाहिए, इसे अलंकार कैसे कहा जा रहा है" ऐसी शंका का उत्तर देते हैं—स च। समाधानम् = समाधान का अर्थ है [विरोध का] बाध अर्थात् 'यह वस्तु ऐसी नहीं है' इस प्रकार का ज्ञान, जो विरोध प्रतीति के बाद वास्तविक स्थिति का अनुशीलन करने पर होता है। 'प्रमुख एव = आरम्भ में ही'। न कि अन्तिम पर्यवसान में भी इससे तथ्य यह निकला कि विरोध केवल वाक्यार्थप्रतीति के आरम्भ में ही भासित होता है, वाक्यार्थप्रतीति के अन्त में वह वैसा नहीं रहता। यह विषय श्लेषालंकार में ही विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया जा चुका है अतः यहाँ उसके लिये पुनः आयास नहीं किया गया। इसी प्रकार समाधान हो जाने पर विरोध दोषाभावरूप भर नहीं रहता, इसमें वह विशेषता भी रहती है जो [किसी भी उक्ति में] अलंकारत्व में पर्यवसित होती है। जाति का गुण के साथ विरोध बतला देने पर 'विरोध का अर्थ है परस्पर में एक दूसरे को बाधित करना' इस दृष्टि से गुण का जाति के साथ विरोध भी स्वयं ही वहीं अवगत हो जाता है, इसीलिए ग्रन्थकार ने गुण के विरोध के केवल तीन ही भेद बतलाए हैं। जाति के साथ विरोध को छोड़ दिया है। अन्य क्रिया आदि में भी इसी प्रकार [पूर्वभेदों से स्वतः अवगत भेदों को छोड़ कर शेष भेद बतलाने का क्रम] अपनाया गया जानना चाहिए।

[सर्वस्व]

तत्र दिङ्मात्रेणोदाहरणं यथा—

'परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान्।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते॥'

अत्र जडीकरणतापकरणयोः क्रिययोर्विरोधो वस्तुसौन्दर्येणाप्राप्तिपर्यवसानेन परिह्रियते। तथा—

'अयं वारामेको निलय इति रत्नाकर इति
श्रितोऽस्माभिस्तृष्णातरलितमनोभिर्जलनिधिः।
क एवं जानीते निजकरपुटीकोटरगतं
क्षणादेनं ताम्यत्तिमिमकरमापास्यति मुनिः॥'

अत्र जलनिधिः पीत इति द्रव्यक्रिययोर्विरोधो मुनिगतेन महाप्रभावत्वेन समाधीयते। एवमन्यदपि ज्ञेयम्।

विविक्तविषयत्वेन चास्य दृष्टेः श्लेषगर्भत्वे विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेष औद्भटानाम्। दर्शनान्तरे तु संकरालंकारः। यथा—'संनिहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' इत्यादौ विरोधिनोर्द्वयोरपि श्लिष्टत्वे। एकस्य तु श्लिष्टत्वे 'कुपतिमपि कलत्रवल्लभम्' इत्यादौ। एकविषयत्वे चायमिष्यते। विषयभेदे त्वसंगतिप्रभृतिर्वक्ष्यते।

इन [दस भेदों] में से [प्रत्येक का उदाहरण देकर] कुछ के उदाहरण दिए जा रहे हैं, जो इस प्रकार हैं—

इनके कतिपय उदाहरण यथा—[विरही माधव की उक्ति—]

'जो इयत्ता से परे है, जो किसी भी प्रकार के शब्दों का विषय नहीं बनता, इस जन्म में जो पुनः कभी अनुभव में नहीं आया, विवेक के सातिशय ध्वंस से प्रवृद्ध महामोह के कारण जो अत्यन्त निविड है ऐसा कोई [चेतो—] विकार हृदय को शीतल भी बना रहा है और तपा भी रहा है।

—यहाँ शीतल बनाना और तपाना इन दो क्रियाओं का विरोध है। यह वस्तु [पदार्थ] के सौन्दर्य के द्वारा हटा दिया जाता है। [यह सौन्दर्य अभिलाष शृंगार में पर्यवसित होता है।] इसी प्रकार—

'यह जलसमूह का एकमात्र निलय है [सभी जल इसी में आकर समाते हैं], यह रत्नों का भण्डार है' यह सोच तृष्णातुर चित्त वाले हम लोगों ने जलनिधि का आसरा लिया था, यह कौन जानता था कि तिलमिलाते समस्त तिमि मकरों से व्याप्त इसे अपनी अंजलि की खोह में समेट कर अगस्त मुनि एक क्षण में ही पूरा का पूरा पी जायेंगे।'

—यहाँ 'समुद्र' [जलनिधि] और 'पीना' इन दो द्रव्य और क्रिया का विरोध है। इसका समाधान मुनि के प्रभाव की महत्ता से हो जाता है। अन्य [भेदों के उदाहरण] भी ऐसे ही जानना चाहिए।

यह [विरोध श्लेषरहित अत.] स्वतन्त्र स्थलों में भी देखा जाता है अत जहाँ कहीं यह श्लेषमूलक होता है वहाँ उद्भटाचार्य के अनुयायी श्लेष को विरोध का बाधक मानते हैं अन्य मत में यहाँ संकरालंकार माना जाता है। उदाहरणार्थ—

'जो [सरस्वती] सन्निहितबालान्धकारा [जिसके बाल = केशों में बाल अन्धकार कालिमा सन्निहित है] और भास्वन्मूर्ति [सूर्यरूप, प्रकाशित] है।'

इत्यादि [हर्षचरित–१ पृ० २७] में जहाँ विरोधियों में से दोनों ही [के वाचक पद] श्लेष युक्त हैं। जहाँ केवल एक के [वाचक पद में] श्लेष होता है उसका उदाहरण यह है—

'कुपति [कुत्सित पति और कु = पृथिवी का पति] होने पर जो प्रियाओं को प्रिय था।' यह [संकर] वहाँ माना जाता है जहाँ [विरोध और श्लेष] दोनों एक ही स्थान [पद] में रहते हैं। जहाँ कहीं अलग अलग रहते हैं वहाँ असंगति आदि अन्य अलंकार बतलाए जायेंगे।

विमर्शिनी

दिङ्मात्रेणेति। अनेनैषां लघये तथा वैचित्र्याभावादनवक्लृप्तिर्ध्वनिता। अत एवा-स्माभिरप्येते नोदाहृताः। अन्यदिति। अनेनेह चिरंतनैरनुक्ता अपि वैचित्र्याधायिनो भेदा अनुसर्तव्या इत्यपि सूचितम्। तेन भावयोरभावयोश्च विरुद्धत्वोपनिबन्धे विरोधो ज्ञेय इति। तत्र भावयोर्ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्। अभावयोस्तु यथा—

'तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेप एव पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥'

अत्राभावरूपयोः क्रिययोर्विरोधः। भावाभावयोस्तु यथानङ्गलेखायां राजवर्णने

'विदर्भाङ्गनाजनमपि दर्भगर्भकरमकरोत्, पञ्चतां जनयन्नपि पञ्चाङ्गस्य वैमुख्यम-पुष्णात्, पारसीकरणमप्यपारसीकरणं चकार, मागधानपि विमागधान् व्यधात्, चोलकान्ता अप्यचोलकान्ताः समपादयत्, कुन्तलालसानप्यकुन्तलालसांश्च निर्ममे शूरसेनानप्यशूरसेनानदर्शयत्।' इत्यादि।

अस्यापि मतभेदेन श्लेषेण सह व्यवस्थितिं दर्शयितुमाह—विविक्तेत्यादिना। 'जडयति च तापं च कुरुते' इत्यत्रास्य विविक्तविषयत्वम्। दर्शनान्तर इति ग्रन्थकृदभिमते संकर-शब्दश्चात्र संकीर्णत्वमात्रे वर्तते। तेनात्र संकरेण संकीर्णत्वेन च श्लेषमिश्रत्वेनालंकारो विरोधाभास इति व्याख्येयम्। अलंकारशब्देन चात्र विरोधाभास एवाभिधीयते। तस्यै-वेह प्रस्तुतत्वात्। अत्र हि श्लेषो विरोधोत्पत्तौ हेतुत्वं भजते। तेन विना तस्यानुत्थानात्। संकरश्च स्वहेतुबलाह्लब्धसत्ताकयोरलंकारयोर्भवति। तेन यो यस्य हेतुत्वं भजते तेन सह तस्य संकरो न युक्तः। यद्वक्ष्यति—'न च विरोधोत्पत्तिहेतौ श्लेषे श्लेषस्य विरो-धेन सहाङ्गाङ्गिसंकरः' इति। द्वयोरेकस्येत्यनेन श्लेषमिश्रत्वस्यापि वैचित्र्यं दर्शितम्। अस्य च वक्ष्यमाणाद्विरोधगर्भादलंकाराद् वैलक्षण्यं दर्शयति—एकेत्यादिना। जडीकरण-तापकरणयोर्विकारयोर्विकारिणत्वेनास्यैकविषयत्वम्। विषयभेद इति। कार्यकारणधी-नामेकविषयत्वोपपत्तावपि भिन्नदेशत्वायुपनिबन्धनात्।

दिङ्मात्रेण = कुछ ऐसा कहकर। व्यक्त किया कि इन भेदों के जो स्थल होते हैं उनमें चमत्कारगत अन्तर नहीं रहता। इसी कारण हमने भी इनके उदाहरण नहीं दिए। अन्यत् = अन्य, इसके द्वारा यह भी सूचित किया कि विरोध के जो भेद प्राचीन आचार्यों ने नहीं भी बतलाए हैं किन्तु यदि उनमें कोई वैचित्र्य हो तो उन्हें भी गिन लेना चाहिए। इसके अनुसार वहाँ भी विरोध माना जा सकता है जहाँ केवल भाव भाव का विरोध बतलाया जाता है या केवल अभाव अभाव का या भाव और अभाव का। इनमें से केवल भाव-भाव के विरोध का उदा-हरण स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है। अभाव अभाव के विरोध का उदाहरण यह है—

'[ब्रह्मचारी का वेष छोड़कर अपने रूप में आए और पार्वती को पकड़ कर जाने से रोक रहे] उन [भगवान् शंकर] को देखकर पार्वती काँपने लगीं, उनकी शरीरयष्टि सस्वेद हो गई और वे आगे रखने के लिए उठाए पैर को उठाए हुए ही थीं। इस प्रकार मार्ग में पर्वत [सामान्य पहाड़ और प्रकृत प्रसंग में हिमाचल] के आ जाने से आकुलित नदी के समान पर्वतराज की पुत्री न तो जा ही सकीं और न रुक सकीं।

—यहाँ अभावात्मक क्रियाओं का विरोध है।

भाव और अभाव के विरोध का उदाहरण अनङ्गलेखा में राजा के इस वर्णन में मिलता है—

'जिसने विदर्भ [दर्भ = कुश-रहित तथा विदर्भ जनपद की] सुन्दरियों को दर्भपूर्ण हाथ वाली [विधवा अतएव तपस्विनी बना दिया, पञ्चता उत्पन्न करता हुआ [मृत्यु को प्राप्त करता

हुआ] भी जो पञ्चाल की विमुखता में वृद्धि कर रहा था, पारसीकों के रण को अ-पारसीक-रण [अपार = सीकरण = सीकरता] के रूप में बदल दिया, मागधों को जिसने विमागध [मागध-त्वविरुद्ध, मागध = वैतालिकों से रहित] बना दिया, चोल की कान्ताओं को जिसने अचोल-कान्ता [चोल की कान्ता से उलटा, चोलकान्त सुन्दर चोली से रहित] कर दिया, कुन्तल में सब प्रकार से शोभित होने वालों को अ-कुन्तलालस [कुन्तल देश में सब प्रकार की शोभा से से रहित कुन्तल = केश से रहित अर्थात् मुण्डित और अलस = आलस्य युक्त] बना दिया, शूरसेनों को भी अशूरसेन [कायरसेना वाला] प्रमाणित कर दिया।'—इत्यादि।

इस [विरोध] को भी श्लेष के साथ भिन्न भिन्न मतों में जो भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं उन्हें दिखलाने के लिए लिखते हैं—'विविक०। 'शीतल करता है और तपाता भी है' यह इस [विरोध] का स्वतन्त्र [श्लेषमुक्त] स्थल है। दर्शनान्तर = अन्य मत में अर्थात् ग्रन्थकार को मान्य मत में। यह [संकरालङ्कारशब्द में] संकर शब्द का प्रयोग संकीर्णतामात्र के लिए किया गया है। इस यहाँ [संकरालङ्कारशब्द की] संकर और संकीर्णत्व दोनों ही प्रकार से श्लेष का मिश्रण होने पर निष्पन्न होने वाला अलंकार अर्थात् विरोधाभास ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। [संकरालंकार शब्द में जो अलंकार शब्द [है उस] से यहाँ विरोधाभास का ही कथन हो रहा है। क्योंकि यहाँ वही प्रस्तुत है। यहाँ जो है सो श्लेष विरोध की उत्पत्ति में कारण बनता है। क्योंकि उस [श्लेष] के बिना वह [विरोध] खड़ा नहीं हो पाता। संकर तो उन अलंकारों का होता है जो अपने अपने हेतुओं से निष्पन्न हो चुके रहते हैं। इसलिए जो जिसका हेतु होता है उसके साथ उसका संकर मानना ठीक नहीं है। जैसा कि स्वयं ग्रन्थ-कार ही [संकरालंकार के प्रकरण में] कहेंगे—'ऐसा नहीं कि श्लेष यदि विरोध की निष्पत्ति का हेतु हो तो श्लेष का विरोध के साथ अंगांगिभावसंकर माना जाए।' 'द्वयोः एकस्य' = दोनों या एक' ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने यह बतलाया कि जहाँ विरोध श्लेषमिश्रित रहता है वहाँ भी इसके अनेक भेद होते हैं। इस [विरोध] का आगे कहे जाने वाले विरोधमूलक अलंकारों से भेद दिखलाते हैं—'एक' इत्यादि कहकर। 'जडीकरण = शीतकरण और तापकरण = तपाना इन दोनों विकारों का आश्रय एक ही है अतः वहाँ विरोध को एक ही स्थान में रहना माना जा सकता है। 'विषयभेद = अलग-अलग रहने पर' अर्थात् कार्य और कारण आदि का विषय एक होने पर भी स्थान में भिन्नता आदि के बतलाने से।

विमर्श :—पूर्व इतिहास—

विरोधालङ्कार के उपर्युक्त दस भेदों का निर्देश पहले पहल रुद्रट ने किया है। रुद्रट के पूर्व उद्भट, वामन और भामह ने विरोध का जो निर्वचन किया है उससे विरोध का मूलभूत रूप निखरता नहीं है।

भामह—भामह ने विरोध का निरूपण इस प्रकार दिया है—

'गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियाभिधा।
या विशेषाभिधानाय विरोधं तं विदुर्बुधा' ॥

यथा—

उपान्तरूढोपवनच्छायाशीतापि धूरसौ।
विदूरदेशानपि वः सन्तापयति विद्विषः॥

—विशेषता बतलाने के लिए गुण या क्रिया के विरुद्ध अन्य क्रिया का जो उल्लेख उसे विद्वान् लोग विरोध कहते हैं। यथा—

—'पास में ही लगे उपवनों की छाया के समान शीतल होने पर भी आपकी यह धुरी [राज्यभार] सदूर देश में भी रह रहे शत्रुओं को तपा रही है।' यहाँ एक ही राज्यभार-रूपी पदार्थ में शीतलतारूपी गुण के साथ उसके विरुद्ध संतापक्रिया बतला दी गई है। भामह के इस निरूपण में गुण और क्रिया की जो चर्चा है वही है परवर्ती दस भेदों की कल्पना का स्रोत। इतने पर भी भामह का निरूपण अपूर्ण है।

वामन—वामन ने विरोध का मर्म समझ लिया था किन्तु वे उसको असंगति से भिन्न नहीं कर सके थे। इनका निरूपण इस प्रकार है—

[सू०] विरुद्धाभासत्वं विरोधः।

[वृ०] अर्थस्य विरुद्धस्येवाभासत्वं विरुद्धाभासत्वम्।

यथा—(१) 'पीतं पानमिदं त्वयाद्य दयिते। मत्तं ममेदं मनः०।

(२) 'सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः।'

—विरुद्धाभासत्व विरोध। विरुद्धाभासत्व का अर्थ है किसी पदार्थ में विरुद्धता-सी प्रतीत होना। यथा—

(१) 'हे प्रिये ! आसव पिया है तुमने, किन्तु नशा चढ़ा है हमारे चित्तको।

(२) बाला है वह, अप्रौढ़ मन वाले हो रहे हैं हम, स्त्री है वह किन्तु कातर हो रहे हैं हम०।'

स्पष्ट ही वामन का विरोधसूत्र सर्वस्वकार तथा रत्नाकरकार ने ज्यों का त्यों अपना लिया है, किन्तु वामन ने जो उदाहरण दिए हैं वे असंगति के उदाहरण हैं, अतः उक्त आचार्यों ने उन्हें छोड़ दिया है।

उद्भट—उद्भटाचार्य ने विरोध पर भामह की ही पदावली को इस प्रकार उतार दिया है—

'गुणस्य वा क्रियाया वा विरुद्धान्यक्रियावचः।
यद्विशेषाभिधानाय विरोधं तं प्रचक्षते ॥'

उदाहरण भामह का ठीक था किन्तु उद्भट ने उसे छोड़ अपना एक ऐसा पद्य दिया है जो स्पष्टतः विषमालंकार का उदाहरण है—

'भवत्याः क्वायमाकारः क्वेदं तपसि पाटवम्'

'आपकी यह आकृति कहाँ और कहाँ यह तपस्या में तत्परता।' कालिदास की 'तपः क्व वत्से ! क्व च तावकं वपुः—' यह उक्ति ही उक्त पदार्थ में ढाल दी गई है। स्पष्ट है कि उक्त दोनों आचार्यों ने भामह के ही समान जातिविरोध आदि अवान्तर भेदों की ओर ध्यान नहीं दिया। न तो इन आचार्यों ने विरोध में श्लेष का अस्तित्व ही बतलाया है।

रुद्रट—रुद्रट ने विरोधलंकार का दो अलग-अलग प्रकरणों में प्रतिपादन किया है। एक अतिशय प्रकरण में और दूसरा श्लेष प्रकरण में। श्लेष प्रकरण के विरोध को उन्होंने ठीक उसी प्रकार विरोधश्लेष नाम दिया है जिस प्रकार व्याजस्तुति को व्याजश्लेष। इस प्रकरण में रुद्रट ने विरोधाभास नामक एक स्वतन्त्र अलंकार भी माना है। इस प्रकार स्पष्टरूप से रुद्रट ने विरोध में श्लेष का अस्तित्व भी स्वीकार किया है। रुद्रट का विरोध निरूपण इस प्रकार है—

लक्षण—

'यस्मिन् द्रव्यादीनां परस्परं सर्वथा विरुद्धानाम्।
एकत्रावस्थानं समकालं भवति स विरोधः ॥' ९।३०॥

—जहाँ परस्पर में सर्वथा विरुद्ध द्रव्य आदि का एक ही स्थान में एकसाथ अस्तित्व दिखलाया जाय वह विरोध [नामक अलङ्कार] होता है।' इस लक्षण से स्पष्ट है कि रुद्रट के मन में विरोध और असंगति का वह भेदक तत्त्व भी स्पष्ट था जिसे सर्वस्वकार ने विरोध-प्रकरण के अन्त में विषयैक्य और विषयभेद नाम से दिया है। रुद्रट के लक्षण में अधिकरणैक्य के साथ ही समयैक्य का भी सन्निवेश है जो अत्यन्त अपेक्षित है। विरुद्ध वस्तुओं का अधिकरणैक्य यदि भिन्न-भिन्न समय में बतलाया जाए तो उसमें विरोध मुखर नहीं हो पाता।

भेदों के विषय में रुद्रट की धारणा मम्मट, सर्वस्वकार आदि परवर्ती आचार्यों को प्रभावित करती हुई भी अंशतः भिन्न है। इन्होंने केवल नौ ही भेद स्वीकार किए हैं। दशम जातिद्रव्यविरोध भेद का खण्डन किया है। रुद्रट की भेदगणना भी बहुत स्पष्ट है। वह इस प्रकार है—

'अस्य सजातीयानां विधीयमानस्य सन्ति चत्वारः।
भेदास्तथासमान पञ्च त्वन्ये तदन्येषाम्॥
जातिद्रव्यविरोधो न समवत्येव तेन न पठेते। ११, २२॥

—जब यह विरोध सजातीय पदार्थों का [अर्थात् द्रव्य का द्रव्य के साथ, जाति का जाति के साथ, गुण का गुण के साथ तथा क्रिया का क्रिया के साथ] होता है तो इसके उन्हीं नामों के चार भेद होते हैं। इनसे भिन्न [विजातीयों] के साथ जो विरोध होता है उससे पाँच ही भेद होते हैं [जाति गुण, जातिक्रिया, गुणक्रिया, गुणद्रव्य, क्रियाद्रव्य—के विरोध]। जाति और द्रव्य का विरोध हो ही नहीं सकता, अत ये [विजातीय] भेद छ नहीं माने जा सकते।' उक्त जात्यादि के विरोध के अभावों के भेदों की जो चर्चा विमर्शिनी में मिलती है उसका भी स्रोत रुद्रट ही है। इन्होंने लिखा है—

'यत्रावश्यभावी ययोः सजातीययोर्भवेदेकः।
एकत्र विरोधवतोस्तयोरभावोऽयमन्यस्तु॥ ९।३३॥

—'जहाँ ऐसे दो सजातीय पदार्थ जो परस्पर में विरुद्ध हों, और जिन दो में से किसी एक का [अभाव रहने से दूसरे का] अस्तित्व अवश्यभावी हो, तथापि यदि दोनों का ही अभाव दिखलाया जावे तो वह भी यह [चार सजातीयों के आधार पर चार] प्रकार का विरोध होता है।' रुद्रट ने उक्त सभी भेदों के उदाहरण दिए हैं। क्रिया से क्रिया के और क्रिया से द्रव्य के विरोध के उदाहरण सर्वस्वकार ने रुद्रट से ही लिए हैं। इनमें से प्रथम में सजातीय विरोध है और द्वितीय में विजातीय विरोध। शेष के उदाहरण रुद्रट से इस प्रकार लिए जा सकते हैं—

द्रव्य से द्रव्य का विरोध :—

अत्रेन्द्रनीलभित्तिषु गुहासु शैले सदा सुवेलाख्ये।
अन्योन्यानभिभूते तेजस्तमसी प्रवर्तेते॥'

—'यहाँ सुवेल नामक गिरि पर जो इन्द्रनील मणि की भित्तियों से बनी गुफाएँ हैं उनमें तेज और तम दोनों परस्पर से अभिभूत हुए बिना फैलते रहते हैं'। यहाँ तम और तेज दोनों पद द्रव्यवाचक पद हैं, अतः यहाँ विरोध द्रव्यगत हुआ।

गुण से गुण का विरोध—

'भगवन्! परमसि विमलो विततामध्वरधूममलिनोऽपि'।

'हे महादेव! तुम यज्ञधूम से मलिन होते हुए भी अत्यन्त निर्मल हो।' यहाँ मलिनत्व और निर्मलत्व गुणों का विरोध है। क्रिया से क्रिया के विरोध का उदाहरण रुद्रट ने भी 'जडयति च सन्तापयति च'—इसी पदावली के पद्यद्वारा दिया है। जाति से जाति के विरोध का उदाहरण—

'एकस्यामेव तनौ विभर्ति युगपन्नरत्वसिंहत्वे ।
मनुजत्ववराहत्वे तथैव यो विभुरसौ जयति ॥'

—'जो परमेश्वर एक ही शरीर में एक साथ नरत्व और सिंहत्व को धारण करता है, इसी प्रकार मनुष्यत्व और वराहत्व को, वह प्रणम्य है।' यहाँ नरत्व जाति का पशुत्व व्याप्य जाति सिंहत्व और वराहत्व के साथ विरोध है। विजातीय भेदों में—

द्रव्यगुणविरोध—

'तेजस्विना गृहीतं मार्दवमुपयाति पश्य लोहमपि'।

—'तेजस्वी [अग्नि] द्वारा गृहीत लोहा भी कोमलता को प्राप्त हो रहा है।' यहाँ लोह द्रव्य है कठिन किन्तु बतलाया जा रहा है कोमल।

गुणक्रियाविरोध—

'सा कोमलापि दलयति मम हृदयम्।'

'कोमल होते हुए भी वह सुन्दरी मेरा हृदय दल रही है।'

जातिक्रियाविरोध—

'मथ्नासि येन नितरामबलापि बलान्मनो यूनाम्।'

—'सुन्दरि! तेरा चरित्र अद्भुत है। अबला होते हुए भी तू सभी युवकों का चित्त बलात् मथ रही है।' यहाँ अबलात्व जाति है। मन्थनक्रिया उसके विरुद्ध है। अभाव के चार उदाहरण इस प्रकार हैं—

द्रव्य-द्रव्य के अभाव का विरोध—

'अविवेकितया स्थानं जातं न जलं न च स्थलं तस्याः।'

—'अविवेक के कारण न तो उसके लिए जल में ही जगह रह गई है और न स्थल में।' यहाँ जल और स्थल द्रव्य हैं। सामान्यतः किसी को यदि जल में जगह न मिले तो स्थल में अवश्य ही मिल जानी चाहिए, इसी प्रकार यदि स्थल में जगह न मिले तो जल में मिल जानी चाहिए। यहाँ दोनों में ही उसका अभाव बतलाया जा रहा है।

गुण-गुण के अभाव का विरोध—

'न मृदु न कठिनमिदं मे हतहृदयं पश्य मन्दपुण्यायाः।
यद् विरहानलतप्तं न विलयमुपयाति न च दार्ढ्यम्॥'

—'मुझ अभागिन का यह मृत हृदय न तो मृदु ही है और न कठिन ही। क्योंकि विरहानल में तप कर यह न तो विलय को ही प्राप्त होता और न तो दृढता को ही।' यहाँ हृदय को मृदु न होने पर कठिन होना चाहिए, परन्तु उसमें दोनों का अभाव बतलाया गया है।

क्रिया-क्रिया के अभाव का विरोध—

'नास्ते न याति हंसक पश्यन् गगनं घनश्यामम्।
चिरपरिचितां च नलिनीं स्वयमुप भुक्तातिरिक्तरसाम्॥'

—'आकाश को मेघों से नील तथा चिरपरिचित कमलिनी को स्वयं उपभुक्तशेष रस से युक्त देखकर हंस न तो ठहरता ही है और न जाता ही।' यह ठीक 'न ययौ न तस्थौ' की अभिव्यक्ति का अनुकरण है।

जाति-जाति के अभाव का विरोध—

'न स्त्री न चायमस्त्री जातः कुलपांसनो जनो यत्र।
कथमिव तत् पातालं न यातु कुलमनवलम्बितया॥'

—'जिसमें ऐसा कुलकलङ्की पुरुष पैदा हो गया हो जो न तो स्त्री हो हो और न अबली हो वह कुल निरवलम्ब होकर रसातल को प्राप्त क्यों नहीं हो।' यहाँ 'अबली' शब्द में स्त्रीविरुद्ध अबली और अबल वाला इस प्रकार श्लेष माना जा सकता है। जो न तो स्त्री हो और न नर वह नपुंसक अवश्य ही कुल डुबाने वाला होगा।

श्लेषमूलक विरोध का निर्वचन रुद्रट ने इस प्रकार किया है—

'यत्र विरुद्धविशेषणमवगमयेदन्यदर्थसामान्यम्।

प्रक्रान्तमनोऽन्यादृग्वाक्यश्लेषो विरोधोऽसौ ॥ १०१५ ॥

—'जहाँ प्रसंग प्राप्त अर्थ दूसरा हो किन्तु विशेषण ऐसे हों जिनसे विपरीत अर्थ भी निकलता हो तो ऐसे वाक्यश्लेष को विरोध [श्लेष] कहा जाता है।

उदाहरण—

'सवर्धितविविधाधिककमलोऽप्यवदलितनालिकः सोऽभूत्।

सकलारिदार-रसिकोऽप्यनभिमत पराङ्गनासङ्गः ॥' १०१६ ॥

—'वह सवर्धित कमल [सवर्धित किया है कमल को जिसने वह तथा सवर्धित किया है कमला श्री को जिसने वह] होते हुए भी अवदलितनालिक [अवदलित = नष्ट किया है नालिक = कमल को जिसने तथा नालिक = मूर्ख को जिसने ऐसा] था। इसी प्रकार सकलारिदाररसिक [सकल = सभी अरि = शत्रुओं के दार = स्त्रियों का रसिक = रस लेने वाला, सकल शत्रुओं का दार = दारण करने का रसिक] होने पर भी परस्त्रीसङ्ग से विमुख था।' यहाँ संवर्धितकमल तथा अरिदार-रसिक शब्द प्रकरणविरुद्ध प्रथम अर्थ भी प्रस्तुत करते हैं।

विरोधाभास—

'स इति विरोधाभासो यस्मिन्नर्थद्वयं पृथग्भूतम्।

अन्यद् वाक्य गमयेदविरुद्ध सद् विरुद्धमिव ॥' १०१२२ ॥

—'जहाँ एक ही वाक्य ऐसे दो भिन्न भिन्न अर्थों को अवगत कराए जो वस्तुतः अविरुद्ध रहने पर भी विरुद्ध जैसे प्रतीत हों।' यथा—

'तव दक्षिणोऽपि वामो बलभद्रोऽपि प्रलम्ब एव भुज।

दुर्योधनोऽपि राजन् युधिष्ठिरोऽस्तीत्यहो चित्रम्॥'

—'तुम्हारा बाहु दक्षिण होने पर भी वाम [दक्षिणेतर तथा सुन्दर] है, बलभद्र [बलराम, बल से सुन्दर] होने पर भी प्रलम्ब [प्रलम्बासुर, आजानुलम्बी] है। दुर्योधन [कौरवाधिप या धृतराष्ट्र का प्रथम पुत्र और जिसके साथ मुश्किल से लड़ा जा सके ऐसा] होने पर भी युधिष्ठिर [पाण्डुपुत्र धर्मराज तथा युद्ध में स्थिर] है। यह आश्चर्य की बात है।' इस स्थल की अपेक्षा पूर्वोद्धृत स्थलों में अन्तर केवल इतना है कि इस भेद में स्वय विशेष्यपद श्लिष्ट हैं और उनके द्वितीय विरुद्ध अर्थ भी निकलता है जब कि पूर्वोद्धृत स्थलों में विशेषणांश में ही श्लेष और विरोध है। यह भेद अकिंचित्कर है अतः अमान्य है।

रुद्रट के इस विवेचन में उतना ही विस्तार है जितना प्राचीन तीनों आचार्यों के विवेचन में संक्षेप था। परवर्ती आचार्यों में रुद्रट के विरोधसम्बन्धी विकीर्ण तथ्यों का संकलन और संक्षेप दिखाई देता है।

मम्मट—मम्मटाचार्य ने विरोध का दसवाँ भेद भी मान लिया है किन्तु अभाव तथा श्लेष और आभास के आधार पर किए भेदों को अलग नहीं गिनाया है। मम्मट इन सब भेदों को विरोध का ही अंग मानते हैं। मम्मट के अनुसार विरोध का लक्षण इस प्रकार है—

'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद् वचः।'

—'विरोध वह जिसमें विरोध न रहने पर भी बात ऐसी कही जाय कि विरोध आभासित हो।' इसके भेद गिनाते हुए मम्मट ने लिखा—

'जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ।
क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ॥'

—'जाति का विरोध जाति आदि चारों से होता है, गुण का गुण आदि तीन से, क्रिया का क्रिया और द्रव्य दो से तथा द्रव्य का केवल द्रव्य से ही इस प्रकार विरोध के दस भेद होते हैं।' इस प्रकार मम्मट ने जाति का द्रव्य के साथ विरोध माना किन्तु रुद्रट का खण्डन नहीं किया है। उन्होंने इसका उदाहरण यह दिया है—

सृजति च जगदिदमवति संहरति च हेलयैव यो नियतम् ।
अवसरवशतः शफरो जनार्दनः सोऽपि चित्रमिदम् ॥

—'जो परमेश्वर, इस संसार को खेल-खेल में बनाता, पालता और मिटाया करता है वह भी अवसर आने पर मछली बना यह आश्चर्य की बात है।' यहाँ भगवान् विष्णु एक हैं अतः द्रव्यरूप हैं। मछली का वाचक शफर शब्द जातिवाचक है क्योंकि मछलियाँ अनेक होती हैं। विष्णु भगवान् में शफरत्व जाति का रहना स्थितिविरुद्ध है अतः यहाँ जातिद्रव्यविरोध है। सर्वस्वकार ने 'परिच्छेदातीतः०' तथा 'अयं वारामेकः०' पद्य भी मम्मट के विरोधोदाहरणों में से ही लिए हैं। मम्मट ने भी इन पद्यों में क्रियाक्रियाविरोध तथा क्रियाद्रव्यविरोध माना है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जहाँ रुद्रट के अभावमूलक विरोधों को मम्मट ने नहीं अपनाया वहाँ मम्मट द्वारा अपनाए दस भेदों को सर्वस्वकार ने आदर नहीं दिया। परवर्ती -

शोभाकर—शोभाकर मित्र ने अलंकाररत्नाकर में जाति, गुण, क्रिया, धर्ममात्र, द्रव्य तथा अभाव इनमें पूर्व पूर्व के पदार्थों का बाद-बाद के पदार्थों के साथ विरोध मानकर जाति विरोध के छः, गुणविरोध के पाँच, क्रियाविरोध के चार, धर्मविरोध के तीन, द्रव्यविरोध के दो तथा अभाव-विरोध का एक भेद मान विरोध के भेद ग्यारह के स्थान पर इक्कीस माने हैं। प्रत्येक का उदाहरण उन्होंने भी उसी प्रकार नहीं दिया जिस प्रकार सर्वस्वकार ने। अभावविरोध के लिए जो 'तं वीक्ष्य०' उदाहरण विमर्शिनीकार ने दिया है वह उन्होंने रत्नाकर से ही लिया है। विरोध का लक्षण उन्होंने भी सर्वस्वकार के ही समान वामन से लिया है—'विरुद्धाभासत्वं विरोधः।'

अप्पयदीक्षित—कुवलयानन्दकार ने विरोधालंकार पर कोई विशेष विवेचन नहीं किया है। उन्होंने—चन्द्रालोक का ही—

'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास इष्यते'।

—'विरोध यदि आभासरूप हो तो विरोधाभास माना जाता है—' यह लक्षण देकर—

'विनापि तन्वि हारेण वक्षोजौ तव हारिणौ'—

'हे सुन्दरि ! तेरे उरोज बिना हार के भी हारी [हार वाले, आकर्षक] हैं।'—यह उदाहरण दे दिया है।

पण्डितराज—पण्डितराज जगन्नाथ ने विरोध का लक्षण दो विकल्पों में प्रस्तुत किया है—

(१) 'एकाधिकरणसम्बद्धत्वेन प्रतिपादितयोरर्थयोर्भासमानैकाधिकरणासंबद्धत्वम्, एकाधिकरणासम्बद्धत्वभानं वा विरोधः। यद्वा—

(२) 'एकाधिकरणासंबद्धत्वेन प्रसिद्धयोरेकाधिकरण-संबद्धत्वेन प्रतिपादनं सः।'

—'एक ही अधिकरण में सम्बन्धितरूप से प्रतिपादित अर्थों का एक अधिकरण में संबन्धित न होने का आभास अथवा एक अधिकरण में संबन्धित न होने का मान विरोध कहलाता है। अथवा [इसका उल्टा] एक अधिकरण में सम्बन्धित न होने वाले रूप से प्रसिद्ध अर्थों का एक अधिकरण में सम्बन्धितरूप से प्रतिपादन विरोध होता है।' स्पष्ट ही रुद्रट की प्रथम विरोध-परिभाषा का यह नव्यन्यायमूलक विशदीकरण है। तब भी इसमें एककालत्व को छोड़ दिया गया है। पण्डितराज ने 'आभास' का अर्थ किया है 'कुछ-कुछ भासित होने वाला' = 'आ = ईषद् भासत इत्याभास'। इन्होंने इक्कीस भेदों को न मान दस भेदों को ही स्वीकार किया है। यद्यपि अभावमूलक भेदों का निरूपण भी कर दिया है। विशेषता यह है कि पण्डितराज ने धर्ममात्र तथा अभाव को जात्यादि के भीतर ही अन्तर्भूत मान लिया है। उनका कहना है—'जात्यादिरिति धर्ममात्रं विवक्षितम्, उपलक्षणपरत्वात्, तेन 'य. बालकोऽपि पुराणपुरुष.' 'अगोद्धारकोऽपि नागोद्धारकः' इत्यादौ सखण्डोपाधेरभावस्य च परिग्रहः।'

—'जात्यादि का अर्थ है धर्ममात्र। अतः जो 'बालक होते हुए भी पुराणपुरुष है, जो अगोद्धारक [वृक्ष का उद्धारकर्त्ता] होते हुए भी नागोद्धारक [वृक्ष का उद्धार न करने वाला, नाग = कुवलयापीड हाथी का उद्धारक] है—' इत्यादि स्थलों में उपलब्ध पुराणपुरुषत्व आदि सखण्डोपाधि तथा अभाव का संग्रह भी हो जाता है।' पण्डितराज ने उक्त दस भेदों को भी सर्वस्वकार के ही समान अहृद्य माना है और कहा है—

'वस्तुतो जात्यादिभेदानामहृद्यत्वाच्छुद्धत्वश्लेषमूलत्वाभ्यां द्विविधो ज्ञेयः।'

—'सत्य यह है कि जात्यादि भेदों में कोई चमत्कार नहीं है अतः विरोध के शुद्ध और श्लिष्ट इस प्रकार केवल दो ही प्रकार का मानना चाहिए।' [रसगङ्गाधर विरोधप्रकरण]।

विश्वेश्वर—विश्वेश्वर ने भी मम्मट से ही मिलती पदावली में—

'अविरोधेऽपि विरोधो यत्रोक्तः स्याद् विरोधः सः।
स्याज्जातेर्गुणकर्मद्रव्याणां स्वस्वपरयोगात् ॥'

इस प्रकार विरोध का लक्षण तथा उसके दस ही भेद स्वीकार किए हैं।

सञ्जीविनीकार श्रीविद्याचक्रवर्त्ती ने विरोध के सर्वस्वकारकृत संपूर्ण विवेचन का सार संग्रह इस प्रकार किया है—

'विरोधस्तु तदाभासो जात्याद्यर्थसमाश्रयः।
तद्वैचित्र्याद् दशविधो विषयैक्ये व्यवस्थितः ॥'

—'विरोध कहलाता है विरोध का आभास। यह जाति आदि पर निर्भर रहता है और इनकी विशेषता से दस प्रकार का होता है। यह वहीं होता है जहाँ विषयैक्य रहता है।'

[सर्वस्व]

एवं विरोधमुक्त्वा विरोधमूला अलंकाराः प्रदर्श्यन्ते। तत्रापि कार्यकारणभावमूलत्वे विभावनां तावदाह—

[सू० ४२] कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिर्विभावना।

इह कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानात् कार्यस्य कारणमन्तरेणासंभवः। अन्यथा विरोधो दुष्परिहरः स्यात्। यदि तु कयाचिद् भङ्ग्या तथाभाव

उपनिबध्यते तदा विभावनाख्योऽलंकारः। विशिष्टतया कार्यस्य भावनात्। सा च भङ्गिर्विशिष्टकारणाभावे कार्योपनिबन्धः। अप्रस्तुतं कारणं वस्तुतोऽस्तीति विरोधपरिहारः। कारणाभावेन चोपक्रान्तत्वाद् बलवता कार्यमेव बाध्यमानत्वेन प्रतीयते, न तु तेन कारणाभाव इत्यन्योन्यबाधकत्वानुप्राणिताद् विरोधालंकाराद् भेदः। एवं विशेषोक्तौ कार्याभावेन कारणसत्ताया एव बाध्यमानत्वमुन्नेयम्। येन सापि विरोधाद् भिन्ना स्यात्।

इह च लक्षणे यद्यप्यन्यैः कारणपदस्थाने क्रियाग्रहणं कृतं तथापीह कारणपदमेव विहितम्। नहि सर्वैः क्रियाफलमेव कार्यमभ्युपगम्यते। वैयाकरणैरेव तथाभ्युपगमात्। अतो विशेषमनपेक्ष्य सामान्येन कारणपदमेवेह निर्दिष्टम्।

इस प्रकार विरोध का निर्वचन किया। अब विरोधमूलक अलंकार बतलाए जा रहे हैं। इनमें भी कार्यकारणभावमूलक अलंकारों में प्रथमतः विभावना का निर्वचन करते हैं—

[सू० ४२] कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति [बतलाई जाए तो अलंकार की संज्ञा] विभावना [होती है]।

[वृ०] यहाँ कारण के होने न होने पर कार्य का होना न होना निर्भर रहता है इसलिए कारण के बिना कार्य की निष्पत्ति संभव ही नहीं होती। ऐसा न हो तो विरोध का परिहार करना संभव न हो। इतने पर भी यदि किसी प्रकार वैसा [कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति का] वर्णन किया जाता है तो वहाँ अलंकार विभावना नामक होता है, क्योंकि इसमें 'वि = विशिष्ट-रूप से कार्य का भावन = उत्पादन यह व्युत्पत्ति लागू होती है। वह प्रकार है विशिष्ट [प्रसिद्ध] कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति बतलाना। यहाँ आने वाला विरोध 'अप्रस्तुत कारण वस्तुतः विद्यमान है' इस ज्ञान से हट जाता है। यहाँ कथन का आरम्भ कारणाभाव के प्रतिपादन से होता है अतः वही बलवान् होता है, फलतः इसके द्वारा कार्य ही बाधित होता-सा प्रतीत होता है, न कि उस [कार्य] के द्वारा कारणाभाव [बाधित होता है], फलतः अन्योन्यबाधकत्व पर निर्भर विरोध नामक अलंकार से [इस अलंकार का] अन्तर हो जाता है। इसी प्रकार विशेषोक्ति में कार्याभाव के द्वारा कारणसद्भाव बाधित होता प्रतीत होता हुआ जानना चाहिए। फलतः वह भी विरोध से भिन्न सिद्ध होती है।

यद्यपि यहाँ लक्षण में [भामह, वामन, उद्भट और मम्मट इन] अन्य आचार्यों ने कारण-शब्द के स्थान पर क्रियाशब्द अपनाया है तथापि [ग्रन्थकार ने] यहाँ कारणशब्द का ही विधान किया, क्योंकि ऐसा नहीं है कि कार्य को क्रिया का ही फल सभी [दार्शनिक] मानते हों। वैसी मान्यता तो केवल वैयाकरणों की ही है। इस कारण विशिष्ट [केवल वैयाकरण की अभिमत पदावली] को छोड़ यहाँ [विभावनालक्षण को] सामान्य [सर्वमान्य] बनाने के लिए कारण पद का उपयोग किया।

विमर्शिनी

तावदिति प्रथमम्। कारणाभावे कार्योत्पत्तेरत्यन्तं विरुद्धत्वात्। आदेति। कारणाभाव इत्यादिना। तत्र तावत् कार्यस्य कारणपरतन्त्रतां दर्शयति—इहेत्यादिना। यदुक्तम्—

'यो हि येन विना नास्ति यस्मिंश्च विद्यते क्रिया।
तदेव कारणं तस्य नान्यत् कारणमुच्यते ॥' इति।

अन्यथेति। यदि कारणं विनापि कार्यस्य संभव उपनिबध्यत इत्यर्थः। ननु यद्येवं तत्कथं कारणाभावे कार्योत्पत्तिरूपा विभावना भवतीत्याशङ्क्याह—यदि त्वित्यादि। तथाभाव इति कारणाभावे कार्योत्पत्तिः। अत एव कार्यस्य विशिष्टत्वम्। सेति। यया भङ्ग्या कारणं विनापि कार्यमेव उपनिबध्यत इत्यर्थः। विशिष्टेति प्रसिद्धम्। विरोधपरिहार इति। अप्रसिद्धस्य कारणान्तरस्य प्रस्तुतत्वात्। ननु यद्येवं तत्कथमयं विरोध एव न भवतीत्याशङ्क्याह—कारणेत्यादि। तेनेति कार्येण। यदुक्तम्—

'कारणस्य निषेधेन बाध्यमानः फलोदयः।
विभावनायामाभाति विरोधोऽन्योन्यबाधनम्॥
अतो दूरविभेदोऽस्या विरोधेन व्यवस्थितः॥' इति।

एवमेव प्रसङ्गाद् विशेषोक्तेरप्याह—एवमित्यादि। एतत्कल्पितप्रायमपपाठः। तथा हि—'हरतापि तनुं यस्य' इत्यादौ बलाहरणेन कार्यभावेन तनुहरणरूपं कारणं न बाध्यते अपि तु सत्यपि तनुहरणाख्ये सामग्र्ये कथं न बलं हृतमिति कार्याभावस्यैव बाध्यत्वेन प्रतीतिः। तस्मात् 'एवं विशेषोक्तौ कारणसत्तया कार्याभावस्यैव बाध्यमानत्वमुन्नेयम्' इति पाठो ग्राह्यः। एतदेव राजानकतिलकेनाप्युक्तम्—'कारणसामग्र्यमिह बाधकत्वेनैव प्रतीयते कार्यानुत्पत्तिस्तु बाध्यत्वेन' इति। ग्रन्थकृत् प्रायस्तन्मतानुवर्त्यैव। तदुक्तसमानन्यायोऽस्माभिः पाठो दर्शितः। येनेति। एकस्यैव बाध्यत्वेन प्रतीतेः। ननु च 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि यत्फलस्य विभावनम्। ज्ञेया विभावना—' इत्यादिभीमटादिभिरेतल्लक्षणे क्रियाग्रहणं कृतमिति कथमिह तदुल्लङ्घनेन कारणग्रहणं कृतमित्याशङ्क्याह—इहेत्यादि। सर्वैरिति यौद्धादिभिः। अत इति। वैयाकरणैरेव क्रियाफलस्य कार्यत्वाभ्युपगमात्। सामान्येनेति। सर्ववादिसाधारणतयेत्यर्थः। सर्ववादिसाधारणोऽयं ग्रन्थः।

तावत् = प्रथमतः। इसलिए कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति अत्यन्त विरुद्ध होती है। आह—निर्वचन करते हैं, 'कारणाभाव०' इत्यादि के द्वारा। यहाँ पहले कार्य को कारण पर निर्भर बतलाते हैं—'इह०' इत्यादि के द्वारा। जैसा कि कहा है - 'जो जिसके बिना [सम्भव] नहीं होता तथा जिसमें क्रिया रहती है वही उस [कार्य] का कारण होता है। अन्य किसी को कारण नहीं कहा जाता।' अन्यथा = अर्थात् यदि कारण के बिना भी कार्य की निष्पत्ति बतलाई जाती है। यदि ऐसा है तो कारण के अभाव में कार्योत्पत्तिरूपी विभावना कैसे मानी जाती है—ऐसी शंका कर कहते हैं—यदि तु। तथाभावः = वैसा वर्णन अर्थात् कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन। इसीलिए यहाँ कार्य विशिष्ट [असामान्य] हुआ। सा = जिस प्रकार से कारण के बिना भी कार्य की उत्पत्ति बतलाई जाती है। विशिष्ट = प्रसिद्ध। विरोधपरिहार = क्योंकि वहाँ अन्य कोई अप्रसिद्ध कारण उपस्थित रहता है। यदि ऐसा है तो यह [विभावना] विरोध ही क्यों नहीं मान ली जाती' इस शंका पर उत्तर देते हैं—कारण इत्यादि। तेन = उससे = कार्य से। जैसा कहा है—'विभावना में कारणाभाव से कार्योत्पत्ति का बाध प्रतीत होता है, जब कि विरोध में एक दूसरे से एक दूसरे का बाध। इसलिए विरोध से इस [विभावना] का पर्याप्त अन्तर है।'

इसी प्रसंग में विशेषोक्ति से भी विरोध का भेद बतलाते हुए लिखते हैं—एवम् इत्यादि के द्वारा। वस्तुतः पंक्ति का यह रूप किसी प्रतिलिपिकार की कल्पना है, जो गलत है। क्योंकि [आगे दिए जाने वाले] 'हरतापि तनुम्' पद्य में और ऐसे ही अन्य स्थलों में 'बल के न हरे जाने—' रूप कार्योत्पत्ति से 'शरीर का हरा जाना' रूप कारण बाधित नहीं होता। प्रत्युत 'शरीर-

हरणरूप कारण के रहने पर भी बल का हरण क्यों नहीं हुआ' इस मानसविकल्प के द्वारा कार्य का अभाव ही बाधित प्रतीत होता है। इसलिए यहाँ मूल पाठ यह मानना चाहिए—'एवं विशेषोक्तौ०' = 'इसी प्रकार विशेषोक्ति में कारणसद्भाव के द्वारा कार्याभाव बाधित होता समझा जाना चाहिए'। राजानक तिलक ने भी यही कहा है—'यहाँ कारणों की समग्रता बाधक-रूप से ही प्रतीत होती है और कार्य की अनुत्पत्ति बाध्यरूप से।' ग्रन्थकार प्रायः उनके मत का अनुसरण ही करते हैं। अतः हमने उनके [इस उद्धृत] कथन से मिलता हुआ ही पाठ प्रस्तुत किया है। येन = जिससे अर्थात् किसी एक के ही बाध्यरूप से प्रतीत होने के कारण। शंका—'क्रिया का अभाव रहने पर भी फल की जो विशिष्ट उत्पत्ति उसीको विभावना मानना चाहिए'—इत्यादि कहकर उद्भट आदि ने इसके लक्षण में क्रियाशब्द अपनाया है। आपने उसका उल्लंघन कर कारणशब्द का ग्रहण क्यों किया है ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'इह'०-इत्यादि। सर्वैः = बौद्ध आदि के द्वारा। अतः = वैयाकरणों ही ने कार्य को क्रिया का फल स्वीकार किया है। सामान्येन = सामान्यरूप से अर्थात् सभी दार्शनिकों को अभिमतरूप से। [कारण शब्द दे देने से अब] यह मन्य सर्वमान्य हो गया।

[सर्वस्व]

यथा—

'असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात् परं साथ वयः प्रपेदे॥'

अत्र द्वितीये पादे मदस्य प्रसिद्धं यदासवाख्यं करणं तदभावेऽपि यौवनहेतुकत्वेनोपनिबन्धः कृतः। मदस्य च द्वैविध्येऽप्यभेदाध्यवसा-यादेकत्वमतिशयोक्त्या। सा चास्यामव्यभिचारिणीति न तद्भावेनास्या उत्थानम्, अपि तु तदनुप्राणितत्वेन।

इयं च विशेषोक्तिवदुक्तानुक्तनिमित्तभेदाद् द्विविधैव। तत्रोक्तनिमित्तोदा-हृता। अनुक्तनिमित्ता यथा—

'अङ्गलेखामकाश्मीरसमालम्भनपिञ्जराम्।
अनालक्तकताम्राभामोष्ठलेखां च बिभ्रतीम्॥'

अत्र सहजत्वं निमित्तं गम्यमानम्। असंभृतं मण्डनमिति, कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रमिति चात्र विवदन्त—इयमेव विभावनेति केचित्। संभरणस्य पुष्पाणां च मण्डनमस्त्रं प्रत्यकारणत्वाद् वाङ्मात्रमेतत्। एक-गुणहानौ विशेषोक्तिरित्यन्ये। रूपकमेवाधिरोपितवैशिष्ट्यमिति त्वपरे। आरो-प्यमाणस्य प्रकृते संभवात् परिणाम इत्यद्यतनाः।

[(उक्तनिमित्ता) विभावना का उदाहरण] यथा—

'अब वह [पार्वती] अंगयष्टि का साजसज्जारहित अलंकरण, आसवनामरहित मद का कारण, काम का पुष्पभिन्न अस्त्र जो बाल्य के बाद का वय [यौवनारम्भ] उसमें पहुँची। [कुमारसं० १।]

—यहाँ द्वितीय चरण में नशे का जो आसवनामक प्रसिद्ध कारण है उसके अभाव में भी मद की यौवन से उत्पत्ति बतलाई गई है। वस्तुतः [आसवजनित और यौवन-जनित] मद दो अलग-अलग प्रकार के हैं तथापि [एकशब्दवाच्यतामूलक] अतिशयोक्ति के

द्वारा अभेदाध्यवसाय होने [यहाँ] दोनों एक हैं। यह [अतिशयोक्ति] यहाँ [विभावना में] नियमत. रहेगी ही अतः इस [विभावना] की निष्पत्ति उस [अतिशयोक्ति] के बाध से नहीं होती, अपितु उससे अनुप्राणित होकर होती है।

विशेषोक्ति के [ही] समान यह [विभावना] दो प्रकार की होती है उक्तनिमित्ता तथा अनुक्तनिमित्ता। इनमें से उक्तनिमित्ता का उदाहरण [असंभृतम्०] दिया जा चुका है। अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण यह है—

'अङ्गलेखा [अङ्गयष्टि] जो केशर रस के लेप के बिना ही पीत वर्ण की थी तथा ओष्ठलेखा जो बिना आलक्तक के ताम्रवर्ण की थी, को धारण की हुई [पार्वती]।'

—यहाँ अपने आप उत्पन्न होना रूपी कारण [शब्दतः कथित नहीं है, अतः] गम्य है।]

'साजसज्जारहित मण्डन' यह, और 'काम का पुष्परहित अस्त्र' यह [जो अंश है] इस पर कुछ विचारक [हमारे] विरुद्ध मान्यता प्रस्तुत करते और कहते हैं '[वस्तुतः] विभावना यही [अथवा यह विभावना ही] है', [किन्तु सत्य यह है कि] यह उक्तिमात्र है [उक्तिवैचित्र्यरूप अलङ्कार नहीं], क्योंकि साजसज्जा और पुष्प क्रमशः मण्डन और अस्त्र के प्रति कारण नहीं हैं। अन्य आचार्य [वामन आदि] यहाँ [वैचित्र्य का अनुभव करते और] एक गुण की हानि से होने वाली विशेषोक्ति मानते हैं। दूसरे [उद्भटादि] आचार्य वैशिष्ट्य के आरोप से युक्त रूपक मानते हैं। यहाँ आरोप्यमाण [मण्डन, अस्त्र] प्रकृत [वय] में समव है अतः आधुनिक विचारक यहाँ परिणाम स्वीकार करते हैं।

विमर्शिनी

द्वितीय इति। अन्यपादयोर्मे विभावनेत्यर्थः। यौवनहेतुकत्वेनेति। समाधानायाप्रसिद्धं कारणमाश्रित्येत्यर्थः। अन्यथा हि विरोधपरिहारो न स्यात्। ननु वासवप्रमितोऽन्य एव मदो यौवनहेतुकश्चान्य एवेत्यत्र यौवनहेतुक एव विवक्षित इति कथं कारणाभावे कार्यस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्याह—मदस्येत्यादि। द्विविध इति सैव्यदर्परूपे। सेऽयतिशयोक्तिः। अव्यभिचारिणीति। अतिशयोक्तिं विनास्या अनुत्थानात्। अत एवेयमतिशयोक्त्यनुप्राणितैव भवतीति सिद्धम्। तदेवाह—तदनुप्राणितत्वेनेति। यदुक्तमन्यत्रापि—'आश्रितातिशयोक्तिश्च सर्वैव विभावना' इति।

'निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥'

इत्यत्र तु जगत उपादानादिविरहेणैव भवत्कार्यस्य वास्तवत्वाद् विभावनैव नास्तीति कस्यातिशयोक्त्यनुप्राणितत्वं स्यात्। एवम्—

'ण अ रूवं ण अ अद्दी णावि कुलं ण अ गुणा ण विण्णाणं।
एमे अ तह वि कस्स वि को वि अणो वल्लहो होइ॥'

इत्यादावपि ज्ञेयम्। अतश्च क्वचिच्चुद्भवस्यापि संभवात् सर्वत्रास्यातिशयोक्त्यनुप्राणितत्वमिति न वाच्यमिति यदुक्तं तदयुक्तम्। विशेषोक्तिवदिति। विशेषोक्तौ प्राच्यैर्यथोक्तमित्यर्थः।

अत्र चाद्य उदाहरणे द्वितीयपाद एव विभावना व्याख्येया न पुनरन्यैर्यथोक्तमित्याह—असंभृतमित्यादि। केचिदिति विवदन्त इति संबन्धः। अकारणत्वादिति। संभरणादि हिमण्डनादेः स्वरूपम्। यथैवं तर्हात्रान्यः कोऽलंकार इत्याशङ्क्याह—एकेत्यादिना।

अन्य इति वामनीयाः। अपर इत्यौद्भटाः। तृतीयस्तु पक्षो न ग्राह्यः' लेखकपरिकल्पितत्वात्। तथाह्यारोप्यमाणस्य प्रकृते संभव इति न परिणामलक्षणम्। आरोप्यमाणस्य प्रकृत उपयोग इति तस्य लक्षितत्वात्। संभवोपयोगयोश्च नैकत्वम्। भिन्नत्वात्। ग्रन्थकृतापि साहित्यमीमांसायामेतच्छ्लोकविवृतौ पक्षद्वयमेवोक्तम्। लेखकैश्चास्य ग्रन्थस्य प्रतिपक्षमेव विपर्यासः कृतः। तथा चात्रैवासंभृतमित्यादिको ग्रन्थस्तदनुप्राणितत्वेनेत्यस्य पश्चाद्दूषणपक्षोऽपि गम्यमानमित्यस्य पश्चाल्लिखितः। एतच्च न तथा दूषणमित्यस्माभिर्यथास्थित एव ग्रन्थो व्याख्यातः।

द्वितीय = द्वितीय चरण कहने का अर्थ यह है कि अन्य दो [प्रथम तथा तृतीय] चरणों में विभावना नहीं है। 'यौवनहेतुकत्वेन' 'यौवन से जनित अर्थात् समाधान के लिए अप्रसिद्ध कारण की कल्पना कर। अन्यथा विरोध का परिहार न होता। [शंका] आसवजनित मद अन्य ही है और यौवनजनित अन्य हो, यहां यौवनजनित मद ही विवक्षित है तब कारण विद्यमान ही है उस] के अभाव में कार्य की उत्पत्ति कैसे बतलाई जा रही है' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—मदस्य०। द्विविध = क्षीवता [नशा] रूप और दर्प रूप। सा = वह = अतिशयोक्ति। अव्यभिचारिणी = अतिशयोक्ति के बिना इस [विभावना] की निष्पत्ति नहीं होती इसलिए सिद्ध यह हुआ कि यह [विभावना] अतिशयोक्ति से सदा ही अनुप्राणित रहती है। इसी को कहते हैं—तदनुप्राणितत्वेन। जैसा कि अन्यत्र भी कहा गया है—'विभावना सदा अतिशयोक्ति का आलिंगन किए रहती है।'

'बिना उपादान सामग्री के और बिना भित्ति के जगत् रूपी चित्र बनाने वाले अतः श्लाघ्य कला वाले भगवान् शंकर को नमस्कार है।

—यहां तो जगत् उपादान के बिना ही वास्तविकरूप से भगवान् का कार्य सिद्ध होता है अतः यहां [अलंकाररत्नाकरकार द्वारा स्वीकार की गई] विभावना ही नहीं है फलतः अतिशयोक्ति से अनुप्राणित किसे माना जाय। इसी प्रकार—[रत्नाकरकार द्वारा विभावना के लिए उद्धृत]—

'न च रूपं न ऋद्धिर्नापि कुलं न च गुणा न विज्ञानम्।
एवमेव तथापि कस्यापि कोऽपि जनो वल्लभो भवति॥'

—'न तो रूप ही रहता, न ऋद्धि [धन] न कुल, न गुण और शिल्प [विज्ञान] ही। तथापि, ऐसे ही किसी के लिए कोई जन प्रिय होता है।'—इस और ऐसे ही अन्य स्थलों में भी जानना चाहिए। [प्रीति जिस प्रकार सहेतुक होती है उसी प्रकार अहेतुक प्रीति भी होती है, अतः यहां वस्तुकथनमात्र है अलंकार नहीं] और इसीलिए [अलंकाररत्नाकरकार ने 'निरुपादान०' पद्य में अतिशयोक्तिरहित शुद्ध विभावना मानकर सर्वस्वकार की 'विभावना सदैव अतिशयोक्ति से अनुप्राणित रहती है'—इस मान्यता का निराकरण करते हुए जो—] 'कहीं शुद्ध [अतिशयोक्तिरहित] विभावना भी संभव है अतः यह सर्वत्र अतिशयोक्ति से अनुप्राणित रहती है ऐसा नहीं कहना चाहिए'—यह कहा है [अलंकाररत्नाकर पृ० ९४] वह ठीक नहीं है। वह 'विशेषोक्तिवत्' = विशेषोक्ति के समान—' अर्थात् प्राचीन आचार्यों ने जो भेद केवल विशेषोक्ति में बतलाए हैं, वे इस विभावना में भी संभव हैं।

यहाँ जो पहला [असंभृतम्०] उदाहरण है उसमें विभावना केवल दूसरे ही चरण में है ऐसी व्याख्या करनी चाहिए न कि अन्य लोगों ने (?) जैसा कहा है। यही कहने के लिए लिखते हैं—असंभृतं इत्यादि०। 'केचित्' = इसका संबन्ध 'विवदन्ते' से है। अकारणत्वात् = कारण न होने से—अर्थात् संभरण = साजसज्जा आदि तो मण्डन स्वरूप ही हैं, उनसे भिन्न नहीं, जो कारण

है। 'यदि ऐसा है तो यहाँ दूसरा कौन अलंकार है'—ऐसी शंका उठाकर लिखते हैं—एक० इत्यादि। अन्ये = अन्य अर्थात् वामनानुयायी। अपरे = दूसरे अर्थात् उद्भटानुयायी। तृतीय [परिणामपक्ष] अग्राह्य है क्योंकि वह प्रतिलिपिकार द्वारा जोड़ा गया है। इसलिए कि परिणाम का 'आरोप्यमाण का प्रकृत में सम्भव'—यह लक्षण नहीं है। इसका लक्षण तो ग्रन्थकार ने 'आरोप्यमाण का प्रकृत में उपयोग' ऐसा दिया है। सम्भव और उपयोग दोनों एक नहीं हो सकते। वे भिन्न हैं। ग्रन्थकार ने साहित्यमीमांसा में जहाँ इस पद्य की व्याख्या की है वहाँ [विशेषोक्ति और रूपक के] दो ही पक्ष प्रस्तुत किए हैं [परिणाम पक्ष नहीं]। यह तो स्पष्ट है कि लिपिकारों ने इस ग्रन्थ में पदे पदे उलट फेर किए हैं। यहाँ 'असमृतम्' इत्यादि [अर्थात् 'असमृतम्-अयतनाः' इस अन्तिम] ग्रन्थांश को रखना उचित था 'तदनुप्राणितत्वेन' के पश्चात्, किन्तु उसे रखा है 'गम्यमानम्' इसके पश्चात्। यह उतना सदोष नहीं था, इस कारण हमने ग्रन्थ स्थिति को सुधारे बिना ही व्याख्या कर दी है। [विमर्शिनीकार का सुझाव ठीक है। दक्षिणी पोथियों में ऐसा पाठ मिलता भी है]।

विमर्श—सर्वस्वकार ने 'असमृतं०' पद्य में विभावना इसलिए मानी कि उद्भट ने 'अगलेदा०' पद्य में विभावना मानी थी। उद्भट के तुरत कुमारसम्भव के इस पद्य पर कालिदास के कुमारसम्भव के उपर्युक्त 'असमृतम्' पद्य की स्पष्ट ही छाया है। समानभाव वाला होने से सर्वस्वकार ने 'अगलेदा' पद्य को छोड़ 'असमृत' पद्य को अपनाया यद्यपि उन्हें इस पद्य में अरुचि भी है। वस्तुतः उनकी अरुचि निर्मूल है। उनका कहना है कि इस पद्य में केवल द्वितीय चरण में ही विभावना है। प्रथम तथा तृतीय चरण में नहीं। इसका कारण उन्होंने यह माना है कि प्रथम तथा तृतीय चरणों में जिसके अभाव में जिसकी उत्पत्ति बतलाई गई है उनमें परस्पर में कार्य कारणभाव नहीं है। अर्थात् प्रथम चरण में जो भरण और मण्डन हैं वे एक दूसरे के कारण नहीं हैं। वे परस्पर में अभिन्न हैं अर्थात् जो भरण है वही मण्डन है तथा जो मण्डन वही संभरण। इसी प्रकार पुष्प भी काम के बाणों के कारण नहीं स्वयं बाण ही हैं। वस्तुतः संभरण का अर्थ सर्वस्वकार ने ठीक नहीं समझा। वे उसे क्रिया रूप या क्रियाफल समझ गए। कवि की विवक्षा उससे भिन्न है। वह कहना चाहता है कि यौवन के आते ही बिना अलंकरण सामग्री के शरीरयष्टि का रोम रोम अलंकृत हो गया। असमृत शब्द का अर्थ 'संभरण या सामग्री के बिना' है। कालिदास के ही इस पद्य से यह तथ्य स्पष्ट है—

> 'अथ मधु वनितानां नेत्रनिर्वेशनीयं मनसिजतरुपुष्पं रागबन्धप्रवालम्।
>
> अकृतकविधि सर्वाङ्गीणमाकल्पजातं विलसितपदमाद्यं यौवनं स प्रपेदे ॥' [रघु० १८।५२]

'अग्निवर्ण यौवन में पहुँचा। यौवन क्या था, वनिताओं के द्वारा आँखों से पिया जाने वाला मधु था, कामवृक्ष का रागबन्धरूपी प्रवाल से मण्डित पुष्प था, बिना बनावट के अंग अंग का अलंकरण था और विलास का घर था।'

यहाँ 'अकृतकविधि' शब्द से निकलते कृतकशब्द द्वारा कृत्रिमता और कृत्रिमता द्वारा मण्डन के ऊपरी साजसज्जा से बनाए जाने का तथ्य स्पष्ट है। स्त्री और पुरुष के मण्डन में जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती थी कालिदास ने उनका भी उल्लेख राज्याभिषेक के पूर्व हुए अतिथि के अलंकरण में [रघु० १७।२२-२५], तथा शिव और पार्वती के विवाह के प्रकरण [कुमारस. ७] में एक एक करके कर दिया है। 'संभार' शब्द का प्रयोग भी वे सामग्री के लिए करते हैं। रघुवंश में भगवान् राम के यज्ञ का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

> 'विधेरधिकसंभारस्ततः प्रववृते मखः।
>
> आसन् यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥ १५।६२ ॥

'यज्ञ आरम्भ हुआ, जिसमें संभार विधिसे अधिक था और जिसमें यज्ञध्वंसक राक्षस ही रक्षक थे' इस पद्य में विधि से अधिक संभार का अर्थ यह है कि यज्ञ विधान में जितनी सामग्री अपेक्षित थी उससे भी अधिक सामग्री वहाँ थी। कालिदास श्रद्धा और विधि के साथ वित्त भी यज्ञ के लिए अपेक्षित मानते हैं—

'श्रद्धा वित्तं विधिश्चेति त्रितयं तत् समागतम्'—[शाकुन्तल ७]

'शकुन्तला, सर्वदमन तथा दुष्यन्त तीनों का मिलन एक प्रकार से श्रद्धा वित्त और विधि का मिलन है।' इस प्रकार 'असंभृतम्' का अर्थ सामग्री रहित करना ही ठीक है। सामग्री और मण्डन में कार्यकारणभाव सिद्ध ही है। फलतः प्रथम चरण में भी विभावना मानी जा सकती है।

तृतीय चरण में भी विभावना मानी जा सकती है क्योंकि काम के बाण के प्रति पुष्प कारण रूप से प्रसिद्ध है। कालिदास स्वयं लिखते हैं—

'सद्यःप्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे।
निवेशयामास मधुर्द्विरेफान् नामाक्षराणीव मनोभवस्य।' [कु० ३।२७]

— नवीन आम्रपुष्प रूपी बाण तत्काल निकली कोंपलों के लाल लाल पत्तों से युक्त होकर जब पूरा बन चुका तब वसन्त ने उसपर मानों भौरों को कामदेव के नामाक्षर के रूप में जड़ा स्पष्ट है कि पुष्प मृत्तिकास्थानीय है और बाण घटस्थानीय। दूसरे शब्दों में वृक्ष मानों बाँस है, पुष्प बाँस की पतली शाखा अथवा कटी और छँटी डण्डी। बाण नहीं। बाण वह तब बनती है जब उसमें पीछे पंख लग जाएँ। पंख हैं पत्ते। रति विलाप करते हुए वसन्त के लिए एक विशेषण प्रयुक्त करती है—'कुसुमायोजितकार्मुकः'—

'क्व नु ते हृदयंगमः सखा कुसुमायोजितकार्मुको मधुः। [कु० ४।२४]

'तुम्हारा प्रिय मित्र वसन्त कहा है जो पुष्पों से तुम्हारा धनुष बनाया करता था।' इससे स्पष्ट है कि एक पुष्प न तो बाण ही बनता और न चाप ही। बाण और चाप की योजना पुष्पों को गूँथ गूँथ कर की जा सकती है। इसीलिए उपर्युक्त पद्य में आम्रमञ्जरी को बाण कहा है। मञ्जरी विशिष्ट आकार के पुष्प समुदाय का ही नाम होता है। संस्कृत के अन्य कवियों में भी यह अभिप्राय पर्याप्त मात्रा में मिलता है। इस प्रकार 'काम का बाण और 'पुष्प' इनमें भी कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार सर्वस्वकार का यह कथन कविसंमत नहीं कि पुष्प और बाण में कार्य कारणभाव नहीं है। हाँ वे इतना कह सकते थे कि तृतीय चरण में प्रसिद्ध कारण का अभाव प्रतिपादित नहीं है, अपितु अप्रसिद्ध कारण का प्रतिपादन विवक्षित है—'पुष्प व्यतिरिक्त बाण कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। इस कारण यहाँ विभावना के एक अंश कारणभाव का अभाव है फलतः विभावना संभव नहीं। हो तो वह व्यंग्यमात्र हो सकती है, क्योंकि पुष्पव्यतिरिक्त कहने से पुष्प के अभाव में भी बाणनिष्पत्ति की गूँज सुनाई देती है। इस प्रकार प्रथम चरण में तो विभावना निश्चित रूप से विद्यमान है ही तृतीय चरण में विभावना भले ही सिद्ध न हो सर्वस्वकार द्वारा उसके अभाव के लिए दिया हेतु संगत सिद्ध नहीं होता।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी असंभृतम्—'पद्य पर सर्वस्वकार के उद्धृत तर्कों का खण्डन किया है। उनका कहना है कि—'यहाँ यौवन में दो तत्त्व प्रतिपादित किए जा रहे हैं एक तो आसवभिन्नता और दूसरा मदकारणता। इनके प्रतिपादन से विभावना की निष्पत्ति संभव नहीं। वह तब संभव होती जब मद रूपी कार्य की निष्पत्ति बतलाई जाती और बतलाया जाता आसव का अभाव, साथ ही अन्य किसी कारण का अस्तित्व न बतलाया जाता। यहाँ तो यौवन रूपी

कारण का अस्तित्व ही बतलाया जा रहा है अतः विभावना के लिए अपेक्षित कारणाभाव रूपी एक अंग यहाँ नहीं है। यौवन भी आसव के ही समान मद का कारण है। [द्र० रसगंगाधर ५८४ पृ०]

अन्ततोगत्वा पण्डितराज ने यहाँ प्रथम और तृतीय चरण में न्यूनाभेद रूपक मानने की संभावना व्यक्त की है और द्वितीयचरण में प्रतीयमान उत्प्रेक्षा। वस्तुतः इस पद्य में 'असंभृतं मण्डनम्' इस प्रथम चरण में ही हमारे द्वारा प्रतिपादित अर्थ के अनुसार शुद्धतम विभावना संभव है। शेष चरण विवादास्पद हैं।

विभावना का इतिहास—

भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, रुद्रट, मम्मट और सर्वस्वकार के विभावनाविवेचनों से विदित होता है कि विभावना का मूलभूत तत्त्व कारण के अभाव में कार्योत्पत्ति का वर्णन है। यह वर्णन अनेक प्रकार से किया जाता है अतः उक्त आचार्यों में से रुद्रट तथा दण्डी ने विभावना के एकाधिक प्रकार बतलाने का प्रयत्न किया है। उपर्युक्त आचार्यों का कालक्रम पूर्व प्रदत्त अलंकारों के इतिहास में स्पष्ट है अतः यहाँ इनके विभावना लक्षण उपजीव्य-उपजीवक भाव के आधार पर दिए जाते हैं—

भामह—तथा

रुद्रट— 'क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना।
 ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति॥

—'[कारणभूत] क्रिया के अभाव में उसके फल की विभावना [असमव सी उत्पत्ति] ही विभावना [नामक अलंकार] कहलाती है किन्तु यदि समाधान सुलभ हो।' उदाहरण—

भामह = 'अपीतमत्ताः शिखिनः' = पक्षी बिना मधुपानके मत्त थे।'

रुद्रट = सर्वस्वकार द्वारा उदाहृत 'अनरेखाम०' पद्य।

वामन—[सूत्र] क्रियाप्रतिषेधे प्रसिद्धतत्फलव्यक्तिर्विभावना॥'

[वृत्ति] क्रियायाः प्रतिषेधे तस्या एव क्रियायाः फलस्य प्रसिद्धस्य व्यक्तिर्विभावना।

—क्रिया की निषेधोक्ति के साथ साथ उसके फल के [प्रसिद्ध = सिद्ध =] निष्पन्न होने की [व्यक्ति] उक्ति विभावना कहलाती है। उदाहरण = अक्षालित विशुद्ध हृदय।' स्पष्ट है कि भामह के लक्षण की पदावली में वामन ने अपनी ओर से केवल दो नए शब्द जोड़ दिए हैं एक प्रसिद्ध और दूसरा व्यक्ति। ये दोनों शब्द व्याख्यासापेक्ष हैं। संस्कृत में प्रसिद्ध शब्द का प्रयोग सिद्ध अर्थ में भी होता है [द्र० हमारा लेख—'कालिदास के शब्द'—नागरी प्रचारिणी पत्रिका २०१९] व्यक्ति का अर्थ नीचे दिए मम्मट के लक्षण तथा उसकी वृत्ति के अनुसार प्रकाशन है अत एव हमने इसे 'उक्ति' शब्द से अनूदित किया है। मम्मट का लक्षण वामन के लक्षण का अधिक विशद और सारसंक्षेप है—

मम्मट = [सू०] 'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना'।

[वृत्ति] 'हेतुरूपक्रियाया निषेधेऽपि तत्फलप्रकाशनं विभावना।

—हेतुरूप क्रिया का अभाव [अभावोक्ति] रहने पर भी उसके फल की उत्पत्ति [उत्पत्ति कथन विभावना कहलाती है।'

उदाहरण = 'वह वियोगिनी भ्रमरपंक्ति द्वारा न काटने पर भी लोट-पोट हो रही थी' [अलिकुलैरदष्टापि परिवर्त्तते स्म सा]

इस प्रकार उक्त चार आचार्यों में विभावना का स्वरूप प्रायः एक ही पदावली में स्पष्ट किया हुआ मिलता है। इनके उदाहरणों में भी अभिव्यक्ति की एकरूपता मिलती है। सब में विभावना के दोनों अंग स्पष्ट हैं (१) कारण का अभाव और (२) कार्य की उत्पत्ति। दण्डी और रुद्रट ने इन अभिव्यक्तियों में विभावना का समर्थन किया किन्तु उन्होंने अन्य अभिव्यक्तियों पर भी विचार किया। इनके विवेचन इस प्रकार हैं:—

दण्डी = [१] 'प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित् कारणान्तरम्।
[२] यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥

—प्रसिद्ध हेतु को अलग कर जहां कोई अन्य हेतु अथवा स्वाभाविकता प्रकाशित की जाय उसे विभावना कहते हैं।' उदाहरण—

१ = 'अपीतक्षीबकादम्बं जगत्' = शरत्काल में संसार कुछ ऐसा था जिसमें कादम्ब [नीले हंस] बिना मद्यपान के मत्त थे।'

२ = 'अकारणरिपुश्चन्द्रः' = चन्द्रमा बिना कारण के शत्रु है।

इनमें से प्रथम में मत्तता का प्रसिद्ध हेतु मद्यपान हटाकर अन्य हेतु मद्यपानाभाव बतलाया गया है। द्वितीय में चन्द्र को अकारण अर्थात् स्वभावतः रिपु बतलाया गया है। अतः काव्यादर्शकार दण्डी के अनुसार दोनों स्थलों में क्रमशः पूर्वोक्त दोनों विभावनाएं हैं। वस्तुतः मद्यपान का अभाव अन्य कोई कारण नहीं, अपितु प्रसिद्ध कारण मद्यपान का अभाव ही है। इसका ठीक उदाहरण उपरि उद्धृत 'असंभृतं' इत्यादि पूर्ण पद्य है। उसमें यौवनरूपी नवीन कारण प्रस्तुत किया गया है। रुद्रट द्वारा आगे जो तीसरी विभावना बतलाई जाने वाली है उसका उदाहरण 'मदहेतुर-नासवो लक्ष्मीः' भी इसके लिए उपयुक्त उदाहरण कहा जा सकता है। भामह और दण्डी दोनों के उदाहरणों में समानार्थकता विचारणीय है। द्वितीय विभावना में एक सूक्ष्म अन्तर है। यह कि विभावना में प्रायः कारण विशेष का उल्लेख कर उसका अभाव बतलाया जाता है। उपर्युक्त सभी उदाहरणों में मद्यपान, क्षालन, केसर तथा भ्रमरदंश ऐसे ही कारण हैं जिनका अभाव बतलाकर उनके कार्य का सद्भाव बतलाया गया है। 'अकारणरिपुश्चन्द्रः' में ऐसे किसी विशेष कारण का अभाव नहीं बतलाया गया। इस कारण इस उक्ति में उसका आक्षेप द्वारा ज्ञान होता है। ज्ञात होता है कि 'चन्द्रमा का वैसा कोई अहित वियोगी ने नहीं किया जैसा कि राहु आदि के द्वारा किया जाता है, तथापि चन्द्रमा उन बेचारों का वैरी बना हुआ है। इस प्रकार यहां विभावना बन तो जाती है परन्तु वह अस्पष्ट या व्यङ्ग्य रहती है।

रुद्रट = रुद्रट ने कारण के अभाव के कार्य की उत्पत्ति के साथ साथ दो अन्य प्रकारों से भी विभावना मानी है किन्तु इनके ये दोनों प्रकार प्रथम प्रकार में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं तीनों प्रकार क्रमशः इस प्रकार हैं—

१ = 'सेयं विभावनाख्या यस्यामुपलभ्यमानमभिधेयम्।
अभिधीयते यतः स्यात् तत्कारणमन्तरेणैव॥'

—'जहां कोई पदार्थ बिना उसके कारण के प्राप्त होता हुआ बतलाया जा रहा हो उसे विभावना कहते हैं।' उदाहरण = 'शं वो दिश्याद् दिनकृदतैलपूरो जगद्दीपः।'—'वह सूर्य आपका कल्याण करे जो बिना तैल भरे पूरे जगत् में उजाला करने वाला दीपक है।'

२ = यस्यां यथा विकारस्तत्कारणमन्तरेणैव सुव्यक्तः।
प्रभवति वस्तु विशेषे विभावना सेयमन्या तु॥'

—जहां कोई विकार अपने कारण के बिना ही किसी वस्तु में व्यक्त दिखलाया जाय तो वह एक अन्य विभावना होती है। यथा—

'जाता ते सखि सांप्रतमश्रमपरिमन्थरा गतिः किमियम्।
कस्मादमदकस्मादियममधुमदालसा दृष्टिः॥'

—हे सखि! तेरी यह गति बिना श्रम के मन्थर क्यों हो गई है और यह दृष्टि मधुमद के बिना अकस्मात् ही अलसाई क्यों हो गई।'

३='यस्य यत्रैव लोके प्रसिद्धमर्थस्य विगुणे तस्मात्।
अन्यत्रापि तथात्वं यस्यामुच्येत सान्येयम्॥'

कोई विशेषता किसी एक वस्तु में ही प्रसिद्ध हो किन्तु यदि उसे अन्य वस्तु में भी बतला दिया जाए तो वह भी एक प्रकार की विभावना होती है। यथा—'मदहेतुरनासवो लक्ष्मीः'= लक्ष्मी आसव नहीं है और मद का हेतु है।' यहां मदजनकतारूपी गुण है तो प्रसिद्ध केवल आसव में, किन्तु बतलाया जा रहा है वह लक्ष्मी में भी।' वस्तुतः यही वह उदाहरण है जिसके लिए दण्डी का प्रथम लक्षण उपयुक्त ठहर सकता है।

उक्त अध्ययन से स्पष्ट है कि पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने विभावना में उक्तहेतुत्व और अनुक्तहेतुत्व की कल्पना नहीं की। इसका श्रेय प्रथमतः सर्वस्वकार को ही प्राप्त है। यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि प्राचीनों के उदाहरणों में ये दोनों वर्ग बनाए जा सकते हैं। 'अपीतक्षीबता' आदि में अनुक्तनिमित्तता और 'लक्ष्मी अनासव मदहेतु है' में उक्तनिमित्तता अप्रयासलब्ध है।

उक्त अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि विभावना निर्वचन में स्वीकार भामह की परम्परा के अनुयायी है। दण्डी और रुद्रट के नवीन विकल्पों में वे भी मौलिकता नहीं पाते।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—'हेत्वभावे फलोत्पत्तिर्विभावना'—

हेतु के अभाव में फल की उत्पत्ति विभावना' इस प्रकार सर्वस्वकार का अनुसरण ही करते हैं। वे क्रियाशब्द को छोड़ सर्वस्वकार द्वारा सुझाए कारण शब्द को ही लक्षण में स्थान देते हैं। इसी प्रकार निषेध और व्यक्ति शब्द की उलझन से बचने के लिए अलङ्कारसर्वस्वकार ने जो अभाव तथा उत्पत्ति शब्द दिए थे रत्नाकरकार उन्हें भी अपना लेते हैं। इतना अवश्य है कि प्राचीन आचार्यों के समान वे प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि को भी लक्षण में स्थान देते हैं। जहाँ सर्वस्वकार कारण में प्रस्तुतत्व और अप्रस्तुतत्व का निवेश करते हैं वहाँ रत्नाकरकार प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि का निवेश करते हुए लिखते हैं—

'प्रसिद्धस्य हेतोरभावे फलोत्पत्तिर्विभावना। वस्तुतस्त्विहाप्रसिद्ध कारणमस्त्येव, अन्यथा विरोधो दुष्परिहर एव स्यात्।'

—प्रसिद्ध हेतु के अभाव में फल की उत्पत्ति विभावना कहलाती है। यहाँ, सच यह है कि, *अप्रसिद्ध कारण रहता ही है, नहीं तो विरोध का परिहार ही नहीं हो सकता।'*

रत्नाकरकार का सर्वस्वकार से जितने अंश में विरोध है उसे विमर्शिनीकार प्रस्तुत कर चुके हैं।

अप्पयदीक्षित—ने विभावना के छः प्रकार बतलाए हैं—

१—कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति, उदाहरण='अपीतक्षीब०'।

२—अक्षमम हेतु से कार्योत्पत्ति=उदा० काम अतीक्ष्ण बाणों से जगत् को जीत लेता है।

३—प्रतिबन्धक के रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति=उदा०—आपका अभिमर्प नरेन्द्रों [राजा तथा विषवैद्यों] को ही डसता है। सर्पदंश में विषवैद्य प्रतिबन्धक-बाधक होता है।

४—अन्य के कार्य की उत्पत्ति अन्य से = यथा—

यह 'शङ्ख से वीणानाद हो रहा है' यहां गा रही सुन्दरी के कण्ठ के लिए शङ्ख तथा उसके गान के लिए वीणा निनाद का प्रयोग है।

५—विरुद्ध वस्तु से विरुद्ध वस्तु के कार्य की निष्पत्ति यथा—'उसे शीतांशु की किरणें तपा रही हैं।'

६—कार्य से कारण का जन्म = यथा—

तुम्हारे कर कल्पतरु से यशरूपी पयोराशि उत्पन्न हुआ।'

सामान्यतः कल्पवृक्ष ही उत्पन्न होता है समुद्र से। इनमें से वस्तुतः प्रथम भेद को छोड़ शेष पांचों में विरोधालंकार के भेद हैं। पण्डितराज ने भी इसका प्रतिपद खण्डन किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ—'कारणव्यतिरेकसामानाधिकरण्येन प्रतिपाद्यमाना कार्योत्पत्तिः विभावना'—

'कारण के अभाव के साथ-साथ कार्य की उत्पत्ति का बतलाना विभावना'। पण्डितराज ने अपने इस लक्षण के लिए प्रमाणरूप से मम्मट का लक्षण प्रस्तुत किया है—'तदुक्तम्—'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' इति। मम्मट को प्रामाणिक मानते हुए भी क्रिया और कारण के विकल्प में पण्डितराज ने सर्वस्वकार को ही अधिक आदर दिया है।

'निरुपादान'० पद्य में पण्डितराज ने रत्नाकरकार का ही समर्थन किया है। उन्होंने कहा है कि भले ही संसार के प्रति अकेले भगवान् की ही कारणता संभव हो किन्तु संसार रूपी चित्र के प्रति तो भगवान् अकेले कारण नहीं हो सकते। उसके लिए तो मणि आदि की आवश्यकता है ही। भगवान् में तो कोई वर्ण या रंग है नहीं। इस कारण इस पद्य में विभावना सिद्ध हो जाने पर यह भी सिद्ध हो जाता है कि विभावना में अतिशयोक्ति की सहायता अनिवार्य है क्योंकि इस पदार्थ में अतिशयोक्ति नहीं है। पण्डितराज ने कार्यांश में अतिशयोक्ति के अतिरिक्त रूपक या आहार्य अभेद बुद्धि को भी कहीं-कहीं सहायक माना है। 'जगच्चित्र' में यह है। अतिशयोक्ति या रूपक की अनिवार्यता का उद्देश्य 'खल लोग अकारण ही वैरी बन जाते हैं' इत्यादि सामान्य वाक्यों में विभावना का परिहार है। यहां वैररूपी कार्य में न तो अतिशयोक्ति है और न रूपक। 'खल लोग अकारण ही संताप देते हैं इस वाक्य में कार्यांश संताप में अतिशय है, क्योंकि अग्नि आदि का संताप भिन्न होता है और खलजनित संताप भिन्न रहने पर भी यहाँ पण्डितराज ने विभावना स्वीकार नहीं की है। उनका कहना है, जैसा कि हम भी रुद्रट के 'अकारणरिपुश्चन्द्रः' उदाहरण पर कह आए हैं, कि कारण विशेषरूप से उपस्थित रहना चाहिए। यदि 'खलजन बिना ही आग के जलाते रहते हैं' ऐसी योजना हो तो इसमें विभावना मानी जा सकती है। वे यह भी कहते हैं कि जिसका अभाव बतलाया जा रहा हो उस वस्तु को अतिशय या आरोप से युक्त कार्य के अध्यवसायी या आरोप्यमाण अंश के प्रति कारण भी होना चाहिए। अन्यथा विभावना नहीं होगी। उदाहरणार्थ 'खलजन बिना ही अपराध के जलाते रहते हैं'—इस वाक्य में कार्य है जलाना। इसमें अग्नि के द्वारा होने वाले जलन के द्वारा खल के द्वारा होने वाली पीड़ा का अध्यवसाय है। किन्तु अध्यवसायी जलन के प्रति, जिसका अभाव प्रतिपादित है वह अपराध कारण नहीं है। उसके प्रति कारण एकमात्र अग्नि ही सकती है। फलतः अभाव बतलाया जाना चाहिए उस वस्तु का जो कार्य शरीर के विषयीरूपी अंश के प्रति कारण हो।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकलता है कि विभावना में एक ओर जहाँ कार्यांश में अतिशय या आरोप अपेक्षित है वहीं कारणाभावांश में कारणरूप से उक्ति उस वस्तु की होनी चाहिए जो कार्य

शरीर के विषयी-अंश के प्रति कारण हो अर्थात् जो कार्यशरीर के उस अंश के प्रति कारण हो जो अंश विषयी हो, आरोपित किया जा रहा हो या अध्यवसित। पण्डितराज ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण नव्यन्याय की भाषा में इस प्रकार किया है—

'अथ 'लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति' इत्यत्र विभावनापत्तिः [ततः] कारणतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिकत्वेन कारणाभावो विशेषणीयः ...."खला विनैवापराधं भवन्ति खलु वैरिणः इत्यत्रातिव्याप्तनात् कार्यांशोऽतिशयोक्त्यालीढत्वेनाभेदनिश्चयालीढत्वेन वा विशेषणीय। 'खला विनैवापराधं दहन्ति खलु सज्जनान्' इत्यादावतिव्याप्तिवारणाय च 'कार्यांशे यद् विषयितावच्छेदक तदवच्छिन्न'—कार्यतानिरूपितायाः कारणतायाः अवच्छेदकमिह ग्राह्यम्, दाहत्व चेह विषयितावच्छेदकम्, तदवच्छिन्नभिन्नत्वे पीडायाः अध्यवसानात्। न हि दाहत्वावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतायाः अवच्छेदकमपराधत्वम्, अपितु दाहत्वावच्छिन्नाभिन्नत्वेनाध्यवसिता या पीडा तन्निष्ठकार्यतानिरूपितकारणतायाः, इति तदवच्छिन्नप्रतियोगिताकाभावसामानाधिकरण्येन कार्योत्पत्तिवर्णनेऽपि नात्र विभावनाप्रसङ्गः। यदि तु 'खला विनैव दहन दहन्ति जगतीतलम्' इति क्रियते तदा भवत्येव विभावना।" [विभावनान्त, रसगंगाधर]

पण्डितराज के इस विवेचन से विभावना का लक्षण उन्हीं की इस पदावली में ऐसा होगा—

—'उत्पत्तिवर्णनविषयीभूतकार्यशरीरघटकीभूतविषयितावच्छेदकावच्छिन्नकार्यतानिरूपितकारणतावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रतियोगिकाभाववर्णनं विभावना'।

विश्वेश्वर—पण्डितराज के इस प्रकार के सूक्ष्म विवेचन पर विश्वेश्वर ने आपत्ति उठाई है। उन्होंने कहा है कि कारण का विशेषरूप से उपस्थित होना आवश्यक नहीं है और उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध 'निरुपादान०' पद्य दिया है। यहां उपादान संभार के बिना जगच्चित्र के निर्माण की उक्ति में विभावना है और मषी आदि कारणों का मषीत्व आदि रूप से उल्लेख नहीं है। उपादान-शब्द से ही उल्लेख है। इस पद्य में स्वयं पण्डितराज भी विभावना मान चुके हैं। इस प्रकार विश्वेश्वर द्वारा स्वयं पण्डितराज ही अपनी मान्यता के विरुद्ध सिद्धान्त उपस्थित करते हुए प्रतिपादित किए गए हैं। चिन्तन से सूझता है कि 'अकारण वैरी' इस उक्ति और निरुपादान 'इस उक्ति में अन्तर स्पष्ट है। कारण का उल्लेख दोनों ही स्थलों में सामान्य रूप से ही है तथापि उसमें अन्तर है। यह अन्तर 'कारण तथा 'उपादानसंभार'—शब्द से ही स्पष्ट है। चित्र का कारण तो परमात्मा भी है परन्तु वह चित्र का उपादान नहीं है। उपादान है रंग। इस प्रकार 'उपादानसंभार' शब्द से चित्र के विशिष्ट कारण का बहुत कुछ स्पष्टीकरण हो जाता है। यद्यपि कारणतावच्छेदकरूप से तो यहाँ मषीत्व आदि की उपस्थिति नहीं होती तथापि पण्डितराज की मान्यता का उद्देश्य उससे खण्डित नहीं होता क्योंकि उनका उद्देश्य जिस किसी प्रकार कारणगत वैशिष्ट्य का ज्ञान हो जाना है। वह 'उपादान संभार' शब्द से हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'अभित्तावेव' पद के द्वारा तो भित्तित्वावच्छिन्नप्रतियोगिताक अभाव उपस्थित है ही। 'तन्वते' में आई 'तनु क्रिया' का अर्थ विस्तार या फैलाव है। उसके लिए भित्ति प्रमुख कारण है। फलतः उसका विशेष रूप से उल्लेख हो जाने पर इस अंश में विभावना अधिक स्पष्ट हो जाती है फलतः 'निरुपादान०' अंश में भी आंशिक अस्पष्टता प्रतिबन्धक नहीं बनती। पण्डितराज की पंक्ति है—

'अत्र हि भगवतः सकाशात् केवलस्य जगत उत्पत्तिर्न कवेरभिप्रेता, किन्तु जगद्रूपस्य चित्रस्य। चित्रस्य च केवलस्योपादानानां मषी-हरितालादीनामाधारस्य भित्त्यादेश्चाभावे केवलाकाशे जागत्यैवोत्पत्तेरसंभवः।' [पृ० ५८०-८० रसगङ्गाधर]

सत्य यह है कि 'निरुपादान०' पद्य में विभावना नहीं व्यतिरेक अलंकार है। सामान्य शिल्पी

से शिव रूपी शिल्पी का अन्तर और उत्कर्ष ही यहाँ चमत्कार का कारण है। विश्वेश्वर का विभावनालक्षण इस प्रकार है—

'हेतुं विनापि कार्यं यत्रोक्तं स्याद् विभावना सा तु।' विश्वेश्वर ने 'असंभृतं' पद्य में अलंकारसर्वस्वकार का समर्थन और पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उनके खण्डन का विरोध किया है। उन्होंने यौवन को ऐसा कारण बतलाया है जिसमें मद के प्रति कारणता पहली बार बतलाई जा रही है जब कि आसव प्रसिद्ध कारण है। अतः विश्वेश्वर के अनुसार प्रसिद्ध कारण के अभाव में यहां विभावना स्वीकार्य ही है भले अप्रसिद्ध कारण यौवन का यहां अस्तित्व रहा आए। विश्वेश्वर पण्डित ने यहां चमत्कार की भी सहायता ली है। कहा है कि क्योंकि इस पद्य में चमत्कार है अतः इसमें विभावना को अलंकार मानना ही होगा। इस प्रकार मतमतान्तरों के बीच विभावना अलंकार का वही स्वरूप सर्वमान्य ठहरता है जो भामह की परम्परा के आचार्य वामन, उद्भट, रुद्रट और मम्मट की भावक प्रतिभाओं से निष्कृष्ट होकर सर्वस्वकार तक आया था।

सर्वस्व के टीकाकार श्रीविद्या चक्रवर्ती ने इसका संक्षेप कारिका में इस प्रकार उपनिबद्ध किया है—

'प्रसिद्धकारणाभावे कार्योत्पत्तिर्विभावना।
कार्योत्पादनवैशिष्ट्याद् द्विधा चेयं निमित्ततः॥'

चक्रवर्ती ने विभावना और विशेषोक्ति के संदेहसंकर के लिए भी भिन्न लिखित कारिका दी है—

'कार्यांशस्य यदा भावाभावौ वक्तुमपेक्षितौ।
विभावनाविशेषोक्त्योस्तदा सन्देहसङ्करः॥'

—'जब कार्यांश के भाव अभाव विवक्षित हों तो विभावना विशेषोक्ति का सन्देहसङ्कर होता है।'

पाठान्तर=विभावना का जो मूल सर्वस्व के निर्णयसागर संस्करण में मिलता है उसपर स्वयं विमर्शिनीकार ने ही आपत्ति व्यक्त कर रखी है। संजीविनीकार ने 'अंगलेखा०' पद्य के बाद की 'अत्र सहजत्वं निमित्तं गम्यमानम्' इस पंक्ति के बाद 'इयं च मालयापि भवन्ती दृश्यते यथा—

अनिद्रो दुःस्वप्नः प्रपतनमनद्रिद्रुमतरं जराहीनः कम्पस्तिमिररहितश्चासमयः।
अनाघातं दुःखं विगतनिगडा बन्धनधृतिः सजीवं जन्तूनां मरणमवनीशाश्रयरसः॥'

—इतना अंश और जोड़ा है तथा इसे मूल माना है। कु० जानकी तथा डॉ० राघवन् के सहसंशोधन में निकले मेहरचन्द संस्करण में यह अंश इसी स्थान पर मूल में मुद्रित भी है। अनन्तशयन से प्रकाशित समुद्रबन्धी प्रति में यह पाठ विभावना निरूपण के अन्त में है। इसी के साथ 'असंभृतं मण्डनम्—०००० इत्यद्यतनाः' यह अन्तिम अंश उसमें विमर्शिनी के सुझाव के ही अनुसार 'अपितु तदनुप्राणितत्वेन' के बाद ही मुद्रित है।

हमारे मत में 'इयं च मालयापि भवन्ती दृश्यते यथा अनिद्रो०' इत्यादि मालाविभावना का प्रतिपादक अंश अवश्य ही प्रक्षेप है। कारण यह है कि मालाविभावना रत्नाकर, विमर्शिनी, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज तथा विश्वेश्वर किसी में नहीं मिलती। 'सर्वस्व में होती तो सभी आचार्यों में उसके प्रति मौन न मिलता। अमूल होने पर भी हमारी दृष्टि में इसका उपयुक्त स्थान विभावना का अन्त है न कि मध्य। इसी प्रकार 'अत्र विवदन्ते' का सम्बन्ध 'केचित्' के साथ बतलाते हुए विमर्शिनीकार ने 'अन्ये', 'अपरे' और 'अद्यतनाः' के साथ अन्वय से उसे

रोक लिया है। हमने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। यह उचित भी है क्योंकि ग्रन्थकार ने सभी मतों को केवल उद्धृत भर कर दिया है जब कि प्रथम 'केचित्'–के मत का खण्डन भी किया है। बीच में सन्देहांश आ जाने से 'विवदन्ते' की 'व्याप्ति' खण्डित हो जाती है। 'भवतना.' वाले पद्य पर विमर्शिनीकार की आपत्ति यथार्थ ही है कि यह किसी पाठक ने अपनी प्रति में स्वयं जोड़ दिया है। सम्पादकों अथवा परवर्ती लिपिकों ने उसे मूल में मिला दिया होगा।

विमर्शिनीकार ने इस प्रसङ्ग में ग्रन्थकार के अन्य ग्रन्थ 'साहित्यमीमांसा' की चर्चा की है। त्रिवेन्द्रम् से सन् १९३४ में छपी साहित्यमीमांसा में यह विषय नहीं मिलता।

[सर्वस्व]

विभावनां लक्षयित्वा तद्विपर्ययस्वरूपां विशेषोक्तिं लक्षयति—

[सू० ४२] कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः।

इह समग्राणि कारणानि नियमेन कार्यमुत्पादयन्तीति प्रसिद्धम्। अन्यथा समग्रत्वस्यैवाभावप्रसङ्गात्। यत्तु सत्यपि सामग्र्ये न जनयति कार्यं सा कंचिद्विशेषमभिव्यङ्क्तुं प्रयुज्यमाना विशेषोक्तिः। सा च द्विविधा—उक्तनिमित्तानुक्तनिमित्ता च। अचिन्त्यनिमित्ता त्वनुक्तनिमित्तैव। अनुक्तस्य च चिन्त्याचिन्त्यत्वेन द्वैविध्यात्। क्रमेण यथा—

'कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै कुसुमधन्वने॥'
'आहूतोऽपि सहायैरेमीत्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः संकोचं नैव शिथिलयति॥'
'स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शंभुना न हृतं बलम्॥'

अत्र सत्यपि दाहलक्षणेऽविकले कारणेऽशक्तत्वाख्यस्य कार्यस्यानुत्पत्तिः शक्तिस्वरूपेणाविरुद्धेन धर्मेणोपनिबद्धा। अवार्यवीर्यत्वं चात्रोक्तं निमित्तम्। तथाह्वानादयः संकोचशिथिलीकारहेतव इति तेषु सत्स्वपि तस्यानुत्पत्तौ प्रियतमास्वप्नसमागमाद्यनुक्तं सचिन्त्यं निमित्तम्। तथा तनुहरणकारणे सत्यपि बलहरणस्य कार्यस्यानुत्पत्तौ निमित्तमनुक्तमप्यचिन्त्यमेव, प्रतीत्यगोचरत्वात्।

कार्यानुत्पत्तिश्चात्र क्वचित्कार्यविरुद्धोत्पत्त्या निबध्यते।

एवं विभावनायामपि कारणाभावः कारणविरुद्धमुखेन क्वचित्प्रतिपाद्यते। तथा च सति,

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि चौर्य-सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥'

इत्यत्र विभावनाविशेषोक्त्योः संदेहसंकरः। तथा ह्युत्कण्ठाकारणविरुद्धं 'यः कौमारहर' इत्यादि निबद्धमिति विभावना। तथा 'यः कौमारहर' इत्यादेः कारणस्य कार्यं विरुद्धं 'चेतः समुत्कण्ठत' इत्युत्कण्ठाख्यं निबद्धमिति विशेषोक्तिः। विरुद्धमुखेनोपनिबन्धात्केवलमस्पष्टत्वम्। साधकबाधकप्रमाणाभावाच्च संदेहसंकरः।

या तु 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः' इति विशेषोक्तिर्लक्षिता सास्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति पृथङ् न वाच्या।

विभावना का लक्षण बताया अब उससे ठीक उल्टे स्वरूप की विशेषोक्ति का लक्षण बताते हैं—
[सू० ४३] 'कारण की समग्रता रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति [बतलाई जाए तो अलंकार की संज्ञा] विशेषोक्ति [होती है]॥

यहाँ यह निश्चित तथ्य है कि सब कारण इकट्ठे होते ही कार्य को निश्चित ही उत्पन्न करते हैं, ऐसा न हो तो उनकी समग्रता [समग्रता] ही नहीं हो। परन्तु समग्रता के रहने पर भी जो उसे कार्य उत्पन्न करती हुई नहीं बतलाया जाता वह विशेषोक्ति होती है। इसका प्रयोग किसी विशेष तथ्य की व्यंजना के लिए होता है। वह दो प्रकार की होती है [१] उक्त निमित्ता तथा [२] अनुक्तनिमित्ता [मम्मट द्वारा प्रतिपादित] अचिन्त्यनिमित्ता तो अनुक्त निमित्ता ही है। क्योंकि अनुक्त [निमित्त] दो प्रकार का होता है [१] चिन्त्य और [२] अचिन्त्य। क्रम से इन के उदाहरण यथा—[उक्तनिमित्ता]—

'कर्पूर के समान जल जाने पर भी जो जन जन में शक्तिमान्, है ऐसे अप्रतिहत पौरुष वाले किन्तु पुष्प के ही धनुष वाले काम को नमस्कार है।' [अनुक्तनिमित्ता में चिन्त्यनिमित्ता—]

'साथियों द्वारा पुकारे जाने पर भी, 'आ रहा हूँ' ऐसा कह कर भी, नींद खुल जाने पर भी और जाने की इच्छा रहने पर भी पथिक [अपना] संकोच शिथिल नहीं कर रहा।' [अनुक्तनिमित्ता में अचिन्त्यनिमित्ता—]

'वह कुसुमायुध अकेला ही तीनों लोकों को जीत लेता है, शंकर ने शरीर छीन कर भी जिसका बल नहीं छीना।'

इन [तीनों] में [से प्रथम में] दाहरूपी अविकल कारण के उपस्थित रहने पर भी अशक्तिरूपी कार्य की अनुत्पत्ति [शक्तिमान् कहकर] शक्तिरूपी धर्म के द्वारा प्रस्तुत की गई है जो [शक्ति] उस [अशक्ति की अनुत्पत्ति] के अविरुद्ध है। इसका कारण अवार्यवीर्यत्व यहाँ कथित है।

[दूसरे पद्य में] इसी प्रकार पुकारना आदि संकोच के शिथिलीकरण में कारण हैं। वे सब विद्यमान हैं तब भी उस [संकोच के शिथिलीकरण] की जो अनुत्पत्ति बतलाई जा रही है उसके कारण स्वप्न में प्रियतमा के समागम आदि हैं जो अकथित अवश्य हैं किन्तु उनकी कल्पना की जा सकती है।

[तृतीय पद्य में] उसी प्रकार 'शरीर का हरण' यह कारण विद्यमान रहने पर भी बलहरण-रूपी कार्य की [जो] अनुत्पत्ति [बतलाई गई है उस] का कारण अकथित भी है और अचिन्त्य [अकल्पनीय] भी। क्योंकि वह समझ में आता नहीं है।

इस [अलंकार] में कार्य की अनुत्पत्ति कहीं कार्य से विरुद्ध वस्तु की उत्पत्ति के द्वारा बतलाई जाती है। इसी प्रकार विभावना में भी कहीं कारणाभाव कारणविरुद्ध वस्तु के [सद्भाव के] द्वारा प्रतिपादित किया जाता है। इस प्रकार—

'वही वर है जिसने कौमार्य दूर किया, वे ही वसन्त की रातें हैं, खिले मालती से सुगन्धित और [धूली] कदम्ब से मिश्रित ये ही हवा के प्रौढ़ झोंके हैं और मैं भी वही हूँ तथापि सुरतव्यापार की उन्हीं मुक्तपूर्व लीलाओं के पुनर्विधान के लिए रेवा के तट पर वेतसतरु के नीचे चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।'

—यहाँ विभावना और विशेषोक्ति का संकर है। क्योंकि यहाँ उत्कण्ठा के कारण के विरुद्ध 'जो कौमार्य को दूर करने वाला है' इत्यादि प्रस्तुत किया गया। इसलिए विभावना हुई। इसी प्रकार 'जो कौमार्य का हरण करने वाला है' इस कारण के कार्य [अनुत्कण्ठा] के विरुद्ध 'चित्त उत्कण्ठित हो रहा है' इत्यादि उत्कण्ठा नामक कार्य यहाँ प्रस्तुत किया गया है इसलिए विशेषोक्ति हुई। इतना है कि ये दोनों अस्पष्ट हैं क्योंकि इनका प्रस्तुतीकरण विरुद्ध वस्तु के द्वारा किया गया है। संकर का संदेहसंकरभेद इसलिए है कि यहाँ न तो किसी एक का साधक प्रमाण है और न अन्य का बाधक प्रमाण ही।

[वामन ने] जो 'एक गुण की कमी की कल्पना करके समता को दृढ़ बनाया जाय तो विशेषोक्ति' इस प्रकार विशेषोक्ति का लक्षण बनाया है वह इस सिद्धान्त के अनुसार रूपक का ही भेद है। इसलिए उसे स्वतन्त्र अलंकार नहीं कहना चाहिए।

विमर्शिनी

तद्विपर्ययेति। कारणसामग्र्ये कार्यानुत्पादात्। तामेवाह—कारणेत्यादि। समग्राणीति सावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति न्यायादसमग्राणां पुनः कार्यजनकत्वं न स्यादिति भावः। अत एवाव्यभिचारायाह—नियमेनेति। अन्यथेति यदा कारणानि कार्यं नोत्पादयन्ति। एवं नैकं किंचन जनकं, सामग्री वै जनिकेति नीत्या समग्राणां कारणानां कार्यजनकत्वं भवत्येवेति तात्पर्यार्थः। यदा त्वेतद्विपर्यय उपनिबध्यते तदा विशेषोक्तिर्भवतीत्याह—यदित्यादि। अत्र च वस्तुतो निमित्तमस्तीति विरोधपरिहारः। तद्धेतुकमेवास्या भेदनिर्देशमाह—सा चेत्यादि। अचिन्त्येत्युक्तानामर्थः। यत्तु तत्तु सम्भवत्येव। अन्यथा ह्यस्या विरोधो दुष्परिहार्यः स्यात्। अविकल इति। समग्रे विरुद्धधर्मत्व शक्यवाक्ययोर्विरोधात्।

अस्याश्च कार्यानुत्पत्तेर्विच्छित्त्यन्तरेण बन्धं दर्शयितुमाह—कार्येत्यादि। यथा कर्पूर इवेत्यादौ। एवमिति। यथैवात्र कार्यानुत्पत्तिर्विरुद्धमुखेनोपनिबध्यत इत्यर्थः। तथा च सतीति। द्वयोरप्यनयोर्विरुद्धमुखेन कार्यकारणभावोपनिबन्धे सतीत्यर्थः। उत्कण्ठाया॰ कारणं कौमारहरवराद्यसंनिधानम्। तस्य विरुद्धं तत्संनिधानम्। तेन कौमारहरवराद्यसंनिधानरूपं कारणं विनाप्युत्कण्ठाया उत्पाद इति विभावना। तथा कौमारहरवरादिसंनिधानरूपस्य कारणस्य कार्यमनुत्कण्ठा, तस्याश्च विरुद्धोत्कण्ठा। तेन सत्यपि कौमारहरवरादिसंनिधानरूपे कारणे समग्रे कार्यस्यानुत्कण्ठारूपस्याभाव इति विशेषोक्तिः। अस्फुटत्वमिति। कार्यकारणयोः साक्षादनपेक्ष्यत्वेनाप्रतीतेः। ननु चात्रानयो॰ किमिति संदेहः, एकपक्षाश्रय एव क्रियतामित्याशङ्क्याह—साधकेत्यादि। ननु 'एतद्धि नाम पुरुषस्यासिंहासनं राज्यम्' इत्यादौ वामनेन या विशेषोक्तिरुक्ता सा किं नोच्यत इत्याशङ्क्याह—या त्वित्यादि। एवमनयैव दिशा 'एकगुणहान्युपचयादिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेष' इति लक्षितो विशेषालंकारोऽप्यस्मिन्दर्शने रूपकभेद एवेति न पृथग्वाच्यः।

तद्विपर्यय उससे उल्टी अर्थात् पूरे पूरे कारण रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति न होना। उसी का लक्षण बतलाते हैं—'कारण'इत्यादि। समग्राणि = समग्र अर्थात् 'कारण कार्य से युक्त हो ही ऐसा

नियम नहीं है' इस प्रकार का जो एक सिद्धान्त है उसके अनुसार असमग्र कारण कार्य के जनक नहीं होते। इसीलिए अव्यभिचार [निरपवादता] बतलाने के लिए कहा 'नियमेन' नियमतः। अन्यथा अर्थात् जब कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करते। इस प्रकार तात्पर्य यह कि 'कोई एक कार्य का जनक नहीं होता, सामग्री जो है वह जनक होती है' इस उक्ति के अनुसार जब सभी कारण उपस्थित रहते हैं तो कार्य उत्पन्न होता ही है। 'जब कभी इसका उलटा बतलाया जाता है तब विशेषोक्ति होती है' इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'यत्तु' इत्यादि।

यहाँ [विशेषोक्ति में] भी [सभी कारण उपस्थित रहने पर भी कार्य न होने में] कोई वास्तविक कारण रहता ही है इसलिए विरोध हट जाता है। इसी [वास्तविक कारण] को लेकर इसके भेद बतलाते हैं 'सा च' इत्यादि। अचिन्त्य अधिक भावुक लोगों ने कहा है वस्तुतः कारण वहाँ भी संभव रहता है। नहीं तो वहाँ विरोध का परिहार ही न हो। **अविकल** = समग्र। विरुद्धधर्मत्व इसलिए कि शक्ति और अशक्ति में परस्पर विरोध रहता है।

यह जो कार्यानुत्पत्ति है उसी को अन्य प्रकार से भी प्रस्तुत किया जाता है। यही बतलाने के लिए कहा 'कार्य' इत्यादि। इसका उदाहरण है 'कर्पूर इव' इत्यादि। **एवम्** = अर्थात् जैसे यहाँ कार्य की अनुत्पत्ति विरुद्ध वस्तु के द्वारा प्रस्तुत की जा रही है उसी प्रकार ००। **तथा च सति** = अर्थात् इन दोनों [विभावना तथा विशेषोक्ति] के ही कार्यकारणभाव का विरुद्ध वस्तु के द्वारा उपनिबन्ध रहने से। उत्कण्ठा का कारण है कौमार्य का हरण करने वाले वर आदि का असन्निधान। उसके विरुद्ध हुआ उनका सन्निधान। इस प्रकार कौमार्यहरणकारी वर आदि के असन्निधान-स्वरूप कारण के बिना भी उत्कण्ठा की उत्पत्ति बतलाई गई। अतः यह विभावना हुई। इसी प्रकार कौमार्य हरण करने वाले वर आदि का सन्निधान कारण है अनुत्कण्ठा रूपी कार्य का। उसके विरुद्ध हुई उत्कण्ठा। इस प्रकार कौमार्य हरणकारी वर आदि का सन्निधानरूपी समग्र कारण रहने पर भी अनुत्कण्ठारूपी कार्य का अभाव बतलाया गया, इसलिए यहाँ विशेषोक्ति हुई। **अस्पष्टत्वम्** = अस्पष्टता, क्योंकि यहाँ कार्य और कारण साक्षात् निषेध्यरूप से प्रतीत नहीं होते। [शंका] अच्छा, इसमें संदेह [संकर] ही क्यों माना जा रहा है, [दोनों में से] किसी एक को ही क्यों स्वीकार नहीं कर लिया जाय' इस पर उत्तर देते हैं साधक इत्यादि [शंका] अच्छा, 'जुआ जो है वह पुरुष के लिए बिना सिंहासन का राज्य है [मृच्छकटिक]' इत्यादि [उक्तियों] में वामन ने [काव्यालंकारसूत्रवृत्ति में] जो विशेषोक्ति बतलाई है वही यहाँ क्यों नहीं मान ली जा रही 'इस पर कहते हैं—'या तु' इत्यादि। इसी प्रकार 'एक गुण की हानि या वृद्धि की कल्पना कर साम्य को दृढ बताना विशेष' [रत्नाकर में नहीं] इस प्रकार जो विशेष नामक अलंकार का लक्षण किया गया है वह भी इस पक्ष में रूपक का ही एक प्रकार सिद्ध होता है इसलिए वह भी स्वतन्त्र अलंकार के रूप में बतलाने योग्य नहीं है।

विमर्श :—विशेषोक्ति का इतिहास :—

सर्वस्वकार ने उदाहरण तो भामह का स्वीकार किया है परन्तु लक्षण उद्भट का। भामह का लक्षण ठीक वामन जैसा ही है। यथा—

भामह—

> 'एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्थितिः।
> विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिर्मता यथा॥'
> 'स एकस्त्रीणि ज' ॥

—एक गुण की कमी बतलाकर विशेषता के प्रतिपादन के लिए जो अन्य गुण की स्थापना वह विशेषोक्ति मानी जाती है'। यथा 'स एकस्त्रीणि' पद्यार्थ। यहाँ शरीर की हानि और बल की स्थापना बतलाई गई है। इसका उद्देश्य कामशक्ति की अपरिहार्यता बतलाना है।

वामन = [सू०] 'एकगुणहानिकल्पनायां साम्यदार्ढ्यं विशेषोक्तिः'।

[वृ०] एकस्य गुणस्य हानेः कल्पनायां शेषैर्गुणैः साम्य यत् तस्य दार्ढ्यं विशेषोक्तिः। रूपकं चेद प्रायेण। यथा 'द्यूतं हि नाम' ॥

किसी एक गुण की हानि की कल्पना कर शेष गुणों से प्राप्त समता का जो दृढ करना वह विशेषोक्ति है। यह प्रायः रूपक ही है। उदाहरण 'जुआ जो है वह।' स्पष्ट है कि वामन में भामह के समान एकगुणहानि की चर्चा तो है परन्तु अन्य गुण की स्थापना और विशेषता के प्रतिपादन की चर्चा नहीं है। वामन ने स्वयं इस प्रकार की विशेषोक्ति को रूपक ही मान लिया है।

उद्भट = 'यत् सामग्र्येऽपि शक्तीनां फलानुत्पत्तिबन्धनम्।

विशेषस्याभिधित्सातस्तद् विशेषोक्तिरुच्यते ॥ ५।४ ॥

दर्शितेन निमित्तेन निमित्तादर्शनेन च।

तस्या बन्धो द्विधा लक्ष्ये दृश्यते ललितात्मकः ॥ ५।५ ॥

—उत्पन्न करने वाली शक्तियों सबकी सब उपस्थित रहे तथापि किसी विशेषता के प्रतिपादन की इच्छा से फल की उत्पत्ति न दिखलाई जाए तो वह विशेषोक्ति कही जाती है। काव्यों में यह दो प्रकार की मिलती है [१] जहाँ निमित्त दिखला दिया जाता है और [२] जहाँ नहीं दिखलाया जाता। यथा :—

'महर्द्धिनि गृहे जन्म रूपं स्मरसुहृद् वयः।

तथापि न सुखप्राप्तिः कस्य चित्रीयते न धीः ॥

—'अत्यन्त समृद्धिशाली घर में जन्म, रूप और काम का मित्र वय। इतने पर भी सुख की प्राप्ति नहीं। किसकी बुद्धि अचरज में नहीं पडती।' यहाँ विधाता की वामता रूपी कारण अनुक्त है। उक्तकारण का उदाहरण—

'इत्थं विसंस्थुलं दृष्ट्वा तावकीनं विचेष्टितम्।

नोदेति किमपि प्रष्टुं सत्वरस्यापि मे वचः ॥

—तुम्हारी इस प्रकार की विपरीत चेष्टाएँ देखकर पूछने के लिए अत्यन्त उत्सुक होने पर भी मेरा मुँह नहीं खुलता।' यहाँ पार्वतीजी की तपोनिष्ठा वह कारण है जिससे पूछने को उत्सुक व्यक्ति का पूछना रुका हुआ है। स्पष्ट है विशेषोक्ति का स्पष्ट और मान्य रूप पहले पहल उद्भट ने ही प्रस्तुत किया है।

रुद्रट = रुद्रट ने विशेषोक्ति नाम से तो किसी अलंकार का निर्वचन नहीं किया किन्तु उनके व्याघात नामक अलंकार में इस अलंकार के सभी लक्षण आ जाते हैं—

'अन्यैरप्रतिहतमपि कारणमुत्पादनं न कार्यस्य।

यस्मिन्नभिधीयेत व्याघातः स इति विज्ञेयः।' ॥ ९।५२ ॥

—जहाँ कारण पूरा का पूरा रहता है तथापि कार्य की उत्पत्ति नहीं बतलाई जाती, उसे व्याघात समझना चाहिए।' यथा—

'यत्र सुरतप्रदीपा निष्कज्जलवर्त्तयो महामणयः।

माल्यस्यापि न शम्या हतवधूवसनविसृष्टस्य ॥'

—'जहाँ बड़ी बड़ी मणियाँ सुरतप्रदीप रहती हैं जिनमें न तो कज्जल पड़ता और न बत्ती ही रहती। साथ जो हतवश वधूजन द्वारा बुझाने के लिए फेंकी मालाओं से भी बुझते नहीं।' यहाँ दीपक महामणियों पर आरोप है अतः यह उदाहरण वामन की विशेषोक्ति के ही उदाहरण के समान रूपक का ही उदाहरण है। इस प्रकार रुद्रट विशेषोक्ति के विषय में अधिक प्रामाणिक नहीं हैं।

मम्मट—मम्मट ने उद्भट का ही अनुमोदन किया है और लक्षण में कारणसमग्रता तथा उसके साथ कार्य के अभाव इन दोनों अंगों को यथावत् स्थान दिया है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

[सू०] 'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः।'

[वृ०] मिलितेष्वपि कारणेषु कार्यस्याकथनं विशेषोक्तिः॥

—'कारण एकत्रित रहने पर भी कार्य का अकथन विशेषोक्ति कहलाता है।' मम्मट ने इसके तीन भेद माने हैं उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता। इनमें से उक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता के तो उदाहरण वे ही हैं जो सर्वस्वकार ने दिए हैं। अनुक्तनिमित्ता का उदाहरण यह है—

'निद्रा निवृत्तावुदिते द्युरत्ने सखीजने द्वारपदं पराप्ते।
श्लथीकृताश्लेषरसे भुजङ्गे चचाल नालिङ्गनतोऽङ्गना सा॥'

'नींद खुल जाने पर, सूर्य उग आने पर, सखियों के दरवाजे पर आजाने पर तथा प्रिय के आलिङ्गनानन्द के शिथिल हो जाने पर भी वह सुन्दरी आलिङ्गन से नहीं डिगी।' यहाँ प्रवासज्ञान कारण है जो अनुक्त है। मम्मट ने अचिन्त्यनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता को स्वतन्त्र माना है। सर्वस्वकार ने इसी पर संशोधन देते हुए अचिन्त्यनिमित्ता का अनुक्तनिमित्ता में अन्तर्भाव दिखला दिया है। स्पष्ट है कि सर्वस्वकार ने उद्भट और मम्मट की परम्परा पर विशेषोक्ति का लक्षण बनाया है।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—ने विशेषोक्ति का लक्षण सर्वस्व के पथ पर ही बनाया है—

'हेतुसाकल्ये फलानुत्पत्तिर्विशेषोक्तिः।'

रत्नाकरकार द्वारा अचिन्त्यनिमित्ता में निमित्तगत अचिन्त्यता पर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने उसे प्रमातृबुद्धिसापेक्ष माना है। जो तथ्य किसी एक प्रमाता के लिए अचिन्त्य होता है, उसे समझ नहीं पड़ता, वही अन्य किसी प्रमाता के लिए चिन्त्य हो सकता है, उसकी समझ में आ सकता है। उदाहरणार्थ 'स एकस्त्रीणि०' पद्य में ही कुसुमायुध के बल का शरीर नाश होने पर नष्ट न होने में कारण है काम का चित्तयोनित्व = चित्त से उत्पन्न होना। फलतः वह चिन्त्य ही है, अचिन्त्य नहीं। उनका कहना—

'अचिन्त्यता नाम न वस्तुधर्मः संदेहवत् सा हि भवेत् प्रमातुः।
कस्यापि, सर्वस्य तु नैव, तस्माद् विभावनादिस्त्रिविधो न वाच्यः॥'

—'अचिन्त्यता वस्तुनिष्ठ धर्म नहीं है। वह भी सन्देह के ही समान प्रमातृनिष्ठ धर्म है। वह भी किसी-किसी प्रमाता में रहता है, सब में नहीं। अतः विभावनादि अलंकार को तीन प्रकार का कहना ठीक नहीं।

अप्पय्यदीक्षित—ने कुवलयानन्द में जयदेव के—'विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्य सति कारणे।'—इस विशेषोक्तिलक्षण को—

'कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे।'

इस प्रकार बदल दिया है। स्पष्ट ही जयदेव के लक्षण में कारणगत समग्रता का उल्लेख नहीं था। अलंकार के नाम से कारिका का आरम्भ यथावत् रखने के लिए अप्पयदीक्षित को कारिका इस प्रकार की गढ़नी थी—

'विशेषोक्तिरनुत्पत्तिः कार्यस्याखिलकारणे'।

यदि अलंकार का नाम कारिका के आरम्भ में नहीं भी देना था तो भी द्वितीय चरण का निर्माण उन्हें 'पुष्कले सति कारणे' इस प्रकार 'कारणे सति पुष्कले' इस प्रकार 'पुष्कले कारणे सति' इस प्रकार अथवा 'कारणे पुष्कले सति' इस प्रकार करना चाहिए था। उक्त सभी योजनाओं में 'सब के सब कारण रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति' अर्थ यहाँ निकलता है। उदाहरण—

'नमन्तमपि धीमन्तं न लङ्घयति कश्चन'—जयदेव।
'हृदि स्नेहक्षयो नाभूत् स्मरदीपे ज्वलत्यपि'—दीक्षित।
'बुद्धिमान् लोग नम्र हैं तो भी उन्हें कोई लाँघता नहीं'—जयदेव।
'हृदय में स्मरदीप के जलते रहने पर भी स्नेहक्षय नहीं हुआ'—दीक्षित।

दोनों में विशेषोक्ति का अधिक शुद्ध रूप जयदेव के उदाहरण में ही है। उसमें आहार्य-ज्ञान की पृष्ठभूमि नहीं के बराबर है, जबकि अप्पय्यदीक्षित के उदाहरण में उसी का साम्राज्य है। इसी प्रकार जयदेव के उदाहरण में श्लेष नगण्य जैसा है और अप्पय्यदीक्षित के उदाहरण में स्नेहशब्द में श्लेष भी है तो स्मरदीप पद में रूपक भी है।

पण्डितराज—'प्रसिद्धकारणकलापसामानाधिकरण्येन वर्ण्यमाना कार्यानुत्पत्तिर्विशेषोक्ति।'

'प्रसिद्ध कारणों के समुदाय के विद्यमान रहने पर भी उसी के साथ साथ बतलाई जा रही कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति कहलाती है।' यहाँ पण्डितराज ने कारणसामग्री में प्रसिद्धि का भी निवेश किया है। यह उनकी नवीन देन है। अचिन्त्यनिमित्ता को पण्डितराज ने भी स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने उस पर सर्वस्वकार द्वारा उठाई गई आपत्ति का उल्लेख भी किया है।

विश्वेश्वरपण्डित ने लक्षण में कारणगत समग्रता का उल्लेख नहीं किया है और न अचिन्त्य निमित्ता की स्वतन्त्रता अस्वीकार की है। यह उनके निम्नलिखित विवेचन से स्पष्ट है—

'हेतौ सत्यपि कार्यानुत्पत्तिः स्याद् विशेषोक्तिः।

—हेतु के रहने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति होती है।

'सा च त्रेधा—अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता, अचिन्त्यनिमित्ता च'—'वह तीन प्रकार की होती है अनुक्तनिमित्ता, उक्तनिमित्ता तथा अचिन्त्यनिमित्ता।'

विश्वेश्वर ने अचिन्त्यनिमित्ता के विषय में पूर्वाचार्यों का विरोध न तो उपस्थित किया है और न उसका खण्डन ही किया है।

सञ्जीविनीकार श्री विद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्वकार के सम्पूर्ण विवेचन का संक्षेप कारिका में इस प्रकार किया है—

'विशेषोक्तिर्भवेत् कार्यानुत्पत्तिः सति कारणे।
अत्रैकगुणहान्या तु साम्यदार्ढ्यमलक्षणम्॥'

—'कारण के रहने पर कार्य की अनुत्पत्ति विशेषोक्ति होती है। एक गुण की हानि से साम्य की पुष्टि इसका लक्षण नहीं है।'

[सर्वस्व]

अतिशयोक्तौ लक्षितायामपि कश्चित्प्रभेदः कार्यकारणभावप्रस्तावेनेहोच्यते—

[सू० ४४] कार्यकारणयोः समकालत्वे पौर्वापर्यविपर्यये चातिशयोक्तिः ।

इह नियतपूर्वकालभावि कारणं नियतपश्चात्कालभावि च कार्यमिति कार्यकारणयोर्लक्षणं प्रसिद्धम् । यदा तु विशेषप्रतिपादनाय तयोरेतद्रूपापगमः क्रियते तदातिशयोक्तिः । एतद्रूपापगमश्च कालसाम्यनिबन्धनः कालविपर्यासनिबन्धनश्चेति द्विधाभवन्नतिशयोक्तिमपि द्वैधे स्थापयति । क्रमेण यथा—

'पश्यत्सूद्गतसान्द्रविस्मयरसप्रोत्फुल्लनेत्रोत्पलं
भूपालेषु तवात्र सूक्ष्मनिशिते निस्त्रिंशधाराध्वनि ।
कीर्त्या च द्विषतः श्रिया च युगपद् राजन्यचूडामणे !
हेलानिर्गमनप्रवेशविधिना पश्येन्द्रजालं कृतम् ॥'

'पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
पुरि पुरि च निवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥'

पूर्वत्र प्रौढोक्तिनिर्मितेऽर्थे शत्रुश्रीप्रवेशः कीर्तिनिर्गमनस्य हेतुरिति भिन्नकालयोस्तुल्यकालत्वं निबद्धम् । उत्तरत्र च माननिवृत्तिः स्मरशरप्रकिरणकार्येति तयोरुपपन्नं पौर्वापर्यं व्यत्ययेन निर्दिष्टमित्यतिशयोक्तिः । कार्यस्य चाशुभावाख्यो विशेषः प्रतिपाद्यते ।

अतिशयोक्ति का लक्षण किया जा चुका है तथापि उसका एक भेद [कार्यकारणभावमूलक होने से] कार्यकारणभाव के प्रसङ्ग में यहाँ बतलाया जा रहा है—

[सू० ४४] 'कार्य और कारण के समकालीन हो जाने अथवा उनके पूर्वपश्चाद्भाव के उलट जाने से अतिशयोक्ति [होती है] ।

यहां कारण और कार्य के 'नियमतः पहले उत्पन्न होने वाला कारण' तथा 'नियमतः पश्चात् उत्पन्न होने वाला कार्य'—ये लक्षण प्रसिद्ध हैं । किन्तु जब विशेषता के प्रतिपादन के लिए उनकी इस स्थिति को हटा दिया जाता है तब अतिशयोक्ति होती है । इस स्थिति का निराकरण 'उत्पत्तिकाल में एकता या समता लाने से होता है और उत्पत्तिकाल के विपर्यास से' इस प्रकार दो प्रकार का होता है अतः अतिशयोक्ति को भी दो प्रकार की बना देता है । इनके क्रम से उदाहरण यथा [कारण कार्य की समकालिक उत्पत्ति से होने वाली अतिशयोक्ति यथा]—

क्षत्रियचूडामणे ! देखिए तो शत्रुओं की कीर्ति तथा श्री ने आपके इस अत्यन्त सूक्ष्म और तीक्ष्ण खड्गधारा-पथ पर क्रीडापूर्वक निकलने तथा प्रवेश करने का इन्द्रजाल किया है । राजालोग इस इन्द्रजाल को समझते हुए घने आश्चर्य से प्रोत्फुल्ल नेत्रोत्पल होकर देख रहे थे ।' [इन्द्रजाल में दर्शकों के बीच दो ऐन्द्रजालिक तलवार की तीखी धार पर जैसे चाहें वैसे निर्भीक होकर चलते हैं] ।

[कार्यकारण के उत्पत्तिकाल में विपर्यास से हुई अतिशयोक्ति यथा]—

'पथ-पथ में तोते की चोंच जैसी अकुरों की शोभा बिखरी हुई है, दिशा दिशा में लताओं को नचाने वाला पवमान [वायु] बह रहा है, पुष्पधन्वा आदमी-आदमी में बाणों को तेजी से बिखेर रहा है—और नगर-नगर में मानवती वनिताओं के मान की चर्चा समाप्त हो गई है।'

[इनमें से] प्रथम पद्य में जो अर्थ है वह कवि की प्रौढोक्ति से निर्मित [कविकल्पित] है। इसमें शत्रुओं का प्रवेश शत्रुकीर्ति के निर्गमन का हेतु है अतः वे दो भिन्न भिन्न काल में उत्पन्न होने वाले हैं तथापि उनकी उत्पत्ति एक साथ होती हुई बतला दी गई है।

दूसरे पद्य में माननिवृत्ति कामशरवर्षा का कार्य है। इस कारण उनकी उत्पत्ति का पूर्वपश्चाद्‍भाव निश्चित है। उसे यहाँ उलट कर बतलाया गया है। इसलिए [उक्त दोनों स्थलों में] अतिशयोक्ति है। इनमें जो विशेषता बतलाई जा रही है वह है कार्य का शीघ्र होना।

विमर्शिनी

प्रस्तावेनानुगुण्येन। अत एवेयन्तः कार्यकारणभावाश्रया विच्छित्तिविशेषाः संभवन्तीति प्रपञ्चमात्रं दर्शयितुं पुनरिहास्या वचनम्। एतच्च ग्रन्थकृतैवोक्तम् 'प्रकारपञ्चकमध्यात्कार्यकारणभावेन यः प्रकारः स कार्यकारणनाश्रयालंकारप्रस्तावे प्रपञ्चार्थं लक्षयिष्यते' इति। उच्यत इति न पुनर्निर्णीयते, पूर्वमेवास्य निर्णीतत्वात्। तामेवाह—कार्यकारणयोरित्यादि। उभयत्रापि नियतशब्द एतदव्यभिचारदर्शनात्। एतद्रूपागम इति। कार्यकारणयोः सामान्यविपर्यासाख्यायुपनिबन्धनात्। प्रौढोक्तिनिर्मित इति। कीर्तिश्रियोर्वस्तुतो निर्गमनप्रवेशासंभवात्। प्रतिपाद्यत इति प्रयोजनत्वात्।

प्रस्तावेन—प्रसग से अर्थात् इसके विवेचन के इसी प्रसग के अनुरूप होने से। तात्पर्य यह कि इस अतिशयोक्ति को यहाँ उपस्थित करने का उद्देश्य यह बतलाना है कि कार्यकारणभावमूलक अलकारों के इतने भेद हो सकते हैं। [अतिशयोक्ति के प्रकरण में] यह स्वय ग्रन्थकार ने ही कह दिया है कि '[अतिशयोक्ति के] पाँच भेदों में से जो कार्यकारणभावमूलक भेद है उसे कार्यकारणभावमूलक अलकारों के प्रकरण में प्रपञ्च के लिए दिखलाया जाएगा।' उच्यते = कही जा रही है, न कि उसका निर्णय किया जा रहा है। क्योंकि उसका निर्णय तो पहले ही किया जा चुका है। उसी [अतिशयोक्ति] को बतलाते हैं—कार्यकारणयोः इत्यादि। दोनों ही जगह नियत-शब्द इस स्थिति का कभी भी निराकरण न होने के कारण दिया गया है। एतद्रूपागमः = इसी स्थिति का निराकरण = इसलिए कि यहाँ कार्यकारण का सामान्य स्थिति के विपरीत उपनिबन्ध रहता है। प्रौढोक्तिनिर्मित = क्योंकि कीर्ति और श्री के निर्गमन और प्रवेश वस्तुतः नहीं हो सकते। प्रतिपाद्यते = बतलाया जा रहा है अर्थात् प्रयोजनरूप से।

विमर्श—इस अतिशयोक्ति का इतिहास—पूर्वप्रतिपादित अतिशयोक्ति के इतिहास से ही गतार्थ है।

श्री विद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्वकार द्वारा किए गए इस अतिशयोक्ति के विवेचन का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'कार्यकारणयोर्यो तु कालसाम्यविपर्ययौ। अन्या स्वतिशयोक्तिः सा विरोधाशोपजीवनात्॥'

—'यह एक अन्य ही अतिशयोक्ति होती है जिसके कार्य और कारण के उत्पत्ति समय में एकता या उलटाव रहता है। यह विरोधाश पर निर्भर रहती है।'

[सर्वस्व]

[सू० ४५] तयोस्तु भिन्नदेशत्वेऽसंगतिः।

तयोरिति कार्यकारणयोः। यद्देशमेव कारणं तद्देशमेव कार्यं दृष्टम्।

नहि महानसस्थो वह्निः पर्वतदेशस्थं धूमं जनयति। यदा त्वन्यदेशस्थं कारणमन्यदेशस्थं च कार्यमुपनिबध्यते, तदोचितसंगतिनिवृत्तेरसंगत्याख्योऽलंकारः। स च विरुद्धकार्यकारणभावप्रस्तावादिह लक्ष्यते। यथा—

'प्रायः पथ्यपराङ्मुखा विषयिणो भूपा भवन्त्यात्मना
निर्दोषान् सचिवान् भजत्यतिमहाँल्लोकापवादज्वरः।
वन्द्याः श्लाघ्यगुणास्त एव विपिने संतोषभाजः परं
बाह्योऽयं वरमेव सेवकजनो धिक् सर्वथा मन्त्रिणः॥'

अत्र पथ्यपराङ्मुखत्वमुपालम्भज्वरविषयत्वस्य भिन्नदेशहेतुरित्यसंगतिः। एवम्—

'सा बाला वयमप्रगल्भवचसः सा स्त्री वयं कातराः
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरभरं धत्ते सखेदा वयम्।
सा क्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यसमाश्रितैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम्॥'

इत्यत्र ज्ञेयम्। अत्र बाल्यनिमित्तमप्रगल्भवचनत्वमन्यदन्यच्च स्मरनिमित्तमित्यनयोरभेदाध्यवसायः। एवमन्यत्र ज्ञेयम्।

[सू० ४५] किन्तु वे [कार्यकारण] भिन्नदेशगत हों तो [अलंकार का नाम] असंगति [होता है]॥

तयोः = वे अर्थात् कार्यकारण। कारण जिस स्थान पर रहता है उसी स्थान पर कार्य का रहना देखा गया है। ऐसा नहीं है कि रसोईघर की अग्नि पर्वत पर के धुएं को उत्पन्न करे। किन्तु जब कारण अन्य स्थान पर और कार्य अन्य स्थान पर बतलाया जाता है तब उचित संगति न रहने से असंगति नामक अलंकार होता है। वह यहाँ इसलिए बतलाई जा रही है कि यहाँ विरुद्ध कार्यकारणभाव का प्रसंग चला हुआ है। उदाहरण यथा—

'पथ्यपराङ्मुख और विषयी प्रायः राजा लोग ही स्वयं होते हैं किन्तु लोकापवाद का महान् ज्वर आता है निर्दोष मन्त्रियों को। ये [मन्त्री] लोग ही यदि जंगल में जाकर संतोष के साथ रहें तो इनकी वन्दना और इनके गुणों की प्रशंसा होती है। इसलिए ये बाहरी सेवक लोग ही अच्छे। मन्त्री लोगों को सर्वथा धिक्कार है।'

यहाँ पथ्यपराङ्मुखत्व हेतु है उपालम्भज्वर का किन्तु वह भिन्नदेशस्थ है इसलिए असंगति है। इसी प्रकार—[वामन के द्वारा—विरोधालंकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत]—

'बाला है वह किन्तु अप्रगल्भ वाणी है हमारी, स्त्री है वह किन्तु कातर हैं हम, मोटे और उन्नत पयोधरों का भार है उस पर किन्तु खेद है हमें, जघनस्थल की गरिमा से क्लान्त है वह किन्तु चलने में असमर्थ हैं हम। इस प्रकार हम अन्याश्रित दोषों से अभिभूत हो गए हैं यह आश्चर्य की बात है।'—इस पद्य में भी जानना चाहिए। यहां बाल्यजनित अप्रगल्भ वचन भिन्न है और स्मरजनित अप्रगल्भ वचन भिन्न। यहां इन दोनों में अभेदाध्यवसाय है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिए।

विमर्शिनी

तयोरित्यादि। एतदेव व्यतिरेकमुखेनापि दर्शयति—नहीत्यादिना। उचितसंगतिनिवृत्तेरिति। एकदेशयोरपि कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वेनोपनिबन्धनात्। अत एव च तयोर्भिन्नदेशत्वादियं

विषयभेदेन भवतीत्येकविषयाद् विरोधादस्य भेदः'। इह लक्ष्यत इति। अस्या अपि कार्य-कारणयोर्भिन्नदेशत्वेन विरोधगर्भत्वात्। अभेदाध्यवसाय इति। अनेनातिशयोक्तिरस्या अप्यनुप्राणकत्वेन कटाक्षिता। अन्यथा हि विरोधो दुष्परिहरः। स्यात् एवं पथ्यज्वर-शब्दयोरतिशयोक्तिबलात्प्रजापालनयुक्तिसंतापवाचकत्व द्रष्टव्यम्। अन्यत्रेति कातरत्वादौ।

तयोरित्यादि। इसीको व्यतिरेक द्वारा भी बतलाते हैं 'न हि' इत्यादि द्वारा। उचित-सङ्गतिनिवृत्ते उचित सङ्गति न रहने से = क्योंकि कार्य और कारण सदा ही रहते तो एक ही स्थान पर हैं तथापि यहां उनका भिन्न भिन्न स्थान में दिखलाए जाने से और इसी कारण कि वे दोनों भिन्न भिन्न स्थान में रहते हैं। फलतः इसमें विषयभेद रहता है, यह विरोधालङ्कार से भिन्न है, क्योंकि उसमें विषय एक ही रहता है। इह लक्ष्यते = इसका लक्षण यहां किया जा रहा है। इसमें भी कार्यकारण भिन्न भिन्न स्थलों में रहते हैं अतः यह भी विरोध गर्भित है, इसलिए। अभेदाध्यवसाय—इससे यह बतलाया कि इस [असङ्गति] में अतिशयोक्ति अनुप्राणक है। अन्यथा विरोध का परिहार कठिन हो जाए। इसी प्रकार 'पथ्य' और 'ज्वर' शब्दों में भी अतिशयोक्ति के बल पर प्रजापालनयुक्ति और सन्ताप की वाचकता समझनी चाहिए। अन्यत्र = अन्य स्थलों में अर्थात् 'कातरत्व' आदि में।

विमर्श—असंगति का पूर्वेतिहास—

असंगति नाम का कोई भी अलंकार न तो भामह के काव्यालङ्कार में मिलता न वामन और उद्भट के। वामन में विरोधालङ्कार के लिए जो 'सा बाला०' पद्य दिया गया है उसमें असंगति अवश्य है किन्तु वहाँ अलंकार का नाम असंगति नहीं है। असंगति नाम पहले पहल रुद्रट के काव्यालङ्कार में मिलता है।

रुद्रट—'विस्पष्टे समकालं कारणमन्यत्र कार्यमन्यत्र।
यस्यामुपलभ्येते विज्ञेयासंगतिः सेयम्॥' —९।४८॥

उदाहरण—'नवयौवनेन सुतनोरिन्दुकलाकोमलेन पूर्यन्ते।
अङ्गान्यसङ्गताना यूनां हृदि वर्धते कामः॥'

'जहाँ स्पष्टरूप से कार्य अन्यत्र प्राप्त हो और कारण अन्यत्र तो उसे असंगति समझना चाहिए।' यथा—

—'इन्दुकला के समान कोमल नवीन यौवन से भरे तो जा रहे हैं अङ्ग उस सुन्दरी के, किन्तु काम की वृद्धि हो रही है दूरस्थ युवकों के हृदयों में।'

मम्मट—'भिन्नदेशतयाऽत्यन्त कार्यकारणभूतयोः।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसंगतिः॥'

'जहाँ कार्यकारणभूत धर्मों का अत्यन्त भिन्न भिन्न स्थानों में प्रतिपादन हो उसे असंगति कहते हैं।'

उदाहरण—'दन्तक्षत कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम्'

—'दाँत का घाव तो है वधू के कपोल पर किन्तु वेदना है सौतों में।' मम्मट ने विरोध से असंगति का अन्तर विरुद्ध तत्त्वों की भिन्नदेशता तथा एकदेशता को लेकर किया है। विमर्शिनी-कार ने उसी को अपना लिया है। विरोध में भिन्न भिन्न स्थानों में रहने वालों का एक स्थान में आना विरोध का कारण होता है जब कि असंगति में सदा एक ही स्थान पर रहने वालों का भिन्न भिन्न स्थान पर रहना। आगे पण्डितराज के मत से भी यह तथ्य स्पष्ट होगा।

शोभाकर—ने असंगति के आठ भेद माने हैं। उनका सामान्य लक्षण यह है—
'तयोर्देशकालान्यत्वमसंगतिः।'

'वन—हेतु और कार्य के देश तथा काल की विपरीतता असंगति कहलाती है।' यह विपरीतता इस प्रकार होती है।

[१] एकदेशस्थ कार्य की भिन्नदेशस्थता
[२] भिन्नदेशस्थ कार्य की एकदेशस्थता
[३] पश्चात्कालभावी की पूर्वकालभाविता
[४] पश्चात्कालभावी की सहकालभाविता
[५] तुरन्त बाद होने वाले की चिरकालभाविता
[६] चिरकालभावी की तत्कालभाविता
[७] ऐहिक कार्य की आमुष्मिकता और
[८] आमुष्मिक कार्य की ऐहिकता।

इनमें से नवीन सात भेदों के उदाहरण देकर रत्नाकरकार ने अन्त में सभी में चारुत्व की सत्ता मानी है। उन्होंने लिखा है -

'भेदसप्तकमप्यन्यद् यदस्माभिरुदाहृतम्।
चारुत्वातिशयात् तस्मिन्ननलङ्कारता कुतः॥'

ये अतिरिक्त भेद भावुकतामात्र हैं। इनमें अतिशयोक्ति आदि से भिन्न कोई स्वतन्त्र मौलिकता नहीं है।

अप्पय्यदीक्षित—ने भी असंगति के तीन भेद माने हैं। उनमें से प्रथम तो कार्यकारण की भिन्नस्थानस्थतामूलक ही है, शेष दो में से एक 'अन्यत्र करणीय कार्य के अन्यत्र किए जाने' से तथा द्वितीय 'अन्य किसी कार्य को करते-करते उसके विरुद्ध कार्य के कर डालने' से होती है। इनके लक्षण ये हैं—

[१] 'विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः।'
[२] 'अन्यत्र करणीयस्य ततोऽन्यत्र कृतिश्च सा।'
[३] 'अन्यत् कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा॥'

इनके उदाहरण हैं—

[१] 'विषं जलधरैः पीतं मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः।'

विष [जल तथा जहर] पिया मेघों ने और मूर्च्छित हुई पथिकों की स्त्रियां।

[२] अपारिजातां वसुधां चिकीर्षन् द्यां तथाऽकरोत्।

'श्रीकृष्ण चाहते बनाना पृथिवी को अपारिजात [अप = अपगत हो गया है हट गया है अरि = शत्रु का जात = समुदाय जिससे तथा 'पारिजातरहित'] किन्तु बना दिया अपारिजात [पारिजात हरण द्वारा पारिजात रहित] द्यौ को।'

[३] 'गोत्रोद्धारप्रवृत्तोऽपि गोत्रोद्भेदं पुराऽकरोत्।'

श्रीकृष्ण लगे तो थे गोत्रोद्धार [गोत्रा = पृथिवी के उद्धार में] किन्तु कर दिया उन्होंने उससे उलटा गोत्रोद्भेद [गोत्रा पृथिवी का भेद नाश तथा गोत्र = पर्वत अथवा वंश का] कर दिया।'

इनमें द्वितीय भेद विशेषालंकार में तथा तृतीय विरोधालंकार या विषमालंकार में अन्तर्भूत हो जाता है। पण्डितराज ने भी इनका खण्डन किया है।

पण्डितराज—जगन्नाथ ने असंगति का लक्षण इस प्रकार किया है—

'विरुद्धत्वेनापाततो भासमानं हेतुकार्ययोर्वैयधिकरण्यमसंगतिः।'

हेतु और कार्य का भिन्न-भिन्न अधिकरण में रहना, जो आपाततः विरुद्ध-सा लगता है, असंगति कहलाता है।

पण्डितराज ने सर्वस्वकार की इस मान्यता का खण्डन किया है कि असंगति में अतिशयोक्ति सहायक होती है। खण्डन में उन्होंने केवल शब्द पर आक्षेप किया है। कहा है कि यहाँ अतिशयमात्र सहायक है अतिशयोक्ति नहीं। वस्तुतः यह सर्वस्वकार के कथन का स्पष्टीकरण-मात्र है।

विमर्शिनीकार का भी खण्डन करते हुए पण्डितराज ने लिखा है कि उन्होंने 'एक अधिकरण में दो के सम्बन्ध से विरोध होता है और असंगति में भिन्न भिन्न अधिकरणों में' यह जो भेद बतलाया है यह अमान्य है। कारण कि असंगति में भी दो विरुद्ध धर्म एक ही स्थान पर रहते हैं वे धर्म हैं कार्यत्व और कारणवैयधिकरण्य [कारण के अधिकरण से अलग रहना]। अन्ततः विरोध से असंगति का अन्तर पण्डितराज ने दो हेतुओं द्वारा बतलाया है।

१—उत्पत्तिपरामर्श, यह विरोध में नहीं रहता। असंगति में रहता है।

२—भिन्न भिन्न स्थान पर रहने के लिए प्रसिद्ध पदार्थों का एक स्थान में रहना विरोध का निष्पादक तत्त्व है और एक स्थान में रहने वालों का भिन्न स्थान में रहना असंगति का। यह भेद हम भी अभी-अभी बतला आए हैं।

विश्वेश्वर—'हेतुव्यधिकरणं स्यात् कार्यं चेत् सा त्वसंगतिः प्रोक्ता।'

—'यदि कार्य हेतु के आश्रय से भिन्न आश्रय में बतलाया जाय तो उसे असंगति जाननी चाहिए।'

विश्वेश्वर ने पण्डितराज द्वारा किए गए विमर्शिनीकार के उपर्युक्त विरोध का प्रतिवाद किया है। वस्तुतः पण्डितराज का तात्पर्य भेदक कसौटी तय करने में था। वह उन्होंने द्वितीय कल्प द्वारा तय कर दी है। विश्वेश्वर को भी वह मान्य है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने असंगति का संक्षेप इस प्रकार किया है—

'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसंगतिः।
अभेदाध्यवसायादिविच्छित्त्या दृश्यते च सा॥'

[सर्वस्व]

[सू० ४६] विरूपकार्यानर्थयोरुत्पत्तिर्विरूपसंघटना च विषमम्।

विरोधप्रस्तावेनेह लक्षणम्। तत्र कारणगुणप्रक्रमेण कार्यमुत्पद्यत इति प्रसिद्धौ यद्विरूपं कार्यमुत्पद्यमानं दृश्यते तदेकं विषमम्। तथा कंचिदर्थं साधयितुमुद्यतस्य न केवलं तस्यार्थस्याप्रतिलम्भो यावदनर्थप्राप्तिरपीति द्वितीयं विषमम्। अत्यन्ताननुरूपसंघटनयोर्विरूपयोश्च संघटनं तृतीयं विषमम्। अननुरूपसंसर्गो हि विषमम्। क्रमेण यथा—

'सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते॥'

'तीर्थान्तरेषु मलपङ्कवतीर्विहाय दिव्यास्तनूस्तनुभृतः सहसा लभन्ते।
वाराणसि त्वयि तु मुक्तकलेवराणां लाभोऽस्तु मूलमपि यात्यपुनर्भवाय॥'

'अरण्यानी क्वेयं धृतकनकसूत्र· क्व स मृगः
क्व मुक्ताहारोऽयं क्व च स पतगः क्वेयमबला।
क्व तत्कन्यारत्नं ललितमहिभर्तुः क्व च वयं
स्वमाकूतं धाता निभृतनिभृतं कन्दलयति'

अत्र कृष्णवर्णाच्छुक्लवर्णोत्पत्तिः कलेवरान्यन्तापहारलक्षणानर्थान्तरोत्पत्तिः, अत्यन्ताननुरूपाणां चारण्यान्यादीनां परस्परं संघटनं क्रमेण मन्तव्यम्। केवलमनर्थोत्पत्तिरत्र व्याजस्तुतिपर्यवसायिनीति शुद्धोदाहरणमभ्यूह्यम्[1]।

[सू० ९६] विपरीत कार्य तथा अनर्थ की उत्पत्ति साथ ही विपरीत संघटना विषम [नामक अलंकार होता है]।

इसका लक्षण यहां विरोध के प्रसंग से किया जा रहा है। इसमें 'कार्य, कारण के गुणों के अनुरूप [गुणों से युक्त होकर] ही उत्पन्न होता है' इस प्रसिद्धि के रहते हुए भी जो विपरीत गुण वाला कार्य उत्पन्न होता दिखलाया जाता है वह एक प्रकार का विषम होता है। इसके अतिरिक्त 'किसी लाभ को सिद्ध करने के लिए उद्यत व्यक्ति को उस लाभ की प्राप्ति तो नहीं ही हो ऊपर से अनिष्ट की प्राप्ति और हो जाए' यह दूसरे प्रकार का विषम होता है। दो अत्यन्त अननुरूप अर्थात् पदार्थों की संघटनाएँ तृतीय प्रकार का विषम होता है। प्रतिकूल संघटना ही विषम है। इनके क्रम से उदाहरण [विपरीतगुणी कार्य की उत्पत्ति से होने वाला विषम]—

'यह आश्चर्य की बात है कि तमाल जैसी नीली कृपाणलेखा प्रत्येक युद्ध में जिसके कर का स्पर्श पाकर शरत्कालीन चन्द्रमा से शुभ्र और त्रिलोकी के आभरण यश को उत्पन्न करती है।' [नवसाहसांकचरित १।६२]

[अनर्थ की उत्पत्ति से होनेवाला विषम]—

'अन्य तीर्थों में शरीरधारी लोग मलिन शरीर छोड़कर दिव्य शरीर प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु हे काशी! तुझमें शरीर छोड़ने वालों का लाभ तो दूर रहे, मूल [भूत शरीर] भी फिर से उत्पन्न न होने के लिए चल बसता है [वस्तुतः इस पद्य में व्याजस्तुति और व्यतिरेक अलंकार है]।

[विपरीत पदार्थों की संघटना से होने वाला विषम यथा]—

'कहाँ यह [विन्ध्य] अटवी और कहाँ वह सुवर्ण की साँकल पहने हिरना, कहाँ यह मोतियों का हार और कहाँ वह पक्षी [हंस], कहाँ यह अबला [पाटला नामक शशिप्रभा की सखी], सर्पराज [शंखपाल] की कहाँ वह उत्तम सुन्दरी कन्या और कहां हम। विधाता अपनी इच्छा अत्यन्त निभृत रूप से पूर्ण करता रहता है [नवसाहसांकचरित ५।८१]।'

---

१. निर्णयसागर प्रति में इतना पाठ अधिक है—'यथा—
'परहिअअं मग्गंतीए आरिअं अत्तणो तए हिअअं।
अण्णो ल्लाहस्स कए मूलाओ विच्छेइआ जाआ॥'
[परहृदयं मार्गन्त्या हारितमात्मनस्तया हृदयम्।
हंहो लाभस्य कृते मूलविच्छेदिका जाता॥]
इति तत्रोदाहार्यम्।

इन [तीन पद्यों में] क्रम से [प्रथम पद्य में] कृष्णवर्ण से शुक्लवर्ण की उत्पत्ति, [द्वितीय में] शरीर के अत्यन्त अपहरणरूपी अनर्थ की प्राप्ति तथा [तृतीय में] जगल आदि अत्यन्त बेमेल पदार्थों का परस्पर मिलान मानना चाहिए। इतना अवश्य है कि यहाँ अनर्थोत्पत्ति व्याजस्तुति में पर्यवसित हो रही है फलतः इसका कोई शुद्ध उदाहरण सोच लेना चाहिए।

विमर्शिनी

विरूपेत्यादि। इहेति। अस्याप्यननुरूपसंसर्गेण विरोधगर्भत्वात्। विरूपमिति। कारणापेक्षया विजातीयत्वेनातद्गुणत्वात्। यद्यपि 'गोमयाद्वृश्चिकोत्पत्तिः' इतिवत्कार्यकारणयोर्वास्तवं विरूपत्वं संभवति, तथापीह कविप्रतिभानिर्वर्तितमेव तद् ग्राह्यम्। तेन

'द्राक्षाफलानि शिखरेषु शिलोच्चयानां पीयूषसाररसनिर्भरगर्भवन्ति।
विष्वक्कठोरकठिनकायनिगूढशृङ्गशृङ्गाटकानि पुनरम्भसि सम्भवन्ति ॥'

इत्यादौ विषमं न वाच्यम्। ईदृश एव कार्यकारणभावस्य वस्तुतः संभवात्। तस्येति साधयितुमिष्टस्य। अप्रतिलम्भ इति। असिद्धिरिति यावत्। अत्यन्तेति। न केवलं तयोः स्वयं विरूपत्वं यावत्तत्संघटनाया अप्यननुरूपत्वमित्यत्र तात्पर्यम्। एकमित्यादयभिदधता ग्रन्थकृता विषमाणां भिन्नत्वमुक्तम्, न प्रकारप्रकारित्वम्। सामान्यलक्षणस्यासंभवात्। एवमेव पुनरेषां कस्मादभिधानमित्याशङ्क्याह—अननुरूपेत्यादि। यत्किंचित्पुनरस्मद्दर्शनविरुद्धमस्मत्परधिकमुक्तं तदिहास्माभिर्यथावस्तुग्रन्थार्थमात्रव्याख्यानमिर्वाहसमुत्सुकमानसत्वान्न निराकृतमिति न तदेव सिद्धान्तीकार्यम्। तस्य पृथङ्निरसिष्यमाणत्वात्। इह हि यथाशास्त्रमस्माभिरग्रन्थकृतपरकीयदूषणोद्धारमात्रमेव विवक्षितम्। यथोपयोगं पुनरस्तन्निराकरणमपि कृतं करिष्यते च।

अत्र शुक्लकृष्णवर्णत्वं कार्यकारणात्मकविषयद्वयगतत्वेन स्थितमित्यस्य भिन्नविषयत्वादेकविषयाद्विरोधाद्भेदो ज्ञेयः। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। अरण्यान्यादीनामननुरूपमन्योन्यघटनं वास्तवमित्युदाहरणान्तरेणोदाह्रियते। यथा—

'शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना।
अयं क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानलः ॥'

अत्राननुरूपयोस्तन्वीमदनानलयोः सघटनम्। अत्रेति तीर्थान्तरीयविषयादौ। शुद्धेति। यत्र विषममेव न स्यात्। तत्तु यथा—

'यो हठं प्रतिनिषेद्धुमुद्यतः सुभ्रुवा प्रियतमस्य कटाक्षः।
स प्रतोद इव तस्य विशेषात्प्रेरकः किमपि हन्त बभूव ॥'

अत्र कटाक्षस्य हठनिषेधायोद्यतस्य न केवलं तदसिद्धिर्यावत्तस्यैवात्यन्तं स प्रेरको जात इत्यनर्थोत्पत्तिः।

विरूपेत्यादि। इह = इस प्रसंग में क्योंकि यह अलङ्कार भी अननुरूपसंसर्गात्मक होने से विरोधगर्भित है। विरूप = कारण की अपेक्षा विजातीय होने के कारण अर्थात् उसके गुण से युक्त न होने के कारण। यद्यपि कार्य और कारण में विरूपता वास्तविक भी होती है [यथा] गोमय [गोबर] से बिच्छू की उत्पत्ति होती है, तथापि यहाँ कविप्रतिभाप्रस्तुत विरूपता ही अपनानी चाहिए। इसलिए—

अमृतसाररूपी रस से निर्भर गर्भित द्राक्षाफल पहाड़ों के शिखर पर होते हैं और चारों ओर से कठिन शरीर के शृंग छिपाए सिंघाड़े पैदा होते हैं पानी में।

—इत्यादि स्थलों में विषम नहीं मानना चाहिए। क्योंकि ऐसे ही हैं वे कार्य-कारणभाव जो वास्तविक होते हैं, [कल्पित नहीं]। तस्य = उस सिद्ध करने के लिए अभीष्ट। अप्रतिलम्भ, असिद्धि। अत्यन्त—अर्थ यह कि केवल वे स्वयं ही विरूप नहीं होते, अपितु उनकी संघटना भी वैसी ही विरूप होती है। **एक** इत्यादि कहकर ग्रन्थकार ने तीनों विषमों की परस्पर भिन्नता बतलाई न कि प्रकारप्रकारिभाव। क्योंकि इससे कोई सामान्य लक्षण संभव नहीं है। फिर इन्हें बतलाया कैसे इस पर कहते हैं **अननुरूप०**। अन्य आचार्यों ने थोड़ा अधिक कह दिया है जो हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है, और हमने भी उसका खण्डन नहीं किया है, क्योंकि हमारा चित्त ग्रन्थस्थित पदार्थों की व्यवस्थित व्याख्या करने के लिए उन्मुक्त है। किन्तु एतावता उसे सिद्धान्तभूत नहीं मान लेना चाहिए। उसका निराकरण अलग से किया जाने वाला है। यहां तो हमें आग्रह में पड़कर दिए गए दूसरे के दोषों का उद्धारमात्र यथाशक्ति करना अभीष्ट है और वह जहां जितना आवश्यक था हमने पहले भी किया है और आगे भी करेंगे।

यहाँ कृष्णता और शुक्लता कार्यकारणात्मक दो भिन्न वस्तुओं में अवस्थित हैं अतः विषम भिन्न होने से इसका विरोध से अन्तर है, विरोध में आधार एक ही होता है। अन्यत्र भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

'अरण्यानी०' आदि पद्य में जो पदार्थों की विपरीत योजना है वह वास्तविक है इसलिए हम एक अन्य उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं। यथा—

'कहां तो शिरीष से भी अधिक कोमल अंगों वाली यह विशालनेत्रा और कहां यह तुषाग्नि के समान कर्कश कामानल।'

—यहां [कविकल्पना में] दो विपरीत गुणी पदार्थ, तन्वंगी तथा कामानल का मिलन है। **अत्र** = यहाँ अर्थात् 'तीर्थान्तरेषु' पद्य में। **शुद्धा** = अर्थात् जहां केवल विषम ही हो। उसका उदाहरण यथा—

'अच्छी भौंहों वाली उस कामिनी ने जो कटाक्ष [बाण] हठ का प्रतिषेध करने के लिए प्रियतम पर छोड़ा, हन्त, वह तो किसी भी कारण चाबुक की नाईं उसके लिए और अधिक प्रेरक हो गया।'

—यहां हठ के निषेध के लिए चलाए कटाक्ष से इस कार्य की असिद्धि ही केवल नहीं हुई प्रत्युत 'वह उसी हठ का अधिक प्रेरक बन गया' इस प्रकार अनर्थोत्पत्ति और हो गई।

विमर्श - अनर्थोत्पत्ति वाले विषम के शुद्ध उदाहरण के रूप में स्वयं मूल में ही एक गाथा निर्णयसागरीय प्रति में छपी हुई है। श्रीरामचन्द्र द्विवेदी ने उसे मूल मान लिया है। पृष्ठ ४८९ पर उसे हमने अविकल रूप से अपनी बनाई संस्कृत छाया के साथ पादटिप्पणी में दे दिया है। ग्रन्थकार ने जब उसके उदाहरण की कल्पना करना 'अभ्यूह्यम्' कहकर पाठकों पर छोड़ दिया, तब वह स्वयं उदाहरण देगा यह संभव नहीं लगता। विमर्शिनी, समुद्रबन्धी तथा संजीविनी में भी इस अंश का उल्लेख नहीं है।

विषम का इतिहास :—

भामह, वामन तथा उद्भट में विषम का विवेचन नहीं मिलता। पहले पहल रुद्रट के काव्यालंकार में इसका विवेचन इस प्रकार मिलता है—

रुद्रट—

'कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोधः परस्परं गुणयोः।
तद्वत् क्रिययोरथवा संजायेतेति तद् विषमम् ॥ ९।४५ ॥

—जहां कार्य और कारण के गुण या क्रियाओं में परस्पर विरोध हो उसे विषम कहते हैं।

उदाहरण—[१] 'नीले रात्रि में शुभ्र यश उत्पन्न होना'—इसी भाव का पद्य।

[२] आनन्दममन्दमिम कुवलयदललोचने ददासि त्वम्।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥ ९।४७ ॥

'हे नीलकमल की पंखुड़ी जैसी आँखों वाली ! तुम स्वयं तो अत्यन्त आनन्द देती हो किन्तु तुम्हारे द्वारा ही उत्पन्न वियोग उतना ही तपाता है।' रुद्रट ने विरूपसंघटना वाले विषम को भी वास्तव नामक अलङ्कार वर्ग में गिनाया है—

'विषम इति प्रथितोऽसौ वक्ता विघटयति किमपि सम्बन्धम्।
यत्रार्थयोरसन्तं परमतमाशङ्कय सत्सत्वे ॥ ७।४७ ॥

—उसे विषम कहा जाता है जहाँ वस्तुओं के अशोभन सम्बन्ध को दूसरे के अनुसार शोभन रूप से प्रतिपादित समझ वक्ता अनुचित प्रतिपादित करता है। यथा—'क्व खला. क्व च सज्जन स्तुतय.' कहाँ खल और कहाँ सज्जनों की स्तुति।'

मम्मट—मम्मट ने रुद्रट से बढ़कर विषम में वह भेद और जोड़ा जिसे सर्वस्वकार ने अनर्थप्राप्ति कहा है। उनका विषमालङ्कार विवेचन इस प्रकार है—

'क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्। कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेद्।
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये। क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः॥'

—जहाँ [१] अत्यन्त वैधर्म्य होने से वस्तुओं का सम्बन्ध फबता न हो [२] कर्ता को क्रियाफल की प्राप्ति तो हो ही नहीं अनर्थप्राप्ति और हो जाए, [३] कार्य के गुण तथा क्रिया क्रमशः कारण के गुण तथा क्रिया से विरुद्ध हों तो वह [चार प्रकार का] विषम होता है।' उदाहरण के रूप में उन्होंने प्रथम दो के लिए निम्नलिखित पद्य दिये हैं—

[१] 'शिरीषादपि मृद्वङ्गी' [विमर्शिनी में उद्धृत]

[२] सिंहिकासुतसन्त्रस्त: शशः शीतांशुमाश्रितः। ग्रसते साश्रय तत्र तमन्य: सिंहिकासुतः॥

—सिंहिका [सिंही] के सुत [शेर] से डरा हुआ खरहा चन्द्रमा में पहुँचा। वहाँ उसे उसके आश्रय के साथ ही एक दूसरे सिंहिका [राहु की माता] के सुत [राहु] ने ग्रस लिया। [यहाँ सिंहिकापद में श्लेष है]।

शेष दो भेदों के लिए मम्मट ने नवसाहसांकचरित का 'सद्य. करस्पर्शमवाप्य' यह पद्य तथा रुद्रट का ही 'आनन्दममन्दमिमम्०' पद्य उद्धृत कर दिया है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सर्वस्वकार ने कार्यकारण के वैषम्य को गुण तथा क्रिया के दो भागों में नहीं बाँटा। विमर्शिनीकार ने भी इस दिशा में ध्यान नहीं दिया।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—ने

[१] अर्थानर्थपदे तदन्यस्योत्पत्तिर्विषमम्।

[२] अनर्थोत्पत्तिर्विरूपकार्योत्पत्तिर्विरूपसंघटनमसाकल्यं च।

—इन दो सूत्रों में विषम के निम्नलिखित पाँच भेद माने हैं—

१—अर्थ के स्थान पर अनर्थ की प्राप्ति

१—अनर्थ के स्थान पर अर्थ की प्राप्ति

३—विरूपकार्योत्पत्ति

४—विरूपसंघटन तथा

५—असमग्रता

इनमें से प्रथम, तृतीय तथा चतुर्थ के उदाहरण तो वे ही माने जा सकते हैं जो सर्वस्वकार ने दिए हैं। शेष द्वितीय तथा पंचम के उदाहरण रत्नाकर में ये हैं—

'येन राहुरपि निग्रहेच्छुना दुर्भरोदरभिदा सखीकृतः।'

'जिन विष्णु भगवान् ने चाहा तो था राहु का निग्रह किन्तु दुर्भर उदर अलग कर बना लिया उसे मित्र०'।

> 'पृथ्वीयं खलु पीठिका सुघटितं लिङ्गं तदेतन्नभः
> सानौ चामरनिम्नगा जलमिदं सज्जीकृतं वर्तते।
> अस्त्येषा पुरतः स्थिता नवनवा नक्षत्रपुष्पावली
> स्याच्चेत् कश्चन पूजकोऽत्र तदियं पूजोपकल्प्या भवेत् ॥

—यह विशाल भूपृष्ठ पीठिका है और यह आकाश है शिवलिङ्ग। सुमेरुशृंग पर गंगाजी का यह जल भी तैयार है। सामने ही नक्षत्रों की यह नई-नई पुष्पावली भी उपस्थित है। कोई [पूजा] करने वाला यहाँ होता तो यह पूजा पूरी हो जाती।' इस पद्यरत्न में केवल पूजा करने वाले की कमी है इस कारण पूजा में कमी पड़ रही है। यह एक खलने वाली बात है अतः यहाँ विषम हुआ।

रत्नाकरकार ने विषम विवेचन में एक क्रान्ति भी प्रस्तुत की है। उन्होंने अधिकालंकार को भी विषम में ही अन्तर्भूत करना चाहा है। उनका कहना है—

> 'आधाराधेययोर्यत्र संसर्गः स्याद् विरूपयोः।
> स स्फुटो विषमो वाच्यमधिकं नाधिकं ततः ॥'

—जहाँ आधार तथा आधेय की संघटना भी विरूप हो वहाँ विषम ही मानना चाहिए, अतः एक स्वतन्त्र अलंकार अधिकालंकार नहीं हो सकता।' उन्होंने इस तर्क की पुष्टि में अन्य तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखा है 'यदि अधिक नामक एक स्वतन्त्र अलंकार माना जाता है तो 'विगुण'—नामक भी एक स्वतन्त्र अलंकार माना जाना चाहिए जहाँ कारण कार्य के गुण परस्पर विरुद्ध हों। रत्नाकरकार की तार्किक उर्वरता स्तुत्य है, किन्तु वस्तुतः अधिक अलंकार अतिशयोक्ति पर निर्भर है और विषम विरोध पर। 'अल्पकाल में पूरा संसार जिनमें समा जाता है उन्हीं श्रीकृष्ण में नारद-मिलन का आनन्द नहीं अँटा'—इस उक्ति में विरोध नहीं अतिशय ही अधिक आनन्दकारी है।

अप्पय्यदीक्षित ने विषम के वे ही भेद माने हैं जो मम्मट ने माने हैं। उनके उदाहरण प्रायः वे ही अभिव्यक्तियाँ हैं जो मम्मट ने प्रस्तुत की हैं। यथा—

> [१] 'विषमं वर्ण्यते यत्र घटनाननुरूपयोः।
> क्वेयं शिरीषमृद्वङ्गी क्व तावन्मदनज्वरः ॥

विषम उसे कहते हैं जिसमें अननुरूप पदार्थों की जोड़ी बतलाई जाती है। कहाँ तो यह शिरीषतुल्य कोमल अंगों वाली सुन्दरी और कहाँ यह कामज्वर।'

> [२] विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम्।
> कीर्तिं प्रसूते धवलां श्यामा तव कृपाणिका ॥

विपरीत कार्य की उत्पत्ति दूसरा विषम है। यथा आपकी श्याम असि श्वेत कीर्ति उत्पन्न करती है।

> [३] अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात्।
> भक्ष्याशयाऽहिमञ्जूषां दष्ट्वाऽऽखुस्तेन भक्षितः ॥

इष्टार्थ के लिए प्रयत्न करते-करते अनिष्ट की प्राप्ति भी विषम होती है। यथा—'भक्ष्य वस्तु की आशा से साँप की पिटारी कुतर कर चूहा साँप के द्वारा खा लिया गया।'

अप्पय्यदीक्षित ने केवल अनिष्टप्राप्ति में भी विषम माना है और उसके अनेक उदाहरण दिए हैं। उनमें से एक यह है—

'नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः।
तत्तु तत्रैव रमते हताः पाणिनिना वयम् ॥'

—'हमने मन को नपुंसक समझ कर प्रिया के पास भेजा किन्तु वह वहीं रम कर रह गया। पाणिनि ने [मन को नपुंसकलिङ्ग बनवाकर] हमें मार डाला।' किन्तु यहाँ भी इष्टावाप्ति विवक्षित है। केवल शब्दतः कथित नहीं है। दूतसंप्रेषण प्रियाप्राप्ति के उद्देश्य से ही होता है। पण्डितराज ने भी इसी तर्क से अप्पय्यदीक्षित के इस मत का खण्डन किया है।

पण्डितराज ने सर्वप्रकार का 'अननुरूपसंसर्गो विषमम्' यही सामान्य विषम का लक्षणसूत्र मान लिया है। संसर्ग को उन्होंने अनेक प्रकार का बतलाया है जिनमें मम्मटाभिमत सभी विषमभेद आ जाते हैं। 'अरण्यानी' पद्य में विमर्शिनीकार के ही समान कविकल्पितता के अभाव में विषम संसर्ग को अलङ्कार नहीं मानना ही उचित बतलाया है। विश्वेश्वर ने सर्वस्व के समर्थन में तर्क देते हुए लिखा है कि 'अरण्यानी' आदि पदार्थों में कविकल्पितता भले ही न हो किन्तु उनकी परस्पर योजना तो कविकल्पित ही है। हरिण और इस में कनकसूत्र तथा मुक्ताहार की और उन दोनों की विन्ध्याटवी में उपस्थिति कविकल्पित ही है।

मम्मट की ही परम्परा पर विषम का लक्षण विश्वेश्वर ने इस प्रकार बनाया है—

'सम्बन्धानुपपत्तिविरोधार्थानाप्त्यनिष्टसंप्राप्ती ।
अन्यजनकोभयगुणक्रियाविरोधे च विषमः स्यात् ॥'

विश्वेश्वर ने उदाहरण कालिदास साहित्य से चुने हैं—

(१) 'क्व रुजा हृदयप्रमाथिनी०' [मालविकाग्निमित्र ३।१]

(२) न खलु न खलु बाण [शाकुन्तल-१] जो अधिक स्वाभाविक और प्रभावपूर्ण है। सम्प्रेषणीयता इनमें भरपूर है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने सर्वस्व के विषमालङ्कार के विवेचन का कारिकात्मक संक्षेप इस प्रकार किया है—

'विरूपानर्थयोर्हेत्वोरुत्पत्तिर्विषमं मतम्। तथा विरूपघटना तेनेदं त्रिप्रभेदकम् ॥'

[सर्वस्व]

[सूत्र ४७] तद्विपर्ययः समम् ।

विषमवैधर्म्यादिह प्रस्तावः। यद्यपि विषमस्य भेदत्रयमुक्तं तथापि तच्छब्देन संभवादन्त्यो भेदः परामृश्यते। पूर्वभेदद्वयविपर्ययस्यानलंकारत्वात्। अन्त्यभेदविपर्ययस्तु चारुत्वात् समाख्योऽलंकारः। स चाभिरूपानभिरूपविषयत्वेन द्विविधः। आद्यो यथा—

'त्वमेवंसौन्दर्या स च रुचिरतायाः परिचितः
कलानां सीमान्तं परमिह युवामेव भजथः।
अयि द्वन्द्वं दिष्ट्या तदिह सुभगे संवदति वा-
मतः शेषं यत्स्याज्जितमिह तदानीं गुणितया ॥'

अत्राभिरूपस्यैव नायकयुगलस्योचितं संघटनमाशंसितम्।

द्वितीयो यथा—

'चित्रं चित्रं बत बत महच्चित्रमेतद्विचित्रं
जातो दैवादुचितरचनासंविधाता विधाता।
यन्निम्बानां परिणतफलस्फीतिरास्वादनीया
यच्चैतस्याः कवलनकलाकोविदः काकलोकः॥'

अत्रानभिरूपाणां निम्बानां काकानां च समागम आशंसितः। आनुरूप्यात् समत्वव्यपदेशः।

[सूत्र ४७] उस [विषम] का उल्टा सम [अलंकार कहलाता है]॥

विषम के साथ [इस अलंकार का] वैधर्म्य है अतः [इसे] यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। यद्यपि विषम के तीन भेद बतलाए हैं तथापि यहाँ 'तत् = उस' शब्द से अन्तिम भेद का ही परामर्श किया जा रहा है, क्योंकि उसी का परामर्श यहाँ संभव है। यह इसलिए कि [विषम के] प्रथम दो भेदों का विपर्यय अलंकाररूप नहीं होता। जब कि अन्तिम भेद का विपर्यय चारुत्व से युक्त होने के कारण 'सम'-नामक अलंकार होता है। वह दो प्रकार का होता है सुन्दरविषयक [सुन्दर सुन्दर का योग] तथा असुन्दरविषयक [असुन्दर असुन्दर का योग]। इनमें से प्रथम, यथा—

'सखि ! तेरा सौन्दर्य ऐसा है और वह सौन्दर्य का वेत्ता है। कलाओं की अन्तिम सीमा को तुम दोनों ही धारण करते हो। तुम दोनों का जोड़ा भी, भाग्य से, फबता है। अतः अब जो होना शेष है यदि वह हो जाए तो गुणवत्ता की जीत हो जाए।'

यहाँ नायक नायिकारूपी अच्छों-अच्छों के ही उचित योग की इच्छा की गई है। द्वितीय यथा—

'आश्चर्य, आश्चर्य, वाह वाह, बहुत ही बड़ा आश्चर्य, विचित्र ही है यह। विधाता, भाग्य से, उचितरचना करने वाला सिद्ध हुआ। क्योंकि नीम की पकी निमौरी की स्फीतता जैसी आस्वादनीय है उसकी कवलनकला का वैसा ही कोविद काक समुदाय उसे मिल गया है।'

यहाँ नीम और काक इन असुन्दर वस्तुओं का समागम बतलाया गया है। [दोनों में] अनुरूपता है अतः इसे सम कहा गया।

विमर्शिनी

तद्विपर्ययेत्यादि। संभवादिति, अलंकारत्वस्य। अनलंकारत्वादिति। कारणात् कार्योत्पत्तेः, वस्तुसाधनोद्यतस्य तत्सिद्धेश्च वास्तवत्वात्। यद्येवं तत् सरूपसंघटनापि वस्तुत एव युक्तेति तस्या अपि कथमलंकारत्वमित्याशङ्क्याह—अन्त्येत्यादि। चारुत्वादिति, अलंकारत्व-पर्यवसायिनः। अभिरूपेति। शोभनाशोभनविषयत्वेनेत्यर्थः। आद्य इति, अभिरूप-विषयः। द्वितीय इति, अनभिरूपविषयः। आनुरूप्यादिति, औचित्यलक्षणात्।

तद्विपर्ययेत्यादि। संभवात् = संभव होने से अर्थात् अलंकारत्व के संभव होने से। अनलंकारत्वात् = अलंकार न होने से अर्थात् कारण से कार्य की उत्पत्ति के अलंकार न होने से। क्योंकि किसी व्यक्ति का किसी वस्तु की सिद्धि के लिए उद्यत तथा उसको उसकी सिद्धि मिलना लौकिक सत्य है, यदि ऐसा है तो सरूप सरूप की संघटना भी लौकिक सत्य है, उसे भी अलंकार कैसे

माना जाए ? इस पर उत्तर देते हैं—अन्यत्र इत्यादि । चारुत्वात् चारुत्व होने से अर्थात् अलंकारत्व में पर्यवसित होने वाले चारुत्व के होने से। अभिरूप = अर्थात् शोभन-विषयक और अशोभन-विषयक होने से। आद्य = प्रथम = अभिरूपविषय [सुन्दरविषय]। द्वितीय = अनभिरूपविषय = असुन्दरविषय। आनुरूप्यात् = अनुरूपता जो औचित्यस्वरूप होती है।

विमर्श—समालंकार का इतिहास—

भामह, वामन, उद्भट तथा रुद्रट में समालंकार नहीं मिलता। अतः यह मानना अप्रामाणिक नहीं होता कि इसका निरूपण पहले पहले मम्मट ने ही इस प्रकार किया है—

'समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्।'

—'यदि किसी के साथ किसी के इलाघ्य सम्बन्ध की सम्भावना की जाए तो समालंकार होता है।' मम्मट ने इसे दो प्रकार का भी बतलाया है सद्योगात्मक तथा असद्योगात्मक। इन्हीं दो शब्दों के लिए सर्वस्वकार ने अभिरूपविषय और अनभिरूपविषय शब्द दिए हैं। मम्मट ने इसमें से प्रथम का जो उदाहरण दिया है वह सर्वस्व के 'स्वमेवसौन्दर्या०' पद्य का समानार्थी पद्य है—'धातुः शिल्पातिशय०'। मम्मट ने 'स्वमेवसौन्दर्या' पद्य को भी सप्तम उल्लास के दोष प्रकरण में अमवन्मतयोग दोष के लिए उद्धृत किया है। इसके चतुर्थचरण में चेत् के लिए अपेक्षित 'तद्' पद का अभाव है। अतः उसमें अपेक्षित चेत् का सम्बन्ध ही नहीं पाता। द्वितीय के उदाहरण के लिए मम्मट ने 'चित्रं चित्रं०' पद्य ही उपस्थित किया था।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर ने सम का लक्षण तो वही बताया जो सर्वस्वकार ने बताया है—'तद्विपर्ययः समम्' किन्तु उन्होंने तत्पद से विषम के तीन भेदों का भी परामर्श किया है।—'तच्छब्देन त्रयाणां विषमभेदानां परामर्शः।' ये तीन भेद हैं अनुरूपसयोग, कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति तथा सामग्रीसाकल्य। कारण से अनुरूप कार्य की उत्पत्ति में भी वे चारुत्व पाते हैं और सामग्री की समग्रता में भी। इनके उदाहरण उन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

'सन्ध्यासगोत्र कुसुमप्रबन्धमुवाह यद् गाढमशोकशाखी।
विलासिनीयावकरञ्जितपादप्रहारस्य तदेव कृत्यम् ॥'

—'अशोक वृक्ष ने जो सन्ध्या जैसे कुसुमसमूह को पर्याप्तमात्रा में धारण किया वह ठीक ही है क्योंकि विलासिनी के यावकरंजित पाद प्रहार का परिणाम होना ही वही।' यहाँ लाल अलते से रंजित पैर के प्रहार के अनुरूप लाल पुष्पों की उत्पत्ति की कल्पना में चमत्कार अवश्य है। हमें लगता है यह चमत्कार व्यग्य उत्प्रेक्षा पर निर्भर है। समग्रता के लिए उदाहरण—

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी
लोकानन्दि च बोधिसत्त्वचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुनः—
मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥'

—[नागानन्द नाटक में सूत्रधार का प्ररोचना वाक्य] 'श्रीहर्ष निपुण कवि हैं, यह दर्शक समाज भी गुणग्राही है, बोधिसत्त्व का चरित लोकानन्ददायी है और हम भी नाट्यप्रयोग में दक्ष हैं। एक एक वस्तु भी अभीष्ट फल देने में कारण बनता है, तब मेरे भाग्यातिशय से तो यह सभी के सभी गुणों का समुदाय एकत्रित हो गया है'।

रत्नाकरकार ने सर्वस्वकार पर कटाक्ष करते हुए भी लिखा—

'एव चानुरूपकार्योत्पत्तौ विच्छित्तिविशेषवशेन सौन्दर्यातिशयदर्शनात् कारणानुरूपत्वे कार्यस्य न किंचित् चारुत्वमिति न वाच्यम्।'

विमर्शिनीकार ने इतने स्पष्ट आक्षेप का भी कोई उत्तर नहीं दिया। कदाचित् उन्हें भी यह मत मान्य हो।

अप्पय्यदीक्षित—अप्पय्यदीक्षित ने रत्नाकर के इस मत को स्वीकार कर लिया है। उन्होंने समालंकार के तीन भेद माने हैं—

[१] समं स्याद् वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः।

अच्छे या बुरे दोनों अनुरूपों का वर्णन समालंकार। इसे दीक्षितजी ने प्रथम विषम का प्रतिद्वन्द्वी माना है। इसके दोनों प्रकार के उदाहरण उन्होंने दे दिए हैं। उनमें अशोभन योग के लिए तो 'चित्रं चित्रं' पद्य ही उन्होंने दिया है।

[२] सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः।

—कारण से कार्य की सरूपता भी सम कही गई है। इसे दीक्षित जी ने द्वितीय विषम का प्रतिद्वन्द्वी माना है। उदाहरण के लिए उन्होंने यह पद्य उद्धृत किया है—

'दवदहनादुत्पन्नो धूमो घनतामवाप्य वर्षैस्तम्।
यच्छमयति तद् युक्तं सोऽपि हि दवमेव निर्दहति॥'

—'दवाग्नि से उत्पन्न धुआँ मेघ बनकर वर्षा के द्वारा दवाग्नि को जो बुझाता है वह ठीक ही है, वह [दवाग्नि] भी तो [जिससे उत्पन्न होता है उसी] दव [जंगल] को ही जला डालता है।'

[३] 'विनानिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थं कर्तुमुद्यतः।'

—'जिस कार्य को करने के लिए कोई उद्यत हो उसकी सिद्धि यदि बिना अनिष्ट के हो जाए तो यह भी सम होता है।' इस भेद को दीक्षितजी ने अनर्थप्राप्ति नामक विषमभेद का प्रतिद्वन्द्वी माना है।

उदाहरण—हाथी के याचक को राजदरबार से अर्धचन्द्र मिलने पर कथित—

'युक्तो वारणलाभोऽयं जातस्ते वारणार्थिनः।'

—'तुम तो वारण [हाथी] चाह ही रहे थे अतः तुम्हें यह वारण [निवारण] का लाभ ठीक ही हुआ।'

पण्डितराज—केवल अनुरूप वस्तुयोजना के विपर्यय को ही समालंकार मानने तथा अन्यविषमभेदों के विपर्यय को अलंकार न मानने के सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त और विमर्शिनीकार द्वारा किए गए उसके समर्थन का जो खण्डन रत्नाकरकार ने किया था वह दीक्षितजी के ही समान पण्डितराज को भी उचित लगा। पण्डितराज ने समालंकार का 'अनुरूपसंसर्गः समम्' इस प्रकार सम को अनुरूपसंसर्गात्मक मान अननुरूपसंसर्गात्मक विषम से सर्वथा उलटा बतलाया और सम को भी विषम के ही समान तीन प्रकार का मान सर्वस्व और विमर्शिनी का स्वयं भी खण्डन किया। इसी प्रकार विषम के सभी भेदों के विपरीत आनुरूप्य के चारुत्व से निष्पन्न इस अलंकार के एक-एक कर के उदाहरण भी दिये। पण्डितराज ने सर्वस्व और विमर्शिनी को जिस रूप में उपस्थित किया है उसे सर्वस्व और विमर्शिनी की टीका ही कहा जा सकता है।

विश्वेश्वर ने भी

'अन्योन्यसंगमार्हौ संबध्येते यदा समं तत् स्यात्।'

इस प्रकार शोभन या अशोभन पदार्थों की परस्पर सम्बन्ध की अनुरूपता को समालंकार का कारण मानकर कार्यकारण के आनुरूप्य में समालंकार स्वीकार कर लिया है। उसका उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

'गुणौ पयोधेर्निजकारणस्य न हानिवृद्धी कथमेतु चन्द्रः'।

—'अपने कारण समुद्र के गुण हानिवृद्धि को चन्द्रमा कैसे न प्राप्त करे'।

विश्वेश्वर ने पण्डितराज द्वारा सर्वस्व के खण्डन का कोई उत्तर नहीं दिया है। अतः सर्वस्व का मत उन्हें भी अस्वीकार ही है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने समालंकार का सारसंक्षेप सञ्जीविनी में इस प्रकार किया है—

'सरूपयोः सद्घटना समालङ्कार इष्यते।
श्लाघ्याश्लाघ्यत्वयोगेन द्वौ भेदावस्य सम्मतौ॥'

[सर्वस्व]

विरोधमूलं विचित्रं लक्षयति—

[सूत्र ४८] स्वविपरीतफलनिष्पत्तये प्रयत्नो विचित्रम्।

यस्य हेतोर्यत्फलं तस्य यदा तद्विपरीतं भवति तदा तद्विपरीतफलनिष्पत्त्यर्थं कस्यचित् प्रयत्न उत्साहो विचित्रालंकारः, आश्चर्यप्रतीतिहेतुत्वात्। न चायं प्रथमो विषमालंकारप्रकारः। स्वनिषेधमुखेन वैपरीत्यप्रतीतेः। विपरीतप्रतीत्या तु स्वनिषेधस्तस्य विषयः। यथा—'तमालनीला शारदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते' । इह त्वन्यथा प्रतीतिः। यथा—

'घेत्तुं मुच्चइ अहरो अण्णंतो वलइ पेक्खिउं दिट्ठी।
घडिउं विहडंति भुआ रआअ सुरअम्मि वीसामो॥'

अत्र मोचनवलनविघटनविश्रमाणां यथाक्रमं ग्रहणप्रेक्षणघटनरमणानि स्वविपरीतफलानि प्रयत्नविषयत्वेन निबद्धानि। यथा वा—

'उन्नत्यै नमति प्रभुं प्रभुगृहान् द्रष्टुं बहिस्तिष्ठति
स्वद्रव्यव्ययमातनोति जडधीरागामिवित्ताशया।
प्राणान् प्राणितुमेव मुञ्चति रणे क्लिश्नाति भोगेच्छया
सर्वं तद्विपरीतमेव कुरुते तृष्णान्धदृक् सेवकः॥'

अत्र विपरीतफलनिष्पादनप्रयत्नः सुज्ञानः।

विरोधमूलक [एक] विचित्र [नामक सर्वथा स्वोपज्ञ, पूर्वाचार्यों द्वारा अप्रतिपादित अलंकार] का लक्षण बनाते हैं—

[सू० ४८] 'अपने विरुद्ध फल की निष्पत्ति के लिए प्रयत्न विचित्र [कहलाता है] ॥'

जिस हेतु का जो फल होता है उसका जब उसके विपरीत फल होता है तब उसके विपरीत फल की निष्पत्ति के लिए किसी का प्रयत्न अर्थात् उत्साह विचित्रालंकार कहलाता है, इसलिए कि यह आश्चर्य की प्रतीति का कारण बनता है। यह विषमालंकार का ही प्रथम प्रकार है ऐसा नहीं क्योंकि यहाँ वैपरीत्य की प्रतीति अपने निषेध के माध्यम से होती है, जब कि विषम में वैपरीत्य की प्रतीति के माध्यम से अपना निषेध प्रतीत होता है। यथा 'तमालनील कृपाण शारदिन्दुपाण्डु यश जो त्रिलोक का आभरण है, पैदा करता है' इत्यादि में। यहाँ प्रतीति उलटी होती है। यथा—

'ग्रहीतुं मुच्यतेऽधरोऽन्यतो वलति प्रेक्षितुं दृष्टिः।
घटितुं विघटेते भुजौ रताय सुरतेषु विश्रमः॥

'अधर छोड़ा जाता है ग्रहण करने के लिए, दृष्टि अन्यत्र घूमती है देखने के लिए, भुजाएँ छूटती हैं जुड़ने के लिये, सुरत में विश्राम होता है रमण के लिए।'

यहाँ छोड़ा जाना, घूमना, छूटना और विश्राम के प्रति ग्रहण, देखना, जुड़ना तथा रमण विपरीत फल हैं जो प्रयत्न के विषय के रूप में यहाँ निबद्ध हैं।

दूसरा उदाहरण यथा—

—'उन्नति के लिए प्रभु के समक्ष झुकता है, प्रभु के घर देखने के लिए बाहर बैठता है, जड़धी आगामी धन की आशा से अपने धन का व्यय कर डालता है, जीवित रहने के ही लिये रण में प्राण छोड़ देता है, भोग की इच्छा से क्लेश उठाता है। इस प्रकार तृष्णा से अन्धी आँख का सेवक [जो कुछ चाहता है] सब कुछ उसके विपरीत ही करता रहता है।'

यहाँ विपरीत फल की निष्पत्ति का प्रयत्न सुखपूर्वक जाना जा सकता है।

विमर्शिनी

स्वविपरीतेत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—यस्येत्यादिना। यदिति प्रसिद्धम्। फलमिति का 'म्। तस्येति हेतोः। तदिति कार्यम्। प्रयत्नस्य कार्यादिभेदेऽपि न वैचित्र्यमिति तदिह नोक्तम्। एवं यस्य यत्कार्यं तस्य तावत्तद्विपरीतं न भवति। यदि च तत्त्वं स्यात्तन्निष्पत्त्यर्थं च यदि कस्यचित्प्रयत्नः स्यात्तदायमलंकार इत्यत्र तात्पर्यम्। ननु चैतद्विरूपकार्योत्पत्तेः किं न विषममेव भवतीत्याशङ्क्याह—न चायमित्यादि। तस्येति विषमस्य। नीलयापि पाण्डु यशः प्रसूतमिति विपरीतप्रतीतिबलादेतन्नोपपद्यत इति ह्यत्र प्रतीतिः। अन्यथेति निषेधबलाद् वैपरीत्यप्रयत्न इति। यद्यपि विषमे विरूपस्य कार्यस्य स्वयमेवोत्पत्तिरिह च तन्निष्पत्तये प्रयत्न इति स्थितोऽप्यनयोः स्फुटो भेदस्तथापि ग्रन्थकृता विशेषपरिपोषायैव सूक्ष्मेक्षिकागम्यो भेदोऽयमुक्तः। मोचनस्याग्रहणं स्वं फलम्। ग्रहणं पुनः कथं भवतीत्यामुख एवोद्भिन्नत्वेनात्र निषेधप्रतीतिः। अनन्तरं च तन्निमित्ता वैपरीत्यप्रतीतिः। अत एव विषमादस्य भेदः। द्वितीय इति। पूर्वोक्तयुक्त्यैवावगतत्वात् पुनरुदाहरणमस्य लक्ष्ये प्राचुर्यदर्शनार्थम्। एतद्धि ग्रन्थकृतैवाभिनवत्वेनोक्तम्।

स्वविपरीतेत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—यस्य इत्यादि के द्वारा। यत् = जो=प्रसिद्ध। फलम् = कार्य। तस्य = हेतु का। तद् = वह कार्य। [जैसा कि अलंकाररत्नाकरकार ने बतलाया है—प्रयत्न कार्य आदि के भेदों से कई प्रकार का [अर्थात् कायिक, वाचिक, मानस] होता है किन्तु उसकी गणना में कोई विशेषता [चमत्कृति] नहीं रहती अतः [यहाँ] उसे नहीं कहा गया। इस प्रकार तात्पर्य यह हुआ कि जो जिसका [उद्देश्यभूत] कार्य होता है वह सामान्यतः तो उसके विपरीत नहीं होता, तथापि यदि विपरीत हो और यदि उसके लिये कोई व्यक्ति प्रयत्न करता है तब यह अलंकार होता है। अच्छा, इसे विरूपकार्यसिद्धिस्वरूप विषम ही क्यों न मान लिया जाय ? ऐसी शंका उठाकर लिखते हैं न चायम् इत्यादि। तस्य उसका = विषम का। 'नीली तलवार ने भी सफेद यश को जन्म दिया' ऐसी वैपरीत्य की प्रतीति से यह प्रतीति होती है यहाँ कि 'यह ठीक नहीं है'। अन्यथा = निषेध के आधार पर वैपरीत्य के लिए प्रयत्न होता है। यद्यपि विषम में विरूप कार्य की उत्पत्ति बिना प्रयत्न के स्वयमेव होती है और यहाँ होता है उसके लिए प्रयत्न, इस प्रकार इन दोनों का अन्तर स्पष्ट ही है तथापि ग्रन्थकार ने इसी अन्तर की पुष्टि के लिए यह अन्तर बतलाया है। यह सूक्ष्म दृष्टि से समझा जा सकता है। छोड़ने का अपना फल है ग्रहण न करना। ग्रहण करना उसका फल कैसे हो सकता है इस प्रकार यहाँ आरम्भ में निषेध की प्रतीति साफ-साफ हो जाती है। उससे होने वाले वैपरीत्य की प्रतीति उसके

बाद होती है। इसलिए यह विषम से भिन्न है। सुज्ञानः=सुखपूर्वक समझा जा सकता है, अर्थ यह कि इस विचित्रालंकार का अस्तित्व प्रथम उदाहरण से ही स्पष्ट हो जाता है। तब यह जो दूसरा उदाहरण दिया गया है वह केवल लक्ष्य [काव्यक्षेत्र] में इसकी प्रचुरता दिखलाने के लिए। इस अलंकार को ग्रन्थकार ने ही पहले पहल नवीन अलंकार के रूप में प्रस्तुत किया है।

विमर्श—भामह, दण्डी वामन, उद्भट, रुद्रट और मम्मट में यह अलंकार नहीं मिलता। विमर्शिनीकार का कहना यथार्थ है कि इस अलंकार की उद्भा सर्वस्वकार ने ही की है। परवर्ती आलंकारिकों में—

शोभाकर—ने अलंकाररत्नाकर में इस अलंकार को मान तो लिया है किन्तु इसका लक्षण अधिक व्यापक बना दिया है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

'विफलः प्रयत्नो विचित्रम्। —विफल प्रयत्न विचित्र।'

प्रयत्न के उन्होंने तीन भेद किए हैं [१] कायिक, [२] वाचिक तथा [३] मानसिक। इन तीनों प्रयत्नों को उन्होंने पुनः प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप, इस प्रकार दो प्रकार का माना है। इस प्रकार रत्नाकरकार के अनुसार प्रयत्न ६ प्रकार का हुआ। विमर्शिनीकार ने इसी की ओर कटाक्ष किया है और इनकी अलंकारसर्वस्व में अप्राप्त गणना का समर्थन किया है।

रत्नाकरकार ने विफलता को भी अनेक भेद तथा उपभेदों में बाँटा है [१] प्रथम विफलता वह है जिसमें प्रसिद्ध फल के विपरीत फल के लिए प्रयत्न हो। [२] द्वितीय विफलता वह है जिसमें प्रयत्न तो बहुत बड़ा हो परन्तु फल तुच्छ हो अथवा इसके विपरीत स्थिति हो [३] तीसरी विफलता वह है जिसमें प्राप्त फल असाध्य, असम्भव या अनुपयोगी हो। इस प्रकार ६ प्रकार के प्रयत्नों में से प्रत्येक प्रयत्न में इन छहों विफलताओं का गुणन करने से विचित्र के शुद्ध ३६ भेद हो जाते हैं। रत्नाकरकार ने निम्नलिखित कारिका द्वारा इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

'अर्थो विरुद्धविषमादिरनेकभेदः कार्याश्रितो भवति यद्यपि किल्रमुष्मिन्।
औचित्यवत्फलवियोगवपुस्तथापि सामान्यलक्षणमखण्डितभेदमाणि ॥'

—'कार्य की दृष्टि से अर्थ विरुद्ध और विषम आदि अनेक प्रकार का होता है तथापि इस अलंकार में 'उचित फल का अभाव' यह सामान्य लक्षण प्रत्येक में अखण्डित ही रहता है।'

उक्त भेदों में से कतिपय भेदों के उदाहरण भी रत्नाकरकार ने दिए हैं किन्तु उनमें से अधिकांश अन्य अलंकारों में अन्तर्भूत सिद्ध होते हैं।

अप्पय्यदीक्षित ने भी विचित्रालंकार की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

'विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद् विपरीतफलेच्छया।'
—'फल के लाभ के लिए विपरीत प्रयत्न विचित्र।'

उदाहरण—'नमन्ति सन्तस्त्रैलोक्यादपि लब्धुं समुन्नतिम्।'
—'सत्पुरुष त्रैलोक्य से ऊँचा होने के लिए नवते हैं।'

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी विचित्र को स्वतन्त्र अलंकार माना है और इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

'इष्टमिद्धयर्थमिष्टेपिणा क्रियमाणमिष्टविपरीताचरणं विचित्रम्।'

—इष्टसिद्धि के लिए इष्टवस्तु को ही चाह रहे व्यक्ति के द्वारा किया जा रहा इष्टवस्तु के विपरीत अर्थात् प्रतिकूल आचरण विचित्र कहलाता है।' विषम से इसका भेद पण्डितराज ने एक ही बिन्दु

पर किया है। वह है पुरुषप्रयत्न। विषय में वैषम्य प्राकृतिक होता है पुरुषप्रयत्नकृत नहीं। विषम में कार्य और कारण के गुणों में विपरीतता ही चमत्कारजनक होती है। रत्नाकरकार द्वारा प्रस्तुत प्रपंच को पण्डितराज ने छोड़ दिया है।

विश्वेश्वर ने विचित्र को स्वतन्त्र अलंकार नहीं माना यद्यपि विषम के विवेचन में उन्होंने इसका अन्तर्भाव भी नहीं दिखलाया।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की कारिका इसपर इस प्रकार है—

'प्रयत्नस्तु विचित्रं स्याद् विपरीतफलाप्तये।
निषेधतो वैपरीत्याद् विषमाल्लकृतेमिदा॥'

[सर्वस्व]

[सू० ४९] आश्रयाश्रयिणोरनानुरूप्यमधिकम्।

विरोधप्रस्तावादिह निर्देशः। अनानुरूप्यस्य विरोधोत्थापकत्वात्। तच्चानानुरूप्यमाश्रयस्य वैपुल्येऽप्याश्रितस्य परिमितत्वाद्वा भवति आश्रितस्य वैपुल्येऽप्याश्रयस्य परिमितत्वाद्वा। क्रमेण यथा—

'द्यौरत्र क्वचिदाश्रिता प्रविततं पातालमत्र क्वचित्
क्वाप्यत्रैव धरा धराधरजलाधारावधिर्वर्तते।
स्फीतस्फीतमहो नभः कियदिदं यस्येत्थमेवंविधै-
र्दूरे पूरणमस्तु शून्यमिति यन्नामापि नास्तं गतम्॥'
'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्ब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति॥'

पूर्वत्र नभस आश्रयस्य वैपुल्येऽप्याश्रितानां द्युप्रभृतीनां पारिमित्यं चारुत्वहेतुः। उत्तरत्र तु टंकारध्वनेराश्रितस्य महत्त्वेऽपि ब्रह्माण्डस्याश्रयस्य स्तोकत्वम्।

[सू० ४९] आश्रय और आश्रयी की अननुरूपता अधिक [नामक अलंकार कहलाता है]।

विरोध के कारण इसे यहाँ बतलाया जा रहा है, क्योंकि अननुरूपता [अनुरूपता का अभाव] विरोध खड़ा करती है। यह अननुरूपता आश्रय के विशाल होने पर भी आश्रित के परिमित होने से भी होती है और आश्रित के विशाल होने पर भी आश्रय के परिमित होने पर भी। क्रम से उदाहरण—[आश्रयविपुलता तथा आश्रिततुच्छता पर आश्रित अधिक]—

'इसी में कहीं स्वर्ग आश्रित है, कहीं इसी में पर्याप्त विस्तृत पाताल भी है, और इसी में कहीं पर्वत-समुद्रों तक व्यापक भूमि भी टिकी हुई है। इस प्रकार देखो तो कितना स्फीत और स्फीततर है यह आकाश, जिसके इस प्रकार के इन [स्वर्ग, पाताल और पृथ्वी जैसे पदार्थों] के द्वारा भी भर जाने की बात तो दूर रहे, जिसका 'शून्य' यह नाम भी समाप्त नहीं हो सका।'

[आश्रयतुच्छता तथा आश्रितविपुलता पर आश्रित अधिक]—

'भुजदण्ड द्वारा खींचे शिवधनुष के टूटने से उठी टंकार, जो बड़े भाई [राम] के बालचरित [रूपी नाटक] की प्रस्तावना [आरम्भ] की सूचक नान्दी [नगाड़ा] है तथा जिसकी पुञ्जीभूत प्रचण्डता, तत्काल कपालसन्धि के शिथिल हो जाने से डगमगाते ब्रह्माण्डरूपी भाण्ड [घट] में घूम रही है, अहो ! अभी तक शान्त नहीं हो रही।'

प्रथम [पद्य] में आकाशरूपी आश्रय के विशाल होने पर भी स्वर्ग आदि आश्रित की परिमितता चारुता का हेतु है और दूसरे में टंकारध्वनिरूपी आश्रित के विपुल होने पर भी ब्रह्माण्डरूपी आश्रय की परिमितता।

विमर्शिनी

आश्रयेत्यादिना। इहेति विचित्रानन्तरम्। अन्यनुरूपयोः संघटने विषममुक्तमित्याश्रयाश्रयिणोस्तस्मिन् कथमलंकारान्तरमुच्यत इत्याशङ्क्याङ्गीकारेणैतद्व्याचष्टे—तच्चेत्यादिना। आश्रयस्येति, आधारस्य। आश्रितस्येति, आधेयस्य। अनेनैव चास्य भेदद्वयमप्युक्तम्। एवं च परिमितत्वापरिमितत्वयोः सापेक्षत्वात्तथाविधवस्तुद्वयसंघटनयैव तदवगमनसिद्धिरित्यत्राधाराधेययोः संघटनेनैवाननुरूपत्वमवगम्यते। विषमे चानन्यापेक्षत्वेन स्वत एवाननुरूपयोः संघटनमित्यनयोर्महान् भेद इत्यत्र पिण्डार्थः। इत्थम्—

'आधाराधेययोर्यत्र संसर्गः स्याद् विरूपयोः।
स स्फुटो विषमो वाच्यमधिकं नाधिकं ततः॥'

इति न वाच्यम्। तत्राश्रयाश्रयिणोः कविप्रतिभाकल्पितमेव ग्राह्यम् न पुनर्वास्तवम्। तेन चारुत्वाप्रतीतेः। तेन नभसो द्युप्रभृतीनां चान्योन्यापेक्षया वैपुल्यं पारिमित्यं च वास्तवमेवेत्यनुदाहरणमेतत्। तदुदाहरणान्तरमन्वेष्यम्। तत्तु यथा—

'रणरणअगुणिअमुज्झाणम्मि तणुई समुद्दगहिरम्मि।
मेरुअहवपहुसः तुज्झ हिअए कहं णु ठाई॥'

अत्र हृदयस्य महत्त्वं तन्व्याश्च तनुत्वमित्याधाराधेययोरननुरूप्यम्।

आश्रयेत्यादि। इह = यहाँ अर्थात् विचित्रालंकार के पश्चात्। 'अननुरूप के मिलन में विषम अलंकार माना ही है अतः जब आश्रय और आश्रयी अननुरूप हैं तो इसे अलग अलंकार क्यों बतलाया जा रहा है'—इस आशंका को हृदय में रखकर इस सूत्र की व्याख्या करते हैं—तच्च इत्यादि द्वारा। आश्रय = आधार। आश्रित = आधेय। इसी के द्वारा इस अलंकार के दो भेद भी बतला दिए। इस प्रकार परिमितत्व और अपरिमितत्व परस्पर सापेक्ष होते हैं, अतः इनसे युक्त दो वस्तुओं के समागम से ही इनकी परिमितता और अपरिमितता तथा तदाश्रित अननुरूपता का बोध सम्भव होता है। इस प्रकार यहाँ अननुरूपता का बोध आधार और आधेय के योग पर निर्भर रहता है। विषम में अननुरूपता दूसरे पर निर्भर नहीं रहती, वहाँ अननुरूप पदार्थों का योग स्वतः ही होता है। इस प्रकार इन दोनों में महान् भेद है। इस प्रकार—[अलङ्काररत्नाकरकार को]

'जहाँ विरूप आधार और आधेय का संबन्ध हो वह भी एक स्पष्ट विषम है। अतः अधिक को अधिकालंकार या अतिरिक्त अलंकार नहीं मानना चाहिए।' ऐसा नहीं कहना चाहिए।

आधाराधेय की वही वह [अननुरूपता] यहाँ [अलङ्कारत्व के लिए] ग्राह्य है जो कविकल्पित हो, वास्तविक नहीं। वास्तविक से चारुत्व की प्रतीति नहीं होती। इसलिए, आकाश

और स्वर्ग आदि की परस्पर के प्रति विपुलता और परिमितता वास्तविक है अतः इसे उदाहरण नहीं माना जाना चाहिए। अतः उसका अन्य कोई उदाहरण खोजा जाना चाहिए। वह यह है—

'रणरणकगुणितमुग्धत्वे तन्वी समुद्रगम्भीरे।
मेरुकरवक्षसस्तव हृदये कथं नु स्यास्यति॥'

अर्थात् 'तुम्हारे उस हृदय में वह तन्वी कैसे बैठेगी जिसमें भरा हुआ मुग्धत्व उत्कण्ठा से कई गुना हो गया है जो समुद्र के समान गंभीर है और जिसका वक्षस्थल सुवर्णगिरि-सुमेरु के तट के समान है (?)।

यहाँ हृदय में विपुलता और तन्वी में परिमितता बतलाई जा रही है अतः आधार और आधेय में अननुरूपता है।

अधिकालंकार का इतिहास—

भामह, वामन तथा उद्भट में अधिक नहीं मिलता। इसकी कल्पना पहले-पहल रुद्रट ने की है। रुद्रट ने इसके दो भेद बतलाए हैं—

[१] दो विरुद्ध वस्तुओं का एक ही वस्तु से जन्म। यथा 'मेघ पानी और जलती आग दोनों एक साथ बरसा रहा है।'

[२] छोटा होने पर भी आधेय बड़े आधार से बढ़ जाना। यथा 'उसके अगढ़िशाल हृदय में वह तन्वी इतनी फैल कर रह रही है कि दूसरी किसी सुन्दरी को वहाँ अवकाश ही नहीं है।'

उपर्युक्त दोनों के लक्षण इस प्रकार हैं—

[१] यत्रान्योन्यविरुद्धं विरुद्धबलवत्क्रियाप्रसिद्धं वा।
वस्तुद्वयमेकस्माज्जायत इति तद् भवेदधिकम्॥ ९।२६।

[२] यत्राधारे सुमहत्याधेयमवस्थितं तनीयोऽपि।
अतिरिच्येत कथंचित् तदधिकमपरं परिज्ञेयम्॥ ९।२८।

मम्मट—मम्मट ने रुद्रट के प्रथम अधिक को छोड़ केवल द्वितीय को ही अलंकार माना है। उनकी कारिका यह है—

'महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात्।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत्॥'

—'प्रस्तुत वस्तु के प्रकर्ष की विवक्षा से, छोटे होने पर भी जहाँ आश्रय और आश्रित [अर्थात् आधार और आधेय] अपने से बड़े अपने आश्रित और आश्रय से बड़े बतलाए जाएँ वह अधिक।' दोनों में से प्रथम का उदाहरण—

'अहो विशालं भूपाल भुवनत्रितयोदरम्।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते॥'

—'अहो, तीनों भुवन का उदर बहुत बड़ा है राजन्! इसमें आपका अमेय यशोराशि भी जो बन जाता है।'

इसमें आधेय यश को बड़ा बतलाकर उससे छोटे त्रैलोक्यरूपी आधार को बड़ा बतलाया जा रहा है। इसमें विवक्षित है यशोराशि का प्रकर्ष। द्वितीय का उदाहरण—

'युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः॥'

—'युगान्त काल में जो अपना प्रपंच बटोर लेते हैं तो जिनके शरीर में सारे भुवन पर्याप्त फैलाव के साथ बन जाते हैं भगवान् कृष्ण के उसी शरीर में तपोधन नारद के आने का प्रकर्ष नहीं बन सका।' यहाँ वास्तविक रूप से छोटे प्रहर्ष को प्रकृष्ट बतलाने के लिए उसे उसके उससे बड़े भगवच्छरीर रूपी आधार से बड़ा बतलाया जा रहा है।

इस प्रकार अधिक के व्यापक रुद्रट से आगे बढ़कर मम्मट तक आते-आते ही अधिक के लक्षण में अन्तर आ गया। आगे सर्वस्वकार तक पहुँचते-पहुँचते तो उसके लक्षण में पर्याप्त परिवर्तन दिखाई दे रहा है। रुद्रट और मम्मट के लक्षणों में तीन-तीन कोटियाँ थीं छोटा, बड़ा और छोटा बड़े से बड़ा। सर्वस्वकार ने इन कोटियों से बच कर लक्षण योजना का सरलतम रूप निकाला। इसमें दो ही कोटियाँ आती हैं। एक तो आधार और आधेय की वास्तविकता की कोटि और दूसरी उसके विपरीत उनके काल्पनिक आकार की कोटि। इसमें वास्तविकता के ये दो अश एक ही सूत्र में आ समाते हैं—एक आधारगत परिमितता या अपरिमितता का और दूसरा आधेयगत अपरिमितता या परिमितता का। इस प्रकार परिष्कार लक्षणमात्र में ठहरता है। अर्थयोजना ज्यों की त्यों रहती है। किन्तु रुद्रट द्वारा प्रतिपादित प्रथम भेद अमान्य सर्वस्वकार को भी है।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर—अधिक को विषम का ही भेद बतलाते हैं और उसे एक अतिरिक्त अलकार नहीं मानते। विमर्शिनीकार उनका खण्डन करते हैं।

अप्पयदीक्षित—ने मम्मट द्वारा प्रस्तुत अधिकालङ्कार की स्थितियों को ही दो पृथक् अनुष्टुभों में इस प्रकार विभक्त कर दिया है—

[१] 'अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम्।
ब्रह्माण्डानि जले यत्र तत्र मान्ति न ते गुणाः॥'

[२] 'पृथ्वाधेयाद् यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम्।
कियद् वाग्ब्रह्म यत्रैते विश्राम्यन्ति गुणास्तव॥'

अप्पय्यदीक्षित ने प्रथम के लिए मम्मट द्वारा उदाहृत माघ का ही 'युगान्तकाल' पद्य भी दे दिया है और द्वितीय के लिए 'अहो विशाल०' पद्य भी। लक्षण निर्माण में अप्पयदीक्षित ने भी क्रम सर्वस्वकार का ही अपनाया है।

पण्डितराज—जगन्नाथ भी सर्वस्व और कुवलयानन्द की ही पद्धति पर अधिक का लक्षण बनाते हैं किन्तु उसमें वह प्रयोजनांश भी समाविष्ट कर देते हैं जो मम्मट ने वृत्ति में स्पष्ट किया था—'प्रस्तुतार्थ के प्रकर्ष की विवक्षा'। उनका लक्षण यह है—

'आधाराधेययोरन्यतरस्यातिविस्तृतत्वसिद्धिफलकमितरस्यातिन्यूनत्वकल्पनमधिकम्।'

'आधार और आधेय में से किसी एक की अतिविस्तृतता बतलाने के लिए अन्य में अति-न्यूनता की कल्पना अधिक।' कल्पनाशब्द देकर पण्डितराज ने वास्तविक अन्तर को अकाव्य और अधिक के लिए अनुदाहार्य कहा है। इस प्रकार वे 'यौरत्र०' पद्य को कविकल्पना के अभाव में अधिक के लिए ठीक उसी प्रकार अनुदाहार्य मानते हैं जिस प्रकार विमर्शिनीकार। विश्वेश्वर पण्डित इसका ठीक उसी पद्धति पर प्रतिवाद करते हैं जिस पर उन्होंने 'अरण्यानी क्वेयम्' पद्य में सर्वस्व के खण्डन का प्रतीकार किया है। वे यहाँ भी पदार्थ के रूप में नभ के मध्य स्वर्गादि की कल्पना कविप्रतिभा का ही विषय मानते हैं। इस प्रकार वे यहाँ भी चमत्कार स्वीकार करते और अधिकालंकार के लिए इसे उपयुक्त मानते हैं। सच यह है कि स्वत सम्भवी अर्थ को काव्य मानना यदि आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज तक के आचार्यों को यदि अनुचित नहीं लगता तो उन्हें, ऐसे पद्यों में अलङ्कारत्व और तदाश्रित काव्यत्व मानने में कोई अनौचित्य नहीं देखना चाहिए।

निरञ्जेश्वर का अधिक लक्षण इस प्रकार का है—

'आधारस्याधेयतादाधेयस्यापि वाधारात् ।
यदि वर्ण्यते महत्त्वं तत् कथयन्त्यधिकमधिकज्ञाः ॥'

श्रीविद्याचक्रवर्ती की कारिका इस पर निम्नलिखित है—

'अनानुरूप्यमधिकमाश्रयाश्रयिणोर्मतम् ।
आश्रयाश्रयिवैपुल्यवशतो द्विप्रभेदकम् ॥'

[सर्वस्व]

[सू० ५०] परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम् ।

इहापि विरोधप्रस्ताव एव निर्देशकारणम्, परस्परजननस्य विरुद्धत्वात् । क्रियाद्वारकं यत्र परस्परोत्पादकत्वं, न स्वरूपनिबन्धनं, स्वरूपस्य तथाऽवोक्तिविरोधात् तत्रान्योन्याख्योऽलंकारः । यथा—

'कण्ठस्य तस्याः स्तनबन्धुरस्य मुक्ताकलापस्य च निस्तलस्य ।
अन्योन्यशोभाजननाद् बभूव साधारणो भूषणभूष्यभावः ॥'

अत्र शोभाक्रियामुखकं परस्परजननम् ।

[सू० ५०] परस्पर में क्रिया की उत्पत्ति हो तो अन्योन्य ।

यहाँ भी विरोध का प्रसङ्ग ही निर्देश का कारण है क्योंकि परस्पर की उत्पत्ति विरोधपूर्ण होती है । परस्पर की उत्पादकता जहाँ क्रिया के द्वारा होती है, न कि स्वरूप के द्वारा, क्योंकि स्वरूप की वैसी उक्ति [अपरिहार्य रूप से] विरुद्ध होती है, वहाँ अन्योन्यालङ्कार होता है । यथा—

'उस [पार्वती] का स्तनों से बन्धुर [उतार-चढ़ाव युक्त] कण्ठ तथा निस्तल [गोल] मुक्ताहार ये दोनों, दोनों के भूषण थे और दोनों दोनों के भूष्य, क्योंकि शोभा दोनों की ही बढ़ रही थी दोनों से ।' [कुमारसं० १।४२]यहाँ शोभारूपी क्रिया के द्वारा परस्परजनकता है ॥'

विमर्श:—इस अलंकार के सूत्र और वृत्ति की भावयोजना कुछ ऐसी है जिससे प्रतीत होता है कि दोनों दो भिन्न रचयिताओं द्वारा रचे गए हैं ।

विमर्शिनी

परस्परमित्यादि । ननु यदि परस्परजननस्य विरुद्धत्वं तत्कथमस्यालंकारत्वमित्याशङ्क्याह—क्रियेत्यादि । क्रियाशब्देनात्र धर्मो लक्ष्यते । अन्यथा—

'प्रकाशः कोऽपि कैलासशैलपूर्णेन्दुबिम्बयोः ।
उदियाय तदान्योन्यपटुत्वजननक्रमात् ॥'

इत्यादौ गुणात्मकपटुत्वमुखेन परस्परजननेऽप्यव्याप्तिः स्यात् । परस्परोत्पादकत्वमिति । परस्परनिष्पादकत्वमित्यर्थः । एवं चानेन जननस्य क्रियासामान्यात्मककारणार्थत्वं दर्शितम् । तेन—

'प्रियतमहृदयं विवेश तन्वी परयुवतिप्रसरापसारणाय ।
अतिसुभगतया हरन्तु मान्या इति च निजे हृदये न्यवेशयत् तम् ॥'

इत्यत्र परस्परं हृदयानुप्रवेशस्ताभ्यां कृत इति प्रतीतेः पर्यवसानात्परस्परजननस्याव्यापकत्वं न वाच्यम्।

'विपर्ययं पूर्वकथाद्भुतस्य चालुक्यभूपालशरश्चकार।
पपात यत्स्रस्तधृतिर्वराहस्तं विह्वलाङ्गं वसुधा बभार॥'

इत्यत्र पुनरादिवराहवृत्तान्तवैलक्षण्यमात्रस्य विवक्षितत्वादन्योन्यालंकार एव नास्तीति कस्याव्यापकत्वं वा स्यात्। एवमन्यत्रापि ज्ञेयम्। तथात्वोक्तिविरोधादिति। इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात्। यदि पुनरत्र विरोधसमाधिर्भवेत्तदालंकारत्वमपि स्यादिति भावः। यथा—

'धनेन जायते प्रज्ञा प्रज्ञया जायते धनम्।
प्रज्ञार्थौ जीवलोकेऽस्मिन्परस्परनिबन्धनम्॥'

अत्र प्रज्ञाधनयोः स्वरूपस्य परस्परं जननम्। शोभाक्रियेति। सैव ह्यत्र परस्परनिमित्तम्।

[शंका] यदि परस्पर की उत्पादकता सम्भव नहीं है [वह तो व्याघात है] तो इसे अलंकार क्यों माना जा रहा है, ऐसी आशंका कर उत्तर देते हैं क्रिया इत्यादि। क्रिया शब्द का अर्थ यहाँ धर्म मानना चाहिए। नहीं तो—

'उस समय कैलासपर्वत तथा चन्द्रबिम्ब का कोई अलौकिक प्रकाश प्रकट हुआ क्योंकि ये दोनों एक दूसरे में अधिक चमक ला रहे थे।'

इत्यादि में चमक [पटुत्व] गुणात्मक है उसके द्वारा परस्पर की उत्पत्ति में अन्योन्य का लक्षण न जाएगा। परस्परोत्पादकत्वम् अर्थात् परस्पर की निष्पादकता। इस प्रकार यहाँ जनन [शब्द) का अर्थ क्रियासामान्यरूप कारण दिखलाया गया। इस कारण—

'तन्वी प्रियतम के हृदय में प्रविष्ट हो गई, इसलिए कि उसमें अन्य युवतियों को जगह न मिले। इसी प्रकार अत्यन्त सुन्दर होने से अन्य कोई [सुन्दरी] उसे हर न ले इसलिए उसे भी [उस तन्वी ने] अपने हृदय में निविष्ट कर लिया।' यहां प्रतीति 'उन दोनों ने परस्पर के हृदय में प्रवेश किया' इस रूप में परिणत होती है, अतः यहाँ परस्परजनन की अव्याप्ति है ऐसा [अलंकार-रत्नाकरकार को] नहीं कहना चाहिए।

'चालुक्यमल्लदेव के बाण ने [वराह को वराहावतार में प्राप्त समुद्र से पृथिवी को धारण कर निकलने की] पूर्व कथा के आश्चर्य को उलट दिया, क्योंकि जब वराह घबराकर गिरा तो विह्वल अंग के उसी [वराह] को पृथिवी ने धारण किया।' [विक्रमांकदेवचरित १६।३७]

यहाँ केवल आदिवराह के वृत्तान्त से [मृगयाकाल में शरविद्ध और भूपतित वराह के वृत्तान्त की] भिन्नतामात्र की विवक्षा है, अतः यहाँ [रत्नाकरकार द्वारा स्वीकार अन्योन्यालंकार ही नहीं है, तब अव्यापक कौन होगा? इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में जानना चाहिए। तथात्वोक्तिविरोध = क्योंकि यह विरोध अन्योन्याश्रयदोष होगा [अन्योन्यालंकाररूप नहीं] भाव यह कि यदि यहां विरोध का समाधान हो जाता तो कदाचित् यहां अलंकारता संभव होती। यथा—

'धन से प्रज्ञा उत्पन्न होती है और प्रज्ञा से धन। प्रज्ञा और धन इस जीवलोक में परस्पराश्रित हैं।' यहां प्रज्ञा और धन इन दोनों के स्वरूप एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं। [किन्तु यहां] विरोध का समाधान देश और काल के भेद से हो जाता है [अतः यहां अलंकारत्व मान्य है] शोभाक्रिया = यहां जो है वही परस्पर में निमित्त है।

विमर्शः—इतिहास—

अन्योन्य की कल्पना प्रथमतः रुद्रट ने ही की है। उनके पूर्ववर्ती भामह, वामन तथा उद्भट में यह अलंकार नहीं मिलता। रुद्रट ने इसका विवेचन इस प्रकार किया है—

'यत्र परस्परमेकः कारकभावोऽभिधेययोः क्रियया।
संजायेत स्फारिततत्त्वविशेषस्तदन्योन्यम्॥ ७९१॥

—'जहाँ दो पदार्थों में परस्पर के प्रतिक्रिया द्वारा एक ही कारकभाव हो और उससे तत्त्व-विशेष व्यक्त होता हो तो उसे अन्योन्य कहते हैं।' उदाहरण—

'रूपं यौवनलक्ष्म्या यौवनमपि रूपसंपदस्तस्याः।
अन्योन्यमलङ्करणं विभाति शरदिन्दुसुन्दर्याः॥ ७९२॥

—'उस शरदिन्दुसुन्दरी का रूप [आकृति] यौवनश्री का और उसकी यौवनश्री रूप का अलंकार प्रतीत होता है।'

मम्मट—मम्मट में रुद्रट का ही असफल अनुकरण है—

'क्रियया तु परस्परम्, वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम्॥'

'दो वस्तुओं का क्रिया के द्वारा परस्पर की उत्पत्ति अन्योन्य।' उदाहरण—

'हंसानां सरोभिः श्रीः सार्यतेऽथ हंसैः सरसाम्।' [प्राकृतच्छाया]।

—'हंसों की शोभा तालाब बढ़ाते हैं और तालाबों की हंस।'

सर्वस्व के सूत्र तथा उसकी वृत्ति की योजना से लगता है कि ये दोनों दो भिन्न रचयिता के हैं। वृत्ति में रुद्रट तथा मम्मट का सिद्धान्त प्रतिपादित मिलता है जब कि सूत्र की पदार्थ योजना उससे भिन्न अर्थ का संकेत देती है। सूत्र में 'क्रियाजनन'-पद का समास षष्ठीतत्पुरुष माना जा सकता है। तदनुसार सीधा अर्थ निकलता है 'परस्पर में क्रिया की उत्पत्ति', और सभी आचार्यों को यही अर्थ विवक्षित है। वे कहते भले ही 'क्रिया के द्वारा परस्पर की उत्पत्ति' यह हों। रूप और यौवन, हंस और तालाब तथा पार्वतीकण्ठ एवं निस्तल मुक्ताहार परस्पर में एक दूसरे की शोभा ही उत्पन्न करते हैं, एक दूसरे के स्वरूप को नहीं। वृत्ति में जो 'परस्परोत्पादकत्व' शब्द है उसमें पाठान्तर 'परस्परोपपादकत्व' भी मिलता है। इससे लगता है कि प्राचीन पाठकों को भी यह वैषम्य खटका था। विमर्शिनीकार ने सूत्र और वृत्ति के इस निगूढ वैषम्य पर ध्यान नहीं दिया। वे भी मम्मट मत के समर्थक जो हैं। परवर्त्ती रत्नाकरकार—

शोभाकर—ने इस वैषम्य में सूत्रकार का ही साथ दिया है। यह तथ्य उनके निम्नलिखित सूत्र से स्पष्ट है—

[सू०] 'रूपधर्मयोः परस्परनिबन्धनत्वमन्योन्यम्॥'

—'रूप और धर्म की परस्पर के द्वारा निष्पत्ति अन्योन्य।' स्पष्ट ही इसमें रूपवान् या धर्मी के प्रति कारणता न मान रूप और धर्म के प्रति ही वह मानी गई है। रत्नाकरकार ने सर्वस्व की वृत्ति के विरुद्ध स्वरूप की अन्योन्यनिष्पत्ति में भी अन्योन्यालंकार माना है और विमर्शिनीकार ने उसे स्वीकार भी किया है। स्वरूपनिष्पत्ति के लिए रत्नाकरकार ने 'धनेन जायते प्रज्ञा०' इसी पद्य का उदाहरण दिया है। विमर्शिनीकार ने सूत्रस्थ क्रिया को धर्म का उपलक्षण भी माना है। उसके लिए रत्नाकरकार ने अनेक स्पष्ट उदाहरण दे 'कण्ठस्य तस्याः' पद्य में भी शोभा को क्रियारूप न मान धर्मरूप माना था। सिद्धावस्थापन्न क्रिया भी धर्म ही होती है। धर्म और उपाधि पर्याय हैं अतः क्रिया भी धर्म ही है क्योंकि उपाधिचतुष्टयवाद में

क्रिया को भी उपाधिस्वरूप मानकर शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त माना है। रत्नाकरकार ने शोभा के लिए पर्याय रूप में बहुत ही सहृदयता पूर्ण 'परभाग'-शब्द दिया है।

अप्पयदीक्षित—धर्म या धर्मी का नाम बिना लिए केवल अन्योन्य उपकार को अन्योन्या लंकार मानते हैं—

'अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्।'

उदाहरण 'त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया॥'

—जहाँ परस्पर के प्रति परस्पर का उपकार हो तो उसे अन्योन्यालंकार कहते हैं। यथा—रात्रि चन्द्रमा से सुशोभित होती है और चन्द्रमा रात्रि से॥'

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अप्पयदीक्षित के ही अनुसार निम्नलिखित लक्षण किया है—

'द्वयोरन्योन्येनान्योन्यस्य विशेषाधानमन्योन्यम्।'

—'दो में से एक दूसरे के द्वारा एक दूसरे में विशेषता का आधान अन्योन्य।' विशेषता को पण्डितराज ने 'क्रियादिरूप' कहा है—'विशेषः क्रियादिरूपः।'

विश्वेश्वर पण्डित ने भी—अप्पयदीक्षित और पण्डितराज का ही पथ अपनाया और अन्योन्य का लक्षण उन्हीं के अनुकरण पर इस प्रकार किया है—

'अन्योन्यं वस्तूनां परस्परोत्कर्षहेतुत्वम्।'

—वस्तुओं का परस्पर में उत्कर्ष हेतुत्व अन्योन्य।' यहाँ उत्कर्षपात्र वस्तु में पूर्वाचार्य प्रतिपादित द्वित्व को विश्वेश्वर ने बहुत्व में बदल दिया है। वस्तुतः उपकार्य और उपकारी के दो स्पष्ट वर्ग तो उत्कर्षपात्रगत बहुत्व की स्थिति में भी रहेंगे ही।

श्री विद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थ कारिका यहाँ यह है—

'क्रियाजननमन्योन्यमन्योन्यालङ्कृतिर्मता॥'

[सर्वस्व]

[सू० ५१] अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरमशक्यवस्त्वन्तरकरणं विशेषः।

इहाधारमन्तरेणाधेयं न वर्तत इति स्थितावपि यस्तत्परिहारेणाधेयस्योपनिबन्धः स एको विशेषः। यच्चैकं वस्तु परिमितं युगपदनेकधा वर्तमानं क्रियते स द्वितीयो विशेषः। यच्च किंचिदारभमाणस्यासंभाव्यवस्त्वन्तरकरणं स तृतीयो विशेषः। आनुरूप्यपरिहारकृतविरोधप्रस्तावादिहोक्तिः। क्रमेण यथा—

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः कथमिव कवयो न ते वन्द्याः॥'

'प्रासादे सा पथि पथि च सा पृष्ठतः सा पुरः सा
पर्यङ्के सा दिशि दिशि च सा तद्वियोगातुरस्य।
हंहो चेतः प्रकृतिरपरा नास्ति ते कापि सा सा
सा सा सा सा जगति सकले कोऽयमद्वैतवादः॥'

'निमेषमपि यद्येकं क्षीणदोषे करिष्यसि ।
पदं चित्ते तदा शंभो किं न संपादयिष्यसि ॥'

अत्र कवीनामाधाराणामभावेऽप्याधेयानां गिरामवस्थितिः अनन्यत्रभावो विषयार्थ इति विषयत्वेन तेषामाधारत्वात् । एकस्या एव योषितः प्रासादादौ अवस्थानम् , चित्तविषये पदकरणे प्रस्तुतेऽपि भाविलोकोत्तरवस्तुसंपादनं क्रमेण ज्ञेयम् ।

[सू० ५१] 'आधाररहित आधेय, एक का अनेक रूप से दिखाई देना, अशक्य अन्य कार्य की निष्पत्ति विशेष [कहलाते हैं] ।।'

[१] यहाँ आधेय आधार के बिना नहीं रहता । इतने पर भी जो उस [आधार] के बिना आधेय का बतलाया जाना वह एक प्रकार का विशेष होता है । [२] इसी प्रकार एक वस्तु सीमित होते हुए भी जो एक साथ अनेक रूपों में विद्यमान दिखलाई जाती है वह दूसरे प्रकार का विशेष कहलाता है । इसी भाँति [३] अन्य कुछ कर रहे व्यक्ति का जो अन्य असंभाव्य कार्य कर देना दिखलाया जाता है वह तीसरे प्रकार का विशेष होता है । अनुरूपता छोड़ने रूपी विरोध को लेकर इसे यहाँ बतलाया गया । क्रम से उदाहरण—

[आधारहीन आधेय—]

'स्वर्ग चले जाने पर भी जिनकी अनवद्य गुणों से युक्त उक्तियाँ संपूर्ण जगत् को आनन्द देती रहती हैं वे कविजन कैसे वन्दनीय न होंगे ।'

[एक की अनेकगतता —]

'इसके वियोग में आतुर मेरे लिए प्रासाद पर वह और गली-गली में वह, पीछे वह, आगे वह, पलंग पर वह और दिशा-दिशा में वह । अरे [मेरे] चित्त ! तुझे कुछ और नहीं सूझता ! सारे संसार में वह वह, वह वह, वह वह । यह कौन-सा अद्वैतवाद है ।'

[अन्य असंभाव्य कार्य की निष्पत्ति—]

'हे भगवान् शिव ! आप [मेरे] दोषमुक्त चित्त में यदि क्षणभर के लिए भी आ बसेंगे तो आप क्या-क्या संपन्न नहीं कर देंगे ।

यहाँ [प्रथम पद्य में] आधारभूत कवियों के न रहने पर भी आधेयभूत उक्तियों की अवस्थिति, क्योंकि वे विषयरूपी आधार हैं, विषय का अर्थ है अन्यत्र न जाना ['जैसे उड़ते पक्षी का आधार आकाश, क्योंकि पक्षी आकाश से अलग नहीं जा पाता] ।

[द्वितीय] में एक ही स्त्री की प्रासाद आदि में एक साथ स्थिति, तथा [तृतीय] में चित्त में स्थान करने रूपी प्रस्तुत कार्य के साथ-साथ भावी लोकोत्तर कार्य की निष्पत्ति क्रम से जाननी चाहिए ।'

विमर्शिनी

अनाधारमित्यादि । एतदेव व्याचष्टे—इहेत्यादिना । तत्परिहारेणेति । आधारव्यतिरेकेणेत्यर्थः । परिमितमिति अव्यापकम् । व्यापकस्य हि युगपदनेकत्र स्थितिर्वस्तुसंभविनीति तत्र नालंकारत्वम् । किंचिदिति यत्र यादृग्विवक्षितम् । न केवलमारब्धस्य वस्तुनो निष्पत्तिर्यावदसंभाव्यस्यापि वस्त्वन्तरस्येत्यत्र तात्पर्यार्थः । तच्च वस्त्वन्तरं चिकीर्षितं भवत्यचिकीर्षितं वा । एवं च—

'फलान्तरस्य निष्पत्तिश्चिकीर्षाविरहेऽपि या ।
स विशेषश्चिकीर्षायां प्रसङ्गस्तु ततः पृथक् ॥'

इत्याद्युक्तयुक्त्या प्रसङ्गादन्यार्थः। प्रसङ्ग इति। प्रसङ्गाख्यमलंकारान्तरं न वाच्यम्। न हि चिकीर्षितत्वं वा कश्चिद्विच्छित्तिविशेषो येनालंकारान्तरत्वं स्यात्। यावता ह्यत्रा-संभाव्यस्य वस्त्वन्तरस्य विच्छित्तिर्विवक्षिता सा चात्र स्थितेति किं चिकीर्षितत्वाचि-कीर्षितत्वकल्पनेन। तस्मात्—

'अङ्गेषु सान्द्रहरिचन्दनपङ्कचर्चा मार्णालहारवलयादि च पान्थवध्वाः।
योऽभूद्दिवा पतिवियोगविषाददम्भो ज्योत्स्नाभिसारपरिकर्म ■ तदासीत् ॥'

इत्यत्र हरिचन्दनचर्चादिना न केवलं पतिवियोगविषाददम्भः कृतो यावदभिसारि-कापरिकर्मापि कृतमित्यशक्यवस्त्वन्तरकरणात्मैवायं विशेषः।

विशेषाश्चात्र त्रयो न पुनरेकद्विविधः। लक्षणस्य भिन्नत्वात्। उचितस्य तु विशि-ष्टस्य भावात्त्रयाणामपि विशेषत्वम्। गिरामत्र कविस्वभावादन्यत्र भावः, शम्भोश्च लोकोत्तरवस्तुसंपादनं चात्र्यमेवेति विशेषमन्नान्ये न मन्यते। एतावतैव पुनरस्याभावो न वाच्यः, उदाहरणान्तरेष्वस्य संभवात्। तानि तु यथा—

'अङ्गानि चन्दनरसादपि शीतलानि चन्द्रातप वमति बाहुरयं यशोभिः।
चालुक्यगोत्रतिलक क्व बसत्यसौ ते दुर्वृत्तभूपपरितापगुरुः प्रतापः ॥'

अत्राङ्गादीनामनर्हत्वेनाधारत्वाभावेऽप्याधेयस्य प्रतापस्य स्थितिरिति विशेषालंकारत्वम्। तथा च—

'चोरिअरमणासहिए पुत्ति पिअ हरि हि सिचि किं तुज्ज।
वच्चती मुहजोण्हामोहि तिमिरं पि णिग्गहिसि ॥'

'अत्र न केवलं प्रियं हरिष्यसि यावच्चिकीर्षाविरहेणासंभाव्यं तिमिरमपी'ति वस्त्वन्त-रकरणात्मा विशेषः। यथा वा—

'माघः शिशुपालवधं विदधत् कविमदवधं विदधे।
रत्नाकरः स्वविजय हरविजयं वर्णयत् व्यवृणोत् ॥'

अत्र न केवलं माघः शिशुपालवधं चकार यावदसंभाव्यं चिकीर्षितं कविमदवधम-पीत्यशक्यवस्त्वन्तरकरणात्मायं विशेषः। अशक्यमेव कविमदवधं कर्तुं माघस्यात्र कर्तृत्वम्। एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम्। अतः 'एकस्मिन्क्रियमाणे तज्जातीयस्य प्रसङ्गात् सिद्धि-रनुषङ्गः' इत्यनुषङ्गालंकारोऽपि विशेष एवान्तर्भवतीति न पृथग्वाच्यः।

अनाधारेत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—इह इत्यादि के द्वारा। तत्परिहारेण = उसके बिना आधार के बिना। परिमित = अव्यापक। जो व्यापक होता है वह अकेला भी एक साथ अनेक स्थलों में वस्तुतः रह सकता है अतः वहाँ अलंकारत्व नहीं होता। किंचित् = जहाँ जैसा अर्थ विवक्षित हो। अर्थ यह कि 'न केवल शुरू किए कार्य की ही निष्पत्ति हो अपितु ऐसे किसी अन्य की भी निष्पत्ति हो और जिसकी संभावना भी न की जा सकती हो। वह असंभाव्य अन्य वस्तु चिकीर्षित या अचिकीर्षित [इस प्रकार दोनों ही प्रकार की] हो सकती है, अतः [अलंकार-रत्नाकरकार को]

'बिना चिकीर्षा के भी अन्य फल की जो निष्पत्ति उसमें विशेषनामक अलंकार होता है। प्रसंग नामक अलंकार वहाँ होता है जहाँ चिकीर्षा रहती है।'—

इत्यादि के द्वारा प्रस्तुत युक्ति द्वारा 'प्रसङ्ग से अन्य पदार्थ की निष्पत्ति प्रसङ्ग' [अलंकार-रत्नाकर सूत्र ८७] इस प्रकार प्रसङ्ग नामक एक स्वतन्त्र अलंकार नहीं बतलाना चाहिए। ऐसा -थोड़े ही है कि चिकीर्षितत्व और अचिकीर्षितत्वमें कोई विशिष्ट चमत्कार या चमत्कारभेद हो जिससे

अलंकार में भेद आए। जहाँ तक अन्य असंभाव्य वस्तु की निष्पत्ति की विवक्षा का सम्बन्ध है वह यहाँ [इन दोनों ही स्थितियों में] है ही। फिर चिकीर्षितत्व और अचिकीर्षितत्व की कल्पना से क्या? इसलिए [अलंकाररत्नाकरकार द्वारा प्रसङ्गालंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत—]

—'अङ्ग-अङ्ग में घिसे हरिचन्दन का लेप, मृणाल के हार और वलय आदि जो भी कुछ पथिकवधू के लिए दिन में पतिवियोगजनित विषाद का दम्भ [दिखावा] था वही रात में चाँदनी में [शुक्ल] आभिसारिक मण्डन बनता रहता था।' इस पद्य में, 'हरिचन्दन के लेप आदि से केवल पति वियोग के विषाद का दम्भ ही नहीं हुआ, अभिसारिक मण्डन भी निष्पन्न हो गया'—इस प्रकार यह अन्य असंभावित वस्तु के निष्पादन से होने वाला विशेषालंकार ही है।

यहाँ विशेष तीन हैं, एक नहीं, क्योंकि तीनों के लक्षण भिन्न हैं। उचित विशिष्टत्व तीनों में है अतः नाम तीनों का विशेष ही है।

[दिवमप्यु० पद्य में] यहाँ उक्तियों का कवियों से अलग रहना [इस पद्य के निर्माता] कवि की कल्पना से प्रसूत है, किन्तु [निमेषमपि० पद्य में] शिव का लोकोत्तर वस्तु का सम्पन्न करना वास्तविक ही है अतः अन्य आचार्य इसमें विशेषालंकार नहीं मानते। किन्तु केवल इतने भर से [विशेषालंकार के] इस [तृतीय भेद] का अभाव नहीं मान बैठना चाहिए क्योंकि अन्य उदाहरणों में भी यह दिखाई देता है। वे ये हैं—

'हे चालुक्यवंशतिलक! [आपके] अङ्ग चन्दनरस के समान शीतल हैं और [आपका] यह बाहु यशों के द्वारा चाँदनी उगल रहा है। तब आपका दुष्ट राजाओं को सन्ताप देने में महान् प्रताप कहाँ रहता है।' [विक्रमांकदेवचरित ५।८६]।

यहाँ अङ्ग आदि अयोग्य होने से आधार बन नहीं पाते तब भी आधेय प्रताप की स्थिति बतलाई जा रही है अतः यहाँ विशेषालंकार है। इसी प्रकार—

> 'चौर्यरताकुलिते! पुत्रि! प्रियं हरिष्यसीति किं त्रस्तम्।
> व्रजन्ती मुखज्योत्स्नाभरैस्तिमिरमपि नोत्स्यसि॥'

'चोरी-चोरी रमण करने हेतु आकुल पुत्रि! तू प्रिय को गँवा देगी इसी का डर नहीं है, जाते समय मुखचन्द्र की जुन्हाई से तू अँधेरे को दूर कर देगी।'

यहाँ 'इतना ही नहीं कि तू केवल प्रिय को गँवा देगी अपि तु अँधकार को भी, जो तू करना चाहती नहीं अतः असंभाव्य है' इस प्रकार अन्य वस्तु के निष्पादन से उत्पन्न विशेष अलंकार है। और जैसे—

'माघकवि ने शिशुपालवधकाव्य बनाकर कविमद का वध कर डाला। [और] रत्नाकरकवि ने [हरविजयकाव्य में] शंकर की विजय का वर्णन कर अपनी विजय व्यक्त की।'

यहाँ—'माघ ने केवल शिशुपालवध ही नहीं किया कविमदका वध भी कर दिया, जो असंभाव्य किन्तु चिकीर्षित था इस प्रकार यह अन्य अशक्य वस्तु के करने से हुआ विशेषालंकार है। यहां कविमद का वध जो सर्वथा अशक्य है, करने में माघ को कर्ता बतलाया गया है। इसी प्रकार आगे [अन्य अलंकारों में] भी जानना चाहिए। अतः—

'एक कार्य किया जा रहा हो तो उसीके प्रसंग में उसीके सजातीय किसी अन्य कार्य की सिद्धि अनुषंग' यह अनुषङ्गालङ्कार भी विशेष में ही अन्तर्भूत हो जाता है अतः उसे भी स्वतन्त्र अलंकार नहीं कहना चाहिए॥

विमर्शः—इतिहास—

विशेषालङ्कार के उक्त तीनों भेद इदम्प्रथमतया रुद्रट की ही कल्पना हैं। उनके पूर्ववर्ती भामह, वामन, उद्भट में इस पर कोई विचार नहीं मिलता। रुद्रट का विशेषविवेचन इस प्रकार है—

[१] 'किंचिदवश्याधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम्।
तादृगुपलभ्यमानं विज्ञेयोऽसौ विशेष इति ॥ ९।५ ॥'

'जहाँ कोई वस्तु किसी का आधेय होते हुए भी निराधार रूप से प्राप्त होती हुई बतलाई जाए तो वह विशेष नामक अलङ्कार होता है।'

उदाहरण—'दिवमप्युपयातानाम्०' पद्य।

[२] यत्रैकमनेकस्मिन्नाधारे वस्तु विद्यमानतया।
युगपदभिधीयतेऽसावत्रान्यः स्याद् विशेष इति ॥ ९।७ ॥'

—'जहाँ एक वस्तु एकसाथ अनेक आधार में रहती हुई बतलाई जाए तो यह दूसरा विशेष होता है।'

उदाहरण—'हृदये चक्षुषि वाचि च तव सैवाभिनवयौवना वसति।
वयमत्र निरवकाशा विरम कृतं पादपतनेन ॥'

—'वही अभिनवयौवना तुम्हारे हृदय, नेत्र और वाणी में बस रही है। हमें इनमें कहीं स्थान नहीं है। रहने भी दो। पैरों पर गिरने से क्या ?।'

[३] 'यत्रान्यत् कुर्वाणो युगपत्कार्यान्तरं च कुर्वीत।
कर्तुमशक्यं कर्ता विज्ञेयोऽसौ विशेषोऽन्यः ॥ ९।९ ॥'

—'जहाँ और कुछ कर रहा व्यक्ति उसी के साथ अन्य कोई अशक्य कार्य भी कर डाले तो यह एक अन्य विशेष होता है।'

उदाहरण—'लिखिता बालमृगाक्ष्या मम मनसि तया शरीरमात्मीयम्।
स्फुटमात्मनो लिखन्त्या तिलकं विमले कपोलतले ॥'

—'उस बालमृगाक्षी ने अपने कपोलतल पर तिलक लिखकर अपना रूप हमारे चित्त में लिख दिया।'

स्पष्ट है कि रुद्रट की विशेषालङ्कारविषयक धारणा स्पष्ट और लक्षण उदाहरण की योजना भी पूर्ण समर्थ है। मम्मट ने रुद्रट के इस संपूर्ण विवेचन को ज्यों का त्यों अपना लिया है। उनका विशेष विवेचन यह है—

मम्मट—'विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः।
एकात्मा युगपद् वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥'

—'प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति, एक पदार्थ की एकसाथ अनेक स्थानों में एक रूप से अवस्थिति तथा अन्य कार्य कर रहे व्यक्ति द्वारा अन्य अशक्य वस्तु का उसी प्रकार निष्पन्न कर देना' इस प्रकार से विशेषालंकार तीन प्रकार का माना गया है।

उदाहरण—प्रथम का रुद्रट का 'दिवमप्युपयातानाम्०' पद्य ही। द्वितीय का रुद्रट के पद्य 'हृदये चक्षुषि' की समानार्थी ही गाथा 'सा वसइ तुज्झ०' तथा तृतीय का—

'गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥'
[रघुवंश, ८]

—'तुम मेरी गृहिणी थीं, सचिव थीं, सखा थीं, एकान्त में कलाओं के ललित विधान में प्रिय शिष्या थीं। करुणाविमुख मृत्यु ने तुम्हें हरण करते हुए मेरा क्या नहीं हर लिया।'

सर्वस्वकार ने मम्मट के लक्षण की दो सूक्ष्मताओं को छोड़ दिया, एक तो आधारगत प्रसिद्धि को और दूसरी एक की एकसाथ अनेकगोचरता में एकरूपता को। प्रसिद्धि की आवश्यकता विरोधपरिहार के लिए है और एकरूपता की आवश्यकता पर्यायालंकार के निराकरण के लिए।

शोभाकरः—परवर्ती रत्नाकरकार शोभाकर ने सर्वस्वकार के लक्षण में संशोधन प्रस्तुत किया। उन्होंने लक्षण में आए अशक्यतारूपी विशेषण को असंभाव्यता के रूप में स्थिर किया। सर्वस्व के वृत्तिकार ने असंभाव्यता का प्रयोग तो किया था किन्तु वे अशक्यता को भी दुहराते जाते थे। इस तृतीय विशेष में शोभाकर ने कुछ विस्तार और किया और उसमें विरुद्ध की निष्पत्ति को भी स्थान दिया। इनका लक्षण इस प्रकार है—

'अनाधारमाधेयमेकमनेकगोचरं संभावितादधिकस्य
विरुद्धस्य वा सम्पत्तिश्च विशेषः ॥ ६३ ॥'

संभावित से अधिक निष्पत्ति का अर्थ अशक्य की निष्पत्ति नहीं है। प्रथम का उदाहरण रत्नाकरकार ने भी रुद्रट का 'दिवमप्युपयातानाम्'—पद्य ही दिया है। इसी के लिए रत्नाकरकार ने 'अंगानि चन्द्रन०' पद्य भी प्रस्तुत किया था। द्वितीय के लिए विमर्शिनीकार द्वारा उद्धृत 'चोरिअ०' गाथा रत्नाकर से ही ली गई है। इसकी संगति रत्नाकर में इस प्रकार की दी हुई है—

'अत्र चौर्यरतेन प्रियरतेन (?) प्रियरञ्जनार्थं गमनरूपस्य प्रयत्नस्य प्रवृत्तस्यानुनिष्पन्नतया तमोहरणरूपं कार्यान्तरमपि संभावितादृ भवतीत्युक्तम्।'

इसके अनुसार छिपे-छिपे प्रिय से मिलकर कोई लड़की प्रिय को आकृष्ट करना चाहती है। विरुद्धकार्यनिष्पत्ति के लिए रत्नाकरकार ने प्राकृत की यह एक श्लेषपूर्ण गाथा उद्धृत की है—

'आलिहमाणीओ विचित्तवत्तिआ किं पि किं पि तद्दिअहम्।
णहु णवरं तणुआवन्ति ताअ वड्ढंति लोअस्स ॥'
'आलिख्यमाना अपि चित्रवर्तिका [चित्तवृत्तिकाः] किमपि किमपि तद्दिवसम्।
न केवलं तनुकायन्ते ता वर्धन्ते लोकस्य ॥'

यहाँ 'चित्तवत्तिआ' शब्द की संस्कृत छाया 'चित्रवर्तिका' और 'चित्तवृत्तिकाः' दोनों ही विवक्षित हैं। दोनों शब्द की प्राकृत एक ही है अतः दोनों में श्लेष है। फलतः चित्र-पक्ष में चित्रवर्तिका अर्थ ले लिया जाता है और लोकपक्ष में चित्तवृत्ति अर्थ। इस प्रकार 'उस नायिका का चित्र लिखने से केवल चित्रवर्तिका ही क्षीण नहीं होती लोगों की चित्तवृत्ति भी बढ़ने लगती है' इस अर्थ में क्षय के विरुद्ध वृद्धिरूपी असंभाव्य अन्य अर्थ की निष्पत्ति बतलाई जा रही है अतः यहाँ तृतीय विशेष का द्वितीय भेद है। परवर्ती अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ ने इस उपभेद को नहीं माना है। उन्होंने केवल तीन प्रसिद्ध भेद ही किए हैं।

अप्पयदीक्षित—[१] विशेषः ख्यातमाधारं विनाप्याधेयवर्णनम्।

उदा०—'दिवमप्युप०।

[२] विशेषः सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते ॥

उदा०— 'अन्तर्बहिः पुरः पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे।' अर्थात्

'प्रासादे सा०' पद्य का संक्षेप

[३] किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च सः।

उदा०— 'त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्षनिरीक्षणम्' ॥

आपको देखने से मैंने कल्पवृक्ष का दर्शन पा लिया। अप्पयदीक्षित ने असंभाव्य शब्द के स्थान पर अशक्य शब्द ही रखा है। पण्डितराज दोनों को अपनाते और विशेष का लक्षण इस प्रकार बनाते हैं—

पण्डितराज—[१] प्रसिद्धमाश्रयं विनाऽऽधेयं वर्ण्यमानमेको विशेषप्रकारः।

[२] यच्चैकमाधेयं परिमितमपि किञ्चिदाधारमनपि युगपदनेकाधारगततया वर्ण्यते सोऽपरो विशेषप्रकारः।

[३] यच्च किञ्चित्कार्यमारभमाणस्यासंभावित-शक्यवस्त्वन्तरनिर्वर्तनं तृतीयो विशेषप्रकारः।

ये तीनों भेद प्रस्तुत कर पण्डितराज ने दो पक्ष भी दिखलाए हैं, एक प्राचीनों का पक्ष जो इन तीनों को एक ही विशेषालङ्कार के भेद मानता है और दूसरा नवीनों का वह पक्ष जो तीनों को स्वतन्त्र स्वीकार करता है। नवीन के अनुसार उक्त तीनों में कोई एक सामान्य धर्म नहीं है अतः ये एक नहीं कहे जा सकते। विमर्शिनीकार ने भी यह पक्ष प्रस्तुत किया है और तीनों विशेषों को स्वतन्त्र माना है।

विश्वेश्वर—ने पण्डितराज तथा उनके भी पहले के विमर्शिनीकार द्वारा प्रस्तुत आपत्ति को न्याय की कतिपय मान्यताओं द्वारा सामान्य तत्त्व की सिद्धि को दूर करना चाहा है। उनके अनुसार तीनों भेदों में 'स्वनिरूपितव्यभिचारप्रतियोगित्व' एक सामान्य धर्म है। इसका भाव इतना ही है कि सामान्य स्थिति का अभाव इन तीनों ही प्रकारों में समान है। स्वाभाविकता है आधार के बिना आधेय के न रहने में=प्रथम भेद में उसका अभाव है। इसी प्रकार एक का एक रूप से एक साथ कहीं एक ही जगह रहना स्वाभाविक है। द्वितीय भेद में उसका अभाव है। तृतीय भेद में भी निष्पन्न हो रहे अतिरिक्त कार्य के कारण का अभाव रहता है। इस प्रकार तीनों भेदों में किसी न किसी का अभाव (व्यभिचार) प्रतिपादित है। विश्वेश्वर ने तीनों को बड़ी ही स्पष्टता और बड़े ही संक्षेप में इस प्रकार गूँथा है—

'स्थितिराधाराभावे वृत्तिरनेकेषु युगपदेकस्य।
एककरणेन दुष्करकार्यान्तरसिद्धिरिति विशेषः॥'

इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने तीन सूत्र भी प्रस्तुत किए हैं—

१—प्रसिद्धमाधारमन्तरेणाप्याधेयस्य सिद्धिरुक्ता स एको विशेषः।

२—यत्र चैकमपि वस्तु युगपदनेकत्र वर्तते [illegible] द्वितीयः।

३—यत्र चैककार्यारम्भयत्नेन दुष्करकार्यान्तरमपि समारभ्यते स तृतीयः।

इस प्रकार विश्वेश्वर प्रथम में प्रसिद्धि और द्वितीय में यौगपद्य का निवेश कारिका में तो नहीं कर पाए थे किन्तु सूत्रों में वे उनकी उपेक्षा नहीं कर सके।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका इस पर इस प्रकार है—

'अनाधारादिभेदेन विशेषोऽपि त्रिधा मतः।'

[सर्वस्व]

[सू० ५२] यथा साधितस्य तथैवान्येनान्यथाकरणं व्याघातः।

यं कंचिदुपायविशेषमवलम्ब्य केनचिद् यन्निष्पादितं वस्तु तत्ततोऽन्येन केनचित्तत्प्रतिद्वन्द्विना तेनैवोपायविशेषेण यदन्यथा क्रियते स निष्पादित-वस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः। यथा—

'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ।।'

अत्र दृष्टिलक्षणेनोपायेन स्मरस्य हरेण दाहविषयत्वं निष्पादितम्। मृगनयनाभिः पुनस्तेनैवोपायेन तस्य जीवनीयत्वं क्रियते । तच्च दाहविषयत्वस्य प्रतिपक्षभूतम् । तेन व्याघाताख्योऽयमलंकारः । सोऽपि व्यतिरेकनिमित्तत्वेनाभोक्तः । विरूपाक्षस्येति वामलोचना इति च व्यतिरेकगर्भावेव वाचकौ । जयिनीरिति व्यतिरेकोक्तिः । पूर्ववदिह प्रकरणे लक्षणम् ।

[सू० ४२] वस्तु जिस प्रकार सिद्ध की गई हो उसका उसी प्रकार अन्य व्यक्ति द्वारा तद्विपरीत साधन व्याघात ॥'

किसी व्यक्ति ने जिस किसी उपाय से जो कोई वस्तु निष्पन्न की हो उसका उससे भिन्न उसके विरोधी व्यक्ति के द्वारा उसी उपाय से जो विपरीत रूप में परिणत किया जाना है वह निष्पादित वस्तु की व्याहति = हनन का हेतु होने से व्याघात कहलाता है । यथा—

'आँख से जले काम को जो आँख से ही जिला देती हैं, अतः जो विरूपाक्ष [अर्थात् विरूप असुन्दर तीन नेत्र वाले शिव] को भी जीत लेने वाली हैं उन सुन्दर नेत्र वाली युवतियों की स्तुति करता हूँ ।'

यहाँ नेत्ररूपी उपाय से शिव ने काम को जलाने का कार्य संपन्न किया था । मृगाक्षियों द्वारा उसके विरुद्ध उसी नेत्ररूपी उपाय से उस काम को जिलाने का काम किया जा रहा है । यह जलानेरूपी कार्य का उल्टा है । इसलिए यह व्याघात नामक अलंकार हुआ । वह भी यहाँ व्यतिरेक की पीठिका पर यहाँ निबद्ध हुआ है । विरूपाक्ष [विरूप नेत्र वाले] तथा वाम [सुन्दर]—लोचना ये शब्द यहाँ व्यतिरेकगर्भित ही हैं । 'जीतने वाली' इस प्रकार व्यतिरेक को शब्दतः भी कह दिया गया है । इस प्रकरण में इसका लक्षण पूर्ववत् ही है ।

विमर्शिनी

यथा साधितस्येत्यादि । निष्पादितमिति न तु निष्पादयितुं संभाव्यमानम् । तद्धि द्वितीयव्याघातविषयः । ततः इति निष्पादनकर्तुः । तत्प्रतिद्वन्द्विनेति । निष्पादितवस्तुव्याहतिकारित्वात् । तेनैवेति, अत्र भरः, अन्यथा हि वैचित्र्यातिशयो न स्यात् । अन्यथाक्रियत इति । तदुपमर्दकवस्त्वन्तरजननेनेत्यर्थः । अत एव नामास्यस्य यौगिकमित्याह—निष्पादितेत्यादि । अतश्च यत्र न निष्पन्नस्य वस्तुनो व्याहतिरुपनिबध्यते तत्र नायमलंकारः, निष्पत्तेरेवाप्ररोहाद् व्याघातायोगात् । निष्पन्नवस्तुव्याहतिर्हि व्याघातः । फलं चात्र व्याहतिकारिणस्तद्वैलक्षण्यम् । अत एव 'उत्पत्तिविनाशयोरेकोपायत्वे व्याघातः' इति न सूत्रणीयम् । एवं हि व्याघातत्वमेव न स्यात् ।

'कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम् ।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति सुतरां दर्पं राजंस्त एव तवाङ्कुशाः ॥'

इत्यत्र च कुलादयो यथान्येषां दर्पहेतवो न तथा तव, प्रत्युत विनयकारिण इत्येवं विधगुणविशिष्टेभ्यः पुरुषान्तरेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमात्रं विवक्षितम् । न तु कुलादिभिरुत्पादितोऽपि दर्पस्तव व्याहत इति येन व्याघातालंकारो भवति । अथात्र दर्पकारिणोऽपि

कुलादेरतद्विनाश इत्ययमलंकार इति चेद्, नैतत्, कुलादीनां प्रकृतिभेदेन दर्पादर्पकारित्वस्य वास्तवत्वेनालंकारत्वात्। तत्रापि कुलादिभिरतत्र दर्पस्य विनाश इत्यभ्युपगमेनायमलंकारः। निष्पादितवस्तुव्याहतेरभावात्तन्निबन्धनत्वेन चास्योक्तत्वात्।

'विण्णाणेण मअविरसं विगिवट्टइ भिण्णकारणुप्पण्णं।
विण्णाणकारणं जं त पुण मअ को णिवट्टेइ॥'

इत्यत्रापि मदस्य विज्ञानदन्यहेतुकस्य वस्तुसम्बन्ध्यन्यहेतुमदो विज्ञानेन निवर्त्यते तद्धेतुकः पुनः केनेत्यलंकारभाव्यकारोत्तरनिवृत्तिहेतुमरोहासत्त्वाद्वितर्कालंकारो न व्याघातः विज्ञानहेतुकाया मदनिष्पत्तेरेव परोहात्।

'गाढकान्तदशनक्षतव्यथासकटादरिवधूजनस्य यः।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन्युधि रुषा निजाधरम्॥'

इत्यत्र चाधरव्यथानिर्मोचनात्मकविपरीतफलनिष्पादनार्थं तन्निदर्शनात्मा प्रयत्न उपनिबद्ध इति विचित्रमिति न व्याघातालंकारो वाच्यः। नेनैवेति। इष्टिलक्षणेनैव न पुनरन्येनेत्यर्थः। तेनेति निष्पन्नस्य वस्तुनस्तेनैवोपायेन व्याहतत्वात्। तदेव विभजति—विरूपाक्षस्येत्यादिना। अनेनास्य व्यतिरेक विनोत्थानमेव न स्यादिति सूचितम्। तथा हि येन केनचित्कर्त्रा किंचित्साधितं तदप्यन्येनान्यथाक्रियते तदा तस्य तनोऽन्यथाकरणानुपपत्त्या वैलक्षण्यमवश्याभ्युपगन्तव्यम्। अतश्चास्य सर्वात्मना व्यतिरेको निमित्तत्व यायात्। पूर्वं बदिति आनुरूप्यपरिहारात्। स चैकस्योपायस्यान्यथाकरणत्वेन विचक्षणात्।

यथासाधितस्येत्यादि। निष्पादित = न कि निष्पादित करने के लिए समाम्यमान। यह द्वितीय व्याघात का विषय है। तत्त = उससे निष्पादनकर्ता से। तत्प्रतिद्वन्द्विना उसके विरोधी द्वारा = प्रतिद्वन्द्वी या विरोधी इसलिए कि वह निष्पादित वस्तु ... व्याघात करता है। तेनैव = उसी उपाय के द्वारा इस पर बल देना है, नहीं तो वैचित्र्यातिशय न होगा। अन्यथा क्रियते = उसके विपरीत रूप में बदला जाता है = अर्थात् उस [पूर्ववर्ती रूप] को दबाकर अन्य वस्तु उत्पन्न करने के द्वारा। 'इसीलिए इसका नाम भी यौगिक ही है' इस बात को कहते हैं = निष्पादित। इसीलिए जहाँ निष्पन्न वस्तु की विपरीतता नहीं बतलाई जाती वहाँ यह अलंकार नहीं होता क्योंकि निष्पत्ति हो नहीं हो पाती तो विपरीत रूप में परिणति ही सम्भव नहीं होती। इस प्रकार निष्पन्न वस्तु की व्याहति विपरीतरूपता ही व्याघात है और फल है यहां व्याहतिकारी व्यक्ति में अतिशय की प्रतीति। इसीलिए [अलंकाररत्नाकरकार को व्याघात के लिए] 'उत्पत्ति और विनाश का उपाय एक ही तो व्याघात'–ऐसा सूत्र नहीं बनाना चाहिए। इस प्रकार तो व्याघातत्व ही निष्पन्न नहीं हो पाएगा इसी प्रकार [रत्नाकरकार द्वारा व्याघात के उदाहरण के रूप में उपस्थित]।

"'अमलिन कुल, सुन्दर शरीर, वेदविद्या में निष्णात मति, पर्याप्त बाहुबल, स्फीत ऐश्वर्य, अखण्डित प्रभुत्व' ये सब पदार्थ, जो हैं सो, स्वभावतः सुन्दर होते हैं [अर्थात् इन सबमें से प्रत्येक स्वतः सुन्दर होता है] इन [में से प्रत्येक] ने ये सांसारिक प्राणी बड़ी ही सरलता से अत्यधिक दर्प में आ जाते हैं। किन्तु हे राजन्! आपके लिए ये ही अंकुश हैं।"

इस स्थल में 'कुल आदि जिस प्रकार अन्य लोगों के लिए दर्प के हेतु बनते हैं उस प्रकार आपके लिए नहीं, [आपके लिए तो] प्रत्युत विनय के हेतु हैं'—इस प्रकार, इस प्रकार के गुणों से विशिष्ट अन्य पुरुषों से इस [प्रस्तुत राजा] का अन्तरमात्र प्रतिपादित करना अभीष्ट है, न कि 'कुल आदि से उत्पन्न आपका दर्प व्याहत हो गया' यह प्रतिपादित करना, जिससे यहां व्याघातालंकार हो। यदि कहें—'यहां दर्पकारी कुल आदि के दर्पकारित्व का विनाश कथित

है' इसलिए यह अलंकार यहाँ संभव है, तो यह भी अमान्य है, क्योंकि कुल आदि दर्प या अदर्प के कारण व्यक्ति के स्वभाव के आधार पर बनते हैं, अतः यह एक लौकिक तथ्य का अनुवादमात्र हुआ फलतः यहाँ अलंकारता नहीं रहेगी। यहाँ यह अलंकार तभी संभव है जब 'कुल आदि से तुम्हारे दर्प का विनाश हो गया' ऐसी अर्थयोजना मानी जाय। किन्तु यहां निष्पादित हो चुकी वस्तु की व्याहति नहीं बतलाई जा रही और यह [व्याघात] अलंकार तन्मूलक ही है ऐसा हम बतला चुके हैं।

'विज्ञानेन मदविषं विनिवर्त्तते भिन्नकारणोत्पन्नम्।
विज्ञानकारणं यत् तत् पुनर्मण को विनिवर्त्तयेत ॥'

—'अन्य कारणों से उत्पन्न मदविष ज्ञान से दूर हो जाता है, किन्तु जो विज्ञान से ही उत्पन्न हो उसे बतलाओ, कौन दूर करे।'

[अलंकाररत्नाकरकार द्वारा व्याघातोदाहरण के रूप में प्रदत्त] इस [गाथा के अर्थ] में भी जब मद, विज्ञान और विज्ञानेतर कारणों से उत्पन्न होता हुआ बतलाया जा रहा है तब, 'अन्य किसी हेतु से उत्पन्न होने वाला वास्तविक मद तो ज्ञान से हट जाता है किन्तु जो मद उस [ज्ञान] से उत्पन्न होता है वह किस से हटाया जाए' इस बोध के आधार पर यहां अलंकारभाष्यकार द्वारा प्रतिपादित वितर्कालंकार माना जा सकता है क्योंकि वह बोध उस [उक्त वस्तु] की निवृत्ति के हेतु का जो प्ररोह [प्रस्तुतीकरण] तद्रूप है ['वह किससे हटाया जा सकता है' इस उक्ति में मद निवृत्ति हेतु का प्ररोह हो रहा है।] अतः यहां व्याघातालंकार नहीं है। यहां तो ज्ञान जनित मदनिष्पत्ति ही वाक्यार्थ बनी हुई है। [इसी प्रकार रत्नाकरकार द्वारा व्याघातालंकार के लिए उदाहृत]—

'जिसने युद्ध में अपना अधर दाँतों से डस डस कर शत्रुनारियों के ओष्ठविद्रुमदलों को प्रिय के दन्तक्षतों की गाढ व्यथा के संकट से छुड़ा दिया।'

इस पद्यार्थ में भी व्याघात नहीं, विचित्रालंकार है, क्योंकि यहाँ अधरव्यथा से छुटकारेरूपी विपरीत फल की निष्पत्ति के लिए अधरदंशरूपी प्रयत्न उपनिबद्ध किया गया है। तेनव = उसी के द्वारा अर्थात् दृष्टिरूपी साधन के द्वारा ही, न कि किसी अन्य साधना के द्वारा तेन = उसके द्वारा = निष्पन्न वस्तु उसी उपाय से व्याहत बतलाई गई है। उसी को विभक्त करते हैं— 'विरूपाक्षस्य' इत्यादि के द्वारा। इससे यह सूचित किया कि व्यतिरेक के बिना इसकी निष्पत्ति ही नहीं हो सकती। क्योंकि किसी के द्वारा कोई कार्य सिद्ध किया गया हो और यदि उसको अन्य व्यक्ति अन्यथा कर डाले तो उससे उसकी विलक्षणता अवश्य ही स्वीकार करनी होगी, नहीं तो अन्यथाकरण ही चरितार्थ न होगा इसीलिए इसमें व्यतिरेक सब प्रकार से निमित्त बनेगा [ही]। पूर्ववत्—पहले के समान अर्थात् आनुरूप्य के अभाव से। यह [आनुरूप्याभाव] यहाँ इसलिए होता कि यहाँ एक ही उपाय दो विरुद्ध परिणाम वाला बतलाया जाता है॥

[सर्वस्व]

प्रकारान्तरेणाप्ययं भवतीत्याह—

[सू० ५३] सौकर्येण कार्यविरुद्धक्रिया च।

'व्याघात' इत्येव। किंचित्कार्यं निष्पादयितुं संभाव्यमानः कारणविशेषस्तत्कार्यविरुद्धनिष्पादकत्वेन यत्समर्थ्यते सोऽपि संभाव्यमानकार्यव्याहतिनिबन्धनत्वाद् व्याघातः। कार्यविरुद्धकार्यनिष्पत्तिश्च कार्यापेक्षया सुकरा।

तस्य कारणस्यात्यन्तं तदानुगुण्यात् । नत्वत्र कार्याभिमतस्य कार्यत्वाभावः । तद्विरुद्धस्यात्र सौकर्येण कार्यत्वात् । अत एव द्वितीयाद्विषमाद्भेदः । तत्र हि कार्यस्यानुत्पत्तिरनर्थस्य चोद्गमनम् । इह तु कार्यमकार्यमेव न भवति । तद्विरुद्धस्यानर्थस्य व्यतिरेकिणोऽप्यत्र सुष्ठुकार्यत्वात् । यथा हर्षचरिते राज्यवर्धनं प्रति श्रीहर्षोक्तिषु—

'यदि बाल इति सुतरामपरित्याज्योऽस्मि, रक्षणीय इति भवद्भुजपञ्जरमेव रक्षास्थानम्' इत्यादि ।

अत्र राज्यवर्धनेन श्रीहर्षाप्रस्थाने कार्ये बाल्यरक्षणीयत्वादि कारणत्वेन यत्संभावितं तत्प्रत्युत प्रस्थानकारणत्वेन सुकरतया श्रीहर्षेण राज्यवर्धनस्य समर्थितमिति व्याघाताख्योऽलंकारः ।

यह अलङ्कार दूसरे प्रकार से भी होता है । यही बतलाते हैं—

[सू० ५३] सौकर्य के कारण कार्यविरुद्धक्रिया [भी] ।

'व्याघात' इसकी अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से प्राप्त है ही । किसी कार्य को निष्पन्न करने के लिए संभावित किसी कारण का उसी कार्य के विरुद्ध कार्य के निष्पादक के रूप में समर्थन किया जाए तो वह भी संभाव्यमान कार्य की व्याहति का हेतु होने से व्याघात होता है । यहाँ [प्रस्तुत] कार्य के विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति [प्रस्तुत] कार्य की अपेक्षा यह बतलाकर सरल बतलाई जाती है कि उस [प्रस्तुत कार्य] का कारण उस [विरुद्ध कार्य] के अत्यन्त अनुकूल है । ऐसा नहीं कि यहाँ कार्यरूप से अभिमत वस्तु में कार्यत्व का अभाव बतलाया जाता है । क्योंकि यहाँ उस [प्रस्तुत कार्य] के विरुद्ध कार्य तो सुखपूर्वक किए जाने योग्य कार्य के रूप में ही प्रतिपादित किया जाता है । इसीलिए द्वितीय विषम से इसका भेद है । वहाँ जो है सो, कार्य की तो उत्पत्ति नहीं रहती ऊपर से अनर्थ [रूपी अकार्य] की उत्पत्ति और करती है । जबकि यहाँ कार्य तो अकार्य तक नहीं हो पाता, उसके विरुद्ध व्यतिरेकी [अधिक सबल ?] अनर्थ भी यहाँ सुखपूर्वक करने योग्य कार्य के रूप में ही प्रस्तुत रहता है । जैसे हर्षचरित में राज्यवर्धन के प्रति श्रीहर्ष की [इन] उक्तियों में—

'यदि [आप मुझे युद्ध में यह समझकर नहीं ले जा रहे हैं कि मैं] बालक हूँ तब तो और भी अपरित्याज्य हूँ, रक्षणीय हूँ तो रक्षास्थान आपका ही भुजपञ्जर है' इत्यादि [हर्षचरित उच्छ्वास-६ पृ० १८४ नि० सत्क०] ।

यहाँ राज्यवर्धन द्वारा श्रीहर्ष के अप्रस्थान [साथ न ले जाने] रूपी कार्य में बाल्य और रक्षणीयत्व आदि जो कारण सोचे गए हैं उन्हीं को श्रीहर्ष द्वारा राज्यवर्धन के प्रति सुकर और उलटे प्रस्थान में ही कारण प्रतिपादित किया जा रहा है । इस कारण यह व्याघात नामक [ही] अलङ्कार है ॥

विमर्शिनी

प्रकारान्तरेणेति प्रतीतिभेदात् । अयमिति व्याघात । तमेवाह—सौकर्येणेत्यादि । एतदेव व्याचष्टे—किंचिदित्यादिना । संभाव्यमान इति केनचिदन्येन । तत्कार्येति । तच्च तत्कार्यम्, निष्पादयितुं प्रक्रान्तम् । अत एवास्य प्रथमाद्व्याघाताद्भेदः । तत्र हि येनकेनचिदुपायेन निष्पादितं सद्वस्तु तथैवान्येनान्यथाक्रियत इत्युक्तम् । इह तु किंचिन्निष्पादयितुं संभाव्य-

मानस्य कारणस्य तद्विरुद्धनिष्पादकत्वेन समर्थनम्। तद्विरुद्धनिष्पत्तेश्च सौकर्यं किमुक्त-मित्याशङ्क्याह—कार्येत्यादि। तदानुगुण्यादिति कार्यविरुद्धानुगुणत्वात्। न त्विति। अपि तु दुष्करत्वेन कार्यमित्यर्थः। अनेनाप्यस्य प्रथमाद्व्याघाताद्भेदः सूचितः। इह हि किंचि-न्निष्पादयितुं संभाव्यमानः कारणविशेषः सौकर्येण तद्विरुद्धनिष्पादकत्वेन समर्थ्यते। तत्र पुनरुपायविशेषविवक्षापरिहारेण कर्तुरेव पक्षप्रतिपक्षमात्रमाश्रित्य तथात्वोपनिबन्धः। अत एवेति। द्वयोरपि कार्यत्वसंभवात्। अनर्थेत्यनेनापि विषमादस्य भेद एवोपोद्बलितः। संभावितमिति। तथा समर्थितमिति। अनेन प्रथमव्याघातोदाहरणत्वमस्य निरस्तम्। तत्र हि द्वयोरपि कार्ययोर्निष्पत्तिर्विवक्षिता। वाल्यस्य तु कार्यद्वयजननेऽपि सामर्थ्यं किंतु प्रस्थानजनने सौकर्यम्। अत एवात्र संभाव्यमानस्य कार्यस्य व्याहतत्वम्। यथा वा—

> 'यत्सशब्दमिति काममिमं नूपुरं परिहरन्ति तरुण्यः।
>
> तद्भार कतरापि विदग्धा गोपनाय निजकण्ठरुतानाम्॥'

अत्र संभाव्यमानं कार्यं परिहारः। तस्य व्याहतिर्धारणम्। उपायस्य सुकरदुष्करत्वेन विशिष्टत्वादत्र न प्रथमव्याघातोदाहरणत्वम्। यथा च नायमर्थो वक्रोक्तेर्विषयतया वक्रो-क्तावेव वक्ष्यामः।

प्रकारान्तरेण = दूसरा प्रकार इसलिए कि प्रतीति में भेद है। अयम्=यह व्याघात। इसी का स्वरूप बतलाते हैं—सौकर्येण इत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—किंचित् इत्यादि के द्वारा। संभाव्यमान अर्थात् किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा। तत्कार्य = इसमें कर्मधारय समास है, तत् = वह अर्थात् निष्पन्न करने के लिए शुरू कार्य। इसीलिए इसका प्रथमव्याघात से अन्तर है। उसमें, यह कहा जा चुका है कि 'जिस उपाय से किसी व्यक्ति के द्वारा वस्तु निष्पादित होती है उसी उपाय से दूसरे के द्वारा वही वस्तु अन्यथा बना दी जाती है' जब कि यहाँ वस्तु निष्पन्न नहीं बतलाई जाती, इसकी निष्पत्ति की संभावना भर बतलाई जाती है, साथ ही उसका निष्पादक जो कारण रहता है उसमें [भी] विरुद्धकार्य के निष्पादन की क्षमता भर बतलाई जाती है। उससे कार्य की निष्पत्ति नहीं दिखलाई जाती अतः रत्नाकरकार का द्वितीय व्याघात को प्रथम से भिन्न न मानना ठीक नहीं। [यहाँ] प्रस्तुत कार्य के विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति में सुकरता क्यों बतलाई गई है' ऐसी शंका कर, कहते हैं—कार्य इत्यादि। तदानुगुण्यात् = उसके प्रति अनुरूपता अर्थात् कार्य विरुद्ध कार्य के प्रति अनुरूपता। न तु-न कि = अपितु दुष्कर होने से इसे कार्य माना जाता है। इससे भी इसका प्रथम व्याघात से अन्तर बतलाया। यहाँ, जो है, कोई कारण कुछ कार्य करने में समर्थ [भर] समझा जाता है और उसी में सुकरता के साथ विरुद्ध कार्य करने की क्षमता प्रतिपादित कर दी जाती है। इसके विपरीत उस [व्याघात] में उपायगत विशेषता की विवक्षा नहीं रहती, केवल कर्ताओं में पक्ष और प्रतिपक्ष का भाव [परस्पर विरोध] देखकर वही पक्ष प्रतिपक्षभाव प्रतिपादित किया जाता है। अतएव = दोनों में कार्यत्व संभव होने से। अनर्थ—इसके द्वारा भी इसका विषम से भेद ही दृढ़ किया गया। संभावितम् से लेकर समर्थितम् तक के ग्रन्थ द्वारा [हर्षचरित के] उक्त उदाहरण के प्रथम व्याघात के उदाहरण होने की संभावना दूर की। उसमें दोनों ही कार्यों की निष्पत्ति विवक्षित रहती है। वाल्य, जो है वह, तो दोनों ही कार्यों में समर्थ है किन्तु प्रस्थापन की निष्पत्ति उससे अधिक सुकर है। इसीलिए यहां जो व्याहति है वह संभाव्यमान कार्य की है [निष्पन्न कार्य की नहीं]। इसका दूसरा उदाहरण यह है—

'तरुणियाँ जिस नूपुर को सुरत संघर्ष में बजने के कारण हटा दिया करती हैं उसी को किसी विदग्ध तरुणी ने [विपरीत रति में] अपने कण्ठ का रव छिपाने के लिए जान बूझकर पहना।'

यहां समाध्यमान कार्य है परिहार, और उसकी व्याहति है धारण। यहां उपाय में सुकरता और दुष्करता है [न पहनना अर्थात् पहने हुए नूपुर को उतारना जितना कठिन है उससे पहने रहना उतना ही सरल है] अतः यहां उपाय विशेषता लिए हुए है, फलतः यह प्रथम व्याघात का उदाहरण नहीं हो सकता। [उपाय में विशेषता रहने के कारण यदि यह प्रथम का उदाहरण नहीं हो सकता तो कार्यों की निष्पत्ति हो जाने के कारण यह द्वितीय व्याघात भी कैसे हो सकता है यदि एक अंश प्रथम व्याघात का इसमें नहीं तो द्वितीय व्याघात भी इसमें सम्भव नहीं है उसके भी एक पक्ष का यहां अभाव है] इसी प्रकार 'यह स्थल वक्रोक्ति का भी उदाहरण नहीं है' यह हम आगे वक्रोक्ति के ही प्रकरण में बतलाएँगे।

विमर्श :—

इतिहास

[१] प्रथम व्याघात :—

व्याघात नाम तो पहले पहल रुद्रट में ही मिलता है किन्तु उसको यहां के प्रथम व्याघात का स्वरूप देने का श्रेय मम्मट को है। रुद्रट ने व्याघात नाम से जिस अलंकार का विवेचन किया है वह विशेषोक्ति से सर्वथा अभिन्न है। विशेषोक्तिप्रकरण में इसका विवेचन उद्धरणपूर्वक किया जा चुका है। मम्मट में इसका विवेचन इस प्रकार है

'यद् यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा।
तथैव यद् विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः॥'

येनोपायेन यद् एकेनोपकल्पितं तस्यान्येन जिगीषुतया तदुपायकमेव यदन्यथाकरणं स साधितवस्तुव्याहतिहेतुत्वाद् व्याघातः।'

—'जो कार्य एक किसी व्यक्ति के द्वारा जिस प्रकार अर्थात् जिस उपाय से किया गया है उसका अन्य व्यक्ति के द्वारा उसी उपाय से उलटा कार्य कर देने से सिद्ध वस्तु की व्याहति का हेतु कथित रहने से अलंकार व्याघात कहलाता है। उदाहरण = 'दृशा दग्ध०' पद्य।

(२) द्वितीय व्याघात इसं प्रथमतया सर्वस्व में ही मिलता है। भामह से लेकर मम्मट तक के आचार्यों में से किसी में यह नहीं मिलता।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर द्वारा किए गए प्रथम व्याघात के लक्षण तथा उदाहरण विमर्शिनी में उद्धृत हैं द्वितीय व्याघात को उन्होंने प्रथम व्याघात में ही अन्तर्भूत माना है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है—

"—'बाल इति सुतरामपरित्याज्योऽस्मि, रक्षणीय इति भवद्भुजपञ्जरमेव रक्षास्थानम्' इत्यादं श्रीहर्षस्य विजेतुं प्रस्थितं व्याघांस राज्यवर्धनं प्रति वक्तौ राज्यवर्धनेन बालत्वाद्यप्रस्थाननिमित्तं समाश्रितम् तेन प्रत्युत सौकर्येण प्रस्थाननिमित्ततया समर्थितम् इति 'सौकर्येण कार्यविरुद्धं च' इति भेदान्तरं व्याघातस्येति न वाच्यम्। तथाहि यदि प्रस्थानरूपं विरुद्धमेव कार्यं बाल्यादिना क्रियते तदयमेव व्याघातो, न भेदान्तरम्, प्रस्थानाभावनिमित्तात् प्रस्थानोत्पत्तौ विनाशकारणादुत्पत्ते. अथ चेत् प्रस्थानाप्रस्थानयोर्द्वयोरपि विरुद्धयोर्बाल्यादिकस्य कारणस्य सद्भावादप्रस्थाने वाल्यादेरनैकान्तिकत्वं विवक्ष्यते तर्हि एकस्य कारणस्य परस्परविरुद्धकार्यद्वयजननादचिन्त्यालङ्कारोऽन्यान्तर्भावो इति व्याघातस्य भेदः।" अर्थात्

श्रीहर्ष की विजय के लिए प्रस्थित किन्तु स्वयं को साथ न ले जा रहे बड़े भाई राज्यवर्धन के प्रति 'बाल हूं इसलिए तो और भी अपरित्याज्य हूं, रक्षणीय हूं तो रक्षास्थान आपका ही भुजपञ्जर है' इत्यादि उक्तियों में राज्यवर्धन ने बालत्वादि को साथ न ले चलने का कारण सोचा, उस

विरुद्ध, उस [हर्ष] ने सुकरता प्रतिपादित कर उन्हें साथ ले चलने में ही कारण प्रतिपादित किया। इस प्रकार यहाँ 'कार्यविरुद्ध कार्य में सुकरता भी' [इस लक्षण के अनुसार] यह व्याघात का एक अन्य भेद है यह [जो सर्वस्वकार ने कहा है वह] नहीं कहना चाहिए। क्योंकि यदि बाल्यादि कारण के द्वारा प्रस्थानरूपी विरुद्धकार्य ही किया जा रहा है तो यही [प्रथम] व्याघात यहां है, अन्य भेद नहीं क्योंकि यहां जो वस्तु [बाल्यादि] प्रस्थानाभाव का निमित्त है उससे प्रस्थान की उत्पत्ति हो रही है अतः विनाश के कारण उत्पत्ति प्रतिपादित की जा रही है। यदि बाल्यादि कारण में यह बतलाकर कि 'वे प्रस्थान और अप्रस्थान इन दोनों परस्पर विरुद्ध कार्यों में कारण हैं' अप्रस्थानरूपी कार्य के प्रति अनिश्चितता प्रकाशित करना विवक्षित है तो 'एक कारण के द्वारा परस्पर विरुद्ध दो कार्य उत्पन्न करने से' इस व्याघात का अचिन्त्यालंकार में अन्तर्भाव हो जाएगा। इसलिए इसे व्याघात का भेद मानना ठीक नहीं।'

यहाँ रत्नाकरकार कार्य की निष्पत्ति मान रहे हैं जब कि मूल में केवल निष्पत्ति की संभावना मात्र प्रतिपादित है। इसी कारण विमर्शिनीकार ने इनका खण्डन किया है। वे इनके अपने शब्द हैं। उन्हें बाण के शब्दों के रूप में बिना स्पष्टीकरण के छाप दिया गया है।

अप्पयदीक्षित—ने दोनों व्याघातों का निरूपण इस प्रकार किया है—

[१] 'स्याद् व्याघातोऽन्यथाकारि तथाकारि क्रियेत चेत्।'

[क] जो जैसा कार्य निष्पन्न करता हो उसे उससे भिन्न कार्य करने वाला बना दिया जाय तो [प्रथम] व्याघात नामक अलंकार होता है। यथा—

'यैर्जगत् प्रीयते हन्ति तैरेव कुसुमायुधः।'

संसार जिन [पुष्पों] से प्रसन्न होता है कुसुमायुध [काम] उन्हीं से प्रहार करता है।'

[ख] इसी में कहीं प्रतिद्वन्द्विता का भाव विवक्षित होता है। यथा 'दृशा दग्धं' पद्य में।

[२] 'सौकर्येण निबद्धापि क्रिया कार्यविरोधिनी।' सुकरता के आधार पर उपनिबद्ध कार्य-विरोधिनी क्रिया भी व्याघात कहलाती है। उदाहरण हर्षचरित के उक्त उद्धरण का ही संक्षेप—

'दया चेद् बाल इति मय्यपरित्याज्य एव ते॥'

इसका स्पष्टीकरण दीक्षित ने इस प्रकार किया है—

'जैत्रयात्रोन्मुखेन राज्ञा [राज्यवर्धनेन] युवराजस्य राज्य एव स्थापने यत् कारणत्वेन संभावितं बाल्यं तत् प्रत्युत तद्विरुद्धस्य सहनयनस्यैव कारणतया युवराजेन परित्यागस्यायुक्तत्वं दर्शयता समर्थ्यते।'

पण्डितराज जगन्नाथ ने दोनों ही व्याघात स्वीकार कर लिए हैं, किन्तु उन्होंने दोनों का यह एक ही लक्षण बनाया है—

'यत्र ह्येकेन कर्त्रा येन कारणेन कार्यं किञ्चिन्निष्पादितं निष्पिपादयिषितं वा तदन्येन कर्त्रा न तेनैव कारणेन तद्विरुद्धकार्यस्य निष्पादनेन निष्पिपादयिषया वा व्याहन्येत स व्याघातः।'

—'जहाँ कहीं, किसी एक कर्त्ता के द्वारा जिस कारण से किसी कार्य की निष्पत्ति की गई हो या निष्पत्ति करना अभीष्ट हो, उसी का उससे भिन्न कर्त्ता के द्वारा उसी कारण से उसके विरुद्ध कार्य की निष्पत्ति कर या निष्पत्ति की इच्छा कर व्याघात किया जाता है वहाँ अलंकार भी व्याघात नामक ही होता है।'

पण्डितराज ने 'दृशा दग्धं' पद्य में सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत व्यतिरेक की संभावना पर विचार किया है और सर्वस्व का समर्थन किया है।

विश्वेश्वर ने भी 'दृशा दग्ध०' पद्य पर सर्वस्वकार का ही समर्थन किया है। किन्तु वे व्याघात के दूसरे भेद पर चुप हैं। उनका व्याघातलक्षण इस प्रकार है—

'कार्यान्तरहेतुतयान्येनाभिमताद् विरुद्धकार्यं चेत्।
क्रियते परेण तस्माद् व्याघातोऽयं समाख्यातः ॥'

'अन्य व्यक्ति द्वारा अन्य कार्य का हेतु माने गए पदार्थ से किसी अन्य के द्वारा यदि उसके विरुद्ध कार्य किया जाता है तो वह व्याघात कहलाता है।'

इसी का न्याय की भाषा में उन्होंने ऐसा परिष्कार किया है—'अभिमतकार्यनिरूपित-कारणत्वेनान्यविवक्षितार्थस्य तद्विरुद्धार्थनिष्ठकार्यतानिरूपितकारणताश्रयत्वं केनचित् प्रतिपाद्यते स व्याघातः, व्याहन्यते अन्याभिमतकार्यकारणभावोऽनेनेति व्युत्पत्तेः।'

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निगूढार्थकारिका इस पर यह है—

'यथा साधनमेकेन तथैवान्येन बाधनम्।
व्याघातोऽथ विरुद्धस्य सौकर्येण क्रिया यथा ॥'

पाठान्तर—(१) निर्णयसागरीय प्रति में द्वितीय व्याघात का सूत्र 'सौकर्येण कार्यविरुद्ध-क्रिया च व्याघातः' इस प्रकार छपा है। इसमें वृत्ति में 'व्याघात इत्येव' नहीं मिलता। काशी संस्करण में 'व्याघात इत्येव' सूत्र के ही साथ जोड़ दिया गया है। रत्नाकर, विमर्शिनी तथा सञ्जीविनी में उद्धृत पाठ के अनुसार सूत्र 'च' पर समाप्त हो जाता है। चाहिए भी यही। अनु-वृत्ति विधि से सूत्ररचना का जो क्रम इसके पूर्व के सूत्रों में मिलता है उसके अनुसार 'च'-इस समुच्चायक अव्यय द्वारा अलंकार के नाम की अनुवृत्ति हो जाने पर उसका कथन निरर्थक ही नहीं पुनरुक्तिदोष से दूषित भी है।

(२) 'श्रीहर्षाप्रस्थाने' के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में श्रीहर्षप्रस्थापने अर्थात् नञ् से रहित पाठ है। छपी हुई अन्य प्रतियों में नञ् का अभाव समान है, केवल कु० जानकी के संस्करण में शेष संस्करणों के प्रस्थापन के स्थान पर प्रस्थान पाठ ही अपनाया गया है।

'प्रत्युत प्रस्थान०' के स्थान पर निर्णयसागर की प्रति में भी 'प्रत्युत प्रस्थापन' पाठ छपा है और यही डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी के संस्करण में। यद्यपि अनुवाद में श्रीद्विवेदी 'प्रस्थान' पाठ यहाँ भी मानते हैं और अनुपदोक्त स्थल में भी। अनन्तशयन में भी नञ्घटित पाठ ही है।

रत्नाकर के पूर्वोद्धृत उद्धरण में यहाँ प्रस्थापन शब्द के स्थान पर प्रस्थान शब्द ही है और श्रीविद्याचक्रवर्ती की सञ्जीविनी के दोनों छापों में भी। इन दोनों में 'नञ्' की स्थिति भी वैसी ही है जैसी हमने मानी है। विमर्शिनी में भी नञ् की स्थिति तो ठीक है किन्तु प्रस्थान के स्थान पर प्रस्थापन पाठ भी मिलता है।

अप्पयदीक्षित के पूर्वोक्त उद्धरण से पाठान्तरविचार को एक नई दिशा मिलती है। उन्होंने न तो प्रस्थापन शब्द दिया है और न प्रस्थान। उनका शब्द है 'स्थापन'। लगता है कि मूलपाठ दो प्रकार का माना जाता रहा है—

१—'श्रीहर्षस्य स्थापने', 'प्रत्युतास्थापने' तथा

२—'श्रीहर्षस्याप्रस्थाने', 'प्रत्युत प्रस्थाने'।

परवर्ती लिपिकों ने कदाचित् इन्हें ही मिश्रित कर दिया, किन्तु नञ् की स्थिति में अन्तर नहीं किया। इस प्रकार 'श्रीहर्षस्य प्रस्थापने' तथा 'प्रत्युत प्रस्थापने' पाठ चल पड़ा।

मूल हर्षचरित में राज्यवर्धन के आदेश-वाक्य में केवल 'स्था'-धातु का प्रयोग है 'तिष्ठन्तु सर्वे त्वदैव सार्धम्'। इससे 'स्थापना'—पक्ष को बल मिलता है। प्रस्थान शब्द का अर्थ साथ चलना नहीं होता और श्रीहर्ष ने प्रार्थना की थी युद्ध के लिए साथ-साथ चलने की ही। इसी प्रकार प्रस्थापन शब्द का अर्थ भी 'स्थापन' नहीं होता यद्यपि प्रसिद्ध शब्द का सिद्ध अर्थ होता है।

ये दोनों पाठ रत्नाकरकार के समय तक ही चल पड़े होंगे। दोनों में 'प्रस्थान'-पदघटित पाठ ही अधिक प्रचलित प्रतीत होता है और ग्रन्थसंगति में वह बाधक भी नहीं है, अतः हमने इसीको मूल मान लिया है। डॉ० द्विवेदी की पाद टिप्पणी से विदित होता है कि पूना की तीन पाण्डु-प्रतियों में भी यही पाठ है। इन पाण्डु-प्रतियों में से दो तो काश्मीर देश की शारदालिपि की ही प्रतियाँ हैं।

(३) 'बाल इति' के पूर्व आक्षेप प्रकरण में 'केवलम्' तथा यहाँ जो 'यदि' शब्द जुड़े हुए हैं ये सर्वस्वकार के शब्द हैं बाण के नहीं। मूल हर्षचरित में ये नहीं मिलते।

विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—एवमित्यादिना।

इस [विरोधमूलक अलंकारों] के प्रकरण का उपसंहार करते और दूसरे प्रकरण की अवतरणिका प्रस्तुत करते हैं—

[सर्वस्व]

एवं विरोधमूलानलंकारान्निर्णीय शृङ्खलाबन्धोपचिता अलंकारा लक्ष्यन्ते। तत्र—

[सू० ५४] पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला।

यदा पूर्वं पूर्वं क्रमेणोत्तरमुत्तरं प्रति हेतुत्वं भजते तदा कारणमालाख्योऽयमलंकारः। यथा—

'जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनाऽनुरागप्रभवा हि संपदः॥'

कार्यकारणक्रम एवात्र चारुत्वहेतुः।

इस प्रकार विरोधमूलक अलंकारों का निर्णय किया। अब शृङ्खलाबन्ध के अनुरूप अलंकारों के लक्षण प्रस्तुत करते हैं। उनमें—

[सू० ५४] पूर्व-पूर्व के उत्तर-उत्तर के प्रति हेतु होने पर कारणमाला॥

जब पूर्व-पूर्व के पदार्थ उत्तर-उत्तर के पदार्थों के प्रति हेतु बनते हैं तब कारणमाला नामक अलंकार होता है। यथा—

'जितेन्द्रियता विनय का कारण है। विनय से प्राप्त होता है गुणप्रकर्ष। गुणप्रकर्ष से समाज अनुरक्त होता है और संपत्ति, जो है वह, जनानुराग से ही उत्पन्न होती हैं।'

यहाँ चारुत्वहेतु कार्यकारणक्रम ही है।

विमर्श—सर्वस्वकार ने शृङ्खलावर्ग में चार अलंकारों की गणना की है कारणमाला, एकावली, मालादीपक और सार। उन्होंने इनके लक्षण इसी क्रम से दिए हैं। रत्नाकरकार ने सर्वस्वकार

की इस मान्यता का खण्डन किया है और मूल अलंकार शृङ्खला को ही मानकर इनमें से प्रथम तीन अलंकारों को शृङ्खलालंकार के भेद माना है स्वतन्त्र अलंकार नहीं। विमर्शिनीकार ने रत्नाकर के खण्डन का निराकरण कर सर्वस्व का समर्थन किया है। हम पहले रत्नाकर का शृङ्खलाविवेचन प्रस्तुत करते हैं—

[सूत्र] 'उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वानुबन्धित्वं विपर्ययो वा शृङ्खला ॥'

[वृत्ति] उत्तरोत्तरस्याश्रयत्वादिना पूर्वं पूर्वं प्रति पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरमुत्तरं प्रति वा सापेक्षत्वं शृङ्खला।

अत्र (१) पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुकत्वे कारणमाला, तथा (२) यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहेन एकावली (३) पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकमिति त्रयं शृङ्खलाबन्धेनान्यैरलङ्कारा लक्षिता, तेषु च शृङ्खलात्वपरिहारेण प्रत्येकं न किञ्चिच्चारुत्वविशेषोऽस्ति येनालङ्कारभेदः स्यात्। यदि च कार्यकारणविशेषणविशेष्यभावादिविशेषाश्रयणेन भेदेनाभिधानम्, तर्हि उत्तरोत्तरमाधाराधेयता-स्वस्वामित्वादिसम्बन्धावलम्बनेन शृङ्खलाया बहवोऽलंकारा उपसङ्ख्येयाः प्रसज्येरन्। अत इह लक्ष्यव्याप्त्यर्थं शृङ्खलैव लक्षिता। अस्यां महाविषयायां तेषामन्तर्भावोपपत्तेः।

अपि च मालारूपकवदेकस्मिन् यत्र बहूनां योगपद्येन स्थितिस्तत्र मालाख्यं वक्तुमुचितम्, इह तु तदभावात् कारणमालाद्यभिधानमसमञ्जसमेव।

यदपि शृङ्खलादय उपमाद्यवान्तरभेदा इति, तदयुक्तम्। उपमादिव्यतिरेकेण कार्यकारणभावाद्यवलम्बनेनापि शृङ्खलायाः सम्भवात्। अतश्चोपमादिशृङ्खलाभिमते विषये उपमादीनां शृङ्खलया सह संकीर्णत्वम्, न तु उपमादिभेदत्वम्। यथा—

> 'शैल इव जलधराणां शैलानामिव जलनिधिः पृथिवीनाथ।
> जलधीनामिव पातालं सत्पुरुषाणां त्वं निलयः ॥'

—'परवर्ती पदार्थों की पूर्ववर्ती पदार्थों के प्रति अथवा पूर्ववर्ती पदार्थों की परवर्ती पदार्थों के प्रति आश्रयता आदि के लिए सापेक्षता शृङ्खला नामक अलंकार कहलाती है।'

'इसमें शृङ्खलाबन्ध से [१] पूर्व पूर्व का उत्तर-उत्तर को कारण बनाने में कारणमाला, पूर्व-पूर्व के प्रति उत्तर-उत्तर के विशेषण होने में एकावली, तथा [३] पूर्व पूर्व के उत्तर-उत्तर के प्रति गुणावह होने में मालादीपक, ये तीन अलंकार अन्य आचार्य [सर्वस्वकार] ने बतलाए हैं। इनमें से प्रत्येक में शृङ्खलात्व को छोड़कर चारुत्व का कोई अन्य कारण नहीं है जिससे इन्हें भिन्न-भिन्न अलंकार माना जाए। यदि 'कार्यकारणभाव, विशेष्यविशेषणभाव' आदि सम्बन्धगत विशेषताओं को लेकर अलंकारों को अलग अलग बतलाया जा रहा हो तो आधाराधेयभाव, स्वस्वामिभावादि सम्बन्धों को लेकर शृङ्खला में और भी भेद गिनने पड़ जाएँगे। इसलिए सम्भावित सभी भेदों को अपना लेने के लिए केवल एक शृङ्खला का ही लक्षण अलंकार रूप से बना दिया गया। यह अत्यन्त व्यापक है, अतः इसमें सभी लक्ष्यों का अन्तर्भाव हो सकता है।

इसी प्रकार मालात्व भी वहाँ मानना उचित है जहाँ अनेक पदार्थों की स्थिति एक में हो हो और वह भी एक साथ हो। यहाँ स्थिति वैसी नहीं है, अतः कारणमाला आदि नाम निराधार हैं। उपमा आदि के जो शृङ्खला आदि अवान्तर भेद बतलाए गए हैं, वे भी ठीक नहीं हैं क्योंकि शृङ्खला तो उपमादि से रहित केवल कार्यकारणभाव आदि के आधार पर भी हो सकती है। अतः उपमाशृङ्खला आदि नाम से माने गए स्थलों में भी उपमा आदि के साथ शृङ्खला का संकर मानना चाहिए, न कि उपमा आदि का भेद। यथा—

'जैसे मेघों के आधार पर्वत होते हैं, पर्वतों के आधार समुद्र और समुद्र के आधार पाताल वैसे ही सत्पुरुषों के आधार हैं राजन्! आप हैं।' यहां प्रथम तीन चरणों में आश्रयाश्रयिभाव-मूलक, शृङ्खला है और उसके आधार पर निष्पन्न तृतीय चरण में उपमा।

विमर्शिनी

अलङ्कारा इति न पुनः शृङ्खलैवैकोऽलंकारः। एवं हि साधर्म्यमप्येक एवालंकारः स्यात्। न ह्युपमादिषु साधर्म्यपरिहारेण प्रत्येकं कश्चिद्विच्छित्तिविशेषः संभवः येनालंकार-भेदः स्यात्। एवं विरोधोऽप्येक एव वाच्यः। न हि विभावनादीनां विरुद्धत्वादन्यः कश्चिद्विशेषः। किमपरम्, एवं सप्तानामष्टानामेवालंकाराणां लक्षणप्रणयनप्रसङ्गः। अथोप-मादीनामपि साधर्म्यादावन्तरोऽस्ति विशेष इति चेत् तर्हि कारणमालादीनामपि शृङ्खला-बन्धोपश्लिष्टत्वेऽपि वक्ष्यमाणनीत्या कार्यकारणविशेषणविशेष्यभावाद्यात्मास्त्येवावान्तरो-ऽपि विच्छित्तिविशेषः येनोपमादिवत्पृथगेवैषामलंकारत्वं युक्तम्। एवं हि शृङ्खलायामवान्तर-विच्छित्तिविशेषसंभवेऽप्यन्यालंकारोपसंख्यान प्रसज्यत इति चेत्, न, यद्यस्ति विच्छि-त्यन्तरं तदस्त्वलंकारान्तरोपसंख्यानं, को दोषः। प्रत्युताभासमानस्य विशेषस्यापह्नवो न वाच्यः। तद्यथास्थित एवालंकारभेद आश्रयणीयः। तस्माद् 'उत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वा-नुबन्धित्वे विपर्यये वा शृङ्खलेति न वाच्यम्।

तत्र तावत्कारणमालामाह—पूर्वेत्यादि। कारणमालाख्योऽयमिति मालान्यायेन बहूनां कारणानां यौगपद्येनावस्थानात्। अत एवाह—कार्यकारणक्रम एवेति न पुनः केवलमेव शृङ्ख-लात्वमित्यर्थः। अत एव कारणमालेत्यस्या अन्वर्थमभिधानम्। एवमन्येभ्यः शृङ्खलाबन्धो-पश्लिष्टेभ्योऽलङ्कारेभ्योऽस्या विषयविभागः। न हि तेषु कार्यकारणक्रम एव चारुत्वहेतुः। विशेषणविशेष्यभावादेवावान्तरस्य विच्छित्तिविशेषस्य संभवात्। क्वचिद्विपर्ययेणापि भवति। यथा—

> 'माणो गुणेहि जाअइ गुणा वि जाअंते सुअणसेवाइ।
> विमलेण सुअअप्पसरणे सुअणसेवइ उद्धाणं॥'

अत्र हि पूर्वस्योत्तरोत्तरं कारणतयोपनिबद्धम्। एवमुत्तरत्रापि विपर्ययोऽभ्यूह्यः॥

अलंकाराः = अलंकार शब्द में बहुवचन के प्रयोग का अर्थ यह कि प्रत्येक अलंकार स्वतन्त्र अलंकार है, न कि सब मिलकर एक शृङ्खला नामक अलंकार हैं। ऐसा मानने पर तो [उपमा आदि को अलंकार न मानकर] एक साधर्म्य को ही अलंकार मानना होगा, उपमा आदि अलंकारों में से प्रत्येक में साधर्म्य के बिना कोई चमत्कार थोड़े ही संभव है, जिससे इन्हें पृथक् पृथक् अलंकार माना जाए। इसी प्रकार विरोध भी एक ही बतलाया जाना चाहिए। विभावना आदि में विरुद्धत्व को छोड़कर कोई अन्य विशेषता नहीं रहती। अधिक क्या, इस प्रकार विचार करने पर तो केवल सात ही अलंकारों के लक्षण बनाने की आपत्ति सामने आती है। यदि कहें कि उपमा आदि में भी साधर्म्य के अतिरिक्त अन्य भी विशेषता रहती है, तो कारणमाला आदि में भी, शृङ्खलाबन्ध की कला रहने पर भी आगे प्रतिपादित किए जाने वाले हेतुओं से कार्यकारणभाव, विशेषणविशेष्यभाव आदि रूप अवान्तर विच्छित्ति स्वीकार करनी होगी, जिससे इनको उपमा आदि के समान पृथक् अलंकार मानना होगा। यदि कहें कि ऐसा मानने पर शृङ्खला में भी अन्य अनेक विशेषताएँ संभव हैं अतः उनके आधार पर अन्य अनेक अलंकारों का भी संग्रह करना पड़ जाएगा, [और यह एक अनवस्था जैसा दोष होगा], तो ऐसा भी नहीं। क्योंकि यदि अन्य कोई उक्तिप्रकार चारुता से युक्त संभव है तो उसका भी संग्रह स्वतन्त्र अलंकार के रूप में अवश्य हो। इसमें दोष ही क्या? प्रतीत हो रहे

वैशिष्ट्य का छिपाया जाना ही बल्कि ठीक नहीं। इस प्रकार अलंकारों का जैसा भेद [सर्वस्वकार ने] किया है वैसा ही भेद अपनाना उचित है। और इसीलिए [स्वयं रत्नाकरकार को ही] 'उत्तरोत्तर पदार्थ का पूर्व पूर्व पदार्थ के प्रति सापेक्ष होना या इससे उल्टे क्रम से सापेक्ष होना शृङ्खला कहलाती है'-ऐसा लक्षण नहीं करना चाहिए।

[रत्नाकर का आंशिक खण्डन कर अब मूलग्रन्थ का स्पष्टीकरण करना आरम्भ करते हैं]—इन [शृङ्खलामूलक अलंकारों] में पहले कारणमाला का लक्षण बनाते हैं—पूर्वं इत्यादि। कारणमालाख्योऽयम् = इसका नाम कारणमाला है, इसलिए कि इसमें बहुत से कारणों की एक साथ अवस्थिति है जैसी कि माला में होती है। इसीलिए कहा—'कार्यकारणक्रम एव'। यहाँ कार्यकारणक्रम है न कि केवल शृङ्खलात्व ही है इसीलिए 'कारणमाला' यह इसका सार्थक नाम है। इसीलिए शृङ्खलारूप से स्थित वाले अन्य अलंकारों से इस [कारणमाला] का क्षेत्र भी भिन्न है। उन अलंकारों में चारुत्व का आधार केवल कार्यकारणभाव ही नहीं होता। क्योंकि वहाँ कार्यकारणभाव के आधार पर भी विशिष्ट चारुत्व की निष्पत्ति सम्भव होती है। कहीं उल्टी स्थिति भी रहती है। यथा—[रत्नाकर में ही उदाहृत]

'मानो गुणैर्जायते गुणा अपि जायन्ते सुजनसेवया।
विमलेन सुकृतप्रसरेण सुजनसेवाया उत्थानम् ॥'

'मान गुण से उत्पन्न होता है, गुण भी सुजनों की सेवा से उत्पन्न होते हैं। और सुजनसेवा का उत्थान होता है पुण्यों के विमल परिपाक से।'

यहाँ पूर्व पूर्व पदार्थ को उत्तर उत्तर पदार्थ के प्रति कारण बतलाया गया है। इसी प्रकार अगले स्थलों में भी स्वयं सोच लेना चाहिए॥

विमर्श—कारणमाला-इतिहास

भामह, वामन तथा उद्भट में इस पर कोई चर्चा नहीं मिलती। प्रथमतः रुद्रट ने इसका निर्वचन किया है। वास्तववर्ग के अलंकारों में वे इसे इस प्रकार उपस्थित करते हैं—

'कारणमाला सेयं यत्र यथापूर्वमेति कारणताम्।
अर्थानां पूर्वार्थाद् भवतीदं सर्वमेवेति ॥ ७।८४ ॥

—'प्रथम प्रथम पदार्थ से उत्तर-उत्तर पदार्थ उत्पन्न होते हैं अतः परवर्ती पदार्थों के प्रति पूर्व पूर्ववर्ती पदार्थ कारण होने के कारण यह अलंकार कारणमाला कहलाता है।

उदा०—'जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणम्०' पद्य का ही रूपान्तर—

'विनयेन भवति गुणवान् गुणवति लोकोऽनुरज्यते सकलः।
अभिगम्यतेऽनुरक्तैः ससहायो युज्यते लक्ष्म्या ॥'

—विनय से व्यक्ति गुणवान् बनता है, गुणवान् पर लोग अनुरक्त होते हैं। अनुरक्त लोग साथ देते हैं। साथियों वाला व्यक्ति लक्ष्मी से युक्त होता है।

मम्मट—मम्मट ने रुद्रट का अनुसरण इस प्रकार किया है—

मू० 'यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता। तदा कारणमाला स्यात्।'
वृ० उत्तरमुत्तरं प्रति यथोत्तरम्।

उदा०—'जितेन्द्रियत्वं' पद्य ही।

परवर्ती आचार्यों में से शोभाकर का मत दिया ही जा चुका है। इसमें 'मानो गुणै०' गाथा, जो विमर्शिनी में उद्धृत है, द्वारा उत्तर-उत्तर पदार्थ को भी पूर्व पूर्व पदार्थ के प्रति कारण बतलाया गया है। रुद्रट, मम्मट सर्वस्वकार का इस ओर ध्यान नहीं है।

अप्पयदीक्षित ने रत्नाकर की सूझ का अनुमोदन किया है और दोनों ही प्रकार की कारणमालाओं के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, यद्यपि इन्होंने रत्नाकरकार के समान कारणमाला को शृङ्खला में अन्तर्भूत नहीं माना है। उनका कारणमाला विवेचन यह है—

'गुम्फः कारणमाला स्याद् यथा प्राक्प्रान्तकारणैः।'

—'पूर्व-पूर्व या उत्तर उत्तर के पदार्थों का उत्तर-उत्तर या पूर्व-पूर्व के पदार्थों के प्रति कारण बनना कारणमालालंकार कहलाता है। प्रथम का उदाहरण—

'नयेन श्रीः श्रिया त्यागस्त्यागेन विपुलं यशः।'

—'नय से श्री, श्री से त्याग, त्याग से विपुल यश।'

द्वितीय का उदाहरण—

'भवन्ति नरकाः पापात् पापं दारिद्र्यसंभवम्।
दारिद्र्यमप्रदानेन तस्माद् दानपरो भव॥'

—'नरक होते हैं पाप से, पाप होता है दारिद्र्य से, दारिद्र्य होता है दान न देने से। इसलिए दानपरायण बनो।'

पण्डितराज ने पहले शृङ्खला का लक्षण बनाया है और उसके पश्चात् तन्मूलक एक-एक अलंकार का। उनका शृङ्खला का लक्षण यह है—

'पङ्क्तिरूपेण निबद्धानामर्थानां पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरस्मिन्,
उत्तरोत्तरस्य वा पूर्वपूर्वस्मिन् संसृष्टत्वं शृङ्खला॥'

—'पंक्तिरूप से उपनिबद्ध पदार्थों में से पूर्व-पूर्व का उत्तरोत्तरपदार्थ के साथ अथवा उत्तरोत्तर का पूर्व-पूर्व पदार्थ के साथ संबद्ध होना शृङ्खला कहलाता है। इसके स्वतन्त्र अलंकारत्व पर रत्नाकर और विमर्शिनी के पक्षविपक्ष भी पण्डितराज ने यहाँ संक्षेप में नामोल्लेख के बिना उपस्थित किए हैं। किन्तु सारालंकार के प्रकरण के अन्त में उन्होंने विमर्शिनी के ही तर्कों का समर्थन किया है। कारणमाला का लक्षण उन्होंने इस प्रकार बनाया है—

'सैव शृङ्खला आनुगुण्यस्य कार्यकारणभावरूपत्वे कारणमाला।'

—'वही शृङ्खला संबन्ध के कार्यकारणभावरूप होने पर कारणमाला।'
पण्डितराज ने रत्नाकर द्वारा प्रस्तुत इसके दोनों भेद भी स्वीकार किए हैं और लिखा है—

(१) 'तत्र पूर्वं पूर्वं कारणं परं परं कार्यमित्येका।
(२) पूर्वं पूर्वं कार्यं परं परं कारणमित्यपरा।'

विश्वेश्वर—ने कारणमाला के दोनों भेद स्वीकार किए हैं किन्तु कारणमाला का लक्षण केवल इतना बनाया है—

'कारणमाला पूर्वं पूर्वं कार्यं यथोत्तरं हेतौ।'

—'उत्तर-उत्तर के प्रति पूर्व-पूर्व के हेतु होने पर कारण माला। इन्होंने इसका उदाहरण भी अच्छा खोज निकाला है—

'दारिद्र्याद्ध्रियमेति०' इत्यादि मृच्छकटिक का प्रसिद्ध पद्य।

इस पर श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

'कार्यकारणमालायां प्राचः प्राचः परं परम्।

[सर्वस्व]

[सू० ५५] यथापूर्वं परस्य विशेषणतया स्थापनापोहने एकावली ।

यत्र पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेण परं परं विशेषणत्वमनुभवति स एकावल्यलंकारः । विशेषणत्वं च स्थापनेन निवर्तनेन वा ।

स्थापनेन यथा

'पुराणि यस्यां सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्गयः ।
रूपं समुन्मीलितसद्विलासमस्त्रं विलासाः कुसुमायुधस्य ॥'

अत्र वराङ्गनाः पुराणां विशेषणं स्थापनीयत्वेन स्थितम् । एवं वराङ्गनानां रूपमित्यादि ज्ञेयम् । निवर्तनेन यथा—

'न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥'

अत्र जलस्य सुचारुपङ्कजत्वं विशेषणं निषेध्यत्वेन स्थितम् । एवं पङ्कजानामलीनषट्पदत्वादि ज्ञेयम् ।

[सू० ५५] 'पूर्व-पूर्व के प्रति परवर्ती के विशेषण रूप से स्थापन या निवर्त्तन हो तो [अलंकार की संज्ञा] एकावली [होती है] ।

जहाँ उत्तरवर्ती पदार्थ पूर्व-पूर्व के प्रति विशेषण बनते जाएँ वह अलंकार एकावली कहलाता है । विशेषणता स्थापन से होती है या निवर्त्तन से, स्थापन से यथा—

'जहाँ नगर उत्तम अंगनाओं से युक्त हैं, उत्तम अंगनाएँ रूप से पुरस्कृत अंगवाली हैं, रूप उन्मीलित हो रहे अभिजात विलासों से युक्त है और विलास काम के अस्त्र हैं ।'

यहाँ उत्तम अंगनाएँ नगर के प्रति ऐसे विशेषण हैं । जो स्थापित किए जा रहे हैं । इसी प्रकार रूप उत्तम अंगनाओं के प्रति वैसा ही विशेषण है और आगे भी ऐसा ही है ।

निवर्त्तन से यथा—

'ऐसा कोई जल न था जिसमें सुन्दर कमल न हों, कमल भी ऐसा न था जिसमें भौंरे नहीं डूब रहे हों, भौंरे भी ऐसे न थे जो मधुर गुञ्जार न कर रहे हों और कोई मधुर गुञ्जार भी ऐसा न था जो मन न हरता रहा हो ।'

—यहाँ जल के प्रति 'सुचारुपङ्कजत्व = सुन्दर कमल से युक्त होना', ऐसा विशेषण है जो निषेध्यरूप से स्थित है । इसी प्रकार कमल आदि के प्रति 'अलीनषट्पदत्व' = जिसमें भौंरे न डूब रहे हों' आदि को समझना चाहिए ।

विमर्शिनी

यथापूर्वमित्यादि । परं परमिति । अत एव पूर्वस्य पूर्वस्य यथायथं विशिष्टतयावगमः । स्वरूपमात्रेणावगतस्य वस्तुनो यत्संबन्धबलेन वैशिष्ट्यमवगम्यते तद्विशेषणम् । तदूपयति, उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावलीति । एकावल्यलंकार इति । पूर्वोत्तरयोः परस्परानुपक्तत्वेनैकपङ्क्तिरूपत्वात् ।

यथापूर्वम् इत्यादि। **परं परम्**=उत्तरवर्ती, अत एव पूर्व-पूर्व का उसी क्रम से एक एक करके विशिष्ट-[विशेषण-युक्त]-ता के साथ ज्ञान होता है। विशेषण वह तत्त्व है जिसके संबन्ध के बल पर स्वरूपमात्र से विदित कोई पदार्थ विशिष्टता का अनुभव करता है। जैसा कि कहेंगे— 'उत्तरोत्तर के पदार्थ पूर्व-पूर्व के पदार्थों के उत्कर्ष के हेतु हों तो एकावली'। **एकावल्यलङ्कारः**= अलंकार का नाम एकावली, इसलिए कि इसमें पूर्व और पर के पदार्थ परस्पर में सम्बद्ध रहते हैं और एक पंक्ति जैसे प्रतीत होते हैं।

विमर्श :—इतिहास

एकावली भी प्रथमतः रुद्रट की देन है। इन्होंने इसके उपर्युक्त दोनों पक्ष भी प्रस्तुत किए हैं। इनका एकावली विवेचन—

> 'एकावलीति सेयं यत्रार्थपरम्परा यथालाभम्।
> आधीयते यथोत्तरविशेषणा स्थित्यपोहाभ्याम्॥'

—'एकावली नामक अलंकार वह है जिसमें पदार्थ जिस क्रम से प्राप्त होते हैं उसी क्रम से उत्तरवर्ती पदार्थ पूर्व के प्रति स्थापित या निषिद्ध होकर विशेषण होते जाते हैं।'

उदाहरण—(१) 'सलिलं विकासिकमलं कमलानि सुगन्धिमधुसमृद्धानि।
मधु लीनालिकुलाकुलमलिकुलमपि मधुररणितमिह॥'

—'पानी यहाँ विकसित कमलों से सुशोभित है, कमल सुगन्धित मधु से समृद्ध हैं, मधु डूब रहे भौरों से आकुलित है और भौंरे भी मधुर गूँज से भरे हैं।'

यह पद्य निश्चित ही भट्टिकाव्य के 'न तज्जलं' पद्य का विधिरूप है। निम्नलिखित पद्य भी इसी पद्य की छाया पर निर्मित है—

(२) 'नाकुसुमस्तरुरस्मिन्नुद्याने नामधूनि कुसुमानि।
नालीनालिकुलं मधु नामधुरकाणमलिवलयम्॥'

—'इस उद्यान में कोई भी वृक्ष पुष्पहीन नहीं है, कोई पुष्प मधुहीन नहीं, कोई मधु भ्रमरहीन नहीं और कोई भी भ्रमर मनोहर गुञ्जार से रहित नहीं है।'

निश्चित ही रुद्रट ने भट्टिकाव्य की रीतिबद्ध कविता से पर्याप्त सहायता ली है, प्रकाश पाया है।

मम्मट—स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥

—'जहाँ, पूर्व-पूर्व के प्रति परवर्ती पदार्थ विशेषणरूप से स्थापित किए जाएं या हटाए जाएं वह दो प्रकार की एकावली होती है।'

उदाहरण दोनों वे ही जो अलंकारसर्वस्वकार ने दिए हैं। इस प्रकार एकावली के विषय में रुद्रट का मम्मट ने और मम्मट का सर्वस्वकार ने अनुसरण किया है।

परवर्ती आचार्यों में—शोभाकर की प्रतिक्रिया कारणमाला में व्यक्त हो चुकी है। अप्पयदीक्षित ने कुवलयानन्द में इस अलंकार का लक्षण भिन्न प्रकार से किया है—

'गृहीतमुक्तरीत्यार्थश्रेणिरेकावलिर्मता।'

'गृहीतमुक्तरीति से अर्थ की श्रेणी एकावली'। यहाँ गृहीतमुक्त शब्द से पूर्व का उत्तर के प्रति भी विशेषणभाव माना गया है। जब कि सर्वस्वकार ने इस स्थिति में मालादीपक माना है। इसका स्पष्टीकरण आगे पण्डितराज ने कर दिया है। दीक्षित जी ने अपोह को लक्षण में स्थान नहीं दिया न तो उसके उदाहरण ही दिए हैं।

पण्डितराज—ने एकावली का लक्षण स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा इस प्रकार बनाया है—

'सैव शृङ्खला संसर्गस्य विशेष्यविशेषणभावरूपत्वे एकावली' वही शृङ्खला एकावली कहलाती है जब संबन्ध विशेष्यविशेषणभाव रूप होता है।

पण्डितराज ने इसमें स्थापन और अपोहन का भी अस्तित्व सकारा है और उनके लक्षण भी इस प्रकार बनाए हैं—

[१] स्वसम्बन्धेन विशेष्यतावच्छेदकनियामकत्वं स्थापकत्वम्।

[२] स्वव्यतिरेकेण विशेष्यतावच्छेदकव्यतिरेकबुद्धिजनकत्वमपोदकत्वम्।

अर्थात् अपने संबन्ध के द्वारा विशेष्य में उसकी विशेषता का निश्चय कराना स्थापन। यथा 'पण्डित वह जो अपना हित देखे'। यहाँ स्वहितदर्शिता द्वारा पाण्डित्य का निश्चय कराया जा रहा है, इसका स्पष्टीकरण 'जो स्वहितदर्शी नहीं होता वह पण्डित नहीं होता'—इस परवर्ती व्यतिरेकी बोध से होता है। अपोहन वह होता है जो अपने अभाव से विशेष्यगत विशेषण का अभाव तय कराए। यथा यही—'जो स्वहित न देखे वह पण्डित नहीं।' इसमें स्वहितदर्शिता का अभाव पाण्डित्य के अभाव का निश्चायक है।

अप्पयदीक्षित के ही समान पण्डितराज ने पूर्व पूर्व को भी उत्तरोत्तर के प्रति विशेषणीभूत मानकर एकावली स्वीकार की है। मालादीपक से इस भेद का अन्तर इन्होंने धर्मगत एकता को लेकर किया है। यदि पूर्व पूर्व के द्वारा उत्तरोत्तर में उत्पन्न किया गया वैशिष्ट्य एकरूप ही हो तो मालादीपक होता है। एकावली में यह प्रतिव्यक्ति भिन्न-भिन्न होता है।

विश्वेश्वर—ने एकावली का निरूपण इस प्रकार किया है—

> 'प्रथमं विशेषणं यद् विशेष्यमग्रे भवत्यसकृत्।
> विरहप्रतियोगी वा तदानेकावली सोक्ता ॥'

'जो पहले विशेषण हो वही आगे विशेष्य बने या उससे युक्त अभाव का प्रतियोगी बने और ऐसा अनेक बार से तो उसे एकावली कहते हैं।'

विश्वेश्वर ने यहाँ पूर्व का उत्तर के प्रति विशेषणभाव भी माना है। विश्वेश्वर की दृष्टि एकावली के विषय में पण्डितराज से अधिक व्यापक है। पण्डितराज ने स्थापन और अपोहन के जो लक्षण किए हैं उनकी दृष्टि में वे एकांगी हैं व्यापक नहीं। 'न तज्जलं' में उनका अपोहनलक्षण लागू नहीं होता। यहाँ शरत्काल का वर्णन है। इसमें कमल के अभाव में जलत्व का अभाव विवक्षित नहीं है, अपितु जल के साथ कमल का अयोगव्यवच्छेद विवक्षित है। इसी प्रकार 'पुराणि यस्यां' में वराङ्गनायुक्तत्व पुरत्व का निश्चायक नहीं है वह केवल पुर के उत्कर्ष का व्यञ्जक है।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका इस प्रकार है—

> 'एकावल्यां यथापूर्वं भेदकं तूत्तरोत्तरम्।
> स्थाप्यतेऽपोह्यते चैव तेनेयं द्विविधा मता ॥'

[सर्वस्व]

[सूत्र ५६] पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरोत्तरगुणावहत्वे मालादीपकम्।

उत्तरोत्तरस्य पूर्वं पूर्वं प्रत्युत्कर्षहेतुत्वे एकावली। पूर्वस्य पूर्वस्यो त्तरोत्तरोत्कर्षनिबन्धनत्वे तु मालादीपकम्। मालात्वेन चारुत्वविशेषमाश्रित्य दीपकप्रस्तावोल्लङ्घनेनेह लक्षणं कृतम्। गुणावहत्वमुत्कर्षहेतुत्वम्। यथा—

'संग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते
देवाकर्णय येन येन सहसा यद् यत्समासादितम्।
कोदण्डेन शराः शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलं
तेन त्वं भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम्॥'

अत्र कोदण्डादिभिः क्रमेण शरादीनामुत्कर्षो विहितः। समासादनलक्षणक्रियानिबन्धने च दीपकं दीपनविषयाणामुत्तरोत्तरमभिमतत्वेन कृतम्।

[सूत्र ५६] पूर्व पूर्व उत्तर उत्तर का उत्कर्षाधायक हो तो [अलंकार] मालादीपक [कहलाता है]।

उत्तर-उत्तर पूर्व-पूर्व के प्रति उत्कर्ष का हेतु हो तो एकावली मानी गई है, इसके विपरीत पूर्व-पूर्व उत्तर उत्तर का उत्कर्षाधायक हो तो मालादीपक होता है। मालामाव के कारण इसमें एक विशेष प्रकार की चारुता चली आती है। इसे दृष्टि में रखते हुए इसका लक्षण दीपक के प्रसंग से हटाकर यहाँ किया गया है। गुणावहत्व का अर्थ है उत्कर्षहेतुत्व। उदाहरण—

'देव! संग्रामांगण में आकर आपने धनुष चढ़ाया तो सुनिए जिस-जिसने जो जो प्राप्त किया। धनुष ने बाण, बाणों ने शत्रु सिर, उन्होंने भूमण्डल, उसने आपको, आपने कीर्ति और कीर्ति ने तीनों लोकों को।'

यहाँ धनुष आदि के द्वारा क्रम से शर आदि का उत्कर्ष किया गया। [अतः यहाँ मालात्व है और सब में] समासादनरूप [एक] क्रिया होने से यहाँ दीपक है। दीपन कार्य विषयों में उत्तरोत्तर अभिमतता बतलाने से निष्पन्न हुआ है।'

विमर्शिनी

पूर्वेत्यादि। अतश्चैकावल्यलंकाराद् वैलक्षण्यं दर्शयन् व्याचष्टे—उत्तरेत्यादि। उत्कर्षनिबन्धनत्व इत्यनेन कारणमालातोऽप्यस्य वैलक्षण्यमुक्तम्। तस्यां हि पूर्वस्य पूर्वस्योत्तरमुत्तरं प्रति कारणत्वम्। ननु चास्य प्राच्यैर्दीपकानन्तरं लक्षणं कृतम् इह तु किं न तथेत्याशङ्कयाह—मालात्वेनेत्यादिना। मालाशब्देनात्र शृङ्खला लक्ष्यते, तस्या प्रक्रोपक्रान्तत्वात्। न चात्र मालोपमावन्मालाशब्दो ज्ञेयः। एकस्योपमेयस्य बहूपमानोपादानाभावात्। अत्र औपम्यमेव नास्ति। कोदण्डशरादीनां तस्याविवक्षणात्। अत एवास्य दीपकभेदत्वं न वाच्यम्। औपम्यजीवितं हि तत्। प्राच्यैः पुनरेतद्दीपनमात्रानुगुण्यात्तदनन्तरं लक्षितम्। शृङ्खलात्वेन तु विशिष्टमस्य चारुत्वमितीह लक्षणं युक्तम्। एतच्च दीपक एव ग्रन्थकृतोक्तम् 'छायान्तरेण तु मालादीपकं प्रस्तावान्तरे लक्षयिष्यते' इति। अत्रेत्यादि। उत्कर्षश्च शरादीनां कोदण्डादिसमासादनलक्षणः। दीपनविषयाणामिति। कोदण्डशरादीनाम्। अत एवास्य दीपकमित्यन्वर्थमभिधानम्॥

पूर्वेत्यादि। इसीलिए एकावली अलंकार से इसका भेद बतलाते हुए व्याख्या करते हैं उत्तर इत्यादि। उत्कर्षनिबन्धनत्व = उत्कर्षहेतु होना = इसके द्वारा कारणमाला से भी इसका भेद बतलाया। उसमें पूर्व-पूर्व उत्तर-उत्तर के प्रति कारण होता है। 'इसका लक्षण प्राचीन आचार्यों [मम्मट] ने दीपक के बाद किया है, यहाँ वैसा क्यों नहीं किया जा रहा है'—ऐसी शंका करके उत्तर देते हैं—मालात्वेन इत्यादि। यहाँ मालाशब्द का अर्थ लक्षणा द्वारा शृङ्खला है, क्योंकि प्रकरण उसी का चला हुआ है। यहाँ मालाशब्द मालोपमा जैसा नहीं समझना चाहिए—क्योंकि यहाँ एक उपमेय के लिए अनेक उपमानों का उपा-

दान नहीं है। यहाँ तो औपम्य ही नहीं है, क्योंकि धनुष-बाण आदि में उसकी कोई विवक्षा नहीं। इसीलिए [मालादीपक] दीपक का भेद नहीं कहा जा सकता। वह [दीपक] औपम्य पर निर्भर रहता है। प्राचीनों ने जो इसका लक्षण दीपक के बाद रखा है वह केवल दीपन मात्र की समानता के आधार पर। वस्तुतः इसमें चारुता आती है शृङ्खलात्व से, अतः इसका लक्षण यही ठीक है और यह तो ग्रन्थकार दीपक [के अन्त] में ही कह चुके हैं कि—'मालादीपक एक भिन्न चमत्कार को लेकर होता है, उसका लक्षण अन्य प्रसंग में किया जायगा।' अग्र = शरादि का उत्कर्ष है धनुष आदि के द्वारा प्राप्त किया जाना। दीपनविषयाणाम् = दीपन कार्य के विषय = धनुष आदि। इसीलिए इसका 'दीपक' नाम सार्थक है॥'

विमर्श—

इतिहास—मालादीपक भामह, वामन, उद्भट और रुद्रट में नहीं मिलता।

दण्डी—यह इदम्प्रथमतया दण्डी में मिलता है। उनका निरूपण—

'शुक्लः श्वेतार्चिषो वृद्ध्यै पक्षः पञ्चशरस्य सः।
स च रागस्य रागोऽपि यूनां रत्युत्सवश्रियः॥
इत्यादिदीपकत्वेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी।
वाक्यमाला प्रयुक्तेति तन्मालादीपकं स्मृतम्॥

—'शुक्लपक्ष चन्द्रमा की वृद्धि करता है, चन्द्रमा काम की, काम राग की, राग युवकों की रतोत्सवश्री की।' यह आदिदीपक है तथापि इसमें पूर्व पूर्व के प्रति परवर्ती को सापेक्ष वाक्यों की माला बनाई गई है, अतः इसे मालादीपक कहा गया है।' —[काव्यादर्श-२।१०१]

मम्मट—

मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम्।

—'यदि आदि-आदि के पदार्थ यथोत्तर उत्कर्षकारी हों तो मालादीपक होता है।'

उदाहरण—'संग्रामाङ्गण०' पद्य ही।

रत्नाकर का जो उद्धरण कारणमाला के प्रसंग में उद्धृत किया गया है उससे स्पष्ट है कि शोभाकरमित्र मालादीपक को स्वतन्त्र अलङ्कार नहीं मानते।

अप्पयदीक्षित—ने मालादीपक की निष्पत्ति दीपक और एकावली के योग से मानी है—

'दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते।
उदा०—'स्मरेण हृदये तस्यास्तेन त्वयि कृता स्थितिः॥'

—'काम ने उस सुन्दरी के हृदय में और उस [हृदय] ने आपमें टिकाव कर रखा है।' दूसरा उदाहरण 'संग्रामाङ्गण०' ही इन्होंने दिया है।

पण्डितराज—जगन्नाथ मालादीपक को एकावली का ही एक भेद मानते हैं, दीपक नहीं [द्र० रसगंगाधर दीपकप्रकरण]। विमर्शिनीकार के ही समान उनका कहना है कि इस अलंकार के उदाहरणों में आए पदार्थों में न तो सादृश्य ही रहता और न प्रकृताप्रकृतत्व ही। अतः यहाँ दीपकत्व कथमपि सम्भव नहीं। 'संग्रामाङ्गण०' उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट है। [द्र० एकावलीप्रकरण रसगंगाधर] मालादीपक शब्द का आशय बतलाते हुए उन्होंने लिखा है 'मालापदेनात्र शृङ्खलोच्यते दीपकशब्देन दीप इवेति व्युत्पत्त्या एकदेशस्य सर्वोपकारकमुच्यते।' तेन—

'एकदेशस्थसर्वोपकारकक्रियाशालिनी शृङ्खलेति पदद्वयार्थः।'

—'माला शब्द यहाँ शृङ्खला का वाचक है और दीपक शब्द 'दीप के समान' इस व्युत्पत्ति के आधार पर एकदेशस्थ सभी द्रव्यों का उपकार के पदार्थ। इस प्रकार दोनों पदों का मिलित अर्थ हुआ—'एकदेशस्थित सभी पदार्थों का उपकार करने वाली क्रिया से युक्त शृङ्खला।'

[द्र० रसगं० एकावलीप्र०]।

विश्वेश्वर—ने मालादीपक को दण्डी और मम्मट के ही समान दीपक-प्रकरण में ही स्थान दिया है। उनका लक्षण—

[सूत्र] 'माला तु पूर्वपूर्वे विध्यन्तरेणोत्तरान्वयिनि॥'

[वृत्ति] तस्यां क्रियायां रूपान्तरेणान्वितस्य पुनस्तस्यामेव रूपान्तरेणान्वये मालादीपकमिति।

—'एक ही क्रिया में एक रूप से अन्वित का पुनः दूसरे रूप से अन्वय मालादीपक कहलाता है।' 'संग्रामाङ्गण०' पद्य में पद्य समासादनक्रिया में जिस बाण का कारणत्वेन अन्वय है उसी का कर्तृत्वेन भी अन्वय है।

विश्वेश्वर पण्डितराज द्वारा प्रस्तुत प्रस्तुत आपत्तियों का कोई उल्लेख नहीं करते। न तो उनका खण्डन ही करते।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की मालादीपक पर निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

'मालादीपकमाद्यस्योत्तरोत्तरदीपनम्।'

आद्य आद्य का उत्तर उत्तर के प्रति उत्कर्षक होना मालादीपक कहलाता है।

[सर्वस्व]

[सू० ५०] उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सारः।

पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षनिबन्धनः सारः।

यथा—

'जये धरित्र्याः पुरमेव सारं पुरे गृहं सद्मनि चैकदेशः।
...नापि शय्या शयने वरा स्त्री रत्नोज्ज्वला राज्यसुखस्य सारम्॥'

अत्र धरित्र्यपेक्षया पुरस्य सारत्वमेवं पुरापेक्षया तदेकदेशस्य गृहस्येत्यादि योजनीयम्।

यथा—

'राज्ये सारं वसुधा वसुन्धरायां पुरं पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम्॥'

अत्र राज्यापेक्षया वसुन्धरायाः सारत्वमेवं वसुधापेक्षया तदेकदेशस्य पुरस्येत्यादि योजनीयम्। एवं शृङ्खलाविच्छित्त्यालंकाराः प्रतिपादिताः।

[सूत्र] उत्तरोत्तर उत्कर्ष सार [नामक अलंकार कहलाता है]॥

पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तर उत्तर का उत्कर्ष बतलाना सार कहलाता है। यथा—

'पृथिवी के विजय में सार नगर ही है, नगर में सार गृह है, और गृह में उसका एक भाग। उसमें भी सार है शय्या, शय्या पर राज्य सुख का सार है रत्नोज्ज्वल उत्कृष्ट स्त्री।'

—यहाँ पृथिवी की अपेक्षा नगर का सारत्व बतलाया जा रहा है इसी प्रकार नगर की अपेक्षा उसके एक अंश गृह का, इत्यादि योजना कर लेनी चाहिए। दूसरा उदाहरण यथा—

'राज्य में सार है पृथिवी, पृथिवी में सार है नगर, नगर में सौध, सौध में तल्प, तल्प में अनंग का सर्वस्व उत्तम स्त्री।'

—यहाँ राज्य की अपेक्षा पृथिवी का सारत्व प्रतिपादित है, इसी प्रकार पृथिवी की अपेक्षा उसके एक अंश नगर का, इत्यादि योजना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार शृङ्खलामूलक चमत्कार वाले अलंकारों का प्रतिपादन पूरा हुआ।

विमर्शिनी

उत्तरेत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—पूर्वेत्यादि। एतच्चैकस्यैव वस्तुनो बहूनां वा स्यादित्यस्य द्वैधम्। तेन पूर्वत्र पूर्वपूर्वेति, उत्तरोत्तरस्येति चावस्थाविशेषाभिप्रायेण व्याख्येयम्। अन्यथा ह्येकस्यैव पूर्वत्वमुत्तरत्वं च कथं स्यात्। एवमप्युत्तरोत्तरमुपचयः स्वरूपेण धर्मेण वा भवतीत्यस्य चातुर्विध्यम्। एवं प्रकृते यथायथसमारोहक्रमेण धाराधिरूढतयोत्कर्ष-प्रतिपादनं स्यादित्यलंकारबीजम्। यदुक्तम्—'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिरि'ति। पूर्वापेक्षयोत्तरस्योत्कृष्टत्वमित्यनेन माला‌दीपकादस्य भेदोऽप्युक्तः। तत्र हि पूर्वस्योत्तरं प्रत्युपकर्षनिबन्धनत्वमुक्तम्। अत एव चास्योत्तरोत्तरस्योत्कर्षोपनिबद्धत्वमन्वर्थत्वम्। तत्रैकस्य स्वरूपेणोत्कर्षो यथा—

> 'किं छत्रं किं नु रत्नं तिलकमथ तथा कुण्डलं कौस्तुभो वा
> चक्रं वा वारिजं वेत्यमरयुवतिभिर्यद्बलिद्विष्टदेहे।
> ऊर्ध्वे मौलौ ललाटे श्रवसि हृदि करे नाभिदेशे च दृष्टं
> पायात्तद्वोऽर्कबिम्बं स च दनुजरिपुर्वर्धमानः क्रमेण॥'

अत्रैकस्यैव हरेस्तत्तदवस्थाविशिष्टतया स्वरूपेणोत्तरोत्तरमुत्कर्षः। धर्मेणापि यथा—

> 'अतसीकुसुमप्रभं मुखे तदनु स्वाकचमेचकद्युति।
> अथ बालतमालमांसलं प्रसृतं सम्प्रति सर्वतस्तमः॥'

अत्रैकस्यैव तमसो निबिडत्वाख्यधर्ममुखेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः। अत्र च यद्यप्येकस्मि-न्नेव तमस्यनेकस्यातसीकुसुमप्रभादिकस्यावस्थान्तरपर्यायत्वम्, तथापि तमसो नैबिड्यं यथायथमुत्कृष्टतया वाक्यार्थीभूतमिति यथोक्तमेव युक्तम्। बहूनां स्वरूपेणोत्कर्षो यथा—

> 'आयुष्मान्सरवस्ततोऽपि गिरयः स्वर्गासिन्धोस्तत-
> स्तस्मादिन्दुपदं ततः किमपरं स्याद्न्यदत्युन्नतम्।
> तस्मात्सर्वत एव साधुहृदयान्युत्तुङ्गभङ्गीनि ते
> कस्या उन्नतये तवाधिपदवीं चिन्तामणे तन्वते॥'

अत्रानेकेषां पूर्वापेक्षया स्वरूपेणोत्तरोत्तरमुत्कर्षः। धर्मेण यथा—

> 'कुक्षेः कोटर एव कैटभरिपुर्धत्ते त्रिलोकीमिमा-
> मप्युद्यद्भुजभस्तो बिभर्ति तमपि प्रीतो भुजङ्गेश्वरः।
> श्रीकण्ठस्य स कण्ठसूत्रमभवद्देव त्वया तं हृदा
> बिभ्राणेन पोषु पौरुषकथा श्रीकर्ण निर्नाशिता॥'

अत्र कैटभारिप्रभृतीनां पौरुषाख्यधर्ममुखेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः। एवं 'जये धरित्र्याः' इत्यादौ सारत्वमुखेन चोद्यम्। यदाहात्रेत्यादि। यथा वा—

> 'त्रिलोक्यां रत्नसूः श्लाघ्या तस्यां धनपतेर्हरित्।
> तत्र गौरीगुरुः शैलो यत्तस्मिन्नपि मण्डलम्॥'

अत्र बहूनां श्लाघ्यत्वेनोत्तरोत्तरमुत्कर्षः। यत्त्वन्यैरेतत्स्थाने रूपधर्माभ्यामाधिक्य-मिति वर्धमानमुक्तम् तत्तेषां नाममात्रनवीकरणरसिकत्वम्। अस्यैव पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरो-त्तरोत्कर्षोपनिबन्धनात्मकत्वात् समग्रविषयावगाहनसहिष्णुत्वात्। तस्माद् 'अस्मिंश्च वर्धमाने सारोऽन्तर्भावमेति न पुनरिदम् अन्तर्भूतं सारे परिमितविषये महाविषयम्' इत्या-द्ययुक्तमेवोक्तम्।

उत्तरेत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—पूर्व इत्यादि। [रत्नाकरकार सारालंकार को वर्धमान नामक अलंकार में अन्तर्भूत मानते हैं। विमर्शिनीकार इसके विपरीत वर्धमान को नया नाम भर मानते और उसको सार में ही अन्तर्भूत दिखलाते हैं। अगला प्रकरण केवल रत्नाकर के वर्धमानालंकार का सारालंकार के रूप में अक्षरशः उल्लेख है। रत्नाकरकार ने वर्धमान में एक वस्तु या अनेक वस्तुओं के उपचय का चमत्कार बतलाया है, अतः विमर्शिनीकार सार में भी ये विशेषताएँ बतलाने जा रहे हैं। एक एक कर सभी उदाहरण भी वे रत्नाकर से ही लेते जा रहे हैं—]

यह उत्कर्ष एक ही वस्तु का बतलाया जा सकता है और अनेक वस्तुओं का भी। इस प्रकार [वर्धमान के ही समान] इसके भी दो प्रकार हो जाते हैं। इस कारण 'पूर्व पूर्व' इस और उत्तरोत्तर इस अंश की व्याख्या अवस्थागत विशेषताओं के आधार पर की जानी चाहिए। नहीं तो केवल एक का पूर्वत्व और उत्तर कैसे होगा। इसी प्रकार उत्तरोत्तर उपचय दो प्रकार से होता है स्वरूपतः या धर्मतः। इस प्रकार इसके चार भेद हो जाते हैं। इस प्रकार यहाँ अलंकार का बीज उत्कर्ष का एक-एक के आरोह क्रम द्वारा आगे-आगे बढ़ते जाना है। जैसा कि [मम्मट ने] कहा है 'उत्तरोत्तर बढ़ा और परा कोटि तक गया उत्कर्ष ही सार है'। पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्ती का उत्कर्ष बतलाकर मालादीपक से इसका अन्तर भी स्पष्ट किया। उसमें जो है सो, पूर्व-पूर्व का उत्तर-उत्तर के प्रति [उत्कर्ष नहीं] उपकार्य हेतुत्व बतलाया गया है। इसीलिए इसकी संज्ञा सार्थक है क्योंकि इसमें उत्तरोत्तर का उत्कर्ष बतलाया जाता है। इनमें—

[१] एक वस्तु का स्वरूपतः उत्कर्ष यथा—

'वह सूर्य बिम्ब और वह बढ़ता जा रहा दैत्यारि [वामनावतारी विष्णुविग्रह] भी आपकी रक्षा करे जिस सूर्यबिम्ब को बलिद्वेषी [वामन] के [बढ़ते जा रहे] शरीर में ऊपर की ओर देखा तो अप्सराओं ने सोचा कि यह छत्र है क्या सिर पर देखा तो सोचा रत्न है क्या, ललाट पर देखा तो सोचा तिलक है क्या, कान के पास देखा तो सोचा कुण्डल है क्या, वक्ष पर देखा तो सोचा कौस्तुभ है क्या, हाथ में देखा तो सोचा चक्र है क्या, तथा नाभिदेश में देखा तो सोचा कमल है क्या ?'

यहाँ एक ही वामन का स्वरूपगत उत्तरोत्तर उत्कर्ष उन-उन अवस्थाओं को लेकर बतलाया गया है।

[२] [एकवस्तु का ही] धर्मतः उत्कर्ष यथा—

'अंधकार पहले तो अतसीकुसुमाभ था, तत्पश्चात् तुम्हारे केशों के समान मेचकच्छवि [श्यामवर्ण] हुआ, तदनन्तर चालतमाल के समान मांसल होकर यह सर्वत्र फैल गया है।'

यहाँ एक ही अन्धकार का उत्तरोत्तर उत्कर्ष निबिडतारूपी एक ही धर्म को लेकर बतलाया गया है। इस पद्य में यद्यपि पर्यायालंकार भी है क्योंकि एक ही अन्धकार में अतसीकुसुमप्रभत्वादि अनेक धर्मों का क्रम से अस्तित्व दिखलाया गया है तथापि सार को ही अलंकार मानना ठीक है क्योंकि यहाँ प्रधान है अंधकार की क्रमिक उत्कृष्टता।

[३] अनेक वस्तुओं का स्वरूपतः उत्कर्ष यथा—

'[प्रथमतः] बहुत ऊँचे होते हैं वृक्ष, उनसे ऊँचे हैं पर्वत, उनमें ऊँचा सुमेरु, उससे ऊँचा आकाश। उससे ऊँचा और कौन हो सकता है। हाँ, उन सब से उत्तुङ्ग चेष्टा वाले होते हैं साधुओं के हृदय। तब हे चिन्तामणे ! वे [साधुजन] किस उन्नति के लिए तेरे सामने याचक बनें।'

यहाँ अनेक वस्तुओं का पूर्व-पूर्व वस्तुओं की अपेक्षा उत्कर्ष दिखलाया गया है।

[४] [इन्हीं अनेक वस्तुओं का] धर्मतः उत्कर्ष, यथा—

'विष्णु भगवान् इस त्रिलोकी को कूँख की कोटर में ही धारण कर लेते हैं, उन्हें भी प्रेमपूर्वक धारण कर लेता है शेषनाग, यद्यपि उस पर पहले से ही काफी बोझ रहता है। वह शेषनाग भी श्रीकण्ठ [भगवान् शिव] का कठला [कण्ठसूत्र] बन जाता है। हे श्रीकर्ण राजन् उन [भगवान् शिव] को हृदय में धारण करके आपने तो पौरुष की कथा ही समाप्त कर दी।'

यहाँ विष्णु प्रभृति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष पौरुष नामक धर्म के आधार पर बतलाया गया है। इसी प्रकार 'जये धरित्र्या' आदि पद्यों में सारस्वरूपी धर्म के द्वारा उत्तरोत्तर उत्कर्ष जानना चाहिए। जैसा कि [वृत्तिकार ने] कहा। अत्र इत्यादि। और जैसे—

'त्रिलोकी भर में श्लाघ्य है रत्नसू [उत्तम भूमि], उसमें कुबेर की दिशा [उत्तर], उसमें गौरी का पिता पर्वत [हिमाचल] और उसमें भी मण्डल [?]।

यहाँ श्लाघ्यत्व गुण के आधार पर अनेक वस्तुओं का उत्तरोत्तर उत्कर्ष बतलाया गया है।

एक अन्य विद्वान् [रत्नाकरकार शोभाकर] ने जो इस [सार] के स्थान पर वर्धमान नामक अलंकार स्वीकार किया है और इसका लक्षण 'रूप या धर्म से आधिक्य' यह बताया है, वह उनका नाममात्र नवीन रखने का चसका है। क्योंकि इसमें भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर का उत्कर्ष बतलाया जाता है अतः [वर्धमान के अन्तर्गत आने वाले] संपूर्ण विषय समेट लेने में समर्थ है। इसलिए—

'इस वर्धमान में सारका अन्तर्भाव हो जाता है। इसका उसमें नहीं क्योंकि सार का क्षेत्र छोटा है और वर्धमान का विशाल।' [परिकरश्लोक के द्वारा]

इत्यादि जो उन्होंने सिद्धान्त किया है वह अयुक्त ही है॥

विमर्श—विमर्शिनी के उक्त विवेचन में रत्नाकर द्वारा बताया गया वर्धमान अलंकार का लक्षण एवं उनके द्वारा प्रस्तुत उसके सभी उदाहरण आ गए हैं। शेष केवल सर्वस्वकार का खण्डन है। वह इस प्रकार है—

'राज्ये सार वसुधा [पूर्ण पद्य] ०' अत्र वसुधादीनामुत्तरोत्तरमारत्वाख्यस्य धर्मस्याधिक्यमिति धर्मोपचयसमवादन्ये. 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार.' इति लक्षितस्य सारालङ्कारस्यास्मिन्नेवान्तर्भावान्न पृथगुपादानं कृतम्।

'अस्मिंश्च वर्धमाने—महाविषयम्।' इति परिकर.॥

—'राज्ये सार वसुधा०' इत्यादि में वसुधादि के उत्तरोत्तर सारत्व नामक धर्म का आधिक्य है इसलिए धर्मोपचय की सभावना होने से 'उत्तर-उत्तर का उत्कर्ष सार' इस प्रकार जिस सारालंकार का अन्य आचार्य (सर्वस्वकार) ने लक्षण किया है उसका अन्तर्भाव इसी में हो जाता है। अतः उसका पृथक् उपादान नहीं किया।' 'सार इस ०००००० विषय विशाल।'

इस प्रकरण में 'अत्युच्चा.' पद के तृतीय चरण में रत्नाकर की प्रति के ही समान निर्णयसागर की प्रति में भी 'ति' के स्थान पर 'तद्' छपा है। समासान्तर्गत पद के अर्थ का परामर्श

सर्वनाम द्वारा होता है अतः हमने उसे 'से' बना दिया है। उससे अर्थसंगति अधिक सबल हो जाती है।

इतिहास—सार का विवेचन पहले-पहल रुद्रट में मिलता है। वह इस प्रकार है—

'यत्र यथा समुदायाद् यथैकदेशं क्रमेण गुणवदिति।
निर्धार्यते परावधि निरतिशयं तद् भवेत् सारम्' ॥ ७।९६ ॥

—'जहां समुदाय में से एक-एक अंश गुणवत्तर और अन्यत्र उत्कृष्ट बतलाकर अलग किया जाता है वह सार कहलाता है।' उदा० 'राज्ये सारं वसुधा०'।

मम्मट—'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः—' [विमर्शिनी में पृष्ठ ५३४ पर उद्धृत]। उदा०—'राज्ये सारं वसुधा०'।

सर्वस्वकार ने मम्मट का लक्षण अक्षरशः अपना लिया है केवल परावधि शब्द को छोड़कर।
परवर्त्ती आचार्यों में रत्नाकर का मत विमर्शिनी में स्पष्ट हो ही चुका है।

अप्पयदीक्षित—का लक्षण भी मम्मट का अनुवाद है। वह इस प्रकार है—

'उत्तरोत्तरमुत्कर्षः सार इत्यभिधीयते।'

उदाहरण में समालंकार के समान गुणगत श्लाघ्यता और अश्लाघ्यता पर भी दीक्षितजी ने ध्यान दिया है।

पण्डितराज—जगन्नाथ ने दीक्षितजी की यह सूझ स्वीकार कर ली है। उन्होंने लक्षण में उत्कर्ष के ही समान अपकर्ष में भी सार स्वीकार किया है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

'सैव [श्रृङ्खला] संसर्गस्योत्कृष्टापकृष्टभावरूपत्वे सारः।'

वही शृङ्खला संसर्ग के उत्कर्ष अपकर्ष रूप होने से सार कहलाती है। दोनों में से उदाहरण केवल उत्कर्ष का ही पण्डितराज ने दिया है। वस्तुतः उत्कर्ष का अर्थ तरतमभाव है। वह अपकर्ष में भी संभव है अतः पण्डितराज की यह सूझ उन्हें स्वयं अधिक नहीं जंची। विमर्शिनीकार के समान पण्डितराज ने सार में गुण और स्वरूप को भेदक माना है तथा एकविषयता और अनेकविषयता भी स्वीकार की है, और उनके उदाहरण दिए हैं।

रत्नाकर के वर्धमान की चर्चा भी पण्डितराज ने की है और उन्होंने उसका स्पष्ट खण्डन तो नहीं ही किया, दबे स्वर में मण्डन भी किया है। सार में यदि वस्तु एक हो और वह आरम्भ से अन्त तक एक-सी ही रहे तो चमत्कार नहीं रहता। वर्धमान में उसी वस्तु में अवस्थादि भेद भी रहते हैं जो अधिक चमत्कारी होते हैं।

सार को पण्डितराज ने शृंखला से रहित भी माना है। दोनों का समन्वय करने हेतु उन्होंने एक व्यापक लक्षण भी सुझाया है—'गुणस्वरूपाभ्यां पूर्वपूर्ववैशिष्ट्ये सारः।' गुण और स्वरूप के द्वारा पूर्व पूर्व का वैशिष्ट्य हो तो सार अलंकार होता है। यह लक्षण शृंखलारहित भेद में भी समान रूप से अन्वित हो सकता है।

विश्वेश्वर—मम्मट का ही अनुसरण करते हैं—

'सारस्तु पूर्वपूर्वादुत्कर्षिण्युत्तरे प्रोक्तो'।

'पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्त्ती पदार्थ यदि उत्कर्षशाली बतलाया जाए तो सार होता है।' अवस्थाभेद से एक ही वस्तु के उत्कर्षपूर्ण वर्णन में रत्नाकर और पण्डितराज ने जो चमत्कार

देता है विश्वेश्वर उसे भी तटस्थ स्वर में उपस्थित कर देते हैं। धर्म और स्वरूप के भेदों पर वे चुप हैं'।

इस पर चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

'उत्तरोत्तरमुत्कर्षोवहत्वे सार इष्यते।'

पाठान्तर—निर्णयसागरीय प्रति में अलंकार का नाम सार के स्थान पर उदार छपा है। 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षेणमुदार.' रत्नाकर में प्राप्त सर्वस्व के उद्धरण में सूत्र का जो रूप मिलता है इसमें उदार का उल्लेख नहीं है। रुद्रट, मम्मट और अप्पयदीक्षित के लक्षण भी सार वाले पाठ से ही मिलते हैं। संजीविनी में भी यही पाठ है। विमर्शिनी भी इसी पक्ष में है। वृत्ति में 'निबन्धनं सारः' के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में 'निबन्धनत्वमुदाराख्योऽलङ्कारः' छपा है किन्तु पाठान्तर में 'निबन्धनसारः' ही पाठ दिया हुआ है। उदाहरणों में से रत्नाकर में केवल 'राज्ये सार' पद्य ही उद्धृत है और संजीविनी भी केवल इसी पद्य से अवगत है। विमर्शिनी में 'जये धरित्र्या ' इत्यादौ सारत्वमुक्तं' इस प्रकार आदिपद से सारता का धर्म प्रतिपादित करनेवाले एकाधिक पद्य का निर्देश मिलता है। कदाचित् उनका संकेत 'राज्ये सार' पद्य की ही ओर है। लगता है रत्नाकरकार और विमर्शिनीकार को दो भिन्न प्रतियाँ मिली थीं। अधिक सटीक प्रति रत्नाकरकारवाली ही प्रतीत होती है। निर्णयसागरीय प्रति के संपादक ने 'उदार' को मूल मानकर पाद टिप्पणी में अपनी ओर से लिखा है—'अयमेव काव्यप्रकाशकारादिभिः सारनाम्ना व्यवहृतः।' अर्थात् इसी उदार को काव्यप्रकाशकार आदि ने 'सार'-नाम से पुकारा है।'

विमर्शिनी में उद्धृत रत्नाकर का पूरा प्रकरण भी अशुद्ध छपा है। यहाँ तक कि 'अरिमध्य०' यह संग्रहकारिका भी अन्यत्र गद्यपंक्ति के रूप में छपी है। हमने उसे मूल रत्नाकर के आधार पर आरम्भ से अन्त तक ठीक कर दिया है।

विमर्शिनी

एतदुपसंहारयादन्यदवतारयति—अधुनेत्यादिना।

इस [शृंखला] प्रकरण का उपसंहार किया। अब दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

अधुना तर्कन्यायाश्रयेणालंकारद्वयमुच्यते। तत्र—

[सू० ५८] हेतोर्वाक्यपदार्थता काव्यलिङ्गम्।

यत्र हेतुः कारणरूपो वाक्यार्थगतया विशेषणद्वारेण वा पदार्थगत्या लिङ्गत्वेन निबध्यते तत् काव्यलिङ्गम्। तर्कवैलक्षण्यार्थं काव्यग्रहणम्। न ह्यत्र व्याप्तिपक्षधर्मतोपसंहारादयः क्रियन्ते। वाक्यार्थगतया च निबध्यमानो हेतुत्वेनैवोपनिबद्धव्यः, नोपनिबद्धस्य हेतुत्वम्। अन्यथार्थान्तरन्यासान्नास्य भेदः स्यात्। क्रमेण यथा—

'त्वय्यन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं
मेघैरन्तरितः प्रिये तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुसारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते॥'

'मृगयश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं समबोधयन्माम्।
व्यापारयन्त्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि॥'

पूर्वत्र पादत्रयार्थोऽनेकवाक्यार्थरूपश्चतुर्थपादार्थे हेतुत्वेनोपन्यस्तः। उत्तरत्र तु संबोधने 'व्यापारयन्त्यः' इति मृगीविशेषणत्वेनानेकः पदार्थो हेतुत्वेनोक्तः।

एवमेकवाक्यार्थपदार्थगतत्वेन काव्यलिङ्गमुदाह्रियते। यथा—

'मनीषिताः सन्ति गृहेषु देवतास्तपः क वत्से क च तावकं वपुः।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः॥'

'यद्विस्मयस्तिमितमस्तमितान्यभाव-
मानन्दमन्दममृतप्लवनादिवाभूत्।
तत्संनिधौ तदधुना हृदयं मदीय-
मङ्गारचुम्बितमिव व्यथमानमास्ते॥'

पूर्वत्र वरप्राप्तिहेतुभूततपोनिषेधस्य 'मनीषिताः' इति वाक्यार्थरूपो हेतुर्निर्दिष्टः। उत्तरत्र पुनः 'अस्तमितान्यभावम्' इत्यत्र विस्मयस्तिमितमिति विशेषणद्वारेण पदार्थः।

अब तर्क [स्वरूप] न्याय पर आश्रित दो अलंकारों का प्रतिपादन करते हैं। उनमें—

[सू० ५८] हेतु के पदार्थरूप होने या वाक्यार्थरूप होने पर [अलंकार का नाम] काव्यलिंग [होता है]॥

'जहाँ कारणरूप [न कि ज्ञापकरूप] हेतु जो वाक्यार्थरूप हो या विशेषणरूप होने से पदार्थरूप, लिंगरूप से उपनिबद्ध होता है उसे काव्यलिङ्ग कहते हैं। [नाम के साथ] काव्य शब्द का प्रयोग तर्क से भेद करने के लिए किया गया है। यहाँ, व्याप्ति, पक्षधर्मता, उपसंहार आदि नहीं किए जाते। वाक्यार्थरूप से उपनिबद्ध किया जाने वाला हेतु हेतुरूप से ही उपनिबद्ध होता है, उपनिबद्ध होने के बाद हेतु नहीं बनता। नहीं तो इसका अर्थान्तरन्यास से भेद नहीं हो सकेगा। क्रम से उदाहरण [वाक्यार्थरूप अनेक हेतुमूलक काव्यलिङ्ग]—

—'हे प्रिये! जो तुम्हारे नेत्र के समान कान्ति वाला था वह नीलकमल पानी में डूब गया, तुम्हारे मुख की छाया का अनुकरण करने वाला चन्द्र मेघों ने छिपा लिया, और जो तुम्हारी गति के समान गति वाले राजहंस थे वे चले गए [इस प्रकार], तुम्हारे सादृश्य से होने वाला जो मेरा थोड़ा बहुत विनोद है, वह भी विधाता को सह्य नहीं है।'

[पदार्थरूप अनेक हेतुमूलक काव्यलिङ्ग]—

'और, हिरनियाँ कुशाङ्कुर की अपेक्षा [परवाह] छोड़ तुम्हारा पथ न जान पा रहे मुझे उनकी, ऊँची उठी बरौनी वाले नेत्रों को दक्षिण दिशा में घुमा-घुमाकर सूचना दे रही थीं।' [रघुवंश-१३]

[इन पद्यों में से] प्रथम में तीन चरणों का अर्थ, जो अनेक वाक्यार्थरूप है, चतुर्थ पाद के अर्थ में हेतुरूप से प्रस्तुत किया गया है, और द्वितीय में सूचना देने रूपी अर्थ में 'घुमा-घुमाकर' इत्यादि मृगीविशेषण के रूप में अनेक पदार्थ हेतुरूप से कहे गए।

इसी प्रकार, काव्यलिङ्ग एकवाक्यार्थगत और एकपदार्थगत भी होता है। उसके उदाहरण—

'घर ही में मन चाहे देवता हैं वत्से! तप कहाँ, कहाँ तेरा शरीर। शिरीष का कोमल पुष्प भौंरे के पैर की चोट सह सकता है, पखेरू की नहीं।

'उसके पास मेरा जो हृदय विस्मय से निश्चल था, अन्य समस्त कार्य जिसने बन्द कर दिए थे और जो मानों अमृत में तैरने से आनन्दमन्थर था, वही [इस समय उसके वियोग में] मानों अंगारे से दग कर व्यथित हो रहा है।'

[इन पद्यों में से] प्रथम में वरप्राप्ति में हेतु तप के निषेध के प्रति 'मनोषिताः०' = 'मनचाहे०' यह वाक्यार्थरूपी हेतु बतलाया गया है और द्वितीय में 'अस्तमितान्यभाव' = 'अन्य समस्त कार्य जिसने बन्द कर दिए थे' [हृदय के]। इसके प्रति 'विस्मयस्तिमित' इस विशेषण के द्वारा पदार्थ ॥'

विमर्शिनी

तत्रेति द्वयोर्निर्धारणे। हेतोरित्यादि। यत्रेति। हेतोश्च वाक्यार्थपदार्थगत्योपनिबन्धा-द्वयस्यानेन सह भेदद्वयमप्युक्तम्। वाक्यार्थगत्येति। न तु पदार्थगत्या। तत्र ह्युपनिबद्धस्यैव हेतुत्वात्। हेतुत्वेनैवेति। हेतुत्वस्यामुख एवोद्दिष्टत्वेन प्रतीतेः। अन्यथेति। हेतुत्वेनोपनि-बन्धो यदि न स्यात्।

ननु हेतोर्वाक्यपदार्थयोरुभयोपनिबन्धे न कश्चिद्विच्छित्तिविशेषः प्रतीयत इति कथमस्या-लंकारत्वमुक्तम्। न हि साध्यसाधनयोपात्तस्य हेतोरेवं प्रकारद्वयातिरेकेणोपनिबन्धः स्यात्। न च यथासंभविनोपनिबन्धमात्रेणालंकारत्वं वक्तुं युक्तम्। कविप्रतिभात्मकस्य विच्छित्तिविशेषात्मकस्यालंकारस्येनोक्तत्वात्। न चैवमुपनिबन्धात्कश्चिदतिशय इति कथ-मस्यालंकारत्वम्। एवं हि 'हक् स्वाभासैव नान्येन वेद्ये'त्यादावपि स्वाभासत्वस्य हेतोर्वि-शेषणद्वारेण पदार्थगत्या, तथा 'प्रत्यक्षादिरलकराङ्गुलिप्रतीतिर्व्यापित्वादक्षकमिन्द्रियं न तत्स्याम्' इत्यादौ तमसि विरलाङ्गुलिप्रतीतौ व्यापित्वादिन्द्रियकौशलमेव साधनमिति हेतोर्वाक्यार्थगत्योपनिबन्धादलंकारत्वं स्यात्। सत्यम्। यद्यप्येवमुपनिबन्धस्य वस्तु-वृत्तेरसंभवान्न कश्चिदतिशयः प्रतीयते, तथापि ग्रन्थकृता प्राच्यैर्लक्षितत्वादेतदिह लक्षितम्। अथ यत्र व्यङ्ग्याश्लिष्टो वाच्यार्थो वाच्यमेवार्थं प्रति हेतुतां भजते तत्रायमलंकारो युज्यत एवेति चेत्, तर्हि व्यङ्ग्याश्लेषवशेन तदुत्थानाद्वाक्यार्थतयोपनिबद्ध्यमानस्य हेतोः स्वात्मनि न कश्चिदतिशय इति व्यङ्ग्यकृत एवातिशयोऽभ्युपगम्यते, न तत्कृतः। तस्यैवमुपनिबद्धस्य वास्तव्यत्वात्। यदि च व्यङ्ग्यसाहचर्येणैव हेतुरलंकारतामियात् तच्छान्दस्यापि हेतोरलंकारत्वं प्रसज्यते, यदि तत्रापि व्यङ्ग्याश्लेषः स्यात्। अथ तस्य शाब्दत्वादेव वैचित्र्याभावादयमनलंकारत्वे निमित्तत्वं कथं न यायात्। अथ तत्र व्यङ्ग्या-श्लेषो न भवतीति चेत्, किं नामापराद्धम् येनात्र व्यङ्ग्याश्लेषस्तत्र च नेति। तथात्वेन लक्ष्यादर्शनादिति चेत्, नैतत्। अर्वाग्दर्शिन एवं निश्चयानुपपत्तेः। प्रत्युत यत्र भवता व्यङ्ग्याश्लेष उक्तस्तत्र [illegible] नास्तीति वक्तुं शक्यते। तथाहि

'वक्षःस्थली रक्षतु सा जगन्ति जगत्प्रसूतेर्गरुडध्वजस्य।
श्रियोऽङ्गरागेण विभाव्यते या सौभाग्यहेम्नः कषपट्टिकेव ॥'

इत्यत्र वक्षःस्थलस्य जगद्रक्षकत्वे जगत्प्रसूतित्वं पदार्थो हेतुः। प्रसवितुर्हि निजप्रसूतेः सर्वथैव रक्षणमुचितम्। अत एव गरुडध्वजवक्षःस्थल्या जगद्रक्षकत्वे कर्तृत्वं युक्तम्। इयां-स्त्वभिधेय एवार्थः। अत एव चात्र न हेतौ कश्चिद्व्यङ्ग्याश्लेषः। इत्यम्।

'संजीविणीसहम्मित्र सुम्रस्स अणण्णवावारा।
सास णवरूभदसणकठागअजीविअं सोण्हं ॥'

इत्यत्र कण्ठागतजीवितत्वस्य। अत्र च जगत्प्रसूतित्वस्य हेतोः पदार्थतयोपनिब-न्धेन कश्चिदतिशयो विशेषः। एवम्।

'अयि प्रमत्ते सिचयं गृहाणेत्युक्तेऽपि सख्या न विवेद काचित्।
मग्ना हि सा तत्र रसान्तराले यत्रान्तरङ्गो भगवाननङ्गः॥'

इत्यत्रापि ज्ञेयम्। यद्यपि चात्र रसशब्दस्य जलवाचित्वं न विवक्षितम्। तथाप्यभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः, न पुनः शब्दशक्तिमूलं व्यङ्ग्यम्। तथात्वे हि हेतुहेतुमद्भावस्य न कश्चिदतिशयः। एवं हि

'एकान्तजाड्यादूरुभ्यां करभोर्वाः पराजिताः।
कदल्यो यत्र तच्चित्रं जयः क्व न कलावताम्॥'

इत्यत्र जाड्यस्यातिशयोक्त्यालिङ्गितत्वेन वैचित्र्यावहत्वाच्छान्दस्यापि पदार्थस्य हेतोरलंकारत्वं स्यात्। एवमुदाहरणान्तरेष्ववसेयम्।

एवं च यत्रापि व्यङ्ग्याश्लेषः स्यात्तत्रापि हेतोर्वाक्यार्थतयोपनिबन्धे न कश्चिदतिशयः। अथ साध्यप्रतीतये हेतोरुपनिबन्धादस्त्येव वैचित्र्यातिशयः इति चेत्। तर्ह्यनुमानमेवेदं स्यान्नालंकारान्तरम्। साध्यसाधनस्य तल्लक्षणत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। एवं हेतोर्वाक्यपदार्थतयोपनिबद्धस्य वास्तवत्वादस्य पृथगलंकारत्वं न युक्तम्। वक्ष्यमाणनीत्यानुमान एवान्तर्भावोपपत्तेः।

तत्र = उनमें, यह दो में से एक का निर्धारण करने के लिए कहा गया है। हेतोः इत्यादि। यत्र इति। हेतु, जो है वह वाक्यार्थ या पदार्थ के रूप में उपनिबद्ध होता है, कथन के साथ इसके दो भेद भी बतला दिए। वाक्यार्थगत्या = वाक्यार्थरूप से = न कि पदार्थरूप से, क्योंकि वहाँ [पदार्थरूप होने पर] तो उपनिबद्ध हो चुकने पर [पदार्थ में] हेतुता आती है। हेतुत्वेनैव = हेतुरूप से ही = क्योंकि वहाँ हेतुत्व आरम्भ में ही स्पष्टरूप से प्रतीत हो जाता है। अन्यथा यदि हेतुरूप से उपनिबद्ध न किया जाय।

[शंका] हेतु का वाक्य और पदार्थ के रूप में उपनिबद्ध किए जाने में कोई चमत्कार प्रतीत नहीं होता तो इसको अलंकार कैसे बतलाया गया। [तर्कशास्त्र में] साध्य की सिद्धि के लिए अपनाए गए हेतु को = उपनिबन्ध में भी इन दो प्रकारों के अतिरिक्त कोई प्रकार संभव नहीं है और लोकसिद्ध वस्तु के उपनिबन्ध मात्र से किसी को अलंकार कहना ठीक नहीं है, अलंकार तो वह कहा गया है जो कविप्रतिभात्मक और वैचित्र्यरूप हो। और इस प्रकार का जो [तर्क शास्त्र जैसा] लिखना है इसमें कोई विशेषता नहीं है। तब इसे अलंकार कैसे कहा। ऐसे तो—

'इदन्त्वामासैव, नान्येन वेद्या' [ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका-१।३।२॥]

इत्यादि में भी स्वाभासस्वरूप हेतु विशेषण द्वारा पदार्थरूप से उपनिबद्ध है और—

'प्रत्यक्षाद् विरलकराङ्गुलिप्रतीतिर्व्यापित्वादकुशलमिन्द्रियं न तस्याम्।'

इत्यादि में 'अन्धकार में विरल अंगुली की जो प्रतीति होती है उसमें 'व्यापक होने से इन्द्रियकौशल ही कारण है' (?) यह हेतु वाक्यार्थरूप से उपनिबद्ध है। अतः यहाँ भी अलंकारत्व मानना होगा। [उत्तर] ठीक है। यद्यपि इस प्रकार के उपनिबन्ध वास्तविक ही होते हैं अतः इनमें कोई अतिशय की प्रतीति नहीं होती, और वैसी प्रतीति संभव भी नहीं है, तथापि इसका लक्षण प्राचीन आचार्यों ने किया था इसलिए ग्रन्थकार ने भी यहाँ कर दिया है।

[पूर्वपक्ष] यदि कहें [जैसा कि रत्नाकरकार ने कहा है] कि यह अलंकार वहाँ मानना ठीक होगा जहाँ वाच्य अर्थ हो तो वाच्य अर्थ के ही प्रति हेतु किन्तु व्यंग्य अर्थ से युक्त होकर, [उत्तर] तो इसका अर्थ यह हुआ कि वाक्यार्थ या पदार्थरूप से उपनिबद्ध हेतु यदि व्यंग्य के

कारण अलंकार बनता है तो इससे सिद्ध होता है कि स्वयं हेतु में कोई अतिशय नहीं रहता। इस प्रकार अतिशय में कारण व्यंग्यार्थ ही माना जा रहा है, वह [हेतुभूत वाच्य अर्थ] नहीं। इस प्रकार उपनिबद्ध वह हेतु तो अपने आप में लौकिक हेतु जैसा है। इसके अतिरिक्त एक आपत्ति यह भी आती है कि यदि हेतु व्यंग्य के ही कारण अलंकार बनता है तो उस हेतु को भी अलङ्कार बन जाना चाहिए जिसका हेतुत्व शब्दतः कथित हो किन्तु जिसके साथ व्यंग्यार्थ का योग हो। [यदि कहें] 'हेतुत्व के शब्दतः कथित होने से ही वह [हेतु] चमत्कार-शून्य और इसीलिए अलङ्कारत्वशून्य क्यों न हो जाएगा?' तो हम पूछते हैं 'यदि व्यंग्यार्थ का योग न हो तो?' 'एक जगह व्यंग्यार्थ का योग है और दूसरी जगह नहीं—इसमें बिगड़ने वाला क्या है?' यदि कहें—'लक्ष्य में ऐसा नहीं दिखाई देता', तो यह भी ऐसा नहीं है। [अशाब्दशीं] मूल पर विचार करने वाले ऐसे निश्चय पर पहुँच ही नहीं सकते। उल्टे, जहाँ आप [रत्नाकरकार] ने व्यंग्यार्थ का योग बतलाया है वहाँ 'वह [व्यंग्यार्थ या अलङ्कार] नहीं है'—ऐसा कहा जा सकता है। प्रमाणार्थ [आप = रत्नाकरकार के द्वारा ही हेत्वलंकार नामक काव्यलिङ्गालङ्कार के लिए उद्धृत]—

'जगत् के जनक भगवान् गरुडध्वज [विष्णु] की वह वक्षःस्थली जगत् की रक्षा करे, जो लक्ष्मी के अंगराग से सौभाग्यसुवर्ण की कसौटी-सी प्रतीत होती है।'

—इस पद्यार्थ में वक्षःस्थली के जगद्रक्षकत्व में जगत्प्रसूतित्व रूपी पदार्थ हेतु है। जो जनक होता है उसके लिए अपनी सन्तति की रक्षा करना सर्वथा उचित ही है। इसीलिए विष्णु की वक्षःस्थली का जगद्रक्षा में कर्तृत्व उचित ही सिद्ध होता है। इतना सब यहाँ अभिधेय अर्थ ही है। इसीलिए यहाँ हेतु के साथ [रत्नाकरकार द्वारा कथित] व्यंग्य का कोई योग नहीं है। [क्योंकि यहाँ जगद्रक्षणौचित्य व्यंग्य नहीं है]। इसी प्रकार [रत्नाकर द्वारा ही उद्धृत]—

'संजीवनौषधमिव सुतस्य रक्षत्यनन्यव्यापारा।
नवमूर्तेवाम्बुदर्शनकण्ठागतजीवितां स्नुषाम्॥'

—'सास नवीन मेघ के दर्शन से कण्ठागत प्राण हुई बहू को पुत्र की संजीवनौषधि के समान, सब कुछ छोड़कर बचा रही है।'

—इस पद्यार्थ में कण्ठागत जीवितत्व रूपी हेतु में [व्यंग्यार्थ योग नहीं है] यहाँ भी 'जगत्प्रसूतित्व' के ही समान हेतु में कोई अतिशय, कोई विशेषता नहीं है। इसी प्रकार [रत्नाकरकार द्वारा ही उद्धृत]—

'अरी बेदर्द, साड़ी तो उठा ले' सखी के इस प्रकार कहने पर भी कोई सुन्दरी नहीं चेती, वह उस रस में डूबी थी जिसमें भगवान् अनंग काफी अन्तरंग रहते हैं।'

इस स्थल में भी जानना चाहिए। यद्यपि इस पद्य में रसशब्द जलवाची भी हो सकता है किन्तु यह अर्थ विवक्षित नहीं है, तथापि यहाँ अभेदाध्यवसाय के कारण अतिशयोक्ति ही होगी, शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य नहीं। वैसा होने पर [शब्दशक्तिमूलक व्यंग्य होने पर] हेतुहेतुमद्भाव का कोई अतिशय न रहेगा। इसी प्रकार—

'उस करभोरू से कदली एकदम शीतल होने के कारण यदि हार गई तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। भला कलावान् लोगों की जीत कहाँ नहीं होती।'

यहाँ जाड्य [जड़ता, शीतलता] शब्द में अतिशयोक्ति है और उसका चमत्कार भी है अतः यहाँ पदार्थरूपी हेतु का हेतुत्व शब्दतः कथित होने पर भी चमत्कार संभव है, इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जाना जा सकता है [तथापि वह चमत्कार अतिशयोक्तिमूलक होगा व्यंग्यार्थमूलक नहीं]।

इस प्रकार जहाँ व्यंग्य का योग रहता भी है वहाँ भी हेतु चाहे वाक्यार्थ रूप से कथित हो या पदार्थरूप से उसके कथन में कोई चमत्कार नहीं रहता। यदि कहें कि साध्य की प्रतीति के लिए हेतु का जो प्रयोग रहता है उससे तो इसमें अतिशय रहता ही है ? तो फिर यह अनुमानालंकार ही होगा, अन्य स्वतन्त्र अलंकार नहीं, क्योंकि अनुमान का लक्षण साध्यसाधनभाव ही है जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है और आगे भी बतलाया जाएगा।

इस प्रकार वाक्यार्थ रूप से प्रस्तुत किया गया या पदार्थरूप से प्रस्तुत किया गया हेतु वास्तविक हेतु ही होगा [कविकल्पित नहीं] अतः उसे पृथक् अलंकार कहना ठीक नहीं है' क्योंकि उसका अन्तर्भाव पूर्वकथित और आगे कही जाने वाली रीति से अनुमान में ही हो जाता है।।'

विमर्शिनीकार ने काव्यलिंग को अनुमान में अन्तर्भूत मान लिया है। यह प्रेरणा उन्हें रत्नाकर से मिली है। रत्नाकरकार ने भी लिखा था—

[सू०] 'परप्रत्यायकं लिङ्गं हेतुः'

[वृ०] परग्रहणमनुमानवैलक्षण्यार्थम्। तेन स्वयं लिङ्गात् प्रतिपत्तिरनुमानम्, लिङ्गेन परप्रत्यायनं परार्थानुमानरूपं काव्यलिङ्गपर्यायो हेत्वलंकारः। यद्यप्यनुमानस्यैव स्वार्थपरार्थरूपत्वेन द्वैविध्यं तथापि प्रतिपादितरूपेण प्राच्यैः पृथक् लक्षितः, तथैवेहापि लक्षणम्।'

[सूत्र] दूसरे को ज्ञान कराने वाला लिंग हेतु।

[वृत्ति] 'पर' = 'दूसरे' शब्द का ग्रहण अनुमान से इसका भेद करने के लिए किया। इस प्रकार स्वयं लिंग से हुई प्रतीति अनुमान होता है और लिंग से दूसरे को ज्ञान कराने में हेतु। स्वार्थ और परार्थ दोनों रूप एक अनुमान के ही होते हैं तथापि प्राचीन आचार्यों ने अलग-अलग लक्षण किये हैं अतः यहाँ भी अलग लक्षण किया गया। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी अनुमान से काव्यलिंग का भेद करते हुए मुख्यतः दो सूत्र प्रस्तुत किए हैं—

१—अनुमान में अनुमानप्रक्रिया वक्तृगत और काव्य में उपनिबद्ध रहती है, जब कि काव्यलिंग में वह कविगत रहती है और अनिबद्ध।

२—अनुमान में हेतु और उसका हेतुत्व दोनों वाच्य रहते हैं जब कि काव्यलिंग में हेतुत्व नियमतः व्यंग्य ही रहता है।

इतना कहने के बाद भी काव्यलिंग विवेचन के अन्त में पण्डितराज ने इसको स्वतन्त्र अलंकार न मानने का पक्ष भी पूरे बल के साथ प्रस्तुत कर दिया है। विमर्शिनीकार का उल्लेख बिना किए उसके उपर्युक्त विवेचन को उन्होंने इस प्रकार संक्षिप्त किया है—

१—काव्यलिंग में कोई चमत्कार नहीं रहता क्योंकि उसमें प्रातिभत्व नहीं रहता।

२—श्लेष आदि [उपर्युक्त पद्यों के 'जाड्य, रस' आदि पदों] के रहने से हुआ चमत्कार उन्हीं श्लेष आदि का चमत्कार होगा, काव्यलिंग का नहीं।

३—इस प्रकार तो प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित अनेक अलंकार अलंकार सिद्ध नहीं हैं तो हो जायँ। इसमें हमारा कुछ नहीं बिगड़ता।

आगे बढ़कर उन्होंने यह भी कह दिया है कि काव्यलिंग निर्हेतुत्वदोष का अभाव है, अलंकार नहीं।

विमर्शिनीकार के कुछ हेतु अमान्य हैं। वे काव्यलिंग में हेतुत्व को व्यंग्य नहीं मानते। यहाँ तक कि रत्नाकरकार द्वारा उद्धृत 'वक्षःस्थली०' आदि पद्यों को उद्धृत कर वे उसमें उनके द्वारा प्रतिपादित व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ ही मानते हैं। वक्षःस्थली में प्रतीत हो रहा 'जगत्प्रसूतित्व' कथमपि वाच्य नहीं हो सकता, क्योंकि उसका प्रतिपादक कोई भी विशेषण वक्षःस्थली के साथ

नहीं है। जिसके साथ है वह एक भिन्न पदार्थ है विष्णुरूपी। विमर्शिनीकार केवल इतना कह सकते थे कि यहाँ हेतुत्व वाच्य जैसा ही स्फुट व्यंग्य है। इस तथ्य को स्वयं रत्नाकरकार ने भी स्वीकार किया है।

काव्यलिंग को अलग न मानने का जो मौन समर्थन पण्डितराज तक चलता रहा उसका समर्थ उत्तर विश्वेश्वर ने दिया है। उनका कहना है कि काव्यलिंग में उपनिबद्ध होने वाला हेतु भले ही वास्तविक हो, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह कविप्रतिभाप्रसून नहीं है। हेतुरूप में दिया गया पदार्थ भले ही लोकसिद्ध हो, किन्तु उसको वस्तुविशेष या परिणामविशेष के प्रति हेतु सिद्ध करने का कार्य एकमात्र प्रतिभाजन्य ही होता है। विश्वेश्वर का कथन मान्य है। नीलकण्ठदीक्षित ने भी कहा है—

'यानेव शब्दान् वयमालपामो यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः संमोहयन्ते कवयो जगन्ति॥'

'कवि के शब्द और अर्थ नए नहीं होते, हमारे अनुभूत ही होते हैं, किन्तु उनकी योजना, उनका विन्यास उनका अपना होता है।' [शिवलीलार्णव]।

सच यह है कि अनुमान का अनुमान, अनुमानरूप में दिखाई देता है जब कि काव्यलिंग का नहीं। इसीलिए यहाँ चमत्कार हेतुसिद्धि में है और अनुमान में अनुमानप्रक्रिया के प्रस्तुतीकरण में। हेतु अनुमान का एक अंग होता है न कि अनुमान का समग्र शरीर। काव्यलिंग में वाक्यार्थ या पदार्थ को हेतु बतलाना चमत्कार का कारण होता है जब कि अनुमान में किसी साध्य की सिद्धि। इसीलिए दोनों अलङ्कारों की संज्ञाएँ भिन्न हैं। इस प्रकार काव्यलिङ्ग अनुमान से ठीक उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार भावध्वनि रसध्वनि से। यह तथ्य अनुमान के प्रकरण में और भी स्पष्ट हो जाएगा।

काव्यलिङ्ग का इतिहास—

काव्यलिङ्ग के इतिहास में आचार्यों के तीन वर्ग मिलते हैं [१] रुद्रट के पूर्ववर्ती आचार्य [२] रुद्रट तथा [३] रुद्रट के परवर्ती आचार्य।

[१] प्रथम वर्ग में दण्डी भामह और उद्भट आते हैं। दण्डी और भामह में परस्पर विरोध है, उद्भट समन्वयवादी हैं। दण्डी ने 'हेतु'-नामक अलङ्कार का विस्तृत विवेचन कर उसमें आने वाले कारणों के दो वर्ग बनाए थे कारक और ज्ञापक।

'हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।
कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ ००॥' २।२३५॥

कारक का उदाहरण—

'अयमान्दोलित-प्रौढ-चन्दन-द्रुम-पल्लवः।
उत्पादयति सर्वस्य प्रीतिं मलयमारुतः॥'

'चन्दनवृक्ष के प्रौढ पल्लवों को हिला रहा यह मलयमारुत सब को अच्छा लग रहा है।'

यहाँ प्रीति की उत्पत्ति के प्रति मलयमारुत को दिया गया 'आन्दोलित०' इत्यादि विशेषण कारण है।

ज्ञापक हेतु—'अवध्यैरिन्दुपादानामसाध्यैश्चन्दनाम्भसाम्।
देहोष्मभिः सुबोधं ते सखि कामातुरं मनः॥'

—'हे सखि! चन्द्रमरीचियों से शान्त न होने वाली और चन्दनरस से भी असाध्य देहोष्मा से तुम्हारा मन सुख से कामातुर प्रतीत हो जाता है।'

यहाँ देहोष्मा साधन है और कामातुरता साध्य। हेतुहेतुमद्भाव भी देहोष्मा की तृतीया-विभक्ति द्वारा शब्दतः कथित है। इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथम का हेतु काव्यलिंग कहा जा सकता है और द्वितीय अनुमान। यद्यपि काव्यलिंग के साथ-साथ प्रथम हेतु को परिकर भी कहना सरल है।

भामह—ने दण्डी के इस पक्ष का स्पष्ट खण्डन किया और कहा—'हेतु के उदाहरणों में कोई वैचित्र्य नहीं रहता। यह तो उक्तिमात्र है, उसे अलंकार नहीं कहा जा सकता'—

हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥' २।८५॥

दण्डी ने—

'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने'॥ २।२४४॥

कहकर 'सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों की ओर जा रहे हैं'—ऐसे वाक्यों में भी सन्ध्याकाल की सूचना होने से हेत्वलंकार माना था। भामह ने स्पष्ट कहा—

'गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते'॥ २।८६॥

'सूर्य डूब गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों की ओर जा रहे हैं'—इत्यादि वाक्य कैसे काव्य? इन्हें तो बात भर कहते हैं।'

इस प्रकार भामह ने ज्ञापकमात्र का खण्डन किया, कारक का नहीं। किन्तु अमान्य घोषित कर दिया पूरे हेतु को। इसी के साथ उन्होंने अनुमान नामक कोई अलंकार नहीं माना।

रुद्रट—ने इसके विरुद्ध ज्ञापक हेतु को ही अलंकार मानने का साहस किया। वे कारकांश पर तो चुप रहे किन्तु हेतु के ज्ञापकांश को उन्होंने अलंकार माना और काव्यलिङ्ग नाम दिया—

'श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते॥' ६।७॥

इस पर लघुवृत्तिकार ने लिखा—

'यत्र एकं वस्तु श्रुतं सद् वस्त्वन्तरं स्मारयति अनुभावयति वा तत्र काव्यलिङ्गनामालंकारः। पक्षधर्मत्वान्वयव्यतिरेकानुसरणमर्मतया यथा तार्किकप्रसिद्धा हेतवो लोकप्रसिद्धवस्तुविषयत्वेन वैरस्यमावहन्ति न तथा काव्यहेतुः; अतिशयेन सर्वेषां जनानां योऽसौ हृदयसंवादी सरसः पदार्थ-स्तन्निष्ठतया उपनिबध्यमानत्वात्। अतः काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणमुपात्तम्। न खलु तच्छास्त्र-लिङ्गं किं तर्हि काव्यलिङ्गमिति काव्यग्रहणेन प्रतिपाद्यते।'

[का०] जहाँ सुनी गई एक वस्तु अन्य वस्तु की स्मृति या उसका अनुभव कराने में हेतु बनती है उसे काव्यलिङ्ग कहते हैं।

[वृत्ति] [आशय] जहाँ सुनी गई एक वस्तु अन्य किसी वस्तु का स्मरण या अनुभव कराती है उसे काव्यलिंग नामक अलंकार कहते हैं। यहाँ पक्षधर्मता, अन्वय, व्यतिरेक आदि अनुमान सामग्री तो रहती है किन्तु उसमें वैसी नीरसता नहीं रहती जैसी तर्कशास्त्र में रहती है। इसका कारण है काव्यगत पदार्थों की सरसता। इसीलिए काव्यशब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रतिपादन से स्पष्ट है कि रुद्रट ने काव्यलिंग नाम से ज्ञापकहेतुमूलक अनुमान को ही अलंकार माना है। अनुमान नाम से रुद्रट में कोई अलंकार नहीं मिलता।

इस प्रकार दण्डी ने हेतु के दोनों अंशों को अलंकार माना, भामह ने दोनों को अनलंकार और उद्भट ने ज्ञापकांश को अलंकार तथा कारकांश को अनलंकार। इस प्रकार उद्भट के मत में हेतुमूलक अलंकार अलंकार तो है किन्तु केवल ज्ञापकांश में ही और उसका भी नाम हेतु न होकर काव्यलिंग है, साथ ही नाम काव्यलिंग होने पर भी वह अनुमानस्वरूप है स्वतन्त्र नहीं। फलतः दण्डी के मत में जहाँ काव्यलिंग और अनुमान दोनों का माना जाना संभव है वहाँ उद्भट के मत में केवल अनुमान का ही। उद्भट द्वारा उदाहरण से यह तथ्य और भी स्पष्ट है—

'छायेयं तव शेषाङ्गकान्त्या किञ्चिदुज्ज्वला।
विभूषणघटनादेशान् दर्शयन्ती दुनोति माम्॥'

'तुम्हारे अन्य अंगों की कान्ति से कुछ मलिन यह कान्ति आभूषण पहनने योग्य स्थान दिखला रही और मुझे दुःखी कर रही है।'

उदाहरण की अभिव्यक्ति अपने आप में अस्पष्ट है, किन्तु इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि अन्य अंगों की कान्ति से कण्ठ आदि की कान्ति मलिन है। इससे लगता है कि इन अंगों में भूषणसंयोग बहुत दिनों से छूटा है। इस प्रकार है यह अनुमान ही। इस प्रकार उद्भट ने अनुमान के लिए काव्यलिंग शब्द का प्रयोग किया है।

उपर्युक्त सामग्री से यह भी स्पष्ट है कि प्रथम वर्ग के आचार्यों में अलंकार का नाम 'हेतु' या 'लिंग' ही अधिक मान्य था अनुमान नहीं।

रुद्रट=[२] द्वितीय वर्ग में केवल रुद्रट आते हैं। इन्होंने दण्डी के ही समान हेतु के दोनों अंशों को अलंकार मान लिया है किन्तु उसे नाम अनुमान दिया है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

'वस्तु परोक्षं यस्मिन् साध्यमुपन्यस्य साधकं तस्य।
पुनरन्यदुपन्यस्येद् विपरीतं चैतदुपमानम्॥' ७।५६॥

—'परोक्ष वस्तु साध्यरूप में उपस्थित कर उसके लिए साधक भी उपस्थित करे अथवा इसके विपरीत साधक उपस्थित कर साध्य को उपस्थित करे तो अलंकार का नाम अनुमान होता है।'

उदाहरण—

'वचनमुपचारगर्भं दूरादुद्गमनमासनं सकलम्।
इदमद्य मयि तथा ते यथासि नूनं प्रिये कुपिता'॥

—'प्रिये 'औपचारिक बातचीत, दूर से ही उठ खड़े होना, दूर ही बैठना' यह सब मेरे प्रति कुछ ऐसा है कि जिससे लगता है तुम मुझ पर गुस्सा हो।'

यह ठीक अनुमान का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त रुद्रट ने जो दूसरा हेतु दिया है वह काव्यलिंग का विषय माना जा सकता है। वह यह है—

'यत्र बलीयः कारणमालोक्याभूतमेव भूतमिति।
भावीति वा तथान्यत् कथ्येत तदन्यदनुमानम्॥'

—जहाँ बलवत्तर कारण देखकर न भी हुए कार्य को हो चुका या होने वाला बतलाना दूसरा अनुमान होता है। उदाहरण—

'अविरलविलोलजलदः कुटजार्जुननीपसुरभिवनवातः।
अयमायातः कालो हन्त मृताः पथिकगेहिन्यः॥'

—'घने घहराते बादल; कुटैया, कोहा और कदम्ब से सुगन्धित वनवात लिए यह समय [प्रावृट्] आ गया ! हन्त ! पथिक स्त्रियाँ मरीं !'

—यहाँ कार्यकारणभाव स्पष्ट है। उद्दीपन सामग्री वियुक्तमृत्यु का कारक कारण है, ज्ञापक नहीं। अतः इसे परवर्ती आचार्यों की मान्यता के अनुसार काव्यलिङ्ग कहा जा सकता है। स्वयं रुद्रट ने काव्यलिंग नाम से कोई भी अलंकार नहीं बतलाया है।

इस प्रकार अलंकार के नामकरण की दृष्टि से उक्त आचार्यों के दो वर्ग बन जाते हैं— एक हेतुवादी और दूसरा अनुमानवादी। प्रथम में दण्डी और उद्भट आते हैं और दूसरे में केवल रुद्रट।

मम्मट = मम्मट कारण के दोनों अंशों को अलग अलग कर देते हैं। वे कारकांश को काव्य-लिंग नाम से एक स्वतन्त्र अलंकार मान लेते हैं और ज्ञापकांश को अनुमान नाम से स्वतन्त्र। उनके लक्षण इस प्रकार हैं—

'काव्यलिङ्गम् हेतोर्वाक्यपदार्थता'

काव्यलिङ्ग नाम अलंकार को तब मिलता है जब हेतु वाक्यार्थरूप होता है या पदार्थरूप। उदाहरण—

'वपुःप्रादुर्भावादनुमितमिदं जन्मनि पुरा
पुरारे न प्रायः क्वचिदपि भवन्तं प्रणतवान्।
नमन् मुक्तः संप्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्
महेश ! क्षन्तव्यं तदिदमपराधद्वयमपि ॥'

—'हे प्रभो शिव ! शरीर मिला इससे यह अनुमान हुआ कि पूर्वजन्म में मैंने आपको प्रायः कभी भी प्रणाम नहीं किया, और अभी जो प्रणाम कर रहा हूँ उससे मुझे आगे शरीर मिलेगा नहीं, अतः तब भी प्रणाम न कर पाऊँगा। भगवन् आप मेरे ये दोनों अपराध क्षमा करें।'

इस पद्यरत्न में अपराध के प्रति प्रणामाभाव को कारण बतलाया गया है। प्रणामाभाव प्रथम तीन चरणों द्वारा बतलाया गया है अतः वह वाक्यार्थरूप है। वाक्यार्थगत अनेकता का उदाहरण मम्मट ने नहीं दिया। सर्वस्वकार ने वह भी दिया है। मम्मट ने पदार्थगत एकत्व और अनेकत्व के लिए अवश्य ही दो पृथक् उदाहरण दिए हैं। वे सर्वस्व के उदाहरणों से गतार्थ हैं।

अनुमान का विवेचन मम्मट ने इस प्रकार किया है—

'अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः।'

जिसमें साध्य और साधन का शब्दतः कथन हो वह अनुमान। उनका उदाहरण सर्वस्वकार ने अनुमान प्रकरण में उद्धृत कर दिया है—'यत्रैता लहरी०'। वह रुद्रट के 'वचनमुपचारगर्भं०' पद्य से गतार्थ है। सर्वस्वकार ने मम्मट का ही अनुसरण किया है। रत्नाकरकार ने भी अनुगमन तो मम्मट का ही किया किन्तु नामकरण में उन्होंने काव्यलिङ्ग के लिए हेतुपक्ष का अनुगमन किया और दण्डी के ही समान उसे हेतु कहा। उनका लक्षण इसी प्रकार के आरम्भ में दिया जा चुका है। विमर्शिनीकार ने पुनः रुद्रटपक्ष को ही प्रबल प्रतिपादित किया। वे रत्नाकर, सर्वस्व और मम्मट के प्रति वैमुख्यशिले हो गए।

कुवलयानन्द, रसगंगाधर और अलंकारकौस्तुभ में दीक्षितजी, पण्डितराज और विश्वेश्वर-पण्डित ने अनुसरण मम्मट के ही मध्यमार्ग का किया, किन्तु वे पूर्ववर्ती आचार्यों की अरुचियाँ भी भुला नहीं सके। इनका विवेचन इस प्रकार है—

अप्पय्यदीक्षित—'समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिङ्गं समर्थनम् ।
जितोऽसि मन्द कन्दर्प मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः ॥'

'समर्थनीय अर्थ का समर्थन काव्यलिङ्ग कहलाता है । यथा—'अरे नीच काम ! मैंने तुझे जीत लिया मेरे चित्त में त्रिलोचन [शिव] का वास है ।' शिव ने काम को तीसरे नेत्र से भस्म किया था। शिव का वास बतलाकर कामविजय का समर्थन किया, किन्तु दीक्षित जी का लक्षण अर्थान्तरन्यास से अलग नहीं किया जा सकता। पण्डितराज ने उन्हें यही कहकर झकझोरा भी है। एक लम्बे प्रकरण के द्वारा दीक्षित जी ने अनेक प्रसिद्ध उदाहरण भी प्रस्तुत किए और यह भी स्पष्ट किया कि प्राचीन आचार्य काव्यलिंग के साथ ही 'हेतु' भी कहते हैं—'इदं काव्यलिङ्गमिति, हेत्वलङ्कार इति व्याजहुः'। परिकरालङ्कार से इसका अन्तर भी दीक्षित जी ने बड़े सरम्भ के साथ बतलाया है।

पण्डितराज—'अनुमितिकरणत्वेन सामान्यविशेषभावाभ्यां चानालिङ्गितः प्रकृतार्थोपपादकत्वेन विवक्षितोऽर्थः काव्यलिङ्गम् ।'

—'अनुमितिकरणत्व तथा दो प्रकार के सामान्यविशेषभाव से रहित जो प्रकृतार्थ के समर्थक के रूप विवक्षित अर्थ वह काव्यलिङ्ग कहलाता है।' इसमें पण्डितराज के ही कथन के अनुसार प्रथम विशेषण अनुमिति के निवारण के लिए तथा द्वितीय विशेषण अर्थान्तरन्यास के निवारण के लिए दिया गया है। अनुमान का लक्षण पण्डितराज ने केवल—

'अनुमितिकरणत्वमनुमानम्'—
'अनुमितिकरणता अनुमान'

इतना ही किया है।

पण्डितराज ने 'यत् त्वन्नेत्र०' तथा 'मृग्यश्च०' पद्य में काव्यलिङ्ग का निराकरण कर अनुमान को ही अलङ्कार स्वीकार किया है। सर्वस्वकार के ही समान अप्पय्यदीक्षित ने भी उक्त दोनों पद्यों में 'काव्यलिंग' स्वीकार किया था। पण्डितराज ने इन दोनों का खण्डन किया है। सर्वस्व के—'यत् त्वन्नेत्र० ००० हेतुत्वेनोक्त [रसगङ्गाधर में 'हेतुरुक्त'] ० इतना उद्धरण देकर उन्होंने कहा है—इत्यलङ्कारसर्वस्वकृतोक्तम्, अनुमोदितं च कुवलयानन्दकृता तदुभयमप्यसत् । ००० 'अयं चानुमानस्यैव विषयः ।'

'इन दोनों का कथन गलत है। ०० यह भी अनुमान का ही विषय है।' एक एक कर दोनों पद्यों में अनुमान प्रकार भी इन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

१=दैवं नायिकाङ्गसादृश्यदर्शनजन्यमदिष्टसुखासहिष्णु तत्तन्नायिकाङ्गसादृश्याधारविघटकत्वात् मदीयशत्रुभूतयज्ञदत्तादिवत्' ।

—'विधाता नायिका के अंगों के सादृश्य से उत्पन्न मेरे सुख का असहिष्णु है, क्योंकि यह नायिका के इन इन अंगों के सादृश्य का नाशक है जैसे मेरा शत्रु यज्ञदत्त।'

२—'मृग्यो दक्षिणानिलसम्पर्कवत्यो दक्षिणाभिमुखविलक्षणनेत्रव्यापारवत्त्वात्' ।

'मृगियाँ दक्षिणानिल के स्पर्श से युक्त थीं क्योंकि वे दक्षिण की ओर नेत्रों का विलक्षण व्यापार कर रही थीं'। पण्डितराज का यह भ्रम केवल तथ्य को लेकर है। वह यह कि यहाँ हेतुहेतुमद्भाव कविनिष्ठ न होकर कविनिबद्ध वक्तृनिष्ठ है। यद्यपि ऐसा लगता है कि द्वितीय पद्य का सन्दर्भ उन्हें विदित नहीं है। वे नहीं जानते कि यह पद्य रघुवंश का है। वहाँ दक्षिणानिल का कोई प्रसंग ही नहीं है। सच यह है कि इन पद्यों में अनुमिति कविनिष्ठ न होने पर भी अनुमिति रूप

से प्रस्तुत नहीं है क्योंकि दोनों ही स्थलों में अनुमान परार्थानुमान नहीं है। यह तो स्मरणमात्र है। इसके अतिरिक्त प्रथम में अनुमिति सर्वथा गम्य ही है और द्वितीय में 'सम्बोधन'—द्वारा वाच्यप्राय होने पर भी हेतुहेतुमद्भाव वाच्य नहीं है, क्योंकि सम्बोधन का हेतु दक्षिण की ओर आँखें घुमाना ही है। उसका हेतुत्व तब साक्षात् वाच्य होता जब कहा जाता 'मृगियों के दक्षिणाभिमुख घूम रहे नेत्र जतला रहे थे कि तुम्हें राक्षस इसी दिशा में ले गया है।' इसी कारण नागेश ने पण्डितराज का खण्डन किया है। उन्होंने लिखा है 'अनुमितिगम्य भी हो और तब भी यदि अनुमान ही अलंकार माना जाने लगे तो काव्यलिङ्ग कहीं होगा ही नहीं। स्थिति यह है कि वाच्य अनुमान अनुमानालंकार कहलाता है और गम्य काव्यलिङ्ग'। [द्र० रसगंगाधर मर्मप्रकाश काव्यलिंग का अन्त]।

पण्डितराज ने हेतु के वाक्यगत और पदगत होने तथा एक या अनेक होने को भी चमत्कार की दृष्टि से निरर्थक माना है।

विश्वेश्वर का काव्यलिङ्गनिरूपण यह है—

'वाक्यपदार्थरूपाभ्यां हेतूक्तिः काव्यलिङ्गं स्यात्।' 'हेतु की वाक्य और पदार्थ के रूप में उक्ति काव्यलिंग कहलाती है।'

काव्यलिङ्ग का परिकर से भेद—

विशेषणगत चमत्कार परिकर में भी रहता है और काव्यलिंग में भी। पदार्थ काव्यलिंग में हेतु विशेषणरूप से आता है यद्यपि उसका हेतुत्व गम्य रहता है। इस प्रकार पदार्थकाव्यलिङ्ग और परिकर की स्थिति में अन्तर करना भी एक प्रश्न है। इसे प्रथमतः रत्नाकरकार ने उठाया है। उन्होंने अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'वाच्योपस्कारकता व्यंग्यस्य सदैव परिकरे ज्ञेया।
व्यङ्ग्याविलष्टो वाच्यो वाच्यं प्रत्येव हेतुरिति'॥

'परिकर में व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का उपस्कारक रहता है जब कि हेतु में व्यंग्यार्थ से युक्त होकर वाच्य वाच्य के प्रति हेतु बनता है'। इसीका स्पष्टीकरण पण्डितराज ने इस प्रकार किया है—'हेत्वलंकार में व्यंग्यार्थ का कोई महत्त्व नहीं रहता, वह निरर्थक रहता है, जब कि परिकर में वह प्रकृत अर्थ में शोभा भी बढ़ाता है और कभी कभी उसकी सिद्धि का भी कारण बनता है।' [द्र० रसगंगाधर परिकरप्रकरण०] पण्डितराज ने परिकर और काव्यलिंग के जो उदाहरण दिए हैं उनसे यह तथ्य स्पष्ट है कि परिकर के विशेषणों में हेतुत्व नहीं रहता जब कि पदार्थकाव्यलिङ्ग में वही रहता है।

यहाँ श्रीविद्याचक्रवर्त्ती की संग्रहकारिका यह है—

'काव्यलिङ्गं तु हेतुत्वेनोक्तिर्वाक्यपदार्थयोः।
नायमर्थान्तरन्यासो हेतोः शब्दत्वसंश्रयात्॥'

काव्यलिङ्ग वाक्यार्थ या पदार्थ की हेतुरूप से उक्ति को कहते हैं। यह अर्थान्तरन्यास नहीं है, क्योंकि इसमें हेतु शब्दतः कथित रहता है।

[सर्वस्व]

[सू० ५९] साध्यसाधननिर्देशोऽनुमानम्।

यत्र शब्दवृत्तेन पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकवत् साधनं साध्यप्रतीतये निर्दिश्यते, सोऽनुमानालंकारः। विच्छित्तिविशेषश्चात्रार्थादाश्रयणीयः, अन्यथा तर्कानुमानात् किं वैलक्षण्यम्।

उदाहरणम्—

'यथा रन्ध्रं व्योम्नश्चलजलदधूमः स्थगयति
स्फुलिङ्गानां रूपं दधति च यथा कीटमणयः।
यथा विद्युज्ज्वालोज्ज्वलनपरिपिङ्गाश्च ककुभ-
स्तथा मन्ये लग्नः पथिकतरुषण्डे स्मरदवः॥'

अत्र धूमस्फुलिङ्गकपिलदिक्त्वानि वह्निलिङ्गानि त्रिरूपत्वाद्यथशब्दप्रतिपादितं वह्निं गमयन्तीत्यनुमानम्। रूपकमूलत्वेनालंकारान्तरगर्भीकारेण विच्छित्त्याश्रयणात्तर्कानुमानवैलक्षण्यम्।

क्वचित्तु शुद्धमपि भवति। यथा—

'यत्रैता लहरीचलाचलदृशो व्यापारयन्ति भ्रुवं
यत्तत्रैव पतन्ति संततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः।
तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो
धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदासां स्मरः॥'

अत्र योषितां भ्रूव्यापारेण मार्गणपतनं स्मरपुरोगामित्वे साध्येऽनलंकृतमेव साधनमिति शुद्धमनुमानम्। प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नार्थनिष्ठत्वेन च विच्छित्तिविशेषाश्रयणाच्चारुत्वम्।

अयमत्र पिण्डार्थः—इहास्ति प्रत्याय्यप्रत्यायकभावः। अस्ति च समर्थ्यसमर्थकभावः। तत्राप्रतीतप्रत्यायने प्रत्याय्यप्रत्याय्यकभावः। प्रतीतप्रत्यायने तु समर्थ्यसमर्थकभावः। तत्र प्रत्याय्यप्रत्यायकभावेऽनुमानम्। समर्थ्यसमर्थकभावे तु यत्र पदार्थो हेतुस्तत्र हेतुत्वेनोपादाने 'नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वात्' इत्यत्र न कश्चिदलंकारः। यत्र तूपात्तस्य हेतुत्वं यथोक्ताहते विषये 'मृग्यश्च दर्भाङ्कुरनिर्व्यपेक्षा' इत्यादौ तत्रैकं काव्यलिङ्गम्। यत्र तु वाक्यार्थो हेतुस्तत्र हेतुत्वप्रतिपादकमन्तरेण हेतुत्वायोपन्यासे काव्यलिङ्गमेव। तदर्थत्वेनोपन्यस्तस्य तु हेतुत्वेऽर्थान्तरन्यासः। एवं चास्यां प्रक्रियायां कार्यकारणवाक्यार्थयोर्हेतुत्वे काव्यलिङ्गमेव पर्यवस्यति, समर्थ्यवाक्यार्थस्य सापेक्षत्वात्, तादृस्थ्याभावात्। ततश्च सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यासस्य विषयः। यत्पुनरर्थान्तरन्यासस्य कार्यकारणगतत्वेन समर्थकत्वमुक्तम्, तदुक्तलक्षणं काव्यलिङ्गमनाश्रित्य तद्विषयत्वेन लक्षणान्तरस्योद्भटैराश्रितत्वात्।

उक्तलक्षणाश्रयणे तु यत्त्वन्नेत्रेत्यादिर्विविक्तो विषयः काव्यलिङ्गस्यार्थान्तरन्यासाद् दर्शित इति कार्यकारणयोः समर्थ्यसमर्थकत्वमर्थान्तरन्यासे पूर्वं दर्शितमितीयं गमनिकाश्रयितव्या।

एवं तर्कन्यायमूलमलंकारद्वयमिह प्रतिपादितम्।

[सू० ५९] साध्य की सिद्धि के लिए साधन का निर्देश [हो तो अलंकार] अनुमान [कहलाता है] ॥

[वृ०] जिसमें साधन शब्दवृत्ति [अभिधा] द्वारा पक्ष [साध्यसिद्धिस्थल] में रहता हुआ, [साध्य के साथ] अन्वय तथा व्यतिरेक से युक्त तथा साध्य की प्रतीति कराता हुआ कथित हो, वह अनुमानालंकार होता है। [अलंकारत्व के लिए अपेक्षित] चमत्कार इसमें ऊपर से लाना पड़ता है, नहीं तो तर्कशास्त्रीय अनुमान से [इस अनुमान का] अन्तर ही क्या रहे। उदाहरण—

'क्योंकि घूमते मेघों के धूम ने आकाशरूपी रन्ध्र [गुफा] को भर दिया है, क्योंकि जुगनू चिनगारियों का रूप धारण कर रहे हैं और क्योंकि बिजलीरूपी लपटों के धधक उठने से दिशाएँ पीली पड़ गई हैं, इसलिए मैं समझता हूँ 'पथिकरूपी वृक्षसमुदाय में काम की दँवार लग गई है'।

यहाँ घूम, चिनगारी और दिशाओं का पीलापन आदि अग्नि के लिङ्ग हैं क्योंकि ये त्रिरूप [पक्षवृत्ति, अन्वयी अर्थात् सपक्षवृत्ति और व्यतिरेकी अर्थात् विपक्षावृत्ति] हैं। ये दवशब्द से कथित अग्नि को [रूपी साध्य] का अनुमान कराते हैं, इस कारण यहाँ अनुमान है। यह क्योंकि रूपक मूलक है, अतः अन्य अलंकार को लेकर होने से इसमें चमत्कार चला आता है, अतः इसमें तर्कानुमान से भेद है। कहीं यह शुद्ध [अलंकारान्तर रहित] भी होता है। यथा—

'तरंगों के समान चंचल चितवन वाली ये जिधर अपनी भौंह घुमाती हैं उधर ही जो ये मर्मस्पर्शी बाण लगातार झड़ने लगते हैं, इससे स्पष्ट है कि इनकी आज्ञा धारण कर काम क्रोध में आकर धनुष खींचते और उस पर चढ़े बाण पर हाथ साधे हुए इनके आगे-आगे सदा ही दौड़ता रहता है।'

—यहाँ स्त्रियों के भ्रुकुटिचालन से बतलाई जा रही बाणवर्षा काम के आगे-आगे चलने रूपी साध्य की सिद्धि में बिना किसी अन्य अलंकार के योग के ही साधन है। अतः यह अनुमान शुद्ध [अलंकारान्तररहित] है। यह [अनुमान कवि की] प्रौढोक्तिमात्र से निष्पन्न अर्थ पर निर्भर होने के कारण विशिष्ट चमत्कार से युक्त है, अतः इसमें सुन्दरता है।

यहां निष्कर्ष यह है कि यहां [काव्य में एक तो] ज्ञाप्यज्ञापकभाव रहता है और [दूसरा] समर्थ्यसमर्थकभाव। इनमें से ज्ञाप्यज्ञापकभाव वहाँ होता है जहाँ अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराया जाता है। इसके विरुद्ध समर्थ्यसमर्थकभाव वहाँ होता है जहाँ ज्ञात अर्थ का ज्ञान कराया जाता है। इनमें से ज्ञाप्यज्ञापकभाव होने पर अनुमान होता है। समर्थ्यसमर्थकभाव में जहाँ हेतुपदार्थ होता है वहाँ यदि वह हेतुरूप से कथित रहता है [जहाँ उसका हेतुत्व कथित रहता है] तो 'नागेन्द्रहस्तास्त्वचि कर्कशत्वात्–' [कुमार० १]—'हाथी की सूँड त्वचा-भाग में कर्कश होने से [पार्वती के ऊरु का उपमान न बन सकी] आदि में कोई अलंकार नहीं होता; किन्तु 'मृग्यश्च दर्भांकुरनिर्व्यपेक्षाः' आदि पूर्व उदाहृत स्थलों में जहाँ वह शब्दतः कथित होकर [व्यञ्जनया] हेतु बनता है [अर्थात् उसका हेतुत्व व्यंग्य रहता है] वहाँ एक प्रकार का काव्यलिङ्गालङ्कार कहलाता है। जहाँ हेतुवाक्यार्थ रूप होता है वहाँ हेतुत्व के प्रतिपादक शब्द के बिना हेतुत्व के लिए उसका प्रयोग होने पर काव्यलिंग ही होगा और उस [हेतुत्व] के बिना साधारणरूप से प्रयोग होने पर अर्थान्तरन्यास। इस प्रकार [विचार की] यह प्रक्रिया अपनाने पर कार्य और कारण के वाक्यार्थों में हेतुत्व रहने पर काव्यलिंग ही [अलंकार] ठहरता है। क्योंकि समर्थ्य वाक्यार्थसापेक्ष रहता है अतः वहाँ [दोनों वाक्यार्थों में] तटस्थता नहीं रहती। इस प्रकार अर्थान्तरन्यास का विषय [केवल] सामान्यविशेषभाव तक सीमित ठहरता है। [सूत्रकार के अनुसार हमने] अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव के आधार पर भी जो समर्थकता बतलाई है वह इस कारण कि

उद्भटमतानुयायियों ने उक्त [कार्यकारणभावमूलक] काव्यलिंग को छोड़कर [काव्यलिंग नाम के साथ एक] दूसरा ही लक्षण बनाया था [जो ज्ञाप्य-ज्ञापक-भावमूलक था] और उसे उन्होंने उसी [काव्यलिंग] का लक्षण बतलाया था [जब कि था वह लक्षण अनुमान का; इस प्रकार उनके मत में कार्यकारणभावमूलक काव्यलिंग का संग्रह नहीं हो पाया था, फलतः उसके संग्रह के लिए हम लोगों ने अर्थान्तरन्यास में कार्यकारणभाव का भी निवेश किया और दोनों को अभिन्न बतलाया किन्तु काव्यलिंग का] उक्त [कार्यकारणभावमूलक] लक्षण अपना लिया जाता है तो अर्थान्तरन्यास से, काव्यलिंग, 'यत् त्वन्नेत्र०' आदि स्थलों में एक स्वतन्त्र ही अलंकार सिद्ध हो जाता है जिसका निरूपण किया जा चुका है। यह पथ इसलिए अपनाना चाहिए कि अर्थान्तरन्यास के प्रकरण में कार्यकारण का समर्थ्यसमर्थकभाव पहले बतला दिया था।'

इस प्रकार तर्कन्यायमूलक दोनों अलंकार बतला दिए गए।

विमर्शिनी

साध्येत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—यत्रेत्यादिना। एवं चात्र साध्यप्रतीतये निरूप्यस्य साधनस्य निर्देशात्कोऽनुमानसमानकक्ष्यमेवास्य लक्षणमिति भावः। यद्येवं तत्ततोऽस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह—विच्छित्तीत्यादि। तथानुमानं द्विधा। स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं यत्र स्वयमवगतोऽर्थ इति स्वपरामर्शस्य निश्चयः स्यात्। परार्थं तु यत्र परेणावगतस्य वस्तुनः प्रतिपादनात्परप्रत्यायकत्वं स्यात्। एवं च स्वार्थपरार्थभेदेन द्विविधमनुमानमेवैकोऽलंकारो वाच्यो न पुनरनुमानहेतुतया पृथगलंकारत्वम्। उभयत्रापि सामान्यलक्षणानुगमात्प्रकारप्रकारिभावस्यैवोपपत्तेः। तत्र स्वार्थानुमानं यथा ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्। तत्र हि स्मरदग्धो जन इति स्वपरामर्शस्यैव निश्चयः। परार्थानुमानं यथा—

> 'तदस्ति तेषां समस्ति प्रसर्पिणो निशाचरत्वं यदि पारमार्थिकम्।
> ततः प्रिये संनिहितेऽत्र वासरे कथं नु तत्संचरणं भविष्यति॥'

अत्र दिवासंचरणस्य कार्यस्य विरुद्धं निशाचरत्वं परप्रत्यायको हेतुः। रूपकमूलत्वेनेति। रूपकमन्तरेणानुत्थानात्। ननु वाच्यालंकारान्तरगर्भीकारमात्रमेव किं तर्कानुमानवैलक्षण्यनिमित्तम्, उतान्यदपि किंचिदित्याशङ्क्याह—क्वचिदित्यादि। अनलंकृतमिति। शासनधर्मादेः प्रौढोक्त्या वास्तवत्वेनैव विवक्षितत्वादतिशयोक्त्याद्यलंकारान्तरगर्भीकाराभावात्। अतश्चास्य कविकर्मैव वैलक्षण्यनिमित्तमिति भावः। तदाह—प्रौढोक्तीत्यादि। एवं च कविकर्माभावात्र विच्छित्तिविशेषाश्रयणं न स्यादत्र नायमलंकारः। यथा—

> 'यो यत्कथाप्रसङ्गे स्फुरच्छिद्रायतोष्णनि:श्वासः।
> स भवति तं प्रति रक्तस्त्वं च तथा दृश्यसे सुतनु॥'

अत्र रक्तत्वं प्रति विशिष्टस्य निःश्वसितस्यार्थेऽपि हेतुत्वे वास्तवत्वात्कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वाभावान्नायमलंकारः। यथा—

> 'प्रजानां विनयाधानाद् रक्षणाद्भरणादपि।
> स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥'

अत्र विनयाधानादिहेतूनां वास्तवत्वादनलंकारत्वम्। न पुनरत्र हेतोरार्थत्वाभावादनलंकारत्वमिति वाच्यम्। कविकर्मण एवालंकारनिबन्धनत्वेनोक्तत्वाद् आर्थत्वस्य तदप्रयोजकत्वात्। न हि हेतोरार्थत्वेऽपि कविकर्मव्यतिरेकेणालंकारत्वं स्यात्। तच्छाब्देऽपि हेतौ क्वचित्कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वेनालंकारत्वाभ्युपगमे न कश्चिद्दोषः। ग्रन्थकृता पुनरेत-

चिरन्तनमतानुरोधेनोक्तम्। तन्मतमेवाधिकृत्य हि 'अत्र'—मत्रेत्यादिना विचारः प्रस्तुतः। तत्रेति द्वयनिर्धारणे। प्रतीतेति। बोद्धव्येन समर्थ्यतया प्रमुख एवाधिगतत्वेत्यर्थः। न कश्चिदलंकार इति। हेतुमात्ररूपत्वात्। हेतुत्ववाचकं विनापि तदधिगमे ह्यस्य च चारुत्वातिशय इति भावः। यद्वक्ष्यति—हेतुत्वप्रतिपादकमन्तरेणेति। उपात्तत्वेति। पारिशेष्यात् पदार्थस्य हेतुत्वेनोपादानाभिधानात्। एकमिति पदार्थगतम्। हेतुत्वप्रतिपादक इति शब्दादिः। तदन्यत्वेनेति। न तु हेतुत्वेनेत्यर्थः। अत एव चानयोर्भेदः। ततश्चेति पारिशेष्यात्। ननु यद्येवं तत्पूर्वमर्थान्तरन्यासस्य केनाभिप्रायेण कार्यकारणगतत्वेन समर्थकत्वमुक्तमित्याशङ्क्याह—यत्पुनरित्यादि। लक्षणान्तरस्येति। पदार्थगतत्वेनैवेष्टेः। यदाहुः—

> 'श्रुतमेकं यदन्यत्र स्मृतेरनुभवस्य वा।
> हेतुतां प्रतिपद्येत काव्यलिङ्गं तदुच्यते॥' इति।

यद्येतदुद्भटमताभिप्रायेणोक्तं तत्कथं स्वमतं संगच्छते इत्याशङ्क्याह—उक्तेत्यादि। विविक्तविषय इति। तादरूप्यव्यतिरेकेण वाक्यार्थस्य हेतुत्वायोपन्यासादर्थान्तरन्यासस्याव्याप्तेः। आश्रयितव्येति। न पुनर्वस्तुतः संभवतीत्यर्थः।

साध्य इत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—यत्र इत्यादि। इस प्रकार यहाँ साध्य की प्रतीति के लिए तीन प्रकार के साधन का निर्देश होने से इसका लक्षण भी तर्कशास्त्र के अनुमान के ही समान सिद्ध होता है। 'यदि ऐसा है उससे इसका अन्तर क्या'—ऐसी शंका कर लिखते हैं—'विच्छित्ति' इत्यादि। यह अनुमान दो प्रकार का होता है स्वार्थ और परार्थ। इनमें स्वार्थ अनुमान वह है जिसमें इस परामर्श का निश्चय रहता है कि 'मैंने यह अर्थ जान लिया है'। परार्थ वह जहाँ दूसरे के द्वारा अज्ञात वस्तु का प्रतिपादन रहता है फलतः जिसमें परप्रत्यायकत्व रहता है। इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ भेद से दोनों प्रकार का अनुमान एक ही अलंकार कहा जाना चाहिए, न कि अनुमान और हेतु इन दो रूपों में पृथक् पृथक् अलंकार, क्योंकि सामान्य लक्षण दोनों में लागू होता है जिससे प्रकारप्रकारिभाव ही सिद्ध होता है। इनमें से जो स्वार्थानुमान है उसका उदाहरण [यथा रन्ध्रे] ग्रन्थकार ने ही बतला दिया है। इस उदाहरण में 'कामदेव बाण लगी हुई हैं' यह वक्ता का अपना ही निश्चय है। परार्थानुमान का उदाहरण यथा—

'हे प्रियो यदि अँधेरे में घूमने वाले वन राक्षसों का निशाचरत्व वास्तविक है तो जब यह दिन निकला आ रहा है, इसमें उनका संचार कैसे होगा।'

यहाँ दिन में संचाररूपी जो कार्य है उसके विरुद्ध निशाचरत्व रूपी परप्रत्यायक हेतु उपात्त है। रूपकमूलत्वेन = रूपकमूलक होने से, क्योंकि इस पद्य में उसका उत्थान रूपक के बिना संभव नहीं है। [शंका] क्या अन्य अलंकार से युक्त होने के ही कारण इस अनुमान में तर्क के अनुमान से भेद आता है अथवा इसका हेतु कोई और भी है—ऐसी शंका कर लिखते हैं—क्वचित्। अनलङ्कृत = 'शासनधारण करना' आदि कविप्रौढोक्ति के द्वारा वास्तविक जैसे विवक्षित हैं इसलिए इनमें [रत्नाकरकार आदि की] अतिशयोक्ति आदि अन्य अलंकारों का मिश्रण नहीं मानना चाहिए। इस लिए इसका भेदक तत्त्व कविकर्म ही है। यही कहते हैं—'प्रौढोक्ति०' इत्यादि के द्वारा। इस प्रकार जहाँ कविकर्म का अभाव रहेगा और इसीलिए कोई चमत्कार नहीं रहेगा वहाँ यह अलंकार नहीं होगा। यथा—[रत्नाकरकार द्वारा हेत्वलंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत]

'जो जिसकी चर्चा के प्रसंग में रुक रुक कर लम्बी और उष्ण उसाँस लेता है वह उसके प्रति अनुरक्त रहता है और री सलोनी! वह वैसा ही दिखाई दे रहा है।' इस पदार्थ में

अनुराग के प्रति विशिष्ट उत्कर्ष अर्थतः हेतु है तथापि वह वास्तविक है, कविप्रतिभाप्रसूत नहीं, अत: यह [अनुमान] अलंकार नहीं है। और जैसे—

'शिक्षा का आधान, रक्षा और पालन पोषण करने से प्रजाओं का [सच्चे अर्थ में] पिता वह [दिलीप] था, उनके अपने पिता तो केवल जन्म के [illegible] थे। [रघुवंश-१]'

यहाँ शिक्षा का आधान आदि जो हेतु हैं वे वास्तविक हैं अतः अलंकार नहीं है। इसलिए नहीं कि यहाँ हेतु आर्थ नहीं है इसलिए अलंकार नहीं है। अलंकार का मूल कविकर्म को माना गया है अत आर्थत्व इसमें कारण नहीं। ऐसा नहीं कि कविकर्म के अभाव में केवल आर्थ होने से हेतु में अलंकारत्व चला आए। इसलिए हेतु के शाब्द रहने पर भी उसके कविप्रतिभाप्रसूत होने पर उसमें अलंकारत्व मानने में कोई दोष नहीं।

ग्रन्थकार ने इसे प्राचीन आचार्यों के मत के अनुरोध से बतलाया। उन्हीं के मत को लेकर ग्रन्थकार ने 'अयमत्र' इत्यादि द्वारा विचार का प्रसंग चलाया है। 'तत्र=उनमें' यह दोनों के निर्धारण के लिए है। प्रतीत=बोद्धव्य व्यक्ति [जिसे समझाया जा रहा हो] के द्वारा समर्थ्यरूप से आरम्भ में ही जान लिए गए। न कश्चिदलङ्कारः=कोई अलंकार नहीं=हेतुमात्ररूप होने से। भाव यह कि उसमें चारुत्वातिशय तब आता है जब वह हेतुत्व के वाचक शब्द के बिना ही विदित हो। जैसा कि कहेंगे—'हेतुत्व के प्रतिपादक शब्द के बिना'। उपात्त अर्थात् शेष बचे पदार्थ का हेतुरूप से उपादान रूप अभिधान होने के कारण 'एकम्=एक प्रकार का—' अर्थात् पदार्थगत। हेतुत्वप्रतिपादक अर्थात् शब्द आदि। तटस्थत्वेन=न कि हेतुत्वेन। इसीलिए इन दोनों [अर्थान्तरन्यास और काव्यलिंग] में अन्तर है। तत्तश्च=इस कारण जो शेष रहा वह सामान्यविशेषभाव। [शंका] यदि ऐसा है तो पहले अर्थान्तरन्यासप्रकरण में किस अभिप्राय से कार्यकारणों में समर्थकत्व बतलाया है। ऐसी शंका कर लिखते हैं—यत् पुन.। लक्षणान्तर=दूसरा लक्षण अर्थात् केवल पदार्थगत ही मानकर किया दूसरा लक्षण, जो इस प्रकार है—'हेतुमेक०' [अर्थ काव्यलिंग के इतिहास में देखिए]। [शंका] यदि यह उद्भट के मत के अनुसार कहा तो फिर आपका मत कैसे ठीक सिद्ध होगा'—ऐसी शंका पर लिखते हैं—उक्त इत्यादि। विविक्तविषय=तटस्थत्वेन=यहाँ वाक्यार्थ हेतुत्व के लिए उपात्त तो रहता है किन्तु इसमें तटस्थता रहती है [सापेक्षता नहीं] इसलिए [सापेक्षता से युक्त] अर्थान्तरन्यास की पहुँच यहाँ नहीं होती। आश्रयितव्या=अपनानी चाहिए' अर्थ यह कि वस्तुत: ऐसा होना है नहीं॥'

अनुमानालङ्कार के सूत्र तथा वृत्ति से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इनके रचयिता दो पृथक् विद्वान् हैं। वृत्तिकार सूत्रकार को स्वतन्त्र चिन्तक सिद्ध नहीं कर पाते। पहले उद्भट के अनुसार सूत्र बनाना, पुन उसी तथ्य के लिए एक पृथक् सूत्र बना देना स्वीकार करने पर सूत्रकार का पक्ष शिथिल सिद्ध हो जाता है। वस्तुत. अर्थान्तरन्यास में आनेवाले कार्यकारणभाव में हेतुत्व या जनकत्व नहीं, समर्थकत्व प्रमुख रहता है। काव्यलिंग में न तो समर्थकत्व ही प्रमुख रहता और न ज्ञापकत्व ही, यहाँ प्रमुख रहता है जनकत्व। यहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है, अतः हेतूत्प्रेक्षा के समान कारण का कारणत्व सिद्ध करने में ही चमत्कार रहता है। 'यत् त्वन्०' पद्य में प्रथम तीन चरणों द्वारा प्रतिपादित अर्थ कार्य है। उससे चतुर्थ चरण में प्रतिपादित अर्थ को कारण बतलाया जा रहा है। इसी प्रकार 'वपु प्रादुर्भाव' पद्य में 'अपराधद्वय' कार्य है, उससे पूर्वजन्म और भावीजन्म में प्रणामाभाव में कारणत्व सिद्ध किया जा रहा है। 'मृगयश्च०' पद्य में भी मृगियों के दक्षिणाभिमुख नेत्रसंचार में दिग्दोषरूपी कार्य के प्रति कारणत्व बतलाया जा रहा है। इस प्रकार चमत्कार के प्रति, अर्थान्तरन्यास में कारण होता है समर्थकत्व जब कि

काव्यलिंग में कारण होता है कारणत्वसिद्धि। कार्यकारणभाव दोनों अलंकारों में समान होने पर भी चमत्कारकारण भिन्न हैं अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार सूत्रकार का उचित समर्थन किया जा सकता था किन्तु वृत्तिकार वह नहीं कर सके। वस्तुतः वृत्तिकार ठीक वैसे ही स्वतन्त्र आचार्य हैं जैसे विमर्शिनीकार। मूलकार के साथ इनकी जितनी निभ जाय उतनी ही बहुत है।

विमर्शिनीकार ने अनुमान और काव्यलिंग की अभिन्नता का स्वर उठाया है। इस प्रकार वृत्तिकार के ही समान विमर्शिनीकार भी यहाँ सूत्रकार से टकराते दिखाई देते हैं।

इतिहास=

काव्यलिंग के इतिहास से अनुमान का इतिहास प्रायः गतार्थ है। उससे स्पष्ट है कि अनुमान नाम से अनुमान को अलंकार मानने का प्रथम श्रेय रुद्रट को है। यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि अनुमान का अभिप्राय दण्डी और उद्भट द्वारा भी नामान्तर से स्पष्ट कर दिया गया है। रुद्रट में इसका जो स्वरूप है वह काव्यलिंग के प्रकरण में उद्धृत किया जा चुका है। मम्मट तथा पण्डितराज के मत भी दिए जा चुके हैं। शेष आचार्यों के मत इस प्रकार हैं—

शोभाकर :—रत्नाकरकार ने अनुमान का लक्षण काव्यलिंग के साथ इस प्रकार दिया है—

(१) साधनात् साध्यप्रतीतिरनुमानम्।
(२) परप्रत्यायकं लिंगं हेतुः॥

साधन के द्वारा [अज्ञात] साध्य का ज्ञान अनुमान [और दूसरे को ज्ञान कराने वाला लिंग हेतु]।

हेतु नामक काव्यलिंग से अनुमान का अन्तर करते हुए उन्होंने लिखा है—

'परेणाप्रतिपन्नस्य वस्तुनः प्रतिपादनम्।
परानुमानरूपो हि हेत्वलंकार इष्यते॥
मयायं प्रतिपन्नोऽर्थ इति यत्र निवेद्यते।
तत्रानुमानं तेन स्यात् प्रतिपत्तिनिवेदनम्॥'

'दूसरे के द्वारा अज्ञात वस्तु का प्रतिपादन हेत्वलंकार कहलाता है इसमें परार्थानुमान रहता है। 'मैंने यह पदार्थ जान लिया' यह जिसमें बतलाया जाता है वहाँ अनुमानालंकार होता है। यह ज्ञान निवेदन स्वरूप है।'

रत्नाकरकार ने 'यो यस्कथा०' पद्य में अनुमान माना था। विमर्शिनीकार ने उसका खण्डन किया है।

रत्नाकरकार ने काव्यप्रकाश तथा सर्वस्व द्वारा अनुमानालंकार के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत 'यत्रैता०' पद्य में असंबन्ध में सम्बन्ध नामक अतिशयोक्ति मानी है। उनका कहना है कि इस पद्य में काम के साथ जिस 'शासनधरत्व' का संबन्ध नहीं है उसका संबन्ध बतलाया जा रहा है यहाँ उसी में चमत्कार है। उनका कथन अमान्य नहीं हो सकता किन्तु उन्हें वस्तुतः अनुमान में अतिशयोक्ति का क्षीण स्पर्श मानना चाहिए था, अनुमान का आत्यन्तिक अभाव और अतिशयोक्ति का सार्वभौम चमत्कार नहीं। अप्पयदीक्षित ने ऐसा माना भी है।

अप्पयदीक्षित ने अनुमान का कोई स्वरूप प्रस्तुत नहीं किया—केवल उदाहरण ही दे दिए हैं। उन्होंने 'यथा रन्ध्रं' में रूपक तथा 'यत्रैता०' में अतिशयोक्ति का स्पर्श माना है।

विश्वेश्वर = ने अनुमान का लक्षण इस प्रकार बनाया है—

'अनुमानं व्याप्यबलाद् व्यापकधीर्धर्मिनिष्ठा स्यात्।'

—'व्याप्य के द्वारा पक्ष में व्यापक का ज्ञान अनुमान'। इसमें स्पष्ट ही विश्वेश्वर ने न्याय-शास्त्र को अधिक स्थान दे दिया है। व्याप्य साधन या हेतु का ही दूसरा नाम है और व्यापक साध्य का। इसी प्रकार धर्मी का अर्थ पक्ष होता है।

विश्वेश्वर ने अनुमान के लिए अपेक्षित व्याप्ति को दो प्रकार का माना है पारमार्थिक और कविकल्पित। 'यत्रैता०' पद्य में उनके अनुसार कविकल्पित है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने इस अलंकार का निष्कर्ष इस प्रकार स्पष्ट किया है—

> 'अनुमानं तु साध्याय साधनस्योपवर्णना।
> तत्सङ्कीर्णत्वशुद्धत्वविच्छित्त्यान्यविलक्षणम् ॥
> अप्रतीतप्रतीतौ स्यादनुमानमथ स्थिते ।
> पदार्थाद् वाथ वाक्यार्थान्निर्देशे सति हेतुना ॥
> समर्थनं प्रतीतस्य काव्यलिङ्गद्वयं मतम् ।
> भवेदर्थान्तरन्यासस्तटस्थे हेतुभावने ॥
> कार्यकारणभावे तु तस्योक्तं लक्षणान्तरम् ॥'

अनुमान साध्य के लिए साधन का [सर्वांगसम्पूर्ण] वर्णन होता है। यह संकीर्ण और शुद्ध दो प्रकार का होता है। अन्य अलंकारों से यह चमत्कार में भिन्न होता है। अनुमान होता है अज्ञात का ज्ञान कराने में। काव्यलिंग इसके विरुद्ध शब्दतः कथित पदार्थ या वाक्यार्थरूपी हेतु के द्वारा पहले से ज्ञात पदार्थ के समर्थन में होता है। इस प्रकार यह दो प्रकार होता है। अर्थान्तरन्यास वहाँ होता है जहाँ हेतुत्व से तटस्थता रहती है [अर्थात् हेतुत्व विवक्षित नहीं रहता, केवल सामान्यविशेषभाव रहता है। जहाँ यह विवक्षित रहता है वहाँ] कार्यकारणभाव को लेकर इस [अर्थान्तरन्यास] का एक स्वतन्त्र लक्षण बना दिया गया है।

विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—एवमित्यादिना।

['एवं—प्रतिपादितम्' का अनुवाद अनुमानालंकार के अन्त में देखिए।]

इस प्रकरण को समाप्त करने और दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

अधुना वाक्यन्यायमूला अलंकारा उच्यन्ते—

[सू० ६०] उद्दिष्टानामर्थानां क्रमेणानुनिर्देशो यथासंख्यम् ।

ऊर्ध्वं निर्दिष्टा उद्दिष्टाः। पश्चान्निर्देशोऽनुनिर्देशः। स चार्थादर्थान्तरगतः। संबन्धश्चात्र सामर्थ्यात् प्रतीयते। ऊर्ध्वं निर्दिष्टानामर्थानां पश्चान्निर्दिष्टैरर्थैः क्रमेण संबन्धो यथासंख्यमिति वाक्यार्थः। अन्ये त्विममलंकारं क्रमसंज्ञयाभिदधिरे। तच्च यथासंख्यं शाब्दमार्थं च द्विधा। शाब्दं यत्रासमस्तानां पदानामसमस्तैः पदैरर्थद्वारकः संबन्धः। तत्र क्रमसंबन्धस्यातिरोहितस्य प्रत्येयत्वात्। आर्थं तु यत्र समासः क्रियते तत्र समुदायस्य समुदायेन सह संबन्धस्य शाब्दत्वादर्थावगमपर्यालोचनया त्ववयवगतः क्रमसंबन्धः प्रतीयते। ततोऽत्र यथासंख्य आर्थत्वम्।

आद्यस्योदाहरणम्—

'लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो वृथैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः॥'

अत्र लावण्यौकःप्रभृतीनामिन्द्वादिभिः क्रमसंबन्धस्याव्यवहितत्वेन प्रतीतेः शाब्दं यथासंख्यम्। यथा—

'कज्जलहिमकनकरुचः सुपर्णवृषहंसवाहनाः शं वः।
जलनिधिगिरिकमलस्था हरिहरकमलासना ददतु॥'

अत्र कज्जलादीनां सुपर्णादिभिः संबद्धानां जलनिध्यादिभिः सह संबन्धो हरिप्रभृतिभिः संबन्धः श्रुत्या समुदायनिष्ठः प्रतीयते। अर्थानुगमानुसारेण त्ववयवानां क्रमसंबन्धावगतिरित्यार्थं यथासंख्यम्।

अब [मीमांसाशास्त्रगत] वाक्य = न्यायमूलक अलंकारों का विवेचन किया जा रहा है—

[सू० ६०] पहले कहे गए अर्थों के क्रम से पुनः [अन्य अर्थों का] कथन यथासंख्यालंकार [कहलाता है]।

[उद्] ऊपर निर्दिष्ट = कथित = उद्दिष्ट, [अनु =] पश्चात् निर्देश = कथन = अनुनिर्देश, अर्थात् अन्य अर्थों का। इनमें सम्बन्ध [वाक्यार्थ] सामर्थ्य से प्रतीत होता है। इस प्रकार तात्पर्य यह हुआ कि 'पहले कहे अर्थों का बाद में कहे गए अर्थों के साथ क्रमशः संबन्ध यथासंख्य कहलाता है। [वामन आदि] अन्य आचार्यों ने इस अलंकार को 'क्रम' नाम से पुकारा है। यह यथासंख्य दो प्रकार का होता है शाब्द और आर्थ। शाब्द वह जहाँ असमस्त शब्दों का असमस्त शब्दों से अर्थ के द्वारा संबन्ध रहता है। [यह शाब्द इसलिए कहा जाता है] क्योंकि इसमें क्रमसम्बन्ध अतिरोहित रहता और [स्पष्ट रूप से] बोधविषय बनता है। आर्थ वह होता है जिसमें समास रहता है। यहाँ समुदाय से समुदाय का संबन्ध शब्दतः कथित रहता है, फलतः अवयव से अवयव का क्रमिक संबन्ध अर्थ का ज्ञान होने के पश्चात् विचार करने पर प्रतीत होता है। इस कारण यहाँ यथासंख्य में आर्थता रहती है। प्रथम का उदाहरण—

'महाराज! आप लावण्य के घर हैं, प्रतापगरिमा से मण्डित हैं, त्यागियों में श्रेष्ठ हैं और आपकी भुजा पृथिवी का भार सम्हालने में समर्थ है। विधाता ने जब इस प्रकार के आपको बना लिया था तब फिर चन्द्रमा को क्यों गढ़ा, सूर्य क्यों बनाया, चिन्तामणि की उत्पत्ति क्यों की और बिना काम इन कुलपर्वतों की सृष्टि क्यों की।

इस उदाहरण में [पूर्वार्द्धगत] 'लावण्य के घर' आदि पदार्थों का [उत्तरार्ध के] चन्द्रमा आदि के साथ क्रमिक सम्बन्ध सीधे सीधे प्रतीत हो जाता है इसलिए यथासंख्य शाब्द है। [द्वितीय का उदाहरण] यथा—

'कज्जल, हिम और सुवर्ण सी कान्ति वाले, गरुड, वृष और हंस को वाहन बनाए हुए, समुद्र, पर्वत और कमल पर विराजमान विष्णु, शिव और ब्रह्मा तुम्हारा हमारा कल्याण करें।'

यहाँ गरुड आदि से सम्बद्ध कज्जल आदि का विष्णु आदि से सम्बन्ध शब्दतः समुदायगत रूप से प्रतीत होता है। अवयवों का क्रमिक सम्बन्ध अर्थ पर विचार करने से प्रतीत होता है। इस कारण [यहाँ] यथासंख्य आर्थ है ॥'

विमर्शिनी

उद्दिष्टानामित्यादि। अर्थादिति। उद्दिष्टानामेव ह्यनुनिर्देशे पौनरुक्त्यं स्यात्। सामर्थ्यादिति। वाक्यपर्यालोचनबलात्। अन्य इति। वामनादयः। यदाहुः—'उपमेयोपमानानां क्रमसंबन्धः क्रमः' इति। अनेनास्य प्राच्योक्तत्वं दर्शितम्। अव्यवहितत्वेनेति। समासाद्यभावात्। अवयवानामिति। हरिकज्जलादीनाम्।

न चास्यालंकारत्वं युक्तम्। दोषाभावमात्ररूपत्वात्। उद्दिष्टानां क्रमेणाननुनिर्देशे ह्यक्रियमाणेऽपक्रमाख्यो दोषः प्रसज्यते। यदुक्तम्—'क्रमहीनार्थमपक्रमम्' इति। तद्यथा—'कीर्तिप्रतापौ भवतः सूर्याचन्द्रमसाविव' इति। दोषाभावमात्रं च नालंकारत्वम्। तस्य कविप्रतिभात्मककविच्छुक्तिविशेषत्वेनोक्तत्वात्। सूत्रे चास्य 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' इत्यादिसूत्रोदाहरणानां 'तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः' इत्यादीनामप्यलंकारत्वप्रसङ्गः। एतच्च वक्रोक्तिजीवितकृता सप्रपञ्चमुक्तमित्यस्माभिरिह नायस्तम्। ग्रन्थकृता पुनरेतद्गुरुमतानुपातितया लक्षितम्। एवम् 'आसत्तिविप्रकर्षवतां सद्धैव उपदेशक्रम' इति लक्षितः क्रमोऽप्यनलंकार एव। दोषाभावमात्ररूपत्वात्। आदिपश्चान्निर्देश्यानामन्यथानिर्देशे ह्यपक्रमाख्य एव दोषः स्यात्। यथा—'तुरङ्गमथ मातङ्गं मे प्रयच्छ मदालसम्।' अत्र गजाश्वयोरादिपश्चान्निर्देश्ययोरन्यथानिर्देशादपक्रमत्वम्। अनयोश्च स्वरूपानिर्देशे दोषाभावमात्रत्वम्। न पुनरलंकारत्वम्। तस्मात्—

> 'अवश्य तदहो भावी वियोगो यत्र नो ध्रुवम्।
> परिच्छद-सुहृद्-बन्धु-विषयेन्द्रिय-जीवितैः ॥'

इत्यत्र परिच्छदादीनामन्यथानिर्देशे दोष एव स्यात्। न चात्र तादृक्कश्चिद्विशेष उपलभ्यते येनालंकारत्वं स्यात्। एवम्—

> 'आस्तामस्तमयोऽहमिभ्यमिभवेर्दहादिमात्रस्पृशो
> माभूद्वा चिरनिर्मलेति च मतेर्दारात्मजादिष्वपि।
> अस्माकं वसुवंशमनिष्कुटनदीसीमानुकेदारिका-
> देशग्रामशदिगादिकेष्वपि कथं सा हन्त नास्तं गता ॥'

इत्यत्रापि ज्ञेयम्।

उद्दिष्टानाम् इत्यादि। अर्थात् = पूर्वकथित अर्थों का ही पुनः निर्देश = कथन हो तो उसमें पुनरुक्ति दोष चला आवे। सामर्थ्यात् = वाक्यार्थ के सामर्थ्य से—' अर्थात् वाक्य पर विचार करने से। अन्ये = अन्य आचार्य = वामन आदि। जैसा कि [वामन ने] कहा है—'उपमेयों और उपमानों का क्रमिक संबन्ध होने से क्रम' [का सू. ४।३।१७] होता है। इससे यह अलंकार प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अतः प्रतिष्ठित है यह बतलाया गया [इससे केवल नामान्तरमात्र बतलाया गया है क्योंकि वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी और भामह ने इसे यथासंख्य नाम से ही निरूपित किया है]। अव्यवहितत्व = समास आदि न होने से। अवयवानाम् = अवयवों का = हरि कज्जल आदि का।

इसे अलंकार मानना ठीक नहीं है, क्योंकि यह दोषाभावमात्र है। यदि कथित पदार्थों का अनुकथन क्रम से न किया जाए तो 'अपक्रमत्व' नामक दोष होता है। जैसा कि कहा है—'क्रमहीन पद अपक्रमत्व दोष से युक्त होता है' [वामन काव्या० सू० २।२।२२]। इसका उदाहरण यह प्रयोग है—'आपके कीर्ति और प्रताप सूर्य और चन्द्र के समान हैं' [वामन का० सू० वृ० २।२।२२]। [यहाँ कीर्ति का उपमान चन्द्र है और प्रताप का सूर्य अतः इनका प्रयोग 'चन्द्र और सूर्य' इस क्रम से होना चाहिए था]। केवल दोषाभाव को अलंकाररूप नहीं माना जा सकता। क्योंकि अलंकार तो वह उक्ति होती है जो कविप्रतिभात्मक होती है, यह हम पहले भी कह चुके हैं। केवल दोषाभावरूप ही अलंकार हो तो 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' = [१।३।१० अ०] समान अर्थों का अनुनिर्देश यथासंख्य होता है इत्यादि [पाणिनिकृत व्याकरण-सूत्र] के उदाहरण—'सूदी, शलातुर वर्मती, कूचवार शब्दों से ढक्, छण्, ढञ्, यक् प्रत्यय होते हैं' [अ० ४।३।९४] इत्यादि में अलंकार मानना पड़ेगा। इस विषय का विवेचन वक्रोक्ति-जीवितकार ने विस्तार पूर्वक [वक्रोक्तिजीवित-२] किया है इसलिए यहाँ [हम इस विषय पर अधिक] श्रम नहीं किया चाहते। ग्रन्थकार ने इस [यथासंख्य] का लक्षण इसलिए किया है कि वे उद्भटाचार्य के मत के अनुयायी हैं।

इसी प्रकार 'आसत्ति [सम्बन्ध] और विप्रकर्ष [दूरी] से युक्त पदार्थों का उन्हीं [सम्बन्ध तथा दूरी] को लेकर हुआ कथनक्रम [क्रमालंकार कहलाता है]'—इस प्रकार कथित क्रम भी अलंकार नहीं है, क्योंकि वह भी दोषाभावमात्ररूप है। पूर्वपश्चाद्भाव के क्रम के साथ कहे जाने योग्य पदार्थों का कथन यदि वैसा नहीं हो तो अपक्रमत्वनामक दोष ही होता है। अलंकारत्व नहीं। इस कारण—

'अहो! जहाँ परिचारक, मित्र, बन्धुबान्धव, [रूपादि] विषय, इन्द्रियाँ तथा प्राणों से हमारा वियोग अवश्य ही होने वाला है।' इसमें परिचारक आदि का कथन यदि इस क्रम से न हो तो दोष ही होगा। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के कथन में ऐसा कोई वैशिष्ट्य भी नहीं मिलता जिससे इसे अलंकार माना जा सके। इसी प्रकार—

'देह आदि में अहंत्व [आत्मत्व] का अभिमान मिटना [तो] दूर रहे, स्त्री पुत्रादि में भी ममत्व की बुद्धि भले ही दूर न हो; आश्चर्य और खेद इसका है कि धन, घर, बाग-बगीचे, नदीतट, उसके पास की क्यारियाँ, देश, राजा, दिशाओं आदि के प्रति भी वह- [ममत्व बुद्धि] समाप्त नहीं हो रही है।' यहाँ भी जानना चाहिए। [इस पद्य में तथा 'अवश्यं०' पद्य में जो द्वन्द्व समास है उसमें पदों का क्रम पदार्थों के महत्त्व के आधार पर निर्धारित किया गया है]॥

विमर्शिनीकार यथासंख्य को भी काव्यलिङ्ग के ही समान अलंकार नहीं मानते। पण्डितराज ने भी अपना मत इसी पक्ष में दिया है। यथासंख्य निरूपण के अन्त में उन्होंने लिखा है—

'यथासंख्यमलंकारपदवीमेव तावत् कथमारोढुं प्रभवतीति तु विचारणीयम्। न ह्यस्मिं-ल्लोकसिद्धे कविप्रतिमानिर्वर्तितत्वस्यालंकारताजीवातोर्लेशतोऽप्युपलब्धिरस्ति येनालंकारव्यपदेशो मनागपि स्थाने स्यात्। अतोऽपक्रमत्वरूपदोषाभाव एव यथासंख्यम्। एवं चोद्भटमतानुयायिना-मुक्तयः कूटकार्षापणवदरमणीया एव। एतेन यथासंख्यमेव क्रमालंकारसंज्ञया व्याहरतो वामनस्यापि गिरो व्याख्याता इति तु नव्याः।'

'विचार यह करना चाहिए कि यथासंख्य अलंकारपद को ही कैसे प्राप्त करता है। यह तो एक लोकसिद्ध तथ्य है। इसमें अलंकारत्व का प्राण कविप्रतिभाप्रसूतत्व लेशमात्र को भी प्राप्त नहीं होता, जिससे अलंकार कहना जरा भी उचित हो। इसलिए यथासंख्य अपक्रमत्वनामक

दोष का अभाव ही है। इस प्रकार रुद्रट का मत मानने वालों का कथन नकली कार्षापण के समान सर्वथा अरमणीय ही है। और इसीलिए यथासंख्य को ही क्रमालंकार नाम से पुकारने वाले वामन के कथन की भी जाँच हो जाती है। इस प्रकार नवीन आचार्य यथासंख्य और क्रम को दोषाभाव ही मानते हैं।'

स्पष्ट है कि पण्डितराज ने विमर्शिनी का ही अक्षरशः अनुगमन किया है।

विमर्शिनी और रसगङ्गाधर के इन प्रतिवादी स्वरों का मूल शोभाकर का रत्नाकर है। रत्नाकर में शोभाकर ने भी यथासंख्य को अलंकार नहीं माना है। उन्होंने क्रमालंकार नामक पर्यायालंकार के एक भेद के प्रकरण में लिखा है—

'येनोद्देशः क्रमेणादावपरेण पुनर्यदि।
क्रियते प्रतिनिर्देशो दोषः प्रक्रमभङ्गतः॥
अथ दोषनिरासार्थं क्रमस्तद्वत् प्रवर्तते।
यथासंख्यमलङ्कारो न स्याद् दोषनिवृत्तितः॥
तस्याश्चालङ्कृतित्वे स्यादेकैकस्य पदस्य सा।
पौनरुक्त्यादिविरहात् तेन नेदमलङ्कृतिः॥
एकैकस्य विशेष्यस्य सन्निधौ यद् विशेषणम्।
यथायोगाभिधो वाच्य सोऽलङ्कारस्तत् पृथक्॥
वैचित्र्यविरहान्नैवमिष्यते चेत् समं द्वयोः।
क्रमेण युगपद् वापि न हि बुद्धिर्विशिष्यते॥

'आरम्भ में जिस क्रम से पदार्थों का कथन हो, प्रतिनिर्देश यदि [उसी क्रम से न होकर] भिन्न क्रम से होता है तो वह 'प्रक्रमभङ्ग' नामक दोष है। यदि इस दोष की निवृत्ति के लिए वही क्रम रखा जावे तो इसे यथासंख्य कहा जाएगा किन्तु यह अलंकार नहीं होगा क्योंकि यह तो दोषाभावमात्र होगा। इस दोषनिवृत्तिरूप दोषाभाव को यदि अलंकार माना गया तो यह एक ही पद्य में जितने पदों में दोषनिवृत्ति रहेगी उतने सब पदों में एक एक करके अनेक संख्या में माना जाएगा। और इतना ही नहीं पुनरुक्ति आदि सभी दोषों की निवृत्ति में अलंकारत्व मानना होगा। इसलिए यह [यथासंख्य] अलंकार नहीं है। यदि इसे अलंकार मानें तो जहाँ एक एक विशेष्य के लिए एक एक विशेषण का प्रयोग किया जाता है वहाँ [लावण्यौकसि० आदि पद्यों में] एक 'यथायोग' नामक भी अलंकार मानना होगा। यदि उसमें वैचित्र्य का अभाव बतलाकर उसे अलंकारत्वशून्य बतलाया जाए तो यही तर्क यथासंख्य में भी लागू होगा। सच यह है कि पदार्थों का ज्ञान क्रम से हो या अन्यथा, ज्ञान में कोई अन्तर नहीं आता।'

रत्नाकरकार को इतने से संतोष नहीं हुआ। उन्होंने दबे स्वर में यथासंख्य को दोष भी बतलाना चाहा—

'प्रत्युत विशेष्यपदनिकट एव विशेषणपदोपादानेन नैराकाङ्क्ष्येण प्रतिपत्तेरस्त्येव विशेषः। यथासंख्ये तु विशेष्याणां विशेषणानां च पृथग् पृथगुपादान व्यवहितसमन्वयेन साकाङ्क्षत्वात्।'

—'यदि यथायोग' को अलंकार माना जाय तो वह कुछ दूर तक मान्य भी है क्योंकि विशेषणों का अपने विशेष्यों के साथ प्रयोग होने वाक्यार्थप्रतीति बिना आकांक्षाव्यवधान के हो जाती है। यह भी एक विशेषता मानी जा सकती है। यथासंख्य में तो उलटे आकांक्षा का व्यवधान रहता है क्योंकि उसमें विशेष्य और विशेषणों का उपादान पृथक् पृथक् होता है।'

रत्नाकर ने निम्नलिखित चोट और की—

'किं चायं यथासंख्यालंकारः किम् अर्थस्य, शब्दस्य वा ? न तावदर्थस्य ०००० अर्थस्य क्रमासंभवात्। न द्वितीयः अनुप्रासादिवच्छब्दस्य चारुताऽप्रतीतेः। तत्राभिधेयक्रमः, येनालंकारः, अपितु क्रमेणाभिधानम्। न चाभिधानालंकारः कश्चिदस्ति।'

—'यथासंख्य अलंकार किसका है ? अर्थ का या शब्द का ? अर्थ का हो नहीं सकता क्योंकि [इसके लिए उदाहृत पद्यों में] अर्थ में क्रम नहीं रहता। दूसरा भी नहीं क्योंकि शब्द में अनुप्रासादि के समान चारुता की प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार अभिधेय का क्रम तो यहाँ है नहीं जिससे यह अलंकार हो सकता, यहाँ तो होता है क्रम से अभिधान और अभिधान नाम का तो कोई अलंकार होता है नहीं।' यहाँ रत्नाकर ने यह बतलाना चाहा है कि सिलसिला नहीं, तरतमता ही अभिधेयों का क्रम कहला सकती है। यथासंख्य में सिलसिला रहता है और तरतमता पर्याय और पर्याय के ही सगे भाई क्रम नामक अलंकार में। सिलसिला अर्थ या अभिधेय की विशेषता नहीं अभिधान की विशेषता है। अभिधान यदि अलंकार होता तो इसे अलंकार माना जा सकता था। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने वक्रोक्तिमात्र को काव्य का अलंकार माना है और वक्रोक्ति को माना है 'विचित्र अभिधा'—स्वरूप। अभिधा और अभिधान समानार्थी शब्द हैं। इस प्रकार अभिधान को अलंकार मानने का पक्ष उठाया जा सकता है। और महिमभट्ट ने उठाया भी है तथापि यह कल्प टिक नहीं पाता, क्योंकि वक्रोक्तिजीवितकार के अभिधाशब्द का अर्थ अभिधानामक शब्दव्यापार नहीं, अपितु उक्तिप्रकार है जो कविकर्म के अन्तर्गत आता है। विमर्शिनीकार ने जो वक्रोक्तिजीवितकार का इस प्रसंग में उल्लेख किया है वह केवल वैचित्र्यमात्र को अलंकारत्वाधायक मानने के लिए। वक्रोक्तिजीवित शब्द ही प्रमाणित करता है कि वक्र उक्ति ही अलंकार है क्योंकि वक्रोक्तिजीवितकार ने स्पष्ट कहा है—'काव्य अलंकृत नहीं किया जाता अपितु अलंकृत वस्तु काव्य बनती है—'सालङ्कारस्य काव्यता।' इस प्रकार उनके मत में अलंकार जो वक्रोक्तिस्वरूप है, काव्य का जीवातु अर्थात् प्राण है। यथासंख्य में विमर्शिनीकार किसी प्रकार की वक्रता का अनुभव नहीं करते अतः उनकी दृष्टि में यह अलंकार नहीं कहा जा सकता। इनके विरुद्ध दण्डी, भामह, उद्भट, रुद्रट और मम्मट ने यथासंख्य को अलंकार माना है। इनके विवेचन इस प्रकार हैं—

दण्डी = 'उद्दिष्टानां पदार्थानामनूद्देशो यथाक्रमम्।
यथासंख्यमिति प्रोक्तम्।' [२।२७३ काव्यादर्श]॥

—'कथित पदार्थों का उसी क्रम से अनूद्देश यथासंख्य कहलाता है।'

भामहः—'भूयसामुपदिष्टानामर्थानामसधर्मणाम्।
क्रमशो योऽनुनिर्देशो यथासंख्यं तदुच्यते' ॥ २।८९ ॥

—पहले कहे गए अनेक ऐसे पदार्थों का क्रमशः पुनः निर्देश यथासंख्य कहा जाता है जो समान धर्म से युक्त न हों।

उदा०—पद्मेन्दुभृङ्गमातङ्गपुंस्कोकिलकलापिनः।
वक्त्रकान्तीक्षणगतिवाणीवालैस्त्वया जिताः ॥ २।९० ॥

—तुमने वक्त्र, कान्ति, नेत्र, गति, वाणी तथा केशों से पद्म, चन्द्र, भृङ्ग, मातङ्ग, कोकिल तथा कलापधारी मयूरों को जीत लिया है।

भामह के लक्षण में पदार्थों का 'असाधर्म्य' एक विशेष तथ्य है। उनके उदाहरण में यद्यपि

उद्दिष्ट और अनुनिर्दिष्ट [पहले और बाद में कहे] पदार्थों में साम्य है तथापि उन पदार्थों में से केवल उद्दिष्ट और केवल अनुनिर्दिष्ट पदार्थों में कोई साम्य नहीं है।

वामन—   ...   .

उद्भटः—उद्भट ने यथासंख्य के लिए भामह की कारिका ज्यों की त्यों अपना ली है। उदाहरण के रूप में भी उन्होंने भामह से मिलता जुलता एक अनुष्टुप् अपने कुमारसंभव से उद्धृत कर दिया है—

'मृणालहंसपद्मानि बाहुचङ्क्रमणाननैः ।
निर्जितान्यनया व्यक्तं नलिन्यः सकला जिताः ।'

यहाँ 'असधर्मता' का निर्वाह पूर्वप्रदर्शित क्रम से करना होगा। वस्तुतः असधर्मत्व के लिए उद्भट का उदाहरण ठीक है। रुद्रट के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने भी एतदर्थ उन्हें ही उद्धृत किया है और असधर्मत्व की सार्थकता के लिए कहा है—'जहाँ उपमा या व्यतिरेक न भी हो, केवल दो से अधिक पदार्थों में यथासंख्य अन्वय रखा गया हो तो वहाँ भी चमत्कार का अनुभव होता है'।

रुद्रट—'निर्दिश्यन्ते यस्मिन्नर्था विविधा यथैव परिपाट्या ।
पुनरपि तत्प्रतिबद्धास्तथैव तत् स्याद् यथासंख्यम् ॥ ७।३४ ॥
तद् द्विगुणं त्रिगुणं वा बहुषूद्दिष्टेषु जायते रम्यम् ।
यत्र तेषु तथैव तयो द्वयोस्तु बहुशोऽपि कर्त्तव्यम् ॥ ७।३५ ॥

'जिसमें विविध [अर्थात् असधर्मा] पदार्थ पहले जिस परिपाटी = क्रम से कहे गये हों बाद में भी उसी क्रम से कहे गए हों तो वह वास्तव वर्ग का यथासंख्य नामक अलङ्कार होता है।'

वह अनेक पदार्थों के दो या तीन बार कथन में [अधिक] सुन्दर होता है। यदि केवल दो पदार्थों में ही यथासंख्यभाव लाना हो और यह अलङ्कार निष्पन्न करना हो तो दो दो पदार्थों का यह क्रम एकाधिक बार उपनिबद्ध किया जाना चाहिए। उदाहरण—

(१) कज्जल-हिम-कनकरुचः सुपर्ण-वृष-हंसवाहनाः शं वः ।
जलनिधि-गिरि-पद्मस्था हरि-हरचतुराननाः ददतु ॥ ७।३६ ॥

(२) दुग्धोदधिशैलस्थौ सुपर्णवृषवाहनौ घनेन्दुरुचौ ।
मधुमकरध्वजमथनौ पातां वः शार्ङ्गशूलधरौ ॥ ७।३७ ॥

'काजल, हिम तथा सुवर्ण सी कान्ति वाले, गरुड वृष तथा हंस पर आरूढ होने वाले, समुद्र, पर्वत तथा कमल में निवास करने वाले विष्णु, शिव, ब्रह्मा आपको शान्ति दें।

'दुग्धोदधि तथा पर्वत पर रहने वाले, गरुड तथा वृषभ पर आरूढ होने वाले, मेघ तथा चन्द्र के समान कान्तिवाले, मधु तथा काम के हन्ता; शार्ङ्ग तथा शूल धारण करने वाले [विष्णु तथा शिव] आपकी रक्षा करें।

ध्यान देने की बात है कि यहाँ उपर्युक्त दोनों ही योजनाओं के पदार्थों में साम्य नहीं है। भामह तथा उद्भट के 'असधर्मत्व' विशेषण को 'विविध' शब्द से अपना कर उसमें ठीक निर्वाह रुद्रट ने ही किया। दण्डी ने ऐसा कोई विशेषण दिया ही नहीं था। मम्मट ने भी यह विशेषण नहीं दिया किन्तु 'साधर्म्याभाव' को स्वीकार अवश्य किया। उनके उदाहरण से यह तथ्य प्रमाणित है।

मम्मट—'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।'

—'क्रम से कथित पदार्थों का क्रम से ही अन्वय यथासंख्यालङ्कार कहलाता है।'

उदाहरण = 'एकत्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र देव द्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ।
ताषं च संमदरसं च रतिं च पुष्णन् शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥'

—'आश्चर्य की बात है कि देव ! आप शत्रु विद्वान् और सुन्दरियों के चित्तों में शौर्योष्मा, विनय और चेष्टाओं से ताप, हर्ष तथा रति पुष्ट करते हुए तीन रूपों में बसते हैं ।'

इन सभी आचार्यों ने अलंकार को चारुत्व या सौन्दर्य का आधायक तत्त्व माना है। निश्चय ही इन्हें यथासंख्य में भी कोई न कोई सौन्दर्य सूझता होगा। इसी प्रकार रत्नाकरकार को छोड़ परवर्ती आचार्यों ने भी यथासंख्य को इस प्रकार अलंकार माना है—

दीक्षित = 'यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।
शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रंजय भंजय ॥'

शत्रु मित्र और विपत्ति को जीतिए, प्रसन्न कीजिए और नष्ट कीजिए ।'

पण्डितराज = 'उपदेशक्रमेणार्थानां सम्बन्धो यथासंख्यम् ॥

—कथनक्रम से अर्थों का संबन्ध यथासंख्य कहलाता है ।'

विश्वेश्वर = 'निर्देशक्रमतो यदि समन्वयस्तद् यथासंख्यम् ।'

—'यदि निर्देशक्रम से सम्बन्ध हो तो उसे यथासंख्य कहते हैं ।'

इस प्रकार सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों ने भी यथासंख्य में सौन्दर्य पाया है। प्रश्न उठता है कि इन पुराणवादी आचार्यों की मान्यता कहाँ तक तथ्यात्मक है। इसका उत्तर रुद्रट ने दिया है। उन्होंने कहा है—

यथासंख्य अपने आप में सुन्दर नहीं होता। वह सुन्दर तब बनता है जब उसमें अनेक अर्थ द्विगुण या त्रिगुणरूप [दो दो तीन तीन के वर्ग] में क्रम लिए हुए कथित हों—
'तद् द्विगुणं त्रिगुणं वा बहुषूदितेषु जायते रम्यम्' [७।३५]'

नमिसाधु ने 'द्विगुण त्रिगुण' इन संख्यावाचक शब्दों का तात्पर्य इससे अधिक संख्या के प्रतिषेध में बतलाया है। वस्तुतः उदाहरण तीन से अधिक अर्थों के समुदाय के भी मिलते हैं। भामह द्वारा निर्मित उदाहरण 'पद्मे०' ऐसा ही उदाहरण है। 'कज्जल०' पद्य त्रिगुण विशेषणों से अधिक का उदाहरण है। यद्यपि यह सत्य है कि ऐसा विशेषण यदि बहुत अधिक हो जाय तो वक्ति पहेली जैसी हो सकती है। रुद्रट के उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि सम्बद्ध अर्थों में वर्गनिर्माण और क्रमविधान से कोई नवीनता अवश्य ही आती है। यह प्रवृत्ति कवि प्रज्ञापूर्वक अपनाता है, प्रमादपूर्वक नहीं। फलतः यह उसकी अशक्ति नहीं, अपितु शिल्पयोजना है। दोष तो अशक्ति से आता है। कवि चाहे तो उसी वाक्य की रचना वर्गविहीन क्रम से भी कर सकता है, अतः वर्गयोजना उक्ति का आवश्यक धर्म नहीं है। इस प्रकार उक्त आचार्यों का इसे अलंकार मानना युक्तिसंगत है। अनुभव भी इसका अनुमोदन करता है। 'तूदी-शलातुर-वर्मती-कूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः' सूत्र और 'पद्मेन्दु०' या 'कज्जलहिम०' वाक्य परस्पर में उक्ति की समानता रखने पर भी अनुभूति या प्रभाव में भिन्न हैं। मम्मट के उदाहरण पद्य में तो चमत्कार का कोई अन्य हेतु भी नहीं मिलता। उसमें न तो भामह और रुद्रट के उदाहरणों के समान व्यतिरेक का पुट है और न दण्डी के उदाहरण के समान उत्प्रेक्षा का।

क्रमालंकार = यथासंख्य को क्रम नाम से पुकारने का जो उल्लेख सर्वस्व में मिलता है वही

रत्नाकर [क्रमालङ्कार], कुवलयानन्द [यथासंख्यालंकार] तथा रसगंगाधर में मिलता है। इसका मूल विमर्शिनीकार ने वामन के विमर्शिनी में ही उद्धृत और उदाहृत क्रमालंकार को माना है। वामन का क्रम उपमानोपमेय तक सीमित है अतः उसमें क्रम रहने पर भी सौन्दर्य-निष्पत्ति में उसका स्वतन्त्र महत्त्व नहीं है। वस्तुतः इसका मूल दण्डी में ही है। दण्डी ने इसे न केवल क्रम नाम से ही, अपितु 'संख्यान' नाम से भी पुकारा जाना बतलाया है—

'उद्दिष्टानां ० ०० श्लोक—'क्रमयान क्रम इत्यपि ॥' इस प्रकार दण्डी के पूर्वोद्धृत यथासंख्य-लक्षण की कारिका का चतुर्थ चरण 'संख्यान क्रम इत्यपि' है। भामह के काव्यालंकार से विदित होता है कि मेधावी नामक किसी अलङ्कारशास्त्री की कोई ऐसी भी परम्परा मिलती थी जिसमें यथासंख्य और उत्प्रेक्षा का 'संख्यान' कहा जाता था। [२।८८]

रत्नाकरकार ने—

[क्रमेण] आरोहावरोहादि. क्रम ॥ ९२ सू० ॥

'किसी वस्तु का अधिक पद ऊंचा स्थान प्राप्त करना या उसके विपरीत क्रम या निम्न स्थान प्राप्त करना क्रम कहलाता है।'—इस प्रकार एक क्रम नामक अलंकार तो माना है किन्तु उसका यथासंख्य की अभिव्यक्ति से सर्वथा पार्थक्य है। रत्नाकरकार ने इसमें आरोह का उदाहरण 'नन्वाश्रयस्थिति'—यह पद्य दिया है जिसमें मम्मट ने और सर्वस्वकार ने पर्याय नामक अलंकार माना है।

पाठभेद = निर्णयसागरीय प्रति में सूत्र तथा वृत्ति दोनों में 'अनुनिर्देश' के स्थान पर 'अनूद्देश' छपा है। विमर्शिनी तथा सञ्जीविनी दोनों में अनुनिर्देश ही पाठ है। अन्य प्रतियों में भी यही पाठ छपा है। प्राचीन आचार्यों के पूर्वोद्धृत उद्धरणों में दोनों ही शब्दों का प्रयोग है। दण्डी में 'अनूद्देश' शब्द है और भामह में 'अनुनिर्देश'। अन्य अलंकारों में सर्वस्वकार की परम्परा भामह से मिलती है किन्तु इस अलंकार में ऐसा लगता है कि सर्वस्वकार दण्डी से अधिक प्रभावित है। इस कारण कदाचित् 'अनूद्देश' शब्द ही मूल शब्द है।

उद्भटानुयायिता = विमर्शिनी तथा रसगंगाधर में यथासंख्य को अलंकार मानने की परम्परा का आरम्भ उद्भट से माना गया है। सर्वस्वकार को दोनों ने उद्भटानुयायी कहा है। वस्तुतः इन्हें भामहानुयायी अथवा दण्ड्यनुयायी कहना चाहिए। उद्भट का यथासंख्य लक्षण अक्षरशः भामह का ही लक्षण है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती ने यथासंख्य पर निम्नलिखित कारिका इस प्रकार बनाई है—

> 'प्रागुक्तानामनुक्तैस्तु सम्बन्धः क्रमिको यदा।
> यथासंख्यं तदा शाब्दमार्थञ्चेति द्विधा मतम् ॥'

पूर्व कथित अर्थों का अकथित अर्थों के साथ क्रमिक सम्बन्ध यथासंख्य कहलाता है। वह शाब्द और आर्थ इस प्रकार दो प्रकार का होता है।

उक्त इतिहास से विदित होता है कि यथासंख्य का आर्थ भेद प्रथमतः सर्वस्वकार ने ही बतलाया है। इसी प्रकार मम्मट के पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों के लक्षण में कथन और अनुकथन जिन अर्थों का हो वे भिन्न हों ऐसा स्पष्टीकरण नहीं है। सर्वस्व के लक्षण में 'उद्दिष्टानाम्' इस पद की षष्ठी का सम्बन्ध 'क्रमेण' के 'क्रम' पदार्थ के साथ करने पर यह अर्थगत भेद स्पष्ट हो जाता है।

[सर्वस्व]

[सू० ६१] एकमनेकस्मिन्ननेकमेकस्मिन् क्रमेण पर्यायः ।

क्रमप्रस्तावादिदमुच्यते । एकमाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यत् तिष्ठति स एकः पर्यायः । ननु 'एकमनेकगोचरमिति प्राक्तनेन लक्षणेन विशेषालंकारोऽप्युक्तः, तत्किमर्थमिदमुच्यते' इत्याशङ्क्योक्तम्—क्रमेणेति । इह च क्रमोपादानादर्थात्तत्र यौगपद्यप्रतीतिः । तेनास्य ततो विविक्तविषयत्वम् । तथा—एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेयं यत् स द्वितीयः पर्यायः ।

नन्वत्र समुच्चयालंकारो वक्ष्यते इत्येतदर्थमपि क्रमेणेति योज्यम् । अत एव 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः' इति समुच्चयलक्षणे यौगपद्यग्रहणम् । अत एव क्रमाश्रयणात् पर्याय इत्यन्वर्थमभिधानम् । विनिमयाभावात्परिवृत्तिवैलक्षण्यम् । तस्या हि विनिमयो लक्षणत्वेन वक्ष्यते ।

तत्रानेकोऽसंहतरूपः संहतरूपश्चेति द्विविधः । तच्च द्वैविध्यमाधाराधेयगतमिति चत्वारोऽस्य भेदाः । क्रमेणोदाहरणानि—

'नन्वाश्रयस्थितिरियं किल कालकूट केनोत्तरोत्तरविशिष्टपदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुनः खलानाम्' ॥

'विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागारुणिताच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥'

'निशासु भास्वत्कलनूपुराणां यः संचरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥'

'यत्रैव मुग्धेति कृशोदरीति प्रियेति कान्तेति महोत्सवोऽभूत् ।
तत्रैव दैवाद् वदने मदीये पत्नीति भार्येति गिरश्चरन्ति ॥'

अत्र कालकूटमेकमनेकस्मिन्नसंहते आश्रये क्रमेण स्थितिमन्निबद्धम् । करश्चैकोऽनेकस्मिन्संहते क्रमवान्, अधरकन्दुकयोर्निवृत्त्युपादानतया संहतत्वेन स्थितत्वात् । अभिसारिकाः शिवाश्चानेकस्वभावा असंहतरूपा एकस्मिन्नाश्रये राजपथे क्रमवर्तिन्यः । वदने चैकस्मिन्नाश्रये मुग्धत्वादिवर्गः पत्नीत्वादिवर्गश्च वर्गत्वादेव संहतरूपोऽनेकः क्रमवानुपनिबद्धः ।

[सूत्र ६१] एक का अनेक में तथा अनेक का एक में क्रम से रहना पर्याय [नामक अलंकार कहलाता है] ॥

क्रम का प्रकरण है, इसलिए [पर्याय का] यह [लक्षण] यहाँ कहा जा रहा है । एक आधेय का अनेक आधार में जो रहना वह एक प्रकार का पर्याय होता है ।

शंका होती है कि 'एक का अनेक में दिखाई देना' इस लक्षण के अनुसार ऐसे स्थलों में विशेषालंकार बतला ही दिया गया है तब यह क्यों बतलाया जा रहा है ।

यही दशा करके कहा क्रमेण = क्रम से। यहाँ क्रम का उपादान करने से सिद्ध हुआ कि वहाँ [विशेषालंकार के उक्त भेदमें] यौगपद्य रहता है। उसे लेकर इसका विषय भिन्न भिन्न हो जाता है। इसी प्रकार एक आधार में जो अनेक आधेय का रहना वह दूसरा पर्याय होता है।

शङ्का होती है 'ऐसी स्थिति में आगे समुच्चयालङ्कार बतलाया जायगा'। [उत्तर] जी हाँ, इसीलिए यहाँ भी 'क्रम से' इस पद की योजना सूत्र में कर देनी चाहिए। इसीलिए समुच्चय के 'गुण और क्रिया का यौगपद्य समुच्चय' इस लक्षण में यौगपद्य का ग्रहण किया जायगा। और इसीलिए इसका पर्याय नाम भी सार्थक है, क्योंकि इसमें क्रम अपनाया जाता है। इसमें विनिमय नहीं रहता इसलिए इसका परिवृत्ति से भी भेद है। उस [परिवृत्ति] में विनिमय को लक्षण बतलाया जाएगा।

इसमें अनेकत्व से युक्त पदार्थ दो प्रकार के होते हैं संहत [इकट्ठे] तथा असंहत [अलग अलग] इसके अतिरिक्त आधार और आधेय को लेकर जो द्वैविध्य है वह है ही। फलतः इसके चार भेद हो जाते हैं। इनके क्रमशः उदाहरण—

[असंहत अनेक आधारों में एक आधेय]

हे! कालकूट [विषराज] आश्रय की यह उत्तरोत्तर उत्कृष्ट पद वाली स्थिति तुझे किसने सिखलाई है। पहले तू समुद्र के हृदय में था, फिर शिव के कण्ठ में पहुँचा और अब खलों की वाणी में रह रहा है।'

[संहत अनेक आधारों में एक आधेय—]

'राग [रञ्जक द्रव्य] युक्त अधर और स्तनों के अंगराग से अरुण कन्दुक से हटाया हुआ [अपना] हाथ, जिसकी उंगलियाँ कुशांकुर उपाटने से जहाँ तहाँ छिल गई थीं उस [पार्वती] ने रुद्राक्षमाला का प्रेमी बना दिया।' [कुमार सं० ५]

[असंहत अनेक आधेयों का एक आधार]—

[मेरा] वही राजपथ जो रात्रिकाल में चमकते और कलरव से युक्त नूपुर पहिनी अभिसारिकाओं का संचारपथ बना रहता था, इस समय बोलते समय मुँहसे निकली लुकाठियों की झिलमिलाहट में मांस खोज रही सियारिनियों द्वारा रौंदा जाता रहता है। [रघुवंश–१६]॥

[संहत अनेक आधेयों का एक आधार]

'जिसमें मुग्धा, कृशोदरी, प्रिया, कान्ता इस प्रकार के शब्दों के बोलने का महान् उत्सव चला करता था, मेरे उसी मुख में इस समय दैवगति से पत्नी और भार्या आदि शब्द घूमते रहते हैं।'

इनमें [से प्रथम में] एक ही कालकूट अनेक अलग अलग आधारों में क्रम से अवस्थित बतलाया गया। [द्वितीय में] एक ही हाथ अनेक एकत्रित [एक ही स्थान पर इकट्ठे] पदार्थों में क्रम से [निवृत्तिशाली] बतलाया गया। क्योंकि अधर और कन्दुक यहाँ निवृत्ति विषय के रूप में [एकत्रित] संहत रूप में विद्यमान हैं। [तृतीय से] अभिसारिकाएं और सियारिनियाँ अनेक स्वभाव की हैं और [अलग अलग समय में रहने वाली अतः] असंहत हैं, साथ ही एक राजपथ रूपी आधार क्रम से संचारयुक्त बतलाई गई हैं। [चतुर्थ में] मुखरूपी एक ही आश्रय में मुग्धात्व आदि के वाचक शब्दों के वर्ग और पत्नीत्व आदि के वाचक शब्दों के वर्ग जो वर्गत्व के कारण परस्पर संहत तथा अनेकरूप हैं क्रम से विद्यमान बतलाए गए हैं।

विमर्शिनी

एकमित्यादि। इदमिति पर्यायलक्षणम्। तदेव व्याचष्टे—एकमित्यादिना। एक इति द्वितीयापेक्षया। अतश्च द्वौ पर्यायौ। न पुनरेक एव। सामान्यलक्षणायोगात्। अत एव काव्यप्रकाशकृता पृथगेतौ लक्षितौ। यदाह—'एकं क्रमेणानेकस्मिन्पर्यायः' इति, 'अन्यस्ततोऽन्यथा' इति च। ग्रन्थकृता त्वनयोरन्यान्यस्यान्यथा ग्रहणेन क्रमान्यथाभावोऽपि प्रसक्त इति दूषणोद्भावनयैवं लक्षणं कृतम्। एवं 'क्रमेणैकमनेकमन्यथा वा पर्याय' इत्यपि न समुचितं तस्यैव प्रयोजनं दर्शयति—नन्वित्यादिना। किमर्थमिति। विशेषालंकारेणैव तत्प्रतीतिसिद्धेः। अर्थादिति। पारिशेष्यात्मकात्सामर्थ्यादित्यर्थः। तेनेति। क्रमयौगपद्यस्वरूपत्वेनेत्यर्थः। तत इति। विशेषात्। तथेत्यादि। अत्रापि क्रमग्रहणस्य प्रयोजनं दर्शयति—नन्वित्यादिना। अत एवेति। विशेषसमुच्चययोर्यौगपद्यसंभवात्। अन्वर्थमिति। 'परावनुपात्यय इण्' इत्यनेनानुपात्यये गम्यमाने घञो विहितत्वात्। अतश्चास्यैव क्रमार्थाभिधायित्वात्क्रमोऽपि पृथगलंकारतया न लक्षणीयः। अथात्रारोहावरोहयोरधिकयोः प्रतीतिरस्तीति पृथगेवास्य पृथग्लक्षणमिति चेत्। एवं तर्ह्याधाराधेयानां परस्परं विलक्षणत्वाभ्यामप्यलंकारान्तरप्रणयनं स्यात्। तयोरप्यधिकयोः पर्याये संभवात्। न चात्र तावत्कश्चिदतिशय उपलभ्यते, येन पृथगलंकारत्वमपि स्यात्। एवमारोहादिना यदत्र वैलक्षण्यमवगम्यते तदेतद्भेदत्वे निमित्तम्, न पुनः पृथगलंकारतायाम्। एकस्यानेकत्रान्यथा वा क्रमेणावस्थानाख्यस्य सामान्यलक्षणस्याप्यनुगमात्। एवं—

> 'यदेकस्मान्निवृत्तोऽयं आधारान्तरमाश्रयेत्।
> स पर्यायो निवृत्तौ तु क्रमोऽयं बहुधा स्थितः॥'

इत्यपि पर्यायादस्य पृथक्त्वे निमित्तं न वाच्यम्। निवृत्त्यनिवृत्त्योर्विच्छित्तिविशेषत्वाभावात्। तस्मादस्य पर्याय एवान्तर्भावात्पृथग्लक्षणप्रणयनं नवनवालंकारप्रदर्शनहेवाकमात्रमेवेत्यलं बहुना॥

ननु चैकानेकरूपस्य वस्तुनोऽन्यत्र प्राप्तेः परिवृत्तिरेवायं किं त्वयाशङ्क्याह—विनिमयेत्यादि। संहतरूप इति। संघातरूप इत्यर्थः। अस्येति शब्दसामान्यमपेक्ष्योक्तम्। असंहते इति। आश्रयाणामनेकत्वात्। क्रमेणेति। हृदयाद्यनुक्रमात्। एवमप्येकस्यैव कालकूटस्योत्तरोत्तराधिकस्थानासादनादारोहणप्रतीतिः। अवरोहो यथा—'शिरः शार्वं स्वर्गात्' इत्यादि। अत्र गङ्गाया उत्तरोत्तरस्थानासादनम्। संहते इति। अधरकन्दुकादेरनेकस्याश्रयत्वात्। क्रमवर्तिन्य इति। अभिसारिकाशिवानामतीतवर्तमानकालावच्छिन्नत्वात्। मुग्धत्वादीनां बहुत्वाद् वर्गत्वम्।

एकम् इत्यादि। इदम् = यह = पर्यायलक्षण। उसी की व्याख्या करते हैं—एकम्। एक = द्वितीय की अपेक्षा। इसलिए पर्याय दो हुए, एक नहीं, क्योंकि इसमें सामान्यलक्षण नहीं बनता। इसीलिए काव्यप्रकाशकार ने इनके लक्षण अलग अलग किए हैं। 'एक क्रम से अनेक में [एक] पर्याय होता है' इस प्रकार एक का लक्षण किया है और 'दूसरा पर्याय उस [प्रथम] से उलटा' इस प्रकार दूसरा लक्षण। ग्रन्थकार ने इसके विपरीत यहाँ इन दोनों का जो इस प्रकार मिलित लक्षण बनाया है वह इस दोष की शंका से कि दूसरे को अलग बतलाकर यदि प्रथम से उलटा बतलाया गया तो [एकता और अनेकता के उलटाव के साथ ही] क्रम में भी उलटाव की संभावना होने लगती [जबकि क्रम दोनों में समानरूप से अवस्थित रहता है]। इस प्रकार [रत्नाकरकार द्वारा बनाया गया] 'क्रम से एक अनेक में या उलटा पर्याय [कहलाता है]' यह लक्षण भी

ठीक नहीं है। उस [क्रम] का प्रयोजन बतलाते हैं—ननु० इत्यादि पंक्ति के द्वारा। किमर्थम् = विशेषालङ्कार से ही उसकी प्रतीति हो सकती थी तब इसे क्यों अलङ्कार माना गया। अर्थात् = पारिशेष्यरूपी सामर्थ्य से। तेन = उससे = क्रम और यौगपद्य से। ततः = उससे = विशेष से। तथा = यहाँ भी क्रमशब्द अपनाने की आवश्यकता बतलाते हैं—'ननु०'। अत एव = इसीलिए = विशेष और समुच्चय में यौगपद्य रहने से। अन्वर्थम् = सार्थक = क्योंकि 'परि उपसर्गपूर्वक इण् धातु से अनुपात्यय [= परिपाटी = क्रम] अर्थ निकल रहा हो तो 'इण्प्रत्यय होता है' [पा० सू० ३।३।३८ 'क्रमप्राप्तस्यानतिपातोऽनुपात्यय'-काशिका] इस सूत्र से अनुपात्यय अर्थ की व्यंजना में इण प्रत्यय के विधान से पर्यायशब्द बना है। इस प्रकार पर्याय-शब्द क्रम का वाचक है—फलतः [रत्नाकरकार के] क्रमालङ्कार को भी अलग से अलङ्कार नहीं बतलाना चाहिए। यदि कहें—'यहाँ [क्रम में] आरोह और अवरोह ये दो तत्त्व प्रतीति में अधिक भासित होते हैं अतः इसका पृथक् अलङ्कार के रूप में लक्षण ठीक ही है' [उत्तर, तो] ऐसे तो आधार और आधेय में भी परस्पर में विलक्षणताएँ रहती हैं, तब उनमें से भी एक एक के आधार पर स्वतन्त्र अलंकारों के लक्षण बनाने चाहिए, उन आधाराधेयों] में भी [आपके द्वारा स्वीकार] पर्याय के अन्तर्गत प्रत्येक के प्रति प्रत्येक दूसरे को अधिक माना जा सकता है। फिर इस [क्रम नाम से अभिहित अलंकार के आरोह अवरोह] में कोई चमत्कारभेद भी नहीं दिखाई देता, जिससे इसे पृथक् अलंकार माना जाए। यदि आरोह आदि को लेकर कोई विशेषता दिखाई देती हो तो उससे क्रम पर्याय का भेद ही सिद्ध हो सकता है, पृथक् अलङ्कार नहीं। पर्याय का 'क्रम से एक का अनेक में रहना या इससे उलटे अनेक का एक में रहना' इस आशय का जो सामान्य लक्षण [आपने बनाया] है वह दोनों में ही लागू हो जाता है। इस कारण [रत्नाकरकार द्वारा]—

'किसी के एक से हट कर दूसरे आधार में पहुँचने से पर्याय, और अनेक बार हटने मात्र से क्रम होता है।'

इस प्रकार भी क्रम को पर्याय से अलग बतलाने में जो निमित्त बतलाया गया है वह अकिंचित्कर है। निवृत्ति और अनिवृत्ति से चमत्कार में कोई अन्तर नहीं आता। इसलिए जब इसका पर्याय में अन्तर्भाव हो सकता है तब स्वतन्त्र अलंकार के रूप में अलग लक्षण बनाना और कुछ नहीं केवल नए नए अलंकारों के प्रदर्शन की हवस भर है। इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है।

शंका होती है—'अनेकरूप वस्तु की अन्यत्र प्राप्ति होने से [पर्याय का] यह [भेद] परिवृत्ति स्वरूप ही है'—इस पर उत्तर देते हैं—विनिमय०। संहतरूप = समवायात्मक। अस्य = इस [पर्याय] के [चार भेद हैं वह पर्याय] शब्द की समानता को लेकर कहा [क्योंकि दोनों पर्याय तत्त्वतः भिन्न हैं]। असंहते = अलग अलग = आश्रयों के अनेक होने से। क्रमेण = हृदय आदि के अनुक्रम से। इतने पर भी सत्य है कि यहाँ [रत्नाकरकार द्वारा प्रतिपादित] आरोहण की प्रतीति होती है क्योंकि यहाँ एक ही कालकूट की उत्तरोत्तर अधिक ऊँचे स्थान की प्राप्ति होती है। अवरोह का उदाहरण [भर्तृहरि का] यह [प्रसिद्ध] पद्य है—

'शिरः शार्वं स्वर्गात्०।'

यहाँ गङ्गा जी का उत्तरोत्तर [अवर] स्थान प्राप्त करना वर्णित है। सहते = फलित = अधर कन्दुक आदि अनेक आश्रय रूप से सहते हैं। क्रमवर्तिन्य० = क्रम से युक्त = क्योंकि अभिसारिका और सिरकट्टियाँ अतीत तथा वर्तमान काल की वस्तुएँ बतलाई गई हैं। मुग्धत्व आदि में वर्ग इसलिए है कि एकाधिक हैं॥'

विमर्श—पर्यायालंकार का इतिहास—

पर्याय को अलंकार प्रथमतः रुद्रट ने ही माना है। उन्होंने इसके दो भेद किए हैं, जिनमें से प्रथम पर्यायोक्तालंकार के अन्तर्गत आता है। द्वितीय का रूप वर्तमान पर्याय से अक्षरशः मिलता है। वह यह है—

'यत्रैकमनेकस्मिन्ननेकमेकत्र वा क्रमेण स्यात्।
वस्तु सुखादिप्रकृति क्रियेत वान्यः स पर्यायः' ॥ ७.४४ ॥

'जहाँ सुखादिस्वरूप एक वस्तु अनेक में अथवा अनेक वस्तु एक में क्रम रहे या रखी जाए तो वह पर्याय कहलाता है।' इस प्रकार चार भेद हैं [१] कर्तृरूप एक वस्तु का अनेक में रहना [२] कर्तृरूप अनेक वस्तु का एक में रहना, [३] कर्मरूप एक वस्तु का अनेक में रहना तथा [४] कर्मरूप अनेक वस्तु का एक में रहना।' रुद्रट ने इसके उदाहरण दो ही दिए हैं, किन्तु उनमें चारों भेद गतार्थ हो जाते हैं। उदाहरण ये हैं—

'कमलेषु विकासोऽभूदुदयति भानावुपेत्य कुमुदेभ्यः।
नभसोऽपससार तमो बभूव तस्मिन्नथालोकः ॥'

'सूर्य उगते ही कुमुदों से हटकर विकास कमलों में दिखाई देने लगा इसी प्रकार आकाश में अन्धकार हटा और प्रकाश आया॥'

इसमें प्रथमार्ध में कर्तृरूप एक विकास की स्थिति कुमुद और कमल रूप अनेक आधारों में दिखलाई गई है जब कि अपरार्ध में कर्तृरूप अनेक अन्धकार और आलोक की स्थिति एक ही आकाश में। इस प्रकार यह एक पद्य कर्तृमूलक दोनों भेदों का उदाहरण हुआ।

'आच्छिद्य रिपोर्लक्ष्मीः कृता त्वया देव भृत्यभवनेषु।
दत्तं भयं द्विषद्भ्यः पुनरभयं याचमानेभ्यः ॥

हे राजन्! आपने लक्ष्मी को शत्रुओं से छीना कर भृत्यों के भवनों में बसा दिया है। इसी प्रकार शत्रुओं को द्वेष करने पर भय तथा याचना करने पर अभय प्रदान किया है।' यहाँ प्रथमार्ध में ही लक्ष्मीरूपी कर्म को शत्रु और भृत्यभवन रूपी अनेक आधारों में बतलाया गया है। इसी प्रकार उत्तरार्ध में शत्रु रूपी एक ही आधार में भय और अभय रूपी अनेक कर्मों का अस्तित्व बतलाया गया है। फलतः यह पद्य कर्ममूलक दोनों पर्यायों का उदाहरण है।

मम्मट और रत्नाकरकार के पर्यायलक्षण विमर्शिनीकार ने यहीं उद्धृत कर दिए हैं। रत्नाकर का पर्यालक्षण यथासंख्य के प्रकरण में भी दिया जा चुका है। मम्मट ने उदाहरण के रूप में सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'नन्वाश्रयस्थिति' पद्य ही प्रस्तुत किया था। शोभाकर के बाद के आचार्यों के पर्यायनिरूपण इस प्रकार हैं—

अप्पयदीक्षित—'पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रयः।'
'एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्यायः सोऽपि संमतः ॥'

पण्डितराज—१ क्रमेणानेकाधिकरणकमेकमाधेयमेकः पर्यायः।
२ क्रमेणानेकाधेयकमेकमधिकरणमपरः ॥

विश्वेश्वर—'एकमनेकमनेकैकस्मिन् क्रमतोऽस्ति स पर्यायः ॥'

इन सभी लक्षणों का अर्थ वही है जो सर्वस्वकार के लक्षण का है। केवल विश्वेश्वर ने दोनों

पर्यायों को एक ही सूत्र में रखकर कदाचित् यह सिद्ध करना चाहा है कि ये दोनों दो पृथक् पृथक् नहीं, अपितु एक ही हैं।

सञ्जीविनीकार की निष्कृष्टार्थकारिका इस पर यह है—

'पर्याय एकोऽनेकस्मिन्नेकत्रानेक इत्यपि ।
द्विधा क्रमवशादेतौ न विशेषसमुच्चयौ ॥
नैव विनिमयाभावात् परिवृत्तिमिदा स्थिह ।
चनसोऽनेकरूपस्य पृथक् सद्भावदर्शनात् ॥
पृथक् सद्भावभृत्त्विस्वादनेकोऽर्थो द्विधा स च ।
आधाराधेयभावत्वच्चनस्तोऽन्य भिदास्तत ॥'

'पर्याय अलङ्कार वह होता है जिसमें क्रम से अनेक एक में अथवा क्रमसे ही एक अनेक में स्थित दिखलाया जाता है। क्रम के कारण यह न विशेषालङ्कारस्वरूप है और न समुच्चयस्वरूप। इसमें विनिमय का अभाव रहता है इसलिए यह परिवृत्तिस्वरूप भी नहीं ठहरता। इसमें चार भेद होते हैं क्योंकि इसमें अनेकरूप अर्थसङ्घात में नहीं रहता है। तब एक भेद स्वतन्त्र भेद माना जाता है, और जब रहता है तब एक स्वतन्त्र भेद। इसी के साथ यह अनेक अर्थ स्वत- आधार रूप होता है और आधेयरूप। इस कारण इसके केवल चार ही भेद होते हैं।

स्पष्ट है कि रुद्रट के चार भेदों की अपेक्षा सर्वस्वकार के चार भेद अधिक वैज्ञानिक हैं। रुद्रट के भेदों में कर्तृकर्मभाव को आधार माना गया है जबकि सर्वस्वकार के भेदों में आधार और आधेय की सङ्घातात्मकता और असङ्घातात्मकता को। कर्तृकर्मभाव अर्थप्रकृतिगत धर्म है जबकि सङ्घातासङ्घात-भाव परिस्थितिजनित विशेषताएँ। अलङ्कार परिस्थिति पर अधिक निर्भर रहते हैं। इसके अतिरिक्त आधाराधेयभाव के साथ कर्तृकर्मभाव को जोड़ देने से व्याकरणतत्त्व को प्रमुखता मिलती है, काव्यतत्त्व को नहीं। मम्मट आदिने ये भेद स्वीकार नहीं किए। वस्तुतः इन अवान्तर सूक्ष्मताओं को सौन्दर्य का प्रतिमान मानना हृदयङ्गम नहीं कहा जा सकता।

पाठभेद—पर्यायालङ्कार के जो दो अलग अलग रूप हैं उनमें से प्रत्येक के लिए वृत्तिकार ने इस प्रकार अलग अलग वाक्य बनाए हैं—

[१] एकमाधेयमनेकस्मिन्नाधारे यत् तिष्ठति स एक पर्यायः ।

[२] एकस्मिन्नाधारेऽनेकमाधेयं यत् स द्वितीय पर्यायः ।

इनमें से निर्णयसागरीय संस्करण में प्रथम वाक्य तो वृत्ति रूप में ही छपा है, किन्तु द्वितीय के मुद्राक्षर स्थूल हैं अतः वह सूत्ररूप में छपा प्रतीत होता है। संजीविनीकार, विमर्शिनीकार, अनन्तशयनसंस्करणकार, काशीसंस्करणकार तथा कुमारी जानकी ने इस वाक्य को वृत्ति रूप में ही स्वीकार किया है। डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी के संस्करण में टिप्पणी में तो इसे वृत्ति ही माना गया है परन्तु मूल में सूत्ररूप से अलग अलग सूत्र संख्या और स्थूलाक्षरों में छाप दिया गया है। वस्तुतः यह वैसा ही भ्रम है जैसा सूत्र ४ के विषय में हुआ था। उसे तो इन सभी प्रकाशकों और सम्पादकों ने वृत्ति रूप में ही प्रकाशित कर रखा है।

विमर्शिनी में—'कमेणैकमनेकत्रान्यथा वा पर्याय इत्यपि न समुचितम्' के अन्तिम तीन पद निर्णयसागरसंस्करण में 'इत्यपि सूचितम्' इसी रूप में छपे हैं। अर्थसंगति तो इस मुद्रण में भी संभव थी किन्तु उसमें कल्पना को अधिक स्थान देना पड़ता, उसके साथ [न समुचितमिति] पूरक वाक्य जोड़ना पड़ता अतः हमने समस्या पाठ बदल दिया है।

[सर्वस्व]

[सूत्र ६२] समन्यूनाधिकानां समाधिकन्यूनैर्विनिमयः परिवृत्तिः ।

विनिमयोऽत्र किंचित् त्यक्त्वा कस्यचिदादानम्। समेन तुल्यगुणेन त्यज्यमानेन तादृशस्यैवादानम्, तथाधिकेनोत्कृष्टगुणेन दीयमानेन न्यूनस्य गुणहीनस्य परिग्रहः, एवं न्यूनेन हीनगुणेन त्यज्यमानेनाधिकगुणस्योत्कृष्टस्य स्वीकारः, तदेषा त्रिप्रकारा परिवृत्तिः। क्रमप्रतिभाससंभवात् पर्यायानन्तरमस्या लक्षणम्। समपरिवृत्तिर्यथा—

'उरो दत्त्वामरारीणां येन युद्धेष्वगृह्यत ।
हिरण्याक्षवधाद् येषु यशः सार्कं जयश्रिया ॥'

अत्रोरोयशसोस्तुल्यगुणत्वम्। अधिकपरिवृत्तिर्यथा—

'किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम् ।
वद प्रदोषे स्फुटचन्द्रतारका विभावरी यद्यरुणाय कल्पते ॥'

अत्रोत्कृष्टगुणैराभरणैर्न्यूनगुणस्य वल्कलस्य परिवृत्तिः। न्यूनपरिवृत्तिर्यथा—

'तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यते बुधैः ।
येन जर्जरकलेवरव्ययात् क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥'

अत्र हीनगुणेन कलेवरेणोत्कृष्टगुणस्य यशसो विनिमयः।

'दत्त्वा दर्शनमेते मत्प्राणा वरतनु त्वया क्रीताः ।
किं त्वपहरसि मनो यद्वाप्ति रणरणकमेतदसत् ॥'

अत्राद्यार्धे समपरिवृत्तिः। द्वितीयार्धे न्यूनपरिवृत्तिः।

[सूत्र ६२] सम, न्यून और अधिक का सम अधिक और न्यून से विनिमय परिवृत्ति [नामक अलंकार कहलाता है] ॥

[वृत्ति] विनिमय का अर्थ है यहाँ कुछ छोड़कर कुछ लेना। [१] सम अर्थात् समान अर्हता के पदार्थ के त्याग के द्वारा वैसे ही पदार्थ का आदान, [२] इसी प्रकार अधिक अर्थात् उत्कृष्ट गुण या अधिक अर्हता के पदार्थ के दान के द्वारा न्यून अर्थात् हीनगुण या न्यून अर्हता के पदार्थ का आदान तथा [३] न्यून अर्थात् हीनगुण या कम अर्हता के पदार्थ के त्याग के द्वारा अधिक गुण अर्थात् उत्कृष्ट पदार्थ का आदान, इस प्रकार परिवृत्ति तीन प्रकार की होती है। इसमें भी क्रम का प्रतिभास होना संभव है इसलिए इसका लक्षण पर्याय के पश्चात् किया गया। इनमें से समपरिवृत्ति, यथा—

'हिरण्याक्ष के वध से, जिन युद्धों में जिसने उर देकर राक्षसों का यश जयश्री के साथ ले लिया था।' [काव्यालंकारसार के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज ने 'उरोदत्वा' को लोकोक्ति माना है। वीर अपनी छाती शत्रु के सामने खोल देता है यही उसका उरोदान है। कदाचित् यहाँ 'दा' का अर्थ विदारण करना है। इस अर्थ में दान = देने विदारण करने में श्लेष मानना होगा]। यहाँ उर और यश गुणों में समान हैं।

अधिक परिवृत्ति, यथा—

'इस यौवन में तुमने विविध आभूषण छोड, वार्धक्य में शोभा देने वाले वल्कल क्यों पहन रखे हैं। तुम्हीं कहो। यदि खिले चन्द्र तारों की [मध्य] रात्रि अरुणोदय के लिए प्रयत्न करे।' [कुमार० ५]

यहां उत्कृष्ट गुण वाले आभूषणों से न्यून गुण वाले वल्कलों की परिवृत्ति [अदलाबदली] है।

न्यूनपरिवृत्ति, यथा—

'उस बहुत अधिक उमर वाले जटायु के स्वर्ग सिधारने से विद्वानों को दुःख ही क्यों होगा जिसने जर्जर शरीर के व्यय से चन्द्रकिरणों जैसा सुन्दर यश अर्जित कर लिया।'

यहां हीनगुण वाले शरीर से उत्कृष्ट गुण वाले यश का विनिमय बतलाया गया है।

'हे सुन्दरि ! तूने दर्शन देकर मेरे ये प्राण खरीद लिए [सो ठीक किया] किन्तु मन को हरण कर जो तुम उत्कण्ठा दे रही हो यह ठीक नहीं है।'

यहां पूर्वार्ध में समपरिवृत्ति है और उत्तरार्ध में न्यून परिवृत्ति ॥

विमर्शिनी

समन्यूनेत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—विनिमय इत्यादिना। तादृशस्येति। तुल्यगुणस्येत्यर्थः। अतश्चात्र द्वयोरपि तुल्यगुणत्वात् त्यज्यमानादीयमानयोर्गम्यमानमौपम्यम्। एवं च तन्निमित्तस्य साधारणधर्मस्यापि त्रैविध्यम्। अधिकत्वं न्यूनत्वं चोत्कृष्टत्वानुत्कृष्टत्वयोगात्। अतश्चात्र शब्दोपात्तमेतद् भवति क्वचित्सामर्थ्यम्। त्रिविधेति विनिमयस्य त्रिरूपत्वात्। क्रमप्रतिमानेति। त्यागादानयोः पौर्वापर्येण क्रमिकत्वात्। तुल्यगुणत्वमिति। वैपुल्यादिना साधारणधर्मस्यानुगामितया पुनरत्र तुल्यगुणत्वम् यथा—

> 'सुधावदातं पाण्डुत्वं विनिधाय कपोलयोः।
> मौर्यस्तयोस्था दामूर्णा निक्षेपमकरोद् यशः॥'

सुधावदातमित्यस्यानुगामित्वम्। बिम्बप्रतिबिम्बभावो यथा—

> 'लतानामेतासामुदितकुसुमाना मरुदसौ
> मतं लास्यं दत्वा श्रयति भृशमामोदमसमम्।
> लतास्त्वध्वन्यानामहह दृशमादाय रभसाद्द-
> त्याधिव्याधिभ्रमरुदितमोहव्यतिकरम् ॥'

अत्र मतत्वासमत्वयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। शुद्धसामान्यरूपत्व यथा—

> 'मनोहरं स्वं प्रतिचेतनाय दत्त भरस्यपोन्मदचित्तहारि।
> मध्वाददानो मधुपायिलोक पद्माकराणामनृणो बभूव ॥'

अत्र मनोहरत्वचित्तहारित्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्। आभरणानां चात्रोत्कृष्टत्वं वस्तुसामर्थ्याद्गम्यते। वल्कलस्य पुनर्वार्धकशोभीयत्वेन स्वयमेव न्यूनत्वमुक्तम्। एवं कलेवरयशसोरपि जर्जरोज्ज्वलत्वेन न्यूनाधिकत्वमुक्तम्। एतच्चास्य प्राच्यैरप्युक्तमिति तदुदाहरणेऽपि समपरिवृत्त्यादि योजयति—दत्वेत्यादिना।

समन्यूनत्वेत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—'विनिमय' इत्यादि के द्वारा। तादृशस्य = वैसे = तुल्यगुण वाले। इसी कारण यहाँ छोडे जाते और लिए जाने पदार्थों में सादृश्य गम्य रहता है क्योंकि इन दोनों में गुणगत तुल्यता रहती है। इसी कारण गुण निमित्तक साधारणधर्म भी तीनों प्रकार का होता है। अधिकत्व और न्यूनत्व यहाँ गुणगत उत्कृष्टत्व और अनुत्कृष्टत्व के

योग से होता है। इसीलिए यह प्रायः शब्दतः कथित ही रहता है, यद्यपि कहीं वाक्यार्थसामर्थ्य से गम्य भी होता है। तत् = इस कारण अर्थात् विनिमय के तीन प्रकार के होने के कारण। **क्रमप्रतिभास**—क्योंकि त्याग और ग्रहण में पौर्वापर्य रहता है अतः ये क्रमिक होते हैं। तुल्य-गुणत्व = वैपुल्य विशालत्व आदि को लेकर [यश और वस्त्र दोनों विशाल होते हैं]। साधारण धर्म की अनुगामिता के कारण जब यहाँ गुणगत समानता रहती है उसका उदाहरण—

'छुई मिट्टी जैसी उज्ज्वल सफेदी कपोलों में आहितकर [जिसके] यश ने जिसकी चर्चा से उत्पन्न मद को समाप्त कर दिया।'

यहाँ [मद और सफेदी के साधर्म्य में] सुधावदातत्व = छुई मिट्टी सी उज्ज्वलता अनुगामी धर्म है। बिम्बप्रतिबिम्बभावमूलक साधारणधर्म यथा—

'यह पवन इन कुसुमित लताओं को अभिमत लास्य देकर पर्याप्त मात्रा में अद्वितीय सौरभ ले रहा है। किन्तु बड़े दुःख की बात है कि लताएँ पान्थों की आँखें लेकर सहसा आधि, व्याधि, चक्कर, रोदन, मूर्च्छा आदि एक साथ देती हैं।'

यहाँ [लास्य और सौरभ के साधर्म्य में मतत्त्व] अभिमतत्व और [असमत्व] अद्वितीयत्व धर्मों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है। शुद्धसामान्यरूप साधारण धर्म यथा—

'मूल्य के रूप में अपना मनोहर गुंजन देकर उन्मत्त चित्तों को आकृष्ट करने वाले मधु ले रहे मधुकरों ने पद्माकरों से उऋणता प्राप्त कर ली।' यहाँ मनोहरत्व और चित्तहारित्व शुद्ध सामान्य धर्म हैं [मधु और गुंजन के साम्य में]।

[किमित्यपास्या-पद्य में] आभरणों की उत्कृष्टता पदार्थसामर्थ्य से विदित होती है, किन्तु वल्कलों की न्यूनता 'वार्धकशोभि' = 'वार्धक्य में शोभा देने वाले' इस विशेषण से [कवि ने] स्वयं ही कह दी है। इसी प्रकार [तस्य च प्रवयसो० पद्य के] कलेवर [शरीर] और यश के न्यूनगुणत्व और उत्कृष्टत्व जर्जर तथा उज्ज्वल शब्दों के द्वारा कह दिए गए हैं। ये [न्यूनत्वादि यामन तथा उद्भट इन रुद्रटपूर्ववर्ती] प्राचीन आचार्यों ने भी बतलाए थे [किन्तु रुद्रट ने नहीं अतः] रुद्रट के [परिवृत्ति—] उदाहरण में भी समपरिवृत्तित्व आदि धर्म दिखलाने के लिए लिखते हैं 'दत्त्वा' इत्यादि॥

विमर्श—परिवृत्ति का इतिहास

दण्डी—के काव्यादर्श में परिवृत्ति का उल्लेख मात्र है लक्षण नहीं। उसमें उदाहरण के रूप में निम्नलिखित पद्य दिया है—

> 'शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तव भूभुजाम्।
> चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम्॥' २।३५६॥

'आपकी राजाओं को शस्त्र प्रहार दे रही बाहु ने उनका चिरार्जित कुमुदतुल्य उज्ज्वल यश हरण कर लिया।'

भामहः = 'विशिष्टस्य यदादानमन्यापोहेन वस्तुनः।
> अर्थान्तरन्यासवती परिवृत्तिरसौ यथा॥ ३।४१॥
> प्रदाय वित्तमर्थिभ्यः स यशोधनमादित।
> सतां विश्वजनीनानामिदमस्खलितं व्रतम्॥' ३।४२।

'अन्य वस्तु के त्याग के द्वारा अन्य विशिष्ट वस्तु का जो आदान उसे परिवृत्ति कहा जाता है। यह अर्थान्तरन्यास से भी युक्त रहती है। यथा—

'याचकों को धन देकर उसने यशोराशि अर्जित की। यह सभी सत्पुरुषों का अचूक व्रत है।

भामह के इस विश्लेषण में न्यूनाधिकभाव की व्यंजना है। वामन इसे पकड़ लेते हैं।

वामन—[सूत्र] 'समविसदृशाभ्यां परिवर्तनं परिवृत्तिः' ॥ ४।३।१६ ॥

[वृत्ति] समेन विसदृशेन वार्थेन अर्थस्य परिवर्तनं परिवृत्तिः'। यथा—

आदाय कर्णकिसलयमियमस्मै चरणमरुणमर्पयति।
उभयोः सदृशविनिमयादन्योन्यमवञ्चितं मन्ये ॥ [मालविकाग्निमित्र]

विमुच्य सा हारमहार्यनिश्चया विलोलयष्टिप्रविलुप्तचन्दनम्।
बबन्ध बालारुणबभ्रु वल्कलं पयोधरोत्सेधविशीर्णसंहति ॥ [कुमारसम्भव-५]

समान या असमान अर्थों द्वारा अर्थों का परिवर्तन परिवृत्ति कहलाता है। यथा [अग्नि-मित्र की उक्ति]—

[अशोकदोहद सम्पन्न कर रही] यह [मालविका] इसने कान में लगाने योग्य कोंपल लेकर अपना यावकरंजित अरुण चरण दे रही है। दोनों का सौदा अनुरूप रहा, अतः दोनों को मैं घाटे में रहा नहीं मानता।' यहाँ मालविका का चरण और अशोक का किसलय समान अर्हता के है, अतः सदृश विनिमय हुआ।

अहार्यनिश्चया उस [पार्वती] ने हार को अलग कर हिलती शलाकाओं द्वारा चन्दन मिटा देने वाला, बालसूर्य सा पिंगल वर्ण का वल्कल बाँधा, पयोधरों के उठाव से जिसकी शलाकाओं का जमाव विरल हो जाता था।' यहाँ हार और वल्कल असमान हैं।

रुद्रट = ने 'सम न्यून अधिक' इन तीन गुणगत भेदों तथा 'इष्ट और अनिष्ट' इन दो अर्थगत विशेषताओं में परिवृत्ति का स्वरूप अंकित किया है—

'सम न्यूनविशिष्टैर्नु कस्यचित् परिवर्तनम्।
अर्थानर्थस्वभावं यत् परिवृत्तिरभाणि सा ॥' ५।१६ ॥

समपरिवृत्ति का उदाहरण—'उरोदत्त्वा०' पद्य ही।

न्यूनपरिवृत्ति—

'नेत्रीकृतोरगभ्राम्यन्मन्दराद्रिशिरश्च्युतैः।
रत्नैरापूर्य दुग्धाब्धिं यः समादत्त कौस्तुभम्' ॥

'नेती बने सर्पराज के द्वारा बलपूर्वक घुमाए जा रहे मन्दराचल के शिखरों से गिरे रत्नों द्वारा दुग्धाब्धि को भरकर जिसने कौस्तुभमणि ग्रहण की।' यहा निकृष्ट रत्नों के दान द्वारा कौस्तुभ-नामक उत्कृष्ट रत्न लिया गया अतः न्यूनपरिवृत्ति हुई।

अधिकपरिवृत्ति—'यो बलौ व्याप्तभूसीम्नि मखेन वा जिगीषति।
अभयं स्वर्गसद्भ्यो दत्त्वा जग्राह खर्वताम् ॥'

जिसने, बलि जब भूसीमा को व्याप्त कर स्वर्ग यज्ञद्वारा जीतना चाह रहा था, तब देवताओं को अभय देकर वामनत्व ग्रहण किया।' यहाँ अभय एक विशिष्ट वस्तु जिसकी तुलना में छोटापन [वामनत्व] तुच्छ वस्तु है। इस प्रकार यहाँ उत्कृष्टता देकर निम्नता का ग्रहण होने से अधिकपरिवृत्ति हुई।

रुद्रट—ने समासमत्व आदि पर बल नहीं दिया और परिवृत्ति का लक्षण सामान्यतः इस प्रकार किया—

'युगपद् दानादाने अन्योन्यं वस्तुनोः क्रियेते यत्।
क्वचिदुपचर्येते वा प्रसिद्धितः सेति परिवृत्तिः' ॥ ७।७७ ॥

वस्तुओं का एक साथ जो दान और आदान वस्तुतः किया जाता बतलाया जा रहा हो अथवा प्रसिद्धि के आधार पर लाक्षणिक रूप से तो वही परिवृत्ति कहलाता है। उदाहरण 'दत्त्वा दर्शन०' पद्य। यहां प्राणों की खरीद और मन का हरण प्रसिद्धि पर निर्भर और औपचारिक तथ्य हैं।

मम्मट—'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः।' पदार्थों का विनिमय परिवृत्ति कहलाता है। यह सम के द्वारा सम का और असम के द्वारा असम का [इस प्रकार से] हो सकता है।

उदाहरण = सम से सम और असम में अधिक से न्यून की परिवृत्ति के लिए 'लतानामेतासां' पद्य। और न्यून से अधिक की परिवृत्ति के लिए निम्नलिखित पद्य—

'नानाविधैः प्रहरणैर्नृप संप्रहारे स्वीकृत्य दारुणनिनादवतः प्रहारान्।
दृप्तारिवीरविसरेण वसुन्धरेयं निर्विप्रलम्भपरिरम्भविधिर्वितीर्णा॥'

हे राजन्! युद्ध में नाना प्रकार के अस्त्रों से दारुण निनाद वाले प्रहार अपना कर दृप्त शत्रु वीरों ने आपको यह विप्रलम्भहीन आश्लेष वाली वसुन्धरा प्रदान की है।' यहाँ प्रहाररूपी निम्न वस्तु लेकर वसुन्धरा जैसी उत्कृष्ट वस्तु के दान का वर्णन होने से परिवृत्ति अधिकपरिवृत्ति कहलाएगी।

सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों ने परिवृत्ति का निरूपण इस प्रकार किया है—

शोभाकर = 'विनिमयः परिवृत्तिः॥ सू० ९०॥

विनिमय परिवृत्ति कहलाता है।' लौकिक विनिमय का इस विनिमय से अन्तर बतलाते हुए रत्नाकरकार ने लिखा है—'लोक में देकर लेने का विनिमय माना जाता है जब कि यहाँ त्यागपूर्वक अपनाने को भी विनिमय कहा जाता है और उपकार पर किए गए प्रत्युपकार को भी।' परिवृत्ति की भेदगणना भी रत्नाकरकार ने अपने ढङ्ग से की है। सर्वस्वकार-द्वारा प्रतिपादित सम, न्यून तथा अधिक ये तीन भेद रत्नाकरकार ने प्रथम 'त्यागपूर्वक आदान'-नामक वर्ग में गिनाए हैं। कृतप्रतिकृतनामक द्वितीय वर्ग में उन्होंने 'अनभीष्ट वस्तु मिलने पर अनभीष्ट कार्य करना' तथा 'अभीष्ट वस्तु मिलने पर अभीष्ट कार्य करना-'ये दो भेद बतलाए हैं। इनमें भी, उन्होंने समत्व, न्यूनत्व तथा अधिकत्व नामक तीन कोटियाँ मानी हैं अन्ततः परिवृत्ति के मुख्य तीन ही शीर्ष स्वीकार किये हैं सम, न्यून तथा अधिक। रत्नाकरकार ने लाभ और हानि के विनिमय में विषमालंकार माना है—

'दोषे च दोषस्य गुणे च तस्य कृते कृतिः स्यात् परिवृत्तिरेव।
गुणे तु दोषस्य विपर्यये वा यद्गोचरोऽसौ विषमः स भिन्नः॥'

लाभ और हानि के विनिमय में विषमालंकार मानकर कदाचित् मम्मट के 'लतानामेतासान्०' पद्य के उत्तरार्ध में मानी गई परिवृत्ति को रत्नाकरकार विषम मानना चाहते हैं। उन्होंने मम्मट का यह पद्य उदाहरण के रूप में अपनाया भी नहीं है। सभी भेदों के लिए सर्वथा नवीन उदाहरण दिए हैं।

अप्पयदीक्षित—का चिन्तन इस दिशा में क्रान्तिपूर्ण है। वे समपरिवृत्ति स्वीकार नहीं करते। उनका लक्षण—

'परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथः।'

उदा०—'तस्य च प्रवयसो जटायुषः०'।

पण्डितराज—जगन्नाथ के परिवृत्ति विवेचन में नवीनता भी है और परिष्कार भी। वे परिवृत्ति को खरीद या सौदा मानते हैं। उनका लक्षण—

'परकीयकिञ्चिद्वस्त्वादानविशिष्टं परस्मै स्वकीयकिञ्चिद्वस्तुसमर्पणं परिवृत्तिः।'
क्रय इति यावत्।

'अन्य व्यक्ति की कोई वस्तु लेकर उसे अपनी कोई वस्तु देना परिवृत्ति कहलाता है।' इसका अर्थ हुआ क्रय। इन्होंने परिवृत्ति का सूक्ष्म दो भागों में विभक्त किया—समपरिवृत्ति तथा विषमपरिवृत्ति। समपरिवृत्ति पण्डितराज ने दो प्रकार की मानी है, उत्तम पदार्थों से उत्तम पदार्थों की तथा निम्न पदार्थों से निम्न पदार्थों की। विषम परिवृत्ति भी वे दो प्रकार की मानते हैं उत्तम से निम्न की तथा निम्न से उत्तम की।

पण्डितराज ने लक्षण में परकीय-शब्द का निवेश कर सर्वस्वकार की इस मान्यता को अमान्य ठहराया है—स्वयं के द्वारा किसी वस्तु का त्याग किया जाए और अन्य वस्तु का परिग्रह तो उसमें भी परिवृत्ति होती है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में सर्वस्वकार की इस मान्यता का खण्डन कर उनके द्वारा इस भेद के लिए प्रदत्त उदाहरण 'किमित्यपास्या०' को भी परिवृत्तिशून्य बतलाया है। वस्तुतः इस पद्य में परिवृत्ति का चमत्कार कम, विषमता का चमत्कार अधिक है। इसके अतिरिक्त इसमें दृष्टान्तालङ्कार की भी स्पष्ट छवि है।

पण्डितराज ने यह भी स्पष्टीकरण दुहराया है कि परिवृत्ति का सौदा कविकल्पित होना चाहिए। यदि वह लौकिक हुआ तो उसमें अलङ्कारभाव नहीं आ सकेगा।

विश्वेश्वर पं. प्रतिगामी मस्तिष्क से प्रसूत परिवृत्ति का लक्षण यह है—

'सदृशासदृशैरर्थैरर्थानां विनिमयस्तु परिवृत्तिः।'

—'सम विषम अर्थों द्वारा अर्थों का विनिमय परिवृत्ति अलङ्कार होता है।' इस प्रकार विश्वेश्वर मम्मट के अनुयायी हैं। रसगङ्गाधरकार द्वारा दिए गए 'परकीयत्व' विशेषण और उससे हुए सर्वस्व के खण्डन पर विश्वेश्वर का ध्यान तो गया है किन्तु वे उस पर कोई टिप्पणी नहीं करते।

चक्रवर्ती की निगूढार्थकारिका यहाँ इस प्रकार की है—

'परिवृत्तिर्विनिमयस्त्रिधा सेयं समादिभिः।'

पाठान्तर = विमर्शिनी की 'अतश्चात्र शब्दोपात्तमेवद् भवति' पंक्ति निर्णयसागरीय संस्करण में 'अतश्चात्र शब्दोपात्तदपति (?)' इस प्रकार संपादक के प्रश्नचिह्न के साथ अशुद्ध मुद्रित है। इसी प्रकार 'लतानामेता०' पद्य के बाद 'मन्वरसमन्वयो.' के स्थान पर इस संस्करण में 'लता समन्वयो.' मुद्रण है।

उदाहरण की दृष्टि से परिवृत्ति के सर्वोत्तम उदाहरण वामन द्वारा उद्धृत कालिदास के पद्य हैं।

भेदों के नाम भिन्न भिन्न मानदण्डों पर किए गए हैं। अधिकपरिवृत्ति या न्यूनपरिवृत्ति का अभिप्राय कभी दी जाने वाली वस्तु की उत्तमता से है और कभी ली जाने वाली वस्तु की। वस्तुतः दी जाने वाली वस्तु के ही आधार पर नामकरण उचित है। विनिमय की पहली कड़ी देना ही होता है।

[सर्वस्व]

[सूत्र ६३] एकस्यानेकप्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्या ।

एकानेकप्रस्तावादिह वचनम् । एकं वस्तु यदानेकत्र युगपत् संभाव्यते तदा तस्यैकत्रासंभाव्ये द्वितीयपरिहारेण नियमनं परिसंख्या । परि अपवर्जने । कस्यचित् परिवर्जनेन कुत्रचित् संख्यानं वर्णनीयत्वेन गणनं परिसंख्या । सा चैषा प्रश्नपूर्विका तदन्यथा चेति प्रथमं द्विधा । प्रत्येकं च वर्जनीयत्वस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां द्वैविध्यमिति चतुःप्रभेदः । क्रमेण यथा—

'किं भूषणं सुदृढमत्र यशो न रत्नं
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं न दोषः ।
किं चक्षुरप्रतिहतं धिषणा न नेत्रं
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ॥'

'किमासेव्यं पुंसां सविधमनवद्यं द्युसरितः
किमेकान्ते ध्येयं चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ।
किमाराध्यं पुण्यं किमभिलषणीयं च करुणा
यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥'

'भक्तिर्भवे न विभवे व्यसनं शास्त्रे न युवतिकामास्त्रे ।
चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः परिदृश्यते महताम् ॥'

'कौटिल्यं कचनिचये करचरणाधरदलेषु रागस्ते ।
काठिन्यं कुचयुगले तरलत्वं नयनयोर्वसति ॥'

अत्र चालौकिकं वस्तु गृह्यमाणं वस्त्वन्तरव्यवच्छेदे पर्यवस्यतीति व्यवच्छेद्यं वस्त्वन्तरं शाब्दमार्थं चेति नियमाभावः । अलौकिकत्वाभिप्रायेणैव क्वचित्प्रश्नपूर्वकं ग्रहणम् ।

'विलङ्घयन्ति श्रुतिवर्त्म यस्यां लीलावतीनां नयनोत्पलानि ।
बिभर्ति यस्यामपि वक्रिमाणमेको महाकालजटार्धचन्द्रः ॥'

तथा—'चित्रकर्मसु वर्णसंकरो, यतिषु दण्डग्रहणानि' इत्यादौ श्लेषसंपृक्तत्वमस्या अत्यन्तचारुत्वनिबन्धनम् । अत्र च नियमपरिसंख्ययोर्वाक्यवित्प्रसिद्धं लक्षणं नादरणीयमिति ख्यापनाय नियमनं परिसंख्येति सामानाधिकरण्येनोक्तिः । अत एव पाक्षिक्यपि प्राप्तिरत्र स्वीक्रियत इति युगपत्संभावनं प्रायिकम् ।

[सूत्र ६३] एक की अनेक स्थानों में प्राप्ति होने पर एक में नियमन परिसंख्या [अलंकार कहलाता है] ॥

[वृत्ति] एक और अनेक वस्तु को लेकर इसे यहाँ बतलाया जा रहा है। एक वस्तु जब अनेक स्थानों पर एक साथ संभावित हो तब उसका किसी एक असमाव्य स्थान पर अन्य का परिहार करते हुए जो नियमन किया जाता है उसे परिसंख्या कहते हैं। परि अर्थात् अपवर्जन [या निषेध]। किसी का निषेध कर कहीं जो सख्यान अर्थात् वर्णनीयरूप से गणना करना वह हुई परिसंख्या। यह प्रथमतः दो प्रकार की होती है [१] प्रश्नपूर्वक तथा [२] उसके विपरीत [प्रश्नरहित]। अनन्तर इसमें वर्णनीय की परिहार्यता शाब्द और आर्थ दो प्रकार की होती है, अत भेदों की संख्या चार हो जाती है। इनके क्रमश. उदाहरण—

[प्रश्नपूर्वक शाब्द परिहार्य से युक्त परिसंख्या]—

'संसार में सुदृढ भूषण क्या है ? यश, रत्न नहीं। करणीय क्या है ? आर्यपुरुषों द्वारा किया सुकृत, दोष नहीं। अप्रतिहत चक्षु क्या है ? बुद्धि, चर्मचक्षु नहीं। [इस प्रकार] सद् असद् का अन्तर आपको छोड़कर जानता ही कौन है।'

[प्रश्नपूर्वक तथा आर्थ परिहार्य से युक्त परिसख्या—]

'पुरुषों के लिए सब प्रकार से सेव्य क्या है ? गगा जी का निर्दोष परिसर [तट], एकान्त में ध्यान करने योग्य वस्तु क्या है ? कौस्तुभधारी भगवान् विष्णु के चरणयुगल; आराधनीय क्या है ? पुण्य। इसी प्रकार चाहने योग्य वस्तु क्या है ? करुणा, जिसकी आसक्ति से चित्त सदा के लिए मुक्ति पाने में समर्थ हो पाता है।'

[प्रश्नरहित शाब्द परिहार्य युक्त परिसंख्या—]

—'महापुरुषों में प्राय. भक्ति भगवान् शंकर के प्रति देखी जाती है, विभव के प्रति नहीं, व्यसन शास्त्र में देखा जाता है, युवतिरूपी कामास्त्र में नहीं; चिन्ता यश की देखी जाती है, मर्त्य शरीर की नहीं।'

[प्रश्नरहित आर्थ परिहार्ययुक्त परिसख्या—]

'कुटिलता तेरे केशपाश में है, राग कर, चरण और अधर में, कठिनता कुचयुग्म में है और चंचलता नेत्र में।'

यहाँ [परिसंख्या के इन उदाहरणों में] असंभावित वस्तु का विधान किया जाता है, अत. इसके द्वारा उससे भिन्न [लोकप्रसिद्ध] वस्तुओं का निराकरण ठहरता [ही] है। इस कारण निराकरणीय भिन्न वस्तु शब्दत ही कथित हो अथवा अर्थत ही प्रतीत हो ऐसा कोई नियम नहीं रहता। असंभावना के अभिप्राय से ही कहीं विधान प्रश्नपूर्वक होता है [जब कि मीमांसाशास्त्र में प्रसिद्ध परिसख्या में प्रश्न कभी होता ही नहीं है]।

—'जिस [उज्जयिनी नगरी] में श्रुतिवर्त्म [वैदिक धर्म तथा कर्णपदी] का उल्लंघन लीलावती वनिताओं के नेत्रोत्पल ही किया करते हैं तथा जिसमें वक्रता को केवल महाकाल की जटा का अर्धचन्द्र ही धारण करता है [वह] ॥'

तथा—जहाँ वर्णसंकर [ब्राह्मणादि वर्णों का मिश्रण तथा रंगों का मिश्रण] चित्रकर्म में होता है, दण्डग्रहण [राजदण्ड पाना तथा ब्रह्मदण्ड अपनाना] यतियों में देखा जाता है'—इत्यादि प्रयोगों में इस [परिसंख्या] का श्लेष से मिश्रण बहुत ही अधिक चारुत्व ला देता है।

'इसमें जो 'नियम' और 'परिसंख्या' शब्द हैं इनके मीमांसकों में प्रसिद्ध लक्षण नहीं अपनाने है' यही बतलाने के लिए सूत्र में 'नियमन परिसख्या है' इस प्रकार दोनों को अभिन्नरूप में कहा गया है [जब कि मीमांसाशास्त्र में ये परस्पर भिन्न होते हैं]। इसी कारण इसमें प्राप्ति को भी पाक्षिक मान लिया जाता है [जब कि मीमांसाशास्त्र में पाक्षिकता केवल नियम में ही

मानी जाती है] इस प्रकार [मीमांसा में प्रसिद्ध दो विपरीत पक्षों में] 'एक साथ प्राप्ति' [लागू होना यह जो परिसंख्या का लक्षण है वह] यहाँ मान्य होता भी है और नहीं भी।'

विमर्शिनी

एकानेकेति। पर्याये एकस्यानेकत्र पर्यवसानादेरुक्तत्वात्। असंभाव्य इति। कविप्रतिभानिर्वर्तितत्वाल्लोकोत्तर इत्यर्थः। न पुनः प्राप्तिविषयत्वेनासंभाव्यत्वं व्याख्येयम्। सर्वथा प्राप्तस्यार्थान्तरस्य निषेधमात्रपरो हि विधिः परिसंख्या। अत एवार्थान्तरनिषेधे तात्पर्यमेव दर्शयितुं द्वितीयपरिहारेणेत्युक्तम्। अपवर्जन इति। 'अपपरी वर्जने' [पा० १।४।८८] इति वचनात्। सेति। यथोक्तरूपा। एषेति। परिसंख्या। किं भूषणमिति प्रश्नपूर्वकत्वम्। न रत्नमिति शब्दोपादानात् परिवर्जनीयस्य शाब्दत्वम्। न पुनरीश्वरादि सेव्यमिति परिवर्जनीयस्य शब्दानुपादानादार्थत्वम्। अत्रेति। एषूदाहरणेषु। अलौकिकमिति। कविप्रतिभानिर्वर्तितम्। गृह्यमाणमिति। विधीयमानतया। वस्त्वन्तरव्यवच्छेद इति। अर्थान्तरनिषेधमात्रतात्पर्यात्। नियमाभाव इति। नह्यत्र व्यवच्छेद्यस्य शाब्दत्वार्थत्वाभ्यां कश्चिल्लक्षणभेद इति भावः। अलौकिकत्वाभिप्रायेणेति। नहि 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यादौ प्रश्नपूर्वकं ग्रहणमित्याशयः। क्वचिदिति। कुत्राप्यप्रश्नपूर्वकत्वमपि भवेदिति भावः। श्लेषसंपृक्तत्वमिति। श्लेषशब्दश्चात्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनायामतिशयोक्तौ वर्तते। तयास्योक्तेश्चातिशयोक्तिमात्रसंपृक्तत्वे न तथा चारुत्वं भवतीति प्रयोजनम्। अत्यन्तेति। पूर्वोदाहरणेभ्यः। ननु नियमपरिसंख्ये भिन्नलक्षणे प्रसिद्धे इति कथं तयोः सामानाधिकरण्यं सूत्रितमित्याशङ्क्याह—अनेनेत्यादि। वाक्यविदो मीमांसकाः। यदाहुः—

> 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।
> तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्या निगद्यते॥' इति।

अत्रायमर्थः। इह कस्यचिदर्थस्य नियमेनाज्ञातस्य विधिः क्रियमाणो यदार्थान्तरनिषेधार्थमपि पर्यवस्यति तदा नियमविधिः। न पुनरज्ञातज्ञापनमात्रपर्यवसित एव भवति। तेन नियमे 'व्रीहीनवहन्ति' इत्यादाववघातमात्रपर्यवसायित्वमेव न, दलनादेरपि निषेध्यत्वेन पर्यवसानात्। नापि निषेधमात्र एव तात्पर्यम्। अवघाताभावे विघ्नदनिष्पत्तेः। सर्वप्रकारप्राप्तिरप्राप्तांशपरिपूरणस्याप्यभावे विधिः क्रियमाणोऽर्थान्तरनिषेधमात्रार्थमेव यत्र पर्यवस्यति सा परिसंख्या। तेन 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः' इत्यादावन्यपञ्चनखभक्षणनिषेधमात्रतात्पर्यमेव। न पुनरेतत्पञ्चनखभक्षणकर्तव्यतापि। तथात्वे हि पञ्चानां पञ्चनखानाम भक्षणे प्रत्यवायप्रसक्तेर्नियमादस्या भेदो वा न स्यात्।

आदरणीयमिति। अनेनैव लक्षणेनोभयोः संग्रहात्। तथाहि नियमे 'समे देशे यजेत' इत्यादौ यागस्य समविषमात्मन्यनेकत्र देशे प्राप्तावेकत्र सम एव नियमनं कृतम्। परिसंख्यायामपि सर्वत्र भक्षणस्य प्राप्तौ पञ्चपञ्चनखविषय एवैकत्र नियमनम्। नन्वत्र पञ्चपञ्चनखान्तरनिषेधमात्रतात्पर्यात् पञ्चपञ्चनखविषये भक्षणनियमने न वाक्यार्थत्वमिति कथमुभयानुगाम्येतल्लक्षणमिति चेत्। सत्यम्। अस्ति तावदामुखे पञ्चपञ्चनखविषये भक्षणे विधिः। यदास्यार्थान्तरनिषेधपर्यवसायित्वं तदेव जीवितभूतत्वेनेहालंकारत्वप्रतिष्ठापकम्। तच्च नियमपरिसंख्ययोः समानम्। अथ नियमे विधिनिषेधयोर्वाक्यार्थत्वं परिसंख्यायां च निषेधस्यैवेत्यनयोर्महान् भेद इति चेत्। न। अस्ति तावद्विधेरर्थान्तरे निषेधपर्यवसायित्वं समानं यन्निबन्धनमनयोरलंकारत्वम्। यत्तु नियमे विधावपि तात्पर्यं न तु परिसंख्यायाम्,

तदनौपयिकत्वादिहानादरणीयम्। न हीह पञ्चानां पञ्चनखानामभक्षण एव प्रत्यवायः प्रसज्यते येन विधिनिषेधतात्पर्याभ्यामनयोरलंकारभेदः स्यात्। तथात्वे सर्वालङ्कारभेदानां भेदहेत्वतिशयादिसंभवाद्विषयलक्षणप्रसङ्गेऽलंकारानन्त्यं स्यात्। अतश्चैतद्वेद्विवमेव नियमस्य वाच्यम्। तदाह—अत एवेत्यादि। स्वीक्रियत इति। भेदत्वेनेत्यर्थः। सा च यथा—'किमासेव्यं पुसाम्' इत्यादौ सुसरित्तटेश्वरयोः सेवाया न युगपत्संभावनमिति निषेधपर्यवसायी सुसरित्तट एवैकत्र सेवाया नियमः कृतः। अत एव च तत्प्रायिकमित्युक्तम्।

एकानेकेति = क्योंकि पर्यायालङ्कार में एक का अनेक में पर्यवसान बतलाया गया है। असंभाव्य = कविप्रतिभाद्वारा सिद्ध होने से असम्भाव्य अर्थात् लोकोत्तर। असमान्य का अर्थ 'प्राप्ति विषय के रूप में जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती, यह अर्थ नहीं करना चाहिए क्योंकि परिसंख्या उस विधि का नाम है जिसका तात्पर्य सर्वथा प्राप्त अर्थान्तर के निषेध में रहता है। इसीलिए, अर्थान्तर निषेध में तात्पर्य दिखलाने के लिए ही 'द्वितीय का परिहार करते हुए'-यह कहा। अपवर्जन=जैसा कि [पाणिनि का] सूत्र है 'अपपरी वर्जने' [१।४।८८] 'अप' और 'परि' उपसर्ग वर्जन अर्थ में कर्मप्रवचनीय होते हैं [प्रकृतेन स्वविना कस्यचिदनभिसम्बन्धो वर्जनम् = काशिका] सा = वह = जिसका स्वरूप बतला जा चुका है। एषा = यह = परिसंख्या। किं भूषणम् = यह हुई प्रश्न पूर्वक। 'न रत्नम्' = 'रत्न नहीं'—इस प्रकार शब्दतः कथन होने से यहाँ परिवर्जनीय अर्थ शाब्द है। 'राजा आदि सेवा योग्य नहीं' इस परिवर्जनीय अर्थ के शब्दतः कथित न होने से यह आर्थ हुआ। अत्र = यहाँ = इन उदाहरणों में। अलौकिक = कविप्रतिभा से निष्पन्न। गृह्यमाण = जिसका विधान किया जाता है। वस्त्वन्तरव्यवच्छेद = अन्य वस्तुओं का परिहार, इसलिए कि इसमें तात्पर्य ही अन्य अर्थ के निषेध में रहता है। नियमाभाव = यहाँ परिहार्य अर्थ के शाब्द या आर्थ होने से लक्षण में भेद नहीं रहता। अलौकिकत्वाभिप्रायेण = असम्भाव्यता के अभिप्राय से = [मीमांसा के] 'पाँच पञ्चनख प्राणी खाए जा सकते हैं—' इत्यादि [परिसंख्या प्रयोगों] में विधान प्रश्नपूर्वक नहीं रहता। क्वचित् = कहीं' अर्थात् कहीं कहीं विधान प्रश्नपूर्वक नहीं भी रहता। श्लेषसंपृक्तत्वम् = श्लेष का मिश्रण = यहाँ श्लेष शब्द का अर्थ है श्लेषयुक्त शब्द से निष्पन्न अतिशयोक्ति और इसका अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की उक्तियों में यदि श्लेष न हो, केवल अतिशयोक्ति ही हो तो चमत्कार की उतनी मात्रा नहीं आ पाती। अत्यन्त = अर्थात् प्राचीन उदाहरणों की अपेक्षा। शंका होती है कि नियमविधि और परिसंख्या के लक्षण भिन्न भिन्न होते हैं, तब यहाँ उन्हें अभिन्न क्यों बतलाया गया है।' इस पर कहते हैं—'अत्र' = यहाँ। वाक्यविद् = मीमांसक, जैसा कि [मीमांसकों ने ही] कहा है—

'अत्यन्त अप्राप्ति में विधि, विकल्प में नियम और भिन्न दो तथ्यों की प्राप्ति में परिसंख्या कहलाती है।'

['स्वर्ग के लिए क्या करना चाहिए' इस जिज्ञासा का कोई उत्तर नहीं मिलता, कोई उपाय विदित नहीं होता। तब वेदवाक्य कहता है 'स्वर्ग के लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए। इस वाक्य को विधिवाक्य कहा जायगा'। इस वाक्य के अतिरिक्त स्वर्गप्राप्ति का उपाय किसी भी प्रमाण से जो उपलब्ध नहीं होता। नियम तथा परिसंख्या का स्पष्टीकरण विमर्शिनीकार करते हैं—]

इसका अर्थ इस प्रसंग में यह है—जब किसी अज्ञात अर्थ का विधान किसी नियम वाक्य के द्वारा किया जाता है और वह अन्य किसी अर्थ के निषेध में पर्यवसित होता है तो उसे नियमविधि कहते हैं। यह [विधि के समान] केवल अज्ञात अर्थ के ज्ञापन में ही समाप्त नहीं हो रहता। इस प्रकार 'धान को कूटता है'—इत्यादि नियमविधि में केवल कूटने मात्र में ही विधिवाक्य की

समाप्ति नहीं हो जाती, 'दरना' आदि के निषेध तक भी उसकी पहुंच होती है। इसी प्रकार केवल निषेध में भी [वाक्यार्थ की] समाप्ति नहीं होती क्योंकि तब ['कूदता है' इस विधि का अर्थ 'दरता नहीं है' होगा, इस प्रकार] कूदने का ज्ञान न होगा, फलतः विधानात्मक अर्थ प्रतीत न होगा। जब सभी अर्थ का ज्ञान रहता है, फलतः किसी अज्ञात अर्थ के ज्ञापन का प्रश्न नहीं रहता तब जो विधान होता है उसका तात्पर्य केवल अर्थान्तर के निषेध में ही रहता है। उसे परिसंख्या कहते हैं [परि = वर्जन या निषेध, संख्या = ज्ञान, निषेधज्ञान]।

'पंच पंचनखा भक्ष्या धर्मतः परिकीर्तिताः।
गोधा कूर्मः शशः खड्गी शल्यकश्चेति ते स्मृताः॥'—

['पाँच पाँच पाँच नखवाले प्राणी धर्मशास्त्र द्वारा भक्ष्य रूपसे मान्य हैं। ये हैं गोधा, कूर्म, शश, खड्गी तथा शल्यक द्र० परिसंख्यापादटि० वामनीसहित काव्यप्रकाश]। इस प्रकार 'पाँच पंचनखी प्राणी भक्ष्य हैं—' इत्यादि वचनों का तात्पर्य केवल अन्य पंचनखी प्राणियों के भक्षण के निषेध में रहता है। किन्तु इसमें पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण का विधान नहीं रहता, वैसा होने पर तो पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण न करने से [आप्तवाक्य का उल्लंघन होगा और ततः] पाप उत्पन्न होने लगेगा, साथ ही इसका [उपर्युक्त] 'नियम' विधि से कोई अन्तर नहीं रहेगा।

नादरणीयम् = 'मीमांसकों के प्रसिद्ध अर्थ नहीं अपनाते हैं'—इसलिए कि [नियम और परिसंख्या] दोनों का संग्रह [परिसंख्यालंकार के] इसी एक लक्षण में हो जाता है। तथाहि—'यज्ञ सम भूमि में करें' इत्यादि जो नियमविधि के वाक्य हैं इनमें प्रथमतः प्राप्त सम और विषम सभी भूमिओं में से समभूमि में विधि का नियमन = संकोच कर दिया जाता है। इसी प्रकार परिसंख्या में भी सभी पंचनखी प्राणियों के भक्षण की जो प्राप्ति रहती है उसमें भी केवल पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण तक विधि का संकोच रहता है। शंका होती है कि पाँच पंचनखी प्राणियों के निषेधमात्र में यहाँ तात्पर्य है अतः पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण में विधि के नियमन में वाक्य का तात्पर्य नहीं माना जा सकता तब यह कैसे कहा कि 'यह लक्षण उभयानुगामी है'। [उत्तर] ठीक है, [मीमांसा में भले ही न हो, हमारे यहाँ तो] आरम्भ में पाँच पंचनखी प्राणियों के भक्षण की विधि रहती है किन्तु जब इसका पर्यवसान अन्य पंचनखी प्राणियों के भक्षण के निषेध में सिद्ध होता है तब वही इसमें अलंकारत्व ला देता है क्योंकि वही [निषेध में पर्यवसान] इसका प्राण है, और यह [निषेध में पर्यवसान] दोनों [नियम और परिसंख्या] में समान रूप से रहता है। यदि कहें कि नियम में विधि और निषेध दोनों में ही तात्पर्य रहता है, जब कि परिसंख्या में केवल निषेध में, इस प्रकार इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है, तो इस कथन का कोई प्रभाव नहीं, क्योंकि इन दोनों में विधि का निषेध में पर्यवसित होना [भी तो] समान है, जिसके आधार पर यहाँ अलंकारत्व आ जाता है। जहाँ तक 'नियम में विधि में भी तात्पर्य रहता है, परिसंख्या में नहीं' इस [अन्तर] का संबन्ध है वह यहाँ (अलंकारत्वमीमांसा में) कोई महत्त्व नहीं रखता इसलिए अनादरणीय है। यहाँ [अलंकार क्षेत्र में] पाँच पंचनखी प्राणियों के अभक्षण में कोई पाप नहीं होने वाला है जिससे एक का तात्पर्य विधि और निषेध दोनों में और दूसरे का तात्पर्य केवल निषेध में मान कर [रत्नाकरकार के समान नियम और परिसंख्या इन] दोनों को दो स्वतन्त्र अलंकार माना जाए। ऐसा होने पर तो सभी अलंकारों में भेद का कारण थोड़ा-थोड़ा अन्तर मिलना संभव है अतः प्रत्येक में भिन्न-भिन्न अनेक लक्षण करने की आपत्ति आएगी। और तब

अलंकार भी सख्यातीत हो जायेंगे। इसलिए नियम को इसी परिसंख्या का भेद मानना ही ठीक होगा [न कि रत्नाकरकार के समान अलग अलंकार मानना]। यही कहा = 'अत एव' इत्यादि। स्वीक्रियते = स्वीकार की जाती है—' अर्थात् भेदरूप से। इसका उदाहरण है 'किमासेव्य पुंसाम्०'। इन उदाहरणों में गंगाजी के तट तथा राजा की सेवाएँ एक साथ प्राप्त नहीं होतीं [केवल राजसेवा ही प्राप्त होती है], अतः केवल गंगातट में ही अकेले में सेवाविधि का नियमन कर दिया यह नियमन निषेधपर्यवसायी हुआ। इसीलिए कहा कि वह प्रायिक = है = कभी मान्य नहीं भी होता ॥'

विमर्श.—परिसंख्या शब्द का अर्थ निषेधबोध है। परि का अर्थ विमर्शिनी में उद्धृत 'अपपरी वर्जने' सूत्र के अनुसार निषेध है ही 'परेर्वर्जने' [८।१।५] सूत्र के अनुसार भी यही अर्थ है। संख्या का अर्थ ज्ञान होता है। इस प्रकार परिसंख्या शब्द का यौगिक अर्थ निषेधज्ञान निकलता है। पूर्वमीमांसा में जैमिनि का सूत्र है 'परिसंख्या' [१।२।४२] इसमें परिसंख्या का अर्थ निषेधज्ञान ही है। अश्वमेध के प्रकरण में श्रुतिवचन है—'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' [वाज० सं० २२.२] इससे पशु की लगाम पकड़ने का अर्थ निकलता है। तब प्रश्न होता है—'किस पशु की', अश्व का या अन्य किसी पशु का। उत्तर में शतपथब्राह्मण का वचन है 'अश्वाभिधानीमादत्ते' [१३।१।८।१] 'इस मंत्र के द्वारा अश्व की लगाम पकड़ता है'। इस वचन का तात्पर्य अश्वेतर पशुओं की लगाम पकड़ने के निषेध में माना जाता है। 'परिसंख्या'—सूत्र द्वारा यही अर्थ प्रतिपादित किया जाता है [द्र० सायणकृत ऋग्वेदभूमिका] देवलस्मृति के नाम से प्रसिद्ध [काव्यप्रकाश वामनी की परिसंख्या पर पादटिप्पणी] किन्तु उसके कलकत्ता के वर्मारामा व्यापारी आमनसुखरायजी मोर द्वारा प्रकाशित संस्करण में अप्राप्त 'पंच पंचनखा भक्ष्याः' प्रयोग, जिसका स्पष्टीकरण ऊपर किया जा चुका है, भी परिसंख्या का उत्तम और इसीलिए प्रायः इस प्रसंग में सर्वत्र उल्लिखित प्रयोग है।

रत्नाकरकार ने विधि, नियम और परिसंख्या तीनों को तीन स्वतन्त्र अलंकार माना है। इनके लक्षण उन्होंने इस प्रकार बनाए हैं—

१ = अनन्यथासिद्धहेतुफलप्रेषण विधिः ॥ ८२ ॥
२ = अन्यनिषेधार्थोऽपि विधिर्नियमः ॥ ८३ ॥
३ = प्राप्तस्य [अन्यनिषेधार्थो विधिः] परिसंख्या ॥ ८४ ॥

दोनों के परस्पर में अन्तर भी उन्होंने बतलाए हैं और उदाहरण भी दिए हैं। इनमें 'किमासेव्यं०' को नियमालंकार का उदाहरण माना गया है और 'विलङ्घयन्ति०' पद्य को परिसंख्या का जिसे विमर्शिनीकार ने भी उद्धृत किया है। विमर्शिनीकार सर्वस्वकार का समर्थन करते और नियम तथा परिसंख्या में अलंकारत्व का बीज एक ही मानकर इन्हें भिन्न मानना अनुचित बतलाते हैं। यह बीज है निषेध्य अर्थ की प्रतीति या अर्थान्तर के निषेध की प्रतीति। विधि के विषय में उन्होंने यहाँ कोई चर्चा नहीं की है।

परिसंख्या का इतिहास—

दण्डी, भामह, वामन और उद्भट की दृष्टि परिसंख्या पर नहीं गई। इसे प्रथमतः रुद्रट ने खोजा है। इनका विवेचन—

रुद्रट = 'पृष्टमपृष्टं वा सद्गुणादि यत् कथ्यते क्वचित् तुल्यम्।
अन्यत्र तु तदभावः प्रतीयते सेति परिसंख्या' ॥ ७।७९ ॥

'पूछने या न पूछने पर जहाँ अनेकत्र साधारण गुण आदि का कहीं इस प्रकार अस्तित्व बतलाया जाए कि उससे कहीं अन्यत्र अभाव प्रतीत हो तो उसे परिसंख्या कहते हैं। उदाहरण—

प्रश्नपूर्वक परिसंख्या = 'किं सुखमपारतन्त्र्यम्' = सुख क्या है ? स्वतन्त्रता।

प्रश्नरहित परिसंख्या = 'कौटिल्यं कचनिचये०' पद्य ही।

मम्मट = रुद्रट की ही पदावली में लिखते हैं :—

'किंचित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते। तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥'

'प्रमाणान्तरावगतमपि वस्तु शब्देन प्रतिपादितं प्रयोजनान्तराभावात् सदृशवस्त्वन्तरव्यवच्छेदाय यत् पर्यवस्यति सा भवेत् परिसंख्या। अत्र च कथनं प्रश्नपूर्वकं तदन्यथा च परिदृष्टम्, तथा तमयत्र व्यपोह्यमानस्य प्रतीयमानता वाच्यत्वं चेति चत्वारो भेदाः।'

'पृष्ट या अपृष्ट कोई वस्तु शब्द से कथित होकर वैसी ही किसी अन्य वस्तु का निराकरण कराए तो वह परिसंख्या मानी गई है।' कोई वस्तु किसी अन्य प्रमाण से विदित होती है (अतः जिसके लिए शब्द प्रयोग की अपेक्षा न हो) तथापि उसे शब्द से कहा जाता है तो वह अन्य प्रयोजन के अभाव में वैसी ही अन्य वस्तु के निराकरण का कारण बनती है। उसी को परिसंख्या माना जाता है। इसमें कथन प्रश्नपूर्वक या तद्रहित रहता है साथ ही निराकरणीय वस्तु कहीं प्रतीयमान होती है और कहीं वाच्य, फलतः इसके चार भेद हो जाते हैं। उदाहरण = एक-एक कर दे दो जो सर्वस्वकार ने दिये हैं। स्पष्ट ही मम्मट ने रुद्रट के आगे दो अतिरिक्त भेदों की कल्पना भर की शेष सारा विवेचन उनका समान है। मम्मट ने परिसंख्या को मीमांसा की पृष्ठभूमि से यथाशक्ति अछूता रखना चाहा था। सर्वस्वकार ने उसमें मीमांसा को खुलकर स्थान दिया। रत्नाकर और विमर्शिनी ने उसे और नचा दिया।

परवर्ती आचार्यों में रत्नाकर का मत इसी विमर्श में पहले आ चुका है। जयदेव और अप्पयदीक्षित का लक्षण यह है—

जयदेव, दीक्षित—'परिसंख्या निषिध्यैकमन्यस्मिन् वस्तुयन्त्रणम्।
स्नेहक्षयः प्रदीपेषु न स्वान्तेषु नतभ्रुवाम्॥'

'एक का निषेधकर अन्य में वस्तुनियन्त्रण परिसंख्यालंकार कहलाता है। उदा०—स्नेह [प्रीति तथा तैल] क्षय दीप में है, स्त्रियों में नहीं।'

दीक्षित जी ने इसमें निषेध को शाब्द बतलाया है और आर्थ निषेध के लिए रत्नाकर तथा विमर्शिनी में उद्धृत 'विलङ्घयन्ति०' पद्य उद्धृत किया है।

पण्डितराज = ने परिसंख्या के विषय में अनेक नवीन सूचनाएँ दी हैं जो रुद्रट, मम्मट, सर्वस्वकार, रत्नाकर, विमर्शिनी और कुवलयानन्द में नहीं मिलतीं। उनके रसगंगाधर से विदित होता है कि, कुछ आचार्य परिसंख्या को अलंकार केवल वहीं मानते हैं जहाँ निषेध आर्थ या प्रतीयमान होता है, शाब्द नहीं। शाब्द में वे केवल परिसंख्यात्व मानते हैं अलंकारत्व नहीं। पण्डितराज ने इन आचार्यों का नामोल्लेख नहीं किया है। दूसरी यह सूचना भी मिलती है कि विमर्शिनीकार ने जिस 'पंच पंचनख प्राणी भक्ष्य हैं'—इस वाक्य में परिसंख्या को अलंकार माना है, कुछ आचार्य इसमें भी केवल परिसंख्यात्व मानते हैं। उनका तर्क है कि यह केवल लोक वाक्य है, इसमें कविप्रतिभा नहीं है। इसी प्रकार 'किमासेव्यं पुंसा०' में सेव्यत्वेन कल्पित गंगातट वास्तविक वस्तु है प्रातिभ नहीं, अतः यहाँ भी 'पंच पंचनखाः' के समान परिसंख्यामात्र है, परिसंख्यालंकार नहीं। इन्होंने यह भी कहा है कि इन आचार्यों के अनुसार 'किं भूषणं सुदृढमत्र यशः' इत्यादि स्थलों में भी परिसंख्या नहीं, रूपक है।

ये सब मत पण्डितराज स्वयं को अमान्य प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने इनका उल्लेख मात्र किया है वह भी परिशिष्ट के रूप में। उनका स्वमत इस प्रकार है—

'सामान्यतः प्राप्तस्यार्थस्य कस्माच्चिद् विशेषाद् व्यावृत्तिः परिसंख्या'।

'सामान्यतः प्राप्त अर्थ का किसी विशेष से अलगाव परिसंख्या कहलाता है'।

नियम को परिसंख्या का ही एक प्रकार स्वीकार करते हुए पण्डितराज ने समर्थन में वही तर्क दिया है जो सर्वस्वकार और विमर्शिनीकार ने दिया था—'एक ही लक्षण में दोनों का संग्रह'। पण्डितराज ने साहित्यसिद्धान्त में मान्य नियम और परिसंख्या के अभेद को व्याकरणसिद्धान्त से भी पुष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि व्याकरण में भी परिसंख्या को नियमशब्द से कहा जाता है। उदाहरण के रूप में अष्टाध्यायी के प्रथम अध्याय के द्वितीय चरण का 'कृत्तद्धितसमासाश्च' यह छयालीसवाँ सूत्र प्रस्तुत किया है। इस सूत्र में 'समास' का ग्रहण वाक्यस्वरूप समासेतर सार्थ शब्दसमुदाय से प्रातिपदिक संज्ञा की व्यावृत्ति के लिए किया गया है। क्योंकि इसके पूर्व के पैंतालीसवें सूत्र 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' के द्वारा अर्थवत्ता के साथ प्रातिपदिकत्व की स्थापना की गई है। इसके अनुसार जो जो शब्द सार्थक हैं वे यदि धातु और प्रत्यय नहीं हैं तो प्रातिपदिक हैं। वाक्य और समास दोनों ही ऐसे शब्दों में आते हैं। 'राजा का पुरुष', 'मेरी पोथी' आदि वाक्य न तो प्रत्ययरूप हैं और न धातुरूप, अर्थ इनसे विदित होता ही है, अतः इन्हें इस पैंतालीसवें सूत्र से ही प्रातिपदिक माना जा सकता था। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र के द्वारा कहा गया कि 'कृत्, तद्धित और समास भी प्रातिपदिक होते हैं'। इसमें समास को प्रातिपदिक संज्ञा का विधान पूर्वसूत्र 'अर्थवद०' से गतार्थ होकर व्यर्थ सिद्ध होता है। उसकी सार्थकता सिद्ध होती तब जब यह अर्थ निकाला जाता है कि समासेतर वाक्यसमुदाय में प्रातिपदिक संज्ञा न हो। इसी प्रकार यह प्रयोग परिसंख्यात्मक हुआ। किन्तु व्याकरण शास्त्र में इसे परिसंख्या न कहकर नियम कहा जाता है—यथा 'समासग्रहणं नियमार्थम्, ... समासग्रहणस्य नियमार्थत्वाद् वाक्यस्य अर्थवतः संज्ञा न भवति—काशिका'। पूर्ववर्ती आचार्यों में इनके भिन्न होने की मान्यता को भी पण्डितराज ने उपस्थित किया है। तदर्थ उन्होंने विमर्शिनी में उद्धृत 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ०' कारिका ही प्रमाणरूप से उपस्थित की है और उसकी व्याख्या भी की है।

पण्डितराज ने भी परिसंख्या के चार उपर्युक्त भेद माने हैं।

विश्वेश्वर ने भी पण्डितराज की ही सरणि पर चल कर आरम्भ में परिसंख्या के चार भेद स्वीकार किये हैं और अन्त में निराकरणीय अर्थ की व्यङ्ग्यता में ही परिसंख्या के अलंकार होने की रट दोहरा दी है। उनका लक्षण यह है—

'पृष्टमपृष्टं चोक्तं यद् व्यङ्ग्यं वापि वाच्यं वा।
फलतीतरव्यपोहे परिसंख्या सा तु संख्याता॥'

पूछा गया अथवा न पूछा गया कोई अर्थ यदि कहा जाय और वह अन्य अर्थ के वाच्य या व्यङ्ग्य निराकरण में परिणत हो तो वह परिसंख्या होती है। यहाँ वह ध्वनिरूप होती है। विश्वेश्वर ने नियम और परिसंख्या को एक मानने का समर्थन पण्डितराज के ही समान व्याकरणशास्त्र के प्रमाण द्वारा किया है। उनके अनुसार व्याकरण महाभाष्य में 'पंच पंचनखाः' प्रयोग में परिसंख्या को नियम ही कहा गया है। भेद इन्होंने भी चार ही माने हैं।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका परिसंख्या पर इस प्रकार है—

'परिसंख्या त्वनेकत्र प्राप्तस्यैकत्र यन्त्रणम् ।
चतुर्धा पक्षवर्ज्योक्त्योर्भावाभावादियं मता ॥
न परं युगपत् प्राप्तिः पक्षेऽपि प्राप्तिरिष्यते ।
परिसंख्यानियमयोरतोऽत्रालौकिकी स्थितिः ॥

—'अनेक स्थानों पर प्राप्त का एक स्थान पर नियमन परिसंख्या कहलाती है। यह प्रश्न तथा वर्ज्य [परिहार्य] अर्थ के कथन और अकथन से चार प्रकार की होती है। यहाँ केवल युगपत् अनेकत्र प्राप्ति ही नहीं, पाक्षिक प्राप्ति भी गिनी जाती है, अतः परिसंख्या और नियम में असामान्यरूप से अभेद की स्थिति रहती है।'

मूलपाठ—मूल सर्वस्व में 'कस्यचित् परिवर्जनेन' के पहले 'परि अपवर्जने' विमर्शिनी के आधार पर हमने जोड़ा है। अन्य प्रतियों में यह अंश नहीं मिलता। निर्णयसागरीय प्रति में 'कौटिल्यं कचनिचये०' के बाद की द्वितीय पंक्ति में 'वस्त्वन्तरं शाब्दमार्थं च' पाठ पाठान्तर में रखकर 'वस्त्वन्तरशाब्दमात्रं' पाठ मूल में माना गया है। विमर्शिनी में 'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ०' उद्धरण के बाद की तृतीय पंक्ति में 'तदा नियमविधिः। न पुनर०' अंश का 'न' निर्णयसागरीय प्रति में नहीं है और चतुर्थ पंक्ति में 'पर्यवसायित्वमेव न, दलनादेः' इस प्रकार आया 'न' भी नहीं है।

[सर्वस्व]

[सूत्र ६४] दण्डापूपिकयार्थान्तरापतनमर्थापत्तिः ।

दण्डापूपयोर्भावो दण्डापूपिका। 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' इति वुञ्। पृषोदरादित्वाच्च वृद्ध्यभावः। यथा—अहमहमिकेत्यावाविति केचित्। अन्ये तु दण्डापूपौ विद्येते यस्यां नीतौ सा दण्डापूपिका नीतिः। एवमहं शक्तोऽहं शक्तोऽस्यामिति अहमहमिकेतिवन्मत्वर्थीयप्रत्ययमित्याहुः। अपरे दण्डापूपाविव दण्डापूपिकेति 'इवे प्रतिकृता'विति कनं वर्णयन्ति। अत्र हि '*मूषककर्तृकेण दण्डभक्षणेन तत्सहभाव्यपूपभक्षणम् अर्थात् सिद्धम्*' एष न्यायो दण्डापूपिकाशब्देनोच्यते। ततश्च यथा दण्डभक्षणादपूपभक्षणमर्थायातं तद्वत् कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तौ सामर्थ्यात्समानन्यायत्वलक्षणाद् यदर्थान्तरमापतति सार्थापत्तिः। न चेदमनुमानम्। समन्यायस्य संबन्धरूपत्वाभावात्। असंबन्धे चानुमानानुत्थानात्। अर्थापत्तिश्च वाक्यविदां न्याय इति तज्जातीयत्वेनेहाभिधानम्।

इयं च द्विधा। प्राकरणिकादप्राकरणिकस्यार्थापतनमेकः प्रकारः। अप्राकरणिकात् प्राकरणिकस्यार्थापतनं द्वितीयः प्रकारः।

आद्यो यथा—

'पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥'

अत्र विभुवृत्तः प्राकरणिको लोकवृत्तान्तमप्राकरणिकमर्थादाक्षिपति ।'
द्वितीयो यथा—

'धृतधनुषि बाहुशालिनि शैला न नमन्ति यत्तदाश्चर्यम् ।
रिपुसंज्ञकेषु गणना कैव वराकेषु काकेषु ॥'

अत्र शैलवृत्तान्तोऽप्राकरणिको रिपुवृत्तान्तं प्राकरणिकमर्थादाक्षिपति ।
कश्चिन्न्यायसाम्ये निमित्तं श्लेषेण गम्यते—

'अलंकारः शङ्काकरनरकपालं परिकरो
विशीर्णाङ्गो भृङ्गी वसु च वृष एको गतवयाः ।
अवस्थेयं स्थाणोरपि भवति सर्वामरगुरो-
विधौ वक्रे मूर्ध्नि प्रभवति वयं क्व पुनरमी ॥'

अत्र विधौ वक्रे इति श्लिष्टम्, अप्राकरणिकस्याणुवृत्तान्ताद् प्राकरणिकार्थापतनम् ।

[सू० ४४] दण्डापूपिका के द्वारा अन्य अर्थ की सिद्धि अर्थापत्ति [नामक अलंकार कहलाती है] ॥

[वृ०] दण्ड और अपूप [पुआ] का भाव हुआ दण्डापूपिका । [इस शब्द की व्युत्पत्ति पर] कुछ का मत है कि [इस शब्द के एकांश दण्डापूप में द्वन्द्व होने के कारण] 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' [५।१।१३३ पा० = वुञ् प्रत्यय = द्वन्द्वयुक्त शब्द और मनोज्ञादिशब्दों से भी [होता है]' सूत्रसे वुञ् प्रत्यय हुआ [इसमें से शेष रहता है 'वु' और सूत्र ७।१।१ से उसे हो जाता है अक, स्त्रीलिंग होने से 'अ' का हो जाता है 'इ', इस प्रकार शब्द बन जाता है दण्डापूपिका, 'ञ्' का लोप होने से पूर्वपद] वृद्धि [प्राप्त है किन्तु वह] 'पृषोदरादि' [सू० ६।३।१०९ में उपलब्ध अपवाद] के कारण नहीं हुई जैसे 'अहमहमिका—आदि शब्दों में [नहीं होती] दूसरों का कहना है कि 'दण्डापूपिका' का अर्थ है वह नीति जिसमें दण्ड और अपूप हों। इस प्रकार इस शब्द में ['दण्डापूप'—इस द्वन्द्व के आगे] मत्वर्थीय [युक्तता अर्थ का] 'ठन्' प्रत्यय [अत इनिठनौ ५।२।११५-सूत्र से] हुआ है [जिसके शेष बचे 'ठ' को 'ठस्येकः'—७।३।५० से 'इक' हो जाता है] जैसे 'इस प्रकार मैं समर्थ हूँ, मैं समर्थ हूँ इस क्रिया में' इस अर्थ की विवक्षा में 'अहमहमिका' शब्द में होता है। अन्य कुछ के अनुसार यहाँ 'दण्डापूप के समान = दण्डापूपिका' इस प्रकार 'इवे प्रतिकृतौ' [५।३।९६] 'सादृश्य [युक्त] अर्थ में प्रयुक्तशब्द से उपमेय अर्थ में [कन् प्रत्यय होता है] सूत्र के द्वारा 'कन्' प्रत्यय बतलाते हैं [जैसे 'दीपक' शब्द में]। प्रकृत में [जो] दण्डापूपिका शब्द [सूत्र में आया है उस] का अर्थ है 'चूहों के द्वारा जब दण्ड ही खा डाला गया तब उसमें लटके पूओं का खा डालना अपने आप सिद्ध है'—यह दृष्टान्त। इस प्रकार 'जैसे दण्डभक्षण से अपूपभक्षण अपने आप चला आता है वैसे ही किसी अर्थ की सिद्धि हो जाने पर स्थितिसाम्य के आधार पर जहाँ अन्य किसी अर्थ की सिद्धि अपने आप बतलाई जाती है तो उसे अर्थापत्ति [नामक अलंकार] कहते हैं। यह अनुमानस्वरूप नहीं है, क्योंकि स्थितिसाम्य [व्याप्ति] सम्बन्धरूप नहीं होता, और संबन्ध के बिना अनुमान का उत्थान नहीं होता। अर्थापत्ति को मीमांसकों ने न्याय [हेतु] माना है। यह अर्थापत्ति भी वैसी ही है, इस कारण इसे यहाँ [वाक्यन्यायमूलक अलंकारों के प्रसंग में] बतलाया गया है।

यह दो प्रकार की होती है। एक प्रकार वह जिसमें प्राकरणिक अर्थ से अप्राकरणिक अर्थ की सिद्धि होती है और दूसरा प्रकार वह जिसमें अप्राकरणिक अर्थ से प्राकरणिक अर्थ की सिद्धि। इनमें प्रथम, यथा—

'पशुपति [शिव] ने भी वे दिन बड़ी कठिनाई से बिताए, क्योंकि वे पार्वती से मिलने के लिए उत्कण्ठित थे। जब उन विभु [जितेन्द्रिय] को भी ये भाव स्पर्श कर सकते हैं तब अन्य किस अवश [इन्द्रियों के वशीभूत] प्राणी को ये विकारमग्न न करेंगे' [कुमार० ६]

यहाँ शिववृत्तान्त प्राकरणिक है, वह अप्राकरणिक लोक [सामान्य व्यक्ति] वृत्तान्त को स्वतः सिद्ध करता है।

द्वितीय, यथा—

'आश्चर्य है कि शैल प्रशस्त भुजाओं से समृद्ध वीर पुरुष [किसी वर्णनीय व्यक्ति] द्वारा धनुष उठा लेने पर भी झुका नहीं करते, शत्रुनामक बेचारे कीओं की तो गिनती ही क्या।'

यहाँ शैलवृत्तान्त अप्राकरणिक है। यह प्राकरणिक शत्रुवृत्तान्त को स्वतः खींच लाता है।

कहीं स्थितिसाम्य में कारण का ज्ञान श्लेष के द्वारा होता है [यथा]—[विधु और विधि दोनों का सप्तमी के एकवचन में 'विधौ' यही एक रूप बनता है, फलतः एकशब्दवाच्यता के कारण दोनों का अभेदाध्यवसाय हो जाता है। इसी आधार पर निम्नलिखित सूक्ति में कहा जा रहा है—]

'वक्र विधौ [विधि = विधाता और विधु चन्द्रमा] के चलते सभी देवताओं के स्वामी स्थाणु [अपरिणामी या मूलभूत शिव] की भी यह दशा होती है कि डरावना नरकपाल उनका आभूषण है, परिजन [सेवक] हैं अंगभंग वाले भृङ्गी, धन है केवल एक बैल और वह भी बीती उमर का बूढ़ा; तब ये जो हम लोग हैं, हम क्या हैं!

यहाँ 'विधौ' और 'वक्र' शब्दों में श्लेष है और अप्राकरणिक शिववृत्तान्त से प्राकरण [अस्मदादि वृत्तान्तरूपी] अर्थ खिंच आता है।'

विमर्शिनी

दण्डापूपिकयेत्यादि। शब्दव्योत्पत्तिं तावदाह—दण्डेत्यादि। द्वन्द्वसंज्ञकस्याद्वस्यानेन वुञ्। शैष्योपाध्यायिकेतिवत्। ननु चास्य अचो ञ्णितीति जित्वाद् वृद्धिः किं न भवतीत्याशङ्क्याह—पृषोदरेत्यादि। यथोपदिष्टमित्यनेन हि शिष्टप्रयोगभाजां शब्दानां व्याकरणशास्त्रेण लोपागमवर्णविकारादि यदविहितं तद्भवति। लक्ष्यमूलत्वाद्व्याकरणस्य। तेनात्राविहितोपि वृद्ध्यभावोऽनेन सिद्धः। इतिशब्दो हेतौ। 'अत इनिठनौ' इति ठन्।

एतच्च पक्षत्रयं सामान्येनैवाभिदधता अन्यकृता स्वयमेवोपपन्नः पक्ष आश्रयणीय इति सूचितम्। तेनात्राद्य एव पक्ष आश्रयणीयः, पक्षान्तरयोरनुपपत्तेः। तथा चात्र 'एकाचरात्कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' इत्यादुक्त्या तस्य सप्तम्यर्थे निषिद्धत्वात् ठनेव न भवति। अथापि विषयनियमार्थस्येतिकरणस्यात्रापि संबन्धादिहापि भवतीति चेत्। न। एतद्धि नियतोदाहरणविषयम्। अन्यथा हि निषेधकस्याकरणप्रसङ्ग एव स्यात्। अहमहमिकाशब्दस्य पुनरेतदव्ययत्वमेवायुक्तम्। अदन्तात् प्रातिपदिकाट्ठनो विहितत्वात्। कनोऽप्यत्र न प्राप्तिः। तस्य प्रतिकृतौ गम्यमानायामिवार्थे वर्तमानात् प्रातिपदिकादुक्तत्वात्। अदन्तात् प्रातिपदिकादुक्तत्वात् प्रतिकृत्यभावाच्च कन्न भवति। अन्यथा हि गौरिव गवय इत्यत्रापि कनः प्रसङ्गः। तदित्थमाद्य एव पक्षो ज्यायान्।

नन्वत्र किमर्थसिद्धचा तत्सहभाविनोऽर्थस्य कस्यापतनं स्थितं येनेह दृष्टान्तत्वेन दर्शनमित्याशङ्कयाह—अत्रेत्यादि। एतदेव प्रकृते योजयति—तदत्रेत्यादिना। समानन्यायत्वलक्षणादिति। येनैव न्यायेनैकस्यार्थसिद्धिस्तेनैवान्यस्यार्थस्येत्यर्थः। नन्वर्थादर्थान्तरप्रतीतेः किमयमनुमानमेव न भवतीत्याशङ्कयाह—न चेदमित्यादि। सम्बन्धरूपत्वाभावादिति। दण्डभक्षणे ह्यपूपभक्षणं समानन्यायत्वादुचितमपि न निश्चितमेव। दण्डभक्षणेऽपि पृथक्प्रदेशावस्थानादिना केनापि निमित्तेनापूपानामभक्षणस्यापि भावात्। अनुमानं पुनर्नियतमेवार्थादर्थान्तरस्यापतनमित्यनयोः पृथग्भावः। इहेति। वाक्यन्यायमूलालंकारप्रस्तावे। द्विविधेत्यनेनापततोऽर्थान्तरस्य साम्यादिना बहुप्रकारत्वं न तथा वैचित्र्यावहमिति सूचितम्। आपाततः पुनरर्थान्तरस्योपादानानुपादानाभ्यां संभवत्यस्या वैचित्र्यम्। तत्रोपादाने ग्रन्थकृतैवोदाहृतम्। अनुपादाने यथा—

'श्रीशारदापादरजःपवित्रः स्पष्टाः समन्ताद्धिमवन्मरुद्भिः।
यत्रोल्लसद्भिर्भरशालिगर्भसद्मभिः सन्त्यपि गर्भरूपाः॥'

तत्र गर्भरूपेभ्योऽन्येषां कः वार्तामापतदर्थान्तरमनुपात्तम्। श्लेषेणेति। श्लेषमूलयातिशयोक्त्येत्यर्थः।

'दण्डापूपिकया'—इत्यादि। पहले शब्द व्युत्पत्ति बतलाते हैं—दण्ड इत्यादि। यह द्वन्द्वसंज्ञक है इसलिए इस शब्द से 'वुञ्' ठीक वैसे ही जैसे 'अध्योपाध्यायिका' में। [शंका] तो इसमें 'अचो ञ्णिति' [ञ् और ण् का लोप हो तो उपान्त्य अ, इ, उ, ए, ये में वृद्धि होती है] इस [पा० ७।२।११५] सूत्र से वृद्धि क्यों नहीं हुई क्योंकि यहाँ 'ञ्' का लोप है, [उत्तर में] कहते हैं—पृषोदर = इत्यादि। [पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ७।३।१०९ सूत्र में] 'जैसा बोला गया है।' यह कहकर यह बतलाया कि व्याकरण शास्त्र से जिन शब्दों में लोप, आगम, वर्णविकार आदि नहीं होते और वे शिष्ट पुरुषों द्वारा बोले जाते हैं तो उन्हें विहित ही मान लेना चाहिए। क्योंकि व्याकरण तो लक्ष्य के अनुसार चलता है। इस प्रकार यहाँ ['दण्डापूपिका' में] वृद्धि का अभाव व्याकरणविहित न होने पर भी सिद्ध ही मानना चाहिए। ['इवे प्रतिकृतौ इति' इसमें आया] इति शब्द हेत्वर्थक है अर्थात् इस सूत्र के द्वारा ठन् होगा 'अत इनिठनौ' सूत्र से।

ये जो तीन पक्ष हैं इन्हें समान रूपसे प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार ने यह सूचित किया कि इनमें से जो पक्ष शास्त्रसम्मत हो उसे स्वयं ही अपना लिया जाए। यहाँ प्रथम पक्ष ही अपनाया जा सकता है, क्योंकि अन्य दो पक्ष शास्त्रसम्मत सिद्ध नहीं होते। इसमें प्रमाण है—'एकाक्षरात्' [५।२।११५-काशिका] इत्यादि वचन। इसका अर्थ है—

[ख, स्व आदि] एक अक्षर वाले शब्दों, [कारक आदि] कृत् प्रत्यय वाले शब्दों, [व्याघ्र आदि] जाति शब्दों तथा सप्तमीविभक्ति के अर्थ से युक्त [जैसे जिसमें दण्ड हैं ऐसी शाला-दण्डवती-आदि] शब्दों से ये दोनों [इनि और ठन्] प्रत्यय नहीं होते'। इन वचनों।, से ठन् प्रत्यय सप्तमी विभक्ति से युक्त अर्थ [नौती] में निषिद्ध है। अतः ठन् होगा ही नहीं। यदि कहें कि [भाष्यकार द्वारा ही] निषेध वैकल्पिक माना गया है, अतः यहाँ यह प्रत्यय सम्भव है तो यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह विकल्प कुछ ही गिने चुने प्रयोगों के लिए है, प्रत्येक प्रयोग के लिए नहीं। यदि ऐसा न हो तो निषेध करना निरर्थक सिद्ध होगा। अहमहमिका शब्द में तो यह एकदम ही अयुक्त है। क्योंकि 'ठन्' का विधान ['अत इनिठनौ' सूत्र के द्वारा] ह्रस्व अकार से युक्त प्रातिपदिक शब्द से किया गया है [जब कि अहम् शब्द मकारान्त शब्द है।] भानुजिदीक्षित ने इसमें 'व्रीह्यादिभ्यश्च' ५।२।११६, सूत्र से ठन् माना है। व्रीह्यादि में 'अत इनि-

ठनौ' से 'अतः' की अनुवृत्ति नहीं होती यद्यपि व्रीह्यादिगण में अहमहम् शब्द नहीं मिलता] यहाँ कन् प्रत्यय की भी प्राप्ति नहीं होती क्योंकि वह सादृश्यार्थक प्रातिपदिक से तब होता है जब प्रतिकृति रूपी अर्थ गम्य हो। यह भी अदन्त प्रातिपदिक से विहित होता बतलाया गया है। प्रतिकृति रूपी अर्थ का अभाव होने से भी कन् नहीं हो सकता। नहीं तो 'गौरिव गवयः' = 'गवय नामक वन्य पशु बैल जैसा होता है' यहाँ भी कन् प्रत्यय होने लगेगा [यहाँ उपमेयरूप प्रतिकृति = गवय शब्दतः कथित है, गम्य नहीं] तो इस प्रकार प्रथम व्युत्पत्ति ही मान्य है।

[शंका] सिद्धि यहाँ किस अर्थ की होती है और आक्षेप उसके साथी किस अर्थ का जिसके लिए इसे दृष्टान्त रूपसे बतलाया गया है। इस पर उत्तर देते हैं—अत्र। प्रकृत में इसी अर्थ की योजना करते हुए लिखते हैं—तत्रश्च। समानन्यायत्वलक्षणात् = स्थितिसाम्य के कारण = अर्थात् जिस हेतु से एक अर्थ की सिद्धि होती है उसी से इस अन्य अर्थ की भी सिद्धि हो जाती है। [शंका] 'एक अर्थ से अन्य अर्थ का ज्ञान होने के कारण इसे अनुमान रूप ही क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका कर कहते हैं—नचेदम्०। सम्बन्धरूपत्वाभावात् = सम्बन्धरूप न होने से = अर्थात् दण्ड का भक्षण होने पर अपूप का भक्षण स्थितिसाम्य के कारण उचित तो है किन्तु निश्चित नहीं है। क्योंकि यदि अपूप किसी अन्य स्थान पर रख दिए गए हों या ऐसा ही कोई अन्य कारण हो तो दण्ड का भक्षण हो जाने पर भी अपूप का अभक्षण भी संभव होता है।

जहाँ तक अनुमान का सम्बन्ध है उसमें एक अर्थ से दूसरे अर्थ का ज्ञान नियमतः होता ही है। इस कारण यह [अर्थापत्ति] उससे पृथक् है। इह = यहाँ = वाक्यन्यायमूलक अलंकारों के प्रकरण में। द्विविध = दो प्रकार की = इत्यादि कहकर यह सूचित किया कि अन्य अर्थ [रत्नाकर में प्रतिपादित] साम्य आदि के आधार पर अनेक प्रकार का हो सकता है [और रत्नाकरकार ने इसे २४ प्रकार का बतलाया भी है] तथापि उसमें उतना चमत्कार नहीं रहता। किन्तु आपाततः इसमें अन्य अर्थ के उपादान और अनुपादान के आधार पर चमत्कारगत वैशिष्ट्य माना जा सकता है। इनमें से उपादान का उदाहरण तो स्वयं ग्रन्थकार ने ही दे दिया है [यथा 'पशुपति०' पद्य में अवश शब्द द्वारा तथा 'धृतधनुषि' पद्य में 'रिपु०' शब्द के द्वारा] अनुपादान का उदाहरण यह है—

'जहाँ हिमवान् की श्रीशारदा की चरणरज से पवित्र हवाओं से स्पृष्ट बच्चे भी शास्त्रों के भीतरी रहस्यों पर पर्याप्त सन्दर्भ [ग्रन्थ] रचा करते हैं।' यहाँ अर्थ निकलता है कि बच्चों के अतिरिक्त व्यक्तियों [वयस्कों] की बात ही क्या। यह यहाँ शब्दतः कथित नहीं है। श्लेषेण = श्लेष के द्वारा = अर्थात् श्लेषमूलक अतिशयोक्ति के द्वारा।

अर्थापत्ति अलंकार का इतिहास—

अर्थापत्ति अलंकारसर्वस्वकार की ही देन है। भामह से लेकर मम्मट तक के ग्रन्थों में यह नहीं मिलता। परवर्ती आचार्यों में—

रत्नाकरकार ने इस दिशा में सर्वस्वकार का बहुत दूर तक अनुसरण किया है। उनका अर्थापत्ति लक्षण इस प्रकार है—

'दण्डापूपिकयाऽऽपतनमर्थापत्तिः' ॥ ८१ ॥

दण्डापूपिका का स्पष्टीकरण एक पंक्ति में इन्होंने इस प्रकार किया है—

'मूषकैर्दण्डानां भक्षणेऽपूपभक्षणमर्थात् सिद्धमिति न्यायो दण्डापूपिका। अनेन न्यायेन कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तावर्थादर्थान्तरस्यापत्तिरिति।'

'चूहों द्वारा दण्डों का भक्षण हो जाने पर अपूपों का भक्षण अपने आप सिद्ध है'—यह उपमा वाक्य है दण्डापूपिका। 'इसके द्वारा किसी अर्थ की निष्पत्ति होने पर किसी अन्य अर्थ की अपने आप आपत्ति को अर्थापत्ति कहा जाता है।' भेदगणना में रत्नाकरकार ने अति कर दी है। उन्होंने इसके २४ भेद माने हैं। प्रकृत से प्रकृत, अप्रकृत से अप्रकृत, प्रकृत से अप्रकृत तथा अप्रकृत से प्रकृत अर्थ का आपादन होने से भेदों की संख्या प्रथमतः चार हुई। तदनन्तर दोनों अर्थों का सादृश्य कहीं बराबर होगा कहीं न्यूनता होगी, कहीं अधिकता। फलतः उक्त चार भेद १२ हो जाएंगे। पुनः ये ही भेद समव अर्थ से संभव अर्थ की निष्पत्ति में होंगे और असंभव अर्थ से असंभव अर्थ की निष्पत्ति में फलतः २४ हो जायेंगे। इसके पश्चात् अन्य अर्थ या साम्य कहीं शाब्द होगा और कहीं आर्थ, अतः ये ही २४ भेद ४८ हो जायेंगे।

अनुमान से अर्थापत्ति को अलग करते हुए रत्नाकरकार ने भी वही तर्क दिया है जो सर्वस्व में मिलता है—

> 'दण्डापूपनयेन वस्त्वनुमितिः सामर्थ्यतो जायते
> नान्तर्भावमसौ प्रयात्यनुमितौ यत्सम्भवात्मा ततः।
> अर्थापत्तिरलङ्कृतिः पृथगियं नो लक्षणीयेत्यसद्
> तर्कोऽहं यदयं बुधैरनुमितेः सम्भावनात्मोदितः॥

दण्डापूपरीति से वस्तु की अनुमिति अपने आप हो जाती है अतः क्योंकि संभावनात्मक होती है [निश्चयात्मक नहीं, अतः अनुमान में अन्तर्भूत नहीं होती। इस प्रकार अर्थापत्ति अलंकार को स्वतन्त्र रूप से नहीं बतलाना चाहिए' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह जो संभावनात्मक तर्क है इसे विद्वानों ने अनुमिति का अंग माना है [अनुमिति नहीं]। यह कारिका अभिव्यक्ति की दृष्टि से जटिल हो गई है किन्तु इतना अर्थ तो इससे निकल ही आता है कि अर्थापत्ति में दोनों अर्थों का संबंध संभावनात्मक रहता है जब कि अनुमिति में निश्चयात्मक।

अप्पयदीक्षित=और पण्डितराज ने भी इस अलंकार को अलंकार मान लिया है। अप्पय-दीक्षित ने इसका लक्षण इस प्रकार बनाया है—

'कैमुत्येनार्थसंसिद्धिः काव्यार्थापत्तिरिष्यते। उदा० स जितस्त्वन्मुखेनेन्दुः का वार्ता सरसीरुहाम्'॥

'कैमुत्य [इसकी तो बात ही क्या] के द्वारा अर्थ की संसिद्धि काव्यार्थापत्ति मानी जाती है।' यथा तेरे मुख ने तो वह चन्द्रमा भी जीत लिया, कमलों की तो बात ही क्या है [जिन्हें चन्द्रमा भी निष्प्रभ बना देता है]। अप्पयदीक्षित ने अर्थापत्ति में काव्यशब्द का प्रयोग ठीक उसी अभिप्राय से किया है जिससे काव्यलिंग में काव्यशब्द का प्रयोग किया गया है।

पण्डितराज=जगन्नाथ ने दण्डापूपिका को लक्षण से हटा दिया है। इसके स्थान पर तुल्य-न्यायत्व शब्द का प्रयोग करते हुए उन्होंने सूत्र यह बनाया—

'केनचिदर्थेन तुल्यन्यायत्वादर्थान्तरस्यापत्तिरर्थापत्तिः।'

—'कारणसाम्य के आधार पर किसी अर्थ से किसी अन्य अर्थ की स्वतः प्राप्ति अर्थापत्ति कही जाती है।' न्यायः कारणम्=न्याय का अर्थ है कारण। भेदसंख्या रत्नाकरकार के ही समान पण्डितराज ने भी चौबीस ही मानी है। अन्तर इतना है कि बारह भेदों को रत्नाकरकार ने संभव और असंभव अर्थों के वर्गों द्वारा द्विगुण माना है जबकि पण्डितराज ने भाव और अभाव के द्वारा।

अन्य अलंकारों से इसका अन्तर बतलाते हुए पण्डितराज ने लिखा—

अनुमान में निश्चयात्मक बोध होता है जब कि अर्थापत्ति में संभावनात्मक, अर्थात् अनुमान में

बोध होता है कि—'ऐसा होता ही है' जबकि अर्थापत्ति में 'ऐसा हो सकता है' ऐसा। यथार्थातिशयोक्ति में वाच्यार्थ का पर्यवसान विपरीत अर्थ में होता है जबकि अर्थापत्ति में समान अर्थ में।

पण्डितराज ने अर्थापत्ति अलंकार को अप्पयदीक्षित के समान काव्यार्थापत्ति तो नहीं कहा किन्तु मीमांसकों की अर्थापत्ति से उसका अन्तर उन्होंने अवश्य दिखलाया—

मीमांसकों की अर्थापत्ति में पूर्व अर्थ की सिद्धि अपर अर्थ के बिना नहीं होती, पूर्व अर्थ अर्थान्तर के प्रति सापेक्ष रहता है। इस अर्थापत्ति में ऐसी विवशता नहीं रहती। इसमें द्वितीय अर्थ के समर्थन में प्रथमार्थ दृष्टान्त का कार्य करता है।

पण्डितराज ने अपरार्थ का कविकल्पित होना आवश्यक बतलाया है और इसीलिए सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'पशुपति०' तथा 'अवश्येयं०' पद्य में अपरार्थ अकल्पित मान इन्हें अच्छा उदाहरण नहीं माना। द्वितीय पद्य में चमत्कार का कारण 'विधौ'—इस श्लिष्ट पद्य में है अथवा शिव की विषम स्थिति के प्रति वक्र चन्द्राभिन्न वाम विधि को हेतुरूप से प्रस्तुत करने में। प्रथम पद्य में यदि कैमुतिक न्याय की स्थिति लौकिक है और चमत्कारशून्य है तो उपमा में भी दो लौकिक अर्थों के उपादान में अलंकारत्व नहीं मानना होगा। 'मुख कमल के समान है' इस वाक्य में मुख, कमल और दोनों का साम्य ये तीनों तत्त्व लोकसिद्ध हैं। यदि साम्यदर्शन प्रातिभ है तो कैमुतिकन्याययोजना में भी प्रातिभत्व माना जा सकता है।

विश्वेश्वर ने अर्थापत्ति नामक कोई अलंकार नहीं माना। वे मम्मट के जो अनुयायी ठहरे। चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थ कारिका—

> 'अर्थापत्तिस्तु कैमुत्येऽन्यार्थापत्तिरिष्यते।
> प्रकृताप्रकृतापातादियं च द्विविधा मता॥'

कैमुतिकन्याय के द्वारा अन्य अर्थ की सिद्धि अर्थापत्ति नामक अलंकार मानी जाती है। यह प्रकृत और अप्रकृत की सिद्धि के कारण दो प्रकार की होती है।

दण्डापूप—पूए, कड़ाह में से, सींक में छेद छेद कर निकाले जाते हैं और घी निथारने के लिए उन्हीं सींकों को दीवाल आदि में खोंस दिया जाता है। वहाँ चूहा हो और वह सींक को ही कुतर खाए और यदि पूए गिने हुए न हों तो सोचा जाएगा कि उसने पूए भी खाए ही होंगे। उससे कठिनतम कार्य कर लेने पर सरलतम कार्य करने की शक्यता द्योतित होती है।

यही बात 'किमुत' = भला क्या इन दो अव्ययों द्वारा कही जाती है। इस प्रकार इन दृष्टान्तों को दण्डापूपिका और कैमुतिक न्याय कहते हैं।

[सर्वस्व]

[सूत्र ६५] तुल्यबलविरोधो विकल्पः।

विरुद्धयोस्तुल्यप्रमाणविशिष्टत्वात्तुल्यबलयोरेकत्र युगपत्प्राप्तौ विरुद्धत्वादेव यौगपद्यासंभवे विकल्पः। औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्। यथा—

'नमन्तु शिरांसि धनूंषि वा, कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा' इत्यादि। अत्र प्रतिराजकार्ये नमने शिरसां धनुषां च तुल्यप्रमाणाश्लिष्टत्वम्। संधिविग्रहौ चात्र क्रमेण तुल्यप्रमाणे, प्रतिराजविषयत्वेन स्पर्धया द्वयोरपि संभाव्यमानत्वात्। द्वौ चेमौ विरुद्धाविति नास्ति तयोर्युग-

पत्प्रवृत्तिः। प्राप्नुयतश्चात्र युगपत्प्रकारान्तरस्यानाशङ्क्यत्वात्। ततश्च न्यायप्राप्तो विकल्पः। नमनकृतं च तयोः सादृश्यमित्यलंकारता। एवं कर्णपूरीक्रियन्तामित्यादौ योजनीयम्। औपम्यगर्भत्वाच्चात्र चारुत्वम्।

क्वचिच्छ्लेषावष्टम्भेनाप्ययं दृश्यते। यथा—

'भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीते हितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती
युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः॥'

अत्र नेत्रे तनुर्वेति विकल्पः। उत्तमत्वाच्च तुल्यप्रमाणं श्लिष्टत्वम्। न चात्र समुच्चये वाशङ्कः। संभवन्त्यामपि गतौ महाकविव्यवहारे तथा प्रयोगाभावात्। ननु विरोधनिमित्तो विकल्पः। कथं चात्र विरोधः। नैतत्। तनुमध्ये नेत्रयोः प्रविष्टत्वात्तयोः पृथगभिधानमेव न कार्यम्। कृतं च तत्स्पर्धिभावं गमयति। स्पर्धिभावाच्च विरुद्धत्वम्। नेत्रे अथवा समस्तमेव शरीरमित्यर्थावगमे विरोधस्य सुप्रत्येयत्वात्। स चात्र श्लेषाच्छिलष्टः। लिङ्गश्लेषस्य वचनश्लेषस्य चात्र दृष्टेः। तस्मात्समुच्चयप्रतिपक्षभूतो विकल्पाख्योऽलंकारः पूर्वैरकृतविवेकोऽत्र दर्शित इत्यवगन्तव्यम्।

[सू० ६५] समान बलवाले पदार्थों का विरोध विकल्प [नामक अलंकार कहलाता है]।

[वृ०] दो विरोधी पदार्थ समान प्रमाण से युक्त होने के कारण बल में समान हों और एक ही स्थान में एक साथ प्राप्त हों, किन्तु विरुद्ध होने के कारण उनका साथ बनता न हो तो [अलंकार का नाम] विकल्प होता है। इसमें सादृश्य छिपा रहता है अतः चारुता चली आती है। उदाहरण यथा—

'नमें सिर या धनुष, करनफूल बनाई जाएँ आज्ञाएँ या प्रत्यंचाएँ [हर्षचरित-६, पृ० १९४] इत्यादि।

यहाँ शत्रुराजा द्वारा करणीय रूप में कथित जो नमनकार्य है उसमें सिर और धनुष समान प्रमाणों से युक्त हैं। ये प्रमाण हैं यहाँ क्रम से सन्धि और विग्रह, क्योंकि शत्रुराजा के साथ स्पर्धा होने से दोनों ही सम्भावित हैं। ये दोनों [सन्धि विग्रह] परस्पर में विरुद्ध हैं इसलिए इनकी एक साथ प्रवृत्ति नहीं हो सकती, किन्तु हो रहे हैं प्रकृत यहाँ दोनों ही एक साथ; क्योंकि अन्य कोई प्रकार यहाँ सोचा नहीं जा सकता। इस प्रकार, यहाँ विकल्प हेतुतः सिद्ध है। उन [धनुष और सिर] दोनों में नमन को लेकर सादृश्य है, इसलिए [यह विकल्प] यहाँ अलंकार है। इसी प्रकार 'करनफूल बनाए जायें' इत्यादि वाक्य में योजना को जानो चाहिये। इसमें चारुत्व सादृश्यगर्भता के कारण ही है।

कहीं यह [विकल्प] श्लेष से भी होता है। यथा—

'भगवान् विष्णु के नेत्र या उनकी काया आपकी भवव्याधि नष्ट करें जो भक्ति प्रह्व विलोकन प्रणयिनी [नेत्र = भक्ति से नम्र जनों को देखने का प्रणय = प्रेम लिये हुये, तनु = काया = भक्ति से

नम्र जनों का जिसके दर्शन में प्रणय = प्रीति तथा याचना है], नीलकमल से स्पर्धा रखने वाले, समाधि में लगे व्यक्तियों द्वारा ईहित या हित की प्राप्ति के लिए ध्यानास्पद बनाए हुये, लवण्य की महान् निधि तथा लक्ष्मी जी के नेत्रों के लिए रसिकता देने वाले हैं।' यहाँ 'नेत्र' या 'तनु' इस प्रकार विकल्प किया गया है। दोनों ही पदार्थ उत्तम हैं इसलिए दोनों की श्लिष्टता में प्रमाण सामग्री समान है। यहाँ जो 'वा'='या' शब्द आया है इसे समुच्चयवाचक नहीं मानना चाहिए [जिससे अर्थ निकलेगा 'नेत्र तथा शरीर दोनों०' और अलंकार होगा समुच्चय] क्योंकि 'वा' का अर्थ समुच्चय संभव होने पर भी महाकवियों के व्यवहार में वैसा प्रयोग नहीं देखा जाता। शंका होती है कि [सूत्र के अनुसार] विकल्प तो विरोधमूलक होता है, यहाँ विरोध कैसे सिद्ध होगा? ऐसा नहीं, नेत्र [जो हैं वे] तो शरीर के बीच प्रविष्ट हैं अतः उनका अलग से कथन ही नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि वह किया गया है अतः उन [नेत्रों] में स्पर्धिता व्यक्त करते हैं, और स्पर्धिता से इनमें विरोध है। यहाँ 'नेत्र अथवा पूर्ण शरीर [भवार्चि शान्त करें]' इस प्रकार [के अर्थ से] विरोध सूत्रपूर्वक आना जा सकता है। यह [विकल्प] श्लेष से हुआ है अतः श्लिष्ट है। क्योंकि यहाँ [तनु में स्त्रीलिंग तथा नेत्र में नपुंसकलिंग होने के कारण] लिंगश्लेष तथा [नेत्र में द्विवचन तथा तनु में एकवचन होने से] वचनश्लेष दिखाई देता है। इस कारण विकल्प नामक यह अलंकार समुच्चय नामक अलंकार का उलटा अलंकार है। इस प्रकार ध्यान देने की बात है कि पूर्ववर्ती आचार्य इसका अन्तर नहीं कर पाए थे। यहाँ इसका अन्तर कर दिया गया है॥'

विमर्शिनी

तुल्येत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—विरुद्धयोरित्यादिना। तुल्यबलत्वादेवैकस्यापि बाधाभावान्नैकतरग्रहणम्। तच्च द्वयोरपि युगपत्प्राप्तिः। न च विरुद्धयोरेतद्युज्यते इत्यन्नैकस्यापि साधकबाधकप्रमाणाभावादनिश्चयादनियतैकतरावलम्बनेन पाक्षिकी प्राप्तिः। अत एव नियतोभयपदावलम्बी विकल्पः। ननु च 'यवैर्व्रीहिभिर्वा यजेत' इति शास्त्रपरत्वाद्विकल्पादस्य को विशेष इत्याशङ्क्याह—औपम्येत्यादि। औपम्यं साधारणधर्मनिबन्धनमिति तस्याप्यत्र नैवम्। एवं च यत्रैवौपम्यगर्भत्वं तत्रैवायमलंकारो न त्वन्यत्रेति भावः। यथा—

'निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥'

अत्रौपम्यगर्भत्वाभावाद्विकल्पमात्रत्वम्। विकल्पमुक्तं चात्र दर्शयति—नमेत्यादिना। क्रमेणेति। शिरोनमने संधिर्धनुर्नमने विग्रहश्चेति। स्पर्धयेत्यनेन विरुद्धत्वमेवोल्लसितम्। द्वौ क्षेमाविति। संधिविग्रहौ। अनयोर्विरुद्धत्वादेतत्कार्ययोरपि शिरोधनुर्नमनयोर्विरुद्धत्वम्। तयोरिति। शिरोधनुर्नमनयोः। प्रकारान्तरस्येति। यत्र शिरसां धनुषां च युगपन्नमनं न संभवेत्। तत्त्वेति। विरुद्धयोर्युगपत्प्रवृत्त्यसंभवात्। न्याय्यप्राप्तत्वेनास्याहुम्ल्यत्वमुक्तम्। अत एव चैतदभाववादिनामन्यायवादित्वमपि सूचितम्। अत्रौपम्यकृतमेवालंकारत्वमित्याह—नमनेत्यादि। तेनात्र नमनाख्यस्य समानधर्मस्यानुगामितयैकरूपेण निर्देशः। वस्तुप्रतिवस्तुभावस्तु यथा—

'स्रष्टुं विधातुरुचितं मुखमेव चन्द्रमर्धं नतभ्रु तव कान्तिविलोकितेषु।
पूर्णाद्धिम्बमथ वा विकलकलङ्कमेकं, न यद्विहित एव जगत्प्रकाशः?॥'

अत्र चन्द्रद्विवलत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वं भ्रुकलङ्कयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः। उत्तमत्वादिति। द्वयोरपि भगसंबन्धित्वेन भवार्तिशमनकरणसामर्थ्येन समत्वात्।

ननु च नेत्रे च तत्तुश्चेत्यत्र समुच्चय एव किं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चात्रेत्यादि। गमाविति। वाशब्दस्य समुच्चयार्थलक्षणायाम्। तयेति। समुच्चयार्थपरत्वेनेत्यर्थः। न ह्यत्र समुच्चयार्थो विवक्षितः। एवमत्र विरोधाभावात्कथं विकल्पोऽपि भवतीत्याह—नन्वित्यादि। न कार्यमिति। तत्त्वभिधानेनैव नेत्रयोः स्वीकृतत्वात्। कृतमिति। अन्यथा हि पृथगभिधानं निष्प्रयोजनं स्यात्। स्पर्धिभावादिति। तुल्यत्वात्। सुप्रत्येयत्वादिति। सुष्ठुत्वेन विरुद्धस्य कष्टकल्पनानिरासः कृतः। स इति। विकल्पः। एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादिना। समुच्चये द्वयोरपि युगपदवस्थानम्, इह त्वन्यतरस्य तत्प्रतिपक्षभूतत्वम्। अनेनास्य अन्यकृदुपज्ञत्वमेव दर्शितम्।

तुल्य इत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—विरुद्धयोः इत्यादि के द्वारा। क्योंकि दोनों अर्थ समान बल के होते हैं इसलिए किसी एक का बाध नहीं होता और न किसी एक का ग्रहण। इस [विरुद्धत्व या समबलत्व] का स्वरूप है दोनों पक्षों की एक ही स्थान पर प्राप्ति। किन्तु विरुद्ध पक्षों में यह सम्भव नहीं होता। फलतः यहाँ न किसी एक पक्ष का साधक ही मिलता और न बाधक ही। निदान यहाँ अनिश्चय रहता है। परिणामतः यहाँ किसी भी एक का अवलम्बन संभव नहीं होता। इस प्रकार यहाँ पाक्षिक [वैकल्पिक] स्थिति रहती है। इसी कारण इसे विकल्प कहा जाता है, जिसमें नियमतः दोनों पक्षों का अवलम्बन किया जाता है। शंका होती है कि 'जौ या चावल [किसी] से यज्ञ करे'—इस वास्तविक विकल्प से इस विकल्प का क्या अन्तर है, इस पर उत्तर देते हैं—'औपम्य' इत्यादि। औपम्य साधारण धर्म पर निर्भर रहता है अतः वह [औपम्य] भी यहाँ तीन प्रकार का होगा [क्योंकि साधारण धर्म तीन प्रकार का होता है] निष्कर्ष यह कि यह विकल्प वहीं अलंकार होगा जहाँ यह औपम्यगर्भित होगा, नहीं तो नहीं। [औपम्यरहित होने से जहाँ यह अलंकार नहीं बनता उसका उदाहरण] यथा—

'नीति निपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा, लक्ष्मी बरसती चली आए अथवा जहाँ चाहे चली जाए, आज ही मर जाना पड़े या युगान्तर में [किन्तु] धीर पुरुष नीति पथ से अलग डग नहीं रखते।'

यहाँ औपम्यगर्भत्व न होने से विकल्प में केवल विकल्पत्व है [रत्नाकरकार द्वारा स्वीकृत अलंकारत्व नहीं। नमन्तु आदि में] विकल्प की स्थिति बतलाते हुए लिखते हैं अत्र। क्रमेण = क्रम से अर्थात् सिर झुकाने में सन्धि प्रमाण है और धनुष झुकाने में विग्रह = युद्ध। स्पर्धया = स्पर्धा बतलाकर यहाँ विरोध का ही समर्थन किया। द्वौ चैमौ = ये दोनों अर्थात् सन्धि और विग्रह। ये दोनों विरुद्ध हैं इसलिए इनके कार्य शिरोनमन तथा धनुर्नमन भी विरुद्ध हैं। तयो = उनका अर्थात् शिरोनमन और धनुर्नमन का। प्रकारान्तर = अन्य प्रकार = ऐसा कोई प्रकार जिसमें सिर और धनुष का नमन साथ न हो सके। ततश्च = इस कारण = विरुद्धों की प्रवृत्ति एक स्थान पर एक साथ न होने के कारण। न्यायप्राप्त कहकर यह बतलाया कि यह अलंकार काटा नहीं जा सकता। और इसी से यह भी बतला दिया कि इसे न मानने वालों का कथन न्यायशून्य है। यहाँ सादृश्य से ही चमत्कार होता है इसी को दुहराते हैं—'नमन०'। इस उदाहरण के द्वारा यहाँ नमनरूपी साधारण धर्म अनुगामी रूप से एक बतलाया गया। वस्तु-प्रतिवस्तुभाव का उदाहरण यह है—

कान्ति देखनी थी तो विधाता को केवल तुम्हारा चचल भौंहों वाला मुख ही बनाना चाहिए था, या तो स्फुरित कलंक से युक्त चन्द्रबिम्ब ही अकेला। क्या इन [दोनों] ने ही जगत् में प्रकाश [भी] नहीं कर रखा है?

यहाँ 'चपलता और स्फुरण' शुद्ध सामान्यरूप से साधारण धर्म रूप है और भौंह तथा कलंक

बिम्बप्रतिबिम्बभाव से युक्त होकर। उपमत्व = क्योंकि दोनों ही भगवत्संबन्धी होने के कारण भवार्तिशमन के सामर्थ्य में समान हैं।

शंका होती है—'यहाँ नेत्र और तनु' इस प्रकार समुच्चय ही क्यों न मान लिया जाए' इस पर उत्तर देते हैं—न चात्र। गतौ = 'वा'-शब्द का जो समुच्चयरूपी अर्थ है तद्रूपी गति। तथा = समुच्चयार्थपरक। यहाँ समुच्चयरूपी अर्थ विवक्षित भी नहीं है। [शंका] यहाँ विरोध का अभाव है अतः विकल्प भी कैसे होगा' यही कहते हैं—ननु। न कार्यम् = केवल तनु का कथन करने से ही नेत्रों का भी संग्रह संभव होने से। कृतम् = पृथक् अभिधान। स्पर्धिभाव = नहीं तो पृथक् अभिधान निष्प्रयोजन हो जाता। स्पर्धिभावात् = स्पर्धिता = तुल्यता के कारण। सुप्रतेय = सुख पूर्वक जानने योग = इस प्रकार 'सुखपूर्वकता बतलाकर विरोध की क्लिष्ट कल्पना द्वारा सिद्ध होने का निराकरण किया। स = वह = विकल्प। इसका उपसंहार करते हुए कहते हैं—तस्मात्०। समुच्चय में दोनों पक्ष एक साथ प्राप्त रहते हैं, जब कि यहाँ [विकल्प में] उसके विपरीत अलग अलग, इस कारण यह उस [समुच्चय] से उलटा है। ऐसा कहकर यह बतलाया कि यह अलंकार प्रथमतः ग्रन्थकार की ही कल्पना है॥'

विमर्श—परवर्ती आचार्यों में रत्नाकरकार, दीक्षित जी और पण्डितराज ने विकल्प को अलंकार मान लिया है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

रत्नाकरकार = सू० 'विरुद्धयोस्तुल्यत्वे पाक्षिकत्वं विकल्पः॥ ८८॥

वृ० 'यत्र द्वयोरर्थयोर्विरुद्धत्वात् समुच्चयाभावेन तुल्यबलत्वाच्च एकस्य बाधाभावाद् अनियतैकतावलम्बनेन पाक्षिकत्वं स विकल्पः।'

'दो विरुद्धों की समानता होने पर जो पाक्षिकता आती है वही विकल्प कहलाती है।' जहाँ दो अर्थ विरुद्ध हों अतः जिनका समुच्चय न हो सक रहा हो साथ ही बल में समान होने से जिनमें से किसी एक का बाध भी न हो रहा हो अतः किसी एक के पक्ष का अपनाया जाना संभव न होकर पाक्षिक हो तो वहाँ विकल्प को अलंकार माना जाता है। विमर्शिनीकार की 'साधकबाधकप्रमाणाभावादनिश्चयादनियतैकतरत्वालम्बनेन पाक्षिकी प्राप्तिः'—रत्नाकर की उक्त पंक्ति का ही परिष्कार है।

रत्नाकरकार ने 'निन्दन्तु नीति०' पद्य में विकल्प माना है। रूपक आदि के समान उन्होंने औपम्य को यहाँ भी आवश्यक नहीं माना है। 'निन्दन्तु०' पद्य में चमत्कार है और विकल्पमूलक ही चमत्कार है अतः विमर्शिनीकार का यहाँ केवल लौकिक विकल्प' मानना हृदयसंवाद के विपरीत है।

अप्पयदीक्षित = 'विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पालङ्कृतिर्मता'

—'तुल्यबलों के [परस्पर] विरोध में विकल्पालंकार माना गया है'—इस प्रकार पाक्षिकत्व को लक्षण में स्थान नहीं देते। उनका उदाहरण हर्षचरित के 'नमन्तु शिरांसि०' का ही पद्यरूप यह है—'सद्यः शिरांसि चापान् वा नमयन्तु महीभुजः।'

यद्यपि दीक्षित जी ने यहाँ सादृश्य की कोई चर्चा नहीं की है। तथापि उन्होंने उदाहरण सादृश्ययोजना के ही दिए हैं।

पण्डितराज ने 'विरुद्धयोः पाक्षिकी प्राप्तिर्विकल्पः'—इस प्रकार 'विरुद्ध अर्थों की वैकल्पिक प्राप्ति में विकल्प माना है। उन्होंने औपम्य को भी आवश्यक बतलाया है। उनका कहना है कि औपम्यरहित विकल्प में केवल विकल्पत्व होगा अलंकारत्व नहीं। इस प्रकार पण्डितराज ने सर्वस्व और विमर्शिनी का इस दिशा में अनुगमन किया है।

'भक्तिप्रह्व—' पद्य पर विचार करते हुए पण्डितराज ने कहा है यहाँ 'वा' का अर्थ = तनु के समान नेत्र' इस प्रकार सादृश्य है। संस्कृतकोषों में वा का अर्थ उपमा मान्य भी है— 'वा स्याद् विकल्पोपमयो ।' सर्वस्वकार के द्वारा प्रतिपादित विरोध पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा है कि *विकल्प में वास्तविक विरोध ही कारण बनता है, कल्पित नहीं।* 'भक्तिप्रह्व' पद्य में सर्वस्वकार द्वारा प्रतिपादित विरोध कल्पित विरोध है। वस्तुतः 'वा' शब्द का प्रयोग उपमा अर्थ में भी 'पद्मिनी वान्यरूपाम्' [मेघदूत] इत्यादि स्थलों में क्वचित् ही पाया जाता है। प्रसिद्धि उसकी 'विकल्प' अर्थ में ही है। अतः 'भक्तिप्रह्व' पद्य में विकल्प मानने पर पूर्वकथित विशेषणों की उभयान्वयिता पर ध्यान जाता है।

विरुद्ध वस्तुओं के विकल्प में चमत्कारमात्रा अवश्य ही अधिक रहती है तथापि अविरुद्ध वस्तुओं में भी विकल्प का चमत्कार नहीं रहता ऐसा नहीं है। सच यह है कि विकल्प-भूमिका पर आरूढ होते ही अविरुद्धों में भी विरोध चला आता है। एककक्षा के सहाध्यायी मित्रों का एक ही पद के लिए नियुक्ति में विकल्प होते ही विरोध देखा भी गया है। सर्वस्वकार के स्पर्धातत्त्व की ओर ध्यान ले जाने का अभिप्राय यही दिखाई देता है।

चक्रवर्ती ने इस विषय का संक्षेप इस प्रकार किया है—

> 'विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पः सन्निपातिनोः।
> अश्लेषश्लेषमिश्रित्वाद् द्विधायमुपवर्ण्यते ॥'

समानबल वाले तथा एक ही स्थान पर प्राप्त दो अर्थों का विरोध होने पर विकल्पालंकार होता है। यह श्लेषमूलक होता है और श्लेषरहित [शुद्ध], अतः दो प्रकार का होता है।

[सर्वस्व]

[सू० ६६] गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः।

गुणानां वैमल्यादीनां यौगपद्येनावस्थानम्, तथैव क्रियाणां च समुच्चयोऽलंकारः। विकल्पप्रतिपक्षेणास्य स्थितिः। क्रमेण यथा—

> 'विदलितसकलारिकुलं तव बलमिदमभवदाशु विमलं च।
> प्रखलमुखानि नराधिप मलिनानि च तानि जातानि॥'

> 'अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतोऽतिदुःसहो मे।
> नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥'

एतद्विभिन्नविषयत्वेनोदाहरणद्वयम्। एकाधिकरणत्वेनाप्ययमलंकारो दृश्यते। यथा—

> 'बिभ्राणा हृदये त्वया विनिहितं प्रेमाभिधानं नवं
> शल्यं यद्विदधाति सा विधुरिता साधो तदाकर्ण्यताम्।
> शेते शुष्यति ताम्यति प्रलपति प्रम्लायति भ्राम्यति
> प्रेङ्खत्युल्लिखति प्रणश्यति वलत्युन्मूर्च्छति त्रुट्यति ॥'

एवं गुणसमुच्चयेऽप्युदाहार्यम्।

केचित्पुनर्न केवलं गुणक्रियायां व्यस्तत्वेन समुच्चयो यावत्समस्तत्वेनापि भवतीति वर्णयन्ति। उदाहरन्ति च—

'न्यञ्चत्कुञ्चितमुन्मुखं हसितवत्साकूतमाकेकरं
व्यावृत्तं प्रसरत्प्रसादि मुकुलं सप्रेमकम्पं स्थिरम्।
उद्भ्रूभ्रान्तमपाङ्गवृत्ति विकचं मज्जत्तरङ्गोत्तरं
चक्षुः सास्र च वर्तते रसवशादेकैकमन्यक्रियम्॥'

अत्राकेकरादयो गुणशब्दा न्यञ्चदित्यादयः क्रियाशब्दा इति सामस्त्येन गुणक्रियायौगपद्यम्। प्रसादिसप्रेमेत्यादीनां समासकृत्तद्धितेषु संबन्धाभिधानमिति संबन्धस्य वाच्यत्वात्, तस्य च सिद्धरूपत्वेन गुणत्वाद् गुणशब्दत्वेन गुणयौगपद्यमिति द्रष्टव्यम्। एवमयं त्रिधा समुच्चयः।

[सू० ६६] गुण और क्रियाओं की एकत्र स्थिति समुच्चय [नामक अलंकार कहलाता है]॥

[वृ०] विमलता आदि गुणों का एकत्रित होना और इसी प्रकार क्रियाओं का एकत्रित होना समुच्चय नामक अलंकार कहलाता है। यहाँ जो इसे रखा गया है वह इसलिए कि यह विकल्प का विरोधी है। क्रम से उदाहरण—

[गुणसमुच्चय]—

'आपकी यह सेना सम्पूर्ण शत्रुकुल को दलित कर उज्ज्वलता को प्राप्त हुई और दुष्टों के वे चेहरे मलिन हो गए।

[क्रियासमुच्चय]—

'एकाएक उस प्रिया से मेरा यह अति दुःसह वियोग अभी-अभी मुझ पर आ पड़ा तो क्या इसी समय इन दिनों को नवीन मेघों के उदय से निरातप और रम्य होना चाहिए था।

ये ऐसे उदाहरण हैं जिसमें अधिकरणगत भेद है। यह अधिकरणगत एकता में भी दिखाई देता है। यथा—

'तुम्हारे द्वारा निहित प्रेमनामक नवीन शल्य हृदय में धारण की हुई वह बिचारी जो-जो करती हैं, साधो! उसे सुनो, सोती है, सूखती है, व्यथित होती हैं, प्रलाप करती है [कुछ भी बकती है], कुम्हलाती जाती है, चक्कर खाती है, डोलती है, रंगीटे बनाती [कुरेदती] है, छिपती जाती है [ओझल होती जाती है], गहरी मूर्च्छा में पड़ जाती है [और] टूटती जाती है।' इसी प्रकार गुणों के समुच्चय का भी उदाहरण दिया जा सकता है [आगे विमर्शिनीकार ने दिया भी है]।

कुछ [आचार्य] केवल व्यस्तरूप से [अलग-अलग करके] ही गुण और क्रियाओं का समुच्चय नहीं मानते समस्तरूप में [दोनों के मिश्रित रूप में] भी मानते हैं। उदाहरण भी देते हैं—

'इस समय किसी [भीतरी] रस के कारण प्रत्येक नेत्र अलग-अलग व्यापार में लगा है, कोई तिरछा है तो कोई सिकुड़ा, कोई उन्मुख है तो कोई हँसीलिए, कोई भाव-भरा है तो कोई आकेकर [मदभरा], कोई व्यावृत्त [लौटा हुआ] है तो कोई फैलता हुआ, कोई प्रसादपूर्ण है तो कोई मुकुलित, कोई प्रेमपूर्ण कम्पन लिए है तो कोई स्थिर; कोई भौंह चढ़ाए है तो कोई कनखी

पर टिका, कोई खिला हुआ है तो कोई डूबा हुआ, इसी प्रकार कोई सङ्गायित है तो कोई साश्रु।'

यहाँ आर्द्र आदि शब्द गुणवाचक शब्द हैं और 'न्यञ्चत्' आदि क्रियाशब्द। इस प्रकार यहाँ मिश्रितरूप में गुण और क्रिया का एकत्रीकरण है। 'प्रसादि' और 'सप्रेम' शब्द, 'समास, कृदन्त तथा तद्धित में सम्बन्ध का अभिधान होता है' इस वचन के अनुसार, सम्बन्ध के वाचक हैं, वह सम्बन्ध भी यहाँ सिद्ध है अतः गुण है, इस प्रकार इन शब्दों में गुणशब्दत्व है। इस प्रकार यहाँ गुणों का एकत्रीकरण माना जा सकता है। इस प्रकार यह समुच्चय तीन प्रकार का हुआ।

विमर्शिनी

गुणक्रियेत्यादि। तथैवेति। यौगपद्यावस्थानेनेत्यर्थः अनेनैव चास्य गुणक्रियाणां युगपदवस्थितेर्भेदद्वयमप्युक्तम्। नैर्मल्यमालिन्ययोर्गुणयोरुपनमनभवनयोश्च क्रिययोर्यौगपद्येनावस्थानम्। विभिन्नविषयत्वेनेति। गुणादीनां चमूमुखादिविषयगतत्वात्। अतश्च भिन्नाधिकरणोऽयं समुच्चयः। एकेत्यादि। यद्यप्यत्र शयनादीनां शोषणादीनां च क्रियाणामुपनमनभवनादिवत्कालान्तरभावित्वाद्य यौगपद्येनावस्थानम्, तथापि तन्नैरन्तर्येण ज्ञेयम्। एवमिति। यत्रैवात्रैकविषयत्वेन शयनाद्याः क्रिया इत्यर्थः। तद्यथा—

> 'सितं ज्योत्स्नाभालैररुणरुचि सन्ध्याकरभरै-
> स्तमस्तोमैः श्यामच्छवि भपटलैः पीतमपि च।
> नभो नीलीनीलं रतिरमणलीलाविहरणे
> स्थली धात्रा चित्रं चतुरमधुना चित्रितमहः॥'

अत्र सितादीनां गुणानामेकाधिकरणत्वेन युगपदवस्थानम्। ननु च केकरादयो न्यञ्चदित्यादयश्च यदि गुणक्रियाशब्दास्तत्प्रसादीत्यादयः पुनः किंशब्दा इत्याशङ्क्याह—प्रसादीत्यादि। तस्येति। संबन्धस्य। एतदुपसंहरति—एवमित्यादिना। त्रिधेति। गुणानां क्रियाणां गुणक्रियाणां च यौगपद्येनावस्थानात्। भिन्नाभिन्नाधिकरणत्वेन यो विशेषः स एतत्प्रपञ्च एवेति न पृथगिहोपात्तः।

गुणक्रिया। इत्यादि। तथैव = इसी प्रकार = एकत्रित होकर एक जगह रहना। ऐसा कहकर गुण और क्रिया में से एक-एक के एकत्रीकरण को लेकर संभावित दो भेद सूचित किए। [विदलित० पद्य में] निर्मलता या उज्ज्वलता और मलिनता रूपी दो गुणों का एक साथ रहना बतलाया गया है और [अयमेकपदे० पद्य में] उपनमन = आ पड़ना और होना क्रिया का एक साथ रहना बतलाया गया है। विभिन्नविषयत्व = भिन्न भिन्न अधिकरणों में = क्योंकि गुण आदि सेना और मुख आदि अलग अलग पदार्थों में विद्यमान बतलाए गए हैं। इसीलिए यह समुच्चय भिन्नाधिकरण समुच्चय हुआ। एक = इत्यादि। यद्यपि ['विभाणा०' पद्य में] सोना = सूखना आदि क्रियाएँ भिन्न भिन्न समय में होती हैं। अतः इनका वैसा एक साथ रहना नहीं है जैसा ऊपर कथित 'आ पड़ना' और 'होना' क्रियाओं का, तथापि बीच में अन्तर न पड़ने के कारण ऐसा माना जा सकता है। एवम् = जिस प्रकार यहाँ ['शेते शुष्यति'–पद्य में] शयन आदि क्रियाएँ एक विषय में हैं उसी प्रकार वह [गुणों का एक विषय में रहना] भी इस उदाहरण में देखा जा सकता है—

'चन्द्ररश्मियों से सफेद, साँझ की किरणों से लाल, अन्धकारपटल से साँवला, नक्षत्रों से पीला और स्वयं नीली के समान नील वर्ण का यह आकाश विधाता ने बड़ा ही कौशलपूर्ण चित्र बनाया है जो इस समय काम के लीलाविहार की स्थली है।'

यहाँ सफेदी आदि गुणों का [आकाशरूपी] एक ही अधिकरण में एक साथ रहना बतलाया गया है। शंका होती है कि यदि 'केकर' आदि और 'न्यञ्चत्' आदि शब्द गुणवाचक और क्रियावाचक शब्द हैं तो 'प्रसादि' आदि शब्द कैसे शब्द हैं' इस पर लिखते हैं—'प्रसादि' इत्यादि। तस्य उसका सम्बन्ध। इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं 'एवम्' इत्यादि के द्वारा। त्रिधा = तीन प्रकार का = इसलिए, गुण क्रिया, तथा गुणक्रिया दोनों का एक साथ समुच्चय रहता है। भिन्न या अभिन्न अधिकरण को लेकर जो विशेषता आती है वह इन्हीं भेदों का विस्तार है इसलिए उन्हें यहाँ पृथक् रूप से नहीं अपनाया॥'

विमर्श—'न्यञ्चत्०' इत्यादि पद्य का प्रत्येक विशेषण भरतविद्या में प्रसिद्ध नेत्रचेष्टाओं की विशेष मुद्राओं के लिए प्रयुक्त है। संजीविनीकार ने उनमें से प्रत्येक का स्पष्टीकरण स्वनिर्मित लक्षणों द्वारा इस प्रकार किया है—

न्यञ्चित = स्यान्न्यञ्चितं न्यञ्चदपाङ्गभागम्
कुञ्चित = अपाङ्गसङ्कोचि तु कुञ्चितं स्यात्।
उन्मुख = यदञ्चितं तूर्ध्वमपांगसङ्गि
हसित = निमेषशून्योच्छसितं चिहासि॥ १॥
साकूत = साकूतमाकाङ्क्षितभावगर्भम्
आकेकर = आकेकरं तिर्यगराल्तारम्।
व्यावृत्त = तिर्यक् निवृत्तं वलितं विलोक्य
प्रसरत् = प्रेम्णा सुदूरं परिवर्तनादुक्तम्॥ २॥
प्रसादि = सभ्रूविलासं स्मयते प्रसन्नम्
मुकुल = सम्मीलयमानं मुकुलं वदन्ति।
सप्रेम = स्यात् प्रेमगर्भं मनसो द्रवाय
कम्प = उत्कम्पमुत्कम्पितपक्ष्मतारम्॥ ३॥
स्थिर = स्थिरं विदूरान्तरितार्थनिघ्नम्
उद्भ्रु = उद्वर्तितं तूर्ध्व विकम्पितभ्रु।
भ्रान्त = विभ्रान्ततरकं मदमन्थरं स्याद्
अपांगवृत्ति = विक्षेपि पार्श्वे यदपाङ्गवृत्ति॥ ४॥
विकच = विकासि हृद्ये सविशेषलक्ष्म
मज्जत् = नासाग्रनिष्ठं ▮ निहञ्चितं स्यात्।
तरङ्गोत्तर = तरङ्गितं यद् द्युतिरूर्मिकल्पा
सास्र = उत्कण्ठितं रागमिवक्षाप्पम्॥ ५॥

[सर्वस्व]

एवं समुच्चयं त्रिप्रकारमिन्नं लक्षयित्वा द्वितीयं लक्षयति—

[सू० ६७] एकस्य सिद्धिहेतुत्वेऽन्यस्य तत्करत्वं च।

समुच्चय इत्येव। यत्रैकः कस्यचित्कार्यस्य सिद्धिहेतुत्वेन प्रक्रान्तस्तत्रान्योऽपि यदि तत्स्पर्धया तत्सिद्धिं करोति तदायमपरः समुच्चयः। न चायं समाध्यलंकारेऽन्तर्भवति। यत्र ह्येकस्य कार्यं प्रति पूर्णं साधकत्वम्, अन्य-

स्तु सौकर्याय काकतालीयेनापतति, तत्र समाधिर्वक्ष्यते। यत्र तु खलेकपोतिकया बहूनामवतारस्तत्रायं समुच्चयः। अतः सुमहान्भेदोऽनयोः।

स एव समुच्चयः सद्योगेऽसद्योगे सदसद्योगे च भवतीति त्रिधा भिद्यते। सतः शोभनस्य सता शोभनेन समुच्चीयमानेन योगे यथा—

'कुलममलिनं भद्रा मूर्तिर्मतिः श्रुतिशालिनी
भुजबलमलं स्फीता लक्ष्मीः प्रभुत्वमखण्डितम्।
प्रकृतिसुभगा ह्येते भावा अमीभिरयं जनो
व्रजति नितरां दर्पं राजंस्त एव तवाङ्कुशाः॥'

अत्रामालिन्येन शोभनस्य कुलस्य मूर्त्यादिभिः शोभनैः समुच्चयः। एकैकं च दर्पहेतुतायोग्यं तत्स्पर्धया निबद्धम्। असतोऽशोभनस्यासता समुच्चीयमानेन योगे यथा—

'दुर्वाराः स्मरमार्गणाः प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुकं
गाढं प्रेम नवं वयोऽतिकठिनाः प्राणाः कुलं निर्मलम्।
स्त्रीत्वं धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् कालः कृतान्तोऽक्षमो
नो सख्यश्चतुराः कथं नु विरहः सोढव्य इत्थं शठः॥'

अत्र दुर्वारत्वेनाशोभनानां स्मरमार्गणानां तादृशैरेव प्रियतमदूरत्वादिभिः समुच्चयः। नववयःप्रभृतीनां च यद्यपि स्वतः शोभनत्वम्, तथापि विरहविषयत्वेनात्राशोभनत्वं ज्ञेयम्।

सदसतः शोभनाशोभनस्य तादृशेन सदसता समुच्चीयमानेन योगो यथा—

'शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे॥'

अत्र शशिनः स्वतः शोभनस्यापि दिवसधूसरत्वादशोभनत्वेन सदसतस्तादृशैरेव कामिनीप्रभृतिभिः समुच्चयः। नत्वत्र कश्चित्समुच्चीयमानः शोभनः। अन्यस्त्वशोभन इति सदसद्योगो व्याख्येयः। ननु नृपाङ्गणगतः खल इत्यशोभनोऽन्ये तु शोभना इति कथं न समुच्चीयमानस्य सतस्तादृशेनासता योगः। नैतत्। 'नृपाङ्गणगतः खलः' इति प्रत्युत प्रक्रमभङ्गाद् दुष्टमेव। न तु सौन्दर्यनिमित्तमित्युपेक्ष्यमेवैतत्। अत एवान्यैरेवमादौ सहचरभिन्नोऽर्थ इति दुष्ट एवेत्युक्तम्। प्रकृते तु नृपाङ्गणगतत्वेन शोभनत्वं खलत्वेनाशोभनत्वमिति समर्थनीयम्। एवमपि विशेष्यस्य शोभनत्वं प्रक्रान्तम्, विशेषणस्य त्वशोभनत्वम्, इह त्वन्यथेति न सर्वथा निरवद्यम्।

ननु 'दुर्वाराः स्मरमार्गणा' इत्यत्रोक्तोदाहरणवत् कथं न सदसद्योगः। नैतत्। इह शोभनस्य सतोऽशोभनत्वमिति विवक्षा। तत्र त्वशोभनमेवैतदिति विवक्षितमित्यस्त्यनयोर्भेदः। अत एवैकत्रोपसंहृतं 'मनसि सततशल्यानि' इति सुन्दरत्वेनान्तःप्रविष्टानामपि व्यथाहेतुत्वात्; अपरत्र तु 'कथं सोढव्यः' इति सर्वथा दुष्टत्वाभिप्रायेण। तस्मादस्ति प्रकारत्रयस्य विविक्तविषयत्वम्।

तीन प्रकारों में विभक्त एक समुच्चय का लक्षण कर दूसरे समुच्चय का लक्षण करते हैं—

[सू० ६७] एक को [किसी कार्य की] सिद्धि का हेतु बतलाया जा रहा हो उसी समय उसी [कार्य की] सिद्धि के अन्य हेतु का प्रतिपादन भी [समुच्चय नामक अलंकार कहलाता है]।

[वृ०] समुच्चय यह पूर्ववर्त्ती सूत्र से यहाँ प्राप्त ही है। जहाँ किसी कार्य की सिद्धि का कोई एक हेतु बतलाया जा रहा हो वहीं अन्य कोई भी पूर्ववर्त्ती कारण के साथ स्पर्धा कर उसी कार्य की सिद्धि करता हुआ बतलाया जाय वहाँ यह एक दूसरे प्रकार का समुच्चय माना जाता है। यह समाधिनामक अलंकार में अन्तर्भूत नहीं होता। जहाँ कार्य के प्रति एक भी कारण पूर्ण रूप से सिद्धिकारक रहता है, दूसरा कारण केवल सौकर्य के लिए काकतालीय न्याय से आ पहुँचता है। वहाँ समाधि नामक अलंकार बतलाया जाएगा। इसके विरुद्ध खलेकपोत न्याय से जहाँ अनेक कारण एक साथ आ पहुँचते हैं वहाँ यह समुच्चय होता है। अतः इन दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है।

यह समुच्चय तीन प्रकार से होता है [१] सत् सत् के योग में [२] असत् असत् के योग में तथा [३] सत् और असत् के योग में। सत् अर्थात् शोभन का सत् अर्थात् शोभन के साथ योग, यथा—

'कुलममलिनम्' [प्रथम व्याघात की विमर्शिनी में अनूदित] यहाँ कुल जो अमालिन्य के कारण शोभन है, का मूर्ति आदि शोभन पदार्थों के ही साथ समुच्चय है। इनमें से प्रत्येक दर्प में हेतु बनने योग्य है और उस [कुल] के साथ स्पर्धा लिए हुए उपनिबद्ध है।

असत् = अशोभन का असत् = अशोभन के साथ योग, यथा—

'काम के दुर्वार बाण चल रहे हैं, प्रियतम दूर है, मन अति उत्कण्ठित है, प्रेम गाढ है, वय नवीन है, प्राण बड़े कठिन हैं, कुल निर्मल है, स्त्रीत्व धीरत्व का विरोधी ठहरा, समय काम के मित्र [वसन्त] का है, माग्य भी उलटा है, चतुर सखियाँ भी नहीं हैं। अब यह शठ विरह कैसे सहा जाय।'

इनमें दुर्वारत्व के कारण काम बाण अशोभन बतलाए गए हैं उनका उन्हीं जैसे 'प्रियतम की दूरस्थिति आदि अर्थों के साथ समुच्चय है। यद्यपि नवीन वय आदि स्वतः तो शोभन हैं तथापि यहाँ वे विरह के विषय होने से अशोभन हैं, ऐसा समझना चाहिए।

सत् और असत् अर्थात् शोभनत्व और अशोभनत्व दोनों से युक्त किसी एक का उसी प्रकार के किसी सत् और असत् के साथ योग, यथा—

'चन्द्र, जो दिन से धूसर हो गया हो; कामिनी जिसका यौवन निकल चुका हो; तालाब जो कमलरहित हो गया हो; अच्छी आकृति के व्यक्ति का मुख जो निरक्षर हो; प्रभु, जो धनसंग्रही हो; सत्पुरुष, जो सदा ही दुर्गति में पड़ा रहता हो तथा खल, जो राजा के अंगने में पहुँच रखता हो, ये सात व्यक्ति मेरे चित्त के शल्य हैं।'

यहाँ चन्द्रमा स्वयं शोभन है, तथापि दिवाकालिक उसमें धूसरता के कारण अशोभनता आ जाती है। इस प्रकार वह सत् भी है और असत् भी। उसका वैसे ही कामिनी आदि सत् और असत् पदार्थों के साथ समुच्चय है। सदसद्योग शब्द की व्याख्या यहाँ ऐसी नहीं की जानी चाहिए कि जिन जिन पदार्थों का समुच्चय किया जा रहा है उनमें से एक कोई शोभन माना जाए और उससे भिन्न कोई अन्य अशोभन, और उनका योग सदसद्योग। शङ्का होती है कि 'राजा के अँगने तक पहुँच रखने वाला खल' तो केवल अशोभन ही है, जब कि शेष सब शोभन हैं। इस प्रकार इनके योग को लेकर ही यहाँ सत् के साथ असत् का योग क्यों न मान लिया जाय? ऐसा नहीं। 'राजा' के अँगने तक पहुँच रखने वाला 'खल' इस अंश के कथन से तो यहाँ उलटे प्रक्रम भंग होता है। अतः यह तो सदोष है, न कि सौन्दर्य का हेतु। इसलिए यह अंश उपेक्षणीय ही है। इसीलिए [मम्मट आदि] अन्य आचार्यों ने इसे सहचरभिन्न अर्थ मानकर सदोष ही बतलाया है। यहाँ खल को 'नृपांगणगतत्व'—राजा के अंगने तक पहुँचने के कारण शोभन तथा स्वतः खल रूप से अशोभन मान कर समर्थन करना चाहिए। परन्तु ऐसा मानने पर भी दोष का सर्वथा निरास नहीं होता क्योंकि आरम्भ किया गया है विशेष्य की शोभनता और विशेषण की अशोभनता से और यहाँ की स्थिति भिन्न है [यहाँ विशेषणगत शोभनत्व पहले और विशेष्य-गत अशोभनत्व बाद में कथित है]। शङ्का होती है 'दुर्वारा. स्मरमार्गणा' इस पद्य में भी अभी कहे [शशी दिवसधूसरः] उदाहरण के ही समान सदसद्योग क्यों न माना जाए [केवल असद्योग ही क्यों माना जाए क्योंकि वहाँ भी स्मरणमार्गण स्वतः शोभन है उनमें दुर्वारत्व के कारण अशोभनता है]। ऐसा नहीं। यहाँ [शशी दिवस० पद्य में] विवक्षा यह है कि शोभन होते हुए भी पदार्थविशेष में अशोभनता है, जब कि वहाँ [दुर्वारा.० पद्य में] 'यह सर्वथा अशोभन ही है' यह विवक्षा है। इस प्रकार इन दोनों में अन्तर है। इसीलिए एक में उपसंहार किया गया है 'मेरे मन में सात शल्य हैं' इस उक्ति से, क्योंकि वे पदार्थ सुन्दर होने से चित्त में प्रवेश पा लेते हैं तब व्यथाजनक सिद्ध होकर अशोभन सिद्ध होते हैं। दूसरे पद्य में इसके विरुद्ध 'कैसे सहा जाए' इस प्रकार उपसंहार किया गया है यह इसी अभिप्राय से कि ये पदार्थ सर्वथा दुष्ट हैं। इस कारण [समुच्चय] तीनों प्रकारों के क्षेत्र भिन्न हैं॥'

विमर्शिनी

उक्तयतीति। एकस्येत्यादिना। एकः कश्चिदिति। यत्र यादृशो विवक्षितस्य। स्पर्धयेति। प्रक्रान्तस्य हेतोः। तत्सिद्धिमिति। कार्यनिष्पत्तिम्। अपर इति। पूर्वसमुच्चयात्। भिन्नलक्षणत्वात्। ननु यद्येवं तत्कथं वक्ष्यमाणलक्षण समाधिरेवायं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेति। पूर्णमिति। अन्यनिरपेक्षमित्यर्थः। आकस्मिकमापततो हि कारणान्तरस्य सौकर्येण मुखेन स्वरूपोपचयमात्राधायित्वेन सुष्ठुकार्यनिष्पत्तिः प्रयोजनम्। समुच्चये पुनः स्पर्धयैव बहूनामेककार्यकारित्वम्। अत एवात्र खलेकपोतिकयेति निदर्शनीयम्। एवं च—

> 'सोवाणारुहणपरिस्समेण कीस्सत्ति जे विनिस्सरिआ।
> ते सिअहरिदं सनदइअरेणे ससासा ण वाच्छिण्णाः॥'

इत्यादौ समुच्चय एव। सोपानारोहणपरिश्रमस्पर्धयैव हरिदर्शनरूपस्यापि कारणान्तरस्य तद्वचनच्छेदनिषेधमुखेन श्वासकारित्वोपनिबन्धात्। अत एवात्र न समाधिः। तस्य हि काकतालीयेनापतता कारणान्तरेण कार्यसौकर्यं लक्षणम्। न चात्रैतत्संभवति। न ह्यत्र काकतालीयेन हरिदर्शनरूपस्य कारणान्तरस्यापतनम्। तदर्थमेव सोपानारोहणस्योप-

क्रान्तत्वात्। नापि तद्योगात्कार्यस्योपोद्बलनात्मकं सौकर्यं, हरिदर्शनस्यापि सोपानारोहणपरिश्रमस्पर्धितया तत्कारित्वमात्रस्यैव विवक्षितत्वात्। अत एव 'न वोवाच्छिण्णा' इत्युक्तम्। शोभनैरिति। भद्रत्वादिति योगात्। ननु दूरनिर्वासितत्वादिना प्रियादीनां यद्यशोभनत्वं तत्कथं न नववयः प्रभृतीनामपीत्याशङ्क्याह—नवेत्यादि। तादृशैरेवेति। सद्भिः। कामिन्यादीनां स्वतः शोभनानामपि गलितयौवनत्वादेरशोभनत्वात्। अन्यथा पुनरत्र सदसद्योगो व्याख्येय इत्याशङ्क्याह—नन्वित्यादि। तादृशेनेति। समुच्चीयमानेनेत्यर्थः। प्रक्रमभेदादिति। शोभनानामुपक्रमेऽप्यशोभनस्य निर्देशात्। अत एवेति। सौन्दर्यनिमित्तत्वाभावात्। अन्यैरिति। काव्यप्रकाशकारादिभिः। तत्तु यथा—

> 'श्रुतेन बुद्धिर्व्यसनेन मूर्खता मदेन नारी सलिलेन निम्नगा।
> निशा शशाङ्केन धृतिः समाधिना नयेन चालंक्रियते नरेन्द्रता॥'

अत्र श्रुतिधृतिबुद्ध्यादिभ्य उत्कृष्टेभ्यः सहचरेभ्यो व्यसनमूर्खतयोर्निकृष्टयोर्भिन्नत्वम्। एवमपीति। सत्यामप्यस्यां समर्थनायाम्। न सर्वथेति। अनेनापि मार्गेण क्रमभेदोपपत्तेः। सदसद्योगात्सदसद्योगौ भेदयति-नन्वित्यादिना। इहेति। प्रकृते सदसद्योगोदाहरणे। तत्रेति। असद्योगोदाहरणे। अत एवेति। शोभनस्य सतोऽशोभनत्वेन विवक्षणात्। सोऽत्र इति, उपसंहृतमित्यत्रापि संयन्धनीयम्। एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादिना। प्रकारत्रयस्येति। प्रकारद्वयस्य तावत्स्वेद उक्तस्तद्वचनादेव पारिशेष्यात्तृतीयस्यापि प्रकारभेदः प्रतिपादितो भवतीत्येतदुक्तम्।

लक्षयति = लक्षण करते हैं—एकस्य इत्यादि के द्वारा। एकः कस्यचित् = एक कोई अर्थात् जहाँ जैसा विवक्षित हो उसका। स्पर्धया = स्पर्धा लिए हुए = अर्थात् जिसका वर्णन शुरू हुआ हो उस हेतु के साथ स्पर्धा। तत्सिद्धि = कार्यनिष्पत्ति। अपर = दूसरा अन्य, अर्थात् पूर्व कथित समुच्चय से, कारण कि इन दोनों के लक्षण भिन्न हैं। यदि ऐसा है तो इसे समाधि-अलंकार ही क्यों नहीं मान लेते, जिसका लक्षण आप बतलाने वाले हैं'—ऐसी आशंका पर लिखते हैं—न च। पूर्णम् = अन्यनिरपेक्ष। यदि कोई अन्य कारण एकाएक आ पड़ता है तो उसका प्रयोजन सुकरता के द्वारा और स्वरूप में अतिशय लाने के कारण कार्य की और अच्छी तरह से निष्पत्ति होती है। जब कि समुच्चय में बहुत से कारण स्पर्धा के साथ एक कार्य करते हैं। इसीलिए यहाँ 'खलेकपोतिका' यह दृष्टान्त दिया गया है [जैसे खलिहान में कबूतर अनेक संख्या में एक साथ उतरते हैं वैसे]। इस प्रकार—[रत्नाकरकारद्वारा समाधि के उदाहरण के रूप में उद्धृत]

> 'सोपानारोहपरिश्रमेण कस्या अपि ये विनिःसृताः।
> त एव हरिदर्शनव्यतिकरेण श्वासा न विच्छिन्नाः॥'

'सीढ़ी चढ़ने के परिश्रम से किसी सुन्दरी की जो साँसें चली थीं वे हरिदर्शन के कारण विच्छिन्न नहीं हुई।'—इस स्थल में समुच्चय ही मानना चाहिए। क्योंकि यहाँ जो हरिदर्शनरूपी दूसरा कारण है उसमें श्वासों के व्यवच्छेद के निषेध के प्रति कारणत्व न बतलाकर श्वास के प्रति कारणत्व बतलाया गया है और यह श्वास के सोपानारोहणपरिश्रमरूपी प्रथम कारण के साथ स्पर्धा लिए हुए है। इसीलिए यहाँ समाधि नहीं है। उसका लक्षण तो 'काकतालीयन्याय से एकाएक आ पहुँचे अन्य कारण द्वारा कार्य की निष्पत्ति में सुकरता' है। वह यहाँ संभव नहीं है। यहाँ हरिदर्शनरूपी अन्य कारण का आना काकतालीय न्याय से नहीं हुआ है। वह तो सोपानारोहण का उद्देश्य ही था। ऐसा भी नहीं कि उस [हरिदर्शनरूपी कारणान्तर] के आ-

जाने से कार्य की सिद्धि में सहायता पहुँचा कर सुकरता ला दी हो, क्योंकि यहाँ हरिदर्शन को भी सोपानारोहण परिश्रम के साथ स्पर्धा किए हुए कारण के रूप में स्वासजनकरूप से ही बतलाना अभीष्ट है। इसीलिए 'विच्छिन्न नहीं हुए' यह कहा भी। शोभनैः = शोभन = महत्त्व आदि के योग से। शंका होती है कि यदि 'दूरस्थित होने आदि के कारण प्रिय आदि में अशोभनता चली आती है तो 'नवीन वय' आदि में क्यों नहीं आती। इस पर उत्तर देते हुए लिखते हैं—'नव०'। तादृशैः = वैसे ही = सदसत्त्व से युक्त। कामिनी आदि स्वतः शोभन हैं तथापि उनमें गलितयौवनत्व आदि अशोभन हैं। 'यहाँ दूसरे प्रकार से भी सदसद्योग की व्याख्या की जा सकती है क्या' इस शंका पर कहते हैं—'ननु०'। तादृशेन = समुच्चीयमान। प्रक्रमभेदात् = प्रक्रमभेद क्योंकि शोभन से आरम्भ है और जा बिठाया अशोभन को। अत एव = इसीलिए = सौन्दर्य का निमित्त न बनने के कारण। अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि। [काव्यप्रकाश में] इस [सहचरभिन्नत्व] का उदाहरण यह है—

'बुद्धि विद्या से अलङ्कृत होती है, मूर्खता व्यसन से, नारी मद से, नदी पानी से, रात चन्द्रमा से, धैर्य समाधान से और राजत्व नीति से।'

यहाँ विद्या धैर्य और बुद्धि आदि की उत्कृष्ट सहचर हैं उनसे व्यसन और मूर्खता भिन्न हैं। क्योंकि वे निकृष्ट हैं। एवमपि = ऐसा होने पर भी—इस प्रकार का समर्थन किए जाने पर भी। न सर्वथा = क्योंकि यह मार्ग अपनाने पर भी क्रमभेद बना ही रहता है। असद्योग और सदसद्योग का अन्तर करते हैं—'ननु' इत्यादि द्वारा। इह = यहाँ प्रकृत जो सदसद्योग का उदाहरण है इसमें। तत्र = वहाँ असद्योग के उदाहरण में। अत एव = शोभन अर्थात् सत् की अशोभनरूप से विवक्षा होने के कारण। सोऽप्य = इसके साथ भी पूर्वोक्त 'उपसंहृतम्' = उपसंहार किया यह क्रियापद लगाना चाहिए। अब इसी का उपसंहार करते हैं—तस्मात् = इत्यादि के द्वारा। प्रकारत्रयस्य = तीनों प्रकार का = इनमें दो प्रकारों का भेद पहले ही बतला दिया है। उससे बचे हुए तृतीय प्रकार का भी भेद प्रतिपादित हो जाता है॥'

विमर्श इतिहास—समुच्चयालंकार रुद्रट की देन है। दण्डी से लेकर उद्भट तक यह नहीं मिलता। इस विषय में रुद्रट का बहुमुखी विवेचन इस प्रकार है—

[१] यत्रैकत्रानेकं वस्तुपरं स्यात् सुखावहाद्येव।
श्रेयः समुच्चयोऽसौ त्रेधान्यः सदसतोर्योगः॥ ७।१९॥

[२] व्यधिकरणे वा यस्मिन् गुणक्रिये चैककालमेकस्मिन्।
उपजायेते देशे समुच्चयः स्यात् तदन्योऽपि॥ ७।२७॥

जहाँ एक ही जगह अन्य अनेक वस्तुएँ आ जाती हैं या वे सुखावह हो जाती हैं [या दुःखावह ही] वहाँ समुच्चय होता है। यहाँ समुच्चय एक प्रकार का और होता है जिसमें सत् और असत् का सम्बन्ध रहता है। इसी प्रकार जहाँ [अनेक] गुण और क्रियाएँ एक ही काल और एक ही समय में अलग-अलग बनजाएँ जाएँ तो वह भी एक अन्य प्रकार का समुच्चय होता है। इस प्रकार वस्तुतः रुद्रट ने तीन प्रकार के समुच्चयों की कल्पना की है। इन सभी के उदाहरण भी उन्होंने दिए हैं।

इन कारिकाओं में से प्रथम का अर्थ नमिसाधु ने ऐसा कुछ किया है जिससे विदित होता है कि प्रथम कारिका प्रथम समुच्चय के लिए है और द्वितीय दूसरे के लिए तथा रुद्रट को समुच्चय केवल दो ही प्रकार मान्य है। वस्तुतः इन कारिकाओं से जो स्वाभाविक अर्थ निकलता उसके

अनुसार प्रथम कारिका तीन प्रकार का समुच्चय प्रस्तुत करती है और दूसरी कारिका केवल एक प्रकार का। फलतः रुद्रट के मत में समुच्चय चार प्रकार का मान्य है। कारिकाओं का अर्थ यह है—

[१] '[१] जहाँ एक ही स्थान पर अन्य अनेक वस्तुएं दिखलाई जाएं [२] या जहाँ से ये वस्तुएं सुखावह आदि प्रतिपादित हों वह समुच्चय कहलाता है। यह तीन प्रकार का होता है [एक] अन्य [तीसरा] भेद है दो सदसत् वस्तुओं का योग ॥ ७।१९ ॥

[२] इसके अतिरिक्त जहाँ भिन्न भिन्न स्थानों पर रहने वाले गुण और क्रिया एक ही समय में एक ही स्थान पर होते हुए बतलाए जाते हैं वह भी एक समुच्चय होता है जो उपर्युक्त प्रकारों से भिन्न होता है ॥ ७।२७ ॥

नमि साधु ने प्रथम कारिका में आए 'पर–' शब्द का अर्थ उत्कृष्ट किया है और उत्कृष्ट का अर्थ शोभन। रुद्रट द्वारा प्रदत्त प्रथम अंश के उदाहरण में शोभनत्व का कोई संकेत नहीं है। उधर सदसद्योग से शोभनत्व गतार्थ है अतः यहाँ परशब्द का अर्थ शोभन करना अनावश्यक है। नमिसाधु को शोभनत्व और उसके साथ अशोभनत्व के उदाहरण अपनी ओर से देने पड़े हैं। 'मेधा'—विशेषण को भी नमिसाधु ने 'सदसतोर्योगः' में अन्वित माना है। फलतः 'सदसतोः' इस द्विवचन का समाधान उनसे बन नहीं पड़ा। उन्होंने 'सत् और असत्' योग से होने वाले तृतीय भेद में 'सदसतोः' इस द्विवचन की उपपत्ति के लिए 'केवल एक सत् और एक ही असत्' का योग स्वीकार किया है अर्थात् इस तृतीय भेद में एकाधिक सत् का एकाधिक असत् से योग नहीं हो सकता।

रुद्रट ने उपर्युक्त प्रथम तीन भेदों के उदाहरण अलग अलग दिए हैं उन्हें उनके काव्यालंकार से ही देख लेना चाहिए। परवर्ती आचार्यों में रुद्रट के तुरन्त बाद आने वाले मम्मट ने ही रुद्रट की इस मान्यता को केवल 'सदसद्योग' तक सीमित कर दिया।

द्वितीय भेद में 'विदलितसकल०' तथा 'दैवादहमद्य०' पद्य रुद्रट के ही पद्य हैं जिन्हें उन्होंने यहाँ उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया था।

मम्मट = ने समुच्चय को बादमें सर्वस्वकार द्वारा स्वीकार किए गए दो ही भेदों तक सीमित रखा था। उनका विवेचन है—

[१] तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत् समुच्चयोऽसौ
[२] स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः ॥'

[१] 'किसी कार्य की सिद्धि के लिए सक्षम किसी एक हेतु के उपस्थित रहने पर यदि उसी कार्य को करने में सक्षम कोई दूसरा हेतु चला आए तो एक प्रकार का समुच्चय होता है और

[२] गुण, क्रिया तथा गुणक्रियाओं का संग्रह दूसरे प्रकार का समुच्चय होता है।

इन भेदों के जो उदाहरण मम्मट ने दिए थे सर्वस्वकार ने उन सब को उन्हीं भेदों के लिए यहाँ अपना लिया है।

रुद्रट ने गुण और क्रिया में समुच्चय के पूर्व अधिकरणगत भेद रहना आवश्यक माना था। मम्मट ने उसको अमान्य ठहराते हुए उदाहरण दिया—'धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्' आप तलवार चलाते हैं और कीर्ति फैलाते हैं'। यहाँ 'चलाना और फैलाना दोनों क्रियाएं भिन्न-भिन्न

अधिकरण में प्रसिद्ध नहीं हैं और उनका एक ही वर्ण्य व्यक्ति में समुच्चय किया जा रहा है। इसी प्रकार रुद्रट के विशेषण 'एक ही स्थान में'-पर भी मम्मट ने यह विरोधी उदाहरण दिया 'कृपाणपाणिश्च भवान् रणक्षितौ ससाधुवादाश्च सुराः सुरालये' = युद्धस्थल में आप कृपाणपाणि होते हैं और देवता लोग स्वर्ग में ससाधुवाद। यहाँ समुच्चय विषयीभूत राजा और देवताओं के स्थान भिन्न हैं। सर्वस्वकार ने मम्मट के इस सुझाव का उचित उदाहरणों द्वारा अनुमोदन किया है।

सर्वस्वकार की जो कल्पना सदसद्योग के तृतीय भेद के विषय में है उसे काव्यप्रकाश की 'शशी दिवस०' पद्य की वृत्ति से अपुष्ट समर्थन मिलता है। वृत्ति इस प्रकार है—'अत्र शशिनि धूसरे शल्ये शल्यान्तराणीति 'शोभनाशोभनयोग'। इसका अर्थ उद्योत और प्रभा में वही किया गया है जो सर्वस्व में करना अभीष्ट बतलाया गया है। रसगङ्गाधरकार ने भी इसे स्वीकार किया है। इन सबमें दोष भी वही सहचरभिन्नत्व हो दिया गया है। वस्तुतः इस प्रकार की व्याख्या में चमत्कार का कारण समुच्चय सिद्ध न होकर वैषम्य सिद्ध होता है। 'कहाँ चन्द्र जैसा कान्तिमान्, हृद्य, सुन्दर पदार्थ और कहाँ धूसरता' इस प्रकार का अर्थ निकलने पर ही तो यहाँ चमत्कार होता है। इस अर्थ में विषमत्व के अतिरिक्त यदि समुच्चय भी है तो विषम के सभी उदाहरणों में समुच्चय ही माना जा सकता है, अन्तर यह रहेगा कि यहाँ वैषम्य गुण—क्रियागत होगा जब कि विषम के उदाहरणों में वह द्रव्यादिगत रहता है। इसके अतिरिक्त 'शशी दिवसधूसर' इस अंश तक ही समुच्चय को सीमित माना जाए तो इस पूर्ण पद्य में माला-समुच्चय मानना होगा। तब यह सोचना होगा कि क्या केवल 'शशी जो दिन में मलिन हो मेरे मन में शल्य है' इतना ही कहने पर समुच्चयकृत चमत्कार होता है। फिर इस प्रकार के समुच्चय को सदा ही अवाच्य मानना होगा क्योंकि इसमें उसके वाचक च आदि पदों का प्रयोग कभी न होगा। साथ ही यह मान्यता टालनी पड़ेगी कि एक में अनेक शोभनाशोभन का योग हो, क्योंकि 'शशी' में धूमरत्व रूपी अशोभनत्व तो कथित है, शोभनत्व कथित नहीं है। तो क्या अनुक्त का भी समुच्चय होता है? उधर शशी स्वयं कोई गुण नहीं है। और यदि वह शोभन भी है तो अधिकरण है, न कि आधेय। अधिकरण और आधेय का तो समुच्चय, लक्षण में उक्त है नहीं। शशी शब्द को शशित्व जाति का वाचक माना जाए तो योग होगा गुण और जाति का, गुण गुण का नहीं। यदि गुण का अर्थ धर्म करें तो क्रिया का पृथक् कहना अनावश्यक सिद्ध होगा क्योंकि क्रिया भी एक वस्तुधर्म है। रत्नाकरकार ने वैसा किया है उन्होंने लक्षण में गुण या क्रिया शब्द न देकर धर्म शब्द ही दिया है।

जहाँ तक सहचरभिन्नत्व की बात है वह 'श्रुतेन बुद्धि०' पद्य में अवश्य है क्योंकि वहाँ एकाश्रित किए अर्थों में साम्य विवक्षित नहीं है जैसा पाणिनि के सूत्र 'स्वयुवमघोनामतद्धिते' में फलतः वहाँ की प्रत्येक इकाई स्वतन्त्र है, जब कि 'शशी दिवस' पद्य में 'शल्यत्वेन' सब समुच्चीयमानों में साम्य है, अतः यहाँ 'शल्यत्वावच्छिन्न' होने से सभी सहचर हैं। ऐसा कुछ लगता है कि 'शशी दिवसधूसर०' पद्य की पूर्ण अभिव्यक्ति दो इकाइयों में विभक्त है, एक समुच्चय और दूसरी दीपक। राजप्रासाद में डटे रहने वाले किसी चुगलखोर को लक्ष्य करके यह बात कही गई है। चूंकि ऐसा व्यक्ति अप्रिय होता है अतः कवि ने यहाँ अप्राकरणिक अन्य अप्रिय वस्तुओं का जमाव करना चाहा है, और इसीलिए चन्द्रमा को धूसर रूप में और कामिनी आदि को गलितयौवन रूप में रखा है। इन रूपों में ये सब अप्रिय ही होते हैं। इसी प्रकार यहाँ केवल अशोभन अशोभन का योग सिद्ध होगा। चित्त शल्य तो शोभन होता नहीं है और जब सभी शल्य हैं तो सभी अशोभन हैं। समुच्चय भी अपने आप में प्ररूढ न होकर दीपक का अंग बनता है और तब चमत्कार लाता है।

यदि यहाँ समुच्चय भी मान लिया जाए तो मम्मट की उपर्युक्त पंक्ति का झुकाव सर्वस्व-द्वारा प्रस्तुत पक्ष के विरुद्ध जाता है। इसके अनुसार उक्त पंक्ति में 'शल्यान्तराणि' अंश व्यर्थ होगा। इस प्रकार का अर्थ मानने पर 'दुर्वाराः०' पद्य से भी अन्तर करने की विपत्ति टल जाती है। सर्वस्वकार के परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकार—ने दोनों समुच्चयों को मिला दिया है और उनका एक अभिन्न लक्षण इस प्रकार बताया है—

'धर्मयौगपद्यमन्यस्यापि तत्करत्वं च समुच्चयः।'

'धर्मगत यौगपद्य और अन्य का भी उसी कार्य का करना समुच्चय।'

धर्म में गुण और क्रिया का ही नहीं उनके अभावों का संग्रह भी रत्नाकरकार को मान्य है। सदसद्योग को अमान्य ठहराते हुए उन्होंने लिखा है—

'न चास्य सद्योगासद्योगसदसद्योगैर्भेदो गणनीयः, आद्ययोः समसंकीर्णत्वात्; उत्तरस्य विषमगर्भत्वाद्, अन्यथान्यालंकारसंकीर्णतया भेदगणनाप्रसङ्गात्।'

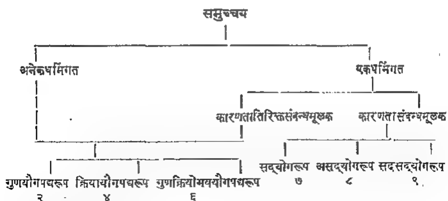
इसमें सद्योग, असद्योग तथा सदसद्योग के आधार पर भेदगणना नहीं माननी चाहिए, क्योंकि इनमें से प्रथम भेद में समालंकार का संकर मात्र है, और शेष दो में विषमालंकार का। यदि अन्य अलंकार के संकर से भेद गणना करेंगे तो अन्य अलंकारों के संकर से होने वाले भेद भी गिनने होंगे।' पण्डितराज जगन्नाथ ने रत्नाकर की इस स्थापना का उनके नाम का उल्लेख करते हुए खण्डन किया है।

पण्डितराज—ने दोनों समुच्चयों का समन्वय एक ही लक्षण में इस प्रकार दिखलाया है—

'युगपत्पदार्थानामन्वयः समुच्चयः।'

'अनेक पदार्थों का एक साथ अन्वय समुच्चय कहलाता है।'

उनकी भेदगणना इस प्रकार है—



जैसा कि कहा जा चुका है सदसदुभययोग की अर्थयोजना पण्डितराज ने वही मानी है जो सर्वस्वकार ने मानी थी। उनके—

'जीवितं मृत्युनालीढं संपदः श्वासविभ्रमाः।
रामाः क्षणप्रभारामाः शल्यान्येतानि देहिनाम् ॥'

—'जीवन, जो मृत्यु से ग्रसित हो, संपत्तियाँ जो श्वास के समान अस्थिर हों, स्त्रियाँ जो बिजली के समान अस्थिर हों, प्राणियों के लिए शल्य है।' इस स्थल में उन्होंने एक ही जीवन में स्वतः शोभनत्व और मृत्युग्रस्तत्व के कारण अशोभनत्व माना है। यदि इन आचार्यों के समक्ष—

'शुद्धमाविलमवस्थितं चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत्।
सर्वमेव तमसाऽस्ति साम्प्रतं वीतभेदमयि मत्तकाशिनि ॥'

ऐसा कोई पद्य होता तो इन्हें शोभनाशोभनयोग की उपर्युक्त कल्पना न सताती। इस पद्य में उज्ज्वल तथा मलिन चचल तथा स्थिर वक्र तथा ऋजु पदार्थों का विरोध शोभनत्व और अशोभनत्व पर ही आश्रित है तथा यहाँ एक 'वीतभेदत्व' में उनका समुच्चय भी है। कार्यकारणभाव के लिए उत्तरार्ध में—'सर्वमेव तमसा समीकृतं दीपयत्यसमसायकं समम्'।'—इस प्रकार की योजना की जा सकती है। इसमें 'सर्व' शब्द से पूर्वार्धप्रोक्त पदार्थों की शोभनाशोभनता व्यक्त है।

विश्वेश्वर—ने मम्मट के ही समान दोनों समुच्चयों को पृथक् माना है और उनके लक्षण इस प्रकार बताए हैं—

(१) 'एकस्मिन् सति हेतौ हेत्वन्तरगी समुच्चयः कथितः।
सदसत्सदसद्योगे।

(२) गुणक्रियायौगपद्येऽन्य' ॥

सदसद्योग शब्द पर इन्होंने कोई क्षोदक्षेम नहीं उठाया। सजीविनीकार श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका समुच्चय पर इस प्रकार है—

एकक्रियायामन्यस्य क्रिया स्वन्यः समुच्चयः।
सदसद्वैधयोगेन स त्रिधा संव्यवस्थितः ॥

पाठान्तर—प्रथम समुच्चय के अन्त अन्त में आया 'गुणशब्दत्वेन' शब्द सभी प्रतियों में 'गुणशब्देन' इसी प्रकार छपा है। 'समासकृत्तद्धितेषु गुणशब्दत्वेन'—ऐसा अन्वय मान स्वकल्पना से हमने 'गुणशब्दत्वेन' पाठ बनाना ही उचित समझा है।

द्वितीय समुच्चय में सौकर्याय के स्थान पर निर्णय सागरीय प्रति तथा डा० राघवन् की प्रति में कार्याय तथा डॉ० द्विवेदी वाली प्रति में "तत्कार्यसौकर्याय' पाठ है। इसके पहले आद यत्र के स्थान पर भी इन सब प्रतियों में 'तत्र' छपा है।

[सर्वस्व]

[सू० ६८] कारणान्तरयोगात्कार्यस्य सुकरत्वं समाधिः।

केनचिदारब्धस्य कार्यस्य कारणान्तरयोगात् सौकर्यं यत्, स सम्यगाधानात्समाधिः। समुच्चयसादृश्यात्तदनन्तरमुपक्षेपः। तद्वैलक्षण्यं तु प्राक्प्रतिपादितमेव। उदाहरणम्—

'मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥'

माननिराकरणे कार्ये पादपतनं हेतुः। तत्सौकर्यार्थं घनगर्जितस्य कारणान्तरस्य प्रक्षेपः। सौकर्यं चोपकारायेति पदेन प्रकाशितम्।

[सूत्र ६८] अन्य कारण के योग से कार्य का सुकरतापूर्वक निष्पन्न होना समाधि [अलंकार कहलाता है] ॥

[वृ०] किसी एक कारण के द्वारा शुरू किए गए कार्य का अन्य किसी कारण के सहयोग से जो सरलतापूर्वक निष्पन्न होना वह सम्यक् = भली भाँति, आधान = निष्पत्ति इस व्युत्पत्ति के आधार पर समाधि [नामक अलंकार कहलाएगा]। समुच्चय के साथ सादृश्य होने से इसे उसके बाद प्रस्तुत किया जा रहा है। उससे इसका अन्तर पहले ही बतला दिया गया है। उदाहरण—

'इस [रूठी प्रिया] का मान दूर करने के लिए इसके पैरों पड़ना चाहता था कि मेरे उपकार के लिए भाग्य से यह बादल गरज उठा।'

यहाँ मान का निराकरण कार्य है। उसमें हेतु है पैरों पर पड़ना। उसकी और सरलतापूर्वक निष्पत्ति के लिए बादल की गड़गड़ाहट रूपी अन्य कारण प्रस्तुत किया गया। सुखपूर्वक निष्पत्ति भी यहाँ 'उपकार'– पद से स्पष्ट की गई है ॥'

विमर्शिनी

कारणेत्यादिना। एतदेव व्याचष्टे—केनचिदित्यादिना। सौकर्यमिति। कार्यस्य सुखेनायासमेव प्रकृतकारणवशेन निष्पन्नत्वेऽपि स्वरूपोपचयाधायकत्वेनाकृष्टार्थस्योपलक्षणपरत्वेन विवक्षितत्वात्सुष्ठु वा करणमित्यर्थः। अत एव कारणान्तरयोगात् कार्यस्य सुखेन सुष्ठु वा करणस्य भेदद्वयमपि ज्ञेयम्। प्रागिति समुच्चये। हेतुरिति। प्रकृतः। तत्सौकर्यार्थमिति। सुखेन कार्यनिष्पत्त्यर्थमित्यर्थः। यद्याकस्मिकघनगर्जितयोगो न स्यात्तदा निरायासमाननिराकरणं न सिद्धयेत्। एतच्च प्रथमप्रकारस्योदाहरणम्। द्वितीयस्य यथा—

'क्षैणं लीलाभरणमभितश्छोटयित्वा श्रमाम्भः-
शबल्या पत्त्रावलिमृगमदव्यक्षितरमश्रुदेहः।
केलिक्षोभः कुवलयदृशां मान्मथे कार्यभावे
पुंवद्भावं घटितमभितः पारिपूर्ण्यं निनाय ॥'

अत्र स्वेदादिना घटितस्यापि पुंवद्भावस्य केलिक्षोभाख्येन कारणान्तरेण क्षैणाभरणच्छोटनादिना स्वरूपोपचयाधानात्समाधिः। एवमेवमादावव्यापकमेतल्लक्षणमिति यदन्यैरुक्तं, तत्तेषामेतल्लक्षणस्वरूपानवधारणमेवेत्यलं बहुना।

कारण इत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—'केनचित्' इत्यादि के द्वारा। सौकर्यम् = कार्य, प्रकृत कारण के ही द्वारा सुखपूर्वक निष्पन्न हो सकता है तथापि कार्य शरीर में और अधिक विशेषता लाने, सरलता, अथवा सुष्ठु प्रकार से कार्य निष्पत्ति करने के अभिप्राय से सौकर्य शब्द का प्रयोग किया गया। इसीलिए अन्य कारण के योग से कार्य का, 'सुखपूर्वक अथवा भलीभाँति', इस प्रकार जो दो प्रकार से किया जाता है इन दोनों को इसके दो प्रकार समझना चाहिए। प्राक् = पहले = समुच्चय प्रकरण में। हेतुः = हेतु अर्थात् प्रकृत हेतु। तत्सौकर्यार्थम् = उसके सौकर्य के लिए'—अर्थात् सुखपूर्वक कार्य निष्पत्ति के लिए। यदि आकस्मिक घनगर्जना न होती तो मान का अनायास निवारण न होता। यह [उक्त प्रकारों में से] प्रथम प्रकार का उदाहरण हुआ। द्वितीय [भलीभाँति निष्पत्ति] का उदाहरण [रत्नाकरकार द्वारा ही उद्धृत] यह पद्य है—

'कामदेव का कार्य जब होने लगा तब नीलकमल के नेत्रों वाली सुन्दरियों ने [विपरीत रति में] जो पुरुषकार्य अपनाया उसे केलिश्रम ने पूरी तरह पूर्णता को प्राप्त करा दिया क्योंकि उसने अग प्रत्यंग के स्त्रियोचित लीलाभरण तोड़ डाले और पसीने में बहे पत्रावली के मृगमद से दाढ़ी मूछ बना दी।'

यहाँ पसीना निकलने से स्पष्ट होता है कि स्त्रियों का पुरुषायित पूरा हो चुका था किन्तु केलिश्रम रूपी अन्य कारण ने स्त्रियोचित लीलाभरण तोड़ने आदि के द्वारा उसी पुरुषायित के स्वरूप को और बढ़ा दिया, इसलिए यहाँ समाधि का दूसरा भेद हुआ। इस प्रकार अन्य आचार्य [रत्नाकरकार] ने [समाधिप्रकरण के उदाहरण १९८ की वृत्ति में] जो यह कहा है कि 'इस प्रकार के स्थलों में यह [सर्वस्वकार का] लक्षण लागू नहीं हो पाता' वह इस लक्षण के विषय में उनका अज्ञान ही है। इस विषय में अधिक कुछ न कहकर इतना ही कहना पर्याप्त है ॥'

विमर्श—रत्नाकरकार ने समुच्चय प्रकरण की विमर्शिनी में उद्धृत 'सोपानारोहण०' पद्य में समाधि मानते हुए लिखा था कि यहाँ सोपानारोहणपरिश्रम से श्वासरूपी कार्य की उत्पत्ति हो चुकी है, हरिदर्शन उसमें विच्छिन्नता भर नहीं आने देता, इस प्रकार हरिदर्शन श्वासरूपी कार्य की निष्पत्ति में नहीं, स्थिति में कारण है, फलत वह कार्य का उपोद्बलक है। सर्वस्वकार ने समाधि के लक्षण में जो सौकर्य शब्द दिया था रत्नाकरकार ने उसका एक ही अर्थ लगाया 'उत्पत्ति' में सहायता करना, जिससे कार्य सरलता और सुख से निष्पन्न हो जावे। इस अर्थ के अनुसार 'श्वास'-रूपी कार्य को लेकर बतलाए गए उपर्युक्त समाधिस्थल में यह लक्षण लागू नहीं होता। विमर्शिनीकार ने 'सोपानारोहण०' पद्य में तो समुच्चय सिद्ध कर दिया, और सौकर्य शब्द का उपोद्बलन अर्थ कर रत्नाकरकार के आक्षेप का भी निराकरण कर दिया।

इतिहास—

दण्डी—समाधि की कल्पना प्रथमत. दण्डी ने की है। उन्होंने इसे समाहित नाम दिया है। उनका निरूपण—'किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात् पुन.।

तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम्'। २। २९८॥

कोई कार्य आरम्भ कर रहे व्यक्ति के पास भाग्यवशात् अन्य साधन की पहुँच समाहित कहलाती है। उदाहरण के रूप में 'मानमस्या०' पद्य ही दण्डी ने दिया है। भामह ने भी इसी आशय में समाहित अलंकार माना है किन्तु उसका कोई लक्षण उनमें नहीं मिलता। वामन ने खोजी जा रही वस्तु के समान वस्तु को समाहित कहा है='यत्सादृश्यं तत्संपत्तिः समाहितम्। और उदाहरण के रूप में विक्रमोर्वशीय का 'तन्वी मेघ०' पद्य दिया है। यह वही लता है जिसे पुरूरवा उर्वशी समझता है और वह उर्वशी रूप में परिणत भी हो जाती है। उद्भट में समाहित नामक अलंकार तो है परन्तु वह रसवदादि के वर्ग का है। समाधि नाम से इसमें कोई अलंकार नहीं मिलता। रुद्रट में समाहित या समाधि दोनों ही नाम नहीं मिलते। इससे विदित होता है कि इस अलंकार को समाधि संज्ञा प्रथमत मम्मट ने दी है। उनका लक्षण यह है—

मम्मट—'समाधि. सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगत.।'—'अन्य कारण के सहयोग से कार्य की सुकरता-समाधि'। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'मानमस्या.' पद्य ही दिया है।

रत्नाकरकार—शोभाकर ने केवल 'उपोद्बलनं समाधि'—बढ़ावा समाधि कहलाता है—इतना ही लक्षण किया है। उन्होंने कारणों में दो कोटियों की भी खोज की है-स्थित और

आगन्तुक। इनमें से दोनों में दोनों का सहयोग उन्हें विवक्षित है। 'मानमस्याः०' पद्य को उन्होंने भी उदाहरणरूप से उद्धृत किया है।

अप्पयदीक्षित—ने रत्नाकरकार का संशोधन अस्वीकार कर सर्वस्वकार का ही अनुसरण किया है और समाधि का यह लक्षण दिया है—

'समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरयोगतः।'

उदा०—'उत्कण्ठिता च तरुणी जगामास्तं च भानुमान्॥'

अन्य कारण के योग से कार्यसौकर्य समाधि कहलाता है। उदा० इधर तो तरुणी उत्कण्ठित हुई और उधर सूर्य अस्त हो गया।'

समाधि से समुच्चय का अन्तर अप्पयदीक्षित ने कारण की आकस्मिकता और अनेकता द्वारा किया है। समाधि में कारणान्तर आकस्मिक होता है जब कि समुच्चय में कारणान्तरों की भरमार रहती है। इसी भरमार का नाम समुच्चय है।

पण्डितराज—जगन्नाथ ने सर्वस्वकार का ही लक्षण अपनाया है। उनका परिष्कृत लक्षण यह है—

'एककारणजन्यस्य कार्यस्याकस्मिककारणान्तरसमवधानाहितसौकर्यं समाधिः॥'

'एक किसी कारण से उत्पन्न हो सकने योग्य कार्य में किसी अन्य आकस्मिक कारण के आ जाने से जो सौकर्य आता है वही समाधि है।'

पण्डितराज ने विमर्शिनीकार के द्वारा सुझाए गए सौकर्यशब्द के दोनों अर्थ भी मान लिए हैं उन्होंने लिखा है—

'तच्च सौकर्यं कार्यस्यानायासेन सिद्ध्या साङ्गसिद्ध्या च'। वह सौकर्य दो प्रकार से होता है कार्य की बिना आयास के हुई सिद्धि से तथा साङ्गोपाङ्ग सिद्धि से।

विश्वेश्वर—ने भी सौकर्य को स्थान देते हुए समाधिलक्षण इस प्रकार बनाया है—

'भवति समाधिः सुकरे हेत्वन्तरसमवधानतः कार्ये।' 'चिकीर्षितस्य कार्यस्य सिद्ध्यर्थमभिमतो यो हेतुस्तदतिरिक्तहेतुना कार्यस्य सौकर्यं समाधिः, समाधीयते कार्यमनेनेति व्युत्पत्तेः।'

अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए माना हुआ जो हेतु उससे भिन्न हेतु के द्वारा जो कार्य का सौकर्य वही समाधि, समाहित किया जाता है कार्य इससे इस व्युत्पत्ति के आधार पर'।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका समाधि पर इस प्रकार है—

'समाधिः सम्यगाधानं कारणान्तरयोगतः।' अन्य कारण के सहयोग से ठीक से कार्य की निष्पत्ति समाधि सौकर्य को समाधि कहना लाक्षणिक प्रयोग है। वस्तुतः 'सम्यक् आधान' ही समाधि का स्वरूप है।

पाठान्तर—समाधि की अन्तिम पंक्ति में 'पदेन' के स्थान पर निर्णयसागरीय प्रति में पदे छपा है। डॉ० राघवन् के संस्करण में केवल 'उपकारायेति प्रकाशितम्' ही पाठ है।

विमर्शिनी

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—एवमित्यादिना।

इस प्रकरण का उपसंहार कर अन्य प्रकरण की अवतरणिका प्रस्तुत करते हैं—

[सर्वस्व]

एवं वाक्यन्यायाश्रयिणोऽलंकारान्प्रतिपाद्याधुना लोकन्यायाश्रयिणोऽलंकारा उच्यन्ते। तत्र—

[सू० ६९] प्रतिपक्षतिरस्काराशक्तौ तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकम्।

यत्र बलवतः प्रतिपक्षस्य दुर्बलेन प्रतिपक्षेण प्रतीकारः कर्तुं न शक्यत इति तत्संबन्धिनो दुर्बलस्य तं बाधितुं तिरस्कारः क्रियते तत्प्रत्यनीकम्। अनीकस्य सैन्यस्य प्रतिनिधिः प्रत्यनीकमुच्यते। तत्तुल्यत्वादिदमपि प्रत्यनीकमुच्यते। यथानीकेऽभियोक्तव्ये तत्रासामर्थ्यात्तत्प्रतिनिधिभूतमन्यदभियुज्यते, तद्वदिह प्रतिपक्षे विजेये तदीयस्य दुर्बलस्य तिरस्करणमित्यर्थः। प्रतिपक्षगतत्वेन बलवत्त्वख्यापनं प्रयोजनम्। यथा—

'यस्य किंचिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनापि बाधते॥'

अत्र राहोः सकाशाद्भगवान्बलवान्विपक्षः। तदीयः पुनर्वक्त्रसादृश्यमुखेन दुर्बलश्चन्द्रमा। तत्तिरस्काराद्भगवतः प्रकर्षावगतिः।

इस प्रकार वाक्य—[मीमांसाश्रित]—न्याय पर निर्भर अलंकारों का प्रतिपादन किया, अब लोक—[गत]—न्याय पर आश्रित अलंकारों का निरूपण करते हैं।

[सू० ६९] विरोधी का तिरस्कार करने की क्षमता के अभाव में उससे संबन्धित का तिरस्कार प्रत्यनीक [कहलाता है]॥

[वृ०] जहाँ बलवान् विरोधी का दुर्बल विरोधी द्वारा प्रतीकार करना सम्भव नहीं होता अत: उससे सम्बद्ध किसी दुर्बल का प्रतीकार उसे पीड़ा पहुँचाने के लिए किया जाता है वह सेना का प्रत्यनीक कहलाता है। अनीक अर्थात् सेना उसका प्रतिनिधि प्रत्यनीक कहलाता है। उसके समान होने से यह भी प्रत्यनीक कहा जाता है। अर्थ यह कि जिस प्रकार युद्ध करना होता है सेना से, किन्तु वैसा करने की शक्ति न रहने पर उसके प्रतिनिधिभूत अन्य किसी से युद्ध किया जाता है उसी प्रकार यहाँ जीतना तो अभीष्ट रहता है शत्रु को, किन्तु तिरस्कार किया जाता है उसके किसी दुर्बल सम्बन्धी का। इसका प्रयोजन होता है विरोधी की बलवत्तरता व्यक्त करना। उदाहरण यथा—

'शरीर के निग्रह [काट कर दो खण्ड कर देने] से लड़ाई ठान बैठा राहु जिस [भगवान् विष्णु] का कुछ भी अपकार करने में असमर्थ होकर उसी के कान्तिमान् मुखबिम्ब के समान आकृति के चन्द्र को अभी तक बाधा पहुँचाता है।'

यहाँ राहु की अपेक्षा भगवान् बलवत्तर शत्रु हैं, चन्द्रमा मुखबिम्ब के सादृश्य के कारण उनसे सम्बन्धित है किन्तु दुर्बल है। उसके तिरस्कार से भगवान् के प्रकर्ष का ज्ञान होता है॥'

विमर्शिनी

तत्रेति निर्धारणे। प्रतिपक्षेत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—यत्रेत्यादिना। बलवत इति दुर्बलेनेति च प्रतीकाराकरणे विशेषणद्वारेण हेतुद्वयोपन्यासः। तत्सम्बन्धिन इति। बलवत्प्रतिपक्षात्मकस्य। तत्सम्बन्धित्वं च सादृश्यादिसम्बन्धमूलम्। दुर्बलस्येति। तस्यापि हि बलवत्त्वे दुर्बलेन प्रतिपक्षेण प्रतिकारः कर्तुं न शक्येत इति भावः। तमिति। सबलं प्रतिपक्षम्। बाधितुमिति। अन्यथा हि निष्प्रयोजनस्तदीयतिरस्कारः स्यात्। क्रियत इति। दुर्बलेन प्रतिपक्षेण नैतत्संज्ञामात्रमित्याशङ्क्याह—अनीकस्येत्यादि। तुल्यत्वमेव दर्शयति—यथेत्यादि। किं चात्र प्रयोजनमित्याशङ्क्याह—प्रतिपक्षेत्यादि। बलवत्त्वाख्यापनमिति। अप्रतीकार्यत्वात्। अत्रेत्यादि। वक्त्रसादृश्यमुखेन तदीय इति सम्बन्धः। तत्तिरस्कारादिति। न पुनस्तत्स्वीकारात्। बाधत इत्युक्तेस्तिरस्कारस्यैव साक्षाद्वाच्यार्थत्वात्। अत एव परैरपि 'तत्सम्बन्धितिरस्कारद्वारा तस्यैव बाधनादि'—इत्युक्तम्। प्रकर्षोऽप्रतीकार्यत्वम्। एतेन चास्य प्रयोजनं दर्शितम्। अत्र अतिरस्कार्यतिरस्करणकर्तुर्निन्दाद्वारेण बलवतः प्रतिपक्षस्याप्रतीकार्यत्वात्स्तुतिप्रतिपादने तात्पर्यम्।

तत्र = यह निर्धारणार्थक। प्रतिपक्षेत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—यत्र इत्यादि के द्वारा। बलवान् और दुर्बल इन दोनों विशेषणों द्वारा प्रतीकार न कर सकने में दो हेतु उपस्थित किए। तत्सम्बन्धिनः = उसके सम्बन्धी अर्थात् शत्रु के सम्बन्धी के। उससे सम्बन्ध होगा सादृश्य आदि सम्बन्ध के आधार पर। दुर्बलस्य = दुर्बल = यदि वह सम्बन्धी भी बलवान् हो तो दुर्बल विरोधी द्वारा उसका भी प्रतीकार नहीं हो सकेगा। तम् = उस = सबल शत्रु को। बाधितुम् = बाध = पीड़ा पहुँचाने के लिए। नहीं तो उससे सम्बन्धित का तिरस्कार निष्प्रयोजन ठहरेगा। क्रियते = किया जाता है = अर्थात् दुर्बल विरोधी के द्वारा। [प्रत्यनीक] केवल संज्ञामात्र नहीं हैं ऐसी शंका कर लिखते हैं—अनीकस्य। तुल्यता ही दिखलाते हैं—यथा इत्यादि के द्वारा। 'तब यहाँ प्रयोजन क्या है' ऐसी शंका सोचकर लिखते हैं - प्रतिपक्ष इत्यादि। बलवत्त्वाख्यापन = प्रतीकार्य न होने के कारण। अत्र इत्यादि = मुख के सादृश्य के द्वारा उससे सम्बन्धित' इससे भी सम्बन्धित है। तत्तिरस्कारात् = उसका तिरस्कार = न कि उसका अंगीकार [जैसा कि रत्नाकरकार ने माना है]। बाधते = बाधा = पीड़ा पहुँचाना = ' इस कथन से तात्पर्य यह निकला कि यहाँ तिरस्कार ही प्रमुख अर्थ रहता है। इसीलिए अन्य [रत्नाकरकार] ने भी कहा है—'उसके सम्बन्धी के तिरस्कार के द्वारा उसी को पीड़ा पहुँचाने से०'। प्रकर्ष = अप्रतीकार्यता। इसके द्वारा इसका प्रयोजन बतलाया। यहाँ अतिरस्कार्य का तिरस्कार करने से तिरस्कार करने वाले की निन्दा व्यक्त होती है। उसके द्वारा बलवान् शत्रु की अप्रतीकार्यता बतलाई जाती है। इससे जो उसकी प्रशंसा होती है तात्पर्य उसी के प्रतिपादन में रहता है॥[1]

विमर्श—इतिहास—

प्रत्यनीक रुद्रट की ही देन है। उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार किया है—

'वक्तुमुपमेयमुत्तममुपमानं तज्जिगीषया यत्र।
तस्य विरोधीत्युक्त्वा कल्प्येत प्रत्यनीकं तत्॥' ८।९२॥

—'जहाँ उपमेय को उत्तम बतलाने के लिए उपमान को उसे जीतने के लिए उक्तिपूर्वक विरोधी बतलाया जाए तो वह प्रत्यनीक होता है।' उदाहरण—

'यदि तव तया जिगीषोस्तद्वदनमहारि कान्तिसर्वस्वम्।
मम तत्र किमापतितं तपसि सितांशो यदेवं माम्॥'

हे चन्द्र तुम उस सुन्दरी को जीतना चाहते थे और यदि उसी ने तुम्हारा कान्तिमान् मुख छीन लिया तो इसमें तुम्हारा मैंने क्या किया जो तुम मुझे इस प्रकार तपा रहे हो।'

मम्मट='प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते॥'

वृ०—न्यक्कृतिपरमपि विपक्षं साक्षान्निरसितुमशक्तेन येनापि यत् तमेव प्रतिपक्षमुत्कर्षयितु तदाश्रितस्य तिरस्करणम् तद् अनीकप्रतिनिधितुल्यत्वात् प्रत्यनीकमभिधीयते। यथा अनीके अभियोज्ये तत्प्रतिनिधीभूतमपरं मूढतया केनचिदभियुज्यते तथेह प्रतियोगिनि विजेये तदीयोऽन्यो विजीयते इत्यर्थः।

'विरोधी का प्रतिकार करने में असमर्थ व्यक्ति द्वारा जो उससे सम्बन्धित व्यक्ति का उसी विरोधी की स्तुति कराने वाला जो तिरस्कार वह प्रत्यनीक कहलाता है।

—विरोधी अपमान करता चला जा रहा हो और उसका निराकरण साक्षात् न किया जा सकता हो अतः कोई उसी विरोधी का उत्कर्ष प्रतिपादित करने वाला उसके आश्रित का तिरस्कार करे, तो वह सेना के प्रतिनिधिभूत व्यक्ति के समान होने से प्रत्यनीक कहा जाता है। जैसे सेना से लड़ना हो किन्तु मूढतावश उसके प्रतिनिधिभूत व्यक्ति से कोई लड़ता है उसी प्रकार यहाँ भी जीतना होता है विरोधी को किन्तु जीता जाता है उसका सबन्धी कोई अन्य व्यक्ति।'

उदाहरण, यही—'यस्य किंचिदपकर्तुम्' पद्य।

रत्नाकरकार ने अन्य अलंकारों के ही समान इस अलकार में भी अपनी भावयित्री प्रतिभा की उर्वरता दिखलाई है। उन्होंने विरोधिसबन्धी का तिरस्कार तो प्रत्यनीक में गिना ही है विरोधि के विरोधी का अंगीकार भी भाँति भाँति के उदाहरणों द्वारा प्रत्यनीक के भेद के रूप गिनाया है। साथ ही न केवल विरोधी अपि तु सदृश पदार्थ के सबन्धी के भी अभिलषणीय और परिहरणीय रूप से अंगीकार में प्रत्यनीक माना है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

[सू०] 'प्रतिपक्षादिसम्बन्धिस्वीकारः प्रत्यनीकम्॥ ४०॥

[वृ०] बलवतः प्रतिपक्षस्य तिरस्काराशक्तौ तत्सम्बन्धिनो दुर्बलस्य बाध्यतया स्वीकारमुखेन तिरस्कर्तुर्निन्दाद्वारा बलवतः स्तुतिप्रतिपादनरूपमेकं प्रत्यनीकम्। ००० । तथा प्रतिपक्षसम्बन्धिनश्च प्रतिपक्षस्य तद्बाधकतया स्वीकारस्तथैव द्वितीयम्। आदिशब्देन प्रतिपक्षादन्यस्य सदृशादिरूपस्य सम्बन्धिनोऽभिलषणीयत्वेन परिहरणीयत्वेन वा स्वीकारस्तृतीयम्।'

विरोधी के विरोधी के अपनाए जाने का उदाहरण—

'इदं मदं चन्द्रमसस्समस्तादरमतपल्लस्य हरिष्यतीति।
यस्मिन् पुरस्त्रीवदनस्य लक्ष्मीं निजां व्यधुः प्राभृतमम्बुजानि॥'

—'हमारे शत्रु चन्द्रमा का मद यह [सुन्दरीमुख] पूरी तरह हरण कर लेगा यह सोचकर जिस नगर की सुन्दरियों के मुखों की कान्ति को कमलों ने अपना उपहार बना लिया।'

सदृशसम्बन्धी गुण का स्पृहणीय रूप में अंगीकार इस पद्यरत्न में दिखलाया है—

'पुष्पाणामेव निन्दामचकमत गुणान् पल्लवानामगृह्णात्
स्तुत्यां सक्ता पिकानाममवदयद् राजहंसेषु दोषान्।
भक्तिं व्यानञ्ज सान्द्रे मृगमदतिलके चान्दने नाङ्गरागे
ध्वान्तं तुष्टाव तुष्या न तु मिहिरमहः कृष्णलोभा हि राधा॥'

'राधा कृष्ण के अनुराग में पुष्पों की ही निन्दा करती है और पत्तों के ही गुणों को चाहती है, कोयलों की ही स्तुति में आसक्त रहती थी, राजहंसों में दोष देखती थी, कस्तूरी के गहन तिलक में ही रुचि व्यक्त करती थी, चन्दन के अंगराग में नहीं और अंधेरे की ही स्तुति करती थी सूर्यप्रकाश की नहीं।' पल्लव आदि कृष्ण सदृश वर्ण के हैं, अतः कृष्णानुरक्त राधा उनके सामान्यतः अस्पृहणीय गुणों की भी स्पृहा करती दिखलाई गई है।

सदृश सम्बन्धी गुण का परिहरणीयत्वेन अंगीकार के लिए उदाहरण—

'गौरांगी मृगलाञ्छने मुखमपि स्वं दर्पणे नेक्षते।'

चन्द्रमा पर विरक्त होकर वह प्रेमनिर्भर नायिका दर्पण में भी अपना मुख नहीं देखती।

विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार के इस 'स्वीकारपक्ष' पर कटाक्ष तो किया है किन्तु वे अधिक कुछ कहने का भी साहस न कर सके। यहाँ 'मुखमहो नो दर्पणेऽपीक्षते' ऐसी योजना चाहिए।

अप्पयदीक्षित—'प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।'

'बलवान् शत्रु के पक्ष वाले व्यक्ति पर पराक्रम प्रत्यनीक।' निश्चित ही दीक्षित जी ने लक्षण-निर्माण के साथ ही प्रत्यनीक शब्द की निरुक्ति भी बड़ी ही सफाई के साथ इस वाक्य में ला दी है। रत्नाकर की नवीनकल्पनाओं के प्रति दीक्षित जी मौन हैं।

पण्डितराज—रत्नाकर के नवीन पक्षों को छोड़ कर पण्डितराज ने प्रत्यनीक का निरूपण तो किया किन्तु वे तर्कधुरा पर इतने आरूढ हो गए कि इस पूरे ही अलंकार को प्रतीयमान हेतूत्प्रेक्षा से गतार्थ बता बैठे। उनका निरूपण इस प्रकार है—

'प्रतिपक्षसम्बन्धिनस्तिरस्कृतिः प्रत्यनीकम्।'

—'शत्रुसम्बन्धी का तिरस्कार प्रत्यनीक।'

अपने उदाहरणों में गम्य हेतूत्प्रेक्षा की सिद्धि कर पण्डितराज ने मम्मट और सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'यस्य किंचित्' पद्य में भी उसे इस प्रकार बतलाया—

'यस्य किंचित्० [पूर्ण पद्य] इत्यलंकारसर्वस्वकृतोदाहृते प्राचीनपद्येऽपि भगवद्वैरानुबन्धादिव भगवद्वक्त्रसदृशमिन्दुं राहुर्बाधत इति प्रतीतेरुत्प्रेक्षैव गम्यमाना।'

'अलंकारसर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'यस्य किंचित्०' इस प्राचीन [मम्मटोदाहृत] पद्य में भी गम्य हेतूत्प्रेक्षा है क्योंकि यहाँ भी यह प्रतीति होती है कि 'राहु चन्द्रमा को मानो इसलिए दुःख देता कि वह भगवान् के मुख के समान है।' प्रत्यनीक में प्रतिपक्ष में दुर्बलता तथा वर्ण्य-वस्तु में प्रबलता भी शब्दतः प्रतिपादित रहती है जो हेतूत्प्रेक्षा में नहीं रहती, अतः इतने अंश में इन दोनों का अन्तर हो सकता था किन्तु पण्डितराज ने इससे प्रत्यनीक को उत्प्रेक्षा का एक नवीन भेद मानना अधिक उचित माना, स्वतन्त्र अलंकार नहीं।

विश्वेश्वर—ने पण्डितराज के इस क्रान्तिपूर्ण विचार को प्रतिगामी तर्कों द्वारा काटते हुए प्रत्यनीक और हेतूत्प्रेक्षा में एक भेदक और सुझाया। उन्होंने कहा कि प्रत्यनीक में दो कारण प्रतिपादित रहते हैं जब कि हेतूत्प्रेक्षा में केवल एक। दोनों कारणों में प्रथम कारण द्वितीय कारण के प्रति कारण रहता है और उन दोनों का कार्यकारणभाव निर्णीत रहता है। 'यस्य किंचित्०' पद्य में चन्द्रबाधा के प्रति कारण है विष्णु के साथ वैर और उसमें कारण है कायनिग्रह। विश्वेश्वर की पंक्ति है—

'अत्र [प्रत्यनीके] किंचिन्निष्ठकार्यताप्रतियोगिक [चन्द्रबाधारूपकार्यनिष्ठकार्यतानिरूपकं] यत् [चन्द्रसदृशविष्णुवैररूपं] कारणमुत्प्रेक्ष्यते तन्निष्ठकार्यतानिरूपितकारणस्य [काय-

निग्रहरूपस्य] अप्यभिधानेन [कार्यनिग्रहेतिपदाभिधानेन] पूर्वकारणनिर्णयः, उत्प्रेक्षायां च तदभावात्र तन्निर्णय इति वैषम्यं स्फुटमेव।' वस्तुतः विद्वेश्वर के इस तर्क में कोई विनिगमकता नहीं है। इतना होने पर भी प्रत्यनीक को उत्प्रेक्षा का एक विशिष्ट भेद मानना अयुक्त नहीं ठहरता।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका प्रत्यनीक पर यह है—

'तदीयस्य तिरस्कारः प्रत्यनीकमशक्तितः।'

पाठान्तर—प्रत्यनीकसूत्र में प्रथम तिरस्कार शब्द के स्थान पर डा० द्विवेदी ने मूल तथा उनके सञ्जीविनीसंस्करण में 'प्रतीकार'-शब्द दिया है। कु० जानकी के संजीविनी संस्करण में तिरस्कारपाठ ही है। स्व० द्विवेदीसंस्करण में सञ्जीविनीकार ने इस रूप की व्याख्या में तिरस्कार शब्द को ही दो बार पढ़ा है और वही स्वाभाविक है। पाठान्तर का मूल मम्मट का 'प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया' पाठ है। परवर्ती आचार्यों के सूत्रों में तिरस्कार शब्द ही मिलता है।

[सर्वस्व]

[सू ७०] उपमानस्याक्षेप उपमेयताकल्पनं वा प्रतीपम्।

उपमेयस्यैवोपमानभारोद्वहनसामर्थ्यादुपमानस्य यत् कैमर्थक्येनाक्षेप आलोचनं क्रियते, तदेकं प्रतीपम्। उपमानप्रतिकूलत्वादुपमेयस्य प्रतीपमिति व्यपदेशः। यद्युपमानतया प्रसिद्धस्योपमानान्तरप्रतितिष्ठापयिषयानादरणार्थमुपमेयत्वं कल्प्यते, तत् पूर्वोक्तगत्या द्वितीयं प्रतीपम्। क्रमेण यथा—

'यत्र च प्रमदानां चक्षुरेव सहजं मुण्डमालामण्डनं भारस्तु कुवलयदलमालयानि' इत्यादि। यथा वा—

'लावण्यौकसि सप्रतापगरिमण्यग्रेसरे त्यागिनां
देव त्वय्यवनीभरक्षमभुजे निष्पादिते वेधसा।
इन्दुः किं घटितः किमेष विहितः पूषा किमुत्पादितं
चिन्तारत्नमहो मुधैव किममी सृष्टाः कुलक्ष्माभृतः॥'

अत्र यथासंख्यमप्यस्तीति प्राक् प्रतिपादितम्।

'ए एहि दाव सुंदरि कण्णं दाऊण सुणसु वअणिज्जं।
तुज्झ मुहेण किसोअरि चंदो उअमिज्जइ जणेण॥'

अत्रोपमानत्वेन प्रसिद्धस्य चन्द्रमसो निकर्षार्थमुपमेयत्वं कल्पितम्। यदनस्य चोपमानत्वविवक्षात्र प्रयोजिका।

क्वचित्पुनर्निष्पन्नमेवौपम्यमनादरकारणम्। यथा—

'गर्वमसंवाह्यमिमं लोचनयुगलेन किं वहसि भद्रे।
सन्तीदशानि दिशि दिशि सरःसु ननु नीलनलिनानि।'

अत्रोत्कर्षभाज उपमानस्य प्रादुर्भाव एव न्यक्कारकारणम्। अनेन

न्यायेनोत्कृष्टगुणत्वाद् यदुपमानभावमपि न सहते तस्योपमानं स्वकल्पितं प्रतीपमेव। यथा—

'अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल तात मा स्म दृप्यः।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन्वचनानि दुर्जनानाम्॥'

अत्र हालाहलस्य प्रकृष्टदोषत्वादसंभाव्यमानोपमानभावमप्युपमानत्वेन निबद्धम्।

[सू० ७०] उपमान का अपमान अथवा उपमेयता प्रतीप [कहलाती है]॥

[वृ०] उपमेय के ही उपमान का संपूर्ण भार ढोने में समर्थ होने से उपमान का 'इससे क्या लाभ' इस प्रकार जो आक्षेप अर्थात् आलोचन [अपमान] किया जाता है वह एक प्रकार का प्रतीप होता है। उपमान के प्रतिकूल होने से उपमेय को 'प्रतीप' शब्द से पुकारा गया है। इसके अतिरिक्त यदि अन्य किसी उपमान को उपस्थित करने की इच्छा से उपमान रूप से प्रसिद्ध वस्तु को उसका अनादर करने के लिए उपमेयरूप से प्रस्तुत किया जाय तो वह भी पूर्वोक्त रीति से [विरोध के कारण] एक दूसरे प्रकार का प्रतीप होता है।

क्रम से उदाहरण—

'जिस [श्रीकण्ठजनपद] में प्रमदाओं के नेत्र ही मुण्डमाला [सिर पर से कर्णमूल तक लटके] आभूषण थे, नील कमलों की मालाएँ तो केवल भार-थीं। [हर्षचरित पृ० ९८, ७० ३]

और जैसे—लावण्यौकसि [यथासंख्यालंकार में आनुका] पद्य। यहाँ यथासंख्य भी है ऐसा पहले [यथासंख्य प्रकरण में] बतलाया जा चुका है।

'ए एहि तावत् सुन्दरि! कर्णं दत्त्वा श्रृणुष्व वचनीयम्।
तव मुखेन कृशोदरि! चन्द्र उपमीयते जनेन॥'

'अरी सुन्दरि! इधर आ पहले, और कान देकर बदनामी सुन। अरी कृशोदरि! लोग तेरे मुख से चन्द्रमा को उपमा दे रहे हैं।

यहाँ उपमानरूप से प्रसिद्ध चन्द्रमा को उसके अपकर्ष के लिए उपमेय रूप में कल्पित किया गया है। इसमें कारण है मुख की उपमेय रूप से विवक्षा। कहीं कहीं तो उपमा निष्पन्न हो जाती है और तब वह अनादर का कारण बनती है, यथा—

'भद्रे! आँखों की ओढ़ी में इतना होते नहीं थम रहा गर्व क्यों भरे हुए हैं। इस प्रकार के नीलकमल स्थान स्थान पर बहुत मिलते हैं।' यहाँ उत्कर्षयुक्त वस्तु के उपमान की कल्पना ही [उसके प्रति] अपमान का कारण है।

इसी प्रकार गुणोत्कर्ष के कारण जो वस्तु उपमान बनना भी नहीं सहती उसको उपमान रूप में प्रतिपादित करना भी प्रतीप ही है। यथा—

'हे हालाहल! अत्यन्त दारुण पदार्थों में मैं ही सब से बड़ा हूँ यह सोचकर तुम दर्प धारण न करना, तुम्हारे जैसे दुर्जनों के वचन इस संसार में बहुत मिलते हैं।

यहाँ हालाहल में दोष का इतना उत्कर्ष है कि उसमें उपमानता संभव नहीं है, इतने पर भी उसे उपमान रूप से बतला दिया गया॥'

विमर्शिनी

उपमानन्येत्यादि। कैमर्थक्येनेत्यादि। तद्व्यापारस्योपमेयेनैव कृतत्वादनुपयोगेनेत्यर्थः। उपमानान्तरेति। उपमानानां मध्ये। अनादरणार्थमिति। उपमानत्वेन नैतद्योग्यमिति यावत्। पूर्वोक्तगत्येति। उपमेयस्योपमानप्रतिकूलवर्तित्वात्। अनेनोभयत्रापि नैतत्सं-ज्ञामात्रमित्युक्तम्। एवं द्वितीयमित्यभिदधता ग्रन्थकृता प्रतीपाख्यमलंकारद्वयम्, न पुनः सामान्यलक्षणाभावादेकमेव द्विप्रकारमित्युक्तम्। उपमाप्रकारत्वं चानयोर्न वाच्यम्, उपमानस्याक्षेपादुपमेयकल्पनाच्च। न हि तत्र तदस्तीति ततोऽनयोः सुमहानेव भेदः। अनयोः पुनः साधर्म्यजीवितत्वात्साधारणधर्माणामस्ति त्रैविध्यम्। एवमौपम्य-मन्तरेण नैतदलङ्कारद्वय मवलोक्यवगन्तव्यम्। तेन—

'णिद्दाइअ वहिज्जिअ किं किरऊ देवआहिं अण्णाहिं।
जिह पसाएण पिओ लब्भइ दूरेवि णिवसंतो॥'

इत्यत्रापि प्रतिपालकारत्वं न वाच्यम्। अत्र हि देवतान्तराणां तथा सामर्थ्याविदर्शना-त्सदाक्षेपेण स्वप्नकाले प्रियोपलब्धिदायिन्या निद्राया विरहिणीकर्तृकं वास्तवमेव वन्द्य-त्वम्। वस्तु च नालंकार इति निर्विवादम्। कुवलयदलदाम्नामाक्षेपस्त्वत्यन्तमेव तत्साधर्म्यप्रतिपादनार्थः। अन्यथा हि सदाक्षेपो निरर्थकः स्यात्। एवं—

'किं कर्णपूरैर्यदि साधुवादा मुक्ताफलैः किं यदि वाग्विलासाः।
किं चूर्णयोगैर्यदि रूपशोभा लावण्यमास्ते यदि चन्दनैः किम्॥'

इत्यत्रापि ज्ञेयम्। अत्र हि यथा कर्णपूरादिभिः श्रोत्रशोभा क्रियते तथैव साधुवादा-दिभिरिति साधुवादादिभिरेव तत्कार्यकरणात्कर्णपूरादीनामाक्षेपः। तस्य च साधुवा-दादीनामत्यन्तमेव तत्साधर्म्यप्रतिपादनं फलम्। एवं—

'खेलन्तीनां सुरपतिपुरीवारवाराङ्गनानां
यन्मञ्जीरध्वनितसुभगो रौति कोलाहलोऽयम्।
तेनैवास्ते मदननृपतेर्माङ्गलिक्ये प्रबोधे
मोघायन्ते पथि पथि गिरः कण्ठपारावतानाम्॥'

इत्यत्रापि ज्ञेयम्। यत्पुनरत्रान्यैरुपमानोपमेयत्वस्याविवक्षितत्वमुक्तम्, तत्तेषां तत्त्व-रूपानभिज्ञत्वम्।

लावण्यादिधर्मश्चात्र नृपचन्द्रयोरनुगामितया निर्दिष्टः। यथा वा—

'तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्य सुभगं किं पार्वणेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च ते किं नाम नीलोत्पलैः।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
ही धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः॥'

इत्यत्र सौम्यसुभगत्वादि सकृन्निर्दिष्टम्। असकृन्निर्देशस्तु यथा—

'यद्यस्ति तस्याः स्मरशार्ङ्गभङ्गिविलासवेल्लद्भ्रु मुखं नताङ्ग्याः।
तदिन्दुना किं विहितं विधात्रा स्पष्टेन वक्रगन्मृगलाञ्छनेन॥'

अत्र वेल्लद्वक्रत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वं भ्रमृगयोस्तु बिम्बप्रतिबिम्बभावः।

निकर्षार्थमिति। अन्यथा चन्द्रस्योपमेयत्वकल्पनं निरर्थकं स्यात्। प्रयोजिकेति। उत्कर्षप्रतिपादनात्। अत्रापि साधारणधर्मस्यानुगामितया यथा—

'मुखेन सखि पीयूषपेलवेन निशासु ते।
उपमानतया चन्द्रः प्रियेणाशिष्यते ध्रुवम् ॥'

अत्र पीयूषपेलवत्वमनुगामितयोपात्तम्। असकृन्निर्देशस्तु यथा—

'पौलस्त्य विस्तृतविवेकमदपूर्वकमुकूर्चच्छटाप्रकटितं सृजताथ च त्वाम्।
नीतोऽश्मादिरुपमेयधुरां विधात्रा प्रोच्चुम्बशृङ्गविवलत्पृथुदावबह्निः ॥'

अत्र वेल्लद्विवलत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम्, कूर्चदावयोस्तु बिम्बप्रतिबिम्बभावः। अस्य हि विच्छित्त्यन्तरं दर्शयति क्वचिदित्यादिना। निष्पन्नमिति। सिद्धत्वेनोक्तेः। उत्कर्षभाज इति। अर्थान्नेत्रयुगलस्य। प्रादुर्भाव इति। उपमानस्याभूतस्योत्पत्तिः। अतएव स्पर्धानुबन्धभाजः परस्योत्पादान्न्यक्कारः। अनेन न्यायेनेति। अत्र यथोपमानत्वप्रादुर्भावो न्यक्कारकारणं तथैवेत्यर्थः। अतश्च पूर्वस्या एव विच्छित्तेरिदं विभजनं न पुनर्विच्छित्त्यन्तरमिति भावः। प्रतीपमिति। उपमानभावं यो न सहते भाव्यं न्यूनगुणेन चोपमेयेन, तथापीदृशप्रकृष्टगुणत्वं विवक्षितं यदपेक्षया न्यूनगुणमप्युपमेयं न संभवतीत्यत्र पिण्डार्थः।

'वैकुण्ठाय श्रियमभिनवां शीतभानुं भवाय
प्रादादुच्चैःश्रवसमपि चा वज्रिणे तरक्ष गण्यम्।
तृष्णार्ताय स्वमपि मुनये यद्ददाति स्म देहं
कोऽन्यस्तस्मात्सवति भुवने वारिधेर्वोधिसत्त्वः ॥'

इत्यत्र पुनरन्यमतेऽपि न प्रतीपम्। लक्ष्म्यादेरधिकगुणस्य न्यूनगुणेनावरत्वापादनाभावात्। अत्र हि लक्ष्म्यादिदानाद् देहदानस्याधिकगुणत्वं विवक्षितम्। अत एवाम्बुधेः स्वदेहदानमुत्प्रेक्ष्य को नाम लक्ष्म्यादिदानोत्कर्ष इत्यत्र वाक्यार्थः। एतच्च वस्तिवति नालंकार इत्यलमतिविस्तरेण।

उपमानस्य इत्यादि। कैमर्थक्येन—किस लाभ के लिए = उसका कार्य उपमेय के द्वारा कर दिए जाने से निरुपयोग होने के कारण। उपमानान्तर-अनेक उपमानों के बीच अनादरार्थम् = अनादर के लिए = अर्थात् यह उपमान के रूप में फबता नहीं है इस रूप से। पूर्वोक्तत्या = पूर्वोक्त रीति = उपमेय के उपमान से प्रतिकूल होने के कारण इससे यह बतलाया कि दोनों भेदों में यह केवल नाम मात्र नहीं हैं, [यह सार्थक भी है]। 'एक' और 'दूसरा' ऐसा कहकर ग्रन्थकार ने बतलाया कि प्रतीप इस एक ही नाम के ये दो अलंकार हैं। दोनों का कोई सामान्य लक्षण नहीं है अतः ये दोनों एक ही समुच्चय के दो प्रकार नहीं हैं। इन्हें [दण्डी के अनुसार] उपमा का प्रकार नहीं मानना चाहिए क्योंकि यहाँ उपमान का अपमान रहता है और उसे उपमेय भी बना दिया जाता है। उपमा में ऐसा नहीं होता, अतः इनका अन्तर सुखपूर्वक जाना जा सकता है। ये दोनों प्रतीप सादृश्य पर निर्भर रहते हैं अतः इनमें साधारणधर्म के तीनों भेद मिलते हैं। इसी प्रकार यह भी जान लेना चाहिए कि यह अलंकार बिना सादृश्य के नहीं हो सकता। इस कारण [रत्नाकरकार द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में प्रदत्त]—

'निद्रैव वन्द्यते किं क्रियते देवताभिरन्याभिः।
यस्याः प्रसादेन प्रियो लभ्यते दूरेऽपि निवसन् ॥'

'[हम तो] निद्रा की ही वन्दना करते हैं, अन्य देवताओं से करना ही क्या है, जिस [निद्रा] के प्रसाद से दूर गया भी प्रिय प्राप्त हो जाता है।' इस स्थल में भी प्रतीपालंकरता नहीं माननी चाहिए।'

अन्य देवताओं से वैसा सामर्थ्य नहीं है जब कि निद्रा में स्वप्न में प्रिय समागम कराने की क्षमता है। अतः निद्रा में विरहिणी द्वारा की जाने वाली वन्दना की पात्रता वास्तविक पात्रता है और इसमें कोई विवाद नहीं कि वास्तविक वस्तु अलंकार नहीं होती। [यत्र प्रमदानाम्० स्थल में] नीलकमलों का जो आक्षेप है उसका लक्ष्य नेत्रों के साथ उनका अत्यन्त साम्य प्रतिपादित करना है। नहीं तो उन [नीलकमलों] का आक्षेप निरर्थक ठहरेगा। इसी प्रकार [रत्नाकरकार द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में उद्धृत]—

'करनफूलों से क्या, यदि साधुवाद हैं, मुक्ताफलों से क्या, यदि वाग्विलास हैं, चूर्ण योगों [Powders] से क्या यदि रूपशोभा है और चन्दन से क्या यदि लावण्य है।' इस पद्यार्थ में भी जानना चाहिए। यहाँ भी कर्ण आदि की शोभा जिस प्रकार करनफूल आदि के द्वारा होती है उसी प्रकार साधुवाद आदि के द्वारा भी। इसीलिए साधुवाद आदि के द्वारा नेत्रशोभा का कार्य हो जाने पर करनफूल आदि का आक्षेप किया गया है। इस [आक्षेप] का प्रयोजन साधुवाद आदि का अत्यन्त साधर्म्य प्रतिपादित करना ही है। इसी प्रकार [रत्नाकर द्वारा प्रतीप के उदाहरण के रूप में उपस्थित]—

'ठीक यहीं अप्सराओं का, नूपुर की ध्वनि से सुन्दर जो यह कोलाहल मचा हुआ है, उसीसे मदन नृपति का मांगलिक प्रबोध = [जागरण] हो जाता है अतः मार्ग मार्ग में जो कण्ठ के पारावत [कपोतों] की वाणी है वह निरर्थक पड़ जाती है।'

इस पद्य में भी [आक्षेप को साम्यमूलक ही] जानना चाहिए।

इस कारण [रत्नाकरकार ने पूर्वोक्त 'किं कर्णपूरैः०' पद्य का स्पष्टीकरण करते हुए] जो यह कहा है [कि जहाँ उपमान प्रसिद्ध रहते हैं वहाँ प्रतीप द्वारा उनका तिरस्कार होता है किन्तु 'किं कर्ण०' आदि पद्यों से जहाँ साधुवाद आदि उपमान प्रसिद्ध नहीं हैं वहाँ तिरस्कार के बाद उनका साधर्म्यमूलक उपमानत्व सिद्ध होता है अतः आक्षेप या प्रतीप के लिए] 'यहाँ उपमानोपमेयभाव की कोई विवक्षा नहीं है' वह उन [उपमानोपमेयों] का स्वरूप न जानने के ही कारण।

यहाँ राजा और चन्द्र के बीच लावण्य आदि धर्म अनुगामी धर्म के रूप में शब्दतः कथित है।

दूसरा उदाहरण यथा—

'इसका सौम्य सुभग मुख है तो पूर्णचन्द्र से क्या, यदि सौन्दर्य की घर वे आँखें हैं तो नील कमलों से क्या; इस अधर के रहते हुए कोमल कान्ति वाले किसलयों की आवश्यकता ही क्या है। खेद है कि विधाता को दोहरी और व्यर्थ वस्तुएँ बनाने का विचित्र आग्रह है।'

इत्यादि में सौम्यसुभगत्व आदि धर्म एक बार निर्दिष्ट [कहे गए] हैं।

अनेक बार निर्देशका उदाहरण—

'यदि उस सुन्दरी का काम के धनुष की बनावट से विलास से फरकती भौंहों वाला चेहरा है तो विधाता द्वारा बनाए स्फुरित मृगशावक से युक्त चन्द्रमा के क्या?

यहाँ वेल्लत्व = फरकता और हठा वल्गत् = स्फुरित होता हुआ इन शब्दों से प्रतिपादित धर्म शुद्ध सामान्यरूप धर्म है और भौंह तथा मृग बिम्बप्रतिबिम्बभावापन्न धर्म है।

निष्कर्षार्थ—अपकर्ष के लिए, नहीं तो चन्द्र का उपमेय रूप में चित्रण निरर्थक हो जाएगा। प्रयोजिका = कारण = उत्कर्ष का प्रतिपादन करने से। यहाँ भी साधारण की अनुगामिता का उदाहरण यह है—

'सखि! तेरा प्रिय रात्रि के समय निश्चित ही तेरे अमृतसुन्दर मुख के साथ उपमानभाव लिए रहने के कारण चन्द्रमा को चाहा करता है।'

यहाँ अमृतसुन्दरता अनुगामी धर्म है।

अनेक बार निर्देश के लिए—

'हे पौलस्त्य [रावण]! तुम्हें काफी विस्तृत और हिलती पिशंग वर्ण की अपूर्व डाढ़ी से युक्त बना कर विधाता ने उस अंजनाद्रि को उपमेय बना दिया जिसके पर्याप्त उच्च शृंग पर दौड़ती भयंकर दवाँग लगी हो।'

यहाँ वेल्लत् तथा विवल्गत् पद से प्रतिपादित हिलना और दौड़ना शुद्ध सामान्य धर्म हैं, तथा डाढ़ी और दँवार में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है।

इसी [प्रतीप] का एक विशिष्ट प्रकार बतलाने हेतु लिखते हैं—क्वचित्। निष्पन्न = सिद्ध रूप में कथन होने से। सत्कर्षभाजः—उत्कर्षयुक्त = अर्थात् नेत्र युगल। प्रादुर्भाव = पहले से अविद्यमान उपमान की उत्पत्ति। इसीलिए अन्य किसी स्पर्धायुक्त वस्तु का अस्तित्व बतलाने से यहाँ अपमान व्यक्त हुआ। अनेन न्यायेन = इसी प्रकार = जिस प्रकार यहाँ उपमानत्व की स्थापना से अपमान हुआ उसी प्रकार। इसीलिए यह पूर्वोक्त प्रकार का ही विभाग है न कि अन्य कोई स्वतन्त्र प्रकार। प्रतीप = जो कभी भी किसी के प्रति उपमान बनना बरदास्त नहीं करता उसका उपमानत्व सिद्ध करने से इसमें [प्रतीपता = अर्थात्] प्रतिकूलता जो चली आती है। आशय यह है कि यद्यपि उचित यह है कि जो अधिक गुणवाला हो वह उपमान बनाया जाए और जो न्यून गुण वाला हो वह उपमेय, तब भी यहाँ गुणों में इस प्रकार का प्रकर्ष ही दिखलाया जाता है जिससे न्यून गुण वाली वस्तु भी उपमेय बन सके। [रत्नाकरकार ने जो प्रतीप की न्यूनताप्रतिपादक विधा के लिए निम्नलिखित —]

'विष्णु को अभिनव लक्ष्मी, शिव को चन्द्रमा और इन्द्र को जो उच्चैःश्रवा [कान ऊँचे रखने वाला अत एव सत्नाम का] अश्व दिया इसकी तो गणना ही कहाँ? पिपासा से आतुर [अगस्त] ऋषि को जिसने अपना शरीर ही [समुद्र ने] दे डाला उस समुद्र से भिन्न बोधिसत्त्व संसार में कौन हो सकता।'

पद्य [उद्धृत किया है इस] में अन्य [रत्नाकरकार] के मत के अनुसार भी प्रतीप नहीं सिद्ध होता, क्योंकि यहाँ जो अधिक गुण वाले लक्ष्मी आदि पदार्थ हैं इनमें कम गुण वाले किसी पदार्थ से न्यूनता का प्रतिपादन नहीं किया गया है। यहाँ तो लक्ष्मी आदि के दान की अपेक्षा देह के दान में अधिक गुणत्व = उत्कृष्टत्व मात्र प्रतिपाद्य है। इसीलिए समुद्र के स्वदेहदान की उत्प्रेक्षा करके यहाँ यह वाक्यार्थ प्रतिपादित करना चाहा है कि लक्ष्मी आदि के दान से समुद्र का उत्कर्ष ही क्या?

यह तो केवल वस्तुस्थिति मात्र है, अलंकार नहीं। अस्तु जाने भी दिया जाए। अधिक विस्तार से क्या?॥

विमर्श—इतिहास—

प्रतीपालंकार का पूर्वरूप प्रथमतः दण्डी की विपर्यासोपमा में मिलता है। काव्यादर्श में उन्होंने इसका निरूपण इस प्रकार किया है—

'त्वदाननमिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति । सा प्रसिद्धिविपर्यासाद् विपर्यासोपमा मता ॥' २।३७ ॥

'खिला अरविन्द तुम्हारे मुख के समान है—' यह जो उपमा है इसमें प्रसिद्धि का विपर्यास है अत यह विपर्यासोपमा हुई। प्रसिद्धि तो उपमान रूप में चन्द्र की है, मुख की नहीं। यहाँ इसे उलट दिया गया है। यही उलटाव विपर्यास है। भामह, वामन और उद्भट में इसे हम नहीं पाते। रुद्रट ने इसे अपनाया है और स्वतन्त्र अलंकार के रूप में इसे प्रस्तुत किया है—

रुद्रट—'यत्रानुकम्प्यते सममुपमाने निन्द्यते वापि ।
उपमेयमति स्तोतु दुरवस्थमिति प्रतीप स्यात् ॥'

जिस [अलङ्कार] में उद्देश्य होता है उपमेय की अधिक प्रशसा, और तदर्थ दया तो उस पर जतलाई जाती है कृपा, या की जाती है उसकी निन्दा, और इन दोनों का उपाय रहता है यह बतलाना कि उपमेय तुलना में किसी के समान है, वह अलङ्कार प्रतीप कहलाएगा, इसलिए कि इस प्रकार की उक्ति में दुरवस्थता अर्थात् वास्तविक स्थिति के विपरीत स्थिति रहती है।

[१] प्रथम का उदाहरण—

'वदनमिद सममिन्दोः सुन्दरमपि ते कथ चिर न भवेत् ।
मलिनयति यत् कपोलौ लोचनसलिलं हि कज्जलवत् ॥'

प्रिये ! तेरा मुख केवल सुन्दर [कान्तिमान्] है तो क्या ? यह सदा के लिए चन्द्रमा के समान क्यों नहीं होता [कलंक का प्रतिनिधित्व करने के लिए] इसके कपोलों को कज्जल मिश्रित आँसू मलिन भी जो बना रहे हैं जो। यहाँ मुख की अधिक प्रशसा उद्देश्य है। उसी के लिए चन्द्र को उपमान रूप मे प्रस्तुत किया गया है। वास्तविकता के विपरीत होने से इसे प्रतीप नाम दिया गया।

[२] उपमान योजना द्वारा निन्दा के माध्यम से उपमेय की स्तुति का उदाहरण रुद्रट में 'गर्भमसवाक्ष०' पद्य ही है। इसमें उपमानयोजना द्वारा निन्दा करने का अर्थ उपमेय की वास्तविक स्थिति को उपमान की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट, अनुपम, अप्रतिम, अनुपमेय या अद्वितीय बतलाना है। मम्मट और सर्वस्वकार ने रुद्रट की इस स्थापना को इसी रूप में स्वीकार कर लिया है।

प्रथम प्रतीप रुद्रट तक ही सीमित रहा। न तो मम्मट और सर्वस्वकार ने ही उसे स्वीकार किया और न रत्नाकरकार आदि ने। परवर्ती अन्य आचार्यों ने भी इसे स्वीकार नहीं किया है।

मम्मट—'आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥'

उपमान पर निरर्थकता का आक्षेप अथवा उसी उपमान को अपमानित करने के लिए उपमेय बतलाना प्रतीप कहलाता है।

उदाहरण के रूप में मम्मट ने लावण्योकसि, ए एहि दाव, गर्भमसवाक्ष० तथा 'अहमेव गुरु०' पद्य प्रस्तुत किए जिन्हें सर्वस्वकार ने भी उद्धृत कर दिया है। इतना ही नहीं उन्होंने इन उदाहरणों में जो विशेषताएँ मानी थीं वे भी सर्वस्वकार ने ज्यों की त्यों मान ली हैं। वस्तुतः सर्वस्व के प्रतीप का प्राय अक्षर अक्षर काव्यप्रकाश के प्रतीप से मिलता है। इस प्रकार प्रतीप को प्रस्तुत रूप में लाने का पूरा श्रेय मम्मट को है, यद्यपि उसके पृथक् अलङ्कारत्व पर उनके पहले

रुद्रट की दृष्टि जा चुकी थी और 'गर्वमसंवाह्य०' में रुद्रट की मान्यता को मम्मट ने भी अंगीकार कर लिया था। सर्वस्वकार प्रतीप के लिए मम्मट के ऋणी हैं।

रत्नाकर—होशंगाबाद की नर्मदा जी के समान विमर्शिनी का जो पाट यहाँ चौड़ा हो गया है उसका कारण उसमें तवा के समान रत्नाकर का मिलना है। रत्नाकरकार, जैसा कि कहा जा चुका है अप्रसिद्ध उपमान वाले स्थल में उपमानोपमेयभाव की निष्पत्ति प्रतीप की निष्पत्ति के बाद मानते हैं अतः उन्होंने प्रतीप लक्षण में उपमान को स्थान नहीं दिया है। उसके स्थान पर उन्होंने अधिकगुण शब्द रखा है। इसी प्रकार उपमान के आक्षेप और उपमेयता को भी उन्होंने एक 'अनादर'-शब्द में संगृहीत कर दिया है। उनका लक्षण यह है—

'अधिकगुणस्यानादरः प्रतीपम्' ॥ २० ॥

'अधिक गुण वाले पदार्थ का अनादर प्रतीप कहलाता है।' विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार के प्रथम संशोधन [उपमान के स्थान पर अधिकगुणशब्द के प्रयोग] पर तो आपत्ति की है किन्तु द्वितीय संशोधन पर वे मौन हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने ग्रन्थकार की ओर से यह सफाई दी है कि वे दोनों प्रतीपों को दो स्वतन्त्र अलंकार मानते हैं, इसीलिए उन्होंने दोनों का समन्वय नहीं किया। सर्वस्वकार ने जहाँ एक ही नाम से अनेक अलंकारों का निरूपण किया है वहाँ उन्होंने उन्हें पृथक्-पृथक् सूत्रों में रखा है। व्याघात, समुच्चय आदि इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। पर्याय को एक सूत्र में रखा है। उससे लगता है कि वे उसके दोनों भेदों को स्वतन्त्र दो अलंकार नहीं मानना चाहते। यहाँ सर्वस्वकार ने दोनों प्रतीपों को भी एक ही सूत्र में रखा है। वे निश्चित ही दोनों को एक ही मानते हैं। मम्मट ने भी ऐसा ही माना है। विमर्शिनीकार का जो यह कहना है कि दोनों प्रतीपों में कोई सामान्य लक्षण नहीं है उसका उत्तर रत्नाकर के सूत्र से मिल जाता है। एक ही सूत्र में एक ही अलंकार के दो प्रकारों का पृथक्-पृथक् उल्लेख यदि इस कल्पना का पोषक है कि सूत्रकार दोनों प्रकारों को दो स्वतन्त्र अलंकार मानना चाहता है तो कार्यकारणभावमूल अतिशयोक्ति [पृ० ४४] और उसके पूर्व व्याजस्तुति [पृ० ३८] के सूत्र में निर्दिष्ट प्रकारों को भी स्वतन्त्र अलंकार मानना होगा सर्वथा यहाँ रत्नाकर का पक्ष प्रबल है।

रत्नाकरकार ने प्रतीप में अन्य विच्छित्तियों का भी अनुसन्धान किया है। विमर्शिनीकार उस पर भी मौन हैं। अधिकगुण के अनादर के ही समान न्यूनगुण का आदर भी एक ऐसी ही विच्छित्ति है। उसका उदाहरण 'थणमुअ०' गाथा से दिया है—जिसकी संस्कृत छाया यह है—

'स्तनभुजमूलनितम्बान् प्रियाया जीर्णाम्बरायाः प्रेक्षमाणः।
मुसले व्यापृतायाः बहु मन्यते रोरम् ॥'

'गरीब गृहिणी मूसल चला रही है। उसकी साड़ी जगह जगह से फट चुकी है। हाथ उठाने में उसके स्तन, भुजमूल तथा नितम्ब उससे बाहर साफ दिखाई देते हैं। उसे इस स्थिति में देख उसका प्रिय दारिद्र्य को ही बहुत आदर दे रहा है।'

यहाँ आए रोर शब्द का अर्थ दारिद्र्य है। सर्वस्वकार मंख के ही श्रीकण्ठचरित में इस शब्द का इसी अर्थ में इस प्रकार प्रयोग मिलता है—

'विभ्रण्वता सौरभ-रोर-दोषं वन्दित्वं वर्णगुणैः स्पृशन्त्याः।
विकस्वरे कस्य न कर्णिकारे प्राणेन दृष्टेश्चवृषे विरोधः ॥'

ग्रीष्म में कर्णिकार [अमलतास] फूला तो दर्शक की दृष्टि से नासिका की झड़प हो गई। दृष्टि उसके सुवर्ण वर्ण की प्रशंसा करती थी और नासिका उसे सुगन्ध में रोर = दरिद्र बतलाती थी। [६।१२ श्रीकण्ठचरित]।

अप्पयदीक्षित—ने दोनों प्रतीपों के लिए दो पृथक् लक्षण बनाए हैं—

[१] प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम्।

[२] अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत् ॥

उपमान को उपमेय बतलाना प्रतीप तथा अन्य उपमेय का मिलना दिखलाकर वर्णनीय का अनादर भी। उन्होंने उदाहरण के रूप में प्रथम के लिए 'यत्त्वन्नेत्र०' पद्य दिया है जो काव्यलिंग के उदाहरण के रूप में सर्वस्व में भी आया है तथा द्वितीय के लिए रुद्रट का ही सर्वसम्मानित 'गर्वमसंवाह्यम्०' पद्य उद्धृत किया है।

पण्डितराज—प्रतीप के विवेचन में दोलायित चित्त से दिखाई देते हैं। उन्होंने उपमा प्रकरण में उपमेयोपमा के ही समान प्रतीप को भी उपमा का ही रूपान्तर मान लिया है। प्रतीप प्रकरण में भी वे विशद विवेचन करने के पश्चात् उसी स्वर को और सबलता के साथ दुहराते दिखाई देते हैं। उन्होंने प्रतीप के पाँच भेद माने हैं जो इस प्रकार हैं—

[१] प्रसिद्धोपमानवैपरीत्येन वर्ण्यमानमौपम्यमेकं प्रतीपम्—

प्रसिद्ध उपमान के विपरीत वर्णित किया जा रहा सादृश्य एक प्रकार का प्रतीप होता है।

[२-३] उपमानोपमेययोरन्यतरस्य किंचिद्गुणप्रयुक्तमद्वितीयत्वोत्कर्षं परिहर्तुं द्वितीयप्रदर्शनोल्लास्यमानं सादृश्यमपरं द्विविधम्।

उपमान और उपमेय में से किसी एक का किसी गुण को लेकर अद्वितीयत्व प्रकाशित करने से निकल रहा सादृश्य दूसरे तथा तीसरे प्रकार का प्रतीप होता है।

[४] उपमानस्य कैमर्थ्यं चतुर्थम्।

उपमान की निरर्थकता चौथा प्रतीप होता है तथा—

[५] सादृश्यविघटनं पञ्चमम्—

सादृश्य का विघटन पाँचवाँ।

इनके उदाहरण—

[१] 'किं जल्पसि मुग्धतया हन्त ममाङ्गं सुवर्णवर्णमिति।
तद् यदि पतति हुताशे तदा हताशे तवाङ्गवर्णं स्यात् ॥'

अरि हताशे! भोलेपन में यह कहती है कि मेरा अंग सोने के रंग का है। वही अंग के के रंग का हो सकेगा यदि आग में तपे।' यह उपमान की उपमेयता से होने वाला भेद ही है। 'यदि तदा' से यह अतिशयोक्तिगर्भित हो गया है।

[२] उपमान की अद्वितीयता के परिहार का उदाहरण—पण्डितराज के मत में भी 'अहमेव गुरु' पद्य माना जा सकता है।

[३] उनके मत में उपमेय की अद्वितीयता के परिहार का उदाहरण भी 'गर्वमसंवाह्यम्०' पद्य माना जा सकता है। इसी प्रकार

[४] उपमान की निरर्थकता के लिए 'लावण्यौकसि०' तथा

[५] सादृश्य विघटन के लिए 'ए एहि किमपि०'।

पण्डितराज ने इनमें से प्रथम तीन में उपमा ही माना उचित माना है, चतुर्थ को आक्षेपालंकार और पंचम को अनुक्तधर्मक व्यतिरेक। समर्थन में उनके तर्क हैं कि प्रथम तीन में सादृश्य की निष्पत्ति ठीक उसी प्रकार हो जाती है जिस प्रकार उपमा से। जहाँ तक प्रसिद्धिविपरीतता का प्रश्न है—उससे उपमा में ही एक विच्छित्ति का समर्थन करना अधिक उचित है न कि स्वतन्त्र अलंकारता का। [दण्डी ने ऐसा किया भी है। उन्होंने इसे विपर्यासोपमा नाम दिया है]। उनका यह दृष्टान्त इस विषय में उल्लेखनीय है—'न हि द्राक्षा माधुर्यातिशयेन पार्थिवान्तराद् विलक्षणेति अपार्थिवी भवति'—द्राक्षा अतिशय माधुर्य के कारण अन्य पार्थिव पदार्थों से विलक्षण होती है इसका अर्थ नहीं होता कि वह अपार्थिव हो जाती है' विपरीत उपमा, उपमान, या उपमेय की अद्वितीयता का परिहार उपमा को अनुपमा या उपमेतर नहीं बना सकता, उसमें अतिशय भर आ सकता है। पण्डितराज कल्पना के धनी हैं। उन्होंने उपमानोपमेय के तिरस्कार के ही समान पुरस्कार में भी एक छठे प्रकार का प्रतीप मानने की आपत्ति प्रस्तुत की है और उसके लिए एक स्वनिर्मित उदाहरण भी दे दिया है।—वस्तुतः पण्डितराज भूल गए कि अलंकारों का भेदक तत्त्व वस्तुभेद या योजनाभेद नहीं, चमत्कारभेद है। प्रतीप में चमत्कार सादृश्य से नहीं वैपरीत्य से होता है। यह तथ्य स्वयं पण्डितराज ही अनेक बार दुहराते, बतलाते और जतलाते आए हैं। अन्य भेदों में भी यह तर्क लागू हो सकता है। उपमालंकार के प्रकरण में नागेश ने गुरुमर्मप्रकाश में पण्डितराज को आड़े हाथों लिया भी है।

विश्वेश्वर ने प्रतीप के दो ही भेद माने हैं—उपमान की निरर्थकता तथा उपमेयता—

'उपमानानर्थक्यं प्रतीपमस्योपमेयत्वम्।'

इनका अनुगत सामान्य उन्होंने इस प्रकार बतलाया है—'सामान्यलक्षणं तु यन्निष्ठसादृश्यप्रतियोगिताभावत्वाभिमतोपमानकत्वं [तत्त्वं प्रतीपत्वम्]। अर्थात् उपमान में जिसका सादृश्य अस्वीकार किया जाय वह उपमेय प्रतीप। अस्वीकृति स्वयं उपमान में भी बतलाई जा सकती है और अन्य किसी में भी। पण्डितराज द्वारा बतलाए समस्त भेद उन्होंने सांकेतिक रूप से उक्त दो भेदों में ही अन्तर्भूत मान लिए हैं, यद्यपि उनके प्रतीपविरोधी स्वर पर विश्वेश्वर का पुराणवादी समीक्षक चुप है।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका प्रतीप पर यह है—

'उपमानस्य वैयर्थ्यादुपमेयत्वकल्पनम्।
द्विधा प्रतीपं काव्येतदुपमानत्वतोऽपि च॥'

[सर्वस्व]

[सू० ७१] वस्तुना वस्त्वन्तरनिगूहनं मीलितम्।

सहजेनागन्तुकेन वा लक्ष्मणा यद्वस्त्वन्तरेण वस्त्वन्तरं निगूह्यते तदन्यथाभिधानं मीलितम्। न चायं सामान्यालंकारः, तस्य हि साधारणगुणयोगाद्भेदानुपलक्षणं रूपम्। अस्य तूत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानमिति महाननयोर्विशेषः। सहजेन यथा—

'अपाङ्गतरले दृशौ मधुरवक्रवर्णा गिरो
विलासभरमन्थरा गतिरतीव कान्तं मुखम्।
इति स्फुरितमङ्गके मृगदृशां स्वतो लीलया
यदत्र न मदोदयः कृतपदोऽपि संलक्ष्यते॥'

अत्र दृक्तारल्यादिना स्वाभाविकेन लक्ष्मणा मदोदयकृतं दृक्तारल्यादि तिरोधीयते। आगन्तुकेन यथा—

'ये कन्दरासु निवसन्ति सदा हिमाद्रे-
स्त्वत्पातशङ्कितधियो विवशा द्विषस्ते।
अप्यङ्गमुत्पुलकमुद्वहतां सकम्पं
तेषामहो बत भियां न बुधोऽप्यभिज्ञः॥'

अत्र हिमाद्रिकन्दरानिवाससामर्थ्यप्रतिपन्नेन शैत्येन समुद्भावितावागन्तुकौ कम्परोमाञ्चौ भयकृतयोस्तयोस्तिरोधायकौ। तिरोधायकत्वादेव च मीलितव्यपदेशः।

[सू० ७१] एक वस्तु के द्वारा दूसरी वस्तु का [तिरोधान मीलित नामक अलंकार] कहलाता है॥

[वृ०] सहजात अथवा ऊपर से आए किसी धर्म के द्वारा किसी भिन्न वस्तु के द्वारा जो किसी भिन्न वस्तु का [निगूहन अर्थात्] तिरोधान वह 'मीलित' इस अर्थानुरूप नाम से पुकारा जाता है। यह सामान्यालंकार नहीं है, उसका स्वरूप साधारण गुणों के कारण भेद का समझ में न आना है। इसके विरुद्ध इस [मीलित] का स्वरूप है उत्कृष्ट गुणों वाली वस्तु के द्वारा निकृष्ट गुणों वाली वस्तु का तिरोधान। इस प्रकार इन दोनों में महान् भेद है।

सहजात धर्म के द्वारा, यथा—

'अपांग तक घूमती दृष्टि, मधुर किन्तु वक्र वर्णों वाली बोली, विलास के भार से धीमी चाल, अतीव कान्त मुख, यह सब तो उस मृगनयनी के अंग में अपने आप स्फुरित है, अतः [मधुपान जनित] नशा आ जाने पर भी दिखाई नहीं पड रहा है।

—यहाँ दृष्टिचाञ्चल्य आदि धर्म स्वाभाविक धर्म हैं। इनके द्वारा नशे से उत्पन्न दृष्टिचाञ्चल्य आदि छिपा दिए गए हैं।

ऊपर से आए धर्म के द्वारा, यथा—

'तुम्हारे जो शत्रु तुम्हारे टूट पडने की शंका से हिमाद्रि की गुफाओं में विवशतापूर्वक सदा ही समाए रहते हैं, उनके शरीर रोमाञ्चित और कम्पित होते रहते हैं तब भी उनके भय का ज्ञान चतुरजनों को भी नहीं होता।'

—यहाँ हिमाद्रि [बर्फीले पर्वत = हिमाचल] की गुफाओं में निवास के कारण प्राप्त ठंड के कारण उत्पन्न अतएव ऊपरी धर्मरूप जो कम्प और रोमाञ्च हैं वे भय से उत्पन्न उन्हीं [कम्प और रोमाञ्च रूपी धर्मों] के तिरोधायक हैं। और तिरोधायकता के कारण ही मीलित यह नाम भी पडा है॥

विमर्श—

रत्नाकरकार मीलित से सामान्य को पृथक् नहीं मानते। वे सर्वस्वकार की स्थापनाओं का उत्तर देते हुए लिखते हैं—

'पृथक् सामान्यमीलितयोर्लक्षणं न कार्यम्, भेदाभावात्। तथा हि यत्र सामान्यमवच्छिद्यते तत्र वस्तु भेदानवगमस्तस्य किं स्वरूपमवगम्यते न वा। आद्ये घटपटयोः पटयोरेव वा यथा निजनिजरूपप्रतीत्याऽन्यैव भेदप्रतीति, तथेहापि स्यादिति न मीलितम्, नापि सामान्यम्। द्वितीये

निजस्वरूपस्यानवगमेऽधिकगुणेनाच्छादनमेव निमित्तम्, न समानगुणत्वम्। तथात्वे लताज्योत्स्नादेरपि समानगुणत्वसम्भवात् कथं नु निजतयानवगमः। न च स्वरूपाच्छादनेऽपि सहजागन्तुकत्वाद् विशेषादलङ्कारभेदो युक्तः, प्रतीतिसाम्येनैकस्यैवालङ्कारस्य भेदप्रभेदाभिधानोपपत्तेः परिवृत्त्यादिवत्। ००० नापि गुणसाम्यविवक्षया भेदस्यावगमेऽप्यनवगमाभिधानं सामान्यस्य मीलिताद् विशेषः, मदकृतस्याप्यपाङ्गतरलत्वादेर्भेदावगमसम्भवात्। तेनोदाहरणेषु समानाभिहारनिमित्तस्य स्वरूपानवगमस्य संभवादेक एवालङ्कारो वाच्यः, स च मीलितनामैव, वस्त्वन्तरेणावच्छादनात्—

> भेदेनानुपलम्भस्य बलवद्गुणसङ्गतिः।
> सामान्ये मीलिते तुल्यो हेतुस्तेन न भिन्नता' ॥

सामान्य और मीलित के लक्षण पृथक्-पृथक् नहीं किए जाने चाहिए, क्योंकि इनमें कोई भेद नहीं है। यह इस प्रकार कि आप [सर्वस्वकार] जहाँ सामान्य मानते हैं वहाँ जिसके भेद का ज्ञान नहीं होता उसके स्वरूप का ज्ञान होता है या नहीं। होता है तो जैसे घट और पट या पट और पट का अपने अपने रूप के ज्ञान से भेद प्रतीत होता है, वैसे ही यहाँ भी भेद प्रतीत होगा, तब न तो मीलित ही होगा और न सामान्य ही। स्वरूपज्ञान नहीं होने का पक्ष माना जाय तो निजस्वरूप के ज्ञान न होने में कारण अधिक गुण वाली वस्तु के द्वारा आच्छादन ही माना जायगा, गुणसाम्य नहीं, क्योंकि तब [विमर्शिनी में आगे आने वाले पद्य अभेदमूढ०' में] लता [तथा सामान्यालंकार के उदाहरण के रूप में सर्वस्व में आने वाले पद्य 'मलयजरस०' में] ज्योत्स्ना आदि में भी निजस्वरूप का ज्ञानाभाव क्यों नहीं रहता [अर्थात् उनके स्वरूप का ज्ञान क्यों होता है] क्योंकि गुणसाम्य तो उनमें भी है। जहाँ तक [हमारे द्वारा स्वीकार किए गए] स्वरूपाच्छादन रूपी कारण का संबन्ध है उसमें यद्यपि 'सहजातता और आगन्तुकता' ये दो विशेषताएँ रहती हैं किन्तु उनके आधार पर अलंकार भेद नहीं माना जा सकता, परिवृत्ति आदि के समान एक ही अलंकार में दो प्रकारों की कल्पना भर की जा सकती है क्योंकि प्रतीति दोनों में एक सी ही रहती है। ००००। यह भी नहीं कहा जा सकता कि गुणगत साम्य की विवक्षा से, भेद का ज्ञान हो जाने पर भी ज्ञान न होने का कथन मीलित से सामान्य का भेदक है, क्योंकि [मीलित में उदाहरण अपांग० में आप] नशे से उत्पन्न नेत्रचांचल्य का भी भेद प्रतीत होना संभव है। इस कारण [मीलित और सामान्य दोनों के] उदाहरणों में जब स्वरूपज्ञान संभव है जिसके आधार पर दोनों का एक ही लक्षण [समानाभिहार०] बनाया जा सकता है तब अलंकार एक ही बतलाया जाना चाहिए और उसका नाम मीलित ही होना चाहिए क्योंकि इसमें अन्य वस्तु का मीलन = आच्छादन रहता है। निष्कर्ष यह कि—

[सामान्य और मीलित से वस्तु का] ज्ञान भेदपूर्वक जो नहीं होता उसका सामान्य और मीलित [दोनों] में एक ही हेतु है 'अधिक गुण वाली वस्तु की सन्निधि'। अतः इन दोनों में भिन्नता नहीं है।

इस पूरे प्रघट्टक का निष्कर्ष यह हुआ कि मीलित के ही समान सामान्य में भी वस्तुस्वरूप का तिरोधान रहता है तथा सामान्य के समान मीलित में भी वस्तुस्वरूप में भेदबोध। बोधगत तरतमभाव या मात्राभेद को लेकर एक ही उक्तिप्रकार को दो अलंकारों में विभक्त करने की अपेक्षा, दो प्रकारों में विभक्त करना अधिक उचित है और उन दोनों प्रकारों को एक ही अलंकार मानना। 'इस अलंकार को नाम कौनसा दिया जाए मीलित या सामान्य' इस पर रत्नाकरकार का कहना है कि दोनों में चमत्कार का कारण एक ही है—'वस्तुस्वरूप का तिरोधान', अतः मीलित नाम देना ही उचित है। विमर्शिनीकार रत्नाकरकार की इस मूल

स्थापना का निराकरण नहीं कर पाए हैं। वे रत्नाकरकार के अवान्तर विकल्पों पर सर्वस्वकार का पक्ष स्पष्ट करने तक सीमित हैं। यह तथ्य उनकी इस विमर्शिनी से स्पष्ट है—

विमर्शिनी

वस्तुनेति। लक्ष्मणेति। चिह्नरूपेण धर्मेणेत्यर्थः। तस्य हि सहजागन्तुकत्वेन द्विविधत्वादस्यापि द्विप्रकारत्वमस्तीत्यनेनोक्तम्। ननु वस्त्वन्तरस्य वस्त्वन्तरेण निगूहितत्वेनैकात्म्योपनिबन्धात्किमयं सामान्यालंकार एव न भवतीत्याशङ्क्याह—न चायमित्यादि। साधारणगुणयोगादिति। यदाहुः—

> 'प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया।
> ऐकात्म्यं बध्यते योगात्तत्सामान्यमिति स्मृतम्॥'

भेदानुपलक्षणमिति। प्रस्तुताप्रस्तुतात्मनः प्रकृतस्य वस्तुद्वयस्यासामान्याकारतया पृथगवगतस्याप्येकतरविशेषस्मरणादुभयविशेषाग्रहणाच्चैकतरत्वेनैव निश्चयोत्पादनाद्घटपटवद्भेदेन प्रातिस्विकेन रूपेणानुपलक्षणं यथावगमनमध्यवसाय इत्यर्थः। यथा—रजतादौ शुक्तिकारजतयोः सन्निकर्षेणासामान्याकारतया पृथगवगमेऽप्येकतरविशेषस्मरणादुभयत्र विशेषाग्रहणात्कस्यचिदेकतरत्वेनैव निश्चयो जायते तथैवेहापि ज्ञेयम्। मीलिते पुनर्न्यूनगुणस्याधिकगुणेन तिरोहितत्वात्सामान्याकारकत्वेनाप्युभयावगमो न, न्यूनगुणाच्छादकतया तद्गतावष्टम्भेनाधिकगुणस्यैव प्रतिभासनात्। अत एवात्र मदोदयकृतस्य रक्तत्वादेर्भावगममात्रं, तस्य मदोदयात्पूर्वमपि तथैवावस्थानात् बलवता स्वाभाविकेन रक्तत्वादिनाच्छादितत्वात्। सामान्ये पुनः—

> 'अभेदमूर्तस्तवकाभिरागता लताभिरीषत्स्फुलितालिपङ्क्तिभिः।
> इयं पुरोमादनमल्लिकालका न लक्ष्यते व्यक्तमवाप्तमस्तनी॥'

इत्यादौ निकुञ्जमध्यगताया योषितः पृथग्देशावष्टम्भेनासामान्याकारतयावगमेऽपि साधारणगुणयोगाल्लताभ्यो भेदेनानध्यवसायः। अत एव 'न लक्ष्यते व्यक्तम्' इत्याद्युक्तम्। अतश्च स्वरूपेणावगतस्यापि भेदानध्यवसायः सामान्यं, बलवता तिरोहितत्वात्स्वरूपानवगमो मीलितमिति स्थितम्। अत एवाह—महाननयोर्विशेष इति। एवं तर्हि समानगुणत्वस्याविशेषाद्वक्ष्यमाणोदाहरणादावभिसारिकाज्योत्स्नादेरपि भेदानुपलक्षणं किं न स्यात्। ननूक्त एवात्र परिहारो यत्समानगुणत्वेऽप्येकतरविशेषस्मरणादुभयविशेषाग्रहणाच्चेति। एवमपि कथमिति चेत्, कस्यायं पर्यनुयोगः, किं ज्ञातुरुत ज्ञेयस्य वा। एतच्चाप्रस्तुतत्वान्नेहास्माभिरुक्तम्। इह च प्रस्तुतस्यैवाप्रस्तुताद्भेदेनानुपलक्षणं विवक्षितम्। तद्गतत्वेनैवाभेदद्वारेण तत्समाश्रयस्य प्रतिपिपादयिषितत्वात्। न चास्यप्रत्यक्षस्यान्यतया प्रतीतेरस्य भ्रान्तिमदत्यन्तर्भावो वाच्यः। तस्य हि प्रकृतवस्त्वाच्छादकत्वेनैव प्रतीतिलंघनम्। इह तु तथात्वेऽपि वस्त्वन्तरस्य पृथक्प्रतिपत्तिरित्यलं बहुना। न चास्य संज्ञामात्रमेतदित्याह—तिरोधायकत्वादिति। अतश्च पूर्वं 'तदन्वर्थाभिधानं मीलितमित्युक्तं निर्वाहितम्॥

वस्तुना। लक्ष्मणा = चिह्नरूप धर्म से। वह दो प्रकार का होता है सहज तथा आगन्तुक अतः यह अलंकार भी दो प्रकार का होता है यह बतलाया। 'अन्य वस्तु के द्वारा अन्य वस्तु का जो छिपाया जाना है वह सामान्यालंकार में भी होता है, अतः दोनों में एकरूपता रहने से यह सामान्यालंकारस्वरूप ही क्यों नहीं माना जाता'—ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—'न चायम्०'। साधारणगुणयोगात् = गुण साम्य = जैसा कि [मम्मट ने] कहा है—

'गुणसाम्य बतलाने के लिए, प्रस्तुत का, अन्य के साथ, सादृश्य संबन्ध के आधार पर, अभेद बतलाया जाता है वह [सामान्य नामक अलंकार कहलाता है, काव्यप्रकाश]।

भेदानुपलक्षणात्=भेद समझ में न आना=यद्यपि प्रस्तुत और अप्रस्तुत दो समान वस्तुओं का आकार सामान्य=[एक समान या अभिन्न] नहीं होने से पृथक्-पृथक् ज्ञान तो होता है तथापि इस ज्ञान में या तो किसी एक के विशेष का बोध नहीं हो पाता या फिर दोनों के विशेषों का; फलतः इस ज्ञान से जो निश्चय होता है उसमें दोनों वस्तुएँ किसी एक रूप में ही विदित होती हैं, इस प्रकार इसमें दोनों वस्तुओं का भेद घट और पट के समान स्वरूपगतरूप से विदित नहीं होता फलतः जैसा प्रारम्भिक बोध होता है वैसा ही अन्तिम निश्चय भी। उदाहरणार्थ जैसे राजगंज [कदाचित् रायल मार्केट Royal market] आदि में जहाँ चाँदी और सीप के ढेर लगे रहते हों और दूर से दो दिखाई देने पर भी उनमें चाँदी का ढेर कौनसा है और सीप का ढेर कौनसा यह अन्तर प्रतीत नहीं होता। सीप और चाँदी पास पास रहती है। इनके आकार अलग-अलग रहते हैं अतः उनका बोध अलग-अलग होता है तथापि किसी एक की विशेषता का स्मरण न होने या दोनों की विशेषताओं का भान न होने से किसी व्यक्ति को दोनों का निश्चय एक ही रूप में होता है उसी प्रकार यहाँ [समुच्चय में] समझना चाहिए। [राजगंज कदाचित् रायलमार्केट है या राजा की मंडी, जहाँ चाँदी और छिपलियों के अलग-अलग ढेर लगे रहते होंगे। दूर से दो दिखाई देने पर भी उनमें, चाँदी का ढेर कौन है और सीप का कौन यह अन्तर प्रतीत नहीं होता] इसके विपरीत मीलित में दोनों का ज्ञान सामान्यरूप से भी होता हो ऐसा नहीं है क्योंकि इसमें अधिक गुणवाला पदार्थ कम गुण वाले पदार्थ को छिपा देता है और [क्योंकि कम गुण वाले पदार्थ को अधिक गुण वाला पदार्थ दबा देता है] इसलिए कम गुण वाले पदार्थ के स्थान पर भी एकमात्र अधिक गुणवाले पदार्थ का ही भान होता है। इसीलिए इस [मीलित के उदाहरण 'अपाङ्गतरले०'-पद्य] में नशे से उत्पन्न नेत्रचांचल्य आदि का ज्ञान एकदम नहीं होता क्योंकि वे [नेत्रचाञ्चल्य आदि] नशे के पहले से उसी रूप में विद्यमान रहते हैं और उनसे अधिक बलवान् स्वाभाविक नेत्रचाञ्चल्य आदि से वे दबा दिए गए हैं। इसके विरुद्ध सामान्य के—

सामने की हवा से नचाए गए अलकों तथा अवानत [बड़े-बड़े] स्तनों वाली यह सुन्दरी—किंचित् हिलती भ्रमराली से युक्त तथा स्तवकों से लदी लताओं से इस प्रकार अभेद को प्राप्त हो गई है कि स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ रही है।'

इत्यादि [इन] स्थलों में [जिनमें रत्नाकरकार ने मीलितालंकार माना है] निकुंज के बीच स्थित स्त्री का भिन्नरूप में निश्चय नहीं हो पा रहा है, इसमें कारण है साधारणगुणों का योग, यद्यपि पहले वही स्त्री अन्य स्थान पर अपने असामान्य रूप में विदित होती है। इसीलिए 'स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती' यह कहा गया है। इस कारण सिद्धान्त यह तय हुआ कि 'आरम्भ में स्वरूपतः ज्ञात पदार्थ का भी अन्त में भिन्न रूप में निश्चय न होना सामान्य कहलाता है तथा बलवान् के द्वारा छिपा दिए जाने से आरम्भ में भी स्वरूप का ज्ञान न होना मीलित'। इसीलिए कहा—'**महाननयोर्विशेषः**'=इनमें महान् अन्तर है। [रत्नाकरकार द्वारा शंका उठाई गई है कि] उक्त क्रम से जब दोनों में समानगुणों का महत्त्व समानरूप से स्वीकार किया जा रहा है तब आगे [सामान्यप्रकरण] कहे जाने वाले [मलयजरस आदि] उदाहरणों में अभिसारिका आदि के समान ज्योत्सना [चाँदनी] आदि का भी भेद क्यों नहीं छिप जाता? इसका तो उत्तर दिया ही जा चुका है कि—'या तो यहाँ किसी एक की ही विशेषता का ज्ञान होता है

या फिर दोनों की ही विशेषताओं का ज्ञान नहीं होता'। यदि पूछें— 'ऐसा भी क्यों होता है ?' [तो बतलाइए कि] यह [जो समानगुणत्वबोध है यह] विनिष्ठ है ज्ञातृनिष्ठ या ज्ञेयनिष्ठ ? [निश्चित ही ज्ञातृनिष्ठ है और इसलिए ज्ञेयस्थिति जो भी हो, महत्त्व ज्ञानस्थिति को ही दिया जाएगा, और ज्ञान यहाँ वैसा ही होता है जैसा हम बता आए हैं] यह विचार अप्रासंगिक है, इसलिए हमने इस पर यहाँ कुछ नहीं कहा। वस्तुत. यहाँ [सामान्य में] केवल प्रस्तुत का ही अप्रस्तुत से भेद प्रतीत न होना विवक्षित रहता है [अप्रस्तुत का प्रस्तुत से नहीं] क्योंकि [केवल] उस [प्रस्तुत] के विषय में हो हुए अभेद बोध के द्वारा यहाँ उस [अप्रस्तुत] का सादृश्य प्रतिपादित करना अभीष्ट होता है। [अतः अप्राकरणिक ज्योत्स्ना आदि का भेद छिपना, सामान्य में, आवश्यक नहीं] ऐसा मानने पर, अन्य का अन्यरूप से ज्ञान [भ्रान्तिमान् में भी रहता है अतः उस] के आधार पर इसका भ्रान्तिमान् में भी अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस [भ्रान्तिमान्] में प्रतीतिस्वरूप वस्तु के आच्छादन तक सीमित रहता है जब कि यहाँ [मीलित में] वैसा तो होता ही है, अन्य वस्तु का पृथक् रूप से भी बोध होता है। अस्तु, रहने भी दिया जाए अधिक विस्तार से कोई लाभ नहीं। तिरोधायकत्वात्= इत्यादि द्वारा यह बतलाते हैं कि इस [मीलित] की यह संज्ञा केवल कहा ही नहीं है। [यह सार्थक भी है]। इस प्रकार पहले जो 'तदन्वर्थाभिधानं मीलितम्'= कहा था इसका अन्त तक निर्वाह कर दिया।'

विमर्श—इतिहास—

मीलित की कल्पना पहले पहल रुद्रट ने की है। उन्होंने इसके सहजधर्ममूलक और आगन्तुकधर्ममूलक दोनों भेद भी बतलाए हैं—

> 'तन्मीलितमिति यस्मिन् समानचिह्नेन हर्षकोपादि।
> अपरेण तिरस्क्रियते नित्येनागन्तुकेनापि ॥ ७।१०६ ॥

यह अलङ्कार मीलित कहलाता है जिसमें किसी सहज या आगन्तुक समान चिह्न के माध्यम से किसी अन्य पदार्थ के द्वारा हर्ष कोप आदि छिपा दिए जाते हैं ॥

सहज धर्म—

> तिर्यक्प्रेक्षणतरले सुरिनग्धे च स्वभावतस्तस्याः।
> अनुरागो नयनयुगे सत्यपि केनोपलक्ष्येत ॥ ७।१०७ ॥

उसके दोनों नेत्र तिरछा देखते और चपल रहते हैं। उनमें स्नेह भी है। अतः उनमें अनुराग रहने पर भी उसे कौन जान सकता है।

आगन्तुक—

> मदिरामदभरपाटल-कपोल-तललोचनेषु वदनेषु।
> कोपो मनस्विनीनां न लक्ष्यते कामिभिः प्रभवन् ॥

'मदिरा के मद से लाल कपोल तथा नेत्र वाले मनस्विनियों के चेहरों पर कोप आता है पर कामियों को समझ में नहीं आता।' यहाँ मदिरामद की लाली आगन्तुक लाली है। इसमें कोप की लाली का छिपना प्रतिपादित है।

मम्मट= ने रुद्रट का ही अनुसरण इस प्रकार किया है—

> 'समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते।
> निजेनागन्तुना वापि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥

उदाहरण भी मम्मट ने रुद्रट से मिलते जुलते दिए हैं। उन्हीं को सर्वस्वकार ने भी उद्धृत कर लिया है।

रत्नाकर— रत्नाकर मीलित और सामान्य को एक ही अलंकार के दो प्रकार मानते हैं, जैसा कि अभी अभी बतलाया गया है। तदनुसार उन्होंने दोनों में अनुगत एक लक्षण मीलित नाम से ही इस प्रकार बनाया है—

'धर्मसाम्याद् भेदाप्रतीतिर्मीलितम्।'

—'धर्मगत समानता के कारण भेद की प्रतीति न होना मीलित कहलाता है।' विमर्शिनकार ने जिस 'अभेदम्०' पद्य में सामान्यालंकार माना है, रत्नाकरकार ने मीलित के उदाहरण के रूप में यही पद्य पहले उद्धृत किया है। काव्यप्रकाशकार तथा सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत 'मलयजरस०' पद्य में सामान्यालंकार तथा 'अपाङ्गतरले०' पद्य एवं 'ये कन्दरासु०' पद्य में मीलितालंकार की पृथक् कल्पना पूर्वपक्ष के रूप में रत्नाकरकार ने भी प्रस्तुत की है किन्तु उन्होंने उपर्युक्त तर्कों द्वारा इस पार्थक्य का निराकरण भी कर दिया है।

अप्पयदीक्षित—'मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते।
उदा०—'रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे॥'

'सादृश्य के कारण यदि भेद ही न दिखाई दे तो मीलित नामक अलंकार होगा। उदा० यथा— सहज अरुण चरण में लाक्षा का रस दिखाई नहीं दिया।'

पण्डितराज = 'स्फुटमुपलभ्यमानस्य कस्यचिद् वस्तुनो लिङ्गैरतिसाम्याद् भिन्नत्वेनागृह्यमाणं वस्त्वन्तरलिङ्गानां स्वकारणाननुमापकत्वं मीलितम्।

भेदाग्रहेण लिङ्गानां लिङ्गैः प्रत्यक्षवस्तुनः। अप्रकाशो ह्यनध्यक्षवस्तुनस्तन्निमीलितम्॥'

'स्पष्ट रूप से समझ पड़ रही किसी वस्तु के चिह्नों के साथ अत्यन्त सादृश्य के कारण, अन्य वस्तु के चिह्नों का भिन्न रूप से गृहीत न होकर अपनी आधार भूत अन्य वस्तु का अनुमान न करा पाना मीलित कहलाता है।'

प्रत्यक्ष वस्तु के चिह्नों के साथ अपने चिह्नों का भेद गृहीत न होने के कारण अप्रत्यक्ष वस्तु का जो अज्ञान वही मीलित है।

इन लक्षणों के विशेषणों का प्रयोजन बतलाते हुए स्वयं पण्डितराज ने कहा है 'अनध्यक्षी वस्तुनः = अप्रत्यक्षवस्तु' अर्थात् वस्तुनः = अप्रत्यक्षता। इसका उद्देश्य सामान्य का निवारण है। सामान्य में दोनों ही वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता रहता है।

चिह्नगत सहजत्व और आगन्तुकत्व को पण्डितराज ने लक्षण में तो स्थान नहीं दिया किन्तु इन्हें उन्होंने उदाहरणों में अवश्य ही अपना लिया है। 'अपाङ्गतरले' तथा 'ये कन्दरासु०' की अभिव्यक्तियों द्वारा पण्डितराज के उदाहरणों की अभिव्यक्ति गतार्थ है।

विश्वेश्वर—'सहजनिमित्तजधर्मात् सदृशादन्येन वस्तुना वस्तु।
अपिधीयते यदेतन्मीलितमाहुर्विशेषज्ञाः॥

संजीविनीकार—चक्रवर्ती की मीलितकारिका—

'निजेनागन्तुना वापि लक्ष्मणेनान्यगोपनम्। निमीलिताख्यालङ्कारो द्विप्रकारः प्रकाशितः॥

पाठान्तर = विमर्शिनी की कुछ पंक्तियाँ निर्णयसागर संस्करण में हमारी दृष्टि से अशुद्ध छपी हैं। प्रमुख स्थल यथा—

[१] 'घटपटवद्भेदेन०' [पृ० ६२८ पं० १२] के स्थान पर घटपटवद् भेदो न। रत्नाकर के पूना संस्करण में ऊपर उद्धृत संग्रहकारिका का प्रथम पद भी 'भेदेन' के स्थान पर 'भेदोन'—इसी प्रकार छपा है।

[२] 'सन्निकर्षेणासामान्य०' [पृ० ६२८ पं० १४] के स्थान पर 'सन्निकर्षेण सामान्य०' तथा
[३] 'उभयावगमो न' [पृ० ६२८ पं० १६] के स्थान पर 'उभयावगमो' मात्र छपा है।
[४] 'पृथग्देशावष्टम्भेनासामा०' [पृ० ६२८ पं० -] के स्थान पर 'पृथग्देशावष्टम्भेन सामा०।
[५] 'यत्र समानगुण०' [पृ० ६२८ पं० २७] के स्थान पर 'यत्र सुमनोगुण०।

मूल में भी 'अशोकनरले०' पद्य का पाठ काव्यप्रकाश तथा रत्नाकर में आए इसी पद्य के पाठ से भिन्न है। उनमें जहाँ 'अगके' है वहाँ निर्णय० प्रति में 'अङ्कके.' है और उनमें जहाँ तदत्र है वहाँ निर्णय० प्रति में यदत्र। अर्थसंगति की दृष्टि से काव्यप्रकाश और रत्नाकर का ही पाठ अधिक उपयुक्त है। कु० जानकी की प्रति में अङ्कके तो अङ्कके ही छापा गया है किन्तु यदत्र तदत्र नहीं। इसी प्रकार डॉ० द्विवेदी की प्रति में यदत्र के स्थान पर तदत्र तो छापा गया है किन्तु 'अङ्कके.' के स्थान पर 'अङ्कके' नहीं।

मीलित और सामान्य के भेद पर कुछ विचार तो मीलित के ही इस प्रकरण में हो गया है कुछ आगे आरहे सामान्य के प्रकरण में होगा।

भोज ने आगामी सामान्य को पिहित कहा है और उसे तथा तद्गुण [illegible] अतद्गुण को मीलित के ही प्रकार के रूप में स्वीकार किया है [द्र० स० कण्ठा० ३।४२]

[सर्वस्व]

[सू० ७२] प्रस्तुतस्यान्येन गुणसाम्यादैकात्म्यं सामान्यम्।

यत्र प्रस्तुतस्य वस्तुनोऽप्रस्तुतेन साधारणगुणयोगादैकात्म्यं भेदानध्यवसायादेकरूपत्वं निबध्यते तत्समानगुणयोगात्सामान्यम्। न चेयमपह्नुतिः। किंचिन्निषिध्य कस्यचिदप्रतिष्ठापनात्। यथा—

'मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः
सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः।
शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गता
प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः॥'

अत्र मलयजरसविलेपनादीनां चन्द्रप्रभया सह 'अविभाव्यतां गताः' इत्यभेदप्रतीतिर्दर्शिता।

[सू० ७२] गुणगत साम्य के आधार पर प्रस्तुत की तद्भिन्न [अप्रस्तुत] के साथ एकरूपता सामान्य [नामक अलङ्कार कहलाता है]॥

[वृ०] जिस [अलङ्कार] में प्रस्तुत वस्तु की अप्रस्तुत वस्तु के साथ साधारणगुणों के आधार पर ऐकात्म्य अर्थात् भेद की प्रतीति न होने से एकरूपता बतलाई जाती है वह समान गुणों के संबन्ध के कारण सामान्य कहलाता है। यह अपह्नुति नहीं है, क्योंकि [यहाँ] किसी का निषेध कर किसी का प्रतिष्ठापन नहीं रहता। उदाहरण, यथा—

सफेद चन्दन के रस [घिसे हुए सफेद चन्दन] से विलिप्त शरीर वाली, नवीन मौक्तिकमाला पहने हुई, खूब सफेद हाथी दाँत की पत्रावली से मुख की उज्ज्वल कान्ति बढ़ाए हुई और सुन्दर धवल अंशुक पहने हुई [शुक्ल] अभिसारिकाएँ उस समय सूझ नहीं पड़ती जिस समय चन्द्रमा अपनी किरणें बिखेर कर धरापृष्ठ को सफेदी से रंगता है, और वे प्रिय गृह तक निर्भीक होकर सुख-पूर्वक पहुँच जाया करती हैं।'

यहाँ चन्दनरस के विलेपन आदि के चन्द्रप्रभा के साथ अभेद का ज्ञान 'सूझ नहीं पड़ती' इस प्रकार बतलाया गया है' ॥

विमर्शिनी

प्रस्तुतस्येत्यादि । प्रस्तुतस्येति उपमेयस्य । अप्रस्तुतेनेति उपमानेन । साधारणगुणानां च निरूपत्वमनार्थसिद्धम् । तेन साधारणगुणस्यानुगामितया यथा—

'मध्ये ग्रामवधूनाममलरुचिषाम् ।
राहोरलक्ष्यतामेति यत्र पूर्णेन्दुमण्डलम् ॥'

अत्रामलकान्तित्वमनुगामितया सकृन्निर्दिष्टम् । असकृन्निर्देशस्तु यथा—अभेदमित्यादौ । अत्र स्तवकस्तनयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावः । लुलितत्वनर्तितत्वयोः शुद्धसामान्यरूपत्वम् । ननु चात्र प्रस्तुतस्याप्रस्तुतेनापह्नवः क्रियत इति किमयमपह्नुतिरेव न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेयमित्यादि । 'अविभाव्यतां गताः' इति, अर्थादुक्तेः ॥

प्रस्तुतस्य इत्यादि । प्रस्तुतस्य = प्रस्तुत = उपमेय । अप्रस्तुतेन = अप्रस्तुत = उपमान । साधारणगुणों की निरूपता यहाँ स्वतः सिद्ध है। साधारण गुणों की अनुगामिता का उदाहरण यह है—

'गाँवों की महिलाओं के निर्मल कान्ति वाले मुखों के बीच चन्द्र का पूर्ण मण्डल जहाँ राहु को दिखाई नहीं पड़ता।'

यहाँ 'निर्मलकान्तित्व' धर्म उभयानुगत रूप से एक बार कहा गया। अलग-अलग कथन का उदाहरण यथा—[पूर्वोक्त] 'अभेदमूढ०' पद्य। इसमें स्तवक और स्तनों में बिम्बप्रतिबिम्बभाव है तथा लुलितत्व और नर्तितत्व में शुद्धसामान्यधर्मत्व। [शंका] यदि यहाँ प्रस्तुत को अप्रस्तुत के द्वारा छिपाया जाता है तो इसे अपह्नुति अलंकार ही क्यों न मान लिया जाता 'ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—न च इत्यादि। 'अविभाव्यतां गताः'—सूझ नहीं पड़ती = अर्थात् इस प्रकार अभेद का ज्ञान शब्द से ही करा दिया गया है।

विमर्श—इतिहास—

इस अलंकार को सामान्य नाम तो मम्मट की देन है किन्तु यह अलंकार अपने आप में कल्पना है रुद्रट की। रुद्रट ने इसे तद्गुण का एक भेद माना है। उनका एतत्संबन्धी विवेचन इस प्रकार है—

'यस्मिन्नेकगुणानामर्थानां योगलक्ष्यरूपाणाम् ।
संसर्गे नानात्वं न लक्ष्यते तद्गुणः स इति ॥ ९ । २२ ॥

जहाँ एक ही गुण वाले पदार्थों का संबन्ध होने पर स्वरूप तो दिखाई दे, पर उनका पार्थक्य प्रतीत न हो तो वह तद्गुण कहलाता है। उदाहरण—

'नवधौतधवलवसनाश्चन्द्रिकया सान्द्रया तिरोगमिताः ।
रमणभवनान्यशङ्कं सर्पन्त्यभिसारिकाः सपदि ॥ ९।२३ ॥

'नवीन धुले धवल वस्त्र पहिने और सान्द्र चाँदनी में छिपी अभिसारिकाएँ निश्शंक होकर अपने प्रिय के घर झटिति पहुँच जाती हैं।' निश्चित ही रुद्रट को वामन द्वारा अतिशयोक्ति के लिए उद्धृत पद्य 'मलयजरस०' से यह तद्गुण सूझा होगा। मम्मट ने रुद्रट के उदाहरण से उसका मूलभूत पद्य 'मलयज०' तो खोज निकाला किन्तु उससे सूझे अलंकार को तद्गुण से अभिन्न मानना उचित नहीं समझा। उन्होंने रुद्रट के ही मीलितालंकार की कल्पना से मिलती जुलती सामान्य की कल्पना की और उसका स्वतन्त्र लक्षण बनाया। विमर्शिनीकार ने मीलित-प्रकरण के आरम्भ में उसे उद्धृत कर दिया है। किन्तु रुद्रट जैसी सूक्ष्मेक्षिका उनके लक्षण से प्रकट नहीं होती। रुद्रट का यह कहना एक सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक सत्य है कि यहाँ वस्तु-स्वरूप तो प्रतीत होता है, वस्तुतः नानात्व नहीं'। कदाचित् विमर्शिनीकार को इसीसे प्रेरणा मिली है और उन्होंने रत्नाकरकार के खण्डन में कुछ ऐसी ही तर्कप्रणाली अपनाई है। सर्वस्वकार का विवेचन मम्मट की सामान्यकारिका पर प्राप्त वृत्ति से काफी प्रभावित है। मम्मट ने वृत्ति में लिखा है—

'अतादृशमपि तादृशतया विवक्षितुं यत् अप्रस्तुतार्थेन संपृक्तमपरित्यक्तनिजगुणमेव तदेकात्मतया निबध्यते तत् सामान्यगुणनिबन्धनात् सामान्यम्।'

—जो प्रस्तुत वस्तु जिसके समान नहीं है उसे उसके समान बतलाने के लिए अप्रस्तुत वस्तु के साथ उसका अपना स्वरूप बिना छुड़ाए एकरूप बतलाया जाता है वह सामान्य गुणों का उल्लेख होने के कारण सामान्य कहलाता है। यहाँ अपरित्यक्त निजस्वरूप = अपना स्वरूप बिना छोड़े' पद मीलित से सामान्य का अन्तर करने के लिए ही दिया गया है। मीलित में वस्तु का स्वरूप भी तिरोहित हो जाता है। उदाहरण के रूप में 'मलयजरसविलिप्त०' पद्य ही मम्मट ने दिया था।

रत्नाकरकार का दृष्टिकोण इस विषय में स्पष्ट ही है। वे इसे मीलित की ही एक विधा मानते हैं। मीलितप्रकरण में उनका मत दिया जा चुका है।

अप्पयदीक्षित = 'सामान्यं यदि सादृश्याद् विशेषो नोपलक्ष्यते।
पद्माकरप्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम्॥

सादृश्य के कारण यदि भेद दृष्टिगोचर न हो तो सामान्य। उदा० कमलसमूह से भरे तालाब में प्रविष्ट सुन्दरियों के मुख दिखाई नहीं पड़े।'

पण्डितराज—'प्रत्यक्षविषयस्यापि वस्तुनो बलवत्सजातीयग्रहणकृतं तद्भिन्नत्वेनाग्रहणं सामान्यम्॥'

प्रत्यक्ष दिखाई देती वस्तु का बलवत्तर सजातीय के ज्ञान के कारण उससे भिन्न रूप से ज्ञान न होना सामान्य कहलाता है।'

विश्वेश्वर = स्वगुणसजातीय गुणग्रस्तैकरूप्यं तु सामान्यम्। अपने गुणों के समान गुण वाले के साथ एकरूपता सामान्य कहलाती है।

मीलित और सामान्य का अन्तर मुख्यतः प्रस्तुत के स्वरूप के बोध पर निर्भर है। मीलित में वह अप्रस्तुत के स्वरूप के रूप में ही भासित होता है जब कि सामान्य में स्वस्वरूप में ही। मीलित में प्रस्तुत के स्वरूप का बोध न होने का अभिप्राय विमर्शिनीकार के अनुसार प्रस्तुत के विशिष्ट रूप का बोध न होना है। सामान्य रूप में तो उसके स्वरूप का बोध होता ही है। रुद्रट के विवेचन से यह तथ्य बहुत ही स्पष्ट है। रत्नाकरकार, अप्पयदीक्षित, पण्डितराज और विश्वेश्वर पण्डित के लम्बे लम्बे विमर्शों का तात्पर्य केवल इतना ही है।

यहाँ चक्रवर्ती की सामान्यकारिका इस प्रकार है—

'प्रस्तुतस्यान्यतादात्म्यं सामान्यं गुणसाम्यतः।

गुणसाम्य के आधार पर प्रस्तुत का अप्रस्तुततादात्म्य सामान्य कहलाता है।

[सर्वस्व]

[सू० ७३] स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणस्वीकारस्तद्गुणः।

यत्र परिमितगुणस्य वस्तुनः समीपवर्तिप्रकृष्टवस्तुगुणस्य स्वीकरणं स तद्गुणः। तस्योत्कृष्टगुणस्य गुणा अस्मिन्निति कृत्वा। न चेदं मीलितम्। तत्र हि प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेणाच्छादितत्वेन प्रतीयते। इह त्वनपह्नुतस्वरूपमेव प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरगुणोपरक्ततया प्रतीयत इत्यस्त्यनयोर्भेदः।

यथा—

'विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः॥'

अत्र रविरथाश्वानामरुणवर्णस्वीकारः, तस्यापि गारुत्मतमणिप्रभास्वीकार इति तद्गुणत्वम्।

[सूत्र ७३] अपने गुण के त्याग से अत्युत्कृष्ट वस्तु के गुण का स्वीकार तद्गुण [नामक अलंकार कहलाता है]॥

[वृ०] 'जिस [अलंकार] में न्यून गुण वाली वस्तु समीपस्थ उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु के गुण अपनाए वह तद्गुण कहलाता है, 'तद्' यानी उस उत्कृष्ट के गुण हैं इसमें'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर। यह मीलित नहीं है। वहाँ प्रकृत वस्तु अन्य = अप्रकृत वस्तु के द्वारा ढंकी हुई प्रतीत होती है, यहाँ उसके विपरीत प्रकृत का स्वरूप प्रकट ही रहता है। केवल वह अन्य वस्तु के गुणों से रंगी भर प्रतीत होती है। इस प्रकार इन दोनों में महान् भेद है। उदाहरण, यथा—

'जिस [गिरनार पर्वत] पर अरुण की ललौंई से अन्य वर्ण के हुए सूर्याश्व बाँस की पौर के समान हरे कच्च रत्नों द्वारा चारों ओर बिखरती प्रभा से पुनः अपने [हरे] वर्ण को प्राप्त करा दिए गए थे [माघकाव्य]।

यहाँ सूर्य के अश्व पहले अरुण का वर्ण स्वीकार करते हैं और वह [अरुण] भी गारुत्मत [मरकत] मणि की प्रभा स्वीकार करता है। इसलिए यहाँ तद्गुण हुआ॥'

विमर्शिनी

स्वगुणेत्यादि। परिमितेति। स्वीक्रियमाणस्य गुणस्याभावात्। तत्संभवादेव चान्यस्य प्रकृष्टगुणत्वम्। समीपवर्तीत्यनेन गुणग्रहणे योग्यत्वमुक्तम्। अस्मिन्निति। परिमितगुणे प्रकृते। अतश्च नैतत्संज्ञामात्रम्। ननु च प्रकृष्टगुणेन परिमितगुणस्य तिरोधानान्मीलितमेवायं किं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेत्यादि। आच्छादितत्वेनेति। अपह्नुतिस्वरूपत्वेनेत्यर्थः। उपरक्ततयेति। विशिष्टत्वेनेत्यर्थः। तस्येति। अरुणवर्णस्य। अपिः समुच्चये। यथा वा—

'इन्दूदयश्चन्दनमिन्दुवक्त्रा चैत्रस्तथेत्यादिसहायसंपत् ।
वपुश्च शृङ्गारमयं च मन्ये संतापकत्वं हरवह्नियोगात् ॥'

अत्र हरवह्निगुणस्य संतापकत्वस्य स्वीकारः ॥

स्वगुण इत्यादि । परिमित०—जिस गुण को अपनाया जा रहा है उसका अपनाने वाली वस्तु में अभाव होने से । और उसी के सद्भाव से अन्य वस्तु भी प्रकृष्ट गुणवाली हुई । समीप वर्ती रहकर गुण अपनाने की योग्यता बतलाई ।

अस्मिन् = इसमें = परिमित = न्यून गुण वाली वस्तु में । इस कारण यह केवल मुद्रालङ्कार नहीं है । प्रकृष्ट गुणवाली वस्तु से न्यून गुण वाली वस्तु का तिरोधान होने से यह मीलित ही क्यों नहीं माना जाता—[जैसा कि सरस्वती कण्ठाभरण में महाराज भोज ने माना है] ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—न च इत्यादि । आच्छादितत्वेन आच्छादितरूप से जो कि अपह्नुति का स्वरूप है । उपरक्ततया = रंगे हुए रूप में = उससे विशिष्ट रूप में । तस्य उसका = ग्रहण का ।
अपि = भी यहाँ समुच्चय अर्थ में है । दूसरा उदाहरण यह है—

हे काम ! चन्द्रोदय, चन्दन, चन्द्रमुखी, चैत्र इत्यादि तुम्हारी सहायक सामग्री है और तुम्हारा स्वयं का शरीर शृंगारमय है । ऐसे तुम जो सन्ताप पहुँचाते हो वह कदाचित् शिव की नेत्राग्नि के संपर्क से ।' [रत्नाकरकार द्वारा तद्गुण के लिए उद्धृत] ॥

यहाँ शिवनेत्राग्नि का संतापकत्वरूपी गुण अपनाया गया ॥

विमर्श—इतिहास—

पहले कहा जा चुका है कि तद्गुण के प्रथमभेद के रूप में रुद्रट ने जिस अभिव्यक्ति का संग्रह किया था उसे मम्मट ने सामान्य नाम दिया है । रुद्रट ने तद्गुण का जो दूसरा भेद खोजा था उसे मम्मट आदि ने तद्गुण नाम से ही अपनाया । दूसरा भेद यह है—

'असमानगुणं यस्मिन्ननिबहलगुणेन वस्तुना वस्तु ।
संसृष्टं तद्गुणतां धत्तेऽन्यस्तद्गुणः स इति ॥' ९।२४ ॥

—जिस [अलंकार] में असमान गुण वाली वस्तु अधिकगुण वाली वस्तु से मिलकर उसी का गुण अपना ले वह दूसरा तद्गुण कहलाता है । उदाहरण—

'कुब्जकमालापि कृता कार्तस्वरभास्वरे त्वया कण्ठे ।
एतत्प्रभानुलिप्ता चम्पकदामभ्रमं कुरुते ॥ ९।२५ ॥

—प्रिये ! तूने सोने से चमकीले गले में जो माला पहनी है वह कुब्जक माला होने पर भी इस [गले] की प्रभा से लिप्त होकर चम्पक माला का भ्रम करा रही है ।

उदाहरण से स्पष्ट है कि रुद्रट का तद्गुणसम्बन्धी संस्कार बहुत ही स्पष्ट और पूर्ण है ।

मम्मट = 'स्वमुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥

अधिक उज्ज्वल गुण वाले पदार्थ के संपर्क से जहाँ कोई वस्तु अपना गुण छोड़कर उसी के गुण से युक्त हो जाती है उसे तद्गुण कहते हैं । उदाहरण—'विभिन्नवर्णाः०' पद्य ही । इस उदाहरण में गुणों के त्याग और परिग्रह की घटना दो बार आई है जब कि रुद्रट के उदाहरण में केवल एक बार । किन्तु रुद्रट के पद्य में शुद्ध तद्गुण है । मम्मट द्वारा उद्धृत पद्य में गिरिनार की ऊँचाई अतिशयोक्ति लिए है । सर्वस्वकार का इस पद्य की संगति में रत्नों को गारुत्मतमणि के समान बतलाना असंगत है । गारुत्मत मणि का वर्ण लाल माना जाता है, हरा नहीं । बाँस की पोर और सूर्य के अश्व हरे रंग के लिए ही प्रसिद्ध हैं । सूर्य को हरिदश्व, हर्यश्व कहा जाता है । भले ही

यहाँ हरे का अर्थ नीला हो जैसा कि संस्कृत कवियों में देखा जाता है, परन्तु लाल नहीं हो सकता। संजीविनीकार ने भी गारुत्मत के स्थान पर मरकत पाठ माना है।

रत्नाकरकार ने न केवल रंग के हो, अन्य गुणों के सर्वस्वकार में भी तद्गुण माना है। यह उनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है। उनका लक्षण है—

'अन्यधर्मस्वीकारस्तद्गुणः ॥ ९७ ॥

अन्य के धर्म का स्वीकार करना तद्गुण ॥' उनने स्पष्ट किया है कि यह तभी संभव है जब अपने गुण का त्याग किया जाए, अन्यथा दोनों के विरोधी गुणों में विरोध उत्पन्न होगा। इस प्रकार स्वगुणत्याग को लक्षण में स्थान न देने से भी रत्नाकरकार का वैदग्ध्य व्यक्त है। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'विभिन्नवर्णाः'० से ही मिलता भाव का ही ४।२६ पद्य भी उद्धृत किया है यद्यपि उसमें पदार्थनिदर्शना प्रबल है, और विमर्शिनी में गृहीत 'इन्दूदय' पद्य भी।

अप्पयदीक्षित

'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः।
पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा ॥'

अपने गुण का त्याग कर अन्य के गुण का ग्रहण तद्गुण कहलाता है। यथा— तुम्हारे अधर की कान्ति से नाक का मोती पद्मराग का कार्य कर रहा है।

पण्डितराज = 'स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः ॥'

अपना गुण त्याग कर अपने पास के किसी अन्य पदार्थ के गुणों का ग्रहण तद्गुण कहलाता है।

विश्वेश्वर = 'परकीयगुणतिरोहितगुणस्य भानं तु तद्गुणः प्रोक्तः ॥

अन्य के गुणों से छिपे गुणों वाले पदार्थ का ज्ञान तद्गुण कहा गया है। उदाहरण के रूप में एक रंग से दूसरे रंग के रंजित होने की घटना से युक्त पद्य तो विश्वेश्वर ने दिया ही है, इसके अतिरिक्त रत्नाकरकार द्वारा अन्यगुणों के ग्रहण करने का उदाहरण भी उन्होंने दिया है।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

—'तद्गुणः स्वगु० त्यागादुत्कृष्टस्य गुणग्रहः ॥'

[सर्वस्व]

[सू० ७४] सति हेतौ तद्गुणाननुहारोऽतद्गुणः ।

तद्गुणप्रस्तावात्तद्विपर्ययरूपोऽतद्गुण उच्यते। इह न्यूनगुणस्य विशिष्टगुणपदार्थधर्मस्वीकारः प्रत्यासत्त्या न्याय्यः। यदा पुनरुत्कृष्टगुणपदार्थसन्निधानाख्ये हेतौ सत्यपि तद्रूपस्योत्कृष्टगुणस्याननुहरणं न्यूनगुणेनाननुवर्तनं भवति सोऽतद्गुणः। तस्योत्कृष्टगुणस्यास्मिन्गुणा न सन्तीति। यद्वा तस्याप्रकृतस्य रूपाननुहारः सत्यनुहरणहेतौ सोऽतद्गुणः। तस्याप्रकृतस्य गुणा नास्मिन् सन्तीति कृत्वा। क्रमेण यथा —

'धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रंजिअं हिअअं।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ॥'
'गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः।
राजहंस तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ॥'

पूर्वत्रातिरक्तहृदयसंपर्कान्नायकस्य धवलशब्दवाच्यस्य प्राप्तमपि रक्तत्वं न निष्पन्नमित्यतद्गुणः। उत्तरत्राप्रकृतस्य गाङ्गयामुनजलस्य संपर्केऽपि न तथारूपत्वमित्ययमप्यतद्गुण एव। ['धवलोऽसी'ति यत् तत् तद्गुण एव —] कार्यकारणभावस्य चात्राविवक्षणान्न विशेषोक्त्यलंकारावकाशः।

[सू० ७४] कारण विद्यमान रहने पर भी उसके गुण का अनुकरण न होना [अतद्गुण [अलंकार कहलाता है] ॥

[वृ०] तद्गुण का प्रसंग चल रहा था अतः उसका उल्टा अतद्गुण उसी के बाद बतलाया जा रहा है। सामान्यतः कम गुण वाले पदार्थ के द्वारा विशिष्ट गुण वाले पदार्थ का संपर्क होने पर उसके धर्म अपनाए ही जाते हैं, किन्तु जब उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ के सन्निधानरूपी हेतु के रहने पर भी उस [हेतुरूप उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ] के उत्कृष्ट गुणों का न्यून गुण वाले पदार्थ के द्वारा अनुकरण नहीं किया जाता तब उससे युक्त उक्ति को अतद्गुण कहा जाता है। यह नाम इसलिए कि इसमें यह व्युत्पत्ति अन्वित होती है—'तद् उस = उत्कृष्ट गुण वाले पदार्थ के गुण इस [न्यूनगुण पदार्थ] में नहीं है।' इसकी दूसरी व्याख्या यह हो सकती है—'उस अप्रकृत वस्तु के रूप का अनुकरणहेतु विद्यमान रहने पर भी अननुकरण जिसमें हो वह [प्रकृत पदार्थ] अतद्गुण।' इस पक्ष में व्युत्पत्ति होगी 'तद् = उस अप्रकृत वस्तु के गुण इसमें नहीं हैं [ऐसी प्रकृत वस्तु]। दोनों के क्रमशः उदाहरण =

'धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम्।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्तोऽसि ॥'

हे सुन्दर! तुम धवल वर्ण के हो तथापि तुमने मेरा हृदय रक्त [लाल और अनुरागयुक्त] कर दिया है। तुम स्वयं मेरे रागपूर्ण हृदय में निहित हो तब भी रक्त नहीं हो।'

हे त्रिवेणी के राजहंस! गङ्गा का जल सफेद है यमुना कज्जलाभ श्याम! तुम दोनों में गोता लगाते हो, परन्तु तुम्हारी शुभ्रता वही की वही है, न वह बढ़ती न घटती।"

[इन उदाहरणों में] प्रथम में अत्यन्त रक्त हृदय के संपर्क से धवलशब्द से कथित नायक में रक्तता आनी चाहिए परन्तु वह न आ सकी अतः अतद्गुण हुआ और दूसरे में गङ्गा यमुना में जल रूपी अप्राकरणिक पदार्थ के संपर्क रहने पर भी उनका सा रूप [हंस में] नहीं बतलाया गया अतः यह भी अतद्गुण ही हुआ। 'धवलोऽसि'—यह जो कथन है वह तद्गुण—रूप ही है। यहाँ कार्यकारणभाव की विवक्षा नहीं रहती अतः विशेषोक्ति [और विषमाऽलङ्कार—] की प्राप्ति यहाँ सम्भव नहीं है॥'

विमर्शिनी

सतीत्यादि। तद्विपर्ययेति। तत्र हि प्रत्यासत्त्यान्यगुणग्रहणमुक्तम्। इह तु योग्यतायामपि न तद्ग्रहणम्। प्रत्यासत्त्येति। विप्रकृष्टस्य ह्यन्यगुणस्वीकारानुपपत्तिः। यदा त्वेतन्न भवति तदायमलंकार इत्याह—यदेत्यादि। उत्कृष्टगुणस्येत्यनेन व्याख्यान्तरे द्वयोरपि गुणत्वं सूचितम्। एवं च प्राप्तेऽप्यन्यगुणस्वीकारे तदभावोऽयमलंकारः। यदुक्तम्—'तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत्स्यादतद्गुणः' इति। अस्मिन्निति। न्यूनगुणे। यद्वेति पक्षान्तरे। अप्रकृतस्येति। अननुहरणीयगुणस्यान्यस्य। तदेवं व्याख्यानद्वयेनास्य प्रकारद्वयं दर्शितम्, अननुहरणाख्यस्य सामान्यस्यानुगमात्। अतिरिक्तत्वेनाप्युत्कृष्टगुणत्वं हृदयस्य दर्शितम्।

अयमपीति। समानगुणत्वेनापीत्यर्थः। 'धवलोसीत तत्तद्गुण' एवेति ग्रन्थकदेशस्तु क्वचित्लेखकैः कल्पित इत्युपेक्ष्य एव पुस्तकान्तरेष्वत्यादृष्टेः। न च गाथाव्याख्यानं प्रस्तुतं येनात्रालंकारान्तरस्यापि व्याख्यानं स्यात्। नाप्यत्र तद्गुणः। तस्य हि स्वगुणत्यागे नाप्यन्यगुणस्वीकारो लक्षणम्। न चात्र स्वगुणत्यागो नाप्यन्यगुणस्वीकारः। तस्य धवलत्वाव्यभिचारात्। किं त्वत्र कारणाभावेऽपि कार्योत्पादनाद्विभावना, न तु विरूपकार्योत्पत्त्या विषमालंकारः। तत्र हि कार्यकारणयोर्विरूपत्वेऽप्यबाध्यमानतया प्रतीतिः। इह त्वेकस्य बाध्यमानतयेति महानन्तयोर्भेदः। नन्वत्र सत्यपि कारणसामग्र्येऽन्यगुणानुदाहरणरूपस्य कार्यस्यानुत्पत्तेः किमयं विशेषोक्तिरेव न भवतीत्याशङ्क्याह—कार्यत्यादि। अविवक्षणादिति। वस्तुतस्तु संभवत्येव कार्यकारणभावः। अत एवालंकारसारकृता विशेषोक्तयन्तर्भाव एवोक्तः। ग्रन्थकृता तु प्राच्यानुरोधात्पृथक्तिः। 'विषमालंकार—' इति पाठस्तु पुस्तकान्तरेषु स्थितोऽप्ययुक्तः। न हि कार्यकारणभावविरूपतामात्रेणात्र सत्त्वं स्यादुचेन सन्निवेशेन तस्यानवकाशः। तस्य हि विरूपस्य कार्यस्यानर्थस्योत्पत्तिश्च लक्षणम्।

सतीत्यादि। तद्विपर्ययेति—उस तद्गुण का उलटा = उसमें सन्निध्य के कारण अन्य के गुण का ग्रहण बतलाया गया है, जब कि यहाँ योग्यता रहने पर भी उसके [अन्य के] गुण का ग्रहण नहीं बतलाया जाता। प्रत्यासत्त्या = सन्निधि = जो दूरवर्ती होगा उसके गुण का ग्रहण संभव नहीं होगा। 'जब यह [अन्य के गुण का ग्रहण] नहीं होता तब यह अलंकार होता है' यह बतलाते हैं—यद्वा०। उत्कृष्टगुणस्य इसकी दूसरी व्याख्या में दोनों का गुणत्व [अप्रधानत्व और केवल गुणों का प्रधानत्व] बतलाया। इस प्रकार अन्य के गुण का स्वीकार करना प्राप्त होने पर भी वैसा न होना यह अलंकार है। जैसा कि [मम्मट ने] कहा है—'इस [प्रस्तुत] के द्वारा उस [अप्रस्तुत] के गुण का अनुकरण न हो तो अतद्गुण'। अस्मिन् = इसमें अर्थात् न्यूनगुणवाले पदार्थ में। यद्वा = यह अन्य पक्ष उपस्थित करने के लिये कहा। अप्रकृतस्य = जिसके गुणों का अनुकरण नहीं करना होता उस अन्य वस्तु का। इस प्रकार दो व्याख्याओं द्वारा इस अलंकार के दो भेद दिखलाये। इन दोनों में अननुहरणीयतारूपी गुण समानरूप से रहता है। अतिरिक्त बतलाकर हृदय में उत्कृष्टगुणत्व बतलाया। अयमपि = यह भी गुणगत समानता के आधार पर भी। 'धवलोऽसि यह भी तद्गुण ही है' यह जो अंश है इसे लिपिकारों ने कहीं-कहीं जोड़ दिया है, यह सर्वथा त्याज्य है, क्योंकि अन्य प्रतियों में यह नहीं मिलता। यहाँ इस गाथा की व्याख्या तो की जा नहीं रही कि उसमें अन्य अलंकार भी व्याख्या की जाए। फिर यहाँ तद्गुण है भी नहीं। उसका तो लक्षण 'अपना गुण त्याग कर अन्य के गुण को अपनाना' है। और यहाँ न तो अपने गुण का त्याग है और न अन्य के गुण का अपनाना। वैसा होता तो नायक में धवलत्व न रहता। यहाँ तो कारण का अभाव रहने पर भी कार्य की उत्पत्ति दिखलाने से विभावना है, न कि विपरीत रूप वाले कार्य की उत्पत्ति [धवल से रक्तत्व की उत्पत्ति] के कारण विषमालंकार। उसमें तो कार्य और कारण में रूपगत विपरीतता रहने पर भी उन दोनों की प्रतीति अबाधित रूप से ही होती रहती है। जबकि यहाँ एक बाधित रूप से प्रतीत होता है। इस प्रकार इन दोनों [विषम और विभावना] में महान् अन्तर है। 'यदि यहाँ सारे कारण उपस्थित रहने पर भी अन्य के गुण का अनुकरणरूपी कार्य उत्पन्न नहीं होता तो इसे विशेषोक्ति क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—'कार्य'—इत्यादि। अविवक्षणात् = विवक्षा भर नहीं रहती, वस्तुतः तो कार्यकारणभाव रहता ही है। इसीलिए अलंकारसारकार ने इसका विशेषोक्ति में अन्तर्भाव ही दिखलाया है। ग्रन्थकार ने प्राचीन

आलंकारिकों [मम्मट] के अनुरोध पर इसे अलग दिखलाया है। [विशेषोक्त्यलङ्कार' के स्थान पर] 'विषमालङ्कार' यह पाठ तो, अन्य पुस्तकों में मिलने पर भी यहाँ गलत है। कार्यकारणभाव की विवक्षाभाव से यहाँ विषमालङ्कारत्व नहीं हो सकता जिससे कि उस [कार्यकारणभाव] के निषेध से उस [विषम] को स्थान न मिले। उसका लक्षण तो 'विपरीत रूप वाले कार्य की और अनर्थ की उत्पत्ति लक्षण है'

विमर्श— ग्रन्थ समाप्ति के समीप है अतः कदाचित् टीकाकार भी थक गए हैं और सम्पादक भी। टीकाकार अतद्गुण की दो व्याख्याओं में भेद बिना दिखलाए आगे बढ़ जाते हैं, और विषमालंकार पाठ को प्रौढिवाद द्वारा असंगत बतला विशेषोक्ति पाठ का समर्थन करते हैं। संपादन में भी यहाँ अशुद्धियों की भरमार है। दोनों प्रकारों का अन्तर पण्डितराज जगन्नाथ ने इस प्रकार बतलाया है—

'अत्र गुणाग्राहकापेक्षया सन्निहितस्य गुणवत उत्कृष्टत्व-समत्वाभ्यां द्वैविध्यम्' इति सर्वस्वकारः। तत्रायमाशयः अपकृष्ट-सम्बन्धि-गुणग्रहणस्य साहजिकत्वेन वैचित्र्यानाधायकत्वादनलङ्कारत्वे-वैरस्यकृत्वेन तृतीयविधा तु न सम्भवति।

'गुण ग्रहण न करने वाले पदार्थ की अपेक्षा सन्निहित पदार्थ में उत्कृष्टता और समता को लेकर अतद्गुण में दो भेद होते हैं। अपकृष्ट के गुण का ग्रहण न करना तो लौकिक तथ्य है अतः उसमें विच्छित्ति न रहने से वह अलंकारत्वशून्य ही है अतः अपकृष्ट के गुण के अग्रहण में तीसरा प्रकार नहीं माना जा सकता। 'धवलोऽसि'-गाथा में हृदय राग को लेकर उत्कृष्ट है, जब कि 'गाङ्गमम्बु' पद्य में राजहंस गङ्गाजल को लेकर समान।

विशेषोक्ति में अतद्गुण के अन्तर्भाव का जो कल्प विमर्शिनीकार ने उपस्थित किया है। उनके पूर्व रत्नाकरकार ने उसी को सिद्धान्त माना था। उन्होंने लिखा था—

'हेतौ सत्यपि नान्यस्य गुणानुहरणं यदि।
विशेषोक्तिरसाविष्टा न वाच्योऽपि ह्यतद्गुणः॥ [तद्गुणान्त]

हेतु के रहने पर भी यदि अन्य के गुण का अनुहरण नहीं रहता तो यह विशेषोक्ति होगी। अतः [सामान्य के समान] अतद्गुण को भी अलंकार नहीं मानना चाहिए। रत्नाकरकार ने अतद्गुण का कोई लक्षण नहीं भी किया। पण्डितराज ने भी इसे विशेषोक्ति में अन्तर्भूत मानने की कल्पना का दूरगामी समर्थन कर दिया है। यह विकल्प विश्वेश्वर की पुराणप्रथा से भी टकराया है।

विमर्शिनीकार ने यहाँ विभावना की पुरजोर पहल की है। यूं तो विशेषोक्ति की पहल भी की जा सकती है, क्योंकि ये दोनों अलंकार एक दूसरे के द्वारा व्यङ्ग्य होते हैं। जहाँ विभावना वाच्य होती है वहाँ विशेषोक्ति व्यङ्ग्य होती है और जहाँ वह वाच्य होती है वहाँ विभावना। विमर्शिनीकार ने यहाँ विषमालंकार की भी चर्चा की है और अन्ततः यह कहा है कि इसके स्थान पर विशेषोक्ति पाठ होना चाहिए। सञ्जीविनीकार ने भी विशेषोक्ति ही पाठ माना है। वस्तुतः विशेषोक्ति पाठ ही उचित है, क्योंकि यह समग्र अतद्गुण के लिए उठाई गई आपत्ति है अतः अधिक व्यापक और आवश्यक है। विषमालंकार का प्रश्न केवल 'धवलोऽसि०' पद्य के पूर्वार्धगत सीमित है। उसमें कारण धवल है और कार्य रक्त अतः 'सद्यःकरस्पर्श०' के समान विषम हो है। यद्यपि इसके खण्डन के लिए विमर्शिनीकार ने जो तर्क दिया है वह अपुष्ट है। विषम के समर्थन में यह कहा जा सकता है कि केवल कार्यगत गुणविपरीतता से ही विषमत्व निष्पन्न नहीं हो जाता उसके कार्यकारणभाव की भी विवक्षा अपेक्षित है जो इस पूर्वार्द्ध में नहीं है। वस्तुतः

विषम का यह विचार यहाँ अनावश्यक है क्योंकि इसका संबन्ध पूर्वार्ध से है, उत्तरार्ध से नहीं, जब कि यहाँ अतद्गुण के लिए 'धवलोऽसि' गाथा का उत्तरार्ध ही उदाहरण माना गया है। मम्मट ने भी इसके उत्तरार्ध को ही उदाहरण माना है।

इतिहास—अतद्गुण की कल्पना मम्मट ने ही की है। उनका लक्षण विमर्शिनीकार ने दे दिया है और उदाहरण सर्वस्वकार ने ही उद्धृत कर दिए हैं। रत्नाकरकार का मत दिया ही जा चुका है।

अप्पयदीक्षित—'संगतान्यगुणानङ्गीकारमाहुरतद्गुणम्।
चिरं रागिणि मच्चित्ते निहितोऽपि न रञ्जसि॥'

अन्य सम्बद्ध के गुण का अंगीकार न करने को अतद्गुण कहा है। उदाहरण, मेरे रागपूर्ण चित्त में चिरकाल तक निहित रहकर भी तुम रक्त नहीं हुए।' अप्पयदीक्षित ने भी दबे स्वर में अतद्गुण को विशेषोक्ति रूप मान लिया है।

पण्डितराज—स्वगुणत्यागपूर्वकं स्वसन्निहितवस्त्वन्तरसम्बन्धिगुणग्रहणं तद्गुणः, तद्विपर्ययो-ऽतद्गुणः। = 'तद्गुण का उलटा अतद्गुण।' इस प्रकार अतद्गुण का लक्षण कर इसे विशेषोक्ति में अन्तर्भूत मानने की संभावना पर विचार करते हैं और कोई समर्थक समाधान नहीं दे पाते। उनका कहना है कि अतद्गुण में भी कार्यकारणभाव की विवक्षा रहती है इसका प्रमाण है इसके लक्षण में 'अपि = भी' शब्द, जो विरोध का ज्ञापक है। बिना कार्यकारणभाव के विरोध संभव नहीं।

विश्वेश्वर='अन्यगुणासम्बन्धे प्रकृतस्यातद्गुणः प्रोक्तः।'

अन्य के गुण का प्रकृत के साथ सम्बन्ध न बतलाने में अतद्गुण होता है। इसी को वे वृत्ति के रूप में इस प्रकार कहते हैं—'स्वनिष्ठगुणस्यान्यगुणनिष्ठप्रतिबन्धकतानिरूपितप्रतिबध्यता-नाश्रयत्वेऽतद्गुणः।'

विश्वेश्वर पण्डितराज के उक्त तर्क का समाधान इस प्रकार देते हैं—'कारणसत्वे कार्यानु-त्पत्तिसाम्येऽपि यन्नाभावप्रतियोगितावच्छेदकस्य तद्धर्मावच्छिन्न-कारणतावच्छेदक-प्रतियोगि-कार्यतावच्छेदकत्वं विवक्षितं तत्र विशेषोक्तिः, यत्र त्वभावप्रतियोगिनस्तन्निष्ठकारणतानिरूपित-कार्यताशालित्वं तत्रातद्गुण इति विभागात्।'

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका अतद्गुण पर इस प्रकार है—

'तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः।'

पाठान्तर—'धवलोऽसीति तत्तद्गुण एव' इस पंक्ति को विमर्शिनीकार प्रक्षिप्त मानते हैं। संजीविनीकार इसे 'धवलोऽसीत्यतद्गुणः' इस रूप में पढ़ते हैं। वस्तुतः यह अनावश्यक ही है। इस पर संजीविनीकार के तर्क मान्य हैं।

[सर्वस्व]

[सू० ७५] उत्तरात् प्रश्नोन्नयनमसकृदसंभाव्यमुत्तरं चोत्तरम्।

यत्रानुपनिबध्यमानोऽपि प्रश्न उपनिबध्यमानादुत्तरादुन्नीयते, तदे-कमुत्तरम्। न चेदमनुमानम्। पक्षधर्मतादेरनुद्देशात्। यत्र च प्रश्न-पूर्वकमसंभावनीयमुत्तरं, तत्र न सकृत् तावन्मात्रेण चारुत्वाप्रतीतेः। अत-

श्चासकृन्निबन्धे द्वितीयमुत्तरम्। न चेयं परिसंख्या व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदकपरत्वाभावात्। क्रमेण यथा—

'एकाकिनी यदबला तरुणी तथाह-
मस्मद्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
कं याचसे तदिह वासमियं वराकी
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ ॥'

'का विसमा देव्वगई किं लद्ध जं जणो गुणग्गाही।
किं सोक्खं सुकलत्तं किं दुक्खं जं खलो लोओ ।'

एवमत्र मम वासो दीयतामिति प्रश्न उत्तरादुन्नीयते। उत्तरत्र दैवगत्यादिनिगूढत्वादसंभाव्यमसकृत्प्रश्नपूर्वकमुत्तरं निबद्धम्।

[सूत्र ७५] उत्तर से प्रश्न की कल्पना तथा असमाव्य अनेक उत्तर उत्तर [नामक अलङ्कार कहलाते हैं] ॥

[वृत्ति] जिस [प्रकार] में प्रश्न कहा तो नहीं जाता परन्तु कहे गए उत्तर से उसकी कल्पना कर ली जाती है वह एक प्रकार का उत्तरालङ्कार हुआ। यह अनुमान नहीं होता क्योंकि इसमें [अनुमान के लिए अपेक्षित] पक्षधर्मता आदि [अनुमानसामग्री] नहीं रहती। इसी प्रकार प्रश्न करते हुए उसका असमाव्य उत्तर दिया जाता है, किन्तु केवल एक बार नहीं, क्योंकि इतने से चारुता निष्पन्न नहीं होती, अतः अनेक बार वैसा किया जाता है तो वह उत्तरालंकार का दूसरा प्रकार होता है। यह परिसंख्या नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ व्यवच्छेद्यव्यवच्छेदक भाव में तात्पर्य नहीं रहता। क्रम से उदाहरण, यथा—[प्रश्न से उत्तर की कल्पना]

'मैं घर में अकेली हूँ, अबला हूँ और नई उमर की हूँ। घरवाला विदेश चला गया है। यह बिचारी सास अन्धी और बहरी है। अतः निवास की याचना किससे कर रहे हो। पथिक तुम बड़े नासमझ हो।'

'का विषमा दैवगतिः किं लभ्यं यज्जनो गुणग्राही।
किं सौख्यं सुकलत्रं किं दुःखं यत् खलो लोकः' ॥

—'विषम क्या है, दैवगति, प्राप्त करने योग्य वस्तु क्या है, गुणग्राही जन; सौख्य क्या है, शोभन पत्नी, दुःख क्या है, खल लोग।'

इनमें से प्रथम में 'मुझे रहने का स्थान दो' यह प्रश्न उत्तरवाक्य से निकलता है। दूसरे में दैवगति आदि उत्तर, जो निगूढ होने के कारण असमाव्य है, प्रश्नपूर्वक अनेक बार उपनिबद्ध किया गया है ॥'

विमर्शिनी

उत्तरादित्यादि। उन्नीयत इति। प्रश्नरूपत्वेन संभाव्यत इत्यर्थः। ननु चाप्रतीतस्य प्रत्यायनात्किमिदमनुमानं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेदमित्यादि। असंभावनीयमिति। कविप्रतिभानिर्वर्तितमित्यर्थः। तदिति। प्रश्नपूर्वकमुत्तरम्। एवं प्रश्नस्याप्यसकृदेवोपनिबन्धो न्याय्यः। अनन्चेति। सकृदुत्तरस्य चारुत्वाप्रतीतेः। एवं समानन्यायत्वात्पूर्वत्राप्यनुपनिबध्यमानप्रश्नापूरकमुत्तरं न सकृत्, तावन्मात्रेण चारुत्वाप्रतीतेरित्याश्रयणीयम्। ननु च प्रश्नोत्तररूपत्वादियं परिसंख्यैव किं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेयमित्यादि।

एतच्चोत्तराख्यमलंकारद्वयम्। न पुनरेकः, सामान्यलक्षणायोगात्। एतच्चोदाहरणद्वयं ग्रन्थकृता प्राच्यमतानुरोधेन दत्तम्। वस्तुतस्त्वत्र नास्त्येतदलंकारद्वयम्। अत एवैतावत्तालंकारसारकारादिभिरेतदलंकारद्वयमपास्तम्। न च तद्युक्तम्, लक्षणदोषाभावात्। उदाहरणान्तरेष्वस्य प्रतिष्ठानात्। तत्तु यथा—

> 'भिक्षो कन्था श्लथा किं ननु शफरवधे जालिकैर्यासि मत्स्यान्
> मध्येमद्यावदंशं पिबसि मधु समं वेश्यया यासि वेश्याम्।
> द्वत्वारीन्किं करिष्ये कति तव रिपवः संधिमेत्तास्मि येषां
> चोरस्त्वं द्यूतहेतोः कथमसि कितवो येन भिक्षुर्नमस्ते॥'

अत्र हि शफरबन्धजालिकैर्येत्युत्तरान्मत्स्यादनरूपस्य प्रश्नस्योन्नयनम्। एवमन्यदपि ज्ञेयम्। 'येन दासीसुतोऽस्मि' इति पुनः पाठो ग्राह्यः। दासीसुतत्वे कितवस्य निमित्तत्वाभावात्। प्रश्नोत्तरोन्नयनस्यासमाप्तेः साकाङ्क्षत्वाद्वाक्यार्थस्याविश्रान्तेः। द्वितीयो यथा—

> 'पुंसः संबोधनं किं विदधति करिणां के रुचोऽङ्गेर्भिपर्विक
> का शून्या ते रिपूणां नरवर नरकं कोऽवधीत्क्रीडनं किम्।
> के वा वर्षासु न स्युस्तृणमिव हरिणा किं नगाग्रैर्विभिन्नं
> विन्ध्याद्रौ पर्यटन्को विघटयति तनूर्नर्मदावारिपूरः॥'

'नर्मदावारिपूरः' इति सभङ्गाभङ्गश्लेषेन त्रिरुत्तरम्। अत्र च यथोक्तमनुमानपरिसंख्यावैलक्षण्यं सुस्पष्टमेवेति ग्रन्थविस्तरभयान्नोक्तमिति॥

उत्तरात् इत्यादि। उन्नीयते = कल्पना = प्रश्नरूप से संभावित किया जाता है। 'अज्ञात का ज्ञान कराने से यह अनुमान क्यों नहीं मान लिया जाता'—ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—'नचेदम्०' इत्यादि। असंभवनीयम् = असंभाव्य = कविप्रतिभाप्रसूत। तत् = वह = प्रश्नपूर्वक उत्तर। इस प्रकार प्रश्न भी अनेक बार उपस्थित करने होंगे। असकृत् = एक बार उत्तर में चारुता की प्रतीति न होने से। इसी प्रकार प्रथम प्रकार में भी जिसमें अनुपनिबद्ध प्रश्न की कल्पना रहती है, यह मान लेना चाहिए कि उत्तर एक ही बार नहीं होना चाहिए, क्योंकि वहाँ भी इतने भर से चारुता की प्रतीति नहीं होती। [यह विमर्शिनीकार का अपना प्रौढिवाद है, मम्मट आदि ऐसा नहीं मानते, न तो स्वयं सर्वस्वकार की ही वैसी कोई मान्यता है]। यहाँ 'प्रश्न और उत्तर रहते हैं अतः इसे परिसंख्या क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका उठाकर कहते हैं—न चेयम्०।

उत्तरनामक ये दो अलंकार हैं, एक नहीं, क्योंकि इनमें कोई सामान्य लक्षण नहीं बनता। ये जो दो उदाहरण ग्रन्थकार ने दिए हैं ये भी प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से दिए हैं। वस्तुतः इनमें ये दोनों उत्तर अलंकार नहीं हैं। इसीलिए अलंकारसारकार आदि ने इन दोनों अलंकारों को हटा दिया है। किन्तु उनका ऐसा करना ठीक नहीं है क्योंकि एक तो इनके लक्षणों में कोई दोष नहीं है दूसरे अन्य उदाहरणों में ये स्पष्ट प्रतिष्ठित मिलते हैं। अन्य उदाहरण, यथा—

भिक्षो! तुम्हारी कथड़ी चिन्थकचिन्था क्यों हो गई? यह तो मछली मारने का जाल है। हैं, मछली खाते हो! हाँ हाँ मद्य के बीच खारे नमकीन के रूप में। मधु भी पीते हो? हाँ हाँ वेश्याओं के साथ। अरे वेश्या के पास भी जाते हो? शत्रुओं को मारकर और करूँगा ही क्या? कितने है तुम्हारे शत्रु? वे सब जिनके घर में मैंने सेंध लगाई हैं। तुम चोर भी हो? जूएँ के लिए। क्यों जी तुम जुआड़ी भी हो। इसी से तो भिक्षु हूँ। तुम्हें नमस्कार है।'

यहाँ 'यह मछली मारने का जाल है' इस प्रकार के उत्तर से 'मछली खाते हो'-इस प्रकार का प्रश्न निकलता है। इसी प्रकार आगे भी [अन्य उत्तरों से असंभावित प्रश्न निकलते हैं]। यहाँ [चतुर्थ चरण के अन्त में] 'येन दासीसुतोऽस्मि' = क्योंकि वेश्यापुत्र हूँ [दासी = वेश्या या चेटी]' यह पाठ अपनाना चाहिए, क्योंकि वेश्यापुत्रत्व के प्रति जुआडीपने में कारणता नहीं है। साथ ही इस पाठ से प्रश्न और उत्तरकल्पना समाप्तिपर्यन्त बने रहते हैं अतः वाक्यार्थ बैठ नहीं पाता [अर्थात् 'क्या तेरा बाप भी वेश्यागामी था' यह प्रश्न इस पाठ से जागता है और वहाँ वाक्य समाप्त हो जाता है फलत उसका उत्तर नहीं मिलता]। दूसरे का उदाहरण, यथा—

प्रश्न	उत्तर
पुरुष का संबोधन क्या है	[नः = नृशब्द का संबोधन]
हाथियों की शोभा कौन उत्पन्न करते हैं	[मदाः = मदजल]
अग्नि का वैद्य कौन	[वारि = जल]
हे नरश्रेष्ठ आपके शत्रुओं की क्या चीज खाती है	[पूः = नगरी]
नरकासुर को किसने मारा था	[अ = विष्णु]
क्रीडन क्या है	[नर्म = हँसी मजाक]
वर्षा में क्या नहीं होते	[दावाः = दावानल]
[नृसिंहावतारी] विष्णु ने नखाग्रों से तृणवत् किसे फाड डाला	[रिपुरः = शत्रु = हिरण्यकशिपु का वक्ष]
विन्ध्याद्रि में घूमता हुआ कौन अपना शरीर छिन्न भिन्न करता है	[नर्मदावारिपूरः = नर्मदाजी का प्रवाह]

इसमें 'नर्मदावारिपूर' शब्द ही समङ्ग और अभङ्ग रूप में [उपर्युक्त क्रम से] तीन बार उत्तर बनता है। [इस पद्य में कुछ विद्वान् 'भिषक्' के स्थान पर 'विष' पाठ मानना चाहते हैं, वृद्धस्य तरुणी विषम्' के समान] ग्रन्थकार ने अनुमान और परिसंख्या से उत्तरालंकार का जो भेद बतलाया है वह उक्त स्थलों में भी स्पष्ट ही है। हम उसे ग्रन्थविस्तारभय से पुनः नहीं कह रहे हैं ॥'

इतिहास—उत्तरालंकार को दोनों विधाओं की खोज प्रथमतः रुद्रट ने की है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

रुद्रट—'उत्तरवचनश्रवणादुन्नयनं यत्र पूर्ववचनानाम्।
क्रियते तदुत्तरं स्यात् प्रश्नादप्युत्तरं यत्र ॥ ७।९३ ॥

जिसमें उत्तर सुन कर प्रश्न की कल्पना की जाए, वह अलंकार उत्तर नाम से पुकारा जाता है इसी प्रकार जिसमें प्रश्न से उत्तर निकलता है वह भी ॥

'एकाकिनी यदबला०' पद्य में रुद्रट ने भावालंकार माना है। उत्तर के लिए उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं—

प्रथम का उदाहरण = 'मण मानमन्यथा मे भ्रुकुटिं मौनं विधातुमहमसहा।
शक्नोमि तस्य पुरतः सखि न खलु पराङ्मुखीभवितुम्' ॥

सखि! मुझे मान का उपदेश दे। वैसे तो मैं भौं को मौन रखने में असमर्थ हूँ। सखि! मैं उसके सामने पराङ्मुख हो नहीं पाती हूँ ॥'

द्वितीय का उदाहरण = 'किं स्वर्गादधिकसुखं बन्धुसुहृत्पण्डिते समं लक्ष्मीः।
सौराज्यमदुर्भिक्षं सत्काव्यरसामृतास्वादः' ॥

स्वर्ग से अधिक सुख की वस्तु क्या है ? बन्धुबान्धव, मित्र तथा पण्डितों के साथ साथ धन, दुर्भिक्षरहित सौराज्य क्या है ? उत्तम काव्य के रसरूपी अमृत का आस्वाद ।।'

रुद्रट ने द्वितीय उदाहरण में उत्तरगत असंभाव्यता को स्थान नहीं दिया था, साथ ही प्रश्नगत अनेकता को भी। मम्मट ने असंभाव्यता को स्थान दिया है—

[१] 'उत्तरश्रुतिमात्रतः, प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते,

[२] तत्र वा सति, असकृद् यदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात् तदुत्तरम् ।

[१] केवल उत्तर सुनकर जहाँ प्रश्न की कल्पना की जाए,

[२] अथवा प्रश्न रहे परन्तु उसके अनेक असंभाव्य उत्तर प्रस्तुत किए जाएं तो वह अलंकार उत्तर कहलाता है। प्रथम का जो उदाहरण मम्मट ने दिया है 'वाणिजक हस्तिदन्ताः०' उसकी अभिव्यक्ति रुद्रट के प्रथम उदाहरण से गतार्थ है। द्वितीय के उत्तर में अन्तर है। इसके लिए रुद्रट के उदाहरण में प्रश्न केवल एक ही बार आया था। मम्मट ने इसका ऐसा उदाहरण दिया जिसमें प्रश्न भी अनेक बार आता है यद्यपि उन्होंने प्रश्नगत अनेकता को कारिका में ठीक वैसे ही स्थान नहीं दिया है जैसे उनके अनुयायी सर्वस्वकार ने। इस द्वितीय उत्तर के लिए मम्मट का उदाहरण 'का विषमा०' ही है। विमर्शिनीकार ने इस उदाहरण की रुद्रट के उदाहरण से तुलना करके ही कदाचित् यह पक्ष प्रस्तुत किया है कि द्वितीय उत्तर में प्रश्न भी अनेक होने चाहिए। यद्यपि विमर्शिनीकार की यह कल्पना अधिक उत्तम नहीं है कि उत्तर के प्रथम प्रकार में भी प्रश्न की कल्पना कराने वाला उत्तर एक ही नहीं होना चाहिए। यह मान्यता उनके अपने उदाहरण [भिक्षो कन्थाः] के लिए ही उपयुक्त है, जो अवश्यमेव आदरणीय है।

रत्नाकरकार—'विमर्शिनी के अनुसार अलंकारसारकार ने उत्तरालंकार को अलंकार नहीं माना है। अलंकाररत्नाकरकार भी इसे अलंकार नहीं मानते। नियमनामक एक स्वतन्त्र अलंकार परिसंख्या के प्रकरण में मानकर उन्होंने उत्तरालंकार को उसी में अन्तर्भूत बतलाया है। परिसंख्याप्रकरण में नियम के विषय में बतलाया जा चुका है कि इसमें किसी भी वस्तु का निर्धारणात्मक ज्ञापन रहता है। 'व्रीहीनवहन्ति' = धान कूटता है, में अन्य प्रकार से चावल निकालने का निराकरण कर केवल 'कूटने' के द्वारा ही चावल निकालने का निर्धारण करना है। रत्नाकरकार 'का विषमा दैवगतिः'—पद्य में दैवगतिमत्त्वेन विषमत्व का निर्धारण मानते हैं और उत्तरालंकार के स्थान पर नियमालंकार को ही मान लेना पर्याप्त बतलाते हैं। मम्मट द्वारा प्रदत्त 'वाणिजक हस्ति०' पद्य में वे अलंकारत्व ही नहीं मानते। अलंकाररत्नाकर में उनका कहना है—

अवश्यवाच्ये नियमे प्रश्नपूर्वकमुत्तरम् ।
अन्तर्भूतमतो ह्यन्यद् वक्तव्यं न तदुत्तरम् ॥
ज्ञातज्ञापनरूपा या परिसंख्येति तत्र न ।
प्रश्नपूर्वकता युक्ता तेनात्र नियमः स्फुटः ॥'

जब नियमालंकार को मानना आवश्यक है तब उत्तर को पृथक् अलंकार नहीं कहना चाहिए। प्रश्नपूर्वक उत्तर का अन्तर्भाव इसी में हो जाता है। नियम को परिसंख्या से अलग मानना इस लिए आवश्यक है कि परिसंख्या का जो ज्ञातज्ञापन रूप है उसमें प्रश्न का कथन अनिवार्य नहीं रहता।

जो आचार्य प्रश्नपूर्वक परिसंख्या को परिसंख्या ही मानते हैं नियम नहीं उनके मत में इसका अन्तर्भाव परिसंख्या में बतलाया जा सकता है। सर्वस्वकार का उत्तर है कि परिसंख्या में तात्पर्य अन्यव्यपोह में रहता है और प्रश्नपूर्वक उत्तर में अन्यव्यपोह नहीं रहता। नियम में

भी अन्यव्यपोह नहीं रहता। नियम में भी अन्यव्यपोह आवश्यक होता है यद्यपि इसमें तात्पर्य केवल अन्यव्यपोह में ही नहीं रहता, अतः सर्वस्वकार के अनुसार नियम में भी उत्तर का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता। विमर्शिनीकार ने नए उदाहरण देकर इस प्रकार की शंकाओं का कोई स्थान नहीं रहने दिया।

अप्पयदीक्षित—विमर्शिनीकार की नवीन स्थापना का प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर पड़ा। अप्पयदीक्षित ने उन दोनों भेदों को अपना लिया किन्तु रुद्रट और मम्मट द्वारा प्रतिपादित उत्तर से प्रश्न की कल्पना के प्रथम भेद को वे छोड़ नहीं सके जबकि विमर्शिनीकार ने रत्नाकरकार और अलंकारसारकार के ही समान उसके मोह का संवरण कर लिया था। अप्पयदीक्षित का उत्तरालंकारनिरूपण इस प्रकार है—

[१] 'किंचिदाकूतसहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्।
यत्रासौ वेतसी पान्थ तत्रासौ सुतरा सरित् ॥'

'किसी अभिप्राय को छिपाकर आए किसी गूढ़ उत्तर को उत्तरालंकार कहते हैं। उदा॰ पान्थ! नदी सुखपूर्वक वहाँ पार की जा सकती है जहाँ वेतसीकुंज है। स्वच्छन्दतापूर्वक रमणस्थल को मन में रखकर यह उत्तर दिया गया है। इससे पान्थ का प्रश्न भी निकल आता है। विमर्शिनीकार ने 'भिक्षो कन्था॰' पद्य द्वारा उत्तर से प्रश्न की उत्पत्ति और उसी की शृङ्खला का पक्ष प्रस्तुत किया था उसी सन्दर्भ में अप्पयदीक्षित ने एक मनोरम पद्य भी यहाँ उद्धृत किया—

"कुशलं तस्याः ? जीवति, कुशलं पृच्छामि, जीवतीत्युक्तम्।
पुनरपि तदेव कथयसि, मृतां नु कथयामि या श्वसिति ॥'

ईर्ष्या मान से संतप्त नायिका की अपने पास आई दूती और नायक के बीच प्रश्नोत्तर—'वह सकुशल तो है? जीवित है। मैं कुशल पूछ रहा हूँ? कहा तो कि जीवित है। फिर वही कह रही है? तो क्या मरी बतला दूँ अभी जिसकी साँस चल रही है। सखी कहना चाहती है कि 'बिना मरे उस बिचारी की कुशलता कैसी'। इसे अप्पयदीक्षित ने निबद्ध प्रश्नोत्तर नाम दिया है। विमर्शिनीकार के द्वितीय उदाहरण में जो सभङ्ग श्लेष की चर्चा है और जो एक शब्द समुदाय के अंश-अंश पर प्रश्न योजना मिलती है अप्पयदीक्षित ने उसे चित्रोत्तर नामक भेद माना है। चित्र इसलिए कि इसमें शब्द श्लेष रहता है। इसके लक्षण और उदाहरण कुवलयानन्द में इस प्रकार हैं—

प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते।
केदारपोषणरताः, के खेटाः किं चलं वयः ॥'

यहाँ उत्तर या तो प्रश्न से ही अभिन्न हो या अन्य किसी उत्तर से = उसे चित्रोत्तर कहते हैं। यथा—केदारपोषणरता में प्रश्न = के = कौन हैं क्या? दारपोषण रत = जो पत्नी के पोषण में लगे —उत्तर है केदार-पोषणरताः = क्यारियों पोसने में लगे अर्थात् किसान। यहाँ प्रश्न और उत्तर के शब्द अभिन्न हैं। एक उत्तर के दूसरे उत्तर से अभिन्न होने का उदाहरण है—'के खेटा' = कौन हैं आकाश में घूमने वाले, किं चलम् = क्या है चल? इन दो प्रश्नों का उत्तर एक ही है वयः = पक्षी और उमर। पक्षी आकाश में अटन करते हैं और उमर चल होती है। यहाँ 'वयः' इस उत्तर के भीतर एक उत्तर और छिपा है। अप्पयदीक्षित का कहना है ऐसे उदाहरण विदग्धमुखमण्डन में अनेक हैं। 'कस्यमान कृष्ण., का शीतलवाहिनी गङ्गा' आदि ऐसे ही वाक्य हैं।

पण्डितराज—जगन्नाथ ने भी उपर्युक्त सभी विधाओं को स्थान दिया है और उत्तरालंकार का विवेचन अप्पयदीक्षित तथा विमर्शिनीकार के ही अनुसार किया है। उनका सूत्र है।

'प्रश्नप्रतिबन्धकज्ञानविषयीभूतोऽर्थ उत्तरम्।'

'जिसके ज्ञान से जिज्ञासा शान्त हो वह अर्थ उत्तर कहलाता है।' जिज्ञासा और प्रश्न एक ही वस्तु है। जिज्ञासा ज्ञानविषयक इच्छा को कहते हैं। इच्छा वस्तुज्ञान के बिना नहीं होती। यह ज्ञान सामान्यात्मक होता है। इच्छा जिस ज्ञान के अर्जन के लिए होती है वह विशेषरूप होता है। इस प्रकार सामान्यतः ज्ञात वस्तु को विशेषतः जानने के लिए हुई इच्छा, जिसे प्रश्न कहते हैं, वस्तुनिष्ठ विशेष के ज्ञान से शान्त होती है। उत्तर द्वारा इसी विशेष का ज्ञापन कराया जाता है। उदाहरणार्थ यदि जिज्ञासा यह हो कि 'संसार में प्रधान देवता कौन है और उत्तर हो शिव' तो इसका अर्थ यह हुआ कि जिज्ञासा के समय शिव का ज्ञान देवता रूप में ही था शिव रूप में नहीं, अथवा प्रधानता का ज्ञान देवत्व के साथ था शिवत्व के साथ नहीं। उत्तर से वह शिवरूप से विदित हो जाता है या प्रधानत्व शिवत्व के साथ विदित हो जाता है।

पण्डितराज ने प्रथम उत्तर को उन्नीत प्रश्न और द्वितीय को निबद्धप्रश्न नाम दिए हैं। उनके अनुसार दोनों में प्रश्न और दोनों या दोनों में से एक, साभिप्राय या निरभिप्राय होते हैं, इस प्रकार इनमें से प्रत्येक के चार चार भेद हो जाते हैं। विमर्शिनीकार का मत पृथक् रूप से उपस्थित करते हुए उन्होंने 'भिक्षो कन्थाः' पद्य के अनुकरण पर जहाँगीर की स्तुति में 'श्यामं यज्ञोपवीतं किमिति०' पद्य बना दिया है। उन्होंने प्रश्नोत्तर की अनेकता वहीं आवश्यक बतलाई है जहाँ वे साभिप्राय न हों। चित्रोत्तर के लिए भी पण्डितराज ने अनेक प्रकारों की कल्पना की और उत्तरगर्भित प्रश्न का वामन के समान यह त्रिपाद उदाहरण बनाकर रसगंगाधर के ही समान अपना जीवन भी कदाचित् समाप्त कर दिया—

'किं कुर्वते दरिद्राः कासारवती धरा मनोज्ञतरा।
कोपावनस्त्रिलोक्याम्··· ··· ··· ··· ··· ··· ॥'

'दरिद्र क्या करते हैं किं कुर्वते = किंकरता = सेवा करते हैं। कौन भूमि सारवती और मनोज्ञतर होती है = कासार = तालाब वाली' त्रिलोकी में कौन अपावन है जो कोप की रक्षा करता है-। इस पद्य का तृतीय चरण यदि पण्डितराज के जीवन का अन्तिम शिल्प है तो यह बड़ी दुःख की बात है, क्योंकि यह चरण अर्थ की दृष्टि से दरिद्र है। एतदर्थ देखिए सागरिका ६।४ में प्रकाशित हमारा 'पण्डितराज-पद्यपूर्तिसंशोधनम्' नामक लेख।

विश्वेश्वर = 'उत्तर मात्राद् प्रश्नोन्नयने स्यादुत्तरं नाम।
प्रश्ने लोकाविदितोत्तरस्य तथासकृत् प्रोक्तौ ॥'

'उत्तर से प्रश्न की कल्पना तथा प्रश्न करने पर अप्रसिद्ध अनेक उत्तर उत्तरालंकार।' इस प्रकार उत्तर के लिए विश्वेश्वर मम्मट के ही अनुयायी हैं। यहाँ चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

'प्रश्नोद् उत्तरं तस्माद् गूढं चासकृदुत्तरम्।'

विमर्शिनी

अधुनालंकारान्तराणां लक्षणं कर्तुमुपक्रमते—इत इत्यादि।
अब अन्य अलंकारों का लक्षण करना आरम्भ करते हैं—

[सर्वस्व]

इतः प्रभृति गूढार्थप्रतीतिपरालंकारलक्षणम्—

[सू० ७६] संलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्।

इह सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यो योऽर्थः, स यदा कुशाग्रमतिभिरिङ्गि-

ताकाराभ्यां संलक्ष्यते तदा तस्य संलक्षितस्य विदग्धं प्रति प्रकाशनं सूक्ष्ममलंकारः। तत्रेङ्गिताद् यथा—

'संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥'

अत्र संकेतकालाभिप्रायो विटसंबन्धिना भ्रूक्षेपादिना इङ्गितेन लक्षितः रजनिकालभाविना लीलापद्मनिमीलनेन प्रकाशितः। आकाराद् यथा—

'वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख॥'

अत्र स्वेदबिन्दुकृतकुङ्कुमभेदरूपेणाकारेण संलक्षितं पुरुषायितं पाणौ पुरुषोचितखड्गधारालेखनेन प्रकाशितम्।

यहाँ से गूढार्थ ज्ञान परक अलंकारों के लक्षण करते हैं—

[सू० ७६] ताड़ लिए गए सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म [अलंकार कहलाता है]।

[वृ०] यहाँ जो पदार्थ सूक्ष्म अर्थात् स्थूलमति वाले व्यक्तियों द्वारा न जाना जाने योग्य रहता है, उसे जब कुशाग्रबुद्धि वाले व्यक्ति चेष्टा और आकार के आधार पर ताड़ लेते हैं, तब उस ताड़ लिए गए अर्थ का किसी चतुर व्यक्ति के प्रति जो प्रकाशन होता है उसीको सूक्ष्म नामक अलंकार कहा जाता है। इनमें से चेष्टा से ताड़ने का उदाहरण—

'चतुर वनिता ने विट को संकेत जानने के लिए उत्सुक देखा तो मुसकुराती आँखों में चाह भर कर अपना लीलाकमल मूंद दिया है।' यहाँ संकेतकाल का अभिप्राय विट की भ्रूविक्षेप आदि चेष्टाओं से ताड़ लिया गया है और रात्रिकाल में होने वाले लीलापद्मनिमीलन से उसे प्रकाशित कर दिया गया है। आकार से ताड़ने का उदाहरण—

'किसी सखी ने चेहरे पर से लगातार बह रहे पसीने से कण्ठ का कुंकुम फैला हुआ देखा तो तन्वी के पुरुषायित [विपरीत रमण] को व्यक्त करते हुए मुसकुरा कर हाथ पर खड्ग का चिह्न बना दिया।

यहाँ स्वेदबिन्दु द्वारा उत्पन्न कुंकुम के फैलाव रूपी आकार से विदित हुए पुरुषायित हाथ पर खड्ग बनाने के द्वारा प्रकाशित किया गया है, क्योंकि खड्ग पुरुषोचित वस्तु है॥

विमर्शिनी

एतदेव व्याचष्टे—इहेत्यादि। इङ्गिताकाराभ्यां सूक्ष्मार्थसंलक्षणादस्य भेदद्वयमप्युक्तम्। एवं संलक्षितस्यार्थस्य प्रकाशनमयमलंकार इत्यत्र तात्पर्यम्। [यदाहुः]

'कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते।
धर्मेण केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्मं परिचक्षते॥'

किं च—'यत्र कर्णोत्पलन्यस्तहस्ता दीपावलोकिनी।
दृष्ट्वा वधूः प्रियोपान्ते सखीभिः प्रतिमुच्यते॥'

इत्येतद्ग्रन्थप्रक्षिप्तालंकारोदाहरणमात्रं कुर्वन्नाप्यलंकारभाष्यकृता सूक्ष्मालंकारे यत्तदनुगुणमदाहृतं तत्रायमाशयः—यत्सूक्ष्मार्थस्य संलक्षणमात्रं प्रकाशनमात्रं वाच्यमेवालंकार इति। अत एवात्र सखीभिः सुरतोत्सुकत्वं संलक्षितम् कर्णोत्पलहस्तन्यासादिना

प्रकाशितमित्युभयार्थसहितत्वम्। तदेवमादौ सूक्ष्मालंकार एव वाच्यः। सूक्ष्मस्यैवार्थस्य संलक्ष्यमाणत्वादिनावस्थानात्॥

इसी सूत्र की व्याख्या करते हैं—**इह** इत्यादि। चेष्टा और आकार इन दो हेतुओं द्वारा सूक्ष्म अर्थ के जानने से इस अलंकार के दो भेद भी बतलाए। इस प्रकार तात्पर्य यह निकला कि 'जाने गए अर्थ का प्रकाशन ही इस अलंकार का स्वरूप है [जैसा कि मम्मट ने कहा है—]

'जिसमें, सूक्ष्म होने पर भी किसी भी कारण से जान लिया गया कोई अर्थ किसी धर्म के द्वारा किसी अन्य को बतलाया जाता है उसे सूक्ष्म कहते हैं।' और [अन्यत्र] इसी [सर्वस्व] ग्रन्थ के अनुसार अलंकारों के उदाहरण देते हुए भी सूक्ष्मालंकार के प्रकरण में अलंकार भाष्यकार [तथा रत्नाकरकार] ने जो—

'जहाँ सखियाँ कपोल पर हाथ रखकर दीप निहारती देख, वधू को प्रिय के पास छोड़ जाती हैं।' यह उनकी अपनी मान्यता के अनुरूप उदाहरण दिया है उससे उनका तात्पर्य यह है कि 'सूक्ष्म अर्थ का केवल जान लेना, या केवल प्रकाशित करना भी यही अलंकार है'। इसीलिए यहाँ जो सखियों द्वारा सुरतोत्सुकता जान ली गई है और जो कर्णोत्पल पर हाथ रखने आदि से उसे [वधू द्वारा सखियों के प्रति] प्रकाशित किया गया है इससे यहाँ दोनों प्रकार के अर्थ का होना बतलाया गया। इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में सूक्ष्मालंकार ही माना जाना चाहिए। क्योंकि इन सब में जान लिए गए रूप में सूक्ष्म अर्थ ही विद्यमान है। [अलंकारभाष्य के उपलब्ध न होने से मम्मटकारिका के बाद का यह टीकांश हमने जोड़ तोड़कर ही अनूदित किया है] ॥'

विमर्श—अलंकारभाष्य में कदाचित् केवल जान लेने को भी सूक्ष्म का अर्थ माना गया था। मम्मट, सर्वस्व और विमर्शिनी उससे विपरीत जाने गए अर्थ के प्रकाशन तक सूक्ष्म की व्याप्ति मानते हैं।

इतिहास=सूक्ष्मालंकार को जो रूप मम्मट की विमर्शिनी में उद्धृत कारिका तथा सर्वस्व में मिलता है उसकी खोज का श्रेय दण्डी को है। उन्होंने सूक्ष्म का जो लक्षण किया था मम्मट आदि ने उसी की पदावली पर अपना विवेचन खड़ा किया है। दण्डी का सूक्ष्म-विवेचन इस प्रकार है—

दण्डी='इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात् सूक्ष्म इति स्मृतः।
कदा नौ सङ्गमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम्।
अवेत्य कान्तमबला लीलापद्मं न्यमीलयत्॥
पद्मसंमीलनादत्र सूचितो निशि संगमः।
आश्वासयितुमिच्छन्त्या प्रियमङ्गजपीडितम्॥
मदर्पितदृशस्तस्या गीतगोष्ठ्यामवर्धत।
उद्दामरागतरला छाया कापि मुखाम्बुजे॥
इत्यनुद्भिन्नरूपत्वाद् रत्युत्सवमनोरथः।
अनुल्लङ्घ्यैव सूक्ष्मत्वमभूदत्र व्यवस्थितः॥

—[काव्यादर्श २।२६०-६४।]

इंगित या आकार से लक्षणीय अर्थ सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म माना गया है। उदा० 'जनसंकुल स्थान में प्रिय को 'हम दोनों का मिलन कब होगा' यह जोर से पूछने में असमर्थ जानकर अबला ने 'लीलापद्म मूँद दिया।' यहाँ कामपीड़ित प्रिय को आश्वासन देने के लिए रात्रिकाल में मिलन की सूचना पद्मनिमीलनद्वारा दी गई है। [पुनः उदाहरण-] 'संगीतगोष्ठी में उस सुन्दरी

की दृष्टि मुद्रा ही पर टिकी रही और मुखकमल पर उद्दाम रक्तिमा से तरल एक विचित्र कान्ति दिखाई दी।' यहाँ पर भी रत्युत्सव की लालसा छिपी हुई होने के कारण सूक्ष्मता को बिना खोए व्यक्त हुई है॥'

हेतलङ्कार के प्रकरण में दण्डीद्वारा प्रतिपादित लेश, सूक्ष्म आदि अलंकारों का भामह द्वारा खण्डन उद्धृत किया जा चुका है। उससे स्पष्ट है कि भामह सूक्ष्म को अलंकार नहीं मानते। भामह का अनुकरण करते हुए वामन और उद्भट ने भी इस नाम का कोई अलङ्कार नहीं बतलाया है।

रुद्रट—रुद्रट के काव्यालङ्कार में सूक्ष्मनामक अलङ्कार तो है, किन्तु उसका स्वरूप और उदाहरण दण्डी और मम्मट के उपर्युक्त सूक्ष्म से भिन्न एक दूसरे ही प्रकार का है। वह यह है—

'यत्रायुक्तिमदर्थो गमयति शब्दो निजार्थसम्बद्धम्।
अर्थान्तरमुपपत्तिमदिति तत् संजायते सूक्ष्मम्॥' ७।९८।

जिसमें अयुक्त अर्थ का शब्द अपने अर्थ से सम्बन्धित किसी युक्ति-युक्त अर्थ का ज्ञान कराए वह सूक्ष्म नामक अलङ्कार होता है।

यथा—'आदौ पश्यति बुद्धिर्व्यवसायोऽकालहीनमारभते।
धैर्यं व्यूढमहाभरमुत्साहः साधयत्यर्थम्॥'

'आरम्भ में देखा करती है बुद्धि, व्यवसाय समय गँवाए बिना कार्य आरम्भ कर देता है, धैर्य महान् भार को ढोए रहता है, उत्साह कार्य सिद्ध करता है।' यहाँ ये सब कार्य तद्वान् प्राणी करता है। वह यहाँ निगूढ़ है अतः उसका बोध होने से यहाँ अलंकार भी सूक्ष्म नामक ही है। वस्तुतः ये लाक्षणिक प्रयोग मात्र हैं।

मम्मट—'कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते।
धर्मेण केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्मं परिचक्षते॥'

अर्थ अभी अभी विमर्शिनी ने किया जा चुका है। इसकी पदावली से स्पष्ट है कि इस अलंकार के रूपनिर्माण में मम्मट अक्षर अक्षर के लिए दण्डी के ऋणी हैं। ठीक इसी प्रकार सर्वस्वकार भी अपने विवेचन और उदाहरणों के लिए मम्मट के ऋणी हैं। दोनों की पदावली प्रायः एक है, उदाहरण तो एक है ही। मम्मट की पदावली यह है—'वक्त्रस्यन्दि०' अत्राकृतिमवलोक्य केनापि विदग्धेन पुरुषायितम् असितास्त्रलेखनेन वैदग्ध्यादभिव्यक्तिमुपनीतम्, पुंसामेव कृपाणपाणित्वयोग्यत्वात्। यथा वा 'सङ्केतकालमनसम्०' अत्र जिज्ञासितः संकेतकालः कयाचिद् इङ्गितमात्रेण विदितो निशासमयशंसिना कमलनिमीलनेन लीलया प्रतिपादितः॥

शोभाकर—रत्नाकरकार शोभाकर ने न तो अलंकारभाष्य के समान 'ज्ञान' और 'प्रकाशन' की दोनों इकाइयों को सूक्ष्म के लिए स्वतन्त्र और पर्याप्त ही माना है और न मम्मट तथा सर्वस्वकार के समान दोनों की एकत्र अनिवार्यता ही मानी है। उन्होंने केवल प्रकाशन को सूक्ष्म के लिए पर्याप्त माना है, ज्ञान को उसका वैकल्पिक सहयोगीमात्र माना है। उनका लक्षण यह है—

'सूक्ष्मार्थस्य सूचनं सूक्ष्मम्'॥ १०२॥

'सूक्ष्म अर्थ की सूचना सूक्ष्म' नामक अलङ्कार होगी। रत्नाकरकार ने सूचना का माध्यम आकार और चेष्टा ही नहीं वाच्य को भी माना है। उसका उदाहरण उन्होंने यह दिया है—

'रथ्याभ्रमणशील आर तरुणी दृष्ट्वा मकथयति सखीम्।
इदानीं चर खलु मूर्धः सरितं सन्ध्यायां तद् याम॥'

यार की गली में घूम रहा देख तरुणी सखी से कहती है—'सूर्य डूब रहा है, सखि! चल नदी चलें।'

यहाँ नदी को संकेत स्थान बतलाया जा रहा है। 'यत्र कर्णोत्पलन्यस्त०' पद्य में वधू का औत्सुक्य किसी अन्य के द्वारा नहीं जाना जाता, न कोई अन्य ही किसी अन्य के प्रति उसे व्यक्त करता। रत्नाकरकार ने इसमें भी सूक्ष्म को अलंकार माना है। 'वक्त्रस्यन्दि०' पद्य भी उन्होंने सूक्ष्म के लिए उद्धृत कर दिया है। इस प्रकार सूक्ष्म को अनेक नवीन परिस्थितियों में देखकर रत्नाकरकार ने अपनी भावक प्रतिभा की उर्वरता का परिचय दिया है। 'ज्ञान और प्रकाशन' दोनों को अनिवार्य इकाई मानने के पक्ष पर वे स्पष्ट रूप से इस प्रकार प्रतिवाद प्रस्तुत करते हैं—

'वक्त्रस्यन्दि०' अत्र चाकारेणेङ्गितेन वा संलक्षितस्यार्थस्य परं प्रति प्रकाशनम् इति द्विभेदत्वं न वाच्यम्, संलक्षितस्य प्रकाशनाभावेऽपि निजाभिप्रायादिप्रकाशनेऽपि संभवतीति 'संलक्षितस्य सूक्ष्मार्थप्रकाशनं सूक्ष्मम्' इति लक्षणमव्यापकम्, यथात्रैव 'यत्र कर्णोत्पलन्यस्त०' इत्यादौ।'

'प्रकाशन के प्रति केवल आकार और इङ्गित को ही ज्ञान का साधन मानकर सूक्ष्म को दो भेदों तक सीमित नहीं रखना चाहिए क्योंकि कहीं कहीं अन्य के द्वारा ज्ञान और अन्य के द्वारा ही प्रकाशन के अभाव में स्वयं प्रकाशन होने पर भी यह अलंकार देखा जाता है। इसलिए [सर्वस्वकार] 'संलक्षित सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन सूक्ष्म है' इस प्रकार का जो लक्षण बनाया है वह सभी स्थलों में लागू नहीं होता यथा इसी 'यत्र कर्णोत्पल०' पद्य में।

अप्पयदीक्षित ने 'वक्त्रस्यन्दि०' पद्य में पिहितनामक अलंकार मान सूक्ष्म को 'संकेतकालमनसं' तक सीमित रखा है।

अप्पयदीक्षित—'सूक्ष्मं पराशयाभिज्ञेतरं साकूतचेष्टितम्।'
मयि पश्यति सा केशैः सीमन्तमणिमावृणोत्॥

—दूसरे का आशय जान रहे व्यक्ति दूसरे के प्रति अभिप्राय चेष्टा सूक्ष्म कहलाती है। उदा० 'मैं देख रहा था तो उसने बालों से अपनी माँग की मणि ढंक ली।' यहाँ मणि सूर्य का प्रतीक है। उससे सन्ध्याकाल के संकेतकाल होने की सूचना दी गई। अन्त में अप्पयदीक्षित ने 'संकेतकालमनसं०' पद्य भी उद्धृतकर दिया है। पिहित का लक्षण उन्होंने इस प्रकार किया है—

'पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूतचेष्टितम्।
प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत्॥'

दूसरे की स्थिति जानने वाले की साभिप्राय या व्यंग्यपूर्ण चेष्टा पिहित कहलाती है। उदा० 'प्रिय प्रातःकाल सपत्नी के पास से लौटा तो नायिका ने उसके लिए बिछौना बिछवा दिया।' दूसरा उदाहरण 'वक्त्रस्यन्दि०' पद्य ही दिया है। चन्द्रिकाकार ने सूक्ष्म और पिहित का अन्तर बतलाते हुए लिखा है—'सूक्ष्म में दूसरे का अभिप्राय जानकर अपनी ओर से उत्तर भी दिया जाता है, और इस उत्तर में वक्ता अपना गूढ़ अभिप्राय व्यक्त करता है, जब कि पिहित में दूसरे की गूढ़ स्थिति को जान लेने की सूचना दी जाती है। अर्थ यह कि सूक्ष्म वक्ता के स्वगत सूक्ष्म या निगूढ़ भाव के स्वयं निवेदन में होगा और पिहित किसी के द्वारा अपने गूढ़ भाव के छिपाने में, यद्यपि इसमें छिपाए भाव का प्रकाशन भी रहेगा, क्योंकि उसके बिना उस छिपे भाव का अस्तित्व ही प्रकट न होगा और पाठक की चेतना पर उसका प्रभाव न पड़ेगा। उद्योतकार आदि ने इस पार्थक्य का प्रत्याख्यान कर दोनों विधाओं को प्राचीन आचार्यों के समान अवान्तरभेद के रूप में एक 'सूक्ष्म' शीर्षक में ही गिनना उचित बतलाया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर में सूक्ष्म अलंकार नहीं आ पाया है।

विश्वेश्वर ने अपना सूक्ष्मालंकार मम्मट के ही लक्षण पर निर्भर रख इस प्रकार बनाया है—

> प्रतिभानिश्चयाद् ज्ञातो यथाकारेङ्गितादर्थः।
> विशदीक्रियतेऽन्यस्मै तथैव तत् सूक्ष्ममित्युक्तम्॥

रत्नाकरकार और अप्पयदीक्षित की नवीन उद्भावनाओं पर चुप हैं। इस अलंकार पर चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका यह है—

> 'सूक्ष्मं तु सूक्ष्म मन्दस्य विदग्धेषु प्रकाशनम्।
> इङ्गिताकारतः सूक्ष्मसंलक्ष्यमिति द्विधा॥'

इङ्गित और आकार का अन्तर श्रीचक्रवर्ती ने इन प्रमाणों द्वारा स्पष्ट किया है—

इङ्गित = आकूतव्यञ्जिताश्चेष्टा इङ्गित बुद्धिकारिता।

आकार = आकारः पुनराम्नातस्ता एवाबुद्धिकारिताः॥

तथा—

इङ्गित = 'तारापुटभ्रूदृष्ट्यादेर्विकारानिङ्गित विदुः।

आकार = आकाराः सत्त्वजा भावा आद्या बुद्ध्या परेऽन्यथा॥

—जो चेष्टाएँ भावाभिव्यक्ति के लिये जानबूझकर की जाती हैं उन्हें इङ्गित कहा जाता है, वे ही चेष्टाएं यदि जानबूझकर न की जाय अपितु स्वभावतः निष्पन्न हो जाय तो आकार मानी जाती है।

—पलक, भ्रुकुटि और दृष्टि के विकार इङ्गित होते हैं जब कि आकार चित्तस्थिति की द्योतक मुद्राएँ। इनमें से प्रथम जानबूझ कर किए जाते हैं और द्वितीय स्वभावतः निष्पन्न होते हैं।

[सर्वस्व]

[सू० ७७] उद्भिन्नवस्तुनिगूहनं व्याजोक्तिः।

यत्र निगूढं वस्तु कुतश्चिन्निमित्तादुद्भिन्नं प्रकटतां प्राप्तं सद् वस्त्वन्तरप्रक्षेपेण निगूह्यते अपलप्यते, सा वस्त्वन्तरप्रक्षेपरूपस्य व्याजस्य वचनाद् व्याजोक्तिः। यथा—

> 'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
> द्रोमाञ्चादिविसंस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः।
> हा शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
> शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् वः शिवः॥'

अत्र रोमाञ्चादिनोद्भिन्नो रतिभावः शैत्यप्रक्षेपेणापलपितः। यद्यप्यपह्नुतोऽपि सस्मितत्वख्यापनेन पुनरप्युद्भिन्नत्वेन प्रकाशितः, तथाप्यपलापमात्रचिन्तयास्यालंकारस्योल्लेखः।

नन्वपह्नुतिग्रन्थे 'यथा सादृश्याय याऽपह्नुतिः, तथापह्नवायापि यत्सादृश्यं साप्यपह्नुतिः' इति स्थापितम्, व्याजोक्तौ चोत्तरप्रकारो विद्यते तत्कथमियमलंकारान्तरे[रूपे]ण कथ्यते। सत्यम्। उद्भटसिद्धान्ताश्रयेण तत्

तत्रो तन्मते व्याजोक्त्याख्यमलंकरणमस्ति। इह तु तस्य संभवात् तद्व्यतिरिक्तापह्नुतिरिति पृथगयमलंकारो निर्दिष्टः।

[सूत्र ७७] प्रकट वस्तु का छिपाया जाना व्याजोक्ति [नामक अलंकार कहलाता है]॥

जिसमें कोई निगूढ वस्तु किसी भी कारण उद्भिन्न अर्थात् प्रकटता को प्राप्त हो जाती है। अतः उसे अन्य कोई वस्तु बीच में लाकर निगूहित किया जाता अर्थात् छिपाया जाता है, वह अन्य वस्तु के बीच में डालने रूप व्याज का कथन होने से व्याजोक्ति मानी जाती है। यथा—

'पर्वतराज हिमाचल द्वारा सौंपे जा रहे पार्वती जी के हाथ के स्पर्श से हुए रोमांच आदि के कारण अस्तव्यस्त हुए समस्त कार्य कलाप में रुकावट आ जाने से घबराए, अतएव 'आह कितने ठंडे हैं हिमाचल के हाथ' इस प्रकार बोल बैठे और पर्वतराज के अन्तःपुर, ब्राह्मी आदि माताओं तथा प्रथमगणों द्वारा मुस्कुरा मुस्कुराकर देखे जा रहे शिव आपकी हमारी रक्षा करें।'

यहाँ रोमांच आदि द्वारा प्रकट हुई रतिरूपी चित्तवृत्ति शीतलता को बीच में लाकर छिपाई गई। यद्यपि छिपाए जाने पर भी मुस्कुराहट के उल्लेख के द्वारा उसे पुनः प्रकट बतलाया गया, तथापि छिपानेमात्र पर ध्यान जाने से इस अलंकार का अनुभव होता है [चमत्कार प्रतीत होता है] तथा इसे नाम दिया जाता है।

शंका होती है कि अपह्नुति [श्लेष] प्रकरण के ग्रन्थ में यह बतलाया है कि 'जिस प्रकार जो छिपाव सादृश्य ज्ञापन के लिए होता है वह अपह्नुति होता है, उसी प्रकार जो सादृश्य छिपाव बतलाने के लिए होता है वह भी अपह्नुति होता है।' इनमें से जो द्वितीय प्रकार है वह व्याजोक्ति में विद्यमान है, तब इसे भिन्न अलंकार क्यों बतलाया जा रहा है। [उत्तर] ठीक है। [अपह्नुति का] वह [रूप] उद्भट के सिद्धान्त के अनुसार वहाँ बतलाया गया है। उनके मत में व्याजोक्ति कोई अलग अलंकार नहीं है। इस [ग्रन्थकार के मत] में वह संभव है, अतः [इस मत में] उस [द्वितीय प्रकार] से बचा हुआ भेद ही अपह्नुति का विषय होगा। इस कारण यहाँ यह अलंकार पृथक् बतलाया गया है।

विमर्शिनी

उद्भिन्नेत्यादि। निगूढमिति। वस्तुतः। वस्त्वन्तरप्रक्षेपेणेति। निमित्तान्तरकथनेनेत्यर्थः। रतिभाव इति। स्थायी। अपह्नुतोऽपीति। व्याजोक्तेः प्ररोहात्। अपलापमात्रश्चिन्त्यवेति। तावन्मात्रस्यैव तल्लक्षणत्वात्। अस्याश्चापह्नुतेर्भेदं दर्शयितुमुपक्रमते—नन्वित्यादिना। स्थापितमिति। श्लेषग्रन्थे यदुक्तम्। 'सादृश्यन्यक्त्ये यत्रापह्नवोऽसावपह्नुतिः' इति। एवमपह्नवग्रन्थ इति पूर्ववाक्य एवं संबन्धनीयम्। उत्तरः प्रकार इति। अपह्नवाय सादृश्यम् तदिति। उत्तरेणैव प्रकारेण व्याहारवात्। कथमिति। निष्प्रयोजकत्वात्। एतदेवाभ्युपगम्य प्रतिविधत्ते—सत्यमित्यादिना। तदिति अपह्नवाय सादृश्यम्। तत्रेति। श्लेषे। तन्मत इति। उद्भटमते। तस्येति। व्याजोक्त्याख्यस्यालंकारस्य। तद्व्यतिरिक्तेति। अपह्नुतौ हि प्रकृतमेवोत्कर्षयितुमप्रकृतस्योपादानम्। इह तूद्भिन्नं सत् प्रकृतं वस्तु वस्त्वन्तरेणाप्रकृतेन निगूह्यते इत्यनयोर्महान्भेदः। एवं 'आकृष्यादौ' इत्यादौ च चोलकाञ्चनवस्त्वन्तरप्रक्षेपेणोद्भिन्नप्रियनिगूहनस्यैव वाक्यार्थत्वाद्व्याजोक्तिरेव न पुनरपह्नुतिः। अत एव च नात्र वक्रोक्तिः। तस्य यथायोजनमात्रं लक्षणम्।

उद्भिन्न इत्यादि। निगूढ अर्थात् वस्तुतः निगूढ। वस्त्वन्तरप्रक्षेपेण दूसरी वस्तु को बीच में लाने से = अन्य कोई कारण बतलाने से। रतिभावः = स्थायिभावरूप रति। अपह्नुतोपि =

छिपाए जाने पर भी = अर्थात् व्याजोक्ति के जम जाने के कारण। अपलापमात्रचिन्तया = छिपाव मात्र के ध्यान से = क्योंकि व्याजोक्ति का लक्षण ही केवल वह (छिपाव) है। इस [व्याजोक्ति] का अपह्नुति से भेद बतलाना आरम्भ करते हैं—ननु०। स्थापित। जैसा कि श्लेष प्रकरण [के अन्त] में कहा है—'सादृश्य की व्यक्ति के लिए जहाँ छिपाव होता है उसे अपह्नुति कहा जाता है' = इत्यादि। इस प्रकार 'अपह्नव मन्य' इसका अर्थ 'पूर्व वाक्य लगाना चाहिए। उत्तरः प्रकारः = दूसरा प्रकार = 'सादृश्य छिपाव बतलाने के लिए'। तत् = इस कारण = दूसरे प्रकार में ही चले आने से। कथम् = क्यों = कोई प्रयोजन न होने से। स्वीकारकर इसी का खण्डन करते हैं—सत्यम् इत्यादि के द्वारा। सत् = सादृश्य छिपाव के लिए। तत्र = वहाँ श्लेषप्रकरण में। तन्मत = उनके मत में = रुद्रट के मत में। तस्य = उनका व्याजोक्ति नामक अलंकार का। तद् व्यतिरिक्त = उनसे बचे = अपह्नुति में तो अप्रकृत का उपादान प्रकृत के उत्कर्ष के लिए ही होता है, जब कि इस व्याजोक्ति में अप्रकृत वस्तु प्रकट हुई प्रकृत वस्तु को छिपाया करती है। इस प्रकार इन दोनों में बहुत बड़ा भेद है। इस प्रकार [श्लेष प्रकरण में उद्धृत] 'आकृष्यादावमन्द०' इत्यादि [पद्य] में 'चोली' रूप अन्य वस्तु को बीच में लाकर प्रकट हुए प्रियरूपी अर्थ का छिपाना ही वाक्यार्थ स्वरूप है, अतः वहाँ व्याजोक्ति ही है, अपह्नुति नहीं। अत एव वहाँ [अगले सूत्र द्वारा प्रतिपादित] वक्रोक्ति भी नहीं है क्योंकि उसका स्वरूप 'दूसरे प्रकार से योजना करना' है॥

विमर्श—वृत्तिकार ने श्लेषप्रकरण के अन्त में अपह्नुति के दो भेद इस कारिका द्वारा बतलाए थे—

'सादृश्यव्यक्तये यत्रापह्नवोऽसावपह्नुतिः।
अपह्नवाय सादृश्यं यत्राप्येषाप्यपह्नुतिः॥'

इसके पूर्व वृत्ति में यहाँ लिखा था—'उभयथाप्यपह्नुतिसंभवात् सादृश्यपर्यवसायिना वापह्नवेन, अपह्नुपर्यवसायिना वा सादृश्येन, भूतार्थापह्नवस्योभयत्र विद्यमानत्वात् [पृ० १७३] यहाँ 'अपह्नुतिप्रन्थे' लिखने का अर्थ विमर्शिनीकार ने अपह्नुतिविषयक पूर्व चर्चा किया है। संजीविनीकार इस पर चुप हैं। वस्तुतः अपह्नुतिप्रकरण में भी इससे मिलती जुलती निम्नलिखित बात आई है—'अपह्नवपूर्वक आरोप तथा आरोपपूर्वक अपह्नव।' आरोप सादृश्यमूलक होता है। प्रथम भेद में अपह्नव उसका निष्पादक होगा। फलतः वहाँ अपह्नव सादृश्य के लिए होगा। द्वितीय में इसके विपरीत 'सादृश्य अपह्नव के लिए' होगा। इससे प्रकृत ग्रन्थ का संबन्ध जोड़ा जा सकता है।

इतिहास—व्याजोक्ति वामन की देन है। उनका सूत्र है—'व्याजस्य सत्यसारूप्यं व्याजोक्तिः।' व्याजपूर्ण वस्तु का सत्य वस्तु के साथ सादृश्य व्याजोक्ति कहलाती है। इसे वामन ने मायोक्ति भी कहा गया बतलाया है। उदाहरण—'काशपुष्पलवेनेदं साश्रुपातं मुखं मम' मेरा मुख आँसू युक्त इसलिए है कि इसमें काशपुष्प का टुकड़ा भर गया है। यहाँ सात्त्विकभाव से जनित अश्रु को काशपुष्प के बहाने छिपाया गया है उद्भट और रुद्रट के काव्यालंकारों में यह अलंकार नहीं मिलता।

मम्मट—ने 'शैलेन्द्रप्रति०' पद्य का ही उदाहरण देते [illegible] व्याजोक्ति का विवेचन इस प्रकार किया था—

[सू०] 'व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम्'।

[वृ०] निगूढमपि वस्तुनो रूपं कथमपि प्रभिन्नं केनापि व्यपदेशेन यदपह्नूयते सा व्याजोक्तिः। न चैषापह्नुतिः प्रकृताप्रकृतोभयनिष्ठस्य साम्यस्येहासंभवात्। उदा० 'शैलेन्द्र०'। अत्र पुलकवेपथु-सात्त्विकरूपतया प्रसृतो शैत्यकारणतया प्रकाशितत्वादपलपितस्वरूपो व्याजोक्तिं प्रयोजयतः।'

प्रकट हुए वस्तुरूप को छल द्वारा छिपाना व्याजोक्ति। वस्तु का रूप छिपा होने पर किसी प्रकार प्रकट हो गया हो तो किसी भी बहाने से उसे जो छिपाया जाता है वह व्याजोक्ति कहलाता है। यह अपह्नुति नहीं है क्योंकि यहाँ प्रकृत और अप्रकृत के बीच साम्य की विवक्षा नहीं है। 'उदा० शैलेन्द्रप्रति०' में रोमांच और कम्प सात्त्विकरूप में प्रकट है और शीतजनित बतलाकर उनकी वास्तविकता छिपाई गई। स्पष्ट है कि सर्वस्वकार का विवेचन मम्मट के विवेचन पर आश्रित है।

रत्नाकरकार—ने व्याजोक्ति को व्याज के लिए वाक्यप्रयोग तक सीमित नहीं रखा, उसे चेष्टा आदि द्वारा भी संभव बतलाया है। इसी प्रकार उद्भेद = प्रकाशन को भी दो प्रकार का माना है आशंक्यमान तथा उत्पन्न। इस प्रकार उन्होंने इसे चार प्रकार का माना है। चेष्टा आदि को उक्तिस्वरूप मानने के लिये उन्हें लक्षणा का सहारा लेना पड़ा है। उनका लक्षण केवल—

'उद्भेदप्रच्छादनं व्याजोक्तिः ॥ १०४ ॥'

'उद्भेद = प्रकाशन को छिपाना = ढँकना व्याजोक्ति'—इतना ही है। इनका आशंक्यमान उद्भेद का उदाहरण अप्पयदीक्षित के उदाहरण से गतार्थ है। उत्पन्न उद्भेद के लिए उन्होंने 'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमान०' पद्य का ही उदाहरण दिया है।

मीलित और व्याजोक्ति का अन्तर करते हुए उन्होंने लिखा है—

'उद्भेदस्य निरूपणं स्वरसतो हेत्वन्तराच्चेद् भवेत्
प्रत्यूहः समधर्मकोरकटगुणाप्रच्छादनान्मीलितम्।
व्याजोक्तेरभिसन्धिपूर्वकतया चेष्टादिनोक्त्याऽथवा
व्याजेन प्रतिभेदगूहनमतो युक्तं विविक्तं वपुः॥'

मीलित और व्याजोक्ति दोनों में उद्भेद तो स्वतः होता है किन्तु प्रच्छादन के हेतु में अन्तर रहता है। मीलित में प्रच्छादन समान धर्म वाले पदार्थ के उत्कृष्ट गुणों से होता है, जब कि व्याजोक्ति में चेष्टा आदि के द्वारा अथवा वाक्य द्वारा प्रच्छादन जानबूझ कर किया जाता है।

अप्पयदीक्षित = 'व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम्।
सखि! पश्य गृहारामपरागैरस्मि धूसरा॥'

'कोई अन्य हेतु देकर आकार का छिपाना व्याजोक्ति कहलाता है। यह—'हे सखि! देख मैं घर के बगीचे के पराग से धूसरित हो गई हूँ।' यहाँ धूल में पड़ कर की गई चौर्यरति किसी के द्वारा जानने के पहले ही छिपाई गई है। न केवल वाक्य ही अपितु चेष्टादि अन्य हेतुओं को भी अप्पयदीक्षित ने रत्नाकरकार के ही समान प्रच्छादनहेतु माना है। जैसे कोई नायिका अपने अनुरागजनित रोमांच को प्रणाम के बहाने छिपाती है।'

पण्डितराज के रसगंगाधर में यह अलंकार नहीं मिलता।

विश्वेश्वर—ने भी वाक्य और चेष्टा दोनों के द्वारा प्रकट भाव के छिपाव में व्याजोक्ति मानी है—

'व्याजोक्तिर्विशदीभवदर्थस्यापह्नुतिर्मिषतः।'

अप्रकाश्यस्यार्थस्य कथञ्चिद् विभावनप्रसङ्गे सति केनचित् कैतवेन तदपह्नवो व्याजोक्तिरित्यर्थः।

अप्रकाशनीय अर्थ का किसी भी प्रकार से प्रकाशन का प्रसंग आ जाने पर किसी भी बहाने उसे छिपाने को व्याजोक्ति कहा जाता है।'

वाक्यातिरिक्त उपाय का उदाहरण उन्होंने 'दम्पत्योर्निशि०' पद्य दिया है जिसकी भावयोजना यह है—'रात की बातचीत जब शुक सवेरे सखियों के सामने बोलने लगा तो चतुरा ने अनार का दाना देकर उसकी चोंच बन्द कर दी।

चक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका इस अलंकार पर यह है—

> 'व्याजोक्तिर्व्याजवचनेनाद्भिन्नस्य निगूहनम्।
> अपह्नवाय सादृश्ये दृष्टा नापह्नुतिर्यतः॥'

प्रकट अर्थ का व्याजवचन के द्वारा छिपाना व्याजोक्ति कहलाता है। यह अपह्नुति नहीं है क्योंकि वह सादृश्यमूलक अपह्नव [छिपाव] में होती है।'

[सर्वस्व]

[सू० ७८] अन्यथोक्तस्य वाक्यस्य काकुश्लेषाभ्यामन्यथा योजनं वक्रोक्तिः।

उक्तिव्यपदेशसाम्याद् व्याजोक्त्यनन्तरमस्या लक्षणम्। यद्वाक्यं केनचिदन्यथाभिप्रायेणोक्तं तदपरेण वक्त्रा काकुप्रयोगेण श्लेषप्रयोगेण वान्यथान्यार्थघटनया योज्यते तदुक्तिः वक्रोक्तिः। काकुप्रयोगेण यथा—

> 'गुरुपरतन्त्रतया यत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।
> अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ॥'

अत्रैतद्वाक्यं नायिकया आगमननिषेधपरत्वेनोक्तम्। तत्सख्या काकुप्रयोगेण विधिपरतां प्रापितम्। काकुवशाद्विधिनिषेधयोर्विपरीतार्थसंक्रान्तिः।

तत्र श्लेषोऽभङ्गसभङ्गत्वेनोभयमयत्वेन त्रिविधः। तत्राभङ्गश्लेषमुखेन यथा—

> 'अहो केनेदृशी बुद्धिर्दारुणा तव निर्मिता।
> त्रिगुणा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित्॥'

अत्र दारुणेति प्रथमान्तं प्रक्रान्तं श्लेषभङ्ग्या तृतीयान्ततया संपादितम्।

सभङ्गश्लेषमुखेन यथा—

> 'त्वं हालाहलभृत्करोषि मनसो मूर्च्छां समालिङ्गितो
> हालां नैव बिभर्मि नैव च हलं मुग्धे कथं हालिकः।
> सत्यं हालिकतैव ते समुचिता सक्तस्य गोवाहने
> वक्रोक्त्येति जितो हिमाद्रिसुतया स्मेरोऽवताद् वः शिवः॥'

उभयमुखेन यथा—

> 'विजये कुशलस्त्र्यक्षो न क्रीडितुमहमनेन सह शक्ता।
> विजये कुशलोऽस्मि न तु त्र्यक्षोऽक्षद्वयमिदं पाणौ॥

किं मे दुरोदरेण प्रयातु यदि गणपतिर्न तेऽभिमतः ।
कः प्रद्वेष्टि विनायकमद्दिलोकं किं न जानासि ॥
चन्द्रग्रहणेन विना नास्मि रमे किं प्रतारयस्येवम् ।
देव्ये यदि रुचितमिदं नन्दिन्नाहूयतां राहुः ॥
हा राहौ शितदंष्ट्रे भयकृति निकटस्थिते रतिः कस्य ।
यदि नेच्छसि संत्यक्तः संप्रत्येपैव हाराहिः ॥
वसुरहितेन क्रीडा भवता सह कीदृशी न जिह्रेषि ।
किं वसुभिर्नमतोऽमून्सुरासुरान्नैव पश्यसि पुरः ॥
आरोपयसि मुधा किं नाहमभिज्ञा किल त्वदङ्कस्य ।
दिव्यं वर्षसहस्रं स्थितवेति न युक्तमभिधातुम् ॥
इति कृतपशुपतिपेलवपाशकलीलाप्रयुक्तवक्रोक्ति ।
हर्षवशतरलतारकमाननमव्याद् भवान्या वः ॥'

वक्रोक्तिशब्दश्चालंकारसामान्यवचनोऽपीहालंकारविशेषे संज्ञितः ।

[सूत्र ७८] अन्यथा कथित वाक्य की काकु और श्लेष के द्वारा अन्यथा योजना [हो तो अलंकार को] वक्रोक्ति [कहा जाता है]

[वृत्ति] इसका लक्षण उक्ति में छल की समानता को लेकर व्याजोक्ति के बाद किया जा रहा है। जो वाक्य किसी [अन्य] के द्वारा अन्यथा अर्थात् अन्य अभिप्राय से कहा गया हो और अन्य के द्वारा काकुप्रयोग किंवा श्लेषप्रयोग के आधार पर, अन्यथा अर्थात् अन्य अर्थ में लगाया जाता है उस [वाक्य] की उक्ति वक्रोक्ति कहलाती है।

काकु प्रयोग से, यथा—

'बड़ों के अधीन होने से दूरतर देश जाने को उद्यत वह हन्त, अलिकुल और कोकिल से ललित सुरभिसमय में नहीं आएगा'। इस वाक्य को नायिका ने आगमन के निषेध [नहीं ही आएगा – इस] के अभिप्राय से कहा, [अतः इसमें वत या हन्त का अर्थ खेद हुआ किन्तु] उसकी सखी ने [नहीं आएगा क्या ? इस प्रकार] काकुप्रयोग से [अवश्य आएगा इस अर्थ में] विधिपरक बना दिया। [अतः इस अर्थ में वत या हन्त का अर्थ हर्ष हुआ।] निषेधरूपी अर्थ की विधिरूप अर्थ में जो संक्रान्ति हुई उसका कारण काकु प्रयोग है।

श्लेष अभङ्गरूप समङ्गरूप, तथा उभयरूप से तीन प्रकार का होता है। इनमें से—

अभङ्गश्लेष से [वक्रोक्ति] यथा—

'अहो ! किस दारुण ने तुम्हारी इस प्रकार की बुद्धि बनाई है। बुद्धि तो तीन गुणों [सत्त्व, रजस् तथा तमस्] से बनी सुनी जाती है, दारु से बनी तो कहीं नहीं।

[दारुणा = दारुण शब्द का स्त्रीलिंग प्रथमैकवचन तथा 'दारु' शब्द का तृतीयैकवचन। दोनों पक्षों में शब्द एक ही बना, अर्थभेद के साथ उसमें भङ्ग नहीं हुआ अतः यह अभङ्गश्लेष का उदाहरण हुआ]।

सभङ्गश्लेष से [वक्रोक्ति] यथा—

[पार्वती] 'तुम हालाहलधारी [हालाहल = विष तथा हाला = वारुणी और हल को धारण करने वाले हो, अतः आलिङ्गन करते ही मन को मूर्च्छित कर देते हो। [शिव]

न मैं शूल ही धारण करता और हल ही, अरी भोली, मैं क्या हालिक [किसान] हूँ। [पार्वती] तुम्हें (सचमुच) हालिक कहा जा सकता है क्योंकि तुम गोवाहन [गो = नन्दी वृष, तद्रूपी वाहन तथा गो = बैल को हाँकने] में जो लगे रहते हो। इस प्रकार वक्रोक्ति में पार्वती जी द्वारा जीत लिए गए अत एव मुसकुराते हुए भगवान् आपकी हमारी रक्षा करें।

उभयश्लेष से [वक्रोक्ति], यथा—[उमामहेश्वरसंवाद—[पार्वती] [सखि] विजये, [विजया का सम्बोधन तथा विजय शब्द का सप्तम्येकवचन] ये त्र्यक्ष [तीन अक्ष = अक्षि = नेत्र तथा अक्ष = पासे वाले] बडे कुशल हैं। मैं इनके साथ द्यूतक्रीडा नहीं कर सकती। [शिव] विजय में तो कुशल हूँ परन्तु त्र्यक्ष [तीन पासे वाला] नहीं हूँ, मेरे हाथ में पासे केवल दो ही हैं॥

[पार्वती] मेदुरोदर [मे = मुझे दुरोदर = द्यूत तथा मेदुर + उदर वाला मेदुरोदर = गणेश] नहीं भाता। [शिव] यदि तुम्हें नहीं भाता तो गणेश चला जाए। [पार्वती] विनायक [विनायक = गणपति तथा वि = पक्षी उनका नायक = गरुड] से किसको द्वेष है, [शिव] तुम्हें क्या अहिलोक [सर्पों] का ज्ञान नहीं है [जो गरुड से द्वेष करते हैं]॥

[पार्वती] मैं चन्द्रग्रहण [चन्द्र की बाजी तथा चन्द्रग्रहण राहूपराग] के बिना नहीं खेलती यूँ ही क्यों मुझे छल रहे हो। [शिव] नन्दिन् ! देवी को यदि यही प्रिय है तो बुलाओ राहु को॥

[पार्वती] हा राहो [हा, राहो = राहु पर, हार + अहो = हार के सर्प पर] जो तीखी दाढ वाला और डरावना है, पास आए तो किसे प्रेम होगा। [शिव] यह हाराहि [हारभूत सर्प] तुम्हें पसन्द नहीं तो लो इसे अभी हाल छोड़े देता हूँ॥

[पार्वती] तुम ठहरे वसु [धन तथा आठ वसु]-रहित। तुम्हारे साथ कैसा जुआ, लाज नहीं आती। [शिव] सामने [आठों] वसुओं के साथ प्रणाम कर रहे इन देव और दानवों को देख नहीं रही हो क्या ? [इस आर्या का 'सह वसु०—पश्यसि किम् ? ऐसा पाठ अधिक अच्छा होता]॥

[पार्वती] बेकाम क्यों आरोपसि [आरोप लगा रहे, उठा रहे हो] मैं तुम्हारे अङ्क [दोषारोपण तथा गोद] से अनभिज्ञ हूँ। [शिव] हजारों दिव्य वर्षों तक [गोद में] बैठकर भी इस प्रकार कहना ठीक नहीं॥'

—इस प्रकार शिव के साथ द्यूत की ललित क्रीडा में प्रयुक्त की गई वक्रोक्ति की प्रसन्नता से चंचल तारा वाला पार्वती का मुखमण्डल आप हमारी रक्षा करे॥

[यहाँ—विजये, त्र्यक्ष, विनायक, ग्रहण, वसु, आरोप तथा अङ्क शब्द में तोड नहीं होती अतः ये अभङ्ग श्लेष के उदाहरण हैं, मेदुरोदर तथा हाराही शब्द में वह होती है अत: सभङ्गश्लेष है। पूरा सन्दर्भ एक वाक्योवाक्य है अतः यहाँ आरम्भ से अन्त तक एक वक्रोक्ति मानी जायगी]।

वक्रोक्ति शब्द अलंकारमात्र का वाचक है तथापि यहाँ एक विशिष्ट अलंकार के लिए प्रयोग में लाया गया है॥

विमर्शिनी

अन्यथेत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—यदान्यमिति। अन्याभिप्रायेणेति। विवक्षितार्थपरतयेत्यर्थः। काकुः ध्वनिविशेषः। यदुक्तम्—

> 'वाच्येऽभिधीयमानोऽर्थो येनान्यः प्रतिपद्यते।
> भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः स काकुरिति कथ्यते॥'

अन्यार्थघटनयेति। प्रक्रान्तादन्यस्य व्यतिरिक्तस्यार्थस्य घटनयोल्लेखनेनेत्यर्थः। येनकेनचिद्वक्त्राभिप्रेतार्थस्य प्रतिपिपादयिषयोक्तस्य वाक्यस्यान्येन विघाताय प्रहेलिकामात्रार्थं

'नवकम्बलकोऽयं माणवकः' इत्यादिना वाक्छलेनान्यथायोजनमात्रमयमलंकार इति पिण्डार्थः। अत एव द्वितीयो व्याघातो नास्या भेदतया वाच्यः। न हि तत्र वचनविघातायैवान्यथा योजनम्। तत्र हि 'बाल इति सुतरामपरित्याज्योऽस्मि, रक्षणीय इति भवद्भुजपञ्जरं रक्षास्थानम्' इत्यादौ बालत्वादिकं प्रस्थाननिषेधकतया राज्यवर्धनेन संभावितं श्रीहर्षेण पुनरन्यथा प्रस्थाननिमित्ततया योजितम्। अतश्चात्रान्यथा योजनस्य प्रस्तुतवस्तुव्याहतिनिबन्धनत्वेऽपि प्रस्थानविधौ तात्पर्यम्। ननु तद्विघातमात्रेणास्य वक्रोक्तावन्तर्भाव इति चेत्, तर्हि साधर्म्यविशेषादुपमेयोपमादीनामप्युपमायामन्तर्भावः किं न स्यात्। अथात्र फलभेदोऽस्तीति कथमेतदिति चेत्, एवमिहापि फलभेदस्य विद्यमानत्वात्कथमस्यान्तर्भावः स्यात्। तथाह्यन्यथा योजनस्य क्वचिद्वचनविघातमात्रं फलं क्वचिच्च संभाव्यमानव्याहतिनिबन्धनत्वेऽप्यर्थान्तरे तात्पर्यम्। फलभेदश्चालंकारभेदनिमित्तमित्यविवादः। तेन पूर्वश्च वक्रोक्तिरपरश्च व्याघात इति यथोक्त एवालंकारभेदो न्याय्यः। एवं फलान्तरेष्वपि ज्ञेयम्। तस्मात्

> 'एष श्रीकण्ठकण्ठच्छविरनभिमतो राजहंसव्रजानां
> सद्यस्तापं प्रजानां प्रशममुपनयन्नच्छधाराप्लवेन।
> कुर्वन्दिक्चक्रवालाक्रमणमुदयते देव को वारिवाहो
> मा मैवं मालवेन्द्रो परिमल कतरस्तर्हि राजन्नसिस्ते॥'

इत्यत्र श्रोत्रा संभावितस्यान्यथा खड्गत्वेन योजनं, तस्य सत्साहस्यप्रतीत्यर्थमित्यङ्गभूतोत्तरमार्गमौपम्यं चक्तुर्विवक्षितम्। 'वाक्छलमुपचारच्छलम्, तदविशेषादि'ति वाक्छलेनैवास्य संग्रहादुपचारच्छलात्मकम्। 'क्वचित्त्वौपचारिके प्रयोगे मुख्यार्थोपादनमिति भेदान्तरमप्यस्या न वाच्यम्। यस्तु तदर्थान्तराभावादिति न्यायाद्वागुपचारच्छलयोर्विशेष उक्तः, स नैयायिकानामुपयुक्तो नालंकारिकाणाम्। तथात्वेमान्यथायोजनस्य वैचित्र्यान्तराभावात्। यद्वा मुख्यौपचारिकार्थद्वयस्यैकयुक्तगतफलद्वयन्यायेन शब्दश्लिष्टत्वादस्य श्लेषवक्रोक्तावन्तर्भावः स्यात्। उभयमुखेनेति। सभङ्गासभङ्गश्लेषद्वारेण। विजय इति श्लेषस्यासभङ्गत्वम्। मेदुरोदरेणेति सभङ्गत्वम्। 'स्मेरोऽवताद्वः शिवः' तथा 'प्रयुक्तवक्रोक्ति' इत्यादिना वचनविघातमात्रप्रयोजनस्यान्यथा योजनस्य प्रहेलिकाप्रायत्वमेव प्रकाशितम्। ननु 'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिः कोऽलंकारोऽनया विना' इति नीत्या समग्र एवालंकारवर्गो वक्रोक्तिरूप इति कथमयमेव तथात्वेन निर्दिष्ट इत्याशङ्कयाह—वक्रोक्तीत्यादि। छलेति। वाक्छलात्मकत्वेनोक्तेः कौटिल्यात्।

अन्यथेत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—यद् वाक्यम्०। अन्याभिप्रायेण = अन्य अर्थ के अभिप्राय से = अर्थात् विवक्षित अर्थ के अभिप्राय से। काकु = स्वरविशेष। जैसा कि कहा है—

'एक प्रकार की असाधारण या विशेष प्रकार की उस कण्ठध्वनि को काकु कहा जाता है जिससे [सामान्य] वाक्य में कहा जा रहा अर्थ अन्यरूप में समझा जाता है।

अन्यार्थघटनया = प्राकरणिक अर्थ से भिन्न किसी अन्य अर्थ की घटना = उल्लेख = समझ से। निष्कर्ष यह कि किसी वक्ता के द्वारा अपने अभिप्रेत अर्थ के प्रतिपादन के लिए कहे गए वाक्य की योजना का, उस अर्थ को काट कर पहेली के समान 'नवकम्बलकोऽयं माणवकः' (न्यायदर्शन सूत्रभाष्य १।२।१२) इत्यादि।

वाक्छल के माध्यम से दूसरे रूप में किया जाना ही इस अलंकार का स्वरूप है। इसीलिए [रत्नाकरकार को] द्वितीय व्याघात को इसका भेद नहीं बतलाना चाहिए। उसमें अर्थ की जो भिन्न

रूप में योजना होती है वह केवल किसी के वचन को काटने के लिए नहीं। उसमें तो 'बाल हूँ तो और भी अपरित्याज्य हूँ, रक्षणीय हूँ सो रक्षास्थान आप का ही भुजपञ्जर है' इत्यादि स्थलों में राज्यवर्धन बालत्वादि को प्रस्थाननिवारक समझता है, श्रीहर्ष उन्हें प्रस्थाननिमित्त के रूप में बतलाते हैं। [अर्थात् यहाँ विघातक को साधक बनाया जाता है जब कि वक्रोक्ति में साधक को विघातक रूप में लिया जाता है]। इसीलिए = यहाँ 'अन्यथा योजना' = दूसरे प्रकार से लगाने' में, प्रस्तुत अर्थ का विधान तो होता है परन्तु, तात्पर्य प्रस्थानविधि में ही रहता है। केवल उस [प्रस्तुत अर्थ] के विधान मात्र को लेकर इस [व्याघात के द्वितीय भेद] का वक्रोक्ति में अन्तर्भाव करेंगे तो सब में साधर्म्य की स्थिति समान देखकर उपमेयोपमा आदि का भी उपमा में ही अन्तर्भाव करना होगा। यदि कहें कि यहाँ [उपमा और उपमेयोपमा आदि में] फल भिन्न होता है। [उपमा में केवल सादृश्य उपमेयोपमा में द्वितीयसदृश व्यवच्छेद] अतः यह कैसे समव है [कि उपमेयोपमा आदि का उपमा में अन्तर्भाव किया जाए] तो इस [व्याघात] का अन्तर्भाव भी कैसे किया जा सकता है; फल में भिन्नता यहाँ भी विद्यमान है। यह इस प्रकार कि कहीं तो 'अन्यथा योजना' का फल केवल वचनविघात ही होता है और कहीं होता है अन्य किसी अर्थ का प्रतिपादन, यद्यपि इस दूसरे प्रकार में अन्य अर्थ का विधान भी रहता है। यह तो सर्वमान्य तथ्य है कि अलंकार का भेदक तत्त्व फलभेद ही है। इसलिए प्रथम स्थल में वक्रोक्ति और द्वितीय में व्याघात मानना उचित है। अतः इन अलंकारों में [सर्वस्वकार ने] जो भेद बतलाया है उसे [रत्नाकरकार को भी] उसी रूप में स्वीकार करना उचित है। इसी प्रकार अन्य अलकारों में भी जानना चाहिए जहाँ अन्य फल निकलते हैं। इस कारण—[अलंकाररत्नाकरकार द्वारा वक्रोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत]।

'[कवि] हे देव, यह उदित हो रहा है, जिसकी छवि नीलकण्ठ (भगवान् शिव) के कण्ठ के समान है, राजहंसों को अप्रिय है, स्वच्छ धारा के जल से प्रजा वर्ग का सन्ताप तत्काल शान्त करता है, जो दिशाओं पर आक्रमण करता है, [राजा] कौन, मेघ ? [कवि] नहीं मालवचन्द्र ! ऐसा नहीं, [राजा] तब कौन है ऐसा, [परिमलकवि] राजन् आपका खड्ग !'

इस पद्य में सुनने वाले [राजा माहसांक] के द्वारा समाचित मेघरूपी अर्थ की योजना खड्गरूप में की गई है, ऐसा उस [खड्ग] से उस [मेघ] के सादृश्य का ज्ञान कराने के लिए किया गया है। इस कारण यहाँ वक्ता का विवक्षित अर्थ सादृश्य ही है, जिसमें यहाँ उत्तरालंकार को अंग बनाया गया है। 'उपचारच्छल को वाक्छल ही क्यों न मान लिया जाए, क्योंकि उसमें इसका कोई अन्तर नहीं है, [न्यायदर्शन १।२।१५ द्वारा प्रतिपादित] इस वाक्छल के द्वारा ही इस [रत्नाकरकार द्वारा कल्पित उपचारवक्रोक्ति नामक वक्रोक्ति के नवीन भेद] का संग्रह हो जाता है, अतः [रत्नाकरकार ने जो] उपचारच्छलात्मक भेद यह कहते हुए माना था कि 'प्रयोग कहीं औपचारिक होना और वहाँ मुख्यार्थ को ऊपर से लाना पड़ता है', वह भेद भी इस [वक्रोक्ति] में नहीं बतलाया जाना चाहिए। [न जाने किसने और कहाँ] जो 'इन में अर्थान्तर का अभाव रहता है' यह तर्क देकर वागुपचार और वाक्छल का अन्तर किया है वह न्यायशास्त्रियों के लिए उपयुक्त है, आलंकारिकों के लिए नहीं। अथवा मुख्य और औपचारिक दोनों अर्थों का एकवृन्तगत दो फलों के समान शब्द के साथ चिपके रहने से इसका अन्तर्भाव श्लेषवक्रोक्ति में हो सकता है। उभयमुखेन = समङ्ग तथा असमङ्ग दोनों श्लेषों के द्वारा 'विजये'—इसमें श्लेष असमङ्ग है तथा 'मेदुरोदरेण' में समङ्ग। 'मुस्कुराने शिव आपकी और हमारी रक्षा करें तथा 'वक्रोक्ति के प्रयोग से' इत्यादि के द्वारा यही सूचित किया कि 'अन्य प्रकार से योजना करने का' उद्देश्य केवल वचनविघात ही रहता है, अतः यह पहेली जैसी हो रहती है।

'यह सब वक्रोक्ति ही है इसके विना कौन सा अलंकार निष्पन्न हो सकता है' इस प्रकार [भामह आदि आचार्यों ने] सभी अलंकारों को वक्रोक्तिरूप ही वतलाया है। तव यहाँ इसी अलंकार को वक्रोक्तिरूप क्यों कहा 'ऐसी शंका उठाकर उत्तर देते हैं—वक्रोक्ति०। इह = यहाँ अर्थात् क्योंकि इस अलंकार में वाक्छलरूप से बोला जाता है अतः इसमें कुटिलता रहती है अतः इसे 'वक्र'—उक्ति कहा।'

विमर्श—द्वितीय व्याघात का 'बाल इति०' इत्यादि जो उदाहरण हर्षचरित से दिया गया है उसमें रत्नाकरकार ने अर्थवक्रोक्ति मानी थी। उनके अनुसार वक्रोक्ति केवल शब्द का ही अलंकार नहीं है। विमर्शिनीकार ने उनका खण्डन और सर्वस्वकार का समर्थन करते हुए व्याघात के द्वितीय भेद और वक्रोक्ति में अन्तर स्पष्ट किया है। उसके कथनानुसार इनका अन्तर फलगत भेद पर निर्भर है। वक्रोक्ति का उद्देश्य या फल केवल वचनविघात अर्थात् दूसरे के कहे शब्दों की तोड़ मरोड़, अथवा वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ को बदलना होता है। इस प्रकार वक्रोक्ति का चमत्कार अभाव या निराकरण पर ही निर्भर रहता है। व्याघात के द्वितीय भेद में न तो वक्ता के शब्दों की तोड़ मरोड़ ही रहती, और न उनका पूर्वाभिमत अर्थ ही बदला जाता, केवल उसकी अग्राह्यता सिद्ध की जाती है; किन्तु इसका उद्देश्य केवल यही नहीं रहता। इसमें द्वितीय अर्थ की स्थापना भी की जाती है और यही मुख्यतात्पर्यविषयीभूत अर्थ होता है। न्याय की भाषा में यहाँ—'पूर्वप्रतिपादितकारणतानिरूपितप्रतियोगिता को पूर्वप्रतिपादित कार्य से हटाने मात्र में तात्पर्य नहीं है अपितु उसे तद्विरुद्ध कार्य में नियोजित करने में तात्पर्य रहता है।' इस प्रकार इस अलंकार का चमत्कार अभाव पर नहीं विधि पर, और निराकरण पर नहीं स्थापना पर निर्भर रहता है।

इतिहास:—वक्रोक्ति एक विशिष्ट अलंकार—

वक्रोक्ति नाम तो वामन में भी मिलता है किन्तु वहाँ इसका स्वरूप भिन्न है। उनका सूत्र है—

वामन—'सादृश्यलक्षणा वक्रोक्तिः'। अर्थात् गौणी लक्षणा वक्रोक्ति है।

उदाहरण के लिए 'उन्मिल कमलं सरसीनाम्'।

'तलैयों के कमल खुल गए।' यहाँ उन्मीलन पर खुलना धर्म नेत्र का है, उसे विकासरूपी साधर्म्य के आधार पर कमल में अन्वित कर दिया गया है। इस प्रकार वामन की वक्रोक्ति औपचारिक वाक्यप्रयोग है।

रुद्रट—इसका यह जो रूप सर्वस्वकार ने दिया है प्रथमतः रुद्रट में मिलता है। उन्होंने इसे शब्दालंकारों के प्रकरण में गिना है और इसका विवेचन इस प्रकार किया है—

> 'वक्त्रा यदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः।
> वचनं तत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः ॥२।१४॥

वक्ता द्वारा अन्य अभिप्राय से कथित वाक्य की व्याख्या उत्तरदाता के द्वारा पदों को तोड़ मरोड़ कर अन्य प्रकार से की जाय तो वह अलंकार श्लेषवक्रोक्ति कहलाता है। उदाहरण—

किं गौरि मां प्रतिरुषा ननु गौरहं किम्।' शिवजी ने कहा 'गौरि मां प्रति = हे गौरी! मेरे प्रति रोष क्यों। पार्वतीजी ने अर्थ लिया 'गौः इमां प्रति' अर्थात् 'हे गौ, इसके प्रति रोष क्यों, और उत्तर दिया कि 'क्या मैं गौ हूँ।' इसी प्रकार रुद्रट ने काकुवक्रोक्ति का भी एक स्वतन्त्र लक्षण और स्वतन्त्र उदाहरण दिया है।

मम्मट—ने रुद्रट का पूर्णतः अनुसरण किया। उन्होंने वक्रोक्ति को शब्दालंकार प्रकरण में ही नवम उल्लास में प्रथम अलंकार के रूप में गिनाया। उनका विवेचन—

'यदुक्तमन्यथा वाक्यमन्यथान्येन योज्यते।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा॥'

जहाँ दूसरे के द्वारा अन्य प्रकार से कथित वाक्य अन्य के द्वारा श्लेष या काकु के द्वारा अन्य प्रकार से योजित किया जाता है वह दो प्रकार की वक्रोक्ति जाननी चाहिए। स्पष्टतः रुद्रट से आगे बढ़कर मम्मट ने वक्रोक्ति में अर्थभेद के कारणों का भी निवेश किया। उन्होंने श्लेष के दोनों प्रकार भी इसमें अपनाए अभङ्ग और सभङ्ग। इनमें से अभङ्गश्लेष के लिए जो उदाहरण सर्वस्वकार ने दिया है वह मम्मट से ही लिया गया है। सभङ्गश्लेष के लिए उनका उदाहरण है 'नारीणां प्रतिकूलमाचरसि चेज्जानासि कश्चेतनो वामानां प्रियमादधाति'।

यदि तुम नारीणाम् [नारी को, न अरि = शत्रुओं के प्रतिकूल] आचरण करते हो तो विद्वान् हो। कौन चेतन ऐसा होगा जो वामानां [वाम = प्रतिकूल = शत्रु, वामा = सुन्दरी का] प्रिय कार्य करता हो'।

काकु के लिए भी सर्वस्वकार ने मम्मट का ही उदाहरण उद्धृत कर दिया है। सर्वस्वकार का वक्रोक्ति का आधार स्पष्टतः मम्मट का वक्रोक्तिविवेचन है।

शोभाकर—परवर्ती आचार्यों में रत्नाकरकार शोभाकर ने वक्रोक्ति को, जैसा कि कहा जा चुका है शब्द और अर्थ इन दोनों में माना है। उनका लक्षण इस प्रकार है—

[सू०] 'अन्यथा संभावितयोः शब्दार्थयोरन्यथा योजनं वक्रोक्तिः।

[वृ०] वक्त्रा श्रोत्रा वा शब्दस्यार्थस्य वान्यथा संभावितस्य प्रकारान्तरेण योजनं वक्रोक्तिः।

[सू०] 'अन्यथा संभावित शब्द और अर्थ की अन्यथा योजना वक्रोक्ति कहलाती है।

[वृ०] वक्ता या श्रोता द्वारा अन्यरूप में संभावित शब्द या अर्थ की अन्य प्रकार से योजना वक्रोक्ति कहलाती है।

इस अन्यथायोजना के उपायों में रत्नाकरकार ने काकु और श्लेष के अतिरिक्त धर्मसामान्य को भी गिना है।

'एष श्रीकण्ठकण्ठ०' पद्य में धर्मसाम्यमूलक वक्रोक्ति मानते हुए रत्नाकरकार ने लिखा है—

'''कालत्वादिधर्माणां वारिवाहगतत्वेन श्रोत्रा संभावितानां वक्त्रा खड्गगतत्वेन योजना कृतेति धर्मसाम्याद् वक्रोक्तिः'।

यहाँ श्यामत्वादि जिन धर्मों की संभावना श्रोता द्वारा मेघ में की गई थी वक्ता ने उन्हें खड्ग में अन्वित किया, इस प्रकार यहाँ साधारण धर्म के आधार पर वक्रोक्ति हुई। सर्वस्वकार द्वारा श्लेष के प्रकरण में जिस 'आकृष्य०' आदि पद्य में अपह्नुति मानी है, रत्नाकरकार ने उसमें भी वक्रोक्ति की ही उक्त विधा स्वीकार की है—

'अत्र कान्तस्य सम्बन्धिभिः अलकादिकर्षणादिधर्मस्य चोलकेऽपि योगात् पूर्ववद् वक्रोक्तिः। यहाँ प्रिय से सम्बन्धित अलकादिकर्षणप्रभृति के द्वारा चोलक में भी साधारणधर्म की योजना हो जाती है अतः यहाँ भी पूर्ववत् [एष श्रीकण्ठ० पद्य के ही समान] वक्रोक्ति है।

अर्थगत वक्रोक्ति के सन्दर्भ में 'बाल इति०' स्थल पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

'अत्र बालत्वादिकं प्रस्थाननिषेधकतया राज्यवर्धने संभावितम्, श्रीहर्षेण प्रस्थाननिमित्तकतया योजितमित्यर्थवक्रोक्तिरेव।'

यहाँ बालत्वादि को राज्यवर्धन ने प्रस्थाननिषेधक समझा। उन्हीं को श्रीहर्ष ने प्रस्थान-निमित्त सिद्ध कर दिया। अतः यहाँ अर्थ वक्रोक्ति ही है।

अप्पयदीक्षित से अर्थवक्रोक्ति को समर्थन मिलता है। उन्होंने शब्दश्लेष को भी वक्रोक्ति का उपाय बतलाते हुए यह उदाहरण दिया है—

लक्ष्मीजी पार्वतीजी से कहती हैं—

'भिक्षार्थी स क यातः सुतनु'! वह भिखारी कहाँ गया सुन्दरी! पार्वती जी उत्तर देती हैं—

'बलिमखे'—बलि के यज्ञ में। वामनावतार में विष्णु भगवान् ने भी बलि से याचना की थी। यहाँ 'भिक्षार्थी' शब्द के स्थान पर 'याचक' शब्द दिया जा सकता है, किन्तु 'याचना'-अर्थ नहीं बदला जा सकता, अतः श्लेष अर्थ गत ही है। विमर्शिनीकार के अनुसार यहाँ पूर्वप्रतिपादित अर्थ के काटने में चमत्कार है अतः अलंकार वक्रोक्ति नाम से ही पुकारा जाएगा। व्याघात का चमत्कार पूर्वप्रतिपादित अर्थ को विरुद्धफलक सिद्ध करने में होता है, उसकी काट में नहीं। अतः अर्थवक्रोक्ति मानने पर भी उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं मिलता।

अप्पयदीक्षित ने काकु तथा शब्दश्लेष के दोनों प्रकारों को भी वक्रोक्ति का उपाय माना है और उनके पृथक्-पृथक् उदाहरण दिए हैं। अभङ्गश्लेषमूलक वक्रोक्ति का उदाहरण तो 'अहो केनेदृशी०' पद्य ही दिया है। दोनों प्रकार की वक्रोक्तियों को दीक्षितजी ने एक ही अलंकार माना है और उनका लक्षण इस प्रकार बनाया है—

'वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकाशनम्।'

श्लेष और काकु के द्वारा अन्य अर्थ का प्रकाशन वक्रोक्ति माना जाता है। जयदेव ने इसी लक्षण में 'अपरार्थ०' शब्द के स्थान पर 'वाच्यार्थ०' शब्द रखा था।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर की अपूर्णता यहाँ भी खलती है। उसके उपलब्ध अंश में यह अलंकार नहीं है। विश्वेश्वर के अलंकारकौस्तुभ में केवल अर्थालंकारों का ही निरूपण है। उनमें वक्रोक्ति नहीं मिलती। वे कदाचित् इसे मम्मट के ही समान केवल शब्दालंकार मानते हैं। श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका इस पर इस प्रकार है—

'अन्यथायोजनं वाक्ये वक्रोक्तिरभिधीयते।
द्विप्रकारा च विज्ञेया काकुश्लेषसमाश्रयात्॥'

२. वक्रोक्ति अलङ्कारसामान्य—

अलंकार मात्र को वक्रोक्ति मानने की जो चर्चा सर्वस्व में आई है उसका मूल भामह की की निम्नलिखित घोषणा है—

'सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो नया विना॥'
[काव्यालं० २।८५]

'अतिशयपूर्ण उक्ति ही वक्रोक्ति होती है। इसीसे काव्यार्थ में विशेषता आती है। कवि को इसके लिये यत्नशील रहना चाहिए। इसके बिना कौन अलंकार अलंकार बन सकता है। अतिशयोक्ति को काव्य का सामान्य अलंकार दण्डी ने बतलाया था उन्होंने अतिशयोक्ति प्रकरण के अन्त में लिखा था—

'अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्॥' २।२२० ॥

भामह ने यद्यपि अतिशयतत्त्व को ही महत्त्व दिया था किन्तु उक्त वक्रि की तुला वक्रता की ओर अधिक झुक गई। भामह ने इसके पूर्व भी अवक्रोक्ति [१.३४] काव्य को अच्छा काव्य नहीं कहा था। अलंकारसामान्य का लक्षण करते हुए भी उन्होंने लिखा था—'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः [१.३६] इसमें अर्थ और शब्द की वक्रतापूर्ण उक्ति ही काव्य का अलंकार मान्य है। दण्डी के अतिशयत्त्व में निहित ही भामह ने वक्रतातत्त्व खोज निकाला था। और उसे अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व दिया था। इसी कारण उनकी उपर्युक्त—'सैषा सर्वैव०' कारिका आनन्दवर्धन और मम्मट ने भी प्रमाणभूत कारिका या सिद्धान्तवचन के रूप में स्वीकार कर ली है। आनन्दवर्धन और मम्मट के बीच हुए कुन्तकाचार्य ने तो वक्रोक्ति को ही काव्य का प्रमुख तत्त्व स्वीकार कर लिया था। सर्वस्वकार ने आरम्भिक भूमिका में उनका उल्लेख भी किया है। उनका मत है—

'उभावेतावलङ्कार्यौ तयोः पुनरलङ्कृतिः।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरिष्यते ॥'

शब्द और अर्थ अलंकार्य हैं और उनका अलङ्कार है वक्रोक्ति। जिसका स्वरूप है वैदग्ध्यपूर्वक विचित्रता के साथ कही उक्ति ॥

मंख ने श्रीकण्ठचरित में वक्रोक्ति को चन्द्रकला के बाँकपने के समान सर्वाधिक आवर्जक तत्त्व माना है—

'कलंकयुल्यापि रसप्रवाहमपि स्रवन्ती विबुधैकभोग्यम्।
वाणी किमेणांककलेव धत्ते टङ्कं विना वक्रिमविभ्रमेण ॥' [२.११]

[सर्वस्व]

[सू० ७९] सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनं स्वभावोक्तिः।

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालंकारः। तत्त्वे सति सर्वं काव्यमलंकारि स्यात्। न हि तत्काव्यमस्ति यत्र न वस्तुस्वभाववर्णनम्। तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम्। सूक्ष्मः कविमात्रस्य गम्यः। अत एव तन्निर्मित एव यो वस्तुभावस्तस्य यथावदन्यूनानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावोक्तिरलंकारः। उक्तिवाचोयुक्तिप्रस्तावादिह लक्षणम्। भाविकरसवदलंकाराभ्यामस्य भेदो भाविकप्रसङ्गे निर्णेष्यते। यथा—

'हुङ्कारो नखकोटिचञ्चुपुटकव्याघट्टनोट्टङ्कित-
स्तन्व्याः कुन्तलकौतुकव्यतिकरे सीत्कारसीमन्तितः।
पृष्ठश्लिष्यदवामनस्तनभरोत्सेव्याङ्कपालीसुधा-
सेकाकेकरलोचनस्य कृतिनः कर्णावतंसीभवेत् ॥'

[सूत्र ७९] वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का यथावत् वर्णन स्वभावोक्ति [नामक अलंकार कहलाता] है ॥

[वृत्ति] यहाँ [काव्य में] वस्तु के केवल स्वभाव [स्वरूप] का वर्णन अलंकार नहीं होता, वैसा होने पर सभी काव्य अलंकार युक्त हो जाएँगे। क्योंकि ऐसा कोई काव्य नहीं जिसमें वस्तु के स्वभाव [स्वरूप] का वर्णन न हो। इस हेतु [लक्षण में] सूक्ष्म शब्द का

ग्रहण किया। सूक्ष्म का अर्थ है एकमात्र कवित्व [कविप्रतिभा] का विषय। इस प्रकार वस्तु का जो स्वभाव [स्वरूप] उस [कविप्रतिभारूप कवित्व] के द्वारा निष्पन्न होता है उसको [यथावत्] जैसा का तैसा अर्थात् उसका कोई अंश छोड़े या उसमें कोई अंश जोड़े बिना हुआ वर्णन स्वभावोक्ति नामक अलंकार होता है। [व्याजोक्ति, वक्रोक्ति इस प्रकार] उक्ति शब्दान्त अलंकारों का प्रकरण होने से इसका लक्षण यहाँ किया गया। भाविक और रसवद् अलंकारों से इसका अन्तर भाविक के प्रकरण में तय किया जाएगा। उदाहरण, यथा—

[नायिका ने अपनी पीवर छाती नायक की पीठ में सटा दी, नायक की आँखें काम के नशे में चूर हो गईं। उसने नायिका को नखों से कुरेदा और काष्ठागत कामावेश में जब केश पकड़ कर रतिक्रिया करना आरम्भ किया तो नायिका ने पहले सीत्कार करना शुरू किया अन्त में कृतकृत्य हो जाने से भरपूर्णकाम नायक के निवारण लिए 'हुँ हुँ' करना आरम्भ किया। पूर्वभूमिका से लेकर दर्पशमन तक हुई इस रमण क्रिया को कवि यथावत् प्रस्तुत करते हुए कहता है—]

[नायिकाद्वारा]'पीछे से आकर चिपकर जा रहे, अवामन और विशाल स्तनों के उभार की गोद में भरी सुधा के सेक से आकेकर [शृंगारभावपूर्ण] नेत्र वाला कोई ही ऐसा बड़भागी होता है जिसे नखों की चिमटी की कुरेद से उमड़ा और केशकौतुक आरम्भ करने पर सीत्कार से बढ़ा-बढ़ा हुंकार कर्णावतंस बनाने का अवसर मिलता है ॥'

विमर्शिनी

सूक्ष्मेत्यादि। ननु कथं वस्तुवर्णनमात्रमलंकार इत्याह—इहेत्यादि। 'तदतिशयहेतव-स्त्वलंकाराः' इति नीत्या वस्तवतिशयदायिनां धर्माणामलंकारत्वात्कथं वस्तुमात्रस्यैवा-लंकारत्वं स्यादिति भावः। ननु कथमेतत्सूक्ष्ममात्रग्रहणेनैव समाहितमित्याशङ्क्याह—सूक्ष्म इत्यादि। कवित्वमात्रस्येति। कुशाग्रीयधिषणत्वात्। एवं स्थूलमतीनामकवीनां कुक-वीनां तस्यावगमेऽपि तथा विकल्पारोहो न भवेदिति भावः। अत एवेति। कवित्वमात्र-गम्यत्वात्। तन्निर्मित एवेति। अन्येषां तथात्वेन वक्तुमशक्यत्वात्। तद्वस्तुगतस्यासाधा-रणस्य फलक्रियादेः संभवतः स्वभावस्य शब्देन प्रतिपादनमात्रत्वात्तन्निर्मित एवेत्युक्तम्। अन्यूनानतिरिक्तत्वेनेति। यथा वस्तुनि संभवतीत्यर्थः। अत एव सचेतसां वस्तुगतस्य सूक्ष्मसुभगस्य वस्तुनो वर्णनेन हृदयसंवादाच्च किमयं रसवदलंकारो वा न भवतीत्या-शङ्क्याह—भाविकेत्यादि। तत्र निर्णेष्यमाणस्यैतद्भेदस्य—

> 'वस्तुनश्चित्तवृत्तेश्च संवादः स्फुटता प्रथा।
> स्वभावोक्ते रसवतो भाविकस्य च लक्षणम् ॥'

इत्ययं संक्षेपः।

सूक्ष्म इत्यादि। भला 'वस्तुवर्णनमात्र अलंकार कैसे हो सकता है' ऐसी शंका उठा लिखते हैं—'इह०। अर्थ यह कि [वामन की] 'अलंकार वे होते हैं जो उस [शब्दार्थ रूप] काव्य में अतिशय लाते हैं' इस उक्ति के अनुसार वस्तु में अतिशय लाने वाले धर्मों को अलंकार कहा जाता है, अतः केवल वस्तुमात्र को अलंकार कैसे माना जा सकता है। भला 'सूक्ष्मशब्दमात्र के ग्रहण से इसका समाधान कैसे हो जाता है, ऐसी शंका उठाकर कहते हैं— सूक्ष्म इत्यादि। कवित्व-मात्रस्य = कविप्रतिभामात्र क्योंकि कवि कुश के अग्रभाग के समान पैनी बुद्धि वाला होता है। इसका अर्थ यह कि स्थूलबुद्धि वाले अकवि या कुकवि उसे [वस्तु को लौकिक भूमिका पर]

जान भी लें तो उनमें [उनकी बुद्धि में वैसा विकल्प नहीं उठता । अत एव = इस कारण = क्योंकि वह केवल कवित्व [प्रतिभा] मात्र का विषय होता है इस कारण । तन्निर्मित एव = क्योंकि अन्य वस्तुओं को तद्रूप नहीं बतलाया जा सकता । इस प्रकार वस्तु में जो फल कियादि रूप असाधारण स्वभाव (स्वरूप) रहता है उसका शब्द से प्रतिपादन करने मात्र के कारण 'तन्निर्मित एव = उससे निष्पादित ही' कहा । अन्यूनानतिरिक्तत्वे = कुछ छोड़े या कुछ जोड़े बिना अर्थात् वस्तु में जैसा जैसा स्वरूप सम्भव होता है । वस्तुस्वरूप में स्थित सूक्ष्म और सुन्दर वस्तु का वर्णन होने से यहाँ सहृदयों का हृदयसंवाद रहता है। इस कारण इसे रसवदलंकार क्यों न माना जाए' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'भाविक०' इत्यादि। इसका जो भेद यहाँ स्थिर किया जाने वाला है उसका संक्षेप यह है—'वस्तुनश्चित्तवृत्तेश्च—०' अर्थात् वस्तु और चित्तवृत्ति के संवाद में स्वभावोक्ति, स्फुटता में रसवद् तथा प्रथा में भाविक अलंकार होते हैं ॥'

विमर्श—

इतिहास—स्वभावोक्ति को दण्डी ने सभी अलंकारों में प्रथम स्थान दिया था। अलंकारों के नाम गिनाते हुए उन्होंने लिखा था—

दण्डी—स्वभावाख्यानमुपमा रूपकं दीपकावृती ।२।४। स्वभावाख्यान को आगे वे स्वभावोक्ति और जाति नाम से पुकारते और उपमा के पहले उसका लक्षण इस प्रकार करते हैं—

'नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा ॥'

जो अलंकार पदार्थों के नाना प्रकार के रूप का मानों साक्षात्कार कराता है वह स्वभावोक्ति या जाति कहलाता है। यह प्रथम अलंकार है। पदार्थ के जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के रूप में विभक्त होने से दण्डी ने स्वभावोक्ति के भी चार उदाहरण दिए हैं। उनमें जाति का उदाहरण निम्नलिखित है—

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः ।
त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः ॥ २ । ९ ॥

लाल और टेढ़ी चोंच, हरे और कोमल पंख तथा तिरंगी धारियों के कण्ठ से युक्त ये शुक बड़ी ही मीठी बोली बोलते हैं। अन्त में उन्होंने लिखा है—

'स्वभावाख्यानमीदृशम् । शास्त्रे स्वस्यैव साम्राज्यं काव्ये स्वस्यैतदीप्सितम् ॥'

यह जो जात्यादि भेद से उपर्युक्त चतुर्विध आख्यान है, शास्त्रों में तो इसी का साम्राज्य है ही, काव्यों में भी यह कवियों को अभीष्ट है।' निश्चित ही स्वभावोक्ति की स्थापना का श्रेय दण्डी को है।

भामह का स्वर स्वभावोक्ति के विषय में मन्द है। द्वितीय परिच्छेद के अन्त में वे लिखते हैं—

'स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते ।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा ॥ २ । ९३ ॥
आक्रोशन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डले रुदन् ।
गा वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः ।
समासेनोदितमिदं धीखेदायैव विस्तरः ॥' २ । ९४ ।

'कुछ आचार्य स्वभावोक्ति को भी अलंकार बतलाते हैं। अर्थ की तदवस्थता [लोकवद् काव्यस्थिति] स्वभाव कहलाता है। उदाहरण – 'स्वयं चिल्लाता, दूसरों को पुकारता गोल गोल घूमता और रोता हुआ किसान-बालक दण्डे से सस्य [कच्ची फसल, द्रष्टव्य डॉ० अग्रवाल का पाणिनिकालीन भारतवर्ष] में उतरी गाय भगा रहा है।

हमने इसे संक्षेप में बतलाया, क्योंकि इसका विस्तार बुद्धिव्यायाम मात्र है। २।९३, ९४॥ स्पष्ट ही भामह का कटाक्ष दण्डी की स्वभावोक्तिसंबन्धी महत्त्वबुद्धि पर है।

वामन तो भामह के ही अनुयायी ठहरे। उन्होंने सचमुच स्वभावोक्ति को अनलङ्कार मान छोड़ दिया।

उद्भट—ने इसे महत्त्व दिया। उन्होंने इसका लक्षण इस प्रकार बनाया—

'क्रियायां संप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम्।
कस्यचिन्मृगडिम्भादेः स्वभावोक्तिरुदाहृता॥' ३।५॥

'कुछ कर रहे मृग या बच्चों आदि की चेष्टाओं का शब्द द्वारा चित्रण स्वभावोक्ति कही गई है।' यथा—

'क्षणं नंष्ट्रार्धवलितः शृङ्गेणाग्रे क्षणं नुदन्।
लोलीकरोति प्रणयादिमामेष मृगार्भकः॥'

'भगवती पार्वती को यह' मृगशावक जरा एक छिपकर, आधा घूमकर, सामने सींग से धकाकर स्नेहवश चंचल बना देता है।' अवश्य ही उद्भट का स्वभावोक्तिनिरूपण वाञ्छित समृद्धि से रहित और कदाचित् स्वभावोक्ति में अलंकारत्व की पुनः प्रतिष्ठा तक सीमित है।

रुद्रट—रुद्रट ने इसे जाति नाम से अलंकारों के वास्तवनामक प्रथम वर्ग में गिना है। उनका निरूपण—

'संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्कथनमनन्यथा जातिः॥' ७।३०॥

'लोक में जिसकी आकृति, स्थिति, क्रिया आदि चिरकाल से जैसी प्रसिद्ध हो उनका अनन्यथा = जैसा का तैसा कथन जाति कहलाता है।' अधिक स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—

'शिशु-मुग्धयुवति-कातरतिर्यक्-संभ्रान्तहीनपात्राणाम्।
सा कालावस्थोचितचेष्टासु विशेषतो रम्या॥' ३।३१॥

शिशु, भोली युवति, कातर तिर्यक्, भीत अधम पात्रों की समय और अवस्था के अनुरूप चेष्टाओं में वह अधिक खुलती है। कातर और संभ्रान्त को तिर्यक् और पात्रों का विशेषण न मान स्वतन्त्र भी माना जा सकता है। नमि साधु ने माना भी है। उदाहरणार्थ शिशुवर्णन, यथा—

'धूलीधूसरतनवो राज्यस्थितिरचनकल्पितैकनृपाः।
कृतमुखवाद्यविकाराः क्रीडन्ति सुनिर्भरं डिम्भाः॥'

'बच्चे खूब खेल रहे हैं। उनके शरीर धूलीधूसर है, खेल-खेल में राज्य बनाकर उन्होंने किसी को राजा बना रखा है, वे मुख से बाजे बजा रहे हैं। एक अन्य उदाहरण द्वारा उन्होंने मुग्धयुवति का चित्र भी प्रस्तुत किया है। स्पष्ट है कि रुद्रट ने स्वभावोक्ति को उचित महत्त्व दिया।

मम्मट—

'स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम्।'

बच्चों आदि की अपनी क्रिया, उनके रूप अर्थात् रंग और शरीर का वर्णन स्वभावोक्ति कहाता है। उदाहरण के रूप में उन्होंने हर्षचरित का यह अश्ववर्णन प्रस्तुत किया है—

'पश्चादङ्घ्री प्रसार्य त्रिकनतिविततं द्राघयित्वाङ्गमुच्चै-
रासज्याभुग्नकण्ठो मुखमुरसि सटां धूलिधूम्रां विधूय।
घासग्रासाभिलाषादनवरतचलत्प्रोथतुण्डस्तुरङ्गो
मन्दं शब्दायमानो विलिखति शयनादुत्थितः क्ष्मां खुरेण॥'

'सोकर उठे घोड़े ने पिछली टाप पीछे फैलाई और पीठ को झुकाते हुए शरीर को लम्बा किया, उसने धूलिधूसर सटा को हिलाकर गरदन टेढी की और मुँह पेट में चिपकाया। घाँस के कौर की इच्छा से उसके थुथने निरन्तर फड़फड़ा रहे हैं और वह धीमे-धीमे कुछ शब्द कर रहा है।'

मम्मट के लक्षण तक 'डिम्भ या शिशु' का जो अस्तित्व चला आया उससे इस अलंकार की भामह से आगे बढ़ी सुदीर्घ परम्परा का आभास मिलता है।

रुद्रट और मम्मट के बीच स्वभावोक्ति को लेकर एक बहुत ही गम्भीर विवाद भी उठा था। कुन्तक ने स्वभावोक्ति की अलंकारता का बड़ी ही दृढ़ता और तर्ककर्कशता के साथ खण्डन किया और उसका उतनी ही विदग्धता के साथ व्यक्तिविवेककार राजानक महिमभट्ट ने समर्थन-वक्रोक्तिजीवित में कुन्तक का स्वभावोक्ति सम्बन्धी विवेचन इस प्रकार है—

'अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ॥
स्वभावव्यतिरेकेण वक्तुमेव न युज्यते।
वस्तु तद्रहितं यस्मान्निरुपाख्यं प्रसज्यते ॥ १। १२ ॥
शरीरं चेदलंकारः किमलङ्कुरुते परम्।
आत्मैव नात्मनः स्कन्धं क्वचिदप्यधिरोहति ॥ १। १३ ॥
भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे।
भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥ १। १४ ॥
स्पष्टे सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे सङ्करस्ततः।
अलङ्कारान्तराणां च विषयो नावतिष्ठते ॥ १। १५ ॥

'अलंकार ग्रन्थ बनाने वाले जिन आचार्यों को स्वभावोक्ति अलंकाररूप में मान्य है उनके यहाँ अलंकार्यरूप में क्या शेष रहता है जो उस [स्वभाव] से भिन्न हो। कारण कि स्वभाव को छोड़ कर तो कुछ भी बोलना संभव नहीं होता। उससे रहित वस्तु अगोचर अवर्णनीय हो जाती है। यदि शरीर ही अलंकार है तो फिर उससे भिन्न ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे वह अलंकृत करता है, स्वयं अपने ही कन्धे पर स्वयं कदापि नहीं चढ़ सकता। यदि स्वभाव अलंकार है तो अन्य अलंकार आने पर दोनों में भिन्नता प्रतीत होगी या नहीं। यदि होगी तो प्रत्येक काव्य में संसृष्टि ही अलंकार होगी, यदि नहीं तो केवल संकर। इस प्रकार अन्य अलंकारों के लिए कोई स्थान ही शेष नहीं रहेगा।'

स्वभाव शब्द की व्याख्या भी, कुन्तक ने, इस प्रकार की थी—'स्वभावस्य पदार्थधर्मलक्षणस्य परिस्पन्दस्य उक्तिरभिधा'=स्वभाव अर्थात् पदार्थ का धर्म जो इन्द्रियगोचर होता है उसकी उक्ति अभिधा'।

महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में इसका बहुत ही दार्शनिक उत्तर दिया है। उन्होंने अवाच्यवचन नामक दोष के निरूपण में स्वरूपानुवादमात्र परक विशेषण को निरर्थक और थोथा कहकर त्याज्य बतलाया है और लिखा है—

यत् स्वरूपानुवादैकफलं फल्गु विशेषणम्।
अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्पृनमप्रतिभोद्भवम् ॥
तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम्।
तद् वृत्तपूरणायैव न कवित्वाय कल्पते ॥ [पृ० १५१ चौखंभा संस्करण २]

—'जो विशेषण केवल स्वरूप मात्र का अनुवादक होता है, फलतः निःसार और संप्रेषणीयता-शून्य होता है, इसीलिए जो प्रतिभाशून्यता का परिचायक होता है, वह विशेषण अवाच्य कहलाता है। उसका वचन=कथन अवाच्यवचन दोष होता है। ऐसा विशेषण केवल छन्दःपूर्तिकारक होता है, इससे कवित्व सिद्ध नहीं होता।' इसी प्रकार के विशेषणों को अपुष्टार्थ विशेषण माना जाता है। उदाहरणार्थ 'कुश शत्रुओं का अंकुशवस्तु था [रघु० १६]' यहाँ अंकुश के साथ वस्तु शब्द निरर्थक ही है।

इस पर स्वभावोक्ति की चर्चा चलाते हुए महिमाचार्य ने लिखा—

कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलङ्कारत्वमिष्यते।
न हि स्वभावमात्रोक्तौ विशेषः कश्चनानयोः॥ [पृ० ४५२-वही]

तब स्वभावोक्ति को अलंकार कैसे माना जाता है। स्वभावमात्र की उक्ति और इस अवाच्य-वचन में अन्तर ही क्या है। इस पर उत्तर देते हुए लिखा।

'उच्यते, वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः॥
स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः।
अत एवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम्॥
विशिष्टमस्य यद् रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम्॥
अर्थस्वभावस्योक्तिर्या सालङ्कारतया मता।
यतः साक्षादिवाभान्ति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः॥'

[व्यक्तिविवेक चौ० सं० पृ० ४५२-५३]

उत्तर यह है कि वस्तु के दो रूप होते हैं। एक सामान्यरूप, जो विकल्प [अविस्पष्ट ज्ञान] का विषय रहता है। सब के सब शब्द उसी का ज्ञान कराते हैं। इसीलिए वे सामान्यात्मक अभिधेय [अर्थ] का ज्ञान कराते हैं। इसके अतिरिक्त इनका जो विशिष्ट रूप होता है वह प्रत्यक्षप्रमाण का विषय होता है। किन्तु सत्कवि की प्रतिभाप्रसूत वाणी इसी विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत किया करती है। इस प्रकार अर्थ के इस विशिष्ट स्वभाव की जो उक्ति होती है इसे अलंकार स्वीकार किया गया है। क्योंकि इस उक्ति में प्रतिभा द्वारा अर्पित सभी पदार्थ ऐसे दिखाई देते हैं जैसे उनका ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण से हो रहा हो।'

अन्य अलंकारों के विषय में उन्होंने लिखा कि—

'सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालङ्कारगोचरः॥' [पृ० ४५५ वही]

[स्वभावोक्ति में आए विशिष्ट वस्तुस्वभाव के अतिरिक्त जो] वस्तु का सामान्य स्वभाव है वह अन्य अलंकारों का विषय बनता है।

इस प्रकार स्वभावोक्ति तब अलंकार मानी जाती है जब वस्तु का बिम्ब प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत कर देती है। ऊपर आए अश्वादि के वर्णन ऐसे ही हैं। सर्वस्वकार ने सूत्र में सूक्ष्म शब्द और वृत्ति में कविव्यक्तित्व को स्थान देकर महिमभट्ट की स्थापना यथावत् अंगीकार करली है। ग्रन्थकार ने यहाँ इस प्रकार के विशेष स्वभाव को प्रतिभानिर्मित कह दिया है। द्वीपान्तरादि के अप्रत्यक्ष पदार्थ यदि प्रत्यक्षवत् प्रस्तुत हों तो उन्हें अतिमैकप्रसूत माना ही जाएगा। कविबुद्ध्‌धु-पारूढि और शब्दार्पितता इन दो तत्त्वों का महत्त्व इस प्रसंग में जानना आवश्यक है। कवि के मानस में चित्रित वस्तुबिम्ब प्रतिमा पर आरूढ होने के बाद जब कला के कविकर्म पर जमाया

आता है तभी वह वर्णनशब्द का विषय बनता है। इस प्रकार वर्णनतत्त्व कला या शिल्प की परिधि का द्योतक शब्द है। स्वभाव स्वत: में अलंकार नहीं होता जबतक वह शिल्प की इस भूमिका पर प्रतिष्ठापित न हो। अत: उसकी उक्ति ही अलंकार बनती है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से कला की मीमांसा करने पर स्वभावोक्ति को उक्त बोधप्रक्रिया मनोवैज्ञानिक और अनुभवसिद्ध प्रक्रिया सिद्ध होती है।

परवर्ती आचार्यों में रत्नाकरकार शोभाकरमिश्र ने

शोभाकर—स्वभावोक्ति का निरूपण अलंकारसर्वस्वकार की ही लीक पर किया है—

[सू०] सम्यक् स्वभाववर्णनं स्वभावोक्ति ॥ १०६ ॥
'स्वभाव का सम्यक् वर्णन स्वभावोक्ति।'

इसकी व्याख्या करते हुए रत्नाकरकार ने सर्वस्वकार की सभी मान्यताओं को और भी विशद कर दिया है—

'द्विविधो वस्तुन स्वभाव स्थूल. सूक्ष्मश्च तत्र कविनुमात्रगोचर स्थूल., तस्य वर्णने न कश्चिद-लङ्कार, सर्वस्य काव्यस्य स्वभावोक्तिप्रसङ्गात्। सम्यग् वर्ण्यमानस्तु स्वभावः सूक्ष्म.। स तु महा-कविगोचर.। तस्य सम्यग् वर्ण्यमानस्यान्यूनानतिरिक्तत्वेन स्वभावोक्ति'। न तु साधारणस्य रूपक्रियादेस्तत्तद्बालादिगतस्य शब्देन प्रतिपादनम्, अपितु यथैव वस्तु तथैव प्रतिपादनमिति वस्तुवादिनो यत्र शब्दात् प्रतिपत्तिर्भवति तत्रैवालङ्कारः।'

—'वस्तु का स्वभाव दो प्रकार का होता है—स्थूल तथा सूक्ष्म। इनमें स्थूल सभी कवियों का विषय होता है, उनके वर्णन में कोई अलंकार नहीं होता, अन्यथा सभी काव्यों में स्वभावोक्ति माननी पड़ जाएगी। जो स्वभाव सम्यक् वर्णित होता है उसे सूक्ष्म कहते हैं। वह केवल महाकवि का विषय होता है। उस सम्यक् वर्णित स्वभाव का अन्यून अनतिरिक्त रूप से कथन स्वभावोक्ति [अलंकार] कहलाता है। न कि बालक आदि के साधारण से रूप और चेष्टाओं का शब्द से प्रतिपादन। इस प्रकार जहाँ शब्द से हुआ बोध वस्तुस्वरूप से मिलता होता है, वहीं इसे अलंकार माना जाता है। यहाँ स्वभावगत सूक्ष्मत्व को रत्नाकर ने और भी सूक्ष्म कर कवि से महाकवि तक सीमित किया है।

अन्य अलंकारों में वस्तु के जिस स्वभाव की चर्चा महिमभट्ट में मिलती है उसी ओर लक्ष्य कर रत्नाकरकार ने भी स्वभावोक्ति का अन्य अलंकारों से अन्तर इस प्रकार बतलाया है—

'अन्यालंकारसंसर्गे स्वभावोक्त्यादि यद्यपि।
वाक्यार्थीभावविरहादङ्गमेव तथापि तु॥
यथोत्कटतया भाति तत्राङ्गित्वेन युज्यते।
स्वभावोक्त्याद्यलङ्कारस्तस्मादन्यत्र संकर.॥

अन्य अलंकार में भी जहाँ स्वभावोक्ति मिलती है वहाँ वह अप्रधान रहती है, किन्तु जहाँ वह प्रधान रूप से प्रतीत होती है, वहाँ स्वभावोक्ति अलंकार कहलाती है। अन्य अलंकार प्रधान होते हैं तो अलंकार का नाम उनके नाम से लिया जाता है, और जहाँ मिश्रण की स्थिति रहती है वहाँ संकर [संसृष्टि भी]। स्पष्ट- महिमभट्ट से आगे बढ़कर रत्नाकरकार ने अन्य अलंकारों में भी वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव का अस्तित्व स्वीकार कर लिया है।

अप्पयदीक्षित—ने स्वभावोक्ति पर आचार्यों की सिद्ध मान्यतामात्र इस प्रकार प्रस्तुत कर दी है—'स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम्।' 'बच्चों आदि के जाति आदि रूप

स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है।' स्पष्ट ही अप्पयदीक्षित स्वभावोक्ति की छकड़ी खींचते दीख पड़ते हैं।

विश्वेश्वर—'यो वस्तुनः स्वभावस्तस्य निरुक्तिः स्वभावोक्तिः।'

तज्जातीय—नियत-धर्मवर्णनं स्वभावोक्तिः।

वस्तु का जो स्वभाव होता है उसका निर्वचन स्वभावोक्ति होगा। अर्थात् व्यक्तिविशेष के अपने असाधारण धर्म का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाएगा। विश्वेश्वर ने स्वभाव को दो प्रकार का बतलाया—'साधारण तथा प्रातिस्विक। इनमें से प्रातिस्विक स्वभाव को वे भी प्रतिभामात्र का विषय बतलाते प्रतीत होते हैं।

इस पर विद्याचक्रवर्ती की निष्कर्षार्थकारिका यह है—

'स्वभावोक्तिर्बुधोन्नेयवस्तुस्वाभाव्यवर्णनम्।

वस्तु के कवियों द्वारा कल्पना द्वारा विहित स्वभाव का वर्णन स्वभावोक्ति कहलाता है।

पाठान्तर—सूत्र में 'स्वभावस्य' इस प्रकार व्यस्त पद भी मिलता है किन्तु वृत्ति में बार-बार 'वस्तुस्वभाववर्णन' शब्द आने से हमने समस्त पाठ ही ठीक माना है। वृत्ति में कविप्रतिभामात्रस्य गोचरः की जगह 'कवितृमात्र गोचर' तथा 'कविमात्रगोचर' पाठ भी है।

[सर्वस्व]

[सूत्र ८०] अतीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्।

अतीतानागतयोर्भूतभाविनोरर्थयोरलौकिकत्वेनात्यद्भुतत्वाद् व्यस्तसम्बन्धरहितशब्दसन्दर्भसमर्पितत्वाच्च प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्। कविगतो भाव आशयः श्रोतरि प्रतिबिम्बत्वेनास्तीति, भावो भावना वा पुनः पुनश्चेतसि निवेशनम्, सोऽत्रास्तीति।

न चेयं भ्रान्तिः। भूतभाविनो भूतभावितयैव प्रकाशनात्। नापि रामोऽभूदितिवद् वस्तुमात्रम्। भूतभावितस्य प्रत्यक्षत्वाख्यस्य धर्मस्य स्फुटस्याधिकस्य प्रतिलम्भात्। नापीयमतिशयोक्तिः। अन्यस्यान्यतयाध्यवसायाभावात्। नहि भूतभाव्यभूतभावित्वेनाध्यवसीयते, अभूतभावि वा भूतभावित्वेनापि, प्रत्यक्षमप्रत्यक्षत्वेन, अप्रत्यक्षमपि प्रत्यक्षत्वेन।

न हि प्रत्यक्षत्वं केवलं वस्तुधर्मः। प्रतिपत्त्रपेक्षयैव वस्तुनि तथा भावात्। यदाहुः—'तत्र यो ज्ञानप्रतिभासमात्मनोऽन्वयव्यतिरेकावनुकारयति स प्रत्यक्षः' इति। केवलं वस्तुप्रत्यक्षत्वे प्रतिपत्तुः सामग्री उपयुज्यते। सा च लोकयात्रायां चक्षुरादीन्द्रियस्वभावायोगिनामतीन्द्रियार्थदर्शने भावनारूपा, काव्यार्थविदां च भावनास्वभावैव। सा च भावना वस्तुगत्यात्यद्भुतत्वप्रयुक्ता। अत्यद्भुतानां च वस्तूनामादरप्रत्ययेन हृदि संधार्यमाणत्वात्।

[सू० ८०] अतीत और अनागत का प्रत्यक्ष जैसा बोध भाविक [नामक अलंकार कहलाता] है॥

[वृ०] अतीत और अनागत अर्थात् भूत और भावी पदार्थ का प्रत्यक्ष जैसा बोध भाविक कहलाता है। यह बोध उन पदार्थों की लोकोत्तरता, अद्भुतता और ऐसे शब्दसंदर्भ द्वारा उपस्थिति से होता है जिस [के अर्थों] का सबन्ध बिखरा नहीं रहता [अर्थात् जिनमें कोई उलझन नहीं रहती। यह [भाविक नाम इसे] इस कारण [दिया जाता है] कि इसमें कवि का आशय श्रोता में प्रतिबिम्बित होता है, अथवा [इस कारण कि इसमें] भाव अर्थात् भावना अर्थात् चित्त में पुनः पुनः निवेशन रहता है।

यह [प्रत्यक्ष जैसा बोध] भ्रान्ति नहीं है, क्योंकि इसमें भूत और भावी का ज्ञान भूत और भावी के रूप में ही होता है। यह 'राम था' इस प्रकार का वस्तुमात्र भी नहीं है [जिसमे अलंकार न हो], क्योंकि इसमें भूत और भावी पदार्थों के भीतर एक अतिरिक्त और स्पष्ट प्रत्यक्षत्व नामक धर्म भी मिलता है। यह अतिशयोक्ति भी नहीं है, क्योंकि इसमें अन्य का अन्य रूप में अध्यवसान [निगरणात्मक बोध] नहीं होता।

ऐसा नहीं है कि यहाँ भूत और भावी [तद्विरुद्ध] अभूत और अभावी रूप से अध्यवसित होते हों अथवा अभूत और अभावी [तद्विपरीत] भूत और भावी रूप में, अथवा प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप में या अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष रूप में। प्रत्यक्षत्व केवल [ज्ञेयभूत] वस्तु में रहने वाला धर्म नहीं होता, वस्तु में रहता है वह ज्ञान को लेकर। जैसा कि कहा है—'कोई भी पदार्थ तब प्रत्यक्ष कहलाता है जब कि वह अपने अन्वयव्यतिरेक का ज्ञानप्रतिभास [के अन्वयव्यतिरेक] से अनुकरण कराता है। इतना अवश्य है कि वस्तु के प्रत्यक्ष के लिए ज्ञाता को [सहायक] सामग्री की आवश्यकता होती है। और वह संसार में चक्षुरादि इन्द्रियरूप होती है, योगियों को [धर्मअधर्म आदि] अतीन्द्रिय पदार्थों के प्रत्यक्ष हेतु वह भावनारूप होती है, और काव्य में भी वह भावनारूप ही होती है। वह भावना वास्तविकरूप से [काव्यवस्तुनिष्ठ] अत्यद्भुतता से निष्पन्न होती है। क्योंकि जो पदार्थ अत्यन्त अद्भुत होते हैं उन्हें आदरभाव के साथ अपनाया जाता है।

विमर्शिनी

अतीतानागतयोरित्यादि। एतदेव व्याचष्टे—अतीतेत्यादि। अलौकिकार्थेनेत्यनेन तत्प्रत्यक्षायमानार्हत्वमुक्तम्। व्यस्तेनेति। यद्यपि वाचामाकुलत्वं सर्वत्रैव वर्जनीयं तथापि तत्तत्र वैयर्थ्येनार्थविशेषाप्रतीतेर्विघ्नमात्रफलम्। इह तु तदाकुलत्वेनातीतानागतयोः प्रत्यक्षायमाणत्वमेव न स्यादिति प्राधान्येनैतदुक्तम्। एवमनेन हेतुद्वयेनास्यालंकारत्वमुक्तम्। इह वाच्यवाचकयो रामणीयकमित्युक्तम्। अत एवैकस्यापि रामणीयकहानौ नास्यालंकारत्वम्। इह हि केचिदर्थाः कविवचसि सुस्पष्टमधिरूढा अपि निजसौभाग्याभावात् तृणदाकरावत् सहृदयानामवज्ञास्पदतया नावधानार्हाः। केचिच्च सुभगा अपि दुर्भगशब्दोपारोहितया सहृदयानामनावर्जका एवेत्युभयमपीहावश्यमाश्रयणीयम्। यदाहुः—

> 'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः।
> अत्यद्भुताः स्यात् तद् वाचामनाकुलत्वेन भाविकम्॥' इति।

वाशब्दः पक्षान्तरद्योतकः। ननु प्रत्यक्षाणां भूतभाविनां प्रत्यक्षेणोपनिबन्धाद् भ्रान्तिमानेवायं किं न भवतीत्याशङ्क्याह—न चेयमित्यादिना। ननु यदि भूतभावितयैव प्रतीयन्ते तर्हि तद् वस्त्वेव किं नेत्याशङ्क्याह—नापीति। अधिकस्येति। वस्तुवृत्ते तस्यासंभवात्। अत एवास्य ततो व्यतिरेकः नन्वन्यस्यान्यतयाध्यवसायात्किं नायमतिशयोक्तिरित्याशङ्क्याह—नापीयमित्यादि। भूतभाविनो भूतभावितयैवास्फुटतयावगमात्। नन्वत्राप्रत्यक्षमेव प्रत्य-

त्वेन किं नाध्यवसितमित्याशङ्क्याह—नहीत्यादि । तच्चाप्रस्तुतत्वाद्गहनत्वाच्च नेह प्रपञ्चितम् । ननु यद्येवं तत्प्रमातुः सदैव समस्तवाह्यवस्त्ववगमः किं न स्यादित्याशङ्क्याह—केवलमित्यादि । भावनारूपेति । तत्रेन्द्रियादीनामव्यापारणात् । एवं योगिनां भावनाबलाद् भूतभावितयैव प्रत्यक्षावभास इति भावः । यदाहुः—'अतीतानागतज्ञानं प्रत्यक्षान्न विशिष्यते' इति । चः समुच्चये । तेन योगिनामतीन्द्रियार्थदर्शने यथा भावना निमित्तं तथैव काव्यार्थविदामपीत्यर्थः । तस्याश्च निमित्तमाह—सा चेत्यादि । वस्तुनोऽत्यद्भुतत्वमादरे निमित्तम् । आदराच्च वस्तुनो हृदि संधारणम् । तच्च तदेकतानतया प्रहृष्टं सद्भावनात्वमुपयातीति काव्यार्थविदां योगिनामिव भावनाबलात् स्वकालावच्छेदेनैव भूतभाविवस्तु प्रत्यक्षतया भासत इति प्रत्यक्षतयाध्यवसायः ।

अतीतानागतयोः इत्यादि । इसी की व्याख्या करते हैं—अतीत इत्यादि । 'अलौकिकत्व = लोकोत्तरता' यह कहकर यह बतलाया कि वह सहृदयों के ध्यान देने योग्य वस्तु है । व्यस्त = [भामह और उद्भट ने यहाँ शब्दसन्दर्भ के लिए 'अनाकुल' विशेषण दिया था, उसका अर्थ प्रतीहारेन्दुराज आदि ने व्यस्तसम्बन्धरहितत्व ही किया था । ग्रन्थकार ने यहाँ उसी को अपनाया, टीकाकार उसका मूलशब्द अनाकुलत्व चित्त में रखकर व्याख्या करते हैं] यद्यपि शब्दों की आकुलता [उलझे अर्थ से युक्त होना] सभी अलंकारों में त्याज्य है तथापि उनमें आकुलता से प्रतीति में विघ्नमात्र उत्पन्न होता है, क्योंकि आकुलता से विषमता उत्पन्न होती है और अर्थ के ज्ञान में स्पष्टता नहीं आ पाती [किन्तु ऐसा नहीं कि अलंकार की प्रतीति ही न होती हो] यहाँ [भाविक में] तो उस [शब्दसम्बन्ध] की आकुलता होने पर अतीत और अनागत का प्रत्यक्षायमाणत्व [प्रत्यक्ष जैसा बोध] ही नहीं बनता [अतः यहाँ उसे प्रधानरूप से अपनाया गया] इस प्रकार इन दो हेतुओं के द्वारा इसका अलंकारत्व बतलाया ।

यहाँ [भाविक में] अर्थ और शब्द दोनों की सुन्दरता अपेक्षित है ऐसा [सभी आचार्यों ने] कहा है । इस कारण किसी एक की भी सुन्दरता समाप्त होने पर यह अलंकार नहीं बन पाता । स्थिति यह है कि इस अलंकार में कुछ अर्थ कवि की पदावली में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होकर भी अपने आप में सुन्दर न होने के कारण तृणशर्करा के समान सहृदयों के लिए उपेक्षणीय होते हैं, ध्यान देने योग्य नहीं बन पाते । इसके विरुद्ध कुछ अर्थ अपने आप में सुन्दर होकर भी दुर्गम पदावली से आवृत रहते हैं, अतः वे भी सहृदयों को आकृष्ट नहीं कर पाते । इसलिए कवि को यहाँ दोनों ही पर आवश्यक रूप से ध्यान देना चाहिए । जैसा कि [रुद्रटाचार्य ने] कहा है—

'भूत और भावी पदार्थ जिसमें शब्दों की अनाकुलता के कारण अत्यद्भुत और प्रत्यक्ष जैसे दिखाई देते हैं उसे भाविक कहते हैं ।' [का० सा० सं० ६।६] ॥

'वा' = अथवा शब्द पक्षान्तर का द्योतक है ।

'भूत और भावी अर्थात् अप्रत्यक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षरूप से कथन होने के कारण इस [भाविक] को भ्रान्तिमान् ही क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'न चेयम्' । 'यदि यहाँ पदार्थ भूत और भावी रूप में ही प्रतीत होते हैं तो यह वस्तुमात्र ही क्यों नहीं मान ली जाती'—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'नापि' इत्यादि । अधिकत्व=अतिरिक्त= वास्तविक लौकिक स्थिति से उसके न होने से । इसी कारण इस [भाविक की प्रत्यक्षायमाणता] का उस [वस्तुस्थिति] से अन्तर है । 'इसमें अन्य [भूतभावी] वस्तु अन्य [प्रत्यक्ष] रूप से विदित होती है, तो यह अतिशयोक्ति ही क्यों नहीं मान ली जाती'—ऐसी शंका का उत्तर देते

है—'नापीयम्०' इत्यादि। अतिशयोक्ति इसलिए नहीं कि इसमें भूत और भावी पदार्थों का भूत और भावी रूप में ही ज्ञान होता रहता है। 'यहाँ अप्रत्यक्ष प्रत्यक्षरूप से अध्यवसित क्यों नहीं मान लिया जाता' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'न हि' इत्यादि। यह विषय एक तो अप्रासङ्गिक है और दूसरे अति गम्भीर इसलिए यहाँ इसका विस्तार नहीं करते।

'यदि ऐसा है [अर्थात् वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञानप्रतिभास सापेक्ष है] तो बाह्य वस्तुओं का ज्ञान सदा ही क्यों नहीं होता रहता'—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं केवलम्। भावनारूपा = क्योंकि उन [अतीन्द्रिय पदार्थों] में इन्द्रियों की पहुँच नहीं होती। भाव यह कि योगियों को भावना के बल पर ही भूतभावीरूप में प्रत्यक्षप्रतीति होती है। जैसा कि कहा है—'अतीत और अनागत का ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं होता।' च = समुच्चयार्थक है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शन में योगियों के लिए भावना ही कारण बनती है उसी प्रकार भूत और भावी पदार्थों के प्रत्यक्षदर्शन में काव्यार्थवेत्ताओं [कवियों] के लिए भी [भावना ही कारण बनती है]। इस भावना का कारण बतलाते हैं—सा च। वस्तु की अत्यद्भुतता [वस्तु के] आदर में निमित्त बनती है और इस आदर से वस्तु हृदय में धारण की जाती है। और वह जो हृदय में धारण करना है, वस्तु स्वरूप के प्रति एकाग्रता के रूप में प्ररूढ हो भावनात्व को प्राप्त होता है। इस प्रकार भावना के बल से काव्यार्थवेत्ता [कवियों और सहृदयों] को भी योगियों के ही समान भूत और भावी वस्तु अपने अपने समय में ही प्रत्यक्षरूप से भासित होती है। इस प्रकार यहाँ अप्रत्यक्ष पदार्थों का प्रत्यक्षरूप से अध्यवसान नहीं होता।

[सर्वस्व]

नापि भूतभाविनामप्रत्यक्षाणां प्रत्यक्षतयैव प्रतीतेरिवार्थगर्भीकारेणेयं प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, तस्या अभिमानरूपाध्यवसायस्वभावत्वात्। न ह्यप्रत्यक्षं प्रत्यक्षत्वेनाध्यवसीयते, किं तर्हि काव्यार्थविद्भिः प्रत्यक्षत्वेन दृश्यते इति। नापि वस्तुगता इवार्था उत्प्रेक्षाप्रयोजकाः। तस्या अभिमानरूपायाः प्रतिपत्तृधर्मत्वात्। यदाहुः—'अभिमाने च सा योज्या ज्ञानधर्मे सुखादिवत्' इति। काव्यविषये च प्रयोक्तापि प्रतिपत्तैव। नाप्यद्भुतवर्णनादतीतानागतयोः प्रत्यक्षत्वप्रतीतेः काव्यलिङ्गमिदम्, लिङ्गलिङ्गिभावेन प्रतीत्यभावात्, योगिवत् प्रत्यक्षतया प्रतीतेः।

'इसमें अप्रत्यक्ष भूत भावी पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षरूप से होता है, अतः इसे इवार्थगर्भित ['मानों' आदि शब्दों का अर्थ छिपाए रखने वाली अतएव] प्रतीयमान [कहलाने वाली] उत्प्रेक्षा ही मान लिया जाए यह संगत नहीं, क्योंकि वह मान्यता [अभिमान] रूप [जो] अध्यवसाय—[तत्] स्वरूप होती है।

[यहाँ] अप्रत्यक्ष वस्तु प्रत्यक्षरूप से [अतिशयोक्ति के समान] अध्यवसित नहीं होती, अपि तु काव्यार्थवेत्ताओं द्वारा प्रत्यक्षरूप से देखी जाती है। ऐसा भी नहीं है कि उत्प्रेक्षा में 'इव = मानों' आदि शब्दों के अर्थ उत्प्रेक्ष्यमाण वस्तु में रहकर उत्प्रेक्षा को निष्पन्न करते हों, क्योंकि वह तो मान्यतास्वरूप है अतः ज्ञातृनिष्ठ धर्म है। जैसा कि कहा है—'और उसे सुखादि के समान ज्ञानधर्मरूप अभिमान [मान्यता] में अवस्थित समझना चाहिए।' जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है इसमें कवि [प्रयोक्ता] भी ज्ञाता ही होता है।

अतीत और अनागत पदार्थों के प्रत्यक्षज्ञान अत्यद्भुतत्व रूपी कारण से होते हैं, अतः यदि इसे काव्यलिङ्ग कहा जाए तो वह संभव नहीं है; क्योंकि इसमें जो प्रतीति होती है उसमें लिङ्ग-लिङ्गि भाव का अभाव रहता है। यहाँ तो प्रत्यक्षता की प्रतीति वैसी रहती है जैसी योगियों को हुआ करती है।

विमर्शिनी

ननु यद्यपि योगिवद् भूतभाविनो भावाः स्वकालावच्छेदेनैव सचेतसः प्रत्यक्षतयैव [प्रतीताः तथापि] तद्भाव[सं]भावनं युक्तमित्येतत्प्रतीयमानोत्प्रेक्षैव किं नेत्याशङ्क्याह—नापीत्यादि। किं तर्हीति। प्रतिपत्तैवेति। तद्ज्ञानतः कविस्तु प्रयोक्तृत्वं भवतीति भावः। नन्वत्यद्भुतपदार्थप्रत्यक्षप्रतीत्योर्गम्यगमकभावात्किं नेदमनुमानमित्याशङ्क्याह—नापीत्यादि। एवं रसवदलंकारादस्य भेदं दर्शयति—नाप्ययमित्यादिना।

'यद्यपि अतीत और अनागत पदार्थ उसी काल के पदार्थों के रूप में सहृदयों को भी योगियों के ही समान प्रत्यक्षरूप से ही भासित होते हैं तथापि यहाँ उन [अतीत और अनागत पदार्थों] के अभाव की संभावना मानना ठीक है अतः यहाँ प्रतीयमान उत्प्रेक्षा ही क्यों नहीं मानी जाती' ऐसी शंका उठाकर उत्तर में कहते हैं 'नापि०'। किं तर्हि=अपि तु अर्थात् यहाँ अध्यवसाय है नहीं। प्रतिपत्तैव=ज्ञाता ही अर्थात् कवि पदार्थ को बिना जाने प्रयोग में नहीं लाता। 'पदार्थ की अत्यन्त अद्भुतता और प्रत्यक्ष प्रतीति के बीच गम्यगमकभाव होने से क्या यह [उद्भट के अनुसार] अनुमान [रूप से स्वीकृत] काव्यलिङ्ग नहीं हो सकता' ऐसी शंका कर कहते हैं—नापि इत्यादि।

अब इस [भाविक] का रसवदलङ्कार से भेद बतलाते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

नाप्ययं पुरःस्फुरद्रूपतया सचमत्कारं प्रतीते रसवदलंकारः। रत्यादि-चित्तवृत्तीनां तदनुषक्ततया विभावादीनामपि साधारण्येन हृदयसंवादितया परमाद्वैतिज्ञानवत् प्रतीतौ तस्य भावात्। इह तु ताटस्थ्येन भूतभाविनां स्फुटत्वेन भिन्नसर्वज्ञवत् प्रतीतेः। स्फुटप्रतीत्युत्तरकालं तु साधारण्य-प्रतीतौ स्फुटप्रतीतिनिमित्तक औत्तरकालिको रसवदलंकारः स्यात्।

इस [अलंकार] में जो प्रतीति होती है उसमें पदार्थ सामने उपस्थित से और चमत्कार पूर्ण प्रतीत होते हैं इस [सामान्य धर्म के] आधार पर इसे रसवदलंकार से अभिन्न कहा जाए, यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उसमें जो प्रतीति होती है उसमें रत्यादि चित्तवृत्तियाँ उनसे सम्बद्ध विभावादि इस प्रकार साधारण और हृदयसंवादमय भासित होते हैं जैसे परम अद्वैती के ज्ञान में भासित हो रहे हों। इसके विपरीत यहाँ [भाविकालंकार में] भूत और भावी पदार्थ उस प्रकार [ताटस्थ्य=] बाह्य वस्तु के रूप से अलग अलग [स्वकालावच्छेदेन] और स्पष्ट भासित होते हैं, जैसे द्वैतबुद्धि वाले सर्वज्ञ [सांख्य सिद्ध या शैव विद्येश्वर] की प्रतीति में भासित हो रहे हों। [उक्त] स्फुटप्रतीति के पश्चात् ये पदार्थ यदि साधारण रूप में प्रतीत हो जाएं तो वहाँ भी रसवदलंकार हो सकता है।' यद्यपि यह स्फुट प्रतीति के पश्चात् होगा क्योंकि यह उसी प्रतीति से निष्पन्न होगा।

विमर्शिनी

पुरःस्फुरद्रूपतयेत्यादिनानयोरभेदनिमित्तमुक्तम्। परकीयायाश्चित्तवृत्तेरात्मीयचित्तवृत्त्यभेदेन परामर्शो हृदयसंवादः। तस्य च स्वपरविभागाभावाद् देशकालाभावाच्च व्यापकत्वेन प्रतीतेः साधारण्यम्। अत एव परमाद्वैत[ति]ज्ञानतुल्यत्वम्। तस्य ह्यमित्येव परामर्शः। तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्यासंभवात्। ताटस्थ्येनेति। इदमहं जानामीति असामानाधिकरण्येन प्रतीत्येत्यर्थः। अत एव विशेषादितुल्यम्। ननु भाविकप्रतीत्यनन्तरं यत्र रसवदलंकारः प्रतीयते तत्र किं प्रतिपत्तव्यमित्याशङ्क्याह—स्फुटेत्यादि। एवमत्रानयोरङ्गाङ्गितया समावेश इति तात्पर्यार्थः। तत्तु यथा—

> 'वनान्तरादुपावृत्तैः स्कन्धासक्तसमित्कुशैः।
> अग्निप्रत्युद्गमात्पूतैः पूर्यमाणं तपस्विभिः॥'

अत्र तपस्विनां स्फुटत्वप्रतीतिः शान्तापरसोदयाङ्गमिति न तयोरैकात्म्यम्। एवं च सुन्दरस्य वस्तुनो यथावद्वर्णनाधारप्रत्यक्षायमाणत्वस्य स्वरूपमिति तात्पर्यम्। ननु यद्येव तत्किमिदं स्वभावोक्तिरेवेत्याशङ्क्याह—नायमित्यादि।

पुरःस्फुरद् इत्यादि के द्वारा इन दोनों [रसवदलङ्कार और भाविक] के अभेदका निमित्त बतलाया। हृदयसवाद का अर्थ है परकीय चित्तवृत्ति का अपनी चित्तवृत्ति से अभेद पूर्वक बोध। इस [हृदयसवादात्मक बोध] में स्वपर का भेद नहीं रहता न तो देश काल का ही भान रहता, अतः उसकी प्रतीति में व्यापकता रहती है फलतः साधारण्य भी रहता है। इसी कारण उसकी तुलना परम अद्वैतो के ज्ञान से की गई है। वहाँ अहम् इतना ही बोध होता है। क्योंकि उससे भिन्न अन्य कोई संभव नहीं है।

ताटस्थ्येन = 'मैं इसे जानता हूँ' इस प्रकार असामानाधिकरण्य [भिन्नता] की प्रतीति के कारण। इसीलिए इसकी तुलना 'विशेष = ' आदि से की गई है। 'जहाँ भाविक की प्रतीति के बाद रसवदलंकार की प्रतीति होती है वहाँ क्या मानना होगा'—ऐसी शंका कर कहते हैं—स्फुट इत्यादि। इस प्रकार तात्पर्य यह कि इन दोनों का समावेश अंग और अगी के रूप में होगा। इसका उदाहरण यह है—

'वनमध्य से लौटे, कांधे पर समिधा और कुश लिए, अग्नि का प्रत्युद्गमन करने से पवित्र तपस्वियों द्वारा भरा हुआ आश्रम॥' [रघुवंश-१।४९ से तुलनीय]॥

यहाँ तपस्वियों की प्रतीति स्फुट रूप से होती है। वह शान्त रस का अग है, अतः दोनों में अभेद है। इस प्रकार तात्पर्य यह निकला कि यथावद् वर्णन के आधार पर सुन्दर वस्तु का प्रत्यक्ष तुल्य ज्ञान इस [भाविक] का स्वरूप है। 'यदि ऐसा है तो फिर इसे स्वभावोक्ति ही क्यों नहीं माना जाता' ऐसी शका कर लिखते हैं—

[सर्वस्व]

नायमयं सूक्ष्मवस्तुस्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिः। यस्यां लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णने साधारण्येन हृदयसंवादसंभवात्। इह च लोकोत्तराणां वस्तूनां स्फुटतया ताटस्थ्येन प्रतीतेः। क्वचित्तु लौकिकानामपि वस्तूनां स्फुटत्वेन प्रतीतौ भाविकस्वभावोक्त्योः समावेशः

स्यात्। न च हृदयसंवादमात्रेण स्वभावोक्तिरसवदलंकारयोरभेदः। वस्तुसंवादरूपत्वात् स्वभावोक्तेः। चित्तवृत्तिसमाधिरूपत्वाच्च रसवदलंकारस्य। उभयसंवाददर्शनेऽपि समावेशोऽपि घटते। यत्र वस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णनं स्यात् तत्र स्वभावोक्तिः, अन्यत्र तु रसवदलंकार एव।

नाप्ययं शब्दानाकुलत्वहेतुकाज्झगित्यर्थसमर्पणात् प्रसादाख्यो गुणः। तस्य हि स्फुटास्फुटोभयवाच्यगतत्वेन झटिति समर्पणं रूपम्। अस्य तु झटिति समर्पितस्य सतः स्फुटत्वेन प्रतीतौ स्वरूपप्रतिलम्भः। तस्मादयं सर्वोत्तीर्ण एवालंकारः।

'इसमें वस्तु के सूक्ष्म स्वभाव [स्वरूप] का वर्णन रहता है इसलिए इसे स्वभावोक्ति से अभिन्न मानने का प्रश्न उठाया जा सकता है किन्तु वह संभव नहीं है, क्योंकि लौकिक वस्तु के सूक्ष्म धर्म का वर्णन रहता है और उसकी प्रतीति साधारण रूप से होती है तथा हृदय संवाद रहता है। जब कि इस [भाविक] में लोकोत्तर वस्तुओं की प्रतीति बाह्य वस्तु के रूप में स्फुट [परस्पर भिन्न] रूप में होती है। कहीं लौकिक वस्तुएं भी स्फुट रूप में प्रतीत हो सकती हैं। वहाँ भाविक तथा स्वभावोक्ति का एकत्र समावेश माना जा सकता है [न कि किसी का किसी में अन्तर्भाव]।

'हृदयसंवाद की समानता को लेकर स्वभावोक्ति और रसवदलंकार में भी अभेद नहीं माना जा सकता। क्योंकि स्वभावोक्ति का स्वरूप है वस्तुसंवाद जबकि रसवदलंकार का स्वरूप है चित्तवृत्तिसंवाद। कहीं यदि दोनों प्रकार के संवाद मिल जाएं तो इन दोनों का एकत्र समावेश भी संभव है। वहाँ जितने अंश में वस्तु के सूक्ष्म धर्म का वर्णन होगा उतने में स्वभावोक्ति मानी जाएगी, किन्तु शेष में रसवदलंकार॥'

'शब्दों की अनाकुलता [स्पष्टार्थता] रूपी हेतु से अर्थ का ज्ञान अतिशीघ्र कराने के कारण इस [भाविक] को प्रसाद गुण से अभिन्न मानने की बात उठाई जा सकती है, किन्तु वह भी संभव नहीं है। उस [प्रसाद गुण] का स्वरूप है स्फुट या अस्फुट दोनों प्रकार के वाच्यार्थ की शीघ्र प्रतीति कराना जबकि इस [भाविक] को स्वरूप लाभ होता है तब जब पहले से शीघ्रतया विदित वस्तु का स्फुट [परस्पर में भिन्न और स्पष्ट] रूप से बोध होता है। इस प्रकार यह सब अलंकारों से पृथक् अलंकार है।

विमर्शिनी

ईदृगिदं वस्त्विति यत्र हृदयसंवादः। स च यथा—

'यत्र स्तनन्धयान् हस्ते रत्नदीपाशिवृणतः।
दृष्ट्वा हा हेति संभ्रान्ता धात्री चेटैर्विहस्यते॥'

अत्र धात्रीणामीदृशयं स्वभाव इति वस्तुनिष्ठो हृदयसंवादः। यथा वा—

'यद्वास्वाद्यं सीता वितरति तदग्रे स्वगृहिणे
सुमित्रापुत्राय प्रणिहितविशेषं तदनु च।
यदाम्लं यत् क्षामं यदनतिरसं यच्च विरसं
फलं वा मूलं वा रचयति तु तेन स्वमशनम्॥'

अत्रेदृगेव गृहिणीनां स्वभाव इति संवादः । स्फुटत्वेति । पुरःस्फुरद्रूपतया । सा च प्रतीतिर्यथा—

'निमीलितस्य पूर्णेन्दोः सुधायां पङ्किलाङ्गुलो ।
यत्र मृगयुजितः पादौ माध्येते भावितैः पुरः ॥'

यथा च—

'दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम् ॥'

अत्र पादयोः शकुन्तलायाश्च शुद्धैव प्रत्यक्षत्वेन प्रतीतिः । ननु च यत्र स्वभावोक्तावपि प्रत्यक्षतया प्रतीतिस्तत्र किमित्याशङ्कयाह—क्वचिदित्यादि । समावेश इति । संसृष्टिरूपः संकररूपो वा । स तु यथा—

'हेरम्बेऽत्र हरीश्वरे नखमुखैः कण्डूयमाने गलं
कुर्वन् पुच्छविवर्तनानि विरतो रोमन्थलीलायितात् ।
संमीलन्नयनं विसंष्ठुलल्लसत्सास्नं नतोत्थांसत-
ग्रीवं निश्चलकर्णमीश्वरबलीवर्दः सुखं मन्यते ॥'

अत्र वृषभस्य पुच्छविवर्तनादिसूक्ष्मधर्मवर्णनेन स्वभावोक्तिः, प्रत्यक्षायमाणत्वेन भाविकमित्यनयोः समावेशः । स्वभावोक्तेरपि रसवदलंकारात्प्रसङ्गेन भेदं दर्शयति—न चेत्यादिना । हृदयसंवादो हि वस्तुचित्तवृत्तिगतत्वेन द्विविधः । तत्र स्वभावोक्तौ वस्तुसंवादः प्रदर्शितः । चित्तवृत्तिसंवादस्तु यथा—

'चन्द्रांशुस्मेरभङ्गिमल्लमल्लिकानां प्रियं प्रति ।
सौधेषु गीतं रामाणां यथालिभिरनूद्यते ॥'

अत्र प्रियाभिलाषिणी नायिकाचित्तवृत्तिः सचेतसां स्वचित्तवृत्त्यभेदेन संवदतीति तत्संवादः । यत्र द्विविधोऽपि संवादस्तत्र किं प्रतिपत्तव्यमित्याशङ्कयाह—उभयेत्यादि । स च समावेशो यथा—

'किंचित्कुञ्चितचुम्बुचुम्बनसुखस्फारीभवल्लोचना
स्वप्नान्तोदितचाटुचाटुकरणैश्चेतोऽर्पयन्ती मुहुः ।
कूजन्ती विततैकपक्षतिपुटेनालिङ्ग्य लीलालस
धन्यं कान्तमुपान्तवर्तिनमियं पारावतं सेवते ॥'

अत्र पारावतयोः सूक्ष्मधर्मवर्णनेन स्वभावोक्तिः, चित्तवृत्तिविशेषात्तु रसवदलंकार इत्यनयोः समावेशः । अन्यत्रेति । यत्र वस्तुगतसूक्ष्मधर्मवर्णना न स्यात् । अनेन च भाविकरसवदलंकाराभ्यामस्या भेदो भाविकप्रसङ्गे निर्णेष्यते इति यत्प्रागुक्तं तन्निर्वाहितम् । इदानीं च प्रकृतमेवाह—नाप्ययमित्यादि । झगित्यर्थसमर्पणं प्रसादः, झगिति समर्पितस्यार्थस्य स्फुटत्वेन प्रतीतिर्भाविकमित्यनयोर्महान्भेदः । एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादि । एतच्च नास्माभिरस्थान एवाभिनिविष्टमित्याह—हृदय इत्यादि ।

यहाँ जो हृदयसंवाद होता है उसका स्वरूप है कि 'हाँ यह वस्तु ऐसी ही है ।' इसका उदाहरण यह है—

'जहाँ रत्नदीपों को हाथ में लेने जा रहे हैं दुधमुहों को देखकर घबराई और 'हा हा' करती धाई पर चेटलोग हँसा करते हैं।' यहाँ 'धाई की यह चेष्टा ऐसी ही होती है' इस प्रकार का हृदयसंवाद = अनुभूतिगत मेल रहता है। यह संवाद वस्तुविषयक रहता है। दूसरा उदाहरण यथा—

'जो कोई फल या कन्द स्वादु होता उसे सीता जी 'पहले अपने गृहपति [भगवान् राम] को परोसतीं, उसके पश्चात् बचे फल या कन्द में से जिसे अच्छा समझतीं उसे सुमित्रापुत्र [लक्ष्मण जी] को परोसतीं। इसके पश्चात् फल या कन्दों में जो कोई कच्चा जो सूखा, जो कम स्वादु या जो नीरस बच जाता उससे अपना भोजन पूरा करतीं।

यहाँ सामाजिक को भी यही प्रतीत होता है कि गृहिणियों का स्वभाव ऐसा ही रहता है। स्फुटतया स्फुटरूप से = पुरःस्फुरद् = सामने झिलमिलाते रूप है। इस प्रतीति का उदाहरण यह है—

'जहाँ भावित चित्तवाले भक्तों द्वारा भगवान् मृत्युञ्जय के, निमीलित पूर्णेन्दु की सुधा से सिक्त अंगुली वाले चरण सामने उपस्थित से देखे जाते रहते हैं।'

दूसरा उदाहरण यथा—

'वह शकुन्तला कुछ ही डग चली और अस्थान पर ही जहाँ कुश नहीं थे वहीं 'कुशांकुर से पाँव घायल हो गया' ऐसा कह ठहर गई। पास के पेड़ों की शाखाओं में नहीं उलझा वल्कल भी वह [मेरी ओर] मुँह घुमा खोलने लगती थी'। [शाकुन्तल]

इन [दोनों पद्यों] में चरण तथा शकुन्तला की शुद्ध रूप में ही प्रत्यक्ष रूप से प्रतीति हो रही है।

'जहाँ स्वभावोक्ति में भी [पदार्थों की] प्रतीति प्रत्यक्ष जैसी ही होती है वहाँ कौन सा अलंकार होता है' ऐसा प्रश्न कर उत्तर देते हैं—'क्वचित्' इत्यादि।

समावेश = संसृष्टिरूप में समावेश या संकररूप में। इसका उदाहरण यह है—

'हरि [सिंह या चूहे] पर सवारी करने वाले होने पर भी गणेश जी जब गला खुजलाने लगते हैं तो शिवजी का नन्दीवृष पूँछ घुमाने लगता और रँभना बंद कर देता है। वह सुख का इतना अनुभव करता है कि उसमें उसकी आँखें मुँद जाती हैं, [विसंस्थुल] बेडौल सास्ना हिलने लगती है, गरदन नीची ऊँची करने लगती है और कान निश्चल हो जाते हैं।'

इस पद्य में बैल का पूँछ घुमाना आदि जो धर्म है उसका सूक्ष्म वर्णन होने से स्वभावोक्ति है और उसका प्रत्यक्ष जैसा अनुभव होने से भाविक। इस प्रकार यहाँ इन दोनों का समावेश है।

इसी प्रसंग में रसवदलंकार से स्वभावोक्ति का अन्तर भी दिखलाते हैं—'न च' इत्यादि के द्वारा। हृदयसंवाद जो है वह दो प्रकार का होता है वस्तुगत और चित्तवृत्तिगत। दोनों में से स्वभावोक्ति में वस्तुसंवाद होता है जो उपर्युक्त पद्यों द्वारा बतलाया जा चुका है। चित्तवृत्तिसंवाद का उदाहरण यह है—

'जहाँ, चन्द्ररश्मियों से मुसकुराती धम्मिल्ल मल्लिका [जूड़े में लगे मोगरे के पुष्प] वाली रामाओं के प्रियजन के लिए गाए गए गानों का भ्रमरों द्वारा अनुवाद किया जाता है।'

यहाँ नायिका की प्रियाभिलाषरूपी चित्तवृत्ति सहृदयों को अपनी चित्तवृत्ति के साथ अभिन्न-रूप में प्रतीत होती है, अतः यहाँ चित्तवृत्तिसंवाद हुआ।

'जहाँ दोनों ही प्रकार का संवाद हो वहां क्या समझना चाहिए' इस प्रश्न पर कहते हैं—'उभय' इत्यादि। इस समावेश का उदाहरण यह है—

'यह कपोती [कबूतरी] सोकर जाग उठी है। इसकी आँखें विश्लिष्ट-कुचित-चञ्चु-चुम्बन-सुख से स्फारित हो गई हैं। नींद के पश्चात् उदित चारु चाटुकारी द्वारा अपना चित्त अर्पित करती हुई यह बार बार गुटर गुटर कर रही है और उसने अपना एक पक्ष फैलाकर कपोत का आलिंगन कर रखा है। इस प्रकार यह समीपवर्ती, लीलालस और प्रिय कपोत का सेवन कर रही है।'

यहाँ कपोत कपोती के सूक्ष्म धर्म का सूक्ष्म वर्णन है, अतः स्वभावोक्ति है, और चित्तवृत्ति-विशेष [रति] के कारण रसवदलंकार है। इस प्रकार इन दोनों का एकत्र समावेश है। अन्यत्र = जहाँ वस्तु का सूक्ष्मवर्णन नहीं। इस विवेचन के द्वारा ग्रन्थकार ने पहले [स्वभावोक्ति-प्रकरण] में जो यह कहा था कि 'भाविक तथा रसवदलंकार से इसका अन्तर भाविकालंकार के प्रकरण में तय किया जायगा' उसे पूरा कर दिया। अब प्रकृत विषय आरम्भ करते हैं—नात्ययम् इत्यादि। अर्थ का शीघ्र ज्ञान कराना है प्रसाद, और भाविक है ज्ञान पदार्थ का स्फुट रूप से ज्ञान। इस प्रकार इन दोनों में महान् अन्तर है। इसीका उपसंहार करते हुए लिखते हैं—तस्मात्०।

यह बतलाते हुए कि हमने यह विवेचन निराधार नहीं किया है आगे लिखते हैं—

[सर्वस्व]

लक्ष्ये चायं प्रचुरप्रयोगो दृश्यते। यथा—

'मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ॥'

यथा वा—हर्षचरितप्रारम्भे ब्रह्मसदसि वेदस्वरूपवर्णने। तत्र हि प्रत्यक्षमेव स्फुटत्वेन तदीयं रूपं दृश्यते। एवं तत्रैव मुनिक्रोधवर्णने, पुलिन्दवर्णनादौ ज्ञेयम्।

अयं चात्र विचारलेशः संभवति—इह क्वचिद्वर्णनीयस्य वर्णनावशादेव प्रत्यक्षायमाणत्वम्। क्वचित्प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनम्। आद्यो यथोदाहृतं प्राक्। द्वितीयो यथा—

'अनातपत्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्रैरिव सर्वतो वृतः।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते विलासवालव्यजनेन कोऽप्ययम्॥' इति।

अत्र प्रथमप्रकारविषयोऽयमलंकारो न प्रकारान्तरगोचरः, कविसम-र्पितानां धर्माणां ह्यलंकारत्वात्। न हिमांशुलावण्यादीनामिव वस्तुसन्नि-वेशिनाम्। अपि च 'शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतून्प्रचक्षते' इति भाम-हीये, 'वाचामनाकुलत्वेनापि भाविकम्' इति चौद्भटलक्षणे व्यस्तसंबन्ध-रहितशब्दसंदर्भसमर्पितत्वं प्रत्यक्षायमाणत्वप्रतिपादकं कथं प्रयोजकीभवेत्, यदि वस्तुसन्निवेशधर्मिगतत्वेनापि भाविकं स्यात्। तस्माद् वास्तव-

मेव महत्त्वमुत्तरप्रकारविषये वर्णितमिति नायमलंकारः। यदि तु वास्तवमेवात्र सौन्दर्यं कविनिबद्धं कविनिबद्धवक्तृनिबद्धं वा सकलवक्तृगोचरीभूतं स्वभावोक्तिवदलंकारतया वर्ण्यते; तदायमपि प्रकारो नातीव दुःश्लिष्टः। अत एव 'प्रत्यक्षा इव यत्रार्थाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद्भाविकम्' इत्येतावदेवान्यैर्भाविकलक्षणमकारि। स्वभावोक्त्या किंचित्सादृश्यात्तदनन्तरमस्य लक्षणं कृतम्।

लक्ष्य [काव्य] में इसका प्रयोग प्रचुरमात्रा में मिलता है। जैसे—

'महात्मा और योगिराज मुनि अगस्त्य सर्वोत्कृष्ट हैं जिन्होंने [समुद्रपान के समय] एक ही चुल्लू में वे दोनों दिव्य [विष्णु के अवतारभूत] मत्स्य और कच्छप देखे।' और जैसे—हर्षचरित के आरम्भ में महात्माओं की सभा के बीच वेद के स्वरूप के वर्णन में। वहाँ प्रत्यक्षरूप से उस [वेद] का स्वरूप स्पष्टतया दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार उसी प्रसंग में मुनि के कोप के वर्णन, और [अष्टम उच्छ्वास के आरम्भ में] पुलिन्द के वर्णन आदि में जाना जा सकता है।

यहाँ थोड़ा सा यह विचार किया जा सकता है—यहाँ [काव्यों] में कहीं तो वर्णनीय पदार्थ की प्रत्यक्षवत् प्रतीति वर्णना के कारण ही होती है और कहीं प्रत्यक्षवत् प्रतीति की वर्णना होती है। इनमें प्रथम का उदाहरण पहले ही [मुनिर्जयति०] दिया जा चुका द्वितीय का उदाहरण यह है—

'यह कोई ऐसा व्यक्ति है जो आतपत्ररहित होने पर भी चहुँओर से धवल आतपत्रों से घिरा प्रतीत होता है और चामर रहित होने पर भी विलासरूपी बालव्यजन से इस पर सदा ही हवा होती रहती है।'

[हमारी दृष्टि में] इन दोनों में से यह [भाविक] अलंकार केवल प्रथम प्रकार तक सीमित है, दूसरे प्रकार में यह नहीं होता। क्योंकि जो धर्म कविद्वारा समर्पित होते हैं वे ही अलंकार माने जाते हैं, न कि वे धर्म जो वस्तुनिष्ठ होते हैं, जैसे चन्द्रमा आदि में रहने वाले आद आदि। और इसीलिए एक कठिनाई यह भी आती है कि वस्तुनिष्ठ धर्मों में भी भाविक मान लिया जाए तो प्रत्यक्षवत् प्रतीति के प्रति व्यस्त सम्बन्धरहित शब्द सन्दर्भ द्वारा [हुई] उपस्थिति को जो भामह के लक्षण में 'और शब्दों की अनाकुलता उसके हेतु बतलाए जाते हैं'—इस प्रकार तथा उद्भट के लक्षण में 'शब्दों की अनुकूलता में भाविक होता है' इस प्रकार निष्पादक के रूप में स्वीकार किया गया है यह निष्पादक कैसे सिद्ध होगी। इस कारण द्वितीय प्रकार में वास्तविक महत्त्व ही वर्णित किया गया है फलतः वहां यह अलंकार नहीं है। हाँ, यदि वास्तविक सौन्दर्य भी कवि के द्वारा उपनिबद्ध हो अथवा कविद्वारा प्रस्तुत पात्र द्वारा, साथ ही सभी पाठकों के प्रत्यक्ष का विषय हो और स्वभावोक्ति के समान अलंकार रूप से प्रस्तुत किया जाए, तो यह [द्वितीय] प्रकार भी अधिक अहृदयंगम न होगा। इसीलिए अन्य [मम्मट] आचार्य ने भी भाविक का लक्षण 'जहां भूत और भावी पदार्थों का प्रत्यक्ष सा किया जाता है उसे 'भाविक कहा जाता है' इतना ही किया है। इसका स्वभावोक्ति के साथ कुछ सादृश्य है इस कारण इसका लक्षण स्वभावोक्ति के बाद रखा गया है।'

विमर्शिनी

तत्रैवेति। हर्षचरिते। तत्र क्रोधमुनिवर्णनं प्रारम्भ एव स्थितम्। पुलिन्दवर्णनं पुनरष्टमोच्छ्वासारम्भे स्थितमिति तत एव स्वयमवधार्यम्। इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न

ल्लिखितम्। अतीतानागतयोः सूत्रितेऽपि प्रत्यक्षायमाणत्वे देशादिविप्रकृष्टानां प्रत्यक्षायमाणत्वमुदाहरता ग्रन्थकृतातीतानागतत्वस्य विप्रकर्षमात्रसारत्वं सूचितम्। तच्च देशकालस्वभावविप्रकृष्टानामविशिष्टमित्येतदुदाहृतम्। तत्रागस्त्यमुनेर्देशविप्रकृष्टत्वम्।

अनागतस्य तु यथा—

> 'क्षिप्तोत्क्षिप्ताखिलखुरपुटाहन्यमानाद्रिरौद्र-
> ध्वानत्रस्यत्सुरवरनमस्कारवाग्दत्तकर्णम्।
> पार्ष्णिस्पर्शाद्वहनतुरगं प्रेरयन् म्लेच्छजातीर्
> जेष्यत्येष त्रिभुवनविभुः कल्किरूपेण विष्णुः॥'

एवं चिरंतनोक्तरीत्या विचार्य पुनरपि स्वोपज्ञं कञ्चिद्विचारमाह—अयमित्यादिना। संभवतीति। न पुनः केनापि दृष्ट इति भावः। यथोदाहृतमिति। मुनिर्जयतीत्यादिना। प्रथमेति। यत्र वर्णनावशात्प्रत्यक्षायमाणत्वम्। अत एव कविसमर्पितधर्माणां न वस्तुसन्निवेशिनां धर्माणामलंकारत्वादिति सम्बन्धः। न हि वस्तुमात्रवर्णने कविकौशलं किंचिदिति भावः। अपि चेति। निपातसमुदायः समुच्चयार्थः अग्रेव वाक्यतया हेत्वन्तरस्य समुच्चीयमानत्वात्। कथमिति। वस्तुमात्रवर्णने शब्दानामाकुलतायाः अनाकुलतायाश्चाविशेषात्। उत्तरप्रकारेति। अनागतयोऽपीत्यादौ। अत्रापि प्रकारान्तरेणालंकारत्वं योजयति—यदि त्वित्यादिना। सकलवस्तुगोचरीभूतमिति। कविमात्रगम्यत्वात्। अत एव प्रत्यक्षायमाणत्वस्य तन्निमित्तायमानत्वं स्यात्। सकलवस्तुगोचरीभूतत्वे पुनर्यथोक्तं वास्तवत्वमेवेति भावः। नातीवेति। न पुनः प्रकारवत् सुश्लिष्ट इति यावत्। अत एवेति। वास्तवस्यापि सौन्दर्यस्यात्रालंकारतया वर्णनात्। एतावदेवेति। न पुनः शब्दानाकुलत्वादि वस्तुनि तस्याविशेषात्। अन्यैरिति। काव्यप्रकाशकारादिभिः।

तत्रैव = वहीं हर्षचरित में ही। वहाँ क्रोधमुनि=दुर्वासा का वर्णन आरम्भ [प्रथम उच्छ्वास] में ही है, और पुलिन्दवर्णन अष्टम उच्छ्वास में है। उसे वहीं से समझ लेना चाहिए। यहाँ ग्रन्थ के विस्तार के भय से उसे उद्धृत नहीं किया। यद्यपि सूत्र में ग्रन्थकार ने केवल अतीत और अनागत की प्रत्यक्षायमाणता का उल्लेख किया है किन्तु वृत्ति में उदाहरण दिए हैं दूर देश और भिन्न काल में स्थित [अत एव अतीत और अनागत के ही समान अप्रत्यक्ष] वस्तुओं के, इससे यह सूचित किया गया कि अतीत और अनागत में भी सारभूत तत्त्व [भाविक में अलङ्कारत्व का कारण] विप्रकर्षमात्र [दूरी] है। इनमें से अगस्त्यमुनि की दूरदेश स्थिति का उदाहरण दे दिया गया है [मुनिर्जयति० इत्यादि] अनागत का उदाहरण यह है—

'तीनों लोकों के स्वामी भगवान् विष्णु कल्किरूप में अपने वाहन उस अश्व को एड़ लगाते हुए म्लेच्छजातियों को जीतेंगे जो [अश्व] खुरपुटों से आहत और क्षिप्त उत्क्षिप्त सभी पर्वतों की रौद्र ध्वनि से डरे देवताओं द्वारा उच्चारित नमस्कार शब्दों पर कान दिए हुए होगा।'

इस प्रकार प्राचीन आचार्यों की दृष्टि से विचार कर अब अपनी ओर से भी कुछ विचार प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—'अयम्' इत्यादि। संभवतीति = किया जा सकता है अर्थात् यह विचार अभी तक किसी ने देखा नहीं है। यथोदाहृतम् = 'मुनिर्जयति०' इत्यादि द्वारा उदाहृतम्। प्रथम = जहाँ वर्णना के कारण प्रत्यक्षायमाणता आती है। इसीलिए इसका सम्बन्ध ऐसा होगा—'कविसमर्पित धर्मों में ही, न कि वस्तुनिष्ठ धर्मों में, अलङ्कारत्व होने से' भाव यह कि केवल वस्तुमात्र के वर्णन में कोई कविकौशल नहीं रहता। अपि च = यह निपातसमुदाय समुच्चयार्थक है क्योंकि यहीं [अगले] वाक्य के द्वारा एक अन्य हेतु का भी समुच्चय किया जा

रहा है। कथम् = कैसे = क्योंकि वस्तुमात्र के वर्णन में शब्दों की आकुलता हो या अनाकुलता दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। उत्तरप्रकार = परवर्ती दूसरे में अर्थात् 'अनातपत्रोऽपि' इत्यादि द्वारा प्रदर्शित प्रकार में।

अब यहाँ भी अन्य प्रकार से अलंकारत्व की सिद्धि करते हैं—यदि तु। सकलवक्तृगोचरीभूतम् = सभी पाठकों के अनुभव में आने वाला = क्योंकि वह भी कविमात्र का विषय रहता है। इसीलिए प्रत्यक्षायमाणता भी तन्निर्मितायमानता = [कविद्वारा निर्मित होना] ही होगी। नवीन = अधिक क्लिष्ट—न कि इसके प्रकार के समान सुश्लिष्ट। अतएव = वास्तविक सौन्दर्य को भी अलंकार रूप में बतलाए जाने से। एतावदेव = इतना ही न कि [भामह और उद्भट के समान] शब्दानाकुलत्व भी इसमें जोड़ा है क्योंकि वह तो वास्तविक वस्तु के कथन में भी समान रूप से रहता है। अन्यैः = अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि ने ॥,

विमर्श—विद्येश्वर—

> 'आणव-कार्म मलद्वन्द्वहीना मायामलान्विताः।
>
> सर्वज्ञाः सर्वकर्त्तारो मता विद्येश्वराश्च ते ॥ —पूर्णताप्रत्यभिज्ञा उत्त० ५०४।

अर्थात् शिव, मन्त्रमहेश्वर तथा मन्त्रेश्वर नामक प्रमाता जब अभिलाष या अपूर्णत्वाभिमानरूपी आणव मल तथा धर्माधर्म-वासना-रूपी कार्म मल से रहित और वेद्य वस्तु के प्रति स्वभिन्नताबोध रूपी मायिक मल से युक्त रहते हैं तो विद्येश्वर कहलाते हैं। ये सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता होते हैं। मायामल का लक्षण पूर्णताप्रत्यभिज्ञा में ही इस प्रकार दिया गया है—

> 'मायवान्धीकृतो वेद्यं भिन्नं पश्यंस्तु पाशितः। [श्लो० ४९७ का०]

विमर्शिनी में 'विद्येश्वर आदि' इस प्रकार जो आदि शब्द दिया गया है उसका संकेत विज्ञानाकल आदि की ओर है। इन्हें शैवदर्शन से समझ लेना चाहिए।

इतिहास—भाविकालंकार सर्वमान्य अलंकार है। इसका सूत्रपात

दण्डी—के काव्यादर्श में इस प्रकार मिलता है—

'तद्भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धिसंस्थितः ॥ २।३६४
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुवर्णनम्। विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥ ३६५
व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गभीरस्यापि वस्तुनः। भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः ॥ ३६६।

भाविक प्रबन्ध विषयक धर्म है। क्योंकि काव्य में कवि का अभिप्रायरूपी भाव आसमाप्ति स्थित रहता है। इसमें कथावस्तु के सभी पर्व परस्पर में उपकारी होते हैं। व्यर्थ विशेषणों का इसमें अभाव रहता है। इसमें स्थानों की वर्णना तथा उक्तक्रम के बल पर गम्भीर वस्तु की भी अभिव्यक्ति रहती है। यह सर्वभावायत्त रहता है अतः भाविक कहलाता है [काव्यादर्श २।३६४-६] दण्डी के इस विवेचन से प्रतीत होता है कि हर्षचरित के मरुसभा आदि के वर्णन में भाविक मानने की प्रेरणा सर्वस्वकार को दण्डी से ही मिली है। स्फुट पदार्थ में भी भाविक का अस्तित्व दण्डी को मान्य है ऐसा उनके ऊपर दिए विवेचन से प्रतीत नहीं होता।

भामह—का भाविकलक्षण आंशिक रूप से वृत्तिकार ने उद्धृत कर दिया है। दण्डी की अनुकृति पर इन्होंने भाविक का पूरा विवेचन इस प्रकार किया है—

भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्। प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः ॥३।५३॥
चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता। शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते ॥३।५४॥

भाविकत्व एक ऐसा गुण है जो प्रबन्ध में रहता है। इसमें भूतभावी पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दिखाई देते हैं। इसके हेतु बतलाए जाते हैं (१) कथानक के वैविध्य, उदात्तत्व तथा अद्भुतत्व, (२) अभिनयकला का ठीक अनुगम तथा (३) शब्दों की अनाकुलता।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भूतभावी पदार्थों की प्रत्यक्षायमाणता को भामह ने ही भाविक में स्थान दिया है। इसी प्रकार बहुचर्चित शब्दानाकुलता भी भाविकलक्षण में भामह से ही आती है।

अन्य विषयों में इन दोनों आचार्यों की मान्यताएँ प्रायः समान हैं। इन्होंने भाविक को प्रबन्धगत अलंकार माना है अतः उदाहरण के रूप में कोई पद्य नहीं दिया है।

वामन भाविक के विषय में चुप है। किन्तु

रुद्रट ने इसे मुक्तक गुण भी मान लिया है। उन्होंने भामह द्वारा प्रस्तुत हेतुओं में से केवल शब्दसन्दर्भ की अनाकुलता को अपनाया है। भामह की शेष सभी स्थापनाएँ स्वीकार करते हुए वे लिखते हैं—

'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः। अत्यद्भुताः स्यात् तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम्' ॥६।६॥

जिनमें अत्यन्त अद्भुत भूत और भावी पदार्थ उक्ति की अनाकुलता के कारण प्रत्यक्ष जैसे दिखाई देते हैं वह भाविक कहलाता है।' रुद्रट ने मुक्तक गुण के रूप इसका यह उदाहरण दिया है—

'नाना प्रकार के आभरणों की शोभा देखने योग्य इस आकृति से अञ्जन युक्त नेत्रों वाली तुम [पार्वती] पीड़ा और प्रीति दोनों दे रही हो।'

यहां पार्वतीजी के अङ्गों पर तप के पूर्व जो अलंकारों शोभा दे रही होगी और तप के पश्चात् जो भूषणश्री होगी उसको प्रत्यक्ष देखा जा रहा है। इसीलिए उसके अभाव में दुःख व्यक्त किया जा रहा है। इस प्रकार भाविक का प्रबन्ध से मुक्तक तक सीमित करने का उपक्रम रुद्रट से आरम्भ होता है।

रुद्रट में भाविक का विवेचन नहीं मिलता।

मम्मट ने रुद्रट के लक्षण को और भी संक्षिप्त किया और उसमें से पदार्थगत अद्भुतता तथा उक्तिगत अनाकुलता दोनों को हटाकर उसका रूप केवल इतना ही रहने दिया—

'प्रत्यक्षा इव यदर्थाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद्भाविकम्'।

सर्वस्वकार ने इसे उद्धृत भी किया है। मम्मट की दृष्टि वस्तुपरक न होकर आत्मपरक है। इसीलिए उन्होंने दृश्यन्ते क्रियापद के स्थान पर क्रियन्ते क्रियापद अपनाया। 'दिखाई देना' ज्ञेयगत वैशिष्ट्य है जबकि देखना ज्ञातृगत। निश्चित ही मम्मट के अनुसार काव्यविशेष और वस्तुगत अद्भुतता से भी बड़ी वस्तु है ज्ञातृनिष्ठ भावुकता। भाविकशब्द की व्युत्पत्ति उन्होंने दण्डी की मानी है—'भावः कवेरभिप्रायोऽत्रास्तीति।' सर्वस्वकार ने एक नवीन विकल्प के साथ इसी को अपना लिया। मम्मट ने भाविक को मुक्तकगत बतलाया है प्रबन्धगत मानने के विषय में वे मौन हैं। उनका उदाहरण है—

'आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।
भाविभूषणसंभारां साक्षात् कुर्वे तवाकृतिम् ॥

हे सुन्दरि ! तुम्हारे इन नेत्रों में अञ्जन था ऐसा देख रहा हूँ और तुम्हारी आगे भूषणसंभार से उत्पन्न श्री वाली आकृति का भी साक्षात्कार कर रहा हूँ।' यहाँ पूर्वार्ध में भूतविषयक तथा उत्तरार्ध में भाविविषयक प्रत्यक्ष का वर्णन है।

इस पूर्वकथा से स्पष्ट है कि भाविक का जो रूप मम्मट तक निखरा था सर्वस्वकार ने उसी को अपना लिया है।

रत्नाकरकार = विमर्शिनीकार ने जो वस्तुगत विप्रकर्ष को महत्त्व दिया था, उसके पीछे रत्नाकर का निम्नलिखित भाविकसूत्र छिपा था—

[सू.] 'विप्रकृष्टस्य प्रत्यक्षायमाणत्वं भाविकम्।'

[वृ०] 'देशकालाभ्यां स्वभावेन वाविप्रकृष्टस्यार्थस्य साक्षाद्ग्रहणायोग्यस्यापि सामग्रीबलेन प्रत्यक्षायमाणत्वं स्फुटतया पुरःस्फुरद्रूपत्वेनैव प्रतीतिर्भाविकम्।

देश, काल या स्वभावतः विप्रकृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष द्वारा जानने के अयोग्य वस्तु का भी सामग्री के आधार पर प्रत्यक्षायमाणत्व अर्थात् सामने खड़े से रूप में ज्ञान भाविक कहलाता है।' आगे रत्नाकरकार ने यह भी लिखा है कि भाविक में यद्यपि सभी पदार्थ शब्द से ही प्रतीत होते हैं तथापि होता है उनका ज्ञान, प्रत्यक्षवत् ही। सामग्री की व्याख्या में उन्होंने दण्डी और भामह द्वारा गिनाए सभी हेतुओं को अपना लिया है। 'वस्तु की अद्भुतता, शब्दों की झटिति अर्थसमर्पकता, वाक्य का सरल अन्वय, कवि का कुशल कविकर्म—इत्यादि सभी के योग से चिरानुभूत वस्तु भी चित्तभित्ति पर प्रतिफलित हो जाती है। प्रतिफलित होकर वह निबिड़ता धारण करती है। फलस्वरूप ज्ञातृचेतना उसी पर एकाग्र हो जाती है। इस स्थिति में ज्ञाता वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान चिरकाल तक करता रहता है। यही भावना है। भावना के बल से सहृदय दूरस्थित वस्तु का प्रत्यक्ष भी उसी प्रकार करता रहता है जिस प्रकार योगी किया करता है।' इन शब्दों में रत्नाकरकार ने सर्वस्व के विस्तृत दार्शनिक विवेचन का ही संक्षेप कर दिया है। उदाहरण द्वारा अपनी मान्यता स्पष्ट कर उन्होंने अन्त में स्वभावोक्ति और भाविक के अन्तर पर यह पद्य भी बना दिया है—

'सूक्ष्मस्वभावकथनेन विनापि साक्षादर्थप्रतीतिरिह केवलभाविकाङ्गम्।
शुद्धस्समग्रजनतानुभवप्रसिद्धसम्यक्स्वभावभणितौ तु भवेत् स्वभावः॥

भाविक में केवल साक्षात् अर्थ प्रतीति रहती है, इसमें [स्वभावोक्ति के समान] सूक्ष्म-स्वभाव का कथन नहीं रहता। शुद्ध स्वभावोक्ति वहाँ होती है जहाँ सभी लोगों के अनुभव में आने वाले अतएव प्रसिद्ध स्वभाव की सम्यक् उक्ति रहती है।'

अप्पयदीक्षित ने भाविकालंकार भावकता की जिस अतिभूमि से उदित हुआ था उसे अत्यन्त क्षीण रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

'भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्।'
भूत और भावी अर्थ के साक्षात्कार का वर्णन भाविक।

उदा० 'अहं विलोकयेऽद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः।'

मैं देख रहा हूँ कि सुर और असुर आज भी लड़ रहे हैं। न तो इसमें वस्तुगत अद्भुतता है, न कविकर्म की सूक्ष्मगति। लगता है मम्मट से भाविक की ओर जो दुर्लक्ष्य होना आरम्भ हुआ था अप्पयदीक्षित में उसकी परा काष्ठा हो गई है।

पण्डितराज जगन्नाथ के रसगङ्गाधर में भाविक का संग्रह नहीं हो पाया था, किन्तु **विश्वेश्वर** पण्डित ने उसकी आंशिक पूर्ति कर दी है। उन्होंने—

'भाविकमध्यक्षं स्यात् प्रध्वंसप्रागभावानाम्।'

प्रध्वंस तथा प्रागभाव वाले पदार्थों का प्रत्यक्ष भाविक कहलाता है। प्रध्वंस से अतीत तथा प्रागभाव का संग्रह कर विश्वेश्वर ने भाविक पर मम्मट का लक्षण दुहरा दिया है। मम्मट ने

'प्रत्यक्ष जैसे' लिखा था विश्वेश्वर ने 'प्रत्यक्ष' ही लिख दिया। वस्तुतः मानस साक्षात्कार यहाँ होता ही है।

भाविक की व्युत्पत्ति पर सर्वस्वकार का खण्डन करते हुए विश्वेश्वर ने कहा है कि 'भावः कवेरभिप्रायोऽस्त्यस्मिन्' यह व्युत्पत्ति भाष्यविरुद्ध है। क्योंकि [अर्थापत्ति प्रकरण की विमर्शिनी में उद्धृत] 'सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ' इस भाष्यवचन द्वारा निषेध हो जाने से ठन् प्रत्यय सप्तमी अर्थ में नहीं होगा। यहाँ ठन् प्रत्यय मत्वर्थीय होगा अतः व्युत्पत्ति होगी'— भावः कवेरभिप्रायोऽस्त्यस्य' = जिसका विषय भाव = कवि का अभिप्राय होता है वह भाविक। विश्वेश्वर के अनुसार भी भूत और भावी पदार्थों के प्रत्यक्ष में अपेक्षित सन्निकर्ष वस्तुगत अद्भुतता से निष्पन्न हो जाता है।

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका भाविक पर इस प्रकार है—

'अथ प्रतीतिवैचित्र्यतारतम्यनिरूपणैः।
भाविकं दूरदुर्लक्ष्यं व्यक्तं व्याक्रियतेतमाम् ॥
योऽयं प्रत्यक्षवद् भावस्त्वतीतानागतार्थयोः।
तद्भावबिम्बनाच्चित्ते विनिवेशाच्च भाविकम् ॥
नाविपर्ययतो भ्रान्तिः साक्षात्त्वान्नेतिवृत्तकम्।
अन्यत्वानध्यवसितेर्नैवं चातिशयोक्तिता ॥
न परं वर्तमानार्थधर्मं प्रत्यक्षतेष्यते।
प्रतिपत्त्रनपेक्षायां प्रत्यक्षत्वपरिक्षयात् ॥
प्रत्यक्षत्वे च सामग्री भावनाद्भुतवस्तुजा।
प्रत्यक्षत्वं न सम्भाव्यमिह नोत्प्रेक्षणं ततः ॥
अलिङ्गलिङ्गिभावाच्च काव्यलिङ्गं न चेष्यते।
ताटस्थ्यात् स्फुटसंवित्तेर्न तदा रसवद्भ्रमः ॥
पश्चात् साधारणीभावे रसवत्संनिमित्तकः। स्फुटत्वान्न स्वभावोक्तिर्लोकोत्तीर्णस्य वस्तुनः ॥
स्वभावोक्ते रसवतो भेदः सत्तादभेदतः। न प्रसादगुणश्चैवं यस्मादौचित्यकाशिकम् ॥
बालवेऽपि च सौन्दर्ये योग्यत्वादस्य सम्भवः। चिरन्तनानुरोधात्तु तथा व्यक्तं न कीर्तितम् ॥
भाविके बुद्धिसंवादो मया स्याद् यदि कस्यचित्। व्याख्याविश्वस्य निकषः स मे श्रीमान् भविष्यति ॥'

[स्वभावोक्ति के पश्चात्] अब भाविक को अत्यन्त कठिनाई से जाना जा सकता है प्रतीति-गत वैचित्र्य तथा तारतम्य का अनेकधा निरूपण कर अत्यन्त स्पष्टता के साथ बतलाया जा रहा है। अतीत और अनागत पदार्थों का जो चित्त पर यह प्रत्यक्ष तुल्य भाव = प्रतिबिम्ब पड़ता है वह, भाव के बिम्बन तथा चित्त में विनिवेशन के कारण भाविक कहलाता है। इसमें विपर्यय नहीं होता इसलिए यह भ्रान्तिस्वरूप नहीं है। वस्तु साक्षात्कार के कारण यह इतिवृत्तमात्र नहीं है। अन्य अध्यवसान न होने से यह अतिशयोक्ति भी नहीं है। केवल वर्तमान पदार्थ का धर्म ही प्रत्यक्षता नहीं मानी जाती। क्योंकि यदि ज्ञाता न रहे तो प्रत्यक्षता भी नहीं रहती। प्रत्यक्षता में कारण होती है अद्भुतवस्तु की भावना। यहाँ प्रत्यक्षता सम्भावनात्मक नहीं रहती अतः इसे उत्प्रेक्षा नहीं माना जा सकता। और लिङ्गलिङ्गिभाव के न होने से इसे काव्यलिङ्ग भी नहीं कहा जा सकता। इसमें तटस्थता और स्फुटता का ज्ञान रहता है अतः इसमें रसवदलंकार का भ्रम नहीं हो सकता। बाद में जब साधारण भाव होता है तब भाविक से रसवदलंकार की निष्पत्ति होती है। यहाँ लोकोत्तर वस्तु का प्रत्यक्ष होता है अतः यह स्वभावोक्ति रूप नहीं होता। स्वभावो-

ति और रसवदलंकार में भी संवादगत भेद के कारण भेद रहता है। यह प्रसाद गुण भी नहीं है क्योंकि यह प्रसादजनित स्पष्ट प्रतीति के पश्चात् की वस्तु है।

यह वास्तविक वस्तुओं के सौन्दर्य में भी होने की योग्यता रखता है किन्तु प्राचीन आचार्यों के अनुरोध से ग्रन्थकार ने उसे स्पष्ट रूप से भाविक नहीं कहा।

भाविक के विषय में मेरे साथ यदि किसी का बुद्धि संवाद हो तो वही बुद्धिमान् व्यक्ति मेरे इस व्याख्याशिल्प की कसौटी होगा।

चक्रवर्ती की संजीविनी भाविक के कुछ कठिन अंशों पर उल्लेखनीय प्रकाश डालती है। ऐसे कुछ अंश इस प्रकार हैं—

(१) प्रतिपत्त्रपेक्षयैव वस्तुनस्तथाभावात्=प्रतिपत्त्रपेक्षयैव प्रत्यक्षत्वस्य वस्तुधर्मता। न हि प्रतिपत्तारमनपेक्ष्य वस्तुनि प्रत्यक्षता नाम काचित्।

(२) तत्र यो ज्ञानप्रतिभास० = यो ह्यर्थः स्वग्राहकं प्रतिपत्तृर्शनप्रकाशं स्वान्वयव्यतिरेकावनुकारयति, स्वयमस्ति चेद् ज्ञानप्रतिभासोऽस्ति नास्ति चेन्नास्तीति व्यवस्थापयति स प्रत्यक्ष इत्यर्थः।

(३) परमाद्वैतज्ञानिवत् = ०० न भाविकरसवतोर्भेदः। कुतः? रति—हासादिचित्तवृत्तीनां तदनुरञ्जितत्वेन विभावानुभावव्यभिचारिणां च यदा परमाद्वैतज्ञानिवद् ममैव शत्रोरेवेत्यादिविशेषपरिहारात् साधारण्येन हृदयसंवादिनी प्रतीतिस्तदैव रसवतो भावः। ००। इह तु भूतभाविनां प्रतीतिर्न साधारण्येन, अपितु प्रतिपत्तृताटस्थ्येन, स्फुटतया ताटस्थ्यं हि भेदः। यथा सांख्यादिसिद्धान्तां भेदेन सर्वं जानतां प्रतीतिः।

पाठान्तर = निर्णयसागरीय प्रति के मूल तथा टीका दोनों के पाठ अशुद्धिबहुल हैं। अतः यहाँ हमने अन्य संस्करणों की सहायता तथा रत्नाकर और अपनी कल्पना के आधार पर पाठसंशोधन किया है। यद्यपि 'परमाद्वैतिज्ञानवत्' के स्थान पर संजीविनी में परमाद्वैतज्ञानिवत् पाठ है। विमर्शिनी से परमाद्वैत ज्ञान पाठ का ही सन्दिग्ध समर्थन होता है। इनमें से कोई भी पाठ मानने पर अपेक्षित अर्थ निकल ही आता है।

[सर्वस्व]

[सू० ८१] समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तम् ।

स्वभावोक्तौ भाविके च यथावद्वस्तुवर्णनम्। तद्विपक्षत्वेनारोपितवस्तुवर्णनात्मन उदात्तस्यावसरः। तत्रासंभाव्यमानविभूतियुक्तस्य वस्तुनो वर्णनं कविप्रतिभोत्थापितमैश्वर्यलक्षणमुदात्तम्। यथा—

'मुक्ताः केलिविसूत्रहारगलिताः संमार्जनीभिर्हृताः
प्रातः प्राङ्गणसीम्नि मन्थरचलद्बालाङ्घ्रिलाक्षारुणाः।
दूराद् दाडिमबीजशङ्कितधियः कर्षन्ति केलीशुका
यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्॥'

[सू० ८१] समृद्धिशाली पदार्थ का वर्णन उदात्त [नामक अलंकार कहलाता है]॥

[वृ०] स्वभावोक्ति और भाविक वस्तु का यथावद् [जैसा का तैसा] वर्णन होता है। उदात्त कहलाता है आरोपित वस्तु का वर्णन। अतः यह उनके विरुद्ध है। इसीलिए इसे यहाँ

प्रथमतः इसका लक्षण समझ लेना चाहिए। उक्त सूत्र के संदर्भ में वह यह है—'असंभाव्य विभूति से युक्त वस्तु का वर्णन कविप्रतिभा से कल्पित अतः ऐश्वर्यस्वरूप होने से उदात्त कहलाता है। उदाहरण, यथा—

'विद्वानों के घर में [रात को] केलिकाल में टूटे हारों से गिरे, प्रातः आँगन के एक कोने में झाडू से बटोर दिए गए और मन्दगति से घूमती बालाओं के चरणालक्तक से लाल हो गए मोतियों को दूर से अनार के दाने समझ केलीशुक जो खींचते हैं यह भोजराज के त्याग की लीला है।'

विमर्शिनी

समृद्धिमदित्यादि। तद्विपक्षत्वेनेति। वस्त्ववस्तुवर्णनयोर्विरुद्धत्वात्। तत्रेति। एवमवसरे सतीत्यर्थः। असम्भाव्यमानेति। संभाव्यमानविभूतियुक्तस्य तु वर्णने नैतदलंकृतिरिति भावः। यथा—

> 'प्रासादकान्तर्गृहोदरकुट्टिमाग्रविक्षिप्तरत्नकुसुमप्रकरावकीर्णाः।
> अभ्युद्गताह्निकराहतिपात्यमाननक्षत्रराशिशबला इव यत्र रथ्याः॥'

अत्र हि भगवन्नगर्यां वस्तुत एव संभवति रत्नविक्षेपः। अत एवास्य कश्चिन्नातिशयोक्त्यादित्वमुक्तम्। एवं चास्य नामापि सापेक्षम्। अलंकारसारकृता पुनरस्यातिशयोक्तिप्रकारत्वमुक्तम्।

समृद्धिमदित्यादि। तद्विपक्षत्वेन = उनके विरुद्ध, इसलिए कि वस्तु और अवस्तु के वर्णन परस्पर विरुद्ध होते हैं। तत्र इस प्रकार अवसर होने पर। असंभाव्यमान = भाव यह कि सम्भाव्यमान विभूति से युक्त वस्तु के वर्णन में यह अलङ्कार नहीं होता। यथा—

[हरविजयमहाकाव्य के प्रथमसर्ग में भगवत्पुरी का वर्णन]

'जिस [ज्योत्स्नावती] नगरी में प्रासादों के भीतरी फर्शों के अग्रभाग से फेंके रत्न तथा पुष्पों के पुञ्ज से छाई सड़कें प्रातःकाल के समय उदित बालसूर्य की किरणों के आघात से गिरी नक्षत्रराशियों से चित्रित सी लगती हैं।' [१।१२]

इस पद्य में वर्णित रत्नों का फेंका जाना वास्तविक और संभव है क्योंकि यह नगरी भगवान् की नगरी है। इसीलिए इस प्रकार इसका नाम भी सार्थक है। अलंकारसारकार ने इसके विरुद्ध इसे अतिशयोक्ति का भेद बतलाया था।

[सर्वस्व]

[सू० ८२] अङ्गभूतमहापुरुषचरितं च।

उदात्तशब्दसाम्यादिहाभिधानम्। महापुरुषाणामुदात्तचरितानामङ्गिभूतवस्त्वन्तराङ्गभावेनोपनिबध्यमानं चरितं चोदात्तम्। महापुरुषचरितस्योदात्तत्वात्। यथा—

> 'तदिदमरण्यं यस्मिन् दशरथवचनानुपालनव्यसनी।
> निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः॥'

अत्रारण्ये वर्णनीये रामचरितमङ्गत्वेन वर्णितम्।

[सू० ८२] [किसी के प्रति] अंगभूत महापुरुष चरित भी [उदात्त कहलाता है] ।

[वृ०] उदात्त शब्द के साम्य के कारण इसे यहाँ बतलाया जा रहा है। उदात्तचरित वाले महापुरुषों का चरित, अंगीभूत किसी अन्य वस्तु के अंग के रूप में उपनिबद्ध हो तो वह भी उदात्त [नामक एक अन्य अलंकार] होता है। [उदात्त] इसलिए कि महापुरुष का चरित उदात्त होता है। यथा—

'यह वह वन है जिसमें दशरथ के वचन का पालन करने में निरत राम ने जिन के सहायक केवल उन्हीं के भुजदण्ड थे राक्षसों का क्षय किया था।'

यहाँ वर्णन करना है वन है। उसमें राम का चरित अंगरूप में वर्णित किया गया।

विमर्शिनी

अङ्गभूतेत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—महापुरुषाणामित्यादिना। अङ्गिभूतस्य वस्तुनो महापुरुषचरितमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषयाङ्गतयोपनिबध्यमानमेतदलंकाराङ्गम्। न तूपलक्षणमात्रपरतयोपात्तमिति तात्पर्यार्थः। तच्च यथोदाहृतम्।

> 'कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः
> शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
> यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
> स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥'

अत्राङ्गिनो गिरिविशेषस्य वसतियोग्यत्वादिवर्णनार्थमुत्कर्षप्रतिपिपादयिषया रामसीतादिचरितमुपलक्षणपरम्, तदत्र नायमलंकारः। यथा—

> 'गोदावर्याः करिकुलमदक्षोदकश्चोदकायाः
> पारे पारे वन घन पराभृश्यतामृष्यमूकः।
> कंकालाद्रौ पिहितगगने दुन्दुभेर्यत्र रामः
> पादाङ्गुष्ठं निजमपि भवद्दैवतं निर्ममेऽस्तम् ॥'

अत्र पवनं प्रति वियोगिन्या उक्तौ रामचरितमुपलक्षणमात्रपरम्, न त्वङ्गभूतेनाङ्गिनः कश्चिद्विशेषो विवक्षितः।

> 'अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
> गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः।
> दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
> केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥'

इत्यत्र तु रामस्य सीतां प्रत्युक्तावुपलक्षणीभूतदेशविशेषे पाशबन्धनाद्येव साक्षाद् विवक्षितमिति न महापुरुषचरितस्य वस्त्वन्तरं प्रत्यङ्गभाव इति नायमलंकारः।

अंगभूतेत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—'महापुरुषाणाम्' इत्यादि के द्वारा। तात्पर्य यह कि अंगी वस्तु के उत्कर्ष के प्रतिपादन हेतु अंगरूप में, न कि उपलक्षण मात्र के रूप में उपनिबध्यमान महापुरुष चरित इस अलंकार का निष्पादक होता है। इसका उदाहरण [तदिदमरण्यं] दिया जा चुका है। [रत्नाकरकार द्वारा उदात्त के लिए उदाहृत]

'अपने अधिकार में असावधान अतएव स्वामी के वर्ष भर के कान्ताविरह संबन्धी अत्यन्त गुरु शाप से महिमाशून्य किसी एक यक्ष ने रामगिरि के, सीताजी के स्नान से पवित्र जल वाले तथा घनी छाया वाले नमेरु वृक्षों से सुन्दर आश्रमों में डेरा डाला ॥'

इस पद्य में वर्ण्य है गिरिविशेष। उसमें निवास करने की योग्यता दिखलाने के लिए उसका उत्कर्ष बतलाना आवश्यक है। तदर्थ रामसीता आदि का चरित अपनाया गया है। यह यहाँ उपलक्षणमात्रपरक है, अतः यहाँ यह [उदात्त–२] अलंकार नहीं है।

'हाथियों के मदचूर्ण से तिक्त जलवाली गोदावरी के किनारे, मां दादा, इस ऋष्यमूकपर्वत को देखो, जहाँ रामने दुन्दुभिनामक दैत्य के कङ्कालरूपी आकाशरोधी पर्वत पर अपने पैर के अँगूठे और तुम्हारे देवर को भी भरत [क्षिप्त] कर दिया था (?)।'

पवन के प्रति वियोगिनी की इस उक्ति में राम का चरित उपलक्षणमात्र है, क्योंकि वह अंगभूत तो है परन्तु उसमें अगी का कोई वैशिष्ट्य कवि को विवक्षित नहीं है। [रत्नाकरकार द्वारा उदात्त के लिए उदाहृत]—

'यहां नागपाश का बन्धन हुआ था, तुम्हारे देवर [लक्ष्मण] को वक्षःस्थल में शक्ति लगने पर हनुमान् ने द्रोणगिरि यहां ला पहुँचाया था। यहां लक्ष्मण के दिव्यशरों ने इन्द्रजित् [मेघनाद] को दूसरे लोक भेज दिया था, और उस राक्षसपति [रावण] की भी कण्ठाटवी यहां कटी थी'।

सीता के प्रति राम की इस उक्ति में उन उन उपलक्षणीभूत स्थानों में नागबन्धन आदि ही साक्षात् विवक्षित है, इसलिए महापुरुषचरित अन्य वस्तु के प्रति अंग नहीं है इसलिए यहाँ भी यह अलंकार नहीं है।

विमर्श—

इतिहास—दोनों ही उदात्त प्रथमतः दण्डी में ही मिल जाते हैं।

दण्डी—उन्होंने दोनों उदात्तों को एक ही अलंकार के दो भेद माना है। उनका लक्षण इसमें प्रमाण है—'आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्।

उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः' ॥२।३००॥

आशय [चित्त] या वैभव का जो सर्वोत्तम महत्त्व उसे विद्वज्जन उदात्त नामक अलंकार कहते हैं। दण्डी के दोनों उदाहरण सर्वस्वकार के दोनों उदाहरणों से गतार्थ हैं। दोनों की अभिव्यक्तियाँ बिलकुल एक सी हैं।

भामह—का उदात्तविवेचन दण्डी की ही अनुकृति है। इन्होंने माने तो दोनों ही उदात्त हैं किन्तु लक्षण केवल प्रथम का ही दिया है—

'नानारत्नादियुक्तं यत् तत् किलोदात्तमुच्यते।'

जो नाना रत्न आदि से युक्त होता है उसे उदात्त कहते हैं।' दोनों के उदाहरण दण्डी के उदाहरणों के ही भावानुकरण हैं। सर्वथा उदात्त के विषय में भामह दण्डी से उपकृत हैं। इस विषय में वामन चुप हैं।

उद्भट—ने भी दण्डी के ही समान दोनों उदात्तों को एक ही लक्षण में गूँथ डाला है। उनका लक्षण है—

'उदात्तमृद्धिमद् वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम् ॥ ४। ८ ॥

संपत्तिशाली वस्तु उदात्त कहलाती है और महात्माओं का उपलक्षणता को प्राप्त चरित, किन्तु इतिवृत्तात्मकता को प्राप्त चरित नहीं।' यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उद्भट का उपलक्षणशब्द सर्वस्वकार के अंग शब्द का ही समानार्थी शब्द है। विमर्शिनीकार जिस उपल-

क्षणत्व का खण्डन कर रहे हैं वह वस्तुतः उस अर्थ के लिए प्रयुक्त शब्द है जिसके लिए उद्भट ने 'इतिवृत्त'—शब्द दिया है। यह उनके उदाहरणों से स्पष्ट है।

रुद्रट—वामन के ही समान रुद्रट के काव्यालंकार में भी उदात्तालंकार नहीं मिलता। वक्रोक्ति-जीवितकार उदात्त को अलंकार नहीं मानते। इनके अनुसार वह वस्तुस्वभाव से भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

मम्मट—ने दोनों उदात्तों के दो अलग लक्षण किए हैं। वे ये हैं—

(१) 'उदात्तं वस्तुनः संपद्, उदा० मुक्ताः केलि०

(२) 'महतां चोपलक्षणम्। उदा० तदिदमरण्यम्०।

मम्मट के उपलक्षण शब्द का अर्थ भी अंगता ही है। क्योंकि उन्होंने उदाहरण अंगता का ही दिया है।

रत्नाकरकार—ने उदात्त का द्वितीयरूप ही उदात्त नाम से स्वीकार किया है। प्रथम को वे 'असंबन्ध में संबन्धरूपी अतिशयोक्ति से गतार्थ मानते हैं। 'मुक्ताः केलि०' पद्य उद्धृत कर वे उसमें उदात्तालंकार का निराकरण और उक्त अतिशयोक्ति भेद की स्थापना करते हैं। उनका उदात्तसूत्र यह है—

'उदारचरिताङ्गत्वमुदात्तम्' ॥ १०८ ॥

उदार व्यक्ति के चरित का अंग बनना उदात्त कहलाता है। इसके लिए इन्होंने कश्चित् कान्ताविरह०' पद्य उदाहरण रूप से उद्धृत किया था और लिखा था कि 'यहाँ देश विशेष—[पर्वत]—रूपी अर्थ प्रधान है, उसमें उदारचरित व्यक्ति जानकी आदि का चरित अंग रूप से उपनिबद्ध है।' विमर्शिनीकार इसे अंगत्व नहीं उपलक्षणत्व मानते हैं। उपलक्षण का अर्थ वे 'मुख्यतः वर्णनविषयीभूत न होना करते हैं। यहाँ अवश्य ही सीताचरित मुख्यतः वर्णन विषयीभूत नहीं है। किन्तु जानकी सम्बन्ध से उस आश्रम की उदात्तता का भान भी नहीं मेटा जा सकता। इसी प्रकार रत्नाकरकार ने 'अत्रासीत् फणि०' पद्य में भी उदात्तलंकार माना है।

अप्पय्यदीक्षित—दोनों ही प्रकार का उदात्तालंकार स्वीकार करते हैं और लक्षण में अंग-शब्द के स्थान पर उपलक्षण शब्द ही रखते हैं—

'उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम्।'

ऋद्धि का चरित और श्लाघ्यतापूर्ण उपलक्षणभूत चरित उदात्त अलंकार माने जाते हैं।

विश्वेश्वर—"वस्तुप्रचय उदात्तं महतामङ्गत्ववर्णनं वा।"

संपदादिवस्त्वतिशयवर्णनमुदात्तम्, उत्कृष्टानां वर्णनीयनिष्ठाङ्गित्वप्रतियोगित्वं च यत्रोच्यते तदपीति।

जहाँ संपत्ति आदि वस्तुओं का अतिशय वर्णित हो उसे उदात्त कहते हैं तथा उत्कृष्ट वस्तु का अंगी वर्णनीय में अंग बनाना भी।' इस प्रकार विश्वेश्वर दोनों ही उदात्त को मम्मट के ही स्वर में स्वीकार करते हैं किन्तु वे उपलक्षणशब्द के स्थान पर अंग शब्द ही अपनाते हैं।'

श्रीविद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका इस पर इस प्रकार की है—

[१] उदात्तं समृद्धस्य वस्तुनः कविवर्णनम्।

[२] अङ्गभन्तरेऽङ्गतापन्नं महच्चरितलक्षणम्।

द्वितीयोदात्तविषयो न्यासो रसवदादिभिः॥

—[१] समृद्ध वस्तु का कवि द्वारा वर्णन उदात्तालंकार कहलाता है।

[२] अन्य किसी अर्थ में महापुरुष के चरित का अंगता को प्राप्त होना भी उदात्तालंकार कहलाता है। इस द्वितीय उदात्त के क्षेत्र में प्रायः रसवदादि अलंकार व्याप्त रहते हैं।

[रसवदादि]

[सू० ८३] रसभावतदाभासतत्प्रशमानां निबन्धनेन रसवत्प्रेय-ऊर्जस्विसमाहितानि।

उदात्ते महापुरुषचरितस्य चित्तवृत्तिरूपत्वाच्चित्तवृत्तिविशेषस्वभावत्वाच्च रसादीनामिह तद्वदलंकाराणां प्रस्तावः। अत एव चत्वारोऽलंकारा युगपल्लक्षिताः। तत्र विभावानुभावव्यभिचारिभिः प्रकाशितो रत्यादिश्चित्तवृत्तिविशेषो रसः। भावो विभावानुभावाभ्यां सूचितो निर्वेदादिस्त्रयस्त्रिंशद्भेदः। देवादिविषयश्च रत्यादिर्भावः।

तदाभासो रसाभासो भावाभासश्च। आभासत्वमविषयप्रवृत्त्यानौचित्यम्। तत्प्रशम उक्तप्रकाराणां निवर्तमानत्वेन प्रशाम्यदवस्था। तथापि रसस्य परविश्रान्तरूपत्वात् सा न संभवतीति परिशिष्टभेदविषयो द्रष्टव्यः। एषामुपनिबन्धे क्रमेण रसवदादयोऽलंकाराः। रसो विद्यते यत्र निबन्धने व्यापारात्मनि तद् रसवत्। प्रियतरं प्रेयो निबन्धनमेव द्रष्टव्यम्। एवमूर्जो बलं विद्यते यत्र, तदपि निबन्धनमेव। अनौचित्यप्रवृत्तत्वाच्चात्र बलयोगः। समाहितं परिहारः। स च प्रकृतत्वादुक्तभेदविषयप्रशमापरपर्यायः। तत्र यस्मिन्दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलंकाराः, तत्राङ्गभूतरसादिविषये द्वितीय उदात्तालंकारः। यन्मते त्वङ्गभूते रसादिविषये रसवदाद्यलंकाराः अन्यस्य रसादिध्वनिना व्याप्तत्वात् तत्रोदात्तालंकारस्य विषयो नावशिष्यते, तद्विषयस्य रसवदादिना व्याप्तत्वात्।

[सू० ८३] रस, भाव इन [दोनों] के आभास तथा इन [भावों] के प्रशम का उपनिबन्ध हो तो [अलंकारों के नाम] रसवत् प्रेयस् ऊर्जस्वित् तथा समाहित [होते हैं]॥

[वृत्ति] उदात्त में महापुरुष का चरित चित्तवृत्तिरूप होता है, और रसादि भी चित्तवृत्ति-विशेषरूप होते हैं इसलिए उनसे युक्त [रसवदादि] अलंकारों का निरूपण इस स्थान पर किया जा रहा है। इसीलिए चार अलंकारों के लक्षण एक साथ किए। दोनों में [जो] रस [है वह] है विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारियों के द्वारा अपने साथ प्रकाशित रत्यादिनामक विशिष्ट चित्त-वृत्ति। भाव नाम है विभाव और अनुभाव से सूचित निर्वेद आदि तैंतीस चित्तवृत्तियों का। देव आदि विषयक रत्यादि भी भाव ही होते हैं।

तदाभास का अर्थ है रसाभास तथा भावाभास। आभासत्व है अविषय में [जहाँ प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए वहाँ] प्रवृत्ति से उत्पन्न अनौचित्य। उनका प्रशम कहने से अर्थ निकलता है पूर्वोक्त [= तद्] भेदों की निवृत्तिमूलक शान्ति। किन्तु उक्त तत्त्वों में से जो रस है वह पर विश्रान्तिरूप होता है, अतः उसमें वह [शान्ति] संभव नहीं होती, फलतः उस (शान्ति) का विषय बचे हुए

भेद ही जानने चाहिए। इनका जब काव्य में गुंफन होता है तब रसवदादि अलंकार होते हैं। 'रस है गुंफन रूपी व्यापार में जहाँ वह रसवत्'। प्रेय अर्थात् प्रियता, इसे भी गुंफन ही मानना चाहिए। इसी प्रकार ऊर्जस् का अर्थ है बल वह, जिसमें रहता है वह [ऊर्जस्वत्], यह भी गुंफन रूप ही होगा। क्योंकि इसमें प्रवृत्ति अनौचित्यमूलक होगी इसलिए इसके साथ बल शब्द जोड़ा गया। समाहित का अर्थ है परिहार वह इस प्रसंग में उक्त भेद विषयक ही होगा जिसका दूसरा पर्याय प्रशम होगा। यहाँ [आनन्दवर्धन के पूर्व के दण्डी भामह आदि] जिन आचार्यों के मत में वाक्यार्थीभूत रस आदि ही रसवदलंकार हैं, वहाँ अंगभूत रसादि के अंश में उदात्तालंकार माना जायगा। किन्तु 'जिन [आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त और मम्मट] के मत में अंगभूत रस आदि को ही रसवदादि अलंकार माना जाता है वहाँ अन्य [वाक्यार्थी भूत रसादि] रस आदि की ध्वनि में चला जाता है, अतः उदात्तालंकार के लिए कोई स्थान नहीं रहता। वह जहाँ हो सकता था वहाँ रसवदादि जो हो जाते हैं।

विमर्शिनी

रसभावेति। अत एवेति। चतुर्णामपि चित्तवृत्तिविशेषस्वभावात्। तत्रेति। युगपल्लक्षणे स्थिते सतीत्यर्थः। विभावा ललनोद्यानादयः आलम्बनोद्दीपनकारणानि अनुभावाः कटाक्षभुजक्षेपादयः कार्याः। व्यभिचारिणो निर्वेदादयः सहकारिणः। प्रकाशित इति। व्यञ्जितः। यदुक्तम्—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः' इति। रत्यादीत्यादिशब्देन हासादीनां स्थायिनां ग्रहणम्। निर्वेदादिरिति। यदुक्तम्—

'निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः॥'
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः॥' इति।

देवतादिविषयाणामानन्त्यादनेकप्रकारत्वेऽप्येकप्रकार एव रत्यात्मा भावः। अत एव रत्यादिरित्यादिशब्दः प्रकारे। चः समुच्चये। यदुक्तम्—'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः भावः प्रोक्तः' इति, तथा 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः' इति। प्रशाम्यदवस्थेति। न तु ध्वंसरूपा प्रशान्तावस्थेत्यर्थः। तथात्वे हि सर्वत्रैव कस्यचित्प्रकृतत्वे सर्वेषामन्येषां प्रशान्तत्वादेवंभावः स्यात्। ननूक्तप्रकारत्वेन परामृष्टस्य रसस्यापि कथं प्रशाम्यदवस्था संगच्छत इत्याशङ्क्याह—तत्रापीत्यादि। परिश्लिष्टेति। भावतदाभासतत्प्रशमविषय एवेत्यर्थः। एषामिति। रसभावतदाभासतत्प्रशमानाम्। बलयोग इति। अनुचितेन बलात्कारेणैव प्रवृत्तिः। प्रकृतत्वादिति। तेनात्र वस्त्वन्तरं प्रकृतमिति भावः। ननु च परविश्रान्तिरूपस्य काव्यात्मनोऽलंकार्यस्य रसस्य कथमलंकारत्वं संगच्छत इत्याशङ्क्याह—तत्रेत्यादि। यस्मिन्दर्शन इति। ध्वन्यभाववादिनां मत इत्यर्थः। द्वितीय इति। ऐश्वर्यलक्षणात्। अन्यस्येति। यत्र वाक्यार्थीभूतो रसः। एवं ध्वन्यभाववादिमतं विषयद्वयस्य दृष्टान्तीकृत्य रसरसवदलंकारयोरनेन विषयविभागः कृतः।

अङ्गभूतस्य रसादेश्चालंकारत्वं युक्तम् । तथा च यावन्नोपमादीनां सर्वालंकाराणां प्रकृतवस्तूपरञ्जकत्वमलंकारत्वे निबन्धनम्, अङ्गभूतेनापि रसेन तत्क्रियत एव, प्रकृतस्य रसादेस्तदुपस्कृतत्वेन भावात्, अतश्चोपमादीनामलंकारत्वे यादृश्येव वार्ता तादृश्येव रसादीनाम् । यद्यपि चोपमादयोऽर्थालंकाराः, तथापि तस्य वाच्यार्थस्य विभावादिरूपतापर्यवसायित्वमेवेति काव्यात्मनो व्यङ्ग्यस्य रसादेरेव तदलंकार्यत्वम् । किं पुनस्तस्य शब्दमुखेनोपस्कारकाः शब्दालंकाराः, अर्थमुखेन त्वर्थालंकाराः । तत्तदवयवगतैरपि हि कटकादिभिश्चेतन आत्मैव तत्तच्चित्तवृत्तिविशेषौचित्यसूचनात्मतयालंक्रियते । तथा ह्यचेतनं शवशरीरादिकं कटकाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात् । अतश्च देहद्वारेण सर्वत्रात्मैवालंकार्यः । एवमस्यापि शब्दार्थशरीरस्यात्मन्मुखेनैवालंकार्यत्वम् । तेन—

'रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलंकृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥'

इति दृशा रसाद्याश्रयेणैवालंकाराणां विनिवेशनं ओचितम् । अतश्चेहापि प्रकृतस्य वाक्यार्थीभूतत्वेन प्रधानस्य रसादेरुपस्कार्यस्याङ्गभावेन रसादेरलंकारत्वं युक्तम् । यदाहुः—

'प्रधानतां यत्र रसादयो गता रसो रसादिध्वनिगोचरो भवेत् ।
भवन्ति ते यत्र रसादिदीपका रसाद्यलंकारदशा हि सा पृथक् ॥' इति ।

ननु निर्वेदादीनां भावानां गर्भदासत्वात्कदाचिदपि स्वप्राधान्याभावात्सर्वदा रसाद्यङ्गत्व एव ध्वनिभेदत्वमिति प्रधानेतरकक्षाद्वयाभावादेतेषां भावस्थित्युदयप्रशमशबलतात्मतया कथमलंकारत्वं वाच्यम् । तथात्वे ह्यभिधीयमाने ध्वनिभेदत्वमेषां न स्यात् । असदेतत् । इह हि निर्वेदादीनां त्रयी गतिः । तत्र 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः' इति नीत्या विभावानुभावस्पर्शिनां रसव्यञ्जकत्वमेका गतिः । तत्र च रसस्यैव प्राधान्याच्चिरतिशयप्रीतिकारित्वेन फलवत्त्वात् 'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्' इति नीत्या रसव्यञ्जकत्वमात्रेणैव कृतार्थत्वादेतेषां रसव्यक्तिव्यतिरेकि किंचित्प्रयोजनान्तरम् ।

'नायं कञ्चुलिकाविमोक्षसमयः स्पृष्टो न काञ्चीगुणः
प्रक्रान्ता न मया विपर्ययरतारम्भाय वा प्रार्थना ।
न स्वाकूतं कमर्पयामि निबिडं श्रोण्यां दलीबन्धनं
तत्किं कारणमेव बालकदलीवल्लीव किं वेपसे ॥'

अत्रालम्बनविभावस्त्रपा, वेपनादिरनुभावः, वितर्कश्च व्यभिचारिभावः । एषां चात्र समस्तघटितया रसव्यञ्जकत्वमात्रमेव प्रयोजनम् । व्यक्तश्च रसः सचेतसां दत्तफल इति नैषां किंचित्फलान्तरम् । अत एव रसाद्यङ्गभूतस्य व्यभिचारिणः स्थिरत्वाधारध्वनिप्रकारत्वं भवतीति न वाच्यम् । तथात्वे चाभिधीयमाने निर्वेदादेः प्राधान्याभावात् ध्वनिव्यपदेश एव न युक्तः । अप्रधानस्य प्रधानत्वाभिधाने विरोधात् । एवं च गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि ध्वनिव्यपदेशः केन प्रत्युक्तः । क्वचिच्चापि 'मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन' इति नीत्या राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवद्विभावव्यञ्जितानां रसगुणीभावेनैषामेव प्राधान्यम् । यथा—

'इतश्चारुप्रेमप्रणयसुकुमारा वरवधू
रितः स्वेच्छालम्बानुपमफलमूला वनमही ।
इतो मौर्वीनादोन्मुखनिखिलसैन्यो रणविधिः
क्व नामायं तादृक्तरलहृदयो रज्यतु जनः ॥'

'अत्र विभावानुभावाभ्यां व्यञ्जितः शृङ्गारादीनां रसानामप्ररूढत्वेन विश्रान्तेश्चिन्ताख्यो व्यभिचारिभावः प्रधानम्। अत एवात्र भावस्थितेर्ध्वनिभेदत्वम्। एवं चात्र चिन्तायाः शृङ्गारादीन् प्रति तदङ्गत्वाभावान्न गुणीभावः। अत एव चात्र तत्परिपोषकत्वस्याभावात्, तदीयकार्याकरणाद्, रसं प्रति गुणीभावाभावात् स्वेनैव च निरतिशयप्रीतिकारित्वेन सचेतसां दत्तफलत्वात् निजप्रयोजनासंपादकत्वविरहाद् राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवन्मुख्यानपि रसाननादृत्य चिन्ताया एव वाक्यतात्पर्यविषयत्वेन प्राधान्यात् अङ्गित्वम्। अत एव च दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्न कश्चिद्विषम उपन्यासः। वस्तुश्चात्र सरलहृदयत्वेनैकत्र तात्पर्येच्छाभावान्नैकतरपक्षाश्रयणमिति न कथंचिदपि रसस्य प्राधान्यम्। नाप्येषां परस्परविरोधात्संधिरिति व्यभिचारिभावस्यैव प्राधान्यम्। एवं च निर्वेदादीनां गर्भदासवत्कदाचिदपि प्राधान्यं [न] भवतीत्यपर्यालोचिताभिधानम्। गर्भदासस्यापि कदाचिन्नृपततो गर्भदासी प्रत्यस्ति प्राधान्यम्। प्रधानाप्रधानभावस्यापेक्षिकत्वात्। 'क्वचिदन्यपरस्याङ्गम्' इति नीत्यैषामङ्गत्वे प्राधान्याभावादलंकारत्वम्। यथा—

'कचकुचचिबुकाग्रे पाणिषु व्यापृतेषु प्रथमजलधिपुत्रीसंगमेऽनङ्गधाम्नि।
निबिडनिबिडनीवीग्रन्थिविस्रंसनेच्छोश्चतुरधिककराशा शार्ङ्गिणो वः पुनातु॥'

अत्र शृङ्गाररसस्याप्ररूढत्वाद् गुणीभावेन वाक्यतात्पर्यविषयत्वेनोनिबद्धमप्यौत्सुक्यं पश्चाच्छार्ङ्गिविषयां रतिं प्रति अङ्गमिति प्रेयोऽलंकारः।

ननु च यद्यपि परस्याङ्गत्वे सत्येषामलंकारत्वं तद् रसाङ्गभूतत्वादेषां सर्वत्रैव तत्वं स्यादिति चेत्, नैतत्। यस्मान्निमित्तान्तरेभ्यो लब्धसत्ताकस्याङ्गिभूतस्य वस्तुन उपकारधायकस्याङ्गतामुपगच्छतामेषामलंकारत्वम् उपकार्योपस्कारकत्वनिबन्धनत्वादलंकार्यालंकरणभावस्योक्तत्वात्। रसादेः पुनः स्वरूपनिर्वृत्तये निर्वेदाद्योऽङ्गतामुपयान्तीति तत्रैषां रसोपसर्जनीभूतत्वात् तद्व्यञ्जनमात्रमेव फलम्। अत एव तत्रैव पूर्वोक्तनीत्या न ध्वनित्वम्, नाप्यलंकारत्वम्। रसव्यक्तिव्यतिरेकिप्रयोजनान्तरनिष्पादनत्वायोगात्। एवं निर्वेदादीनां रसव्यक्तौ सहकारित्वम्, अङ्गित्वे ध्वनित्वम्, अङ्गत्वे चालंकारत्वमिति विषयविभागः। तस्मात्—

'निर्वेदादीनां सर्वदैवाङ्गभावात् प्रेयोऽलंकारस्तद्व्यपेक्षो न वाच्यः।
तस्मादेतेषां व्यङ्ग्यतायां ध्वनित्वं न प्राधान्यं क्वापि यस्मान्न जग्ते॥
एतेन भावप्रशमाद्योऽपि व्यङ्ग्याः सद्व ध्वनिता प्रयान्ति।
ध्वनित्वमिदं यदि तर्हि तेषु न कल्पनीयस्तु समाहितादिः॥'

इत्यादि यदन्यैरुक्तं तदुपेक्ष्यम्॥

रसभाव इत्यादि। अतएव = क्योंकि चारों ही चित्तवृत्तिविशेषरूप हैं। तत्र = अर्थात् अब इन सबका लक्षण साथ-साथ करना है। विभाव ललना आदि आलम्बन कारण तथा उद्यान आदि उद्दीपन कारण। अनुभाव कटाक्ष, भुजक्षेप आदि कार्य। व्यभिचारी = निर्वेद आदि सहकारी। प्रकाशितः व्यञ्जित। जैसा कि [भरतमुनि ने] कहा है = 'विभावानुभाव—व्यभिचारी-संयोग से रसनिष्पत्ति [होती है]'। इत्यादि = यहां आदि पद से हास आदि स्थायिभावों का ग्रहण होता है। निर्वेदादि, जैसा कि [भरतमुनि तथा उन्हीं की कारिकाएँ उद्धृत कर मम्मट ने] कहा है—'निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, निद्रा, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास तथा वितर्क'—ये तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं जिन्हें नामोल्लेखपूर्वक गिना दिया गया।' देवता आदि विषय अनन्त

है अतः तद्विषयक रतिभाव अनेक प्रकार के हैं, फलतः उसका रतिरूप भाव के रूप में एक ही भेद गिना गया है। इसीलिए 'रत्यादि'=शब्द के साथ आया आदिशब्द प्रकार वाचक है। 'च'—समुच्चयार्थक है। जैसा कि [मम्मटभट्ट ने इसे इसी रूप में गिनाते हुए] कहा है- 'देवादि—विषयक रति तथा व्यञ्जित व्यभिचारी भाव कहलाता है' तथा 'इनके आभास होते हैं तब, जब वे अनौचित्य से निष्पन्न होते हैं।' प्रशाम्यदवस्था शान्त हो रही स्थिति, न कि ध्वंसरूप प्रशान्त हो चुकी स्थिति। वैसा मानने पर वहाँ, जहाँ कोई एक भाव वर्णित हो जिन, शेष सब भावों का अभाव रहेगा उनकी भावशान्ति माननी पड़ जायगी। रस जिसका स्वरूप ऊपर बतलाया जा चुका है उस में भी क्या शान्तिस्थिति लागू होती है'—ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं 'रसादि॰'। परिशिष्टेति=शेष भेदों के विषय में=भाव, रसभावाभास तथा भावप्रशम के विषय में। एषाम्=रस, भाव, दोनों के आभास तथा भावप्रशम के सम्बन्ध=अनुचित प्रकार द्वारा प्रवृत्ति। प्रकृतत्वात=इसमें भाव यह निकला कि यहाँ अन्य कोई वस्तु प्रकृत रहती है। 'रस जो परविश्रान्तिस्वरूप है [जिसकी प्रतीति के आगे कोई प्रतीति नहीं रहती] उसका अलङ्कारत्व सम्भव कैसे' ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—'तत्र' इत्यादि। यस्मिन् दर्शने=जिस मत या सिद्धान्त में=ध्वनि न मानने वाले [दण्डी और उद्भट] के सिद्धान्त में। द्वितीय=ऐश्वर्यस्वरूप। अन्यस्य=अन्य अर्थात् उस पक्ष में अन्य जिसमें रस वाक्यार्थीभूत रहता है। इस प्रकार ध्वनि न मानने वालों के मत को दोनों विषयों का दृष्टान्त बनाकर इसके द्वारा रस और रसवदलङ्कार का क्षेत्र विभक्त किया।

जो रस आदि अंगभूत होते हैं उनमें अलङ्कारता मानना उचित ही है, क्योंकि उपमा आदि सभी अलङ्कारों में प्रकृत वस्तु की शोभा बढ़ाने से ही अलंकारता आती है, और क्योंकि अंगभूत रस के द्वारा भी यह कार्य किया ही जाता है इसलिए कि उसके साथ प्रकृत रस [उपस्कार्य] अलंकार्य रूप से विद्यमान रहता है, अतः उपमादि में अलङ्कारत्व आने पर जैसी स्थिति होती है वैसी ही स्थिति रसादि में है [अतः वे भी अलंकार कहे जा सकते हैं]। यद्यपि उपमा आदि अर्थ के अलंकार होते हैं [अतः अर्थ को ही उनका अलंकार्य मानना चाहिए] तथापि क्योंकि वह वाच्य अर्थ विभाव आदि के रूप में उपस्थित होता है अतः काव्य की आत्मा और व्यंग्य रूप से उपस्थित रसादि ही उस [उपमा आदि] का अलंकार्य ठहरता है। यहाँ तक कि शब्दालंकार भी शब्द के माध्यम से उसी [रसादि व्यंग्य काव्यात्मा] के अलंकार होते हैं, इसी प्रकार अर्थ के माध्यम से अर्थालङ्कार भी। ठीक भी है। लोक में भी कटक आदि रहते तो उन उन अवयवों में ही हैं, किन्तु वे उन उन विशिष्ट चित्तवृत्तियों की सूचना देते और उसके द्वारा चेतन आत्मा को ही अलङ्कृत करते हैं। शव शरीर आदि अचेतन वस्तु कटक आदि से युक्त होकर भी अच्छे नहीं लगते, इसलिए कि उनमें अलङ्कार्य का अभाव रहता है। इस प्रकार सर्वत्र ही देह के द्वारा आत्मा का ही अलङ्कार किया जाता है। यहाँ [काव्यस्थल में] यह जो रसादि रूप आत्मा है, शब्द और अर्थ उसके शरीर होते हैं अतः उसका इनके द्वारा ही अलंकृत किया जाना उचित ठहरता है। इस प्रकार—

'सभी अलंकारों के अलङ्कारत्व का साधक है उनका प्रधानभूत रसभाव आदि की दृष्टि से सन्निवेश॥ [ध्वन्यालोक २।५ संग्रहकारिका]

इस दृष्टि से रस आदि को लेकर ही किया गया निवेश अलंकारों का प्राण है। इसीलिए यहाँ भी रस आदि में अलङ्कारत्व तभी ठीक होगा जब प्रकृत और वाक्यार्थीभूत होने से प्रधान रस आदि अलंकार्य के प्रति अंग हों। जैसा कि [रत्नाकरकार ने भी] कहा है—

'जहाँ रस आदि प्रधान रहते हैं वहाँ रस रसादिध्वनि का विषय बनता है। किन्तु वे ही जहाँ रसादि के पोषक बनते हैं वहाँ रसादि [रसवदादि] अलंकार बन जाते हैं। उनकी यह एक भिन्न ही दशा है ॥ [सू० १०९ कारिका]॥

[रत्नाकरकार का कहना है कि—] 'निर्वेद आदि [संचारी] भाव सदा रस आदि के अंग और ध्वनि के भेद के रूप में ही रहते हैं, क्योंकि उनको अपनी प्रधानता उसी प्रकार कभी भी नहीं रहती जिस प्रकार गर्भदास [दासी के गर्भ से उत्पन्न होने आदि के कारण जन्मतः दास] की इस प्रकार उनमें प्रधानता और अप्रधानता की दो कक्षाएँ ही नहीं बनतीं [एकमात्र अप्रधानता ही रहती है] तब [सर्वस्वकार द्वारा अगले सूत्र में] इन्हें भावस्थिति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता तथा भावप्रशम के रूप में अलंकार कैसे कहा जा रहा है [ये तो रस-ध्वनि के अवयव हैं अतः ध्वनि रूप ही हैं] वैसा मानने पर ये ध्वनिभेद सिद्ध नहीं हो सकेंगे।' [द्रष्टव्य रत्नाकर, रसवदलंकार वृत्ति पं० १०–१५ पूना संस्करण]। यह कथन ठीक नहीं है। स्थिति यह है कि निर्वेद आदि की तीन दशाएँ होती हैं [अर्थात ये तीन प्रकार के होते हैं] इनमें [मम्मटाचार्य के] 'उन विभाव आदि के द्वारा व्यक्त वह स्थायी भाव रस माना गया है' [काव्यप्रकाश-४ उल्लास] इस वचन के अनुसार विभाव और अनुभाव के समान रस को व्यक्त करना इसकी एक दशा है। यहाँ प्रधान रहता है रस ही, क्योंकि वही निरतिशय प्रीति उत्पन्न करता है अतः वही फलवान् [प्रीतिरूपी फल से युक्त] होता है। इस प्रकार 'फलवान का साथ होने से फलहीन उस फलवान् का अंग बन जाता है' इस नीति के अनुसार इन भावों का कोई ऐसा प्रयोजन नहीं रहता जो रस के प्रयोजन से भिन्न हो, इनकी इतिकर्तव्यता तो रसव्यञ्जना तक ही सीमित है, अर्थात् ये रस की व्यञ्जना कराकर कृतकार्य हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—

'अभी चोली हटाने का अवसर आया नहीं, करधनी छुई नहीं, मैंने विपरीत रति के लिए ही आग्रह किया नहीं, न तो यही चाहा कि तुम अपनी भुजलता द्वारा मुझे बाँधो, तो भी अकारण ही तुम बालकदलीवल्ली के समान काँप रही हो क्यों।'

इस पद्यार्थ में आलम्बन विभाव है उवा, कम्पन आदि अनुभाव हैं और वितर्क है व्यभिचारी भाव। इन तीनों का प्रयोजन एकमात्र समान रूप से रस की व्यंजना कराना है। रस व्यञ्जित हो जाता है तो वही सहृदयों को [प्रीतिरूप] फल दे देता है, अतः इन विभावादि का अन्य कोई फल नहीं रहता। इसलिए [रत्नाकरकार को] यह नहीं कहना चाहिए कि ये संचारी भाव रसादि का अंग होते हैं और वे अपनी स्थिति आदि रूप ध्वनि का प्रकार बनते हैं।' [द्र० रत्नाकर सू० १०९ पं० १३] यदि उन्हें अंग बतलाया जाता है तो उनमें प्रधानता नहीं रहेगी और तब उन्हें ध्वनि कहना उचित न होगा। क्योंकि अप्रधान को प्रधान बतलाना विरुद्ध होगा। और यदि ऐसा है [अर्थात अंगभूत संचारी को ध्वनि कहा जा सकता है] तो गुणीभूत व्यंग्य को ध्वनि कहने का निषेध क्यों किया ? [गुणीभूत व्यंग्य में व्यंग्यार्थ गुणीभूत या अप्रधान रहता है इसीलिए उसे ध्वनि नहीं कहा जाता, क्योंकि ध्वनि में व्यंग्य अनिवार्यतः प्रधान रहता है। यदि अप्रधान को भी ध्वनि मानना आरम्भ कर दिया जाए तो गुणीभूत व्यंग्य को भी ध्वनि मानना होगा]।

[निर्वेदादि की दूसरी दशा यह होती है कि] कहीं ये [मम्मटाचार्य] की 'मुख्य तो रस ही होता है तथापि कभी कभी ये भी मुख्य बन जाते हैं'—[काव्यप्रकाश ४।३७ सू० ५१] इस उक्ति के अनुसार विभावानुभावों से व्यंजित होते और ठीक वैसे ही रसको अप्रधान बनाकर स्वयं प्रधान बन जाते हैं जिस प्रकार विवाह में दूल्हा बना राजा का नौकर, राजा स्वयं जिसके पीछे चलता है। इसका उदाहरण है—

'इधर प्रणययाचना कर रही सुन्दर और सुकुमार वधू है, और इधर वनभूमि है जिसमें अनुपम फल और मूल स्वेच्छालभ्य हैं और इस ओर प्रत्यञ्चा की गड़गड़ाहट के लिए उद्यत सेना का युद्धकार्य है। अब इनमें अधिक चपल चित्त का यह जन किसे चाहे।'

यहाँ शृंगार आदि रस प्ररूढ हो पाते नहीं, अत वे अप्रधान हैं और प्रधान हैं विभाव तथा अनुभावों से व्यक्ति चिन्तानामक व्यभिचारी भाव, क्योंकि उसी में वाक्यार्थ की परिसमाप्ति होती है और वही वाक्य का तात्पर्यविषय है। इसीलिए यहाँ जो भावस्थिति है वह ध्वनि है। इस प्रकार यहाँ चिन्ता गुणीभूत नहीं है। क्योंकि वह शृंगारादि रस के प्रति अंग नहीं है और इसीलिए [रत्नाकरकार ने भावों के लिए जो कहा था कि वे] रस आदि की परिपोषकता कभी नहीं छोड़ते, सदा उन्हीं [रसादि] का कार्य करते हैं, रस के प्रति गुणीभूत रहते हैं, अपने आप कोई निरतिशयानन्द नहीं देते, अत सहृदयों के लिए वे स्वयं फलदायक नहीं होते, वे उनका कोई अपना प्रयोजन निष्पन्न नहीं करते', [द्र० रत्नाकर सू १०९ पं० १५-२२] इन सबका [उपर्युक्त पद्य में आई] चिन्ता में अभाव है [अर्थात् रस की पोषकता का इसमें अभाव है, रस का कार्य वह नहीं कर रही, रसके प्रति वह गुणीभूत भी नहीं है, उसके स्वय के द्वारा वह निरतिशय प्रीति दे रही है, अत. सहृदयों के लिए वह स्वयं फलप्रद है और इसीलिए उसका अपना स्वय का प्रयोजन भी है] और इसीलिए वह [अन्यत्र] मुख्य माने जाने वाले रसों को भी अनादृत कर वाक्य का तात्पर्य विषय बन कर ठीक वैसे ही प्रधान और ततः भयी है जैसे विवाह में दूल्हा बना ऐसा सेवक जिसका स्वामी राजा होते हुए भी उसके पीछे चल रहा हो। और इसीलिए [विवाहप्रवृत्तभृत्य के] दृष्टान्त तथा दार्ष्टान्तिक में [रत्नाकरकार द्वारा प्रतिपादित, (आगे दिया जा रहा)] कोई भी वैषम्य नहीं है। इस [पद्य इतश्चा०] में वक्ता सरल हृदय का व्यक्ति है अत. उसका तात्पर्य किसी एक अर्थ में नहीं है, फलत. कोई एक पक्ष यहाँ नहीं अपनाया जा सकता, इसलिए [इसमें शृंगारादि] रस की किसी भी प्रकार की प्रधानता नहीं है। न तो इनमें [तीनों रसों की] सन्धि ही है क्योंकि ये परस्पर विरुद्ध हैं। इस प्रकार यहाँ [चिन्तारूपी] व्यभिचारी भाव की ही प्रधानता है। ["ध्वनिकार आदि के इस कथन में कि भाव जब व्यञ्जक वाक्य के प्रति प्रधान और रस के प्रति अप्रधान होता है तब वह भावध्वनि ही कहलाता है जैसे विवाहप्रवृत्त भृत्य" इस कथन में दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में यह वैषम्य है कि दार्ष्टान्तिक में तो भाव रस के प्रति गुणीभूत रहता है पर दृष्टान्त-में भृत्य विवाह के समय किसी के भी प्रति अप्रधान नहीं रहता। अतः] गर्भदास के समान निर्वेदादि भाव कभी भी प्रधान होते ही नहीं" [इस प्रकार रत्नाकरकार ने जो दृष्टान्त-वैषम्य की सिद्धि के हेतु गर्भदास की ऐकान्तिक अप्रधानता का तर्क प्रस्तुत किया है] वह भी विचारशून्य उक्ति है। गर्भदास भी कभी, अन्तत. गर्भदासी के प्रति ही प्रधान होता ही है। प्रधानत्व अप्रधानत्व तो सापेक्ष तत्त्व हैं।

[निर्वेदादि की तीसरी दशा वह है] जब ये कभी 'कहीं ये दूसरे के अंग बन जाते हैं' इस रीति से जब ये अंग बन जाते हैं तो ये प्रधान नहीं रहते। फलत अलङ्कार हो जाते हैं। इसका उदाहरण यह है—

'समुद्र की पुत्री [लक्ष्मी] के प्रथम समागम, जो काम का धाम था, में केश, दोनों कुच तथा चिबुक (ठुड्डी) के अग्रभाग में चारों हाथ लग जाने पर, अत्यन्त निविड नीवी खोलने के इच्छुक विष्णु भगवान् की चार से अधिक हाथों की इच्छा भाव हम सबको पवित्र करे।'

इस पद्य में प्रेयोलङ्कार है क्योंकि इसमें शृंगाररस प्ररूढ हो नहीं पाता, फलतः वह अप्रधान

रहता है, साथ ही वाक्य के तात्पर्यविषय के रूप में प्रस्तुत [अतः प्रधान] होने पर भी औत्सुक्य विष्णुविषयक रति के प्रति अंग [अतः अप्रधान] है।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि यदि ये भाव दूसरे के अंग होने से अलंकारत्व को प्राप्त होते हैं तो ये सर्वत्र ही वही [अलंकार] होंगे क्योंकि रस के अंग तो ये सदा ही होते हैं।

[अर्थात् विभाव और अनुभाव के समान संचारी भाव भी रसव्यक्ति के लिए आवश्यक होते हैं अतः ये रस के कारण होकर सदा ही रस के अंग बने रहते हैं]।

किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ये तब अलंकार कहलाते हैं जब ये ऐसे किसी प्रधान तत्त्व का उपस्कार करते हैं, जो पहले से ही किन्हीं अन्य निमित्तों से निष्पन्न हो चुका हो। ऐसा इसलिए कि अलंकार्यालंकरणभाव उपस्कार्योपस्कारकभाव [उपस्कार्य = शोभनीय, उपस्कारक = शोभाजनक] पर निर्भर है जैसा कि बतलाया जा चुका है। जहाँ निर्वेद आदि रसादि के स्वरूप की निष्पत्ति में कारण बनते हैं वहाँ इनका फल केवल उन [रसादि] की व्यञ्जना ही होता है, क्योंकि ये रस के प्रति समर्पित अतः उपसर्जनीभूत अर्थात् अप्रधान या गौण रहते हैं। और इसी कारण ये न तो वहाँ ध्वनि होते और अलंकार ही [हाथ पैर आदि शरीर के निष्पादक अंग हैं अतः न वे आत्मा के समान प्रधान हैं और कटक कुण्डल आदि के समान अलंकार ही।] इसलिए कि इस स्थिति में ये रस की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रयोजन के निष्पादक बन नहीं पाते।

इस प्रकार निर्वेद आदि रस की अभिव्यक्ति में होते हैं सहकारी, प्रधान होने पर होते हैं ध्वनि और अंग होने पर होते हैं अलंकार। यह है भावकी इन तीनों स्थितियों का अन्तर। इस कारण अन्य आचार्य ने [रत्नाकरकार ने रसवदादि के ही प्रकरण में] जो—

'निर्वेद आदि सदा ही अंग रहते हैं, अतः उन्हें लेकर प्रेय को अलंकार नहीं मानना चाहिए। इसलिये जब ये व्यंग्य होते हैं तो ध्वनि ही होते हैं क्योंकि इनमें कभी कहीं भी प्राधान्य नहीं रहता।

'इस कारण भावप्रशम आदि भी व्यंग्य होते हैं तो सदा ध्वनि ही हुआ करते हैं। और यदि इनमें ध्वनित्व मान्य है तो समाहित आदि को अलंकार नहीं कहना चाहिए॥' यह सब कहा है वह उपेक्ष्य ही है।

विमर्श—रत्नाकरकार ने प्रेयोऽलंकार के लिए भाव की अंगता तो स्वीकार की है किन्तु उनके भाव का अर्थ है रत्यादि स्थायीभाव, संचारीभाव नहीं, जब कि ध्वनिवादी आचार्य चिन्ता आदि की अंगभूत व्यंग्यस्थिति में प्रेयोऽलंकार मानते हैं। संचारीभावों को प्रेयोऽलंकार न मानने के लिए उन्होंने प्रधानरूप से यह तर्क प्रस्तुत किया है कि संचारीभाव रस को छोड़कर कभी नहीं रहते, अतः वे सदा ही इसके अंग रहते हैं। साथ ही वे रसके व्यंजक होते हैं और रसानुभूति में भी छूटते नहीं। पानकरसन्याय से उनका भी अस्तित्व नहीं रहता है अतः ये ध्वनिरूप रस से अभिन्न होने के कारण स्वयं भी ध्वनि हैं। इस स्थापना के आधारपर वे मम्मट और उनके अनुयायी सर्वस्वकार का खण्डन करते और कहते हैं कि उन्हें भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि, भावशबलता तथा भाव को अलंकार नहीं मानना चाहिए। ये सब ध्वनियाँ ही हैं। उनका ग्रन्थ है—

'भावस्य देवविषयस्य रत्यादेः स्थायिनः प्राधान्ये भावध्वनिः, रसाद्यङ्गत्वे तु प्रेयोऽलङ्कारः। व्यभिचारिभूतस्य निर्वेदादेर्भावस्य गर्भदासवत् कदाचिदपि स्वप्राधान्याभावात् सर्वदा

रसाद्यलंकारत्वेऽभिधीयमाने भावस्थित्युदयसन्धिशबलताप्रशमाख्यानां ध्वनिभेदानामभावः प्रसज्यते, तेषां भावस्थित्युदयादीनां ध्वनित्वमेव । तस्माद् व्यभिचारिभावापेक्षया प्रेयऊर्जस्विसमाहित-भावोदयसन्धिशबलत्वानि न पृथगलंकाराणि' ।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक की विषमता पर रत्नाकर की पंक्तियाँ ऊपर उद्धृत पंक्तियों के ही अविच्छिन्न सातत्य में ये हैं—

'यदप्युक्तं यत्र वाक्यार्थीभूतानां रसादीनामुपस्कारका निर्वेदादयस्तत्र प्रेय प्रभृतयोऽलङ्कारा', यत्र तु रसाद्युपसर्जनीभूतानामपि भावस्थित्यादीनां वाक्यतात्पर्येण राजानुयातविवाहप्रवृत्तभृत्यवत् प्राधान्यं तत्र भावादिध्वनिरिति, तदसत् , विषमोपन्यासात् । तथा हि विवाहसमये निजप्रयोजनसंपादनार्थं प्रवृत्तस्य भृत्यस्य न राजानं प्रति गुणत्वम् , तदीयानां तदीयकार्यकरणात् । प्रत्युत राजैव विवाह-शोभोद्दीपनया तं प्रति गुणीभूत. । इह तु वाक्यतात्पर्यविषयत्वेन प्राधान्येऽपि भावस्थित्यादे रसादिपरिपोषकत्वावगमात् निजप्रयोजनान्तरसंपादकत्वविरहाच्च न रसाद्यपेक्षया प्राधान्यम् ।'

रत्नाकरकार ने एक पूर्वपक्ष और प्रस्तुत किया है तथा उसमें निर्वेदादि को भी लेकर प्रेयोऽलंकार की निष्पत्ति पर बल दिया है। वह यह है—

'अथ प्रधानभूतरसाद्यङ्गत्वे भावस्थित्यादिध्वनि', अन्याङ्गभूतरसादिपरिपोषकत्वे प्रेय प्रमुखा अलंकारा इति चेत् , न, रसादेरेव हि प्रधानेतरभावे विशेष., न तदुपकरणीभूतस्य भावादे' । न ह्यन्योपसर्जन स्वतन्त्र वा स्वामिनं प्रति पारतन्त्र्ये गर्भदासस्य विशेष. कश्चित्' ।

'यदि भाव प्रधान रसादि के अग होने पर ध्वनि होते हैं तो अप्रधान भूत रसादि के अग होने पर प्रेय. आदि अलकार क्यों न मान लिए जाएँ'। 'उत्तर = प्रधानेतरभाव रसादि में ही विशेषता लाता है, न कि उसके साधनभूत भावादि में नहीं। किसी अन्य के प्रति समर्पित हो या न हो, उससे अपने मालिक के प्रति सदा परतन्त्र गर्भदास में कोई अन्तर नहीं आता।' इस विषय का सारसंक्षेप करते हुए रत्नाकरकार ने पाँच परिकरश्लोक बनाए हैं। इनमें से तीन तो विमर्शिनीकारने ही उद्धृत कर दिए हैं। उपर्युक्त विवेचन से सम्बद्ध एक पद्य यह है—

'रसादिगुणभूतयोरिव च वस्त्वलङ्कारयो—
र्यथा ध्वनिरपेयते न तु कदाप्यलंकारता।
तथैव परिगृह्यतामिह च भावशान्त्यादिषु
स्फुटा तदवधार्यतामिति रसादिभेदस्थिति.॥'

जिस प्रकार रस आदि के प्रति गुणीभूत वस्तु और अलंकार को ध्वनि ही माना जाता है, कभी भी अलकार नहीं, इसी प्रकार यहाँ भावशान्त्यादि में जानना चाहिए। अत उन्हें रसादि से भिन्न मानने की स्थिति छोड़ दी जानी चाहिए। विमर्शिनीकार ध्वनिवादी आचार्यों का समर्थन करते और कहते हैं कि पानकरसन्याय से जहाँ भाव भी रसलीन रहते हैं वहाँ वे अवश्य ही ध्वनिरूप रहते हैं तथापि जहाँ कहीं उनमें उद्रिक्तता चली आती है, जैसे पानकरस में ही कालीमिर्च या चीनी आदि की वहाँ वे रसरूपता को अविच्छिन्न कर आस्वाद कुल्या को अपनी दिशा में बहा ले जाते और स्वय ही प्रधान हो जाते हैं। उनके उदाहरण भी इसके समर्थ प्रमाण हैं।

[सर्वस्व]

तत्र रसवत उदाहरणम्—

'किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुन प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण प्रवासरुचिता केनासि दूरीकृतः ।

स्वप्नान्तेष्विति चो वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥'

एतन्मतद्वयेऽप्युदाहरणम्। वाक्यार्थीभूतोऽत्र करुणो रसः। अङ्गभूतस्तु विप्रलम्भशृङ्गारः। एवं रसान्तरेष्वप्युदाहार्यम्। प्रेयोऽलंकारादौ विशेषमनपेक्ष्योदाह्रियते। प्रेयोऽलंकारो यथा—

'गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा।
मा मा मानद माति मामलमिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम् ॥'

अत्र नायिकायां हर्षाख्यो व्यभिचारिभावः। यथा वा—

'त्वद्वक्त्रामृतपानदुर्ललितया दृष्ट्या क्व विश्रम्यतां
त्वद्वाक्यश्रवणाभियोगपरयोः श्राव्यं कुतः कर्णयोः।
एभिस्त्वत्परिरम्भनिर्भरभरैरङ्गैः कथं स्थीयतां
कष्टं तद्विरहेण संप्रति वयं कृच्छ्रामवस्थां गताः ॥'

अत्र चिन्ताख्यो व्यभिचारिभावः। एष एव च भावालंकारः। भावस्य चात्र स्थितिरूपतया वर्णनम्। शान्त्युदयावस्थे तु वक्ष्येते।

ऊर्जस्वी यथा—

'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिं
चेतः कालकलामपि प्रकुरुते नावस्थितिं तां विना।
एतैराकुलितस्य विक्षततरैरङ्गैरनङ्गातुरैः
संपद्येत कदा तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम् ॥'

अत्र रावणस्याभिलाषको विप्रलम्भशृङ्गार औत्सुक्यं च व्यभिचारिभावोऽनौचित्येन प्रवृत्तौ। समाहितं यथा—

'अक्ष्णोः स्फुटाश्रुकलुषोऽरुणिमा निलीनः
शान्तं च सार्धमधरस्फुरणं भ्रुकुट्या।
भावान्तरस्य तव चण्डि गतोऽपि रोषो
नोद्गाढवासनतया प्रसरं ददाति ॥'

अत्र कोपस्य प्रशमः। एवमन्यत्राप्युदाहार्यम्।

इनमें से रसवदलंकार का उदाहरण, यथा—

'हँसी से क्या! बहुत दिनों के बाद दिखाई दिए तुम पुनः नहीं दिखाई दोगे। हे निष्करुण, यह कैसी प्रवासरुचि, तुम्हें दूर किसने कर दिया—' सपनेमें प्रियतम के गले हाथ डालकर इस प्रकार बात करतीं आपके शत्रुओं की स्त्रियाँ जागने पर अपना बाहुपाश रिक्त देखतीं और पुक्का फाड़कर रोती हैं।'

यह दोनों ही मतों में उदाहरण माना जा सकता है। यहाँ प्रधान है करुण रस और अङ्गभूत है विप्रलम्भ शृङ्गार। इसी प्रकार अन्य रसों में भी जानना चाहिए। प्रेयोऽलंकार आदि में [दोनों मतों की] विशेषता की ओर ध्यान न देकर ही उदाहरण दिए जा रहे हैं।

प्रेयोऽलंकार का उदाहरण, यथा—

'गाढ़ आलिंगन से अब स्तन सिकुड़ गए और रोम खिल उठे तो निबिडतम स्नेह और आनन्द के अतिरेक से जिसके सुन्दर नितम्बों का वस्त्र खिसक गया था ऐसी यह, 'नहीं नहीं, अरे मानभञ्जक मेरे साथ अति न कर' इस प्रकार लड़खड़ाते अक्षर बोल रही यह सो गई है क्या, कहीं चल तो नहीं बसी, मेरे मन में तो कहीं लीन विलीन नहीं हो गई है'।

यहाँ नायिका में हर्षनामक व्यभिचार भाव [सम्भोग शृङ्गार का अङ्ग] है। और जैसे—

उसके वचनामृत के पान को दुलारी यह दृष्टि कहाँ टिकाई जाए, उसके वाक्य सुनने के लिए अभिनिवेशपरायण ये मेरे कान सुनने योग्य वस्तु कहाँ से पाएँ, उसके आलिंगन से प्रकाम आप्यायित ये मेरे अङ्ग कहाँ ठहरें। ओह! उसके विरह से हम बड़ी ही कठिन स्थिति में पहुँच गए हैं।

यहाँ चिन्ता नामक व्यभिचारिभाव [विप्रलम्भ शृङ्गार का अङ्ग] और यही है भावालंकार। इन उदाहरणों में भाव का वर्णन अस्तित्वयुक्त रूप में है। शान्ति तथा उदय की अवस्था आगे बतलाई जाएँगी।

ऊर्जस्वी का उदाहरण यथा—

'दूर से खींच लाने वाले मोहमन्त्र जैसा उसका नाम कान में आते ही चित्त उसके बिना एक पल भी टिकता नहीं। मुझे यह सूझ नहीं पड़ रहा कि इन कामातुर और घायल अंगों से आकुल मुझे उसकी प्राप्ति का सुख कब मिलेगा।'

यहाँ [सीता के लिए] रावण की निम्न अभिलाषा से निष्पन्न विप्रलम्भ शृंगार तथा औत्सुक्य नामक संचारीभाव अनौचित्य पूर्वक आगे बढ़े हैं।

समाहित का उदाहरण यथा—

आँखों में फूट पड़े आँसुओं से मिश्रित अरुणिमा विलीन हो गई। भृकुटी के साथ अधर की फड़क भी शान्त हो गई है। इस प्रकार हे कोपने! तेरा रोष हट गया है तब भी अन्य भाव को उद्गाढ वासनापूर्वक बढ़ने का अवसर नहीं दे रहा। यहाँ कोप का प्रशम [शृंगार का अंग] है। इसी प्रकार अन्य [भावों] के उदाहरण भी दिए जा सकते हैं।

विमर्शिनी

एतन्मतद्वय इति। ध्वन्यभाववादिनां ध्वनिभाववादिनां च। तत्र ध्वन्यभाववादिमते करुणापेक्षया रसवदलंकारः, शृङ्गारापेक्षया तूदात्तम्। मतान्तरेण तु करुणाभिप्रायेण रसध्वनिः, *शृङ्गारापेक्षया रसवदलंकारः। अत्र यद्यपि राजविषयाया रतेरङ्गिवात्करुणोऽपि* तदङ्गमेव, तथापि तस्य शृङ्गारापेक्षयाङ्गित्वमाश्रित्यैतदुक्तम्। करुणश्च शृङ्गारोपस्कृतः प्रतीयत इति तस्यालंकारत्वम्। एवमिति। यथा मतद्वयमपि संगच्छत इत्यर्थः। तत्र यथा—

> 'का त्वं रक्तपटावगुण्ठितमुखी मुग्धे तवाहं सखी
> किं शून्यौकसि केवला निवससि त्वामागतान्वेषितुम्।
> एतद्वक्त्रमुदग्रयेति कथयन्नालोक्य कूर्चं ततः
> पायुः स्मेरमुखाम्बुजस्य तरुणी जाता विलक्षस्मिता ॥'

अत्र वाक्यार्थीभूतः शृङ्गारः, अङ्गभूतस्तु हासः । एवमिति सामान्येनाप्युदाहरणव्याप्तिपरं व्याख्येयम् । यथा—

'पार्वत्या रचितां कपालिवृषभारूढं विलासाङ्गद-
ग्रन्थिग्लान्तमहाहिलोचनलसज्ज्वालं पिनाकाङ्कितम् ।
कन्दर्पार्पितशासनं कलिवलत्कंकालमर्धेन्दुमद्-
भस्माङ्कं च पुनातु वो नवरसान् पुष्णत् पुरारेर्वपुः ॥'

अत्र भगवद्विषयाया रतेर्नव रसा अङ्गम् । विशेषमिति । अङ्गाङ्गित्वेन । तेन ध्वन्यभाववादिमतेनाङ्गाङ्गित्वमेवैषामाश्रित्योदाहियत इति तात्पर्यम् । भावालंकारा इति । निर्वेदादीनां भावानां स्थित्यात्मकतयोपनिबध्यमानत्वात् । शान्त्युदयावस्थेति भावस्येत्यत्रापि संबध्नीयम् । अनेन चास्य समाहितादिभ्यो वैलक्षण्यं द्योतितम् । तेन यत्र भावस्य स्थितिस्तत्रायमलंकारः, अन्यथा त्वन्येऽलंकारा इति । एवमिति । यथैतदुदाहृतमित्यर्थः । अन्यथेति । ध्वनिवादिमते एषामङ्गत्व इत्यर्थः । तत्र प्रेयोऽलंकारः 'कण्ठकुच-' इत्यादिना व्यभिचारिभावापेक्षयोदाहृतः । देवताविषयरत्यात्मभावोपनिबन्धे पुनर्यथा—

'कण्ठेऽर्पयत्युरगपाशमसूयया मे यामिन्यधीशशिख यत्समये कृतान्तः ।
नूनं तदा मुहुरुपैमि फणीन्द्रहार त्वत्तुल्यतामिति भजे मरणेऽपि हर्षम् ॥'

अत्र भवद्विषयाया रतेर्मरणविषया रतिरङ्गमिति प्रेयोऽलंकारः । ऊर्जस्वी यथा—

'बन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारांनिधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥'

अत्र राजविषयस्य भावस्य प्रथमद्वितीयार्धद्योत्यौ रसाभासभावाभासावङ्गम् । व्यभिचारिभावापेक्षया पुनरयं यथा—

'द्विषां तवारण्यनिवासमीयुषां नितम्बिनीनां निकुरम्बकं नृप ।
मुहुर्मुहुश्चञ्चलचिल्लिलोचनं न केन पल्लीपतिना निरीक्षितम् ॥'

अत्र शबराणां परदारविषयमौत्सुक्यमनौचित्येन प्रवृत्तमिति भावाभासो राजविषयां रतिं प्रत्यङ्गम् । समाहितं यथा—

'अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥'

अत्र राजविषयाया रतेरङ्गभूतस्य शत्रुविषयस्य मदस्य प्रशमः । देवतादिविषयरत्यात्मभावापेक्षया पुनरयं यथा—

'आयुष्वाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्यं नमः ।
आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव-
स्तावद्बिभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥'

अत्र राजविषयाया रतेरङ्गभूतस्य भूविषयस्य रत्याख्यभावस्य प्रशाम्यत्वम् । अत एव च समाहितं यदन्यैर्लक्षितं तदत्यन्तमेवायुक्तम् । तन्मतेऽपि प्रेयोऽलंकारवद्रत्याभावा-

पेक्षयास्य लक्षयितुं युक्तत्वात्। व्यभिचारिभावापेक्षया हि भवद्भिः प्रेयःप्रभृतीनामलंकार-त्वं निरस्तम्। यदुक्तम्—'तस्माद्व्यभिचारापेक्षया प्रेयऊर्जस्विसमाहितभावोदयसंधि-शबलत्वानि न पृथगलंकाराणि वाच्यानि' इति। तस्मादन्यमतेऽपि समाहितादीनां लक्ष-णीयत्वं युक्तम्।

एतन्मतद्वय = इन दोनों मतों में = अर्थात् ध्वनि न मानने वालों तथा ध्वनि मानने वालों के मत में। इनमें ध्वनि न मानने वालों के मत में रसवदलङ्कार करुण को लेकर है और शृंगार को लेकर उदात्त। अन्य मत में (ध्वनिमत में) इसके विरुद्ध करुण को लेकर है रसध्वनि और शृंगार को लेकर है अलकार। यद्यपि इस पद्य में अंगी है राजविषयक रति, अतः करुण भी उसके प्रति अंग ही है तथापि इसे शृंगार की अपेक्षा अंगी मानकर ऐसा कहा गया है। करुण जो है वह शृंगार के द्वारा उपस्कृत होकर प्रतीत हो रहा है अतः वह [शृंगार] यहाँ अलकार ही है। एवम् इसी प्रकार = अर्थात् इस प्रकार दोनों ही मत उसमें लागू हो सकें। इसका उदाहरण यह है—

'लाल घूंघट में मुँह छिपाए तुम कौन हो ? अयि मुग्धे 'मैं तेरी सखी हूँ। ■■ खाली मकान में अकेली क्यों बैठी है ? तुझे खोजने आई हूँ। यह मुँह तो (ऊँचा कर या) खोल !'—ऐसा कहकर मुसकुराते पति का दाढ़ीमूछ से युक्त चेहरा देख कोई तरुणी लज्जित और स्मित हो गई।'

यहाँ प्रधान शृंगार है और हास अंग (अप्रधान) है। 'एवम् = इस प्रकार = इसकी व्याख्या सामान्यरूप से भी की जानी चाहिए जिससे अन्य उदाहरणों में भी इसकी व्याप्ति हो सके। अन्य उदाहरण यथा—

'भगवान् शिव का वह शरीर आप हम सबकी रक्षा करे, जो नवों रस को पुष्ट करता है क्योंकि [शृङ्गार के लिए] जो गोद में पार्वती जी को लिए है, [हास्य के लिए] वृषभ पर आरूढ है, [करुण के लिए] जो विषासाङ्गद के रूप में गाँठ बाँधकर कस देने से अत्यन्त भुजगराज से युक्त है, [रौद्र के लिए] जिसके कपालनेत्र से ज्वाला निकल रही है, [वीर के लिए] जो पिनाक धनुष लिए हुए है, [भयानक के लिए] जिसकी आज्ञा मानकर काम भाग रहा है [बीभत्स के लिए] जो [क =] सिर पर कपाल [नरकपाल] धारण किए है [अद्भुत के लिए] जो चन्द्रमा की कला लिए हुए है [तथा शान्त के लिए] जो भस्म रमाए हुए है।'

यहाँ नौ के नौ रस ■■ भगवान् शिव [के विषय] की रति के प्रति अङ्गभूत हैं।

विशेषम् = अङ्गाङ्गिभाव। अभिप्राय यह कि इन्हीं उदाहरणों को ध्वनिविरोधियों के मत में अङ्गाङ्गिभाव के आधार पर घटाया जाता है।

भावालङ्कार = क्योंकि इन पद्यों में निर्वेद आदि भाव स्थितियुक्त भावों के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। 'शान्ति अवस्था और उदयावस्था'—इनका सम्बन्ध अनन्तरोक्त भाव के साथ करना चाहिए अर्थात् भाव की शान्ति और भाव का ही उदय। ऐसा कहकर समाहित आदि से भावालंकार का अन्तर स्पष्ट कर दिया। फलतः जहाँ भाव की स्थिति रहेगी वहाँ यह अलकार [भावालंकार] होगा और अन्यत्र [भावप्रशमजनित समाहित आदि] अन्य अलंकार।

एवम् = इसी प्रकार अर्थात् जिस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण दिए गए हैं। अन्यत्र—अन्य भावों के अर्थात् ध्वनिवादियों के मत में जहाँ ये अङ्गभूत रहते हैं वहाँ। इस मत में प्रेयोऽलङ्कार का उदाहरण 'कमकुवचिबुकाग्रे०' पद्य के द्वारा जो उदाहरण दिया ■■ वह व्यभिचारी भाव को लेकर दिया था। देवविषयक रतिरूपी भाव को लेकर [जैसा कि रत्नाकरकार को मान्य है] इसका उदाहरण यह होगा—

'भगवन् शिव ! आप क्षोभ (असूया) में आकर [मुझे मार डालने के लिए] मेरे गले में अपना साँप बाँध रहे हैं जब कि मृत्यु आपका आज्ञाकारी है, तब निश्चित ही हे फणीन्द्रहार ! मैं आपकी समता को प्राप्त होने जा रहा हूँ। और इसलिए मुझे मरने से भी हर्ष है।

इस पद्यार्थ में मरणविषयकरति [या मरणेच्छा] भगवद्विषयक रति के प्रति अंग है। अतः प्रेयोऽलंकार है।

ऊर्जस्वी यथा—

'आपके सैनिक' शत्रुसुन्दरियों को बन्दी बनाते और उनके प्रियतमों के देखते-देखते उनका आलिंगन करते हैं, उन्हें [रतिलालसा से] प्रणाम करते हैं, पकड़ते हैं और हर कहीं चूमते भी हैं। इस बीच में आप जब पहुंच जाते हैं तो शत्रु लोग आपको स्तुति करते हैं—'हे औचित्य के समुद्र, आप हमारे भाग्य से हमारी आँखों के सामने आए, अब हमारी सारी विपत्तियाँ [आँखों के सामने अपनी स्त्रियों की दुर्दशा] नष्ट हो गई।'

इस पद्य में प्रथमार्थ से व्यक्त रसाभास तथा द्वितीयार्थ से व्यक्त भावाभास [कविनिष्ठ] राजविषयक रति के अंग हैं।

व्यभिचारिभाव को लेकर इस [ऊर्जस्वी] का उदाहरण यह है—

'वनों में पड़े हुए आपके शत्रुओं की झुण्ड को झुण्ड स्त्रियों को बार-बार कलशी के पास घुमा-घुमाकर किस पल्लीपति [भीलों के गाँव के स्वामी] ने नहीं देखा।'

यहाँ शबरों में परस्त्री विषयक औत्सुक्य अनुचित है। अतः यह भावाभासरूप है। वह राजविषयक [कविनिष्ठ] रति का अंग है।

समाहित का उदाहरण, यथा—

'बार बार तलवार घुमाने, भौंहें टेढ़ी करने और गरजने से आप के शत्रुओं में जो मद दिखाई दिया था वह आपके दिखाई देते ही क्षणभर में कहीं तो भी चला गया।'

यहाँ राजविषयक [कविनिष्ठ] रति के प्रति अंगभूत शत्रुनिष्ठ मद का प्रशमन बतलाया गया है। देवताविषयक रतिरूपी भाव को लेकर इस [समाहित] का उदाहरण यह है—

'देवि ! पृथ्वि ! जो ये अत्यन्त ऊँचे पर्वत चारों ओर दिखाई दे रहे हैं, इसी प्रकार जो ये विशाल समुद्र हैं, इस प्रकार के इन्हें भी तुम धारण किए हुए हो और तनिक भी थकती नहीं,' इस आश्चर्य के साथ जब तक मैं पृथ्वी की स्तुति करता हूं तभी तक इसको भी धारण किए हुए आपके भुजदण्ड का स्मरण हो जाता है और तब वाणी अवरुद्ध हो जाती है।'

इस पद्य में पृथ्वीविषयक रतिभाव राजविषयक रतिभाव का अंग है, और उसकी प्रशमावस्था द्योतित की है। इसलिए समाहित का जो लक्षण अन्य आचार्य [रत्नाकरकार] ने किया है वह सर्वथा अयुक्त है। [रत्नाकरकार ने समाहित को ध्वनिरूप ही माना है। जैसा कि ऊपर दिए उन्हीं के उद्धरण से स्पष्ट है] क्योंकि उन्हीं के मत में जो प्रेयोऽलंकार है जिसमें वे रतिभाव को अंग मानते हैं उसी के अनुसार यहाँ भी समाहित को अलंकार बतलाया जा सकता है। आपने तो प्रेय आदि में अलंकारत्व का निराकरण केवल व्यभिचारी भावों को लेकर किया है जैसा कि आपने ही कहा है—'इस कारण व्यभिचारी भाव को लेकर प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसंधि तथा भावशबलता को पृथक् अलंकार नहीं बतलाए जाना चाहिए' [रत्नाकर सूत्र १०९ वृत्ति]। इस प्रकार उस पद्य [अत्युच्चाः०] के अनुसार आपके मत में भी समाहित आदि में अलंकारत्व बतलाना उचित सिद्ध हो जाता है [अतः सर्वस्वकार का मत मान्य सिद्ध होता है और उस पर आपका खण्डन ही अमान्य]।

विमर्श—सर्वस्वकार, रत्नाकरकार और विमर्शिनीकार का परस्पर संघर्ष रसवदादि के विषय में काफी स्पष्ट हो चुका है। सर्वस्वकार और रत्नाकरकार का मतभेद केवल इतने ही अंश में है कि सर्वस्वकार केवल रसवत् को छोड़ प्रेयोलंकार से लेकर भावशबलता तक के इन सभी अलंकारों में भावशब्द से स्थायीभाव के ही समान संचारीभाव को भी अपनाते हैं, जब कि रत्नाकरकार इन्हें केवल रत्यादि स्थायी भावों तक सीमित रखते हैं। संचारी भावों को वे सदा ही अप्रधान और रसाङ्ग मानते और इसलिए उनमें अलंकारत्व स्वीकार नहीं करते। उनका एतद्विषयक विवेचन पहले दिया हो जा चुका है। विमर्शिनीकार सर्वस्वकार का समर्थन करते और संचारी भावों में भी आपेक्षिक प्रधानता स्वीकार करते हैं। संचारीभावों का उपमान गर्भदास रत्नाकर के मत में कभी भी प्रधान नहीं होता, विमर्शिनीकार उसे गर्भदासी अर्थात् उसकी स्त्री के प्रति प्रधान बतला देते हैं। रत्नाकरकार ने भी विवाहप्रवृत्त भृत्य के दृष्टान्त में विषमता का दोष देते हुए कहा था कि भृत्य जब दूल्हा बना रहता है और उसका स्वामी उसके पीछे चलता है तब वह केवल प्रधान ही रहता है। भृत्य का अर्थ है अन्य किसी की आज्ञा मानने और उसका कार्य करने वाला। दूल्हा बना भृत्य किसी की आज्ञा का पालन नहीं करता अतः उसमें प्रधानतामात्र रहती है अप्रधानता नहीं। विमर्शिनीकार की गर्भदासी और रत्नाकरकार का दूल्हा दृष्टान्तपक्ष में आपेक्षिक प्रधानता सिद्ध कर दार्ष्टान्तिक संचारी में भी आपेक्षिक प्रधानता [विमर्शिनी और रत्नाकर दोनों के आचार्यों के मत में] समान रूप से सिद्ध कर देते हैं। इस प्रकार प्रेयोऽलंकार आदि में संचारी भावों का संग्रह भी समर्थन पा जाता है।

इतिहास—रसवदादि अलंकारों का इतिहास एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय है। संक्षेप में इसका इतिहास कला और अनुभूति के दो पक्षों में विभक्त मिलता है। प्रथम पक्ष की धारा दण्डी से आरम्भ होती और भामह के मध्यबिन्दु से आगे बढ़ उद्भट तक पहुँचती है। इनके अनुसार रसवत् का स्वरूप इस प्रकार है—

[१] कला या वस्तुवादी आचार्य—

दण्डी—प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद् रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत् त्रयम् ॥२।२७५॥

प्रियतर कथन [स्पष्ट चाटु या भक्ति] प्रेय, रस से सुन्दर कथन रसवत्, रूढ अहंकार से युक्त कथन ऊर्जस्वी कहलाता है। इन तीनों में [वाच्यशोभारूपी] उत्कर्ष रहता है [अतः ये तीनों अलंकार कहे जा सकते हैं]। उदाहरण—

प्रेय—'अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥
इत्याह युक्तं विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम् ॥ २।२७६-७॥

भगवान् कृष्ण के घर आने पर विदुर ने उनसे कहा—'हे गोविन्द आपके पधारने से जो आनन्द मुझे आज आया है यह आनन्द मुझे दूसरी बार तभी प्राप्त होगा जब आप ही पुनः कभी पधारेंगे।' यह कथन अपने प्रतिपाद्य के प्रतिपादन में सर्वथा उपयुक्त है क्योंकि अन्य किसी प्रकार से वैसी [धृति] चित्तवृत्ति व्यक्त नहीं हो सकती। क्योंकि इस कथन में प्रीति का प्रकाशन है अतः इसे 'प्रेय' नाम से पुकारा जा सकता है।

दण्डी ने प्रेय का ही एक उदाहरण और दिया है, जिसमें भगवान् अष्टमूर्ति की राजा रति-वर्मा ने स्तुति की है। कुमारसंभव के द्वितीय सर्ग में महादेव तथा षष्ठ सर्ग में स्वयं भगवान्

शंकर की देवकृत स्तुतियाँ इसका वैसा ही अन्य उदाहरण है, अथवा रघुवंश के दशम सर्ग में विष्णु भगवान् की स्तुति। स्पष्ट रूप से इस प्रकार के संदर्भ रतिभाव के व्यंजक हैं। जो रति कान्ताविषयक नहीं होती उसे प्रीति कहा भी जाता है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इन संदर्भों को उद्धृत किया है, और इसमें भावध्वनि का अप्रांजल रूप स्वीकार किया है।

रसवत् = के लिए दण्डी ने अनेक उदाहरण दिए हैं। उन्होंने रस को ही रसवत् माना है। शृंगार, रौद्र, वीर, करुण, बीभत्स, अद्भुत, हास्य तथा भयानक के उदाहरण प्रस्तुत कर वे उनमें से प्रत्येक के व्यंजक वाक्यसन्दर्भ को रसवत् कहते गए हैं। उदाहरणार्थ शृंगार की रसवत्ता—

'मृतेति प्रेत्य संगन्तुं यथा मे मरणं मतम्।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि॥
सेयं रतिः शृंगारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद् वचः ॥ २।२८०-१ ॥

उदयन वासवदत्ता के पुनः मिल जाने पर कहता है—'मृत जान जिससे मिलने के लिए मैंने मरना ही एकमात्र उपाय माना था वही आवन्ती [वासवदत्ता] इसी जन्म में मिल गई यह आश्चर्य है। इस कथन में वासवदत्ताविषयक उदयननिष्ठ रति पुष्ट होकर शृंगार बन गई है। अतः यह कथन रसवत् कथन है। इसके अनेक रूप होते हैं यथा—रौद्र, वीर, आदि। दण्डी के इस प्रकरण में केवल आठ ही रसों के नाम मिलते हैं। शान्त का नहीं। स्पष्ट है कि दण्डी सामाजिकनिष्ठ रसानुभूति को ही रस मानते हैं। उनकी स्थापना में नवीनता केवल इतनी है कि वे इसको भी काव्य का अलंकार मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि रसाभिव्यक्ति की सामग्री प्रस्तुत करने पर भी काव्य में असामान्य विशेषता वैसे ही चली आती है जैसे उपमा आदि की सामग्री प्रस्तुत करने पर। इस विषय पर हमने अपना दृष्टिकोण अपने व्यक्तिविवेक के हिन्दी-भाष्य की भूमिका तथा साहित्यतत्त्वविमर्श नामक एक संस्कृत शोधपत्र में स्पष्ट कर दिया है।

ऊर्जस्वी = 'अपकर्ताहमस्मीति हृदि ते मास्म भूद् भयम्।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति॥
इति मुक्तः परो युद्धे निरुद्धो दर्पशालिना।
पुंसा केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम्॥'

"मैं तेरा अहित करूँगा ऐसा भय तेरे मन में न आए मेरा खड्ग युद्धपराङ्मुख पर नहीं चलना चाहता'-ऐसा कह कर किसी दर्पशाली ने शत्रु को छोड़ दिया अतः यह ऊर्जस्वी कथन है।

भामह = ने दण्डी के ही अनुकरण पर अभिव्यञ्जक सामग्री से युक्त शब्दार्थ को रसवदादि माना है। दण्डी की पदावली में ही रसवदादि का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा—

प्रेयः—'प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा।
अद्य या मम—पुनः ॥ ३५ ॥'

रसवद् = 'रसवद् दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसं यथा।
देवी समागमद् धर्ममस्करिण्यतिरोहिता॥' ३६ ॥

वह कथन जिसमें शृंगारादि रस स्पष्टरूप से दिखलाए गए हों। यथा देवी पार्वती व्यक्तरूप से ब्रह्मचारी वेषधारी शिव से मिल गईं।

ऊर्जस्वी ='ऊर्जस्वि कर्णेन यथा' पार्थाय पुनरागतः।
द्विः सन्दधाति किं कर्णः शल्य'-त्यहिरपाकृत-॥'

खाण्डवदाह द्वारा सर्पनाश करने वाले अर्जुन से बदला लेने के लिए कर्ण के बाण में प्रविष्ट और बाण के साथ अर्जुन पर छूटे किन्तु श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन की रक्षा कर लेने पर विफल होकर वापस लौटे सर्प के कर्ण से पुनः बाण चलाने का शल्यानुमोदित आग्रह करने पर कर्ण का यह कथन—'मैं एक बाण दूसरी बार नहीं चलाता'—ऊर्जस्वी है। स्पष्ट ही गर्वोक्ति ही इन आचार्यों के ऊर्जस्वी कथन हैं।

भामह ने प्रेय और ऊर्जस्वी के लक्षण नहीं दिए क्योंकि उनका संकेत दण्डी ने कर दिया था, किन्तु रसवत् पर दण्डी ने जो आलंकारिक संकेत दिया था='रसपेशल', भामह ने उसे अवश्य ही स्पष्ट कर दिया है। उदाहरण भी उन्होंने दण्डी से अच्छे दिए हैं। दण्डी के उदाहरणों में अभिव्यक्ति अधिक विकीर्ण थी। भामह के उदाहरणों में वह कसी हुई, संक्षिप्त तथा सारपूर्ण है।

वामन की काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में ये अलंकार नहीं मिलते।

उद्भट ने प्रेय, रसवत् और ऊर्जस्वी इन तीनों के लक्षण अधिक स्पष्टता के साथ दिए। इन लक्षणों की विशेषता यह है कि ये परवर्ती ध्वनिवाद से भी नहीं कटते। उनके विवेचन इस प्रकार हैं—

प्रेयः='रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत् काव्यं बध्यते सद्भिस्तत् प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥'

'रति आदि भावों के अनुभाव आदि की सूचना द्वारा जो काव्य ग्रथित होता है उसे विद्वज्जन प्रेयस्वत् कहते हैं।' उदाहरण—

'इयं च सुतवात्सल्यान्निर्विशेषस्पृहावती।
कस्तमापयितुमारब्धा क्रोडमेनं क्रोडे आत्मनः ॥'

'पार्वती भी मृगपोत को अपनी गोद में लेकर पुचकारने लगीं, उनका प्रेम उसके प्रति पुत्र-प्रेम से कम नहीं था।' लघुवृत्ति के अनुसार यहाँ 'गोद में लेने रूपी आंगिक अभिनय तथा पुचकारने रूपी वाचिक अभिनय'-इन दो अनुभावों, मृगपोत रूपी आलम्बनविभाव तथा औत्सुक्यरूपी संचारी भाव से वात्सल्यरूपी रतिभाव की प्रधानरूप से अभिव्यक्ति होती है। इस रति का वाचक 'स्पृहा'-शब्द भी इस पद्य में लाया हुआ है। अतः यह उक्ति प्रेयस्तत्त्व से युक्त है। यहाँ प्रेय का अर्थ अधिक प्रियता ही है जिसे दण्डी ने प्रीति कहा है।

रसवत् ='रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसादयम् ।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥'

—'शृङ्गार आदि रसों के स्पष्ट प्रतिपादन से यह अलंकार रसवत् कहलाता है। इसमें रस का स्ववाचक शब्द स्थायी भाव, संचारी भाव, विभाव तथा अभिनयात्मक अनुभाव रहते हैं।'

उद्भट की यह उक्ति केवल एक तथ्य को लेकर ध्वनिवादी आचार्यों की रसलक्षणकारिका से भिन्न है। वह है रसवाचक शब्द का कथन। ध्वनिवादियों ने इसे अनावश्यक ही नहीं रसापकर्षक दोष भी माना है। उद्भट ने इसका जो उदाहरण दिया है उससे 'स्वशब्द' का अर्थ रति

या श्रृङ्गार आदि शब्द नहीं, अपि तु काम, कन्दर्प, मन्मथ, कामप्रिया आदि शब्द भी हैं। ये शब्द श्रृङ्गारप्रसङ्ग में कहीं नहीं आते। उद्भट का उदाहरण यह है—

'इति भावयतस्तस्य समस्तान् पार्वतीगुणान्।
संभृतानल्पसंकल्पः कन्दर्पः प्रबलोऽभवत्॥
स्विद्यतापि च गात्रेण बभार पुलकोत्करम्।
कदम्बकलिकाकोशकेसरप्रकरोत्करम्॥'
क्षणमौत्सुक्यगर्भिण्या चिन्तानिश्चलया क्षणम्।
क्षणं प्रमोदालसया दृशास्यास्यमभूष्यत॥'

पार्वती के सभी गुणों पर ध्यान देते ही भगवान् शिव का अनल्प संकल्पों से समृद्ध कन्दर्प प्रबल हो उठा। उनके शरीर में स्वेद और रोमांच वैसे ही होने लगे जैसे कदम्ब की कली के कोश में केसर प्रकर। उनका चेहरा क्षण भर के लिए औत्सुक्यमयी, क्षणभर के लिए चिन्तानिश्चल तथा क्षण भर के लिए प्रमोद से अलसाई दृष्टि से भूषित हो उठा।' उद्भट के कुमारसंभव का यह स्थल रस की प्रबन्धव्यंग्यता के लिए ठीक उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थल है जितना महत्त्वपूर्ण कालिदास के कुमारसंभव के तृतीय सर्ग का 'अद्दश्यत स्थावरराजकन्या'—से लेकर 'हरस्तु किंचित्'–तक का स्थल, जिसे ध्वनिकार आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त ने ही नहीं, अनुमितिवादी महिमभट्ट ने भी समान रूप से रसपिच्छल तथा रस की सम्पूर्ण सामग्री से युक्त एक आदर्श स्थल माना है। रसनिष्पत्तिप्रक्रिया के इतिहास में उद्भट का यह निरूपण अत्यन्त महत्त्व रखता है। इससे स्पष्ट है कि रस की निष्पत्ति के लिए अपेक्षित सामग्री और उसके अनुरूप काव्यशिल्प का जो रूप आनन्दवर्धन आदि परवर्ती ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रस्तुत किया था वह उनके द्वारा समादृत और उनके पूर्ववर्ती आचार्य उद्भट में ही उसी रूप में उतनी ही पुष्कलता और उतनी ही समग्रता के साथ स्थापित और स्पष्ट हो चुका था। उद्भट ने इस रसवद्विवेचन के पश्चात् नवो रसों को भी गिनाया है—

'रसवद् ००० स्पदम् [७०८ पृ०]।
श्रृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः॥'

इसमें एक विशेषता यह भी है कि यहाँ दण्डी द्वारा परित्यक्त शान्त का संग्रह भी समान रूप से एक साथ हो गया है। ऐसा कार्य मम्मट भी नहीं कर पाए हैं। उन्होंने शान्त को अलग रखकर पहले आठ रस गिनाए हैं। पश्चात् शान्त का समर्थन दबे स्वर में किया है। तथापि नाट्य में तो उसकी पुष्टि वे स्वीकार नहीं ही कर पाए।

ऊर्जस्वी – के विषय में भी उद्भट की स्थापना ही वह वेदिका है जिसे मम्मट आदि ने अपना आधार बनाया है। उन्होंने ऊर्जस्विता के लिए अनौचित्य को आवश्यक माना था। उद्भट ने इसे उनके पूर्व ही इस प्रकार स्पष्ट रूप से उपस्थित कर दिया था—

'अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते॥'

'काम या क्रोध आदि के कारण उमड़े और आगे बढ़े भाव तथा रसों का काव्योपादान ही ऊर्जस्वी कहलाता है।'

ऊर्जस्वी पर दण्डी और भामह की दृष्टि अधिक व्यापक थी। कर्ण आदि की गर्वोक्तियाँ भी ऊर्जस्वी कथन ही हैं यद्यपि उनमें अनौचित्य नहीं है। अहंकार अवश्य है। अनौचित्य अहंकार

का कादाचित्क फल तो हो सकता है सार्वदिक और ऐकान्तिक फल नहीं। सीता जी की प्रणयभिक्षु रावण के प्रति यह उक्ति—

'चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं निशाचरम्॥'

'तुझ निशाचर रावण को मैं चाहूँगी तो क्या ! मैं तुझ निशाचर को बायें पैर से भी छू तक नहीं सकती,' ऊर्जस्वी उक्ति नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस उक्ति में कोई अनौचित्य नहीं है। हमारी दृष्टि में तो वस्तुतः ऐसे कथन ही ऊर्जस्वी के उदाहरण हो सकते हैं, मम्मट आदि द्वारा उद्धृत रावण आदि का सीता आदि के प्रति प्रेमयाचना का कथन तो एक प्रकार से ऊर्जस्विताशून्य और विपरीत कथन है। 'ऊर्क्' का अर्थ सर्वस्वकार ने बल किया है। अहंकार अपनी बलवत्ता का अभिमान ही है। अपना अभिमान जतलाना अच्छा भले ही न माना जा सके, परन्तु अनुचित भी नहीं माना जा सकता। अतः अनुचित भाव तक ही ऊर्जस्वी को सीमित रखना एकपक्षीय और युक्तिशून्य भी है।

समाहित = के विषय में दण्डी, भामह और वामन के मत समाधि अलंकार के प्रकरण में दिए जा चुके हैं। इनके समाहित का भावप्रशम से कोई सबन्ध नहीं है। उसका स्वरूप उनमें वही है जो मम्मट और सर्वस्वकार के मत में समाधिनामक अलंकार का। समाहित का जो स्वरूप मम्मट के काव्यप्रकाश और यहाँ सर्वस्व में मिलता है उसका पूर्वरूप उद्भट ने ही स्थापित कर दिया था। उनके काव्यालंकारसारसंग्रह में इसका विवेचन इस प्रकार है—

'रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत् तत् समाहितम्॥'

—'रस, भाव तथा इन दोनों के आभास का प्रशम बतलाना समाहितालंकार कहलाता है क्योंकि इसमें अन्य रस आदि के अनुभाव का सर्वथा अभाव रहता है।' लघुवृत्तिकारने इसका तात्पर्यवाक्य इस प्रकार बताया है—

'यत्र पूर्वेषां रसादीनां वासनाया दार्ढ्येन तेषूपशान्तेष्वपि रसाद्यन्तराणां न स्वरूपमाविर्भवति आविर्भवदपि वा कार्यवशेन केनचित्तिरोधीयते तत्र समाहितालङ्कारो भवति।'

—'जहाँ पूर्ववर्ती रस आदि की वासना दृढ होने से उनके शान्त हो जाने पर भी अन्य रसों का स्वरूप आविर्भूत नहीं हो पाया, अथवा आविर्भूत होता हुआ भी कार्यवशात् किसी के द्वारा तिरोहित कर दिया जाता है उसे समाहित नामक अलंकार माना जाता है।

उदाहरण—'अथ कान्तां दृशं दृष्ट्वा विभ्रमाच्च भ्रमं भ्रुवोः।
स्मरज्वरप्रदीप्तानि सर्वाङ्गाणि समादधत्॥'

भगवती पार्वती की कान्तिमती दृष्टि तथा विभ्रमवशात् घूमती भौंहें देखकर शिवजी स्मरज्वरप्रदीप्त सभी अङ्गों को शान्त करते हुए पार्वतीजी के समीप पहुँचे। यहाँ लघुवृत्तिकार के अनुसार शिवजी द्वारा अपनी चित्तवृत्ति का छिपाया जाना प्रतिपादित है। वस्तुतः उद्भट के इस विवेचन से भावशान्ति का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता, किन्तु इससे समाहित सामान्य अलंकारोंसे निकलकर रसवदादिके वर्ग में अवश्य ही चला आता है। परवर्ती आचार्यों ने सचारी भावों की ही शान्ति मानी है, रसादि की नहीं। उद्भट के पश्चात् इस विषय में जिस आचार्य को स्थान दिया जाना चाहिये वे हैं आचार्य आनन्दवर्धन। इनसे वस्तुवादी या कथावादी दृष्टिकोण को

अनुभूतिवादी दृष्टिकोण का रूपान्तर प्राप्त होता है। ये रसवद् शब्द के स्थान पर रसालंकार शब्द ही देते हैं।

[२] अनुभूतिवादी आचार्य—

आनन्दवर्धन—'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥' ध्वन्या० २।५॥

'जहाँ प्रधान कोई और तत्त्व हो और रसादि हों अङ्ग, हमारे मत में रसादि उसी काव्य में अलंकार होते हैं।' आनन्दवर्धन की इस स्थापना से रसवदलंकार के क्षेत्र में प्रधानता और अप्रधानता का अध्याय जुड़ा। रस जब अनुभूतिरूप है और विश्रान्तिरूप भी, तब रस के आगे कुछ भी शेष नहीं रहता, फलतः रस किसी के अलंकार नहीं बनते। अतः अङ्गभूत रस की उपर्युक्त चर्चा में रस शब्द का अर्थ अङ्गभूत स्थायिभाव लगाया जाता है। स्थायी भी आस्वाद के कारण रस के समान ही होता है अतः उन्हें भी रस कह दिया जाता है—

रसभाद् रसत्वमेषां माधुर्यादीनामिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तद् प्रकाममस्तीति तेऽपि रसाः॥

इससे स्पष्ट है कि ध्वनिसिद्धान्त में रस कभी भी अलंकार नहीं बनता। दण्डी से लेकर रुद्रट के सिद्धान्त में काव्य की उपादेयता में उपमा आदि के ही समान रस भी कारण है, अतः यह भी काव्य को अलं=पर्याप्त समृद्ध करने वाला होने से अलंकार है। रस और सौन्दर्य को व्यक्तिविवेककार ने अभिन्न माना है, अतः वामन के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्, सौन्दर्यमलंकारः' के अनुसार काव्य की ग्राह्यता का कारण बनने से सौन्दर्यरूप रस भी अलंकार बन सकता है। इस प्रकार ध्वनिवादी अनुभूति की भूमिका से निर्णय लेता है और ध्वनिपूर्ववर्ती आचार्य व्यवहार की भूमिका से। हम नहीं समझते कि ये दोनों मत किसी भी प्रकार परस्पर विरोधी हो सकते हैं। भरे हुए शरीर में खादी भी शोभा पाती है और सूखे हाड़ पर उत्तम क्षौम भी फीका लगता है। सच यह है कि अलंकार्य भी अलंकार या अलंकारक होकर उसके प्रति अलंकार रहता है। कालिदास का उर्वशी के विषय में यह कथन कि वह 'आभरणस्याभरणम्' है तथा वल्कलधारिणी शकुन्तला के लिए यह कथन कि 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्' इसी ओर संकेत देता है। नैषधकार का 'तरुणीस्तन एव शोभते मणिहारावलिरामणीयकम्' वाक्य तो इस तथ्यको अभिधा में ला उतारता है। अतः इन सापेक्ष तथ्यों पर स्याद्वादी दृष्टिकोण से अनेकान्ती समझौता ही ठीक होगा, ऐकान्तिक इदमित्थंभाव नहीं। कुन्तक अभिनवगुप्त और मम्मट ने ध्वनिकार के ही सिद्धान्त का समर्थन किया है। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवित के तृतीय उन्मेष में रसवत् पर अति विस्तीर्ण शास्त्रार्थ खड़ा किया है और अन्त में ध्वनिकार का मत स्वीकार कर लिया है। उनका सारा पौरुष 'रसवत्'-शब्द की व्युत्पत्ति में लगा प्रतीत होता है। कभी वे दण्डी के 'रसपेशल' शब्द के अभिप्राय को खोजते हैं और कभी 'रसवद् रससंश्रयात्' वचन के। अन्त में वे 'रसवत्' में मतुप् न मानकर तुल्यार्थक वतिप्रत्यय मानते हैं और वे इसे इस प्रकार स्वीकार करते हैं—

'रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः।
योऽलङ्कारः स रसवद् तद्विदाह्लादनिर्मितेः॥ ३।१५॥

—'जो अलंकार काव्य में रसयुक्तता लाने से रसतुल्य प्रतीत होता है वह रसवद् कहलाता है। अलंकार इसलिए कि वह उसके वेत्ता को आनन्द देता है।'

इस उक्ति में 'रसवत्त्वविधान = काव्य में रसयुक्तता लाना' कहकर कुन्तक ने प्राचीन आचार्यों पर उठाए तर्क के विराट् आडम्बर को स्वयमेव धराशायी कर दिया। इसी प्रकार पहले पहल तो कुन्तक ने ऊर्जस्वी, प्रेयान् और समाहित में भी अलंकारत्व नहीं माना है, किन्तु बाद में उन्होंने 'रसवद्' के विषय में जो मोड लिया है उससे उनके मत में ये भी अलंकार सिद्ध हो जाते हैं। समाहित का जो उदाहरण सर्वस्वकार ने प्रस्तुत किया है वह उन्होंने वक्रोक्तिजीवितकार से ही लिया है। ले दे कर वक्रोक्तिजीवित का रसवदादिखण्डन उनकी विभिन्न व्याख्याओं का खण्डन है, मूल मान्यताओं का नहीं।

मम्मट—असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि गिनाते हुए लिखते हैं—

'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ ४१२ ॥

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में रस, भाव, इन दोनों के आभास तथा भावशान्ति आदि आते हैं, किन्तु तब जब वे रसादि अलंकार से भिन्न हों और अलंकार्यरूप से स्थित हों। इसी कारिका की व्याख्या में वे लिखते हैं—

प्रधानतया यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः '००' अन्यत्र तु प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितादयोऽलङ्काराः ।'

इसके उदाहरण उन्होंने पंचम उल्लास के गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकरण में दिए हैं। क्योंकि ध्वनिवादी आचार्य रसवदाद्यलंकारों को गुणीभूतव्यङ्ग्य मानते हैं।

रत्नाकरकार—ने समाहित से लेकर शबलता तक शेष सभी अलंकारों को ध्वन्यंग मान केवल रस, भाव और दोनों के आभासों को अलंकार माना है। उनका सूत्र है—

'रसभावतदाभासानां रसाद्यङ्गत्वे रसवत्प्रेयऊर्जस्वीनि ॥ १०९ ॥

इसी की लम्बी व्याख्या, जिसके मुख्य अंश उद्धृत किए जा चुके हैं, के पश्चात् रत्नाकरकार ने जो पाँच संग्रहश्लोक बनाए थे उनमें से चार उद्धृत किए जा चुके हैं शेष पाँचवाँ यह है—

'रसादेरङ्गित्वे ध्वनिरथ रसादीन् प्रति यदि
गुणत्वं यदि स्याद् रसवदनुगोऽलङ्कृतिगणः ।
गुणत्वं वाक्येऽर्थे भवति यदि चोदारचरितं
तदोदात्तं भावस्थितिशबलताद्यो ध्वनिरिति ॥'

रस आदि यदि, अङ्गी हों तो ध्वनि और यदि रस आदि के प्रति अंग हों तो रसवदादि अलंकार होते हैं। यदि उदार पुरुषों के चरित वाक्य अर्थ में अंग बनें तो उदात्तालंकार होता है। भावस्थितिशबलता आदि सदा ही ध्वनिरूप रहते हैं।

अप्पयदीक्षित—ने रसवद् आदि के समान भावशबलता आदि सभी को अलंकार माना है, किन्तु उनके लक्षण नहीं बताए हैं। केवल उदाहरणों द्वारा ही उन्हें स्पष्ट कर दिया है।

पण्डितराज—ने रसवदादि अलंकारों का स्वतन्त्ररूप से विवेचन नहीं किया किन्तु उनके द्वारा रसविषयक उदाहरणों के प्रसंग में स्पष्टीकरण के लिए दिए गए प्रत्युदाहरण पद्यों से यह तथ्य स्पष्ट है कि वे राजा आदि की स्तुति में रस आदि को अंग मानते हैं।

विश्वेश्वर—ने अलंकारकौस्तुभ में केवल अर्थालंकारों का ही विवेचन किया है तथापि उन्होंने रसवदादि अलंकार भी इन्हीं अलंकारों में गिन लिए हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

'रसभावतदाभासे रसवत्प्रेयऊर्जसी ।
शमे तु समाहितमुदयेऽन्योऽप्यस्य शबलत्वे ॥'

इसकी वृत्ति से स्पष्ट है कि वे अंगभूत रसको रसवत्, अंगभूत भाव को प्रेय, अंगभूत आभासों को ऊर्जस्वी तथा भावप्रशम को समाहित मानते हैं। साथ ही शबलता आदि को इन्हीं नामों से अलंकार रूप ही स्वीकार करते हैं। संजीविनीकार विद्याचक्रवर्ती की निष्कृष्टार्थकारिका इस पर ये हैं —

'रसभावगुणीभावादनौचित्यप्रवृत्तितः ।
रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितचतुष्टयम् ॥
रसवत्त्वप्रियत्वाभ्यामूर्जः प्रशमयोगतः ।
निबन्धनं रसवदाद्याख्यां संप्रतिपद्यते ॥'[1]

[सर्वस्व]

[सू० ८४] भावोदयो भावसंधिर्भावशबलता च पृथगलंकाराः।

भावस्योक्तरूपस्योदय उद्गमावस्था, संधिः द्वयोर्विरुद्धयोः स्पर्धित्वेनोपनिबन्धः, शबलता च बहूनां पूर्वपूर्वोपमर्देनोपनिबन्धः। एते च पृथग् रसवदादिभ्यो भिन्ना अलंकाराः। एतत्प्रतिपादनं चोद्भटादिभिरेषां पृथगलंकारत्वेनानिर्दिष्टत्वात्। अथ च संकरसंसृष्टिवैलक्षण्येनैते सर्वालंकाराः पृथक्केवलत्वेनालंकारा इति सर्वालंकारशेषत्वेनोक्तम्। संसृष्टिसंकरयोर्हि संपृक्ततयालंकाराणां स्थितिस्तद्वैलक्षण्यप्रतिपादनमेतत्।

[सू० ८४] भावोदय, भावसन्धि तथा शबलता पृथक् अलंकार हैं।

[वृ०] भाव, जिसका स्वरूप बतलाया जा चुका है उसका उदय है उद्गमावस्था [उसकी] सन्धि है दो विरोधियों का परस्पर स्पर्धी के रूप में उपनिबन्ध, तथा [उसकी] शबलता है अनेकों का पूर्वपूर्ववर्ती को दबाते हुए रूप में उपनिबन्ध। ये पृथक् अर्थात् रसवद् आदि से भिन्न अलंकार हैं। यह इसलिए कहा जा रहा है कि उद्भट आदि आचार्यों ने इन्हें पृथक् अलंकार के रूप में नहीं बतलाया था [भावोदय आदि तीनों दण्डी से लेकर रुद्रट तक के ग्रन्थों में नहीं मिलते]। इसी प्रकार इन सभी [भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता] अलंकारों में संकर और संसृष्टि नहीं होते, किन्तु ये अन्य अलंकारों के समान अपने आप में भी स्वतन्त्र रूप से पृथक् अलंकार होते हैं। इसलिए इन्हें [संकर और संसृष्टि के पहले और] अन्य सब अलंकारों के अन्त में रखा गया है। संसृष्टि और संकर में तो अलंकार मिश्रित स्थिति में रहते हैं। उनसे इनकी विलक्षणता [भिन्नता] बतलाने के लिए यह कहा गया।

विमर्शिनी

भावेत्यादि। एतदेव व्याचष्टे—भावस्येत्यादि। उक्तरूपस्येति। व्यभिचारिदेवादिरतित्वेन द्विप्रकारस्येत्यर्थः। उद्गमावस्थेति। उद्गमावस्था न पुनरुदितेत्यर्थः। उदितायां हि भावस्य स्थितायामकत्वात्प्रेयोऽलंकार एव स्यात्। एते इति। भावोदयभावसंधिभावशबलतास्त्रयोऽलंकाराः। ननु च लक्षणस्य भिन्नत्वादेवैषां पृथक्त्वावगम इति किं तद्ग्रहणेनेत्याशङ्क्याह—एतदित्यादि। अथ चेति पक्षान्तरे। सर्वालंकारा इति। पुनरुक्तवदाभासादिभावशबलान्ताः। केवलत्वेनेति। तस्यैवैकस्य वाक्यार्थत्वेन प्ररोहात्। तस्मात् [केवलः,] अङ्गभूतैरलंकारान्तरैरुपस्क्रियमाणो वा य एव यत्र वाक्यात् तात्पर्यविषयत्वेन प्रतीयते स एव तत्र साक्षादलंकार इति भावः। अत एवात्र न संसृष्टसंकरव्यपदेशः। यतस्तयोरलंकाराणां मिश्रत्वेनावस्थानं लक्षणम्। तदेवाह—संसृष्टीत्यादि। यत्तु पूर्वत्र कुत्रचिदुदाहरणेषु

संकराद्यलंकारत्वमस्ति, तत्तत्र संभवमात्रेण निर्दर्शनीकृतम्। न तु साक्षादलंकारत्वम्। तत्तत्र तथाविधस्योदाहरणस्य स्वयमेव लक्ष्यादभ्यूहः कार्यः।

भाव इत्यादि। इसी की व्याख्या करते हैं—'भावस्य' इत्यादि। उक्तरूपस्य = जिसका स्वरूप बतलाया जा चुका है अर्थात् व्यभिचारिरूप तथा देवतादिनिष्ठ से दो भेदों में। उद्गमावस्था = उद्गमावस्था, न कि उदित हो चुकना। उदित हो चुकने की स्थिति में तो ये स्थित्यात्मक होकर प्रेयोऽलंकार होंगे। एते = ये भावोदय, भावसन्धि, तथा भावशबलता नामक अलंकार। 'लक्षण अलग करने से ही इनकी पृथक्ता सिद्ध थी तब पृथक् शब्द देने की आवश्यकता क्या थी'—ऐसी शंका कर कहते हैं—'एतद्'—इत्यादि। अथ च = यह अन्य पक्ष प्रस्तुत करने हेतु कहते हैं। सर्वालङ्कारा = सब अलंकार = पुनरुक्तवदाभास से लेकर भावशबलता पर्यन्त [हमारी व्याख्या इससे भिन्न है]। केवलत्वेन = अपने आप में—क्योंकि इनमें से अकेला एक ही अलंकार वाक्यार्थरूप में प्ररूढ हो जाता है। इसका अभिप्राय यह कि जहां कहीं कोई अलंकार अगभूत अन्य अलंकारों से उपस्कृत होकर भी वाक्य से उसके तात्पर्य विषय के रूप में प्रतीत होता है वहां वही अलंकार साक्षात् अलंकार माना जाता है। इसीलिए यहां संसृष्टि और संकर नाम नहीं चलते हैं, क्योंकि उनका लक्षण है अलंकारों की मिश्रित स्थिति। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'संसृष्टि' इत्यादि। पहले दिए [यथासंख्य आदि अन्य अलंकारों के] उदाहरणों में जो कहीं संकर आदि अलंकार बतलाए गए हैं, वह उन [यथासंख्य आदि] की संभावनामात्र बतलाने के लिए। वहां वे [यथासंख्य आदि] साक्षात् अलंकार नहीं हैं। इसलिए वहां उस प्रकार के [साक्षात् अलंकारत्व के] उदाहरण लक्ष्य को देखकर स्वयं ही खोज लेने चाहिए।

विमर्श—पृथगलङ्कारत्वेनानिर्दिष्टत्वात् = के स्थान पर सभी प्रतियों में 'पृथगलंकारत्वेन निर्दिष्टत्वात्' पाठ मिलता है। उद्भट आदि में भावोदय आदि तीनों अलंकारों के लक्षण और उदाहरण नहीं मिलते। केवल रसवत् प्रेय और ऊर्जस्वी के ही मिलते हैं। यदि उन्होंने लक्षण दिए होते तो विमर्शिनीकार भी उन्हें उद्धृत करते। मम्मट ने अवश्य इन्हें माना है और रसवदादि से भिन्न ही माना है। मम्मट ने भी इन अलंकारों को अलंकार प्रकरण में न रख, गुणीभूतव्यंग्य प्रकरण में रखा था। 'पृथक्'-शब्द इनकी स्वतन्त्र अलंकारता और उनकी अलंकारों में गणना की ओर संकेत करता है। इन तीन अलंकार को प्रथम बार सर्वस्व में ही अलंकार प्रकरण में पाया गया है।

'अथ च—वैलक्षण्यप्रतिपादनमेतत्'—का अभिप्राय भी विमर्शिनी में कुछ और है। संजीविनी में भी वैसी ही व्याख्या मिलती है। हमारी दृष्टि में इन व्याख्याओं के अनुसार इस ग्रन्थांश को भावोदय आदि के उदाहरण के बाद रखा जाना उचित है। वस्तुतः यह ग्रन्थांश यह बतलाने के लिए कहा गया है कि इन अलंकारों को सभी अलंकारों के पश्चात् और संकर संसृष्टि के पूर्व क्यों रखा गया। अलंकारों के क्रम का निर्धारण ग्रन्थकार जिस हेतु से करते आए हैं उसका उल्लेख वे प्रायः प्रत्येक अलंकार में करते रहे हैं। यहां, यदि उक्त अंश का अर्थ विमर्शिनी जैसा लगा लिया जाय तो, वैसा कोई हेतु नहीं रहता।

[सर्वस्व]

तत्र भावोदयो यथा—

'एकस्मिञ्शयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यः कोपपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि।

आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणा-
न्मा भूत् सुप्त इवेत्यमन्दचलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥'

अत्रौत्सुक्यस्योदयः। भावसंधिर्यथा—

'वामेन नारीनयनाश्रुधारां कृपाणधारामथ दक्षिणेन।
उत्पुंसयन्नेकतरः करेण कर्तव्यमूढः सुभटो बभूव ॥'

अत्र स्नेहाख्यरतिभावरणौत्सुक्ययोः संधिः। भावशबलता यथा—

'क्काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥'

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां भावानां शबलता। तदेते चित्तवृत्तिगतत्वेनालंकारा दर्शिताः।

इनमें से भावोदय यथा—

'एक ही पलंग पर सोते समय सौत का नाम ले लेने से तुरन्त कोपग्रस्त मुग्धा ने प्रसन्न करने में लगे हुए प्रियतम को आवेग में आकर दुत्कार दिया तो अब वह चुपचाप लेटा रहा तो उसे नायिका ने ' कहीं सो तो नहीं गया'— इस विकल्पसे बार बार ग्रीवा मोड़, मोड़ कर देखा।'

यहाँ औत्सुक्य का उदय अनुभव में आता है।

भावसन्धि [का उदाहरण], यथा—

'एक कोई सुभट बाएँ हाथ से प्रिया की आँखों की अश्रुधारा और दाहिने हाथ से कृपाण की धारा पोंछते हुए कर्तव्य विमूढ़ था।'

यहाँ स्नेहनामक रतिभाव और युद्धोत्सुकता की सन्धि है।

भावशबलता, यथा —

कहाँ अनुचित कार्य और कहाँ चन्द्रवंश [वितर्क] वह पुनः एकबार दृष्टिगोचर होती [औत्सुक्य] दोषों को दबाने के लिए मैंने विद्याभ्यास किया है [मति], ओहो उसका मुखमण्डल कोप में भी कान्तिमान् रहता था [स्मरण]। निष्कलंक धीर पुरुष (मुझसे) क्या कहेंगे [शङ्का]। वह तो अब स्वप्न में भी दुर्लभ हो गई [दैन्य]। चित्त स्वस्थ हो जा [धृति], कौन होगा वह धन्य युवक जो उसका अधरपान करेगा [चिन्ता]॥'

यहाँ वितर्क औत्सुक्य, मति, स्मरण, शङ्का, दैन्य, धृति तथा चिन्ता [नामक संचारी भावों] की शबलता है।

इस प्रकार ये चित्तवृत्तिगत अलंकार बतलाए गए॥

विमर्शिनी

एतदुदाहरणत्रयं ध्वन्यभाववादिमतेन ग्रन्थकृतोपात्तम्। ध्वनिवादिमतेन पुनरुदाह्रियते। तत्र भावोदयो यथा—

'साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि च प्रवृत्ते।
अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥'

संघटनाकृतं चारुत्वान्तरं जायते, तद्वत् प्रकृतालंकाराणामपि संयोजने चारुत्वान्तरमुपलभ्यते। तेनालंकारान्तरप्रादुर्भावो न पृथक्पर्यवसानमिति निर्णयः। अलंकारान्तरत्वेऽपि च संयोगन्यायेन स्फुटावगमो भेदः, समवायन्यायेन चास्फुटत्वावगम इति द्वैधम्। पूर्वत्र संसृष्टिः, उत्तरत्र संकरः। अत एव तिलतण्डुलन्याय, क्षीरनीरन्यायश्च तयोर्यथार्थतामवगमयतः।

अब इन सब अलंकारों के संश्लेष से निष्पन्न होने वाले दो अलंकार बतलाए जा रहे हैं। इनमें संश्लेष दो प्रकार का होता है संयोग जैसा और समवाय जैसा। संयोग जैसा वह जिसमें भेद स्पष्ट रूप से विद्यमान रहता है। यही भेद जहाँ स्वरूप से विद्यमान नहीं रहता वह समवाय जैसा होता है। इनमें से उस भेदों के स्पष्टरूप से विद्यमान रहने पर [संश्लेष की] स्थिति तिलतण्डुल जैसी रहती है और दूसरे में क्षीरनीर जैसी। क्रम से इनके लक्षण बतलाए जा रहे हैं—

[सू० ८५] इन [अलंकारों] का तिलतण्डुल जैसा मिश्रण संसृष्टि [नामक अलंकार कहलाता है]॥

[वृ०] उक्त अलंकारों [में से किन्हीं] का यदि कहीं किसी प्रकार एक साथ संयोजन हो जाए तो यह विचार उपस्थित होता है कि क्या वहाँ वे अलंकार अलग अलग स्वतन्त्र रूप से अलंकाररूप में अनुभव में आते हैं अथवा वहाँ कोई भिन्न ही अलंकार होता है। इस पर निर्णय यह होता है कि जिस प्रकार सुवर्ण या मणि के बने हुए बाह्य [लौकिक] अलंकार स्वतन्त्ररूप से पृथक् अलंकार होते हैं तथापि उनकी संघटना से एक अलग ही शोभा होती है उसी प्रकार इन अलंकारों के संयोजन में भी एक अलग ही चारुता उपलब्ध होती है। इस कारण यहाँ भिन्न ही अलंकार का प्रादुर्भाव होता है, एक-एक अलंकार का स्वतन्त्र अनुभव नहीं। भिन्न अलंकार मानने पर भी या तो संयोग के समान [मिश्रित अलंकारों में से प्रत्येक का] ज्ञान स्पष्टरूप से होता है, या समवाय के समान अस्पष्ट रूप से। इस कारण इसके भी दो भेद हो जाते हैं। इनमें से प्रथम में संसृष्टि और द्वितीय में संकर होता है। इसीलिए इन्हें [क्रमशः] तिलतण्डुल [चावल के मिश्रण] की उपमा और नीर क्षीर [के मिश्रण] की उपमा दी जाती है, इससे इनके नाम यथार्थ प्रतीत होते हैं।

विमर्शिनी

अधुनेति प्राप्तावसरम्। एषामिति पूर्वोद्दिष्टानाम्। तत्रेति। अलंकारद्वये। तदपैवेति। भेदस्य। स्फुटत्वमस्फुटत्वं च सुस्पष्टमेव। अत एव तिलतण्डुलन्यायः, क्षीरनीरन्यायश्चेत्युक्तम्। एषामित्यादि। एतदेवोपपादयितुमुपक्रमते—उक्तेत्यादिना। तदेतदवद्वयमध्याद् दृष्टान्तोपदर्शनद्वारेणालंकारान्तरत्वमेव सिद्धान्तयितुमाह—तत्रेत्यादिना। संघटनाकृतमिति। एकत्रैव द्वयोर्बहूनां वालंकाराणां युगपद्विनिवेशनं संघटना, तया कृतम्। तदुत्पादितमित्यर्थः। चारुत्वान्तरमिति। एकैकालंकारनिबन्धनात् प्रकृताच्चारुत्वादन्यात् सातिशयमिति यावत्। उपलभ्यते—स्वसंवित्सिद्धतया साक्षात्क्रियत इत्यर्थः। तेनेति। चारुत्वान्तरोपलम्भेन। नहि विषयभूतालंकारातिशयमन्तरेणोपलम्भातिशयो भवितुमर्हतीति भावः।

ननु-'शब्दार्थालंकाराणां संघटनामात्रेणैव कथमलंकारान्तरत्वमुक्तम्। भिन्नकक्ष्यत्वेनैषामेकवृन्तवदुपारोहासंभवाच्चारुत्वान्तराभावात्। तेषां हि संघटितत्वेऽपि—

'अलंकारेषु चारुत्वं तद्वद्धि विभिद्यते।
यथैव साधु माधुर्यमिक्षुक्षीरगुडादिषु॥'

इति नीत्या भेदत्वेनैव चारुत्वावगमाद्भिन्नत्वमेव न्याय्यम्। नापि लौकिकालंकारवदेतेषां संघटनाकृतं चारुत्वान्तरमुपलभ्यते। नहि मौक्तिकपद्मरागेन्द्रनीलादिवत् सचेतसः कस्यचिदनुप्रासोपमादीनां परस्परं परभागो भासते। शब्दार्थयोर्भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन भिन्नजातीयत्वात्।'

असदेतत्। तथाहि खलु यथा पृथगवस्थितेषु स्थालीजलज्वलनरत(स?)तण्डुलादिषु न समताप्रत्ययः, समुदितेषु तु भवति, समग्रसंनिधानाद्धस्य धर्मस्य प्रत्ययस्य सुपालम्भात्, तथैव भिन्नरूपाणामलंकाराणां संघटनावशेन पूर्वापरैकीकारेणैकबुद्ध्यधिरोहादुपलभ्यत एव कश्चन संसर्गो नाम यस्य संसृष्टिसंकरव्यपदेशार्हत्वम्। अपि च रूपभेदेऽप्यविच्छेदादेकत्वम्, 'चित्रपटत्क' इत्यादिनीत्या चित्रास्तरणादौ यथा स्वरूपस्य रूपान्तराद्व्यावृत्तत्वेऽपि विच्छेदानवभासोदकघटश्लिष्टाकारप्रत्ययः, चित्ररूपमप्येकमेव वस्तुरूपं भासते तथैव भिन्नरूपाणामप्यलंकाराणां संघटमानत्वेन प्रतीतावेकतावसाय इति युक्तमेव संसृष्ट्याद्यलंकारान्तरत्वम्। इक्षवादीनां च माधुर्यस्य भेदेऽपि संमीलनायां पानकादिरसनिष्पत्तावुपलभ्यत एव कश्चिद्वैचित्र्यातिशयः, तद्वदेषामपीति युक्तमलंकारान्तरत्वम्। न चास्य चारुतातिशयस्य शपथपत्रेयत्वं वाच्यम्। एकस्यैवैकस्य इवं बहूनां चालंकाराणामवगमे यथायथमतिशयोत्कर्षस्य स्वसंवित्साक्षिकत्वेन वेद्यमानत्वात्।

संघटमानत्वेन च प्रतिपत्तिरलंकाराणामेकस्मिन्वाक्ये तत्सच्छन्दसि वा भवति, न तु कुलकादौ, विदूरतया तस्यास्तावत्याः प्ररोहासंभवात्। यदाहुः—'वाक्यार्थभेदेऽप्येकश्लोकान्तर्गतत्वेनालंकारस्यालंकारान्तरसाहित्यं प्रतिभात्येव। अविदूरत्वात् विभिन्नश्लोकगतत्वेन वाक्यभेदे व्यवहितत्वान्न भवति संसृष्टिः॥' इति।

कुलकादावप्यलंकाराणां वाक्यैकत्वाच्यतया यद्यविच्छेदेन प्रतिपत्तिप्ररोहः स्यात् तदात्रापि संसृष्ट्याद्यभ्युपगमने न कश्चिद् दोषः।

ननु, समप्रतापप्रत्यये चित्रज्ञाने वा स्थाल्यादीनां चेन्द्रियग्राह्यत्वेन समानजातीयानामेकबुद्ध्यधिरूढत्वादुपपद्यत एव सामग्र्यादेरेकस्य वस्तुनोऽवगमः। इह तु भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वेन भिन्नजातीययोः शब्दार्थयोरेकबुद्ध्यधिरूढाभावात्तदलंकाराणां युगपत्प्रतीतिरेव नास्तीति कथमेकस्य संसर्गादेर्वस्तुनोऽवभासो यस्यापि संसृष्ट्याद्यलंकारान्तरव्यपदेशार्हत्वं स्यात्। अत्रोच्यते—श्रोत्रकरणत्वाच्छब्दावगमस्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्तदलंकारयोः सजातीयत्वे तावदविवादः। अत एव च तयोरेकबुद्ध्यधिरोहाद् युगपत्प्रतीतेः संसर्गावगमः। सति च संचये चारुतातिशयोपसर्जन इत्यत्र संसृष्ट्याद्यलंकारत्वम्। एवमर्थावगमस्यापि शब्दकरणत्वात्समानजातीययोः संसृष्टत्वेन प्रतीयमानयोरलंकारयोरपि ज्ञेयम्। शब्दार्थयोः पुनरुपायभेदेऽपि तदलंकाराणां सुगन्धिबन्धूकबोधन्यायेन [मानसबोधन्यायेन] मानसज्ञानविषयत्वाद्युगपदवभासः सिद्ध्यतीति लौकिकालंकारवदेव शब्दार्थोभयालंकाराणां संसर्गे लब्धपरभागतयावभासत एव चारुत्वान्तरमिति न्यायप्राप्तमेव संसृष्ट्याद्यलंकारत्वम्। यत्पुनरन्यैः शब्दार्थयोर्भिन्नजातीयत्वे भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वं निमित्तमुक्तं तदुपेक्ष्यमेव। शब्दार्थशरीरे काव्ये शब्दप्रतिपाद्यस्यैवार्थस्याङ्गत्वात्तच्चक्षुरिन्द्रियग्राह्यस्य बाह्यस्यानौपयिकत्वात्।

यद्येवं पूर्वलक्षितानामनुप्रासोपमादीनामभावः स्यात्, असंकीर्णानामलंकाराणाम-

संभवात्सर्वत्र संसृष्टिसंकरयोरेव भावादेषां विषयापहारात्। नैतत्। असंकीर्णानामलंकाराणां सहस्रशो दर्शनात्। तथाहि—

'यशोधर्माणमुल्लंघ्य हिमाद्रिमिव जाह्नवी।
सुखेन प्राविशत्तस्य वाहिनी पूर्वसागरम्॥ ४।१४६॥
उत्तराः कुरवोऽविक्षुस्तद्भयाच्चन्द्रपादपान्।
उरगान्तकसंत्रासाद्बिलानीव महोरगाः॥ ४।१७५॥
सर्वार्जितधनः सोऽथ प्रविवेश स्वमण्डलम्।
भिन्नेभमौक्तिकापूर्णपाणिः सिंह इवाचलम्॥ ४।१०१॥
राजतान्कापि सौवर्णान्कापि देवान्विनिर्ममे।
पार्श्वेषु मुख्यदेवानां पार्थिवो यमदोपमः॥ ४।२०५॥
स चारशङ्कुणश्चक्रे स्वनामाङ्कविहारकृत्।
भूपचित्तोपमं स्तूपं जिनान् हेममयांस्तथा॥ ४।२११॥
ईशानदेव्या तत्पत्न्या खाताम्बुप्रतिपादितम्।
सुधारसमिव स्वच्छमारोग्यादायि रोगिणाम्॥ ४।२१२॥
संजग्राह स देशेभ्यस्तांस्तानन्तरविज्ञनान्।
विकचान्सुमनःस्तोमान्पादपेभ्य इवानिलः॥ ४।२२५॥
अमेयसारे मयि च स्वच्छमेवंविधोऽपि ते।
प्रयासः कुण्ठतां यातो लोह वज्रमणाविव॥ ४।२९८॥
निर्दैषेनैव सपरय पयः सूतेऽथ मेदिनी।
रसितेनाम्बुवाहस्य रत्नं वैडूर्यभूरिव॥ ४।३००॥
इत्युक्त्वा सोऽम्बु निष्क्रष्टुं कुन्तेनोर्वीमदारयत्।
वह्निर्हीर्णुर्वितस्ताम्भः शूलेनेव त्रिलोचनः॥ ४।३०१॥
सुते प्रणष्टे नगरे निःशोकोऽभून्महीपतिः।
स्वप्नाम्बुहारिते पुत्रे प्रबुद्धोऽम इवोचिते॥ ४।३१९॥
अनर्थैः सर्वदा रथ्यः स्वभेदैः प्रभविष्णुभिः।
चार्वाकाणामिवैषां हि भयं न परलोकतः॥ ४।३४५॥

इत्यादि राजतरङ्गिण्यां ललितादित्यवर्णने उपमायाः शुद्धमुदाहरणजातम्। एवमवैशाग्यराजवर्णने प्रबन्धान्तरेषु वा शुद्धाया उपमायाः कियान्विषय इति को नाम दर्शयितुमलम्। उपमैव चानेकालङ्कारबीजभूतेति तद्विदर्शनमेव कृतम्। एवमन्यालङ्काराणामपि सहस्रशोऽत्रोदाहरणत्वं सम्भवदपि ग्रन्थविस्तरभयान्न दर्शितम्। तस्मादेषामविषयत्वं प्रविरलविषयत्वं च न वाच्यम्। अविरलविषयत्वेऽप्युपमादीनां संसृष्टिसंकरयोरेव लक्षणीयतया प्राधिक्ये तावन्मात्रविषयस्वीकाराद्भवेषां पृथग्लक्षयितुमुचितत्वात्। एवं च 'न संसृष्टि'। पूर्वहानाच्चारुत्वाभावाच्चेत्याद्युक्तमयुक्तम्। अत एव च

'तस्मात्समस्तविषयप्रतिबन्धकारे संसृष्टसंकरयुगे दलिते विदूरम्।
प्राधान्यतः स्वविषयं सुविशालमाप्य सर्वोऽप्यलंकृतिगणो रमतां चिराय॥'

इत्याशीर्वचनमुक्तमपि निष्प्रयोजनम्।

नन्वेवं यद्यलङ्कारान्तरत्वं युक्तं तदेक एव संसृष्टिः संकरो वास्तु, किं द्वाभ्यामित्याशङ्क्याह—[अलङ्कारान्तरत्वेऽपि चेति।] श्रीभोजदेवेन पुनर्भेदस्य स्फुटास्फुटत्वमाश्रित्य नानालंकारसंकरः संसृष्टिरिति संकीर्णमात्राभिप्रायेण संसृष्टयाख्य एक एवालंकार उक्तः।

अधुना = अब = अवसर आने पर। **एषाम्** = इनके = पूर्वकथितों के। **तत्र** = उनमें = दोनों अलंकारों में। **तस्यैव** = उसके = भेद के। स्फुटत्व और अस्फुटत्व स्पष्ट ही हैं। इसीलिए तिलतण्डुलन्याय और क्षीरनीरन्याय प्रस्तुत किए गए। **एषाम्** = इत्यादि [सूत्र]। इसी का उपपादन करने का उपक्रम करते हैं—'उक्त'—इत्यादि द्वारा। इन दोनों पक्षों में से 'भिन्न अलंकार' का पक्ष ही दृष्टान्त द्वारा सिद्धान्तपक्ष सिद्ध करने हेतु कहते हैं—तत्र इत्यादि।

संघटनाकृतम् = संघटना से निष्पन्न—संघटना का अर्थ है दो या दो से अधिक अलंकारों का एक ही स्थान पर विनिवेश। उससे निष्पन्न अर्थात् उससे उत्थापित। **चारुत्वान्तर** = एक एक अलंकार के निवेश से होने वाले चारुत्व से भिन्न सातिशय चारुत्व। **उपलभ्यते** = उपलब्ध होती है = स्वसंविति अपनी स्वयं की बुद्धि से प्रमाणित वस्तु के रूप में साक्षात्कार का विषय बनती है। **तेन** = इस कारण = भिन्न चारुत्व के उपलब्ध होने के कारण। अभिप्राय यह कि यदि विषयभूत अलंकार में अतिशय न हो तो उसकी उपलब्धि में अतिशय नहीं आ सकता।

शंका होती है कि—'शब्द और अर्थ के अलंकारों की संघटनामात्र को लेकर अलंकार में भिन्नता कैसे बतलाई गई, क्योंकि इनका ज्ञान भिन्न-भिन्न समय में होता है [साथ नहीं, परिणामतः] ये एक ज्ञान का विषय नहीं बन पाते, [परिणामतः] इनमें कोई भिन्न चारुत्व नहीं रहता। यदि इनमें संघटना मान भी ली जाए तो—

'*अलंकार में चारुत्व, संवित्तिभूमिका पर उसी प्रकार सर्वथा भिन्न सिद्ध होता है जिस प्रकार इक्षु, दूध, गुड़ आदि में माधुर्य।*'

इस वचन के अनुसार चारुत्वबोध भिन्नतापूर्वक ही होता है, फलतः [अलंकारों में] भिन्नता मानना ही उचित है। इसके अतिरिक्त इन [अलंकारों] में उस प्रकार संघटनाजनित भिन्न चारुत्व भी नहीं मिलता जिस प्रकार लौकिक अलंकारों में मिलता है। [जैसा कि रत्नाकरकारने कहा है—] ऐसा नहीं है कि [सफेद] मोती, [लाल] पद्मराग और [नीले] इन्द्रनील आदि [की संघटना] के समान अनुप्रास [आदि शब्दालंकार तथा] उपमा आदि [अर्थालंकारों] [की संघटना] में परस्पर में कोई परभाग [गुणोत्कर्ष, भिन्न रंगों के मिश्रण से उत्पन्न विशिष्ट छवि] भासित नहीं होता। यह इसलिए कि शब्द जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है अर्थ उस इन्द्रिय से गृहीत नहीं होता, फलतः दोनों विजातीय हैं।'

[समाधान] यह [शंका] असत् = ठीक नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार स्थाली [बटलोई], जल, अग्नि, रत (स) तथा चावल आदि जब अलग अलग रहते हैं तब उनमें समत्वबोध नहीं होता क्योंकि उनमें समग्रसन्निधान [अपेक्षित सभी पदार्थों का जुट जाना] नामक धर्म का स्वतन्त्र रूप से बोध होता है, किन्तु जब वे एकत्रित हो जाते हैं तब होने लगता है, उसी प्रकार अलंकार भी भले ही भिन्न भिन्न समय में प्रतीत होते हों, संघटनाशक्ति उनमें विद्यमान पूर्वापर भाव [आगे पीछे करके भिन्न भिन्न समय में प्रतीत होने रूपी धर्मों को] अभिन्न बना देती है। तब वे एक ही ज्ञान के विषय बनते हैं। इस प्रकार उनमें परस्पर संबन्ध भासित होता ही है जिसे संसृष्टि और संकर नाम से पुकारा जा सकता है। इसके अतिरिक्त रूप में भेद होने पर भी संबन्ध न टूटने से एकरूपता आ जाती है। जैसे 'चित्रपत्रक' [विविध रंगों के बेलबूटों से सुसज्जित फलक या कालीन] में। जिस प्रकार चित्रास्तरण [उपर्युक्त प्रकार के फलक या कालीन या रंगवल्ली जैसे मंडन] आदि में [बने] अन्य पदार्थों के आकारों से [उसका] अपना आकार भिन्न रहता है तथापि भिन्नता का भान नहीं होता, फलतः उदकघट [पूर्णकुम्भ] आदि से चित्रित रूप में हुए [चित्रास्तरण] का बोध होता है, [अर्थात्] वस्तु का रूप अनेक प्रकार का [चित्ररूप] होते हुए भी एक ही प्रकार का भासित

होता है, उसी प्रकार भिन्न भिन्न समय में प्रतीत होने वाले अलंकारों में भी संघटितरूप से प्रतीत होने पर एकरूपता का बोध होता है। इस प्रकार उनमें संसृष्टि आदि को भिन्न अलंकार मानना ठीक ही है। जहाँ तक इक्षु आदि का सम्बन्ध है उनमें से प्रत्येक की मिठास अवश्य ही भिन्न रहती है तथापि सबके मिला देने पर पानकरस आदि नामक अन्य ही पदार्थ बन जाते हैं और आस्वाद भी नवीन ही होता है, उसी प्रकार इन अलंकारों में भी। इस प्रकार [संसृष्टि संकर को] भिन्न अलंकार मानना उचित ही है। इनमें जो एक अतिशायी सौन्दर्य प्रतीत होता है उसको शपथप्रत्येय अर्थात्—'तुम्हें कसम है यदि तुम यह न कहो कि मुझे इस वस्तु का ज्ञान हो रहा है—' इस प्रकार कसम देकर सिद्ध की जाने वाली वस्तु न मानें, क्योंकि जहाँ कहीं एक, दो या अनेक अलंकारों का ज्ञान होता है वहाँ सौन्दर्य बढ़ता हुआ अनुभव में आता है, इस प्रकार उनमें होने वाला सौन्दर्यातिशय स्वानुभवसिद्ध है।

अलंकारों में जो संघटना प्रतीत होती है वह एक ही वाक्य तक सीमित रहती है अथवा किसी भी एक छन्द तक, कुलक [अनेक पद्यव्यापी एक वाक्य] आदि तक व्याप्त नहीं, क्योंकि वहाँ प्रथम और अन्तिम ज्ञान में अत्यन्त दूरी हो जाने से वह संघटना सम नहीं पाती। जैसा कि कहा है—'वाक्यार्थ में भेद हो जाने पर भी यदि श्लोक एक रहता है तो उसमें एक अलंकार का अन्य अलंकार के साथ सहभाव भासित होता ही है, क्योंकि वे दोनों दूर नहीं पड़ते, [किन्तु] श्लोक भी यदि विभिन्न हो जाते हैं तो भिन्न वाक्य में रहने वाले अलंकारों का सहभाव नहीं रह पाता क्योंकि वे व्यवहित हो जाते हैं। फलतः वहाँ संसृष्टि नहीं होती। [इससे निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि] यदि कुलक आदि में भी वाक्य एक ही रहे [बदले नहीं] और उसके बोध में अखण्डता रहे तो वहाँ भी संसृष्टि आदि स्वीकार करने में कोई दोष नहीं।

[पुनः] शंका होती है कि [उपर्युक्त] समूहालम्बन या चित्रज्ञान में अखरोट आदि सभी पदार्थ एक ही इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होते हैं, अतः वे समानजातीय हो जाते हैं, फलतः वे एक ज्ञान का विषय बन जाते हैं, और इसलिए उनमें समग्रता आदि एक भिन्न वस्तु का ज्ञान होना संभव है। [जहाँ तक अलंकारों का सम्बन्ध है] यहाँ तो शब्द और अर्थ भिन्न भिन्न इन्द्रियों से गृहीत होते हैं अतः विजातीय होते हैं, अतः ये एक ज्ञान का विषय नहीं बन पाते, अत एव इनके अलंकारों का भी एक साथ ज्ञान होना संभव नहीं होता। इस प्रकार इनमें [संसृष्टि =] समर्ग आदि एक किसी [भिन्न] वस्तु का ज्ञान ही कैसे माना जा सकता है जिसे संसृष्टि आदि भिन्न अलंकार के नामसे पुकारने योग्य कहा जा सके।' इस [शंका] पर [हमारा] उत्तर यह है—'जहाँ तक केवल शब्द के अलंकारों का सम्बन्ध है उनके आधारभूत सभी शब्द एक ही श्रोत्र इन्द्रिय से जाने जाते हैं। इस कारण इनके अलंकारों का ज्ञान भी एक ही इन्द्रिय से हो सकता है फलतः इनकी सजातीयता में तो कोई विवाद = मतभेद नहीं हो सकता। और इसीलिए कि इन अलंकारों का ज्ञान एक रूप होता है और इनकी प्रतीति एक साथ होता है इनमें संसर्ग नामक अतिरिक्त वस्तु का बोध भी माना जा सकता है। इसी प्रकार इन अलंकार का 'संचय' = एकज्ञानविषयत्व मान लेने पर इनमें सौन्दर्यातिशय [एक अतिरिक्त सौन्दर्य] भी उत्पन्न होता माना जा सकता है, और इसलिए यहाँ संसृष्टि आदि अलंकार माने जा सकते हैं। इसी प्रकार अर्थ का ज्ञान भी शब्द के द्वारा होता है अतः इसके अलंकार भी सजातीय होकर संसृष्ट रूप से प्रतीत होते हैं फलतः उनमें भी संसृष्टि आदि अलंकार माने जा सकते हैं। जहाँ तक शब्द और अर्थ इन दोनों के सहबोध का सम्बन्ध है इनमें से प्रत्येक का ज्ञान यद्यपि भिन्न भिन्न उपायों [श्रोत्रेन्द्रिय तथा मन] से होता है [अतः ये अवश्य ही विजातीय हैं] तथापि उनके अलंकारों का ज्ञान ठीक उसी प्रकार एक साथ होना संभव है जिस प्रकार सुगन्धी बन्धूक पुष्प के ज्ञान में [सुगन्ध का ज्ञान घ्राणेन्द्रिय से

तथा पुष्प का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय से होने पर भी क्योंकि इन्द्रियाँ मन से अधिष्ठित होकर विषय का ज्ञान करती हैं अतः] जो मानस ज्ञान होता है उसमें मन का विषय दोनों ही समान रूप से बनाते हैं फलतः दोनों पदार्थों का बोध एक साथ हो जाता है। इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों के संसर्ग में लौकिक अलंकारों के ही समान विशेषता का लाभ होता ही है अतः उनमें एक भिन्न चारुत्व का बोध भी होता ही है, और इसीलिए इनका संसृष्टि आदि नामक अलंकारत्व भी युक्तियुक्त है और [रत्नाकरकार आदि अन्य आचार्यों ने शब्द और अर्थ को विजातीय बतलाते हुए यह हेतु दिया था कि दोनों का ज्ञान भिन्न भिन्न इन्द्रियों से होता है वह भी उपेक्षणीय है, क्योंकि काव्य का शरीर शब्द और अर्थ के युग्म से जो बना हुआ माना जाता है। उसमें अर्थ शब्द से प्रतिपादित होकर ही अङ्ग बनता है। इसलिए अर्थ के उस रूप का काव्य में कोई उपयोग नहीं रहता जो बाह्य [अर्थात अबोद्ध] और [इसीलिए] चक्षुरिन्द्रियग्राह्य होता है।

[रत्नाकरकार ने जो यह कहा है कि] यदि ऐसा है [अर्थात् उपर्युक्त क्रम से संसृष्टि और संकर को भिन्न अलंकार मान लिया जाता है] तो पूर्वलक्षित अनुप्रास और उपमा आदि का अभाव ही जाएगा, क्योंकि ऐसा एक भी अलंकार न होगा जो असंकीर्ण हो, फलतः सर्वत्र संसृष्टि और संकर ही अलंकार मान लिए जाएँगे और उन [अनुप्रास उपमा आदि] का कोई स्थान ही न रहेगा—

यह ठीक नहीं, क्योंकि असंकीर्ण अलंकारों के सहस्रों उदाहरण देखे जाते हैं और दिए जा चुके हैं]। उदाहरणार्थ—

'उस [ललितादित्य] की सेना यशोवर्मा को लाँघकर पूर्वसागर में वैसे ही सुखपूर्वक जा घँसी जिस प्रकार हिमाचल को लाँघकर गंगा ॥ राज० ४।१४६ ॥

उत्तर कुरु जनपद के निवासी उसके भय से उन्म [जन्तु] पादपों [जन्तुपादप = केवड़ों में] उसी प्रकार जा घुसे जिस प्रकार गरुड के त्रास से बड़े बड़े सर्प बिल में ॥ ४।१७५ ॥

इसके पश्चात् जय से धन अर्जित कर चुका वह अपने राज्य में पहुँचा, जैसे विदारित गजों के मौक्तिकों से भरे हुए पंजे वाला सिंह पर्वत में पहुँचता है ॥ ४।१७६ ॥

तत्पश्चात् कुबेरतुल्य उस राजा ने कहीं चाँदी और कहीं सोने की देवप्रतिमाएँ मुख्य देव प्रतिमाओं के पार्श्व भागों में स्थापित कराई ॥४।२०५ ॥

तुःखार देश के निवासी चङ्कुण ने, जिसने अपने नाम से अंकित [चङ्कुणनाम का] विहार बनवाया था, राजा [ललितादित्य] के चित्त जैसे [सुविशाल] स्तूप और वैसी ही सुवर्ण की जिन-प्रतिमाएँ बनवाईं ॥ ४।२११ ॥

उस [ललितादित्य] की पटरानी ईशान देवी ने सुधारस के समान स्वच्छ तथा रोगियों को आरोग्य प्रदान करने वाला खाताम्बु [खोदे हुए तालाब आदि के जल] की व्यवस्था की ॥ ४।२१२ ॥

उसने उन उन देशों से उनकी भीतरी विशेषता जानने वाले व्यक्तियों का संग्रह किया जैसे वृक्षों से खिले पुष्पपुञ्ज का संग्रह वायु करता है ॥ ४।२४५ ॥

[हे शत्रुमन्त्रिन् निर्जल मरुपथ में प्रवेश कराकर हमें सेनासहित नष्ट करने का] तुम्हारा यह इस प्रकार का [स्वयं के नाक कान कटवाकर मेरे प्रिय बनने और अपने राजा के लिए मुझको ही मरुपथ में भटकाने का धोखे का] प्रयास भी मुझ अमेधसार पर उसी प्रकार कुण्ठित हो गया है जिस प्रकार वज्रमणि [हीरे] पर लौह ॥ ४।२९८ ॥

देख, केवल आशामात्र से [यही] पृथ्वी वैसे ही पानी पैदा कर देगी जैसे मेघगर्जन से वैदूर्य भूमि रत्न पैदा कर देती है ॥ ४।२०० ॥

[तुलनीय—'विदूरभूमिर्नवमेघशब्दादुद्भिन्नया रत्नशलाकयेव' कुमारसंभव—१] ॥

ऐसा कहकर पानी निकालने के लिए भाले से उसने पृथ्वी को उसी प्रकार विदारित किया जिस प्रकार जल निकालने के लिए शिवजी ने वितस्ता को शूल से विदारित किया था ॥४।२०१॥

['मदिरामद में ललितादित्य ने प्रवरपुर की सुन्दरता पर ईर्ष्या कर उसे जला डालने की आज्ञा मन्त्रियों को दी। मन्त्रियों ने उस नगर के पास फूस में आग लगाकर प्रासाद के ऊपर बैठकर देख रहे ललितादित्य को झूठा नगरदाह दिखला दिया। नशा उतरने पर दुःखी हो रहे उससे मन्त्रियों ने प्रवरपुर के सुरक्षित रहने की बात कही तो—] उस नगर को रक्षित सुनकर राजा का शोक हट गया, जैसे स्वप्न में पुत्र के अपहरण का शोक जागने पर उसे सामने खड़ा देख हट जाता है ॥ ४।३१९ ॥

[उत्तरापथ के विजय के लिए बहुत दिनों से निकले राजा ललितादित्य का उसके पास भेजे दूत के द्वारा मन्त्रियों को उसकी अनुपस्थिति में राष्ट्ररक्षा के लिए सुझाया गया मन्त्र—] आप लोग यहाँ के राजाओं से अपना भेद रक्षित रखें। चार्वाकों के समान इन्हें परलोक [शत्रुपक्ष में पर = शत्रु, लोक = लोग] से भय नहीं है ॥ ४।३४५॥'

इत्यादि राजतरङ्गिणी में ललितादित्य के वर्णन में उपमा के शुद्ध [अलङ्कारान्तर से असंकीर्ण] उदाहरण हैं [अन्तिम पद्य में परलोकपद श्लिष्ट है तथापि वह उपमा का अंग है, स्वयं अलंकार नहीं]। इसी प्रकार इसी [राजतरङ्गिणी] में अन्य राजाओं के वर्णन के प्रसंग में अथवा अन्य ग्रन्थों में शुद्ध उपमा का क्षेत्र कितना व्यापक है इसे कौन दिखला सकता है। उपमा ही अन्य अलंकारों का बीज है इसलिए उसीके उदाहरण दिखलाए। इसी प्रकार अन्य अलंकारों के भी सहस्रों उदाहरण यहाँ बतलाए जा सकते हैं तथापि ग्रन्थगौरव के भय से उन्हें नहीं दिखलाया गया। इसलिए [अलंकाररत्नाकरकार आदि को] इन अलंकारों का अभाव या इनकी कमी की बात नहीं उठानी चाहिए। इसी प्रकार यदि उपमा आदि के स्थल बहुत कम भी हों तब भी केवल संसृष्टि और संकर के ही लक्षण करने की आपत्ति नहीं उठती, क्योंकि यदि इन [उपमा आदि] का क्षेत्र उतना कम भी मान लिया जाय तब इनका पृथक् लक्षण तो बनाना ही होगा। इस प्रकार [अ० रत्नाकरकार ने]—'संसृष्टि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उसे मानने पर पूर्वप्रतिपादित अलंकारों का अभाव मानना होगा और उसमें कोई पृथक् सौन्दर्य का भी अनुभव नहीं होता—' [सूत्र = १११] इत्यादि जो कुछ कहा था वह युक्तिहीन और अमान्य है। और इसीलिए [अ० रत्नाकरकार का संसृष्टि और संकर का खण्डन करने के पश्चात् बनाया गया जो]—

—'इस कारण सभी अलंकारों का अभाव कर देने वाले 'संसृष्टि और संकर'—इन दोनों का जब भलीभाँति निराकरण कर दिया गया तब अब अपना-अपना विशाल क्षेत्र प्राप्त कर और उसमें प्रधानरूप से विद्यमान रहकर सभी अलंकार सदा के लिए आनन्द करें।'—

यह आशीर्वादात्मक पद्य है यह भी निष्प्रयोजन सिद्ध होता है।

प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि उपर्युक्त क्रम से [अलंकारों के योग में] भिन्न ही अलंकार मानना है तो 'संसृष्टि या संकर'—इन दोनों में से कोई एक ही अलंकार मान लिया जाय, दोनों क्यों माने जाते हैं।' इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं—अलंकारान्तरत्वेऽपि च'। यद्यपि महाराज भोज ने [सरस्वतीकण्ठाभरण ४।८८—९० में] नाना अलंकारों का स्फुटत्व और

अस्फुटत्व इस प्रकार दो भेदों से युक्त संकर ही संसृष्टि है'—

[संसृष्टिरिति विज्ञेया नानालंकारसंकरः ।
सा तु व्यक्ता तथाऽव्यक्ता व्यक्ताव्यक्तेति च त्रिधा ॥
तिलतण्डुलवद् व्यक्ता छायादर्शवदेव च ।
अव्यक्ता क्षीरजलवद् पांसुपानीयवच्च सा ॥
व्यक्ताव्यक्ता च संसृष्टिर्नरसिंहवदिष्यते ।
चित्रवर्णवदन्यस्मिन् नानालंकारसंकरे ॥ स० क० ४।८८-९० ॥

अर्थात्–'नाना अलंकारों का संकर संसृष्टि नामक अलंकार जानना चाहिए। यह संसृष्टि व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त इस प्रकार से तीन प्रकार की होती है। इनमें तिलतण्डुल सा संकर व्यक्त संसृष्टि कहलाता है अथवा दर्पण और प्रतिबिम्ब का। नीरक्षीर और मिट्टी पानी का सा संकर अव्यक्त संसृष्टि कहलाता है तथा नरसिंह या चित्रवर्ण के समान संकर व्यक्ताव्यक्त]'—इस प्रकार संकीर्णतामात्र को लेकर संसृष्टि नामक केवल एक ही अलंकार बतलाया है।

[सर्वस्व]

तत्र तिलतण्डुलन्यायेन भवन्ती संसृष्टिस्त्रिधा। शब्दालंकारगतत्वेन, अर्थालंकारगतत्वेन, उभयालंकारगतत्वेन च। तत्र शब्दालंकारसंसृष्टिर्यथा—

'वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया ॥'

अत्रानुप्रासयमकयोर्विजातीययोः संसृष्टिः। अत्रैव 'अलकलोलकलोल' इति, तथा 'कलोलकलोल' इति सजातीययोर्यमकयोः संसृष्टिः। अर्थालंकार-संसृष्टिर्यथा—

'देवि क्षपा गलति चक्षुरमन्दतार-
मुन्मीलयाशु नलिनीव सभृङ्गमब्जम्।
एष त्वदाननरुचेव विलुण्ठ्यमानः
पश्याम्बरं त्यजति निष्प्रतिभः शशाङ्कः ॥'

अत्र विजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः।

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्निष्फलतां गता ॥'

अत्रोत्प्रेक्षयोः सजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोर्विजातीययोश्च संसृष्टिः। उभयसंसृष्टिर्यथा—

'आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं
मौलौ हठेन निहितं महिषासुरस्य।
पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु-
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥'

अत्रोपमानुप्रासयोः संसृष्टिः। पादाम्बुजमित्यत्र ह्युपमाया मञ्जीर-

शिञ्जितयोगो व्यवस्थापकं प्रमाणम्। स हि रूपके प्रतिकूलः पारिशेष्यादुपमां प्रसाधयति। तदेवं संसृष्टिस्त्रिधा निर्णीता।

दोनों में तिलतण्डुल के मिश्रण के समान होने वाली संसृष्टि तीन प्रकार की होती है—शब्दालंकारगत, अर्थालंकारगत तथा उभयालंकारगत। इनमें शब्दालंकारगत संसृष्टि यथा वदन-सौरभलोभ इत्यादि पद्य [इसका अर्थ है]

—'मुख की सुगन्धि के लोभ से घूमते भ्रमर के भय से अधिक सुशोभित हो रही अलकों के साथ चंचल चितवन वाली अन्य किसी चंचल सुन्दरी ने सुन्दर मेखला का कलकल रव किया।' इस पद्य में [वदनसौरभलोभ आदि पूर्वार्ध में] अनुप्रास और ['लकलोऽलकलो'-में उत्तरार्धगत] यमक की संसृष्टि है जो दोनों भिन्न दो अलंकार हैं। इसी पद्य में 'अलकलोलकलोल' में ['लकलो लकलो'-पद] तथा 'कलोलकलोल' में दो यमकों की संसृष्टि है जो दोनों सजातीय हैं [अर्थात् दोनों के लक्षण एक हैं]। अर्थालंकारसंसृष्टि जैसे—

'देवि! रात ढल रही है, चंचल तारा वाली आँख खोलो जैसे नलिनी भौंरे वाला कमल खोल रही है। देखो यह शशाङ्क मानो तुम्हारे मुख की कान्ति से लुट कर निष्प्रभ होकर आकाश छोड़ रहा है।'—

यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है जो दोनों भिन्न भिन्न अलंकार हैं।

'अन्धकार अंगों को लीप सा रहा है, आकाश काजल बरसा सा रहा है। दृष्टि असत्पुरुष की सेवा की भाँति विफल हो गई है।'—

[पूर्वार्ध में 'लिम्पतीव' तथा 'वर्षतीव' इन] दो उत्प्रेक्षाओं की संसृष्टि है जो दोनों सजातीय हैं [अर्थात् जिनके लक्षण अभिन्न हैं] साथ ही उपमा और उत्प्रेक्षा की भी संसृष्टि है जो दोनों विजातीय [परस्पर में] भिन्न अलंकार हैं दोनों [शब्दालंकार तथा अर्थालंकार] की संसृष्टि, यथा—

'अम्बिका का, आनन्द से मन्थर पुरन्दर द्वारा पुष्पों से पूजित, महिषासुर के सिर पर बलात् निहित तथा मञ्जु मञ्जीर के शिञ्जित से मनोहर पादाम्बुज हमारे लिए विजयप्रद हो।'

यहाँ उपमा और अनुप्रास की संसृष्टि है। पादाम्बुज में [उपमितसमास के द्वारा 'पाद अम्बुज के तुल्य' इस प्रकार] उपमा है, इसका निर्णायक प्रमाण है मञ्जीरशिञ्जित का संबन्ध [जो पाद में ही सम्भव है अम्बुज में नहीं, और पाद उपमितसमास में ही प्रधान हो सकता है, विशेषणसमास मानकर रूपक मानने पर प्रधान होगा अम्बुजपदार्थ, जिसमें मञ्जीररव संभव नहीं होगा। इस प्रकार] वह रूपक के प्रतिकूल है फलतः शेष बची उपमा की सिद्धि कराता है। इस प्रकार संसृष्टि तीन प्रकार की होती है यह निश्चित रहा।

विमर्शिनी

विजातीययोरिति। यमकानुप्रासयोर्भिन्नलक्षणत्वात्। अत्र च प्रधानस्यानुप्रासस्य परिपोषकत्वेनाङ्गं यमकमिति संकरोदाहरणं न वाच्यम्। अत्र हि यमकसर्गस्योपक्रान्तत्वात् तत्रैव कवितुः संरम्भातिशयाद्यमकस्य प्राधान्यमित्यनुप्रासस्य यमकं प्रति परमङ्गत्वं युक्तं, न पुनर्विपर्ययः। सकलवाक्यव्यापिनोऽप्यनुप्रासस्य प्राधान्येनाविवक्षणात्। नाप्यत्र परस्परमङ्गाङ्गिभावो युक्तः। इह हि निमित्तनिमित्तिभावेनोपकार्योपकारकभावेन चेति द्विधाङ्गाङ्गिभावः। तत्राद्यो द्विधा। सार्वत्रिकः, प्रादेशिकश्चेति। तत्र सार्वत्रिको यथा विभावनातिशयोक्त्योः। 'आश्लिष्टातिशयोक्तिस्तु सर्वत्रैव विभावना' इति दृशा विभा-

वनायाः सर्वत्रैवातिशयोक्त्यपेक्षत्वात्। प्रादेशिको यथा, श्लेषातिशयोक्त्योः। 'रजनीमुखम्' इत्यादौ क्वचिदेव श्लेषवशेनातिशयोक्तेरुत्थानात्, 'कमलमनम्भसि' इत्यादौ श्लेषमन्तरेणापि तस्याः संभवात्। एतद्भेदद्वयं च न संकरस्य विषयः। तत्र स्वहेतुबलाल्लब्धसत्ताकानामलंकाराणां संसर्गे वक्ष्यमाणत्वात्। द्वितीयो यथा—'अङ्गुलीभिरिव' इत्यादौ। अत्र हि स्वस्वहेतुबलेन लब्धसत्ताकानामुपमादीनां परस्परमुपकार्योपकारकत्वमात्रं येनाङ्गाङ्गिभावः। न ह्यत्रोपमयोः परस्परं स्वरूपनिष्पत्तावपेक्षा काचित्। एकतराभावेऽप्येकस्याः स्वरूपोत्थानात्। एवमुपमाद्वयपरिहारेण केवलाप्युत्प्रेक्षा स्यात्। स्थितानां पुनरेषामियं चिन्ता यच्चुम्बने केशग्रहणादेरुचितत्वादुपमाद्युपकारकमुत्प्रेक्षा चोपकार्या येनाङ्गाङ्गिभावः। एवं च—'तेन प्रधानतायामुपमादीनां निजं निजं नाम।

अङ्गत्वे पुनरेषां संकरधीर्नाङ्गिभावेऽपी'त्याद्यन्यैरयुक्तमेवोक्तम्।

इह पुनर्यमकानुप्रासयोर्न निमित्तनिमित्तिभावः। सर्वत्रैवानयोः स्वरूपनिष्पत्तावन्योन्यानपेक्षत्वात्। तत्त्वेऽपि समनन्तरोक्तयुक्त्या संकरायोगात्। न च स्वहेतुभ्यो लब्धसत्ताकयोरप्यनयोः परस्परमङ्गाङ्गिभावः, शब्दालंकारयोः शब्दवदुपकारकत्वाभावात्। अथ वर्णसावर्ण्येन वैचित्र्यातिशयाधायकत्वेनानयोरुपकार्योपकारकभाव इति चेत्, न। इयमेव हि संसृष्टिर्यद् द्वयोर्बहूनां वालंकाराणां परस्परनिरपेक्षाणामपि संसर्गे सति चारुत्वातिशयप्रतिपत्तिः।

एवमर्थालंकारसंसृष्टावपि संकरोदाहरणत्वं न वाच्यम्। न हि तत्रोपमोत्प्रेक्षयोः परस्परमुपकार्योपकारकभावाद्यात्माङ्गाङ्गिभावः। यद्येवं दृषदाडिमादिवाक्यवदनयोरसंबद्धत्वं स्यादिति चेत्, न। चक्षुरुन्मीलनात्मके एकस्मिन्नेव प्रधानेऽर्थे द्वयोरपि संबद्धत्वात्। न च पाकलक्षणमेकमेवार्थमुररीकृत्य व्यवस्थितानां स्थाल्यादीनामप्यन्यः कश्चित्संबन्धः। अथोपमाक्षिप्तस्य चक्षुरुन्मीलनस्योत्प्रेक्षाश्लिष्टः शशाङ्काम्बरत्यागः पारम्पर्येण हेतुत्वेनोपनिबद्ध इति स्वाश्रयभूतार्थद्वयोरप्यङ्गाङ्गिभावोऽस्तीति चेत्, नैतत्, उपमाद्याक्षिप्ताभावेऽपि चक्षुरुन्मीलनादेर्हेतुहेतुमद्भावानतिपातात् अवस्थितत्वे वा तयोरुक्तयुक्त्या परस्परं सम्बन्धाभावात्। नाप्यत्रोपमाया वाक्यार्थत्वम्। तस्या अप्युत्प्रेक्षादिवच्चक्षुरुन्मीलनाङ्गत्वेनावस्थानात्। अत्र हि चक्षुरुन्मीलनस्यैव वाक्यार्थत्वम्। शशाङ्काम्बरत्यागोपपादितस्य चपालजनस्य तं प्रत्येव हेतुत्वेनोपनिबन्धात्। एवं परं प्रत्युपसर्जनीभूतयोरचान्तरसंबन्धाभावेऽप्युपमोत्प्रेक्षयोः संसर्गे सति चारुत्वातिशय इति यथोक्तमेव संसृष्ट्युदाहरणत्वं युक्तम्। एवम्—

'अन्योन्यसंबन्धविवर्जितानामलंकृतीनां विनिवेशनं चेत्।
असम्बितत्वाद्दृशदाडिमादिवाक्यादिवद् दूषणमेव तर्हि॥
अथान्वयोऽस्त्येव परस्परं तद्गुणप्रधानत्वमवश्यमेष्यम्।
तदा न संसृष्टिकथा गुणस्य पराङ्गतायां खलु संकरः स्यात्॥
एकत्र चेदङ्गिनि संगतं स्याद् द्वयं तदन्योन्यसमीलनेन।
न संकरोऽन्यापि नवा गुणत्वे कार्यान्तरोत्पादनशक्तिभङ्गात्॥

इत्याद्युपेक्षणीयमेव। न चात्रोभयमप्यलंकार इत्यार्थोऽलंकारसमुच्चय इति वाच्यम्, 'धर्मयौगपद्यमन्यस्यापि तत्करत्वं च समुच्चय' इत्युक्त्या भवन्मतेऽप्यलंकारयौगपद्यस्य तल्लक्षणत्वाभावात्। तथात्वाभ्युपगमे चायं नास्ति विवादः। एवं हि संसृष्ट्या किमपराद्धम्। अत्र 'चोद्यं करिष्यामि' इत्याशयेन 'सजातीययोरुपमयोः संसृष्टिरित्ययुक्तं' पठित्वा यदन्यैरुक्तं तदुपेक्ष्यमेव। अत्र हि

विजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिरिति सर्वत्रैव सुस्पष्टः पाठः । उत्प्रेक्षयोरिति । प्रथमार्धगतयोः । यद्यपि चानयोर्द्वितीयार्धगतयाप्युपमया संसर्गे संसृष्टिरेव, तथापि विजातीययोरुपमोत्प्रेक्षयोरुदाहृतत्वात् सजातीयाभिप्रायेणैवमुक्तम् । नाप्यत्रोत्प्रेक्षाद्वय-मुपमाहेतुभूतमिति वाच्यम्, त्रयाणामप्यलंकाराणां वाक्यार्थीभूतं तमोवाङ्मुखयं प्रत्यङ्गत्वात् । उभयसंसृष्टिरिति । अनुप्रासोपमयोः शब्दार्थालंकारत्वात् । व्यवस्थापकमिति । मञ्जीरशिञ्जितयोगस्य पादगतत्वेनोचितयात् । प्रतिकूल इति । अन्युत्रस्य मञ्जीरशिञ्जिता-योगात् । पारिशेष्यादिति । उपमारूपकाभ्यामन्यस्याप्राप्तेः । एतदेवोपसंहरति—तदेव-मित्यादि । द्विधेति । यद्यपि सजातीयविजातीयत्वेनान्यदप्यस्याः संभवति भेदद्वयम्, तथा-पि तद्दृद्दिदृत्स्वयंवान्तर्भवतीति यथोक्त एवायमुपसंहारः ॥

विजातीय=क्योंकि यमक और अनुप्रास के स्वरूप भिन्न भिन्न हैं। [रत्नाकरकार ने इस 'वदनसौरभ०' पद्य में संकरालंकार मानते हुए कहा है कि] 'यहाँ अनुप्रास प्रधान है और यमक उसका परिपोषक है अतः उसका अंग है अतः यहाँ संकर है'—ऐसा [उन्हें] नहीं कहना चाहिए। यहाँ तो यमक ही का उपक्रम है, क्योंकि कवि का अतिशय संरम्भ उसी पर है। अतः यमक ही प्रधान है। इस कारण [अंगाङ्गिभाव ही बतलाना है तो] अनुप्रास को ही यमक का अंग बतलाना उचित होगा, तद्विपरीत [यमक को अनुप्रास का अंग बतलाना] नहीं। क्योंकि अनुप्रास यद्यपि पूरे वाक्य में व्याप्त है तथापि उसमें प्रधानता की विवक्षा नहीं है। यहाँ परस्पर में भी अंगाङ्गिभाव मानना ठीक नहीं होगा। क्योंकि यहाँ अंगाङ्गिभाव दो प्रकार का होता है एक तो निमित्तनिमित्तिभावजनित और दूसरा उपकार्योपकारकभावजनित। दोनों में प्रथम दो प्रकार का होता है सार्वत्रिक तथा प्रादेशिक। उनमें सार्वत्रिक जैसे विभावना और अतिशयोक्ति में। क्योंकि 'विभावना सदा ही अतिशयोक्ति से आश्लिष्ट रहती है'—इस उक्ति के अनुसार विभावना सदा ही अतिशयोक्ति की अपेक्षा रखती है। प्रादेशिक, जैसे श्लेष और अतिशयोक्ति का। क्योंकि रजनीमुख [रजनीरूपी नायिका का मुख और रात्रि का आरम्भ] इत्यादि स्थलों में कहीं कहीं ही अतिशयोक्ति श्लेष के बल पर खड़ी होती है, क्योंकि 'कमलम-नम्भसि'—इत्यादि स्थलों में वह श्लेषनिरपेक्ष होकर भी निष्पन्न होती दिखाई देती है। ये दोनों ही भेद संकर के विषय नहीं हैं। क्योंकि वह, जैसा कि आगे कहा जाने वाला है, अपने अपने कारणों से निष्पन्न हो चुके अलंकारों के ही संसर्ग में माना जाता है। दूसरा [उपकार्योपकार-कभावजनित अंगाङ्गिभाव] का उदाहरण है—'अङ्गुलीभिरिव०' इत्यादि [आगे आरहा पद्य]। इसमें उपमा आदि अलंकार अपने अपने हेतुओं के आधार पर निष्पन्न हो जाते हैं। तदनन्तर इनमें केवल उपकार्योपकारकभावमात्र आता है जिससे उनमें अंगाङ्गिभाव बनता है। यहाँ जो उपमाएँ हैं वे अपने स्वरूप की निष्पत्ति के लिए एक दूसरे की कोई अपेक्षा नहीं रखतीं। क्योंकि इनमें से किसी भी एक के बिना किसी भी अन्य उपमा की निष्पत्ति संभव है। इसी प्रकार यहाँ दोनों उपमाओं के बिना केवल उत्प्रेक्षा भी निष्पन्न हो सकती है। एक साथ आ जाने पर इनके विषय में यह विमर्श होता है कि चुम्बन में केशग्रहण आदि [अपेक्षित] होते ही हैं, अतः यह यहाँ उपमा आदि उपकारक हैं और उत्प्रेक्षा उपकार्य है और इससे इनमें अंगाङ्गिभाव चला आता है। और इस प्रकार अन्य आचार्य [रत्नाकरकार] ने—

'इस कारण उपमा आदि की प्रधानता रहने पर उन्हें अपने अपने नामों से पुकारा जाता है, इनमें संकर तब माना जाता है जब [अप्रधानता या] अंगता रहती है, ऐसा नहीं कि अंगी [प्रधान] होने पर भी वह [संकर] माना जाय।' [रत्नाकर—११२ सू० पृ० पंक्ति ८] इत्यादि गलत ही कहा था।

इस [वदनसौरभ० पद्य] में यमक और अनुप्रास में निमित्तनिमित्तिभाव संबन्ध नहीं है क्योंकि अपने स्वरूप की निष्पत्ति में ये एक दूसरे की अपेक्षा सर्वत्र ही नहीं रखते। रक्खें भी तो अभी-अभी बतलाई [पूर्वसिद्धि के योग में संकर होने की] युक्ति से उनमें संकर मानना संभव न होगा। न तो अपने-अपने हेतुओं से निष्पन्न हो चुके इन अलंकारों में अङ्गाङ्गिभाव ही संभव है क्योंकि शब्दगत अलंकारों में शब्द के साथ जैसे उपकार्योपकारकभाव रहता है वैसे आपस में नहीं रहता। यदि कहें कि वर्णों में साम्य निष्पन्न करने और चमत्कार में अधिकता लाने से इनमें उपकार्योपकारक भाव माना जा सकता है, तो वह भी अमान्य है [क्योंकि इस हेतु से तो यह संकर संसृष्टि ही सिद्ध होता है] क्योंकि इसी का नाम न संसृष्टि है कि दो या दो से अधिक अलंकारों का परस्पर निरपेक्ष रहते हुए भी संबन्ध हो जाने पर अतिशयित चमत्कार का निष्पन्न होना।

[रत्नाकरकार को] इसी प्रकार अर्थालंकार संसृष्टि के उदाहरणों को भी संकर के उदाहरण नहीं कहना चाहिये [रत्ना० पृ० १९७] क्योंकि उन उदाहरणों में जो उपमा और उत्प्रेक्षा हैं उनमें आपस में उपकार्योपकारकभावात्मक अंगाङ्गिभाव नहीं है। [शंका, रत्ना० पृ० १९७] यदि ऐसा है तो ये दोनों [अलंकार] 'दशदाडिम' आदि वाक्य के समान असंबद्ध हो जाएँगे। [उत्तर] नहीं। क्योंकि ['देवि क्षपा' इत्यादि पद्यमें] एक जो चक्षुरुन्मीलन रूप प्रधान अर्थ है उसमें [उपमा तथा उत्प्रेक्षा] दोनों ही संबद्ध हैं। पाक रूपी एक ही अर्थ के लिए एकत्रित बटलोई आदि का भी कोई अन्य संबन्ध नहीं होता। यदि कहें कि चन्द्रकृत उत्प्रेक्षायुक्त आकाशत्याग-रूपी अर्थ उपमायुक्त चक्षुरुन्मीलन रूपी अर्थ के प्रति परम्परया हेतु है, [इस प्रकार इन दोनों अर्थों में परस्पर में अंगाङ्गि भाव है] फलतः अपने आश्रयभूत अर्थों के समान ही इन [अलंकारों] में भी [हेतुहेतुमद्भाव रूपी संबन्ध अर्थात्] अंगाङ्गिभाव माना जा सकता है, तो वह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि चक्षुरुन्मीलन आदि [उपर्युक्त अर्थों] में जो हेतु-हेतुमद्भाव है वह उपमा आदि के न रहने पर भी बिगड़ता नहीं है, रहने पर भी उनमें उक्त युक्ति [दो अप्रधानों का संबन्ध संभव न होने] से संबन्ध नहीं बन पाता। न तो यहां उपमा में वाक्यार्थता [प्रधानता] ही है। क्योंकि वह भी उसी प्रकार चक्षुरुन्मीलन आदि के प्रति अंग बनकर उपस्थित है जिस प्रकार उत्प्रेक्षा आदि। वहाँ जो है सो चक्षुरुन्मीलन में ही वाक्यार्थता [प्रधानता] है, क्योंकि चन्द्रमा द्वारा आकाश के त्याग के द्वारा संपन्न निशावसान उसी [चक्षुरुन्मीलन] के प्रति हेतुरूप से उपस्थापित है। इस प्रकार माना कि अप्रधानों का परस्पर में संबन्ध नहीं होता तथापि उपमा और उत्प्रेक्षा के बीच, उनके अन्य के प्रति अंग और अप्रधान होने पर भी संबन्ध है, और उसके कारण [वाक्यार्थ में] अतिशय चारुत्व भी चला आता है, फलतः [सर्वस्वकार ने] जो [उपर्युक्त देवि क्षपा० आदि पद्यों को] संसृष्टि का उदाहरण बतलाया वे उसी के उदाहरण के रूप में मान्य हैं। इस प्रकार—

[अलंकाररत्नाकरकार द्वारा संसृष्टिविवेचन का उपसंहार करते हुए]

यदि अलंकारों का निवेश परस्पर में असम्बद्ध रूप से माना जाय तो वह संबन्धाभाव के कारण [अलंकार न होकर] 'दशदाडिम' आदि वाक्यों के समान दोष ही होगा।

और यदि परस्पर में [अन्वय] संबन्ध हो ही तो उनमें प्रधानता अप्रधानता भी अवश्य ही माननी होगी। और तब संसृष्टि की बात समाप्त हो जाएगी क्योंकि जो अप्रधान होगा वह दूसरे [प्रधान] के प्रति अंग होगा, अतः वहाँ [अंगाङ्गिभाव मूलक] संकर माना जाएगा।

यदि दोनों [अलंकारों] को किसी एक अंगी में अन्वित माना जाए तो वहां दोनों का [अंगी में] समीलन [एक साथ तिरोभाव] हो जाने से न तो संकर होगा, न अन्य

[संसृष्टि] ही, क्योंकि अप्रधानता आ जाने पर अन्य किसी कार्य की क्षमता नष्ट हो जाती है।'—

इत्यादि जो कहा गया है वह उपेक्ष्य ही है।

[अलङ्काररत्नाकरकार ने समुच्चिविवेचन के अन्त में जो यह कहा है कि] 'ऐसे स्थलों में दोनों ही [या सभी] अलंकार [अलंकार होते] हैं अतः यहाँ आर्थ समुच्चयालंकार मान लिया जाय' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि [रत्नाकरकार ने ही]—'धर्म का यौगपद्य [एकीकरण] तथा अन्य किसी में भी किसी कार्य की क्षमता समुच्चय' [सू० ८९] इस प्रकार समुच्चय का लक्षण माना है। इसके अनुसार आप [रत्नाकरकार] के मत में अलंकारों में यौगपद्य उस [समुच्चय] का लक्षण नहीं माना जाता। और यदि वैसा भी मान लेते हैं तो फिर विवाद केवल 'नाम [करण]' तक सीमित रहता है और तब संसृष्टि शब्द ने ही आप का क्या बिगाड़ा है।

इसी प्रकार अन्य किन्हीं सज्जनों ने केवल इस आशय से कि मैं आपत्ति निकालूँ 'दो सजातीय उपमाओं की संसृष्टि' ऐसा अशुद्ध पाठ अपनाकर यहाँ जो कुछ कहा है वह सर्वथा उपेक्षणीय है क्योंकि इस स्थल के मूल में सभी प्रतियों में 'विजातीय उपमा और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि'–यही पाठ स्पष्टरूप से मिलता है। [संजीविनीकार ने 'सजातीययोरुपमयोः' पाठ ही माना है]।

उत्प्रेक्षयोः=दो उत्प्रेक्षाओं की = अर्थात् पूर्वार्ध [के लिम्पतीव वर्षतीव' पदों] में। यद्यपि इन दोनों का उत्तरार्ध की उपमा से संसर्ग होने पर भी यहां संसृष्टि ही होगी तथापि यह उदाहरण सजातीय अलंकारों की संसृष्टि बतलाने के लिए दिया गया मानना चाहिए, क्योंकि विजातीय अलंकारों की संसृष्टि का उदाहरण [देवि क्षपा०] दिया जा चुका है [यद्यपि संजीविनीकार ने यहां भी 'इवेव' में उत्प्रेक्षा न मानकर उपमा ही मानी है और दो सजातीय उपमाओं की संसृष्टि बतलाई है, जो 'अमान्य है']। यहां यह नहीं कहा जा सकता कि [पूर्वार्धगत] उत्प्रेक्षाएँ [उत्तरार्धगत] उपमा के प्रति हेतु हैं [जैसा कि रत्नाकरकार ने कहा है = आगे उद्धृत रत्नाकर पृ० १९७ पं० नीचे ७–५] क्योंकि तीनों ही अलंकार प्रधानभूत तमोबाहुल्य के प्रति अंग हैं [इस अंश के पाठान्तर पर आगे आ रहा हमारा विमर्श देख लेना आवश्यक है] उभयसंसृष्टि = उभयसंसृष्टि = क्योंकि अनुप्रास और उपमा क्रमशः शब्द तथा अर्थ के अलंकार हैं। व्यवस्थापक = निर्णायक = क्योंकि 'मञ्जीरशिञ्जित' = नूपुररव का पैर में ही होना संभव है। प्रतिकूल = क्योंकि कमल में मञ्जीरशिञ्जित का सम्बन्ध संभव नहीं। पारिशेष्यात् = अवशिष्ट होने से = अर्थात् यहां 'उपमा' और 'रूपक' इन दो से अतिरिक्त किसी अन्य अलंकार का होना संभव नहीं है। इसी का उपसंहार करते हुए कहते हैं—'तदेवम्'—इत्यादि। त्रिधा = तीन प्रकार की, यद्यपि इसके दो अन्य भेद भी हो सकते हैं, एक सजातीय और दूसरा विजातीय, तथापि वे पूर्वोक्त भेदों में ही अन्तर्भूत हो जाते हैं अतः [सर्वस्वकार द्वारा किया गया] यही उपसंहार ठीक है।

विमर्श—अलङ्काररत्नाकरकार ने संसृष्टि को अलंकार न मानना उचित बतलाया है और सर्वस्वकार के संसृष्टिसूत्र को उद्धृत कर उनके मत के निराकरण में निम्नलिखित तर्क दिए हैं—

[सू.] न संसृष्टिः, पूर्वहानात् चारुत्वाभावाच्च ॥ १११ सू. ॥

सर्वेषामलङ्काराणामन्योन्योपसर्जनत्वमप्राधान्यमेकत्र संसर्गः संसृष्टिः', यदुक्तम्—'एषां तिलतण्डुलन्यायेन मिश्रत्वं संसृष्टिः'—इति। सा संसृष्टिर्नालङ्कारान्तरम्, पूर्वेषां सर्वेषामलङ्काराणामभाव-

प्रसंगात्। शब्दार्थालंकाराणां हि प्रायशो व्यस्तसमस्तत्वेन स्थितिः, तत्र संसृष्टेरलंकारत्वाभ्युपगमेऽनुप्रासोपमादीनां विषयापहारो भवेत्। ००००० अलंकारशून्यताया असंकीर्णालंकारत्वस्य चासंभवात् संसृष्टिसंकरावेव द्वावलंकारौ लक्षणीयतया प्राप्तौ। यदि च कथंचित् अलंकारान्तरविविक्तमुदाहरणं क्रियते प्रदर्श्यते वा तत्रापि ००००० प्रविरलविषयत्वमुपमादीनां स्यात्। ०००००

किं च न संसृष्टित्वेन कश्चिच्चारुतातिशयः प्रतिभासते येनालंकारान्तरं कथ्यते। ननु मौक्तिकपद्मरागेन्द्रनीलादीनां संसर्गे लब्धपरभागतया भासत एव चारुत्वान्तरम्, तद्वद् इहापि स्यादिति चेन्न, अनुप्रासादिना, उपमादिना तस्य वा येन सचेतसः कस्यचिन्न हि परभागोऽवभासते, भिन्नजातीयत्वात्। समानजातीयानां हि अनुकूलतयाऽन्यथा वाऽनुगतबुद्धिवशेन परभागो जायते, न तु शब्दार्थयोः, भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात्। शब्दार्थालंकारसंसर्गे चारुतातिशयस्यास्माभिः संवेदनान्नेदमिति चेन्न, शपथप्रत्येयत्वात्।'

विमर्शिनीकार ने रत्नाकर की इस उपस्थापना का प्रतिपद खण्डन और सर्वस्वकार की स्थापनाओं का समर्थन किया है।

'देवि क्षपा०' तथा 'लिम्पतीव०' पद्यों में सर्वस्वकार ने संसृष्टि मानी है। रत्नाकरकार ने इनमें भी संकर सिद्ध करते हुए लिखा है—

'लिम्पतीत्याद्युपमोत्प्रेक्षादीनां ०००० मौक्तिकादिवत् परस्परं शोभातिशयहेतुत्वे चाङ्गाङ्गिभावसंकर एव स्यात्, न संसृष्टिः। न तावदयःशलाकाकल्पा अलंकारा एकस्मिन् वाक्ये भवन्ति, दशदाडिमादिवाक्यवदसम्बन्धप्रलापितापत्तेः। सम्बन्धश्चाभ्युपगम्यमानो गुणप्रधानभावेनाभ्युपगन्तव्यः, द्वयोः प्रधानयोरप्रधानयोः संबन्धासंभवात् गुणप्रधानभावेन चालंकाराणां सम्बन्धेऽङ्गाङ्गिभावापत्त्या संकर एव स्यात्। तथा च 'देवि क्षपा०' इत्यत्रोपमालिङ्गितस्य चक्षुरुन्मीलितस्य वाक्यार्थीभूतस्य हेतुत्वेनोपात्तक्षपागलनोपपादकत्वेनोपनिबद्ध उत्प्रेक्षाश्लिष्टः शशाङ्काम्बरत्याग इत्युत्प्रेक्षयोः पारम्पर्येणोपमापोषकत्वेन तदङ्गता, उपमा तु अर्थान्तराङ्गत्वागमनादपरिम्लाना वाक्यार्थतामुपयातीति संकर एव, न तु संसृष्टिः। एवं 'लिम्पतीव'—इत्यादौ उत्प्रेक्षाद्वयमसत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गतेत्युपमाया वाक्यार्थीभूताया हेतुत्वेन गतम् इत्यङ्गत्वेन संकर एव। एवमुदाहरणान्तरेषु विवेच्यम्। परं प्रत्युपसर्जनीभूतयोस्त्वलंकारयोः अवान्तरसम्बन्धाभावे न संकरो न संसृष्टिर्न चा [न्योऽ] लंकारः कश्चित्। 'अन्योन्यसम्बन्ध—०००—शक्तिमङ्गात्'। इति संग्रहः।

यदि चायमलंकारः प्रधानमलंकारान्तरं प्रत्यङ्गभूतः तदाऽस्त्येव सम्बन्धः, तदापि चादेः समुच्चयप्रतिपादकस्यानुपादानाद् अलंकारसमुच्चय आर्थो भवेत्, न तु संसृष्टिः।'

पाठान्तर की जो बात विमर्शिनीकार ने उठाई है उसका मूल रत्नाकरकार का निम्नलिखित ग्रन्थांश है—

'६५ त्वदाननरुचे'—इत्यादौ सुस्पष्टेऽप्युत्प्रेक्षाविषये यैरुपमाभिहिता तेषां भवतामेवमादावत्यन्तातीन्द्रियार्थदर्शनाय केन योगीश्वरेण चक्षुरर्पितमिति न जानीमः। लिम्पतीत्याद्युपमोत्प्रेक्षादीनां सजातीयत्वेन युक्त [एव ऊपर उद्धृत] ००।'

पहले भी ऐसे अनेक स्थल आ चुके हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि सर्वस्व की जो प्रतियाँ रत्नाकरकार तथा सर्वस्वकार को मिली थीं वे पाठदृष्टि से बहुत भिन्न थीं। संजीविनीकार ने भी 'देवि क्षपा०' तथा 'लिम्पतीव' पद्यों की वृत्ति में 'विजातीययोः' के स्थान पर 'सजातीययोः' शब्द को ही अपनाया है। कदाचित् उन्हें प्राप्त प्रति में भी वही पाठ रहा होगा जो रत्नाकरकार को प्राप्त प्रति में रहा है। संजीविनीकार ने 'त्वदाननरुचेव' में उपमा बतलाई है। निश्चित ही इसमें मूल प्रति ही कारण है। रत्नाकरकार ने भी यहाँ 'उपमा' बतलाने वाली प्रति ही पाई थी। रत्ना-

करकार ने जो 'दिव्यचक्षु'-की बात कहकर सर्वस्वकार पर चोट की थी उसीसे विचलित हो विमर्शिनीकार ने भी उन पर 'चोद्य करिष्यामो'—त्याशयेन'—इत्यादि प्रतिक्षेप किया। वस्तुतः उन्हें प्रति ही वैसी मिली थी। 'त्वदाननवचेन' में उपमा बतलाने पर कोई भी विज्ञ व्यक्ति रत्नाकरकारके समान ही प्रलाप किये न रहेगा। अतः यहां विमर्शिनीकार ही असहिष्णु सिद्ध होते हैं।

विमर्शिनीकार ने समुच्चयालङ्कार का जो प्रश्न उपस्थित किया है उसकी भाषा अत्यन्त संक्षिप्त है। निश्चित ही वह रत्नाकर के निम्नलिखित अंश का सार है—

'यदि चायमलंकारः प्रधानमलङ्कारान्तरं प्रति अङ्गभूतस्तदास्त्येव सम्बन्धः, तदापि चादेः समुच्चयप्रतिपादकस्यानुपादानादलङ्कारसमुच्चय भार्यो भवेत् न तु संसृष्टिः।'

[पृ० २९८, संसृष्टि प्रकरण का अन्त]।

संसृष्टि का इतिहास :—

संकरप्रकरण के अन्त में देखिए, क्योंकि संस्कृतकाव्यशास्त्र में ये दोनों अलंकार पहले अभिन्न और बाद में भिन्न माने गए हैं।

विमर्शिनी

इदानीं संकरमवतारयति—अधुनेत्यादि।

अब संकर की अवतरणिका रचते हैं।

[सर्वस्व]

अधुना क्षीरनीरन्यायेन संकर उच्यते—

[सू० ८६] क्षीरनीरन्यायेन तु संकरः।

मिश्रत्व इत्येव। अनुत्कटभेदमिश्रत्वे संकरः। तच्च मिश्रत्वमङ्गाङ्गिभावेन, संशयेन, एकवाचकानुप्रवेशेन च त्रिधा भवत् संकरं त्रिभेदमुत्थापयति। क्रमेण यथा—

'अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनियम्य तिमिरं मरीचिभिः।
कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी॥'

अत्राङ्गुलीभिरिवेत्युपमा। सैव सरोजलोचनमित्यस्या उपमायाः प्रसाधिका। रजनीमुखमिति श्लेषमूलातिशयोक्तिः, आरम्भवदनाख्ययोर्मुख्ययोरभेदातिशयात्। अत एव तयोरङ्गाङ्गिभावः। एवं च वाक्योक्तसमासोक्ते उपमे श्लेषानुगृहीता चातिशयोक्तिरुत्प्रेक्षायाः 'चुम्बतीव' इति प्रकाशिताया अनुग्राहिकाः। तद्बलेन तस्याः समुत्थानात्। सा च समुत्थापिता समुत्थापकानां चमत्कारितानिबन्धनमित्यस्त्यङ्गाङ्गिभावः। यथा वा—

'त्रयीमयोऽपि प्रथितो जगत्सु यद् वारुणीं प्रत्यगमद् विवस्वान्।
मन्येऽस्तशैलात्पतितोऽत एव विवेश शुद्ध्यै वडवाग्निमध्यम्॥'

अत्र प्रथमार्धे विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः। दर्शनान्तरे तु विरोधश्लेषौ द्वावलंकारौ तदनुगृहीता द्वितीयेऽर्धे मन्येपदप्रकाशितोत्प्रेक्षा। अतस्त्वाङ्गाङ्गिभावः।

तथाह्यत्र यत् कारणमुत्प्रेक्ष्यते तत्र विरोधश्लेषानुप्रवेशः। यच्चात्र कार्यमुत्प्रेक्षानिमित्तं तत्र पतितत्वाग्निप्रवेशौ वस्तुस्थित्या अन्यथास्थितावपि अन्यथाभूताभ्यां ताभ्यामभेदेनाध्यवसितौ ज्ञेयौ, तेनात्राङ्गाङ्गिभावसंकरः। न च विरोधप्रतिभोत्पत्तिहेतौ श्लेषे श्लेषस्य विरोधेन सहाङ्गाङ्गिभावः संकरः, उत्प्रेक्षाया वा निमित्तगतातिशयोक्त्या सहायं संकरः, ताभ्यां विना तयोरनुत्थानात्। अतश्च निरवकाशत्वाद् बाधकत्वम्। न च मन्तव्यं विरोधमन्तरेणापि श्लेषो दृश्यत इति श्लेषस्य सावकाशत्वमिति। यतो न ब्रूमो विरोधमन्तरेणापि श्लेषो न भवतीति, किं तर्ह्यलंकारान्तरविविक्तो विषयः श्लेषस्य नास्तीति निरवकाशत्वात् तेषां बाधः। तन्मध्ये च विरोधोऽनुप्रविष्ट इति सोऽपि तेन बाध्यत इति न कश्चिद् दोषः। एवमर्थालंकारसंकर उक्तः।

[वृ०] अब क्षीरनीर के समान [अलंकारों के मिश्रण से] होने वाला संकर [नामक अलंकार] बतलाया जा रहा है—

[सू० ८६] तथा क्षीर नीर जैसा संकर।

[वृ०] 'मिश्रत्व' यह [पूर्वसूत्र से प्राप्त] है ही [सूत्र का अर्थ यह हुआ कि] मिश्रण में यदि भेद स्पष्ट न हो तो [अलंकार] संकर [कहलाता है]। और वह मिश्रण (१) अंगांगिभाव (२) संशय तथा (३) एकवाचकानुप्रवेश इन तीन स्थितियों में तीन प्रकार का होकर तीन ही प्रकार के संकर को जन्म देता है।

इनके उदाहरण, क्रमशः– [अंगांगिभावसंकर—]

अंगुलियों के समान किरणों से केशपाश के समान अंधेरा बटोर कर मुद्रितकमलनेत्र वाले रजनीमुख को शशी चूम सा रहा है।'

यहाँ 'अंगुलियों के समान'—यह उपमा है। वहीं 'कमलनेत्र'—पद में [कमल नेत्र के समान इस प्रकार] आई उपमा में साधक है। रजनीमुख में [एक ही मुख शब्द का अर्थ आरम्भ और चेहरा दोनों होने से] श्लेषमूलक अतिशयोक्ति है, क्योंकि इसमें 'प्रारम्भ' और 'चेहरा' इन दोनों मुख्य अर्थों में [एक ही मुख शब्द से कथित होने के कारण] अभेद सिद्ध होता है। इस प्रकार ['अंगुलियों के समान किरणों से'—इस] वाक्यसे कथित तथा ['सरोजलोचन—' इस] समास से कथित दो उपमाएं और ['मुख' शब्द के] श्लेष से अनुगृहीत [आरम्भ तथा चेहरा-इन दो अर्थों की] अतिशयोक्ति 'चूम सा रहा है'—इस पद से प्रकाशित उत्प्रेक्षा की अनुग्राहिका हैं, क्योंकि उसकी निष्पत्ति उन्हीं के बल पर होती है। निष्पन्न होकर वह अपने निष्पादकों में चमत्कारकता का कारण बनती है। इस प्रकार इसमें अंगांगिभाव है। दूसरा उदाहरण यथा—

'सभी लोकों में [वेद—] त्रयीमय होने के लिए प्रसिद्ध होते हुए भी सूर्य जो वारुणी [पश्चिम दिशा तथा सुरा] की ओर बढ़ा, मानो इसीलिए वह अस्ताचल से गिरा और शुद्धि के लिए बडवाग्नि में प्रविष्ट हो गया।'

इस पद्य के पूर्वार्धमें [उद्भट के मत में] विरोध को बाधकर श्लेष अलंकार बनता है। अन्य मत में विरोध और श्लेष दोनों ही अलंकार हैं। उत्तरार्ध में उत्प्रेक्षा है जो 'मानो'—शब्द से कथित है और उक्त अलंकारों से अनुगृहीत है। अतः इसमें अंगाङ्गिभाव है।

स्पष्टीकरण के लिए यहाँ [वेदस्वरूप होते हुए भी वारुणीगमनरूपी जिस कारण की उत्प्रेक्षा की जा रही है उसमें विरोध [बाधक] श्लेष [अथवा विरोध और श्लेष दोनों] का अनुप्रवेश है। और [उसका] जो कार्य [वडवाग्निप्रवेश की] उत्प्रेक्षा का निमित्त है उसमें पतितत्व और अग्निप्रवेश का वास्तविक रूप भिन्न है। किन्तु वे अभिन्न रूप से अध्यवसित होकर विदित होते हैं। इसलिए यहाँ अंगांगिभाव संकर है [श्लेष अंग है और हेतु तथा फल की उत्प्रेक्षाएँ अंगी हैं]। यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ श्लेष विरोध का निष्पादक है अतः श्लेष का विरोध के साथ अंगांगिभाव संकर है अथवा उत्प्रेक्षा का [उसके] निमित्त [पान आदि] में स्थित अतिशयोक्ति के साथ यह संकर है, क्योंकि उनके बिना वे निष्पन्न नहीं होते। और इसीलिए वे निरवकाश होकर बाधक बनते हैं। यह नहीं मानना चाहिए कि श्लेष विरोध के बिना भी दिखाई देता है, इसलिए श्लेष [निरवकाश नहीं] सावकाश ही है, क्योंकि हम यह नहीं कहते कि श्लेष विरोध को छोड़कर नहीं होता। हमारा कहना है कि श्लेष कहीं भी अन्य किसी अलंकार के बिना नहीं मिलता, अतः वह निरवकाश है और उन [अन्य अलंकारों] का बाधक है और उनमें विरोध चला ही आता है, इसलिए वह विरोधी भी इस [श्लेष] के द्वारा बाधित किया जाता है। इस प्रकार यहाँ कोई दोष नहीं आता इस प्रकार अर्थालंकारों का संकर उदाहरणों द्वारा समझाया गया।

विमर्शिनी

तदेवाह—क्षीरेत्यादि। तदिति। यथोक्तरूपम्। त्रिभेदमिति। अङ्गाङ्गिभावादिना। प्रसाधिकेति। आनुगुण्यकारित्वेनाङ्गमित्यर्थः। श्लेषमूलेति। श्लेषहेतुकेत्यर्थः। अत्र च न यथाङ्गाङ्गितया संकरस्तथा पूर्वमेवोक्तम्। अत एवोपमाद्वयापेक्षयैव तयोरङ्गाङ्गिभाव इत्युपसंहारः। श्लेषानुगृहीतेति। श्लेषमन्तरेणास्या अनुत्थानात्। तद्बलेनेति। तेषामुपमादीनां बलेनोपकारकत्वेनेत्यर्थः। समुत्थानादिति। उपकार्यत्वेन। उदाहरणान्तरोपादानं तावद् व्याप्तिप्रदर्शनपरम्। श्लेष इति। अङ्गतामिति शेषः। द्वावलंकाराविति। हेतुहेतुमद्रूपावित्यर्थः। श्लेषमन्तरेण विरोधस्यानुत्थानात्। तदनुगृहीतेति। श्लेषमूलविरोधोपकृतेत्यर्थः। अङ्गाङ्गिभावमेव निभजति—तथा हीत्यादिना। कार्यमिति। पतितत्वाग्निप्रवेशलक्षणम्। एतच्चोत्प्रेक्षानुगुण्येन प्रसङ्गादिहोक्तम्। तेनेति। उत्प्रेक्षाविरोधोपकृतत्वेन। ननु विरोधोत्प्रेक्षयोर्यद्वदङ्गाङ्गिभावेन संकरस्तद्वदतिशयोक्त्यापि सह तस्या विरोधश्लेषयोश्च किं संकर उत नेत्याशङ्क्याह—न चेत्यादि। एतच्चोद्भटमतानुसारश्लेषस्य प्राधान्याभिप्रायेणोक्तम्। स्वपक्षाभिप्रायेण तु विरोधस्याप्येतदेव द्रष्टव्यम्। अत्र च यथा न संकरालंकारस्तथा पूर्वमेवोपपादितम्। अत्र द्वयमप्यप्येक एवालंकारः। न चैकस्य संकरो युक्तः। तस्य द्विप्रभृतीनामलंकाराणां मिश्रत्वे समवायात्। अन्यथेति। विरोधगुणीभावेन श्लेषस्यैव समुत्थानात्। यत्तु ग्रन्थकृता स्वमताश्रयेणैतदपि नोक्तम्, तत्रायमाशयः 'यावता हि यत्रालंकारान्तरस्वरूपनिष्पादने हेतुत्वं भजते तत्र नायमलंकार इति प्रतिपाद्यम्, तत्त्वेवमपि सिद्ध्यतो'-ति तन्मतेनाप्येतत्साधने चिरन्तनाभ्युपगमत्वादभ्युपगमात्मप्रयोजनम्। तन्मध्य इति। श्लेषाद्व्यतिरिक्तानामन्येषामलंकाराणां मध्य इत्यर्थः। दोष इति। सावकाशत्वाशक्तिरूपः।

वही बतलाते हैं—'क्षीर०' इत्यादि। तद् = जिसका स्वरूप बतलाया जा चुका है। त्रिभेदम् = तीन भेदों से युक्त संकर अर्थात् अंगांगिभाव आदि से। श्लेषमूल = श्लेष हेतुक। यहाँ अंगांगिभाव मूलक संकर जिस प्रकार नहीं है वह [संसृष्टि प्रकरण में 'वदनसौरभ०' पद्य की व्याख्या के समय बतलाया ही जा चुका है। अतः यहाँ दोनों उपमाओं के ही परस्पर अंगांगिभाव को

लेकर 'तयोरंगांगिभावः' यह उपसंहार किया गया माना जाना चाहिए। श्लेषानुगृहीत = श्लेष के बिना इसकी निष्पत्ति न होने से। तद्बलेन = उनके बल से = उन उपमा आदि के बल से अर्थात् उपकारकत्व से। समुत्थान = अर्थात् उपकार्य रूप से। दूसरा जो उदाहरण दिया गया है वह व्यापकता बतलाने के लिए। श्लेष = अर्थात् उद्भटपन्थियों के मत में। द्व्यलंकारौ = दो अलंकार अर्थात् हेतुहेतुमद्‌रूप, क्योंकि विरोध श्लेष के बिना बनता ही नहीं। तदनुगृहीता = उससे अनुगृहीत अर्थात् श्लेषमूलक विरोध से उपकृत। अंगांगिभाव का ही विभाग करते हुए लिखते हैं—'तथा हि' इत्यादि। कार्यम् = कार्य = पतितत्व रूप और अग्निप्रवेश रूप। यह तो प्रसंगवशात् यहाँ कह दिया गया, क्योंकि यह उत्प्रेक्षा के अनुकूल है। तेन = उत्प्रेक्षाविरोध से उपकृत होने से शंका होती है कि—"जिस प्रकार विरोध और उत्प्रेक्षा में अंगांगिभावमूलक संकर है उसी प्रकार उस [उत्प्रेक्षा] का अतिशयोक्ति के साथ तथा विरोध और श्लेष का भी संकर होगा अथवा नहीं—"इस पर उत्तर देते हैं—न च इत्यादि। यह सब उद्भट के मत के अनुसार श्लेष को प्रधान मानकर कहा। अपने पक्ष के अनुसार तो विरोध में भी यही [प्रधानत्व] मानना चाहिए। और यहाँ संकरालंकार जिस प्रकार यहाँ होता है वह पहले [संसृष्टि प्रकरण में 'वदनसौरभ'—पद्य की विमर्शिनी में] ही सिद्ध कर दिया है। यहाँ दोनों ही प्रकार से अलंकार एक ही रहता है। एक में संकर होता नहीं, क्योंकि वह तो दो तीन आदि अलंकारों के मिश्रण में संभव होता है। अतश्च अर्थात् विरोध को अप्रधान बनाकर श्लेष का ही प्रधान रूप से उत्थान होने से। ग्रन्थकार ने इस विषय पर भी अपना मत नहीं अपनाया इसका आशय यह है उनका तो प्रतिपाद्य यही है कि जहाँ कहीं कोई अलंकार किसी अन्य अलंकार की निष्पत्ति में हेतु बनता है वहाँ वह [संकर] अलंकार नहीं होता। और वह इस प्रकार भी सिद्ध हो जाता है। इसका प्रयोजन है उनके मत से भी [अपनी] इस [मान्यता] की सिद्धि करना। यह प्रयोजन सिद्ध करता है कि ग्रन्थकार यह बतलाना चाहता है कि प्राचीन आलंकारिकों को भी संकर का अलंकारत्व मान्य था।' तन्मध्य = एव = उन्हीं के बीच = अर्थात् श्लेष से भिन्न अन्य अलंकारों के बीच। दोष = सावकाशत्व की जो आपत्ति तद्रूपी दोष।

[सर्वस्व]

शब्दालंकारसंकरस्तु कैश्चिदुदाहृतो यथा—

> 'राजति तटीयमभिहतदानवरासातिपातिसारावनदा।
> गजता च यूथमविरतदानवरा सातिपाति सारा वनदा॥'

अत्र यमकानुलोमप्रतिलोमयोः शब्दालंकारयोः परस्परापेक्षत्वेनाङ्गाङ्गिभावसंकर इति। एतत्तु न सम्यगवर्जकम्। शब्दालंकारयोः शब्दवदुपकार्योपकारकत्वाभावेनाङ्गाङ्गिभावाभावात्। शब्दालंकारसंसृष्टिस्त्वत्र श्रेयसी। यथोदाहृतं पूर्वम्। यद्वा अत्र शब्दालंकारद्वयमेकवाचकानुप्रविष्टमिति तृतीयः संकरो ज्ञेयः। एवमेकः प्रकारो दर्शितः।

शब्दालंकारों के संकर का उदाहरण किन्हीं आचार्य [मम्मट] ने यह दिया है—'राजति तटीय०' इत्यादि। [इसका अर्थ यह है—]

हे दानवों का रास समाप्त कर देने वाले भगवान् शिव ! मन्दराचल की यह उपत्यका सुहावनी लग रही है। इस पर वेगपूर्वक गिर रहे नदों का घर्घर नाद छाया हुआ है। और अविरत मद-

जल से सुन्दर मलवती तथा वनों का विनाश करने वाली गजपंक्ति भी अपने यूथ का रक्षण भलीभाँति कर रही है [हरविजय ५।१२७]।'

[उन आचार्य का कहना है कि] 'इस पद्य में ['दानवरा—नदा'-पद की पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध दोनों में समान आनुपूर्वी में आवृत्ति होने तथा उनके अर्थ में अन्तर होने से पादान्त] यमक है तथा ['दानवरा—नदा' = पद को उल्टा पढ़ने पर भी वर्णक्रम के वैसे ही बने रहने के कारण जैसा वह सीधा पढ़ने पर रहता है] यहाँ अनुलोमप्रतिलोम नामक चित्रालङ्कार भी है। ये दोनों शब्द के अलङ्कार हैं और परस्पर में एक दूसरे के प्रति सापेक्ष हैं। इसलिए यहाँ अङ्गाङ्गिभावमूलक संकरालङ्कार है'। किन्तु यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि शब्दालंकारों में शब्द के समान परस्पर में उपकार्योपकारकभाव नहीं होता। फलतः उनमें अङ्गाङ्गिभाव भी नहीं बनता। यहाँ मानना अधिक उपयुक्त है शब्दालङ्कारों की संसृष्टि। जिसका उदाहरण पहले दिया जा चुका है। अथवा यहाँ दो शब्दालङ्कार एक ही वाचकशब्द [दानवरा०' इत्यादि] में आ गए हैं अतः तीसरा [एक वाचकानुप्रवेश] संकर मानना चाहिए। इस प्रकार संकर का एक प्रकार बतला दिया गया।

विमर्शिनी

कैश्चिदिति। काव्यप्रकाशकारादिभिः। उदाहृतमिति। कुसुमसौरभेत्यादिना। यद्वेति। पक्षान्तरे। एकवाचकेति। य एव शब्दा यमकस्य वाचकास्त एव चित्रस्येति।

कैश्चित्—कुछ आचार्यों द्वारा = काव्यप्रकाशकार आदि द्वारा [काव्यप्रकाश में मम्मट ने इस पद्य को उद्धृत कर लिखा है—'अत्र यमकम् अनुलोमप्रतिलोमश्च चित्रभेदः पदद्वयगते परस्परापेक्षे'] उदाहृतम्=उदाहरण दिया जा चुका है—'कुसुमसौरभ०' इत्यादि पद्य द्वारा। यद्वा = अन्य पक्ष प्रस्तुत करने हेतु कथित अव्यय। एकवाचक=जो शब्द यमक के वाचक हैं वे ही चित्र के भी।

[सर्वस्व]

द्वितीयः प्रकारस्तु संदेहसंकराख्यः। यत्रान्यतरपरिग्रहे साधकं प्रमाणं नास्ति बाधकं वा प्रमाणं न विद्यते तत्र न्यायप्राप्तः संशय इति संदेहसंकरस्तत्र विषयः। यथा—

'यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि चौर्यसुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥'

अत्र विभावनाविशेषोक्त्योः संदेहसंकरः। तथाह्युत्कण्ठाकारणाभावे उत्कण्ठाया उत्पत्तौ विभावना। स च कारणाभावो 'यः कौमारहरः' इत्यादिना कारणविरुद्धमुखेन प्रतिपादितः। तथा च 'य कौमारहरः' इत्याद्युत्कण्ठाकारणसद्भावेऽपि अनुत्कण्ठाया अनुत्पत्तौ विशेषोक्तिः। सा चानुत्पत्तिः 'समुत्कण्ठते' इति विरोधोत्पत्तिमुखेनोक्ता। अत एव द्वयोरप्यस्फुटत्वमन्यत्रोक्तम्। न चानयोः प्रत्येकं साधकबाधकप्रमाणयोग इति संदेहसंकरोऽयम्। यथा वा—

'यद्वक्त्रचन्द्रे नवयौवनेन श्मश्रुच्छलादुल्लिखितश्चकास्ति।
उद्दामरामाहृदयानमुद्राविद्रावणो मन्त्र इव स्मरस्य ॥'

अत्र वक्त्रं चन्द्र इवेति किमुपमा, उत वक्त्रमेव चन्द्र इति रूपकमिति संशयः। उभयथापि समासस्य भावात्। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इत्युपमासमासः, व्याघ्रादीनामाकृतिगणत्वात्। मयूरव्यंसकादित्वाद् रूपकसमासः, मयूरव्यंसकादीनामाकृतिगणत्वात्। न चात्र कश्चित्साधकबाधकप्रमाणसद्भाव इति संदेहसंकरः।

[संकर का] दूसरा प्रकार है संदेहसंकर नामक, जिसमें न तो किसी एक को अपनाने में साधक प्रमाण मिलता और न बाधक ही रहता, वह संशय स्वतः सिद्ध है, इसलिए उसे संदेहसंकर मानना चाहिए। उदाहरण यथा [पूर्वानूदित] 'यः कौमारहरः' पद्य [का अर्थ]। यहां विभावना और विशेषोक्ति का संदेहसंकर है। यह इस प्रकार कि उत्कण्ठा के कारण [अननुभूतत्व] के न रहने पर भी यहां उत्कण्ठा की उत्पत्ति बतलाई जा रही है, अतः विभावना हुई। यह जो कारणाभाव है वह 'यः कौमारहरः' इत्यादि द्वारा कारण के विरुद्ध जो पदार्थ उसके कथन के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इसी प्रकार 'यः कौमारहरः' इत्यादि पदार्थ कारण हैं अनुत्कण्ठा के, किन्तु उन सबके रहने पर भी अनुत्कण्ठा की उत्पत्ति नहीं हो रही, अतः यहां विशेषोक्ति है। यह जो अनुत्पत्ति है वह भी 'समुत्कण्ठते' = 'उत्कण्ठित हो रहा है' इस प्रकार विरोधी [उत्कण्ठा] की उत्पत्ति द्वारा कही गई है। इसलिए यहां दोनों ही अस्फुट हैं ऐसा अन्यत्र [काव्यप्रकाश में] कहा गया है। इनमें से किसी के भी प्रति न कोई साधक प्रमाण है और न कोई बाधक। अतः यह संदेह संकर हुआ। दूसरा उदाहरण यथा—

'जिसके मुखचन्द्र में दाढ़ी मूछ के बहाने नवीन यौवन ने उद्दाम रामाओं के दृढ मान की मुद्रा का विद्रावण [विनाश] करने वाला काम का मन्त्र सा लिखित दिखाई देता है।'

यहां 'मुख चन्द्र के समान इस प्रकार उपमा मानी जाय या 'मुख ही चन्द्र' इस प्रकार रूपक माना जाय यह संदेह है। क्योंकि यहां समास दोनों ही प्रकार का हो सकता है। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' [पा० सू०] से उपमासमास हो सकता है क्योंकि व्याघ्रादि आकृतिगण है। रूपकसमास हो सकता है मयूरव्यंसकादि से क्योंकि मयूरव्यंसकादि भी आकृतिगण हैं। यहां किसी का साधक या बाधक प्रमाण भी नहीं है। इसलिए संदेहसंकर ही है।

विमर्शिनी

द्वितीय इत्यङ्गाङ्गिभावात्। साधकमिति। अनुकूलम्। न्यायप्राप्त इति। साधकबाधकप्रमाणाभावादेकस्यानिश्चयात्। संदेहमेवोपपादयति—तथाहीत्यादिना। उत्कण्ठाकारणाभाव इति। कौमारहरत्वराद्यसंनिधानरूपस्य कारणस्याभाव इत्यर्थः। विरुद्धमुखेनेति। तत्संनिधानद्वारेणेत्यर्थः। अत एवेति। द्वयोरपि विरुद्धमुखेनोपनिबन्धात्। अन्यत्रेति। काव्यप्रकाशादौ। उभयथेति। उपमारूपकत्वेनेत्यर्थः। चन्द्रशब्दस्याकृतिगणत्वाद्गणद्वयेनापि हि स्वीकृतत्वमिति भावः। कश्चिदिति। उपमायां रूपके वा।

न चैतदलंकारसारकारादीनां मतम्, अलंकाराणां संदेहायोगात्। तथाहि स्थाणुर्वा पुरुषो वेति संदेहः कस्यचिदेव कदाचिद्भवति, न तु सर्वदैव सर्वेषाम्, संनिकृष्टानां तदैव, अनन्तरं त्वन्येषामपि निश्चयोत्पादनात्। सर्वदा सर्वत्र सर्वान्प्रति चालंकारलक्षणं प्रणयनम्। तथात्वे च संदेहोऽयुक्तः, तस्य नियतदेशकालप्रमातृगतत्वात्। संदेहेऽपि पर्यवसानेऽवश्यमेकतरपक्षाश्रयणम्, उत्तरकालं बाधकप्रत्ययोल्लासात्। इह च संदेहे-

प्युत्तरकालं यद्येकतरालंकाराश्रयणं तदा एकालंकारः स्यात्, तस्यैव वाक्यार्थत्वेन प्ररोहात्। वाक्यार्थीभाव एव ह्यलंकाराणां स्वरूपप्रतिष्ठापकं प्रमाणम्। न चोभयोरपि वाक्यार्थीभावो, विप्रतिषेधात्। संदिग्धश्च वाक्यार्थो दोष इत्यविवादः। न च लक्ष्येऽपि तथाभावः, तथा ह्याद्योदाहरणे विभावनाया एव निश्चयः। विरुद्धमुखेनोत्कण्ठाकारणाभावेऽपि प्रतिपन्ने 'तथापि चेतः समुत्कण्ठते' इत्युत्कण्ठोदयस्यैव कार्यस्य वाक्यार्थत्वेन प्ररोहात्। अत एवानुत्कण्ठोत्पत्तिरिवविवक्षितेति विशेषोक्तेर्बाध इति विभावनाया एव वाक्यार्थीभावः। उत्तरोदाहरणे रूपकस्यैव निश्चयः। यतोऽन्यान्यप्रयोजनयोर्द्वयोः समासयोरेकत्र युगपत्प्राप्तेस्तुल्यबलत्वाद्विप्रतिषेधः। ततश्च 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इति परत्वाद्रूपकसमासप्रवृत्तिः। एतदेव रूपकस्य साधने प्रमाणम्। अत एवात्र यदन्यैः 'अबाधेन गतौ सत्यामन्यथा बाधगतिरप्रामाणिकी' इति न्यायाल्लक्षणात्मकरूपकसमासबाधकत्वाश्रयात्मेन उपमासमासस्य प्रवृत्तिरित्युपमाधाः साधकप्रमाणसद्भावोऽस्तीत्युक्तम्, तदयुक्तम्। अवमते च समासानां प्रायशो लक्षणपरत्वादुपमासमासस्यापि लक्षणात्मकार्थमिरयबाधेन गतेरसंभवादुपमाया अपि नास्ति बाधकप्रमाणसद्भावः। अथोपमायां लक्षणा, रूपके तु लक्षितलक्षणेति न द्वयोः पक्षयोस्तुल्यत्वमिति चेत्, नैतत्। एवमप्यबाधेन गतेरसंभवस्य साम्यत्वात्। अयं हि बाधगतेरेव प्रतीयते, तत्र तासमास एव कार्य इत्याह—यत्र स्थितादि।

द्वितीय = अर्थाभिमाव के बाद आने वाला उससे भिन्न। साधक = अनुकूल। न्यायप्राप्त = क्योंकि साधक या बाधक दोनों में से किसी भी प्रमाण के न रहने से किसी एक का निश्चय नहीं रहता। संदेह का ही और प्रतिपादन करते हैं—तथाहि = इत्यादि द्वारा। उत्कण्ठाकारणाभाव = अर्थात् कौमारहारी वर आदि के असन्निधानरूपी कारण का अभाव। विरुद्धमुखेन = विरुद्ध पदार्थ के कथन के द्वारा = उन [कौमारहारि वरादि] के सन्निधान के कथन के द्वारा। अतएव = क्योंकि दोनों की ही योजना विरुद्ध पदार्थ के कथन के द्वारा की गई है इसलिए। अन्यत्र = काव्यप्रकाश आदि में [काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन झळकीकरने इसका टिप्पणी द्वारा खण्डन किया है जो असंगत है]। उभयथा = दोनों ही प्रकार से = उपमारूप से और रूपक रूप से भी। अयं यह कि चन्द्रानन्द आकृतिगण में चला आया है अतः [व्याघ्रादि तथा मयूरव्यंसकादि दोनों गणों द्वारा उसका संग्रह किया जा सकता है।

—क्वचिद् = कहीं = उपमा में या रूपक में।

[संकर का] यह [भेद] अलंकारसार आदि को मान्य नहीं है। उनका कहना है [जैसा कि रत्नाकरकार ने लिखा है—द्र० संकर प्रकरण] कि अलंकारों में संदेह बन नहीं सकता। संदेह जो है वह 'यह स्थाणु [ठूँठ] है या आदमी' इस प्रकार का होता है और किसी को ही कभी ही होता है, सभी को सदा नहीं, क्योंकि पास के व्यक्तियों को उसी समय और अन्य व्यक्तियों को बाद में [यह क्या है ऐसा] निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है। इसके विरुद्ध अलंकार का जो लक्षण है वह प्रत्येक समय, प्रत्येक स्थान तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिए बनाया जाता है। ऐसी स्थिति में [उन अलकारों में] संदेह हो नहीं सकता, क्योंकि वह [संदेह] किसी निश्चित ही देश, निश्चित ही समय तथा निश्चित ही व्यक्ति में रहता है। इसके अतिरिक्त संदेह में भी अन्त में किसी एक पक्ष का आश्रय लेना ही होता है क्योंकि उत्तर काल में बाधक ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यहां [अलंकारों में] यदि संदेह हो भी तो यहां उत्तर काल में जिस अलंकार का निश्चय होगा वही प्रधान अलंकार बन जाएगा, क्योंकि वही वाक्यार्थरूप से विदित होगा। और वाक्यार्थत्व ही वह तत्त्व है जो अलंकारों के स्वरूप का निर्णायक प्रमाण है। यह कहा नहीं जा

सकता कि [संदेह में] वाक्यार्थत्व दोनों में ही रहता है क्योंकि यह परस्पर में विरुद्ध बात है। और वाक्यार्थ का संदिग्ध होना दोष माना जाता है। इस प्रकार संदेह का विवाद उठता ही नहीं है। उदाहरणों में भी ऐसी स्थिति नहीं है, क्योंकि ['यः कौमारहरः'—इस] प्रथम उदाहरण में विभावना का ही निश्चय होता है क्योंकि उत्कण्ठा के कारण का अभाव उसके विरुद्ध पदार्थ के [कथन के] द्वारा विदित होने पर भी 'तब भी चित्त उत्कण्ठित ही हो रहा है' यह जो उत्कण्ठा-रूपीकार्य का उदय है, अन्त में यही वाक्यार्थरूप से प्ररूढ़ होता है। और इसीलिए 'अनुत्कण्ठा की उत्पत्ति' यहां प्रतिपाद्य ही नहीं है अतः विशेषोक्ति बाधित हो जाती है, फलतः केवल विभावना ही प्रधान रूप से प्रतीत होती है। दूसरे उदाहरण ['त्वद्वक्त्रचन्द्रे०'] में रूपक ही निश्चित होता है। क्योंकि यहां दोनों ही समास अन्यप्रयोजनक हैं और दोनों ही एक ही स्थान पर एक साथ उपस्थित हैं। फलतः दोनों समान बलवाले हैं। अतः [यही व्याकरणशास्त्र की भाषा में] उनका विप्रतिषेध हुआ। और विप्रतिषेध में [तुल्यबलवाले नियमों की एक साथ एकत्र जहां प्राप्ति हो वहां] परवर्ती नियम को मानना चाहिए' इस नियम के अनुसार रूपक समास ही यहां हो पाता है, क्योंकि वही परवर्ती है [अर्थात् उसीका प्रतिपादक मयूरव्यंसकादि० सूत्र परवर्ती है] यही यहां रूपक के प्रति साधक प्रमाण है। इसलिए यहां किसी ने जो 'विना बाध के कार्य संभव हो तो बाधयुक्त क्रम अपनाना अमान्य होता है'—इस नियम के अनुसार लक्षण—स्वरूप रूपक समास का बाध करके यहां आश्रयस्वरूप उपमित समास ही प्रवृत्त होता है, अतः यहां उपमा का ही साधक प्रमाण है' यह कहा था वह गलत था क्योंकि आपके मत में समास प्रायः लक्षणपरक होते हैं, अतः उपमित समास भी लक्षणपरक ही सिद्ध होता है अतः उसका बाध नहीं होता फलतः उपमा के प्रति भी यहाँ कोई बाधक प्रमाण उपस्थित नहीं है। यदि कहें कि उपमा में केवल लक्षणा होती है और रूपक में लक्षितलक्षणा, इसलिए दोनों पक्ष समान नहीं हैं। [अतः विप्रतिषेध का प्रश्न नहीं उठता] तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर भी पूर्ववत् विना बाध के काम चलना संभव नहीं होगा। क्योंकि यह [उपमित समास] तो बाधपूर्ण क्रम से ही प्रतीत होता है अतः यहाँ [त्वद्वक्त्रचन्द में] वही [रूपक समास ही] मानना चाहिए। [सर्वस्वकार] यही कहते हुए लिखते हैं—

[सर्वस्व]

यत्र तु कस्यचित्परिग्रहे साधकं बाधकं वा प्रमाणं विद्यते, तत्र नियतपरिग्रहः। तत्रानुकूल्यं साधकम्, प्रातिकूल्यं बाधकम्। तत्र साधकं यथा—

'प्रसरद्बिन्दुनादाय शुद्धामृतमयात्मने।
नमोऽनन्तप्रकाशाय शंकरक्षीरसिन्धवे॥'

अत्र शंकर एव क्षीरसिन्धुरिति रूपकस्यामृतमयत्वं साधकम्। तस्य शंकरापेक्षया क्षीरसिन्धावनुकूलत्वात्। उपमायास्तु न बाधकम्। शंकरेऽपि तस्योपचरितस्य संभवात्। यथा वा—

'एतान्यवन्तीश्वरपारिजातजातानि तारापतिपाण्डुराणि।
संप्रत्यहं पश्यत दिग्वधूनां यशःप्रसूनान्यवतंसयामि॥'

अत्रावतंसनं प्रसूनेष्वनुगुणमिति रूपकपरिग्रहेण साधकं प्रमाणम्। बाधकं यथा—

'शरदीव प्रसर्पन्त्यां तस्य कोदण्डटंकृतौ।
विनिद्रजृम्भितहरिर्विन्ध्योदधिरजायत ॥'

अत्र विन्ध्य उदधिरिवेत्युपमापरिग्रहे विनिद्रजृम्भितहरिरिति साधारणं विशेषणं बाधकं प्रमाणम्। 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' (पा० सू०) इति वचनादुपमासमासे प्रतिकूलत्वात्। अतश्च पारिशेष्याद् रूपकपरिग्रहः। न तु शरदीवेत्युपमायोपमासाधकत्वेन विधेया। न ह्यौपम्येन कदाचिदर्थसिद्धिः। [नहि चापेन पंचाशत्सिद्धिः।] नह्येकेनालंकारेणोपक्रान्तेन निर्वाहः कर्तव्य इति राजाज्ञैषा। नापि धर्मसूत्रकारवचनम्। नाप्येष न्यायः। उत्तरोत्तरसाम्यप्रकर्षविवक्षणे प्रक्रान्तोपमापरित्यागेन रूपकनिर्वाहस्योचितत्वात्। विपर्ययस्तु दुष्ट एव। यथा—'येनेन्दुर्दहनो विषं मलयजं हारः कुठारायते' इति। तस्मात् प्रकृते सामान्यप्रयोग उपमापरिग्रहे बाधक इति मयूरव्यंसकादेराकृतिगणत्वाद् रूपकसमासाश्रयेण रूपकमेव बोद्धव्यम्। एवं 'मात्रशब्धिः क्वातिगम्भीरः' इत्यादौ द्रष्टव्यम्। साधकबाधकाभावे तु संदेहसंकरः। यथोदाहृतम्।

किन्तु जहाँ किसी एक [अलंकार] को अपनाने में साधक या बाधक प्रमाण रहता है वहाँ एक किसी को अपना लिया जाता है। यहाँ साधक का अर्थ है आनुकूल्य और बाधक का प्रातिकूल्य। इनमें से साधक यथा—

'जिसमें बिन्दु और नाद का प्रसार हो रहा है जिसका स्वरूप शुद्ध अमृतमय है और जो अनन्त प्रकाशमय है ऐसे शिवक्षीरसागर को प्रणाम है।'

यहाँ 'शिव ही क्षीरसागर'—इस प्रकार के रूपक के प्रति 'अमृतमयता' साधक है। क्योंकि उसकी स्थिति शिव की अपेक्षा क्षीरसागर में ही [प्रसिद्धिवशात] अनुकूल है, किन्तु वह उपमा का बाधक नहीं है, क्योंकि लक्षणा द्वारा उसका अस्तित्व शिव में भी माना जा सकता है। दूसरा उदाहरण, यथा—

'मैं, अवन्तिराज पारिजात से उत्पन्न, चन्द्रगौर, यशःप्रसूनों को, देखो, दिग्वनिताओं का अवतंस बनाए देता हूँ।' [नवसाहसांकचरित १।२६]।

यहाँ अवतंस बनाना प्रसूनों में ही उचित पड़ता है इसलिए रूपक मानने में यह प्रमाण साधक प्रमाण हुआ।

बाधक प्रमाण का उदाहरण, यथा—

'उसके धनुष की टंकार जब शरद् के समान फैलने लगी तो विन्ध्योदधि हरि [विष्णु और सिंह] की नींद टूट गई। वे जँभाइयाँ लेने लगे।' [नवसाहसांकचरित २।२६]।

यहाँ 'विन्ध्य उदधि के समान' इस प्रकार उपमा मानने में 'विनिद्रजृम्भित हरि' यह उभय साधारण विशेषण बाधक है क्योंकि यह 'साधारण धर्म का प्रयोग न हो तो उपमित वाचक पद से समास होता है'—इस नियम के अनुसार प्रतिकूल है। इस कारण बचे हुए रूपक को ही अपना लेना पड़ता है। यहाँ जो 'शरद् के समान' यह उपमा है वह उपमा के प्रति साधक नहीं

मानना चाहिए। ऐसा थोड़े ही है कि केवल साम्यमात्र से किसी वस्तु की सिद्धि हो जाए [चाप चाश की उच्चारणसमता मात्र से] चाप से पंचाशत् की सिद्धि नहीं होती। 'जो कोई अलंकार आरम्भ में दिया हो उपसंहार भी उसी से किया जाय' ऐसी कोई न तो राजाज्ञा है और न धर्मसूत्रकारों का वचन। न तो यह उचित ही है। यहां साम्य में उत्तरोत्तर उत्कर्ष की विवक्षा है अतः यहां आरम्भ में आई उपमा को छोड़ रूपक को अपनाना ही उचित है। विपरीत क्रम सदोष ही होगा। उदाहरणार्थ—'जिससे चन्द्रमा अग्नि है चन्दन विष है और हार कुठार सा लगता है' यह स्थल [लें। यहां रूपक से आरम्भ कर अन्त उपमा से किया गया है, जो साम्योत्कर्षविवक्षा के विपरीत है]। इसलिए प्रकृत ['शरदीव' पद्य] में सामान्य-धर्मवाचक शब्द का प्रयोग उपमा में बाधक है अतः मयूरव्यंसकादिगण के आकृतिगण होने से रूपक समास मानते हुए रूपक [को] ही [अलंकार] जानना चाहिए। इसी प्रकार 'कहां अतिगम्भीर भाग्याब्धि' इत्यादि में समझना चाहिए। [यहाँ भी गंभीरता रूपी सामान्यधर्म का वाचक 'अतिगम्भीर' शब्द है, अतः रूपकसमास ही ग्राह्य है]।

[जहाँ] साधक और बाधक [दोनों ही] प्रमाण न हों [वहां संकर] संदेहसंकर होता है, जैसा कि [यः कौमारहरः] उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है।

विमर्शिनी

एतदेव दर्शयति—तत्रेत्यादिना। न बाधकमिति। न पुनः साधकमपीत्यर्थः। बाधकाभावमात्रेण साधकत्वानुपपत्तेः। तथात्वे ह्यत्रापि संदेहसंकरः स्यादिति भावः। यथा वेति। पूर्वत्र शंकरेऽप्युपचरितस्याऽमृतमयत्वस्य संभवात्संदेहभ्रमः कस्यचित्स्यादित्यस्योदाहरणस्य पुनरुपादानम्। साधारणमिति। सामान्यप्रयोगे हि विन्ध्य उदधिरिवेत्यसमास एव स्यात्, यथा—'पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूर' इति। अतश्चेति। उपमाया बाधकप्रमाणसंभवादप्रवृत्तेः। पारिशेष्यादिति। न पुनः साधकप्रमाणसंभवादित्यर्थः। उचितत्वादिति। रूपनिर्वाहेण साम्यस्याधिक्येन प्रवृत्तिः। विपर्यय इति। रूपकोपक्रमेणोपमानिर्वाहः दुष्ट इति साम्यस्य लाघवेन प्रतीतेः। 'स्वेच्छाचारिणि यत्पुरा प्रियसखीवाचस्त्वया नादृता धत्कल्याणपराङ्मुखि प्रियतमः पादानतो नेक्षितः। तस्येदं हरिणाक्षि दुर्नयतरोरद्यापि बालं फलम्' इति चास्य पादत्रयी। एवं चाधिकप्रकर्षालंकारोपक्रमेण तत्प्रकर्षालंकारैर्निर्वाहो न कार्य इत्यप्यनेन सर्वालंकारशेषत्वेनोक्तम्। प्रकृत इति। शरदीवेत्यादौ। द्रष्टव्यमिति। उपमाया बाधकत्वम्, अतिगम्भीरत्वस्य सामान्यस्य हि प्रयोगे उपमासमासे बाधक इति रूपकपरिग्रह एव युक्तः। उदाहृतमिति। 'यः कौमारहरः' इत्यादिना।

इसीको दिखलाते हुए लिखते हैं—तत्र इत्यादि। न बाधकम् = बाधक नहीं, अर्थात् साधक भी नहीं। क्योंकि केवल बाधकत्व के अभाव से साधकत्व सिद्ध नहीं होता। ऐसा होने पर यहां भी संदेहसंकर होता। यथावा—प्रथम उदाहरण में शंकर में औपचारिक अमृतमयत्व का रहना संभव है अतः वह किसी को संदेहसंकर का भ्रम हो सकता है, इसलिए इसका उदाहरण पुनः दिया। **साधारणम्** = साधारणधर्म का प्रयोग करने पर [यदि उपमा की विवक्षा रहती तो] 'विन्ध्य उदधि के समान इस प्रकार समासरहित वाक्य ही बोला जाता, जैसे—'यह पुरुष व्याघ्र के समान शूर है' यह वाक्य। **अतश्च** = और इसलिए—अर्थात् बाधक प्रमाण के रहने से उपमा की प्रवृत्ति न होने से। **पारिशेष्यात्** = शेष बचने से = न कि साधकप्रमाण के सद्भाव से। **उचितत्वात्** = उचित होने से = रूपक से वाक्यसमाप्ति करने पर साम्य की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में होती है इस

कारण। विपर्यय=विपरीत क्रम में=रूपक से आरम्भ कर उपमा से वाक्य समाप्त करना। दुष्ट=सदोष क्योंकि उसमें साम्य की प्रतीति कम मात्रा में होती है। ['येनेन्दुर्द्दहनः] इस पद्य के तीन चरण ये हैं—'स्वेच्छाचारिणि' [मूल टीका में प्रदत्त, अर्थात्]

अयि स्वेच्छाचारिणी, प्रियसखियों की बात जो तूने पहले ही नहीं मानी और अयि कल्याण-विमुखे, पैर पड रहे प्रियतम पर तूने जो दृष्टि तक न डाली, उसी गलतीरूपी वृक्ष का, हे मृगाक्षि, यह फल है, जो अभी तो बाल [छपा] ही है।

इस प्रकार सभी अलकारों के विषय में ग्रन्थकार ने यह नियम बतलाया कि यदि आरम्भ किसी प्रकृष्ट अल्कार से किया गया हो तो अवसान उससे प्रकृष्ट अल्कारों से नहीं करना चाहिए। प्रकृत='शरदीव'० इत्यादि पद्य में। द्रष्टव्यम्=जानना चाहिए=अर्थात् उपमा के प्रति बाधकता। 'अतिगम्भीरत्व'—रूपी सामान्य धर्म का प्रयोग उपमासमास का बाधक है इसलिए यहां रूपक अपनाना ही उचित है। उदाहृतम्=उदाहरण दिया जा चुका है अर्थात् 'यः कौमारहर'० इस पद्य के द्वारा।

[सर्वस्व]

तृतीयस्तु प्रकार एकवाचकानुप्रवेशलक्षणः, यत्रैकस्मिन्वाचकेऽनेकालंकारानुप्रवेशः, न च संदेहः। यथा—

'मुरारिनिर्गता नूनं नरकप्रतिपन्थिनी।
तवापि मूर्ध्नि गङ्गेव चक्रधारा पतिष्यति॥'

अत्र मुरारिनिर्गतेति साधारणविशेषणहेतुका उपमा, नरकप्रतिपन्थिनीति श्लिष्टविशेषणसमुत्थश्चोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषश्चैकस्मिन्नेव शब्देऽनुप्रविष्टौ, तस्योभयोपकारित्वात्।

अत्र यथार्थश्लेषेण महोपमायाः संकरस्तथा शब्दश्लेषेणापि सह दृश्यते। यथा—

'सत्पुष्करद्योतितरङ्गशोभिन्यमन्दमारब्धमृदङ्गवाद्ये।
उद्यानवापीपयसीव यस्यामेणीदृशो नाट्यगृहे रमन्ते॥'

अत्र 'पयसीव नाट्यगृहे रमन्ते' इत्येतावतैव समुचितोपमा निष्पन्ना सत्पुष्करद्योतितरङ्ग इति शब्दश्लेषेण सहैकस्मिन्नेव शब्दे सङ्कीर्णा।

शब्दालंकारयोः पुनरेकवाचकानुप्रवेशेन संकरः पूर्वमुदाहृतो 'राजति तटीयम्' इत्यादिना। एकवाचकानुप्रवेशेनैव चात्र संकीर्णत्वम्। अत एव व्यवस्थितत्वमन्यानुमापितमप्रयोजनकम्, तुल्यजातीययोरप्यलंकारयोरेकवाचकानुप्रवेशासंभवात्।

शब्दार्थवर्त्यलंकारसंकरस्तु भट्टोद्भटप्रकाशितः संसृष्ट्यन्तर्भावित इति त्रिप्रकार एव संकर इह प्रदर्शितः।

[संकर का] तृतीय जो भेद है उसकी संज्ञा है 'एकवाचकानुप्रवेश [संकर]' जिसमें एक ही वाचक में अनेक अलंकारों का समावेश रहता है, किन्तु संदेह नहीं रहता। यथा—

'विष्णुनिर्गत तथा नरक [नरकासुर तथा रौरव आदि नरक]-नाशक [अतएव] गंगाजी जैसी चक्रधारा तुम्हारे सिर पर भी पड़ेगी।'

यहाँ 'विष्णुनिर्गत' इस साधारणविशेषण से [गंगोपमानक तथा चक्रधारोपमेयक] उपमा सिद्ध होती है। साथ ही 'नरकनाशक' इस श्लिष्ट विशेषण से उत्थापित श्लेष भी ['नरक'-पद में] है जो उपमा का बाधक है। इस प्रकार ये दोनों [उपमा तथा श्लेष] एक ही [नरक] शब्द में समाविष्ट हैं, क्योंकि वह [नरक शब्द उपमा तथा श्लेष] दोनों का ही उपकार करता है [इस पद्य पर प्रतीहारेन्दुराज की विवृति द्रष्टव्य है—काव्यालंकारसारसंग्रह ५।११]

यहाँ [उपर्युक्त पद्य में] जैसे अर्थश्लेष के साथ उपमा का संकर है वैसे शब्दश्लेष के साथ भी होता है। यथा—

जहाँ मृगाक्षीजन सत्पुष्करद्योति तरङ्ग से शोभित तथा जोरों से पीटे जाते मृदंग वाद्य से युक्त वापीजल के ही समान नाट्यगृह में रमा करती हैं। [वापीपक्ष = सत् पुष्कर = कमल से द्योती उज्ज्वल तरंग से शोभित, मृदंगवाद्य = पानी को हाथों से पीट पीट कर बजाया जा रहा जलास्फालनरूपी मृदंगवाद्य; नाट्यगृहपक्ष = सत् पुष्कर = एक प्रकार का नगाड़ा अर्थात् नान्दी, उससे द्योतित = प्राणवान् है रंग नाट्यारम्भ जिसमें, मृदङ्ग = एक भिन्न प्रकार का नगाड़ा तद्रूपी वाद्य बजाया जाता रहता है जिसमें, नवसाहसांकचरित १।५४]

इस पद्य में 'जल के समान नाट्यगृह में रमा करते हैं'—इतने से ही समुचित [पूर्ण] उपमा निष्पन्न हो जाती है। वह 'सत्पुष्करद्योतितरङ्ग' इस एक शब्द में शब्दश्लेष के साथ संकीर्ण कर दी गई है।

केवल शब्दालंकारों के एकवाचकानुप्रवेश संकर का उदाहरण 'राजति तटीयम०' इस पद्य के द्वारा पहले ही दिया जा चुका है। इस पद्य में एकवाचकानुप्रवेश के कारण ही संकर है [न कि मम्मट के कथनानुसार अंगांगिभाव के कारण। इसी लिए अन्य आचार्य [मम्मट] द्वारा जो यहाँ [विमर्शिनी में उद्धृत कारिका में] 'अव्यवस्थितता' की बात कही गई है वह निरर्थक है।' क्योंकि एकजातीय अलंकारों का भी समावेश एक वाचक में संभव ही है।

'रुद्रटने [शब्दार्थवर्त्यलंकार नाम से] जो शब्द और अर्थ के अलंकारों का परस्पर में संकर बतलाया है उसे संसृष्टि में अन्तर्भूत कर दिया गया है। इस प्रकार संकर केवल तीन ही प्रकार का बतलाया गया।

विमर्शिनी

न च संदेह इति। संदेहसंकरे यद्यप्येकवाचकत्वमस्ति, तथापि तत्र संदिह्यमानत्वेन चमत्कारोऽस्तीति ततोऽस्य वैलक्षण्यम्। इह ह्येकानुप्रविष्टयोरलंकारयोर्निश्चितत्वेन निबन्धनम्। एकवाचकानुप्रविष्टत्वेन चालंकारयोः संसृष्टत्वेन चारुत्वातिशयोपजम इति नैवैकहेतुकत्वेन संकरोपमयोरिवेत्युक्त्या नास्याभावो वाच्यः। न हि यमकयोः संसृष्टत्वेनै-वावभासोऽस्तीति यथोक्तमेव युक्तम्। अर्थश्लेषेणेति। नरकशब्दस्य दानवनिरयार्थकत्वात्। द्योतितरङ्गेति शब्दस्य सभङ्गत्वाच्छब्दश्लेषः।

न चास्योदाहरणद्वयमेतद्युक्तम्। उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुकस्य श्लेषस्यैवात्रालंकार-त्वात्। उपमा हि श्लेषस्य हेतुत्वेनैवागता। तां विना तस्यानुत्थानात्। अतश्च श्लेष एवात्र प्राधान्येनालंकारः। एवं न संकरः, एकस्यैवात्रालंकारस्य स्थितेः। तस्य च द्विप्रभृतीनां संसृष्टतायामुक्तत्वात्। उदाहरणान्तरं यथा—

> 'अङ्के न्यस्योत्तमाङ्गं प्लवगबलपतेः पादमक्षस्य हन्तुः
>
> कृत्वोत्सङ्गे सलीलं त्वचि कनकमृगस्याङ्गमाधाय शेषम्।
>
> बाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनादरात् तीक्ष्णमक्ष्णः
>
> कोणेनैवेक्षमाणस्त्वदनुजवचने दत्तकर्णोऽयमास्ते॥'

अत्रेदानीधराणां स्वभाव इति स्वभावोक्तिः, दाशरथेश्च प्रत्यक्षायमाणत्वमिति भाविकमित्येकस्मिन्नेव वाचकेऽलंकारद्वयमनुप्रविष्टमित्ययं संकरः। अत्र च भाविकस्वभावोक्त्योरुपकार्योपकारकभावेनाङ्गाङ्गित्वेऽप्येकवाचकानुप्रवेशकृतो वैचित्र्यातिशयः प्रधानतया प्रतीयत इत्येतदुदाहरणत्वम्। अङ्गाङ्गिभावश्च भिन्नवाचकालंकारगतत्वेन लब्धावकाशोऽस्ति। अतो 'राजति तटीयम्' इत्यादावेकवाचकानुप्रवेशोऽपि निरवकाश इति ततोऽस्य पृथग्भावः। अत एवेति। शब्दालंकारयोरेकवाचकानुप्रवेशात्। अन्येति। अन्यैः काव्यप्रकाशकारादिभिः। यदुक्तम्—'स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालंकृतिद्वयम्। व्यवस्थितं च' इति। अप्रयोजनकमिति। तथानुभाषणं पुनर्न कश्चिद् दोष इति भावः। मुरारिनिर्गतेत्यादौ ह्यर्थालंकारत्वात् सजातीययोरुपमाश्लेषयो. पूर्वोक्तनीत्या भिन्नविषयत्वेनाप्यैकवाचकानुप्रवेशोऽस्तीत्यर्थः। एवं शब्दार्थगतत्वादर्थाश्रयत्वाच्च तुल्यजातीयानामलंकाराणामङ्गाङ्गिभावादिना संकर उक्तः। शब्दार्थवर्तिनामलंकाराणां पुन. ससर्गेणायमलंकार इत्याह—शब्दार्थेत्यादि। न केवलं काव्यप्रकाशकारेण शब्दार्थवर्तिनोरलंकारयोः संकर उक्तो यावदनेनापीति भावः। तदुक्तम्—'शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र भासिनः, संकरः।' इति। संसृष्टाविति। अनयोर्ह्यर्थभेदात् तिलतण्डुलन्यायेन स्पष्ट एव भेदावगम इत्यत्रैवान्तर्भावो युक्तः। त्रिप्रकार इति। अङ्गाङ्गिभावसंशयैकवाचकानुप्रवेशैः। यदुक्तम्—

'तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः' इति।

एवं संदेहसंकरस्यानुपपत्तावपि चिरंतनोक्तत्वादेवास्य ग्रन्थकृता त्रिप्रकारत्वमेवोक्तम्॥'

न च संदेह. = संदेह न हो, = यद्यपि संदेह संकर में भी एकवाचकत्व रहता है, तब भी वहाँ चमत्कार संदेह के कारण होता है, अतः उससे इसमें अन्तर रहता है। इस [संकर] में जो दो अलंकार एक वाचक में प्रविष्ट रहते हैं उन दोनों का निश्चयात्मक ज्ञान होता रहता है। 'एक वाचक में प्रविष्ट अलंकारों में चारुत्वातिशय संसृष्टिरूप संबन्ध से होता है'—ऐसा मानकर 'नैवैकहेतुकत्वेन संकरोपमयोरिव' इस उक्तिद्वारा '[संकर का] यह [एकवाचकानुप्र०] भेद नहीं होता' ऐसा नहीं कहना चाहिए। यमक जो हैं, वे संसृष्टरूप से भासित नहीं होते, अतः जैसा सर्वस्वकार ने कहा है वैसा ही मान लेना ठीक है। अर्थश्लेषेण = अर्थश्लेष से क्योंकि नरक शब्द दानव और निरय इन दो अर्थों का वाचक है। धौतितरङ्ग शब्द ['धौति तरङ्ग' तथा 'धौतित रङ्ग' इस प्रकार] सभङ्ग शब्द है, इसलिए यहाँ शब्दश्लेष है।

इस [ग्रन्थकार = सर्वस्वकार] के जो जो दो उदाहरण हैं—['मुरारिनिर्गता'० तथा 'सत्पुष्करद्यो०'] ये ठीक नहीं हैं। क्योंकि इनमें [उद्भट के अनुसार] उपमा को बाधकर श्लेष ही [प्रधानरूप से] अलंकार बनता है। उपमा जो है वह तो यहाँ श्लेष का हेतु बन कर आई है क्योंकि उस [उपमा] के बिना उस [श्लेष] की निष्पत्ति ही नहीं होती। इसलिए यहाँ श्लेष ही प्रधानरूप से अलंकार है। इस प्रकार यहाँ संकर नहीं है क्योंकि यहाँ केवल एक ही अलंकार की स्थिति है। वह [संकर] तो दो तीन आदि के संसृष्ट होने पर बतलाया गया है। इसका अन्य उदाहरण यह होगा—

'[कदाचित् रावण का गुप्तचर राम के विषय में उससे कह रहा है कि] यह [राम] इस समय वानर सेनापति [सुग्रीव या अंगद] की गोद में सिर, अक्षकुमार के हन्ता [हनूमान्] की गोद में पैर और शेषशरीर कनकमृग की छाल पर रखकर, लक्ष्मण द्वारा तेज किए गए अतएव अनेक राक्षसों के घातक बाण को आँख के कोने से सादर देख रहा और छोटे भाई के कथन पर कान लगाए हुए है।

इस पद्य में एक तो स्वभावोक्ति है, क्योंकि मालिक लोगों का स्वभाव ऐसा ही होता है और दूसरे यहाँ भाविकालंकार भी है क्योंकि यहाँ श्रीराम प्रत्यक्ष से दिखाई पड़ने लगते हैं। इस प्रकार एक ही वाचक [पदावली] में दो अलंकार अनुप्रविष्ट हैं। इसलिए यहाँ यह [एकवाचकानुप्रवेशनामक] संकर है। यहाँ यद्यपि भाविक और स्वभावोक्ति में परस्पर में उपकार्योपकारकभाव संबन्ध भी है [अतः यहाँ अंगांगिभावमूलक संकर भी संभव है] तथापि [यहाँ एकवाचकानुप्रवेश से उत्पन्न चमत्कार प्रधानरूप से प्रतीत होता है, इसलिए यह उदाहरण इसी [एकवाच० संकर] के लिए दिया। अंगांगिभावसंकर उन अलंकारों में भी हो सकता है जहाँ वाचक भिन्न होते हैं। इसलिए 'राजति तटीयम्०' पद्य में [सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तावित] एकवाचकानुप्रवेश भी नहीं होता [क्योंकि वहाँ वाचक शब्द समभङ्गश्लेष द्वारा बदल जाते हैं] इस प्रकार [संकर का] यह [एकवाचका० नामक] प्रकार इस [अंगांगिभाव नामक प्रकार] से पृथक् है। अतएव = शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों के एक वाचक में अनुप्रवेश के कारण। अन्य = काव्यप्रकाशकार आदि, जैसा कि उन्होंने [काव्यप्रकाश में एकवाचकानुप्रवेशसंकरके लक्षण में] कहा है—'और एक ही स्थान पर शब्द और अर्थ के अलंकार व्यवस्थित रहते हैं।' *अप्रयोजनकम्* = निरर्थक = अर्थ यह है कि वैसा बोलना कोई दोष नहीं। 'मुरारिनिर्गता०' इत्यादि पद्यों में, जो है सो, उपमा और श्लेष दोनों ही अर्थालंकार हैं अतः दोनों सजातीय हैं और अपने अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र हैं, किन्तु यहाँ वे एक ही वाचक में अनुप्रविष्ट होकर आए हैं। इस प्रकार केवल शब्दाश्रित होने अथवा केवल अर्थाश्रित होने से जो समानजातीय होते हैं ऐसे अलंकारों का अंगांगिभाव आदि से होने वाला संकर बतलाया जा चुका है। अब 'शब्द और अर्थ में रहने वाले अलंकारों के संसर्ग से भी यह अलंकार निष्पन्न होता है—यह बतलाने के लिए लिखते हैं - 'शब्दार्थ०', इत्यादि अर्थ यह कि शब्द और अर्थ के अलंकारों का संकर केवल काव्यप्रकाशकार ने ही नहीं बतलाया, उस [उद्भट] ने भी इसे बतलाया है। जैसा कि [उद्भट ने] कहा है—

'एक ही वाक्य में भासित होने वाले शब्द तथा अर्थ के अलंकार संकर [कहलाते हैं]।'

[उद्भट ने शब्द और अर्थ दोनों के अलंकारों के एक साथ एक वाक्य में आने पर शब्दार्थवर्त्यलंकारसंकर माना है और वाक्यांश में आने पर भी। मम्मट ने केवल वाक्यांश में आने पर ही यह भेद स्वीकार किया है। सर्वस्वकार केवल वाक्यगत भेद का खण्डन कर रहे हैं अतः इसे केवल उद्भट का खण्डन मानना चाहिए, मम्मट का नहीं]

संसृष्टौ = संसृष्टि में, इन दोनों [अलंकारों] में तिल और तण्डुल [चावल] के समान भेद स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, क्योंकि इनमें आश्रय (शब्द और अर्थ) में भेद रहता है। इसलिए इनका अन्तर्भाव इसी [संसृष्टि] में मानना ठीक है। त्रिप्रकारः = तीन प्रकार का = (१) अंगांगिभाव (२) संशय तथा (३) एकवाचकानुप्रवेश इन तीन भेदों के आधार पर। जैसा कि [मम्मट ने भी] कहा है—'इस कारण यह तीन प्रकार का बतलाया गया है'। इस प्रकार संदेहसंकर के सिद्ध न होने पर भी ग्रन्थकार ने इसके जो तीन भेद बतलाए हैं वह केवल प्राचीनतर [उद्भट, मम्मट] आलंकारिक आचार्यों के द्वारा वैसा बतलाए जाने के कारण ही॥

विमर्श—संसृष्टि का पूर्वेतिहास :—

संस्कृत काव्यशास्त्र में संकर तथा संसृष्टि का इतिहास अतीव विकासपूर्ण है। दण्डी, भामह तथा वामन ने इन दोनों को एक ही शीर्षक में रखा था। और उसे संसृष्टि नाम दिया था। उद्भट ने दोनों को पहली बार पृथक् प्रतिपादित किया और संकर को पंचम वर्ग में रखकर संसृष्टि

■ पृष्ठ वर्ग में गिनाया। वह भी अन्त और आरम्भ के सातत्य में नहीं, अपितु अनेक अलंकार बीच में देकर। परवर्ती रुद्रट ने इन दोनों को पुनः अभिन्न माना और जहाँ पूर्वाचार्यों ने अभिन्न मानने पर संसृष्टि नाम दिया था वहाँ रुद्रट ने इन्हें संकर नाम दिया। मम्मट ने रुद्रट का अनुसरण किया। इस प्रकार पूर्वाचार्यों के दो वर्ग बन जाते हैं अभेदवादी तथा भेदवादी। क्रमशः सोदरण विवेचन—

[क] अभेदवादी आचार्यों में संसृष्टिवादी आचार्य—

[१] दण्डी = 'नानालङ्कारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु निगद्यते ॥ २।३५९ ॥
अंगांगिभावावस्थानं सर्वेषां समकक्षता।
इत्यलङ्कारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः' ॥ २।३६० ॥

उदाहरण = 'आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम्।
कोशदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्' ॥ २।३६१ ॥

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि [इत्यादि पूर्वोद्धृत पद्य]। अर्थात् = अनेक अलंकारों की जो संसृष्टि [संसर्ग] वही संसृष्टि कहलाती है।

अंगांगिभावपूर्वक स्थिति तथा सबकी समकक्षता इस प्रकार अलंकार संसृष्टि दो प्रकार की होती है॥

[उदाहरणार्थ = अंगांगिभाव संसृष्टि के लिए—] हे मुग्धे कमल तेरे मुख की शोभा हर रहे हैं। कोश [कमलकोश तथा खजाना] तथा दण्ड [कमलनाल तथा सेना] से समृद्ध व्यक्तियों के लिए भला दुष्कर ही क्या? [इस पद्य में पूर्वार्ध में उपमा अथवा प्रतीप है और उत्तरार्ध में श्लेष तथा अर्थान्तरन्यास। दोनों अर्धों के प्रत्येक अलंकारयुग्म में अंगांगिभाव है और उनमें जो दो प्रधान अलंकार निष्पन्न होते हैं उनमें भी अंगांगिभाव है। पूर्वार्ध में प्रतीप प्रधान है और उत्तरार्ध में अर्थान्तरन्यास। इनमें अर्थान्तरन्यास प्रतीप का समर्थक है, अतः अंग है]। 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि'–स्वयं ग्रन्थकार ने ही अपना लिया है। इस प्रकार दण्डी के संसृष्टि विवेचन में संकर का स्वरूप स्पष्ट है। किन्तु इसमें संकर का केवल एक ही भेद आ पाया है— अंगांगिभाव। वस्तुतः प्रथम पद्य के पूर्वार्ध में संदेह संकर और उत्तरार्ध के 'कोशदण्ड०' पद में एकवाचकानुप्रवेश संकर के बीज भी निहित हैं।

[२] भामह 'वरा विभूषा संसृष्टिर्बह्वलङ्कारयोगतः।
रचिता रत्नमालेव सा चैवमुदिता यथा ॥ ३।४९ ॥

उदा० = गाम्भीर्यलावण्यवतोर्युवयोः प्राज्यरत्नयोः।
सुखसेव्यो जनानां त्वं दुष्टग्राहोऽम्भसां पतिः ॥ ३।५० ॥
अनलङ्कृतकान्तं ते वदनं वनजद्युति।
निशाकृतः प्रकृत्यैव चारोः का वास्त्यलंकृतिः ॥ ३।५१ ॥
अन्येषामपि कर्त्तव्या संसृष्टिरनया दिशा ॥

संसृष्टि एक उत्तम अलंकार है जो अनेक रत्नों के योग से उसी भाँति बनता है जिस भाँति अनेक रत्नों के योग से रत्नमाला नामक उत्तम अलंकार। वह इस प्रकार बतलाई गई है, जैसे—

गाम्भीर्य, [गम्भीरता, गहराई] लावण्य [सौन्दर्य खारापन] तथा प्रभूत रत्नों से आप दोनों ही युक्त हैं, किन्तु तुम तो व्यक्तियों के लिए सुख सेव्य जबकि समुद्र है दुष्टग्राह [दुष्ट ग्राह = घड़ियाल ■ युक्त अथवा दुष्ट दोषयुक्त है ग्राह जिसका तथा दुष्ट व्यक्तियों द्वारा घिरा]।" [यहाँ पूर्वार्ध में श्लेष है और उत्तरार्ध में व्यतिरेक]

कमल सी कान्ति वाला तुम्हारा मुखमण्डल बिना ही अलंकार के सुन्दर है। स्वभाव सुन्दर चन्द्रमा के लिए अलंकार की आवश्यकता ही क्या? [यहाँ पूर्वार्ध में कमल की उपमा है। उससे युक्त पूर्व वाक्यार्थ उत्तरार्ध में आए दृष्टान्तालंकार से परिपुष्ट हो रहा है]।

इसी प्रकार अन्य अलंकारों की भी संसृष्टि बनाई जानी चाहिए।'

उपर्युक्त विवेचन में भामह दण्डी के समान यह तो स्पष्ट नहीं कहते कि संसृष्टि में आए अलंकारों में अंगांगिभाव तथा समकक्षता रहती है, किन्तु उन्होंने जो ये उदाहरण दिए इनमें यह अभिप्राय निहित है। प्रथम पद्य में श्लेष से व्यतिरेक निष्पन्न होता है। अतः यहाँ अंगांगिभाव संभव है। द्वितीय पद्य में उपमा और व्यतिरेक परस्पर निरपेक्ष हैं। किन्तु भामह के विवेचन में संदेह और एकवाचकानुप्रवेश संकर की ओर दण्डी जैसा कोई स्पष्ट संकेत नहीं मिलता।

भामह ने उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव नामक दो स्वतन्त्र अलंकारों की कल्पना की थी और दण्डी ने इन्हें रूपक तथा उत्प्रेक्षा में ही अन्तर्भूत माना था। वामन ने इन्हें संसृष्टि का अंग माना और संसृष्टि का विवेचन नवीन रूप में इस प्रकार किया—

सू० = 'अलंकारस्यालङ्कारयोनित्वं संसृष्टिः ॥ ४।३।३० ॥
संसृष्टिः संसर्गः
सू० = तद्भेदावुपमारूपकोत्प्रेक्षावयवौ ॥ ४।३।३१ ॥
सू० = उपमाजन्यं रूपकमुपमारूपकम् ॥ ४।३।३२ ॥ यथा—
ॐ०"कूर्ममूर्तिर्जयति चतुर्दशलोकवल्लिकन्दः।
उत्प्रेक्षाहेतुरुत्प्रेक्षावयवः ॥ ४।३।३३ ॥ यथा—
'अंगुलीभिरिव०' पद्य।

अर्थात्—अलंकार का अलंकारयोनित्व संसृष्टि कहलाता है। [अलंकारयोनित्व = अलंकार है योनि = कारण जिसका, अलंकार का योनि = कारण] संसृष्टि का अर्थ है संसर्ग।

इसके भेद हैं उपमारूपक तथा उत्प्रेक्षावयव। उपमारूपक है उपमाजन्य रूपक। यथा—

कूर्म रूपी भगवान् जो चतुर्दश लोकवल्ली के कन्द हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं। [यहाँ यदि लोक को वल्ली के समान बतलाकर तन्निमित्त कूर्मावतारी भगवान् पर कन्द का आरोप किया जाय जो संभव नहीं है तो उपमारूपक हो सकता है।

उत्प्रेक्षा का उत्थापक हेतु उत्प्रेक्षाहेतु होगा।

यथा—सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत अंगुलीभिः पद्य।

वामन के अनुसार इन पद्यों में दो दो अलंकार हैं और दोनों में अंगांगिभाव है। इस प्रकार वामन की संसृष्टि परवर्ती आचार्यों की भाषा में संकर ही कही जा सकती है। उसमें आए अलंकारों में अन्योन्यनिरपेक्षता नहीं है। वस्तुतः वामन ने जिसे उपमारूपक कहा है वह नवीन आचार्यों की भाषा में परम्परितरूपक है।

[ख] अभेदवादी आचार्यों में संकरवादी आचार्य।

रुद्रट—रुद्रट ने संकर और संसृष्टि दोनों को एक ही मिश्र अलंकार के दो भेद के रूप में स्वीकार किया और उन्हें एक संकर नाम दिया।

दण्डी ने जो अंगांगिभाव तथा समकक्षता के दो भेदक बिन्दु प्रस्तुत किए उनके लिए रुद्रट ने ही पहले पहल तिलतण्डुल तथा नीरक्षीर के दो दृष्टान्त दिए जिन्हें परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं नामों से अपना लिया। रुद्रट ने अलंकारों को चार (१) वास्तव (२) औपम्य (३) अतिशय

और (४) श्लेष इन चार वर्गों में बाँट और उनका प्रतिपादन कर अन्त में उनकी मिश्रित अवस्था का निरूपण करते [illegible] लिखा था—

'एषां तु चतुर्णामपि संकीर्णानां स्युरगणिता भेदाः।
तन्नामानस्तेषां लक्ष्यगमशेषु मयोज्यम्॥ १०।२४॥

वास्तव आदि उपचारों भेदों के संकीर्ण होने पर अलंकारों के उन्हीं नामों से प्रचलित अगणित भेद हो सकते हैं। उनके लक्षण उन उन अंशों में मिलाकर देखना चाहिए। आगे भेद करते हुए रुद्रट ने लिखा—

'योगवशादेतेषां तिलतण्डुलवच्च दुग्धजलवच्च।
व्यक्ताव्यक्तांशत्वात् संकर उत्पद्यते द्वेधा॥ १०।२५॥

इनके तिलतण्डुल और दुग्धजल के समान संयोग से दो प्रकार का संकर निष्पन्न होता है [प्रथम में] व्यक्त तथा [द्वितीय में] अव्यक्त।'

यहाँ यह स्पष्टीकरण अपेक्षित है कि रुद्रट ने जो तिलतण्डुल की उपमा दी है उसका तदर्थ दिए उदाहरणों में ठीक साम्य नहीं बैठता। तदर्थ दिए उदाहरण की अभिव्यक्ति ठीक वही है जो सर्वस्वकार द्वारा एकवाचकानुप्रवेशसंकर के लिए दिए 'मुरारिनिर्गता०' तथा 'सत्पुष्करद्यो०' इन पद्यों की है, जिन्हें विमर्शिनीकार ने सर्वस्वकार के विरुद्ध असंसृष्ट उदाहरण बतलाया है।

इनमें जैसे श्लेष और उपमा स्पष्ट हैं वैसे ही रुद्रट द्वारा दिए उदाहरणों में और जैसे इनमें श्लेष उपमा का निष्पादक है वैसे ही रुद्रट के उदाहरण में भी। सर्वथा ये उदाहरण अलंकारों में निरपेक्षता नहीं रखते। इस प्रकार सत्य तो यह है कि रुद्रट के उदाहरणों से परवर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित संसृष्टि का स्वरूप नहीं निकलता फलतः तिलतण्डुलन्याय केवल व्यक्तनामात्र के साम्य पर निर्भर है। रत्नाकरकार ने जो संसृष्टि का खण्डन किया है उसका मूल कदाचित् रुद्रट का यही विवेचन है।

भिन्नतावादी आचार्य—

[१] उद्भट = संकर और संसृष्टि का जो स्वरूप परवर्ती आचार्य मम्मट और सर्वस्वकार में मिलता है उसको इस रूप में लाने का श्रेय प्रथमतः उद्भट को है। उन्होंने पहले संकर का विवेचन किया है, संसृष्टि का बाद में। उनके विवेचन क्रमशः इस प्रकार हैं—

संकर—

संदेहसंकर = 'अनेकालंक्रियोल्लेखे सम तद्वृत्त्यसंभवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च संकरः॥ ५।११॥

जहाँ अनेक अलंकार समक्ष पर रहे हों, परन्तु उनसे चमत्कार निष्पत्ति एक साथ न होती हो और उनमें से किसी एक के अपनाने अथवा छोड़ने का कोई हेतु न हो तो उसे [संदेह] संकर कहते हैं। उदाहरण—

'यद्यप्यत्यन्तमुचितो वरेन्दुस्ते न लभ्यते।'

यद्यपि तुम्हारे अत्यन्त अनुरूप वरेन्दु नहीं मिल रहा है।

यहाँ 'वर ही इन्दु' इस प्रकार रूपक भी माना जा सकता है और 'वर इन्दु के समान' इस प्रकार उपमा भी। अतः उद्भट और उनके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार यहाँ संदेह संकर है। वस्तुतः यहाँ उपमा ही मान्य है क्योंकि कन्या के लिए चन्द्रमा की खोज नहीं होती, तत्सदृश

वर की खोज होती है। रूपक मानने पर चन्द्रमा ही प्रधान हो जायगा। लाय क्रिया में उसी का प्रधान रूप से अन्वय होगा जो अनुपयुक्त होगा।

शब्दार्थालंकार संकर = शब्दार्थवर्त्यलंकारा वाक्य एकत्र भासिनः।
संकरो वै—
एकवाचकानुप्रवेशसंकर = कवाक्यांशप्रवेशाद् वाभिधीयते ॥ ५।१२ ॥

शब्द और अर्थ दोनों के अलंकार जहाँ एक साथ व एक वाक्य में चले आएँ वह भी संकर होता है जहाँ एक ही वाक्यांश में [अनेक अलंकारों का] प्रवेश हो जाता है।

इनमें से प्रथम शब्दार्थवर्त्यलंकार संकर का उदाहरण उद्भट ने जो दिया है, सर्वस्वकार द्वारा उद्धृत उभयालंकारसंसृष्टि का उदाहरण उसके लिए अधिक उपयुक्त है। अतएव सर्वस्वकार ने इस भेद को संसृष्टि से गतार्थ मान लिया है। द्वितीय का उदाहरण [७५२ पृष्ठ पर] विमर्शिनी में उद्धृत है—'मैवमेवास्य' इत्यादि पद्य। 'मुरारिनिर्गता' पद्य के समान यहाँ भी प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार एक ही 'इव-शब्दरूपी वाक्यांश में उपमा और श्लेष में दो अलंकार आ समाए हैं। वस्तुतः यह उसी प्रकार अमान्य है जिस प्रकार सर्वस्वकार द्वारा प्रस्तुत 'एकवाचकानुप्रवेश' के उदाहरण।

अनुग्राह्यग्राहकसंकर = 'परस्परोपकारेण यत्रालंकृतयः स्थिताः।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि संकरः ॥'

जहाँ अनेक अलंकार एक दूसरे का उपकार करते हुए उपस्थित हों और स्वतन्त्ररूप से निष्पन्न न हो पाते हों वह भी संकर होता है।' उदाहरण, 'त्रयीमयोऽपि०' पद्य भी उद्भट को एतदर्थ अमान्य न होगा।

इस प्रकार उद्भट ने संकर के चार भेद माने हैं। तीन तो ये ही जो सर्वस्वकार ने बतलाए हैं और एक वह जिसे शब्दार्थवर्त्यलंकार कहा गया है जिसे सर्वस्वकार ने उभयसंसृष्टि माना है।

संसृष्टि—
अलंकृतीनां बह्वीनां द्वयोर्वापि समाश्रयः।
एकत्र निरपेक्षाणां मिथः संसृष्टिरुच्यते ॥'

जहाँ परस्पर निरपेक्ष अनेक अथवा दो अलंकार एक ही स्थल में आ जायें वहाँ संसृष्टि होती है।

उदा० = त्वत्कृते सोऽपि वैकुण्ठो शशीवोषसि चन्द्रिकाम्।
अप्यधारां सुधावृष्टिं मन्ये त्यजति तां श्रियम् ॥'

हे पार्वति ! उषः के लिए चन्द्रिका को चन्द्र के समान तेरे लिए तो वह विष्णु उस श्री को भी जो धारारहित अमृतवृष्टि है तुरन्त छोड़ देगा।

यहां एक तो चन्द्रिका तथा श्री, उषा तथा पार्वती एवं चन्द्र तथा विष्णु में उपमा० है, दूसरे श्री पर सुधावृष्टि का आरोप होने से रूपक है। और दोनों ही परस्पर निरपेक्ष हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उद्भट तक संसृष्टि तथा संकर का सर्वांगीण निर्धारण व्यक्ततम रूप में सामने आ चुका था। परवर्ती रुद्रट ने इसकी उपेक्षा की जैसा कि ऊपर अभेदवादी आचार्यों में दिए उनके मत से स्पष्ट है।

मम्मट = मम्मट ने उद्भट का अनुसरण किया और इन दोनों अलंकारों का स्वरूप विवेचन इस प्रकार किया—

संसृष्टि = 'सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः।

—'इन अलंकारों की भेदपूर्वक जो एकत्र स्थिति वह संसृष्टि मानी जाती है।' भेद का अर्थ मम्मट ने ही अन्योन्यनिरपेक्षता किया है। उनके अनुसार यह केवल शब्द और केवल अर्थ में भी हो सकती है। इनमें केवल शब्दालंकारों तथा केवल अर्थालंकार की संसृष्टि के लिए जो उदाहरण मम्मट ने दिए थे सर्वस्वकार ने उन्हीं को अपना लिया है। उभयालंकार संसृष्टि के लिए मम्मट ने अनुप्रास और रूपक से युक्त एक गाथा 'सो णत्थि' दी है। एतदर्थ सर्वस्वका 'आनन्दमन्थर'-पद्य ही अधिक उत्तम है।

संकर =
अंगांगिभावसंकर = 'अविश्रान्तिजुषामात्मन्यंगांगित्वं तु संकरः।
संदेहसंकर = 'एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः।'
एकवाचकानु० = स्फुटमेकत्रविषये [विमर्शिनी में उद्धृत पृ० ७४४ पर]।

इनमें द्वितीय तथा तृतीय का अर्थ उद्भट के पूर्व उद्धृत ग्रन्थ में तथा विमर्शिनी में स्पष्ट है। प्रथम का अर्थ है = 'अपने आप में अविश्रान्त अलंकारों का अंगांगिभाव हो तो अंगांगिभाव नामक संकर होता है।' उदाहरण मम्मट के अधिक अच्छे हैं। साधकबाधक प्रमाणों का विवेचन सर्वस्वकार ने मम्मट से ही लिया है। किन्तु सर्वस्वकार के विवेचन से स्पष्ट है कि वे रुद्रट के व्यक्ताव्यक्तता हेतु दिए तिलतण्डुलन्याय तथा क्षीरनीरन्याय को बराबर बनाकर उद्भटानुयायी मम्मट की मान्यताओं पर चले हैं किन्तु अपनी मति से।

परवर्ती आचार्यों में—

शोभाकर = ने संसृष्टि को रुद्रट के ही समान अलंकार नहीं माना। उनके तर्क मूल रूप में ससृष्टि प्रकरण के अन्त में और उसी प्रकरण की विमर्शिनी में उद्धृत हैं। संकर के विषय में उनकी मान्यता है कि एकवाचकानुप्रवेश तथा संदेह नामक संकर के भेद भी अमान्य हैं। इस विषय के तर्क विमर्शिनी में आ चुके हैं। वे केवल अंगांगिभाव संकर को ही संकर मानते हैं। उनका मूल विवेचन इस प्रकार है—

सू० अंगत्वे संकरः। ११२।
अन्यालंकारोपस्कारकत्वेनाङ्गता दुर्बलत्वं च संकरालंकारः।
वृ० 'इयं साधकमानसंभवबलात् संदेहसंभावना
नालङ्कारगता कदाचिदपि यत्राङ्गाङ्गिभावात् क्वचित्।
सर्वेषां विषयापहारकरणात्रैकाभिधानस्थितिः
संसृष्टयुक्तनयाञ्च तत्परिमितो युक्तस्त्रिधा संकरः॥'

अर्थात् = अलंकार यदि किसी अन्य अलंकार का उपस्कारक अर्थात् शोभावर्धक होकर उसका अंग बने और उससे दुर्बल हो तो वहाँ संकर अलंकार माना जाता है।

प्रत्येक प्रधान अलंकार का साधक प्रमाण वाक्यार्थ में रहता ही है, अतः अलंकारों में संदेह की कभी भी सम्भावना होती ही नहीं। और क्योंकि संदेह की यह संभावना अंगांगिभाव से भी कभी संभव नहीं है; इसी प्रकार सभी अलंकारों के उच्छिन्न होने के भय से संसृष्टि के समान एकाभिधानानुप्रवेशसंकर भी समत नहीं है, अतः इनके आधार पर संकर तीन प्रकार का नहीं हो सकता।

अप्पयदीक्षित—सर्वस्वकार के ही समान तिलतण्डुल के समान संसृष्टि और नीरक्षीर के समान संकर मानते हैं। उनके कुवलयानन्द में संसृष्टि के वे ही भेद दिए गए हैं जो सर्वस्वकार ने दिए हैं। संकर के भेदों में उन्होंने दो नए भेद गिनाए हैं एक समप्राधान्य संकर और दूसरा

संकर-संकर। इनमें से प्रथम के लिए उन्होंने उदाहरण के रूप में 'अंगुलीभिरिव०' पद्य दिया है। उन्होंने यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा में प्राधान्य की समानता बतलाई है। संकर-संकर के लिए उन्होंने मम्मट द्वारा प्रथम उदात्तालंकार के लिए उदाहृत 'मुक्ताः केलि वि०' पद्य दिया है और इसमें उदात्त, तद्गुण, पदार्थहेतु काव्यलिंगालंकार का एक वाचकानुप्रवेश माना है। आगे उसके आधार पर भ्रान्तिमान् और उसके आधार पर उदात्त की पुष्टि मान अंगांगिभाव माना गया है। इन दो संकरों का यहाँ संकर माना गया है। इससे अतिरिक्त इस पद्य में दीक्षित जी ने और भी अनेक अलंकारों की कल्पना की है। शेष भेदों पर अप्पयदीक्षित की मान्यताएँ परम्परागत मान्यताओं से भिन्न नहीं हैं।

विश्वेश्वर = विश्वेश्वर ने अलंकारकौस्तुभ में मम्मट की परम्परा का अनुसरण कर संसृष्टि और संकर को पृथक् पृथक् माना है। उनका निरूपण इस प्रकार है—

संसृष्टि—संसृष्टिस्तु परस्परमनपेक्ष्यस्थितिरनेकस्य।

अनेक अलंकारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति संसृष्टि।

संकर—अंगांगिभाव० = 'एकमपेक्ष्यान्यस्य प्रादुर्भावे तु संकरः प्रोक्तः।

एक के बल पर दूसरे की निष्पत्ति हो तो संकर।

संदेहसंकर = 'साधकबाधकमानाभावच्चैकस्य निर्णयाभावे।'

साधक बाधक प्रमाण के अभाव में एक का निर्णय न होने पर [संदेह] संकरः।

एकवाचका० = 'एकपदाच्छब्दार्थालंकृत्योरवगतावन्यः।'

शब्द और अर्थ के अलंकारों का एक ही पद से ज्ञान होने पर एक अन्य संकर होता है।

विमर्शिनी

अधुनैतेषामलंकाराणामुपसंहारं कर्तुमुपक्रमते—इदानीमित्यादिना।

अब इन अलंकारों का उपसंहार करने का उपक्रम करते हैं—

[सर्वस्व]

इदानीमुपसंहारसूत्रम्—

[सू० ८७] एवमेते शब्दार्थोभयालंकाराः संक्षेपतः सूत्रिताः।

एवमिति पूर्वोक्तप्रकारपरामर्शः। एते इति प्रक्रान्तस्वरूपनिर्देशः। सूत्रिता अलंकारसूत्रैः सूचिताः संक्षेपतः प्रकाशिताः।

तत्र शब्दालंकारा यमकादयः। अर्थालंकारा उपमादयः। उभयालंकारा लाटानुप्रासादयः। संसृष्टिसंकरप्रकारयोरपि कयोश्चित्तद्रूपत्वात्।

'लोकवदाश्रयाश्रयिभावश्च तत्तदलंकारनिबन्धनम्। अन्वयव्यतिरेकौ तु तत्कार्यत्वे प्रयोजकौ, न तदलंकारत्वे। तदलंकारप्रयोजकत्वे तु श्रौतोपमादेरपि शब्दालंकारत्वप्रसङ्गात्। तस्मादाश्रयाश्रयिभावेनैव चिरंतनमतानुसृतिरिति

संपूर्णमिदलंकारसर्वस्वम्॥



अब उपसंहारसूत्र बनाते हैं—

[सू० ८७] इस प्रकार शब्द, अर्थ तथा दोनों के ये अलंकार संक्षेप में सूत्र द्वारा प्रस्तुत कर दिए गए॥

[वृ०] 'एवम् = इस प्रकार' = यह पूर्वोक्त का परामर्शक है। 'एते = ये' = यह कह प्रकान्तत्व का निर्देश किया। सूत्रिताः = अलंकारसूत्रों द्वारा सूचित किए गए और संक्षेप में प्रस्तुत किए गए।

इनमें शब्द के अलंकार हैं यमक आदि। अर्थ के अलंकार हैं उपमा आदि और दोनों के अलंकार उभयालंकार] हैं लाटानुप्रास आदि। संसृष्टि और संकर के भी कुछ प्रकार वैसे [उभयालंकार] ही होते हैं।

उनमें जो तदलंकारत्व आता है उसका कारण लोक के समान आश्रयाश्रयि भाव सम्बन्ध है। अन्वय व्यतिरेक तो तत्कार्यत्व [की सिद्धि] में कारण होते हैं। तदलंकारत्व [की सिद्धि] में नहीं। उन्हें यदि तदलंकारत्व का नियामक माना जाए तो श्रौती उपमा आदि में भी शब्दालंकारत्व प्राप्त होगा। इस कारण आश्रयाश्रयिभाव से ही प्राचीन [आचार्यों के] मत का अनुसरण हो पाता है।

इस प्रकार यह अलंकारसर्वस्व पूर्ण हुआ।

इस प्रकार अलंकारसर्वस्व का मध्यप्रदेशस्थ सोहागपुरमण्डलान्तर्गत नादनेर—निवासी स्व० प० श्री० नर्मदाप्रसाद द्विवेदी के पुत्र साहित्यशास्त्राचार्य, एम० ए०, पीएच्० डी०, प्रा० प० रेवाप्रसादद्विवेदी कृत सविमर्श हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

विमर्शिनी

इदानीमिति। प्राप्तावसरमिति [भावः]। यथातत्वं सर्वेषामलंकाराणां निर्णीतत्वात्। तदेवाह—एवमित्यादि। एतदेव व्याचष्टे—एवमित्यादिना। संक्षेपेणेति। ग्रन्थस्य, न पुनरर्थस्य। तस्य हि तथात्वकथने तेषां स्वरूपमेव कथितं न स्यात्। एवं ग्रन्थसंक्षेपेणापि सर्वेषामलंकाराणां विस्तरत एव यथासम्भवं स्वरूपमुक्तमिति प्राच्यालंकारग्रन्थेभ्योऽस्य वैलक्षण्यमपि ध्वनितम्। तत्र ग्रन्थविस्तरेणाप्येतत्स्वरूपस्याभिधानात्। अत एव ग्रन्थकारेण प्रयोजनमपि द्योतितम्। के ते शब्दार्थोभयालंकारा इत्याशङ्क्याह—तत्रेत्यादि। आदिग्रहणादनुप्रासानन्वयश्लेषादीनां ग्रहणम्। ननु च लाटानुप्रासश्लेषयोरेवोभयालंकारत्वं पूर्वमुक्त्वा उभयालंकारा इति बहुवचननिर्देशः कथं संगच्छते इत्याशङ्क्याह—संसृष्टीत्यादि। तत्र संसृष्टेरुभयालंकारत्वं यथा—'आनन्दमन्थर-' इत्यादि। संकरस्य यथा—

> 'नैवमेवास्य सच्छायकर्णिका चारुवर्णिका।
> अम्भोजिनीव चित्रस्था नेत्रमात्रसुखप्रदा॥'

अत्र शब्दार्थालंकारसंसर्गादुभयालंकारत्वम्। संकरस्य चैतदुभयालंकारत्वमौद्भटमत एवावसेयम्। ग्रन्थकृता ह्यस्य समनन्तरमेव संसृष्टावन्तर्भाव उक्तः। अतश्च ग्रन्थकृन्मते लाटानुप्रासससृष्टिश्लेषाणामेवोभयालंकारत्वम्।

ननु तुल्यत्वेऽपि काव्यशोभातिशयहेतुत्वे कश्चिदलंकारः शब्दस्य, कश्चिदर्थस्य कश्चिदुभयस्येति कुतः पुनरयं प्रतिनियम इत्याशङ्क्य—लोकवदित्यादि। लोकेहि योऽलंकारो

यदाश्रितः स तदलंकारतयोच्यते, यथा कुण्डलादिः कर्णाद्याश्रितस्तदलंकारः। एवमिहापि शब्दाद्याश्रितस्तदलंकार इति सिद्ध एव विषयविभागरूपः प्रतिनियमः। यत्त्वन्यैरन्वयव्यतिरेकौ तदलंकारनिबन्धनत्वेनोक्तौ तदयुक्तमेवेत्याह—अन्वयेत्यादि। एवं हि श्रौतोपमायामिवादिशब्दान्वयव्यतिरेकानुवर्तनात्तत्कार्यत्वमेव न पुनस्तत्दलंकारत्वम्। तस्याविशेषात्। अर्थस्य पुनरलंकृतत्वात् तदलंकारत्वमेव युक्तमिति तात्पर्यार्थः। एतच्चोद्भटविवेके राजानकतिलकेन सप्रपञ्चमुक्तमिति ग्रन्थविस्तरभयान्नेहास्माभिः प्रपञ्चितम्। एतदेवोपसंहरति—तस्मादित्यादि। आश्रयाश्रयिभावेनेति। उपस्कार्योपस्कारकभावेनेत्यर्थः। तेन योऽलंकारो यदुपस्कारकः सः तदलंकार इति पिण्डार्थः। चिरंतनेति। अनेनास्माभिः सर्वत्रैव तन्मतानुवृत्तिरेव कृतेत्यात्मविषयमनौद्धत्यमपि ग्रन्थकृता प्रकाशितमिति शिवम्॥

राजराज इति भूभुजामभूद्ग्रणीर्गुणिगणाश्रयः परम्।
तां सतीरसि राजहंसतामाततनोत्र किल यनामतेऽपि यः॥
शाकाधिकश्रियस्तस्य श्रीशृङ्गार इति श्रुतः।
गुणातिक्रान्तविषयो मन्त्रिणामग्रणीरभूत्॥
तदात्मजन्मा वैदग्ध्यबन्धुर्जयरथाभिधः।
व्यधादिदमसामान्यं श्रवणाभरणं सताम्॥

यत्नाम किंचिदिह सम्यगथान्यथा वा साक्षादलंकृतिनयोचितमेतदुक्तम्।
विद्वेषरोपमपसार्य बुधैः क्षणस्य तच्चावधेयमियतैव वयं कृतार्थाः॥
इति श्रीजयरथविरचितालंकारविमर्शिनी संपूर्णा॥



[इदानीम् = अब =] अवसर आने पर। क्योंकि सभी अलंकारों का निर्णय प्रत्येक तत्त्व के स्पष्टीकरण के साथ करा दिया गया है। यही कहते हैं—एवम् इत्यादि सूत्र के द्वारा। इसी की व्याख्या करते हैं 'एवम्' इत्यादि द्वारा। संक्षेपेण = संक्षेप में; अर्थात् ग्रन्थगत संक्षेप में, न कि वस्तुगत संक्षेप में। वस्तु में संक्षिप्तता कहना अभीष्ट होता तो अलंकारों का स्वरूप ही न कहा जा सकता। इस प्रकार 'ग्रन्थ का संक्षेप रखते हुए भी सबके सब अलंकारों का विस्तारपूर्वक, जैसा संभव था, वैसा स्वरूप बतलाया' ऐसा कहकर प्राचीन अलंकार ग्रन्थों से इस ग्रन्थ की विलक्षणता [विशिष्टता] को भी ध्वनित कर दिया। उन ग्रन्थों में तो ग्रन्थविस्तार रहने पर भी इन [अलंकारों] के स्वरूप ठीक से प्रतिपादित नहीं हो पाए हैं। इसीसे ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ का प्रयोजन भी बतलाया। शब्द, अर्थ और दोनों के वे अलंकार कौन हैं इस प्रकार की शंका उठाकर कहते हैं—'तत्र' इत्यादि। 'आदि-' शब्द देकर अनुप्रास अनन्वय और श्लेष आदि का भी संग्रह किया। शंका होती है कि पहले [ग्रन्थारम्भ में] तो लाटानुप्रास तथा श्लेष इन दो अलंकारों को ही उभयालंकार बतलाया है, अब यहाँ 'उभयालंकाराः' इस प्रकार जो बहुवचन का प्रयोग किया इसमें संगति कैसे बैठेगी?' इस पर उत्तर देते हुए कहते हैं 'संसृष्टि'-इत्यादि। इनमें संसृष्टि का उभयालंकारत्व 'आनन्दमन्थर०' [इत्यादि पूर्वोद्धृत] पद्य में है ही, संकर का उभयालंकारत्व [उद्भट के] 'मैवमेवा०' इस पद्य में मिलता है इसका अर्थ है—

'इसी प्रकार मत बैठो। सच्छायकर्णिका तथा चारुवर्णिका वह [पार्वती] चित्रस्थ अम्भोजिनी के समान केवल नेत्रमात्रसुखप्रदा है।' [पार्वती पक्ष = 'सच्छाय०' = सुन्दर कान्ति वाले हैं कान

जिसके, 'चारु०' = सुन्दर है वर्ण = गौरत्व जिसका, नेत्र० = आखों को० कमलिनीपक्ष = सच्छाय० = सुन्दर है कर्णिका पुष्पमध्यभाग जिसका, 'चारु०' = सुन्दर हैं वर्ण = राजहंसादि पक्षी जिसमें, नेत्रमात्र = नेत्र कमल की नाल या मृणाल [जद, द्र० हर्षचरित में नवजात राज्यश्री के लिए प्रयुक्त 'दीर्घरक्तनेत्राम्' विशेषण द्वारा उसकी अम्भोजिनी के साथ उपमा] इस पद्य में [अनुप्रासरूपी] शब्दालंकार तथा [उपमा रूपी] अर्थालंकार का संसर्ग है, अतः यह [संकर] उभयालंकार है। संकर का यह जो उभयालंकारत्व यहाँ बतलाया गया है यह केवल उद्भट के ही मत के अनुसार बतलाया गया समझना चाहिए। स्वयं ग्रन्थकार तो इसका अर्न्तभाव संसृष्टि में अन्तर्भाव बतला आए हैं। इसलिए इस पद्य में ग्रन्थकार के अनुसार लाटानुप्रास संसृष्टि है। इसी प्रकार सभी श्लेष उभयालंकार होते हैं।

प्रश्न उठता है कि अलंकार वह धर्म कहलाता है जो 'काव्य शोभाकारी' होता है और यह गुण सभी अलंकारों में समान रूप से रहता है, तब यह नियम क्यों कि कोई अलंकार केवल शब्द का कोई केवल अर्थ का और कोई दोनों का।' इस पर उत्तर देते हैं—लोकवत् = इत्यादि। लोक में जो अलंकार जिस अंग में पहना जाता है वह उसी का अलंकार माना जाता है जैसे कुण्डल आदि कान आदि में पहना जाता है अतः उन्हीं का अलंकार कहा जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी शब्द आदि में आश्रित उपमादि अलंकार उन्हीं के अलंकार माने जाते हैं। इस प्रकार विषयभेदरूपी प्रतिनियम वास्तविक सिद्ध होता है। 'अन्य आचार्य [मम्मट] ने अन्वयव्यतिरेक को जो तदलंकारता का नियामक माना है वह अयुक्त ही है'—यही बतलाते हुए कहा—अन्वय इत्यादि। तात्पर्य यह कि इस नियम के अनुसार तो श्रौती उपमा में [उपमा अपने वाचक] 'इव'—शब्द के अन्वयव्यतिरेक का अनुवर्तन करती है [इनके रहने पर रहती है और न रहने पर नहीं] अतः उपमा इन वाचक शब्दों का कार्य है न कि उनका अलंकार, क्योंकि [उपमा आदि से] उन [वाचक इव आदि शब्द] में कोई विशेषता नहीं आती। जहाँ तक अर्थ का सबन्ध है वह उससे [उपमा आदि] अनुकूल [शोभायुक्त] हो जाता है, अतः [उपमा आदि] का उसी का अलंकार होना उचित है। यह सब अलङ्कारविवेक में राजानक तिलक ने विस्तारपूर्वक बतला दिया है इसलिए ग्रन्थविस्तार के भय से यहाँ हमने उसे नहीं फैलाया। इसी का उपसंहार करते हुए लिखते हैं—तस्मात् इत्यादि। आश्रयाश्रयिभावेन = आश्रयाश्रयिभाव से = उपस्कार्योपकारकभाव से। अन्त पिण्डार्थ यह कि जो अलंकार जिसका उपस्कारक होता है वह उसी का अलंकार कहलाता है। चिरंतन = इसमें यह बतलाया गया कि हमने सर्वत्र उन [प्राचीन आचार्यों] के मत का ही अनुसरण किया है जिससे ग्रन्थकार की अपनी अनुद्धतता = शालीनता भी प्रकट होती है। इति शिवम्॥

'राजराज नामक राजा गुणी जनों के उत्कृष्ट आश्रय और राजाओं के अग्रणी हुए हैं, जो मतीमर में घनागम [वर्षाकाल तथा घन = सघन आगम = शास्त्र] में भी उस [प्रसिद्ध] राजहंसता [राजहंस = लाल चोंच तथा लाल चरणों वाला धवल हंस, तथा राजा रूपी हंस = विद्वान्] को प्रकाशित करते थे।

इन्द्र से भी अधिक श्रीवाले उसी राजा के, गुणों में बृहस्पति से भी बड़े श्रीशृंगार नाम से विदित जो प्रधान मन्त्री हैं—

उनके जयरथनामक विदग्ध पुत्र ने अच्छे विद्वानों के श्रवणों का यह असामान्य आभरण बनाया।

अलंकार शास्त्र के अनुरूप ठीक या गलत यह जो भी कुछ कहा गया है इस पर विद्वेष और रोष दूर कर विद्वान् क्षणभर के लिए ध्यान दें। इतने से ही हम स्वयं को कृतार्थ समझेंगे ॥

इस प्रकार श्री जयरथविरचित अलंकारविमर्शिनी पूर्ण हुई।

इस प्रकार अलंकारविमर्शिनी का मध्यप्रदेशस्थ सीहोरमण्डलान्तर्गत नादनेरग्रामनिवासी
स्व० पं० श्रीनर्मदाप्रसादजी द्विवेदी के आत्मज साहित्यशास्त्राचार्य
एम्. ए, पीएच्. डी., प्रा० पं० रेवाप्रसाद द्विवेदी द्वारा कृत
विमर्श सहित हिन्दी अनुवाद पूर्ण हुआ।

रेवाया उत्तरे तीरे नादनेरेति विश्रुतः।
ग्रामो मध्यप्रदेशाङ्केशयो यस्तन्निवासिनः ॥
श्रीनर्मदाप्रसादस्य काश्यपस्य द्विवेदिनः।
आत्मजेन मया रेवाप्रसादेन द्विवेदिना ॥
काव्येऽलङ्कारवत् काव्यालङ्कारे जीवितोपमम्।
यदोऽलङ्कारसर्वस्वं विमर्शिन्या विभासितम् ॥
सविमर्शेन हिन्दीवागनुवादेन साम्प्रतम्।
यथायथं विशोध्याद्यप्रयोः संविन्मातुर्निधीयते ॥

नास्ति काचन विदां विमानना सम्मतं यदि विदूष्यते परैः।
अञ्जनेन खलु तेन लोचनं संविदो निपुणमुत्प्रकाशते ॥
नास्ति काचन विदां समानना सम्मतं यदि समर्थ्यते परैः।
सारकैरनुसृतं न मण्डलं किं बिधोर्भजति लक्ष्मलक्ष्मताम् ॥
तादर्थ्यमात्रमुपजीव्य ततो विपश्चिद् बोधेन शास्त्रकृति वर्त्म नयेन शुद्धम्।
स्वान्वीक्षिकी हि निखिलागमगह्वरेषु दीपायितं श्रयति तत्त्वविशोधनायाम् ॥

॥ ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम् ॥



परिशिष्टम् (१)

श्रीराजानकरुय्यकप्रणीता

सहृदयलीला

अथ गुणोल्लेखः ॥ १ ॥

श्रीमतामुत्कर्षपरिज्ञानाद् वैदग्ध्येन सहृदयत्वाख्यागरकलासिद्धिः। युवत्यादीनामुत्कर्षो देहे गुणालंकारजीवितपरिकरेभ्यः। तत्र शोभाविधायिनो धर्मा गुणाः।

> रूपं वर्णः प्रभा राग आभिजात्यं विलासिता।
> लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः॥

अवयवानां रेखास्पाष्टर्यं रूपम्। गौरतादिधर्मविशेषो वर्णः। 'काचकच्यरूपा रवि-वत्कान्तिः प्रभा। नैसर्गिकस्मेरत्वमुखप्रसादादिः सर्वेषामेव चक्षुर्बन्धको धर्मो रागः। कुसुमधर्मा मार्दवाद्दिर्लालनादिरूपः स्पर्शविशेषः पेशलताख्य आभिजात्यम्। अङ्गो-पाङ्गानां यौवनोद्भेदी मन्मथवासनाप्रयुक्तः कटाक्षादिवद् विभ्रमाख्यश्चेष्टाविशेषो विलासिता। तरङ्गिद्रवस्वभावाप्यायिनेत्रपेयस्यापि स्निग्धमधुर इव पीतिमोत्कर्षैकसार इव पूर्णेन्दुवदा-ह्लादको धर्मः संस्थानमुग्धिमव्यङ्ग्यो लावण्यम्। अङ्गोपाङ्गानामसाधारणशोभाप्राशस्त्य-हेतुरौचित्यात्मा स्मयो धर्मो लक्षणम्। तस्य युक्तप्रमाणता-शोष(? षा)स्पर्श-स्निग्धवक्त्रनिय-तलोमा-ङ्गुलिश्लिष्टसंघानताऽऽनाहपरिणाहौचित्य-चक्रपद्मादिलेखाङ्कतायोगेभ्यः प्रसिद्धाङ्ग-पूर्णतादोषवैकल्य-धर्म(?)सौन्दर्य-प्रमाणौचित्य-लोका(? क)प्रसिद्धविशिष्टाङ्गयोगाख्याः क्रमेण षड् भेदाः। अग्राम्यतया भङ्गिमत्वव्यापिनी ताम्बूलपरिधाननृत्तभणितिगमनादिस्थानकेषु सूक्ष्मा भङ्गिश्छाया। स्फुरल्लावण्युपभोगपरिमलादिगम्योऽन्तःसारो रञ्जकतया वशीकर्तृ सहृदयसंवेद्यधर्मभेदश्च सौभाग्यम्। तत्राद्ये स्मरमदपुलकादयो भेदाः। अन्त्ये तु मणित-रूपपरिभोगाऽधरास्वाद-सौरभादिभिर्युगपद्रसवत्त्वात् पञ्चेन्द्रियसुखलाभः॥

इति राजानकश्रीरुय्यकविरचितायां सहृदयलीलायां गुणोल्लेखः प्रथमः॥

अथ अलङ्कारोल्लेखः ॥ २ ॥

रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डनद्रव्ययोजने ।
प्रकीर्णं चेत्यलंकाराः सप्तैवैते मया मताः ॥

तत्र वज्रमुक्तापद्मरागमरकतेन्द्रनीलवैडूर्यपुष्परागकर्केतनपुलकरुधिराख्यभीष्मस्फटिकप्रवालरूपाणि त्रयोदश रत्नानि । हेम नवधा । जाम्बूनद-शातकौम्भ-हाटक-वैणव-शृङ्गीशुक्तिज-जातरूप-रसविद्धाऽऽकरोद्गतभेदात् । चतुर्धा रत्नहेममयः । आवेध्य-निबन्धनीय-प्रक्षेप्या-रोप्य-भेदात् । तत्र ताडीकुण्डलश्रवणवालिकादिरावेध्यः । अङ्गद-श्रोणीसूत्र-मूर्धमणि-शिखादण्डिका-दिर्निबन्धनीयः । ऊर्मिकाकटकमञ्जीरसदृशः प्रक्षेप्यः । प्रालम्ब-मालिका-हार-नक्षत्रमाला-प्रभृतिरारोप्यः । चतुर्धांशुकमयः । त्वक्फलक्रिमिरोमजत्वाक्रमेण क्षौमकार्पासकौशेयराङ्कवादिभेदात् । पुनस्त्रिधा । निबन्धनीयप्रक्षेप्यारोप्यवैविध्यात् । तत्र निबन्धनीयः शिरःशाटकजघनवसनादिः । प्रक्षेप्यः कञ्चलिकादिः । आरोप्यः उत्तरीयपटादिः । सर्वस्याप्यस्यानेकविधत्वं वर्णविच्छित्तिनानात्वात् । ग्रथिताग्रथितत्वाद् द्विविधः सप्तधा माल्यमयः । वेष्टितविततसंघात्यग्रन्थिमदवलम्बमुक्तकमञ्जरीस्तबकलक्षणमाल्यभेदेन । तत्रोद्वर्तितं वेष्टितम् । पार्श्वतो विस्तारितं विततम् । बहुभिः पुष्पैः समूहेन रचितं संघात्यम् । अन्तरान्तरा विषमं ग्रन्थिमत् । स्पष्टोग्भितमवलम्बम् । केवलं मुक्तकः । अनेकपुष्पमयी लता मञ्जरी । कुसुमगुच्छकं स्तबकः । तस्यावेध्यादयोऽपि चत्वारो भेदाः । कस्तूरीकुङ्कुमचन्दनकर्पूरागुरुकुलकदन्तसमपटवासहकारतैलताम्बूलालक्तकाञ्जनगोरोचनादिनिर्वृत्तो मण्डनद्रव्यमयः । भूघटनालकरचनाधम्मिल्लग्रन्थादियोजनामयः । द्विधा प्रकीर्णमयः । जन्यनिवेश्यभेदेन । श्रमजलमधुमदादिर्जन्यः । दूर्वाशोकपल्लवयवाङ्कुररजतत्रपुशङ्खतालदलदन्तपत्रिकामृणालवलयकरक्रीडनकादिर्निवेश्यः । एतत्समवायो वेषः । स च देशकालप्रकृत्यवस्थासात्म्येन । एतेषां विच्छित्त्या यथास्थाननिवेशनपरभागलाभाद् रामणीयकवृद्धिः ॥

इति राजानकश्रीरुय्यकविरचितायां सहृदयलीलायामलंकारोल्लेखो द्वितीयः ॥

---

१. कर्केतन— स्निग्धा विशुद्धाः समरागिणश्च आपीनवर्णा गुरवो विचित्राः ।
श्रम-त्रास-व्याधि विवर्जिताश्च कर्केतनास्ते परमं पवित्राः ॥
वर्णेन तद् रुधिरसोममधुप्रकाशमाताम्रपीतदहनोज्ज्वलितं विभाति ।
नील पुनः सम्भिन परुष त्रिभिन्न व्याध्यादिदोषकरणेन न तद् विभाति ॥

पुलकम्— गन्धर्ववह्निकदलीसदृशावभासाः ॥ गुञ्जाञ्जनक्षौद्रमृणालवर्णाः ॥
मद्याम्बुभृद्वर्णविचित्रभक्ता एते प्रशस्ताः पुलकाः प्रसूताः ॥

रुधिराख्यम्—तत्रेन्द्रगोपकलितं शुकवक्त्रवर्णं संस्थानतः प्रकटपीलुसमानमानम् ।
नानाप्रकारविहितं रुधिराख्यरत्नम् ॥—शब्दकल्पद्रुमे गरुडपुराणवचनानि ।

भीष्मम्— शुक्लवर्णं प्रस्तरविशेष —शब्दार्थचिन्तामणि

अथ जीवितोल्लेखः ॥ ३ ॥

शोभाया अनुप्राणकं यौवनाख्यं जीवितम्। बाल्यानन्तरं गात्राणां वैपुल्यसौष्ठवविभक्ततादिविधायी स्फुटितदाडिमोपमः स्मरवसतिरवस्थाभेदो यौवनम्। तस्य वयःसंधिरारम्भः। मध्यं तु प्रौढिकालः। प्रथमे धम्मिल्लरचनालकभङ्गनीवीनहनदन्तपरिकर्मपरिष्करणदर्पणेक्षणपुष्पोच्चयमाल्योम्भनजलक्रीडाद्यूताश्लीलच्छेकभणित्यनिमित्तलज्जानुभावश्रृङ्गारशिक्षाद्य आवर्तमानाश्चेष्टाः। अन्त्ये तु श्रृङ्गारानुभावतारतम्यं श्रेयः ॥

इति राजानकश्रीरुय्यकविरचितायां सहृदयलीलायां जीवितोल्लेखस्तृतीयः ॥

अथ परिकरोल्लेखः ॥ ४ ॥

शोभाया आरादुपकारकत्वाद्[1]व्यञ्जकः परिकरः। तस्य चेतनाचेतनयोः स्थाणुचलयोः प्रत्येकं श्लिष्टसंनिहितमात्ररूपत्वेनाष्टविधत्वम्। उरसङ्गोपासीनकान्तहयपरिवारवातायनवितान-नौ-छत्रादीनि दर्शनानि। तानि द्विधा व्यस्तसमस्तभेदात्। एवं शोभासमुत्पादकसमुद्दीपकानुप्राणकव्यञ्जकाः क्रमाद् गुणालंकारजीवितपरिकराः। एवं परस्परोपकारकत्वादितरेतरानुग्राहकत्वं सिद्धम् ॥

इति राजानकश्रीरुय्यकविरचितायां सहृदयलीलायां परिकरोल्लेखश्चतुर्थः ॥

समाप्तेयं सहृदयलीला



---

१. (क) पिशेलसंपादितायाः सहृदयलीलायाः पुष्पिका सर्वस्वस्य भूमिकाया ७ पृष्ठे द्रष्टव्या। अस्माकमाधारो निर्णयसागरीयः कश्मीरदेशीयपुस्तकद्वयाश्रितः पाठः। तत्रापि पाठान्तरे साऽस्त्येव [काव्यमाला--५]।

(ख) चतुर्णामप्येतेषां गुणालङ्कारजीवितपरिकराणां लक्षणान्तराणि रसार्णवसुधाकरभावप्रकाशनादिषु निबन्धेषु, निदर्शनानि च कुमारसंभवकादम्बरीनैषधादिषु श्रृङ्गारप्रबन्धेषु सुलभानि।

अलङ्कारसर्वस्वोदाहृतश्लोकानुक्रमणिका

विमर्शिनीटीकोदाहृतश्लोकानुक्रमणिका